आचार्य भगवन् श्री समन्तभद्र स्वामी विरचित

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

(श्रावकधर्म-संहिता)

वाचनाकार :

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

ग्रंथ : रत्नकरण्ड श्रावकाचार

ग्रंथकार : आचार्य भगवन् श्रीसमन्तभद्र स्वामी

मंगल आशीर्वाद : प.पू. सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज

वाचना : श्रावकधर्म-संहिता

वाचनाकार : प.पू. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

संपादन : आर्यिका वर्धस्व नंदनी

संस्करण : प्रथम, वर्ष 2024 ई.

प्रतियाँ : 2000

मूल्य : **650.00** (Not For Sale)

ISBN : 978-93-94199-62-0

प्राप्ति स्थान :

निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला समिति

C/117, बेसमेंट, सेक्टर 51, नोएडा-201301

मो. 9971548889, 8800091252

मुद्रण व्यवस्था :

Mittal Industries, New Delhi 110028

email: mittalindustries199@gmail.com

Mobile: 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

www.shreevasuvidya.com

भावाभिव्यक्ति

–आचार्य वसुनंदी मुनि

णाणमय-विमलसीयल-सलिलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयण - डाह - विमुक्का सिवा होंति॥

–(आ. कुंदकुंदस्वामी, भावपाहुड़, 25)

भव्यजीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को सम्यक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधि स्वरूप जरा-मरण की वेदना को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसार से रहित 'शिव' परमानंद रूप, सुख रूप होते हैं। इसलिए भव्यजीवों को यह उपदेश है कि ज्ञान में लीन होओ।

ध्यानं वि निर्मलज्ञानं पुंसां संपद्यते स्थिरम्।
हेमक्षीणमलं किं न कल्याणत्वं प्रपद्यते॥

–(आ. अमितगति स्वामी, योगसार प्राभृत, 9/14)

मानवों का निर्मल ज्ञान जब स्थिर होता है तो वह 'ध्यान' हो जाता है। ठीक है किट्ट-कालिमादि रूप मल से रहित हुआ स्वर्ण क्या कल्याणपने को प्राप्त नहीं होता? होता ही है, उस शुद्ध स्वर्ण को कल्याण नाम से पुकारा जाता है। स्थिर निर्मलज्ञान ही ध्यान है, वही कल्याणकारी है।

श्री सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित जैनवाङ्मय के द्वादश अंग हैं। जिनमें प्रथम आचार नामक अंग है। आचरण की शुद्धता के बिना कोई भी प्राणी आत्मशान्ति एवं परम कल्याण को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक काल व क्षेत्र में आचरण की श्रेष्ठता सर्वत्र सिद्ध रही है। आचरण के देवता इस पृथ्वी पर अनादिकाल से पूज्य, अभिवंदनीय व नमस्करणीय रहे। आसन्न भव्यजीव अपने हृदय कमल पर आचरण के देवता की स्थापना करके उनकी सदैव वंदना, उपासना व भक्ति करते रहे हैं। आचरण के देवता का गुणानुस्मरण करना भी धर्मध्यान की कोटि में सम्मिलित होता है।

जिस प्रकार अग्नि के संयोग से काष्ठ स्वयं अग्नि रूप परिणत हो जाता है उसी प्रकार आचरण के देवता स्वरूप परमात्मा के संयोग से यह आत्मा भी परमात्मा हो जाता है। भारतीय संस्कृति में श्रेष्ठतम आचरण के देवता को ही परमात्मा, भगवान् व सर्वशक्तिमान् स्वीकार किया गया है।

तीर्थंकर भगवान् ने सर्वोदय तीर्थ की परिकल्पना करते हुए विश्व-मानवों के सम्पूर्ण हितों की रक्षा के लिए आचरण का उपदेश दिया। त्यागी और रागी दोनों वर्गों के लिए हितावह देशनाएँ की हैं। प्रथम–सर्व परिग्रहादि के त्यागी श्रमणों का आचार व द्वितीय–श्रावकों का आचार। राग परिणति का सर्वथा त्याग सामान्य जन के लिए दुष्कर है अतः सराग व्यक्ति शनैः शनैः परिग्रहपरिमाण से तथा अहिंसादि अणुव्रतों से अपने गृहस्थ धर्म का समुचित पालन करता हुआ त्याग-मार्ग की ओर प्रवृत्त होने का प्रयत्न करे एतदर्थ श्रावकाचार का भी प्रतिपादन किया।

श्रमणधर्म की आचार संहिता अनादिकाल से अद्यावधि पर्यन्त समय-समय पर उत्तम, मध्यम वा जघन्य अवस्था को प्राप्त होती रही है। आज पंचमकाल में संहनन की हीनता व काल-दोष के कारण श्रमणाचार-संहिता में क्वचित् कदाचित् शिथिलता व दोषों का प्रादुर्भाव भी दृष्टिगोचर होता है किन्तु उपासकों की आचार-संहिता में जिस तीव्रता से गिरावट आयी है उसकी कल्पना कर पाना भी विवेकीजनों के लिए आश्चर्यकारक है। चतुर्थकाल में भी श्रमण अट्ठाईस मूलगुण व 34 उत्तरगुणों का पालन करते थे और संप्रति पंचमकाल में भी इन्हीं मूलगुण व उत्तरगुणों का पालन करते हैं। किन्तु चतुर्थकाल में श्रावक मुख्यता से प्रतिमाधारी ही होते थे। बीतते हुए समय के साथ श्रावकः पुनः व्रती, अणुव्रती और आज तो अष्ट-मूलगुण का पालन करने वाले श्रावक भी कदाचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं।

श्रावकों की आचार संहिता में उतनी तीव्र गति से गिरावट आ रही है जितनी तीव्र गति से पर्वत से गिरती हुई कोई सरिता पारावर की ओर गतिशील होती है। संभवतः इसी कारण श्रमणाचारों की तुलना में श्रावकाचार कई अधिक संख्या में हैं। श्रावकों के आचार-पतन को रोकने के लिए समय-समय पर करुणा व दया से जिनका चित्त आर्द्र हो रहा है ऐसे आचार्य भगवंतों, मनीषी, विद्वानों ने स्वपर हित की भावना से अनुप्रेरित हो सद्साहित्य का लेखन कर मानवता के स्थिरीकरण के लिए सम्यक् पुरुषार्थ किया।

कदाचार, हिंसादि पाप, स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय के विषयों में आसक्ति, आर्त्त-रौद्रध्यान, कृष्णलेश्यादिमय अशुभ परिणाम किसी भी काल में जैनदर्शन में धर्म संज्ञा को प्राप्त नहीं हुए। जैन वाङ्मय में श्रावकों की आचार संहिता में जब-जब विशेष क्षति हुई तब-तब उन विशेष धर्मों की रक्षा करने के लिए आचार-शुद्धि के निमित्त आहार-शुद्धि पर बल देते हुए श्रमणों ने और मीमांसक विद्वत्वर्ग ने धर्मरक्षार्थ अपने विचारों को लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी, आ. भगवन् श्री उमास्वामी, आ. भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी, आ. भगवन् श्री पूज्यपाद स्वामी, स्वामी कुमार कार्तिकेय, आ. भगवन् श्री वीरसेन स्वामी,

आ. भगवन् श्री रविषेण स्वामी, आ. भगवन् श्री जिनसेन स्वामी, आ. भगवन् श्री अमितगति स्वामी, आ. भगवन् श्री अमृतचंद्र स्वामी, आ. भगवन् श्री जयसेन स्वामी, आ. भगवन् श्री वसुनंदी स्वामी, आ. भगवन् श्री सोमदेव स्वामी, आ. भगवन् श्री अजितसेन स्वामी, आ. भगवन् श्री देवसेन स्वामी, आ. भगवन् श्री वामदेव जी, आ. भगवन् श्री योगीन्दु देव, आ. भगवन् श्री जटासिंहनंदी, आ. भगवन् श्री कनकामर, आ. भगवन् श्री सकलकीर्ति जी, आ. भगवन् श्री शिवकोटि जी, आ. भगवन् श्री अमोघवर्ष स्वामी, आ. भगवन् श्री अकलंक देव, आ. भगवन् श्री श्रुतसागरजी, आ. भगवन् श्री गुणभूषण जी, आ. भगवन् श्री चामुंडराय, आ. भगवन् श्री पद्मनंदी स्वामी, आ. भगवन् श्री शामकुंड, आ. भगवन् श्री बप्पदेव स्वामी, आ. भगवन् श्री तिरुवल्लुवर, आ. भगवन् श्री विद्यानंदी स्वामी, आ. भगवन् श्री मल्लिभूषण, आ. भगवन् श्री नयसेन, आ. भगवन् श्री रत्नकीर्ति, आ. भगवन् श्री ब्रह्मदेव जी, आ. भगवन् श्री नेमिचंद स्वामी इत्यादि आचार्यों ने तथा आशाधर आदि अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के श्रावकाचारों की रचना की वा श्रावकचर्या को ग्रंथों में अंतर्निहित किया।

आचार्य भगवंतों के उपकारों को कोई भी कृतज्ञ, भद्रपरिणामी, आसन्नभव्यजीव सुचिरकाल तक भी विस्मृत नहीं कर सकते। इनकी शब्दातीत महिमा एवं दयामिश्रित कृपादृष्टि को सुचिरकाल तक भी अनदेखा नहीं किया जा सकता।

इस कलिकाल में तीर्थंकरवत् धर्मप्रभावना करने वाले, धर्म-धुरंधर, जिनशासन-प्रभावक, आदर्श वाग्मी, परम नैयायिक, शार्दूलवत् निर्भीक, क्षत्रिय कुलोत्पन्न आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी का श्रद्धापूर्वक नाम स्मरण करना भी सातिशय पुण्य का कारण है जिन्होंने अपनी विराट विचारधारा, शुद्ध चित्तवृत्ति के द्वारा सीमित व मर्यादित शब्दों में लघुकाय स्वरूप रत्नकरंड श्रावकाचार जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की।

रत्नकरंड श्रावकाचार सत्श्रद्धालु भक्तों की दृष्टि में नि:संदेह रत्नों के अक्षय पिटारे के समान है। यदि इस ग्रंथ के एक कारिका रूपी रत्न को भी वह आत्मसात् कर लेता है तो वह भी धर्म रूपी निधि से अमीरों में शिरोमणि बन जाता है; अपनी आत्मा के समग्र शाश्वत वैभव का अधिकारी हो जाता है। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी जैसे समस्त आचार्य परमेष्ठियों के चरणों में अंतरंग की समग्र श्रद्धा, भक्ति व समर्पण के साथ वंदना करते हुए आज हमें जिस आनंद का अनुभव हो रहा है वह शब्दातीत है।

चेतना के प्रत्येक प्रदेश से उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए भव्यजीवों के स्वात्म-हित में निमित्त स्वरूप सुसमर्थ ग्रंथों की भक्तिपूर्वक वंदना करता हूँ। जिनागम रूपी अमृत में एकांतवादियों

द्वारा मिश्रित कुछ दृष्टांतों से जिनागम दूषित न हो सके, एकांतवाद की विषाक्त बूंदें जिनागम को दूषित न कर सकें ऐसी मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ।

विषमिश्रित मोदक अल्पज्ञों को आकर्षित कर सकते हैं किन्तु उनका परिपाक कभी सुखद नहीं होता। मेरी अंतरंग भावना यही है कि आप सभी आसन्नभव्यजीव निर्ग्रन्थ-श्रमणों द्वारा प्रतिपादित समीचीन ग्रंथ का अध्ययन, चिंतन, मनन कर सुखद मार्ग के पथिक बनें। एकांतवाद का विषाक्त धूम आपकी श्रद्धा की निर्मलदृष्टि को दूषित न कर सके, ऐसा आप सम्यक् प्रयत्न करें।

प्रस्तुत ग्रंथ धर्म की अनेक विशेषताओं से सहित गुणनिधि स्वरूप है। इस ग्रंथ की विशेषताओं को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता। मुझ अल्पधीधारक साधक ने गुरुकृपा, श्रुतभक्ति एवं भव्यों के प्रति करुणा व वात्सल्य से प्रेरित होकर आत्मशांति के लिए जो व्याख्यान किया है उससे भव्यजीव लाभान्वित हों तो हमें परम संतोष की प्राप्ति होगी।

यदि व्याख्यान में शब्द रचना में कोई त्रुटि हो गई हो तो माँ जिनवाणी मुझे क्षमा करें। यदि प्रमादवश, अल्पज्ञतावश वा रागादिवश जिनेन्द्रप्रभु की वाणी का अपलाप हुआ हो तो जिनेन्द्रदेव मुझे क्षमा करें। यदि कहीं आचार्य भगवन् के भावों को मैं समीचीन रूप से प्रस्तुत नहीं कर पाया हूँ तो आचार्य भगवन् मुझे क्षमा प्रदान करें।

हंसवत् नीर-क्षीर भेदविज्ञानी विवेकशील बुद्धि के द्वारा सद्गुणों को ग्रहण करने का सम्यक् पुरुषार्थ करें क्योंकि विवेकीजन किसी भी समीचीन वृक्ष के भक्ष्य सुमधुर फलों को ही ग्रहण करते हैं, कटुक, अर्द्धपक्व वा तीखे फलों को नहीं।

परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती, क्षपकराज शिरोमणि आचार्य श्री विद्यानंद जी गुरुदेव एवं आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी आदि पूर्वाचार्यों के चरणों में अत्यंत विनम्र परिणामों के साथ प्रणाम करता हूँ।

आप सभी धर्मस्नेही, पाठक महानुभावों को धर्मवृद्धि शुभाशीष-

कल्याणमस्तु कमलाभिमुखी सदास्तु, दीर्घायुरस्तु कुलगोत्रसमृद्धिरस्तु।
आरोग्यमस्त्वभिमतार्थफलाप्तिरस्तु, भद्रं तवास्तु जिनपुङ्गव भक्तिरस्तु॥

आपका कल्याण हो, लक्ष्मी सदा सम्मुख रहे, दीर्घायु हो, कुल और गोत्र की समृद्धि हो, आरोग्य हो, इच्छित फल की प्राप्ति हो, कुशल-मङ्गल हो तथा जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति रहे।

'अलमति विस्तरेण'

पुरोवाक्

–मुनि प्रज्ञानंद

विज्जारहमारूढ़ो, मणोरहपहेसु भमदि जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी, सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ –स.सा.

जो आत्मज्ञान रूपी रथ में आरूढ़ होकर मनोरथ–मार्ग में भ्रमण करता है, उसे जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामर्च्योऽर्चनात्संस्तवनात् स्तवार्हः।
जपी जपाद्ध्यानविधेरबाध्यः श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च॥–य.चं.

जिनभगवान् का अभिषेक करने से मनुष्य मस्तकाभिषेक का पात्र होता है, पूजा करने से पूजनीय, स्तवन से स्तवनीय, जप से जप किए जाने योग्य, ध्यान करने से बाधाओं से रहित और श्रुत की सेवा से महान् शास्त्रज्ञ होता है।

आचार्य भूतबली और पुष्पदंत स्वामी से साहित्य का सृजन प्रारंभ हुआ। पुनः परंपरा से कई श्रमण, आचार्य, साधकों ने साहित्य का सृजन कर भगवान् महावीर स्वामी की वाणी को शताब्दियों तक जीवंत रखा। मानवता की प्रतिष्ठा करने वाले साधक श्रमणों के योगदान से यह मानवजाति सदैव लाभान्वित होती रही है।

श्रमणसंघ समाज का दर्पण है। संसार–शरीर–भोगों से विरक्त होकर ही निःस्पृह व्यक्ति श्रमण बनता है। वह संयम, साधना, समता व मोक्षमार्ग के श्रम के द्वारा अपने श्रमणत्व को सार्थक करता है। उनकी इसी साधना से नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा व चारित्र का उत्कर्ष होता है, साहित्य की वृद्धि होती है और आध्यात्मिक कला से देश का सौन्दर्य उजागर होता है।

जिनशासन की निर्मल व अक्षुण्ण परंपरा में ऐसे ही एक महान् आचार्य हुए–द्वितीय शताब्दी के आचार्य भगवन् श्री समन्तभद्र स्वामी। उन्होंने जिस प्रकार स्याद्वाद की विजयदुंदुभि समस्त राष्ट्र में बजायी, जिस प्रकार भारतवर्ष को अपना लीलास्थल बनाया वह उनके अंतःकरण की शुद्धता, चारित्र की निर्मलता और उनकी प्रभावशाली वाणी का महत्व था। उनके साहित्यों का अवलोकन कर प्रतीत होता है कि वे परीक्षा–प्रधानी थे और वे अन्यों को भी परीक्षा–प्रधानी होने का उपदेश देते थे। उनकी लेखनी से स्पष्ट है कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्त को बिना परीक्षा किए केवल दूसरों के कहने पर ही नहीं मान लेना चाहिए, अपितु समर्थ युक्तियों के द्वारा उसकी समीचीनता का परीक्षण करना चाहिए।

आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी ने जहाँ देवागम स्तोत्र, युक्त्यानुशासन, स्तुति विद्या आदि न्याय से समन्वित भक्ति ग्रंथों की रचना की, वहीं श्रावकों के आचार का कथन करने वाले 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' जैसे ग्रंथ की भी रचना की। द्वितीय शताब्दी का वह ग्रंथ आज इक्कीसवीं शताब्दी में भी अपना विशेष स्थान रखता है। अल्प शब्दों में श्रावकों के सम्पूर्ण आचार का कथन करने वाला यह अनुपम ग्रंथ है। किन्तु जिस प्रकार कुछ special languages or files को कुछ special softwares ही read कर सकते हैं उसी प्रकार आचार्यों की भाषा को आचार्य ही समझ सकते हैं। अतएव परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव ने इस ग्रंथ का व्याख्यान कर संपूर्ण मानवजाति पर असीम उपकार किया है।

आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी की इस कृति पर आचार्य गुरुदेव के प्रवचन जन-जन के हृदय को आनंदित करने वाले हैं। द्वितीय शताब्दी व इक्कीसवीं शताब्दी के इन आचार्यों में एक समानता जो हमें दृष्टिगोचर होती है वह है इनकी तार्किक शैली। आचार्य समंतभद्र स्वामी भी युक्ति, तर्क के माध्यम से बातों को सिद्ध करते थे और आचार्य गुरुदेव की भी यही शैली है। आगम प्रदर्शित करने के उपरांत भी युक्ति, तर्क देकर हर बात को सिद्ध करते हैं। हम सभी शिष्यों को अध्ययन कराने की भी यही शैली आचार्य गुरुदेव की रही। आचार्य गुरुदेव के प्रवचनों में भी तर्क, युक्ति, आगम, दृष्टांत व उदाहरणों से बात की पुष्टि दृष्टिगोचर होती है।

आचार्यों का यह धर्मोपदेश वा आगमानुमोदित व्याख्यान भव्य प्राणियों को धर्ममार्ग पर वृद्धिंगत करने के लिए होता है। धर्म रूपी महान् वृक्ष का आश्रय पाकर ही अधर्मतप्त प्राणी सुख व शांति का अनुभव करते हैं। आचार्य, निर्ग्रन्थ साधु जो धर्म प्रभावना करते हैं मानो उस धर्मवृक्ष के नीचे अमृतोपदेश के अनंत कण विकीर्ण करते हैं जो धर्म-क्षुधातुरों को वहाँ जिनेन्द्रप्रभु के चरणमूल में सुधास्वादन हेतु निमंत्रित करते हैं।

इस कलिकाल में सद्धर्म पीयूष का पान कराने वाले अति अल्प हैं। आचार्य श्री अकलंकदेव स्वामी ने कहा भी है–

कलिप्रावृषि मिथ्यात्व-मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह।
खद्योतवत् सुदेष्टारो हा! द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥

अर्थात् कलियुग एक वर्षा ऋतु के समान है, जिसमें दिशाएँ मिथ्यात्व के मेघों से आच्छादित हो रही हैं, सम्यक् मार्ग सूझता नहीं और अच्छे श्रुतधर्म-प्रभावक ज्ञानी खद्योत के समान कहीं-कहीं क्षणकाल के लिए दिखायी देते हैं।

वस्तुतः काल की प्रभविष्णुता दुर्जेय है। समीचीन ज्ञान को देने वाले भी अल्प हैं और इस घोर पंचमकाल में उसे ग्रहण करने वाले भी अल्प हैं। इस युग में भद्रपरिणामी और इससे भी

उत्कृष्ट विशेषणधारियों में भी चित्तविशुद्धि सर्वथा नहीं पायी जाती। उनकी मानसिक वृत्तियाँ भी रागद्वेषादि से कलुषित देखी जाती हैं, यह दुर्जय काल प्रभाव है। भद्रबाहुचरित में भी लिखा है–**'बोधो धर्मो धनं सौख्यं कलौ हीनत्वमेष्यति'** अर्थात् कलियुग में ज्ञान, धर्म, धन और सुख उत्तरोत्तर हीनता को प्राप्त हो जाएँगे। ज्ञान जिससे आत्महित-बोध हो प्रायः तिरोहित हो जाएगा और सामान्यज्ञान ही लोगों के लिए गर्व का कारण बन जाएगा। धर्म पालन में आत्मरुचि व अंतरंग प्रेरणा नहीं रहेगी अपितु प्रदर्शन से प्रतिष्ठा प्राप्ति का लोभ प्रायः शेष रह जाएगा।

ऐसे दुस्सह काल में भी श्रावकों के आचार-उत्थान करने में समर्थ इस ग्रंथ का व्याख्यान आचार्य गुरुदेव से प्राप्त हुआ यह स्तुत्य व अभिवंदनीय है। मानवता का वा सम्यक् जीवन का निर्माण जिस चरित्र से सुलभ है उसका व्यवहरणीय स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ में निबद्ध है। श्रावक जीवन का यह वह अमृतमार्ग प्रस्तुत करता है जिसे विश्व का कोई भी सदाचारी व बुद्धिमान व्यक्ति पूर्वाग्रहरहित स्वीकार करेगा। संसार में व्याप्त इस मानसिक भ्रष्टाचार का विनाश अहिंसा-प्रभृति से ही संभव है।

आने वाली पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों पर गर्व कर सकें और धर्म को समादर दृष्टि से देख सकें, इसके लिए तप करने का समय वर्तमान है। मोह, अज्ञानादि के अंधकार में भटकते हुए जनों को सर्वोदय-तीर्थ का अनुजीवी ही अपने समत्व से उपकृत कर सकता है।

आगम, धर्म-उपदेश, स्वाध्याय और जिनमुद्रांकित संयमी साधक यतीश्वरों से प्रेरणा लेकर श्रेयोमार्ग पर आगे बढ़ते रहने की अदम्य इच्छा कदाचित् कालप्रभाव को भी मृदु होने के लिए बाधित कर देती है। मात्र कालदोष कहकर बच निकलना पुरुषार्थ-पराङ्मुखता ही है।

अतएव इस पंचमकाल के प्रारंभ से आज वर्तमान तक श्रमणों का मोक्षमार्ग का यह श्रम एवं जैन वाङ्मय का संवर्धन अविच्छिन्न है। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, स्याद्वाद केसरी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव भी पूर्वाचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए निज आत्मसाधना में रत जिन साहित्य-संवर्द्धक व जिनशासन-ध्वज के संवाहक बने हुए हैं। आचार्य गुरुदेव ने अनेक ग्रंथों का संपादन कर व प्राकृत भाषा में ग्रंथों की रचना कर जैन जगत् में जो नवीन क्रांति उत्पन्न की है वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित की जाएगी।

पूज्य आचार्य गुरुदेव के जिनशासन-प्रभावक कार्यों को वा जैन-वाङ्मय संरक्षण व संवर्द्धन में उनके अवदान को शब्दों में लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। भगवान् महावीर स्वामी के पादमूल में पहुँचकर जो शब्दातीत आनंदानुभूति गौतम गणधर स्वामी को हुई होगी वही आचार्य गुरुदेव के पादमूल में आकर मुझे प्राप्त हुई है। ऐसे गुरु का शिष्य बन मैं स्वयं के सौभाग्य की सराहना करता हूँ।

आचार्य गुरुदेव के शब्दों को लिपिबद्ध कर जन-जन तक पहुँचाने का जो श्रम आर्यिका संघ के माध्यम से हो रहा है वह निश्चय से श्लाघनीय, अभिनंदनीय व अनुकरणीय है। आर्यिका संघ की श्रुतसेवा की मैं सराहना व अनुमोदना करता हूँ।

अंत में परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी गुरुदेव के चरणों में सिद्ध-श्रुत- आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु करता हुआ भावना भाता हूँ कि युगों युगों तक आचार्य भगवन् के ज्ञान, ध्यान, तपादि के माध्यम से पृथ्वी पर मानवता, आत्महित-भावना आदि वृद्धिंगत होती रहे। आचार्य भगवन् का स्वास्थ्य सदैव अनुकूल रहे. ऐसी जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

नमोस्तु.... नमोस्तु.... नमोस्तु.... गुरुदेव!

संपादकीय

श्रुतातत्त्वपरिज्ञानं श्रुतात्समयवर्धनं।
श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वनेतत्तमस्यते॥ –य.चं.

श्रुत से तत्त्वज्ञान होता है, श्रुत से जिनशासन वृद्धिंगत होता है। यदि शास्त्र न हों तो कल्याण के इच्छुकों को सर्वत्र अन्धकार ही दिखायी दे।

त्वं सर्वदोषरहितः सुनयं वचस्ते,
सत्त्वानुकम्पनपरः सकलो विधिश्च।
लोकस्तथापि यदि तुष्यति न त्वयीश,
कर्मास्य तन्ननु रवारिव कौशिकस्य॥

हे देव! आप समस्त दोषों से रहित हो, आपके वचन सुनय रूप हैं–किसी वस्तु के विषय में इतर दृष्टिकोणों का निराकरण न करके विवक्षित दृष्टिकोण से वस्तु का प्रतिपादन करते हैं तथा आपके द्वारा बतलाई विधि प्राणियों के प्रति दयाभाव से पूर्ण है फिर भी यदि यह लोक आपसे संतुष्ट नहीं होता तो इसका कारण उनका कर्म है, जैसे–यदि उल्लू को सूर्य की तेजस्विता पसंद नहीं हो तो इसमें सूर्य का क्या दोष?

महाश्रमण तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामी तथा अनेक तीर्थंकरों व केवली भगवंतों की सर्वांग से निष्पन्न दिव्यध्वनि रूपी अमृत उपदेश में भव्यजीवों के आत्मकल्याण के लिए दो प्रकार के मार्गों का व्याख्यान रहा। एक श्रमणधर्म मार्ग, दूसरा श्रावकधर्म मार्ग। श्रमणधर्म मार्ग साक्षात् मोक्ष का मार्ग होता है जिसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की साधना का विषय विवेचन है। श्रमणधर्म का मूल समताभाव है अथवा श्रमणधर्म में 5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इंद्रियनिरोध, 6 आवश्यक कर्त्तव्य, 7 विशेषगुण रूप 28 मूलगुण होते हैं तथा अनशनादि 6 बहिरंग व प्रायश्चित्तादि 6 अंतरंग तप इन 12 तपों से संयुक्त होकर 22 परीषहों को जीतना, ये 34 श्रमणों के उत्तरगुण कहे। श्रमणों के धर्म का व्याख्यान करने वाले आचारांगादि अंग जिनशासन में सुप्रसिद्ध रहे। वर्तमानकाल में श्रमणधर्म का व्यवहार एवं निश्चय पक्ष वा संक्षेप में उभय पक्ष से कथन करने वाले मूलाराधना, मूलाचार, मूलाचारप्रदीप, आचारसार, प्रवचनसार, नियमसार, समयपाहुड़, रयणसार, समणायारो इत्यादि अनेक ग्रंथ सुप्रसिद्ध हैं तथा चारित्रसार, परमात्म

प्रकाश, अष्टपाहुड़, तत्त्वभावनासार, तत्त्वानुशासन, ज्ञानार्णव, पद्मनंदिपंचविंशतिका इत्यादि ग्रंथ श्रमणधर्म के पोषक और संयमीजनों के लिए आलंबन स्वरूप हैं।

यथाजात दिगंबरमुद्रा धारण किए बिना कोई श्रमण नहीं होता। वस्त्र (एक साटिका) धारण करने वाली आर्यिका/श्रमणी भी पूर्ण महाव्रती नहीं है। उसे भी उपचार से ही महाव्रती कहा जाता है। उपचार से महाव्रतों का पालन करने वाली श्रमणी भी परंपरा से मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होती है, वह पूर्ण मोक्षमार्गी नहीं है, उपचार से ही मोक्षमार्गी है। करणानुयोग व सिद्धांत ग्रंथों की अपेक्षा से श्रमणी का पंचम गुणस्थान ही संभव है, इससे आगे इनकी प्रवृत्ति संभव नहीं है। पंचम गुणस्थान से आगे वाले सभी गुणस्थान किंचित् भी परिग्रहधारी वा सग्रंथ साधु को भी संभव नहीं हैं। यद्यपि आज पंचमकाल में श्रमण वा जिनदीक्षा संहननादिक की हीनता के कारण परंपरा से मोक्ष का कारण है। अस्तु तीर्थंकरादि सर्वज्ञ देवों के द्वारा परंपरा से मोक्ष का मार्ग वा एकदेश मोक्ष का मार्ग बताने वाले अनेक श्रावकाचार भी विद्यमान हैं। केवलियों की वाणी स्वरूप द्वादशांग में निहित उपासकाध्ययन मुख्य श्रावकधर्म प्रकाशक ग्रंथ माना जाता है।

वर्तमानकाल में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार किंचित् श्रावक के आचरण में अंतर प्रस्तुत करते हुए अनेक श्रावकोपयोगी ग्रंथ उपलब्ध हैं। श्रावकों की आचार-संहिता का संक्षेप में व्याख्यान प्रस्तुत करने वाले प्रथमानुयोग के ग्रंथ तथा स्वतंत्र श्रावकधर्म का विस्तृत व्याख्यान करने वाले आचार्य द्वारा प्रणीत श्रावकाचार उपलब्ध हैं। आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी आदि पूर्ववर्ती वा अपरवर्ती आचार्यों ने श्रावकों के कर्तव्यों का सहज, सरल भाषा में व्याख्यान किया है। सभी श्रावकाचारों में सद्गृहस्थों के 8 मूलगुण, 12 व्रत व 11 प्रतिमाओं का ही निर्देश है। इतना अवश्य है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार श्रावक के कर्तव्य कभी दो ही पर्याप्त थे, कभी चार, कभी छह, कभी आठ, नौ या दस।

जिन शुभ आलंबनों को प्राप्त करके सद्गृहस्थ पापों से बच पाता है तथा सातिशय पुण्य का अर्जन करने में समर्थ होता है वे सभी आलंबन उसके आवश्यक कर्तव्यों में सम्मिलित होते चले गए। गृहस्थ जीवन में रहते हुए संपूर्ण पापों का त्याग कठिन ही नहीं, असंभव भी है। अतः बहु सावद्य का त्याग, उद्योग, आरंभादि अल्प सावद्य संयुक्त चर्या सद्गृहस्थ वा श्रावकों की होती है। आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी, आचार्य श्री उमास्वामी, स्वामी कुमार कार्तिकेय, आचार्य शिवकोटि, आचार्य देवनंदी अपरनाम पूज्यपाद स्वामी, आचार्य देवसेन, आचार्य वामदेव, आचार्य जयसेन, आचार्य नयनंदी, आचार्य चामुंडराय, आचार्य गुणभद्र स्वामी, श्री सोमदेवाचार्य, आचार्य श्री जटासिंहनंदी इत्यादि आचार्यों ने संक्षेप वा विस्तार में श्रावकों की आचारसंहिता प्रस्तुत की है।

इन सभी श्रावकाचारों में लघुकाय गणित के सूत्रों की तरह से अत्यंत प्रमाणिक अद्यावधि पर्यन्त आचरणीय रत्नकरण्ड श्रावकाचार की महिमा सर्वोपरि है। प्रस्तुत ग्रंथ 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' नि:संदेह रत्नों के पिटारे के समान अत्यंत बहुमूल्य, पाप-निवारक, पुण्य- प्रदायक, आत्मसुरक्षा करने में समर्थ चैतन्य रक्षाकवच की तरह से संपूर्ण जैन जगत् में समादरणीय है। लोक में रत्नों को जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है उसी प्रकार जैन जगत् में श्रावकों की आचारसंहिता का प्ररूपण करने वाली रत्नकरण्ड श्रावकाचार की कारिकाओं को भी अत्यंत महत्वपूर्ण व अभिनंदनीय स्वीकार किया है।

आचार्य महोदय की कारिकाएँ चेतना में विद्यमान मिथ्यात्व, अज्ञान वा असंयम के अंधकार को किंचित् ही सही किंतु तिरोहित करने में समर्थ हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार की प्रत्येक कारिका की यह विशद व्याख्या शाश्वत नंदादीप की तरह से चेतना के प्रत्येक प्रदेश को आलोकित करने वाली है। श्रावकों के आचार का कथन करने वाला यह ग्रंथ सप्त अध्यायों में विभक्त है। प्रस्तुत ग्रंथ 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की क्रमश: व संक्षिप्त विषयवस्तु इस प्रकार है–

1. सम्यग्दर्शनाधिकार–धर्म रूपी वृक्ष का मूल वा धर्म रूपी भवन का आधार सम्यग्दर्शन है। अतएव समस्त धर्म का निरूपण करने वाले ग्रंथों में सम्यग्दर्शन को सर्वप्रथम निरूपित किया गया है। आचार्य भगवन् श्रीउमास्वामी जी ने तत्त्वार्थसूत्र में, सि.च. आचार्य भगवन् श्री वसुनंदी जी ने वसुनंदी श्रावकाचार में, आचार्य भगवन् श्री कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में एवं आचार्य भगवन् श्रीअमितगति स्वामी ने अमितगति श्रावकाचार में इत्यादि आचार्यों ने ग्रंथों में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का कथन किया। प्रस्तुत ग्रंथ में भी आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी ने प्रथम अधिकार के अंतर्गत सम्यग्दर्शन का स्वरूप, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, सम्यग्दर्शन को दूषित करने वाली तीन मूढ़ता व आठ मद का प्ररूपण करते हुए सम्यग्दर्शन की महिमा को दर्शाया है। इस अध्याय में 41 श्लोक हैं।

2. सम्यग्ज्ञानाधिकार–सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होते ही जीव का समस्त ज्ञान सम्यक् हो जाता है। ये दोनों एक दूसरे के अविनाभावी हैं। इसमें 42 से 46 गाथाएँ हैं। सम्यग्ज्ञान का स्वरूप पुन: प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग का स्वरूप एक-एक गाथा में निरूपित किया।

3. अणुव्रताधिकार–यह अध्याय 47 गाथा से 66 गाथा तक निबद्ध है। चारित्र धारण करने की आवश्यकता बताते हुए चारित्र का स्वरूप, चारित्र के भेद, श्रावक-चारित्र, अणुव्रत का लक्षण, अहिंसादि पाँच अणुव्रतों के स्वरूप व अतिचार का संक्षिप्त किंतु पूर्ण वर्णन है।

आचार्य भगवन् ने पुनः अणुव्रतों के धारण करने का फल व अणुव्रतों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम भी उल्लिखित किए। पश्चात् हिंसादि पापों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम व श्रावक के आठ मूलगुणों का कथन किया।

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी ने ही सर्वप्रथम श्रावक के अष्ट मूलगुणों का विवेचन किया। उनके गुरु आचार्य भगवन् श्री उमास्वामी जी मुनिराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में भी अष्ट मूलगुणों का कथन नहीं किया। प्रतिभासित होता है कि इससे पूर्व मूलगुणों का कथन करने की कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं की गई थी, ये सभी के लिए स्वभावतः ही होंगे।

आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने 3 मकार का त्याग व 5 अणुव्रतों का पालन इस प्रकार आठ मूलगुण वर्णित किए हैं। आचार्य श्री शिवकोटि जी, आचार्य श्री सोमदेव सूरी व आचार्य श्री सकलकीर्ति जी मुनिराज ने 3 मकार व 5 उदंबर फलों का त्याग ये आठ मूलगुण कहे हैं। सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनंदी स्वामी व आचार्य गुणभूषण मुनिराज ने सात व्यसन व पांच उदंबर फलों के त्याग रूप अष्ट मूलगुण कहे।

4. गुणव्रताधिकार—यह अध्याय 67 से 90 गाथाओं तक निबद्ध है। आचार्य भगवन् ने दिग्व्रत, अनर्थदंडविरति व्रत व भोगोपभोग परिमाण व्रत, ये तीन गुणव्रत कहे। पुनः दिग्व्रत का लक्षण व अतिचार, अनर्थदंडविरति व्रत का स्वरूप, भेद, भेदों के लक्षण व अतिचार, भोगोपभोग परिमाण व्रत का स्वरूप, व्रत के अतिचारों का प्रतिपादन किया।

आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने जो तीन गुणव्रत कहे हैं, आचार्य श्री सकलकीर्ति जी, आचार्य श्री शिवकोटि, आचार्य श्री कार्तिकेय स्वामी, आचार्य श्री पद्मनंदी स्वामी, आचार्य श्री जटासिंहनंदी आदि ने ये तीन गुणव्रत ही माने हैं। जबकि आचार्य श्री सोमदेव सूरी, आचार्य श्री अमृतचंद्र स्वामी, आचार्य श्री वसुनंदी स्वामी, आचार्य श्री अमितगति स्वामी आदि ने दिग्व्रत, देशव्रत व अनर्थदंडविरति व्रत ये तीन गुणव्रत स्वीकार किए हैं।

5. शिक्षाव्रताधिकार—यह अधिकार 91 से 121 गाथाओं में प्ररूपित है। इसमें सर्वप्रथम देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास व वैय्यावृत्य ये शिक्षाव्रत के चार भेद कहे गए हैं। इसमें देशावकाशिक शिक्षाव्रत का स्वरूप, महत्व व अतिचार, सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण, सामायिक का समय, योग्य स्थानादि, माहात्म्य व अतिचार, प्रोषधोपवास का स्वरूप, उस दिन कार्य व अकार्य व इनके अतिचार का क्रमशः वर्णन है। पुनः इसके अंतर्गत वैय्यावृत्य का लक्षण वैय्यावृत्ति में दान, दाता के सात गुण, दान का फल, दान के भेद—औषध, शास्त्र, अभय व आहारदान का प्ररूपण किया है। अर्हत्पूजन को वैय्यावृत्य के अंतर्गत प्ररूपित करना इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है। अंत में वैय्यावृत्य के अतिचारों का कथन किया गया है।

इस प्रकार आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास व वैय्यावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। आचार्य श्री कुंदकुंदस्वामी, आचार्य श्री शिवकोटी जी आदि ने सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा, सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत स्वीकार किए हैं। आ. श्री कार्तिकेय स्वामी ने सल्लेखना के स्थान पर देशावकाशिक को स्वीकार किया है। आ. श्री उमास्वामी जी, आ. श्री जिनसेन स्वामी, आ. श्री अमितगति स्वामी ने सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण व अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत स्वीकार किए हैं। आचार्य सोमदेव सूरी ने सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण व दान इस प्रकार कहे हैं। आ. श्री जटासिंहनदी, आ. श्री देवसेन स्वामी व आचार्य श्री रविषेण स्वामी ने सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग व सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत ग्रहण किए हैं जबकि आचार्य श्री अमृतचंद्र स्वामी ने अतिथि संविभाग के स्थान पर भोगोपभोग परिमाण को स्वीकार किया है। सि.च. आचार्य श्री वसुनंदी स्वामी ने भोगविरति, उपभोगविरति, अतिथि संविभाग व सल्लेखना ये शिक्षाव्रत स्वीकार किए हैं।

6. सल्लेखनाधिकार– यह अधिकार 122 से 135 गाथाओं में लिपिबद्ध है। इसके अंतर्गत आचार्य श्री ने सल्लेखना धारण करने का समय, उसकी आवश्यकता, धारण करने की विधि, स्वरूप, अतिचार व फल का निर्देश किया है। जैन मत वा अन्य सभी मतों में भी आत्मघात को निंदनीय महापाप की कोटि में स्वीकार किया गया है। सल्लेखना का समय, आवश्यकता, विधि व स्वरूपादि का वर्णन जिस प्रकार आचार्य भगवन् ने किया है उस प्रकार से शरीर त्याग में साधक पर आत्महत्या का दोष किसी भी प्रकार से नहीं लगाया जा सकता। आत्महत्या संसारवर्द्धक है जबकि सल्लेखना संसारनाशक है। जिन दोनों क्रियाओं के फल अलग हैं, माहात्म्य अलग है, भावादि सब पृथक् हैं उन दोनों को एक कहने वा समझने वाला उन्मत्त ही समझा जा सकता है। सल्लेखना का तात्पर्य है–सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृष् (लेखन) करना। कषायों की अत्यंत मंदता में सल्लेखना को स्वीकार किया जाता है जबकि आत्मघात कषायों के तीव्र आवेग का परिणाम है अथवा अधिक कहने से क्या लाभ, पृथ्वी व आकाश के समान असमानता रखने वाले आत्मघात व सल्लेखना में कैसी तुलना?

सल्लेखनाधारी साधक अंत समय में कषायों को निःशेष कर पुरजन-परिजन व समस्त प्राणियों से क्षमायाचना करता है और मृत्युपर्यन्त व्रतों का पालन करता हुआ आत्मचिंतन करता है व क्रमशः खाद्य व पेय का भी त्याग कर शरीर का समतापूर्वक परित्याग करता है। जिसका फल उत्कृष्ट से 2-3 भव व जघन्य से 7-8 भवों में मोक्ष प्राप्त करना प्रतिक्रमण के अन्तर्गत कहा गया है।

सल्लेखना वर्णन के पश्चात् आचार्य भगवन् ने मोक्ष का स्वरूप, मुक्त जीवों की विशेषता व धर्म के फल का प्रतिपादन किया है।

7. श्रावक-प्रतिमाधिकार– यह अध्याय 136 से 150 गाथाओं में निबद्ध है। इसके अंतर्गत आचार्य भगवन् ने श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया है। पुनः क्रमशः एक-एक गाथा में प्रतिमाधारी श्रावकों का लक्षण निरूपित किया। आचार्य भगवन् ने ग्रंथ में दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त विरत, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग, उद्दिष्टत्याग, इस प्रकार श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा कहीं।

ग्यारह प्रतिमाओं में छठी प्रतिमा के नाम व स्वरूप में आचार्यों में विशेषता पाई जाती है, अन्य प्रतिमाओं में कोई भेद नहीं है। आ. कुंदकुंद स्वामी, आ. समंतभद्र स्वामी व आ. कार्तिकेय स्वामी आदि ने छठी प्रतिमा रात्रिभुक्तित्याग स्वीकार की है जबकि आचार्य श्री वसुनंदी स्वामी आदि ने दिवामैथुन त्याग को छठी प्रतिमा के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार 150 छंदों में निबद्ध श्रावक की जीवन पद्धति का प्रतिपादन करने वाला यह ग्रंथ अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में अधिकतम छंद गाथा रूप हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अनुष्टुप छंद, प्रथम अध्याय के उपसंहार में वसंततिलका व ग्रंथ के उपसंहार में मालिनी छंद प्रयुक्त है।

श्रावकाचार सामाजिक संतुलन की पृष्ठभूमि है। यह ग्रंथ जैन श्रावक की आचार व्यवस्था का संक्षिप्त गंभीर विवरण करता है। श्रावक का जीवन सार्वभौमिक व सर्वहितकारी होना चाहिए। कई आचार्य, मनीषियों ने श्रावकों की आचार-प्रक्रिया बतायी है। श्रावकों की आचार-प्रक्रिया जब-जब अव्यवस्थित हुई तब-तब आचार्यों ने उस आचार प्रक्रिया को व्यवस्थित व समयानुकूल करने के लिए श्रावकाचारों की रचना की।

सामाजिक विषाक्तता वा श्रावकों के आचार-पतन वा श्रावकों के जीवन में फैले धार्मिक प्रदूषण को दूर करने के लिए आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी द्वारा रचित श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ पर विशद व्याख्यान आवश्यक था। यह वर्तमान श्रावकों का व हम सभी का भी सौभाग्य है कि द्वितीय शताब्दी के नैयायिक, तार्किक, वाग्मी, महान् आचार्य द्वारा रचित ग्रंथ का व्याख्यान हमें वर्तमान के अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, सिद्धांतविद्, तार्किक आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के माध्यम से प्राप्त हुआ। जिनके मुख से निःसृत प्रत्येक शब्द आगम की कसौटी पर कसा एवं द्रव्यादि की तुला में भलीभाँति संतुलित होता है। उनका प्रत्येक समाधान भटकने के सभी पथों को अवरुद्ध कर मात्र सम्यक् मार्ग का दिग्दर्शन करता है। युवाओं के हृदय में उठ रहे प्रश्नों का, जो सम्यक् संतुष्टिजनक निर्दोष समाधान आचार्य श्री से प्राप्त होता है वह निःसंदेह बहुत ही अद्भुत व दुर्लभ है।

आचार्य गुरुदेव का ज्ञान सागर के समान नि:सीम है। ज्ञान, ध्यान, तप व साहित्य साधना में वे वर्तमान में अग्रणीय हैं। कविता, कथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि समस्त विधाओं पर उनका पूर्ण अधिकार है। साहित्य को आचार्य श्री ने जो समृद्धि प्रदान की उसके लिए न मात्र जैन अपितु विश्व साहित्य जगत् उनका ऋणी रहेगा

आचार्य श्री सकारात्मक सोच के धनी व अत्यंत उदार व्यक्तित्व हैं। जिनके अंदर जिनेन्द्र भगवान् की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने की तीव्र भावना वैसे ही विद्यमान रहती है जैसी आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी में थी जिससे उन्होंने स्याद्वादन्याय मार्ग को प्रख्यात किया। एकांतवादियों के लोगों को दिग्भ्रमित करने वाले शास्त्रों को देख सम्यक् शास्त्रों का प्रचार-प्रसार अत्यंत आवश्यक हो गया था। तब लोगों को स्वाध्याय की ओर आकर्षित करने के लिए काल-धूल-धूसरित शास्त्रों का अन्वेषण कर आचार्य गुरुवर ने अनेक प्रथमानुयोग के ग्रंथों का संपादन किया जिसने जैन जगत् में नवीन क्रांति उत्पन्न की।

पुन: लोगों द्वारा अल्प परिचित अन्य अनुयोगों के शास्त्रों का संपादन किया। लगभग 250 ग्रंथों का संपादन व लेखन करने वाले, अपना संपूर्ण जीवन श्रुतकीड़ा में बिताने वाले उन श्रुतावतार आचार्य के ज्ञान की सीमा को कौन माप सकता है, कोई नहीं। लगभग संपूर्ण जैन वाङ्मय के अध्येता ने विश्व की प्राचीनतम मूल प्राकृत भाषा में अनेक ग्रंथों का प्रणयन कर समस्त विद्वज्जगत् को विस्मय में डाल दिया। जैन श्रमण जगत् का यह सूर्य जिस प्रकार दैदीप्यमान हो जिनशासन को वृद्धिंगत कर रहा है यह सभी जिनशासन-अनुगामियों के लिए गौरव की बात है।

इन्हीं सबके मध्य आचार्य गुरुवर पूर्वाचार्य कृत ग्रंथों पर विशेष व्याख्यान कर जन-जन तक आचार्यों के सम्यक् मन्तव्य को पहुँचा रहे हैं। यथार्थ में इस ग्रंथ के सम्यक् विशद् व्याख्यान की महती आवश्यकता थी। जिसे देखते उन्होंने विधिपरक विधि से इस ग्रंथ का व्याख्यान किया। स्याद्वादमार्ग के संरक्षक आचार्य गुरुदेव ने जिस रीति से ग्रंथ का व्याख्यान किया है वह सभी के द्वारा अवश्य ही पठनीय है।

पूज्य आचार्य गुरुदेव ने जिस प्रकार ग्रंथ व्याख्यायित किया उसी को यहाँ मात्र लिपिबद्ध किया गया है।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रंथ में किंचित् भी हमारा कुछ नहीं है, मूल रचनाकार आ. श्री समंतभद्र स्वामी व वाचनाकार आचार्य गुरुदेव हैं तद्यपि इस वृहद् ग्रंथ के संपादन का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ, यह परम पूज्य महाकवि, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर श्री वसुनंदी जी मुनिराज

की ही असीम अनुकंपा का प्रतिफल है। यथार्थ में इस वृहद् ग्रन्थ का संपादन मुझ अकेले के द्वारा संभव नहीं था। संपूर्ण आर्यिका संघ का महत्वपूर्ण, अविस्मरणीय सहयोग जिस प्रकार मुझे हर कार्य में प्राप्त होता है, वही सहयोग यहाँ भी प्राप्त हुआ। आर्यिका वर्चस्व नंदनी माता जी द्वारा ग्रंथ का समायोजन एवं आर्यिका यशोनंदनी माता जी द्वारा ग्रंथ की पांडुलिपि तैयार की गई।

हम सब के द्वारा यह वृहद् कार्य किया गया, यह भी पूज्य आचार्य गुरुवर की वात्सल्य-पूर्ण आशीषानुकंपा से ही संभव हुआ।

यदि इस ग्रंथ के संपादन में कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन संशोधित कर पढ़ें, हंसवत् गुणग्राही दृष्टि से ग्रंथाध्ययन करें। भवागमननिर्गमन शृंखला को नष्ट करने में तत्पर, जिनेंद्र मुद्रांकित, निर्ग्रन्थ गौरव, पंचमकाल में तीर्थंकर के समान धर्म की प्रभावना करने वाले परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज का दीर्घकालीन सान्निध्य भूमिवासियों को प्राप्त हो, युगों-युगों तक उनके ज्ञान, तप, संयमादि का सौरभ समस्त विश्व को सुरभित करता रहे, उन्हें आरोग्य लाभ हो एवं परम-निःश्रेयस की दुर्विलंघ्य घाटियों को शीघ्र पार करने में समर्थ हों, इन्हीं भावनाओं के साथ परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, महाकवि आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमन।

नमोस्तु.... नमोस्तु.... नमोस्तु भगवन्।

श्री शुभमिति आश्विन कृष्ण अमावस्या — ॐ अर्हं नमः

श्री वीरनिर्वाण संवत् 2550 — **-आर्यिका वर्धस्व नंदनी**

बुधवार, 2.11.2024

श्री दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र

देहरा तिजारा, राजस्थान

स्वामी समंतभद्राचार्य : एक परिचय

–आर्यिका वर्चस्व नंदनी

श्रमण गगन के अद्वितीय नक्षत्र जिनका अनेक प्रतिभाशाली आचार्यों व पूज्य महात्माओं में बहुत ऊँचा स्थान है, वे महान् आचार्य भगवन् श्री **'समन्तभद्र स्वामी'**। उनका नाम उन पर पूर्ण रूप से चरितार्थ था 'समंतभद्र'–बाहर भीतर सब ओर से भद्र रूप। आचार्य भगवन् बहुत बड़े योगी, त्यागी व तपस्वी थे। वे धर्म सिद्धान्तों के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ तर्क, व्याकरण, छंद, अलंकार और काव्यादि ग्रंथों में पूरी तरह निष्णात थे। उन्हें 'स्वामी' पद से विशेष रूप से विभूषित किया गया।

जीवन काल

आचार्य भगवन् ने किस समय इस धरा को सुशोभित किया इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु कोई विद्वान् आपको ईसा की दूसरी शताब्दी का बताते हैं। इस संबंध में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय पंडित जुगल किशोर मुख्तार ने अपने विस्तृत लेखों में अनेक प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया कि आप तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता आचार्य उमास्वामी के पश्चात् एवं आचार्य पूज्यपाद स्वामी के पूर्व हुए थे। अभी आपके संबंध में यही विचार सर्वमान्य माना जा रहा है।

श्रवणबेलगोला के विद्वान् श्री दौर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्रागार में सुरक्षित आप्तमीमांसा की एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के निम्नांकित पुष्पिका वाक्य– **'इति श्री फणिमंडलालंकार स्योरगपुराधिप सूनोः श्री स्वामी समन्तभद्रमुनैः कृतौ आप्तमीमांसायाम्'** से स्पष्ट है कि समंतभद्र फणिमंडलान्तर्गत उरगपुर के राजा के पुत्र थे। यह उरगपुर ही वर्तमान में उरैयूर जान पड़ता है। उरगपुर चोल राजाओं की प्राचीन राजधानी रही, पुरानी त्रिचलापल्ली भी इसी को कहते हैं।

शिक्षा-दीक्षा

आपका प्रारम्भिक नाम शांतिवर्मा था। दीक्षा के पहले की शिक्षा या तो उरैयपुर हुई या कांची या मदुरै में हुई जान पड़ती है क्योंकि ये तीनों स्थान उस समय भारत में विद्या के मुख्य केन्द्र थे।

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशकरधवलः पांडुरांगस्तपस्वी,
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

इस लेख से आपकी दीक्षा स्थली कांची या उसके आस-पास का गांव होना चाहिए।

पितृकुल की तरह गुरुकुल का स्पष्ट लेख तो नहीं और न दीक्षा गुरु का नाम किन्तु श्रवणबेलगोल के कुछ शिलालेखों से इतना पता चलता है कि आप श्री भद्रबाहु श्रुत केवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त मुनि के वंशज पद्मनंदि अपर नाम कुंद-कुंद मुनिराज उनके वंशज उमास्वामी की वंशपरम्परा में हुए थे। **(शिलालेख नं. 40)**

बड़े उत्साह के साथ मुनिधर्म का पालन, धर्मध्यान व जिनशासन की प्रभावना करते हुए, मुनि जीवनयापन करते हुए मणुवकहल्ली ग्राम में असातावेदनीय के प्रबल उदय से भस्मक रोग हो गया। मुनिवेश में इस रोग का शमन असंभव था अतः गुरु आज्ञा से अपने रोग का निदान अन्य वेश में किया पुनः जिनशासन की महती प्रभावना हेतु वीरशासन का उद्धार आपके द्वारा हुआ।

देश में जिस समय बौद्धादिक का प्रबल आतंक छाया हुआ था और जो लोग उनके नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, क्षणिकवादी सिद्धान्तों से संत्रस्त थे, उस समय दक्षिणभारत में उदय होकर आपने जो अनेकांत व स्याद्वाद का डंका बजाया वह बहुत ही महत्वशाली व चिरस्मरणीय है। आपको जिनशासन का प्रणेता तक लिखा गया है।

शुभचन्द्राचार्य ने आपको भारत भूषण लिखा है। आप अनेक उत्तमोत्तम गुणों के स्वामी थे फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामक चार गुण आप में असाधारण कोटि की योग्यता वाले थे। जैसा आज से 1100 वर्ष पहले विद्वान् जिनसेनाचार्य ने निम्न वाक्य से आदिपुराण में स्मरण किया-

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामदि।
यशः समन्त-भद्रीयं मूर्ध्नि चूड़ामणीयते॥

स्वामी समन्तभद्र के इन चारों गुणों की लोक में कितनी धाक थी, विद्वानों के हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तव में कितने अधिक महत्त्व को लिए हुए थे, इन सब बातों का कुछ अनुभव कराने के लिए कितने ही प्रमाण-वाक्यों को स्वामी

समन्तभद्र नाम के उस ऐतिहासिक निबंध में संकलित किया गया है जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार की विस्तृत प्रस्तावना के अनन्तर अंकित है। यहाँ संक्षेप में कुछ थोड़ा सा ही सार दिया जाता है और वह इस प्रकार है–

(1) भगवज्जिनसेन स्वामी ने **आदिपुराण** में समन्तभद्र स्वामी को महान् कविवेधा-कवियों को उत्पन्न करने वाला महान विधाता (ब्रह्मा) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपात से कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गये थे।

(2) वादिराजसूरि ने **यशोधरचरित** में समन्तभद्र के काव्य को माणिक्यों का रोहण (पर्वत) लिखा है और यह भावना की है कि वे सूरि हमें रत्नों के प्रदान करने वाले होवें।

(3) वादीभसिंह सूरि ने **गद्यचिन्तामणि** में समन्तभद्र मुनीश्वर का जयघोष करते हुए उन्हें सरस्वती की स्वछन्द विहारभूमि बतलाया है और लिखा है कि उनके वचनरूपी वज्र के निपात से प्रतिपक्षी सिद्धान्त रूप पर्वतों की चोटियाँ खण्ड-खण्ड हो गई थीं-अर्थात् समन्तभद्र के आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तों का प्रायः कुछ भी मूल्य या गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे।

(4) वर्द्धमानसूरि ने **वरांगचरित** में समन्तभद्र स्वामी को महाकवीश्वर कुवादिविद्या-जश-लब्ध कीर्ति और सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर लिखा है और यह प्रार्थना की है कि वे मुझ कवित्वकांक्षी पर प्रसन्न होवें-उनकी विद्या मेरे अन्तःकरण में स्फुरायमान होकर मुझे सफल मनोरथ करें।

(5) श्री शुभचन्द्राचार्य ने **ज्ञानार्णव** में यह प्रकट किया है कि समन्तभद्र जैसे कवीन्द्र सूर्यों की जहाँ निर्मलसूक्तिरूप किरणें स्फुरायमान हो रही हैं, वहाँ वे लोग खद्योत-जुगनूँ की तरह हँसी के ही पात्र होते हैं, जो थोड़े से ज्ञान को पाकर उद्धत हैं-कविता नूतन संदर्भ की रचना करके गर्व करने लगते हैं।

(6) भट्टारक सकलकीर्त्ति ने **पार्श्वनाथचरित** में लिखा है कि जिनकी वाणी (ग्रन्थादिरूप भारती) संसार में सब ओर से मंगलमय है और सारी जनता का उपकार करने वाली है उन कवियों के ईश्वर समन्तभद्र का मैं सादर वंदन (नमस्कार) करता हूँ।

(7) ब्रह्म अजित ने **हनुमच्चरित** में समन्तभद्र को दुर्वादियों की वादरूपी खाज-खुजली को मिटाने के लिए अद्वितीय महौषधि बतलाया है।

(8) कवि दामोदर ने **चन्द्रप्रभचरित** में लिखा है कि जिनकी भारती के प्रताप से–ज्ञानभंडाररूप मौलिक कृतियों के अभ्यास से समस्त कविसमूह सम्यग्ज्ञान का पारगामी हो

गया उन कविनायक-नई-नई मौलिक रचनाएँ करने वालों के शिरोमणि योगी समन्तभद्र की मैं स्तुति करता हूँ।

(9) वसुनन्दी आचार्य ने **स्तुतिविद्या की टीका** में समन्तभद्र आचार्य को सद्बोधरूप-सम्यग्ज्ञान मूर्ति और वरगुणालय-उत्तम गुणों का आवास बतलाते हुए यह लिखा है कि उनके निर्मल यश की कांति से ये तीनों लोक अथवा भारत के उत्तर-दक्षिण और मध्य ये तीनों प्रदेश कान्तिमान थे-उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था।

(10) विजयवर्णी ने **शृंगारचन्द्रिका** में समंतभद्रस्वामी को महा कवीश्वर बतलाते हुए लिखा है कि उनके द्वारा रचे गये प्रबंध-समूहरूप सरोवर में जो रसरूप जल तथा अलंकार रूप कमलों से सुशोभित है और जहाँ भावरूप हंस विचरते हैं, सरस्वती क्रीड़ा किया करती है-सरस्वती देवी के क्रीड़ास्थल (उपाश्रय) होने से समन्तभद्र के सभी प्रबन्ध (ग्रन्थ) निर्दोष पवित्र एवं महती शोभा से सम्पन्न हैं।

(11) अजितसेनाचार्य ने **अलंकार-चिन्तामणि** में कई पुरातन पद्य ऐसे संकलित किये हैं जिनसे उनके वाद-माहात्म्य का पता चलता है। एक पद्य से मालूम होता है कि समन्तभद्रकाल में कुवादीजन प्रायः अपनी स्त्रियों के सामने तो कठोर भाषण किया करते थे-उन्हें अपनी गर्वोक्तियाँ अथवा बहादुरी के गीत सुनाते थे परन्तु जब योगी समन्तभद्र के सामने आते थे तो मधुरभाषी बन जाते थे और उन्हें रक्षा करो, रक्षा करो अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं, ऐसे सुन्दर मृदुल वचन ही कहते बनता था और यह सब आ. समन्तभद्र स्वामी के असाधारण व्यक्तित्व का प्रभाव था।

दूसरे पद्य से यह जाना जाता है कि जब महावादी श्रीसमन्तभद्र जी (सभास्थान आदि में) आते थे तो कुवादीजन नीचा मुख करके अँगूठों से पृथ्वी कुरेदने लगते थे अर्थात् उन लोगों पर समन्तभद्र स्वामी का इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाते थे। और तीसरे पद्य में यह बतलाया गया है कि वादी समन्तभद्र स्वामी की उपस्थिति में चतुराई के साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलने वाले धूर्जटि की-तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वान की जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिल में घुस जाती है, उसे कुछ बोल नहीं आता तो फिर दूसरे विद्वानों की तो कथा (बात) ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्र स्वामी के सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। वह पद्य जो कवि हस्तिमल्ल के विक्रांत कौरवनाटक में भी पाया जाता है, इस प्रकार है-

''अवटु-तटमटति झटिति, स्फुट-पटु वाचात धूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समंतभद्रे स्थितिवति का कथाऽन्येषाम्॥"

यह पद्य शकसंवत् 1050 में उत्कीर्ण हुए श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. 54 (67) में भी थोड़े से पाठ-भेद के साथ उपलब्ध होता है। वहाँ 'धूर्जटेजिह्वा' के स्थान पर 'धूर्जटेरपि जिह्वा' और 'सति का कथाऽन्येषां' की जगह 'सदसि भूप! कास्थाऽन्येषां' पाठ दिया है और इसे समंतभद्र स्वामी जी के वादारम्भ समारम्भ समय की उक्तियों में शामिल किया है। पद्य के उस रूप में धूर्जटि के निरुत्तर होने पर अथवा धूर्जटि की गुरुतर पराजय का उल्लेख करके राजा से पूछा गया है कि धूर्जटि जैसे विद्वान की ऐसी हालत होने पर अब आपकी सभा के दूसरे विद्वानों की क्या आस्था है, क्या उनमें से कोई वाद करने की हिम्मत रखता है।

(12) श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. 105 में उनका जयघोष करते हुए उनके सूक्ति-समूह को सुन्दर प्रौढ़ युक्तियों को लिए हुए प्रवचन को वादीरूपी हाथियों को वश में करने के लिए वज्रांकुश बतलाया है और साथ ही यह लिखा है कि उनके प्रभाव से यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक बार दुर्वादुकों की वार्ता से भी विहीन हो गई थी, उनकी कोई बात भी नहीं करता था।

(13) श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. 108 में भद्रमूर्ति समन्तभद्र स्वामी जी को जिनशासन का प्रणेता (प्रधान नेता) बतलाते हुए यह भी प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्र के कठोरपात से प्रतिवादीरूप पर्वत चूर-चूर हो गये थे। कोई भी प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था।

(14) तिरुम कूडलुनरसीपुर के शिलालेख नं. 105 में उनके एक वाद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजा के सामने विद्वेषियों को पराजित कर दिया था, वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं?-सभी के द्वारा भली प्रकार स्तुति किये जाने के योग्य हैं।

(15) समन्तभद्र के गमकत्व और वाग्मित्व जैसे गुणों का विशेष परिचय उनके देवागमादि ग्रंथों का अवलोकन करने से भले प्रकार अनुभव में लाया जा सकता है तथा उन उल्लेख वाक्यों से भी कुछ जाना जा सकता है जो समन्तभद्र-वाणी का कीर्तन अथवा उसका महत्त्व ख्यापन करने के लिए लिखे गये हैं। ऐसे उल्लेख वाक्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में बहुत पाए जाते हैं। कवि नागराज का समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र तो इसी विषय को लिये हुए है।

(क) श्री वादिराजसूरि ने **न्यायविनिश्चयालंकार** में लिखा है कि सर्वत्र फैले हुए

दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकार के कारण जिसका तत्त्व लोक में दुर्बोध हो रहा है, ठीक समझ में नहीं आता वह हितकारी वस्तु प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थमाला-श्री समन्तभद्र जी के वचनरूप दैदीप्यमान रत्न-दीपकों के द्वारा हमें सब ओर से चिरकाल तक स्पष्ट प्रतिभासित होवे अर्थात् स्वामी समन्तभद्र का प्रवचन उस महाजाज्वल्यमान रत्नसमूह के समान है, जिसका प्रकाश अप्रतिहत होता है और जो संसार में फैले हुए निरपेक्षनय रूपी महामिथ्यान्धकार को दूर करके वस्तु-तत्त्व को स्पष्ट करने में समर्थ है। उसे प्राप्त करके हम अपना अज्ञान दूर करें।

(ख) श्री वीरनन्दी आचार्य ने **चन्द्रप्रभचरित** में लिखा है कि गुणों से सूत के धागों से गूँथी हुई निर्मल गोल मोतियों से युक्त और उत्तम पुरुषों के कण्ठ का विभूषण बनी हुई हारयष्टि को, श्रेष्ठ मोतियों की माला को प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन कि समन्तभद्र की भारती (वाणी) को पा लेना, उसे खूब समझकर हृदयंगम कर लेना है जो कि सद्गुणों को लिए हुए है, निर्मल वृत्त (वृत्तांत, चरित्र, आचार, विधान तथा छन्द) रूपी मुक्ताफलों से युक्त है और बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानों ने जिसे अपने कण्ठ का आभूषण बनाया है। वे नित्य ही उसका उच्चारण तथा पाठ करने में अपना गौरव मानते हैं और अहोभाग्य समझते रहे हैं अर्थात् समन्तभद्र की वाणी परम दुर्लभ है, उनके सातिशय वचनों का लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रम से होता है।

(ग) श्री नरेन्द्रसेनाचार्य **सिद्धान्तसारसंग्रह** में यह प्रकट करते हैं कि श्री समंतभद्रदेव का निर्दोष प्रवचन प्राणियों के लिए ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्व का पाना अर्थात् अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को जिस प्रकार मनुष्यभव का मिलना दुर्लभ होता है, उसी प्रकार समंतभद्रदेव के प्रवचन का लाभ होना भी दुर्लभ है, जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसंदेह सौभाग्यशाली हैं।

इसके अतिरिक्त श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में आपको 'वादी भवज्रांकुश सूक्ति जाल स्फुटरत्न दीप' वादिसिंह, अनेकंत, जयपताका आदि अनेक विशेषण से स्मरण किया।

''हिस्ट्री ऑफ कन्नडीज लिट्रेचर के लेखक मिस्टर एडवर्ड पी. राईज ने-समन्तभद्र स्वामी को तेजपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखा है और बताया कि वे सारे भारतवर्ष में जैन धर्म का बिगुल बजाने वाले महान प्रचारक हैं।

आ. भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर प्रायः सभी देशों में एक अप्रतिद्वन्द्व सिंह के समान क्रीड़ा करते हुए निर्भयता के साथ वाद के लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते हुए कर्नाटक नगर में भी पहुँचे थे जो उस समय बहुत से भटों से युक्त था, विद्या

का उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तार वाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँ के राजा पर अपने वाद-प्रयोजन को प्रकट करते हुए उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्य में दिया था वह श्रवणबेळगोल के शिलालेख नं. 54 में निम्न प्रकार से संग्रहीत है–

''पूर्व पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे॥
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥''

इस पद्य में दिए हुए आत्मपरिचय से यह मालूम होता है कि कर्नाटक पहुँचने से पहले समंतभद्र स्वामी ने जिन देशों तथा नगरों में वाद के लिए विहार किया था, उनमें पाटलिपुत्रनगर, मालव (मलावा) सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वाद की भेरी बजाई थी और वहाँ पर प्रायः किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया था।

अपनी घोषणा के अनुसार वे प्रत्येक विषय के गुण-दोषों को स्याद्वाद-न्याय की कसौटी पर कसकर विद्वानों के सामने रखते थे, वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्व में अमुक-अमुक एकांत पक्षों के मानने से क्या-क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वाद न्याय को स्वीकार करने पर अथवा अनेकांतवाद के प्रभाव से किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरह पर वस्तुतत्त्व का सामंजस्य ठीक बैठ जाता है। उनके समझाने में दूसरों के प्रति तिरस्कार का कोई भाव नहीं होता था। वे एक मार्ग भूले हुए को मार्ग दिखाने वाले की तरह प्रेम के साथ उन्हें उनकी त्रुटियों का बोध कराते थे और इससे उनके भाषणादिक का दूसरों पर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था, उनके पास उसके विरोध का कुछ भी कारण नहीं रहता था। यही वजह थी और यही सब वह सम्मोहन मंत्र था, जिससे समंतभद्र स्वामी जी को दूसरे सम्प्रदायों की ओर से किसी खास विरोध का सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यों में भारी सफलता प्राप्त हुई।

उनकी इस सफलता का एक समुच्चय उल्लेख श्रवणबेळगोल के शिलालेख नं. 54 (67) में जिसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं और जो शक संवत् 1050 में उत्कीर्ण हुआ है, उसमें निम्न प्रकार से पाया जाता है और उससे यह मालूम होता है कि मुनि संघ के नायक आचार्य समंतभद्र के द्वारा सर्व हितकारी जैनमार्ग इस कलिकाल में पुनः सब ओर से भद्र रूप हुआ है, उसका प्रभाव व्याप्त होने से वह सबका हित करने वाला और सबका प्रेमपात्र बना है–

"वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता।
दत्तोदात्तपद-स्वमन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः।।
आचार्यस्स समंतभद्र गणभृद्येनेह काले कलौ।
जैनं वर्त्म समंतभद्रमभवद्भद्रं समंतान्मुहुः॥''

इस पद्य के पूर्वार्ध में उनके जीवन की कुछ खास घटनाओं का उल्लेख है और वे हैं–1. घोर तपस्या करते समय शरीर में भस्मक व्याधि की उत्पत्ति, 2. उस व्याधि की बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ शांति, 3. पद्मावती नाम की दिव्य शक्ति के द्वारा समंतभद्र को उदात्त (ऊँचे) पद की प्राप्ति और 4. अपने मंत्ररूप वचन बल से अथवा योग सामर्थ्य से चन्द्रप्रभ बिम्ब की आकृष्टि। ये सब घटनाएँ बड़ी ही हृदयद्रावक हैं।

उनकी सफलता का दूसरा समुच्चय उल्लेख वेलूरताल के कन्नड़ी शिलालेख नं. 17 में पाया जाता है, जो रामानुजाचार्य के मन्दिर के अहाते के अन्दर सौम्यनाथ की मंदिर की छत के एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होने का समय शक संवत् 1059 दिया है। इस शिलालेख में ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्यों के बाद समन्तभद्र स्वामी श्री वर्द्धमान महावीरस्वामी के तीर्थ की जैन मार्ग की सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदय को प्राप्त हुए हैं–

'श्री वर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरुं श्रुतकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर्तत्...(ती) र्त्थ्यमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दर...।"

वीर जिनेन्द्र के तीर्थ को अपने कलियुगी समय में हजार गुणी वृद्धि करने में समर्थ होना यह कोई साधारण बात नहीं है। इससे आ. भगवन् की असाधारण सफलता और उसके लिए उनकी अद्वितीय योग्यता, भारी विद्वत्ता एवं बेजोड़ क्षमता का पता चलता है। साथ ही उनका महान् व्यक्तित्व मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। यही वजह है कि अकलंकदेव जैसे महान प्रभावक आचार्य ने **'तीर्थं प्राभावि काले कलौ'** जैसे शब्दों द्वारा कलिकाल में आ. समन्तभद्र स्वामी की इस तीर्थ–प्रभावना का उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है। यही कारण है कि श्री जिनसेनाचार्य जी स्वामीसमंतभद्र जी के वचनों को वीर भगवान् के वचनों के समान प्रकाशमान (प्रभादि से युक्त) बतला रहे हैं और शिवकोटि आचार्य ने रत्नमाला में 'जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः' पद के द्वारा आ. समंतभद्र जी को भगवान् महावीर के ऊँचे उठते हुए शासन–समुद्र को बढ़ाने वाला चन्द्रमा लिखा है अर्थात् यह प्रकट किया है कि समंतभद्र के उदय का निमित्त पाकर

वीरभगवानतीर्थसमुद्र खूब वृद्धि को प्राप्त हुआ है और उसका प्रभाव सर्वत्र फैला है। इसके सिवाय आ. भगवन् अकलंकदेव से भी पूर्ववर्ती महान विद्वानाचार्य श्री सिद्धसेन ने 'स्वयंभूस्तुति' नाम की प्रथम द्वात्रिंशिका में **'अनेन सर्वज्ञपरीक्षण-क्षमास्त्वय प्रसाददयसोत्सवः स्थिताः'**-जैसे वाक्य के द्वारा समंतभद्र का **'सर्वज्ञपरिक्षणक्षमः'** (सर्वज्ञ आप्त की परीक्षा करने में समर्थ पुरुष) के रूप में उल्लेख करते हुए और उन्हें बड़े प्रसन्नचित्त से वीर भगवान में स्थिति हुआ बतलाते हुए अगले एक पद्य में वीर के उस यश की मात्रा का बड़े ही गौरव के साथ उल्लेख किया है जो उन 'अलब्धनिष्ठ और प्रसमिद्धचेता' विशेषणों के पात्र समंतभद्र जैसे प्रशिष्यों के द्वारा प्रथित किया गया है।

आ. भगवन् के परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं-1. आचार्य, 2. कवि, 3. वादिराट् 4. पण्डित (गमक), 5. दैवज्ञ (ज्योतिर्विद), 6. भिषक् (वंद्य), 7. मान्त्रिक (मन्त्र विशेष), 8. तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), 9. आज्ञासिद्ध, 10. सिद्धसारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है-

''आचार्योहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोहं,
दैवज्ञोहं विषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहं॥''

आचार्य भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी के जीवन संबंधित एक कथा प्रचलित है। मुनि दीक्षोपरांत उन्हें भस्मक व्याधि नामक रोग हुआ। उस रोग का कोई निवारण न देखकर उन्होंने अपने गुरु से समाधि का निवेदन किया किन्तु भविष्यद्रष्टा गुरु ने उन्हें सल्लेखना व्रत न देकर उन्हें जैसे हो तैसे व्याधि शमन का निर्देश दिया। गुरु की आज्ञा पाकर न चाहते भी अपने पवित्रतम मुनिपद का परित्याग कर ब्राह्मण का सा वेष धारण किया एवं काशी बनारस पहुँच गए। वहाँ का राजा शिव का विशिष्ट भक्त था।

उस नगर के मध्य शिव का एक बहुत बड़ा मंदिर बना हुआ था जहाँ बहुत सा चढ़ावा आया करता था। उन्होंने विचार किया कि यही वह स्थान है जहाँ उनकी पूर्ति हो सकती है। अतः वे राजा के दरबार में पहुँचे और कहने लगे, हे राजन्! आपके शिव कबसे भूखे हैं, क्या आपके यहाँ कोई इतना सामर्थ्यवान् नहीं जो शिव को भोग करा सके? तब राजा बोले कि क्या तुममें ऐसी शक्ति है? वे बोले-हाँ! मैं उनको भोग करा उनकी भूख शांत कर सकता हूँ। इससे राजा को बहुत आश्चर्य हुआ और उन्हें ही उस मंदिर का पुजारी नियुक्त किया। उन्होंने

राजा से कहा–किंतु राजन्! आपके शिव तब ही भोग ग्रहण करेंगे जब वो अकेले में होंगे, सबके सामने नहीं करेंगे। राजा ने कहा जैसे भी संभव हो, किंतु शिव को भोग ग्रहण कराएँ।

अगले दिन जब संपूर्ण पकवान-भोग मंदिर में आ गए तब योगी ने मंदिर के कपाट बंद किए और यथेष्ट भोजन किया। बाद में कपाट खुलने पर खाली बर्तनों को देख सब आश्चर्यचकित हुए विचारने लगे कि मनुष्य में तो ऐसी शक्ति नहीं है जो इतना सारा भोजन एक साथ कर सके। इस प्रकार नित्य प्रति भोजन आता रहा और वे स्वयं भोजन कर तृप्त होते रहे। धीरे-धीरे यथेष्ट मात्रा में भोजन मिलने से भस्मक रोग शमन को प्राप्त होने लगा तो भोजन बचने लगा। धीरे-धीरे बचे हुए भोजन की मात्रा बढ़ने लगी तो लोगों ने इसका कारण पूछा तो स्वामी जी बोले कि आपके शिव कई दिनों से भूखे थे अब उनकी क्षुधा शांत हो रही है इसलिए भोजन बच रहा है।

जब भोजन अधिक बचने लगा तब कुछ लोगों को संदेह होने लगा और रहस्य को जानने के लिए प्रयत्न शुरू हो गए। तब एक बार योगी की सच्चाई प्रकट हो गई कि यह भोजन योगी स्वयं ही करता है। शीघ्र ही समाचार राजा तक पहुँच गया। कुपित व संदेहयुक्त राजा ने उन्हें आज्ञा दी कि वे शिवपिंडी को नमस्कार करें। योगीराज ने विनम्रतापूर्वक कहा कि राजन्! आपकी यह शिवपिंडी मेरा नमस्कार सहन नहीं कर पाएगी। राजा यह सुन बहुत आश्चर्यचकित हुआ, तब राजा ने पिंडी सुरक्षा के सारे प्रबंध कर दिए और घोषणा कर दी कि यदि ये जैसा कह रहे हैं वैसा नहीं हुआ तो नगर के मध्य ही प्राणदंड दिया जाएगा।

उस रात्रि योगीराज को निद्रा नहीं आ रही थी। किन्तु कारण प्राणों का भय नहीं अपितु जिनशासन पर कोई संकट न आए, उसकी निष्कलंकता व सतत् प्रभावना रहे, यह था। उन्होंने चारों प्रकार के आहार का त्याग किया एवं जिनशासन की महती प्रभावना हो, ऐसी भावना भाई। तभी उन्हें थोड़ी सी निद्रा आई और चक्रेश्वरी देवी प्रकट हो बोली हे ऋषिराज! आप चिंता न करें, जिनशासन की महती प्रभावना होगी। आँख खुली तो उन योगीराज के सामने तो कोई नहीं था किन्तु जिनशासन की प्रभावना के आश्वासन से मन में निश्चिन्तता अवश्य हुई।

अगले दिन कौतूहलवश जनसमूह एकत्रित हुआ। एक ओर राजादि विराजित थे दूसरी ओर पिंडी के समक्ष योगीराज ने चौबीस तीर्थंकर की स्तुति करना प्रारंभ कर दिया। भगवान् श्री चंद्रप्रभ की स्तुति करते हुए जैसे ही उनके सुख से 'वंदे' शब्द उच्चरित हुआ, बद्धकरांजलि सहित योगी का मस्तक झुका तो सांकलों से बद्ध शिवपिंडी फट गई और वहीं श्री चंद्रप्रभ भगवान् की स्फटिकमणि की प्रतिमा प्रगट हुई। उनको नमस्कार करते हुए चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति समाप्त हुई और वह स्तुति श्री स्वयंभू स्तोत्र के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई।

इस प्रकार जिनधर्म की अतीव प्रभावना हुई। योगी ने अपना भेष त्याग पुनः दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। तब राजा सहित समस्त नगर ने जिनधर्म स्वीकार किया एवं राजा ने अन्य जन सहित जैनेश्वरी दीक्षा धारण की और यही राजा आगे चलकर आचार्य श्री शिवकोटि के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

आ. समंतभद्र जी 'स्वामी' पद से खास तौर पर अभिभूषित थे और यह पद उनके नाम का एक अंग ही बन गया था, इसी से विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा कई विद्वानों ने अनेक स्थानों पर केवल 'स्वामी' पद के प्रयोग द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। निःसंदेह यह पद उस समय की दृष्टि से उनकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ता का द्योतक है। वे सचमुच ही विद्वानों के स्वामी थे, ऋषि-मुनियों के स्वामी थे, सद्गुणियों के स्वामी थे, सत्कृतियों के स्वामी थे और लोक-हितैषियों के स्वामी थे। उन्होंने अपने अवतार से इस भारतभूमि को विक्रम की दूसरी शताब्दी में पवित्र किया है। आपके अवतार से भारत का गौरव बड़ा है और इसलिए श्री शुभचन्द्राचार्य ने पांडवपुराण में आपको जो भारतभूषण लिखा है वह सब तरह यथार्थ ही है।

रचनाएँ

स्वामी समन्तभद्र जी ने अपनी लगभग सभी रचनाएँ संस्कृत भाषा में निबद्ध की। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित प्रकार हैं।

1. आप्तमीमांसा अथवा देवागम स्तोत्र—यह एक महान ग्रंथ है। ग्रंथ के नाम के अनुसार इसकी विषय वस्तु सच्चे आप्त (देव) का सम्यक् बोध कराना है। इसका प्रारम्भ देवागम से शुरु होने के कारण इसे 'देवागम' भी कहते हैं। ग्रंथ की कुल श्लोक संख्या 114 है। इस पर अकलंक स्वामी ने 'अष्टशति' नामक 800 श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी है।

श्री विद्यानन्दाचार्य ने इस पर 8000 श्लोक प्रमाण वृहद् भाष्य लिखा है, जिसे अष्टसहस्त्री अथवा आप्तमीमांसालंकृति अथवा देवागमलंकृति भी कहते हैं। इसके अलावा एक टीका 'देवागम पद्यवार्तिकालंकार' नाम का उल्लेख भी जिनागम में पाया जाता है किंतु आज यह अप्राप्य है।

2. स्तुति विद्या—आ. भगवन् श्री समंतभद्र स्वामी श्रद्धा व गुणज्ञता दोनों को साथ में लिए महान् अर्हद्भक्त थे। अर्हद्गुणों की प्रतिपादक सुंदर-सुंदर स्तुति रचने की ओर उनकी रुचि

थी और उन्होंने 'स्तुति विद्या' नामक इस ग्रंथ में 'सुस्तुत्यां व्यसनं' वाक्य के द्वारा स्वयं को स्तुतियों के रचने का व्यसन बतलाया है।

3 युक्त्यानुशासन–यह ग्रंथ भी बड़ा ही महत्वपूर्ण तथा अपूर्व है। इसका प्रत्येक पद बहुत ही अर्थ गौरव को लिये हुए है। इसमें कुल 64 पद्यों द्वारा स्तोत्र प्रणाली से स्वमत और परमत का उनके गुण-दोषों का बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ पर भी विद्यानन्दाचार्य की बनाई हुई संस्कृत टीका उपलब्ध है।

4. स्वयम्भू स्तोत्र– इसे वृहद्स्वयम्भू स्तोत्र भी कहते हैं। इसका नाम समन्तभद्र स्तोत्र भी है। इसमें चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति पद्यात्मक रूप में है। इसका प्रारम्भ 'स्वयंभुवे' शब्द से हुआ अतः इसे स्वयम्भू स्तोत्र कहते हैं। इस ग्रंथ में श्री अरहनाथ, श्री नेमिनाथ, श्री महावीर स्वामी को छोड़ शेष सभी तीर्थंकर भगवन्तों को पाँच पाँच श्लोक समर्पित हैं, एवम् अरहनाथ के लिये 20, नेमिनाथ के लिये 10 और भगवान महावीर के लिए 8 श्लोक समर्पित हैं। इस प्रकार इसकी श्लोक संख्या 143 है। यह ग्रंथ निर्मल सूक्तियों को लिए हुए है। प्रसन्न तथा स्वल्प पदों से विभूषित है। चतुर्विंशति जिनदेवों के धर्म का प्रतिपादन करना इसका मुख्य विषय है। यह ग्रंथ तात्विक वर्णन, धार्मिक शिक्षाओं से परिपूर्ण है। यह कण्ठस्थ कर नित्य पाठ करने के योग्य है। इस ग्रंथ पर भी प्रभाचंद जी आचार्य द्वारा रचित एक टीका उपलब्ध है।

5. जिन स्तुति शतक– यह ग्रंथ स्तुति विद्या, जिन स्तुति शतं, जिन शतक अथवा जिनशतालंकार आदि नामों से प्रसिद्धि लिये हुए है। यह ग्रंथ भक्ति रस से लबालब भरा हुआ है। रचना कौशल तथा चित्र काव्यों के उत्कर्ष को लिये हुए है। विभिन्न चित्रालंकारों से विभूषित है। बिना संस्कृत टीका की सहायता के इसका गूढ़ रहस्य एवम् काव्य कला का परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसकी कुल श्लोक संख्या 116 है। इसकी आचार्य नरसिंह भट्ट की संस्कृत टीका एवम् वसुनन्दि आचार्य द्वारा रचित हिन्दी टीका उपलब्ध है।

6. रत्नकरण्ड श्रावकाचार–इसे रत्नकरण्ड उपासकाध्ययन भी कहा जाता है। यह श्रावकाचार से संबधित सबसे प्रधान प्राचीन उत्तम ग्रंथ है। श्री वादिराज सूरि ने इसे 'अक्षय सुखावह' एवम् प्रभाचन्द्राचार्य ने 'अखिल सागार मार्ग को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य' लिखा है। इस पर एक संस्कृत टीका आचार्य प्रभाचन्द्र जी द्वारा रचित उपलब्ध है।

इसके अलावा जीव सिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृत व्याकरण, प्रमाण पदार्थ, कर्म प्राभृत टीका, तथा गंधहस्ति महाभाष्य आदि ग्रंथ भी आपके द्वारा रचे गए हैं, इनका प्रमाण अन्य ग्रंथों से मिलता है किन्तु दुर्भाग्य से ये महानग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके। दिगम्बर

जैन साहित्य की संवृद्धि में आपका महत्वपूर्ण योगदान है। स्वामीसमन्तभद्राचार्य ने जिनशासन की बहुत सेवा की है और अत्यन्त करुणापूर्ण हृदय से हम संसारी जीवों को वास्तविक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। अतः हम सब उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तु धर्म को समझकर यथार्थ निर्णय करके अपना जीवन सफल बनावें, यही भावना है।

ऐसे श्रेष्ठतम महान् आचार्य भगवन् के चरणों में मैं प्रणति निवेदित करती हूँ। और पुनः उन आचार्य की तार्किक क्षमता जिनमें परिलक्षित होती है ऐसे मम गुरुदेव परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में अंतरंग की समग्र भक्ति-श्रद्धा सहित नमस्कार करती हूँ। इस ग्रंथ पर वाचना कर आचार्य गुरुवर ने जो कृपा भव्यजीवों पर की है उसके लिए वे सदैव आपके कृतज्ञ रहेंगे।

हम जिनेन्द्र भगवान् के समक्ष भावना भाते हैं कि आचार्य गुरुवर का संयम, तप, साधना, ज्ञान सदा ही वर्द्धमान अवस्था को प्राप्त हो। शताधिक वर्षों तक स्वसंयम व ज्ञान सुगंधि से जन-जन को सुगंधित करते रहें तथा शीघ्र मुक्ति पुरंध्रिका के साथ मोक्ष महल में निवास करें।

परम पूज्य आचार्य गुरुदेव के 36वें दीक्षा दिवस पर उनके चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित त्रिकाल नमोस्तु-नमोस्तु नमोस्तु....।

अनुक्रमणिका

क्र.सं	विषय	गाथा सं.	पृष्ठ सं.
1	मंगलाचरण	1	1
2	ग्रंथ प्रतिज्ञा व धर्म का निरुक्ति अर्थ	2	17
3	धर्म का लक्षण	3	22
1. सम्यग्दर्शन अधिकार			**27**
4	सम्यग्दर्शन का लक्षण	4	27
5	सच्चे देव का लक्षण	5	32
6	वीतराग का लक्षण	6	37
7	शास्ता का लक्षण	7	42
8	वीतरागी के हितोपदेशपने का समर्थन	8	47
9	आगम का लक्षण	9	53
10	दिगम्बर साधु का स्वरूप	10	60
11	नि:शंकित अंग	11	67
12	नि:कांक्षित अंग	12	73
13	निर्विचिकित्सा अंग	13	80
14	अमूढ़दृष्टि अंग	14	86
15	उपगूहन अंग	15	94
16	स्थितिकरण अंग	16	100
17	वात्सल्य अंग	17	107
18	प्रभावना अंग	18	112
19	आठ अंगों में प्रसिद्ध	19-20	117
20	अंगहीन सम्यग्दर्शन की असमर्थता	21	160
21	लोकमूढ़ता का स्वरूप	22	169
22	देवमूढ़ता का स्वरूप	23	176
23	पाखण्ड मूढ़ता का स्वरूप	24	181

24	मद का लक्षण व आठ मदों के नाम	25	188
25	गर्व करने का फल	26	199
26	सम्पत्ति की निष्फलता	27	205
27	सम्यग्दर्शन का प्रभाव	28	211
28	धर्म और अधर्म का फल	29	216
29	सम्यग्दृष्टि का आवश्यक कर्त्तव्य	30	221
30	मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता	31	237
31	सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता	32	242
32	सम्यक्त्व बिना मोक्षमार्ग नहीं	33	247
33	सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन में अंतर	34	253
34	सम्यग्दृष्टि जीव किन-किन अवस्थाओं में नहीं होते	35	258
35	सम्यग्दृष्टि जीव को श्रेष्ठ मनुष्य पद प्राप्ति	36	262
36	सम्यग्दृष्टि जीव की श्रेष्ठ देवों में उत्पत्ति	37	269
37	सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती होते हैं	38	274
38	सम्यग्दर्शन से तीर्थंकर पद प्राप्ति	39	280
39	सम्यग्दर्शन से मोक्ष प्राप्ति	40	287
40	सम्यग्दर्शन महिमा उपसंहार	41	293
2. सम्यग्ज्ञान अधिकार			**297**
41	सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	42	297
42	प्रथमानुयोग का स्वरूप	43	302
43	करणानुयोग का स्वरूप	44	309
44	चरणानुयोग का स्वरूप	45	314
45	द्रव्यानुयोग का स्वरूप	46	318
3. अणुव्रताधिकार			**322**
46	चारित्र धारण करने की आवश्यकता क्यों?	47	322
47	राग-द्वेष निवृत्ति से चारित्रोत्पत्ति	48	327

48	चारित्र लक्षण	49	333
49	चारित्र के भेद	50	341
50	श्रावक का चारित्र	51	345
51	अणुव्रत का लक्षण	52	348
52	अहिंसाणुव्रत का लक्षण	53	353
53	अहिंसाणुव्रत के अतिचार	54	360
54	सत्याणुव्रत का लक्षण	55	365
55	सत्याणुव्रत के अतिचार	56	371
56	अचौर्याणुव्रत का लक्षण	57	380
57	अचौर्याणुव्रत के अतिचार	58	384
58	ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण	59	389
59	ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार	60	394
60	परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का लक्षण	61	400
61	परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के अतिचार	62	406
62	अणुव्रतों के धारण करने का फल	63	410
63	अणुव्रतों में जगत् प्रसिद्ध के नाम	64	415
64	सत्य अणुव्रत में प्रसिद्ध धनदेव की कथा	64	420
65	अचौर्याणुव्रत में प्रसिद्ध वारिषेण की कथा	64	425
66	ब्रह्मचर्याणुव्रत में प्रसिद्ध वणिक् पुत्री नीली की कथा	64	429
67	परिग्रहपरिमाण अणुव्रत में प्रसिद्ध जयकुमार की कथा	64	434
68	हिंसादि पाँच पापों में प्रसिद्ध व्यक्ति	65	438
69	असत्य में कुख्यात सत्यघोष की कथा	65	443
70	चोरी में कुख्यात तापस की कथा	65	449
71	कुशीलसेवन में कुख्यात यमदण्ड कोतवाल की कथा	65	455
72	परिग्रह पाप में कुख्यात श्मश्रुनवनीत की कथा	65	459
73	श्रावक के आठ मूलगुण	66	465
4. गुणव्रताधिकार			**470**
74	गुणव्रतों के नाम	67	470

75	दिग्व्रत का लक्षण	68	475
76	दिग्व्रत में की जाने वाली क्षेत्र मर्यादा	69	480
77	दिग्विरति के मर्यादा के बाहर महाव्रतपना	70	484
78	अणुव्रतों के महाव्रतपना	71	488
79	महाव्रत का लक्षण	72	493
80	दिग्व्रत के अतिचार	73	499
81	अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप	74	504
82	अनर्थदण्ड के भेद	75	509
83	पापोपदेश अनर्थदण्ड का लक्षण	76	513
84	हिंसादान अनर्थदण्ड का लक्षण	77	518
85	अपध्यान अनर्थदण्ड का लक्षण	78	522
86	दु:श्रुति अनर्थदण्ड का लक्षण	79	526
87	प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का लक्षण	80	532
88	अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार	81	541
89	भोगोपभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप	82	549
90	भोग और उपभोग में अंतर	83	554
91	अणुव्रतियों के त्यागने योग्य वस्तुएँ	84	558
92	भोगोपभोग-परिमाण व्रत में अन्य भी त्याज्य वस्तुएँ	85	563
93	भोगोपभोगपरिमाण व्रत में विशेष त्याग व व्रत का लक्षण	86	568
94	यम-नियम का लक्षण	87	573
95	प्रतिदिन करने योग्य नियम की विधि	88-89	578
96	भोगोपभोग-परिमाण व्रत के अतिचार	90	586
5. शिक्षाव्रताधिकार			**591**
97	शिक्षाव्रत के भेद	91	591
98	देशावकाशिक शिक्षाव्रत का लक्षण	92	596
99	देशावकाशिक व्रत के क्षेत्र की मर्यादा	93	600

100	देशावकाशिक व्रत में काल की मर्यादा	94	604
101	देशावकाशिक शिक्षाव्रत का महत्व	95	611
102	देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार	96	616
103	सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण	97	620
104	सामायिक का समय	98	625
105	सामायिक के योग्य स्थानादि	99	631
106	प्रोषध के दिन सामायिक को बढ़ावें	100	637
107	पाँचों व्रतों को पूर्ण करने का उपाय 'सामायिक'	101	643
108	सामायिक शिक्षाव्रत की महिमा	102	648
109	सामायिक में परीषह उपसर्ग सहन का उपदेश	103	653
110	सामायिक करते समय क्या विचार करें?	104	658
111	सामायिक के अतिचार	105	664
112	प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का स्वरूप	106	670
113	प्रोषधोपवास के दिन करने योग्य त्याग	107	675
114	उपवास के दिन का कर्त्तव्य	108	681
115	प्रोषध, उपवास और प्रोषधोपवास का लक्षण	109	686
116	प्रोषधोपवास के अतिचार	110	691
117	वैय्यावृत्य शिक्षाव्रत का लक्षण	111	695
118	वैय्यावृत्य का लक्षण	112	700
119	दान भी वैय्यावृत्ति है (नवधा भक्ति)	113	705
120	दाता के सात गुण	113	711
121	दाता की शुद्धि विवेचन	113	716
122	सच्चे दान का फल	114	726
123	किस-किस वैय्यावृत्य से क्या फल मिलता है	115	731
124	दान का फल	116	753
125	वैय्यावृत्य के चार भेद	117	758
126	आहारदान का फल-राजा श्रीषेण कथा	118	764
127	औषधिदान का फल-वृषभसेना कथा	118	769
128	शास्त्रदान का फल-कौण्डेश ग्वाला	118	777

129	वसतिका दान का फल-शूकर की कथा	118	784
130	भगवत्पूजा का वैय्यावृत्य में अन्तर्भाव	119	789
131	पूजा के फल का प्रसिद्ध भोक्ता	120	794
132	वैय्यावृत्य शिक्षाव्रत के अतिचार	121	798
6. सल्लेखना अधिकार			**802**
133	सल्लेखना कब धारण करें?	122	802
134	सल्लेखना की आवश्यकता	123	808
135	सल्लेखना व्रत धारण विधि	124	812
136	पाप आलोचन व महाव्रत धारण निर्देश	125	820
137	कषाय सल्लेखना	126	824
138	काय सल्लेखना	127	829
139	काय सल्लेखना के मध्य उपवास व मंत्राराधना पूर्वक देह त्याग	128	834
140	सल्लेखना के अतिचार	129	839
141	सल्लेखना धारण का फल	130	844
142	मोक्ष का स्वरूप	131	848
143	मुक्त जीवों की विशेषता	132	853
144	मुक्तावस्था की विशेषता	133	858
145	मुक्त जीवों की शोभा	134	862
146	सल्लेखना के प्रभाव से अभ्युदय	135	867
147	धर्म का फल-अर्थ की प्राप्ति	135	872
148	धर्म का फल-आज्ञा	135	881
149	धर्म का फल-ऐश्वर्य	135	886
150	धर्म का फल-बल	135	891
151	धर्म का फल-परिजन	135	896
152	धर्म का फल-यथेष्ट भोगोपभोग सामग्री	135	901
153	धर्म का फल-अतिशययुत तीर्थंकर प्रकृति	135	906
7. श्रावक प्रतिमाधिकार			**916**
154	श्रावक की ग्यारह प्रतिमा	136	916

155	दार्शनिक श्रावक का लक्षण	137	921
156	व्रतिक श्रावक का लक्षण	138	926
157	सामायिक व्रतधारी श्रावक का लक्षण	139	932
158	प्रोषध-प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	140	938
159	सचित्तविरत प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	141	944
160	रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	142	949
161	ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	143	953
162	आरंभत्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	144	958
163	परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	145	963
164	अनुमतित्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	146	969
165	उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण	147	974
166	शत्रु व मित्र कथन	148	980
167	रत्नत्रय धर्म का माहात्म्य	149	990
168	अंतिम मंगल	150	995

मंगलाचरण

नमः श्री वर्द्धमानाय, निर्धूत-कलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानाम्, यद्विद्यादर्पणायते॥1॥

अन्वयार्थ–(यद्विद्या) जिनका केवलज्ञान **(सालोकानां)** आलोक सहित **(त्रिलोकानां)** तीनों लोकों के सम्बन्ध में **(दर्पणायते)** दर्पण के समान आचरण करता है **(निर्धूत-कलिलात्मने)** नष्ट कर दिया है पाप रूपी मैल को आत्मा से जिन्होंने, ऐसे **(श्री वर्धमानाय)** श्री वर्धमान महावीर भगवान् के लिए **(नमः)** नमस्कार हो।

व्याख्यान–संसार में जितने भी चराचर जीव विद्यमान हैं उन सभी जीवों में मनुष्य उत्कृष्ट है। उसके पास मनोबल-वचनबल और कायबल है। मनुष्य ही अपना पूर्ण कल्याण करने में समर्थ है। असंज्ञी जीव अपना कल्याण करने में समर्थ नहीं। संज्ञी जीव चारों गतियों में पाए जाते हैं, जिसमें तिर्यंच, नारकी और देव भी अपना पूर्ण कल्याण नहीं कर सकते। देवगति के देव धर्म के प्रति श्रद्धावान् तो हो सकते हैं, विवेकवान् हो सकते हैं किन्तु क्रियावान् नहीं हो सकते। नरक में रहने वाले नारकी क्वचित् कदाचित् सम्यक्श्रद्धावान् भी हो सकते हैं, किंचित् सम्यक् विवेकवान् भी होते हैं, किन्तु वह भी क्रियावान् नहीं हो सकते। तिर्यंचों में जो संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं वे क्वचित् कदाचित् सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं और कर्मभूमि के तिर्यञ्च देशव्रती तक बन सकते हैं किन्तु कर्मभूमि का मनुष्य आज इस पंचमकाल की अपेक्षा न केवल देशव्रती बन सकता है अपितु महाव्रती भी बन सकता है।

महाव्रती बनने का आशय है वह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तीनों से युक्त हो गया, वह अपना कल्याण कर सकता है। वह प्रमत्त और अप्रमत्त दशा तक इस पंचमकाल में रह सकता है। इसके ऊपर जाने की आज क्षमता नहीं है। जितने भी सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु हुए उन्होंने आत्मकल्याण का उपदेश संज्ञी जीवों को दिया, उनमें भी प्रमुखता मनुष्यों की रही। देवों ने भक्ति करके पुण्य अर्जन किया, नारकी आ नहीं सकते, तिर्यञ्च जो आसन्नभव्य थे उन्होंने भी धर्म का उपदेश सुनकर के अपनी शक्तिअनुसार व्रतों को ग्रहण किया। किन्तु तीर्थंकर प्रभु की सभा के मुख्यश्रोता कर्मभूमिज मनुष्य ही होते हैं। उन 12 सभाओं में उनकी संख्या भले ही कम हो और देव-देवियों की संख्या ज्यादा हो किन्तु इसके बावजूद भी मुख्य श्रोता मनुष्य होते हैं। चाहे वे चक्रवर्ती आदि महापुरुष हों अथवा विशेष पुण्यात्मा राजा-महाराजा हों क्योंकि

उनकी पात्रता है, क्षमता है वे संयम आदि का विशेष पालन करके कर्मों की निर्जरा करते हुए क्रम-क्रम से आगे बढ़कर सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर सकते हैं।

भगवान् महावीर स्वामी जी ने प्राणियों के कल्याण का उपदेश दो प्रकार से दिया, जिसमें एक धर्म है श्रमण धर्म और दूसरा है श्रावक धर्म। श्रमणधर्म का पालन करने में वे ही समर्थ हैं जिन्होंने यथाजात दिगम्बर बनकर के सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से अपनी आत्मा को सुशोभित किया है, जिनकी आत्मा रत्नत्रय से अनुरंजित है, जो अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करके आत्मा में लीन हैं, जो अपना कल्याण करने के लिए तीव्रगति से मोक्षमार्ग में चल रहे हैं, वे श्रमण स्वात्म हित में विशेष समर्थ हैं। संस्कारों को ग्रहण करने के लिए तीर्थंकर प्रभु ने जो दूसरा धर्म कहा वह श्रावक का धर्म है। श्रावक का धर्म कहो, उपासक का धर्म कहो, अनुगामी का धर्म कहो, देशव्रती का धर्म कहो, लघुधर्म कहो ये सब लगभग एकार्थवाची शब्द हैं। श्रमण धर्म, महाधर्म, सकलधर्म, उत्कृष्टधर्म ये मुनिराजों के है। इनको प्ररूपण करने वाले वर्तमानकाल में अनेक शास्त्र हैं, जैसे- मूलाचार, मूलाचार प्रदीप, मूलाराधना, प्रवचन सार, नियमसार, समयसार, आचारसार, समणायारो आदि ग्रंथ हैं, किन्तु श्रावकों के आचरण का कथन करने वाले ग्रंथ अनेक हैं तो सही पर श्रावक उनका विधिवत् अध्ययन नहीं कर पाता।

किन्हीं आचार्यों की अपेक्षा श्रावकों की किसी विशेष क्रिया को सुधारने की अथवा किसी विशेष क्रिया की प्रेरणा देने की है, सबकी अपेक्षाएँ अलग-अलग हैं। प्रारंभ में जो श्रावकों का आचार था वह आचार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने अति संक्षेप में वर्णन किया, उसके उपरान्त आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में श्रावकों के आचरण का वर्णन किया, उन्होंने पुनः अलग से उमास्वामी श्रावकाचार की रचना भी की, उसमें लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्र के 7वें अध्याय में श्रावकों के आचरण को कथन करने पर भी वह कथन अपर्याप्त जैसा प्रतीत होता है इसलिए उमास्वामी श्रावकाचार नाम से लिखने की आवश्यकता पड़ी। आचार्य उमास्वामी के शिष्य माने जाते हैं आचार्य समन्तभद्र स्वामी उन्होंने श्रावकों के हित में लघुकाय कृति प्रस्तुत की। यद्यपि आचार्य समंतभद्र स्वामी द्वारा विरचित अनेक सद्साहित्य हैं, श्रुत संवर्धन करने वाले अनेक ग्रंथ हैं।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी की प्रज्ञा एक असाधारण थी। वे नैयायिक, वाग्मी महर्षि थे। वे अदम्य साहसी, जित्इन्द्रिय, महान् तपस्वी थे। उनकी वाणी निःसंदेह प्रभावक थी। वे सिद्धान्त, आगम, न्याय, तर्क आदि के उच्चकोटि के विद्वान थे। बचपन से क्षत्रियकुलोत्पन्न एक राजकुमार थे। उरगपुर जिले में उन्होंने जन्म लिया, बचपन का नाम शांतिवर्मा था और बाल्यावस्था से ही संन्यास के मार्ग को स्वीकार करके जीवन में अनेक प्रतिकूलताओं का समता से सामना करते

हुए वे आगे बढ़े। उन्होंने अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए जिनशासन की प्रभावना की। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं- वृहद् स्वयंभू स्तोत्र, युक्त्यानुशासन, आप्त मीमाँसा, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, स्तुतिविद्या, शब्दानुशासन, प्राकृतव्याकरण आदि। ये ग्रंथ अवश्य ही पठनीय हैं।

श्रावकाचार के संबंध में लघुकाय ग्रंथ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना प्रासंगिक आज से लगभग 1900 वर्ष पूर्व था। स्वाध्याय करने वाले श्रावक व श्राविका जब स्वाध्याय करते हैं उतने समय के लिए उनका चित्त स्थिर होता है, अशुभ से हट जाता है। भले ही माला फेरते समय मन उतना निर्मल, विशुद्ध या एकाग्र न हो पाए किन्तु स्वाध्याय करते समय चित्त अवश्य ही एकाग्र होता है। इसके साथ-साथ स्वाध्याय करते समय आत्मा के संबंध में, धर्म के संबंध में नूतन-नूतन जो जानकारियाँ प्राप्त होती हैं तब भावश्रुत ज्ञान आत्मा को आनंद की अनुभूति कराने वाला होता है। जैसे कक्ष में एक घृत का दीपक जल रहा हो उसके प्रकाश से आनंद आता है, दो दीपक जलें, तीन जलें- चार जलें तो फिर नेत्रों को सुख उत्पन्न होता है उसी प्रकार द्रव्यश्रुत ज्ञान के माध्यम से जैसे-जैसे भावश्रुत ज्ञान की वृद्धि होती चली जाती है वैसे-वैसे श्रावकों को आनंद की अनुभूति होती है इसीलिए शब्दज्ञान को भी सुख का कारण कहा। विद्वत्वर दौलत राम जी ने तो यहाँ तक लिख दिया

''ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म जरा मृत रोग निवारण॥''

ज्ञान के समान सुख का कारण और कोई नहीं है। एक ओर सम्यग्ज्ञान जहाँ सम्यक्त्व को सुदृढ़ करता है वहीं दूसरी ओर चारित्र को निर्मल बनाता है। **''स्वस्मै अध्ययनं स्वाध्यायः''**। **''स्वस्य हिताय अध्ययनं स्वाध्यायः''** स्वयं के लिए अध्ययन करना स्वाध्याय है अथवा स्व का हित करने के लिए आर्ष परम्परा के पोषक शास्त्रों का अध्ययन करना, पठन-पाठन, पृच्छना करना या उसे रटना, चिंतवन करना अथवा उपदेश देना यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय आत्महित में समर्थ होता है।

यहाँ पर श्रावकों के आचार संबंधी लघुकाय ग्रंथ रत्नकरण्ड श्रावकाचार पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हैं, उनकी एक-एक कारिका को देखते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने मंगलाचरण कर अपने इष्ट देवता को नमस्कार किया क्योंकि कोई भी ऐसा प्रज्ञ पुरुष, श्रद्धावान् पुरुष नहीं होता जो इष्ट देवता को नमस्कार किए बिना लिखना प्रारंभ करे। **'सातिशयपुण्यवाप्तिश्च'** मंगलाचरण करने से सातिशयपुण्य की प्राप्ति होती है क्योंकि मंगलाचरण में इष्टदेवता को नमस्कार किया जाता है। नमस्कार करने से परिणाम निर्मल होते हैं, काय की शुभ चेष्टा होती

है, वचन भी विनय से युक्त होते हैं और नमस्कार करने से चित्त पवित्र होता है। इसलिए यहाँ पर आचार्य महाराज नमस्कार कर रहे हैं।

द्रव्य-संग्रह नामक ग्रंथ की टीका में आ. भगवन् ने मंगलाचरण करने के चार कारण बताए–

नास्तिकत्व-परिहारः, शिष्टाचार-प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः, शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः।द्र.सं.टी./1/6/5

नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का परिपालन, पुण्य की प्राप्ति और कार्य की निर्विघ्न समाप्ति इन चार कारणों से मंगलाचरण किया जाता है।

आचार्य महोदय ने ग्रंथ का प्रारंभ 'नमः' शब्द से किया। सभी अक्षरों का अपना अलग-अलग महत्व है। अक्षर कभी भी पूर्ण क्षरण अवस्था को प्राप्त नहीं होते। अक्षर ये इसलिए हैं क्योंकि केवलज्ञान का कारण हैं। केवलज्ञान को भी क्षरणरहित अक्षर ज्ञान कहा जाता है और यहाँ पर श्रुत ज्ञान को भी अक्षरज्ञान कहा जाता है। श्रुतज्ञान नियम से केवलज्ञान का कारण बनता है इसलिए यह कहना भी उचित है कि श्रुतज्ञान पिता की तरह से है और केवलज्ञान पुत्र की तरह से है। श्रुतज्ञान के माध्यम से केवलज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। अवधिज्ञान-मनःपर्ययज्ञान अनिवार्य नहीं है किंतु श्रुतज्ञान केवलज्ञान की उत्पत्ति में अनिवार्य कारण है। ग्रंथकारों ने ग्रंथ का प्रारंभ कभी 'अकार' से किया, कभी किसी ने 'सकार' से प्रारंभ किया, कभी अन्य अक्षर से प्रारंभ किया। अलंकार चिंतामणि में आचार्य महाराज ने कहा **'सहौ सुखदाहदौ'** सकार सुखदायक होता है तथा हकार दुखदायक होता है। 'सकार' से प्रारंभ करते समय वह ग्रंथ सुखकारक होता है, हकार से कोई ग्रंथ प्रारंभ किया तो वह दुःखकारक होता है। क्योंकि हकार से प्रारंभ करने पर हे भगवान्! हाय! ऐसे शब्द निकलते हैं जो आर्त्त का प्रतीक हैं, संक्लेशता का प्रतीक हैं इन शब्दों से अंतरंग में दुःख- संक्लेशता की समृद्धि होती है। 'सकार' सम्यक्त्व का, समग्रता, समीचीनता का प्रतीक है इसलिए वह सकार सुख का भी कारण माना जाता है। यहाँ आचार्य महाराज ने हकार व सकार दोनों से प्रारंभ नही किया। आचार्य महाराज ने 'नकार' से ग्रंथ का प्रारंभ किया क्यों? तो पहला सीधा-सीधा सा कारण यह है कि 'नमः' वे अपनी बात को नम्रतापूर्वक नमस्कार करके कह रहे हैं। इष्ट देवता का नाम भी बाद में लिया पहले नमस्कार किया।

'न'-गारो य अप्पसिद्धि-कारगो साहगो मिदु-कज्जाणं।
अप्पणियंतगो विग्घ-णासगो जल-तच्च-पहाणो।। मूल-वण्णो।।59।।

'न' कार आत्म सिद्धिकारक, मृदु कार्यों का साधक, आत्म नियंत्रक, विघ्न विनाशक व जल तत्त्व प्रधान है।

'न' अक्षर जलतत्त्व वाची है। 'न' अक्षर प्रारंभ में लिया तो ये भाव रखा कि इस प्रक्रिया (ग्रंथ) को प्रारंभ करते हुए मेरे जलतत्त्व की वृद्धि हो, इससे मेरे परिणाम शांत हों। शांत परिणाम होने से मन अच्छी तरह से कार्य करता है, इंद्रियाँ समुचित कार्य करती हैं, वचन भी श्रेष्ठ निकलते हैं। अग्नि तत्त्व की अधिकता होने से व्यक्ति विक्षिप्त हो जाता है, इंद्रियाँ उच्छृंखल हो जाती हैं, शब्द भी यद्वा-तद्वा, कर्कश, कठोर, निंद्य, परशु और दु:खकारक नि:सृत होते हैं। यदि परिणामों में क्रूरता आ जाए तो मन मलिन हो जाता है इसलिए अग्नितत्त्व की प्रधानता में शुभ कार्य सम्पन्न नहीं किए जा सकते। अब यहाँ आचार्य महोदय ने ज्ञान-विवेक को जागृत करते हुए पूर्वाचार्यों के अनुसार कही बात को कहने के लिए 'नकार' का प्रयोग किया। 'न' अक्षर जलतत्त्व वाची तो है ही यह आत्मसिद्धि का कारक भी है इसके साथ-साथ यह अक्षर मृदु कार्यों का साधक है। 'न' बीजाक्षर का ध्यान करने से मृदुकार्य सिद्ध होते हैं। न बीजाक्षर का ध्यान करने से आत्मसिद्धि होती है और यह 'न' बीजाक्षर विघ्नविनाशक भी होता है।

व्यक्ति के पास सामर्थ्य से ज्यादा उपलब्धि हो जाए तो वह स्वच्छंद हो जाता है। अनियंत्रित व स्वच्छंद होकर फिर वह अपना ही घात-अहित कर लेता है। जैसे उच्छृंखल हाथी अपना अहित कर लेता है वैसे ही कोई भी अनियंत्रित मनुष्य अपना अहित कर सकता है। 'न' बीजाक्षर प्रथमत: कहने से आचार्य महाराज ने अपने ऊपर नियंत्रण भी किया कि मैं श्रावकों के हित की बात कर रहा हूँ कहीं हित के स्थान पर अहित का शब्द न लिपिबद्ध हो जाएँ इस प्रकार की भावना आचार्य महाराज की रही होगी।

'न' के साथ 'म' बीजाक्षर लगाया। 'म' बीजाक्षर भी सर्वसिद्धिदायक होता है, वह नि:संदेह उत्तम सुख का दायक व शांतचित्त करने वाला होता है। यह 'म' बीजाक्षर वंशवर्द्धक होता है। साथ ही यह बीजाक्षर ध्यान का मूलक भी है इसलिए प्रणव बीजाक्षर ॐ का उच्चारण करते हैं तो उसके साथ मकार को (अनुस्वार को) अलग से लगाते हैं। 'बिन्दुस्यादुत्तमं सुखं' बिन्दुमात्र सुख का कारक है। इस प्रकार आचार्य महाराज मंगलाचरण को 'नम:' शब्द से प्रारंभ कर रहे हैं। मंगलाचरण के उपरांत ही अन्य बात प्रारंभ की जा सकती है। जब मंगल भावना अंदर में प्रादुर्भूत होती है, भावनाओं को शब्द उसी प्रकार के मिलें तो शब्दों में भावना निहित हो जाती है, शब्द जीवंत हो जाते हैं। यदि शब्दों में भावना नहीं है तो वे शब्द मृत हैं, मुर्दे की तरह से हैं। मुर्दा कितना भी सुंदर हो किन्तु वह कार्यकारी नहीं होता, ऐसे ही शब्द कितने भी सुंदर

हों किन्तु भाव नहीं हों तो कार्यकारी नहीं होते। जीवंत परमेष्ठी की वाणी ही कार्यकारी होती है क्योंकि उनके शब्दों में भाव निहित होता है इतर पुरुषों की नहीं। अतः यहाँ कहा 'नमः' नमस्कार हो। श्रीयुक्त श्रीवर्द्धमान स्वामी के लिए जिन्होंने अपने सम्पूर्ण कर्मकालिमा को नष्ट कर दिया है, जिनके निर्मल-विमल केवलज्ञान में तीनों लोक प्रतिबिम्बित होते हैं। यह अति संक्षेप में अर्थ देखा विस्तार से आगे देखेंगे।

महानुभाव! यहाँ आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी की एक मूलकृति, लघुकाय किन्तु विशेष शक्ति और गुणों से युक्त, श्रावक की आचार संहिता 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के बारे में हम प्रारंभ की भूमिका देख रहे थे। आचार्य भगवन् ने मंगलाचरणपूर्वक ग्रंथ को प्रारंभ करने की प्रतिज्ञा ली।

मंगल-णिमित्त-हेऊ, परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो॥ ति.प.

प्रथमतः मंगलाचरण किया, **निमित्त**-भव्य जीवों को बनाया, **हेतु**-कर्मक्षय, सातिशय पुण्य की प्राप्ति इत्यादि भाव रखे, **परिमाण**-150 कारिका प्रमाण यह ग्रंथ है, **नाम**-रत्नकरण्ड श्रावकाचार, **कर्ता**-आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी जी।

'रत्न' सभी जानते हैं श्रेष्ठतम वस्तु को रत्न की उपमा दी जाती है, जो श्रेष्ठतम से एक कदम भी पीछे होता है उसे रत्न न कहकर के उपरत्न कह दिया जाता है। रत्न को किसी की उपमा नहीं दी जा सकती। यह ग्रंथ न सिर्फ रत्नों की तरह से है अपितु रत्नों के 'करण्ड' अर्थात् पिटारे की तरह से है। दूसरे शब्दों में कहें 'पिटारा' इसलिए कह दिया क्योंकि वह श्रावकों के साध्य है। पिटारे को लेकर व्यक्ति दौड़ सकता है, जा सकता है, अपने पास रख सकता है, छिपा सकता है तथा उसका उपयोग कर सकता है। इसलिए आचार्य महोदय ने इस ग्रंथ का नाम रत्नाकर नहीं रखा। क्योंकि रत्नाकर को कोई व्यक्ति उठा नहीं सकता, रत्नाकर के रत्नों का भोग-उपभोग नहीं कर सकता, अतः रत्नाकर से ज्यादा उचित नाम उन्हें रत्नकरण्ड लगा।

अब यह रत्नकरण्ड है तो कोई व्यक्ति कहे कि इस शास्त्र को खोलकर देखें कि इसमें कौन से रत्न हैं, हीरा है कि मोती, नीलम है या पन्ना, वैडूर्यमणि है या मरकत मणि कौन-कौन सी मणि इसमें हैं। अरे! ये तो पौद्गलिक रत्न हैं। सही रत्न तो इसमें जो श्रावकों के आचरण संबंधी बातें कही हैं वही बातें रत्न की तरह से हैं।

यद्यपि लोक में रत्न अन्य प्रकार से भी माने जाते हैं। नीतिकारों की दृष्टि में इस पृथ्वी पर तीन रत्न हैं–**'पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जल-मन्नं सुभाषितं'** प्रथम कहा–मृदु भाव से युक्त, शीतल, सुस्वादु, मिष्ट, तन और मन के संताप को दूर करने वाला, चित्त में शांति देने वाला 'जल'। किसी भी परिचित और अपरिचित व्यक्ति को जल देकर के जब स्वागत किया जाता है तब नि:संदेह जल देखकर के आँखें तृप्त होती हैं, चेहरे पर चमक आती है अत: जल को नीतिकारों ने रत्न माना है क्योंकि जल को किसी और की उपमा नहीं दी जा सकती। दूसरा रत्न कहा–'अन्न' भोजन में प्रमुख होता है, क्षुधा शांति का कारण है और अन्न के माध्यम से व्यक्ति को वश में किया जा सकता है। कहते हैं अन्न अपने आप में कोई रस वाला नहीं होता उसमें जैसा रस डालो वैसा हो जाता है। क्षारीय, कड़वा, चरपरा, मीठा, कषैला वैसा वह अन्न हो जाता है किन्तु वह अन्न अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लोगों के द्वारा रसमिश्रित होकर के नाना प्रकार का व्यंजन बनकर, नाना प्रकार की रुचि प्रकृति वाले लोगों को संतुष्टि और बल प्रदान करने वाला होता है इसलिए अन्न भी रत्न है।

नीतिकारों ने तीसरा रत्न दिया है 'सुभाषित' अच्छे बोल, मीठे बोल, हितकारी बोल, आदर-सत्कार से परिपूरित बोल जिससे स्व-पर का हित हो, स्व-पर को आनंद आए। आगे नीतिकारों ने कहा–**मूढ़ैः पाषाण-खण्डेषु रत्न संज्ञा विधीयते।** मूर्ख व्यक्ति ही है जो पाषाणखण्डों को रत्नों की संज्ञा देते हैं कि हीरा, पन्ना, नीलम, मूंगा आदि रत्न हैं। ये सब तो पुद्गल हैं। मेरी आत्मा के लिए पुद्गल का टुकड़ा रत्न कैसे हो सकता है। नीतिकारों के अनुसार उपरोक्त तीन वस्तुओं से जब अतिथि का स्वागत किया जाता है तो वह रत्न बन जाते हैं। ये तीन वस्तु अपने अतिथि या देव को प्रस्तुत करना रत्न के थाल भरकर सम्मान करने से ज्यादा प्रभावक होता है। अपने घर आगन्तुक अतिथि के लिए रत्नों के थाल तो भेंट कर दिए किन्तु पानी की नहीं पूछा, भोजन तो दूर की बात दो मीठे शब्द भी नहीं बोले, अपशब्दों से उसका अपमान या तिरस्कार जैसा कर दिया तो वे रत्नों के थाल उसे सुख नहीं दे सकेंगे। तो नीतिकारों की दृष्टि में जल-अन्न-सुभाषित ये रत्न हैं।

एक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दृष्टि में रत्न क्या है तो आप पूजा में पढ़ते हैं–

देव शास्त्र गुरु रत्न शुभ, तीन रतन करतार।
भिन्न-भिन्न कहूँ आरती, अल्प सुगुण विस्तार॥

परमार्थभूत देव, परमार्थ में कारणभूत शास्त्र और परमार्थ के मार्ग पर गमन करते हुए निर्ग्रंथ गुरु ये तीन सम्यग्दृष्टि के लिए रत्न की तरह से हैं क्योंकि इन्हें किसी और की उपमा नहीं दी

जा सकती। देवताओं में देव वीतरागी देव हैं, स्याद्वाद से समन्वित अनेकान्तमय जिनेन्द्र भगवान् की वाणी शास्त्र है और रत्नत्रय से मंडित निर्ग्रंथ गुरु हैं, इसलिए ये देव-शास्त्र-गुरु रत्न हैं।

एक साधक से पूछा जाए रत्न क्या है? वह साधक कहता है कि साधना के लिए रत्न तो तीन ही हैं—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यहाँ उपासक का कथन चल रहा है। यह उपासकाचार ग्रंथ है। उसके लिए रत्न क्या है? आचार्य महोदय किसे रत्न कहना चाहते हैं? तो आचार्य महाराज श्रावक के लिए विधेय प्रत्येक आचरण की बात को रत्न की तरह से कह रहे हैं। किसी बात को चूक नहीं जाना, भूल नहीं जाना, प्रत्येक कारिका आपके लिए इतना सुख प्रदान करने वाली है जितना सुख किसी रंक को रत्न प्राप्त करने पर होता है।

महानुभाव! रत्नों का पिटारा स्वरूप यह ग्रंथराज जिस पर प्रभाचन्द्र स्वामी जी ने संस्कृत टीका लिखी। अन्य आचार्यों ने भी संस्कृत में इस ग्रंथ की टीका लिखी हो तो वर्तमान काल में उपलब्ध नहीं होती। हिन्दी व्याख्याएँ अनेकों साधकों व विद्वानों ने की हैं। वे अपने-अपने समय के अनुसार प्रासंगिक रही होंगी। फिर भी इस रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इतना कुछ नया-नया भरा पड़ा है जो अभी तक उद्घाटित नहीं हुआ। आपको, हमको, सबको ये प्रयास करना चाहिए कि हम रत्नकरण्ड श्रावकाचार के मर्म तक पहुँचें, आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी के हृदय की गहराई तक पहुँचें कि वे उस कारिका के माध्यम से क्या दिशा निर्देश देना चाहते हैं।

सर्वप्रथम मंगलाचारण का अर्थ देखते हैं। मंगलाचरण का प्रारंभ 'न' अक्षर से किया, दूसरा 'म' अक्षर। ये दोनों अक्षर अनुनासिक हैं। ङ ञ ण न म ये पाँच अक्षर अनुनासिक हैं। जब भी अनुनासिक अक्षर बोलते हैं या सुनते हैं तो अंदर में एक वाइब्रेशन होती है, अंतरंग में कुछ आंदोलन-सा होता है, गुंजन सा होता है जिससे संगीत की ध्वनि पैदा होती है, अलग-सी अनुभूति होती है, बच्चों जैसे आनंद की अनुभूति व आह्लाद होता है। आचार्य महोदय ने दोनों अनुनासिक अक्षरों को एक साथ रख दिया। 'नमः' का मुख्य अर्थ तो नमस्कार ही है। पहले झुककर के मैं अपनी बात भगवान् के सम्मुख कह रहा हूँ। नमस्कार कैसे किया—मनसा, वाचा, कर्मणा। हमने अपने पवित्र चित्त से वीतरागी भगवान् को नमस्कार किया है और अपने पवित्र विचारों के माध्यम से शब्दों की पोशाक पहनाकर के शब्दों का प्रयोग किया पुनः अपने शरीर को झुकाकर भी नम्रीभूत बनाया, दोनों हाथ जोड़कर के बद्धकरांजलि को मस्तक पर धारण करके नमस्कार किया।

नमस्कार किसको किया? आचार्य महोदय कह रहे हैं—यह मस्तिष्क उत्तमाँग है, उत्तमाँग जहाँ झुक गया तो आठों अंग झुक गए, सर्वांग झुक गया। इस उत्तमाँग को हर जगह नहीं झुका

देना। आचार्य भगवन् अपने उत्तमाँग को कहाँ झुका रहे हैं? जहाँ से गुण मिल सकते हैं, जहाँ गुण का आलय है। उनकी दृष्टि में इष्ट देवता कौन हैं? जो श्री से युक्त हैं। श्री (धन) से युक्त को तो संसारी प्राणी नमस्कार करते हैं, राजा-सेठ धनपति हैं, तो क्या आचार्य महोदय उनको नमस्कार कर रहे हैं? नहीं, उनकी दृष्टि में ये श्री, श्री नहीं है। जिन्होंने आत्मवैभव को प्राप्त कर लिया, अनंतचतुष्टय को प्राप्त कर लिया, ऐसी अंतरंग लक्ष्मी जिनके पास है उन्हें नमस्कार किया है। अब कोई कहे क्या बहिरंग लक्ष्मी से वे दरिद्र हैं? नहीं। बहिरंग लक्ष्मी भी समवसरण में शोभायमान है। सैकड़ों चक्रवर्ती की विभूति से ज्यादा वैभव समवसरण में विद्यमान होता है। उस वैभव से भी जो अलिप्त हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान्, उन अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी (श्री) से युक्त 'वर्धमानाय' वर्धमान महावीर स्वामी के लिए नमस्कार हो।

वर्धमान स्वामी शब्द ही क्यों कहा? क्योंकि वर्तमान में उन्हीं का शासन चल रहा है, जिसका शासन चल रहा है उनकी जय न बोलें, नमस्कार न करें, आगे-पीछे वालों को करें तो हमारे मन में राग-द्वेष का भाव आ सकता है कि हम अपने शासक की जय क्यों नहीं कर रहे हैं। विवेकी व्यक्ति का तो कर्त्तव्य होता है कि जिसके शासन में रहते हैं उनका अनुसरण करना चाहिए, यदि अनुकरण नहीं करते हैं तो यही समझा जाता है कि या तो हम उनके असहयोगी हैं या विरोधी। तो आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके यह स्पष्ट कर दिया कि वे वर्धमान स्वामी के विरोधी नहीं वे उनके सच्चे अनुयायी हैं, सच्चे भक्त हैं, उनकी बात को समझने वाले हैं व दूसरों को समझाने वाले हैं।

'वर्धमान स्वामी' जिनके पाँच नाम हैं–वर्धमान प्रथम नाम है, जब वे माँ त्रिशला के गर्भ में आए थे, वैशाली में सर्वत्र सुख-शांति की वृद्धि हुई थी इसलिए उनका जन्म का नाम वर्धमान रखा। आप पढ़ते भी हैं–

श्री वृद्धि सर्वत्र हुई थी, जनता ने सुख पाए थे।
इससे जग में त्रिशलानंदन, 'वर्धमान' कहलाए थे॥

जन्माभिषेक के समय इंद्र की शंका के निवारण के लिए पैर के अंगूठे से मेरुपर्वत को थोड़ा सा दबाया तब इन्द्र के द्वारा उनका नाम वीर जिनेन्द्र रखा गया। पुनः पालने में झूलते हुए वर्धमान को देखकर संजय और विजय नामक चारणऋद्धिधारी मुनिराजों की शंकाएँ दूर हुई जिससे उन्होंने 'सन्मति' नाम दिया। वे सन्मति श्रेष्ठ और सम्यक्मति से युक्त थे, मति-श्रुत-अवधिज्ञान से युक्त थे। जब संगम देव ने विशाल सर्प का रूप धारण कर उनकी परीक्षा ली तब 'महावीर' नाम पड़ा। 'तरु लिपटे विषधर को वश कर 'महावीर' कहलाए थे।' हाथी को वश में किया तो 'अतिवीर' नाम

पड़ा। ऐसे पाँच नाम के धारी महावीर स्वामी को आचार्य भगवन् ने मनसा, वाचा, कर्मणा नमस्कार किया। केवल शब्दों से नमस्कार नहीं किया भावों से भी किया। लिपिबद्ध मंगलाचरण किया है। अनिबद्ध मंगलाचरण भी होते हैं, किन्तु अनिबद्ध मंगलाचरण करने पर आगे आने वाले अनुयायी निबद्ध मंगलाचरण को भूल जाएँगे, प्रमादी हो जाएँगे इसलिए उन्होंने निबद्ध मंगलाचरण करके ही ग्रंथ को लिखना प्रारंभ किया।

तो क्या समंतभद्रस्वामी जी की दृष्टि इतनी ही है कि भगवान् महावीर को नमस्कार किया अन्य 23 तीर्थंकर को छोड़ दिया? नहीं। उसके पीछे गूढ़ रहस्य ये है कि 'वर्धमानाय'–'वर' अर्थात् श्रेष्ठ, 'वर्ध'–''श्रेष्ठता को धारण करने वाले''–श्रेष्ठता को धारण करने वाले जितने भी मोक्षगामी महापुरुष हैं, उन सबको नमस्कार किया। अगला अर्थ–

कटपयपुरस्थवर्णैर्नव-नव-पञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः।
स्वरञनशून्यं संख्या, मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्॥

क ट प और य के आगे क्रम से 9, 9, 5 और 8 अक्षरों से उतने अंकों की कल्पना करना चाहिए। स्वर, ञ और न से शून्य समझना चाहिए और मात्रा तथा संयुक्त अक्षर त्याज्य मानना चाहिए अर्थात् उनसे किसी अंक का बोध नहीं होता।

इस प्रकार 'व' और 'र' अक्षरों के अंक जब नियोजित करते हैं तो 'व' अक्षर के '4' अंक आते हैं, 'र' अक्षर के '2' अंक आते हैं। इन्हें एक साथ रखने पर 42 (बयालीस) हुए। 'अंकनांवामतो गतिः' अंकों की गति उल्टी होती है इस नियमानुसार 24 चौबीस हो गए इस सूत्र के अनुसार इस प्रकार उन्होंने 24 तीर्थंकरों को भी नमस्कार किया। मानाय–मान शब्द का अर्थ है 'ज्ञान' जो श्रेष्ठता से युक्त है उस ज्ञान के लिए उन्होंने नमस्कार किया। अथवा 'वर्धमान'–जो गुणों के माध्यम से संवर्धित हो रहे हैं, अपनी आत्मा का आध्यात्मिक विकास कर रहे हैं उन महापुरुषों के लिए भी नमस्कार किया।

अब यदि आचार्य महोदय के इष्ट देवता भगवान् महावीर स्वामी हैं तो वे कैसे हैं? वे अपने इष्ट देवता की विशेषता बता रहे हैं ''**निर्धूत कलिलात्मने**'' जिन्होंने आत्मा से सर्व कर्म कालिमा को नष्ट कर दिया है। उन्होंने सम्पूर्ण कर्मकालिमा कहा, सम्पूर्ण कर्म नहीं कहा। क्योंकि कर्म कालिमा की तरह से हैं। उन्होंने 63 प्रकृतियाँ नष्ट कर दी हैं। घातिया कर्म की प्रकृति 47 हैं तो 63 कैसे कहा? यहाँ आशय घातिया–अघातिया वाला नहीं। जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी इन चार प्रकार की प्रकृतियों में से 63 का नाश कर दिया है शेष 85 प्रकृतियाँ अभी बाकी रह गई हैं। वे वर्धमान स्वामी जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय की विशिष्ट किट्टकालिमा को निकाल दिया है। इस कालिमा

को छुड़ाना सबसे मुश्किल था। उन वर्धमान स्वामी जी ने अपनी आत्मा में से ज्ञानावरण की किट्टकालिमा निकाल दी, दर्शनावरण की रज निकाल दी, मोहनीय कर्म रूपी शत्रु के बाणों को निकालकर अलग कर दिया और अन्तरायकर्म रहस की तरह से है उसको भी अलग कर दिया, ऐसे वर्धमान स्वामी को नमस्कार किया।

जिनशासन में जो भी इष्ट देवता होते हैं वे वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी होते हैं। यहाँ पर आचार्य भगवन् ने वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशिता से युक्त परमात्मा को नमस्कार किया है। नमस्कार करके आगे अपनी बात प्रारंभ करेंगे।

महानुभाव! मंगलाचरण की व्याख्या समझ रहे हैं कि उसमें क्या रहस्य छिपा हुआ है। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी इस ग्रंथ के शब्द कर्त्ता हैं क्योंकि इस ग्रंथ के मूलकर्त्ता सर्वज्ञ देव, उत्तर ग्रंथकर्ता गणधर परमेष्ठी और पुनः इस ग्रंथ को शब्दों में लिपिबद्ध किया आचार्य श्री समंतभद्रस्वामी जी ने। इस ग्रंथ की एक-एक कारिका को देखते हैं तो ऐसा लगता है जैसे एक-एक श्लोक में एक-एक शास्त्र का सार भर दिया हो। उदाहरण के रूप में समझें तो ऐसा लगता है जैसे सरसों के दाने में सूचिका से छेद करके असंख्यात समुद्र का जल भर दिया हो। बिहारी के दोहे के बारे में लिखा जाता है–

सतसैये के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

किन्तु आचार्य भगवन् की वाणी तो ऐसी लगती है–

आचार्य समंतभद्र की कारिका, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें, भाव भरे गंभीर॥

ऐसे वचन हैं, ऐसी हार्दिक पीर है जिसमें वचन तो अल्प हैं किंतु भाव बहुत गंभीर भरा हुआ है।

इस ग्रंथ में मंगलाचरण आदि श्लोक अनुष्टुप छंद में हैं–

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

इसमें कुल 32 अक्षर होते हैं। चार पद होते हैं, प्रत्येक पद में आठ-आठ अक्षर होते हैं, चारों पदों का पंचम अक्षर नियम से लघु होता है, चारों पदों में षष्टम अक्षर नियम से दीर्घ होता है। द्वितीय और चतुर्थ पद का सप्तम अक्षर नियम से लघु होता है, प्रथम और तृतीय पद का सप्तम अक्षर दीर्घ ही होता है।

'नमः श्री वर्धमानाय' श्री से युक्त वर्धमान स्वामी को नमस्कार हो। श्री अर्थात् जो अंतरंग लक्ष्मी- अनंतज्ञान-अनंतदर्शन-अनंतसुख-अनंतवीर्य व बहिरंग लक्ष्मी अर्थात् समवसरण में विद्यमान विभूति से युक्त हैं। समवसरण की विभूति जो सैकड़ों चक्रवर्ती से भी अधिक बढ़कर के है। प्रश्न आता है कि वह समवसरण क्यों बनाया, क्या आवश्यकता पड़ी समवसरण की? समवसरण के बिना तीर्थंकर प्रभु की वाणी खिरती नहीं अर्थात् समवसरण शब्द से लगाना है हितोपदेशिता। वे तीर्थंकर भगवान् हितोपदेशी हैं, यह ध्वनित हो रहा है श्री शब्द के साथ। क्योंकि वह तीर्थंकर की धर्मसभा है जिसमें 12 कोठे हैं उसके बाद तीन पीठ पर भगवान् विराजमान हैं। 12 सभा के पहले जब समवसरण में प्रवेश करते हैं तब सात भूमियाँ आती हैं वे भूमियाँ अन्य लोक जनों के लिए मनोरंजन करने वाली हैं। जो सम्यक् श्रोता हैं वे ही समवसरण की इस भूमि पर पहुँचते हैं, भगवान् की दिव्यध्वनि से उन्हीं का हित होता है। हित का आशय सच्चे सुख की प्राप्ति।

''आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए''

उस भूमि पर पहुँचने वाला व्यक्ति आत्महित को कर पाता है, निराकुल आत्मसुख को प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है। भौतिक सुख को चाहने के इच्छुक महानुभाव सात भूमियों में भ्रमण करते हैं। अन्य राग से रंजित होते हुए नाट्यशाला आदि में घूमते रहते हैं। यहाँ वर्धमान स्वामी की तीन विशेषता बताईं जो प्रायःकर के जिनशासन के प्रत्येक इष्टदेवता को नमस्कार करने वाले आचार्यवरों ने कहीं–वीतरागता-सर्वज्ञता-हितोपदेशिता।

आप पढ़ते हैं–**'जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया'** रागद्वेष कामादिक जीत लिए अर्थात् वीतरागता, 'सब जग जान लिया' अर्थात् सर्वज्ञता, सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया–अर्थात् हितोपदेशिता। उपदेश भी प्राणी मात्र को दिया और मोक्षमार्ग का दिया, संसार मार्ग का उपदेश नहीं दिया। उपदेश कैसे दिया–निस्पृह होकर। जिसमें कोई स्पृहा नहीं, इच्छा नहीं, कोई स्वार्थ की भावना नहीं, बदले की भावना नहीं कि मैं उपदेश दे रहा हूँ तो इसके बदले मुझे कुछ प्राप्त हो। तो ऐसे निःस्वार्थ भाव से जिन भगवान् ने उपदेश दिया उन भगवान् को आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने नमस्कार किया है। जिनकी हितकर वाणी व्यक्ति के अज्ञान, संशय, विभ्रम व विमोह को दूर करने वाली है, जिनकी वाणी मिथ्यात्व के महातमस को दूर करने वाली है, जिनकी वाणी क्षायिक सम्यक्त्व में भी कारण बनती है, जिनकी सन्निधि भी आत्महित में कारण बनती है।

उपदेशक और नेता में थोड़ा-सा अंतर होता है। आप तत्त्वार्थसूत्र में पढ़ते हैं–

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म-भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्व-तत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

नेता शब्द का अर्थ है नेतृत्व करने वाला। वर्तमान काल में नेता शब्द का थोड़ा सा अवमूल्यन हो गया है। वैसे 'नेता' शब्द एक उत्कृष्ट शब्द है। नेता अर्थात्–ले जाए, प्राप्त कराये, जो मार्गदर्शक हो वह नेता होता है। उपदेशक दूर से उपदेश दे सकता है। आपने उससे कोई प्रश्न पूछा तो उसने आपके प्रश्न का उत्तर बैठे-बैठे बता दिया वह है उपदेशक। जैसे–आपने पूछा कि बटेश्वर का रास्ता कहाँ से है? तो उसने आपको बता दिया यहा से सीधा जाना पुनः दाँये मुड़ना, थोड़ा यू-टर्न लेना इस तरह पूरा रास्ता बता दिया वह कहलाया उपदेशक। क्योंकि यहाँ बैठे-बैठे ही बता दिया। और नेता क्या है? वह कहेगा चल भाई मुझे भी अजितनाथ भगवान् के दर्शन करने जाना है, मैं तुम्हें वहीं पर छोड़ दूँगा। वह व्यक्ति उसके पीछे-पीछे चला। जो व्यक्ति अपने पीछे सबको लेकर चलता है, स्वयं आगे चलता है, मार्ग की सभी प्रतिकूलताओं को स्वयं सहन करता है और नेतृत्व करता हुआ चलता है, आगे वालों का ध्यान रखता है कहीं लीक से हट न जाएँ, पीछे वालों का ध्यान रखता है कहीं भटक न जाएँ ऐसा कुशल व्यक्ति नेता कहलाता है।

यहाँ जिनशासन में मोक्षमार्ग के नेता को नमस्कार किया। नेता वह है जिसमें शक्ति-सामर्थ्य हो, जो सामर्थ्य विहीन है वह कभी नेतृत्व नहीं कर सकता। जमीन पर पड़े व्यक्ति को वही उठा सकता है जिसका सामर्थ्य जमीन पर पड़े व्यक्ति से ज्यादा हो। कम सामर्थ्य वाला व्यक्ति उठाने की चेष्टा करेगा तो स्वयं गिर जाएगा। दलदल में फँसे किसी हाथी को हाथी ही निकाल सकता है, चूहा यदि दुस्साहस करे तो हास्यास्पद होगा। इसलिए सबल-सर्वज्ञता जिसके पास है, अकूत, निस्सीम ज्ञानधन जिसके पास है, साथ ही साथ वीतरागता है वही मोक्षमार्ग के नेता हैं।

आचार्य महाराज ने 'श्री' कहकर भगवान् की हितोपदेशिता को सिद्ध किया, 'निर्धूत कलिल आत्मने' कहकर–घातिया कर्म रूपी कालिमा जिनकी आत्मा से नष्ट हो चुकी है अर्थात् ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की अट्ठाईस व अंतराय कर्म की पाँच कुल सैंतालीस प्रकृतियों को तो नष्ट कर ही दिया, इसके साथ-साथ अघातिया रूप जो मल साथ में चिपका हुआ था वो प्रकृतियाँ भी नष्ट की जिससे वीतरागता भी आ गई। जो वीतरागी हैं वे इच्छा से रहित साक्षी भाव युत हैं। किसी से रागी-द्वेषी व्यक्ति तो संसार में ठहर जाता है। राग से व्यक्ति को अच्छा लग रहा है इसलिए ठहर जाता है, द्वेष से जो अच्छा नहीं लगा तो बदला लेने के लिए व उसे नष्ट करने के लिए ठहर गया किन्तु जिसके मन में राग-द्वेष नहीं

है, साक्षी भाव आ गया वह संसार में ठहरता नहीं है, आगे बढ़ जाता है, वही अपनी आत्मा में लीन होने में समर्थ होता है।

'निर्धूत'–धूत अर्थात् धो दिया, नष्ट कर दिया है–यहाँ नष्ट करने से आशय है कि प्रक्षालित कर दिया 'आत्यन्तिक निवृत्ति' अर्थात् इन कर्मों का सद्भाव उस आत्मा में अब कभी नहीं होगा।। जो कार्माण वर्गणाएँ आत्मा के साथ कर्मरूप बंधी थी उन कार्माण वर्गणाओं को कर्म की अवस्था से पुनः कार्माण वर्गणारूप परिवर्तित कर दिया। वस्त्र में मल लगा हुआ है उस मल को नष्ट/धोने से आशय यह नहीं है कि मल की सत्ता नष्ट कर दी हो। वे मल परमाणु नष्ट नहीं हुए। मल वस्त्र में से निकलकर अलग हो गया, वस्त्र साफ हो गया। ऐसे ही वीतरागी भगवान् ने अपनी आत्मा से कलिल कालिमा को दूर कर दिया है, उन कलिल कर्म वर्गणाओं को नष्ट नहीं किया वे तो अनादिकाल से लोक में विद्यमान हैं व रहेंगी। वे कार्माण–वर्गणा इस जीव के राग–द्वेष के माध्यम से कर्म रूप को प्राप्त हो रही थीं, उन्होंने पहले अपने राग–द्वेष को नष्ट किया वीतराग दशा को प्राप्त कर लिया तो उनका आना बंद। अब वर्गणा आ नहीं रहीं, आ रहीं हैं तो ठहर नहीं रहीं। जो पहले से ठहरी हुई हैं वे एक–एक करके अपने आप जा रहीं हैं, जो नहीं जा रही हैं तो उनको तपस्या की अग्नि से अलग कर दिया। आत्मा शुद्ध हो गई, घातिया कर्म की अशुद्धि नहीं रही। अघातिया कर्म बचे हैं तो उन्हें ऐसे समझो जैसे आत्मा पर लगा कचरा तो जल गया किन्तु अघातिया कर्म राख की तरह चिपके हैं और क्षण भर में अयोग अवस्था में चतुर्थ शुक्लध्यान की ऐसी हवा चलेगी जिससे वह भस्म उड़ जाएगी, वे लघु अंतर्मुहूर्त में सिद्ध बन जाएँगे।

तो यहाँ पर उस आत्मा के लिए नमस्कार किया जिस आत्मा ने कर्म मल प्रक्षालित कर दिए हैं जिससे उस आत्मा में द्युति आ गई है। ऐसे भगवान् महावीर जिन्होंने सर्व घाति–अघाति प्रवृत्ति नष्ट कर दी जिससे उनकी आत्मा में चमक आ गई, उस चमक में तीनों लोक (अधो–ऊर्ध्व–मध्य) झलकने लगे। महावीर स्वामी देख नहीं रहे, दिख रहा है।

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।159।। नियमसार जी

व्यवहार से कहते हैं केवली भगवान् तीनों लोक और अलोक की समस्त बातों को जानते भी हैं, देखते भी हैं, वे सर्वदर्शी हैं और निश्चय से तो वे स्वयं को जानते–देखते हैं इसलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं जिनकी विद्या में, ज्ञानदर्पण में सहज झलकता है। 'दर्पणायते'–दर्पणवत् झलकता है। कहीं कोई काँच लगा हो उसके सामने धातु रखी हो तो उस धातु की जो चमक

आती है उससे अंधकार दूर होता है। भगवान् महावीर स्वामी की जो चमक आयी थी उस बाह्य आभामण्डल से तो बाहर का अंधकार दूर हो गया। अंतरंग की जो चमक आयी थी उस चमक में केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य आदि गुण उन्हें प्राप्त हुए। इस अंतरंग की चमक में उन्हें लोकाकाश और अलोकाकाश झलकने लगे।

मध्यलोक में कर्मभूमि में ही उन्होंने अपने कर्मों का क्षय किया। कर्मभूमि के मनुष्य ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हैं इसलिए उन्हीं की मुख्यता से उपदेश दिया। तीर्थंकर भगवान् का उपदेश कर्मभूमि के जीवों की मुख्यता से होता है भले ही सभा में देव और देवांगनाएँ भी होती हैं किन्तु वे उस सभा में भक्ति-पूजन करके पुण्य कमाते हैं। कर्मभूमि का तिर्यंच एकदेश हित करने का प्रयास करता है और मनुष्य सकल हित करने का पुरुषार्थ करता है।

हे भगवान्! जिनके ज्ञान में दर्पण की तरह से बिना किसी पुरुषार्थ के स्वतः ही तीन लोक व अलोकाकाश झलक रहा है, जिसके लिए कोई पुरुषार्थ नहीं कर रहे हैं, स्वतः झलक रहा है। 'यद्विद्या'–जिनकी विद्या, ज्ञान की बड़ी महिमा है, जैसे गृहस्थ प्राणी के लिए धन महत्वपूर्ण है बिना धन के वह निज जीवन को निस्सार मानता है। वह धन की वांछा करता है, वह सोचता है धन हो तो भोग भोग सकता हूँ, चार प्रकार का दान कर सकता हूँ, भगवान् की महामहिम पूजा कर सकता हूँ, धर्मप्रभावना कर सकता हूँ। वह धन के अभाव में स्वयं को अपूर्ण, असहाय, निर्बल मानता है। धन आता है तो वह उसके माध्यम से पुण्य-पाप दोनों प्रकार का कार्य कर सकता है किन्तु जो ज्ञान है वह साधक की निजी पूँजी है। ज्ञान के माध्यम से एक तरफ सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व को सुदृढ़ बना लेता है वही ज्ञान के माध्यम से अपने चारित्र को निर्मल बनाता है। ज्ञान मध्य दीपक है।

जह कंचणं विसुद्धं, धम्मइयं खंडिय-लवणलेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं, णाण-सलिलेण विमलेण।। –शी.पा. 9

जिस प्रकार सुहागा और नमक के लेप से युक्त कर फूँका हुआ सोना विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी निर्मल जल से यह जीव भी शुद्ध हो जाता है। आत्मा का यह ज्ञानगुण सभी गुणों में प्रमुख गुण है क्योंकि यही ज्ञान गुण अन्य गुणों का परिचय कराता है इस ही के माध्यम से अन्य गुणों को प्राप्त करने की कला-विधि प्राप्त होती है।

यूँ कहें वीतरागी भगवान् के पास वीतरागता की कला है अर्थात् राग- द्वेष को नष्ट कर दिया तो एक हुनर प्राप्त हो गया। अब उनके पास सर्वज्ञता की पूँजी है, अनंतज्ञान की पूँजी है। एक व्यक्ति व्यापार करना चाहता है तो उसमें व्यापार करने की कला भी हो और दुकान

में पर्याप्त माल भी हो तभी वह सफलतापूर्वक व्यापार कर सकता है, उसी प्रकार वीतरागी भगवान् का व्यापार यानि वीतरागता की कला। मोक्षमार्ग की दुकान वही चला सकता है जिसके पास वीतरागता रूपी कला, सर्वज्ञता रूपी पूँजी व हितोपदेशिता रूपी समीचीन प्रवृत्ति करने का सर्वोत्तम रूप भाव हो, भंगिमा हो, मुद्रा हो तब निःसंदेह उनसे भव्य जीव लाभान्वित होकर मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

महानुभाव! इस प्रकार आचार्य भगवन् ने यहाँ पर तीन विशेषता—वीतरागता, सर्वज्ञता व हितोपदेशिता की मुख्यता से नमस्कार किया है। नमस्कारोपरांत आगे ग्रंथ प्रारंभ करेंगे। तो यह मंगल सूत्र है जो पापों को गलाने वाला व उत्तम सुख को देने वाला है। यह मंगलसूत्र हमारा व आपका कल्याण करे।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

ग्रंथ प्रतिज्ञा व धर्म का निरुक्ति अर्थ

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म-निवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥2॥

अन्वयार्थ–यः – जो, **सत्वान्** – जीवों को, **संसार-दुःखतः** – संसार के दुःखों से छुड़ाकर, **उत्तमे सुखे** – उत्तम सुख में, **धरति** – रखता है उन, **कर्म-निवर्हणं** – कर्मों का नाश करने वाले, **समीचीनं** – उत्कृष्ट, **धर्मं** – धर्म को, **देशयामि** – कहता हूँ।

व्याख्यान–महानुभाव! 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रंथ की वाचना में विगत दिवस हमने मंगलाचरण के विषय में जानने की कुछ चेष्टा की, उसके अर्थ को समझने का पुरुषार्थ किया। किन्तु हमारा पुरुषार्थ उस अर्थ के माध्यम से परमार्थ को जानने का, देखने का, प्राप्त करने का था। अन्य कारिकाओं के माध्यम से भी हम जानेंगे अर्थ क्या है, सामान्य अर्थ क्या है, परमार्थ क्या है। जब तक हमें अर्थ ही परमार्थ लगता है तब तक परमार्थ दिखता नहीं, जब हमें अर्थ व्यर्थ सा प्रतीत होता है (अर्थ अर्थात् धन वैभव आदि) तब हमें परमार्थ दिखने लगता है। स्वार्थ जब तक जीवन में रहता है (स्व = धन, अर्थ = प्रयोजन) अर्थात् जिसके जीवन में बाह्य धन ही प्रयोजनभूत है ऐसा व्यक्ति परमार्थी नहीं बन पाता। इसलिए यहाँ पर आचार्य महोदय ने प्रारंभ के मंगल सूत्र के माध्यम से मंगलाचरण किया।

जिनेन्द्र भगवान् का नाम लेना भी मंगल आचरण है और मंगल आचरण जीवन को मंगल करने वाला होता है। मंगल आचरण तीन प्रकार से किया जाता है मन से, वचन से, काय से। मंगल सूत्र कहने के उपरांत अब आचार्य महाराज संकल्प सूत्र कह रहे हैं। प्रतिज्ञा कर रहे हैं कि हम ग्रंथ में श्रावकों की आचार संहिता का वर्णन करेंगे। संक्षेप में करेंगे क्योंकि महापुरुषों की प्रवृत्ति अधिक बोलने की नहीं होती, वे संक्षेप में ही कहने का भाव रखते हैं। जब व्यक्ति संक्षेप में न समझे तभी पुनः विस्तार करना पड़ता है। द्वितीय संकल्प सूत्र आचार्य महोदय के शब्दों में देखते हैं जिसमें उन्होंने अंतरंग भावना से प्रभु की वाणी को आचार संहिता रूप लिपिबद्ध किया है–

'देशयामि'–मैं कहता हूँ। मैं धर्म का कर्त्ता नहीं हूँ, मैं धर्म का कथन करने वाला हूँ। धर्म को करने वाली प्रत्येक आत्मा अपना-अपना धर्म करती है। मेरी आत्मा के धर्म को दूसरी आत्मा नहीं कर सकती, दूसरे की आत्मा के धर्म को मैं नहीं कर सकता। यहाँ पर 'देशयामि' शब्द कहा। 'देशना' सम्यक्त्व में कारण है। पाँच लब्धियाँ होती हैं–क्षयोपशमलब्धि,

विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमें देशनालब्धि के माध्यम से ही परिणाम जब योग्य बनते हैं, आत्मा की विशुद्धि बढ़ती है तब परिणामों को निर्मल करके जीव सम्यक्त्व के सम्मुख पहुँच जाता है। देशना किसकी होती है? देशना सर्वज्ञ भगवान् की होती है चाहे तीर्थंकर केवली हों, चाहे सामान्य केवली हों। यदि वो नहीं हैं तो द्वादशांग के पाठी, अनेक ऋद्धियों के धारक गणधर परमेष्ठी की होती है जो चार ज्ञान के धारक होते हैं। यदि वे भी नहीं हैं तो फिर देशना श्रुतकेवली की मानी गई है। मुख्यतः तीन ही देशनाएँ हैं। तीर्थंकरकेवली, सामान्यकेवली और गणधरादि पुनः उपचार से श्रुतकेवली, आचार्य परमेष्ठी, उपाध्यायादि को ले सकते हैं।

तो देशना यानि आचार्य परमेष्ठी अपने अनुभव की बात को भी कह सकते हैं इसलिए 'देशयामि' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं किन्तु अन्य कोई व्यक्ति देशना नहीं उपदेश दे सकता है। वह दूसरों के द्वारा उपदिष्ट कथन जो देशना दी गई है, निर्देश दिया गया है उसे कहकर के कि इस शास्त्र में आचार्य महाराज ने ऐसा कहा है तो यह उपदेश होता है। यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं 'देशयामि'–कहता हूँ, 'समीचीनं'–समीचीन को, यहाँ समीचीन को विशेषण बनाया। धर्मं–धर्म को कहता हूँ किन्तु ऐसे धर्म को नहीं जो केवल नाम मात्र का धर्म हो। लोक में 'धर्म' शब्द का प्रयोग लोग अनेक जगह करते हैं। धर्म शब्द को कोई कहता है 'धर्मद्रव्य'। कोई धर्म शब्द से धर्म/पुण्य की क्रिया को ग्रहण करता है, कोई धर्म को कहता है लोक रुढ़ि अनुसार होने वाले कार्य। तो धर्म शब्द के लिए अनेक-अनेक प्रकार की क्रियाएँ, प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं।

किन्तु यहाँ कह रहे हैं ''समीचीनं धर्मं'' सम्यक् धर्म। वह सम्यक् धर्म कैसा है? जिस धर्म में निम्न विशेषताएँ हैं तो उसे धर्म कहा जा सकता है। जिसमें समीचीन विशेषताएँ नहीं है उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। यहाँ न तो धर्म द्रव्य की व्याख्या कर रहे, न किसी धर्म नाम वाले व्यक्ति की व्याख्या, न किसी भी पाषाण, धातु आदि में धर्म की स्थापना कर उसकी व्याख्या कर रहे हैं। तो क्या धर्म के नाम पर जो पुण्यक्रिया कर रहे हैं उसकी व्याख्या कर रहे हैं? नहीं, उसकी व्याख्या करने का उद्देश्य नहीं है। वह व्याख्या सहज में साथ में हो सकती है। व्यवहार धर्म साथ में होता है। तो यहाँ पर आचार्य महोदय का मुख्य उद्देश्य है कि जिस धर्म के माध्यम से 'कर्मनिबर्हणं' कर्मों को अलग किया जाता है। उस धर्म की व्याख्या कर रहे हैं जो धर्म आत्मा से कर्मों को अलग कर देता है। जो धर्म आत्मा से कर्मों को अलग नहीं कर पाए उस धर्म का आचार्य महाराज व्याख्यान नहीं करना चाहते।

आत्मा से कर्म अलग हो सकते हैं क्या? जैसे ग्वालिन दही में से घी को अलग कर देती है छाछ को अलग कर देती है, जैसे कोई किसान फसल को उगाता है उसमें से अनाज को अलग कर देता है धान को अलग कर देता है, जैसे कोई व्यापारी नारियल में से तोड़कर उसके छिलके को अलग कर देता है और अंदर का गोला निकाल लेता है, जैसे कोई तिलहन, सरसों आदि में से तेल को अलग कर देता है और खली को अलग कर देता है, जैसे कोई किसान अपने खेत में से कंकड़-पत्थर अलग कर उपजाऊ मिट्टी अलग कर लेता है, जैसे धोबी वस्त्र में से गंदगी को अलग कर देता है स्वच्छ कपड़ा अलग कर देता है ऐसे ही हमारी आत्मा में कार्माण वर्गणाएँ जो कर्म रूप बनकर बैठ गई हैं उन कार्माण वर्गणाओं का वही रूप प्राप्त हो जाए, उनकी वही स्थिति प्राप्त हो जाए। जो कार्माण वर्गणाएँ यहाँ हमारे निमित्त से कर्म रूप बनी हैं वे क्यों हमारे साथ कर्म रूप होकर बंधी रहें, उन्होंने हमारी आत्मा को तो बांधा है किन्तु वे भी बंधी पड़ी हैं, क्यों न उन्हें स्वतंत्र कर दिया जाए और तीन लोक में वे वर्गणाएँ स्वतंत्र रूप से रहें। उन्हें अलग करने के लिए समर्थ है 'धर्म'। यह धर्म रसायन की तरह से है, जैसे किसी वस्तु में रासायनिक वस्तु डाल दें तो उसका द्रव्य परिवर्तित हो जाता है यथा दूध में नींबू का रस डालने से दूध फटकर पनीर अलग रह जाता है पानी अलग हो जाता है ऐसे ही यह धर्म रूपी रसायन डालने से आत्मा रूपी दूध से पनीर अलग हो जाता है अर्थात् आत्मा शुद्ध परमात्मा बन जाती है, कर्म वर्गणाएँ अलग हो जाती हैं अथवा जैसे धातुओं में, स्वर्ण आदि में किट्टकालिमा लगी हुई है उसे तपाकर के शुद्ध किया जाता है ऐसे ही धर्म की अग्नि में तपाकर के आत्मा को परमात्मा बनाया जाता है। तो हम उस समीचीन धर्म को कहेंगे जो धर्म अग्नि की तरह से है एवं इस आत्मा से सम्पूर्ण कर्मों को अलग करने वाला है।

धर्म और क्या करता है? 'संसार दुःखतः सत्वान्' संसार अर्थात् जिसमें संसरण किया जाता है अथवा जो संसरण करने वाला है वह कर्ता आत्मा ही संसार है। संसार बाहर नहीं है **'चित्तमेव हि संसारः रागद्वेषादिवासितं'** राग-द्वेष से दूषित चित्त ही संसार है। इस लोक का नाम संसार नहीं है हमारा संसार हमारे चित्त में है। इस संसार का कारण राग-द्वेषमय कषाय भाव हैं, इसके बिना संसार नहीं होता। धर्म का लक्षण बाद में कहेंगे, पहले यदि धर्म को समझना है तो धर्म का कार्य समझना होगा। यहाँ दो बातें बताई, एक तो कार्य करते हुए की अपेक्षा से, एक फल की अपेक्षा से। जैसे कोई व्यक्ति पूछे नीम क्या है? तो बता दिया जिस पर नीम के फूल आते हैं वह नीम का पेड़ है। दूसरा कहा जिस पर नीम की निबोली लगती है वह नीम का पेड़ है। ऐसे ही धर्म का स्वरूप कहा– 'जो कर्म को अलग करने वाला है'

यह पहली बात तो कार्य करते-करते होती है। उसका फल क्या है, तो फल है समस्त कर्मों को अलग करके 'यो धरत्युत्तमे सुखे' जो उत्तम सुख में उठाकर रखता है या आत्मा को सिद्धालय में जाकर विराजमान करता है, आत्मा को आत्मा में पूर्ण रूप से लीन कर देना जहाँ से पुनः कभी आत्मा विचलित नहीं होगी, वह धर्म का फल दिखाई दे गया।

यहाँ कहा- 'संसार दुःखतः' संसार के दुःखों से निकालने वाला। इसका मतलब हुआ संसार एक गर्त है, कूप है, संसार में दुःख है? हाँ ऐसा मान सकते हैं किन्तु ये तब माना जाता है जब व्यक्ति को अपने स्वरूप का भान हो जाए, तब उसे लगेगा संसार में दुःख है। जब तक व्यक्ति संसार कूप में डूबा हुआ है तब तक उसे यह संसार दुःखों का गर्त नहीं लगता। जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न देख रहा है उसे स्वप्न देखते हुए नहीं लग रहा कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, जब नींद खुलती है तब ही मालूम पड़ता है कि मैं स्वप्न देख रहा था। ऐसे ही जब तक व्यक्ति संसार के दुःखों को अच्छा मान रहा है, उनमें सुख मान रहा है तब तक कहता है अरे! इससे बड़ा सुख और क्या होगा। वह इस संसार में 16 प्रकार के लौकिक सुख मानता है।

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख घर में हो माया।
तीजा सुख कुलवंती नारी, चौथा सुख सुत आज्ञाकारी॥
पंचम सुख सदन हो खरा, षष्टं सुख न कर्ज हो वरा।
सप्तम सुख चले व्यापारा, अष्टम सुख सबका हो प्यारा॥
नवम् न आकुलता हो मन में, दशमं सुख न बैर हो जग में।
ग्यारम सुख मन लगे धरम में, बारम सुख न फँसे कुकर्म में॥
तेरम सुख हो साधु समागम, चौदम सुख मर्मज्ञ जिनागम।
पंद्रम नेमि शीलव्रत धारी, सोलम हो अरिहंत पुजारी॥

इत्यादि सुख उसे अच्छे लगते हैं। सत्य तो ये है जब व्यक्ति संसार से परे हो जाता है, भौतिक सुखों से उदासीन हो जाता है तो संसार के सुखों से भी विरक्त हो जाता है और सच्चे सुख की गवेषणा करता है, उसके पहले सच्चे सुख की गवेषणा नहीं करता। जब तक व्यक्ति को सामान्य भोजन से संतुष्टि हो रही है तब तक वह श्रेष्ठ भोजन की कामना नहीं करता। जब उससे बोरियत होने लगी तब कहता है यह नहीं कुछ और खाने के लिए चाहिए। ऐसे ही यहाँ पर कह रहें कि वह उत्तम सुख की कामना तब करेगा जब वह संसार के सुखाभासों से विरक्त हो जाएगा।

धर्म उत्तम सुख में क्यों धरता है? क्योंकि उसने धर्म को पहले धारण किया था इसलिए धर्म ने उस आत्मा को उत्तम सुख में धारण करा दिया। वह धर्म तो एक वाहन की तरह से है जिस पर सवार होकर के आत्मा शुद्ध दशा को प्रकट करके सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाती है। मोक्ष क्या है? यह मोह ही दु:ख है और मोह क्षय ही मोक्ष है, उत्तम सुख है। मोह भाव दु:ख है मोहाभाव सुख है। मोह से बड़ा दु:ख कोई नहीं। यद्यपि संसार में अनेक प्रकार के दु:ख हैं मन-वचन-काय के दु:ख, क्षेत्र संबंधी दु:ख आदि। इन सब दु:खों से दुखित प्राणी के लिए एक ही सहारा था, है व रहेगा वह है 'धर्म'। उसी धर्म को आप और हम प्राप्त करें, उत्तम सुख को प्राप्त करें इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

धर्म का लक्षण

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
यदीय-प्रत्यनीकानि, भवन्ति भव-पद्धतिः॥3॥

अन्वयार्थः–धर्मेश्वराः – धर्म के ईश्वर, **सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि** – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को ही, **धर्मं** – धर्म, **विदुः** – कहते हैं, **यदीय-प्रत्यनीकानि** – इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, **भव-पद्धतिः** – संसार के मार्ग, **भवन्ति** – होते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! पूर्व कारिका में आचार्य महाराज ने प्रतिज्ञा वाक्य कहा- जिसमें उन्होंने कहा कि मैं ऐसे धर्म को कहता हूँ जो धर्म कर्म का निवारण करने वाला है। जो आत्मा से कर्मों को दूर करने वाला और आत्मा को दुःख के गर्त से निकालकर उत्तम शाश्वत सुख में विराजमान करने वाला है उस धर्म को मैं कहता हूँ। किन्तु उस धर्म का स्वरूप नहीं बतलाया कि वह धर्म है क्या? कर्म से निवारण करना व उत्तम सुख को देना यह धर्म का फल हो गया किन्तु धर्म का स्वरूप क्या है? क्योंकि वर्तमान काल में अनेक प्रकार की व्याख्याएँ धर्म के संबंध में प्राप्त होती हैं। किसी को कोई व्याख्या धर्म के रूप में अच्छी लगती है, किसी को कोई दूसरी। कई बार ऐसा भी होता है कि धर्म की अनेक समुचित व्याख्याएँ भी देखने को मिलती हैं उनमें भले ही अर्थभेद न हो, भावभेद न हो किन्तु शब्द भेद तो प्रायःकर प्राप्त होता है। जैसा कि कहीं कहते हैं–'धम्मो दया विसुद्धो', 'अहिंसा परमो धर्मः', 'धम्मो वत्थु सहावो', 'रयणत्तयं च धम्मो', 'उत्तमखमादिदसधम्मो', इसके साथ सत्य को भी धर्म कहा, दान-पूजा को भी धर्म कहा। इस प्रकार धर्म की बहुत प्रकार की व्याख्या समीचीन शास्त्रों में भी प्राप्त होती हैं।

इस संबंध में आचार्य महोदय की ही बात सुनें कि उन्होंने जिस प्रकार का संकल्प सूत्र कहा उनकी दृष्टि में वह कौन सा धर्म है जो धर्म आत्मा से कर्मों को अलग कर दे और आत्मा को उत्तम शाश्वत सुख में पहुँचा दे। यदि हमने उनकी बात को नहीं सुना, किसी और की बात को मानकर बैठ गए तो उस धर्म से आचार्य महाराज द्वारा निर्देशित स्थान, उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी। अब आचार्यवर धर्म के उस स्वरूप को यहाँ कह रहे हैं जो उन्होंने केवली भगवंतों के माध्यम से, आरातीय आचार्यों के माध्यम से प्राप्त किया। न केवल प्राप्त किया वरन् अपनी अनुभव की कसौटी पर परख लिया और उनकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश ने स्वीकार कर लिया कि धर्म का स्वरूप यही है।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं- 'सत्' जिसका अस्तित्व है अथवा जो समीचीन है अथवा जो समीचीन का आधार है अथवा ज्यों का त्यों। सत् शब्द के ये अर्थ होते हैं इनमें लगाया 'दृष्टि' अथवा वस्तु का स्वरूप जैसा है ज्यों का त्यों ग्रहण करने की दृष्टि वह सद्दृष्टि है। वैसे तो ये 'सत्' शब्द विशेषण है अब दृष्टि के साथ लगाया है तो ज्ञान और वृत्त के बीच में कुछ gap नहीं दिया, दो शब्दों को एक मान लिया है इसलिए सत् शब्द का विशेषण तीनों में ही आरोपित होगा क्योंकि ये सत् शब्द आदिदीपक की तरह से उद्योतनकर है। यह अपने प्रकाश को तीनों शब्दों में अंतर्निहित कर रहा है। सत् शब्द की विशेषता तीनों में जाना चाहिए यानि सत्दृष्टि, सत्ज्ञान व सत्वृत्त।

दृष्टि अर्थात् निगाह, नजर, देखना या लुकना। ये शब्द दृष्टि के इर्द-गिर्द अपना अर्थ ध्वनित करते हैं। दृष्टि एक कार्य है, किसी का वस्तुत्व गुण है। किसका कार्य है? किसका वस्तुत्व गुण है? यह दृग का वस्तुत्व गुण है। दृग अर्थात् नेत्र, दृग की प्रवृत्ति ही दृष्टि है। किन्तु ये प्रवृत्ति कहाँ प्रवृत्त होती है? इसका विषय क्या है? विषय है दृश्य। दृग की जो क्षमता है वह दृश्य में जाती है। जिसके पास दृष्टि है वह है दृष्टा। दृष्टा के पास दृष्टि भी है, दृष्टा के पास दृग भी है, दृष्टा के पास अपना स्वयं का दृश्य भी है। वह पर दृश्य को न देखे, अंतरंग को देखे अथवा संसार में जो भी चेतन-अचेतन पदार्थ हैं उन्हें बस ज्यों का त्यों देख ले। क्योंकि ज्यों की त्यों देख लेगा तो जान भी लेगा। देखना कभी बिना ज्ञान के अकेला नहीं होता।

जब दृष्टि सम्यक् होती है तो ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। हमने मान लिया यह ऐसा है और जान भी लिया ऐसा है तो इससे लाभ क्या होगा? जैसा जान लिया वैसा मान लिया और उसकी प्रवृत्ति भी वैसी ही हो रही है तो आपको विकल्प नहीं आएगा। जैसे किसी वस्तु को आपने शाश्वत मान लिया किन्तु वह वस्तु नष्ट हो गई तो आपको विकल्प आएगा, दु:ख होगा। अपनी वस्तु है तो दु:ख होगा शत्रु की वस्तु है तो खुशी होगी। किन्तु आपने स्वभाव ही जान लिया कि वस्तु नष्ट ही होनी है, ओस की बूंद अंकुरों पर चमकती हुई देव तुल्य आभा को प्रदर्शित कर रही थी उसको देखकर मन रंजायमान हो रहा था, लग तो रहा था कि ये ओस के मोती इनकी आभा, चमक व कांति मेरे चित्त को आह्लादित कर रही है, मन को आकृष्ट कर रही है, ये सुचिरकाल तक ऐसे ही रहेंगे। नहीं जानता कि ये ओस के बिन्दु सूर्य का उदय होते ही नष्ट हो जाएँगे। और देखते-देखते वे ओस के बिंदु नष्ट हो गए तो दु:ख हो गया। यदि दृष्टि यथार्थ होती तो नश्वर है, नष्ट हो जाएँगे यह सोच दु:ख नहीं होता।

जिसके बारे में हम जान लेते हैं कि इसका ऐसा स्वभाव है तो दु:ख नहीं होता और न ही उसमें सुख की कल्पना स्थापित की जा सकती है। जब तक हमारी दृष्टि सम्यक् नहीं

है, असत् है तो असत्दृष्टि से सत् की प्राप्ति नहीं की जा सकती। जिसकी दृष्टि ये है कि नारियल के ऊपर के वक्कल में तेल निकलता है तो वह अंदर वाले गोले को फेंक देगा, उसके छिलके को पेलने लगेगा तो उसकी दृष्टि असत्दृष्टि हो गई। जब उसे सत्दृष्टि मालूम चल जाए कि नारियल का वक्कल तो फेंकने योग्य है, अंदर के गोले में से तेल निकलता है तो वह उसे ग्रहण कर लेगा। सद्दृष्टि प्राप्त होने पर अनावश्यक वस्तु फेंकने पर दु:ख नहीं होगा। वह वक्कल को स्वयं तोड़ देगा, और यदि किसी और ने तोड़ दिया तो कहेगा अच्छा ही किया तुमने, मुझे तो अंदर वाला ही चाहिए। सद्दृष्टि के साथ सद्ज्ञान अविनाभावी रूप से जुड़ा होता है। वह सामान्य सत्तावलोकन समीचीन रूप से करता है, उसके साथ ही अवान्तर सत्ता के माध्यम से ज्ञान भी होता है।

यहाँ पर 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि' समीचीन दृष्टि, समीचीन ज्ञान व समीचीन आचरण-व्रत-क्रिया के बारें में कहा। व्रत शब्द विरक्ति से बना हुआ है। संसार के कारणों से विरक्ति का नाम ही व्रत है। आचार्यों ने कहा है-''**हिंसाइ-पाव-भाव-वज्जणं हु वदं**'' हिंसादि पाप भावों का वर्जन ही व्रत है। और इनसे जो विरक्त है वह व्रती है। बिना व्रत के जीवन निरर्थक होता है। बिना व्रत के कोई भी पाप के कारण त्यागने में समर्थ नहीं होता। संसार के कारण हैं विषय-कषाय और एक शब्द में कहें तो हिंसादि पाप। क्योंकि विषय-कषाय भी पाँच पापों का अर्जन कराने वाले हैं। पापों से विरक्ति होने का नाम हो गया 'व्रत'। समीचीन दृष्टि-ज्ञान-चर्या ही धर्म है। ऐसा किसने कहा? आचार्य महोदय पाप भीरू हैं वे ये नहीं कह रहे कि मैं केवली बन गया, सर्वज्ञ बन गया, मैं कह रहा हूँ, नहीं -'धर्मेश्वरा: विदु:' धर्म के ईश्वर तीर्थंकर प्रभु ने इसे धर्म जाना है। उन्होंने जाना है इसलिए उनकी अन्तरात्मा से नि:सृत हुआ। यदि वे इस रूप धर्म को नहीं जानते तो वे स्वयं आचरण नहीं करते। आचरण नहीं करते तो उनकी आत्मा से ये धर्म नहीं निकलता। 'विदु:' अर्थात् जान लिया। धर्म के प्रवर्तक, धर्म के ईश्वर तीर्थंकर प्रभु होते हैं। तीर्थंकर भगवान् ने भी जाना था कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र ये तीन ही धर्म हैं। इसी धर्म के माध्यम से आत्मा अनंत सुख को प्राप्त करती है इसलिए उन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर अनंत चतुष्टय रूप धर्म के फल को प्राप्त कर लिया। ये सद्ज्ञान, सद्वृत्त तभी आते हैं जब समीचीन दृष्टि प्राप्त हो। समीचीन दृष्टि को आदि दीपक माना है। जैसे उत्तम क्षमादि धर्म कहते हैं। ''उत्तमक्षमामार्दवार्जव-शौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्म:'' यहाँ पर धर्म: शब्द अंत दीपक है 'उत्तम' शब्द आदि दीपक है।

अब आगे कहा-तीर्थंकरों ने धर्म जान लिया, धारण भी कर लिया, उसके फल को भी प्राप्त कर लिया। यदि अभी हमारी सामर्थ्य नहीं है, हम धर्म को प्राप्त न करें तो क्या हानि

है? तब कहा–**'यदीयप्रत्यनीकानि'** सद्दृष्टि-सद्ज्ञान के विपरीत अर्थात् असद्दृष्टि, असद्ज्ञान, असद्व्रत ये मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र **'भवन्ति भव-पद्धतिः'** संसार के कारण होते हैं, ये तीन होंगे तो संसार में प्रवृत्ति की जा सकती है, अनंतकाल तक भवभ्रमण किया जा सकता है। आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी जी ने अमितगति श्रावकाचार के दूसरे परिच्छेद में कहा–

द्विषद्विषतमोरोगै - र्दुःखमेकत्र जायते।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन जन्तोर्जन्मनि जन्मनि॥2/29॥

शत्रु, विष और तिमिर रोग से तो एक ही जन्म में दुःख होता है, परंतु अतिशय दुःखदायक मिथ्यात्व से जन्म-जन्म में दुःख होता है। क्योंकि यह मिथ्यात्व ही आत्मा का महाशत्रु है, पापों का मूल कारण है। **''मिच्छत्तं हु भव-जणगो''** मिथ्यात्व ही संसार का जनक है इसलिए अग्नि में पड़ना अच्छा है, हलाहल विष खा लेना कुछ अच्छा है, कुएँ में डूब जाना कुछ अच्छा है परन्तु मिथ्यात्व से जीवित रहना अच्छा नहीं है। संसार की बेल को बढ़ाने वाला यह मिथ्यात्व सब दुःखों से भी अति दुःखकारी है। तीन में से एक छूट गया तो अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण नहीं किया जा सकता किन्तु एक छूटता नहीं है, छूटते हैं तो दो एक साथ छूटते हैं। मिथ्यादर्शन-ज्ञान छूटता है। इनके छूटने पर मिथ्याचारित्र नहीं बचा पर सम्यक्चारित्र भी नहीं है। दर्शन में तो ऐसा आता है कि या तो दर्शन मिथ्या होगा या सम्यक् होगा, हो सकता है मिश्र भी बन जाएँ, ज्ञान भी मिश्र हो जाए पर चारित्र में क्या है? प्रथम, द्वितीय, तृतीय गुणस्थान में तो अचारित्र है, सभी जानते हैं; पर चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन है तो वहाँ पर भी असंयत सम्यग्दृष्टि है, इसके पास भी अचारित्र है, पाँचवें गुणस्थान में एकदेश चारित्र है, छटवें गुणस्थान से सकलदेश व्यवहारचारित्र आया, सातवें से निश्चयचारित्र का प्रारंभ हुआ।

तो समीचीन दर्शनज्ञानचारित्र ये व्यवहार मोक्षमार्ग है। इन मय आत्मा की प्रवृत्ति निश्चय मोक्षमार्ग है, निश्चय को प्राप्त करने के लिए व्यवहार अनिवार्य है। जैसे छत पर पहुँचने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता होती है। सीढ़ी में आप जानते हैं दो बल्लियाँ होती हैं, बीच में पेंड़ होती है। दो बल्ली बराबर की होती हैं साथ-साथ खड़ी की जाती हैं एक सम्यक्त्व की मानें, एक ज्ञान की मानें। पेंड़ चारित्र की मानें उन पर चढ़कर ही चढ़ा जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से कोई मोक्षमार्गी नहीं बनता, कैसे नहीं बनता? जैसे मात्र दो बल्लियों से ऊपर छत पर नहीं पहुँच पाता, पेंड़ रखना जरूरी है। मोक्षमार्ग कर्मभूमि में प्रारंभ होता है। भोगभूमि में, स्वर्ग-नरक में, ढाई द्वीप के बाहर मोक्षमार्ग नहीं है, जहाँ पर है तो वह स्वयंप्रभ पर्वत पर तिर्यंचों के लिए बताया कि वे देशव्रती जैसे होते हैं, वे वहाँ से स्वर्गादि अवस्था प्राप्त करते हैं।

महानुभाव! यहाँ कह रहे हैं कि तीर्थंकर प्रभु ने जाना है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है, यही धर्म है, इसके विपरीत संसार मार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों ही हितरूप हैं, यही धर्म अद्वितीय आभूषण है, मुक्ति रूपी स्त्री को संतुष्ट करने वाला है तथा अज्ञान रूपी अंधकार की संतति को नष्ट करने के लिए सूर्य है। यही रत्नत्रय रूप धर्म संसार रूपी सर्प के लिए नागदमनी औषधि है। यह ही एक निश्चल महाशरण है, कर्महरण में समर्थ है। उसी समीचीन धर्म में धर्म बुद्धि रखनी चाहिए।

तो अब जैसे संसार मार्ग में चल रहे थे वहाँ से उल्टा चलना प्रारंभ कर दें तो मोक्षमार्गी हो जाएँगे। यहाँ आचार्य महाराज ने धर्म का स्वरूप बताया जिसके माध्यम से कर्मों का निवारण होता है व उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। उस धर्म को स्वीकार करें, प्राप्त करें, उसके उपरांत ही हम अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ हो सकेंगे। आज बस इतना ही....।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

1

सम्यग्दर्शन अधिकार

सम्यग्दर्शन का लक्षण

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढमष्टांगं, सम्यग्दर्शन-मस्मयम्।।4।।

अन्वयार्थः–परमार्थानाम् – मोक्ष के लिए कारणभूत, **आप्तागम- तपोभृताम्** – देव, शास्त्र, और गुरु का, **अष्टांगं** – आठ अंग सहित, **त्रिमूढ़ापोढम्** – तीन मूढ़ता रहित, **अस्मयं** – आठ मद रहित, **श्रद्धानं** – श्रद्धान करना, **सम्यग्दर्शन** – सम्यग्दर्शन है।

व्याख्यान–महानुभाव! यहाँ ग्रंथ की वाचना में देख रहे थे कि आचार्य भगवन् ने मंगलसूत्र के माध्यम से प्रथमतः वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी को नमस्कार किया व वर्धमान स्वामी सहित 24 तीर्थंकरों व पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार किया। पुनः संकल्पसूत्र कहा कि मैं किस धर्म को कहूँगा और संकल्प निभाया भी। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन धर्म तीर्थंकर प्रभु ने जाने थे, उस धर्म को धारण कर फल प्राप्त किया पुनः उनकी सर्वांग से निःसृत वाणी का स्वरूप सबने जाना।

अब यहाँ पर स्वयं आचार्य महोदय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र इन तीनों शब्दों का अर्थ-भाव-लक्षण आदि की व्याख्या करेंगे, जिससे यह समझ में आ जाए कि सम्यक्त्व है क्या, और सम्यक्त्व अर्थात् सम्यक्पना-समीचीनपना कैसे आता है।

श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। श्रद्धान अर्थात् मानना, रुचि होना, समीचीनता की प्रतीती होना, समीचीनता की अनुभूति होना, समीचीनता के प्रति दृढ़ता होना, आत्मा में यह स्थिरता होना कि समीचीनता यही है। अपनी आत्मा के अस्तित्व के प्रति आस्था आना कि मेरी आत्मा का अस्तित्व है यह कभी नष्ट नहीं होगा, छह द्रव्यों का अस्तित्व है यह कभी नष्ट नहीं होंगे इन सबके प्रति स्थिरता आना, अपने हित के प्रति रुचि जागना ही आस्था है। अथवा उसने अपनी दृष्टि को उन्मीलित कर लिया, बंद नेत्रों को खोल लिया। जब तक आँख बंद करके बैठा था तब तक उसे नहीं मालूम सामने क्या है, किसी ने उससे कहा–देखो सामने कितनी अच्छी वस्तु

है, उसने यह सुना अपनी आँखें खोली, पुनः देखा व जाना, ऐसे ही तीर्थंकर आदि महापुरुषों की दिव्यध्वनि को सुना कि देख तेरी आत्मा का स्वरूप क्या है, ये सब जो तुझे दिखाई देता है वह पुद्गल है, आत्मा तो अनुभवगम्य है। आत्मा को देख अपनी आँखों को खोल। तो जैसे बाहर के व्यक्ति की बातें सुनकर बाहर की आँखें खोली जाती हैं, बाह्य दृश्य देखा जाता है ऐसे ही आध्यात्मिक योगी, आत्मा में लीन व्यक्ति की देशना सुनकर अंतरंग के चक्षुओं को उन्मीलित करता है। मिथ्यात्व के परदे से ढकी हुई जो श्रद्धान की आँखें थी, समीचीन दृष्टि पर जो झूठेपन का परदा पड़ा था उसे हटा दिया, पलक उघाड़े तो सम्यक् ज्योति प्राप्त हुई। सम्यक्पना आया और सम्यग्ज्ञान जैसा देखा वैसा जानने में भी आया। समीचीनपने को अपनी दृष्टि में धारण करना, अपने अस्तित्व के प्रति, अपने स्वभाव के प्रति, जीवादि द्रव्यों के प्रति, मोक्षमार्ग के प्रति या सम्यक्त्व के मूलभूत तत्त्वों के प्रति श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्व के मूलभूत तत्त्व क्या हैं–तो आचार्य महोदय कह रहे हैं–**''परमार्थानां आप्त-आगम- तपोभृताम्''** आचार्य भगवन् ने बहुत अच्छा शब्द प्रयोग किया है 'परमार्थानां' परम अर्थ अर्थात् उत्कृष्ट प्रयोजन को सिद्ध कराने में जो समर्थ हैं। उत्कृष्ट प्रयोजन अनेक नहीं होते एक ही होता है। सभी भव्य जीवों का उत्कृष्ट प्रयोजन है इस भव्यत्व को प्रकट कर लेना यानि आत्मा को परमात्मा बना लेना। **''निर्वाण-पुरस्कृतो भव्यः''** जो निर्वाण को प्राप्त करने में समर्थ है वह भव्य है। उस भव्यपने को प्रकट कर लेना यह परम प्रयोजन है। तो क्या संसार के अन्य सब प्रयोजन निकृष्ट प्रयोजन हैं? हाँ, ऐसा कह सकते हैं, यदि आपको कोई और अवस्था प्राप्त हुई है देव, तिर्यंच, नारकी अवस्था अथवा त्रस, सूक्ष्म आदि अवस्था प्राप्त हुई है तो ये उत्कृष्ट अवस्था नहीं है। कुमति, कुश्रुत, कुवधिज्ञान प्राप्त किया तो ये अवस्था उत्कृष्ट प्रयोजन नहीं है। उत्कृष्ट प्रयोजन यही है कि हमारी आत्मा का परमात्मा बन जाना, हमारी आत्मा के स्वाभाविक गुणों का प्रकट हो जाना। इस प्रयोजन के सिद्ध होने के पश्चात् संसार में और कोई प्रयोजन शेष नहीं बचता है और इस प्रयोजन को सिद्ध किए बिना संसार के अनेक प्रयोजनों से इस प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती इसलिए आप्त-आगम- गुरु यही परम प्रयोजन को सिद्ध करने वाले तीन तत्त्व हैं।

यूँ तो संसार के सभी जीव कहते हैं हमारे भगवान् सच्चे भगवान् हैं। हमारे शास्त्र सच्चे शास्त्र हैं, हमारे गुरु सच्चे गुरु हैं। किन्तु यहाँ तो सच्चे-झूठे की बात ही नहीं करना चाहते। भैया, यदि तुम्हें संसार के प्रयोजन सिद्ध करने हों तो फिर रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा करो, संसार का प्रयोजन चाहिए तो राग से मिश्रित शास्त्र को पढ़ो, कुसाहित्य को पढ़ो, यदि आपको संसार में ही परिभ्रमण करना है तो फिर रागी-द्वेषी, आरंभ परिग्रह से युक्त, विषय-कषाय में

लीन गुरुओं की सेवा करो। इनसे संसार के प्रयोजन सिद्ध होंगे, जनम-मरण के प्रयोजन सिद्ध होंगे किन्तु यदि मुक्ति का प्रयोजन है तो फिर परमार्थभूत आप्त, आगम और तपोभृतों की शरण को प्राप्त करना पड़ेगा।

यहाँ 'आप्त' शब्द कहा 'देव' शब्द नहीं कहा, 'भगवान्' शब्द नहीं कहा। जिसकी आत्मा में अनंतचतुष्टय स्वयं प्रगट हुए हैं जैसे मोहतिमिर के नष्ट होने पर दर्शन के साथ ज्ञान प्रकट होता है। आप्त अर्थात् ज्ञान साथ में प्रकट हुआ हो। भगवान् बनने से पहले योगी ने केवल मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय को क्षय किया था। क्षय करने से अनंतचतुष्टय प्रकट हुआ था। उस अनंतचतुष्टय को जिन्होंने अवाप्त प्राप्त कर लिया है वे आप्त हैं। जिन्होंने अनंतचतुष्टय को अपनी आत्मा में प्रकट नहीं किया है वे आप्त नहीं हैं। यहाँ आप्त से आशय है अनंतचतुष्टय से युक्त आत्मा। अनंतचतुष्टय तब प्राप्त होता है जब वीतरागता आती है, राग-द्वेष को पहले निर्मूल करना पड़ता है। कोई विद्यार्थी एम.ए. की पढ़ाई तभी करेगा जब प्राइमरी को पास करे, मिडिल पास करे, सैकेण्डरी, हाईसैकेण्डरी पास करे, इण्टर पास करे, फिर बेचलर करे उसके बाद मास्टर कर पाएगा। तो कहने का आशय है पहले विरागता यह प्रारंभिक दशा है फिर वीतरागता (निर्विकल्प दशा) फिर साधना के उपरांत अनंतचतुष्टय प्राप्त किया तो आप्त हो गए।

यहाँ आप्त का वर्णन किया। लक्षण और स्वरूप में अंतर होता है। आप्त का लक्षण किया कि जिस आत्मा में अनंतचतुष्टय प्राप्त हुआ है वह आप्त है। यह आप्त का त्रैकालिक लक्षण है जो सभी केवलियों, अरिहंतों में घटित हो जाएगा। यदि आप कहते हैं जो 46 मूलगुणों के धारी हैं वे आप्त हैं तो ये घटित नहीं होगा। यदि आप कहते हैं जो समवसरण से सहित हैं वे आप्त हैं तो भी घटित नहीं होगा क्योंकि कोई समवसरण सहित हैं कोई नहीं हैं। 46 मूलगुण किसी के हैं किसी के नहीं भी हैं, किसी के अष्टप्रातिहार्य हैं, नहीं भी हैं, कोई अन्तःकृत केवली हैं। किन्तु अनंतचतुष्टय प्रत्येक अरिहंत के पास नियम से होता ही है। इसलिए यह ऐसा लक्षण है जो कहीं भी अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव दोष से दूषित नहीं हो रहा यह आप्त का निर्दोष लक्षण है।

'आगम' इसमें तीन अक्षर हैं आ + ग + म

आ – आप्त अर्थात् अनंतचतुष्टय जिनने प्राप्त कर लिया है ऐसे सर्वज्ञ के द्वारा जो कथित हो।

ग – गणधर परमेष्ठी अर्थात् जो मुनियों के समूह को धारण करने वाले हैं, चार ज्ञान के धारी, अनेकों ऋद्धियों से सहित हैं और सर्वज्ञ की वाणी को जो झेलते हैं ऐसे गणधरों ने आप्त की वाणी का संग्रह किया।

म – जो मुनिराज हैं वे ममत्व का त्याग करके निर्ममत्व दशा को प्राप्त कर रहे हैं और अपनी आत्मा में लीन हैं। जिन्होंने चित्त को चिन्मय कर लिया है एवं चैतन्यमय आत्मा का ध्यान करने वाले मुनिराजों ने जो शास्त्र लिखे हों वह आगम कहलाता है।

तीसरा कहा–तपोभृताम्'–अर्थात् जो तप को धारण करें अथवा उनका पोषण करें। तप का आशय है जिसके द्वारा तपाया जाए। जिस तरह अग्नि के द्वारा तपाया गया सुवर्ण दोषों से रहित पूर्णतया शुद्ध बन जाता है उसी तरह जिस क्रिया के द्वारा आत्मा अपने समस्त दोषों से रहित होकर सर्वथा विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर ले वह है तप। अथवा तपोभृताम्–तप से भरी हुई है आत्मा जिसकी। जैसे गुब्बारा पूरा हवा से भरा है वह पूरा उछलता-कूदता हुआ निरभ्र आकाश में चला जाता है या ट्यूब जिसमें हवा भरी हो उसका आश्रय लेने से नदी को पार किया जा सकता है। ऐसे ही तप से जिसकी आत्मा भरी है वे तपोभृत हैं। तो क्या अरिहंतों की आत्मा तप से भरी हुई नहीं है? नहीं, अरिहंत की आत्मा अनंतचतुष्टय युक्त तो है उसके पास तप उपचार से कहा जाता है। तप होता है साधुओं के पास। आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के पास तप होता है। 'इच्छानिरोधोतपः' इच्छाओं का निरोध करने रूप तप से जिसकी आत्मा भरी हुई है अर्थात् जिसकी आत्मा में सर्वत्र, सर्वांग और सर्वात्मप्रदेशों में अनिच्छा भाव प्रकट हो गया है, संसार की किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं है, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है, जो वैराग्य के मार्ग पर चल रहे हैं और यदि राग-द्वेष किसी कर्मोदय से पैदा भी होता है तो उसे समत्व रूपी जल से शमित कर देते हैं जैसे उफनते दूध को पानी के छींटे डालकर शमित किया जाता है, ऐसे वैरागी साधु तपोभृत हैं।

आप्त के प्रति, आगम के प्रति व तपोभृत के प्रति श्रद्धा रखना। आप्त ने प्राप्त कर लिया, आगम में विधि दी है कि कैसे प्राप्त किया और तपोभृत उस विधि का आचरण कर रहे हैं; आप्त की संपत्ति को प्राप्त करने के लिए, इसलिए ये तीन ही मार्ग हैं। आप्त पर श्रद्धा करने से सम्यक्त्व की निर्मलता बनती है, आगम का अध्ययन करने से ज्ञान की वृद्धि होती है और तपोभृत की सेवा करने से चारित्र के प्रति प्रेरणा प्राप्त होती है, चारित्र में स्थिरता प्राप्त होती है, चारित्र की वृद्धि होती है। इस प्रकार आप्त, आगम व तपोभृत ये तीनों रत्नत्रय के कारण हैं। ये तीनों ही प्रमुख रूप से आधार स्तंभ हैं। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की नींव है, नींव के बिना महल नहीं बनता। सम्यग्ज्ञान दीवार की तरह से है और चारित्र छत की तरह से है। दीवार नींव से भी जुड़ी है और छत से भी जुड़ी है। वह नीचे नींव को थाम कर बैठी है। ऊपर छत को सहारा दिए है पर दोनों के बीच में है। अथवा यूँ कहें सम्यग्दर्शन जड़ की तरह से है,

सम्यग्ज्ञान वृक्ष के तने की तरह से है, सम्यक्चारित्र पत्र-पुष्प व फल की तरह से हैं। बीज अंकुरित होता है तो अंकुरित होते ही उसमें से दो अंकुर फूटकर निकलते हैं उसमें से एक ऊपर की ओर जाता है एक नीचे की ओर जाता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान एक साथ ही आते हैं, जब भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है सम्यग्ज्ञान साथ में आता है। वृक्ष की उत्पत्ति में सर्वप्रथम अंकुर जो निकलते ही ऊपर जाता है उस अंकुर को तना तो कह सकते हैं किन्तु उस अंकुर को अभी पत्र-पुष्प और फल नहीं कह सकते। वह अंकुर जब बड़ा होता है तब उस तने पर पत्र-पुष्प व फल आते हैं। नीचे जाने वाला अंकुर जड़ बनकर अपना काम करता है वह जड़ है सम्यक्त्व, जो निर्मल होता है, अडिग होता है। जड़ें जितनी गहरी जाती हैं उतना वृक्ष सुदृढ़ होता है, उतने अच्छे पत्र-फल-पुष्प उस वृक्ष पर आते हैं। जड़ें मजबूत होंगी तो तना भी मजबूत होगा उसे कोई उखाड़ नहीं पाएगा। जिसका सम्यक्त्व पुष्ट है उसका तना (सम्यग्ज्ञान) कमजोर नहीं हो सकता। सम्यक्त्व की पुष्टि ही सम्यग्ज्ञान की पुष्टि है। वह सम्यग्दर्शन जिसके साथ किसी भी प्रकार का मद नहीं हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहलाता है।

महानुभाव! देखने वाला यंत्र जिसे उपनेत्र कहते हैं। नेत्र में यदि खराबी आ रही है तो उपनेत्रों के माध्यम से आप समीचीन देख सकते हैं। तो उपनेत्र क्या है? वह हैं हमारे आप्त, आगम और तपोभृत। इनमें से झांककर के आत्मा के स्वरूप को देखें। यदि हमारी स्वयं की निश्चय सम्यग्दृष्टि नहीं है तो हम सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु ये परमार्थ के तीन लेंस लगाकर के अपनी आत्मा को देख सकते हैं। चश्मा बदलने से सामने का दृश्य बदला-बदला दिखाई देता है। हम अन्य कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु के उपनेत्र न लगाएँ यदि हमारे अपने नेत्र काम नहीं कर रहे हैं, यदि हम निश्चय रत्नत्रय में नहीं पहुँचे हैं, व्यवहार मोक्षमार्गी हैं तब तक हमारी दृष्टि पर उपनेत्र परमार्थभूत आप्त, आगम और तपोभृत का होना चाहिए तभी हम समीचीन देखने में समर्थ हो सकते हैं, उसके बिना हम समर्थ नहीं हो सकते। दृष्टि के बदलते ही अपने आप संपूर्ण सृष्टि बदल जाती है, ज्ञान और चारित्र भी बदल जाता है व आत्मा संसारमार्गी से मोक्षमार्गी बन जाती है इसलिए इस सम्यक्त्व को आप धारण करें, स्थिरता रखें, प्रकट करें व दूसरों के सम्यक्त्व में सहयोगी बनें। कारिका में प्रयुक्त अन्य शब्दों आप्त, आगम, तपोभृत, तीन मूढ़ताएँ, आठ अंग और आठ मद के अर्थ का स्वयं ग्रंथकार आगे चलकर उल्लेख करेंगे। अतएव इनके विषय में यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

सच्चे देव का लक्षण

आप्तेनोच्छिन्न-दोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥5॥

अन्वयार्थ–नियोगेन – नियम से, **उच्छिन्न-दोषेण** – दोषों से रहित, **सर्वज्ञेन** – सर्वज्ञ और, **आगमेशिना** – हितोपदेशी पुरुष ही, **आप्तेन** – सच्चा देव, **भवितव्यम्** – होना चाहिए, **हि** – निश्चय से, **अन्यथा** – अन्य किसी प्रकार, **आप्तता** – सच्चा देवपना, **न भवेत्** – नहीं हो सकता।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य महोदय श्री समन्तभद्र स्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के एक-एक रत्न रूपी कारिका के माध्यम से अपने चित्त में विद्यमान संशय एवं विमोह आदि तम को दूर करने का हमारा पुरुषार्थ चल रहा है। यह रत्न मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के अंधकार को तिरोहित करने में निमित्त बन सकता है। पिटारे में से प्रतिदिन एक-एक रत्न निकालकर हम उसकी दिव्य कांति से अंधकार के एक-एक अंश को दूर कर रहे हैं। जैसे चन्द्रमा की एक-एक कला बढ़ती चली जाती है, उसकी कांति बढ़ती चली जाती है, अंधकार घटता चला जाता है, ऐसे ही आचार्य महोदय अगली-अगली एक मशाल हमें देते जा रहे हैं जो जलती हुई मशाल हमारे जीवन की मिसाल तैयार करती है। तो यह श्रावकाचार गृहस्थों की, उपासकों की आचार संहिता है जिसके बिना गृहस्थ समीचीन मार्ग पर नहीं चल सकता। यह गृहस्थ की वैशाखी है जैसे पंगु के लिए वैशाखी आवश्यक होती है वैसे ही गृहस्थों के लिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार वैशाखी है, वैशाखी के बिना पंगु कहीं भी पतित हो सकता है ऐसे ही इस उपासकाध्ययन श्रावकाचार को चित्त में धारण किए बिना, अमल किए बिना वह भी संसार में पतित हो जाता है। इस मार्ग पर चलते हुए वह मोक्षमार्ग पर दृष्टि लगा सकता है और दौड़ते हुए मोक्षमार्ग तक पहुँच सकता है। यह श्रावकाचार पगडंडी पर चलने का मार्ग है, यह राजमार्ग नहीं है किन्तु इस पगडंडी के मार्ग से राजमार्ग तक दृष्टि सीधी जा सकती है। वहाँ तक दौड़कर पहुँचा जा सकता है।

चतुर्थ कारिका में सम्यक्त्व का स्वरूप बताया, सम्यक्त्व के तीन मुख्य तत्त्व बताए परमार्थभूत आप्त, उनके द्वारा कथित आगम एवं उस आगम का अनुकरण करने वाले तपोभृत इन तीन पर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व के लिए आधारभूत शिला है। जहाँ अन्य-अन्य परिभाषाएँ दी हैं वे सब परिभाषाएँ सार्थक नहीं होती, अधूरी सी ही प्रतीत होती हैं चाहे तत्त्वश्रद्धान कहो, चाहे

पदार्थ श्रद्धान कहो या द्रव्य श्रद्धान कहो यह आप्त, आगम, तपोभृत के बिना संभव नहीं है और इनके श्रद्धान के बिना कषाय मंद नहीं होती, मिथ्यात्व मंद नहीं होता इसलिए दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति तथा अनंतानुबंधी चार कषायों का उपशम भी नहीं होता, क्षयोपशम भी नहीं होता इनका क्षय भी नहीं होता। इन आप्त, आगम, तपोभृत के निमित्त से ही इनका क्षयोपशम, उपशम व क्षय संभव है। इसलिए इन तीन को मूलतत्त्व कह सकते हैं, ये मोक्षमार्ग रूपी वृक्ष की जड़ हैं, बीज हैं।

जिस प्रकार खाद, पानी, भूमि, मिट्टी आदि बीज को अंकुरित करने में सहायक कारण हैं लेकिन यदि बीज अच्छा नहीं है तो खाद, पानी आदि कुछ भी नहीं कर सकते, उसी प्रकार आप्त, आगम, तपोभृत में यदि श्रद्धा रूपी बीज नहीं है तो मोक्षमार्ग रूपी वृक्ष नहीं टिक पाएगा। इन मूलभूत तत्त्वों पर श्रद्धान होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि आज तक जितने भी जीव मोक्ष गए हैं उन्होंने इन्हीं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान किया था, भविष्य में जो भी मोक्ष जाएँगे वे इन्हीं की श्रद्धा से जाएँगे तथा वर्तमान में जो भी मोक्ष जा रहे हैं वे इन्हीं की श्रद्धा से जा रहे हैं। आचार्यों ने कहा है अरिहन्तों से बढ़कर कोई सच्चा देव नहीं, जिनवाणी से बढ़कर कोई धर्म नहीं और निर्ग्रन्थता से बढ़कर कोई तप नहीं ऐसे आप्त, आगम व तपोभृत पर दृढ़ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

आगे आचार्य महाराज यही बता रहे हैं कि जहाँ सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग का मूल कहा, परमार्थभूत आप्त, आगम, तपोभृत को सम्यक्त्व का मूल कहा, जैसे सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र से मोक्षमार्ग बनता है, ऐसे ही परमार्थभूत आप्त, आगम व तपोभृत की श्रद्धा से सम्यक्त्व बनता है किन्तु यहाँ अब आचार्य महोदय स्वयं ही जिज्ञासा प्रकट कर समाधान कर रहे हैं कि आप्त, आगम, तपोभृत ये तीन शब्द कहे, उनमें आप्त का स्वरूप क्या है? आप्त के स्वरूप की विशेषता बताई थी कि आप्त वे हैं जिनमें वीतरागता हो, सर्वज्ञता हो, हितोपदेशिता हो।

आचार्य भगवन् जटासिंहनंदी जी महाराज ने वरांगचरित में सच्चे आप्त का बहुत सुंदर वर्णन किया—जिनकी आत्मा सम्यग्दर्शन तथा ज्ञान रूपी सूर्य के आलोक से प्रकाशित हो रही है, निर्दोष उग्र तपस्या के प्रभाव से जिनकी देह से एक अलौकिक कान्ति बिखर पड़ती है, इंद्रिय रूपी घोड़े जिनके संकेत पर चलते हैं, जो मन तथा इन्द्रियों का पूर्ण दमन करने वाले हैं, जो आठ प्रकार के मद से अति दूर हैं, जिनके अंतरंग भाव अत्यंत निर्मल हो चुके हैं ऐसे अनेक गुणों के भंडार महर्षि ही सत्य आप्त हो सकते हैं।

सिद्धान्तसार ग्रन्थ के कर्ता आ. भगवन् श्री नरेन्द्रसेन जी ने कहा—

जो क्षुधा, प्यास, वृद्धावस्था, रोग आदि 18 दोषों से सर्वथा रहित हैं, जो कर्मों का नाश कर मुक्तिपति हुए हैं, जो सर्वोत्कृष्ट, अप्रतिहत, केवलज्ञानरूप प्रकाश के धारक हैं ऐसे जिनेश्वर परमार्थ अर्थात् सच्चे देव कहलाते हैं।

एक शब्द में कहें तो आप्त वे हैं जिन्होंने अनंतचतुष्टय को अपनी आत्मा में प्रकट कर लिया है। अनंतचतुष्टय को प्राप्त करना यानि सर्वज्ञता, सर्वदर्शीपना आ गया, वीतरागता का फल है सर्वज्ञता। जब यह आ गया तब निःसंदेह हितोपदेशिता बिना किसी इच्छा के स्वतः ही निःसृत होती है। वृक्ष पर पुष्प लगे तो गंध स्वतः फैलती ही है, कोई गंध माँगने नहीं आता, वृक्ष के पास कोई छाया माँगने नहीं आता। नदी के समीप पहुँच करके कोई नदी से शीतलता माँगता नहीं स्वतः ही नदी में अवगाहन करके तन का ताप नष्ट हो जाता है, शीतलता मिलती है ऐसे ही स्वतः ही हितोपदेशिता निःसृत होती है, कभी शब्दों से निःसृत होती है तो कभी आभामण्डल से। निशब्द वीतरागी भी अपने आभामण्डल से मोक्षमार्ग का उपदेश देता है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी ने लिखा कि वे मुनिराज मुनियों की सभा में विराजमान थे और **''मुनिपरिषन्मध्ये संभिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरुपयन्तं''** वचन बोले बिना मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान मोक्षमार्ग को दिखा रहे थे। तो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति सर्वज्ञता के माध्यम से स्वतः ही होती है। वीतरागता पुरुषार्थ के द्वारा साध्य है, सर्वज्ञता वीतरागता का फल है, हितोपदेश स्वतः निःसृत होने वाली एक प्रवृत्ति है। यहाँ पर आप्त का पूरा लक्षण उनकी तीनों विशेषताएँ आचार्य महाराज के शब्दों में देखते हैं–

उच्छिन्न अर्थात् उच्छिष्ट, छोड़ दिया है। त्यागना, छोड़ना, देना, रखना ये शब्द एकार्थवाची लगते हैं किन्तु इनके अर्थ थोड़े अलग-अलग हैं। रखी हुई वस्तु को पुनः उठाने की आवश्यकता पड़ती है और दी हुई वस्तु पुनः प्राप्त करने की भावना हो सकती है, भूली हुई वस्तु को खोजने की आवश्यकता होती है, त्याग की हुई वस्तु के प्रति अहं भाव आ सकता है, दान करने के साथ-साथ भावना जागती है इसके प्रतिफल की प्राप्ति हो किन्तु उच्छिन्न जो छूट जाता है, जो निष्प्रयोजनीय होता है उसके प्रति कोई भाव नहीं आता। जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा अपान वायु का परित्याग किया जाता है उस अपानवायु को ग्रहण करने का भाव नहीं आता, छूट गया सो छूट गया या निःश्वास किया CO_2 को छोड़ दिया, उसे ग्रहण करने का भाव नहीं आता। जैसे वमन करके उसे ग्रहण करने का भाव नहीं आता, ऐसा लगता है जब तक वमन नहीं हो जाए व्याकुलता रहती है और वमन हो गया तो उच्छिष्ट को देखने तक की इच्छा नहीं होती, वह मुख फेर करके आगे की ओर बढ़ जाता है, उसकी स्मृति भी नहीं

करता, ऐसे ही आप्त भगवान् वो हैं जिन्होंने दोष छोड़ दिए, उनके त्याग करने से आप्त का एक लक्षण प्रकट हो जाता है जिसे कहते हैं वीतरागता।

वीतरागी होने के कारण राग की प्रवृत्ति नहीं है, स्नेह नहीं है, मैत्रीभाव नहीं है, किसी से लगाव नहीं है, किसी को देखकर हँसते नहीं हैं, आँखें खोलकर के आँखभर देखते नहीं हैं इसलिए उन्होंने अपनी पलक झुका ली हैं। नासादृष्टि है। कोई आशा नहीं है और कोई द्वेष नहीं है। द्वेष होता है तो व्यक्ति कहता है चल भाग यहाँ से, मैं तेरा मुँह भी नहीं देखना चाहता, और सामने वाला जब नहीं भागता तो वह आँख बंद कर लेता है, उसकी बात सुनना नहीं चाहता है इसलिए कान बंद कर लेता है। पूरी आँख बंद करना द्वेष का प्रतीक हो सकता है और पूरी आँख खोलना राग का प्रतीक हो सकता है। इसलिए वीतरागी भगवान् अपने संपूर्ण नेत्रों को खोलकर भी नहीं बैठते, पूर्णतः बंद करके भी नहीं बैठते। फिर वे क्या अपनी दृष्टि को नाशा पर रोकते हैं? नहीं! सहज ही वहाँ दृष्टि ठहर जाती है। बुद्धिपूर्वक नहीं सहज ही नासाग्र दृष्टि अथवा उनकी दृष्टि में संसार की कोई आशा शेष नहीं ऐसे वीतरागी भगवान।

फिर कहा 'सर्वज्ञेन' क्योंकि वीतरागी हो गए इसलिए सर्वज्ञपना भी प्रकट हो गया। यह राग-द्वेष ही हमारे ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म को सबल करने वाला है, मोहनीय कर्म ही सभी कर्म को पानी देने वाला है। तभी सभी कर्म बलवान् होते हैं। ये मोहनीय कर्म अपने सगे भाई ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अंतराय को खूब खिलाता-पिलाता है, कहता है मैं भले ही भूखा रह जाऊँ पर तुम पुष्ट रहना। मेरे जाने के बाद तुम्हारी स्थिति बिगड़ जाएगी, तुम जी न पाओगे और मुझे मारना संसारी प्राणियों के लिए सहज नहीं है इसलिए मेरे साथ तुम भी पुष्ट बनकर रहो। तो मोहनीय कर्म ज्ञानावरणादि कर्मों को पुष्ट करता है। व्यक्ति रागी-द्वेषी होता है तो ज्ञान की प्रवृत्ति और ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। निर्मोहता बढ़ती जाती है तो ज्ञान की वृद्धि होती है, क्षयोपशम बढ़ता जाता है, दर्शन का क्षयोपशम बढ़ता है। जितना रागी-द्वेषी-मोही व्यक्ति होगा उसकी निगाह कमजोर हो जाएगी, जो तीव्र रागी-द्वेषी है उसका क्षयोपशम नष्ट हो जाएगा। लोग कहते हैं हमारी स्मरण शक्ति कमजोर हो गई है, याद नहीं होता, जल्दी भूल जाते हैं। जो साधु विरागी होते हैं भौतिक ज्ञान, शब्दज्ञान को प्राप्त करने में भले ही वे अपना उपक्रम न करें किंतु भावश्रुत ज्ञान को वे सहजता में प्राप्त कर लेते हैं। उनके पास भावश्रुत ज्ञान ऐसा हो जाता है जिसे सीमा में बाँधा नहीं जा सकता।

आगे कहा 'आगमेशिना' इसका अर्थ है आगम पर अधिकार रखने वाला आगम का स्वामी। मुख्य या उपज्ञ (किसी के कथन का अनुवादादि न करके स्वतंत्रता से सर्वप्रथम वक्ता)

वक्ता को आगमेशी कहते हैं। जो आगम की देशना देने वाले, ज्ञान को प्रकट करने वाले होते हैं। 'भवितव्यं नियोगेन' नियम से उसे ही आप्तता प्राप्त होना चाहिए अन्य को आप्तता नहीं मिल सकती। आप्तता के लिए तीन नियामक लक्षण कह दिए, ये तीन अविनाभावी हैं। ये अविनाभावी हैं तीर्थंकर की अपेक्षा से/सामान्य केवली की अपेक्षा से यदि 'आगमेशिना' शब्द रूप ध्वनि नहीं भी खिर रही है तब भी वीतरागता, सर्वज्ञता है। तब भी वे आप्त हैं किन्तु फिर भी उनकी निःशब्दवर्गणाएँ संसारी प्राणियों को हित का उपदेश देती हैं। आप्तता का यही अर्थ हुआ कि जहाँ वीतरागता, सर्वज्ञता व हितोपदेशिता हो। जहाँ यह नहीं है वहाँ पूर्ण आप्तता नहीं आती, पूर्ण धर्म प्रवर्तन में समर्थ नहीं होते। धर्म प्रवर्तक आप्त वहीं होता है जो स्वयं वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेश गुण से युक्त हो।

त्रिकोण तब कहलाता है जब उसमें तीन कोण हों। दो रेखाओं से त्रिकोण कभी नहीं बनता, तीन रेखा से ही त्रिकोण बनेगा। दो रेखा से एक कोण बनेगा एक रेखा आएगी मिल जाएगी तो दो कोण बढ़ा देगी, दो रेखाओं ने मिलकर एक कोण बनाया और एक रेखा ने दोनों को छू करके त्रिकोण बना दिया। महानुभाव! आप जब नट कलाकार का खेल देखते हैं तो एक पोल इधर, दूसरा उधर गाड़ दिया, बीच में रस्सी बाँध दी। दो पोल व रस्सी ये तीन चीजें हों तब नट अपना खेल खेल सकता है। ऐसे ही आप्तपना तभी आता है जब तीनों हों। जैसे परमाणु में इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन व न्यूट्रॉन तीन तत्त्व होते हैं इसी तरह यहाँ पर आप्तपने का लक्षण दिया वीतरागता, सर्वज्ञता व हितोपदेशिता। आराधनासार आदि अन्य ग्रंथों में भी कहा–सच्चे देव आप्त हैं उनके स्वरूप को बताते हुए कहा–

जो क्षुधादि दोषों से रहित हैं, परमौदारिक शरीर से सहित हैं, तत्त्वों का उपदेश करते हैं, समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानते हैं तथा समस्त सत्पुरुषों के स्वामी हैं वे आप्त हैं अर्थात् जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हों वे ही सच्चे देव आप्त हैं।

इनके साथ ही आप्तपना ठहरता है, इसके बिना 'न अन्यथा' संसार के अन्य प्राणियों में आप्तपना नहीं ठहरता। उस आप्त के स्वरूप को स्वीकार करके श्रद्धान करें, भक्ति करें और अपनी आत्मा के परिणामों को निर्मल बनाएँ यही इस कारिका का संक्षिप्त अर्थ हुआ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वीतराग का लक्षण

क्षुत्पिपासाजरातङ्क-जन्मान्तक-भयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥6॥

अन्वयार्थः–यस्य – जिस देव के, **क्षुत्पिपासाजरातङ्क-जन्मान्तक-भयस्मयाः** – भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जनम, मरण, भय, घमण्ड, **रागद्वेष-मोहाः** – राग-द्वेष-मोह, **च** – और आश्चर्य अरति, खेद, निद्रा, चिन्ता, शोक, स्वेद ये 18 दोष, **न** – नहीं होते हैं, **स आप्तः** – वह वीतरागी देव, **प्रकीर्त्यते** – कहा जाता है।

व्याख्यान–महानुभाव! श्रीमत् शास्त्रराज रत्नकरण्ड श्रावकाचार आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी की एक अनुपम कृति, गृहस्थों की श्रावकों की एक प्रमाणिक आचार संहिता अथवा यूँ कहें रतनों का पिटारा है। एक-एक कारिका गृहस्थों के जीवन को दैदीप्यमान करने वाली है। प्रथम पाँच काव्य में आचार्य महाराज श्रावकों की भूमिका का निर्देश दे रहे हैं। श्रावक वह होता है जो सम्यक्त्व से युक्त हो। सम्यक्त्व परमार्थभूत आप्त, आगम, तपोभृत के श्रद्धान का नाम है। पहले आप्त का स्वरूप कहा अब यहाँ वीतरागता के मायने बताते हुए कह रहे हैं जिस भव्य आत्मा ने साधना के बल से उन कर्मों को नष्ट कर दिया है जिन कर्मों के माध्यम से चेतना में 18 दोष प्रादुर्भूत होते हैं, वे 18 दोष नष्ट हो जाते हैं तो वीतरागता आती है।

आचार्य महोदय ने सच्चे देव के सही लक्षणों को उद्घाटित करते हुए कहा जिन्होंने दैहिक परिश्रम, निद्रा तथा क्लेश को जीत लिया हो, जिनके विषाद, चिंता तथा आश्चर्य हारकर शांत हो गए हैं, भूख, प्यास, रोग तथा व्याधि जिन्हें छू भी नहीं सकती है, पसीना, मूत्र आदि मल जिनकी दिव्य देह को दूषित नहीं करते हैं वे ही महापुरुष सच्चे देव कहलाते हैं। उनके स्वभाव तथा अन्य गुणों के उपमान वे ही हो सकते हैं, कोई दूसरा नहीं अर्थात् संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिससे भगवान् के गुणों की तुलना की जा सके या उपमा दी जा सके। विश्व में ऐसी कोई भी आत्मा नहीं है जो रोग-द्वेष के रंग में ना रंगी हो, यहाँ मूर्खता तथा दोष करने की प्रवृत्ति सभी जीवों में है किन्तु संसार भर में व्याप्त वे सब दोष उन अर्हन्त केवली में नहीं होते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी समस्त पापरूपी कालिमा को धो डाला है। यही कारण है कि आचार्यों ने उन्हें ही सत्य आप्त माना है। उन्हीं 18 दोषों से रहित वीतरागी देव का स्वरूप यहाँ बताते हैं।

आचार्य महोदय ने यहाँ कुछ दोषों की चर्चा की है और चकार कहकर ये कहा कि इसके अलावा और भी दोष हैं। वीतरागी इन दोषों से रहित होता है। वीतरागी शब्द का अर्थ केवल राग का बीत जाना नहीं है। राग के पूर्व द्वेष का बीत जाना, द्वेष के पूर्व विस्मय, निद्रा, स्वेद, खेद, चिन्ता, शोक, पिपासा, जन्म, जरा, आतंक इत्यादि सबका बीत जाना है। अंत में राग बीतता है इसलिए वीतरागी शब्द कह दिया। जैसे कोई विद्यार्थी प्राइमरी पढ़ा, मिडिल को पढ़ा पुनः सैकेण्डी पढ़ता है फिर बैचलर होता है फिर मास्टर हुआ फिर पी.एच.डी. की तो उसे डॉक्टर की उपाधि मिली। उसको डॉक्टर कह दिया जाता है। पर अब यह नहीं कहा जाएगा कि इसने एम.ए. भी किया है, इसने तो बी.ए. भी किया है या पूर्व-पूर्व की क्लास के बारे में कहना जरूरी नहीं है। एक शब्द में काम चल गया कि जिसने पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है वह पहले से ही स्नातकोत्तर है। ऐसे ही अंतिम उपलब्धि को कहने से अन्य पूर्व की सब उपलब्धियाँ समाहित हो जाती हैं। जैसे चक्रवर्ती ने 31999 राजा जीत लिए तब तक भी उसकी दिग्विजय पूरी नहीं हुई किन्तु जैसे ही उसके अंतिम शत्रु बचा तो कहने लगे यदि ये इसको जीत लेगा तो चक्रवर्ती बन जाएगा, तो क्या सिर्फ उसको जीतने से चक्रवर्ती होता है? नहीं। अंतिम राजा को जीतने से, विजयी होने से चक्रवर्ती हो गया। ऐसे ही मुनि महाराज ने अपनी तपस्या-साधना के बल से अपने 17 दोषों को नष्ट किया, 18वाँ दोष राग को भी नष्ट किया तो वीतरागी शब्द उनके लिए प्रयुक्त हुआ। वे वीतरागी साधु कैसे होते हैं आ. भगवन् समंतभद्रस्वामी ने वृहद् स्वयंभू स्तोत्र में श्री वासुपूज्य भगवान् की भक्ति करते हुए लिखा–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ-विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्य-गुणस्मृति र्न, पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्य॥–वृ.स्वयं. स्तोत्र

हे भगवान् वासुपूज्य स्वामी! आपको पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है अर्थात् कोई भक्त आकर आपकी पूजा करे उससे आपको कोई प्रयोजन नहीं और कोई आपकी निंदा करे उससे भी आपको कोई सरोकार नहीं, फिर भी जो आपके पुण्य गुणों का स्मरण करता है, पाप रूपी अञ्जन के द्वारा जिसकी आत्मा काली हो रही है ऐसी आत्मा भी आपके गुणों का स्मरण करने से पवित्र अवस्था को प्राप्त होती है, वह आत्मा धवल, उज्ज्वल हो जाती है।

भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी वीतरागी साधक साधना कर रहे हैं, श्रेणी पर आरूढ़ हैं, पूर्वभव के वैरी कमठ ने उपसर्ग किया तब भी भगवान् ने उस कमठ को अभिशाप नहीं दिया और न ही कमठ के साथ कोई वाक्युद्ध किया, न ही मल्लयुद्ध किया, न ही कमठ के साथ दुर्भावनाओं से उसे दुःख पहुँचाने का उपक्रम किया, न ही कमठ की आत्मा के प्रति किंचित् भी मन में

घृणा का भाव आया और न ही कमठ के प्रति राग का भाव आया कि तू अच्छा कर रहा है भैया और उपसर्ग कर जिससे मेरे कर्म और नष्ट हो जाएँगे, मुझे जल्दी केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाएगी। तो उपसर्ग करने वाला चाहे कमठ का जीव था, चाहे पाण्डवों पर उपसर्ग करने वाला क्रूरकर्मा कुर्युधर था, चाहे महावीर स्वामी पर उपसर्ग करने वाला संगमदेव था, चाहे सुपार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाला कोई देव था, चाहे किरणमण्डला रानी के जीव ने व्यंतरी बनकर सकलभूषण मुनिराज पर उपसर्ग किया, वे सभी वीतरागता में लीन थे, ध्यान में अचल रहे। ये वीतरागता की विशेषता है अपने प्राण लेने वाले के प्रति भी समता का भाव रखना। मुनिमहाराज ध्यान में बैठे हैं एक व्यक्ति ने आकर उन पर तलवार चलाई तभी दूसरे ने आकर तलवार को बीच में रोक दिया, उस शत्रु को अलग कर दिया और स्वयं महाराज का भक्त बन रत्नों का ढेर लगाकर पूजा की। जब मुनिराज ने ध्यान खोला तब दोनों के प्रति समभाव रखा, माध्यस्थ भाव रखा। किसी के प्रति किञ्चित भी राग का भाव नहीं, द्वेष का भाव नहीं वह वीतरागता होती है।

वीतरागता का आशय है तट की तरह प्रवृत्ति करना, नदी बहकर के जाती है तट वहीं के वहीं तटस्थ रहते हैं, वे नदी के साथ उत्साहपूर्वक विदाई देते हुए आगे नहीं जाते, नदी का पानी गंदा हो तो रोकते नहीं, नदी में फूल बह रहा है तो आनंद से मोद मनाकर झूमते नहीं, नदी में काँटे या मुर्दे बह रहे हैं तो मुँह फेरकर रूठकर के बैठते नहीं, वे तट हैं तटस्थ हैं ऐसे ही वीतरागी भगवान् भी तटस्थ हैं। संसार से भी और मोक्ष से भी। उनकी वांछा न संसार के लिए है न मोक्ष के लिए है। बस वे अपना उपक्रम कर रहे हैं मोक्षमार्ग में चल रहे हैं, चलते-चलते मोक्ष की प्राप्ति अपने आप हो जाएगी। वे जानते हैं कि जब मोक्षमार्ग में चल रहे हैं तो मोक्ष मिलेगा, न चलने पर कितनी बार भी कहें तो भी मोक्ष नहीं मिलेगा। वह मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र, इन तीनों को अभेद रूप आत्मा में प्राप्त करके उस मार्ग पर चलना प्रारंभ किया।

वीतरागी प्रभु में दोष नहीं होते क्योंकि जो दोष व द्वेष से युक्त है वह वीतरागी नहीं हो सकता, आप्त भी नहीं हो सकता। जो आप्त है उसमें दोष नहीं हो सकते। दोष और आप्त एक साथ नहीं ठहर सकते। अग्नि है तो उष्णता है, जल की शीतलता अग्नि में नहीं मिलेगी। जल है तो शीतलता है, उसमें अग्नि के गुण धर्म नहीं मिलेंगे। आप कहेंगे जल को भी तो अग्नि से गर्म किया जा सकता है, हाँ, वह कुछ देर के लिए उष्ण भले ही हो जाए किन्तु उस तपे जल में अग्नि के समग्र गुण नहीं मिलेंगे। अग्नि दाहक होती है, पाचक होती है, प्रकाशक होती

है, ऊष्मक होती है, तमअपहारक होती है ये गुण जल में नहीं हैं, जल में अपना ही गुण है, जल के गर्म होने पर भी उसका शीतलता गुण नष्ट नहीं हुआ। यदि गर्म जल को भी अग्नि में डालोगे तो अग्नि बुझ जाएगी। जो व्यक्ति मोक्षमार्गी है वह मोक्ष के मार्ग पर चल रहा है, जो संसार मार्गी है वह संसार के मार्ग पर चल रहा है। जो रागी-द्वेषी हैं उनमें आप्तपना नहीं, जो आप्त हैं उनमें रागद्वेष नहीं। संसारमार्ग व मोक्षमार्ग एक-दूसरे से विपरीत मार्ग हैं। जब दृष्टि संसार मार्ग की ओर है तब पीठ मोक्षमार्ग की तरफ है, जब दृष्टि मोक्षमार्ग की ओर है तब पीठ संसार की ओर। दोनों एक साथ नहीं हो सकते। यहाँ वीतरागता की विशेषता बता रहे हैं कि जिनका राग बीत गया। राग ऐसे ही नहीं बीतता पहले इन दोषों के प्रति विरक्ति का भाव होता है। अभी संसारी प्राणियों को इनमें आसक्ति है, भूख लगती है तो भोजन करते हैं, प्यास लगती है तो पानी पीते हैं, इष्ट-मिष्ट सुगंधित जल मिले, स्वर्ण-चाँदी के बर्तन में भोजन मिले ऐसी अभी आसक्ति है। इस आसक्ति को पहले कम करेंगे तभी इनसे दूर हो सकते हैं।

आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने भगवान् शांतिनाथ की स्तुति करते हुए लिखा-

स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः, शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद् भवक्लेश-भयोपशान्त्यै, शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः॥

हे भगवान्! आपने अपने दोषों को शान्त किया, अपने दोषों का अंत किया, उनसे विरक्त हुए क्योंकि आपने दोषों को दोष समझा। संसारी प्राणी जब तक दोषों को दोष नहीं समझता है, दुर्गुण को गुण मान लेता है तब तक उनसे विरक्त नहीं होता, उन्हें छोड़ता नहीं। जब तक व्यक्ति को नहीं मालूम कि मेरे भोजन में जहर मिला हुआ है तब तक भोजन को नहीं छोड़ता, अमृतभोजन मानकर खाना चाहता है। जब ये भान हो जाता है कि ये जहर मिला भोजन है, मारक है या रोगवर्धक है तब उसे छोड़ सकता है। महानुभाव! आचार्य महोदय ने क्षुधा, पिपासा, बुढ़ापा, आतंक (विघ्नबाधाएँ) जन्म, मृत्यु, आश्चर्य, भय, राग, द्वेष, मोह ये ग्यारह नाम यहाँ पर लिए 'च' शब्द में शेष सात नाम और गर्भित हैं, इस प्रकार कुल 18 दोषों का शमन करने वाले वीतरागी देव कहलाते हैं।

भव्य जीवों में बीज की तरह से अंकुरित होने की शक्ति है। **'निर्वाण पुरस्कृतो भव्यः'** भव्य जीव निर्वाण को प्राप्त करने के योग्य हैं। जो दूर भव्य है वह उस बीज की तरह से है जो बोरे में रखा है, जो बीज जमीन में बो दिया वह आसन्न भव्य है, वह अंकुरित हो जाएगा, अब वह वैराग्य को स्वीकार करता है, आगे बढ़ा वृक्ष बना, पत्ते आए यानि वीतरागता तक पहुँच गया फिर उस पर पुष्प आने लगे सघन वृक्ष बन गया यानि अरहंत बन गया, फिर उसने

उत्तम फल को दिया अर्थात् मोक्ष फल दिया। इस प्रकार राग से विराग, विराग से वीतराग, वीतरागता से फिर सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।

महानुभाव! इस छटवें काव्य में वीतरागता का लक्षण बताया। इस लक्षण को जानकर ही वीतरागी को पहचान कर उन्हें प्रणाम करो, भक्ति करो, वंदना करो, स्तुति करो। यह कर्मों का क्षय करने वाली होती है, पाप पंक का प्रक्षालन करने वाली होती है, चित्त को निर्मल बनाने वाली होती है। सम्यक्त्व की भूमिका तैयार करती है व सम्यक्त्व को उत्पन्न करने में निमित्त बनती है। सम्यक्त्व को ठहराती है और सम्यक्त्व को वृद्धिंगत करती है, सम्यक्त्व को फलीभूत करती है। ऐसी वीतरागता को अपने चित्त में स्थापित करो, धारण करो। वीतरागता तुम्हें वीतरागी बनाने में निमित्त बनेगी। हम उन वीतरागी जिनेन्द्र प्रभु के चरणों में कोटिशः अनंतशः प्रणाम करते हुए अपनी शब्दशृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

शास्ता का लक्षण

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादि-मध्यान्तः, सार्वः शास्तोपलाल्यते॥7॥

अन्वयार्थ–जो देव, **परमेष्ठी** – परम पद में स्थित हों, **परमज्योतिः** – उत्कृष्ट केवलज्ञान रूपी ज्योति वाला हो, **विरागः** – राग रहित हो, **विमलः** – कर्ममल रहित हो, **कृती** – कृतकृत्य हो, **सर्वज्ञः** – समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाला हो, **अनादि-मध्यान्तः** – आदि, मध्य व अंत से रहित हो और, **सार्वः** – सब जीवों का हित करने वाला हो, **सः शास्ता** – वही हितोपदेशी, **उपलाल्यते** – कहा जाता है।

व्याख्यान–महानुभाव! श्रावकों की आचार संहिता का प्रतिनिधि ग्रंथ रत्नकरण्ड श्रावकाचार जिसकी एक- एक कारिका को जानकर के आनंद का अनुभव कर रहे हैं। क्योंकि प्रकाश आनंद का प्रतीक है, प्रकाश को ज्ञान का प्रतीक भी माना है और ज्ञान को आनंद का कारण माना है, इसलिए व्यक्ति जहाँ पर घनघोर अँधेरा हो, महातम हो उस स्थान में रहना तो दूर की बात है सोना भी नहीं चाहता। रात्रि में भी वह Night Bulb जलाकर सोता है। अपनी टॉर्च आदि में भी रेडियम का प्रयोग करता है। कम से कम कुछ तो उजाला रहे क्योंकि जब किंचित् भी प्रकाश नहीं रहता है तब अंधकार में नींद खुलने पर भी सम्यक्दिशा का बोध नहीं हो पाता। अँधेरा अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं को पैदा करने वाला होता है। अँधेरे में भ्रमण है, भटकन है, बाधाएँ हैं, विघ्न हैं, प्रतिकूलताएँ हैं। अँधेरे में विभाव की संगति है, विकारों की, दुर्व्यसनों की संगति है जबकि प्रकाश के साथ मंगल है इसलिए मंगलाचरण करने के साथ मंगल ज्योति प्रज्ज्वलित करते हैं। पर्व आदि उत्सवों में दीपों को जलाकर आनंद का अनुभव करते हैं। अन्य भी कई माँगलिक कार्यक्रमों में भी दीप प्रज्ज्वलित करके प्रसन्नता का, पुण्य का संवर्धक मानते हुए इष्ट देवता की अर्चना करते हैं।

लोक व्यवहार में जो व्यक्ति परमार्थ से भटके हुए हैं वे यदि सूर्य आदि ग्रह की पूजा भी करते हैं तब भी दीप जलाकर के करते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि सूर्य के विमान की पूजा नहीं करता, सूर्य के विमान में विद्यमान जिनबिंब वीतरागी भगवान् की पूजा करता है।

यहाँ देखते हैं रत्नकरण्ड श्रावकाचार की 7वीं मणि में आचार्य महोदय हितोपदेशिता का लक्षण बताते हैं साथ ही निर्दोष आप्त के बारे में बताते हुए उनके पर्यायवाची नाम बताते हैं।

यहाँ नव नाम उच्चरित हैं जिनमें प्रथम नाम है–**'परमेष्ठी'**। आप्त को परमेष्ठी भी कह सकते हैं क्योंकि आप्त भी पाँच परमेष्ठी में एक परमेष्ठी हैं, परमेष्ठी शब्द का अर्थ इस प्रकार से निकालें **'परमे पदे तिष्ठति इति परमेष्ठीः'** जो परम पद में, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ पद में ठहरते हैं, स्थिर होते हैं, विराजमान होते, सुशोभित होते हैं वे परमेष्ठी होते हैं। परम पद क्या है? जिसमें विकारों का निवारण किया जाए और स्वभाव को, सद्गुणों को प्रादुर्भूत किया जाए वह परमपद होता है। जब तक गृहस्थ राग और द्वेष में सना हुआ होता है तब तक वह परम पद को प्राप्त नहीं कर पाता। संसार के जितने भी लौकिक पद हैं वे सभी अपरम पद हैं चाहे वह पद 'महापुरुष' वाला ही क्यों न हो। यहाँ तक कि तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव भी अभी परम पद में स्थित नहीं है, चक्रवर्ती, नारायण प्रतिनारायण, कामदेव, बलभद्र, कुलकर आदि पद से विभूषित महापुरुष अभी महापद में विभूषित नहीं हैं। क्योंकि परम पद में वही स्थित हो सकता है जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ हो, जिसकी आत्मा में धर्म हो, 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि' यह धर्म जिसकी आत्मा में है उसे आचार्य समंतभद्रस्वामी ने धर्म कहा और आचार्य उमास्वामी महाराज ने मोक्षमार्ग कहा।

धर्म की पालना ही मोक्षमार्ग है, धर्म की पालना न करना संसारमार्ग है इसीलिए आचार्य महोदय ने साथ ही साथ कह दिया था ''धर्मं धर्मेश्वरा विदुः'' धर्म के ईश्वर ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म माना है। इसके विपरीत जो है वे सभी संसार के कारण हैं। रत्नत्रय से जो विपरीत है वह आचार्य महोदय की दृष्टि से अधर्म की कोटि में आ सकता है। तो परम पद वही है जिसने यथाजात दिगम्बर मुद्रा को स्वीकार किया है, जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त किया है, जिसने व्यवहार से भी रत्नत्रय को स्वीकार किया है और निश्चय से अपनी आत्मा को रत्नत्रयमय ढाल लिया है। या जिसकी आत्मा ही रत्नत्रयरूप अवस्था को प्राप्त हो चुकी है। चाहे वे साधुपरमेष्ठी हैं या उपाध्याय परमेष्ठी चाहे आचार्य परमेष्ठी हों या अरिहंत परमेष्ठी और चाहे सिद्धपरमेष्ठी हैं ये पाँचों परमेष्ठी ही किसी अपेक्षा से भगवान् हैं। एक अरिहंत परमेष्ठी वर्तमान भाव निक्षेप की अपेक्षा से आप्त हैं, सिद्धपरमेष्ठी आप्त नहीं हैं किन्तु भूतनैगमनय की अपेक्षा से वह आप्त हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधु को भावी नैगमनय की अपेक्षा से या द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा से आप्त कह सकते हैं। साधु परमेष्ठी प्रत्यक्ष अरिहंत अवस्था का कारण हैं और अन्तःकृत केवली बने तो सिद्ध अवस्था तक पहुँच सकते हैं, अरिहंत अवस्था पर न ठहरें। साधु के लिए अनिवार्य नहीं है कि वह आचार्य और उपाध्याय बने।

आध्यात्मिक क्षेत्र की अपेक्षा से देखा जाए तो साधु परमेष्ठी आचार्य, उपाध्यायों से अग्रणी हैं क्योंकि उपाध्याय और आचार्य परमेष्ठी को व्यवहार मूलगुणों का पालन करना भी अनिवार्य है, उन्हें अपने कर्त्तव्य का पालन करना होता है। उपाध्याय परमेष्ठी का कर्त्तव्य उपदेश देना, शिष्यों को पढ़ाना, स्वयं अध्ययन करना और आचार्य परमेष्ठी का कर्त्तव्य हुआ शिष्यों का संग्रह करना उनका अनुग्रह करना प्रतिकूल होने पर उनका निग्रह करना। ये सब उनके लिए अनिवार्य कर्त्तव्य हैं किन्तु साधु के लिए 'ज्ञान-ध्यान तपो रक्तः'' जो विषय-कषाय-आरंभ-परिग्रह से रहित होकर ज्ञान-ध्यान- तप में लीन हो गए, ऐसे साधु परमेष्ठी जिनके ऊपर पद का कोई भार नहीं है इसलिए वे अरिहंत बनें तो शीघ्र बन सकते हैं आचार्य, उपाध्याय की अपेक्षा से। परमेष्ठी पद का अर्थ वही लेना है जो यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं तो आप्त भगवान् को परमेष्ठी कह सकते हैं क्योंकि उनका पद भी परमेष्ठी का पद है।

अन्य किसी को परमेष्ठी क्यों नहीं कहा? तीर्थंकर प्रभु जब तक घर में हैं तब तक उन्हें परमेष्ठी क्यों नहीं कहा? क्योंकि वे अभी यथाजात दिगम्बर अवस्था से युक्त नहीं हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों से युक्त नहीं हैं। वे नियम से सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यग्ज्ञानी भी हैं फिर भी उन्हें मोक्षमार्गी क्यों नहीं कहा? क्योंकि जब तक सम्यक्चारित्र नहीं होता है तब तक मोक्षमार्गी नहीं बन सकते। सम्यग्दृष्टि भविष्य में मोक्षमार्गी होगा, किन्तु वर्तमानकाल में असंयत सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्गी नहीं कह सकते। तो आप्त का पहला नाम दिया 'परमेष्ठी'। यथाजात दिगम्बर अवस्था से युक्त, रत्नत्रय से सुशोभित आत्मा ही परम पद में स्थित होने में, परम पद को स्पर्श करने में समर्थ होती है। वस्त्रधारी, परिग्रहधारी, कषाय आदि से संयुक्त आत्मा परम पद का स्पर्श नहीं कर सकती। अनंतानुबंधी आदि कषाएँ इतनी निकृष्ट हैं कि इनके उदय रहते हुए या अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान के उदय रहते हुए परम पद को स्पर्श भी नहीं किया जा सकता।

अगला नाम दिया **''परमज्योतिः''**। महानुभाव! एक ज्योति होती है नेत्रज्योति, दूसरी होती है ज्योतिर्विमानों के माध्यम से निकलने वाली किरणें, तीसरी ज्योति होती है अग्नि की ज्योति, अगली ज्योति होती है शब्द ज्योति जब कोई व्यक्ति आँख बंद करके किसी का चिंतन कर रहा है, ध्यान लगा रहा है, अतीत का स्मरण कर रहा हो तो उसका चित्र ज्यों की त्यों हूबहु उसे दिखाई दे रहा है। किस ज्योति में? शब्द ज्योति में। वह इस प्रकार शब्दों का उच्चारण करते हुए कि जिनेन्द्र भगवान् वीतरागी होते हैं, इस प्रकार का समवसरण होता है, अष्टप्रातिहार्य, अष्ट मंगल द्रव्य होते हैं इतने शब्दों का चिंतन करते-करते वह शब्द की ज्योति में भी उन

दृश्यों को देखने में समर्थ होता है। अगली ज्योति होती है ज्ञानज्योति। जिसमें शब्दों का भी आलम्बन नहीं लिया अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान। यह ज्ञान की ज्योति जिसके पास होती है तब बाहर के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है, पुस्तक, अध्यापक आदि की आवश्यकता नहीं है, प्रत्यक्ष ज्ञान वाले महानुभाव उस आत्म ज्योति से जानने में समर्थ होते हैं। आगे एक ज्योति होती है 'आत्म ज्योति। आत्मज्योति व ज्ञानज्योति में अवयव-अवयवी की अपेक्षा से भेद है तो दूसरी अपेक्षा से गुण-गुणी से कभी अलग नहीं होते इस अपेक्षा से कहेंगे तो दोनों अभेद हैं। ज्ञान आत्मा का एक गुण है, अंश है, अवयव है। आत्मा गुणी है, अवयवी है और ज्ञानी है। उस आत्म ज्योति से साक्षात्कार करने वाले अरिहंत व सिद्धपरमेष्ठी अपनी आत्मा की अनंत गुणों की ज्योति में, अपने आत्मा के स्वभाव रूप अनंत आनंद को भोगने वाले होते हैं। यह दूसरा लक्षण दिया।

तीसरा नाम दिया **'विरागो'। विगत-रागः इति विरागः'** जिसका राग बीत गया है। विगतराग से यहाँ वीतराग को भी ग्रहण किया जा सकता है। वीतराग के बिना स्वभाव को जानने में कोई समर्थ नहीं है। इसीलिए कहा जिसका राग चला गया है वह विगतराग है **''चित्ते ण किं चि वि रायो सो वीयरायो''** जिस चित्त में किञ्चित् भी राग नहीं रहता है वह ही वीतरागी है। विराग शब्द का अर्थ राग का विरलन होना भी सिद्ध होता है किन्तु यहाँ पर आप्त के पर्यायवाची नाम में विराग शब्द को लिया। 'विनष्ट रागः' जिसका राग विनष्ट हो गया हो। ऐसे विनष्ट रागी आप्त कहलाते हैं।

आगे कहा–**'विमलः', 'विगतमलः या विनष्टमलः इति विमलः'** वे आप्त भगवान् मल रहित हैं।**''विनष्टो मलो यस्य स विमलः।''** इस व्युत्पत्ति के अनुसार मल द्रव्यकर्म को कहते हैं और राग भावकर्म को। जिन रागादि भाव कर्मों के निमित्त से पुद्गल कर्मों का पुंज रूप पुद्गल वर्गणाएँ आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त होती हैं वे द्रव्य कर्ममल कहलाते हैं। केवली भगवान् के अर्हंत अवस्था में यद्यपि पूर्ण द्रव्यकर्म नष्ट नहीं होते हैं तथापि आत्म परिणामों को विकृत करने वाले घातिया कर्म रूप, द्रव्यकर्म रूप मल का नाश होने से आप्त विमल कहलाते हैं। उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्मरूप मल को नष्ट कर दिया है। सर्वप्रथम मोहनीय कर्ममल को नष्ट किया पुनः ज्ञानावरण, दर्शनावरण को नष्ट किया पुनः अंतराय कर्म को नष्ट किया। ये चारों घातिया कर्म मल की तरह से हैं, कलंक की तरह से हैं, किट्टकालिमा की तरह से हैं, पंक की तरह से हैं। आचार्यों ने इसके लिए कई शब्द प्रयोग किए। अतः वे आप्त चार घातिया कर्मों से रहित होते हैं इसलिए विमल कह दिया।

आगे कहा **'कृती'**, कृती का अर्थ होता है कुशल। **''कुसला अज्जंति साफल्लं किर्त्तिं च'**–कुशलजन सफलता और कीर्ति अर्जित करते हैं, वे किसी का अहित नहीं करते। अरिहंत भगवान् से कुशल और कौन होगा। उन्होंने अपनी कुशलता से अनंतचतुष्टय को प्राप्त कर लिया है, कुशल हैं इसीलिए उन्होंने जो करने योग्य कार्य हैं उन्हें कर लिया। **'कृतं कृत्यं येन स कृती'** जो सम्पूर्ण हेयोपादेय तत्त्व में विवेक सम्पन्न है वा प्रशंसनीय महापुण्यात्मा है वह कृती है। ऐसे परम आप्त भगवान् परम गुणी कुछ भी उनके करना शेष नहीं है अतः कृती कहलाते हैं। कृती शब्द का आशय कृतकृत्य भी होता है, जो कर चुका। संसार से पार होने के लिए जो पुरुषार्थ उन्हें करना था वह सम्पूर्ण पुरुषार्थ वे कर चुके इसलिए यह 'कृती' नाम सार्थक है।

आगे कहा–**'सर्वज्ञ'** अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान को धारण करने वाले।

यः सर्वाणि चराचराणि विधि-वद्, द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूत-भावि-भवितः सर्वान् सदा सर्वदा।
जानीते युगपत्-प्रतिक्षण-मतः सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥

जो सम्पूर्ण चेतन व अचेतन स्वरूपानुसार उनकी द्रव्यों को और उनके समस्त गुणों को, भूत-भावी और वर्तमान सम्पूर्ण पर्यायों को हमेशा, सर्वकाल में, प्रतिसमय में एक साथ जानते हैं इसलिए वे 'सर्वज्ञ' कहे जाते हैं। उन सर्वज्ञ जिनेश्वर पूज्य महावीर भगवान् के लिए नमस्कार हो। अगला नाम कहा **'अनादिमध्यअन्तः'** जो आप्त भगवान् हैं उनका कोई आदि नहीं, जब आदि नहीं तो अन्त भी नहीं, मध्य भी नहीं। अगला नाम कहा–**'सार्वः'** जो सब जीवों का हित करने वाले हों और शास्ता जो हितोपदेशी हो। इस प्रकार यह आप्त के पर्यायवाची नाम हैं।

इन पर्यायवाची नामों की स्तुति करते हुए एवं शास्ता के स्वरूप को कहते हुए आचार्य महोदय इस कारिका को यहीं विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वीतरागी के हितोपदेशपने का समर्थन

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥8॥

अन्वयार्थ–शास्ता – हितोपदेशी देव, **अनात्मार्थं** – स्वार्थ रहित, **रागैःविना** – रागादि भावों के बिना, **सतः हितं** – सज्जनों के हित के लिए मोक्षमार्ग का, **शास्ति** – उपदेश करते हैं, **यथा** – जैसे, **शिल्पिकरस्पर्शात्** – बजाने वाले के हाथ के स्पर्श होने से, **ध्वनन्** – शब्द करता हुआ, **मुरजः** – मृदंग, **किं अपेक्षते** – क्या किसी की अपेक्षा करता है किन्तु कुछ भी अपेक्षा नहीं करता है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के माध्यम से हम श्रावकों की आचार संहिता का अवलोकन कर रहे हैं जिसमें आचार्य महोदय 8वीं कारिका के माध्यम से हितोपदेशिता के बारे में बता रहे हैं।

अपनी आत्मा का अहित करने वाला व्यक्ति किसी न किसी रूप में पर का भी अहित करता है। अपनी आत्मा का हित करने वाला व्यक्ति नियम से किसी रूप में दूसरे का भी हित करता है। हित भी अपनी आत्मा का अकेले नहीं किया जा सकता और अहित भी अपनी आत्मा का अकेले नहीं किया जा सकता। हित करने वाली आत्मा जब अपनी आत्मा का हित करती है तब उसके अन्तरंग से निःसृत होने वाली शुभ्र वर्गणाएँ वहाँ के परिवेश को भी शुद्ध बनाती हैं, जिस परिवेश को प्राप्त करके अन्य व्यक्ति अपने चित्त को निर्मल बनाने में, परिणामों को धवल व विशुद्ध बनाने में समर्थ हो जाते हैं, वह परिवेश उनके लिए निमित्त कारण बन जाता है। अपनी आत्मा का अहित अथवा घात करने वाले व्यक्ति के अन्तरंग में से निःसृत होने वाली वर्गणाएँ वहाँ के वातावरण को, परिवेश को दूषित कर देती हैं। प्रशान्त मन वाला व्यक्ति भी उस परिवेश में आता है तो उसका चित्त भी दोषीक, पङ्किल हो जाता है। यदि वातावरण शुद्ध हो तो परिणाम शुद्ध होने लगते हैं यथा–जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण में अष्टम भूमि पर बारह सभा में जो व्यक्ति पहुँच जाता है उसके परिणाम क्रूर नहीं रहते, वहाँ का प्रभाव है कि वहाँ पहुँचकर के व्यक्ति के मिथ्यात्व का उदय नहीं आता, वहाँ रहते–रहते कोई असाध्य रोग नहीं होते यहाँ तक कि वहाँ छींक और जम्हाई भी नहीं आती।

महानुभाव! प्रभाव पड़ता है, जहाँ केवली भगवान् अपना हित कर रहे हैं उनके माध्यम से शब्द बोले बिना भी भव्य जीवों का हित हो रहा है। यदि तीर्थंकर प्रभु हैं तो उनकी दिव्यध्वनि

नियम से खिरती है। वर्ष पृथक्त्व अर्थात् 3 वर्ष से 9 वर्ष तक इतना समय तो जघन्य काल उनकी दिव्य ध्वनि का है। अधिक से अधिक 8 वर्ष कुछ अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व तक भी तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि खिर सकती है। तो यहाँ बताया जो तीर्थंकर प्रभु होते हैं वह नियम से वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी होते हैं। सामान्य साधक वीतरागता की ओर बढ़ते हुए होते हैं और विरागता से युक्त होते हैं, सर्वज्ञता की ओर बढ़ते हुए होते हैं किन्तु सम्यग्ज्ञान से युक्त होते हैं और हितोपदेशी तो होते हैं किन्तु उनके चित्त में थोड़ी कांक्षा हो सकती है। वीतरागी के चित्त में कोई कांक्षा नहीं होती जिस प्रकार से उभयहित होता है वे करते हैं उदाहरण के रूप में देखें व्यक्ति स्वयं का जीवन जीने के लिए श्वांस लेता है और यदि वह श्वांस अकेला लेता ही लेता रहे तो सुचिरकाल तक जी नहीं सकता। उसे निःश्वास करना भी जरूरी होता है। प्राण वायु ग्रहण करता है तो अपानवायु या कार्बनडाई ऑक्साइड छोड़ता भी है। वह निःश्वास क्रिया वृक्षों आदि के लिए उपयोगी है, इससे उनका हित हो रहा है। वृक्ष ने ऑक्सीजन छोड़ी CO_2 ली, मनुष्य ने O_2 ली CO_2 छोड़ी।

साधक स्वपर हितैषी होते हैं। आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने कहा कि वे लोकपाल होते हैं। भगवान् महावीर स्वामी ने कहा 'जियो और जीने दो'। साधक स्वयं समता से जीते हैं एवं दूसरों के जीने में बाधक नहीं बनते हैं। साधक वही है जो दूसरों के जीवन में बाधक नहीं बने। स्वयं अपने जीवन को सहजता में जिये और दूसरों के सहज जीवन के लिए निमित्त बने।

हितोपदेशी की व्याख्या करते हुए आचार्य महोदय स्वयं शब्द के माध्यम से अपने भावों को प्रेषित कर रहे हैं। जो जिनोपदिष्ट हैं, पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा अवलोकित, मान्य और अनुभावित हैं उन शब्दों को यहाँ कह रहे हैं।

आत्मार्थ और अनात्मार्थ ये दो शब्द अलग-अलग हैं। आत्मार्थं अर्थात् आत्मप्रयोजन से। आप लोग तपस्या करते हैं क्यों? आत्मार्थं, स्वात्मोपलब्धि निमित्तं, कल्याणार्थं, शिवार्थं, मुक्त्यर्थं। क्रिया करने का कोई न कोई प्रयोजन होता है किन्तु केवली भगवान् की क्रिया ठहरना, विहार करना, दिव्यध्वनि का खिरना इसमें उनका कोई प्रयोजन नहीं, वह अनात्मार्थं सहज में ही निश्चित क्रिया होती है। ये क्रियाएँ औदयिक भाव हैं। उनके पास क्षायिक ज्ञान होने के बावजूद भी क्रियाएँ औदयिक भाव हैं, वचन की, मन की प्रवृत्ति द्रव्य मन ही सही ये मन-वचन-काय की प्रवृत्ति औदयिक भावों से ही होती है।

नव क्षायिक लब्धियाँ होती हैं किन्तु प्रवृत्ति रूप औदयिक होती हैं। किन्तु इसके बावजूद भी केवली भगवान् उन क्रियाओं से कोई प्रयोजन नहीं है। भगवान् की दिव्यध्वनि सहज में

खिरती है वे बुद्धिपूर्वक नहीं खिराते क्योंकि बुद्धि उनके पास नहीं है। बुद्धि तो क्षयोपशम का नाम है उनके पास तो ज्ञानावरण कर्म का क्षय कर क्षायिक भाव प्रगट हो गया। उनकी बुद्धि को मति बुद्धि न कहकर अनंतज्ञान और सर्वज्ञता कहा जा सकता है। आगे कहा–'विना रागैः' राग के बिना। कौन सा राग नहीं है? क्या संगीत में आने वाला राग? सुरताल? ये सब राग से पढ़ना भी राग है और राग से सुनना भी राग है किन्तु राग को नष्ट करने के लिए पढ़ना, राग को नष्ट करने के लिए सुनना, राग को विराग में बदलना, राग को वीतरागता का हेतु बनाना वह उपादेय है छद्मस्थों के लिए। जिनेन्द्र भगवान् में कोई राग नहीं है। विषय-कषायों का राग नहीं, पापानुराग नहीं, धर्मानुराग नहीं, गुणानुराग नहीं, प्रेमानुराग नहीं, धनवैभव का राग नहीं, देह का राग नहीं। अब संसार के प्रति कोई अनुराग नहीं। अरे! किसी प्रकार का राग तो होगा? क्योंकि भव्यों के कल्याण के लिए दिव्यध्वनि निःसृत होती है, असमय में भी खिर जाती है तो कहीं न कहीं भव्यों के प्रति, सज्जनों के प्रति राग होगा? आचार्य शुभचन्द्र स्वामी जी ने ज्ञानार्णव में लिखा है–

प्रबोधाय विवेकाय, हिताय प्रशमाय च।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय, सतां सूक्ति प्रवर्तते॥

सज्जनों के वचनों की प्रवृत्ति जब भी होती है प्रबोध के लिए, विवेक के लिए, हित के लिए, प्रशम के लिए होती है वे सम्यक्तत्त्वोपदेश देते हैं। क्योंकि साधु अभी वीतरागी नहीं हैं, उनके धर्मानुराग संभव है, उनमें वात्सल्य भाव संभव है। तो वीतरागी भगवान् के भी यह प्रयोजन हो सकते हैं क्या? नहीं हो सकते, जिनेन्द्र भगवान् समस्त रागों से अतीत हो गए हैं। मोहनीय कर्म ही पूरा नष्ट कर दिया, इसलिए वहाँ किसी भी प्रकार का किंचित् भी राग नहीं है। आगे कहा–**'शास्ता'**–वे जिनेन्द्र प्रभु शास्ता हैं, उपदिष्टा हैं, हितोपदेशी हैं उनका यह नाम सार्थक है। शासित जनों के लिए जो उपदेश देता है वह शास्ता है। शास्ता के माध्यम से ही भव्य जीवों को शास्त्र प्राप्त होता है। एक शासक होता है जो शासन करता है या जिसका शासन होता है और एक शासित होता है जो उनके शासन या अनुशासन में रहता है। जब जिनेन्द्र भगवान् का शासन प्रवर्तमान हो किन्तु उनकी उस समय अनुपस्थिति हो और उनका अनुकरण करने वाले उनके शासन वा आज्ञा को कदाचित् भूल जाएँ तब फिर शास्ता के वचन, उनके उपदेशों को वह ग्रहण करता है और सम्यक् मार्ग पर गतिमान होता है।

सज्जन शास्त्रों का पठन कर परोक्ष में उन शास्ता की आज्ञा का पालन करते हैं, शास्ता द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पालन करते हैं, तो सज्जन के लिए बात कही जाती है। सज्जन वह

है जो सत्य को स्वीकार करना चाहता है, आत्महित करना चाहता है। जिसे आत्मबोध हो जाता है वही सज्जन है। सत्अस्तित्व के बोध से जो रहित है वह असज्जन है, दुर्जन है। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी जी ने 'सतां' शब्द कहा, आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने वृहद्स्वयंभू स्तोत्र में अनेकों जगह 'सतां' शब्द का प्रयोग किया। आचार्य भगवन् 'सतां' शब्द को उचित मानते हैं। अजितनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए भी कहा–

अद्यापि यस्याजितशासनस्य, सतां प्रणेतु प्रतिमङ्गलार्थं।

''आज भी जिन अजितनाथ भगवान् का यश सज्जनों के लिए, जो उन्हें प्रणाम करते हैं उनके लिए मंगल करने वाला है। आचार्य महोदय ने ऋषभदेव भगवान् की स्तुति में, संभवनाथ भगवान् की स्तुति में अन्य-अन्य तीर्थंकरों की स्तुति में 'सतां' शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य भगवन् मानतुंग स्वामी जी ने भी भक्तामर स्तोत्र के 8वें काव्य में 'सतां' शब्द का प्रयोग किया।

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी दलेषु, मुक्ताफल-द्युतिमुपैति ननूद-बिंदुः॥

जैसे जल की बिंदु सूर्य की किरण के संयोग से कमलपत्र पर मुक्ताफल की शोभा को प्राप्त करती है, ऐसे ही आपका स्तोत्र है इसलिए यह मेरे द्वारा कहा जाता है। यह स्तुतिपरक शब्द मेरे द्वारा निःसृत हो रहे हैं तो वे शब्द सज्जनों के लिए अच्छे लगेंगे। क्यों लगेंगे? क्योंकि वो मैं आपके संबंध में कह रहा हूँ। जैसे किसी व्यक्ति का मन थोड़ा खराब हो रहा हो, किसी काम में मन नहीं लग रहा हो, उसे अपने इष्ट की याद आ रही हो, वह उदास बैठा हो, उस समय उसके इष्ट की चर्चा भी प्रारंभ कर दी जाए तो वह उसे बड़ा मन लगाकर के सुनता है। संसारी प्राणी जिसे चाहता है उसे उसकी चर्चा भी अच्छी लगती है। एक प्रेयसी का पत्र किसी प्रेमी के पास पहुँचता है तो उसे वह पत्र, पत्र नहीं दिखाई पड़ता उसे पत्र के हर अक्षर-शब्द में अपनी प्रेयसी का चित्र दिखाई देता है। ऐसे ही किसी भक्त के लिए अपने भगवान् से संबंधित कोई वार्ता सुनने को मिलती है तो वह एकाग्रचित्त होकर के सुनता है और उन शब्दों को सुनते-सुनते, जीवन चरित्र को सुनते-सुनते उनका रूप निहारता है, उनकी छवि नेत्रों में झलक जाती है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि अरिहंत देव ख्याति, पूजा, लाभ आदि किसी प्रयोजन के बिना सज्जन पुरुषों का उपकार करने के लिए भव्यों को हित का उपदेश देते हैं। भगवन्! आपके निमित्त से कहे गए शब्द भी सज्जनों को अच्छे लगेंगे, सज्जन वही है

जो आपको चाहते हैं। सतः अर्थात् सत् वही है जो अविपरीत बुद्धि वाला है, भव्य है, सुनकर उपदेश को धारण करने में समर्थ है। वही प्रशंसनीय श्रोता भी कहलाता है। जो सत् को नहीं चाहता वह सज्जन नहीं। आचार्य भगवन् ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा–

अष्टावनिष्टदुस्तर-दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥74॥

जिन सज्जन मानवों ने पाप के आयतन मद्य, माँस, मधु और पाँच उदम्बर फल का त्याग कर दिया है वे ही जिनधर्म के सुनने के पात्र होते हैं। आचार्य महोदय समंतभद्रस्वामी जी ने 'सतः' शब्द से श्रोता कैसा होना चाहिए उसे सूचित करते हुए कहा कि जिसको हित का उपदेश दिया जाता है वही सज्जन है, श्रोता है। इस श्लोक के माध्यम से आचार्य महोदय ने तीन बातें प्रगट की 'शास्ता' यानि हितोपदेशी उन आप्त का लक्षण कहा, क्योंकि जो ख्याति, पूजा, लाभ की चाह से सहित होगा वह रागी-द्वेषी होगा वह कभी हित का उपदेश नहीं दे सकता। इसलिए हितोपदेशी के अनात्मार्थं और विनारागैः ये दो विशेषण दिए। पुनः कहा सतां अर्थात् श्रोता का लक्षण कहा कि श्रोता वह है जिसको हित का उपदेश दिया जाता है। और तीसरी बात कही 'शास्ति' अर्थात् हितोपदेश का लक्षण कहा जिस उपदेश में आत्मा के हित का, स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति के साधन का कथन है वही सच्चा उपदेश कहलाता है। **'न च हितोपदेशादपरः परमार्थिकःपरार्थः'** हितोपदेश के बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है। इसीलिए जिनके राग-द्वेष नहीं, जो वीतरागी हैं, जिन्हें ख्याति-पूजा-लाभ की इच्छा नहीं ऐसे सर्वज्ञ देव ही हितोपदिष्टा हैं।

यहाँ कहा **'शास्ता शास्ति सतो हितम्'**। आपके उपदेश के माध्यम से सज्जनों का हित होता है, आप करते नहीं। ऐसा कैसे हो सकता है कि आप करते नहीं फिर भी सबका हित होता है। सूर्य का उदय प्रातः काल होता है, सूर्य पुष्पों से कहता नहीं कि तुम खिलो, पक्षियों से कहता नहीं कि चहको, किन्तु फिर भी चर और अचर जीव-जंतु-पादप आदि भी आनंद का अनुभव करते हैं। सूर्य का प्रकाश होते ही वातावरण में एक नया उत्साह आता है। यह आनंद सूर्य ने दिया नहीं किन्तु लेने वालों ने ले लिया। अग्नि ने आकर के अंधकार से युद्ध नहीं किया, भागो, किन्तु अग्नि की उपस्थिति ही अंधकार को भगाने में समर्थ होती है; ऐसे ही सज्जन व्यक्तियों को तीर्थंकर प्रभु का सान्निध्य मिल जाए, उनकी संगति भी भव्य जीवों के अज्ञान, मिथ्यात्व और असंयम के अंधकार को दूर करने में समर्थ होती है।

जो व्यक्ति ये कहते हैं कि हमारे वीतरागी भगवान् कुछ देते नहीं व कुछ लेते नहीं, ये वाक्य आगम का वाक्य नहीं है, विद्वानों का वाक्य है। समंतभद्रस्वामी का यहाँ भाव है कि

'ध्नन्शिल्पिकरस्पर्शान् मुरजः किमपेक्षते' मृदंग बजाने वाले के हाथ का स्पर्श पाते ही ध्वनि निकलती है किन्तु वह मृदंग कोई अपेक्षा नहीं रखता ऐसे ही भगवान् कोई अपेक्षा नहीं रखते।

इसी प्रकार उन भगवान् का उस उपदेश में कोई भी निजी प्रयोजन नहीं रहता मात्र परोपकार के लिए उनकी उपदेश में प्रवृत्ति होती है। जैसा कि कहा गया है **''परोपकाराय सतां हि चेष्टितम्''** अर्थात् परोकार के लिए ही सत्पुरुषों की चेष्टा होती है। जो व्यक्ति शंका करते हैं कि बिना राग के उपदेश कैसे हो सकता है उन सभी संशयों को दूर करने के लिए आचार्य महोदय ने श्लोक के उत्तरार्द्ध में दृष्टांत देकर समझाया है क्योंकि **'दृष्टान्ते स्फुटायमति'** दृष्टान्त से मति स्फुटित होती है अर्थात् तत्त्व शीघ्र समझ में आ जाता है। इसीलिए कहा कि मृदंग बजाने वाले के हाथ के स्पर्श से ध्वनि करने वाला वादित्र जिस प्रकार कुछ इच्छा नहीं रखता, उसे किसी ख्याति-पूजा की चाह नहीं वह तो परोपकार के लिए नाना प्रकार के शब्द करता है उसी प्रकार वीतराग शास्ता भव्यों के पुण्य का निमित्त पाकर बिना इच्छा व बिना प्रयोजन हित का उपदेश देते हैं, उनकी भी परोपकार रूप दिव्यध्वनि खिरती है। उसी दिव्यध्वनि के आधार पर गणधरदेव शास्त्रों की रचना करते हैं। अतः मूलकर्त्ता के रूप में आगम के रचयिता आप्त भगवान् माने जाते हैं। इस प्रकार इस 8वें श्लोक में वीतरागी भगवान् के हितोपदेशीपने का समर्थन करने वाला यह श्लोक कहा गया।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

आगम का लक्षण

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य, मदृष्टेष्ट - विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रम् कापथघट्टनम्॥9॥

अन्वयार्थ–जो **आप्तोपज्ञं** – सच्चे देव का कहा हुआ हो, **अनुल्लंघ्यं** – वादी-प्रतिवादी द्वारा खण्डन करने में न आवे, **अदृष्टेष्ट-विरोधकम्** – प्रत्यक्ष-अनुमान आदि से विरोध को प्राप्त न हो, **तत्त्वोपदेशकृत्** – वस्तुस्वरूप का उपदेश करने वाला हो, **सार्वं** – सब जीवों का हितकारक हो, **कापथघट्टनम्** – मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाला हो, वही **शास्त्रं** – सच्चा शास्त्र है।

व्याख्यान–रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में कारिका नंबर नौ में परमार्थभूत शास्त्र का लक्षण बताया है। लक्षण के बिना लक्ष्य की पहचान नहीं होती। लक्षण ऐसा हो जो अतिव्याप्ति दोष से दूषित न हो, अव्याप्ति दोष से दूषित न हो, जो असंभव दोष से भी दूषित न हो, निर्दोष लक्षण हो, वह लक्षण ही समर्थ लक्षण होता है अपने लक्ष्य का परिज्ञान कराने में। यदि कोई लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति या असंभव दोष से दूषित हो तो वह लक्षण सम्यक् नहीं होता और उससे उस वस्तु का समीचीन परिज्ञान नहीं होता। शास्त्र परमार्थभूत कौन से हैं? जो भव्य जीवों के परम प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हों, जो हित करने में समर्थ हों, अहित का परिहार करने में समर्थ हों, जिनके माध्यम से दिव्य ज्योति की प्राप्ति हो। ज्ञान वही है जो सभी प्रकार के अंधकारों का अपहारक बने, जो अंधकारों का अपहारक नहीं हो सकता वह प्रकाश नहीं हो सकता। शास्त्र को प्रज्ज्वलित दीपक की उपमा भी दी जा सकती है।

इस कारिका में आचार्य भगवन् ने शास्त्र की विशेषता बताई–समीचीन शास्त्र वह है जो शास्ता के द्वारा उपदिष्ट हो। उत्कृष्ट शास्ता होते हैं धर्मप्रवर्तक तीर्थंकर केवली। 'आप्त' जो अनंतचतुष्टय से युक्त, नव केवललब्धि से युक्त अथवा जिन्होंने आत्मा के स्वभाव को प्राप्त किया है वे आप्त हैं। वे आप्त परमेष्ठी अपनी आत्मा में रहते हुए, अपनी आत्मा के वैभव को प्राप्त करके उस वैभव को प्राप्त करने की विधि का जब प्रतिपादन करते हैं तब नि:संदेह वह विधि प्रमाणिक होती है।

प्रमाणिक शास्त्र वो हैं जो प्रमाणिक वक्ता के द्वारा कथित हों। वक्ता अप्रमाणित हो जाता है तो शास्त्र भी अप्रमाणिक हो जाते हैं। **''वक्ता प्रामाण्यात् वाक्यं प्रमाणं''** वक्ता की

प्रमाणिकता से वाक्यों में प्रमाणिकता आती है। सर्वज्ञ देव, वीतरागी, हितोपदेशी तीर्थंकर केवली आप्त हैं–अतः कहा 'आप्तोपज्ञ''। आप्त उस ज्ञान के समीप हैं, सम्पूर्ण ज्ञान उनकी आत्मा में है, ऐसी आत्मा से निःसृत होने वाला ज्ञान ही परमार्थभूत यथार्थ शास्त्र हो सकता है, वही सम्यग्ज्ञान का कारण हो सकता है।

''आप्तेन क्षीण-दोषेण, प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीतं आगमो भवति न सर्वः'' जो रागादि दोषों से रहित हैं ऐसे प्रत्यक्षज्ञानी (केवलज्ञानी) के द्वारा प्रणीत आगम ही आगम है। रागी-द्वेषी के द्वारा कथित आगम नहीं होता क्योंकि रागी-द्वेषी के द्वारा कथित शास्त्र पूर्वापर विरोध रहित नहीं होता इसलिए आप्त वचन ही आगम है। आप्तोपज्ञ इस विशेषण के द्वारा उन मिथ्यामतों का, एकान्तवाद का निरासन हो जाता है क्योंकि न तो उनका मूल वक्ता आप्त है और न कोई कथन सर्वथा सत्य इसीलिए यहाँ आप्तोपज्ञ कहने से आगम की स्वतः प्रमाणिकता व्यक्त हो जाती है और यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिनोक्त विषय में सर्वथा प्रामाण्य का श्रद्धान् रखता है।

सूक्ष्मम् जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धिं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनोजिनाः॥ (आदि पुराण)

यदि उसके समझ में कोई आगम की बात नहीं आती तो भी उसको बिना प्रमाण ही मानता है। क्योंकि समझता है कि विषयसूक्ष्म है, मेरी बुद्धि अल्प है, जिनेन्द्र भगवान् सर्वज्ञ और वीतरागी हैं, वे अन्यथा प्रतिपादन कर नहीं सकते। इसलिए सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु ही आगम के उपज्ञ हैं।

विगत कारिका में देखा था कि तीर्थंकर प्रभु की दिव्यध्वनि बिना राग के निःसृत होती है, उदाहरण देकर समझाया भी था। ऐसे ही आप्त के सर्वांग से ध्वनि निःसृत होती है। जिस प्रकार मृदंग को कोई अपेक्षा नहीं है ऐसे ही केवली भगवान् को कोई अपेक्षा नहीं है। मृदंग उस शिल्पी के करस्पर्श से ध्वनि निःसृत करता है, उसी प्रकार केवली भगवान् की दिव्यध्वनि भी भव्य जीवों के निमित्त से निःसृत होती है।

यदि समवसरण में योग्य श्रोता अथवा गणधर आदि न हों तो दिव्यध्वनि जिसे आगम का अंश कहते हैं वह निःसृत न होगी। आगम तीन शब्दों से मिलकर बना है–आ + ग + म अर्थात् जो आप्त द्वारा कथित, गणधर द्वारा संग्रहित व मुनियों द्वारा विरचित है। तो आप्त द्वारा प्रणीत अर्थात् आप्त रूपी हिमालय पर्वत से गंगा नदी की तरह से जो निकली है, जो भव्यजनों

के चित्त को तृप्त करने वाली है उस जिनवाणी रूपी गंगा में ज्ञानीजन आनंद अनुभव करते हैं। जैसे गंगा नदी से छिड़ककर दूर जाने वाला गंदा जल या मिट्टी में पड़ा गंदा जल अथवा कीचड़ आदि में तो मेंढक, कच्छप, बगुलादि मछली खाने के इच्छुक जीव ही उस गंदे जल में जाते हैं। राजहंस पक्षी तो शुद्ध जल में कलरव करते हैं, आनंद लेते हैं। ऐसे ही भगवान् की सम्यक्वाणी है, ऋषि, मुनि, यति, अनगार, श्रावक-श्राविका, आर्यिका, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा ही उस जिनवाणी में अवगाहन करते हैं। जिनवाणी उनके लिए अमृतभूत है।

भगवान् की वाणी कैसी है, आगम कैसा होता है? तो कहा–'अनुल्लंघ्य' वह किसी के द्वारा उल्लंघन करने के योग्य नहीं। कोई भी एकांतवादी उस वाणी का उल्लंघन करना चाहे तो उल्लंघन नहीं कर सकता। वह जिनवाणी बहुत उत्कृष्ट है। उसे बांधने में कोई समर्थ नहीं क्योंकि वह केवली-सर्वज्ञ की वाणी है, उसके पार कौन जा सकता है। यह श्रुत रूप समुद्र इतना विशाल और अगाध है जिसे लांघना असंभव है। छद्मस्थ व्यक्ति जब तक छद्मस्थ है तब तक उसको लांघ नहीं सकता और जब वह लांघने में समर्थ होता है तब केवलज्ञानी बन जाता है। इसीलिए आचार्य महोदय ने शास्त्र का द्वितीय लक्षण घटित करते हुए कहा वह अनुल्लंघ्य है। इन्द्रादि के द्वारा आदेय है क्योंकि आप्त द्वारा कहा है, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से अबाधित है और जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से बाधित होता है वह ज्ञानियों द्वारा आदरणीय नहीं होता है।

कोई व्यक्ति कहे कि संसार में सर्वज्ञ केवलज्ञानी तो होते नहीं, तो उससे आचार्य महोदय ने पूछा–कि केवलज्ञानी सर्वज्ञ नहीं होते आप ऐसा किस अपेक्षा से कह रहे हैं? यदि आप ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ/आप्त भगवान् अभी इस वर्तमानकाल में नहीं हैं, इस समय यहाँ पर नहीं हैं तो ठीक है, हमें भी यह बात इष्ट है कि सर्वज्ञ भगवान् यहाँ नहीं हैं और इस क्षेत्र में नहीं हैं किंतु कहीं दूसरे क्षेत्र में या कभी भूतकाल में हुए थे या भविष्य में हो सकते हैं, ऐसा मानने में आपको क्या हर्ज है? वह कहता है नहीं, सर्वज्ञ भगवान् न तो यहाँ हैं न वहाँ हैं, कहीं भी नहीं हैं इस पूरे विश्व में कहीं सर्वज्ञ हैं ही नहीं, न आज हैं न कल थे और न भविष्य में हो सकेंगे। तो आचार्य महोदय पूछते हैं तुमने क्या सम्पूर्ण लोक-अलोक को जान लिया? क्या तुमने सम्पूर्ण अतीत-अनागत-वर्तमान काल को जान लिया, जो तुम कहते हो कि सर्वज्ञ कभी अतीत में नहीं हुए, भविष्य में कभी नहीं होंगे। क्या आप तीनों कालों के सम्पूर्ण समय के ज्ञाता हो गए? क्या सम्पूर्ण क्षेत्रों के आप ज्ञाता हो गए? वह कहता है–ऐसा ही मान लो। ठीक है! यदि आप कहते हो कि आपने तीनों लोकों, तीनों कालों के बारे में जान लिया

तो फिर तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो गए। हम यही तो कहना चाहते हैं जो सर्व को जानता है, सम्पूर्ण क्षेत्र व कालों की बात को जानता है वह सर्वज्ञ है। वह कहता है—नहीं-नहीं मैं नहीं जानता। तो यह भी ठीक है यदि नहीं जानते तो मान लो कि सर्वज्ञ होता है। आज नहीं है, यहाँ नहीं है किन्तु कभी था, आगे कभी होगा, किसी दूसरे क्षेत्र में आज भी कहीं है। तो सर्वज्ञ भगवान् त्रिकालदर्शी, सर्वदर्शी होते हैं उनके द्वारा कही हुई बात वे मुख से नहीं सर्वांग से कहते हैं। मागध जाति के देव उसे भाषा रूप परिणमित करते हैं, वह सभी भव्य जीवों को अपनी-अपनी भाषा में समझ में आती है। वे मागध जाति के देव उस ओंकारमय या निरक्षर रूप दिव्यध्वनि को 18 महाभाषाओं में और 700 लघु भाषाओं में परिणत कर देते हैं।

वह दिव्यध्वनि वह शास्त्र कैसा है—'अदृष्टेष्टविरोधकम्' यह शास्त्र प्रत्यक्ष और अनुमान आदि परोक्ष ज्ञानों के द्वारा भी विरोध को प्राप्त नहीं होता। किसी भी युक्ति और तर्क से, किसी भी प्रत्यक्ष उदाहरण से या परोक्ष की बातों से यह कभी भी, किञ्चित् भी, कैसे भी विरोध को प्राप्त नहीं होता। वह आगम आगम नहीं होता जो आगम का विरोधी हो। आगम का विरोध करने वाली बात यदि आप दृढ़ श्रद्धान से मानते हैं तो उसे मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए क्योंकि आपकी बात यदि आगम का विरोध कर रही है तो आप आगमज्ञ नहीं हैं, आगमानुसारी नहीं हैं। आगमानुसारी व्यक्ति चाहे अल्पज्ञानी है या बहुज्ञानी है वह सद्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी ही होता है। तो यहाँ तीसरा विशेषण दिया **'अदृष्टेष्ट -विरोधकम्'** आप्त द्वारा कथित आगम प्रत्यक्ष और अनुमान के विरोध से रहित है। आचार्य भगवन् अमृतचंद्र सूरि जी ने उसी आगम को नमस्कार करते हुए पुरुषार्थसिद्धिय्युपाय में लिखा—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥2॥

जो उत्कृष्ट है, जैन सिद्धान्त का बीज है, मूल है, स्याद्वाद से व्याप्त है, जन्मांध पुरुषों के हस्ति-विधान का निषेध करने वाला है, समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु स्वभाव का विरोध दूर करने वाला है उस उत्कृष्ट अनेकान्त रूप जिनधर्म को, स्याद्वाद को मैं नमस्कार करता हूँ।

यहाँ स्पष्ट यही भाव है कि मिथ्यादृष्टि आदि के द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमानादिक से भी जो आगम खण्डित नहीं हो सकता, ऐसे इस आगम के इष्ट विषय का न तो कोई विरोध कर ही सकता है और न अब तक कोई कर ही सका है। इसीलिए विवेकीजनों को विवेक बुद्धि से कार्य लेना चाहिए। आचार्यों ने लिखा है—

''पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोष संहतेः, द्योतकः सर्वभावाणामाप्त-व्याहृतिरागमः'' आप्त की वाणी रूप जो आगम है वह पूर्वापर विरुद्धादि दोष समूह से रहित है, समस्त पदार्थों का प्रकाशक है तथा दोषों से रहित है।

और शास्त्र कैसा होता है? 'तत्त्वोपदेशकृत' संसार में विद्यमान जितने भी पदार्थ हैं उनका क्या-क्या स्वभाव है, क्या-क्या विभाव है इन सबका कथन करने वाला वह शास्त्र होता है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का शासन ही ऐसा है जो कि वस्तु और उसके स्वरूप का ठीक-ठीक निश्चय करा सकता है। जिनेन्द्र भगवान् के शासन को छोड़कर अन्य जितने भी शासन हैं वे तत्त्व का उपदेश नहीं करते, अतएव उनका विषय और वे स्वयं अतत्त्वरूप ही हैं। तत्त्वों का वर्णन करने वाला, सर्व जीवों का हित करने वाला होने से कुमार्ग का खण्डन करने वाला वह शास्त्र होता है। इस तत्त्वोपदेशकृत विशेषण से आचार्य महोदय ने जिनशासन में निहित सभी द्रव्य, अस्तिकाय, तत्त्व, पदार्थ, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि सर्व पदार्थों का कथन करने वाला वह परमागम का लक्षण कहा कि यह सभी तत्त्वोपदेश जिनशासन से ही प्राप्त हो सकता है और वही उसका अधिकार रखता है।

वह शास्त्र 'सार्व' सर्वहितकारी होता है। जो भी उसे ग्रहण करे उसका हित करने वाला होता है। यह 'सार्वः' अर्थात जिनेन्द्र भगवान् का शासन प्राणीमात्र के हित को सिद्ध करने वाला है, उसकी यह विशेषता ही इस सार्व विशेषण के द्वारा स्पष्ट की गई है। जो जिनेन्द्र प्रभु द्वारा कथित धर्म को धारण कर लें, वे भव्य जीव नियम से अपना हित सिद्ध कर लेते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय तक के जीवों में तो उपदेश को सुनने, ग्रहण या धारण की योग्यता नहीं फिर भी भगवान् के अहिंसात्मक उपदेश के कारण जो तीनों लोकों के जीवों की रक्षा होती है, हो रही है और होती रहेगी, उससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् के उपदेश के कारण ही वे निर्भय हैं और बचे हुए हैं यह उनका कितना महान् हित है।

तीन भुवन में भर रहे, थावर जंगम जीव।
सब मत भक्षक देखिये, रक्षक जैन सदीव॥94॥-भू.श.

महानुभाव! भगवान् की देशना में ही वास्तव में सर्वहितकारिता निहित है।

जैसे औषधि जाति आदि का भेद नहीं करती, रोग का निवारण करती है ऐसे ही शास्त्र का ज्ञान आत्मा में विद्यमान जन्म-जरा-मृत्यु रूपी रोगों का निवारण करने वाला है। **'जिणवयणं परमोसहि'** जिनवचन ही परम औषधि हैं। मेडिकल स्टोर पर गया कोई व्यक्ति दवा लेने के पहले ये नहीं कहता कि मैं ब्राह्मण कुल अथवा यवन आदि हूँ या शुद्ध-अशुद्ध

कुल में पैदा हुआ हूँ, मुझे औषधि दे दो। वहाँ पर कुलों की औषधि नहीं दी जाती वरन् रोगों की औषधि दी जाती है। ऐसे ही आत्मा के रोग को जिसने जान लिया है, और वह उससे मुक्त होना चाहता है तो उसके लिए जिन शास्त्र औषधि की तरह से हैं।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने एक विशेषता और दी **'कापथघट्टनम्'** जो कुत्सित मार्ग का खण्डन करने वाला हो ऐसा वह 'शास्त्रं' शास्त्र कहलाता है। संसार के कारणभूत दु:खरूप मार्ग को पथ कहते हैं। जिनेंद्र भगवान् का शासन इस मिथ्यारूपी दु:खी मार्ग का निरासन करता है। वह जिनशासन सर्वहितकारी होने से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र व हिंसामय धर्मरूप कुमार्ग का विनाशक है। जो शास्त्र आप्त द्वारा कथित न हो, परस्पर विरोध सहित हो, प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण से बाधित हो, तत्त्वोपदेश से रहित हो, सर्वजीवों का अहित करने वाला हो, जीवों को कुमार्ग में प्रवृत्ति कराने वाला हो ऐसा ग्रन्थ आदरणीय कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय ने आप्तकथित आगम का लक्षण बताते हुए उसकी इतनी विशेषताओं का कथन किया।

महानुभाव! शास्त्र स्व-पर हितैषी होते हैं। एक शब्द है 'शस्त्र' जिसके माध्यम से तन की रक्षा की जा सकती है चेतन की नहीं किन्तु शास्त्र के माध्यम से चेतना की रक्षा की जाती है। शस्त्र जब चलाया जाता है तो विधि के अनुसार चलाया जाता है, जैसे ढाल और तलवार होती है, ढाल के माध्यम से स्व की रक्षा तलवार के माध्यम से पर का घात होता है। वही शस्त्र यदि विधि का उल्लंघन करके संचालित किया जाए तो स्वयं के शरीर का भी घात कर देता है। ऐसे ही शास्त्र का यदि उल्लंघन कर दें तो शास्त्र भी घातक बन सकता है। शास्त्र चेतना का रक्षक है, वह एक कवच है जिसे ग्रहण करने से, शास्त्राज्ञा पालन करने से, शास्त्र रूपी वचनों को आवरणित करने से कर्म अपना प्रहार आत्मा पर नहीं कर पाते। और इसके साथ-साथ शास्त्र औषधि भी है वह जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों को दूर करता है। शास्त्र के वचन पौष्टिक तत्त्व भी हैं, जो शास्त्रों के शब्दों का सेवन करता है उससे भावश्रुत ज्ञान प्रकट होता है, आत्मशक्ति जगती है। शास्त्र के माध्यम से व्यक्ति जब समर्थ होता है तब पाप पुंज को प्रक्षालित करने में, पाप कर्म को ध्वस्त करने में, पाप रूपी ईंधन को जलाने में समर्थ हो जाता है।

तो यहाँ पर शास्त्र का जो लक्षण बताया उस शास्त्र का स्वाध्याय करो। शास्त्र का लक्षण यही है जो आप्त द्वारा कथित है। यहाँ-वहाँ की पत्रिकाएँ, अखबार आदि जिसमें किसी की निंदा, किसी की प्रशंसा लिखी है, जो केवल कषायों के पोषण के लिए लिखी हैं या आत्म

प्रशंसा के लिए लिखी हैं ऐसे पत्र-पेपर आदि जो निकलते हैं उनमें धर्मांश नही मिल पाता। धर्म का अंश शास्त्रों में मिलता है, उनके चार वाक्यों को भी पढ़ें तो लगता है जैसे चार अनुयोगों का सार मिल गया हो। चारों अनुयोग आत्मा का चारों प्रकार से हित करने वाले होते हैं। जो खोटे मार्ग का खंडन करे, चित्त में विद्यमान एकांत मिथ्यात्व को दूर करने वाला हो, अज्ञान का अपहरण करने वाला हो वही सम्यक्शास्त्र दीपक की तरह से स्व-पर प्रकाशी, स्व-पर हितैषी होता है। ऐसे शास्त्र की आराधना-उपासना अवश्य करना चाहिए। वह शास्त्र ही श्रद्धान के योग्य है, ग्रहण व आचरण करने के योग्य है। आप सब उसी के अनुसार अपनी सम्यक्प्रवृत्ति बनाने का पुरुषार्थ करें, यही हम आप सभी के प्रति भावना भाते हैं। इन्हीं भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

दिगम्बर साधु का लक्षण

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥10॥

अन्वयार्थ– जो, **विषयाशावशातीतः** – विषयों की आशा के वश से रहित हो, **निरारम्भः** – आरंभ रहित हो, **अपरिग्रहः** – 24 प्रकार के परिग्रह से रहित हो, **ज्ञानध्यानतपोरक्तः** – ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन हो, **सः तपस्वी** – वही तपस्वी गुरु, **प्रशस्यते** – प्रशंसनीय होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में विगत दिवस परमार्थभूत शास्त्र का लक्षण देख रहे थे। जिसके माध्यम से परम अर्थ-उत्कृष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो वही समीचीन शास्त्र है। जो स्वयं समीचीन हो, समीचीनता का उत्पादक हो और समीचीनता में जीने वाले गणधर परमेष्ठी, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी के द्वारा लिपिबद्ध हो वही शास्त्र कहलाता है। अब यहाँ पर सम्यक्त्व के मूलतत्त्व निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप बता रहे हैं। यहाँ निर्ग्रन्थ गुरु का लक्षण न कहकर स्वरूप की बात कह रहे हैं। लक्षण वह होता है जो सर्व लक्ष्य में घटित हो, वह अतिव्याप्ति दोष से दूषित भी न हो, अव्याप्ति दोष से दूषित भी न हो, और असंभव दोष से दूषित भी न हो। किन्तु स्वरूप में समग्र बातें कही जाती हैं। जैसे जीव का लक्षण किया तो ''चेतना लक्षणो जीवाः'' यह किया। उत्तम सुख को लक्षण नहीं बनाया, केवलज्ञान को, केवलदर्शन को लक्षण नहीं बनाया, अमूर्तता को, सिद्धत्व अवस्था या संसारी अवस्था को लक्षण नहीं बनाया। क्योंकि लक्षण ऐसा बनाया जाता है जो उसमें सम्पूर्ण रूप से व्याप्त हो। उसके अतिरिक्त अन्य किसी में व्याप्त न हो, उसके एक हिस्से में भी नहीं और ऐसा भी लक्षण न हो जिसका लक्ष्य में होना असंभव जैसा हो। चेतना लक्षण कहने से जहाँ-जहाँ चेतना पाई जाती है वहाँ-वहाँ जीव पाए जाते हैं वे चाहे संसारी जीव हों या मुक्त जीव हों, जरूरी नहीं है केवलज्ञान सबमें हो, जरूरी नहीं सबमें मति-श्रुत ज्ञान हो, जरूरी नहीं है सब मिथ्यादृष्टि हों या सभी सम्यग्दृष्टि हों। इसलिए जब अपने-अपने पद के अनुसार स्वरूप बताए जाते हैं तब उनके स्वरूप से संबंधित अनेक बातों का समावेश होता है।

आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने धवला पुस्तक-1 में साधु की अनेक विशेषताएँ बताई कि साधु सूर्य से प्रतापी, चंद्रमा से शीतल, बैल जैसे शांत स्वभावी, गजराज जैसे स्वाभिमानी, सर्प की भाँति अपना घर न बनाने वाले, मणिवत् कांतिमान आदि-आदि अनेक विशेषताएँ दीं।

जहाँ सिंह सा पराक्रमी कहा वहीं कच्छप जैसे संयत भी कहा। तो ये सब विशेषताएँ साधु में होना अनिवार्य नहीं है किन्तु किसी साधु में कुछ विशेष है किसी में कुछ। लक्षण जब कहेंगे तो ऐसा लक्षण बनाना पड़ेगा जो सबमें पाया जाएँ अरिहंत भगवान् का स्वरूप बताते समय कहते हैं–जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया, अनंत चतुष्टय से युक्त हैं, नव केवललब्धि, 46 मूलगुणों से युक्त हैं, जिनका समवसरणादि रूप वैभव होता है ऐसा अरिहंत का स्वरूप बताया। यह अरिहंत का स्वरूप है लक्षण नहीं। अरिहंत भगवान् का लक्षण क्या कहेंगे? नियम से अरिहंत भगवान् वे ही हैं जिन्होंने अनंत चतुष्टय को प्राप्त कर लिया। अब यह लक्षण कहीं बाधित नहीं होता। अनंतचतुष्टय को प्राप्त करने वाले अरिहंत हैं, 12वें गुणस्थान में अंनतचतुष्टय नहीं है, 14वें गुणस्थान के बाद अनंतचतुष्टय नहीं है क्योंकि वहाँ 8 स्वाभाविक गुणों को प्रकट कर लिया। इसलिए सयोगकेवली व अयोगकेवली में ये लक्षण घटित हो जाएगा। इसमें अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आएगा और अव्याप्ति एवं असंभव दोष भी नहीं आएगा।

ऐसे ही साधु का लक्षण है जिसमें साधुता हो, जो साधुता के मार्ग पर अग्रसर है। आचार्य दामनंदी जी ने पुराणसार संग्रह में कहा कि जो यथाजात दिगम्बर हैं, जिनका पिच्छी–कमण्डलु चिह्न है, एक बार आहार करते हैं, पग विहार करते हैं व केशलोंच करते हैं वह साधु हैं। ये बातें सभी में घटित हो जाएँगी चाहे कोई भी दिगम्बर आचार्य, उपाध्याय, साधु हों वे 28 मूलगुणों का पालन करें, 34 उत्तरगुणों का पालन करें, यदि वे ये सब पालन कर रहे हैं तो वे आदर्श साधु हैं, नहीं कर पा रहे हैं तो साधु तो हो सकते हैं किन्तु उन्हें आदर्श मत कहो। तो यहाँ पर साधु का लक्षण न कहकर साधु का स्वरूप कह रहे हैं क्योंकि ये स्वरूप सर्वसाधुओं में घटित होना जरूरी नहीं है। पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक आदि साधुओं के जो भेद हैं उन सभी भेदों में ये लक्षण घटे जरूरी नहीं, किन्तु लक्षण वह होता है जो सबमें घटित होना चाहिए। विद्यार्थी कौन? जो LKG, UKG से पढ़ना प्रारंभ कर रहा है वह भी विद्यार्थी है और जिसने PhD भी की हो यदि वह विद्याध्ययन कर रहा है, विद्या का अर्थी है, विद्या का जिज्ञासु है तो वह भी विद्यार्थी है। उसमें यह नहीं कह सकते कि जो प्राथमिक विद्या प्राप्त कर रहा है वह विद्यार्थी है या प्राइमरी वाला विद्यार्थी है या हाईस्कूल वाला विद्यार्थी है अथवा जो यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाला है वह विद्यार्थी है। विद्यार्थी में लक्षण ऐसे घटाना पड़ेगा जो सबमें कॉमन हो। सबमें कॉमन है विद्या का अर्थी। विद्या का अर्थी स्कूल में न पढ़ने वाला भी हो सकता है। विद्या का अर्थी गुरुकुल या घर में पढ़ने वाला भी हो सकता है। तो ऐसे विद्यार्थी

का लक्षण अलग हो गया और विद्यार्थी का स्वरूप अलग हो गया। ऐसे ही किसान का स्वरूप अलग है लक्षण अलग है, युवा का स्वरूप अलग है लक्षण अलग है, और किसी व्यवसायी का, डॉक्टर का, इंजीनियर का, न्यायाधीश का स्वरूप अलग है और लक्षण अलग-अलग हैं।

अग्नि का लक्षण उष्णता है किन्तु उसके स्वरूप में कहेंगे तो वह प्रकाश देने वाली भी है, अंधकार को दूर करने वाली भी है, पाचक भी है तो दोनों में अंतर है। यहाँ पर आचार्य महोदय भी निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप बताते हुए कह रहे हैं कि वह तपस्वी प्रशंसा के योग्य है, पुरस्कार के योग्य है, नामोल्लेख करने के योग्य है, प्रमाणिक है, आदर्श है जो संपूर्ण स्वरूप का पालन करने वाला हो। भारतीय सेना में, जल सेना में, थल सेना में जितने भी सैनिक हैं क्या उन सभी को पुरस्कार दिया जाता है? क्या भारत में जितने भी डॉक्टर हैं उन सभी को पुरस्कार दिया जाता है, क्या स्कूल के सभी विद्यार्थियों को पुरस्कार दिया जाता है, क्या सभी किसान, सभी अभियंता, सभी न्यायाधीश आदि को पुरस्कार दिया जाता है? नहीं, सभी पुरस्कार के योग्य नहीं होते। सम्पूर्ण स्वरूप का पालन करने वाला पुरस्कार के योग्य होगा। किन्तु वह सम्पूर्ण का पालन न करे तो उत्तीर्ण हो सकता है। विद्यार्थी 33% से पास तो हो गया किन्तु पुरस्कार उसे नहीं मिला, पुरस्कार उसे मिला जिसके नम्बर 95% से ऊपर आए। तो क्या जिसके 33% नंबर आए वो अगली कक्षा में नहीं बैठ सकता? बैठ सकता है। ऐसे ही दिगम्बर संत के बारे में लगाना चाहिए। ये दिगम्बर संत पुरस्कार के योग्य हैं, आदर्श-सम्मान के योग्य हैं। भारत सरकार भी जो उपाधि देती है भारत रत्न, चक्ररत्न, परमरत्न आदि उपाधियाँ ये सबको क्यों नहीं देती है, जो उत्कृष्ट हैं, उत्तम से भी उत्तम हैं, परमोत्तम होते हैं उनको देती है।

तो यहाँ कह रहे हैं 'सः तपस्वी प्रशस्यते' वह तपस्वी प्रशंसा के योग्य हैं। किन्तु जिस तपस्वी की प्रशंसा न करें तो क्या वह प्रशंसा के योग्य नहीं हैं? क्या वह साधक नहीं? 28 मूलगुण और 34 उत्तरगुण या 84 लाख उत्तरगुणों का पालन करने वाला तपस्वी ही तपस्वी है क्या? 28 मूलगुण का पालन करने वाला भी तपस्वी है। आज वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं है, वर्तमान काल में जिनकल्पी साधु नहीं हैं, स्थविरकल्पी साधुओं की भावना है। तो यहाँ समंतभद्रस्वामी जी ने साधु का स्वरूप उत्कृष्ट साधु की भावना से कहा। 'विषयाशावशातीतो' जो विषयों की समस्त आशाओं से रहित है।

'जेसु अक्खाणि पवट्टंति ते विसया' जिसमें इन्द्रियाँ प्रवृत्ति करती हैं वे विषय हैं। पाँचों इन्द्रिय रूपी नालियों के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह विषय कहलाते हैं। यहाँ विषय से मतलब पंचेन्द्रियों के प्रति इष्ट-अनिष्ट बुद्धि द्वारा सरागभाव पूर्वक सेव्य या असेव्य समझे जाने

वाले विषयों से है। क्योंकि इंद्रियाँ तो पाँच हैं और उनके द्वारा ग्रहण करने में जो विषय आते हैं वे सामान्य तौर पर कहें तो पाँच ही हैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व स्वर। किन्तु विशेष रूप से कहें तो इनके भेद मिलाकर 8 स्पर्श, 5 रस, 2 गंध, 5 वर्ण व 7 स्वर ऐसे सत्ताईस विषय हो जाते हैं और यदि एक अनिन्द्रिय मन के विषय को भी शामिल किया जाए तो 28 विषय हो जाते हैं। संसारी प्राणी इनमें से जिनको इष्ट समझता है उनका सेवन करना चाहता है और फलतः उन विषयों के सेवन से उसे अन्य-अन्य विषयों की प्राप्त करने की आकांक्षा होती है और यही कहलाता है संसार, वही दुःखों का मूल है, इसीलिए संसारी प्राणी उन विषय जनित दुःखों के पात्र बने हुए हैं। किन्तु इसके विपरीत जिन तपस्वियों ने इन पंचेन्द्रियों के शुभाशुभ विषयों के इष्टानिष्ट की कल्पनाओं को त्यागकर, जो इन विषयाशा रूप कषाय, वासना के अधीन नहीं रहे, बल्कि उन्होंने तो इस आशा को अपने अधीन बना लिया है, वे ही मोक्षमार्गी हैं, वे ही प्रशंसनीय हैं। कहा भी है–

आशाया ये दासाः ते दासाः सन्ति सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासोऽखिलो लोकः॥

जो जीव आशा का दास है तब समझना चाहिए कि वह पूरे संसार का ही दास है जबकि जिसने आशा को अपनी दासी बना लिया तब समझना चाहिए कि पूरी दुनिया ही उसकी दासी है।

महानुभाव! जो भव्य जीव भव भ्रमण से भयभीत होकर उससे सर्वथा मुक्त होना चाहते हैं उनको सबसे पहले विषयों की अधीनता से मुक्त होना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए मोक्षमार्गी को, रत्नत्रयरूप धर्म का पालन करने वाले तपस्वियों को सर्वप्रथम विषयों की आशा के वश नहीं होना चाहिए यह कहा गया है।

पुनः कहा **'निरारंभो'** सर्व प्रकार के आरंभ से रहित। वे सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि इस प्रकार के कार्य नहीं करते। जो संसारी प्राणी विषयों की आशाओं के वशीभूत हैं वे ही उन विषयों के संग्रह के लिए अनेक प्रकार के असि, मसि, कृषि आदि आरंभ में प्रवृत्त होते हैं और उन आरंभ से उन्हें द्रव्यहिंसा व भावहिंसा दोनों का दोष लगता है, झूठ, चोरी आदि पापों में उनकी प्रवृत्ति नियम से होती ही है। क्योंकि **'आरंभः प्राणि-पीडा-हेतु-व्यापारः'** प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना आरंभ है। और जो विषयों की आशा ही छोड़ चुके हैं 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' अर्थात् जो मूल का ही त्याग कर चुके उन्हें उस वृक्ष की शाखओं से क्या प्रयोजन? ऐसे ही जो पंचेन्द्रिय विषयों की आशा से रहित हो चुके हैं वे साधु या तपस्वी इन सावद्य कर्मों में प्रवृत्ति करना क्यों पसंद करेंगे। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय ने

कहा जो विषयों की आशा को छोड़कर, उनका संचय भी नहीं करता, संग्रह के लिए किसी तरह का व्यापार उद्योग-धन्धा आदि बिल्कुल नहीं करता उसको कहते हैं निरारंभ। और जो संसार से भयभीत होकर सर्वप्रकार के आरंभ का त्याग करता है जिसका हृदय अनुकम्पा से ओत-प्रोत है, प्राणी-पीड़ा से भयभीत है वह साधु निरारंभ कहलाता है। वही प्रशंसनीय है। और कैसे होते हैं साधु?

तो आगे कहा 'अपरिग्रहः' जो समस्त परिग्रह से रहित हैं। **''परदव्वादो मुच्छाभाव-चागो हि अपरिग्गहो''** पर द्रव्यों से मूर्च्छा भाव का त्याग ही अपरिग्रह है। मूर्च्छा या ममत्व रूप परिणामों को परिग्रह कहते हैं। वह परिग्रह अंतरंग और बाह्य दो प्रकार का है। लोभ कषाय के उदय से जीव की विषयों में आसक्ति रहती है कि यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ'' इस प्रकार का संकल्प जब जीव के चित्त में होता है यह अंतरंग परिग्रह है। क्रोधादि चारों कषाएँ, नौ नवकषाय और मिथ्यात्व ये 14 अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं और क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड ये 10 बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। बाह्य परिग्रह कारण है और अंतरंग परिग्रह कार्य है। जब मन में राग, मोह, लोभ उत्पन्न होता है तब आत्मा में बाह्य परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि उत्पन्न होती है। व्यवहारनय की अपेक्षा क्षेत्रादि परिग्रह अंतरंग परिग्रह के कारण हैं और निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यात्वादि अंतरंग परिग्रह ही वास्तव में परिग्रह है। क्योंकि अंतरंग परिग्रह के कारण ही कर्मबंध होता है। इन बाह्य और अंतरंग परिग्रह का त्याग ही अपरिग्रह है। इसीलिए यहाँ कहा जो विषयों की आशाओं से रहित, निरारंभी व निष्परिग्रही है वह तपस्वी या साधु कहलाता है।

वह परिग्रह जो उनकी साधना में बाधक है ऐसा परिग्रह नहीं रखते, शरीर भी परिग्रह है किन्तु उसमें अनासक्ति भाव रखें, पिच्छी-कमण्डलु भी आत्मध्यान में बाधक हैं किन्तु व्यवहार धर्म का पालन करने के लिए अनिवार्य हैं, शास्त्र आदि भी बाधक हैं, शास्त्रों के शब्द भी आत्मध्यान में बाधक हो सकते हैं किन्तु फिर भी वे साधक भी हैं।

यहाँ ''ज्ञानध्यानतपोरक्तः'' जो विशेषण है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि द्रव्य संग्रह में लिखा है-

दंसणणाण-समग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्च सुद्धं, साहू सो मुणी णमो तस्स॥54॥

जो मुनि दर्शन और ज्ञान से पूर्ण हैं, मोक्षमार्ग में कारणभूत चारित्र को नित्य शुद्ध रीति से सिद्ध करते हैं वे मुनि साधु कहलाते हैं। यहाँ भी नेमिचन्द्राचार्य जी ने साधु का मुख्य कार्य

ज्ञान, ध्यान व तप ही कहा है। जिस प्रकार दान और पूजा श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य है उसके बिना श्रावक श्रावक नहीं कहलाता ठीक उसी प्रकार ध्यान और अध्ययन साधु के मुख्य गुण हैं। उसके बिना साधु का साधुत्व नहीं रहता।

यहाँ 'ज्ञान' से आशय निरंतर श्रुत का अभ्यास करते रहने से है। क्योंकि मोक्षमार्गी को उसी से आवश्यक एवं उपयोगी तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं। और ज्ञान की स्थिर अवस्था का नाम 'ध्यान' है। कोई भी ज्ञान यदि अन्तर्मुहूर्त तक अपने विषय पर स्थिर रहता हो तो उसको ध्यान कहते हैं। और सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र के धारक साधुओं के द्वारा कर्मरूपी मैल को दूर करने के लिए जो तपा जाता है वह 'तप' कहलाता है। इस प्रकार जिनका ज्ञान, ध्यान और तप ही रत्न है अथवा जो ज्ञान, ध्यान और तप रूपी आभूषण से विभूषित हैं या गाथानुसार कहें तो जो ज्ञान-ध्यान-तप में लीन हैं वे ही वास्तव में तपस्वी कहलाते हैं।

यहाँ आचार्य महोदय ने गाथा के पूर्वार्ध में तीन विषय कहे—विषयों की आशा से अतीत, निरारंभ और अपरिग्रही और उत्तरार्ध में तीन बातें कहीं—ज्ञान-ध्यान-तपोरक्ता इन विशेषणों से यह सिद्ध होता है कि विषयादि तीन विशेषण यथाक्रम से ज्ञान, ध्यान, तप से संबंधित हैं। यानि साध्य-साधन का संबंध है। वह कैसे? जो जीव यदि विषयों में आसक्त है वह जब लौकिक ज्ञान को भी प्राप्त नहीं कर सकता तो वह पारलौकिक ज्ञान को क्या प्राप्त कर सकेगा क्योंकि जैसे एक म्यान में दो तलवार एक साथ नहीं रह सकती उसी प्रकार विषयाभिलाषा और ज्ञान पिपासा दोनों एक साथ नहीं रह सकती। इसलिए जो विषयाशाओं से विरक्त है वही ज्ञान में लीन होता है। दूसरी बात जो आरंभ में लीन है, जो आर्त्त-रौद्रध्यान के कारणभूत हिंसाजनक लौकिक कार्यों में आसक्त है उसका चित्त धर्मध्यान में लीन नहीं हो सकता, आरंभ में और परिग्रह में आसक्ति होना रौद्रध्यान है। इसलिए ध्यान में लीन होने के लिए सर्वप्रथम आरंभ का त्याग परमावश्यक है, इसलिए जो निरारंभी हैं वे ही धर्मध्यानी हैं और तीसरी बात जिनके पास परिग्रह है उसका चित्त भी वस्तुस्वरूप के चिन्तन में तथा तपश्चरण में नहीं लग सकता इसलिए परिग्रह का त्याग भी परमावश्यक है। इसीलिए जो अपरिग्रही हैं वे ही तप में लीन हो सकते हैं। अतः ज्ञान, ध्यान, तप में लीन होने के लिए विषयाभिलाषा, आरंभ और परिग्रह का त्याग आवश्यक है। इस प्रकार आचार्य महोदय ने इस कारिका के द्वारा तपस्वी का स्वरूप कहा।

जो सद्ज्ञान के उपार्जन में, वितरण में, संवर्धन में संलग्न हैं, धर्म व शुक्ल ध्यान में संलग्न हैं और बारह प्रकार के तप करने में संलग्न हैं वह तपस्वी प्रशंसा के योग्य हैं।

सामान्य उदाहरण के रूप में समझें–शिवभूति मुनिराज के पास ज्ञान पूरा नहीं था, णमोकार मंत्र भी नहीं आता था, तो क्या वे सच्चे भावलिंगी मुनि नहीं थे। यम नामक मुनिराज क्या सच्चे भावलिंगी मुनि नहीं थे। कितने भद्र साधु जो अपने मूलगुणों का नाम न जान पाएँ तो क्या वे सच्चे भावलिंगी मुनि नहीं हैं। हमारे आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज, धर्मसागर जी महाराज, आचार्य विमलसागर जी महाराज, आचार्य गुरुदेव श्री विद्यानंद जी मुनिराज ऐसे निरीह साधु हुए जब वे आत्मस्थ होते हैं तब उनकी वह निरीहता–विरागता स्वयं के कल्याण में समर्थ है। बाह्य में जो कल्याण करना चाहे वह कर सकता है। उत्तम का नाम लिया मध्यम और जघन्य का हमेशा कथन नहीं किया जाता। आप कहते हैं गवासन से नमस्कार करना चाहिए, गवासन अर्थात् जैसे गाय बैठती है वह आसन, तो गवासन शब्द ही क्यों कहा? क्योंकि गाय उत्कृष्ट पशु है उसे श्रेष्ठ माना जाता है इसलिए कह दिया। भैंसासन नहीं कहा, अन्य कोई आसन नहीं कहा तो इसका आशय यह है कि मध्यम व जघन्य का कथन नहीं किया जाता उत्कृष्ट का कथन ही किया जाता है। इसी तरह से उत्कृष्ट श्रावक का सम्मान होता है। श्रावक श्रद्धावान्–विवेकवान्–क्रियावान् हो, अणुव्रती हो, षटावश्यक का पालन करे, प्रतिमाओं का पालन करे यह श्रावक का स्वरूप है किन्तु जो श्रद्धा से युक्त होकर के आत्म–कल्याण के लिए तत्पर है ऐसा गृहस्थ भी श्रावक हो सकता है।

महानुभाव! यहाँ पर आचार्य महोदय ने प्रशंसनीय तपस्वी की बात कही, उत्कृष्ट की बात कही। जिनमंदिर कैसा होता है उसकी विशेषता बताएँ? वह शिखर सहित हो, उसमें कलश हो, ध्वजदण्ड हो, वेदी हो, उसमें अष्ट प्रातिहार्य, अष्ट मंगल द्रव्य हों, अत्यंत मनोरम हो, तो क्या किसी मंदिर पर शिखर नहीं है तो वह जिनालय नहीं है, रत्नों की मूर्तियाँ नहीं हैं तो क्या वह जिनालय नहीं है? कथन उत्कृष्ट का होता है, मध्यम और जघन्य भी उस श्रेणी में आते हैं। उत्कृष्ट साधु का स्वरूप यहाँ बताया है उसे समझकर श्रद्धावान् बनें और अपने सम्यक्त्व को निर्मल व सुदृढ़ बनाएँ यही सम्यक्त्व का हेतु है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ साधु का स्वरूप कहा।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

नि:शंकित अंग

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्नचान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचि:॥11॥

अन्वयार्थ–तत्त्वं – यथावस्थित वस्तु का स्वरूप, **इदं एव** – यही है, **ईदृशं एव** – इसी प्रकार ही है, **अन्यत् न** – अन्य नहीं है, **अन्यथा** – अन्य प्रकार नहीं है, **इति** – इस प्रकार, **सन्मार्गे** – मोक्षमार्ग में, **आयसाम्भोवत्** – लोह निर्मित तलवार के पानी अर्थात् धार के समान, **अकम्पा** – अडोल, निश्चल, **रुचिः** – श्रद्धान्, **असंशया** – नि:शंकित अंग है।

व्याख्यान–महानुभाव! जिनशासन में धर्म के दो स्वरूप मुख्य रूप से बताए–एक श्रमणधर्म दूसरा श्रावक धर्म। श्रावक धर्म की आचार संहिता को आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी की अनुपम कृति 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' के माध्यम से समझने का प्रयास कर रहे हैं। यह आचार संहिता उस भव्य जीव की आत्मा में गुणों का आविर्भाव करने वाली है। जब तक व्यक्ति को गुण-दोष का परिज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति दोषों से बच नहीं पाता और गुणों को स्वीकार नहीं कर पाता। छहढाला की पंक्ति आपने पढ़ी-सुनी होगी–**''बिन जाने तें दोष गुणन को, कैसे तजिये गहिये''**। बिना ज्ञान के दोषों का परिहार और गुणों का आहरण नहीं होता। इस ग्रंथ में आगे देखते हैं 'सम्यक्त्व की विशद व्याख्या'।

चतुर्थ काव्य में सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हुए आचार्य महोदय ने स्वयं लिखा–

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शन-मस्मयम्॥

यहाँ 'अष्टांगम्' शब्द आया था। सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं, यदि आठ अंग पूर्ण नहीं हैं तो सम्यक्त्व अपूर्ण है, भग्न है, खंडित है। जो अपूर्ण है, भग्न है, खंडित है वह पूर्णता के फल को नहीं दे सकता। पूर्णता के फल को वही दे सकता है जो पूर्ण हो। सम्यग्दर्शन आठ अंगों से पूर्ण होता है एवं पच्चीस दोषों से रहित होने पर पूर्ण होता है। वे आठ अंग कौन से हैं उनके बारे में जानना आवश्यक है। जैसे चारपाई के चार पाए होते हैं, एक पाया निकाल दो तो तीन पाए की चारपाई पर कुशलता से विश्राम नहीं किया जा सकता। कुर्सी जो चार पैर की होती है, एक पैर नहीं है तो उस तीन पैर की कुर्सी पर आराम से बैठ नहीं सकते, वह कुर्सी अपने कार्य को सम्पन्न करने में असमर्थ होती है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन आठ अंग से सहित होता है तो वह सम्पूर्ण होता है, सम्यग्ज्ञान के अविनाभावी होता हुआ चारित्र को प्रकट

करने में, वृद्धिंगत करने में पुनः परम्परा से मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ होता है। बिना सम्यक्त्व के सम्यग्ज्ञान नहीं होता, बिना सम्यक्त्व के सम्यक्चारित्र नहीं होता, बिना सम्यक्त्व के वैराग्य नहीं होता, बिना सम्यक्त्व के सम्यक् तप नहीं होता, बिना सम्यक्त्व के मोक्षमार्ग की यात्रा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का एक अंश है। यह धर्म का अंश है पूर्ण धर्म नहीं है। पूर्णधर्म है सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र।

सम्यक्त्व को पूर्ण समझ लें तब ही पूर्ण धर्म को, मोक्षमार्ग को प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए आठ अंग आवश्यक हैं। जैसे मानव शरीर में 8 अंग आवश्यक हैं दो पैर, दो हाथ, पृष्ठभाग, रीढ़ की हड्डी, हृदय और उत्तमाँग यानि सिर। ये आठ हैं इनमें से एक भी कम हो तो व्यक्ति पूर्ण नहीं होता और किसी भी यथेष्ट कार्य को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हो पाता। यहाँ प्रथम निःशंकित अंग का अर्थ बताते हैं।

आचार्य महोदय कह रहे हैं 'इदमेवे' यह ही है, ईदृशं एव – ऐसा ही है। क्या? तत्त्व। तत्त्व का स्वरूप बताया, वह तत्त्व ऐसा ही है 'न अन्यत्' अन्य प्रकार से नहीं है, 'च अन्यथा' और अन्यथा भी नहीं है। लोहे से निर्मित तलवार पर चढ़े हुए पानी के समान अडोल, अकंप श्रद्धान। यदि किसी तलवार पर, कुल्हाड़ी पर, फरसा आदि पर पानी चढ़ जाता है तो लोहा बड़ा मजबूत हो जाता है। लोहे को गर्म किया, पीटकर के पानी चढ़ाया, फिर गर्म किया फिर पानी चढ़ाया, फिर गर्म किया पानी चढ़ाया, वह लोहा पानी सोखता जाता है–सोखता जाता है तो लोहा बहुत कड़क हो जाता है। उसमें नम्रता नहीं रहती अब कहीं उससे प्रहार करें तो वह टूट तो सकता है पर झुक नहीं सकता। जिसने बहुत मार खाई हो–बहुत तपा हो तो कड़क हो जाता है वह झुकता नहीं है, उसमें कठोरपना आ जाता है। ऐसे ही वह लोहा बार-बार तपता है तो वह कठोर हो जाता है। यहाँ कह रहे हैं–'सन्मार्गे' समीचीन मार्ग में, असंशया रुचि – संशय से रहित रुचि अर्थात् निःशंकित सम्यक्त्व वही कहलाता है जब तत्त्व के प्रति दृढ़ श्रद्धान हो जाए कि तत्त्व इस ही प्रकार है, ऐसा ही है, यही है, अन्य नहीं है, अन्यथा नहीं है।

यहाँ कौन से तत्त्व लिए? आचार्य महोदय ने तीन तत्त्व लिए वीतरागी जिनेन्द्रदेव, अनेकान्त से समन्वित द्वादशांगमय वाणी शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु। वीतरागी भगवान् का जो स्वरूप कहा उसमें शंका नहीं करना, कोई संदेह-संशय या शक नहीं करना कि इन वीतरागी भगवान् ने मोक्ष प्राप्त किया है या नहीं, जिस जिनबिम्ब की हम पूजा कर रहे हैं क्या वह वास्तव में अरिहंत का जिनबिम्ब है या नहीं, इसमें किसी आचार्य ने सही से सूरीमंत्र दिया या अन्य प्रकार से दिया अथवा भगवान् की मूर्ति की पूजा करने से फल मिलेगा या नहीं मिलेगा, क्या मोक्ष

का कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता, क्या वीतरागता के बिना कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार वीतराग देव में शंका नहीं करना प्रथम तत्त्व है, उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों में शंका नहीं करना द्वितीय तत्त्व है और उनके मार्ग पर चलने वाले निर्ग्रन्थ गुरुओं पर शंका नहीं करना तृतीय तत्त्व है। इन तीनों तत्त्वों पर जिनकी संशय से रहित रुचि है वही सन्मार्ग में गमन करने का अधिकारी है और वही नि:शंकित सम्यग्दृष्टि है।

जब तक व्यक्ति नि:शंकित नहीं होता है तब तक उसके जीवन में भय बना ही रहता है। शंका का अपर नाम भय है। नि:शंक व्यक्ति ही अभय होता है। अंजनचोर, जिसने महामंत्र पर शंका नहीं की, उसकी दृढ़ श्रद्धा ही थी जो उसे अस्त्र-शस्त्र का भय नहीं लगा, एक साथ सब रस्सियाँ काट दी। शंका होती है तो बार-बार भय रहता है, मन चलायमान होता है। शंका ऐसी होती है जैसे किसी चूहे ने वृक्ष की जड़ काट दी हो, वह वृक्ष खड़ा दिखाई दे रहा है पर कभी भी धराशायी हो सकता है; ऐसे ही शंका रूपी चूहे से सम्यक्त्व रूपी वृक्ष की जड़ कट जाती है। शंका उस दीमक की तरह से है जो किसी वृक्ष में लग गई तो वृक्ष सूख जाएगा, शंका किसी बर्तन में हुए छिद्र की तरह है उसमें कोई तरल पदार्थ भर दो तो वह निकल जाएगा। वह शंका और कैसी है? वह शंका बिना नींव के भवन की भाँति है जो कभी भी धराशायी हो जाएगा। किन्तु जो नि:शंकित होते हैं उनका सम्यक्त्व दृढ़ होता है।

एक जंगल में रहने वाला कोई लकड़हारा जंगल से लकड़ियाँ बीनकर के शहर में बेचता था। उसका छोटा सा परिवार था; उसकी पत्नी व एक छोटा बेटा। अचानक उसके बेटे का स्वास्थ्य खराब हो गया। जंगल की जड़ी-बूटियों के माध्यम से भी वह ठीक नहीं हो पाया। उसने किसी डॉक्टर को दिखाया। डॉक्टर ने कहा—इसका पैसा ज्यादा लगेगा, उस लकड़हारे ने कहा—मेरे पास पैसा तो ज्यादा नहीं है, मैं अपने भगवान् के पास जाता हूँ। तो क्या भगवान् पैसा देते हैं? भगवान् तो कुछ देते-लेते नहीं? वह बोला मुझे तो भगवान् सब कुछ देते हैं। वह लकड़हारा संध्याकाल में पहाड़ की चोटी पर गया और दीपक जलाकर के भगवान् के सामने जाप करने लगा। मध्यरात्रि का समय हो गया किन्तु वह तो अपनी जाप में मस्त है, उसे विश्वास है कि मैं यहाँ से जाऊँगा तो भगवान् मुझे पैसा देंगे। कैसे देंगे, कहाँ से देंगे? देने वाला कभी सीधे अपने हाथ से देता है तो कभी दूसरे के हाथों से दिलवाता है, उसका ऐसा विश्वास था। उसी समय रात्रि में एक सेठ अपने महल में सो रहा था, पर उसे नींद नहीं आ रही थी, वह करवट बदल रहा था। अचानक वह उठा और अपने कक्ष में घूमने लगा, उसे तब भी संतोष नहीं हुआ तो बाहर टहलने लगा, तब भी संतोष नहीं हुआ तो वह अपने

अश्व पर सवार हुआ और उसी जंगल की ओर प्रयाण किया। वह घोड़ों को दौड़ाते हुए उस पहाड़ पर चढ़ गया। पहाड़ पर उसे मंदिर दिखाई दिया, वहाँ दीपक जल रहा है और एक व्यक्ति जाप लगा रहा है। वह सेठ चुपचाप से उसके पीछे जाकर खड़ा हो गया। जाप पूरी हुई, भगवान् को धोक लगाने के उपरांत जब वह लकड़हारा चलने को हुआ तब उसने भगवान् से कहा–भगवान् प्रातःकाल तक मुझे 300 रु. की आवश्यकता है यदि नहीं मिले तो मेरा बेटा बचेगा नहीं, अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने, मैं चला, मैंने अपना काम पूरा कर लिया।

वह लकड़हारा पीछे मुड़ा तो देखा वह सेठ खड़ा था। सेठ ने जेब में हाथ डाला और 300 रु. निकालकर उसको दे दिए। सेठ ने कहा–यदि तेरे बेटे के ठीक होने में, औषधि में या पौष्टिक पदार्थों के सेवन में और भी पैसे लगें तो मैं और पैसे दे सकता हूँ, तुम मेरा visiting card ले लो। उसने कहा मुझे आवश्यकता नहीं है। क्यों? क्योंकि मेरे पास visiting card है। सेठ को आश्चर्य हुआ, तुम्हारे पास मेरा card कैसे आया? कब-कहाँ मिला? वह लकड़हारा बोला–आपका नहीं। तो फिर किसका है? जिसने आपको आधी रात में यहाँ जंगल में पहाड़ के ऊपर मंदिर में भेजा है मेरे पास उसका visiting card है। कौन है वो? वे मेरे भगवान् हैं, मुझे भगवान् पर श्रद्धा है।

महानुभाव! जब भगवान् पर श्रद्धा होती है तब उसके लिए मिट्टी भी औषधि बन जाती है, पानी भी औषधि बन जाता है, शत्रु भी मित्र बन जाता है। श्रद्धा धर्म के प्रति रखो। कभी लोग श्रद्धा और विश्वास को एक ही कहते हैं, किन्तु दोनों में अंतर है, विश्वास अलग है श्रद्धा अलग। कोई कलाकार अपनी कला दिखा रहा था। उसने दो पोल जमीन पर गाड़े, बीच में रस्सी बांधी और उस रस्सी पर हाथ में बाँस लेकर वह स्वयं चला। जब वह चला तो लोगों को देखकर आश्चर्य हुआ। अबकी बार उसने बाँस को भी अलग कर दिया, खाली रस्सी पर चला गया। तीसरी बार में उस रस्सी पर काँसे की थाली रखकर चला, तब भी लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, अगली बार अपने से दूने वजन के व्यक्ति को अपने कंधे पर बिठाकर, उसी रस्सी पर काँसे की थाली रखकर के वह चला। इतना ही नहीं, बीच में रुककर के रस्सी को झुलाया जिसे देखकर के लोगों को अति विस्मय हुआ, वे देखकर खूब ताली बजा रहे थे। जब वह करतब दिखा चुका तब उसने जनसमूह से पूछा–मैं इस पोल से दूसरी पोल पर जाना चाहता हूँ, क्या मैं पहुँच जाऊँगा? सब लोगों ने कहा–सुनिश्चित। वह बोला–गिरूँगा तो नहीं? अरे नहीं! आप तो बहुत बड़े कलाकार हैं। उसने कहा आप लोगों को पूरा विश्वास है क्या? वे बोले 100% विश्वास है। वह बोला–ठीक है यदि आप लोगों को 100% विश्वास है

तो मैं इस व्यक्ति को अपने कंधे से उतार देता हूँ, अब आप लोगों में से कोई भी व्यक्ति मेरे पास आ जाओ और मेरे कंधे पर बैठ जाओ, मैं इस पोल से दूसरी पोल पर जाता हूँ। भीड़ में से कोई भी उसके पास नहीं आया। वह बोला–अभी तो आप कह रहे थे 100% विश्वास है, अब क्या हुआ?

महानुभाव! उन्हें विश्वास तो था, उन्होंने अपनी आँखों से देख लिया कि ये गिरेगा नहीं, किन्तु श्रद्धा नहीं थी। विश्वास से संसार के कार्य चलते हैं, श्रद्धा से धर्म का प्रारंभ होता है। एक पिता ने अपने पुत्र को औषधि लेने हेतु नीचे खाई में उतार दिया, उसका पिता आयुर्वेदाचार्य था। उस अटवी में घोर अंधकार था, पिता उसे आवाज लगाता रहा बेटा! डर तो नहीं लग रहा, बेटा बोला नहीं। बेटे ने जब सारी जड़ी-बूटियाँ एकत्रित कर लीं तो पिता ने रस्सी के सहारे उसे ऊपर खींच लिया और बेटे को गले लगा लिया व रोने लगा। बेटे से पूछा–बेटा! इस अँधेरे में काँच, पत्थर, कंकड़ों के बीच, वहाँ बिच्छू-साँप भी होंगे तुम वहाँ कैसे रहे? बेटे ने उत्तर दिया–पिताजी! मुझे डर किस बात का, जब मेरी रस्सी आपके हाथ में थी।

ऐसे ही धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि सोचता है जब मेरे पास धर्म है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है, वीतरागी देव, अनेकांत युक्त जिनवाणी, निर्ग्रन्थ गुरु हैं तो फिर संशय व शंका किस बात की हो सकती है। ऐसा व्यक्ति ही धर्म के क्षेत्र में गमन करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय ने सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का स्वरूप कहा कि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा आप्त, आगम और गुरु के प्रति निःशंक अर्थात् शंका से रहित होती है। **''तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धाः''** तत्त्वार्थों के विषय में उन्मुख बुद्धि को श्रद्धा कहते हैं। संसार के चक्रव्यूह से निकालने के लिए तत्त्वों पर, देव-शास्त्र-गुरु पर, मोक्षमार्ग पर श्रद्धा का होना आवश्यक है। आचार्य भगवन् सुधर्म स्वामी जी ने कहा–

सर्वाः शंकाः परित्यज्य तत्त्वे देवे श्रुते गुरौ।
श्रद्धानं निश्चलं यद्धितदङ्गं प्रथमं भवेत्॥163॥ –(सु.श्रा.)

समस्त शंकाओं का त्यागकर तत्त्वों में, देव में, शास्त्र में और गुरु में निश्चल श्रद्धान करता है, उसको ही प्रथम निःशंकित अंग कहते हैं। यह निःशंकित सम्यग्दर्शन ही संसार का उच्छेदक होता है। वह सम्यग्दृष्टि निःशंक हो देव-शास्त्र-गुरु के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देता है, जैसे एक बालक अपनी माँ की गोद में निःशंक रहता है कि मेरी माँ मेरा भला ही करेगी उसको इसमें कोई संदेह नहीं होता ऐसे ही देव-शास्त्र-गुरु के चरणों में वह धर्मात्मा निःशंक रहता है। ये ही मेरा हित करने वाले हैं 'अन्यथा शरणं नास्ति' इनके अतिरिक्त मेरी कोई शरण

नहीं है। वह कभी किसी बहकावे मे नहीं आता। देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप जो सर्वज्ञ देव द्वारा कथित है यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार नहीं उसका यह श्रद्धान् तलवार की धार पर चढ़े हुए पानी के समान अडिग रहता है। ऐसी सन्मार्ग में रुचि होना ही नि:शंकित अंग है। आप सभी भी अपने सम्यक्त्व को नि:शंकित बनाएँ। इन्हीं शब्दों के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

नि:कांक्षित अंग

कर्मपरवशे सान्ते, दु:खैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता॥12॥

अन्वयार्थ–कर्मपरवशे – जो कर्म की पराधीनता से सहित है, **सान्ते** – अन्त सहित है, **दु:खै:अन्तरितोदये** – अनेक प्रकार दु:खों से मिश्रित है, **पापबीजे** – पाप बन्ध के कारण, **सुखे** – ऐसे सांसारिक सुखों में, **अनास्था** – अश्रद्धा, अरुचि रखना, **अनाकांक्षणा** – नि:कांक्षित अंग, **स्मृता** – कहा गया है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में विगत दिवस सम्यग्दर्शन के प्रथम अंग 'नि:शंकित अंग' का माहात्म्य जाना कि शंका से सहित सम्यक्त्व मोक्षमार्ग में कार्यकर नहीं होता है। संशय से रहित रुचि ही सन्मार्ग में समर्थ होती है। संशय से युक्त रुचि भले ही किंचित् पुण्य का आस्रव कराए किन्तु संशय से सहित रुचि मोक्ष दिलाने में समर्थ नहीं होती। नि:शंकित शब्द स्वयं कह रहा है शंका से रहित; पर इसका अर्थ ऐसा नहीं करना कि 'शंका नहीं' वरन् यह कहना कि आपकी जितनी भी जिज्ञासाएँ हों उन सबका समाधान करो। 'निर्गता शंका' समस्त शंकाएँ निकल जाएँ, जब कोई शंका या दोष न रहे तब वह सम्यग्दृष्टि नि:शंकित बन जाता है।

शंकाओं को दबाना नहीं है, दमित जिज्ञासाएँ बाद में मिथ्यात्व की हेतु भी बन सकती हैं। जैसे उपशमित अनंतानुबंधी कषाय, उपशमित मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति दबी होती है तो वे अनंतकाल तक दब नहीं सकती कालांतर में उदय में आ जाती हैं और उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व में भी जा सकता है, यदि सम्यक् प्रकृति उदय में आई तो वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। किंतु जब वह उन सातों प्रकृतियों को नष्ट कर देता है, अनंतानुबंधी आदि की विसंयोजना करता है, मिथ्यात्व का द्रव्य सम्यक्मिथ्यात्व में, सम्यक्मिथ्यात्व का द्रव्य सम्यक् प्रकृति में मिलाकर के नष्ट कर देता है तब फिर वह कभी मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता; ऐसे ही जिसकी शंकाएँ पूरी निकल गई हैं, समस्त शंकाओं का उसने समाधान प्राप्त कर लिया तब वह नि:शंकित कहलाता है। वह समाधान भी आगम से प्राप्त करना है, आगम से प्राप्त करके फिर चिंतन करना है, अपना चिंतन भी आगम के अनुकूल बनाना है और आगम के वेत्ताओं से समाधान प्राप्त करना है।

यह तो शास्त्र संबंधी जिज्ञासा हुई किन्तु वीतरागता-सर्वज्ञता-हितोपदेशिता जिनदेव में मिलती है उन पर शंका नहीं करना। जो शास्त्र मोक्षमार्ग में सहायक हैं उनका आलम्बन लेना, जो शास्त्र मोक्षमार्ग के विरोधी हैं वे सम्यक्शास्त्र नहीं हैं। निर्ग्रन्थ गुरु जो मोक्षमार्ग में गति कर रहे हैं ऐसे तीनों तत्त्वों पर संशय-संदेह-शंका रहित रुचि करना।

रुचि शब्द से आशय है श्रद्धा-आस्था-प्रतीति-सम्यक्त्व ये सभी एकार्थवाची हैं। जब सम्यक्त्व नि:शंकित हो गया तब उसे नि:कांक्षित भी बनाओ, क्योंकि यदि व्यक्ति शंका से सहित होता है तो याचना करता है, माँग करता है और यदि शंका नहीं तो उसे विश्वास है कि मुझे उतना मिलेगा जितना मेरा है। वही नौकर-सेवक अपने मालिक से माँगता है जिसे विश्वास न हो, जिसे विश्वास है वह माँगता नहीं, उसे पता है मेरा महीना जैसे ही पूरा होगा त्यों ही मुझे वेतन मिल जाएगा। किन्तु जिसे शंका होती है वह बीच-बीच में कहता है सेठ जी मुझे पैसे चाहिए—जबकि सेठ स्वयं अपने मुनीम को भेजकर सबका वेतन दिलवा रहा है। तो यह याचना-माँगना उचित नहीं है। वृक्ष के पास पहुँचकर छाया माँगी नहीं जाती, नदी के पास पहुँचकर शीतलता माँगी नहीं जाती ऐसे ही वीतरागी के पास पहुँचकर के अब क्या माँगना। न उनसे संसार का वैभव माँगो न आत्मा का वैभव माँगो किन्तु उनके पास रहकर के आत्मा के वैभव को पाने का पुरुषार्थ करो। व्यक्ति जल्दबाजी में वह माँग लेता है जो नहीं माँगना चाहिए, और उसे भूल जाता है जिसे माँगना चाहिए। व्यक्ति दु:खी इसीलिए ही है क्योंकि उसे जो चाहिए वह प्राप्त नहीं कर पा रहा और जो नहीं चाहिए उसे छोड़ नहीं पा रहा। जिसे संसारी प्राणी सुख मानता है आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने उसे सुख ही नहीं कहा, उसे कहा वह तो दु:ख ही है क्योंकि जो इंद्रियों से प्राप्त होने वाला सुख है, वह कैसा है—

सपरं बाधां सहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥76॥ —प्र.सा.

जो इंद्रिय सुख है वह पराधीनता से युक्त है, उसमें बार-बार विघ्न आते हैं, बीच में नष्ट हो जाता है, शाश्वत नहीं है, नियम से नष्ट होने वाला है, कर्म बंध का कारण है, आत्मा की विषम अवस्था करने वाला है। जो इंद्रियों के द्वारा ग्रहण किया जाता है, जिसे संसारी प्राणी सुख कहते हैं उसे तो दु:ख ही समझना चाहिए। ऐसा प्रवचनसार में आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा।

तब उनसे पूछा—सच्चा सुख कौन सा है? उसी ग्रंथ की 13वीं गाथा में उन्होंने कहा—

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धवओगप्पसिद्धाणं॥13॥

सिद्धों के पास जो सुख है वह सच्चा सुख है, वह अतिशय से युक्त है। क्या-क्या अतिशय हैं? एक बार प्राप्त होकर नष्ट नहीं होता, उसे भोगते हुए व्यक्ति कभी उससे विरक्त नहीं होता, वह सुख भोगने के लिए शरीर व इंद्रियों की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसे कोई छीन नहीं सकता, वह पराधीन नहीं है, वह पाप बंध का कारण नहीं है, इतने सारे अतिशय उस सुख में हैं और वह सुख आत्मा से उत्पन्न होने वाला है। इंद्रियाँ जिस सुख को ग्रहण करती थीं, वह तो संसार के पदार्थों से ग्रहण करने वाला सुख था; किन्तु यह सुख विषयों से अतीत है, अनुपम है उसे अन्य किसी सुख की उपमा नहीं दी जा सकती। वह सुख अनंत है व बीच में छूटने वाला नहीं, ऐसा नहीं कि बीच में कोई विघ्नबाधा आई तो छूट गया पुनः हो गया, नहीं, वह तो निरंतर रहने वाला सुख है उसकी व्युच्छित्ती कभी नहीं हो सकती। और वह सुख कैसा है? शुद्धोपयोग का फलस्वरूप है। जो आत्मा शुद्धात्मा को प्राप्त करती है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित होती है वही आत्मा उस सुख को प्राप्त करने में समर्थ होती है।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं उस निःश्रेयस सुख को प्राप्त करो, संसार के सुख की आकांक्षा मत करो। संसार का सुख कैसा है-''कर्मपरवशे'' वह सुख कर्म के उदय से प्राप्त हो रहा है यदि साता कर्म का उदय हुआ तो सुख मिल गया या किसी चेतन-अचेतन पदार्थ के भोगने में अथवा भोजन सामग्री वा उपभोग की सामग्री या कोई रमणी के साथ जो सुख का अनुभव होता है वह सुख पराधीन है और वह भी सातावेदनीय कर्म व पुण्य प्रकृतियों के माध्यम से प्राप्त होता है। अथवा यह सुख 'सान्ते' अंत सहित है। शान्ते-सान्ते में अंतर है। शान्त कहेंगे शांति के लिए, सान्त कहेंगे तो अंत से सहित। जो इन्द्रिय सुख है वह अन्त से सहित है, शांति के लिए नहीं है। व्यक्ति शांति के लिए उसका सेवन करता है किन्तु वह अशांति का कारक है। उस सुख का अंत नियम से आता है।

सुख दो प्रकार का है लौकिक और अलौकिक। सुख शब्द के दो अर्थ होते हैं 'सु' यानि सुष्ठु, शोभनीय और 'ख' यानि इन्द्रिय, जो इन्द्रियों को सुहावना लगे वह सुख कहलाता है। यह लौकिक सुख है तथा इन्द्रियों को सुहावने लगने वाले पदार्थों का 'ख' अर्थात् नाश हो जाना, तब जो सुख लगता है वह अलौकिक सुख कहलाता है। संसारी प्राणी लौकिक सुख को ही सुख मानते हैं, उसी में लीन रहते हैं, दिन-रात विषय सुखों में मग्न रहते हैं, उसी का

प्रयत्न करते हैं। आचार्यवर्य कह रहे हैं कि ये सांसारिक सुख, दु:ख रूप ही है, इसमें रुचि करने वाला सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी जी ने ही बृहद्स्वयंभू स्तोत्र में अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा–

लक्ष्मी-विभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र-लाञ्छनम्।
साम्राज्यं सर्वभौमं ते जरतृणमिवाऽभवत्॥88॥

सम्यग्दृष्टि जीव के लिए लक्ष्मी, वैभव, चक्र, साम्राज्य, पृथ्वी आदि जीर्ण तृण के समान अर्थात् सारहीन है, कर्माधीन है, विनाशीक है। इंद्रियजन्य सुख आत्मा का विभाव परिणाम है। पर पदार्थ के संयोग से उत्पन्न हुआ सुख अधिक काल तक नहीं रहता है।

और क्या विशेषता है इस सांसारिक सुख की–'दु:खैरन्तरितोदये' इस इन्द्रिय सुख का आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने आत्मानुशासन में उदाहरण दिया है कि एक लकड़ी है, वह अंदर से पोली है, उसके अंदर एक कीड़ा घुस गया, उस लकड़ी में इस छोर पर भी अग्नि लगी है, उस छोर पर भी अग्नि लगी है, बीच में यह कीड़ा उस लकड़ी को खा रहा है। वह कीड़ा दोनों ओर से जल रहा है; जिस समय वह लकड़ी को खा रहा है उस समय उसे सुख की अनुभूति हो रही है किन्तु क्या वास्तव में सुख की अनुभूति हो रही है। ऐसे ही विषयों का सेवन करते समय यह जीव सुख मानता है। उसे एक छोर से जन्म का दु:ख दूसरे से मृत्यु का दु:ख, जब ये सुख नहीं था उसके पहले का दु:ख, यह नष्ट हो जाएगा इसका दु:ख; दोनों दु:खों के बीच में यह पंचेन्द्रिय सुख है। दु:खों की परत में जमा हुआ सुखाभास है। ऊपर-नीचे दु:खों की परत है, उनके बीच पड़ा थोड़ा सा सुखाभास क्या सुख हो सकता है?

महानुभाव! इस श्लोक में आचार्य महोदय ने सांसारिक सुखों के तीन विशेषण दिए कर्माधीनता, दु:खमिश्रता और सान्तता यानि अन्त सहित। पहली बात कि सांसारिक सुखों की प्राप्ति कर्माधीन है आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने ही आत्मानुशासन ग्रंथ में कहा कि इस जीव को आयु, लक्ष्मी, पुत्र, पौत्रादिक, धन, सम्पदा, शुभ शरीर आदि सांसारिक वस्तुएँ पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म से ही प्राप्त होती हैं, पुण्यकर्म नष्ट होते ही सारी सम्पदाएँ क्षणभर में नष्ट हो जाती हैं, राजा रंक बन जाता है अथवा मरकर विष्टा का कीड़ा बन जाता है, स्वर्ग के देव मरकर ऐकेन्द्रिय हो जाते हैं, जैसे वायु के झकोरे से बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसा कोई संसारी जीव नहीं जिसके केवल पुण्य प्रकृतियों का ही उदय रहे उनके पुण्य-पाप का उदय मिश्र ही रहा करता है।

इसीलिए दूसरा विशेषण कहा यह सांसारिकसुख दु:खों से मिश्रित है। यदि साता कर्म के उदय से किसी को शारीरिक सुख प्राप्त है तो मानसिक शांति नहीं, यही सांसारिकसुख दु:ख मिश्रित है। ऐसी अवस्था में आत्मसुख के रस का अभिलाषी सम्यग्दृष्टि बालू-रेत से मिले हुए या विषमिश्रित हलवे के समान पापोदयजनित दु:खों से मिश्रित पुण्य जन्य इन्द्रिय सुख को कभी पसंद नहीं कर सकता, क्योंकि वह जानता है पंचेन्द्रियजन्य सुखों में ऐसा कोई भी सुख नहीं जो उद्वेग का कारण नहीं। और तीसरी बात कही अन्त सहित, अर्थात् यह सांसारिक सुख शाश्वत नहीं है, विनाशी है। अनंत सुख तो स्वभावत: कर्मातीत अवस्था में ही पाया जाता है।

और वह सम्यग्दृष्टि क्या विचार करता है? वह सम्यग्दृष्टि जीव उस समस्त सांसारिक भोग सामग्री को 'पापबीजे सुखेऽनास्था' पाप का बीज समझता है और आस्था रहित हो जाता है। जिस प्रकार बीज को भूमि में बो दिया जाए तो वह वृद्धि को प्राप्त होता है, नये बीज को जन्म देता है उसी प्रकार आकांक्षा नये-नये पापों को जन्म देती है, जिससे इनकी सन्तति चलती रहती है। सांसारिक पुण्य के उदय से नारायण-प्रतिनारायण आदि पद की प्राप्ति तो अवश्य हो जाती है किन्तु नियोगवश नरकादि दु:खों को अवश्य ही भोगना पड़ता है। महानुभाव! पाप से मिली संपदा पाप को ही बढ़ाती है इसीलिए कहा-'पापबीजं' उस सुख को भोगते हुए भी पाप प्रकृतियों का बंध है, ऐसे सुख में जो पाप का बीज हो, जो आगे-पीछे दु:खों से सहित है, अंत से सहित है और पर के अधीन है, ऐसे सुख में आस्था, रुचि प्रतीती नहीं रखना। जो ऐसे सुख में श्रद्धा-आस्था नहीं रखता उसकी श्रद्धा अनाकांक्ष श्रद्धा होती है अर्थात् वह नि:कांक्षित श्रद्धा है। इसलिए नि:कांक्षित गुणधारी कर्माधीन सुख को अंत में दु:खकारी, पाप बीज रूप मानकर श्रद्धा नहीं करता है। उसी के नि:कांक्षित गुण पनपता है। एक उदाहरण से समझाते हैं।

एक छोटा बालक अपने माता-पिता के साथ बाजार गया। उसके मम्मी-पापा अपने मित्र की दुकान पर जाकर बैठ गए। उनका मित्र उस भोले-भाले बालक को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसका बालक को देखकर बड़ा स्नेह उमड़ रहा था, उसने कहा- बेटा, टॉफी लोगे? बेटे ने मना कर दिया; उसने बहुत कहा बेटा टॉफी ले लो, पर बालक मना ही करता रहा। किन्तु देने वाले का जब मन था तो वह अपने मन को कैसे रोके। उस व्यक्ति ने टॉफी का डिब्बा खोलकर उस बालक के सामने रख दिया, कहा तुम जितनी टॉफी ले सकते हो अपनी मुट्ठी में सब ले लो। बालक ने फिर भी नहीं ली। उसने सोचा बेटा संकोच कर रहा है, माता-पिता को देख रहा है। माता-पिता ने भी कह दिया बेटा ले लो, बेटे ने तब भी नहीं ली। पर दुकानदार को तो उस बालक पर असीम स्नेह आ रहा था, उसने क्या किया, बहुत

सारी टॉफी लेकर उस बालक की सब जेबों में भर दी, बालक ने टॉफी ले ली। लौटकर वह बालक अपने मम्मी-पापा के साथ घर आ गया। मम्मी ने पूछा-बेटा! तुमने टॉफी क्यों नहीं ली थी? वे अंकल इतना कह रहे थे तब तो नहीं ली थी, फिर बाद में ले ली, क्या बात है? उसने कहा- मम्मी! आपको नहीं मालूम कि मैंने टॉफी क्यों नही ली यदि मैं अपने हाथ से टॉफी लेता तो मेरे छोटे-छोटे हाथ थे, छोटे से हाथ से मैं थोड़ी सी टॉफी ले पाता, अगर मैं डिब्बे से बार-बार टॉफी निकालता तो अच्छा नहीं लगता। किंतु फिर अंकल ने मेरी जेब भर दी, जब देने वाले को देना ही था तो देखो बहुत सारी टॉफी दे दी।

ऐसे ही संसारी प्राणी की बुद्धि लघु बुद्धि है। वह छोटी बुद्धि से भगवान् से याचना करता है– भगवान् मेरा सिर दर्द ठीक हो जाए, मेरा बुखार ठीक हो जाए, मेरे बेटे की नौकरी लग जाए, बेटी की शादी हो जाए, मेरा व्यापार अच्छा चले आदि छोटी-छोटी बातें माँगता है। धर्म करके भी यदि वह यह याचना करता हो तो वह ऐसे ही है जैसे कोई जेल में बंद अपराधी थे, राष्ट्रपति उन्हें मुक्त करने के लिए वहाँ आए, उन्होंने पूछा आप लोगों को क्या चाहिए? आज जो आप माँगो वह मैं आपको दे दूँगा-वह अपराधी राष्ट्रपति से कह रहा है–महामहिम! यहाँ तेल कम मिलता है, पूरे शरीर में लग नहीं पाता, कंघी टूट गई है, यहाँ रोटी बासी मिलती है, बर्तन टूटे हुए हैं, आप ऐसा कुछ करो कि यह सुविधा हमें मिल जाएँ। जैसे उस कैदी के द्वारा राष्ट्रपति से ऐसी वस्तु माँगना हास्यास्पद है ऐसे ही जिनधर्म का सेवन करने वाला व्यक्ति भोग-उपभोग सामग्री माँगता है तो वह भी हास्यास्पद होता है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव को कभी भोगों की आकांक्षा नहीं करना चाहिए। यदि करता भी है तो वह दोषप्रद है।

मैं जो यह तपश्चरण कर रहा हूँ या व्रत पालन कर रहा हूँ इसके फल से मुझे स्वर्ग में इन्द्र का पद मिल जाए या मैं राजा बन जाऊँ या मुझे भोगोपभोग की समस्त सामग्री प्राप्त हो जाए, इस प्रकार मोह की तीव्रतापूर्वक जो जीव आत्मिक सुख को छोड़कर बाह्य भौतिक पर पदार्थों की आकांक्षा करता है वह सम्यग्दर्शन को घात करने वाला और दु:ख देने वाला कांक्षा नामक दोष कहलाता है। यथार्थ बात तो यह है कि धर्म के प्रभाव से भोगोपभोग की मनोहर सामग्री स्वयमेव आ जाती है फिर भला आकांक्षा करने की बात ही नहीं रह जाती।

महानुभाव! विचार कीजिए जिस जिनधर्म की छत्रछाया में रहने वाला जीव, जिनधर्म को पालन करने वाला जीव मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाता है तो क्या उसे जिनधर्म के प्रभाव से लोकसंबंधी सुख प्राप्त नहीं होगा, अवश्य होगा। फिर इन तुच्छ वस्तुओं की माँग क्यों करना? जो पुरुष आत्मजन्य सुख को छोड़कर इंद्रिय सुखों की इच्छा करता है मानो वह अपने बहुत

ऊँचे हाथी को बेचकर गधा खरीदता है। नि:कांक्षित गुण का धारक जीव तो यही विचार करता है कि मैं जिस सांसारिक सुख की आकांक्षा करता हूँ वह मेरे अधीन न होकर कर्मों के अधीन है, कर्मों के तीव्र-मन्द उदय के समय वह सुख भी घटता-बढ़ता रहता है। अंत से सहित है, संसार में इंद्र और चक्रवर्ती के सुख की प्रधानता है; परंतु वह भी अवधिपूर्ण होने पर नष्ट हो जाता है, इस सांसारिक सुख के बीच में अनेक शारीरिक व मानसिक दु:ख मिश्रित हैं जो बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। साथ ही पाप बंध के कारण हैं। इसलिए इस पराधीन विनाशी सुख की इच्छा क्या करना, मेरा लक्ष्य तो मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करने का है। इस सांसारिक सुख के प्रलोभन से मुझे दूर रहना चाहिए ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि जीव अपने नि:कांक्षित्व गुण को सबल बनाता है। नि:कांक्षित सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग में गमन कराने में समर्थ है, मोक्ष दिलाने में समर्थ है। आप भी अपने सम्यक्त्व को नि:कांक्षित बनाएँ और मोक्षमार्ग में गतिशील हों, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

निर्विचिकित्सा अंग

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥13॥

अन्वयार्थ-स्वभावतः – स्वभाव से, **अशुचौ** – अपवित्र किन्तु, **रत्नत्रयपवित्रिते** – रत्नत्रय से पवित्र, **काये** – धर्मात्माओं के शरीर में, **निर्जुगुप्सा** – ग्लानि रहित, **गुणप्रीतिः** – गुणों में प्रीति है वह, **निर्विचिकित्सता** – निर्विचिकित्सा नाम का अंग, **मता** – माना गया है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सम्यक्त्व के अंगों की चर्चा चल रही है। निःशंकित, निःकांक्षित अंग को पूर्व कारिका में कहा कि शंका-कांक्षा तब होती है जब कहीं श्रद्धा में कमी होती है। जब श्रद्धा सुदृढ़ होती है तो फिर न शंका करने की आवश्यकता, न कांक्षा करने की। जिसे स्वयं पर पूर्ण विश्वास है और वह कहता है कि मुझे अपने हिस्से की, भाग्य की, नियति की, पुरुषार्थ की ही वस्तु चाहिए, अपना ही फल चाहिए, दूसरे का नहीं चाहिए और जो मुझे चाहिए वह मेरे पास है उसे मैं ही प्राप्त करूँगा, इस प्रकार का चिंतन करने वाले को फिर बाहर वाले व्यक्ति से माँगने की आवश्यकता कहाँ रही। मेरी वस्तु को तीनों लोकों में, तीनों कालों में कभी भी कोई छीन नहीं सकता और मुझे कभी दूसरे का स्वभाव मिल नहीं सकता, मेरा स्वभाव ही मेरा रहेगा तो फिर मुझे शंका क्यों? कौन मेरा क्या छीन सकता है? मुझे किसका डर? अपने स्वभाव के प्रति निःशंक बनो। जो आत्मा का स्वभाव है **'उपयोगो लक्षणं'** अथवा **'चेतना-लक्षणो जीवः'** क्या इसे कोई नष्ट कर सकता है या जीव के अन्य स्वभाव हैं उन्हें क्या कोई छीन सकता है? नहीं। भव्य जीव आज नहीं तो कल निमित्तों को प्राप्त करके अपने उपादान को जाग्रत करता हुआ अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ हो जाएगा।

महानुभाव! जिस आत्मा में उपादान शक्ति ही नहीं है तो निमित्त क्या करेंगे और उपादान शक्ति है तब भी उसमें निमित्त के बिना काम नहीं है। तो हमारे उपादान में शक्ति हो तब निमित्त सहकारी होते हैं। निमित्त के माध्यम से नैमित्तिक में कार्य होता है। नैमित्तिक, बिना निमित्त के कोई कार्य नहीं कर पाता। जो नष्ट हो जाए, जो सुख के स्थान पर दुःख देने लगे, जो दुःख का बीज है, जिस पर किसी और का अधिकार है उसकी भी क्या कांक्षा करना। संसार के ये परमाणु, पौद्गलिक पदार्थ जिनको मैंने अनेक बार अपना शरीर बनाया, वे परमाणु

पुनः बिखर गए, उन्हें मैं बार-बार शरीर रूप बना रहा हूँ। जैसे पूर्वभव में जिस तलवार से आपके शरीर का घात हुआ उसके परमाणु बिखरकर आज आपका शरीर बन गए, उन्हीं परमाणु से पहले आप द्वेष करते थे आज राग कर रहे हो। तो इन पुद्गल के परमाणुओं को अनेक बार भोग लिया फिर इनमें आकांक्षा कैसी। अब तो अपने स्वभाव को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना है। जो स्वभाव को प्राप्त करने का इच्छुक होता है उसे कांक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती।

आज तृतीय अंग के बारे में देखते हैं इसमें आचार्य महोदय कह रहे हैं कि ग्लानि नहीं करना, इसके साथ-साथ यह भी कह रहे हैं कि राग मत करना। संसार में व्यक्ति या तो किसी से राग करता है या द्वेष करता है। आचार्य महोदय के शब्दों में इस निर्विचिकित्सा अंग का स्वरूप देखें।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं-'स्वभावतः अशुचौ''- यह शरीर जो स्वभाव से अपवित्र है; इस शरीर में सहज ही ग्लानि हो सकती है क्योंकि ये गंदगी का स्थान है। ये शरीर गंदगी से पैदा हुआ है। गर्भज शरीर का माता-पिता के रज-वीर्य आदि मिलने से निर्माण होता है, वह भी मलिन वस्तु है। जिसका बीज मलिन है तो वह वृक्ष भी मलिन होगा, जिसका बीज कड़वा है तो फल भी कड़वे आएँगे। जैसे मिट्टी से बने बर्तन मिट्टी के ही होंगे, सोने से बने बर्तन सोने के ही होंगे, तो जो रज-वीर्य बनाने में उपादान कारण था वह धातु-उपधातु मलिन हैं उसे देखकर ग्लानि आती है। ऐसे ग्लानि युक्त पदार्थ से जिसका बीज रूप निर्माण हुआ उस शरीर का प्रारंभ माँ के गर्भ में हुआ और जो इस शरीर में भरा है वह भी सप्त धातु-उपधातु मल भरा है, इतना ही नहीं यह शरीर जितने भी अच्छे पदार्थों का सेवन करता है तो सेवन करके वे भी मलिन हो जाते हैं। इसके मल-द्वारों से जो झर रहा है वह गंदगी झर रही है। चाहे रोमछिद्रों से पसीना निकलता है, चाहे अन्य आँख, नाक, कान, मुख, शिशिन और गुदा ये मलद्वार हैं, इनमें से कोई मलद्वार ऐसा नहीं है जिस मलद्वार से कोई अच्छा स्राव होता हो, सब मलिन है।

मल से पैदा हुआ, मल का बना हुआ है, मल ही झर रहा है, मल की ही वृद्धि हो रही है। लोग सोचते हैं मैं मोटा-तगड़ा हो गया हूँ, अरे! क्या मोटा-तगड़ा हो गया, मल बढ़ा लिया। पेट में मल बढ़ गया होगा, शरीर में रक्त बढ़ गया होगा या हड्डी थोड़ी मोटी हो गई होगी, माँस-मेदा बढ़ गया होगा, और क्या हुआ होगा, कुछ नहीं। तुम्हारी आत्मा थोड़े ही मोटी हो गई होगी। ये तन मल की पिटारी है तो ऐसे मल की पिटारी रूप शरीर में; जो कि स्वभाव

से अशुद्ध है, अपवित्र है इसके प्रति व्यक्ति का सहज की ग्लानि का भाव रहता है। किन्तु आचार्य महोदय कह रहे हैं यह मल की पिटारी भी 'रत्नत्रयपवित्रिते'रत्नत्रय से पवित्र हो जाती है। जब इस शरीर से रत्नत्रय धर्म का पालन किया जाता है तब यह शरीर भी पवित्र माना जाता है।

महानुभाव! जब जिनेन्द्र भगवान् के स्पर्श से सामान्य जल भी गंधोदक बन जाता है, उसे मस्तक पर धारण करते हैं। जिनेन्द्र भगवान् का चरणस्पर्श करने वाली पुष्पमाला भी लोग गले में धारण करते हैं, जिनेन्द्र प्रभु से स्पर्शित हवा भी रोगी के रोग को दूर कर देती है। कोई ऋद्धिधारी मुनि महाराज तपस्या कर रहे हैं उनसे संस्पर्शित हवा रोगी को लग जाए तो वह रोग को दूर कर देती है। उनका दर्शन भी मिथ्यात्व का अपहरण करने वाला होता है। उनके वचन भी अज्ञान को तिरोहित करने वाले होते हैं, सम्यग्ज्ञान की ज्योति को प्रज्ज्वलित करने वाले होते हैं। तो 'रत्नत्रय पवित्रिते' यह शरीर भी रत्नत्रय से पवित्र हो जाता है। जो शरीर का स्वभाव है उसे तो बदल नहीं सकते किन्तु शरीर की प्रकृति को मोड़ लिया। जो अपवित्र था, पाप में लिप्त था, अब जब धर्म की मूर्ति बन गया तो तीर्थंकर भगवान् का वह शरीर भी परमौदारिक हो जाता है, धर्म के प्रभाव से उनके शरीर में विद्यमान रक्त भी श्वेत होता है।

जिसके पास जैसा होता है वह वैसा देता है जैसे–नीम का कड़वापन, मिर्ची का चरपरापन, चंदन का सुगंध देना; सबका अलग-अलग स्वभाव होता है। इसी प्रकार शरीर का स्वभाव मलिन है, अशुचि है, इसमें आसक्त व्यक्ति का मन भी अशुचि हो गया किन्तु ये शरीर ऐसी आत्मा को धारण कर रहा है जिस आत्मा ने अपने अंदर रत्नत्रय को प्रगट कर लिया है तो रत्नत्रय की आभा से शरीर भी पवित्र हो जाता है जैसे घातिया कर्म से रहित आत्मा जिस शरीर में वास करती है वह शरीर भी परमौदारिक हो जाता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं–'स्वभावतोऽशुचौ काये' यह शरीर स्वभाव से अपवित्र जरूर है किन्तु रत्नत्रय के संस्कार देने से पवित्र हो जाता है। श्मशान को भी पुष्पवाटिका बनाया जा सकता है। श्मशान भयंकर था किंतु पुष्प वाटिका बनते ही सुंदर हो गया। जैसे किसी की क्रूर, भयंकर आकृति बनाई, उसमें काला-काला सा रंग लगा था, अब उस कालिमा को अलग करके रंग-बिरंगे सुंदर रंगों से सजा दिया तो वही आकृति सुंदर लगने लगी। ऐसे ही इस शरीर में पवित्र आत्मा आ गई तो उसने शरीर को सजा दिया। यहाँ यही कह रहे हैं कि जब यह शरीर रत्नत्रय से पवित्र हो जाए तब यदि किसी मुनिराज के शरीर से पसीना बह रहा है, शरीर में गंदगी लगी है, उस पर मल जमा हुआ है तो 'निर्जुगुप्सा' उनके शरीर से ग्लानि

नहीं करना। धर्मात्मा के शरीर से ग्लानि नहीं करना, धर्मात्मा की आत्मा को देखना। आत्मा को देखकर उनमें प्रीति करना। धर्मात्मा की आत्मा ऐसे तो दिखती नहीं है, शरीर एक माध्यम है, उस शरीर में विद्यमान आत्मा है। आत्मा के गुणों में प्रीति करते हुए उस धर्मात्मा के शरीर के प्रति भी विनय भाव रखना, उनकी भक्ति करना, उनकी सेवा करना, उनको नमस्कार करना, ग्लानि नहीं करना क्योंकि धर्मात्मा से ग्लानि करना धर्म से ही ग्लानि करना होता है और जो धर्म से ग्लानि करेगा वह धर्म को कैसे प्राप्त करेगा।

अपने पूर्व भव में रुक्मणि एक समय दर्पण के सम्मुख बैठकर अपना शृंगार कर रही थी, उसी समय उसे दर्पण में किन्हीं मुनिराज की छवि दिखाई पड़ी, मुनिराज के मलिन तन को देखकर और अपने रूप के गुमान से उसके मन में घृणा उमड़ पड़ी–''यह कौन बदसूरत है जो मेरे सौंदर्य-शृंगार में उपस्थित हो गया''? उस समय उसने यह घृणित परिणाम कर तो लिए किन्तु धर्मात्मा के प्रति घृणा का परिणाम ये हुआ कि वह मरकर सूकरी, गधी और कुत्ती आदि बनकर अनेक दुर्गतियों की पात्रा बनी और बहुत समय तक भयंकर दु:खों को भोगती हुई फिर एक धीवर के परिवार में दुर्गंधा नामक बालिका के रूप में पैदा हुई। भाग्य से उसे पुनः वही मुनिराज मिले, मुनिराज ने उस कन्या को देखा और अपने अवधिज्ञान से उसका पूर्वभव जाना और पुनः करुणा–दयादृष्टि से उसे संबोधन दिया–हे पुत्री! पूर्व में तुम लक्ष्मीमती की पर्याय में थी, किंतु तुमने धर्मात्मा से घृणा कर अपनी दुर्गति के बीज बो लिए। यदि आज भी तुम यथाशक्ति संयम धारण करोगी तो सद्गति प्राप्त कर सकती हो। इस प्रकार मुनिराज के वचन सुन उस कन्या ने व्रतों को स्वीकार किया और रुक्मणि हुई।

महानुभाव! ऐसे कई उदाहरण आगम में आते हैं और हमें सावधान करते हैं, धर्म व धर्मात्माओं के प्रति घृणा–ग्लानि का भाव मत लाओ, मनसा–वाचा–कर्मणा उनकी निंदा मत करो, गुणग्राही दृष्टि रखो, गुणों में प्रीति रखो। गुणग्राही व्यक्ति हर किसी में गुण खोज लेता है और ग्रहण कर लेता है, वह चींटी जैसे छोटे जीव को देखकर भी पंक्तिबद्ध अनुशासित तरीके से चलना सीख जाता है इसीलिए सदैव गुणों को देखने की भावना होनी चाहिए। किंतु हमारी दृष्टि तो दूसरों के दोषों पर ही रहती है। आचार्यों ने लिखा है–

जो को वि धम्मसीलो, संजम-तव-णियम-जोय-गुणधारी।
तस्स य दोस-कहंता, भग्गा भग्गत्तणं दिंति॥– (रत्नत्रय पृ. 555)

जो कोई संयम से, नियम से, योग से युक्त किसी भी धर्मात्मा में दोष देखता है, वह स्वयं भग्न है, भ्रष्ट है तथा दूसरों को भ्रष्ट करता है। आगे कहा–

'गुणप्रीतिः' गुणों में प्रीति करना। गुण में प्रीति करोगे तो निर्विचिकित्सा अंग का पालन होगा फिर शरीर से ग्लानि नहीं होगी। क्योंकि गुणों के प्रति प्रीति रखने वाले ही निर्विचिकित्सा भाव को प्राप्त कर पाते हैं। जो गुणों का मूल्यांकन नहीं कर सकते, वे उस गुण को प्राप्त नहीं कर सकते। नीतिकारों ने कहा है–

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि संतोषः।
अलिरेतिवनात्कमलं न दर्दुरस्त्वेकवासोऽपि॥ (सर्वो. श्लो.)

गुण का जानकार ही गुणी मनुष्यों में प्रेम करता है, गुणरहित मनुष्य को गुणी मनुष्य में संतोष नहीं होता। एक भौंरा वन से कमल के पास आता है परंतु मेंढक उसी तालाब में निवास करने पर भी कमल के पास नहीं जाता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि तो मात्र गुणों में प्रीति करता है, गुणों पर दृष्टि रखता है। वह अर्जुन के समान लक्ष्य भेद के लिए आँख पर ही दृष्टि रखता है अर्थात् गुणों पर ही दृष्टि रखता है। जो ग्लानि से युक्त होता है वह कदापि गुणग्राही नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि सीप की नहीं मोती की, दीप की नहीं ज्योति की आराधना करता है। वह बाह्य शरीर को देखकर घृणा नहीं करता वरन् अंतरंग के गुणों को देखकर उनके गुणों की प्राप्ति की भावना रखता है।

देखो! शरीर से हम चाहें कि वह हमें सुख दे दे, तो शरीर सुख नहीं देगा। शरीर को भोगो तो सुख नहीं मिलेगा, शरीर से भोगो तो सुख नहीं मिलेगा, सुख तो आत्मा का गुण है, आत्मा से भोगो, आत्मा में भोगो तो सुख मिलेगा। शरीर पुद्गलों को भोग सकता है, पुद्गल में सुख नाम का गुण नहीं है, पुद्गल में तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये गुण हैं। पुद्गल में सुख नही, ज्ञान नही, चेतना नही, उसमें पुद्गल की शक्ति है। **'न हि शशक-विषाणं कोऽपि कस्मै ददाति'** जिसके पास जो नहीं है वह उसे कहाँ से देगा। खरगोश के पास सींग नहीं हैं तो वह कहाँ से देगा, ऐसे ही शरीर के पास आत्मा का सुख नहीं वह सुख कैसे देगा। हाँ, आत्मा में आत्मा के गुण प्रगट होंगे तो शरीर भी पूज्यता को प्राप्त होता है। जैसे भगवान् जहाँ विराजमान हो जाएँ तो उनका सिंहासन भी पूज्यता को प्राप्त होता है। लोग भगवान् के पादपीठ की, वेदी की भी पूजा करते हैं, प्रतिष्ठा करते हैं। मुनि महाराज, आचार्य महाराज जिस पाटे पर विराजमान होते हैं वे उस स्थान से विहार कर गए तो लोग उस पाटे या सिंहासन को स्पर्श करते हैं, उनकी चरणधूलि अपने माथे से लगाते हैं। कई व्यक्ति सिंहासन पर कपड़ा फेर के ले जाते हैं कि हमारा कपड़ा पवित्र हो गया। उससे उनकी विशुद्धि बढ़ती है, उन्हें आनंद आता है क्योंकि वे विशुद्ध वर्गणाएँ हैं। जैसे विशुद्ध वर्गणाएँ सिद्धक्षेत्रों पर रहती हैं; सिद्धक्षेत्रों पर सिद्ध परमेष्ठी

आज नहीं हुए, बहुत पहले ही सिद्ध हो गए किन्तु विशुद्ध वर्गणाएँ आज भी वहाँ पर विद्यमान हैं। ऐसे ही पवित्र आत्मा, रत्नत्रय से सहित आत्मा कहीं भी है वह ग्लानि के योग्य कभी भी, किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी अवस्था में नहीं होती।

यहाँ तक कि रत्नत्रय से सुशोभित किसी मुनि महाराज का आपने स्मरण किया, उनकी आत्मा तो दिख नहीं रही, शरीर सहित का स्मरण किया, उन परमेष्ठी के स्मरण मात्र से ही आपको सातिशय पुण्य का बंध होगा। परोक्ष में भी नमस्कार करने से पाप का क्षय, पुण्य का वर्धन होता है। तो परमेष्ठी कहीं भी ग्लानि के योग्य नहीं हैं तो फिर क्या आर्यिका माता जी से ग्लानि कर लें, ऐलक जी, क्षुल्लक जी से कर लें वे तो परमेष्ठी नहीं हैं? नहीं, उनके अंदर भी धर्म का अंश है सम्पूर्ण रत्नत्रय नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र भी अंश रूप में है। इसलिए वे भी ग्लानि के योग्य नहीं हैं। गुण का इच्छुक कभी गुण की उपेक्षा नहीं करता, अपमान नहीं करता। तो गुणों में दृष्टि रखकर, गुणों में प्रीति करके निर्विचिकित्सा अंग का पालन करना चाहिए। जिस प्रकार उद्दायन राजा ने पालन किया वैसे ही आप भी निर्विचिकित्सा अंग का पालन करके अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाएँ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अमूढ़दृष्टि अंग

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्य-सम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्ति - रमूढ़ादृष्टिरुच्यते॥14॥

अन्वयार्थ–दुःखानां पथि – दुःखों के कारणभूत, **कापथे** – कुमार्ग में, **अपि** – तथा, **कापथस्थे** – कुमार्ग स्थितों में, **असम्मतिः** – मन से सम्मत नहीं होता, **अनुत्कीर्ति** – वचन से प्रशंसा नहीं करता, **असंपृक्तिः** – तथा काय से विनय-भक्ति नहीं करता, सो, **अमूढ़ादृष्टिः** – अमूढ़दृष्टि, **उच्यते** – कहा जाता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी की अनुपम कृति रत्नकरण्ड श्रावकाचार रत्नोपमा गाथाओं से समन्वित, श्रावकों के लिए अति महत्वपूर्ण, दुःखों की विच्छेदक, सुखों के मार्ग की सृजक है। यदि इस कृति के शब्दों को धारण करता हुआ जीवन में आचरण करे तब श्रावक भी परम्परा से मुक्ति का पथिक बन जाएँ। ये एक सहारा है, उजाला है।

''हर सहारा बेअमल के वास्ते बेकार है,
गर आँख ही खोली नहीं तो कोई उजाला क्या करे।''

यदि इन कारिकाओं को अपने जीवन में अंगीकार करें तो ये कारिकाएँ हमें मोक्षमार्गी बना सकती हैं। नहीं अंगीकार करें तो कंठ में धारण करने से कुछ समय के लिए कंठ की खुजलाहट तो दूर हो जाएगी किन्तु आत्महित की संप्राप्ति नहीं हो सकेगी। इन्हें कंठस्थ करके किसी विद्वान् से बहस की जा सकती है, किसी भद्र परिणामी साधर्मी का अपमान-तिरस्कार किया जा सकता है किन्तु उसे आचरण में लाकर अपनी आत्मा का हित किया जाना संभव है। आचार्य भगवन् के इस ग्रंथ की कारिकाएँ आत्मा रूपी रत्न को निर्मल बनाने के लिए, आपकी भाषा में कहें तो साबुन की बट्टियाँ हैं। इनको अपनी आत्मा पर रगड़ें तो अपनी आत्मा का मैल दूर हो। जैसे साबुन की बट्टी कपड़ों पर रगड़ने से कपड़ों का मैल दूर होता है। यह साबुन की बट्टी किसी के सिर पर मारने के लिए नहीं है, किसी का तिरस्कार करने के लिए नहीं वरन् अपनी आत्मा को रत्न की तरह प्रकाशित करने के लिए है। यह कारिका नहीं वरन् ज्ञान की शलाकाएँ हैं। यह रत्नकरण्ड श्रावकाचार रूपी दियासलाई में रखी रत्न रूपी काढी/शलाका हैं। जैसे दियासलाई पर रगड़ने से ज्योति प्रज्ज्वलित होती है ऐसे ही इन कारिकाओं को अपने आचरण में प्रेषित करने से सम्यक्त्व निर्मल बनेगा, उज्ज्वल बनेगा, चारित्र में दृढ़ता आएगी और संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति होने लगेगी। आत्मा का वैभव दृष्टिगोचर होगा, अनुभवगम्य-अनुमानगम्य होगा और स्वतः ही आनंद के स्रोत फूट पड़ेंगे।

पूर्व कारिका में निर्विचिकित्सा अंग की चर्चा की–कहा संसार की जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है वैसा है, उसमें किसी से रति भी मत करो और द्वेष भी मत करो, स्वभाव को जानो। अपने स्वभाव को भी जानो-पहचानो व अपने शुद्धस्वभाव को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। यदि मिर्ची चरपरी है तो है, नीम कड़वी है तो है, सबका अपना-अपना स्वभाव है; तो फिर उससे द्वेष क्यों करना? उसके इच्छुक भी संसार में हैं। ऐसे ही शरीर व आत्मा के स्वभाव को जानकर आत्मा के स्वभाव को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। नश्वर के अहंकार का पोषण करने के लिए अविनश्वर का अपमान मत करो, अविनश्वर आत्मा को जानो-पहचानो। जो नश्वर दिखाई दे रहा है वह आपका नहीं, आपका तो वह है जो अविनश्वर देखने वाला है। दिखने वाले तुम नहीं हो, तुम तो देखने वाले हो, जो देखने वाला ज्ञाता-दृष्टा आत्मा है वह तुम हो। मूर्खता का परिचय मत दो। इस 14वीं गाथा में यही कहना चाहते हैं कि विवेक बुद्धि का प्रयोग करो। ये कारिकाएँ केवल गुनगुनाने के लिए नहीं हैं, केवल मन रंजायमान करने के लिए नहीं हैं अपितु मन को निर्मल करने के लिए साधन हैं। जैसे कोई व्यक्ति रोग होने पर औषधि का सेवन यदि मूर्खतापूर्वक कर लेता है तो औषधि कई बार रोग को दूर न करके रोग बढ़ाने वाली भी हो जाती है। कई बार औषधि का सेवन सही अनुपात में न करे, विधिपूर्वक नहीं करे तो वह औषधि भी हानिकारक हो जाती है। ऐसे ही धर्म के क्षेत्र में मूर्खता का परिचय नहीं देना।

किसी वैद्य ने पैर में चोट लगने पर लगाने वाली दवाई दी और फिर कहा हल्दी दूध में डालकर पी जाना, इससे दर्द कम होगा। उस व्यक्ति ने मूर्खतावश उल्टा कर लिया जो लेप लगाना था उसे तो घोलकर पी गया और हल्दी व दूध से लेप कर लिया। ऐसे ही व्यक्ति धर्म के क्षेत्र में करता है, वह आत्मा को तो भूल जाता है शरीर को याद करता है। नश्वर शरीर को पुष्ट करना चाहता है, संतुष्ट करना चाहता है। व्यक्ति की यह मानसिकता है कि मैं हृष्ट-पुष्ट दिखाई दूँ। अरे! शरीर को सुंदर नहीं बनाना, आत्मा को सुंदर बनाना है। शरीर की प्रशंसा मत करो आत्मा की प्रशंसा करो और आत्मा प्रशंसनीय हो तो शरीर प्रशंसनीय कहा जा सकता है किन्तु आत्मा में मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र है और शरीर चाहे सोने जैसा चमकता भी रहे तो किस काम का। वह तो ऐसे ही समझो जैसे स्वर्ण के कलश में जहर भरा हो। स्वर्ण कलश में भरा हुआ जहर विद्वानों के द्वारा पीया नहीं जाता, उसी तरह से मिथ्यादृष्टि आत्मा की पूजा नहीं की जाती। उपासना उसकी की जाती है जिसने रत्नत्रय के फल को प्राप्त कर लिया हो या जो रत्नत्रय की साधना कर रहे हैं।

धर्म, बिना विवेक-बुद्धि के नहीं किया जा सकता। प्रत्येक क्रिया में विवेक लगाना आवश्यक है। एक क्रिया भी बिना विवेक की हुई तो अविवेक के साथ की गई क्रिया सुखद न होकर के दुखद हो जाती है। एक अविवेकी क्रिया भी अनंत संसार का कारण बन सकती है। एक मिथ्या भाव भी आपको अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करा सकता है, एक मिथ्या वचन का श्रद्धान भी 70 कोड़ा-कोड़ी सागर तक घुमाने में समर्थ है। एक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी का एक कल्पकाल होता है अर्थात् 20 कोड़ा-कोड़ी सागर किन्तु मिथ्यात्व का बंध तो 70 कोड़ा-कोड़ी सागर तक हो सकता है यानि 20 कोड़ा-कोड़ी सागर से भी 3 गुना ज्यादा। इतने काल तक जीव कहाँ भ्रमण करेगा? निगोद में। क्योंकि इस जीव का व्यवहार राशि का काल तो मात्र दो हजार सागर है, अधिक से अधिक। इतने में अपना कल्याण कर लिया तब तो ठीक है, नहीं तो फिर से इतर निगोद में पहुँच गए। तो अविवेक की क्रिया नहीं करनी, विवेकपूर्वक-क्रिया करनी है। कई बार व्यक्ति अपना विवेक न लगाते हुए दूसरों की बात सुनकर वैसा मान लेता है, वैसी ही क्रिया करके पुण्य के स्थान पर पाप का बंध कर लेता है। कभी भगवान् की निंदा कर दी, गुरुजनों का अपमान कर दिया, शास्त्र की अविनय कर दी, उपहास कर दिया, कभी त्यागीव्रती की अवहेलना कर दी जिसने पाप का बंध कर लिया। अब ये मत सोचो कि उसने कह दिया था इसलिए मैंने कह दिया। भैया! तुमने किसी के भी निमित्त से भाव खराब किया हो, कर्म का बंध तो तुम्हें हुआ है, भोगना तो तुम्हें पड़ेगा। इसलिए अपनी क्रियाओं को संभालो, अपने वचनों को संभालो और अपने मन को संभालो, इनको संभाले बिना आपकी आत्मा नहीं संभलेगी। आचार्य महोदय यही भाव कहना चाहते हैं कि आपको मूर्खता का परिचय नहीं देना, मूर्ख कौन होता है?

''णो जाणदि हिदमहिदं मूढो'' जो हित-अहित को नहीं जानते वे मूर्ख कहलाते हैं। जो मानव परीक्षा रूपी चक्षु के द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय न करके, हिताहित के विचार से शून्य होकर यद्वा-तद्वा वस्तु को ग्रहण करता है वह मूढ़ कहलाता है। जो समीचीन देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को न जानकर अन्यथा प्रवृत्ति करता है, ऐसा बहिरात्मा मूढ़ कहलाता है। ऐसा मूर्ख व्यक्ति स्व-पर हित के मार्ग में कैसे प्रवृत्ति कर सकता है अथवा मूर्ख की परिभाषा ऐसे समझें कि जो मूल को खा जाए अर्थात् बीज को, जड़ को खा जाए वह मूर्ख है। जब वह बीज का ही भक्षण कर लेगा तो आगे खेती कैसे करेगा। आप पढ़ते हैं वैराग्य भावना में-

बीज राख फल भोगवे, ज्यों किसान जग मांहि।
त्यों चक्री नृप सुख करे, धर्म विसारे नांहि॥

चक्रवर्ती उत्तम-उत्तम भोगों को भोगता है। दस प्रकार के देवोपुनीत जैसे भोगों को सुदीर्घकाल तक भोगता है किन्तु पुण्य करना नहीं छोड़ता। और बाद में दीक्षा भी लेता है तो स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करता है। जो पुण्य को भोग लेते हैं वह बीज को भोगने के समान है, वे पाप का बंध करके नरक में भी चले जाते हैं। जिस व्यक्ति को पूर्व के पुण्य का फल आज मिल रहा है वह उसे भोग ले और आगे पुण्य नहीं करे तो वह मूर्ख है, उसने मूल को ही खा लिया। तो धर्म के क्षेत्र में मूर्खता का परिचय नहीं देना। आचार्य महोदय अमूढ़दृष्टि अंग का स्वरूप बताते हुए कहते हैं–

'कापथे'–अर्थात् कुत्सित मार्ग-खोटा मार्ग। खोटा मार्ग कौन सा होता है? बुराईयों का मार्ग, पाप का मार्ग, इंद्रिय विषय सेवन का मार्ग, संसार परिभ्रमण का मार्ग, दुर्गति-दुरावस्था-दु:ख का मार्ग खोटा मार्ग कहलाता है। **'कापथे पथि दु:खानां'** दु:खों का जो हेतु है ऐसे खोटे मार्ग में जो **'कापथस्थे'** स्थित है, चल रहा है, वह पतन के मार्ग पर चल रहा है, हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह के मार्ग पर चल रहा है, क्रोध-मान-माया-लोभकषाय के मार्ग पर चल रहा है। वह संसारमार्गी है, वह मिथ्यात्व का पोषण कर रहा है, वह जिनवाणी के वचन को नहीं मान रहा, वीतरागी भगवान् के प्रति उसकी श्रद्धा नहीं है, वह स्वयं को ही भगवान् जैसा मानता है, थोड़े से शास्त्रों का अध्ययन क्या कर लिया अब तो बस मुनियों की निंदा करना प्रारंभ कर दिया, शास्त्रों की, जिन प्रतिमाओं की निंदा करना प्रारंभ कर दिया। अरे भाई! क्या संस्थान को देखते हो, हुण्डक संस्थान वाले भी केवली हो सकते हैं। क्या नाप तौल कर रहे हो उन वीतरागी भगवान् में। जो मूर्ति हजारों साल पहले प्रतिष्ठित हो गई उस मूर्ति के प्रति अविनय का भाव क्यों? वह पूज्य है, हजारों साल से उनकी पूजार्चना हुई। आप जाकर उपहास करते हो; ये भगवान् तो मोटू से लग रहे हैं। आप यह शब्द भगवान् के लिए कहकर कितना पाप का बंध कर रहे हो, अरे! ये भगवान् तो दुबले-पतले-सूखे से हैं ऐसे शब्द कभी भी मुँह से नहीं बोलने चाहिए। संसारी प्राणियों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द कभी भगवान् के लिए, जिनवाणी के लिए, मुनियों के लिए नहीं बोलना चाहिए।

अपने शब्दकोश में से उत्कृष्ट व चुनिंदा शब्दों को खोजकर लाओ, वह अपने इष्ट-आराध्य प्रभु परमात्मा के लिए प्रयोग करो, अपनी जिनवाणी के लिए, अपने धर्म के लिए प्रयोग करो। निकृष्ट शब्दों का प्रयोग करोगे तो निकृष्टता की प्राप्ति होगी। संसारी प्राणियों जैसा व्यवहार, हँसी-मजाक-उपहास में विनय-अविनय का ध्यान नहीं रखना; ऐसा व्यवहार देव-शास्त्र-गुरु के समक्ष करना यह आपका अविवेक है। अविवेक की क्रिया पाप का

आस्रव कराने वाली होती है, यह संसार परिभ्रमण कराने वाली है। आपको अभी ज्ञात नहीं कि आपकी किस क्रिया से कौन से कर्म का बंध होगा, किस प्रकार के वचनों से कौन सा बंध होगा, किस प्रकार के मनोविचार से कौन सा बंध होगा इसलिए आप इस प्रकार की प्रवृत्ति कर रहे हो। आप अपने आपको संभालो। जो व्यक्ति खोटे मार्ग में चल रहा है, जो दु:खों का, मिथ्यात्व का, अज्ञान का व असंयम का मार्ग है उस पर चल रहा है, जो कोई विद्वान् चार शास्त्र पढ़कर मुनियों की निंदा करता है और आपको सुनने में बड़ा आनंद आ रहा है, रात भी निकल गई चर्चा करते-करते और माला फेरने बैठे तो पाँच मिनट में झोंका आने लगे; आपको निंदा में आनंद आ रहा है तो समझो आपका पाप का आस्रव हो रहा है। इसीलिए विद्वान् लोग कहते हैं—मनीषियों ने लिखा है कि निंदा आठवां व्यसन है, जो सातों व्यसनों का बाप है। निंदा रूपी व्यसन से बचो। सात व्यसनों का त्याग करना तो सरल है किन्तु किसी की निन्दा नहीं करना बड़ा कठिन है। आप संकल्प ले लो कि मैं कभी यथार्थ, परमार्थ धर्म की, परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु की निंदा नहीं करूँगा, किसी साधर्मी की निंदा नहीं करूँगा। जैन दर्शन में तो कभी किसी की निंदा करना कहा ही नहीं फिर धर्म के मूलभूत आधारों की, जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र के कारण हैं उनकी निंदा कैसे कर सकते हो?

आप कहते हैं भाई! मैं निन्दा अपने मुँह से तो नहीं करता किंतु हाँ, सुन जरूर लेता हूँ। तो ध्यान रखना सुनने वाला भी उतना ही पापी होता है जितना करने वाला होता है। जैन धर्म में कृत-कारित-अनुमोदना तीनों का फल दिया। पुण्य की क्रिया करो-कराओ-भावना भाओ तो पुण्य का फल मिलेगा, पाप की क्रिया करो या कराओ अथवा करने वाले की अनुमोदना करो तो पाप का फल तुम्हें भी भोगना पड़ेगा। आपको ज्ञात है श्रीपाल के जीव ने श्रीकंठ की पर्याय में मुनिमहाराज को कोढ़ी कह दिया तो वे भी कुष्ट रोग से पीड़ित हुए एवं 700 साथियों ने उनके कृत्य पर तालियाँ बजायीं, अनुमोदना की तो वे 700 साथी भी कोढ़ी बने। इसीलिए कभी देव-शास्त्र-गुरु की निन्दा-अपमान-अवहेलना मत करो।

''कापथस्थेऽप्य-सम्मति:'' आचार्य महोदय ने वस्तु स्वरूप को जानकर मूढ़ता का परित्याग करने का संकेत दिया कि कुमार्ग में स्थित मिथ्यादर्शनादि के आधारभूत किसी जीव का समर्थन नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो धर्म के विरुद्ध हैं, उनका समर्थन करने से अधर्म का विस्तार होता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र आत्मीय सुख के कारण होने से सुमार्ग कहलाते हैं और मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र दु:ख का कारण, दुर्गति में भ्रमण कराने का कारण होने से कुमार्ग कहलाता है और इस कुमार्ग के धारक कुमार्गस्थ

कहलाते हैं। कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु एवं कुदेव सेवक, कुशास्त्र सेवक व कुगुरु सेवक की मान्यता करना तो साक्षात दु:खों को निमंत्रण देने के समान है। कुपथ में स्थित ये छह अनायतन जो बाहर से चमत्कारपूर्ण नजर आते हैं पर भीतर से शून्य होते हैं। ये स्वयं दु:ख पाते हैं और दूसरों को भी दु:ख के मार्ग पर ढकेल देते हैं। सम्यग्दृष्टि कभी भी कुदेवादि को नमस्कार आदि नहीं करता।

पद्मपुराण में राजा वज्रकर्ण का उदाहरण आता है। दशांगपुर में राजा वज्रकर्ण राज्य करता था। वह जन्म से अत्यंत बलवान् किंतु क्रूर स्वभावी, इंद्रियों का वशगामी, सदाचार से विमुख इस रूप में प्रसिद्ध था। वह शिकार नामक व्यसन का लोलुपी था। एक दिन जंगल में घूमते-घूमते उसने कनेर वन के बीच में शिलातल पर विराजमान प्रीतिवर्धन नामक मुनिराज को देखा। सिंह के समान निर्भय मुनिराज नि:शंक अपने ध्यान में लीन थे। वज्रकर्ण ने घोडे पर चढ़े-चढ़े ही अपने हाथों में भाला लेकर कहा–हे साधो! 'क्या कर रहे हो?' मुनिराज ने प्रशम भाव से उत्तर दिया जो पिछले सैकड़ों भवों में भी न कर सका ऐसा आत्मा का हित करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। वज्रकर्ण हंसने लगा, इस अवस्था में जहाँ शरीर सूख गया हो, कोई लावण्य शेष नहीं बचा, तन पर धागा भी नहीं, जिसका कोई सहायक नहीं, उसका आत्महित कैसा? इंद्रिय विषयों से पीड़ित राजा वज्रकर्ण को देखकर दया के सागर प्रीतिवर्धन मुनिराज ने उसे धर्म का उपदेश दिया, पाप व पाप के फलों को समझाया, नरकादि दुर्गतियों का, किंपाक फल के समान इंद्रियजन्य सुखों का प्रतिफल दु:ख स्वरूप है समझाया और आत्मा के हित का यथार्थ स्वरूप समझाया। वज्रकर्ण पर मुनिराज की संयमी वाणी का प्रभाव पड़ा हाथ जोड़कर, घुटने टेककर अपना सिर मुनिराज के चरणों में रखकर बड़े विनय भाव से अणुव्रतों को ग्रहण किया और प्रतिज्ञा की कि मैं जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी और निर्ग्रंथ गुरु के अतिरिक्त अन्य कहीं नमस्कार नहीं करूँगा।

ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ राजा वज्रकर्ण अपने राज्य में आया और राज्य संचालन करने लगा, उसने सोचा कि मैं तो उज्जयिनी के राजा सिंहोदर का सेवक हूँ यदि मैं उसे नमस्कार नहीं करूँगा तो वे मुझे दण्ड देंगे और उन्हें नमस्कार करके मैं अपनी प्रतिज्ञा भी भंग नहीं करना चाहता, इस प्रकार बहुत सोच-विचारकर उसने एक अँगूठी बनवाई जिसमें मुनिसुव्रतनाथ भगवान् की प्रतिमा जड़ित कराई और अपने दाहिने हाथ में पहन ली, अब वह जब भी सिंहोदर राजा के पास जाता उस अंगूठी को आगे रखता और नमस्कार करता। एक दिन वज्रकर्ण का यह रहस्य और उसकी प्रतिज्ञा किसी ने सिंहोदर राजा को बता दी, इसे सुनकर उन्हें बहुत

क्रोध आया और राजा वज्रकर्ण को मारने का विचार बनाया। सिंहोदर राजा ने विद्युदंग नामक व्यक्ति को वज्रकर्ण के पास भेजा और मिलने के बहाने बुलाया, सिंहोदर की कुटिलता से अनभिज्ञ वज्रकर्ण जब मिलने आ रहा था तब विद्युदंग ने अँगूठी वाली सारी बात वज्रकर्ण को बता दी कि राजा सिंहोदर तुम्हारी इस प्रवृत्ति से बहुत क्रोधित है और तुम्हें भयंकर दण्ड मिलने वाला है।

वज्रकर्ण सिंहोदर राजा के समक्ष पहुँचा, सिंहोदर ने कहा–वज्रकर्ण! मैने तुझें यह राज्य देकर राजा बनाया और अब तुम मुझे ही नमस्कार नहीं करते? तब वज्रकर्ण ने निर्भीकतापूर्वक कहा– हे राजन्! आप सब कुछ ले लो किन्तु मैं सच्चे देव-शास्त्र और गुरु के अतिरिक्त अन्य कहीं नमस्कार नहीं करूँगा, यह मेरा दृढ़ निश्चय और गुरुसाक्षी में लिया गया संकल्प है। मुझे प्राणों की चिंता नहीं; किन्तु मैं अपना नियम नहीं तोड़ूँगा। मेरा यह मस्तक जिनशासन के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं झुकेगा और इतना कहना ही था कि सिंहोदर ने क्रोधित होकर वज्रकर्ण पर आक्रमण कर दिया; किन्तु उसकी सेना वज्रकर्ण के अभेद्य किले में प्रवेश नहीं कर पाई और सिंहोदर ने क्रोध में आकर पूरा गाँव-नगर जला दिया। पुनः बाद में राम-लक्ष्मण जब वनवास के समय वहाँ आए, सिंहोदर राजा के बारे में पता चला कि उसने धर्मात्मा वज्रकर्ण के साथ ऐसा किया तो सिंहोदर को बंदी बना लिया और वज्रकर्ण के समक्ष प्रस्तुत करके पूछा कि बताओ इसे क्या दण्ड दें? तब वज्रकर्ण ने कहा–मैं किसी को दुःख नहीं देना चाहता अतः इन्हें छोड़ दिया जाएँ

महानुभाव! यह पहचान होती है एक सम्यग्दृष्टि की, वह अपने धर्म से च्युत नहीं होता, वह मिथ्याधर्म की न श्रद्धा करता है, न स्वीकारता है, न तदनुकूल आचरण करता है, बल्कि उसे हेय मानकर छोड़ देता है।

तो जो खोटे मार्ग में स्थित हैं, दुःखों के मार्ग में स्थित हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि-मिथ्याज्ञानी-मिथ्याचारित्र वाले किसी भी व्यक्ति की मन से कोई सम्मति मत दो, वचन से कोई कीर्ति मत गाओ और तन से कोई अनुमोदना मत करो। जो व्यक्ति मन से सम्मति नहीं देता, वचन से कीर्ति नहीं गाता व तन से अनुमोदना नहीं करता ऐसा व्यक्ति विवेकवान् है, सत्य-असत्य को जानने वाला है, वह ही अमूढ़दृष्टि वाला कहा जाता है। जो अपना विवेक नहीं लगाता उसे अमूढ़दृष्टि नहीं कहा जाता। किसे कैसी क्रिया करनी है ये आप सब जानते हैं, ऐसा नहीं है कि आप लोकव्यवहार में विवेक नहीं लगाते, अंदर पहनने वाले वस्त्रों को कोई बाहर नहीं पहनता, कोई मूर्खता नहीं करता, वह जानता है मैं ऐसे करूँगा तो लोग हँसेंगे। जब लोकव्यवहार में

आप विवेक का परिचय देते हो तो धर्म के मार्ग में विवेक का सहारा क्यों नहीं लेते। भोजन में विवेक का परिचय देते हो, दूध में नमक नहीं शक्कर डालते हो, तो आपको धर्म के क्षेत्र में भी विवेक का परिचय देना चाहिए। विवेकपूर्ण क्रिया ही मोक्षमार्ग में साधक होती है, सम्यग्दृष्टि का यही अमूढ़दृष्टि अंग है।

इस प्रकार आचार्य महोदय ने सम्यग्दृष्टि के चतुर्थ अंग अमूढ़दृष्टि गुण को बताया कि वह सम्यग्दृष्टि श्रद्धालु तो होता है पर अंध-श्रद्धालु नहीं होता। वह प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक ही करता है। वह मिथ्यामार्ग व मिथ्यामार्गी को देखकर, वर्तमान में उसके पुण्यफल को देखकर भी समीचीन मार्ग को नहीं छोड़ता, कुमार्ग कुमार्गगामियों में अपनी सहमति नहीं देता, मन-वचन-काय से उनकी प्रशंसा व कृत-कारित-अनुमोदना से भी उनकी सराहना नहीं करता, वह अपने जिनमार्ग में निःशंक रहता है। वीतराग-सर्वज्ञ अरिहन्त प्रभु एवं सिद्ध परमेष्ठियों के अतिरिक्त अन्य किसी को देव नहीं मानता, रत्नत्रयधारी निर्ग्रंथ मुनिराज को छोड़कर अन्य किसी वेषधारी को गुरु नहीं मानता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप जो मोक्षमार्ग है उसके अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को मोक्ष का कारण नहीं मानता और न उसका सेवन करता, और जिनवचनों के विरुद्ध किसी बात को नहीं मानता। आप सभी उस अंग को अपनी चेतना में धारण करो, मोक्षमार्ग में आगे बढ़ो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

उपगूहन अंग

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य, बालाऽशक्त-जनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम्॥15॥

अन्वयार्थ–स्वयं शुद्धस्य – स्वभाव से पवित्र, **मार्गस्य** – मार्ग की, **बालाऽशक्तजनाश्रयां** – अज्ञानी तथा असमर्थजनों के निमित्त से उत्पन्न हुई, **वाच्यतां** – निन्दा को, **यत् प्रमार्जन्ति** – जो दूर करता है, **तत्** – उसको, **उपगूहनं** – उपगूहन अंग, **वदन्ति** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सम्यक्त्व के चार अंगों को देखा। नि:शंकित अंग, नि:कांक्षित अंग, निर्विचिकित्सा अंग और अमूढ़दृष्टि अंग। ये अंग स्वानुपेक्षी हैं, पर का इसमें विशेष निमित्त कार्यकारी नहीं है। स्वयं की श्रद्धा को शंका से रहित बनाओ, स्वयं इतनी विशुद्धि बढ़ाओ कि मन में कोई कांक्षा का भाव पैदा ही न हो। तत्त्वदृष्टि वाला व्यक्ति किसी प्रकार की आशा नहीं रखता। जिसकी दृष्टि तत्त्व की ओर है वह शरीर को देखकर ग्लानि भी नहीं करता। धर्मात्मा को संसारी प्राणी में धर्म दिखाई देता है। जिसकी दृष्टि जहाँ होती है उसे वही दिखाई देता है इसलिए निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाला मलिन शरीर को नहीं उसमें विद्यमान आत्मा को देखता है। जब आत्मा की ओर दृष्टि जाती है तब उसके चित्त में गुणों के प्रति प्रेम-भक्ति-श्रद्धा स्वयं निष्पन्न होती है। फिर वह शरीर के प्रति दृष्टि नहीं रखता क्योंकि वह जानता है शरीर का स्वभाव अशुचिमय है। मूढ़दृष्टि अर्थात् मूर्खतापूर्ण दृष्टि सत्य निर्णय तक नहीं पहुँचा सकती इसलिए सम्यग्दृष्टि स्वयं के किसी भी निर्णय के संबंध में मूर्खता का परिचय नहीं देता। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसकी प्रवृत्ति विवेक से अनुस्यूत होती है। वह रूढ़ि से नहीं चलता, वह धर्म के अनुसार चलता है। किस श्रद्धान से आत्मा का हित है व किससे अहित है। तत्त्वों का ज्यों का त्यों स्वरूप जानकर के वह अपनी प्रवृत्ति करता है।

यहाँ सम्यक्त्व के पाँचवें उपगूहन अंग के संबंध में देखते हैं। क्या है उपगूहन अंग, क्यों है इसकी आवश्यकता? क्या उपगूहन अंग के बिना धर्म का पालन नहीं किया जा सकता? इस संबंध से पहले सामान्य चर्चा करें, आगम चर्चा बाद में। उपगूहन का अर्थ होता है 'ढांक देना'। उपगूहन अंग होता है बुराईयों को, दोषों को और जो हित के प्रतिकूल प्रवृत्ति है उससे बच जाना। गुणों को, अच्छाईयों को, हित के मार्ग को, सुखद बिन्दुओं को प्रकाशित करना। सामान्यतया लोकव्यवहार में भी देखा जाता है जब कहीं दो व्यक्तियों में झगड़ा हो जाए,

कषाय बढ़ने लगे तो कहते हैं भैया! बात छोड़ो, इस बात पर पानी डालो, मिट्टी डालो। आग लग रही हो तो कहते हैं इस पर पानी डालो, बुझाओ। यदि बालक ने घर में गंदगी कर दी है तो उस बालक की माँ पहले उस पर मिट्टी डालती है जिससे घर में बदबू न फैले; क्योंकि उसे उघाड़ने से बदबू फैलेगी, वातावरण दूषित होगा। कदाचित् कहीं मिट्टी या राख न मिले तो भले ही फूलों की टोकरी डालनी पड़े।

भारतीय संस्कृति में ढकी हुई गंदगी को उघाड़ा नहीं जाता, अच्छाइयों को प्रकट किया जाता है, गुणों की प्रशंसा की जाती है। दोषों की निंदा करने से दोषी सुधरता नहीं अपितु वह बढ़-चढ़के दोष कर सकता है। सामान्य लोकव्यवहार में देखा जाता है कि जिसके प्रति अनुराग होता है उसके दोष नहीं गुण प्रकट किए जाते हैं। कोई मित्र है तो सभा के मध्य आप उसके दोषों का बखान न करेंगे, गुणों की चर्चा करेंगे। यदि कोई दोष भी होगा तो सच्चा मित्र उस दोष को नहीं कहेगा। कोई पिता, उसकी बेटी से कोई अपराध हो जाए तो सभा के मध्य कहेगा नहीं, बस उस दोष को वहीं की वहीं ढाँकने का प्रयास करेगा, उजागर नहीं करेगा, यह लोक धर्म है। यह भारतीय संस्कृति में कर्तव्य है एक सदाचारी व्यक्ति का, यह एक मानव धर्म है कि दोषों को उघाड़ना नहीं। दोष अग्नि की तरह होते हैं उन्हें उघाड़ने से सम्पूर्ण गाँव-नगर-कस्बा स्वाहा हो सकते हैं। ऐसे ही दोषों की अग्नि जलाने से सम्पूर्ण मानवता भी जल सकती है, सम्पूर्ण धर्म नष्ट हो सकता है, इसलिए दोषों को अग्नि की तरह ढांक करके रखा जाता है और गुणों को प्रकट किया जाता है। गुण स्व-पर प्रकाशक दीपक की तरह से होते हैं। गुणों की चर्चा करते-करते आनंद का अनुभव होता है। गुणों की चर्चा करने से सामने वाला व्यक्ति जो दोषी है उसका उपयोग दोष से हटकर गुणों की ओर आ जाता है, उसके पास चार गुण हैं तो पाँचवें गुण को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है और उसके जीवन से शनै-शनैः दोष निकलते जाते हैं।

महानुभाव! जैसी चर्चा करते हैं चर्या वैसी ही होने लगती है। जब आत्मीयजन के दोष लोक-व्यवहार में सामान्य मानव भी नहीं कहता तो एक धर्मात्मा अपने साधर्मी के दोषों की चर्चा सबके मध्य कैसे कर सकता है? वह दोषग्राही क्यों हो सकता है? क्या उसे अपने साधर्मी भाई में कोई गुण दिखाई नहीं दे रहा? जो गुणग्राहक व्यक्ति होता है वह सौ दोषों में से भी एक गुण को ग्रहण कर लेता है। जो दोषग्राही होता है वह जोंक की तरह से गाय के स्तनों से दूध न पीकर के खून को ही पीते हैं। इतना ही समझ लें धर्मात्मा और साधर्मी का लक्षण—जो अनेक गुणों में से भी दोष को ग्रहण करे वह अधर्मी, जो अनेक दोषों में से भी

गुणों को ग्रहण कर ले वह साधर्मी। जोंक के स्वभाव जैसा धर्मात्मा कभी नहीं होता, धर्मात्मा तो भ्रमर के स्वभाव जैसा होता है, पुष्प के पास जाता है वहाँ से पराग ले लेता है।

कोई व्यक्ति मार्ग से जा रहा था, मार्ग तो अच्छा था पर व्यक्ति कमजोर था, वह व्यक्ति चक्कर खाकर गिर पड़ा। वह व्यक्ति गिर गया तो क्या मार्ग दूषित हो गया? या वह व्यक्ति भूल में किसी दूसरे मार्ग पर कदम बढ़ा लेता है तो क्या मार्ग दूषित हो गया? नहीं, मार्ग तो दूषित नहीं हुआ। मार्गी से प्रमादवश, अज्ञानतावश या शक्ति की हीनता से त्रुटि होकर के वह मार्गी मार्ग में भ्रमित हो सकता है, पतित हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति चिकने मार्ग में चले, शीघ्रता से चले, अपने कदम जमा-जमाकर न रखे और फिसल जाए तो इसमें मार्ग का कोई दोष नहीं है। कोई तैराक तैरता चला जा रहा था और डूब गया तो गलती नदी की नहीं है, तैराक की है। कोई व्यक्ति गाड़ी चला रहा था उसका एक्सीडेंट हो गया तो गलती मार्ग की नहीं है, ड्राइवर की है; ऐसे ही हमारे जीवन में कहीं कदाचित् प्रमादवश, अज्ञानतावश, कषायवश या शक्ति की क्षीणता में भूल संभव है किंतु इससे मोक्षमार्ग कभी मलिन नहीं होता। मोक्षमार्ग अनादिकाल से शुद्ध है, इस मार्ग पर गमन करके अनंत महापुरुषों ने मोक्ष प्राप्त किया, आज भी मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं और अनंतकाल तक प्राप्त करते रहेंगे। मार्ग कभी मलिन नहीं होता। बुद्धिमान् व्यक्ति वह है जो मार्ग को दोष नहीं देता। मार्ग में यदि किसी मार्गी की अज्ञानता से या शक्ति की हीनता से मार्ग की निन्दा हो रही है तो उस निन्दा का परिमार्जन कर देना उपगूहन अंग है।

आचार्य महाराज के शब्दों में देखें– **'स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्'**–बाल और अशक्तजन के आश्रय से यदि मार्ग निंदित होता है, कलंकित होता है तो **'वाच्यतां'** उस दोष/बुराई/निन्दा को **'यत्प्रमार्जन्ति'** जो प्रमार्जन करते हैं **'तद् वदन्ति उपगूहनं'** उसे ज्ञानी पुरुष उपगूहन अंग कहते हैं।

इस कारिका में आचार्य महोदय सम्यग्दृष्टि जीव का आवश्यक कर्त्तव्य बताते हुए उपगूहन गुण के विषय में बता रहे हैं। **'बाल'** जो अज्ञानी हैं, वस्तु स्वभाव से अनभिज्ञ हैं, हिताहित विवेक से रहित हैं वे बाल कहलाते हैं। अथवा 'बाल' शब्द का अर्थ है अज्ञ, जो जिस विषय में नहीं समझता वह उस विषय में बाल कहा जाता है। जैसे जो न्याय, व्याकरण, साहित्य, छन्द आदि का जानकार भी हो किन्तु वह सिद्धान्त, दर्शन, धर्म का जानकार नहीं है तो वह उस विषय में बाल है। इसलिए यहाँ बाल से आशय छोटी उम्र नहीं है। हाँ, गुणों की अल्पता कह सकते हैं। **'अशक्त'** अर्थात् असमर्थ। यह असमर्थता अनेक कारणों से और अनेक प्रकार

की हुआ करती है। बाह्य रूप से कहें तो शरीर की विकलता, अपूर्णता, दुर्बलता, अयोग्यसंगति आदि परिस्थितियों को कहा जा सकता है और अंतरंगरूप से मोह, कषाय, अनुत्साह आदि मुख्य कारण कहे जा सकते हैं। दोनों में से कभी भी कोई एक या दोनों कारण हो सकते हैं। कहने का आशय है बालाशक्त जन के द्वारा जिनशासन का मार्ग यदि निंदित होता है तो सम्यग्दृष्टि एक माँ की तरह जैसे माँ अपने पुत्र-पुत्री के दोषों को क्षमा करती है, उनके दोषों को प्रेमपूर्वक दूर करने का प्रयत्न करती है उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टि अपना कर्तव्य समझकर उन अज्ञानी असमर्थ जनों के द्वारा उत्पन्न दोषों को देखकर उनकी निन्दा, भर्त्सना आदि न करके प्रेमपूर्वक निर्दोष बनाने की चेष्टा करता है। वह उन दोषों को निकालकर जहाँ गुणों को बढ़ाने की आवश्यकता है वहाँ गुणों को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। उपगूहन गुण के विषय में कहा–

'निज गुन अरु पर औगुन ढाँके' जो सम्यग्दृष्टि जीव पर के दोषों को छिपाता है, दूर करता है, दोषों को गुप्त रखकर धर्म की निन्दा होने से बचाता है वह स्वयं के सम्यग्दर्शन को निर्मल करता है। वह कहता है मुझे न किसी की निंदा करनी है, न किसी से बैर भाव रखना है, मुझे तो फिटकरी की भाँति बनना है अर्थात् सम्यक्त्व रूपी जल में उठते हुए कचरे को दबाना है। आचार्य श्री कार्तिकेयस्वामी जी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा–

जो परदोसं गोवदि णियसुकयं जो ण पयासदे लोए।
भवियव्व-भावणरओ, उवगूहण-कारओ सो हु॥418॥

जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोषों को ढाँकता है और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता है, ऐसी भावना में लीन रहता है कि जो भवितव्य है, वह होता है तथा होगा वह उपगूहन गुण करने वाला है।

वह बस यही भावना रखता है कि हे भगवन्! किसी भी माध्यम से धर्म का लोप न हो, धर्ममार्ग पर दाग न लगे, वह येन-केन प्रकारेण दूषित हृदय युक्त मिथ्यादृष्टियों से धर्म को बचाता है और सद्मार्ग में चलने वाले जीवों के दोषों को गुप्त रखता है। यहाँ आचार्य महोदय यही बात कह रहे हैं कि आप स्वयं को शुद्ध करो, मार्ग तो पवित्र है, मार्ग पर चलने वाला अपवित्र हो सकता है, मार्ग नहीं। धर्म का मार्ग, मोक्ष का मार्ग अति पवित्र एवं शुद्ध है परंतु यदि किसी 'बाल' या किसी 'अशक्त' जीव द्वारा उसकी निंदा हो तो उस निंदा को ढक लेना उपगूहन है। दूसरों के दोषों को छिपाने एवं गुणों को देखने पर ही आत्मा का उद्धार होगा, पर गुण देखना अति कठिन है और दोष ढूँढना अति सहज। जैसी दृष्टि होती है व्यक्ति वैसा ही

चुनाव करता है, इसीलिए दृष्टि को शुद्ध बनाओ, धर्मात्मा में दोष मत निकालो अपितु सामान्य व्यक्तियों के भी गुण देखने की चेष्टा करो।

आम के बगीचे में आम का बौर भी आता है, आम के पत्ते भी हैं, आम के फल भी हैं। पत्ते मंगलकारक कलश में रखे जाते हैं, बौर को देखकर आनंद आता है, नासिका और आँखें तृप्त होती हैं किन्तु कोई व्यक्ति आम के बगीचे में जाकर के आम के पत्ते-बौर और फल तो देखता नहीं अपितु आम के पेड़ के नीचे जड़ों के पास सड़ रहे पत्तों को उठाकर अपनी पोटली में बाँधकर घर ले आए तो इसमें उस आम के बगीचे का क्या दोष? वहाँ तो सब था। यदि कोई व्यक्ति गुलाबवाटिका जाता है, वहाँ से गुलाब के पुष्प चुनकर तो नहीं लाता काँटे-काँटे तोड़कर ले आता है तो इसमें उस गुलाबवाटिका का क्या दोष है? यदि कोई व्यक्ति किसी फल वाले से सड़े-गले फल लेता है, अच्छे फल नहीं लेता तो उस फल वाले का क्या दोष? यदि कोई गाय-भैंस आदि से दुग्ध प्राप्त न करके उसके गोबर या मूत्र आदि से रति करे तो गाय का क्या दोष? ऐसे ही संसार में अच्छाईयाँ भी हैं, बुराईयाँ भी हैं किन्तु अच्छे व्यक्ति अच्छाईयों को ग्रहण कर लेते हैं, बुरे व्यक्ति बुराईयों को ग्रहण करते हैं। ये मोक्षमार्ग शुद्ध है उस मार्ग को धर्मात्मा कभी दूषित/कलंकित नहीं करते।

गंगा नदी को लोक-व्यवहार में वैदिक परम्परा के लोग पवित्र मानते हैं। यदि उसमें किसी मेंढक या मछली की मृत्यु हो जाए तो क्या पूरा गंगा जल अपेय हो जाता है या वह हेय हो जाता है? नहीं, उसकी पवित्रता अपने आप में है। ऐसे ही मार्ग अपने आप में स्वतः पवित्र है। मार्ग अपवित्र नहीं है। अपवित्रता तो व्यक्ति के चित्त में आती है। जो गुणग्राहक व्यक्ति होता है वह गुणों की चर्चा करता है, गुणों पर दृष्टि रखता है, गुणों की वार्ता करता है और दोषग्राही दोष की। श्रीकृष्ण अपने मित्रों के साथ वनविहार के लिए निकले, उनके साथ उनके अन्य साथी भी थे। मार्ग में बदबू आ रही थी इसलिए कुछ साथी तो नाक बंद कर रहे थे, कुछ रास्ता बदल रहे थे। श्रीकृष्ण वही से निकले, देखा कि एक कुत्ता मरा पड़ा था। श्रीकृष्ण ने कुत्ते को देखकर कहा वाह! इस कुत्ते के दाँत कितने सुंदर हैं। उनके साथियों ने कहा इस मरे हुए कुत्ते में भी श्रीकृष्ण जी ने इसके दांतों पर दृष्टि डालकर यह सिद्ध कर दिया कि संसार में गुण खोजने वाले को गुण मिल जाते हैं। मृतक कुत्ते में भी एक अच्छाई खोजी जा सकती है। और व्यक्ति जब बुराई खोजने चलता है तो संसार में बुराईयों का भी अंत नहीं।

अच्छाईयाँ देख ले तू सारे जहान की, बुराईयों का कहीं कोई अंत नहीं है। जो धर्म की निंदा न करता है, न सुनता है, न किसी से करवाता है, न किसी को प्रेरणा देता है, न

उसकी अनुमोदना करता है वह धर्मात्मा है। जो धर्म की निंदा करता है, सुनता है, प्रेरणा देता है, दूसरों का अपमान करके खुश होता है वह धर्मात्मा हो ही नहीं सकता; क्योंकि धर्मात्मा धर्म का विरोधी नहीं होता वो तो धर्म व धर्मात्मा का सहयोगी होता है, और जो धर्म का सहयोगी होता है वही जिनेन्द्रदेव के शासन को बढ़ाता है, उसकी रक्षा करता है, वही धर्म की वृद्धि करता है। वह धर्मोपदेश देकर कुमार्गगामी पुरुषों को कुमार्ग से हटाकर श्रेष्ठ मार्ग पर स्थापन करता है अथवा किसी असमर्थ व अज्ञानी पुरुष से अथवा अशुभ कर्म के उदय से या प्रमाद से जिनशासन में कोई अपराध बन जाए तो भी वह सच्चा जिनभक्त जिनेन्द्रप्रभु का शासन अत्यन्त निर्मल होने के कारण उस दोष को छिपाता है, जिनशासन की हानि नहीं होने देता, धर्म का ही स्थापन करता है। दोषों को ढाँकना व गुणों को बढ़ाना एक विवेकपूर्ण कार्य है। अपने निर्मल मन रूपी दर्पण में किसी के दोषों की छाया नहीं वरन् गुणों का अवलोकन करना व अपने स्थित दोषों की शुद्धि करना ही उपगूहन अंग नाम का गुण है।

महानुभाव! इस 15वीं कारिका से यही सीखना है कि हमे उपगूहन करना है। दूसरों के दोषों को और अपने गुणों को ढाँकना है। दूसरों के गुणों को प्रकट करना है और गुरु व प्रभु साक्षी में अपने दोषों को प्रकट करना है; जिससे हम दोष मुक्त हो सकें।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

स्थितिकरण अंग

दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः, स्थितीकरण-मुच्यते॥16॥

अन्वयार्थ–दर्शनात् – सम्यग्दर्शन से, **वा** – अथवा, **चरणात् अपि** – सम्यक्चारित्र से भी, **चलतां** – गिरते हुए जीवों को, **प्राज्ञैः धर्म-वत्सलैः** – उस विषय में दक्ष एवं धर्म से प्रेम रखने वाले स्त्री-पुरुषों के द्वारा, **प्रत्यवस्थापनं** – फिर उसी में स्थित कर देना, **स्थितीकरणम्** – स्थितिकरण अंग, **उच्यते** – कहा जाता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार अर्थात् श्रावकों की आचार संहिता रूपी रत्नों के पिटारे को हम क्रमशः देख रहे हैं और उसमें जो हित का मार्ग निहित है उस हित के मार्ग को ग्रहण करने का सम्यक् पुरुषार्थ कर रहे हैं। श्रावकों के लिए इस आचार संहिता से बढ़कर कोई और उपयोगी-हितकारी निमित्त कारण नहीं मिल सकता। जिस आचार संहिता के माध्यम से अपने कर्त्तव्य का बोध हो, त्रुटियों के प्रमार्जन करने की विधि हो, आगे बढ़ने के लिए प्रेरक निमित्त हो यही तो चाहिए। हर व्यक्ति के लिए एक निश्चित आचार संहिता होती है। साधु की आचार संहिता अलग है-श्रावक की अलग है। जो जिस पद पर आसीन है उसका एक संविधान अलग है कि किस-किस प्रकार उसे प्रवृत्ति करना है; सभी संकेत-निर्देश उसके लिए हैं। वकील के लिए अलग नियम हैं, मजिस्ट्रेट के लिए अलग नियम हैं, व्यापारी, डॉक्टर आदि सबके लिए अलग-अलग नियम हैं।

सबके जीवन का एक संविधान होता है। जो संविधान का पालन करते हैं वो अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं, जिन्होंने उसका उल्लंघन कर दिया वो नहीं पहुँच पाएँगे। यहाँ तक कि कोई व्यक्ति आधा घंटे का खेल भी खेलता है तो उस खेल खेलने के भी नियम होते हैं, वे उसका उल्लंघन नहीं कर सकते। इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति में तो शिकार करने वाले, जंगल में रहने वाले वनवासियों के भी नियम होते हैं, उनकी संहिता होती है। हर किसी पशु का शिकार नहीं किया जा सकता। कोई पशु सो रहा है तो शिकार नहीं किया जा सकता, कोई पशु भाग रहा है तो शिकार नहीं कर सकते, मुख में तृण दबाये हैं तो शिकार नहीं कर सकते, कोई मादा अपने शिशु को दूध पिला रही है तो बाण नहीं छोड़ सकते, कोई पशु युगल मिथुन क्रिया में संलग्न है तो शिकार नहीं कर सकते। शिकारियों के बहुत सारे नियम होते हैं। जबकि शिकार करना बहुत बड़ा पाप है। उस पाप को करने वाला व्यक्ति भी नियम का

पालन करता है तो फिर धर्म के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति, जो अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाना चाहता है, एक नियत स्थान पर पहुँचाना चाहता है क्या उसको अपने नियम का पालन नहीं करना चाहिए? पानी नीचे से ऊपर छत पर ले जाने के लिए पाइप लगाया। उस पाइप में छेद न हो तभी पानी ऊपर पहुँच पाएगा। यदि पाइप में अनेक छिद्र हैं तो पानी नहीं पहुँच पाएगा। ऐसे ही जिस संविधान में, जिस संहिता में यदि दोष भरे पड़े हों तो वह लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकती।

यह श्रावकों की आचार संहिता निर्दोष है। इसके माध्यम से श्रावक अपने गन्तव्य तक पहुँच सकता है। नदी भी सागर तक तब पहुँच पाती है जब दोनों किनारों के नियंत्रण में रहती है। यदि एक किनारे को तोड़कर के वह आगे जाने की कोशिश करे तो बिखर जाएगी; आगे बढ़ नहीं पाएगी; ऐसे ही प्रत्येक राहगीर को अपनी मंजिल प्राप्त करने के लिए कुछ नियमों का पालन करना जरूरी है। कहाँ ठहरना है, कहाँ नहीं ठहरना है, कहाँ गति तेज करना है, कहाँ गति मन्द करना है, कितनी speed रखना है, कब गाड़ी चेक कराना है, कहाँ चढ़ाई है कहाँ संकीर्ण पुलिया है, यह सब ड्राइवर भी देखता है। एक रिक्शा चालक भी देखकर चलाता है। फिर हमें अपने जीवन की गाड़ी चलाना है तो आँख बंद करके क्यों? विवेकहीनता के साथ क्यों? प्रमाद और अज्ञानता के साथ क्यों? श्रावक क्यों जल्दीबाजी करता है कि मैं जल्दि अपना कल्याण कर लूँ, क्यों वह आचार संहिता का उल्लंघन करता है? पहली सीढ़ी पर पैर रखे बिना वह जल्दी से छत पर क्यों पहुँचना चाहता है। अरे! क्रम-क्रम से सीढ़ी चढ़े तो छत तक पहुँच सकता है। जिसने भी बीच की सीढ़ियाँ छोड़ी, प्रारंभिक सीढ़ियों पर पैर नहीं रखा, ऊपर उछल कर सीढ़ी पर पहुँचना चाहेगा तो संभव है नीचे गिर जाएगा।

जो श्रावक अपनी आचार संहिता का उल्लंघन करके सीधे छलांग लगाना चाहते हैं और श्रावक की अवस्था को छोड़ना भी नहीं चाहते, श्रावक की अवस्था में रहकर के मुनियों की क्रिया करना चाहते हैं, श्रावक के कर्त्तव्यों का पालन नहीं करना चाहते, वे न श्रावक रह पाते हैं न मुनि बन पाते हैं। यदि कोई छोटी कक्षा का विद्यार्थी बड़ी कक्षा वाले विद्यार्थी की पुस्तक पढ़ेगा तो वह अपनी परीक्षा में पास न हो सकेगा क्योंकि उसके पेपर में ऊँची कक्षा वाली पढ़ाई के पेपर नहीं आएँगे नीचे वाले आएँगे किंतु उसकी पढ़ाई उसने की नहीं, इसलिए नि:संदेह वह अनुत्तीर्ण हो जाएगा। अपनी क्षमता-कार्यशक्ति के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। आचार संहिता श्रावकों के लिए बहुत आवश्यक है। वह श्रावक परान्पेक्षी न बने स्वयं को देखे कि मैं सही चल रहा हूँ कि नहीं। सही चलेगा तो स्वयं गन्तव्य तक पहुँचेगा; संभव

है उसका अनुकरण करने वाले, चरण चिह्नों पर चलने वाले और अनेक लोग हैं; किन्तु जो श्रावक स्वयं अपनी आचार संहिता से भ्रष्ट है, स्वयं ही मार्ग से भाग गया है तो वह दूसरों का मार्गदर्शन करने में असमर्थ ही होगा। फिर वह उसी तरह से है–

'खुद तो डूबे पाहुने, ले डूबे यजमान' वह स्वयं भी डूबेगा और जिसका नेतृत्व करेगा वह भी डूबेगा।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी स्थितिकरण अंग के संबंध में यहाँ बता रहे हैं कि स्थितिकरण अंग धर्मात्मा के लिए क्यों आवश्यक है? इसे सम्यक्त्व का अभिन्न अंग क्यों कहा? इसके बिना सम्यक्त्व क्यों पूर्ण नहीं होता? सम्यक्त्व तो श्रद्धान की बात है इससे इसका क्या लेना-देना? आचार्य महोदय कह रहे हैं ये अंग है, यदि शरीर का एक भी अंग कम होता है तो शरीर पूर्णांगी नहीं होता। आचार्य महाराज समझाना चाहते हैं कि यह सम्यक्त्व का अंग तो है ही किन्तु इस प्रकार की प्रवृत्ति तो लोक व्यवहार में भी होती है। यह तो परिमार्जित शब्दों के माध्यम से कहा कि स्थितिकरण अंग है किंतु यह तो मानव का सामान्य स्वभाव होना चाहिए, और होता है। जब दो मित्र आगे चल रहे हों एक मित्र का पैर फिसलता हुआ दिखाई दे तो दूसरा मित्र उसे बचाने की कोशिश करता है। यदि किसी माँ का लाडला बेटा कुएँ में झाँक रहा है, वह कहीं गिर न जाए तो माँ किसी भी कार्य में व्यस्त होगी पूरी शक्ति लगाकर दौड़कर आएगी और बालक को गिरने से बचा लेगी। कोई नाविक नाव चला रहा था उसने पीछे मुड़कर देखा कि मेरी नाव में बैठा व्यक्ति नीचे गिर सकता है क्योंकि उसे नींद आ रही है, वह तुरंत पतवार को एक तरफ डालकर के उसे बचाने का प्रयास करेगा। यह तो सामान्य मानव धर्म है, सज्जन का कर्तव्य है। कौन पिता ऐसा होगा जो अपने पुत्र को धक्का दे दे, दु:ख के गर्त में गिरा दे, नहीं गिरा सकता, इसी तरह से एक धर्मात्मा किसी अन्य धर्मात्मा को पतित नहीं करता, श्रद्धा को नहीं तोड़ता, आचरण से भ्रष्ट नहीं करता। यदि किसी की श्रद्धा चलायमान हो रही है, यदि किसी के संयम-चारित्र में दोष लग रहे हैं तो वह समझाने की चेष्टा करता है और वह अपने कार्य में सफल भी हो जाता है।

आचार्य महोदय स्थितिकरण अंग के संबंध में कह रहे हैं–

'दर्शनात् चरणात्' यदि कोई व्यक्ति सम्यक्त्व अथवा चारित्र से च्युत हो रहा है, किसी धर्मात्मा ने कोई धर्म के प्रतिकूल क्रिया-चर्या देख ली तो वह सबसे कहेगा नहीं अपितु उसे पुन: धर्म में स्थिर करने का प्रयास करेगा। एक राजा ने पहाड़ी पर जाकर बोर्ड पर अपना चित्र बनाया, वह चित्र को दूर से देख रहा था और देखते-देखते बहुत पीछे हटता चला गया,

संयोग की बात सामने एक ग्वाल अपनी भेड़-बकरी चरा रहा था। उसने देखा राजा चित्र को बनाकर के चित्र को देख रहा है। राजा की निगाह चित्र पर है, यदि दो कदम भी राजा ने पीछे रखे तो संभव है राजा पहाड़ी से नीचे गिर जाएगा और मेरा राजा मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। उस ग्वाले ने सोचा राजा को बचाने के लिए यदि वह दौड़कर जाएगा तो राजा को बचा नहीं पाएगा। अपनी अल्पबुद्धि के कारण वह चित्र के सामने दौड़ा, चित्र पर लाठी मारी, चित्र फट गया। राजा ने चित्र पर लाठी पड़ती देखी तो तुरंत ही आगे की ओर दौड़ा और उसे डाँटते हुए कहा तुम्हें दण्ड दिया जाएगा, तुमने ऐसा दु:साहस कैसे किया, मेरे बने चित्र को फाड़ दिया। ग्वाले ने कहा-राजन् मुझे क्षमा करें, पहले मेरी पूरी बात सुनें पुनः आपको जो दण्ड देना हो दे सकते हैं।

फैसला राजदरबार में आया, दण्डनायक ने पूछा-तुमने ऐसा क्यों किया? उसने कहा-राजा ने चित्र बनाया था, वे उस चित्र को देख रहे थे, उनका पूरा उपयोग उस चित्र में लगा हुआ था, वे उस चित्र की सुंदरता को देखने के लिए पीछे की ओर चलते जा रहे थे-यदि वे दो कदम और पीछे चले जाते तो उस पहाड़ी से नीचे गिर पड़ते, वे जीवित नहीं बचते, मैंने अपने राजा को बचाने के लिए ऐसा किया। मुझे मालूम था कि राजा कुपित होकर मुझे मृत्युदण्ड दे सकते हैं। यदि वे मृत्युदण्ड दें तो भी मुझे स्वीकार है किन्तु मुझे खुशी इस बात की होगी कि मैंने राजा के प्राण बचाए हैं। राजा के प्राण बचाने में मेरे प्राण चले भी जाएँ तो मुझे कोई विकल्प नहीं। राजा ने उस ग्वाले को प्राणदण्ड नहीं दिया बल्कि पुरस्कार दिया। ऐसे ही जो व्यक्ति सम्यक्त्व से च्युत हो रहा है, अपना पतन कर रहा है, दुर्गति में जा रहा है तो धर्मात्मा उसे बचाने की कोशिश करता है।

एक त्यागी-व्रती व्यक्ति मंदिर से आ रहे थे, शुद्ध वस्त्रों में थे, उन्हें घर जाकर शुद्ध भोजन करना था। किन्तु वे त्यागीव्रती बातों में इतने निमग्न थे कि आगे पुलिया टूटी हुई है इस बात का उन्हें भान नहीं था। वे बातों में मस्त चले जा रहे थे। एक झाड़ू लगाने वाली महिला भी उनके पीछे-पीछे आ रही थी, उसे पता था कि यहाँ पुलिया टूटी हुई है और ये व्यक्ति जो मेरे आगे चल रहे हैं ये बातों में लगे हैं इन्हें टूटी पुलिया के विषय में पता नहीं है। उनका पैर नीचे जाने ही वाला था कि उस झाड़ू लगाने वाली महिला ने उस त्यागी-व्रती को पीछे से छू लिया, उन्होंने मुड़कर देखा तो बहुत कुपित हुए। महिला से कुछ अपशब्द भी कहे, पर उसने कोई जवाब नहीं दिया। बाद में जब उनका क्रोध पूरा निकल गया तब महिला ने कहा क्षमा करना, आपने मुझ पर क्रोध किया मेरा कुछ नहीं बिगड़ा वे शब्द मैंने ग्रहण नहीं किए

किन्तु मुझे खुशी हुई है। उस त्यागीव्रती ने कहा–मैंने तुम्हें डाँटा फिर भी तुम कह रही हो कि खुशी है, किस बात की? महिला ने कहा ये पुल टूटा हुआ है, आप बातों में मस्त होकर चले जा रहे थे, यदि दो कदम आगे बढ़ जाते तो आपका कदम नीचे चला जाता, संभव है आप घायल हो जाते, मृत्यु तक को प्राप्त भी कर सकते थे।

महानुभाव! ऐसे ही धर्मात्मा व्यक्ति सामने वाले को सम्यक्त्व से च्युत होता देखकर, सम्यक् चारित्र से च्युत होता देखकर **'वत्सलैः'** धर्म वात्सल्य से युक्त होकर उसे पुनः उसी में स्थापित करता है। यदि कोई सम्यक्त्व से गिर भी जाए तो स्थितिकरण करता है। चारित्र से गिर जाता है तो पुनर्स्थापना/प्रतिस्थापन' करता है। जैसे सरकारी नौकरी करता व्यक्ति किसी कारण से ससपेंड कर दिया जाता है किन्तु बाद में पूरी खोजबीन हुई वह निर्दोष पाया गया तो पुनः उसे उसी पद पर स्थापित कर दिया जाता है। ऐसे ही धर्मात्मा को पुनः स्थापित करने का नाम है स्थितिकरण अंग।

यहाँ दर्शन व आचरण इन दो से च्युत होने पर ही क्यों कहा? चूँकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अविनाभावी रूप से रहते हैं। दर्शन से च्युत हुआ तो ज्ञान से भी। उसके पास शब्द ज्ञान तो उतना ही है किन्तु श्रद्धा टूट गई। श्रद्धा टूटते ही वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो जाता है। ज्ञान से च्युत होने का आशय वह शब्द नहीं भूला किंतु श्रद्धा सम्यक् है तो वह सम्यग्ज्ञान है और श्रद्धा मिथ्या हो गई तो ज्ञान भी मिथ्या हो गया। सम्यक्त्व से चलायमान या आचरण से चलायमान व्यक्ति के लिए वह वात्सल्यपूर्वक पुनः स्थापित करता है। जैसे कहीं ट्यूब पंचर हो जाए तो पंचर जोड़ने वाला व्यक्ति ट्यूब की थोड़ी टिकरी काटकर उसे रगड़ता है, घिसता है, दूसरी टिकरी को भी घिसता है पुनः बीच में सोल्यूशन लगाता है तो वह चिपक जाता है। ऐसे ही वात्सल्य भाव धर्मात्मा को जोड़ने के लिए सोल्यूशन का काम करता है। बिना वात्सल्य के कभी स्थितिकरण नहीं किया जा सकता। स्थितिकरण करने का अधिकार उसे ही है जो नीचे पड़े व्यक्ति को उठा सके। यदि नीचे पड़ा व्यक्ति बलवान् है, ऊपर वाला कमजोर है तो उठा नहीं पाएगा। हाथी यदि दलदल में फँस जाए तो चूहे के निकालने से नहीं निकलेगा, चूहा फँस जाए तो हाथी निकाल सकता है। इसलिए स्थितिकरण हम उनका करें जो हमसे निर्बल हैं, जो हमसे सबल हैं उनका स्थितिकरण नहीं किया जा सकता।

इस श्लोक में आचार्य भगवन् ने स्थितिकरण करने वाला कैसा होना चाहिए और स्थितिकरण किसका करना चाहिए इन दो बातों का विशेष उल्लेख किया। पहली बात जो श्रद्धान् वा चारित्र से च्युत हो चुका है, हो रहा है या जिसकी भविष्यकाल में च्युत होने की

संभावना है, ऐसा प्राणी स्थितिकरण करने के योग्य होता है। दूसरी बात स्थितिकरण करने वाला कैसा हो, उसकी भी विशेषता बताई कि सर्वप्रथम वह 'धर्मवत्सल' हो। जिसका धर्म के प्रति व धर्मात्माओं के प्रति अनुराग हो, ऐसा व्यक्ति ही स्थितिकरण कर सकता है, गिरते हुए को पुनः सन्मार्ग में स्थापित कर सकता है, वही दोषों का आच्छादन कर सकता है। और द्वितीय विशेषता कही कि वह 'प्राज्ञ' हो अर्थात् **''प्रकर्षतया, आ-समन्तात्, जानाति इति प्राज्ञः''** जो प्रकर्ष रूप से प्रत्येक पहलू से विषय को स्वयं समझता हो और दूसरों को समझा भी सकता हो। ऐसी योग्यता से सम्पन्न होते हैं निर्ग्रंथ गुरु, जो उस जीव को प्रायश्चित आदि द्वारा उसके अंतरंग की शुद्धि करके उसे पुनः कल्याण पथ में अग्रसर कर सकते हैं।

महानुभाव! आचार्य शांतिसागर जी महाराज जिन्होंने मृतप्रायः मुनि परंपरा को जीवंत किया उनके विषय में आता है जब वे जैनी भाईयों को मिथ्या देवों की पूजा-आराधना का त्याग करा रहे थे, तब ग्राम के एक मुख्य व्यक्ति ने आकर आचार्य श्री से प्रार्थना की कि हे महाराज! हमारे गाँव में सर्प का बहुत उपद्रव है, सर्प का विष उतारने में निपुण एक जैन भाई है वह मिथ्यादेवों की भक्ति करके उनके मंत्र को पढ़कर सर्प का विष झाड़ता है, उसने यदि आपसे मिथ्यात्व त्याग की प्रतिज्ञा ले ली तो हम सबको बड़ी विपत्ति उठानी पड़ेगी, इसीलिए आप उसे छोड़कर शेष सभी को नियम दे दीजिए, इसमें हमारा कोई विरोध नहीं। आचार्य श्री ने गम्भीरतापूर्वक इस समस्या पर विचार किया और जैन बंधु से कहा-देखो! जैन मंत्र में अचिन्त्य सामर्थ्य पाई जाती है, हम तुम्हें एक मंत्र बताते हैं, उसका विधिपूर्वक प्रयोग करो। यदि दो माह के भीतर वह मंत्र तुम्हारा कार्य न करे तो तुम पर बंधन नहीं रहेगा, अतः तुम अभी दो माह के लिए मिथ्यात्व का त्याग कर दो।

महाराज ने उस मांत्रिक जैन भाई को मिथ्यात्व का त्याग कराकर मंत्र दे दिया और विधि भी बता दी। इसी बीच में किसी ने इस मांत्रिक को समाचार दिया कि भैया तुम्हारे बैल को सर्प ने काट लिया, वह मांत्रिक तुरंत पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए वहाँ पहुँचा और जैन मंत्र का प्रयोग किया, तत्काल विष की बाधा दूर हो गई। इसके बाद वह पुनः आचार्य श्री के पास आया और जीवन भर के लिए मिथ्यात्व का त्याग कर दिया। आचार्यश्री ने उसे अपनी वात्सल्यता से जैन धर्म में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में स्थित कर दिया, यह है स्थितिकरण अंग।

महानुभाव! जिस प्रकार कोई दयालु वैद्य अपने पास आए हुए दोषी रोगी को यह कहकर क्रोधित नहीं होता कि तुमने अमुक दोष किया और न उससे द्वेष करता अपितु यह कहकर

उसे आश्वासन देता है कि तुम घबराओ मत, यह रोग शीघ्र नष्ट हो जाएगा और यथायोग्य औषधि व उचित उपचार द्वारा उस रोग की चिकित्सा करता है। उसी प्रकार कोई दोषी जो मोह या अज्ञानतावश या पूर्व पापकर्मोदय से उसके सम्यक्त्व वा चारित्र से स्खलित हो गया हो, वह यदि किसी सम्यग्दृष्टि के पास आता है तो वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा उस पर क्रोधित होकर फटकारता नहीं कि तुमने ऐसी गलती की अपितु उसको उचित द्रव्यादि देकर, संतोष से, धर्मोपदेश से, उसके अंतरंग व बहिरंग दोष को दूर करने का प्रयत्न करता है। यही सम्यग्दृष्टि की विशेषता होती है कि वह न तो कभी चढ़ते हुए को गिराने की चेष्टा करता है, न गिरते हुए को धक्का देता अपितु करुणार्द्र होकर, धर्म से अभिभूत होकर, धर्म से, त्याग से च्युत होते हुए व्यक्ति को ऊपर उठाने की, संभालने की, पुनः धर्म में, त्याग में स्थित करने की चेष्टा करता है, सहारा देता है। क्योंकि विकलांग मनुष्य को वैशाखी का सहारा मिल जाता है तो वह अशक्त होकर भी सशक्त बनकर वैशाखी के सहारे मीलों की यात्रा तय कर लेता है। उसी प्रकार कोई किसी कारणवशात् दर्शन व चारित्रमोहनीय कर्मोदय के कारण दर्शन व चारित्र से च्युत होता हो तो उसे धर्मात्माजनों को सहज प्रेम-वात्सल्य देकर संभालना चाहिए। यही सम्यग्दृष्टि का छठवाँ अंग है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वात्सल्य अंग

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव-सनाथाऽपेत-कैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्यमभिलप्यते॥17॥

अन्वयार्थ–स्वयूथ्यान्प्रति – साधर्मी भाईयों के प्रति, **सद्भावसनाथा** – सरल उत्तम भावों से सहित होकर, **अपेतकैतवा** – छल-कपट रहित, **यथायोग्यं** – योग्यतानुसार, **प्रतिपत्तिः** – आदर-सत्कार करना सो, **वात्सल्यं** – वात्सल्य अंग, **अभिलप्यते** – कहा जाता है।

व्याख्यान–महानुभाव! श्रावकों की आचार संहिता रूप श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथराज की वाचना में सम्यग्दर्शन के अंगों को देख रहे हैं। आज चर्चा करते हैं सातवें अंग के विषय में जिसमें आचार्य महोदय ने वात्सल्य के संबंध में कहा–'स्वयूथ्यान्'–**'स्व'** अपना, **'यूथः'** समूह/संघ। अपना कौन? सर्वप्रथम निश्चय से देखते हैं तो अपनी आत्मा अपनी है। निश्चय को व्यवहार गत करने से आत्मा के पृथक्-पृथक् शुद्ध गुण भी अपने हैं। और पुनः बाह्य रूप में देखें तो 'स्वयूथ्यान्' यानि अपने धर्म का पालन करने वाले। आपके धर्म के अनुयायी, अनुपालक, प्रवर्तक, उपासक वह सब ही। स्वयूथ का आशय है अपना समूह; किंतु अपने समूह से आशय से मात्र इतना नहीं लेना कि मैं मनुष्य हूँ तो केवल मनुष्य धर्म का पालन करने वाला, यदि पशु भी है तो वह भी यहाँ ग्रहण करना है, देव है तो भी ग्रहण करना है। स्वयूथ से आशय केवल एक जाति से नहीं लेना कि मैं अपनी जाति वालों के प्रति विशेष प्रेम रखता हूँ। यहाँ पर कहा–जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत उस परमार्थ रूप धर्म का जो पालन करने वाले हैं वे सब आपके यूथ हैं, समूह हैं। उसके प्रति सद्भाव रखना। सद्भाव से आशय समीचीनता से युक्त भाव, उनके प्रति अच्छा भाव रखना। अच्छा भाव कब रख पाओगे? जब आपके अंतरंग में अच्छे भाव पैदा होंगे तब दूसरों के प्रति अच्छे भाव बना पाओगे। बिना अच्छे भावों को पैदा किए अच्छे भाव कैसे बना पाओगे?

दूध बेचने वाली ग्वालिन जिसके पास गाय है वह दूसरों को दूध दे सकती है और छाछ दे सकती है, जिसके पास जो है वह वही दे सकता है, नहीं है तो नहीं दे सकता। जो सम्यग्दृष्टि है, धर्मात्मा है, निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करने वाला है उसे सभी जीवों में शक्ति रूप परमात्मा दिखाई देता है तो वह उनके प्रति सद्भाव रखता है। जिसके चित्त में छलकपट वा मायाचारी का भाव नहीं है, परिणाम सरल सहज हैं वह उनके प्रति ऐसा वात्सल्य का भाव रखता है जिस वात्सल्य को प्राप्त करके व्यक्ति अपने आप को सनाथ माने। आपके वात्सल्य को प्राप्त करके वह समझे कि मुझे भी अब जीवन की राह मिल गई, अब

मैं एकाकी नहीं हूँ। व्यवहार में मैं धर्म के मार्ग पर चलता हुआ जब कहीं पूर्व पाप कर्म के उदय से स्खलित होता हूँ, कहीं मेरा पापकर्म का उदय मुझे मेरे धर्म में बाधा देने वाला होता है तब मेरा सहयोगी, मेरा साथी धर्मात्मा मुझे मेरे धर्म में स्थिर करके रखेगा, वह मेरे गुणों का संवर्धन करने वाला होगा, मेरे स्वभाव की ओर ले जाने वाला होगा, मुझे विभाव से बचायेगा, पाप-दु:खों से बचाएगा, अनीति-अत्याचार-अन्याय से बचाकर मुझे धर्म की ओर ले जाएगा।

महानुभाव! जब तक मन में छल-कपट रहता है तब तक मन में निश्छल वात्सल्य नहीं रहता। इसलिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने यह विशेष रूप से कहा कि 'अपेतकैतवा' छल-कपट से पहले रहित हो जाओ तभी तुम किसी को कुछ दे पाओगे। छल-कपट से युक्त व्यक्ति देना नहीं चाहता, देता भी नहीं है, वह केवल लेने की सोचता है। एक सेठ किसी कूप में गिर पड़ा, उसे निकालने के लिए लोग आए, सभी ने कहा सेठ जी हमें अपना हाथ दो, हम आपको निकाल लेते हैं। सेठजी ने जीवन में कभी किसी को दान दिया हो तो आज हाथ देने की बात उन्हें समझ आती, अत: सेठजी ने अपना हाथ नहीं दिया अपना हाथ ऊपर नहीं बढ़ाया। जो व्यक्ति सेठजी की इस प्रवृत्ति को समझता था वह आया उसने कहा—लो सेठजी मेरा हाथ ले लो, मैं तुम्हें निकालता हूँ, सेठजी ने जैसे ही 'लो' शब्द सुना तुरंत उसका हाथ ले लिया, और उस व्यक्ति ने सेठजी को गर्त से निकाल लिया। तो जो देना नहीं चाहता, जो छल-कपट से युक्त है वह किसी को वात्सल्य दे भी नहीं सकता, और दूसरा कोई उसे वात्सल्य देता है तो उस छल-कपटी व्यक्ति को ये लगता है कि इसके वात्सल्य में भी छल-कपट होगा, जो जैसा होता है उसे सामने वाला वैसा ही दिखाई देता है।

आगे कहा—**'प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं'** जो आपसे पूज्य हैं उनके प्रति पूजा का भाव रखना, जो गुणों में आपसे अग्रणी हैं उनकी स्तुति आदि करने का भाव, जो समान हैं उन्हें प्रोत्साहन देने का भाव, जो अल्प गुण वाले हैं किन्तु समीचीन गुणों से युक्त हैं उनकी प्रशंसा करना। वात्सल्य जब उमड़ता है तब नि:संदेह गुणों की प्रशंसा होती है चाहे वे गुण अपने से लघु में विद्यमान हों, समान वाले में विद्यमान हों या अपने से बड़े में विद्यमान हों। जब गुण अपने से बड़े में विद्यमान हों तो उनके गुण स्तुतिपरक कहे जाते हैं, समान गुण वाले होते हैं तो उनके गुणों की चर्चा प्रोत्साहन स्वरूप की जाती है, अपने से लघु के अंदर दिखाई देते हैं तो नि:संदेह उनकी प्रशंसा की जाती है उन्हें आगे बढ़ाने के लिए। पूजा-प्रशंसा-विनय से युक्त होकर जब मन में भाव जाग्रत होता है तो वह वात्सल्य भाव कहलाता है।

वात्सल्य कोई दबाव के द्वारा की गई प्रवृत्ति नहीं है, वात्सल्य तो चित्त में उत्पन्न होने वाली सहज नैसर्गिक प्रवृत्ति है वह स्वयं अंदर से पैदा होता है। वात्सल्य के लिए ऐसा नहीं

कि कोई किसी का गला पकड़कर कहे कि मुझे वात्सल्य दो, नहीं, वात्सल्य ऐसे देने-लेने की वस्तु नहीं है, वह तो सहजोत्पन्न है। जैसे सूर्य की किरणों में ऊष्णता सहज रहती है उसे कोई देता नहीं है, चंद्रमा की चाँदनी में शीतलता सहज होती है, पुष्प में पराग और सुगंध सहज होता है, जल की बिन्दुओं में शीतलता सहज होती है। ऐसे ही वात्सल्य धर्मात्मा का सहज गुण है। उसे अधिकार के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। कोई तुमसे अधिकार के रूप में छीन भी नहीं सकता। वात्सल्य का आशय है कि हम सामने वाले को धर्म के प्रति जोड़कर रखें। वात्सल्य है शुद्ध चित्त में उत्पन्न होने वाली स्निग्धता और स्निग्धता जोड़ने वाली होती है। दो रुक्ष कठोर पत्थरों को जोड़ने वाला सीमेंट स्निग्ध होता है। दो कागजों को जोड़ने वाला फेविकॉल/गम स्निग्ध होता है, ऐसे ही जिसके चित्त में स्निग्धता है, निश्छल प्रेम-स्नेह है, गुणों के प्रति वात्सल्य है वह धर्मात्मा को धर्म से जोड़ने में समर्थ हो जाएगा और जिसके चित्त में ही प्रेम-वात्सल्य-अनुराग नहीं है तो वह स्वयं भी धर्म से जुड़ नहीं पाएगा और दूसरों को भी जोड़ नहीं पाएगा।

एक श्रेष्ठी थे, जिनका नाम था सगुनचन्द जी। उन्होंने अपने पुत्र के विवाहोत्सव में पूरे नगर का निमन्त्रण किया। जितने भी जैन बंधु थे, जिनमें उनका व्यवहार था वे सभी आए। उन्होंने देखा समारोह चल रहा है बहुत भीड़ है। उन्होंने अपने मुनीम आदि से पूछा कि भाई! मेरे यहाँ नगर के सभी लोग आए हैं ना? सभी ने मेरा निमन्त्रण स्वीकार किया है ना, किसी ने मना तो नहीं किया। मुनीम जी ने कहा—सेठ जी! क्षमा करें, अपने ही नगर में एक जैन श्रावक है, जो बहुत गरीब है, चने बेचता है, नगर के अंत में उनकी छोटी सी झोंपड़ी है वह वहाँ रहता है। उन्होंने हाथ जोड़कर के विनम्रता से आपके निमंत्रण को अस्वीकार किया था। सेठ जी ने कारण पूछा—तो बताया कि वह कह रहा था मैं बहुत गरीब हूँ, मैं तो सेठ जी का व्यवहार चुका नहीं सकता इसलिए सेठ जी के यहाँ मैं नहीं आ पाऊँगा। सेठ जी तत्काल ही अपनी घोड़ागाड़ी पर सवार हुए और पहुँच गए उसके यहाँ। वे सीधे झोंपड़ी में घुसे और जाकर उसकी खाट पर बैठ गए, उस व्यक्ति को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसके लिए अप्रत्याशित घटना थी कि सेठ जी स्वयं उसके घर में आ पहुँचे और उनके साथ अन्य लोग भी थे, उन्हें देख आसपास के लोग भी इकट्ठा हो गए कि क्या हो गया।

सेठ जी ने चने वाले व्यक्ति से हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता से कहा—भैया! क्या बात है हमारा-तुम्हारा कोई बैर-भाव तो है नहीं, तुम भी साधर्मी हो हम भी साधर्मी हैं, हमने आपको अपने घर के महोत्सव में निमंत्रण दिया था, आप आए नहीं, क्या बात है? उसने भी विनम्रता से हाथ जोड़कर निगाह नीची करते हुए कहा—सेठ जी! हम शर्मिंदा हैं, पर हम आपके यहाँ

जाने में असमर्थ हैं क्योंकि आप इतने बड़े सेठ हैं, हम गरीब हैं, हम आपका व्यवहार कैसे चुका सकते हैं। सेठ जी ने अपने मुख पर से पसीना पोंछते हुए कहा एक गिलास पानी तो पिलाओगे, उसने सेठ जी को पानी पिलाया, वहीं पास में चने रखे थे, सेठ जी ने चने हाथ से उठाए और कहा ये चने कैसे हैं, दो-चार चने उठाकर मुँह में डाले और उसका हाथ पकड़कर कहा—देखो! अब तुम मेरी बात को नकारना नहीं, वह बोला सेठ जी कहाँ आप और कहाँ मैं। आपका व्यवहार मैं कैसे चुकाऊँगा। सेठ जी बोले—ऐसे चुकाओगे कि मैंने तुम्हारे यहाँ आकर खाया भी है और पीया भी है, तेरे यहाँ के चने भी खाए और पानी भी पीया, अब तू मेरी बात को टाल नहीं सकता। सेठ जी ने उसका हाथ पकड़कर रथ पर बिठा लिया और अपने महोत्सव में ले आए।

महानुभाव! धर्मात्माओं में जो भी बड़े व्यक्ति हैं, समाज का नेतृत्व करने वाले, संघ-संस्थाओं का नेतृत्व करने वाले हैं उन व्यक्तियों में जब ऐसा वात्सल्य दिखाई देता है तब नि:संदेह लघुजन उनके वात्सल्य से पिघल जाते हैं। ये वात्सल्य बहुत बड़ी अग्नि है जिससे चित्त का द्वेष, कलंक, कालिमा, कलुषता नष्ट हो जाती है और अंदर से नि:संदेह प्रेम आविर्भूत होता है और उस स्नेह में दोनों के नेत्र भी नम हो जाते हैं। आचार्य समंतभद्रस्वामी भी कह रहे हैं—जो आपस में यथायोग्य प्रतिपत्ति रखता है, मुनि महाराज से किस प्रकार का व्यवहार करें, आर्यिका माताजी के प्रति कैसा करें, क्षुल्लक जी, ऐलक जी, त्यागी-व्रती, ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी व साधर्मी बंधुओं के समक्ष भक्ति व विनय का भाव रखता है, सबके गुणों को प्रोत्साहित करता है। यह साधर्मी का कर्त्तव्य होता है, सम्यग्दृष्टि का भाव होता है।

महानुभाव! हम और आप भी सभी साधर्मी भाईयों के प्रति ऐसा वात्सल्य का भाव रखें, जैसा वात्सल्य पूज्य आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज में, आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज आदि अन्य-अन्य आचार्य, साधु परमेष्ठियों में देखने को मिलता था। आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने अपने जीवन में मिले वात्सल्य को बताते हुए कहा—जब मैं नवदीक्षित छोटी अवस्था का मुनि था, नांदेड में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य महाराज के पास गया, मैंने उनकी वंदना की, उन्होंने दया करके मेरी वंदना को स्वीकार कर प्रतिवंदना की। उन्होंने मुझ पर अपार प्रेम भाव व्यक्त करते हुए कहा—तुम मेरे भाई हो, सदा आगम के अनुकूल चलना, किसी के बहकावे में मत आना, तुम्हारी उम्र छोटी है, संभलकर काम करना, तुम क्षत्रिय वंश के हो, धर्म की खूब प्रभावना करना। यही सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य गुण कहा जाता है।

एक बात और आती है चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी के गृहस्थ जीवन की, जब वे गृहस्थावस्था में सम्मेदशिखर जी की वंदना करने जा रहे थे, रास्ते में एक वृद्धा माँ पहाड़ चढ़ नहीं पा रही थीं, उन्हें बार-बार रुकना पड़ रहा था, ऐसा लग रहा था कि वो

पहाड़ की वंदना नहीं कर पाएँगी। कई यात्री उनसे बोलते-पूछते-आश्वासन देते और आगे बढ़ जाते, लेकिन सातगौड़ा पाटिल (आ. शांतिसागर) ने वृद्धा को देखा और उनके अंदर वात्सल्य का सागर उमड़ पड़ा, उन्होंने झट से वृद्धा को अपने कंधे पर बैठाया और पूरी वन्दना इस प्रकार करके आ गए जैसे कोई अपने 2-3 महीने के बच्चे को गोदी में उठाकर वंदना कर लेता है। उस वृद्धा से उनका कोई परिचय नहीं था, न जान -पहचान थी, रिश्ता भी कुछ नहीं था, फिर भी नि:स्वार्थ भाव से उन्हें वंदना करवाई। इसी प्रकार राजगृही में एक वृद्ध दादा जी को कंधे पर बैठाकर पाँचों पहाड़ों की वंदना करवाई। यही साधर्मी का वात्सल्य है, सम्यग्दर्शन का अंग है।

वात्सल्य में त्याग है, निस्पृहता है, प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं। वात्सल्य का धनी गौवत्स के समान प्रीति रखता है। वह स्वयं का आत्मोत्थान तो करता ही है साथ ही पर के लिए कल्याणकारी भी होता है। इस अंग का धारी शिवपथारोही होता है, संसार की परम्परा को छिन्न-भिन्न करने वाला होता है। यह वात्सल्य धर्म अनुराग की डोरी में बाँधकर संसार सागर से खींचकर पार कराने वाला है। ऐसा वात्सल्य आप सभी में भी जाग्रत हो ऐसी मैं आप सभी के प्रति भावना भाता हूँ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

प्रभावना अंग

अज्ञानतिमिरव्याप्ति - मपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्य - प्रकाशः स्यात् प्रभावना॥18॥

अन्वयार्थ-अज्ञानतिमिरव्याप्तिं – अज्ञान रूपी अंधकार के विस्तार को **यथायथम्** – समुचित उपायों से **अपाकृत्य** – दूर करके **जिनशासनमाहात्म्य-प्रकाशः** – जैन धर्म का माहात्म्य प्रकट करना **प्रभावना** – प्रभावना अंग **स्यात्** – है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी की एक अनुपम कृति रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्रावकों की आचार संहिता के दिव्य रत्नों का समूह है। एक-एक कारिका अंतरंग में चिन्मय प्रकाश को उत्पन्न करने में समर्थ है। विगत दिवस सम्यक्त्व का सातवाँ अंग वात्सल्य अंग की चर्चा की। निःस्वार्थ भाव से गुणों के प्रति दृष्टि रखते हुए साधर्मी के प्रति हित की भावना की मुख्यता से जो प्रीति होती है वह वात्सल्य भाव है। जिसमें कोई छल-कपट नहीं, स्वार्थ नहीं ऐसा वात्सल्य जहाँ पर होता है उसके उपरांत ही व्यक्ति प्रभावना करने में समर्थ होता है।

आज सम्यक्त्व के अष्टम अंग जिनशासन प्रभावना या धर्म प्रभावना अंग की चर्चा करें। यह अंग भी अपने आप में महत्वपूर्ण है। जैसे वात्सल्य अंग सम्यक्त्व का एक अंग है, षोडशकारण भावनाओं में से एक भावना भी है, वात्सल्य एक गुण भी है सम्यग्दृष्टि का। वह वात्सल्य धर्मात्मा के लिए वैसे ही अत्यंत महत्वपूर्ण है जैसे मनुष्य के शरीर में हृदय का महत्व होता है। जिनशासन की प्रभावना भी उसी तरह से महत्वपूर्ण है। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में जिनशासन की प्रभावना को लिया है तो उधर षोडशकारण भावना में धर्म प्रभावना को लिया। ये जिनशासन की प्रभावना यूँ समझिए सम्यग्दृष्टि का एक प्राण है, इसके बिना सम्यग्दृष्टि चलता-फिरता माँसपिण्ड जैसा है, उसका सम्यक्त्व मूर्छित है, जैसे मूर्छित पड़ा व्यक्ति कोई काम नहीं कर पाता ऐसे ही जिनशासन की प्रभावना से रहित सम्यग्दृष्टि भी मूर्छित के समान है, उसका सम्यक्त्व स्व-पर का कल्याण करने में समर्थ नहीं होता।

प्रभावना शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट भावना। कैसी भावना? जिसमें स्व और पर के हित की भावना है, स्व-पर से अनस्यूत भावना ही प्रभावना है और वह भी प्रकृष्ट रूप से होना चाहिए। प्रभावना के क्षेत्र में व्यक्ति को ये नहीं सोचना चाहिए कि जो हो जाए सो ठीक है। यह कोई व्यापार नहीं है कि जितना व्यापार चले उतना ठीक है, यह कोई भोजन की थाली नहीं है, जो आ जाए सो खा लेंगे। प्रभावना के लिए सम्यग्दृष्टि पुरुषार्थ करता है और सम्यग्दृष्टि प्रभावना किए बिना शांति को प्राप्त नहीं करता। जिनशासन की प्रभावना करना उसका एक

अनिवार्य धर्म हो जाता है, उससे रहित होकर के उसके जीवन में रस नहीं आता। जैसे गन्ने में से रस को निकाल लिया जाए तो उसकी छूहन रह जाती है, उसे कोई विवेकी खाना पसंद नहीं करेगा, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि के जीवन में से प्रभावना अंग निकाल लिया जाए तो उसका जीवन गन्ने की छूहन की तरह से है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने स्वयं प्रभावना अंग के बारे में इस कारिका में इतना रस भर दिया है कि विज्ञजन जितना गहराई में जाएँगे उतना मूल्यांकन कर सकेंगे। दिव्यरत्न का मूल्यांकन उस पर निर्भर करता है जिसकी जितनी सामर्थ्य होती है। एक ही वस्तु का मूल्य अनेक-अनेक स्थान पर और अनेक-अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक-अनेक प्रकार से किया जाता है। एक गिलास पानी का मूल्य पूछा जाए तो कोई कहेगा—अरे! पानी का भी कोई मूल्य होता है क्या, नदी किनारे खड़े हो जाओ एक गिलास क्या दस गिलास पानी ले लो। दूसरे गाँव में गए तो कहा- एक गिलास पानी की कीमत 1 पैसा भी नहीं है। एक बाल्टी पानी 1 पैसा में आ जाएगा। और आगे बढ़े तो किसी ने कहा 10 पैसे में एक गिलास पानी मिल सकता है, और आगे बढ़े जहाँ पानी बहुत कम मिलता है बहुत गहरे स्थान से खींचा जाता है वो कहता है-भैया! एक गिलास पानी 10रु. का आता है। और कहीं जंगल या पहाड़ आदि पर जहाँ पानी नहीं है, नीचे से एक बाल्टी चढ़ाकर ले जाता है तो वहाँ एक गिलास पानी का मूल्य 100 रु. या इससे ज्यादा व कम भी हो सकता है। और जिस व्यक्ति के प्राण कंठ में आ गए हों उस व्यक्ति के लिए पानी का मूल्य उसके पास यथालब्ध सर्वसम्पत्ति के बराबर भी हो सकता है।

आपने उस राजा की कहानी सुनी होगी जो प्यासा राजा जंगल में भटक गया था, उसे जंगल में कहीं पानी दिखाई नहीं दिया, बहुत देर पश्चात् सुदूर कहीं एक झोपड़ी दिखाई दी, दौड़कर वहाँ गया और पानी माँगा। झोपड़ी वाले ने कहा-पानी तो मिल जाएगा किन्तु मैं पानी मुफ्त में नहीं दूँगा मैं बहुत दूर से पानी लाता हूँ। राजा ने कहा-कितना मूल्य है तुम्हारे पानी का? उसने कहा एक गिलास पानी का मूल्य है आपका सम्पूर्ण राज्य। राजा ने दो क्षण सोचा, पुनः कहा-ठीक है मैं आपको अपने शरीर पर स्थित वस्त्राभूषण दे देता हूँ, आधा राज्य दे देता हूँ, मुझे एक गिलास पानी दे दो, वह बोला नहीं मिलेगा इतना सस्ता नहीं है। राजा ने अपना पूरा राज्य देकर पानी लेना चाहा, क्योंकि प्राणों की कीमत राज्य की कीमत से ज्यादा होती है। तो एक गिलास पानी की कीमत एक पैसा भी नहीं है और एक गिलास पानी की कीमत राज्य के बराबर भी हो सकती है। स्थान और व्यक्ति को देखकर सबकी कीमत अलग-अलग होती है।

जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा होता है वह जिनशासन की प्रभावना करने में अपना मन-वचन-काय भी उपयोग करता है, धन का भी उपयोग करता है तो आचार्य महोदय के इस दिव्य रत्न

की कीमत अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप सभी मूल्यांकित करेंगे। देखते हैं इस कारिका में उन्होंने क्या कहा-

यहाँ कह रहे हैं-''**अज्ञानतिमिर-व्याप्ति**'' अज्ञान यहाँ 'अ' अक्षर ज्ञान के अभाव का प्रतीक है, सम्पूर्ण अभाव नहीं वरन् सम्यग्ज्ञान का अभाव, मिथ्याज्ञान तो है। इस लोकत्रय में कुज्ञान का मिथ्याज्ञान का अंधकार फैला हुआ है, जब मिथ्याज्ञान है तो उसके साथ अविनाभावी रूप से रहने वाला मिथ्यादर्शन भी है। मिथ्यात्व का अंधकार, मिथ्याज्ञान का अंधकार जब ये दो अंधकार हैं तो ऐसे व्यक्ति के जीवन में व्रतों का, संयम का प्रकाश नहीं आ सकता। तिमिर को दूर करने में समर्थ होता है मिहिर। मिहिर कहें तो आदित्य, रवि, सूर्य, मार्तण्ड, भानु, अर्क आदि इसी के पर्यायवाची नाम हैं। जहाँ सूर्य का उदय होता है वहाँ अंधकार नहीं ठहरता, जहाँ अंधकार है वहाँ सूर्य का उदय नहीं है। केवलज्ञान को सूर्य की उपमा दी है और जहाँ केवली विराजमान होते हैं, उन केवली के समीप अष्टम भूमि पर जो पहुँच जाता है उसके चित्त में मिथ्यात्व का व अज्ञान का अंधकार ठहर नहीं पाता। केवलज्ञान मिहिर है व मिथ्याज्ञान तिमिर है।

केवलज्ञान रूपी मिहिर के पास पहुँच करके अज्ञान, असंयम व मिथ्यात्व ये तीनों अंधकार नष्ट होते हैं। तो यहाँ कह रहे हैं मिथ्यात्रय का तिमिर लोक में व्याप्त है। तीन प्रकार के तिमिर है। एक लौकिक तिमिर भी होता है उसमें व्यक्ति देखने में असमर्थ होता है, तिमिर को तम भी कहते हैं, अंधकार भी कहते हैं। यह तिमिर तामस कारक भी होता है। आचार्य भगवन् कह रहे हैं 'अज्ञानतिमिरव्याप्ति' इस अज्ञान का तिमिर जो व्याप्त है, लोक-रूढ़ियों में, मान्यताओं में, कुसंस्कारों के कारण धर्म में मन नहीं लगता, धर्म की बात नहीं सुहाती, आत्मा-परमात्मा की बात अच्छी नहीं लगती। विषय-भोग अच्छे लगते हैं, कषाय का पोषण अच्छा लगता है। ये सब मिथ्यादृष्टि जीव को अच्छे लगते हैं। तो क्या करना है? 'अपाकृत्य' यह एक क्रियापद है, व्याकरण के अनुसार वाक्य में यह मुख्य क्रियापद नहीं है, मुख्य क्रिया के पूर्व होने वाली या पाई जाने वाली क्रिया का यह बोध कराता है। मुख्य क्रिया तो जिनशासन के माहात्म्य को प्रकाशित करना है। पर यहाँ आशय यह है कि जब तक जीवों के अन्तरंग में अज्ञान तिमिर व्याप्त है तब तक उनके भीतर जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश उद्भूत नहीं हो सकता। जिस तरह मलिन वस्त्र पर कोई रंग अच्छी तरह नहीं चढ़ सकता अथवा काले रंग पर दूसरा रंग असर नहीं करता, उसी प्रकार जब आत्मा मिथ्याज्ञानरूपी तिमिर से मलिन या काली हो रही है, तब तक उस पर सदुपदेश का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। जिस तरह रात्रि के जाते ही प्रातःकाल होता है उसी प्रकार अज्ञान के विनष्ट होने पर जिनशासन का माहात्म्य प्रकाश हुआ करता है।

इस अज्ञान को जैसे बने वैसे, जैसे कर सकते हो उसी प्रकार से नष्ट करना चाहिए। अंधकार को नष्ट करने के लिए लाठी, भाला, तलवार, अस्त्र-शस्त्र आदि की आवश्यकता नहीं है। उसे दूर करने के लिए किसी प्रकाशपुंज दीपक आदि की आवश्यकता है। मिथ्यात्व का अंधकार सम्यक्त्व के दीप से ही दूर होता है, अज्ञान का अंधकार ज्ञान के दीप से दूर होता है। असंयम का अंधकार संयम के माध्यम से दूर होता है। इसे दूर करने के लिए अस्त्र-शस्त्र किंचित् भी समर्थ नहीं हैं। फिर कैसे दूर करें? इसे दूर करें आस्था और शास्ता के द्वारा। ये दो चीज हों तो अंधकार भाग जाएगा। समीचीन आस्था हो तो मिथ्यात्व का अंधकार भाग जाएगा और शास्ता अर्थात् केवली जैसा उपदेशक मिल जाए तो अज्ञान व असंयम का अंधकार भाग जाएगा। शास्ता के साथ आस्था जुड़ जाए, शास्ता के कहे वचनों से, शास्त्रों से आस्था जुड़ जाए तो मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम का अंधकार भाग जाए।

महानुभाव! जैसे भी आपकी शक्ति हो उस शक्ति के अनुसार उस अंधकार को दूर करना है। पुनः क्या करना है? **'जिनशासनमहात्म्य'** जिस मार्ग पर चलकर जिन्होंने त्रैलोक्य पूज्य अवस्था प्राप्त की है, उनके द्वारा बताए मार्ग का नाम जिनशासन है। आ. सुधर्मस्वामी ने कहा–

सुप्रमाणान्वितं सत्यं जगज्जन्तु-हितावहम्।
पावनं शासनं जैनमस्ति संसारतारकम्।

इस संसार में यह जिनशासन सप्रमाण है, यथार्थ है, संसारभर के समस्त जीवों का हित करने वाला है, पवित्र है और संसार से पार कर देने वाला है, इसलिए जो भव्य जीव गाढ श्रद्धा से वा भक्तिपूर्वक उस जिनधर्म को उद्योत करता है, समीचीन तत्त्वों की स्थापना व मिथ्यामतों का खण्डन कर जिनधर्म को प्रकाशित करता है उसको प्रभावना अंग कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवंतों का शासन, श्रीमंतों का शासन, जिनके पास अंतरंग में अनंतचतुष्टय रूप लक्ष्मी है, बहिरंग में समवसरण आदि विभूति है और अंतरंग की लक्ष्मी को प्राप्त करके समवसरण आदि रूप विभूति को जो सड़े तिनके की तरह से छोड़ देते हैं, उसमें किंचित् भी ईहा-स्पृहा नहीं है, ऐसे वे जिनेन्द्र भगवान् उनका वह शासन, उस जिनशासन की प्रभावना करना, उसका प्रकाश फैलाना, जिससे मिथ्यादृष्टि भी अपना कल्याण करने में समर्थ हो सके। जिनशासन के महात्म्य को प्रकाशित करना चमका देना जैसे जौहरी रत्नों को चमकाते हैं, सर्राफ स्वर्णाभूषणों को चमकाते हैं ऐसे ही जिनशासन की चमक से व्यक्ति सन्मार्ग को प्राप्त करते हैं। प्रकृष्ट भावना से, अपनी क्रिया-चर्या से, भाषा-व्यवहार से जिनशासन की प्रभावना करना चाहिए। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने लिखा–

आत्माप्रभावनीयो, रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजा, विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥30॥

सबसे पहले जिनशासन से अपनी आत्मा को प्रभावित करो, अपनी आत्मा का कल्याण करो। रत्नत्रय के दिव्य तेज से सतत ही निज कल्याण करो और सत्पात्रों को दान देकर, तपस्या करके, जिनेन्द्र भगवान् की पूजार्चना, विधान, अनुष्ठान कराके और अपनी विद्याओं के द्वारा, शक्तियों के द्वारा अतिशय प्रकट करके जिनधर्म की, जिनशासन की प्रभावना करना चाहिए।

महानुभाव! साधुवर्ग ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपण-व्युत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालन करते हैं। इनका व्यवस्थित पालन करते हैं तो ये भी प्रभावना का कारण है। साधुओं की साधना प्रभावना का कारण है, तो श्रावक की उपासना भी प्रभावना का कारण है। आप सभी को भी अपनी शक्ति अनुसार मनसा, वाचा, कर्मणा अपनी आत्मा को शक्ति प्रदान करने के लिए, विश्व में शांति-प्रदान करने के लिए, प्राणी मात्र की कल्याण की भावना भाते हुए जिनशासन की प्रभावना में संलग्न रहना चाहिए। यह प्रभावना निःसंदेह आत्महित का अचूक उपाय है, यह अनिवार्य कारण है। हम भावना भाते हैं आप सभी जिनशासन की प्रभावना करते हुए जिन बनें, जिनत्व को प्राप्त करें, सिद्धत्व को प्राप्त करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

आठ अंगों में प्रसिद्ध

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमती स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवती मता॥19॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो, वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ॥ 20॥

अन्वयार्थ–तावत्अङ्गे – क्रम से पहले निःशंकित अंग में, **अञ्जनचौरः** – अंजनचोर और, **ततः अनन्तमती** – दूसरे निःकांक्षित अंग में अनंतमती, **स्मृता** – स्मरण की गई है, **तृतीये** – तृतीय निर्विचिकित्सा अंग में, **उद्दायनः** – उद्दायन नाम का राजा, **अपि** – और, **तुरीये** – चौथे अमूढ़ दृष्टि अंग में, **रेवती**– रेवती रानी, **मता** – मानी गई है, **ततः अन्यः** – पाँचवें उपगूहन अंग में **जिनेन्द्रभक्तः** – जिनेन्द्रभक्त नाम का सेठ **ततः परः** – छठवें स्थितीकरण अंग में **वारिषेणः** – वारिषेण नामक श्रेणिक राजा का पुत्र **च** – और **शेषयोः** – शेष वात्सल्य और प्रभावना अंग में **विष्णुःच वज्रनामा** – विष्णुकुमार मुनि और वज्रकुमार मुनि **लक्ष्यतां गतौ** – प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी की एक लाक्षणिक श्रावक के लिए मार्ग उपदेशिका रूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में सम्यग्दृष्टि के आठ अंगों की व्याख्या समझने की चेष्टा की उसके साथ-साथ इन आठ अंगों में कौन-कौन महानुभाव प्रसिद्धि को प्राप्त हुए, आचार्य महाराज ने उन अंगों में प्रसिद्ध महानुभावों का नाम उल्लेख किया है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं इन नामों को क्रमशः लगाना है। 'तावत्' जो आठ अंगों की चर्चा की उनमें प्रारंभ से अंजनचोर प्रथम अंग में, द्वितीय अंग में अनंतमती स्मरण की गई है। तीसरे अंग में उद्दायन राजा और चतुर्थ अंग में रेवती रानी प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। पंचम उपगूहन अंग में जिनेन्द्रभक्त सेठ, छटवे स्थितिकरण अंग में वारिषेण, सातवें वात्सल्य अंग में विष्णुकुमार मुनि और अंतिम आठवें प्रभावना अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

इसके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट जन भी प्रसिद्ध हुए। आचार्य महोदय ने ऐसे उदाहरण दिए जिससे अन्य व्यक्तियों को प्रेरणा मिले, संबल और सामर्थ्य प्राप्त हो, जिस प्रकार स्कूल में कोई अध्यापक अपने विद्यार्थी को बताते हैं कि ये प्रश्न मैं जहाँ-जहाँ गया प्रायःकर के सभी विद्यार्थियों ने हल कर दिया और मुझे विश्वास है तुम सब भी उसे हल कर दोगे। तब विद्यार्थी

उसे तुरंत ही हल करने में समर्थ होते हैं किन्तु वही अध्यापक अचानक आकर कहने लगे मैं जितने स्कूलों में गया उनमें कोई एक भी विद्यार्थी ऐसा नहीं निकला जो इस प्रश्न को हल कर पाए, आपके स्कूल में देखता हूँ कोई विद्यार्थी ऐसा है क्या जो इस प्रश्न को हल कर पाए। यह शब्द सुनते ही सब विद्यार्थी आश्चर्य से कहेंगे जब वे हल नहीं कर पाए तो हम कैसे कर पाएँगे और प्रश्न को देखे बिना ही अपनी पराजय स्वीकार कर लेंगे इसीलिए आचार्य समंतभद्रस्वामी ने कहा सम्यक्त्व में नि:शंकितपना होना, नि:कांक्षितपना होना, निर्विचिकित्सा होना और मूढ़ता से रहित अमूढ़दृष्टि होना चाहिए। एक सामान्य व्यक्ति भी इसमें समर्थ हो सकता है। जैसे कोई कहे कि इस काम को तो एक छोटा बालक भी कर सकता है तब बल आता है कि इसे मैं भी कर सकता हूँ।

सरधना में छोटी-छोटी बालिकाएँ रोहिणी का व्रत निर्जला करती हैं, उन्हें देखकर बड़े पुरुषों को भी ये बल मिला कि जब सात साल की, नौ साल की ये छोटी-छोटी बालिकाएँ भी निर्जल व्रत कर सकती हैं तब हम क्यों नहीं, उन्हें देखकर के बड़ों के अंदर भी सामर्थ्य जाग्रत हुई। कोई यदि ये कहे कि उपवास करना बड़ा कठिन है, इसे तो वही कर सकता है जिसने बचपन से बहुत अच्छा खाया हो, पहलवान हो, हृष्ट-पुष्ट हो तो इसे सुनकर के सामान्य व्यक्ति उपवास नहीं कर पाएगा किंतु जब अपने से छोटे या लघुबल वाले का उदाहरण प्रस्तुत करके बात कही जाती है तो अन्य बड़े व्यक्तियों में भी उस प्रकार की प्रवृत्ति करने का सामर्थ्य, उत्साह और बल प्रादुर्भूत होता है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने भी ऐसे नाम उल्लिखित किए हैं। जिनके बारे में सुनकर आबाल-वृद्ध सभी अपने सम्यक्त्व को सुदृढ़ करने के लिए उत्साह भर सकते हैं। नि:शंकित अंग में एक चोर की प्रसिद्धि का उदाहरण दिया; जब एक चोर अपना कल्याण कर सकता है तो हम क्यों नहीं। नि:कांक्षित अंग में अनंतमती कन्या का नाम लिया; जब एक बालिका कांक्षा से रहित हो सकती है तो अन्यजन क्यों नहीं हो सकते। निर्विचिकित्सा अंग में राजा उद्दायन का नाम लिया; जब एक राजा ग्लानि से रहित सरल-सहज हो सकता है तो सामान्य व्यक्ति ग्लानि रहित क्यों नहीं हो सकता। ऐसे ही अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती रानी को कहा; जब एक स्त्री भी विवेक बुद्धि का परिचय देकर अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध हुई तो अन्य नारी भी अपनी विवेकबुद्धि का प्रयोग करके अपने कार्य में सफल हो सकती हैं। जब एक नारी सफल हो सकती है तो पुरुष क्यों नहीं हो सकता? अर्थात् हो सकता है। महानुभाव! प्रारंभ के ये चार अंग स्वानपेक्षी हैं, आगे के चार अंग स्व और पर दोनों की अपेक्षा रखने वाले हैं।

प्रथम नि:शंकित अंग महत्वपूर्ण अंग है, जैसे दस धर्मों में उत्तमक्षमा धर्म महत्वपूर्ण है, पाँच महाव्रतों में अहिंसा महाव्रत महत्वपूर्ण है, रत्नत्रय में सम्यक्त्व महत्वपूर्ण है, बारह भावनाओं में अनित्य भावना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, पाँच समितियों में ईर्या समिति, तीन गुप्तियों में मनोगुप्ति महत्वपूर्ण है इसी प्रकार आठ अंगों में नि:शंकित अंग महत्वपूर्ण है। नि:शंकित का अर्थ होता है 'तत्त्व के संबंध में शंका नहीं करना। यहाँ आचार्य महोदय ने तत्त्व अर्थात् परमार्थभूत देव, परमार्थभूत शास्त्र और परमार्थभूत गुरु इनका जो स्वरूप आगम में कहा है उस संबंध में शंका नहीं करना अथवा आत्मा का जो स्वरूप कहा है, जीवादि तत्त्वों का जो स्वरूप कहा है, द्रव्य और पदार्थों का स्वरूप कहा है, उस संबंध में शंका नहीं करना।

'नान्यथावादिनोजिना:' जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नहीं होते; क्योंकि वे सर्वज्ञ होते हैं, वीतरागी-हितोपदेशी होते हैं, उनके सर्वांग से नि:सृत ध्वनि नि:संदेह भव्य जीवों का कल्याण करने में समर्थ होती है। उन्होंने जो परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु का लक्षण कहा, वह वही है, अन्य नहीं है, अन्यथा नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है। इस प्रकार की जिसकी दृढ़ आस्था है, जिसके चित्त में किंचित् भी शंका नहीं बची, प्रारंभ में जिज्ञासा होती है किन्तु उन जिज्ञासाओं का समाधान स्वाध्याय के माध्यम से करता जाता है। अब पुन: उसके मन में किंचित् भी शंका नहीं बची, जैसे माता-बहिनें चावल का शोधन करती हैं तो जितने भी कंकड़-पत्थर आते हैं उनको निकालती जाती हैं ऐसे ही नि:शंकित का अर्थ है समस्त शंकाओं को बाहर निकालकर फेंक देना, कोई शंका आत्मा के प्रदेशों में न रह जाएँ

नि:शंकित अंग में अनेक महापुरुष प्रसिद्धि को प्राप्त हुए किन्तु यहाँ पर आचार्य भगवन् 'अंजनचोर' का उदाहरण देकर कह रहे हैं कि जब एक चोर भी श्रद्धा में दृढ़ हो सकता है, तो एक सामान्य व्यक्ति दृढ़ क्यों नहीं हो सकता। छोटे का उदाहरण देकर बड़े को सुदृढ़ किया जाता है, यदि बड़े का उदाहरण दिया जाता कि तीर्थंकर भगवान् नि:शंकित रहे या केवली बने अथवा जो महापुरुष रहे वे नि:शंकित रहे तो सामान्य व्यक्ति समझता वे तो महापुरुष हैं, वे नि:शंकित हो सकते हैं, हम तो सामान्य जन हैं। इसलिए यहा अंजनचोर का उदाहरण दिया है कि जो सप्त व्यसनी था वह शंका से रहित हो सकता है तो हम और आप क्यों नहीं हो सकते? हो सकते हैं।

नि:शंकित अंग में प्रसिद्ध अञ्जन चोर की कथा

राज श्रेष्ठी सुनन्द के धनद, धनबन्धु, धनप्रिय, धनपाल, धनदत्त, धनेश्वर और धनवन्तरि नामक सात पुत्र थे। राज पुरोहित सोम शर्मा के भी विश्वेश्वर, विश्वरूप, विश्वमूर्ति, विश्वामित्र, विश्वावसु, विश्वलोक और विश्वानुलोम ये सात पुत्र थे। यद्यपि ये सातों पुत्र एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए थे। परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार उनकी परिणति भिन्न भिन्न थी।

राज पुरोहित का पुत्र विश्वानुलोम और सेठ पुत्र धनवन्तरि सदाचार से भ्रष्ट, दुराचारी, सप्त व्यसनी थे। दूध-पानी के समान दोनों में परस्पर घनिष्ठ मित्रता थी। सप्त व्यसनी होने के कारण राजा ने उन दोनों को अपने देश से निकाल दिया। पर्वत, नदी, अटवी आदि का उल्लंघन करके वे दोनों हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। एक दिन संध्या के समय दोनों शहर में घूम रहे थे। यमराज के समान विकराल रूप के धारक हाथी को सामने आता देखकर दोनों जिनमन्दिर में घुस गए।

मुनिराज धर्म का उपदेश दे रहे थे। धन्वन्तरि के कानों में एक शब्द गूँज पड़ा ''मानव पर्याय का सार है व्रतों का धारण करना।'' व्रतहीन मानव का जीवन पशु तुल्य है। इसलिए मानव जीवन का एक क्षण भी व्रतरहित व्यतीत नहीं होना चाहिए। दृढ़तापूर्वक व्रतों का पालन करने से आत्मोत्थान होना संभव है। जैसे डोरी के बंधन में बंधी हुई पतंग आकाश में विहार करती है और बन्धन टूटते ही धूलीसात् हो जाती है, लोगों के पैरों से कुचली जाती है, उसी प्रकार व्रत के बन्धन में बन्धा हुआ प्राणी उन्नत होता है और व्रत का बन्धन छूटते ही उसका अधोपतन होता है, तथा दु:खों के द्वारा कुचला जाता है।

मुनिराज के वचनों से प्रेरित हो धन्वन्तरि उठकर मुनिराज के समीप गया और भक्तिपूर्वक नमस्कार करके व्रत देने की याचना की। अवधिज्ञान के द्वारा उसकी परिस्थिति को जानकर मुनिराज ने कहा-'तुम प्रतिदिन घुटे सिरवाले व्यक्ति का दर्शन करके भोजन किया करो।' धन्वन्तरि ने इस व्रत को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

धन्वन्तरि ने घर के सामने, बाल रहित मस्तक वाला कुम्भकार रहता था। धन्वन्तरि प्रात:काल उठकर उसका मुख देख लेता था।

एक दिन धन्वन्तरि कुम्भकार को देखना भूल गया। जब भोजन करने बैठा तो उसे स्मरण में आया कि आज मैंने घुटे सिर वाले व्यक्ति का मुख नहीं देखा है, नियम का पक्का था। परोसी हुई थाली को छोड़कर घुटे सिर वाले व्यक्ति के घर पर गया परन्तु वह व्यक्ति मिट्टी लाने के लिए बाहर गया हुआ था।

कुंभकार मिट्टी के लिए खान खोद रहा था। उसको वहाँ पर रत्नों से भरा हुआ सुवर्ण घट मिला था। कुंभकार संशययुक्त होकर इधर-उधर देख रहा था कि कोई मेरे घड़े को देख तो नहीं रहा है।

धन्वन्तरि दूर से ही घुटे सिर वाले व्यक्ति का मुख देखकर वापिस लौटने लगा तो कुम्हार को संशय हो गया कि इसने मेरा घड़ा देख लिया है, इसलिए जोर से आवाज लगाई-''ठहरो ठहरो आधा तुम ले लो" उत्तर मिला "देख लिया, मैंने देख लिया"। कुंभकार घबड़ाया और सोचने लगा यदि यह राजा को कह देगा तो मेरा सारा धन राजा के हाथ में चला जाएगा। इससे तो अच्छा है आधा इसको देकर आधे की रक्षा कर लूँ''। ''नीति भी है कि जब सर्वनाश उपस्थित होता है तो सज्जन लोग आधे को छोड़ देते हैं" कुंभकार ने घड़ा उठाया और धन्वन्तरि के पीछे-पीछे उसके घर पहुँचकर घड़ा उसके सामने रखा और सारी बात उसको कह दी।

एक छोटे से व्रत के कारण अनायास धन राशि को प्राप्त कर धन्वन्तरि का हृदय गुरु महाराज के प्रति भक्ति से गद्‌गद् हो गया। उसने शीघ्र ही उनके चरणों में जाकर दूसरा नवीन व्रत ग्रहण करने की प्रार्थना की।

हे गुरुदेव! तुम्हारी कृपा से ''मैं कृतकृत्य हो गया हूँ कोई दूसरा व्रत देकर मेरा कल्याण कीजिए?" मुनिराज ने उसको निकट भव्य समझकर कहा-बलिदान के लिए आटे का पशु वगैरह बनाकर लोग चौराहों पर रख देते हैं उसे तुम नहीं खाना। धन्वन्तरि ने उस व्रत को स्वीकार कर लिया।

एक दिन धन्वन्तरि और विश्वानुलोम अन्य साथियों के साथ चोरी करके आ रहे थे। भूख से आकुल-व्याकुल साथियों ने चौराहे पर रखे हुए दो आटे के बने हुए बैलों को उठाया और रोटी बनाकर खाने को बैठे तव धन्वन्तरि ने पूछा ''तुम आटा कहाँ से लाए हो" साथियों ने जब आटे की बात कही तो धन्वन्तरि ने खाना नहीं खाया, उसे देख विश्वानुलोम ने भी भोजन नहीं किया वह आटा सर्प के मुख की लार से मिश्रित था इसलिए रोटी खाने वाले सब साथी मर गए केवल विश्वानुलोम और धन्वन्तरि बच गए, क्योंकि उन्होंने रोटी नहीं खायी थी। व्रत के प्रभाव से मृत्यु के मुख से बच जाने के कारण धन्वन्तरि को व्रत पालन पर बहुत विश्वास हो गया और वह शीघ्र ही नवीन व्रत लेने के लिए गुरुदेव की शरण में पहुँचकर व्रत की याचना करने लगा। गुरु महाराज ने कहा-जिस वृक्ष का नाम अज्ञात हो उसके फल नहीं खाना। धन्वन्तरि सहर्ष व्रत स्वीकार करके घर पर आया।

एक दिन धन्वन्तरि, विश्वानुलोम और उनके साथी रास्ता भूलकर किसी निर्जन अटवी में पहुँच गए। भटकते-भटकते थक गए। उनको रास्ता नहीं मिला। भूख-प्यास से आकुलित होकर मूर्च्छित होने लगे। इतने में उन्हें एक फलों से लदा हुआ वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ। जिसको देखकर सर्व साथी वृक्ष पर टूट पड़े जैसे भूखे गिद्ध पक्षी माँस के टुकड़े पर टूट पड़ते हैं।

धन्वन्तरि ने उन फलों को नहीं खाया, क्योंकि वह उस वृक्ष का नाम नहीं जानता था और अज्ञात वृक्ष के फल नहीं खाऊँगा यह उसका नियम था। धन्वन्तरि के मित्र विश्वानुलोम ने भी वे फल नहीं खाएँ वे फल दिखने में सुन्दर दिख रहे थे और खाने में भी स्वादिष्ट थे। परन्तु विषफल थे, इसलिए खाने वाले सर्व साथी यमराज के मुख के ग्रास बन गए। अपने साथियों को मृत्यु के मुख में सोया हुआ और अपने को बचा हुआ देखकर धन्वन्तरि को व्रत पर दृढ़ विश्वास हो गया। गुरु भक्ति से प्रेरित होकर आचार्य श्री के चरणों में गया और हाथ जोड़ नमस्कार करके व्रतों की याचना की। आचार्यवर्य ने उसे बिना विचारे कोई काम नहीं करने का व्रत दिया।

एक दिन धन्वन्तरि नृत्य देखने के लिए कहीं बाहर गया था। रात्रि बहुत हो गई थी। घर वापस आकर धीरे से द्वार खोलकर उसने अन्दर अपनी माता और पत्नी को गाढ़ आलिंगन पूर्वक सोते हुए देखा। उसकी माता पुरुष भेष में थी इसलिए पर पुरुष की आशंका से उसे मारने के लिए जैसे ही धन्वन्तरि ने तलवार ऊपर उठाई वैसे ही उसे आचार्य द्वारा दिए हुए व्रत का स्मरण हो आया। भाग्यवश उसी समय उसने पत्नी की आवाज सुनी, जो कह रही थी 'माता! जरा दूर हटो, मुझे कष्ट हो रहा है।'

पत्नी की आवाज सुनकर धन्वन्तरि सोचने लगा 'यदि मैंने यह व्रत नहीं लिया होता तो आज अवश्य ही माता और पत्नी को मारकर इस लोक में निन्दा का और परलोक में भारी पाप का भागी होता। इस प्रकार विचार करके धन्वन्तरि संसार-शरीर और भोगों से विरक्त हो गया क्योंकि संसार और शरीर के स्वरूप का विचार (चिंतन) ही वैराग्य और संवेग का कारण है।

आसन्न भव्य धन्वन्तरि शीघ्र ही गुरुदेव के चरणों में जाकर स्वकीय कुभावनाओं का परित्याग कर दिगम्बर मुनि बन गया तथा पर्वत के शिखर पर आतापन योग धारण कर आत्म स्वरूप का चिंतन करने लगा।

धन्वन्तरि के वियोग से दु:खी विश्वानुलोम ने अपने मित्र धन्वन्तरि को घर ले जाने का बहुत अनुनय विनय किया परन्तु धन्वन्तरि मुनि अपने स्वभाव से विचलित नहीं हुए। ठीक ही है ''महामना यो न चचाल योगत:'' महापुरुष अपने योग (स्वभाव) से चलायमान नहीं होते हैं।

अज्ञानी मुनिचर्या नहीं जानने वाला विश्वानुलोम बिना कारण रुष्ट होकर उसी पर्वत के समीप एक जटाधारी साधु के निकट पंचाग्नि तप तपने वाला साधु बन गया।

आतापन योग समाप्त होने पर धन्वन्तरि ने विश्वानुलोम को वास्तविक धर्म का उपदेश दिया तथा पंचाग्नि तप तपने से होने वाले दोषों का भी कथन किया परन्तु विश्वानुलोम के हृदय में एक भी बात नहीं लगी, जैसे चिकने घड़े पर पानी।

आगमानुसार निर्दोष चारित्र का पालन करते हुए अन्त में समाधिमरण से प्राणों का उत्सर्ग कर धन्वन्तरि मुनि सोलहवें स्वर्ग में अमितप्रभ नामक देव हुए। अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण हो जाने से अमृत वापिका में स्नान करके जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक किया और अकृत्रिम जिनमन्दिरों की वन्दना करके देवांगनाओं के साथ सुख का अनुभव करते हुए काल यापन करने लगा। उसका मन निरंतर जिनभक्ति में लगा रहता था तथा यह भावना रहती थी कि "किस दिन मानवभव प्राप्त कर मुनि मुद्रा धारण कर आत्मध्यान में लीन हो कर्म शत्रुओं का विध्वंस कर स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त करूँगा"।

विश्वानुलोम भी कुतप के कारण व्यन्तर देवों की गज सेना में विद्युत्प्रभ नामक वाहन जाति का देव हुआ। एक दिन धन्वन्तरि के जीव देव ने वाहन जाति के देव विश्वानुलोम को देखकर कहा- हे भाई! तुमने पूर्व भव में कुतप किया था इसलिए वाहन जाति का देव हुआ है अब जिनधर्म को स्वीकार कर। धन्वन्तरि के जीव ने समझाया और धर्म की परीक्षा करने के लिए उसको मध्यलोक में लाया।

सर्वप्रथम पंचाग्नि तप तपने वाले सन्त के पास जाकर उसको अपनी युक्तियों से तप से च्युत किया पुनः चतुर्दशी के दिन ध्यान में मग्न जिनदत्त सेठ के समीप जाकर उसको ध्यान से च्युत करने का प्रयत्न किया परन्तु वह जिनदत्त उनकी यातनाओं से अपने ध्यान से च्युत नहीं हुआ तब उन्होंने जिनदत्त को आकाशगामिनी विद्या प्रदान की और कहा कि कोई भी प्राणी चतुर्दशी को रात्रि के समय वटवृक्ष के नीचे तीखे शस्त्र रखकर तथा स्वयं वट वृक्ष की शाखा पर 108 रस्सी में छींका बाँधकर छींके में बैठकर णमोकार मंत्र का जाप करते हुए रस्सी को काटेगा उसको आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होगी।

जिनदत्त प्रतिदिन आकाशगामिनी विद्या के बल से मेरु पर्वत पर अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करने के लिए जाता था। एक दिन एक वटुक ने आकाशगामिनी विद्या की याचना की तो सेठ ने उसको विधि बता दी। सेठ के कथनानुसार वह वटुक वटवृक्ष के नीचे तीक्ष्ण शस्त्र रखकर विद्या सिद्ध करना चाहता था; परन्तु णमोकार मंत्र का विश्वास न होने से उस पर चढता था और उतरता था। उसके बीच में एक घटना घटी। जो अञ्जन चोर आँखों में अंजन डालकर चोरी करता था, जिससे सारी प्रजा दुःखी थी। वह अंजनचोर कौन था, उसका जीवन चरित्र कैसा था और एक क्षण में परिवर्तन कैसे आया उसका उल्लेख इस प्रकार है–

काश्मीर देश के राजा अरमित की सुन्दरी नामक पट्टरानी की कुक्षि से उत्पन्न ललितांग नामक पुत्र था। अत्यन्त ललित (सुन्दर) अंग का धारक होने से उसका ललितांग यह नाम सार्थक था। वह माता-पिता को बहुत प्रिय था। राजा और रानी उससे बहुत प्यार करते थे। माता-पिता के अधिक स्नेह के कारण संतान की परिणति कभी-कभी विपरीत हो जाती है, नीति मार्ग को छोड़कर कुमार्ग में लग जाती है। माता-पिता के अधिक प्यार से ललितांग दुर्व्यसनी, दुराचारी और दुर्गुणी हो गया था। दुर्व्यसनी होने के कारण वह सप्त व्यसनी बन गया। दुराचारी होने से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापों में लीन रहता था। पुत्र स्नेह के कारण माता-पिता ने उसके दुर्व्यसन, दुराचार एवं दुर्गुणों का विरोध नहीं किया अपितु उसको प्रसन्न रखने के लिए उससे प्यार ही करते रहे। शरीर और बुद्धि के साथ ललितांग के दुर्गुण भी बढ़ते गए। जैसे नीम के पत्ते के संसर्ग से पानी कड़वा हो जाता है उसी प्रकार ललितांग भी कुसंगति के कारण विवेकहीन हो गया।

ललितांग युवावस्था, मूर्खता, प्रभुत्व और सम्पदा चारों से युक्त था अतः उद्दण्ड होकर प्रजा को दुःखित करने लगा। यद्यपि ललितांग तद्भव मोक्षगामी था परन्तु मिथ्यात्व कर्म से प्रेरित होकर अपने स्वभाव को भूल गया था। प्रजा ने ललितांग के व्यवहार से दुःखित होकर राजा के चरणों में जाकर अपना दुःख निवेदन किया। प्रजा के दुःखद समाचार सुनकर राजा ने ललितांग को बुलाकर समझाया, परन्तु जैसे चिकने घड़े के भीतर पानी प्रवेश नहीं करता वैसे ही ललितांग के हृदय में पिता के वचनामृत ने प्रवेश नहीं किया।

जैसे सर्प को दूध पिलाने से वह विष उगलता है उसी प्रकार ललितांग पिता के वचनामृत को पीकर भी विष उगलने लगा। पिता को अपशब्दों से तिरस्कारित करने लगा। नगर में जाकर किसी का धन लूटा, किसी का मस्तक फोड़ दिया तो किसी की ललनाओं के शील धन को चुरा लिया-जिससे दुःखी होकर प्रजा नगर छोड़कर भागने लगी। अपने पुत्र के कारण नगर उजड़ता देख राजा ने पुत्र को देश से निकाल दिया। ठीक ही है-न्यायी राजा प्रजा के दुःख को सहन नहीं कर सकते।

अपने दुराचारी मित्रों के साथ ललितांग देश छोड़कर दूसरे देश में चला गया। जहाँ इसके परिचित कोई नहीं रहते थे। अपने मित्रों के साथ चोरी करता था। चौर्य कला में उसने बहुत ख्याति प्राप्त की, जिस कार्य को कोई नहीं कर सकता उस कार्य को ललितांग कर लेता था। इसने चोरी में सफलता प्राप्त करने के लिए अंजनवटी विद्या सिद्ध की थी जिससे अदृश्य होकर मनमानी वस्तुओं को चुरा लाता था।

अंजनवटी विद्या के कारण सर्व साधारण में यह अंजनचोर के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। वह देश देशान्तर में भ्रमण करता था। चोरी करके अपरिमित धन उपार्जन करता और सप्त

व्यसनों में उस धन का व्यय करता था। कुछ दिन पश्चात् देश देशान्तर में भ्रमण करते-करते वह राजगृही नगरी में पहुँचा और अनंग सुन्दरी नामक वेश्या पर आसक्त हो वहीं पर रहने लगा।

एक दिन राजगृह नगर की रानी के गले में स्थित ज्योतिप्रभा नामक हार को देखकर अनंग सुन्दरी का मन ललचाया। उस हार को प्राप्त करने के लिए घर आकर वह शय्या पर गिर गई और खाना पीना छोड़ दिया। जब ललितांग (अंजनचोर) उसके घर पर आया तब वेश्या ने उसको रानी के गले का हार लाने के लिए कहा।

वेश्या की बात सुनकर अंजनचोर ने कहा—हे अनंग सुन्दरी! राजमहल में जाकर हार चुराना संभव नहीं है, वहाँ पर तो मुझे अपने प्राणों की आहूति देनी पड़ेगी।

अनंगसुन्दरी ने कहा-चाहे प्राणों की आहूति देनी पड़े या कारागार के दु:ख भोगने पड़े या मार खानी पड़े, रानी के गले का हार लाकर देने पर ही मेरे घर में प्रवेश कर सकते हो अन्यथा नहीं? यदि हार लाकर नहीं दिया तो आज से मेरे घर में नहीं आना।

अनुनय विनय करने पर भी जब अनंगसुन्दरी शांत नहीं हुई, तब अंजनचोर ने आधी रात के समय राजमहल में जाने के लिए प्रस्थान किया। ठीक ही है वेश्या को पति के प्राणों से प्रेम नहीं होता, अपितु धन से होता है।

अपनी अंजन विद्या से अदृश्य होकर अंजनचोर राजमहल में गया और गाढ़ निद्रा में सुप्त रानी के गले से हार निकालकर महल से नीचे उतरकर भागने लगा। ज्योतिप्रभ हार में लगे हुए रत्नों का प्रकाश इतना अधिक था जिससे कोतवाल जिस दिशा में प्रकाश था उसी दिशा में चोर को पकड़ने के लिए दौड़ा। अंजनचोर ने बहुत कोशिश की परन्तु अधिक दौड़ नहीं सका अत: हार को वहीं फेंककर नगर के परकोटे को उल्लंघन कर श्मशान में पहुँच गया।

इस भयंकर अंधेरी रात में श्मशान में एक वृक्ष के नीचे दीपक जल रहे थे। एक वृक्ष की शाखा पर 108 रस्सी से छींका बँधा हुआ था। छींके के नीचे तीक्ष्ण शस्त्र रखे हुए थे और एक मानव छींके पर आरोहणावतरण कर रहा था। अंजनचोर ने उसके निकट जाकर पूछा—भ्रात! तुम क्या कर रहे हो? तुम्हारा नाम क्या है?

वटवृक्ष की शाखा में स्थित छींके पर आरोहण अवरोहण करने वाले व्यक्ति ने कहा—भ्रात! मेरा नाम वारिषेण है। जिनदत्त सेठ द्वारा कथित मंत्र के द्वारा आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर रहा हूँ। परन्तु मुझे भय लग रहा है कि यदि जिनदत्त के वचन असत्य निकले तो मैं व्यर्थ ही शस्त्र पर गिरकर प्राणरहित हो जाऊँगा। मेरा मन स्थिर नहीं हो रहा है, इसलिए मैं छींके पर चढता हूँ और उतरता हूँ।

यद्यपि अंजनचोर सप्त व्यसनी था तथापि पूर्व संस्कार के कारण उसको मंत्र पर दृढ़ विश्वास हो गया। उसने मन्द मुस्कान के साथ वारिषेण से कहा कि भ्रात तुम्हें गुणज्ञ जिनदत्त के वचनों पर विश्वास नहीं है। तुम मरण भय से युक्त हो, विद्या की सिद्धि में तुम्हें शंका है तुम इस कार्य को नहीं कर सकते। जो मंत्र पर दृढ़ आस्था रखता है और निर्भीक होता है उसे ही मंत्र सिद्धि होती है, अश्रद्धालू और भयभीत को नहीं। यदि तुमको विश्वास नहीं है तो यह मंत्र मुझे दो। अंजनचोर ने वारिषेण से वह मंत्र ले लिया। वह मंत्र णमोकार मंत्र था–जो सर्व सिद्धि को देने वाला है, सर्व मंत्रों में मुख्य मंत्र है, जो द्वादशांग का सार है।

अंजनचोर ने सर्वप्रथम जिनदत्त सेठ को नमस्कार किया और सेठ के वचनों पर दृढ़ विश्वास कर निर्मल भावों से एकचित्त होकर णमोकार मंत्र का जप करता हुआ अपूर्व साहस, दृढ़ता और धैर्य के साथ रस्सियाँ काटने लगा। अन्तिम रस्सी काटते ही वह जैसे ही शस्त्रों पर गिरने वाला था कि आकाशगामिनी विद्या ने उसे अधर झेल लिया और कहा–तुम्हें क्या चाहिए? मुझे आज्ञा दीजिए।

अंजनचोर ने कहा–मैं जिनदत्त सेठ के दर्शन करना चाहता हूँ, मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। जिनदत्त सेठ उस समय सुदर्शन मेरु पर स्थित अकृत्रिम जिनमन्दिरों की वन्दना कर रहा था। जिस समय जिनमन्दिर में प्रवेश कर अंजनचोर ने सर्वप्रथम जिनदत्त सेठ को नमस्कार किया उस समय जिनदत्त आश्चर्यचकित हो गया, विचारने लगा इस पापी को आकाशगामिनी विद्या कैसे सिद्ध हो गई। यह दुरात्मा सारे मन्दिरों को ध्वंस कर देगा।

सेठ की मुखाकृति से सेठ के मानसिक विचारों को जानकर अंजनचोर ने कहा–स्वामिन्! आप भयभीत मत होवें, आपकी कृपा से आज मैं परम पवित्र हो गया हूँ। आज मैंने जिनधर्म के माहात्म्य को जान लिया है, प्रभु के वचनों पर अटूट श्रद्धान हो गया है। मेरा मिथ्यात्व रूपी अन्धकार विलीन हो गया है।

अंजनचोर के आग्रह से सेठ उसको मुनिराज के समीप ले गया। मुनिराज के दर्शन कर अंजनचोर कृतकृत्य हो गया। शीघ्र जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके घोर तपश्चरण करने लगा। अन्त में घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया, तत्पश्चात् अघातिया कर्मों का नाशकर मुक्ति पद प्राप्त किया।

जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में शंका नहीं करने से अंजन जैसे पापी को भी आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गई और मुनि व्रत धारणकर घातिया एवं अघातिया कर्मों का नाशकर उसने मुक्ति पद प्राप्त कर लिया।

महानुभाव! शंका से रहित होकर आकाशगामिनी विद्या भी सिद्ध होती है और शंका से रहित होकर भवतरिणी विद्या भी सिद्ध होती है। जो शंका से रहित होते हैं वे किसी भी क्षेत्र में प्रवेश करें, सफलता को प्राप्त करते हैं। शंका से युक्त व्यक्ति अपने घर में भी सफल नहीं होता। माँ बेटे पर शंका करे, बेटा पिता पर शंका करे, पति-पत्नी पर शंका करे तो शंकाओं से युक्त होकर संसार में प्राणियों का जीवन सुखद नहीं हो सकता। मोक्षमार्ग तो शंका से युक्त होकर प्रारंभ ही नहीं होता है, यदि कोई शंकाशील प्राणी मोक्षमार्ग पर बढ़ जाए तो वह आज नहीं तो कल पतित हो जाएगा क्योंकि शंका पहले अतिचार होती है फिर अनाचार बन जाती है। वह शंका संशय में बदल जाती है और संशय नाम का एक मिथ्यात्व कहलाता है। इसलिए शंका वृक्ष की जड़ में लगी दीमक की तरह से है। शंका का चूहा किसी वृक्ष में लग जाता है तो वह वृक्ष धराशाही हो जाता है। ऐसे ही शंका सम्यक्त्व में लग जाए तो सम्यक्त्व को नष्ट कर देती है।

वैसे तो नि:शंकित अंग में अन्य महाविभूतियाँ भी प्रसिद्ध हुईं। सीता ने शंका नहीं की अग्नि कुंड में प्रवेश करते समय, उसे श्रद्धा थी मैंने कोई पाप किया ही नहीं, ये अग्नि मुझे जला नहीं सकती। इसी तरह से जब सुदर्शन सेठ को सूली की सजा सुना दी गई तब उन्होंने चिंतन किया कि मैं धर्म के साथ हूँ, अभी मेरे कर्म का उदय है, यह भी निर्जीण हो जाएगा, मैंने पाप नहीं किया तो मैं सजा को नहीं भोगूँगा। वास्तव में उन्हें सजा नहीं भोगनी पड़ी, सूली सिंहासन हो गया। उनके चित्त में शंका नहीं थी। चाहे वारिषेण थे उन्होंने भी शंका नहीं की। जब उन्हें राजा श्रेणिक ने प्रमाण के आधार से दोषी माना और दण्ड दिया तब उन्होंने भी नि:शंकित होकर दण्ड को स्वीकार किया। उन्होंने जिनदर्शन में शंका नहीं की, ये नहीं कहा कि मैं साधना करने वाला, त्याग करने वाला, अष्टमी-चतुर्दशी का व्रत करने वाला तब मेरे साथ ऐसा अन्याय हो रहा है, उपसर्ग हो रहा है, कुछ भी नहीं कहा। पूर्व में बाँधे गए कर्मों का फल मानकर समता से सहन किया। उन्होंने यही कहा कि जिनशासन कल्याण करने वाला है, जिनशासन की क्रिया जो सम्यक् रीति से करता है उसका कल्याण होता है। जिनशासन कभी किसी का अहित नहीं करता।

द्वितीय अंग है नि:कांक्षित अंग। उसमें प्रसिद्धि को प्राप्त अनंतमती का नाम आचार्य महाराज ने लिया। अब यहाँ उसकी कथा कही जाती है।

नि:कांक्षित अंग में प्रसिद्ध अनन्तमति की कथा

एक दिन अनन्तमति अपनी सहेलियों के साथ गुड्डा-गुड्डी का खेल खेल रही थी। एक गुड्डी की शादी का स्वांग रचाकर उसके आनन्द में लोट पोट हो रही थी। जिनमन्दिर के दर्शन करने के लिए जाते हुए प्रियदत्त सेठ ने मार्ग में क्रीड़ा में रत बालिकाओं का खेल और उसमें मग्न अनन्तमति को देखकर मन में विचार किया-अहो! अभी अनन्तमति आठ वर्ष की भी नहीं हुई है, ऐसी कामवासना को जागृत कराने वाले खेल में आसक्त।

खेल में आसक्त प्रिय पुत्री अनन्तमति को प्रियदत्त सेठ ने अपनी गोदी में उठा लिया। पुत्री को प्यार करते हुए कहा—बेटी! तुम मुझसे छिपाकर विवाह कर रही हो? तुमने वास्तविक बाजे नहीं बुलाए, अतिथियों को नहीं बुलाया, ज्योनार का प्रबन्ध नहीं किया। यदि तुम मुझे कह देती तो मैं सारा प्रबन्ध कर देता। इस प्रकार पिता की आमोद-प्रमोद की बातों को सुनकर अनन्तमति परम हर्ष को प्राप्त हुई।

अनन्तमति ने पिता से पूछा—पिता जी आप कहाँ जा रहे हैं? पिता ने कहा—जिनमन्दिर के दर्शन करने जा रहा हूँ। बच्चे हृदय के सच्चे होते हैं, वस्तुओं के स्वरूप को जानने के जिज्ञासु होते हैं इसलिए अनन्तमति ने पूछ ही लिया—पिताजी! जिनमन्दिर किसको कहते हैं और उसके दर्शन से हमको क्या लाभ होता है?

पिता ने कहा—बेटा जिन्होंने कर्म शत्रुओं को जीत लिया है, जिन्होंने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है वह जिन कहलाते हैं और उनके बिम्ब की प्रतिकृति प्रतिमा के मन्दिर को जिनमन्दिर कहते हैं। जिनमन्दिर में स्थित जिनबिम्ब के दर्शन को जिनदर्शन कहते हैं। जिनबिम्ब का दर्शन करने से अनेक भवों में उपार्जन किए हुए पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जिन प्रतिमा में आत्मा की शुद्ध व्यञ्जन पर्याय और शुद्ध अर्थपर्याय का अवलोकन होता है। दर्शन करने वाले को उसका दर्शन करने से शुद्धात्मा का भान होता है।

जिन प्रतिमा के दर्शन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, मिथ्यादर्शन का नाश होता है; यह जिनबिम्ब के दर्शन करने का फल है। अनन्य भावों से जिन प्रतिमा के दर्शन करते समय तत्काल पुण्य बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है। पिता के मुख से जिनबिम्ब के दर्शन की महिमा सुनकर उसका हृदय गदगद हो गया। वह गुड्डियों के खेल को छोड़कर माता-पिता के साथ जिनमन्दिर गई। जिनमन्दिर में पहुचकर सेठ ने सर्वप्रथम तीन

प्रदक्षिणा देकर जिनभगवान् को नमस्कार किया। जिन भगवान् के दर्शन से उत्पन्न आनन्दाश्रु से उसका मुख प्रक्षालित हो गया। सारा शरीर रोमांचित हो गया।

जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन करके प्रियदत्त सेठ ने मुनिराज के समीप आकर उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर आंतरिक भक्ति से नमस्कार किया तथा मुनिराज के मुखारविन्द से सद्धर्म वृद्धि रूप आशीर्वाद सुनकर उसका मन मयूर नाच उठा जैसे बादलों की गर्जना सुनकर मयूर नाच उठते हैं।

अष्टाह्निक पर्व का प्रथम दिन था—सेठ-सेठानी ने मानव जन्म को सफल बनाने के लिए आठ दिन का ब्रह्मचर्य व्रत लिया। सहज सरल स्वभाव से अनन्तमति ने पूछा—पिताजी! आपने क्या लिया है। पिता ने कहा—ब्रह्मचर्य व्रत लिया है तुम भी लेओगी क्या? पुत्री ने स्वीकृति दी और पिता ने गुरु की साक्षी पूर्वक पुत्री को ब्रह्मचर्य व्रत दिला दिया। ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार कर अनन्तमति बहुत प्रसन्न हुई। जिस प्रकार दरिद्री लक्ष्मी को प्राप्तकर, अन्धा नेत्र पाकर और पुत्रहीन पुत्र को प्राप्तकर प्रसन्न होता है।

यद्यपि अनन्तमति आयु की अपेक्षा बहुत छोटी थी तथापि विचार शक्ति उसकी प्रौढ के समान थी। उसी दिन से वह गुड़ियों के खेल छोड़कर निरंतर ध्यान और स्वाध्याय में लीन रहने लगी। जब अनन्तमति सोलह वर्ष की हुई तब सेठ ने उसके विवाह करने का विचार किया। पिता को विवाह करने में उद्यत देखकर अनन्तमति ने कहा-पिताजी! जब मैंने आपकी आज्ञा से तथा गुरु की साक्षी पूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया है तो फिर विवाह करने का उद्यम कैसे किया जा रहा है? क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत और विवाह यह परस्पर विरोधी हैं।

पिता ने कहा—बेटा! वह व्रत अष्टाह्निक में आठ दिन का लिया था आजन्म नहीं। अनन्तमति ने कहा—पिताजी! न तो आपने आठ दिन का नाम लिया था और न गुरुदेव ने ही कहा था अतः आठ दिन का कैसे हो सकता है। बेटा व्रत का दिलाना मेरा एक खेल मात्र था, मनोरंजन था। हंसी-मजाक में व्रत दिलाया था, वास्तव में नहीं। पिताजी! धार्मिक क्रिया वा व्रतों में हंसी-मजाक नहीं होती। वे तो आत्मशुद्धि के कारण हैं। आन्तरिक भावों से ग्रहण किए जाते हैं। पिता ने कितना ही विषय वासनाओं का प्रलोभन दिया परन्तु अनन्तमति अपने व्रतों पर अटल रही। सत्य है सम्यग्दृष्टि व्रती अपने व्रतों से च्युत नहीं होते।

एक दिन अनन्तमति अपनी सहेलियों के साथ उद्यान में झूला झूल रही थी। झूले में झूलती हुई भी वह कमल मुखी अपनी मधुर ध्वनि से भगवान् के गुणों का गान कर रही थी। जिसकी मनोहर ध्वनि को सुनकर कुण्डलमति नामक विद्याधर का मन मोहित हो गया। कामदेव के

बाणों से ताड़ित होकर मन-वचन-काय की सुधबुध भूल गया। सत्य है अन्धे से महान्ध होता है-विषयान्ध। आँखों से अन्धा रूप ही नहीं देख सकता परन्तु विषयान्ध की पाँचों इन्द्रियाँ और मन सब विफल हो जाते हैं, हृदय विचार शून्य हो जाता है।

कामवासना अग्नि से भी अधिक भयंकर दावानल है क्योंकि दावानल से जलते हुए मानव का तो एक ही भव का मरण होता है, परन्तु कामाग्नि से जला हुआ प्राणी अनेक भवों तक जन्म-मरण के दु:खों को भोगता है। काम ज्वाला से संतप्त हृदय वाला कुण्डलमति विद्याधर अपनी विद्या के बल से अनन्तमति को उठाकर अपने नगर की ओर ले जा रहा था। इतने में क्रोध से चण्डी का रूप धारणकर आकाश मार्ग से आती हुई अपनी पत्नी को देखकर उसके भय से विद्याधर ने अनन्तमति को पर्णलघु विद्या के बल से एक भयंकर जंगल में छोड़ दिया।

पूर्वभव में उपार्जन किए हुए कर्मों के अनुसार जीव सुखी और दु:खी होता है। यद्यपि उन कर्मों के उदयावली में आने के लिए अनेक निमित्त कारणों का संयोग होता है परन्तु उनका मूल कारण तो पूर्वोपार्जित कर्म का उदय ही है। पूर्वोपार्जित कर्म पवन से प्रेरित होकर असहाय निर्जन वन में पड़ी हुई अनन्तमति विलाप कर रही थी। उसी वन में शिकार खेलने के लिए आए हुए भीलराज भीम ने अनन्तमति को देखा और देखते ही उसका हृदय काम बाण से विद्ध गया।

कामान्ध भीलराज ने अनन्तमति से बार-बार भोगों की प्रार्थना की, जब अनन्तमति का हृदय नहीं पिघला तब बलात्कार करने का निश्चय किया। जैसे ही भील ने बलात्कार करने के लिए अनन्तमति का स्पर्श करने का प्रयत्न किया कि व्रत महात्म्य से शासन देवता का आसन कम्पायमान हो गया। देव ने आकर भील को दण्ड देना प्रारंभ किया जिससे उसका शरीर जलने लगा और मुद्गर की मार पड़ने लगी। देवता के कोप से आकुल-व्याकुल होकर भील ने अनन्तमति के चरणों में गिरकर क्षमायाचना की तथा अनन्तमति को पुष्प नामक वणिक् के हाथ सौंप दिया। उस अनङ्ग सुन्दरी के रूप को देखकर वणिक् अपने मन को वश में नहीं रख सका। कामवासना से विह्वल होकर उसने अनन्तमति से अनुनय विनय किया, परन्तु जब अनन्तमति उसके आधीन नहीं हुई तब उसको वेश्या के हाथ सौंप दिया।

वेश्या ने अनन्तमति को बहुत समझाया, भोगों का प्रलोभन दिया परन्तु अनन्तमति का मनमेरु विचलित नहीं हुआ। ठीक ही है, कल्पान्त काल की वायु से सुदर्शन मेरु हिल नहीं सकता तथा सिद्धों में कभी विक्रिया नहीं हो सकती। उसी प्रकार महापुरुषों का मन कभी विचलित नहीं हो सकता।

धर्म एवं आत्मतत्त्व के स्वरूप को नहीं जानने वाली वेश्या ने अनन्तमति को राजा के हाथ में सौंप दिया। अनन्तमति के सौन्दर्य को देखकर राजा कामान्ध होकर हेयोपादेय से रहित चित्त हो गया। रनवास में कितनी ही सुन्दर रानियों को छोड़कर काम पिपासा को पूर्ण करने के लिए अनन्तमति के समीप जाकर उससे अनुनय विनय करने लगा। ठीक ही है ''कौवा मिष्ठान्न को छोड़कर विष्ठा में मुख डालता है।''

राजा ने अनन्तमति को अपने वश में करने के लिए अनेक प्रयत्न किए। अनेक प्रकार के विषय भोगों का प्रलोभन दिया, अपनी शक्ति का भय दिखाया परन्तु अनन्तमति प्रभु भक्ति में लीन होकर आत्म चिंतन कर रही थी। उसने आँख उठाकर राजा की तरफ देखा ही नहीं और न उसकी बातों को सुना। जब अनन्तमति को अबला समझकर राजा ने बलात्कार करने की कोशिश की तब अनन्तमति के शील के प्रभाव से देव का आसन कम्पायमान हुआ। सती के शील की रक्षा करने के लिए देव ने राजमहल में आकर राजा को पीटना प्रारंभ किया। जिससे राजा चकित हो गया। चारों तरफ से मार पड़ रही थी, परन्तु मारने वाला कोई दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। अन्त में आकाशवाणी हुई–दुष्ट! यदि सती के चरण पकड़कर क्षमा याचना करता है तो तेरे प्राण बच सकते हैं अन्यथा नहीं। राजा ने अनन्तमति से क्षमा याचना की। देव का उपसर्ग शान्त हो गया।

राजा के पंजे से छूटकर अनन्तमति उज्जयिनी नगर में जिनमन्दिर में गई तथा जिनमन्दिर में स्थित कमलश्री नामक आर्यिका के समीप रहकर अध्ययन करने लगी। अनन्तमति प्रतिदिन श्रावकों के घर भोजन करके आती थी। अनन्तमति का अपहरण हो जाने से उसके माता–पिता का मन व्याकुल हो गया।

बहुत प्रयत्न करने पर भी जब अनन्तमति का पता नहीं लगा तब अनन्तमति के पिता अपने मन को शान्त करने लिए तीर्थ वन्दना करने गया। मार्ग में उज्जयिनी नगरी में ठहर गया। वहाँ पर उसका ससुराल था। सुख–दुःख की बातें करते रात्रि व्यतीत हो गई। साले की पत्नी जिनदत्ता ने रसोई के लिए अनन्तमति को बुलाया था। अनन्तमति रसोई बनाकर और चौक पूरकर तथा भोजन करके जिनमन्दिर में चली गई। जब अनन्तमति के पिता ने चौक पूरा हुआ देखा तो अपनी पुत्री की याद आ गई। पूछा–ये चौक किसने पूरा है, अतः अनन्तमति को बुलाया गया। अनन्तमति को देखकर सेठ का मन आनन्द विभोर हो गया।

पिता पुत्री का मिलन अपूर्व था। जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर समुद्र में ज्वार आता है, समुद्र उद्वेलित हो जाता है उसी प्रकार पुत्री के मुख रूपी चन्द्रमा को देखकर सेठ का दुःख

रूपी समुद्र उमड़ गया, आँखों से झर झर पानी झरने लगा। पुत्री के मस्तक पर हाथ फिराते हुए उसके कुशल समाचार पूछे, पुनः घर जाने का आग्रह किया। पुत्री ने कहा–पिताजी मैं संसार की और भोगों की निःसारता का अनुभव कर चुकी हूँ। मैं इस कीचड़ में पड़कर अपनी आत्मा को मलिन करना नहीं चाहती। रत्नत्रय रूपी निर्मल नीर से अपनी आत्मा में अनादिकाल से लगे हुए कर्म कालिमा को धोने का प्रयत्न करूँगी।

पिता के निषेध करने पर भी अनन्तमति ने नीलमणि के समान काले केशों को अपने हाथ से उखाड़कर फेंक दिया। कमलश्री आर्यिका के चरण कमलों में नमस्कार किया और आर्यिका दीक्षा ग्रहण की। श्वेत साड़ी और पिच्छी-कमण्डलू को ग्रहणकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुई। आयु पर्यन्त निर्दोष व्रतों का पालन कर घोर तपश्चरण के द्वारा अशुभ कर्मों की निर्जरा तथा महान् पुण्य का बन्ध करके अन्त में समाधिमरण पूर्वक प्राणों का त्यागकर बारहवें स्वर्ग में देव पद को प्राप्त किया।

महानुभाव! इसी प्रकार विजय-विजया हुए, जिन्होंने व्रत लिया था कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष के ब्रह्मचर्य व्रत का, जब दोनों को इसका ज्ञात हुआ तब विजया ने कहा कि मैं नारी हूँ दूसरा विवाह नहीं कर सकती, मैं अपने पति को देखकर संतुष्ट रहूँगी, अपने संयम का पालन करूँगी किन्तु आप पुरुष हो द्वितीय विवाह कर सकते हो। विजय ने कहा–आप ये न सोचो कि सिर्फ आप ही अपने मन पर नियंत्रण कर सकती हो। विजय ने दूसरी शादी नहीं की। इसी तरह से देशभूषण-कुलभूषण विद्यापूर्ण करके जब गुरुकुल से लौटे तब उनके लिए सुयोग्य कन्याएँ बुलवा रखी थीं किन्तु उनका मन अपनी बहिन पर मोहित हो गया, जब उन्हें भान हुआ कि ये हमारी बहिन है तो उन्हें अपने आप पर बड़ी ग्लानि हुई कि हमारी आँखें हमारी बहिन को न पहचान सकीं। अन्य राजा लोग जो अपनी-अपनी कन्याओं को लाए थे दोनों भाईयों ने किसी को स्वीकार नहीं किया। पुनः उन्होंने विरक्त होकर के दीक्षा ले ली। सुदर्शन सेठ को भी उस रानी ने कितना ही रिझाने का प्रयास किया किन्तु सेठ सुदर्शन ने कहा–मुझे भोग नहीं, मुझे तो धर्म चाहिए। बस, अब तो मैं पाणिपात्र में आहार करूँगा। महानुभाव! ऐसे कितने ही पुरुष हुए एवं कितनी ही सत्नारियाँ हुईं, कुमारिकाएँ हुई जिन्होंने भोगों को स्वीकार नहीं किया और आध्यात्मिक योग को स्वीकार किया।

तो निःकांक्षित अंग का आशय होता है कांक्षा नहीं करना, किसकी कांक्षा नहीं करना? भवसुख की, देह सुख की कांक्षा नहीं करना, भोग सुख की, अर्थ सुख की कांक्षा नहीं करना,

यश-कीर्ति-पूजा-प्रतिष्ठा की कांक्षा नहीं करना। यदि मन में भाव आए मैं अपना कल्याण करूँ, कर्मों का क्षय करूँ, मैं क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करूँ, मैं भी क्षपक श्रेणी चढ़ सकूँ; ऐसी भावना भाने वाला व्यक्ति कांक्षा के दोष से दूषित नहीं हो सकता, वह साधना करने पर सकल कर्मक्षयार्थं, अशुभनिवृत्यर्थं ऐसी भावना रखता है। कांक्षा करना ही दोषप्रद है, जो कांक्षा करता है तो समझना चाहिए उसे अपनी साधना पर भरोसा नहीं है, अपने पुण्य पर भरोसा नहीं है, कर्त्तव्य पालन पर भरोसा नहीं है। जिसके पास नकली मुद्रा होती है वही कहता है मुझे यह वस्तु दे दो, मेरा नोट असली है, जिसका असली है वह कहता नहीं है कि असली है, वह तो सबको दिखाई ही दे रहा है। नकली नोट वाला तो वस्तु खरीदने के लिए एक के बदले दो नोट देने को तैयार हो जाता है, किंतु असली नोट वाला कहता है नहीं, मैं दूसरा नोट नहीं दूँगा, वस्तु देनी है तो इसी नोट पर दे। ऐसे ही जिसे अपनी साधना पर, उपासना पर, अपने त्याग पर, अपनी शुभ भावना पर विश्वास होता है वे कभी भव सुख की वांछा नहीं करते।

तृतीय अंग में आचार्य महोदय ने उद्दायन राजा की प्रसिद्धि को कहा।

निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध राजा उद्दायन की कथा

रौरकपुरनगर में महाराजा उद्दायन राज्य करते थे, वे बड़े धर्मात्मा व सम्यग्दृष्टि थे। उनकी चर्चा एक बार देवों में चली तो उनकी परीक्षा के लिए स्वर्ग से देव आया, उसने मुनिमहाराज का रूप बनाया; अत्यंत कृश शरीर, गलित कुष्ट से युक्त आहार के लिए जा रहे हैं। नगर में किसी ने उन्हें पड़गाया नहीं क्योंकि उनके शरीर से बहुत बदबू आ रही थी, लोग उनसे दूर भाग रहे थे। राजा उद्दायन के महल के सेवक भी उन्हें देखकर भाग गए किन्तु उद्दायन राजा ने अपनी रानी के साथ नवधाभक्ति के साथ विनयपूर्वक पड़गाहन करके उन्हें आहार दिया। आहार करने के उपरांत उस देव ने जो मुनि का रूप बनाकर आया था, राजा के ऊपर पूरा दुर्गंधित वमन कर दिया। उस दुर्गंधित वमन से राजा का सारा शरीर वमन से ओतप्रोत हो गया; किन्तु राजा ने किंचित् भी ग्लानि नहीं की, अपितु उसे साफ करके कहा महाराज! आहार में हमसे कोई दोष हो गया, हमने आपकी प्रकृति के विरुद्ध आहार दिया, हमें क्षमा प्रदान करें। राजा के इस प्रकार के निर्जुगुप्सा भाव को देखकर वह देव अपने असली रूप में आया और नमस्कार कर कहा–धन्य हैं आप राजन्, धन्य हैं। जैसे मैंने सुधर्मासभा में आपके बारे में सुना, उससे भी ज्यादा आपको पाया। देव उनकी पूजा-स्तुति करके पुरुस्कार आदि देकर चला गया। इस प्रकार ग्लानि को जीतने वाले राजा उद्दायन हुए व अन्य महापुरुष भी हुए जिन्होंने ग्लानि को जीता।

आपको ज्ञात होगा नंदिषेण नाम के मुनिराज जो सेवा-वैय्यावृत्ति करते थे, एक बार वासव देव परीक्षा करने आया। उसने भी मुनि का रूप बनाया और कहा मुझे अमुक देश की गायों का दूध चाहिए, अमुक देश का घी, यहाँ का चावल चाहिए, ये मेरी औषधि के लिए है। नंदिषेण मुनिराज ने वैसा प्रबंध कर दिया। आहारोपरांत वह देव वमन कर देता है, इतना सब कुछ करने पर भी नंदिषेण मुनि किंचित् भी अपनी सेवा से विचलित नहीं हुए। वह देव और अधिक परीक्षा लेता है जिससे वे विचलित हो जाएँ किन्तु वे विचलित नहीं होते, तब वह देव उनकी पूजा-भक्ति करके चला जाता है। वही नंदिषेण मुनि महाराज बाद में कामदेव वसुदेव बनते हैं। महानुभाव! कहने का अभिप्राय यह है कि हम साधर्मी की सेवा करते हुए उनमें किंचित् भी ग्लानि का भाव न लाएँ।

आचार्य भगवन् ने चौथे अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती रानी का नाम लिया। वैसे महिलाएँ मूर्खता का प्रयोग करती हैं किन्तु रानी ने मूर्खता को जीत लिया **'मोढव्यं नारीणां भूषणं'** मूर्खता नारी का आभूषण है। किंतु रेवती रानी ने मूर्खता को जीतकर अमिट प्रसिद्धि को प्राप्त किया। उसकी कथा इस प्रकार है–

अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा

पाण्डव देश के दक्षिण मथुरा नामक नगर में अवधिज्ञानी अष्टांग निमित्त के ज्ञाता महातपस्वी श्री गुप्तनामक आचार्य रहते थे। विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी स्थित मेघकूट नगर का अनुशास्ता चन्द्रप्रभ राजा ने स्वकीय पुत्र चन्द्रशेखर को राज देकर श्रीगुप्त नामक सूरि के चरणों में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली।

एक दिन क्षुल्लक ने तीर्थयात्रा करने के लिए अन्यत्र विहार करने की इच्छा प्रगट की। गुरुदेव की अनुमति पाकर जब क्षुल्लक जाने लगा तब उसने गुरुदेव से विनय पूर्वक पूछा–स्वामिन्! उत्तर मथुरा में किसी को कुछ कहना है? आचार्य देव ने कहा–सुव्रत मुनिराज को हमारी वन्दना और रेवती रानी को आशीर्वाद कहना। बार-बार पूछने पर भी मुनिराज ने अन्य संदेश नहीं दिया जिससे क्षुल्लक के हृदय में यह संशय हो गया कि वहाँ रहने वाले 11 अंग के पाठी भव्यसेन मुनि को आचार्य देव ने वन्दना क्यों नहीं कही?

हृदय में जब किसी प्रकार की शंका उत्पन्न होती है तब मन विक्षिप्त हो जाता है जब तक शंका न निकले तब तक शांति नहीं मिल सकती।

क्षुल्लक महाराज ने हृदयस्थ शंका का निवारण करने के लिए सर्वप्रथम उत्तर मथुरा में जाकर सुव्रत मुनिराज के दर्शन किए श्रीगुप्त मुनिराज ने आपको नमोस्तु कहा है ऐसा कहकर नमस्कार किया। व्यवहार विधि को जानने वाले तथा धार्मिक जनों के प्रति वात्सल्य रखने वाले सुव्रत मुनिराज ने 'प्रति वन्दना' कहकर वात्सल्य भाव प्रगट किया और उनके रत्नत्रय की कुशलता पूछी।

वहाँ से निकलकर वह क्षुल्लक 11 अंग के पाठी भव्यसेन मुनि के पास गया, उनकी भी वन्दना की परन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। वे ज्ञान के मद से चूर थे, किसी को कुछ नहीं समझते थे। कुछ देर बाद जब भव्यसेन शौच के लिए जाने लगे तब क्षुल्लक ने उनका कमण्डलू अपने हाथ में ले लिया और विनयपूर्वक धीरे-धीरे उनके पीछे चलने लगा। विद्या के बल से उसने पूरे मार्ग में हरियाली कर दी, जिसको देखकर भव्यसेन मार्ग पर खड़े रहे। क्षुल्लक ने पूछा–गुरुदेव खड़े क्यों हो? भव्यसेन ने कहा–वनस्पति में सर्वज्ञ देव ने एकेन्द्रिय जीव कहा है, महाव्रती दिगम्बर साधु हिंसा के त्यागी होते हैं, वे एकेन्द्रिय जीवों की भी विराधना नहीं करते।

भव्यसेन की बात सुनकर मन्द मुस्कान के साथ क्षुल्लक जी बोले–गुरुदेव आप ही शास्त्रों के वचनों पर श्रद्धान कर अपने आपको ठग रहे हैं। क्या शास्त्र की सारी बातें सत्य होती हैं। सूई के अग्र भाग प्रमाण आलू के टुकड़े में अनन्तानन्त जीव हैं, वनस्पति जीव से युक्त है इनका विश्वास कैसे हो सकता है? यह प्रत्यक्ष बाधित है, दृष्टिगोचर नहीं है। उनका विश्वास नहीं करना चाहिए।

भव्यसेन ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से 11 अंग का पाठी था, सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ का विश्लेषण करता था परन्तु दर्शनमोहनीय कर्म के भेद रूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्त्व श्रद्धान नहीं था इसलिए शीघ्र कह दिया कि विश्वास तो मुझे भी नहीं है परन्तु लोकव्यवहार में ऐसा कहना एवं करना पड़ता है, नहीं तो लोग मिथ्यादृष्टि कहते हैं। क्षुल्लक ने कहा कि यहाँ देखने वाला कौन है, मुझे तो विश्वास नहीं है, आपको भी विश्वास नहीं है फिर इस पर चलने से हानि क्या है? यह बात सुनकर भव्यसेन ने नि:शंक होकर हरितकाय पर गमन किया, तालाब के बिना छने पानी का प्रयोग किया तथा सचित्त मिट्टी से हाथ धोएँ, यह देखकर क्षुल्लक जी ने उनका नाम अभव्यसेन रखा और मन में यह दृढ़ विश्वास किया कि इसीलिए श्रीगुप्त मुनिराज ने इनको नमोस्तु नहीं किया।

तत्पश्चात् रेवती रानी की परीक्षा करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम ब्रह्मा का रूप बनाया जिसके दर्शन के लिए सारी दुनिया उमड़ पड़ी परन्तु रेवती रानी का हृदय नहीं पिघला वह अपने परिणामों (विश्वास) पर दृढ़ रही।

दूसरे दिन उसने दक्षिण दिशा में गरुड़ के ऊपर आरूढ चार भुजाओं सहित तथा गदा, शंख आदि के धारक नारायण का रूप दिखाया। परन्तु रेवती नहीं गई क्योंकि उसको विश्वास था कि नारायण नौ ही होते हैं, वह हो चुके हैं, यह कोई ढोंगी पुरुष है।

तीसरे दिन उसने पश्चिम दिशा में बैल पर आरूढ तथा अर्धचन्द्र जटाजूट पार्वती और गणों से सहित शंकर का रूप दिखाया। सारी जनता दर्शन के लिए उमड़ पड़ी परन्तु रेवती को दृढ़ विश्वास था कि रुद्र 11 होते हैं वे हो चुके, यह कोई मायावी है। जिनेन्द्र भगवान् के वचन कभी असत्य नहीं होते।

चतुर्थ दिन उत्तर दिशा में उसने समवसरण के मध्य में आठ प्रातिहार्य सहित सुर, नर, विद्याधर और मुनिगणों के समूह से वन्दनीय पर्यंकासन से स्थित तीर्थंकर देव का रूप दिखाया। सारी जनता उनके दर्शनार्थ गई, राजा भी गया परन्तु रेवती नहीं गई। उसके हृदय में जिन

वचन पर अटूट विश्वास था कि तीर्थंकर 24 होते हैं, वे हो चुके हैं, जिनागम की बात कभी असत्य नहीं हो सकती।

पंचम दिन उस विद्याधर क्षुल्लक ने ऐसे क्षुल्लक का रूप बनाया जिसका शरीर व्याधि से ग्रसित था। माया से वह मूर्छा खाकर जमीन पर गिर पड़ा। रेवती रानी ने जब यह समाचार सुना तो शीघ्र ही उनके पास आई और भक्तिपूर्वक उसको उठाकर घर पर ले गई, शीतोपचार से सचेत किया। तदनन्तर महान् भक्ति से उनको आहार दिया। मायावी क्षुल्लक ने सारा अन्न दुर्गन्धयुक्त करके वमन कर दिया। जिसकी दुर्गन्ध से सारे घर के परमाणु दुर्गन्धित हो गए। जिससे घर के सारे सदस्य भाग गए परन्तु रेवती रानी का मन विचलित नहीं हुआ। उसने क्षुल्लक की परिचर्या अपने हाथों से की। दुर्गन्धित वमन को स्वयं उठाकर फेंका और कहा कि हाय मैंने प्रकृति के विरुद्ध अपथ्य आहार दिया। रेवती रानी के उक्त वचन सुनकर क्षुल्लक ने संतोष से सब माया को संकोचकर उसे गुप्ताचार्य की परोक्ष वंदना कराकर उनका आशीर्वाद कहा और लोगों के बीच उसकी अमूढ़ दृष्टिता की खूब प्रशंसा की। यह सब करके क्षुल्लक अपने स्थान पर चला गया। जिस प्रकार रेवती रानी अपने व्रतों पर दृढ़ रही उसी प्रकार सबको अमूढ़दृष्टि अंग पर दृढ़ रहना चाहिए।

आचार्य महाराज ने ऐसे लघु उदाहरण दिए जिसे देखकर अन्य व्यक्ति भी अपना सम्यक्त्व निर्मल बना सकें और इन अंगों का यथार्थ पालन कर सकें। यहाँ संक्षेप में यह कथा देखी विस्तार से प्रभाचन्द्र आचार्य द्वारा विरचित कथाओं को पढ़ना चाहिए।

सम्यग्दर्शन का पाँचवां उपगूहन अंग अर्थात् किसी के दोषों को सद्आशय से छिपाना, इसलिए छिपाना जिससे वह दोषों से मुक्त हो जाए। उनकी सार्वजनिक निंदा नहीं करना। सार्वजनिक निंदा करने से व्यक्ति ढीट व बेशर्म हो जाता है, उसके सुधरने की संभावना नहीं रहती। उसका सार्वजनिक स्थानों पर दोष नहीं कहना, ढांक देना, एकांत में जाकर उसको समझा देना, यह उपगूहन है। सदैव दूसरों के गुणों की चर्चा करें, अपने गुणों की सार्वजनिक चर्चा न करें, अपने दोषों के बारे में विचार करें। इस अंग का नाम उपवृहण भी है, इस अंग में आचार्य महाराज के कथनानुसार जिनेन्द्रभक्त सेठ प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त सेठ कथा

ताम्रलिप्त नगर में जिनेन्द्रभक्त सेठ रहता था। वह सेठ भद्रपरिणामी, सम्यग्दृष्टि एवं परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु का परम उपासक था। उसने अपने इष्ट आराध्य देव का स्वन्यायोपार्जित द्रव्य से जिनालय बनवाया। जिनालय में उदारता के साथ धन व्यय किया व रत्नमय जिनबिंब स्थापित किया। उन पार्श्वनाथ भगवान् के जिनबिंब पर वैडूर्यमणि के तीन छत्र लगाए। वह सेठ धन कमाने के लिए समय-समय पर विदेश जाता था, और पुनः आकर के चैत्यालय की पूजा-पाठ करता था। वह कभी 100 स्वर्णमुद्राओं से कभी 200 स्वर्णमुद्राओं से पर्व के दिनों में प्रभु अर्चना करता था। एक सुवीर (सूर्य) नामक चोर को ज्ञात हुआ कि जिनेन्द्रभक्त सेठ के जिनालय में रत्नजड़ित छत्र है। एक बार चोरों की गोपढ़ी में वार्ता चल रही थी कि हममें से ऐसा कौन है जो उस छत्र को ला सकता है, तब अन्य सब चोर तो असमर्थ हुए किंतु सुवीर चोर ने कहा मैं उस छत्र को चुरा सकता हूँ। मैं अपनी बुद्धि और सूझ-बूझ से चुराने की कोशिश करूँगा। उसने सोचा जिनेन्द्रभक्त सेठ जिनोपासक है, निर्ग्रंथ साधुओं का भक्त है, जिनधर्म का अनुयायी है, मैं झूठ-मूठ ही जिनसाधक बन जाता हूँ और वह क्षुल्लक भेषधारी बनकर भ्रमण करते हुए उसी नगर में आ गया।

छद्म भेष धारण कर खूब साधना करने लगा। कभी भक्ति में संलग्न होता, कभी ध्यान में। जिनेन्द्रभक्त सेठ यह सब देख बहुत प्रसन्न हुआ और सत्य धर्म समझकर उनसे कहा—क्षुल्लक जी महाराज! आपने यहाँ आकर मेरे ऊपर बड़ी कृपादृष्टि की है, आप यहीं ठहरें, मुझे अत्यावश्यक कार्य से विदेश जाना है, तब तक आप मंदिर की व्यवस्था बनाकर रखना। सेठ ने वैडूर्यमणिमय छत्रादि की सुरक्षा हेतु क्षुल्लक जी को वहीं ठहरा दिया। जब सेठ व्यापार के लिए निकल गया तब सुवीर ने मौका प्राप्त कर सोचा अधिक समय तक कौन यहाँ ठहरे, मैं जिस उद्देश्य से यहाँ आया, छत्र चुराने के लिए, अब वह चुराकर चलता हूँ। जिनेन्द्रभक्त सेठ अभी पहले पड़ाव पर ही था पर सुवीर को लगा कि सेठ तो बहुत आगे निकल गया है, मैं छत्र लेकर भाग जाऊँगा।

उसी रात्रि को सुवीर ने छत्र को चुराया और वहाँ से भागा। मणि के तेज से मंदिर में नियत आरक्षी सिपाहियों ने देख लिया, छत्र की चमक देखकर वे उसके पीछे दौड़े। उस सुवीर चोर ने देखा (जो क्षुल्लक वेष में था) और सोचा ये सिपाही मुझे छोड़ेंगे नहीं। वह दौड़ता गया और दौड़ते-दौड़ते उसी स्थान पर पहुँच गया जहाँ जिनेन्द्रभक्त सेठ का पड़ाव था। सुवीर ने कहा—अब मैं इन्हीं के चरणों में गिरकर क्षमा माँगूँगा, ये मुझे क्षमा कर देंगे तो कम से कम

मेरे प्राण तो बच जाएँगे, वह सीधा सेठ के तम्बू में घुस गया। सिपाही उसका पीछा करते हुए उसके पास पहुँचे। सिपाहियों ने कहा-सेठ जी, यह छत्र चुराकर लाया है, ये चोर है, साधु नहीं है। सेठ ने सबको डाँटते हुए कहा-तुम्हें शर्म नहीं आती एक धर्मात्मा पर लांछन लगाते हुए, ये चोर नहीं है साधक है, छत्र तो मैंने इनसे मँगाया था। सिपाहियों ने कहा-छत्र मंगाने की खबर तो हमारे पास नहीं थी, सेठ ने कहा—मैंने इन्हीं के पास संकेत भेजा था। सिपाही बोले-सेठजी! फिर ये छत्र लेकर भागा क्यों? सेठ ने सबका समाधान किया। जब सभी आरक्षी सैनिक चले गए तब सेठ ने सुवीर चोर को एकान्त में समझाया और कहा-अरे भाई सुवीर! तूने जिनधर्म को कलंकित करने का यह कृत्य किया है, यह उचित नहीं है, इस प्रकार करना शोभा को प्राप्त नहीं होता। सुवीर के अंतरंग में ग्लानि हुई, पछतावा भी हुआ और पुनः वह वास्तविकता में जिनधर्म का अनुयायी बन गया।

महानुभाव! हमें साधर्मी के दोषों का अनावरण नहीं करना, आच्छादन करना है, दोषों को ढाँकना है। दोषों को सार्वजनिक स्थान पर प्रकट करने से लोग निंदा करते हैं, वे बात की गहराई में नहीं जाते। जब किसी के मन में किसी के प्रति गलत धारणा बैठ जाती है तब उसे निकाल पाना जिंदगी भर में भी कठिन हो जाता है। जैसे एक माँ अपने बेटा-बेटी से कोई गलती हो जाए तो मौहल्ले में उसके गीत नहीं गाती, ढांक लेती है, अपने बच्चों को समझाती है। यह उपगूहन अंग धर्म का एक प्राण है, इस अंग के बिना हम धर्म की वृद्धि नहीं कर सकते, स्वयं के धर्म की सुरक्षा भी नहीं कर सकते।

महारानी चेलना ने भी उपगूहन अंग का पालन किया; जब ज्येष्ठा आर्यिका अवस्था में थी और पाप कर्म के उदय से या संयोगवशात् उन्हें गर्भ रह गया तब उन्होंने चेलना के घर पहुँचकर बालक को जन्म दिया पुनः प्रायश्चित आदि लेकर के साधना की।

किसी नगर में 10-15 लोग सामूहिक स्वाध्याय के लिए आते थे, उन लोगों में नगर सेठ भी आते थे। नगर के सेठ स्वाध्याय में जा रहे हैं उनसे मित्रता करने के बहाने से अन्य सेठ भी आते थे। स्वाध्याय के समय सेठ जी सीधे अपने ऑफिस से आते और अपना कुर्ता उतारकर खूंटी पर टाँग देते और सामान्य वेषभूषा पहनकर धोती दुपट्टे में बैठ जाते, घंटे दो घंटे तक स्वाध्याय चलता। उस स्वाध्याय मण्डली में एक व्यक्ति ऐसा भी था जो निर्धन था। वह गरीब व्यक्ति स्वाध्याय में आता किन्तु घर में इतनी निर्धनता थी कि आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी बड़ा मुश्किल था, व्यापार में घाटा लग गया, जो उधार वापस आना था वह आया नहीं, वह बड़ा परेशान था। उसे कोई उपाय समझ नहीं आया, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई।

एक दिन उसने उस नगर सेठ के सामान की चोरी की, स्वाध्याय के समय जब वह अपना कुर्ता उतारकर टांगता था उसमें सोने के आभूषण भी होते थे, उस निर्धन व्यक्ति ने सबसे नजर बचाकर आभूषण निकाल लिए। स्वाध्याय के उपरांत सेठ ने कुर्ता पहना तो आभूषण उसमें नहीं पाए। तब उन्होंने सामान्य से पूछ लिया–किसी को कोई स्वर्णाभूषण मिला था क्या? पर किसी पर इल्जाम नहीं लगाया और चुपचाप चले आए।

उस निर्धन व्यक्ति ने अपनी पत्नी से कहा–मैं सेठ की चोरी करके ले आया हूँ। पत्नी ने कहा–ऐसा करना उचित नहीं है, तुम धर्मात्मा बनते हो और ऐसा कृत्य किया, लोग क्या कहेंगे? उसने कहा–तुम्हीं बताओ 'मरता क्या न करता', मैं बेईमानी नहीं करूँगा, मैं संकल्प लेता हूँ यह आभूषण मैं वापस कर दूँगा, इसे गिरवी रखकर प्राप्त धन से व्यापार करूँगा व चुका दूँगा। पत्नी बोली–अभी हमारे पाप कर्म का उदय है, व्यापार में भी लाभ ही हो यह जरूरी तो नहीं, आप ऐसा कार्य क्यों कर रहे हो। परंतु वह बोला, मैं भगवान् के समक्ष सौगंध लेता हूँ, मैं अपने मन में बेईमानी नहीं रखता, मुझे किसी ने धन नहीं दिया इसलिए मुझे यह काम करना पड़ा। कुछ दिनों पश्चात् उसने व्यापार किया, जब उसके पास धन आ गया तो वह आभूषण सेठ जी के पास लौटाने गया, और कहा–सेठ जी! मैंने आपका यह आभूषण चुराया था, आपने तो सामान्य से सभी से पूछा था कि क्या किसी ने आभूषण देखा, पर मैं आपसे कैसे कहता कि मैंने चोरी की है परंतु मेरी बहुत मजबूरी थी, मुझे धन की बहुत आवश्यकता थी, अब आप मुझे जो दण्ड देना चाहें वह दे दो। सेठ ने कहा–नहीं कोई बात नहीं, तुम चोर नहीं हो, तुम्हारी मजबूरी थी, पर गलती मेरी है, मेरे साथ में स्वाध्याय करने वाला-पूजा पाठ करने वाला इतना गरीब भी हो सकता है, इस तरफ मेरा ध्यान क्यों नहीं गया? इस प्रकार से सेठ ने उसका उपगूहन किया।

महानुभाव! ऐसा उपगूहन करने की भावना आज समाज के व्यक्तियों में आ जाए तो हम समझते हैं जिनशासन की बहुत बड़ी प्रभावना हो सकती है। यहाँ आचार्य महाराज ने जिनेन्द्रभक्त सेठ का नाम लिया पर ऐसे अनेक महापुरुष हुए जिन्होंने इस अंग का बड़ी दृढ़ता से पालन किया।

पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के बारे में भी आता है, जब उन्होंने अपनी समाधि की घोषणा कर दी थी उस समय कोई एक मुनिराज ट्रेन से चलकर आए। कुछ श्रावकों ने उन मुनिराज को देखा तो काले झंडे दिखाए, निन्दा की, अपमान किया किन्तु उन्होंने किसी

की सुनी नहीं और आचार्य शांतिसागर जी महाराज के चरणों में अपना माथा रख दिया। आचार्य श्री ने लोगों से पूछा क्या बात है? तो लोगों ने कहा, ये ट्रेन में बैठकर आए हैं मुनि नहीं हो सकते। आचार्य श्री ने उन महाराज जी के लिए पाटा लगवाया, कहा–ठीक है आप लोग जाओ। बाद में आचार्य श्री ने उन महाराज जी से पूछा–आपने ऐसा क्यों किया? वे बोले आचार्य महाराज मैं अपनी भावना को दबा नहीं सका, आपने समाधि की घोषणा कर दी, यदि मैं चलकर के आता तो आपके दर्शन नहीं हो पाते, मेरे मन में विकल्प आता। मैं भी वृद्ध हूँ, आपकी समाधि को देखकर मैं अपनी समाधि भी अच्छी कर सकूँ इसलिए यहाँ तक आया। आचार्यश्री ने पहले सबके सामने उनके दोष को ढाँक दिया फिर एकांत में उनको समझाया कि आपको ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्होंने प्रायश्चित लिया, आचार्य जी ने प्रायश्चित दिया और पुनः समझाया।

महानुभाव! उपगूहन के साथ स्थितिकरण भी होता है और बिना उपगूहन के स्थितिकरण नहीं होता। स्थितिकरण का अर्थ होता है–पुनः स्थापित कर देना। जैसे माली जलसिंचन करके मुरझाये पौधों को पुनः जीवित जैसा कर देता है, पुनः पौधा वृद्धि को प्राप्त करता है। रतन, आभूषणों पर जमी हुई धूल को साफ करने के लिए जौहरी और सर्राफ उन्हें चमकाते रहते हैं। ऐसे ही हमें भी अपने गुणों को चमकाने के लिए, स्वयं में स्थिरता लाने के लिए एवं दूसरों के लिए भी निमित्त बनने के लिए स्थितिकरण अंग का पालन करना बहुत आवश्यक है। मार्ग में चलने वाला व्यक्ति कभी भी फिसल सकता है। कभी कोई अहंकारी व्यक्ति कहे कि मैं फिसल नहीं सकता ऐसा नहीं है। अरे! कहते-कहते तो कभी किसी की tung भी slip हो जाती है, कभी व्यक्ति दूसरे मूढ़ में हो तो उसका व्यवहार भी slip हो जाता है। कभी-कभी सदाचारी व्यक्ति भी पाप कर्म के उदय से सदाचार से च्युत हो जाता है, कई बार व्यक्ति धर्म से च्युत हो जाता है।

च्युत होना आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात तब है जब एक साधर्मी दूसरे साधर्मी को च्युत होते हुए देखकर के स्थिर न करे। धर्मात्मा वह होता है जो स्वयं धर्म मार्ग पर स्थिर रहता है एवं दूसरों को भी स्थिर करता है। यह तो सामान्य मानवधर्म है कि रास्ते में चलने वाला राहगीर जो आपके साथ चल रहा है, वह कदाचित् चक्कर खाकर गिर पड़े तो व्यक्ति उसे उठाता है व उचित उपचार भी करता है। एक मित्र दूसरे मित्र की सहायता करता है, चाहे वह सहायता मन की भावनाओं से करे, वचनों के माध्यम से करे या पुस्तक-डायरी-पेन आदि देकर सहायता करे। अध्यापकगण भी अपने विद्यार्थी की सहायता करते हैं, रेगूलर पढ़ाई करने वाला श्रेष्ठ विद्यार्थी कभी कक्षा में नहीं आए तो वे पता लगाते

हैं कि वह आज क्यों नहीं आया, यदि कदाचित् कोई ऐसा कारण मिले कि उसका कक्षा में आना समर्थ नहीं था तो कई बार अध्यापक खुद चलकर विद्यार्थी के घर आते थे, शिष्य के न आने का कारण पूछते थे, स्वास्थ्य पूछते थे और इस दौरान यदि उसकी पढ़ाई छूट जाती थी तो उसे अलग से पढ़ाते थे।

ऐसे ही एक धर्मात्मा में होना चाहिए। हमारे साथ साधना करने वाले धर्मात्मा की यदि किसी पाप कर्म के उदय से श्रद्धा मलिन हो रही है या उसके ज्ञान का क्षयोपशम नहीं है, उससे कोई गलती हो रही है, वह अपने व्रतों में अतिचार लगा रहा है या अनाचार ही लगा रहा है तब आप यदि उसे समझते हैं, जानते हैं और संभालने में समर्थ हैं तो फिर आप उसे संभालें। गिरते हुए व्यक्ति को संभालना यह सबल का लक्षण है, निर्बल नहीं संभाल सकता, वह कहेगा मैं स्वयं ही गिर पड़ूँगा। जिन व्यक्तियों का सम्यक्त्व सुदृढ़ है, जिनका चारित्र निर्मल है वे ही उनको संभालने में समर्थ होते हैं। पानी में बहते चूहे को कोई मुनष्य निकाल सकता है किन्तु पानी में बहते हाथी को कोई चूहा नहीं निकाल सकता। किसी गड्ढे में हाथी गिर जाए तो चूहा, सर्प, नेवला, गिलहरी आदि मिलकर भी उसे नहीं निकाल सकते, किन्तु हाथी अपनी सूंड से, नीचे गर्त में से सैंकड़ों जानवरों को निकाल सकता है। ऐसे ही जो व्यक्ति जिनशासन का उद्योतन करने वाला है, प्रभावना करने वाला है, जिनशासन का स्तम्भ है, जिनशासन की छत्रछाया में अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का संकल्प लेकर उस मार्ग पर चलने वाला है ऐसा समर्थ व्यक्ति अनेकों व्यक्तियों का स्थितिकरण करने में निमित्त बनता है क्योंकि किसी भी व्यक्ति के कर्म का उदय एक सा नहीं रहता कभी पाप कर्म के उदय से उसकी प्रतिकूलता आ जाए, परिणामों में मलिनता आ जाए तो संबोधन देने से उसकी मलिनता दूर होती है, वह पुनः स्थापित हो जाता है।

कभी कोई क्रोध के आवेश में धर्म से दूर या च्युत हो रहा हो तो एकांत में जब उसका मन शांत हो जाए तब वात्सल्य भाव से उसकी गलतियों को ढककर, उपगूहन अंग का पालन करते हुए उसे पुनः स्थित करो, उसे एक बार में, दो-चार या इससे ज्यादा बार में समझाकर धर्म मार्ग पर स्थित कर देना चाहिए। यदि अंतरंग में उपगूहन व वात्सल्य का भाव है तो व्यक्ति स्थितिकरण करने में समर्थ हो सकता है। स्थितिकरण उसी के माध्यम से होता है जिस पर उसका विश्वास होता है क्योंकि वह उसी की बात पर विश्वास करता है, अन्य जन कोई कितनी भी बात कहे उसे उसकी बात ठीक नहीं लगती, उसे लगता है कि कहीं यह मुझे ठग न रहा हो, धोखा न दे रहा हो और जिस पर विश्वास होता है उसकी बात टाल न सकेगा,

उसे विश्वास है यह जो कुछ भी कहेगा मेरे हित के लिए कहेगा।

अंतरंग में निश्छल वात्सल्य हो, अंतरंग में सामने वाले व्यक्ति के गुणों की वृद्धि करने का शुभ संकल्प और भाव हो तब आप स्थितिकरण अच्छे से कर सकते हैं। किन्तु सामने वाले की गलतियों को प्रकट करके स्थितिकरण नहीं किया जाता। पहले सबके सामने तो उसकी निंदा कर दी, देखिए ये महाशय हैं जिन्हें भगवान् के नाम तक भी नहीं आते, स्वयं को बहुत ज्ञानी मानते हैं, देखो साहब! ये महाशय हैं, व्रत-उपवास की परिभाषा जानते नहीं व्रती बन गए। तो ऐसे निंदा करके बाद में संभालना व्यर्थ है। सार्वजनिक स्थान पर यदि उसकी निंदा हो रही है तो पहले उसे ढाँको, और बाद में उसे समझा दो, ऐसा करने पर वह आपको अपना शुभचिंतक ही मानेगा कि इन्होंने मेरी निंदा होने से बचा ली। क्योंकि उस समय उसे ऐसा लगता है कि मेरी निन्दा हो रही है किंतु मैं गलत नहीं हूँ, लोगों ने मुझे गलत सिद्ध कर दिया, अब मैं धर्म को नहीं मानूँगा, छोड़ दूँगा, क्या मिला मुझे धर्म करके किन्तु जो व्यक्ति उसके दोषों को ढांके, गुणों का संवर्धन करे, वात्सल्य भाव के साथ उसे समझाये तो उसे बात समझ में आ जाती है। चाहे कभी क्रोध का आवेश है या मान का आवेश है, कभी कोई मायाचारी का परिणाम मन में आ गया या कभी कोई लोभ का परिणाम आ गया या कभी विषयों के प्रति आसक्ति का भाव आ गया, कभी मन पापों में लग गया तो वह मन जो इन पापों में लग गया, वह नहीं समझ पा रहा किन्तु सामने वाला व्यक्ति आकर समझा सकता है देखो! तुम कहाँ भटक रहे हो, कहाँ पतित हो रहे हो। सही मार्ग तो ये है, तुम गलत मार्ग का आनंद क्यों ले रहे हो। कीचड़ में गिर गए इसका आशय ये कि कीचड़ में ही नहाने लगें? नहीं, ऐसा नहीं करो, इस प्रकार स्थितिकरण किया जाता है।

स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध वारिषेण मुनि की कथा

मगध सम्राट महाराज श्रेणिक का पुत्र वारिषेण जो बहुत धार्मिक था। अष्टमी-चतुर्दशी के दिन श्मशान में कायोत्सर्ग पूर्वक सामायिक करता था। एक दिन विद्युच्चोर ने श्रीकीर्ति सेठ की सेठानी के हार को चुराया और मगधसुंदरी नामक वेश्या के लिए लेकर जा रहा था। राजा के सिपाहियों ने उसे देख लिया और उसका पीछा किया, किन्तु चोर बड़ा होशियार था वह हार को श्मशान में सामायिक करते हुए वारिषेण के समीप में डालकर चला गया। सिपाहियों ने देखा यहाँ वारिषेण के अतिरिक्त और कोई दिखाई नहीं दे रहा, इसी के पास हार दिखाई दे रहा है तो चोर भी यही होना चाहिए, उन्होंने उसे पकड़ा और महाराज श्रेणिक के सामने प्रस्तुत किया व कहा—महाराज! रानी का हार इनके पास मिला है, श्मशान में सामायिक करने का नाटक कर रहा था, चोर यही है। यद्यपि राजा जानते थे कि वारिषेण ऐसा नहीं कर सकता किन्तु सिपाहियों ने प्रमाण, साक्ष्य दिए तो बात माननी पड़ी। उन्हें दंड भी सुना दिया। उस समय वारिषेण ने सोचा मैंने आज चोरी नहीं की, हो सकता है पूर्वभव में मैंने ऐसा कृत्य किया होगा जिसका फल आज मिल रहा है, इस स्थिति में मुझे समताभाव धारण करना चाहिए। पिता भी मुझ पर विश्वास न कर सके, किंतु उन्होंने पिता का नहीं राजा का धर्म निभाया इसलिए राजा होने के नाते मुझे दंड देना ही उचित था। किन्तु मैं भी संकल्प लेता हूँ, यदि इस उपसर्ग से मैं निवृत्त होता हूँ तो पाणिपात्र में ही आहार ग्रहण करूँगा अर्थात् यथाजात दिगम्बर मुनि बन जाऊँगा। राजदण्ड के अनुसार उनका मस्तक छेद करने की आज्ञा दी गई। चाण्डाल ने वारिषेण का मस्तक काटने के लिए ज्यों ही तलवार चलाई, पुण्योदय से वह उसके गले में फूलों की माला बन गई। इस अतिशय को देख राजा श्रेणिक भी नतमस्तक हुए। उपसर्ग विजयमहोत्सव जैसा बन गया है, राजा ने क्षमा माँगी व राजमहलों में लौटने की बात कही। वारिषेण बोले—पिता श्री! किसका महल? मैंने संसार को देख लिया अब तो मैं दीक्षा ही लूँगा।

वारिषेण अब मुनि बनकर तपस्या करने लगे। एक दिन वे राजगृह के समीप पलाशकूट ग्राम में चर्या के निमित्त आए, वहाँ राजा श्रेणिक के अग्निभूत मंत्री का पुत्र पुष्पडाल (पूर्व का उनका मित्र) ने उन्हें पड़गाया। चर्या उपरांत वह पुष्पडाल अपनी स्त्री सोमिल्ला से कहकर, राजा का पुत्र तथा बाल्यकाल का मित्र होने के कारण कुछ दूर तक भेजने के लिए वारिषेण मुनि के साथ चले गए। पुष्पडाल यह सोचता था कि जब मुनिराज कहेंगे कि जाओ घर लौट जाओ, तब लौटूँगा। परन्तु उन वैरागी मुनि को इस दुनियादारी से क्या लेना था। चाहे कोई

आगे आवे, चाहे पीछे जावे, चाहे साथ रहे उन्हें कुछ मतलब नहीं रहता। जब बहुत दूर निकल गए तब ''बहुत दूर आ गए'' यह जताने के लिए पुष्पडाल ने महाराज से कहा कि यह वही बावड़ी है, यह वही उपवन है जहाँ आप और मैं खेलने के लिए आते थे। यद्यपि मुनिराज इसके मन का सब हाल जानते थे फिर भी उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। अन्त में पुष्पडाल ने मुनिराज के आगे खड़े होकर नमस्कार किया और घर जाने की अनुमति माँगी। मुनिराज के धर्मवृद्धि रूप आशीर्वाद देकर धर्म का स्वरूप समझाया।

वारिषेण के द्वारा कथित धर्मोपदेश को सुनकर पुष्पडाल को संसार से विरक्ति हो गई उन्होंने तत्काल भव नाशक दिगंबर मुद्रा धारण की किंतु पुष्पडाल मुनि सोमिल्ला स्त्री को नहीं भूला था।

पुष्पडाल और वारिषेण दोनों ही मुनि बारह वर्ष तक तीर्थयात्रा कर भगवान् वर्धमान स्वामी के समवसरण में पहुँचे। वहाँ वर्धमान स्वामी और पृथ्वी से संबंध रखने वाला एक गीत देवों के द्वारा गाया जा रहा था, उसे पुष्पडाल ने सुना, गीत का भाव यह था कि जब पति प्रवास को जाता है तब स्त्री खिन्न चित्त होकर मैली-कुचैली रहती है परंतु जब वह घर छोड़कर ही चल देता है तब वह कैसे जीवित रह सकती है।

पुष्पडाल ने यह गीत अपने तथा सोमिल्ला के संबंध में लगा लिया। इसलिए वह उत्कंठित होकर घर जाने के लिए आकुल-व्याकुल हो गया। वारिषेण मुनि यह जानकर उसका स्थितिकरण करने के लिए उसे अपने नगर ले गए। चेलना रानी ने दोनों मुनियों को महलों की ओर आता देखकर विचार किया कि वारिषेण क्या चारित्र से विचलित होकर आ रहा है। परीक्षा करने के लिए उसने दो आसन दिए—एक सराग दूसरा वीतराग अर्थात् एक रत्नजड़ित व दूसरा काष्ठ निर्मित। वारिषेण ने काष्ठ आसन पर बैठकर कहा कि हमारा अन्तःपुर बुलाया जावे, महारानी चेलना ने आभूषण में सजी हुई उसकी 32 स्त्रियाँ बुलाकर खड़ी कर दीं। तदन्तर वारिषेण ने पुष्पडाल से कहा, ये स्त्रियाँ और मेरा युवराज पद तुम तुरंत ग्रहण करो, यह सुनकर पुष्पडाल अत्यंत लज्जित होता हुआ उत्कृष्ट वैराग्य हो प्राप्त हुआ एवं परमार्थ से तप करने लगा।

महानुभाव! इस प्रकार वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल का स्थितिकरण किया, जैसे माँ अपने पुत्र-पुत्री का करती है। एक अच्छा साथी अपने साथी के लिए तन-मन से समर्पित रहता है, कहता है तुम चिन्ता न करो, यावज्जीवन मैं तुम्हारे साथ हूँ, सुख-दुःख में सदैव साथ रहूँगा। ये भाव या शब्द उसे संबल देते हैं। व्यक्ति कभी एक बार असफल भी हो जाए पर ये शब्द

उसे साहस देते हैं। चींटी कई बार चढ़ती है, बार-बार गिरती है किन्तु हार नहीं मानती और बाद में सफल भी होती है। स्थितिकरण तभी होता है जब उपगूहन करने का सामर्थ्य हो एवं वात्सल्य हो। जैसे कुंभकार मटका बनाता है, अंदर हाथ पसारता है बाहर से चोट भी मारता है ऐसे ही स्थितिकरण करने वाला प्रेम-वात्सल्य का हाथ अंदर रखता है और इसके साथ-साथ उसकी गलतियों को सबके सामने नहीं कहता किंतु अकेले में जाकर उसे समझा देता है।

अगला अंग है—वात्सल्य। यह वात्सल्य नि:संदेह धर्म का प्राण है। बिना वात्सल्य के उपगूहन भी नहीं किया जा सकता। बिना वात्सल्य के प्रभावना नहीं होती, बिना वात्सल्य के स्थितिकरण भी नहीं होता इसीलिए वात्सल्य को सम्यक्त्व का गुण भी माना, सम्यक्त्व का अंग भी माना और षोडशकारण भावनाओं में एक भावना भी माना है। वात्सल्य धर्म से जोड़ने वाला है। चाहे किसी व्यक्ति के पास कितना ही शब्द ज्ञान क्यों न हो पर वात्सल्य नहीं है तो वह धर्म से किसी को जोड़ नहीं पाएगा क्योंकि पत्थरों का ढेर कितना बड़ा भी लगा दिया जाए उस ढेर से मकान नहीं बनते, जब तक सीमेंट आदि न लगाया जाए। आभूषण बनाते समय नग जोड़ने के लिए कैमिकल पिघलाकर जोड़ते हैं यदि वह कैमिकल न हो तो रत्नों को जोड़ा नहीं जा सकता। वात्सल्य उस कैमिकल की तरह से है जो दो रत्नों को जोड़ता है। वात्सल्य रत्न के महल में उपयुक्त सोने की तरह से है जो पिघलाकर रत्न जोड़ने का काम करता है। कहीं भी जोड़ने का कार्य आता है तो वात्सल्य ही सहायक है। दो टूटे हृदय को जोड़ने में भी वात्सल्य ही समर्थ होता है। वात्सल्य हारे-थके-उदास-हताश व्यक्ति के लिए संजीवनी बूटी है, प्राणों में नव ऊर्जा का संचार करने वाला है। वात्सल्य अंग का पालन करने वाले यूँ तो अनेक महापुरुष हुए किन्तु फिर भी वात्सल्य अंग में आचार्य महोदय ने विष्णुकुमार मुनि महाराज को मुख्य माना, उन्होंने अकंपनाचार्यादि 700 मुनियों का उपसर्ग दूर किया। एक छोटी सी कहावत है 'नेकी कर दरिया में डाल' अच्छे कार्य को करके भूल जाओ, उस पर अहसान मत थोपो, यदि अहसान थोप रहे हो तो वात्सल्य नहीं है, वात्सल्य है तो अहसान का काम नहीं।

वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा

अवन्ति देश की उज्जयिनी नगरी में श्रीवर्मा राजा राज्य करता था। उसके बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चार मंत्री थे। राजा सरल स्वभावी चन्दन का वृक्ष था तो ये चारों मंत्री उसके चारों तरफ लिपटे हुए सर्प थे। मंत्रियों का हृदय धर्म भावना से शून्य था।

एक दिन नगर के बाह्य उद्यान में सात सौ दिगम्बर मुनियों के साथ अकम्पनाचार्य मुनिराज का आगमन हुआ। अकम्पनाचार्य ने अपने दिव्य ज्ञान के द्वारा जान लिया कि संघ पर कोई आपत्ति आने वाली है इसलिए उन्होंने सारे संघ को आदेश दिया की सर्वसाधुगण मौन लेकर ध्यानस्थ हो जाएँ कोई किसी के साथ वार्तालाप न करें।

जो अनुशासन करने योग्य होते हैं वे शिष्य कहलाते हैं अतः गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके सर्व संघ ध्यान में लीन हो गया। हाथ में उत्तम उत्तम पुष्पादि सामग्री लेकर प्रजा अकम्पनाचार्य की पूजन करने को जा रही थी। महल में बैठे हुए राजा की दृष्टि उन पर पड़ी। पास में बैठे हुए मंत्री से राजा ने पूछा "ये सब लोग कहाँ जा रहे हैं'' मंत्री ने कहा "उद्यान में अकम्पनाचार्य मुनिराज आए हैं उनकी वन्दना करने जा रहे हैं।''

मंत्री के वचन सुनकर राजा का हृदय विचलित हो उठा। जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर पक्षी। शीघ्र ही पुर परिजन के साथ राजा मुनिराज की वन्दना के लिए आया और ध्यानस्थ सर्व मुनिराजों को भक्ति पूर्वक पृथक्-पृथक् नमस्कार किया परन्तु किसी ने राजा को न तो आशीर्वाद दिया और न उनके साथ वार्तालाप की।

मुनिराज से द्वेष रखने वाले चारों मंत्री भी राजा के साथ आए थे। दर्शन से आनन्द विभोर हो राजा अपनी राजधानी की ओर जा रहा था। मंत्रियों ने द्वेष भावना से प्रेरित होकर मुनियों का उपहास किया कि ये बैल हैं, कुछ नहीं जानते हैं, मूर्ख हैं, इसलिए छल से मौन लेकर बैठे हैं। ऐसा कहते हुए कुछ ही दूर गए होंगे कि चर्या करके आते हुए श्रुतसागर मुनिराज दृष्टिगोचर हुए। उनको देखकर कहा कि ''यह तरुण बैल पेट भरकर आ रहा है।'' यह शब्द मुनिराज के कर्णगोचर हुए। उनको गुरु आदेश ज्ञात नहीं था इसलिए उन्होंने मंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें हरा दिया।

मंत्रियों के साथ विजय प्राप्त कर श्रुतसागर मुनिराज अपने गुरु के पास गए और सारा समाचार उनको कहा। जिनको सुनकर अकम्पनाचार्य ने कहा कि तुमने सारे संघ को संकट में

डाल दिया। श्रुतसागर ने कहा–गुरुदेव इसका निराकरण कैसे हो सकता है? अकम्पनाचार्य ने कहा–यदि शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर तुम अकेले खड़े रहते हो तो संघ जीवित रह सकता है और तुम्हारे अपराध की शुद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं।

गुरु आज्ञा को शिरोधार्य करके श्रुतसागर मुनिराज वहाँ जाकर कायोत्सर्ग से स्थित हो गए। ठीक ही है ''गुरु आज्ञा अलंघनीय होती है।'' अत्यन्त लज्जित और क्रोध से तिलमिलाते हुए मंत्री रात्रि में सारे संघ को मारने के लिए जा रहे थे कि उन्होंने मार्ग में कायोत्सर्ग से खड़े हुए श्रुतसागर मुनिराज को देखकर विचार किया कि जिसने हम लोगों का पराभव किया है वही मारने योग्य है। ऐसा विचारकर चारों मंत्रियों ने मुनिराज को मारने के लिए एक साथ खड्ग ऊपर उठाये परन्तु जिसका आसन कम्पित हुआ था ऐसे नगर देवता ने आकर उन सबको उसी अवस्था में कील दिया। प्रातःकाल सब लोगों ने उन मंत्रियों को उसी प्रकार कीलित देखा। मंत्रियों की इस कुचेष्टा से राजा बहुत क्रुद्ध हुआ, परन्तु ये मंत्री वंश परम्परा से चले आ रहे हैं यह विचारकर उन्हें मारा तो नहीं सिर्फ गर्दभारोहण कराकर निकाल दिया।

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में राजा महापद्म राज्य करते थे। उनकी रानी लक्ष्मीमति की कुक्षि से दो पुत्र उत्पन्न हुए जिनका नाम था पद्म और विष्णु। संसार से विरक्त होकर महापद्म ने पद्म को राज्य देकर विष्णु पुत्र के साथ श्रुतसागराचार्य के पास दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

पद्मराजा का शत्रु सिंहबल दुर्ग के बल से पद्म के देश में उपद्रव करता था। जिससे पद्म राजा बहुत दुःखी था। राजा से तिरस्कृत होकर निकले हुए बलि आदि चारों मंत्री वहाँ से निकलकर हस्तिनापुर में आकर पद्म राजा के मंत्री बन गए तथा सिंहबल को जीतकर राजा को चिंता से मुक्त कर दिया, जिससे राजा ने खुश होकर उनको कहा–क्या माँगना चाहते हो माँगो। उन्होंने कहा–आपकी धरोहर में रखो, समय आने पर माँगेंगे।

नगरों में भ्रमण करते हुए अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि हस्तिनापुर में आए। उनको नगर में आए देखकर मंत्रियों ने विचार किया कि राजा इनका भक्त है, यदि उनको हमारे कुकर्म ज्ञात हो जाएँगे तो हमारी दुर्दशा करेगा इसलिए किसी उपाय से इनको मारना चाहिए।

सर्प कंचुली छोड़ने से विष रहित नहीं होता। दुर्जन दुःखी होकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। यद्यपि चारों मंत्री यह जानते थे कि इनके साथ विरोध करने से हानि होने वाली है, पूर्व में दुःख भोगे हुए हैं फिर भी ''विनाशकाले विपरीत बुद्धि'' इस कथनानुसार उन मंत्रियों

की बुद्धि विपरीत हो गई। अतः अकम्पनाचार्य के संघ का विनाश करने के लिए राजा से सात दिन का राज्य माँगा।

राज्य प्राप्त करके चारों मंत्रियों ने यज्ञ के बहाने जहाँ मुनिराज का संघ था, वहाँ उन्हें घेरकर बहुत बड़ा यज्ञ मण्डप बनाया और उसमें मुनिराजों को मारने के लिए बकरा आदि दुर्गन्धित पदार्थों के द्वारा यज्ञ करना प्रारंभ किया। मुनिराजों ने उपसर्ग समझकर नियम सल्लेखना धारण की अर्थात् जब तक उपसर्ग दूर नहीं होगा तब तक के लिए अन्न-पानी का त्याग कर कायोत्सर्ग से स्थिर हो गए।

मिथिला नगरी में कायोत्सर्ग से स्थित श्रुतसागर मुनिराज ने आधीरात के समय आकाश में काँपते हुए श्रवण नक्षत्र को देखकर अवधिज्ञान से जानकर कहा कि महामुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है। यह सुनकर समीपस्थ पुष्पधर नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा कि कहाँ किस पर महान् उपसर्ग हो रहा है? उन्होंने कहाँ कि हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है। उपसर्ग कैसे दूर हो सकता है? ऐसा क्षुल्लक के द्वारा पूछने पर उन्होंने कहा कि—धरणीभूषण पर्वत पर विक्रिया ऋद्धि के धारक विष्णुकुमार मुनि स्थित हैं वे इस उपसर्ग को दूर कर सकते हैं। यह सुनकर क्षुल्लक ने उनके पास जाकर सब समाचार कहे। 'मुझे विक्रिया ऋद्धि है क्या?' ऐसा विचार कर विष्णुकुमार मुनिराज ने अपना हाथ पसारा तो वह पर्वत को भेद कर दूर तक चला गया।

जब विष्णुकुमार मुनिराज को यह निश्चय हो गया कि मुझे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हुई है तब उन्होंने हस्तिनापुर जाकर राजा पद्म से कहा कि तुमने मुनिगणों पर उपसर्ग क्यों करवाया? आपके कुल में किसी ने ऐसा कार्य नहीं किया। राजा पद्म ने कहा कि क्या करूँ मैंने पहले बलि को वर दे दिया था।

राजा पद्म की बात सुनकर विष्णुकुमार मुनि ने अपनी विक्रिया से एक बौने ब्राह्मण का रूप बनाकर उत्तम शब्दों द्वारा वेदपाठ करते हुए बलि की यज्ञ शाला में प्रवेश किया। उसे देखकर बलि ने कहा कि तुम्हें क्या दिया जावे? बौने ब्राह्मण ने कहा कि तीन डग भूमि दे दो। 'पगले ब्राह्मण! देने को बहुत है और कुछ माँग' इस प्रकार बार-बार लोगों के कहे जाने पर भी वह तीन डग भूमि ही माँगता रहा। तत्पश्चात् हाथ में संकल्प का जल लेकर जब उसे विधिपूर्वक तीन डग भूमि दे दी तब उसने एक पैर तो मेरु पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरे पैर के द्वारा देव विमानों में क्षोभ उत्पन्न कर उसे बलि की पीठ पर रखा तथा बलि को बांधकर मुनियों का उपसर्ग दूर किया।

इस प्रकार के आश्चर्य को देखकर चारों मंत्री भय से कम्पित हो गए और शीघ्र ही अकम्पनाचार्य तथा विष्णुकुमार मुनिराज के चरण कमलों में नमस्कार करके क्षमा याचना की।

जीव के परिणामों की विशुद्धि में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है तथा सुनिमित्त को पाकर उपादान जागृत होता है। मुनिराज का निमित्त पाकर चारों मंत्रियों ने अनादिकालीन मिथ्यात्व का वमन कर सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया।

जिस प्रकार वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर विष्णुकुमार मुनिराज ने सात सौ मुनियों की रक्षा करके धर्म की प्रभावना की तथा वात्सल्य भाव होने से वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार सभी सम्यग्दृष्टियों को धर्मात्माओं के साथ वात्सल्य भाव रखना चाहिए।

महानुभाव! बिना उपगूहन के स्थितिकरण नहीं होता और बिना वात्सल्य के स्थितिकरण नहीं होता। ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हैं। जब ये तीन एक साथ होते हैं तो चौथा अंग प्रभावना स्वयं अपने आप हो जाता है। प्रभावना का अर्थ है—स्व-पर हित की प्रकृष्ट भावना का होना ही प्रभावना है। स्वकल्याण की भावना और पर कल्याण की भावना जब उत्कृष्ट रूप ले ले तब प्रभावना का रूप बन जाता है। फिर उस भावना के साथ मन के विचार भी सहयोगी बनते हैं, उन आत्मोत्पन्न भावना के साथ जहाँ मन की भावना लगती है वही वचन भी सहयोगी बन जाते हैं, वह शब्दशृंखला सहयोगी बनती है। जब व्यक्ति की आत्मा किसी कार्य के लिए समर्पित है, तब शरीर भी उसके लिए समर्पित हो जाता है और जब व्यक्ति का शरीर किसी कार्य के लिए समर्पित है फिर बाह्य दिखाई देने वाला पुद्गल चाहे वह पैसा है, अन्य साधन सामग्री है, वह सब उसमें सहयोगी हो जाती है।

जिनशासन की प्रभावना बिना भावना के नहीं होती। भावना शुद्ध न हो तो केवल बाह्य आडम्बर दिखाने से हास्यापद हो जाता है। प्रभावना के क्षेत्र में आचार्य महोदय ने वज्रकुमार मुनि का नामोल्लेख किया है।

प्रभावना अंग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा

हस्तिनापुर में सोमदत्त नामक पुरोहित पुत्र रहता था। वह बाल्यकाल में ही सारे शास्त्रों का पारगामी हो गया था। अहिच्छत्रपुर के राजा दुर्मुख का मंत्री सुभूति उसका मामा था। 'मामा मुझे राजा का दर्शन करा देंगे' इस अभिप्राय से सोमदत्त मामा के पास आकर बोला–मातुल! मुझे राजा के दर्शन करा दो।

अपने दु:ख से दु:खी बहुत कम जीव हैं और दूसरों के सुख से दु:खी बहुत जीव हैं। दूसरों के सुख या उत्थान को देखकर हर्षित होने वाले इस भूतल पर विरले हैं परन्तु दूसरों के उत्थान वा सुख सामग्री को देखकर दु:खी होने वाले, भीतर ही भीतर ईर्ष्या की भट्टी में जलने वाले बहुत जीव हैं।

सुभूति ने विचार किया कि इसको मैं राजा के समीप ले जाऊँगा तो निश्चय से यह अपने ज्ञान के बल पर राज मंत्री बन जाएगा तो मेरा और मेरी संतान का क्या होगा। उसने यह नहीं सोचा कि प्रत्येक प्राणी स्वकीय कर्मानुसार सुखी-दु:खी होता है। यदि इसके पुण्य का उदय होगा तो राजमंत्री बनेगा ही, इसको रोकने वाला कौन है। राजमंत्री वस्तुस्वरूप को जानने में अनभिज्ञ था इसलिए उसने सोमदत्त को राजा का दर्शन नहीं कराया।

सोमदत्त मामा के भाव को ताड़ गया अत: स्वयं ही राजसभा में गया और अपने ज्ञान तथा वाक्चातुर्य से राजा को मोहित कर राजमंत्री बन गया। प्रत्येक प्राणी स्वार्थी है जहाँ स्वार्थ सिद्ध होता है वहाँ मधुर वार्तालाप करते हैं, अपनत्व दिखाते हैं, स्वार्थ के बिना बात भी नहीं करते हैं। सुभूति ने सोचा कि मेरा भानजा राजमंत्री बन गया है तो इसका लाभ लेना चाहिए इसलिए उसने अपनी पुत्री यज्ञदत्ता का विवाह सोमदत्त के साथ कर दिया।

यज्ञदत्ता गर्भिणी हुई तो उसको आम्रफल खाने की इच्छा हुई; परन्तु आम्रफल की ऋतु न होने से आम प्राप्त करना कठिन था इसलिए आम्रफल प्राप्त न होने से उसका शरीर कृश हो गया। एक दिन सोमदत्त को यह बात पता चली तब वह आम्र की खोज में गया। कहीं पर भी आम्र लगे हुए वृक्ष नहीं थे परन्तु एक वृक्ष जिसके नीचे एक दिगम्बर मुनिराज बैठे हुए थे आम्र से लदा हुआ था। उसने आम्र तोड़कर साथ में आए हुए आदमी को देकर घर भेज दिया और स्वयं मुनिराज के पास बैठकर धर्मोपदेश सुनने लगा।

मुनिराज के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुनकर संसार से विरक्त होकर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहणकर वह घोर तपश्चरण करने लगे। जब आम्रफल लेकर आदमी आया उसके मुख से पति के

समाचार सुनकर यज्ञदत्ता क्रोध से तिलमिला उठी। एक दिन सोमदत्त मुनिराज नाभिगिरि पर्वत पर आतापन योग से स्थित थे। यज्ञदत्ता ने पुत्र को जन्म दिया, तत्काल जन्मे बालक को गोदी में लेकर वह नाभिगिरि पर्वत पर गई और पुत्र को सोमदत्त मुनि के चरणों पर रखकर क्रोधपूर्वक उनको अपशब्द बोलती हुई घर चली गई। ठीक ही है-कषायदग्ध हृदय में तत्त्व-अतत्त्व का विवेक नहीं रहता। उसी समय अमरावती नगरी में रहने वाला दिवाकर नामक विद्याधर अपनी पत्नी के साथ मुनिराज की वन्दना के लिए नाभिगिरि पर्वत पर आया और मुनिराज के चरणों से पुत्र को उठाकर पुत्रविहीना अपनी पत्नी को गोदी में उस पुत्र को रख दिया और हाथ में वज्र का चिह्न होने से उसका नाम वज्रकुमार रख दिया। वह वज्रकुमार कनक नगर में विमलवाहन नामक अपने मामा के पास अध्ययन कर समस्त विद्याओं का पारगामी होकर क्रम-क्रम से तरुण हो गया। ठीक ही है, पुण्यवानों को कहीं कष्ट प्राप्त नहीं होता।

एक दिन हेमन्त पर्वत पर पवनवेगा नामक विद्याधर पुत्री प्रज्ञप्ति नामक विद्या सिद्ध कर रही थी। उसी समय वायु के वेग से एक पैना (तीक्ष्ण) काँटा उसकी आँख में जा लगा। काँटे की पीड़ा से चित्त की चंचलता के कारण उसे विद्या सिद्ध नहीं हो रही थी। घूमने के लिए आए हुए वज्रकुमार की दृष्टि उस पर पड़ी। शीघ्र ही वज्रकुमार ने उसका कांटा निकाल दिया जिससे पवनवेगा का मन स्थिर हो गया और विद्या की सिद्धि हो गई। विद्या सिद्ध होने पर पवनवेगा ने वज्रकुमार को कहा कि आपके प्रसाद से मुझे विद्या सिद्ध हुई है इसलिए आप ही मेरे पति हैं, आपने मेरे नेत्र का कांटा निकाला है अतः हृदय का कांटा भी आप निकालेंगे ऐसा कहकर पवनवेगा ने वज्रकुमार के साथ विवाह कर लिया।

वज्रकुमार बहुत साहसी था, बड़े बड़े राजाओं के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त की इसलिए उसका यश सौरभ दशों दिशाओं में महक रहा था। जन-जन के मुख से प्रशंसा के उद्‌गार निकल रहे थे। कालान्तर में पूर्वोपार्जित पुण्योदय से दिवाकर देव की प्रिया जयश्री के उदर से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। वज्रकुमार के यश और पराक्रम को देखकर दिवाकर देव की पत्नी वज्रकुमार से डाह करने लगी। उसे एक भ्रम सा हो गया कि इसके समक्ष मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा। यदि मेरे आग्रह से पतिदेव मेरे पुत्र को राज्य दे भी देंगे तो क्या वज्रकुमार देने देगा? वज्रकुमार के सामने मेरा पुत्र सूर्य के सामने जुगनू के समान है। इस कारण जयश्री का चित्त खेद खिन्न रहने लगा। संसार की विडम्बना है जिसको अपनी गोद में पुत्र के समान पालन-पोषण किया था परन्तु आज उसे अपने पुत्र के राज्य का कंटक समझकर उखाड़कर फेंकना चाहती है। एक दिन वज्रकुमार ने अपनी माता के मुख से यह सुन लिया कि 'वज्रकुमार

बड़ा दुष्ट है, देखो, कहाँ तो उत्पन्न हुआ और किसे कष्ट देता है', ऐसा उसकी माता किसी को कह रही थी।

बाण के घाव से भी वचन के घाव अधिक दु:खदाई होते हैं। माता के वचन सुनकर वज्रकुमार का हृदय क्रोध की ज्वाला से प्रज्ज्वलित हो उठा। शीघ्र ही वह अपने पिता के पास जाकर कहने लगा–तात! यद्यपि आपने मेरा पालन-पोषण किया है, इसलिए आप मेरे पिता हैं फिर भी सत्य बताइये कि मैं वास्तविकता में किसका पुत्र हूँ। यदि आप सत्य का उद्‌गार नहीं करेंगे, मेरे सच्चे माता-पिता कौन हैं यह नहीं बतायेगें तो मैं आज से अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

दिवाकर देव ने अकस्मात् वज्रकुमार के मुख से यह बात सुनकर पुत्र के मस्तक पर हाथ फिराते हुए कहा-बेटे! आज तुझको क्या हो गया, ऐसे अनहोनी आश्चर्यकारी बाते क्यों कर रहे हो। मैं तुम्हारा पिता हूँ, मेरी पत्नी जयश्री तुम्हारी माता है, इसमें कोई संशय नहीं है। वज्रकुमार ने विनय से मस्तक झुकाकर हाथ जोड़कर कहा, पिता जी! आप तो मेरे पिता हैं ही फिर भी मैं अपना सच्चा वृत्तान्त जानना चाहता हूँ, जिसको बताकर मेरे अशांत हृदय को शांत कीजिए। वज्रकुमार के आग्रह से दिवाकर देव ने सारा वृत्तान्त कह दिया और यह भी कह दिया कि तुम्हारे पिता नाभिगिरि पर्वत पर कर्म पर्वत को भेदने के लिए ध्यान कर रहे हैं। यह सुनकर वज्रकुमार का हृदय संसार- शरीर और भोगों से विरक्त हो गया। शीघ्र ही विमान पर बैठकर नाभिगिरि पर्वत पर जाकर सोमदत्त मुनिराज के दर्शन किए और तत्काल जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर मुनिराज के चरणों में रहकर आत्म ध्यान करने लगे।

उस समय देश के राजा पूतिगन्ध की पट्टमहीषि उर्मिला जिनधर्म की प्रभावना में अत्यन्त लीन थी। पति का अनुराग भी उस पर विशेष था। प्रत्येक कार्य में वह उर्मिला का सहयोगी बनता था। उर्मिला प्रतिवर्ष अष्टाह्निक पर्व में तीन बार जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा करती थी।

मथुरा नगरी में सागरदत्त नाम का सेठ रहता था उसकी सागरदत्ता नामक सेठानी की कुक्षि से एक पुत्री उत्पन्न हुई। पूर्वोपार्जित पाप कर्म के उदय से पुत्री के उत्पन्न होते ही माता-पिता का मरण हो गया। माता-पिता आदि कुटुम्बीजनों से रहित सागरदत्त की पुत्री एक दिन दूसरों के घर से सड़क पर फेंके हुए जूठे भात चुग चुग कर खा रही थी। उसी समय चर्या के लिए जाते हुए दो मुनिराजों की दृष्टि उस पर पड़ी। छोटे मुनिराज ने कहा–''स्वामिन् इस बेचारी के कैसे पाप का उदय है जो इतने कष्टों से जीवन बिता रही है।'' यह सुनकर बड़े मुनि ने कहा कि यह इसी नगरी में राजा की प्रिय पटरानी होगी। भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए

एक श्रीवन्दक नामक बौद्ध साधु ने मुनिराज के वचन सुनकर विचार किया कि जैन मुनि का कथन अन्यथा नहीं हो सकता, इसलिए वह उसे अपने स्थान में ले गया और वहाँ उत्तमोत्तम भोग पदार्थों के द्वारा उसका पालन-पोषण करने लगा।

वह लड़की जैसे-जैसे बड़ी होती गई वैसे-वैसे यौवन ने उसकी लावण्यश्री को खूब सम्मान देना प्रारंभ किया। अब वह युवती हो गई। उसके सारे शरीर में सुन्दरता की सुधा धारा बहने लगी। आँखों ने चंचल मीन को लजाना शुरु किया। मुँह ने चन्द्रमा को अपना दास बना लिया।

एक दिन वह युवती दरिद्रा लड़की नगर के बीच झूला झूल रही थी कि कर्म योग से राजा भी वहीं आ गया। राजा की दृष्टि एकाएक झूला झूलती हुई लड़की पर पड़ी। उसे देखकर वह राजा पूतिगंध कामबाणों से भिद गया। विचार करने लगा कि वह कौन है? स्वर्ग की देवांगना है वा किन्नरी है या नाग कन्या है कि विद्याधर कन्या? अंत में निर्णय करने के लिए राजा ने लड़की के समीप जाकर उसका परिचय पूछा और लड़की ने निःसंकोच अपना स्थान, नाम आदि बता दिया।

कामबाण से घायल राजा ने बड़ी कठिनता से घर जाकर अपने मंत्री को श्रीवन्दक नामक बौद्धभिक्षु के पास भेजा। मंत्री ने श्रीवन्दक के पास जाकर कहा आज तुम्हारा और तुम्हारी कन्या का बड़ा ही भाग्य का उदय आया है जो मथुराधीश तुम्हारी कन्या को अपनी महारानी बनाना चाहते हैं। कहो, तुम्हें भी यह बात सम्मत है न? श्रीवन्दक बोला-हाँ मुझे मथुराधीश की आज्ञा स्वीकार है, पर एक शर्त के साथ। वह शर्त यह है कि मथुराधीश बौद्ध धर्म स्वीकार करें तो मैं अपनी लड़की का विवाह मथुराधीश के साथ कर सकता हूँ। मंत्री ने सारे समाचार राजा को कहे। मथुराधीश ने श्रीवन्दक (बौद्ध गुरु) की शर्त स्वीकार कर ली। सत्य है-संसारी प्राणी काम के वशीभूत होकर कौन से अनर्थ को नहीं करते? राजा ने जिनधर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

सागरदत्त की पुत्री (बौद्ध गुरु के द्वारा पालित) दरिद्रा का विवाह मथुराधीश के साथ हो गया। दरिद्रा मुनिराज के कथनानुसार राजा की पट्टमहिषी हो गई और बुद्धदासी के नाम से प्रसिद्ध हो गई।

बुद्धदासी पट्टरानी बनकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने लगी, ठीक ही है अपने प्रभाव में अपना स्वार्थ कौन सिद्ध नहीं करता। जिनधर्म पर श्रद्धा विरले ही प्राणियों को होती है।

फाल्गुन मास के अष्टाह्निक पर्व में उर्मिला ने रथयात्रा निकालना प्रारंभ किया। जब जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा रथ में विराजमान कर दी गई तब बुद्धदासी ने राजा से कहा-''स्वामिन्

प्रथम बुद्ध का रथ निकलेगा'' राजा ने कह दिया कि ऐसा ही होगा। सच है-**'मोहान्धा नैव जानंति गोक्षीरार्कपयोन्तरं।'** मोह से अन्धे हुए मानव गाय के दूध में और आकड़े के दूध में अन्तर नहीं समझते। राजा के इस व्यवहार से उर्मिला को बहुत दु:ख हुआ। उसने दु:खी होकर प्रतिज्ञा कर ली कि ''मेरा रथ पहले निकलेगा तो अन्न पानी ग्रहण करूँगी अन्यथा नहीं।'' जिनधर्म ही शरण है ऐसा विचारकर उर्मिला क्षत्रिया नामक गुफा में पहुँची जिसमें सोमदत्त और वज्रकुमार मुनिराज रहते थे। उनको अपनी प्रतिज्ञा कही। उसी समय वज्रकुमार मुनि की वन्दना करने के लिए दिवाकर देव आदि विद्याधर आए थे।

वज्रकुमार मुनिराज ने सारा वृत्तान्त दिवाकर आदि विद्याधरों को कहा कि आप लोगों को प्रतिज्ञा पर आरूढ़ उर्मिला की रथयात्रा करानी चाहिए। वज्रकुमार मुनिराज की आज्ञानुसार सारे विद्याधर लोग अपने-अपने विमान पर आरूढ़ होकर मथुरा आए। सच है, जो धर्मात्मा होते हैं वे प्रभावना के लिए स्वयं प्रयत्न करते हैं, यदि उन्हें मुनिराज ने प्रेरणा की हो तो फिर कहना ही क्या। विद्याधरों ने वहाँ जाकर सर्वप्रथम बुद्धदासी को समझाया, परम्परागत जिनधर्म के स्वरूप का कथन किया। परन्तु बुद्धदासी ने एक भी बात नहीं सुनी, अपने निर्णय पर अटल रही, पट्टरानी पद के मद में उद्दण्ड बनी रही। ठीक ही है 'तीव्र मिथ्यात्व कर्म के उदय में जिनधर्म के प्रति अनुराग वा आस्था उत्पन्न नहीं होती।'

जब विद्याधरों ने देखा कि यह सीधेपन से मानने वाली नहीं है, राजा भी सुनने वाला नहीं है, तब उन्होंने राजकर्मचारियों को युद्ध में पराजित कर बड़े उत्सव के साथ जैन धर्म का रथ निकलवाया। रथ के निर्विघ्न निकलने से सबको बहुत आनन्द हुआ और उर्मिला के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। जिनधर्म की बहुत प्रभावना हुई। बहुत से भव्य प्राणियों ने मिथ्यात्व का वमन कर सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया।

जिनधर्म के प्रभाव से प्रेरित होकर बुद्धदासी और राजा ने भी शुद्ध अन्त:करण से जिनधर्म को स्वीकार किया। अनेकों व्यक्तियों को जिनशासन की यथार्थता के बारे में ज्ञान हुआ, यथार्थता का बोध करके वे सम्यक् धर्म को स्वीकार कर पाए और आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर हो पाए। जिस प्रकार वज्रकुमार ने जिनधर्म की प्रभावना की उसी प्रकार दान, तप, जिनपूजा, विद्यातिशय आदि के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

जब तक हम यथार्थ बात को आत्महितार्थी के पास तक नहीं पहुँचा पाते तब तक वह भटकता रहता है। दोष उस राहगीर का नहीं है जो अंधकार में भटक रहा है, दोष हमारा है कि

हमने दीपक को ढांक करके रखा है। हम प्रकाश दे ही नहीं रहे हैं। यदि हमारे पास प्रकाश है तो हमारा कर्त्तव्य बन जाता है कि हम उस प्रकाश का उपयोग करें। यदि एक राहगीर अपनी टॉर्च को, लालटेन को छिपाकर चल रहा है या मंद प्रकाश में चल रहा है या अभ्यस्त मार्ग है अंधेरे में चल रहा है किन्तु पीछे वाले व्यक्ति प्रकाश में नहीं आ जाएँ इसलिए प्रकाश बंद कर लिया है तो वह उस मार्ग का समर्थक नहीं है, वह नहीं चाहता कि इस मार्ग पर और भी चलें। जब उसके मन में ये भावना आ जाए कि और व्यक्ति भी इस मार्ग पर चलें, यह मार्ग सही है, यह मार्ग नि:संदेह मंजिल तक पहुँचाने वाला है, मात्र यही मार्ग सम्यक् मार्ग है अन्य नहीं तब वह अन्य व्यक्ति के लिए सहयोगी बनता है। फिर उसके हाथ में जो प्रकाश है उसका उपयोग वह सिर्फ उसके लिए न करके सबके लिए करता है। कई बार तो व्यक्ति जंगल में लाठी पर लालटेन को लटकाकर पगडंडी पर चलता है ताकि और भी जो लोग जंगल में संचरण कर रहे हैं वे प्रकाश पाकर जान जाएँ कि मार्ग यह है, इससे रास्ता भटके लोग भी प्रकाश देखकर रास्ते में आ सकते हैं। ऐसे ही जिनशासन सम्यक् शासन है, प्राणीमात्र का कल्याण करने में समर्थ है। जिनशासन की प्रभावना करने से, उस शासन का प्रभाव बताने से, राह से भटके व्यक्ति भी सम्यक् राह का चयन करके उस पर आरूढ़ होकर अपने गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकते हैं।

महानुभाव! यह तो आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने वज्रकुमार मुनि का नाम लिया; किंतु जिनशासन की प्रभावना करने में इसके अतिरिक्त प्रसिद्धि को प्राप्त और भी पुरुष हो सकते हैं। पंचमकाल के उदाहरणों की ही बात करें तो भगवान् बाहुबली की 57 फीट ऊँची मूर्ति श्रवणबेलगोल में विराजमान है। वीर मार्तण्ड, रणरंग सिंह, वैरिकुलकालदंड, भुजविक्रम समरकेसरी, सुभटचूड़ामणि नामक नाना उपाधि से विभूषित चामुण्डराय ने माँ की भावना को पूर्ण करने के लिए, उन्हें भगवान् बाहुबली का दर्शन कराने के लिए उस जिनबिम्ब की स्थापना कराई और माँ का भाव ये था कि जिनशासन की प्रभावना हो। चामुण्डराय ने धन व्यय करने में किंचित् भी विकल्प नहीं किया, उदारता के साथ शिल्पकारों को धन दिया। वह जिनबिंब आज भी खड़ा है विश्व के लिए आश्चर्य बनकर। जिनशासन की प्रभावना कोई अन्य तरह से करे वह बाद में है, प्रथम तो वह भगवान् बाहुबली का विशाल जिनबिंब है जो विश्व के लिए जिनशासन का प्रभावक स्तंभ बनकर स्थापित है। अन्य मतावलंबी व्यक्तियों के मन में जिज्ञासा आती है ये दिगम्बर क्यों हैं, इनकी क्या विशेषता थी, उनके जीवन व्यक्तित्व को जानना चाहते हैं पुन: जब वह जीवनवृत्त जानने में आता है कि ये ऐसे राजा रहे जिन्होंने

अपना सर्वराज्य छोड़कर, चक्रवर्ती को जीतकर भी यथाजात दिगम्बर दीक्षा ली, इतनी तपस्या की कि शरीर पर बेल लिपट गईं, साँप-बिच्छू आदि लिपट गए, धन्य है ऐसे साधक के लिए जो कोई भी व्यक्ति जिसने जैनधर्म का नाम भी न सुना हो वह भी जब इतनी बात उनके बारे में सुनता है तो उसका शीश स्वयमेव श्रद्धा से झुक जाता है। वीर मार्तण्ड चामुण्डराय ऐसे श्रावक थे उन्होंने जिनशासन की अद्भुत प्रभावना की।

जिनशासन की प्रभावना करने में पूज्य आचार्य श्री अकलंक देव ने जगह- जगह जाकर सिंहनाद किया और परमतवादियों का खण्डन करके उन्हें सत्पथ दिखाया। वीर अकलंक और निकलंक दोनों भ्राताओं ने जिनशासन की प्रभावना करने के लिए अन्य मत की शिक्षा को गुप्त रूप से प्राप्त किया, उस शिक्षा को प्राप्त कर वे लौटने ही वाले थे, तभी उनका रहस्य उद्घाटित हुआ तो वे अपनी बलि देने से भी पीछे नहीं रहे और निकलंक ने अपने प्राणों की आहूति देकर जिनशासन की प्रभावना की।

आचार्य समंतभद्रस्वामी क्षत्रिय राजकुमार जिन्होंने उपसर्ग का सामना किया। भस्मक व्याधि रोग हुआ किन्तु जिनशासन को नहीं छोड़ा पुनः दीक्षा लेकर अपरिमित प्रभावना की। जिसे जिनशासन का स्वाद एक बार लग गया उसे विश्व की कोई भी शक्ति अन्यथा नहीं कर सकती। और आचार्य भगवन् ने कहा यही आत्मकल्याण का शाश्वत सुपथ है। उन्होंने जिनशासन की महिमा को राजाओं के राज्य में जाकर के चुनौती के साथ कहा कि जिन्हें अपने मत का अहंकार है वे इस स्याद्वाद केसरी (सिंह की तरह गर्जन करने वाले) से मिलें, आपको जिनमत में क्या शंका है मैं उसका समाधान करूँगा। वह आचार्य समंतभद्रस्वामी जिनशासन के महान् प्रभावक आचार्य हुए।

श्रावकों में एक श्रावक हुए 'जीवराज पापड़ीवाल' जिन्होंने लगभग 1548 से 1553 के बीच में जिनबिंबों की बहुत प्रतिष्ठा कराई। उससे पूर्व यवन सम्राट आक्रांता हुए जिन्होंने हिन्दु मंदिरों को तोड़ा, जैन मंदिरों को तोड़ा बहुत क्षति पहुँचाई। कुतुबुद्धीन ऐवक शासक हुआ जिसने अपनी प्रसिद्धि के लिए अनेकों हिन्दु, जैन मंदिरों को तोड़कर के कुतुबमीनार खड़ी की, वहाँ पर वीतरागी मुद्रा के चेहरे, हाथ-पैरों के अवशेष चिने हुए दिखाई देते हैं। लोग वहाँ जाकर बड़ी खुशी से फोटो खिंचाते हैं उन्हें नहीं मालूम कि वहाँ कितने जैन मंदिर की मूर्तियाँ कितनी हिन्दु मूर्तियाँ समाई हुई हैं। तो जिनशासन की प्रभावना के लिए जीवराज पापड़ीवाल ने कहते हैं लगभग 2 लाख जिनबिंबों की प्रतिष्ठा कराई। इसी तरह से सरसेठ हुकुमचंद जी ने मंदिर बनवाए, सेठ हरसुखराय श्रेष्ठी हुए जिन्होंने सालोढ़ा महाराज के सहयोग से हस्तिनापुर के मंदिर का निर्माण कराया।

महानुभाव! ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं, अनेक श्रावक हैं जो जिनबिंब की स्थापना आदि जिनधर्म की प्रभावना के लिए सप्त क्षेत्रों में शक्तिशः दान देते हैं, स्वयं का घर भले ही छोटा सा हो किंतु धर्म के लिए बहुत खुले हृदय से दान देते हैं। ऐसे व्यक्ति भी देखे जिनका खुद का घर बहुत छोटा पर दान देने में सबसे आगे, तब किसी ने उनसे पूछा-आप तो इतना दान देते हैं, धनवान् हैं अपना घर बड़ा क्यों नहीं बनवा लेते? तो वे कहते हैं ये घर तो ईंट, मिट्टी का है हमारे रहने के लिए पर्याप्त है, बड़े घर से कोई पेट नहीं भर जाएगा, तृष्णा कभी बुझती नहीं किन्तु जिनशासन की प्रभावना के लिए दान दूँगा तो मेरा कल्याण होगा, इस लोक में भी सुख-शांति मिलेगी और पर लोक में भी सुख-शांति मिलेगी। उनकी विचारधारा को सुनकर बड़ा अच्छा लगा कि आज भी ऐसे लोग हैं जो जिनबिंब स्थापना के लिए, जिनालय के लिए, जिनश्रुत का प्रकाशन कराने के लिए, निर्ग्रंथ गुरुओं की सेवा के लिए, तीर्थनिर्माण व जीर्णोद्धार के लिए या आहार, औषध, अभयदान के लिए, उपकरण दान के लिए बड़े समर्पित रहते हैं।

महानुभाव! साधकों में भी प्रभावना करने में वर्तमान में आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज का इस युग के लिए अविस्मरणीय सहयोग रहा। उन्होंने जिनशासन को, जैन धर्म को मंदिर की चार दीवारी से निकालकर विश्वपटल पर रखा। भारतीय शासक जो इस प्रजातंत्र राज्य में राष्ट्रपति हुए या प्रधानमंत्री हुए सभी प्रायःकर आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज के चरणों में पहुँचे और उनसे मार्गनिर्देशन प्राप्त किया। 1981 में सहस्राब्धी महामस्तकाभिषेक महोत्सव में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरागाँधी तीन दिन वहाँ रहीं, वहाँ रहकर जैन धर्म को जाना-समझा और आकर संसार को (जब लोगों ने उन पर आरोप लगाया कि क्या आप जैन बन गई) बताया कि मैं अकेली जैन नहीं पूरा भारत-पूरा विश्व ही जैन होना चाहिए। जैन धर्म ही वास्तव में अहिंसा से युक्त है, इस धर्म में ही विश्वधर्म बनने की सामर्थ्य है। पूज्य आचार्य श्री ने अपने नाम की प्रभावना के लिए नहीं जिनशासन की प्रभावना के लिए कार्य किए। आज भी उनके हजारों हजार जैनेतर भक्त जैन धर्म का पालन कर रहे हैं और आत्मकल्याण करने में निराकुल चित्त से आगे बढ़ रहे हैं।

पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज (भोज वाले) उन्होंने दीक्षा लेकर जिनशासन की प्रभावना हेतु दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक प्रायःकर सभी प्रांतों में विहार किया। उन पर अनेक उपसर्ग आए, सभी उपसर्गों को समता से सहन किया किन्तु अपने पथ से डिगे नहीं। उनका यही भाव था कि ये मुनिमुद्रा पूरे भारत वर्ष में विचरण करे, ये जिनशासन पूरे विश्व का

शासन बने। ये साधक लोकपाल हैं, लोक का कल्याण करने वाले हैं, इनके बिना लोक का कल्याण नहीं होगा इसीलिए उन्होंने निर्भीक सिंह की तरह से पूरे भारत वर्ष में विहार किया।

महानुभाव! प्रभावना हम तब करें जब पहले हम अपनी आत्मा को प्रभावित कर लें। ऐसा नहीं हो चौबे जी छब्बे जी बनने गए और दुबे जी बनके लौटे। हम पहले अपनी आत्मा को प्रभावित कर चुके या नहीं, हमारी समझ में जिनशासन के रहस्य आ चुके हैं या नहीं, क्या हमने जिनशासन के मर्म को समझ लिया है, क्या जिनशासन हमारे सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों पर निहित है, क्या हम वीतरागता के बारे में जान चुके हैं, क्या आत्मा के मूलभूत तत्त्व को समझ चुके हैं, क्या अपनी आत्मा का वैभव पाना चाहते हैं या संसार का वैभव चाहते हैं? इन सबको जानकर ही जिनशासन की प्रभावना में रत हों। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्दशृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अंगहीन सम्यग्दर्शन की असमर्थता

नाङ्गहीन - मलं छेत्तुं, दर्शनं जन्मसन्ततिं।
नहि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम्॥21॥

अन्वयार्थ-जिस प्रकार, **अक्षरन्यूनः** – अक्षर रहित **मंत्रः** – मंत्र **विषवेदनाम्** – विष की वेदना को **हि** – निश्चय से **न निहन्ति** – नष्ट नहीं करता है **तथा** – उसी प्रकार **अङ्गहीनं** – अंग रहित **दर्शनं** – सम्यग्दर्शन भी **जन्मसन्ततिं** – संसार की परम्परा को **छेत्तुं** – छेदने के लिए **अलं** – समर्थ नहीं है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के माध्यम से श्रावक की आचार संहिता को जानने का प्रयास कर रहे हैं। सम्यक्त्व के आठ अंग, उनका स्वरूप, उनमें प्रसिद्ध पुरुष एव नारियों के संबंध में संक्षिप्त व्याख्यान जाना। अब यहाँ 21वीं कारिका के माध्यम से आचार्य भगवन् कहना चाह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन निर्मल हो, निर्दोष हो, पूर्ण हो, समर्थ हो तभी वह सम्यग्दर्शन अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होगा। सम्यग्दर्शन के साथ में अविनाभावी रूप से रहने वाला सम्यग्ज्ञान और दोनों के माध्यम से चेतना के प्रदेशों में निष्पन्न होने वाला सम्यक् वैराग्य, मैत्री-प्रमोद-कारुण्य आदि भावना, इसके साथ-साथ संयम, तप, ध्यान एवं अहिंसा मूलक प्रवृत्ति और आत्मलीनता रूप पर पदार्थों से निवृत्ति यह सम्यक्त्व के साथ ही संभव है। पूर्व में सम्यक्त्व के 25 दोषों को देखा कि वह सम्यग्दर्शन आठ शंकादि दोषों से रहित हो, आठ मदों से रहित हो, छह अनायतनों से रहित हो, तीन मूढ़ता से रहित हो किन्तु आठ अंग से सहित हो और आठ गुणों से, चार लक्षणों से सहित हो। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये सराग संयम के चार लक्षण हैं। **'आत्म विशुद्धिमात्रमितरत्'** वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धि मात्र है। सम्यक्त्व के आठ गुण कहते हुए आचार्य वसुनंदी जी महाराज ने वसुनंदी श्रावकाचार में लिखा-

संवेओ णिव्वेओ, णिंदा गरहा उवसमो भत्ती।
वच्छलसहाणुकंपो, अट्ठगुणा होंति सद्दिट्ठी॥

सम्यग्दृष्टि के संवेग, निर्वेग, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकंपा ये आठ गुण हैं। सम्यग्दृष्टि की चार भावना भी होती हैं–मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना। यहाँ पर सम्यक्त्व के आठ अंग की विशेष चर्चा कर रहे हैं। आप कहेंगे एक अंग यदि कम है तो क्या फर्क पड़ता है, लोग कहते हैं कनखजूरे का एक पैर टूट गया तो क्या हो गया और

पैर तो हैं? एक पैर टूट जाने से भले ही कनखजूरा अपने गन्तव्य तक पहुँच जाए किन्तु ट्रेन का एक पहिया निकल जाए तो ट्रेन अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँचेगी। या किसी गाड़ी में से स्टेयरिंग या इंजन निकाल दिया जाए तो गाड़ी का गन्तव्य तक पहुँचना बड़ा मुश्किल है। जैसे शरीर के आठ अंग होते हैं, अष्टांग युक्त पूर्णांगी मनुष्य वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त होता है, क्षायिक सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करने में समर्थ होता है, कर्म क्षय करने में समर्थ होता है। यदि वह पूर्णांगी नहीं है तो वह मनुष्य मोक्षमार्गी नहीं बन सकता महाव्रती नहीं बन सकता। शरीर के आठ अंग जैसे आवश्यक हैं वैसे ही योग के आठ अंग होते हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इनमें से एक अंग भी कम हो तो योग का समुचित व सम्यक् विवेचन नहीं हो सकता। आठ अनुयोग द्वार हैं सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इनमें से एक निकाल दो तो अपूर्ण हो जाएगा। ऐसे ही सम्यक्त्व के आठ अंग हैं जिनमें चार स्वानुपेक्षी हैं व चार स्व-पर की अपेक्षा रखने वाले हैं।

नि:शंकित आदि अंग अपनी आत्मा से अपेक्षा रखते हैं इसमें पर की अपेक्षा नहीं है। अपने सम्यक्त्व को नि:शंकित बनाओ, कांक्षा मत रखो, ग्लानि मत करो और मूढ़ता का प्रयोग मत करो ये चार अंग यदि निर्दोष व निर्मल हैं तो आगे चार अंग भी संभावित हैं उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

सम्यक्त्व के 8 अंगों का मोक्षमार्ग में कितना महत्व है? क्या सम्यक्त्व के अंगों का पालन किए बिना मोक्षमार्ग में गति नहीं हो सकती? जैसे किसी गाड़ी की गति बिना पेट्रोल-डीजल के नहीं हो सकती, धकेल करके ज्यादा नहीं चलाया जा सकता वैसे ही पूर्ण अंग के बिना मोक्षमार्ग में उस जीव की गति नहीं हो सकती। जैसे रथ के दो पहिये होते हैं एक पहिया निकाल दो तो रथ नहीं चलेगा, बैल निकाल दो तो रथ नहीं चलेगा, जुआ निकाल दो तो रथ नहीं चलेगा, रथ की पट्टी जिसमें जुआ जुड़ा होता है निकाल दो तो रथ नहीं चलेगा, जो रथ बना हुआ है उसमें दो बल्लियाँ हैं वह निकाल दो तो रथ नहीं चलेगा। तो ये आठों part हैं, इन आठों की आवश्यकता है। दो बैल, दो पहिये, ऊपर एक जुआ, जुआ से जुड़ी लकड़ी, दो बल्लियाँ आदि किसी को भी निकालते जाओ तो रथ नहीं कहलाएगा। सब आवश्यक है। आचार्य महाराज ने उदाहरण दिया कि अक्षर से न्यून मंत्र विष की वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं होता है इसी तरह से जो सम्यग्दर्शन अंग से हीन है वह संसार में जन्म-मरण की शृंखला को दूर करने में समर्थ नहीं है।

आपको ज्ञात है षट्खण्डागम के रचयिता पुष्पदंत और भूतबलि मुनिराज के विषय में। महिमानगरी में वेणु नदी के किनारे पर आचार्य अर्हद्बलि के सान्निध्य में जो सम्मेलन चल रहा था, आचार्य धरसेन स्वामी ने पत्र भेजा कि दो योग्य शिष्य की आवश्यकता है जो ज्ञान को प्राप्त कर उसे संवर्धित व सुरक्षित करें। नरवाहन और सुबुद्धि नामक दो मुनिराजों को वहाँ भेजा गया। वे दोनों अंकलेश्वर की गुफा में विराजित धरसेनाचार्य के पास पहुँचे और निवेदन किया। इससे पूर्व रात्रि में आचार्य धरसेन स्वामी जी ने अंतिम प्रहर में स्वप्न देखा कि दो वृषभ आकर मेरी वंदना कर रहे हैं। वे तभी समझ गए कि दो शिष्य मेरे पास आने वाले हैं। आगन्तुक शिष्यों का यथा क्षेमकुशल पूछकर उनकी परीक्षा के लिए दोनों को अलग-अलग मंत्र दे दिया इस मंत्र की साधना करो। एक शिष्य के मंत्र में एक अक्षर कम कर दिया और एक शिष्य के मंत्र में एक अक्षर बढ़ा दिया। गुरु आज्ञा के अनुसार दोनों शिष्यों ने मंत्र की आराधना की किन्तु उस विद्यामंत्र की आराधना करने से उपस्थित होने वाले विद्या देवता उपस्थित तो हुए किन्तु वे हीनांग एवं अधिक अंग वाले हुए। दोनों मुनिमहाराज ने ये जानकर कि देव हीन या अधिक अंग वाले नहीं होते नि:संदेह हमसे मंत्र में कहीं त्रुटि हुई है और उन्होंने अपने स्वयं के क्षयोपशम से प्राप्त ज्ञान के आधार से उन मंत्रों को पुन: व्याकरण की अपेक्षा से अक्षरों की न्यूनाधिकता को ठीक किया व पुन: आराधना की। अबकी बार पूर्ण अंग से युक्त देवों का जैसा स्वरूप है वैसे ही विद्या देवता प्रस्तुत हुए। यह धवला पुस्तक 1 की प्रस्तावना में पढ़ने में आता है।

महानुभाव! जब अक्षर से हीन मंत्र एक विद्या देवता को सिद्ध कराने में समर्थ नहीं है तब एक अंग से हीन सम्यग्दर्शन भी संसार की परम्परा को छेदने में समर्थ नहीं है। एक व्यक्ति स्वर्ण बनाने की कला जानता था। वह स्वर्ण बनाता और देश रक्षा के लिए, राजा व प्रजा की रक्षा करने के लिए या धर्म की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग करता था। बाद में उसे विरक्ति हो गई और वह महात्मा बनकर साधना करने लगा। उसके शिष्यों के मन में लोभ आया कि स्वर्ण निर्माण की विधि हम भी सीखें, विधि उन्होंने सीखी। उनमें एक शिष्य उतावला था, आधी विधि सीखकर भाग गया और कहने लगा मैं तो सीख गया। दूसरे शिष्य ने निराकुलता के साथ विधि की पूर्णता की। पहले शिष्य की विधि आधी थी पर उसकी दृष्टि में विधि पूरी थी किन्तु गुरु की दृष्टि में वह परिपक्व नहीं हो पाया था।

दोनों शिष्यों ने स्वर्ण बनाना शुरू किया, जो शिष्य परिपक्व था उसने स्वर्ण बना लिया और उसका प्रयोग परहित के लिए किया। पहला शिष्य स्वर्ण नहीं बना पाया तो वह स्वर्ण विधि

की पुस्तक को दोष देने लगा, गुरु को दोष देने लगा, निन्दा करने लगा। जिसका अपूर्ण ज्ञान होता है या कुज्ञान होता है, मिथ्याज्ञान होता है वह अपने दोष को तो नहीं देखता, दूसरों को दोष देता है। किसी ने कहा भाई! तुम इस प्रकार से पुस्तक को अपमानित क्यों करते हो, क्यों गुरु की निन्दा करते हो? अपनी भूल सुधारो ना। वह बोला–विधि तो मैंने गुरु से ही सीखी है। अरे! ठीक है गुरु से सीखी है पर कहीं न कहीं तुम विधि में चूक कर रहे हो, तेरे गुरुभाई ने स्वर्ण बनाया तो बन गया। वह अपनी गलती मानता है और गुरुभाई से पूछता है तुमने विधि कैसे की? गुरुभाई ने कहा विधि तो ऐसे ही थी किन्तु जब नींबू का रस डालने का नंबर आया तब तुमने क्या किया? वह बोला चाकू से नींबू काटा और रस डाल दिया, गुरुभाई ने कहा इसमें कहाँ लिखा है कि नींबू को चाकू से काटना है, इस नींबू को तो काटना ही नहीं था, लोहे का प्रयोग तो करना ही नहीं था। फिर क्या करना था? नींबू को चाकू से नहीं यूँ की कुचलना था और रस डालना था, उसमें लोह तत्त्व आने से स्वर्ण नहीं बन पाया। ऐसे ही कोई भी विधि हो चाहे खेल के संबंध में हो, चाहे अध्ययन के संबंध में हो, चाहे राजनीति के संबंध में हो, चाहे अन्य किसी भी विषय-वस्तु के संबंध में हो, जो विधि का उल्लंघन करते हैं तो यथेच्छ फल की प्राप्ति नहीं होती।

ऐसे ही यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं यदि वास्तव में परमार्थ को प्राप्त करने की भावना है, आप परमार्थ मार्ग पर चल रहे हो तो पारमार्थिक विधि का पालन करना भी आवश्यक है। अतः इन्हें सम्यग्दर्शन के आठ अंग मत समझो इन्हें तो धर्म के ही आठ अंग मानो। ये सीढ़ियाँ हैं जिसके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप तीन भाग हैं, किसी एक भाग को भी अलग करो तो सीढ़ी नहीं बन सकती।

महानुभाव! आप जानते हैं कि विकलांगी मोक्षमार्गी नहीं होता, तो मोक्षमार्गी कौन होता है? आगम भाषा में देखें तो व्यवहार से मोक्षमार्गी है षष्टम गुणस्थान वाले मुनिराज और निश्चय से देखें तो सप्तम गुणस्थानवर्ती या उससे आगे वाले मुनिमहाराज जो अभेद रत्नत्रय से युक्त हैं, उनकी आत्मा मोक्षमार्गी है। उपचार से देखें तो पाँचवें गुणस्थान वाले को कह सकते हैं। उपचार से आशय यथार्थ में नहीं है, अर्थात् जो नहीं है वैसा उसमें आरोप कर रहे हैं। जैसे शेर के चित्र को शेर कहना वह चित्र वास्तव में शेर नहीं है या बिल्ली को शेर कहना। शेर कैसा होता है? बिल्ली जैसा, यह उपचार है। तो उपचार से पंचमगुणस्थानवर्ती आर्यिका माता जी, ऐलक-क्षुल्लक जी को मोक्षमार्गी कहते हैं और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती वाला तो उपचार से भी मोक्षमार्गी नहीं है, वह मोक्षमार्ग पर दृष्टि किए हुए है। मोक्षमार्गी उसे कहते हैं जो चलने

वाला हो, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती तो खड़ा होकर मार्ग को देख रहा है। पाँचवें गुणस्थान वाले ने पैर उठा लिया है, छठवें गुणस्थान वाले ने पैर उठाकर रख दिया है और सातवें गुणस्थान वाले या इससे आगे वाले तीव्रता से गति कर रहे हैं। तो जिसका अंग भंग हो, विकलांग हो, हाथ-पैर न हों, रीढ़ की-कमर की हड्डी टूटी हुई हो, मस्तिष्क न हो, धड़ न हो तो ऐसे व्यक्ति को मुनि दीक्षा लेने की पात्रता नहीं होती। विकलांग मुनि नहीं बन सकता।

इतना ही नहीं आचार्य शिवकोटि महाराज ने भगवती आराधना ग्रंथ में, वट्टकेर स्वामी जी ने मूलाचार ग्रंथ में लिखा है—गुह्य अंग भी यदि समीचीन नहीं है तो वह मुनि नहीं बन सकता। यहाँ तक कि उसके शरीर के अंग उपांग बेडोल या अव्यवस्थित हैं तब भी मुनि नहीं बन सकता तो फिर विकलांगी जिसके आठ अंग में से कोई एक नहीं है वह भी मुनि नहीं बन सकता। कोई कहे मेरा एक पैर नहीं है मैं प्लास्टिक का या फाइवर का पैर लगवाकर मुनि जन जाऊँ तो नहीं बन सकता, उसे पूर्णांगी होना चाहिए। जब विकलांग शरीर वाला मोक्षमार्गी नहीं हो सकता तो विकलांग सम्यक्त्व वाला मोक्षमार्गी कैसे हो सकता है। उसके लिए सम्यक्त्व सकल अंगी होना चाहिए। लोकव्यवहार में तो यहाँ तक देखा जाता है जो व्यक्ति विकलांग है उसे जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करने का, आहारदान देने का अधिकार नहीं दिया जाता, बड़ी-बड़ी पूजा-विधान में पात्र नहीं बन सकता, उसकी ऐसी पात्रता नहीं है। वह यथाशक्ति श्रद्धा करता है और उपचार से मोक्षमार्गी बनता है, यथार्थ से मोक्षमार्गी नहीं बन पाता।

महानुभाव! हमारा सम्यक्त्व भी विकलांग न हो। लंगड़ा सम्यक्त्व रत्नत्रय के पर्वत पर कैसे चढ़ायेगा? और जब जीव रत्नत्रय पर्वत पर ही नहीं चढ़ पाएगा तो रत्नत्रय पर्वत की चोटी पर विद्यमान वह विमान जो सीधा सिद्धालय तक जाता है, उसमें सवार कैसे हो पाएगा। पहले रत्नत्रय के पर्वत पर चढ़ना जरूरी है। रत्नत्रय का पर्वत बहुत ऊँचा है। वह विकलांगी पर्वत के चक्कर तो काटता रहेगा पर चोटी पर नहीं पहुँच पाएगा। यह सम्यग्दर्शन अष्ट अंग से पूर्ण होना चाहिए। हम अपने सम्यक्त्व को सुव्यवस्थित बनाएँ। जैसे गाड़ी में चार पहिये होते हैं, एक पहिया भी निकल जाए तो दुर्घटना हो जाती है, गाड़ी सवार उस दुर्घटना का शिकार हो जाता है ऐसे ही सम्यक्त्व के किन्हीं हीन अंगों से युक्त सम्यग्दर्शन उसे मोक्षमार्गी नहीं बना पाएगा। आप कहेंगे—महाराज जी! सोलह कारण भावनाओं में कुछ भावनाएँ भा लो तब भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है? सोलहकारण भावनाओं में कुछ भावनाओं की मुख्यता होती है शेष भावनाओं की गौणता होती है किंतु भावना होती सभी हैं। जैसे महाव्रतों में अहिंसा महाव्रत की मुख्यता होती है, 4 महाव्रतों की गौणता होती है किन्तु महाव्रत पाँचों ही होते हैं।

ऐसे ही सम्यक्त्व के आठों अंगों में आठों ही अंग होना चाहिए, लोप किसी का न हो। हाँ ये मान सकते हैं कि किसी अंग में उसकी विशेषता है। जैसे पढ़ने वाला विद्यार्थी 8 विषय पढ़ता है आठों में उसके नंबर उत्तीर्ण होने लायक तो आना ही चाहिए। यदि एक विषय में अनुत्तीर्ण है तो वह अनुत्तीर्ण ही माना जाएगा, या ये हो सकता है 7 विषय में उसके नंबर ठीक-ठीक हैं, आठवें में ज्यादा हैं तो चलेगा।

जिस स्कूल में 33% अंक में पास होते हैं तो प्रत्येक विषय में 33% अंक होना चाहिए। इससे ज्यादा हैं तो अच्छी बात है और ज्यादा अंक प्रायःकर सभी विषयों में नहीं होते। कोई एक या दो विषय में विशेष होते हैं। यदि किसी एक विषय में नंबर कम हैं तो उसके गुरुजन उसे कृपोत्तीर्ण करते हैं, उस पर कृपादृष्टि करते हैं, पर पहले उसके अंक पूरे करते हैं फिर पास करते हैं; क्योंकि उन्हें विश्वास है कि आगे यह विद्यार्थी इसकी पूर्ति कर लेगा; किंतु सम्यक्त्व के एक अंग में कमी है तो अन्य सात अंग कृपोत्तीर्ण करके उसे मोक्षमार्गी नहीं बना सकते। उसके लिए तो पूर्णता करनी ही पड़ेगी। जैसे एक इन्द्रिय, दूसरी इन्द्रिय का कार्य नहीं करती, प्रत्येक इंद्रिय अपना-अपना कार्य करती है। घ्राण इन्द्रिय का काम सूंघना है, वह अपने विषय में तो दक्ष है किन्तु वह कान का कार्य नहीं करती, कान दक्ष हैं तो वह घ्राण या दृष्टि का काम नहीं करेंगे मात्र शब्द ही सुन सकेंगे, जिह्वा कितनी की कुशल क्यों न हो वह स्वाद का ही परिज्ञान करेगी वह गंध का, वर्ण का, शब्द का ज्ञान नहीं कराएगी। जैसे ये पाँच इंद्रियाँ अपने-अपने कार्य में स्वतंत्र होती हैं, पाँचों इंद्रियों का होना आवश्यक है तभी जीव सकलेन्द्रिय होता है, तभी वह सकलेन्द्रिय सम्यक्त्व को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। यदि एक इंद्रिय भी हीन है यहाँ तक कि अनिन्द्रिय भी हीन हो जाए तब भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। असंज्ञी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता, पाँच इंद्रिय के साथ-साथ अनिन्द्रिय होना भी अनिवार्य है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि के लिए चार लक्षण आवश्यक हैं, चार भावना भी आवश्यक हैं, आठ गुण भी आवश्यक हैं, आठ अंग भी आवश्यक हैं, 25 दोषों से रहितपना भी आवश्यक है, पाँच अतिचारों से रहितपना भी आवश्यक है इसके साथ-साथ उस सम्यक्त्व को निर्मल बनाने के लिए देव-शास्त्र-गुरु की परम भक्ति भी आवश्यक है।

यहाँ आचार्य भगवन् इक्कीसवीं कारिका में उदाहरण सहित कह रहे हैं ''नहि मंत्रः अक्षरन्यूनो निहन्ति विष वेदनां'' विष की वेदना को दूर करने में वह मंत्र समर्थ नहीं है जो अक्षर से हीन है। किसी को सर्प-बिच्छू आदि डस ले तो मांत्रिक व्यक्ति मंत्र के माध्यम से सर्प-बिच्छू आदि के विष को दूर कर देते हैं किन्तु वह मंत्र पूर्ण हो, यदि मंत्र अपूर्ण है तो अनेक बार पढ़ने पर भी वह विष वेदना को दूर करने में असमर्थ होता है। अक्षर मात्रा भी

कम हो तो भी वह मंत्र विषवेदना को दूर नहीं कर पाता। अनेक विद्याएँ सिद्ध करने वाले विद्याधर हुए। उन विद्याओं के अनेक मंत्र होते हैं, यदि उन विद्या मंत्र में भी कोई अक्षर मात्रा कम हो जाए तो वह विद्या सिद्ध नहीं हो पाती।

प्रत्येक कार्य की अपनी एक विधि होती है, प्रत्येक कार्य के सम्पन्न करने में अत्यंत आवश्यक तत्त्व होते हैं। किसी भी वस्तु को उत्पन्न करने में raw material चाहिए उसके बाद ही उसका Production आगे बढ़ सकता है। यदि आवश्यक सामग्री नहीं मिलेगी तो आगे की वस्तु तैयार नहीं हो सकेगी। जिस वस्तु के निर्माण में आठ वस्तु की आवश्यकता है तो आठ ही चाहिए, चार की आवश्यकता है तो चार ही चाहिए यदि कोई वस्तु कम कर देंगे तो वह कार्य सिद्ध नहीं होगा। मंत्र एक बार पढ़ा या चार बार यह महत्वपूर्ण नही है किन्तु ये महत्वपूर्ण है कि उस विद्या या मंत्र का उच्चारण शुद्ध किया या नहीं। कोई अक्षर हीन तो नहीं हो गया, कोई मात्रा-अनुस्वार हीन तो नहीं हुआ, मन में अशुद्धि तो नहीं आ गई। अक्षर से हीन मंत्र विषादि को दूर नहीं कर पाता ऐसे ही वह सम्यग्दर्शन भी एक मंत्र की तरह से है, इस मंत्र में आठ अंग रूपी अक्षर हैं इनमें से एक अंग रूपी अक्षर भी कम हो जाता है तो जिस अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को मिथ्यात्व रूपी सर्प ने डस लिया है ऐसे मिथ्यात्व के जहर को उतारने में वह अंगहीन सम्यग्दर्शन समर्थ नहीं होता है और वह अंग से हीन सम्यग्दर्शन उसे मोक्षमार्गी बनाने में समर्थ नहीं होता है।

सराग सम्यक्त्व के साथ पुण्य का आस्रव होता है, देव आदि गति की प्राप्ति भी हो सकती है, संसार का वैभव भी मिल सकता है किन्तु मोक्ष का महल नहीं मिल सकता, परमात्म पद की प्राप्ति नहीं हो सकती, मोक्षमार्ग में निराबाध, निराकुल चित्त से गमन नहीं हो सकता इसलिए अत्यंत आवश्यक है कि सम्यक्त्व पूर्ण अंग वाला हो। सम्यक्त्व के आठ अंग निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, उपगूहन, अमूढ़दृष्टि, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना हैं। ऐसे समझ सकते हैं जैसे मानवशरीर में आठ अंग होते हैं—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, हृदय और मस्तक। एक-एक अंग पर सम्यक्त्व के एक-एक अंग की प्रतीकात्मक स्थापना करके देखें तो बात अच्छी तरह समझ आ सकती है।

माना कि दायाँ पैर निःशंकित अंग का प्रतीक है। जब कोई व्यक्ति अपने अंदर से निःशंकित होता है तो वह निर्भीक होता है, निर्भीकता है इसीलिए निश्चिंत होता है, निश्चिंतता में कोई तनाव नहीं होता, जिससे कोई रोग नहीं होता और जब निरोगी होता है तो सबल व समर्थ होता है, वह कार्य करने के लिए उत्साह से युक्त होता है। जब भी व्यक्ति निर्भीक हो

जाता है तो चलने के लिए सबसे पहले दायाँ पैर आगे बढ़ाता है। उसने निश्चित कर लिया कि मुझे वहाँ जाना है। जो कदम आगे बढ़ गया अब पीछे नहीं हटेगा। जहाँ नि:शंकितपना आ गया, निर्भीकता-निश्चिंतता आ गई, जहाँ तनाव नहीं है वहाँ कांक्षा नहीं आ सकती। उसके मन में फिर कोई अभिलाषा या याचना का भाव नहीं होगा वह नि:कांक्षित हो जाएगा अर्थात् जब दायाँ पैर आगे गति करेगा तो बायाँ पैर उसका अनुकरण करेगा। शंका से रहित होगा तो कांक्षा से रहित नियम से होगा। जो शंका से रहित नहीं हुआ वह कांक्षा से रहित नहीं होगा। शंकालु कहेगा मैं जाप लगाता हूँ, पूजा-पाठ करता हूँ इसका फल पता नहीं मिलेगा या नहीं मिलेगा? अरे! मैं तो माँग लेता हूँ। जिस नौकर को अपने मालिक पर विश्वास नहीं है तो वह बार-बार अपने मालिक से कहेगा मेरी तनख्वाह बढ़ाओ, कल दी या नहीं दी, मृत्यु को प्राप्त हो गया तो, ये शंका बनी रहेगी इसके साथ कांक्षा भी रहेगी। यदि नि:शंकित हो गया तो कभी माँगेगा नहीं, उसका मालिक स्वयं बुलाकर कहेगा आओ बेटा! तुमने अपनी तनख्वाह नहीं ली। तो जहाँ नि:शंकितपना है वहा नि:कांक्षितपना भी है।

अगला है निर्विचिकित्सा अंग, इसका प्रतीक मान लेते हैं बायां हाथ। अशुद्धि को दूर करने के लिए बाये हाथ का प्रयोग करते हैं। बायां हाथ ग्लानि नहीं करता, गंदगी को साफ करता है, जानता है शरीर का ये धर्म है, यह शरीर मल त्याग करता है, यह मल की पिटारी है, इसलिए सज्जन पुरुष, प्रबुद्ध जन बायें हाथ से गंदगी को दूर करते हैं। बायां हाथ कभी दाएँ हाथ से लड़ा नहीं कि तुमने ये काम मुझे क्यों सौंप दिया। दोनों हाथों में फिर भी प्रेम है, दोनों हाथ बराबर रहते हैं कोई छोटा-बड़ा नहीं।

अमूढ़दृष्टि अंग का प्रतीक मान लेते हैं दायां हाथ; क्योंकि जब भी आप बच्चों को समझाते हैं, निर्देश देते हैं तो दाएँ हाथ की तर्जनी अँगुली का प्रयोग करते हैं। कोई पूछे कहाँ जाना है तो दाएँ हाथ से संकेत करते हैं वहाँ जाना है, किसी भी बात की दृढ़ता बताने के लिए दाहिना हाथ उठता है तो विवेक का प्रयोग करते हुए मूढ़ता से बचाने के लिए प्रतीकात्मक है दायां हाथ। ऐसा मत करो, ऐसा करो, इधर मत जाओ, उधर जाओ यह दायां हाथ प्राय:कर ये निर्देश करता है। यह सत्य का संदेश देने वाला होता है।

पाँचवाँ अंग है उपगूहन अंग। ये शरीर में नितम्ब अंग के समान है। इसे ढांकना है, बात सत्य भी हो तब भी यदि वह प्रकट में शोभनीय नहीं होती तो उसे ढांककर चलो। चाहे नर है या नारी, कटिभाग गुह्य प्रदेशों को ढांककर रखता है। जंगलों में रहने वाले भील आदि भी पत्ते-वल्कल आदि से कटिभाग को ढककर रखते हैं। समाज में रहने वाला मानव जब श्रावक

अवस्था में रहता है तब वह अपने वस्त्र उतारे या पहने कटिभाग पर एक वस्त्र अवश्य रहता है। कटिभाग लज्जास्पद होता है। वह उघाड़ने से लज्जा या शर्म आती है। तो जैसे कटिभाग को ढका जाता है वैसे ही साधर्मी की गलतियों को ढका जाता है। जैसे कोई माँ अपनी बेटी की गलती को सबसे नहीं कहती, ढांकती है। यदि झूठ भी बोलना पड़े तो बोलती है किन्तु बाद में समझाती है। तो उपगूहन अंग का प्रतीकात्मक यह कटिभाग है। यह कटिभाग आवरणि ात ही शोभा को प्राप्त होता है। यदि यथाजात दिगम्बर मुनि बन गए तो फिर उनके लिए कुछ भी आवरण शेष नहीं रह जाता वह तो नि:संदेह निरावरण है।

छटवाँ अंग स्थितिकरण है जो शरीरस्थ पीठ अंग के समान है। जैसे शरीर के अंगों में पीठ कितना बोझ रख लेती है किंतु भार को नीचे नहीं गिरने देती उसी प्रकार स्थितिकरण अंग में पीठ पर बोझ रखना अर्थात् स्व-पर को धर्म में स्थित करना है। साधर्मी को किसी भी प्रकार धर्म से च्युत नहीं होने देना। जो व्यक्ति दूसरों को संभालता नहीं है उसकी रीढ़ की हड्डी में कहीं न कहीं problem हो जाती है और जो अपने कर्तव्य का पालन करता है तो अपनी वृद्ध अवस्था तक भी उसके सभी अंग-उपांग ठीक रहते हैं।

सातवाँ अंग वात्सल्य जिसका प्रतीकात्मक अंग हृदय है। जिसके हृदय में धर्मात्माओं के प्रति अनुराग होता है वही वात्सल्य अंग का धारी होता है। जो व्यक्ति साधर्मी से वात्सल्य नहीं रखता है, साधर्मी के सामने अपने हृदय को नहीं खोलता है तो औजारों से उसका हृदय खोला जाता है, ऑपरेशन होता है।

आठवाँ अंग प्रभावना शरीरस्थ सिर अंग के समान है, जैसे शरीर में मस्तक का, चेहरे का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार प्रभावना से दूसरों पर प्रभाव पड़ता है, और जो प्रभावना नहीं करता उसकी चाहे आँखें कमजोर, दाँत कमजोर, नाक-कान कहीं न कहीं समस्या रहती है या फिर मस्तिष्क संबंधी कोई न कोई समस्या बनी रहती है। जो आठों अंगों का यथार्थ पालन करता है संभव है उसके शरीर के आठों अंग भी यावज्जीवन यथार्थ रूप से संचालित रहते हैं।

हमें आत्मकल्याण के लिए सम्यक्त्व के आठों अंगों का निर्दोष निरतिचार पालन करना चाहिए। अपने सम्यक्त्व के अंगों को देखें, निर्मल बनाएँ, निरतिचार बनाएँ और दूसरों के सम्यक्त्व को निर्मल, निर्दोष बनाने में भी निमित्त बनें, तभी हम इन अंगों का यथार्थ पालन कर पाएँगे। आप सभी सम्यक्त्व को निर्दोष बनाएँ, मोक्षमार्ग में आगे बढ़ें-इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

लोकमूढ़ता का स्वरूप

आपगासागरस्नान - मुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते॥22॥

अन्वयार्थ–धर्म समझकर **आपगासागरस्नानं** – गंगा-यमुना आदि नदियों में तथा समुद्र में स्नान करना, **उच्चयः सिकताश्मनाम्** – बालू और पत्थरों का ढेर लगाना, **गिरिपातः** – पर्वत से गिरना, **च अग्निपातः** – और अग्नि में जलना आदि, **लोकमूढं** – लोकमूढ़ता, **निगद्यते** – कही जाती है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में सम्यक्त्व के आठ अंग, उनमें प्रसिद्ध महापुरुष व प्रत्येक अंग की महत्ता को देख रहे हैं। कोई भी अंग कम मूल्य का नहीं, किसी को कम नहीं आंका जा सकता। जैसे संज्ञी जीव के शरीर में पाँचों इंद्रियाँ समान मूल्य की हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व के आठों अंग अपने आपमें महत्वपूर्ण हैं इसलिए सम्यक्त्व का पालन 25 दोषों से रहित व आठ अंगों से युक्त होना चाहिए।

सम्यक्त्व के 25 दोषों में शंकादि आठ दोष, षट्अनायतन, तीन मूढ़ता तथा आठ मद होते हैं। यहाँ पर तीन मूढ़ता की चर्चा करते हैं। प्रथमतः लोकमूढ़ता के संबंध में देखते हैं कि लोक में व्यक्ति किस तरह से मूर्खता के कार्य करता है। ये लोकमूढ़ता धर्म से संबंधित है इसे धर्ममूढ़ता भी कहते हैं। बिना विवेक बुद्धि से विचारे हुए, बिना सोचे समझे जैसा मन में आया वैसा कर लिया या गतानुगतिक जैसा लोग कर रहे हैं देखा-देखी करने लगे; उन क्रियाओं में धर्म मानकर। यूँ तो संसारी प्राणी अनेक प्रकार की क्रिया करता है किन्तु जिस क्रिया को पाप की क्रिया मानकर के पाप क्रिया कर रहा है तब संभव है वह पाप की क्रिया से मुक्त हो जाएगा किन्तु कोई प्राणी पाप की क्रिया को पुण्य रूप मानकर कर रहा है तो उसका उस क्रिया से मुक्त होना अशक्य है, दुःसाध्य है। लोक में धर्म के रूप में क्या-क्या बातें प्रचारित हैं, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की क्या-क्या धारणा है उस संबंध में आचार्य महाराज ने क्या लिखा है उसे देखते हैं। यहाँ 22वें श्लोक में लोकमूढ़ता के बारे में कहते हैं।

'आपगा' आप अर्थात् जल 'ग' अक्षर का अर्थ है गमन संचरण/चलन। जैसे खग शब्द है 'ख' अक्षर का अर्थ है पक्षी 'ग' अक्षर का स्वतंत्र अर्थ है गमन, आकाश में जो गमन करें वे पक्षी कहलाते हैं, या खेचर कहलाते हैं। विद्याधर भी आकाश में गमन करते हैं जो भी आकाश

में गमन करते हैं या कर सकते हैं उन्हें खग, खगेश, खगेचर, खगेन्द्र कहते हैं। ऐसे ही जब 'ग' अक्षर का अर्थ गमन/संचरण लगाते हैं तो आप + गा 'आप' माने जल 'ग' माने गमन। जहाँ जल का निरंतर गमन हो रहा है, जल चला जा रहा है, उसे कहते हैं नदी। क्योंकि कूप के जल में गमन नहीं है, समुद्र के जल में गमन नहीं है, झील, पोखर, तालाब के जल में गमन नहीं है। नदी का जल गमन करता हुआ होता है इसलिए उसे आपगा कहते हैं।

कोई व्यक्ति नदी में स्नान करके अपनी आत्मा को पवित्र मानते हैं किंतु ऐसा करने से शरीर का मल भले ही धुल जाए पर आत्मा का मल नहीं धुलता, नदी में कोई स्नान करे तो ताप दूर हो जाए किन्तु आत्मा का संताप दूर नहीं होता। जल देह मल का प्रक्षालन करता है चेतना के मल का नहीं। चेतना के मल का प्रक्षालन करने के लिए तो सम्यग्ज्ञान का जल चाहिए। उस ज्ञान जल से ही आत्मा प्रक्षालित होती है। बाह्य जल से आत्मा प्रक्षालित नहीं होती। जो कोई भी नदी के घाटों पर स्नान करके, किसी बावड़ी–तालाब–झील–समुद्र–कूप में स्नान करके ये धारणा बनाकर बैठ जाए कि मैंने स्नान कर लिया तो कोई धर्म की क्रिया कर ली तो यह शारीरिक क्रिया है, धर्म की क्रिया नहीं।

किसी पुण्य कार्य को करने के लिए शरीर को शुद्ध करना अच्छी बात है, यह श्रावक का, सामान्य गृहस्थ का कर्त्तव्य है किन्तु स्नान धर्म नहीं है। ऐसी लोकरूढ़ि चल रही है कि भाई आज पर्व का दिन है चलो नदी में स्नान करके हम अपनी आत्मा को पवित्र कर लें। एक बार गुरु द्रोणाचार्य के शिष्य युधिष्ठिर आदि पाँचों पांडव, दुर्योधन आदि 100 कौरव और श्रीकृष्ण आदि सभी गोष्ठी कर रहे थे। अचानक पाण्डवों ने कहा अभी गुरुकुल की छुट्टी चल रही है अच्छा हो हम सुरसरि में स्नान करके आएँ। यह देव सरिता है ऐसी मान्यता है कि यहाँ स्नान करने से पाप प्रक्षालन होता है। पाण्डवों ने श्रीकृष्ण से भी आग्रह किया कि आप भी चलें, तीर्थ में स्नान करने से पवित्रता आती है। नारायण श्रीकृष्ण ने कहा–तीर्थ उसे कहते हैं जिससे तिरा जाएँ नदी का घाट इस किनारे से उस किनारे तक पहुँचा सकता है पर संसार सागर से पार नहीं करा सकता, इसलिए सच्चा तीर्थ तो धर्म है, सच्चा तीर्थ तो रत्नत्रय है, वही संयम साधना है जिसके माध्यम से आत्मा पवित्र होती है। पाण्डवों की समझ में कुछ नहीं आया उल्टा बुरा ही लगा कि हमने आपसे तीर्थयात्रा का आग्रह किया और आपने उसे ठुकरा दिया। पुनः नारायण श्रीकृष्ण ने कहा–मैं आपके आग्रह को ठुकराता नहीं हूँ, मेरी व्यस्तता बहुत है मैं अभी जाने में असमर्थ हूँ यदि आपको बुरा लगता है तो मेरी ओर से ये तूमड़ी ले जाओ और इसे स्नान कराकर ले आओ। पाण्डवों ने वैसा की किया। पाण्डवों ने जितने भी तीर्थों पर

स्नान किया उतने तीर्थ जलाशय पर उस तूमड़ी को भी स्नान कराया, खुद भले ही वे 5 बार स्नान करते किन्तु तूमड़ी को 101 बार स्नान कराते (डुबकी लगवाते)।

जब वे लौटकर वापस आए तो उन्होंने बड़े उत्साह-आनंद-उमंग के साथ श्रीकृष्ण से कहा—हम सकुशल तीर्थयात्रा से लौट आए हैं और आपके द्वारा प्रदत्त इस तूमड़ी को भी हमने तीर्थ जलों में स्नान कराया है, यह परमपवित्र है। नारायण श्रीकृष्ण ने कहा—ठीक है, उस तूमड़ी के छोटे-छोटे (पीस) भाग किए और एक-एक टुकड़ा सब भाईयों को यह कहते हुए दिया कि ये तूमड़ी परम पवित्र है, अनेक तीर्थों के जल में स्नान करके आई है, आप सभी इसे प्रसाद रूप में ग्रहण करें। जैसे ही उन्होंने उस तूमड़ी को जिह्वा पर रखा, स्पर्श करते ही इतनी कड़वी जहर सम तूमड़ी थी कि सबने उसे थूक दिया। नारायण श्रीकृष्ण क्षणिक कृत्रिम रोष प्रकट करते हुए कहने लगे—तुमने इसका अपमान किया है, जिस तूमड़ी को तुमने 100-100 बार स्नान कराया उसे थूक दिया। वे बोले अपमान तो ठीक है इतनी कड़वी है, जहर जैसी लगती है। फिर श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया कि जब इस कड़वी तूमड़ी को सैकड़ों बार जल में स्नान कराने से इसका कड़वापन नहीं गया, यह कड़वी से मीठी नहीं हुई तो क्या तुम्हारी आत्मा जल में स्नान करके पवित्र हो जाएगी? नहीं हो सकती, इसलिए पवित्रता का मार्ग तो दूसरा है। वह क्या है?

आत्मानदी संयम-तोयपूर्णाः सत्यंवहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्रं! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

हे पाण्डु पुत्रों! महान् शासक पाण्डु के पुत्र पाण्डवों! आत्मा ही नदी है। उस आत्मा रूप नदी में संयम जल भरा है, सत्य का प्रवाह है, शील रूपी तट है, जिसमें दया रूपी उर्मियाँ, तरंगें, लहरें उठ रही हैं, ऐसी नदी में स्नान करो। यह अन्तरात्मा केवल जल से शुद्ध नहीं हो सकती।

किन्तु लोकमूढ़ता है; जो व्यक्ति केवल बाह्य जल से अपनी आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं वे मूर्खता कर रहे हैं अथवा **'मुच्चयः सिकताश्मनाम्'**, कोई बालू-पत्थरों का ढेर लगाकर कहे इससे मेरी आत्मा का कल्याण हो जाएगा, यह लोक मूढ़ता है। कई बार विहार करते हुए पत्थरों के ढेर लगे दिखाई देते हैं, कोई दो चार-छह पत्थर पर पत्थर रखता चला जाता है और कहता है जितने ऊँचे पत्थर रखोगे उतना ऊँचा तेरा (उतनी मंजिल) मकान बन जाएगा। या जितने पत्थर रखोगे उतने नंबर के स्वर्ग में तू पहुँच जाएगा। ये भी मूर्खता है इसमें धर्म नहीं है।

'गिरिपातोग्निपातश्च' कोई व्यक्ति पर्वत की चोटी से गिरकर मृत्यु को प्राप्त करे और कहे कि इससे मेरी गति अच्छी होगी, मेरा कल्याण हो जाएगा तो क्या पर्वत से गिरने से

आत्मा-परमात्मा बनती है? या अग्नि में गिरने से आत्मा परमात्मा बनती है? अरे! पाँच इन्द्रिय रूपी अग्नि को शांत करने से आत्मा परमात्मा बनती है, ये पाँच अग्नि के बीच में आत्मा पड़ी हुई है। इन पाँचों इन्द्रियों का दमन करके अपना कल्याण करना है। कल्याण उसका होता है जिसमें कोई दम खम होती है। दम अर्थात् जो इंद्रियों का दमन करे और खम अर्थात् जिसके पास उत्तम क्षमा आदि दस धर्म हैं उसका कल्याण होता है। तो अग्नि में गिरने से, चारों तरफ अग्नि जलाने से आत्मा परमात्मा नहीं बनती। जलाशय में नाक बंद करके डूबना उसमें समाधि लगाना; ऐसी समाधि शास्त्रों में नहीं कही वह तो कुमरण है। समाधि का आशय तो ये है आधि-व्याधि-उपाधि सबको शांत करके समाधित चित्त के साथ अपने प्राणों का त्याग करना। मृत्यु जब होना हो तभी हो, साधना करने वाला साधक कभी नहीं चाहता कि एक मिनट पहले मृत्यु हो जाए या एक मिनट बाद हो, वह तो चाहता है जब मेरा आयु कर्म पूरा हो तब मैं मृत्यु को समतामय परिणामों के साथ स्वीकार करूँगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के संस्कारों को अगले भव में ले जाना समाधि है और रत्नत्रय की साधना करना ये बोधि की प्राप्ति है।

अभय कुमार के विषय में आता है कि पूर्व भव में वह रुद्रदत्त नाम का एक विप्र था, जो पाखण्ड से लिप्त था। उसे एक जैन श्रावक की संगति मिली और उसने समस्त मिथ्या मान्यताओं का त्याग किया, जिसके प्रभाव से वह अभयकुमार हुआ। श्रेणिक चरित्र में उसकी कथा इस प्रकार आती है।

एक समय अभयकुमार भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में पहुँचा। वहाँ उसने गण के स्वामी मुनियों में उत्तम गौतम गणधर स्वामी को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर विनयपूर्वक अपने पूर्व भवों को पूछा, तब इन्द्रभूति गौतम गणधर ने बताया—इसी लोक में वेणातड़ाग नाम की पुरी में एक रुद्रदत्त नाम का ब्राह्मण था, वह बहुत पाखंडी था, एक बार वह तीर्थाटन के लिए निकला और घूमता-घूमता उज्जयनी नगरी पहुँचा। उस समय वहाँ अर्हदास सेठ व जिनमती सेठानी के घर पहुँचा, सेठ-सेठानी जिनधर्मानुयायी थे, रुद्रदत्त ब्राह्मण उनके घर पर भोजन माँगने लगा, वह समय रात्रि का था इसलिए सेठानी ने उससे कहा-भैया! मैं रात्रि में भोजन नहीं दूँगी, उस विप्र ने कारण पूछा तो सेठानी जी ने रात्रिभोजन द्वारा अर्जित पाप के विषय में, उससे प्राप्त दु:खों के बारे में बताया तो उस विप्र ने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया। और प्रात: काल भोजन करके अपनी आगे की यात्रा पर बढ़ गया।

वह ब्राह्मण जब वहाँ से निकला तब कोई एक जैन श्रावक जो व्यापारी था वह भी उसके साथ-साथ चलने लगा, दोनों एक ही मार्ग से जा रहे थे। मार्ग में चलते-चलते

एक घना पीपल का वृक्ष दिखा जिसमें लम्बी-लम्बी शाखाएँ थी, फलों से लदा था, जिस पर भांति-भांति के पक्षी बैठे थे, चारों तरफ बड़े-बड़े पाषाणों के ढेर लगे थे। वृक्ष को देखते ही वह रुद्रदत्त बड़ा खुश हुआ और उस वृक्ष को देव मानकर उसकी तीन प्रदक्षिणा दी और बार-बार स्तुति करने लगा। उसकी ऐसी चेष्टा देखकर वह जैन वणिक् समझ गया कि यह प्रबल मिथ्यादृष्टि है और उससे जानबूझकर बोला- भैया! ये कौन है, किस नाम का धारक देव है और इसका क्या महात्म्य है? विप्र ने जवाब दिया विष्णु भगवान् के वास के लिए यह बोधिकर्म नाम का देव है। यह इच्छानुसार मनुष्यों का बिगाड़ व सुधार कर सकता है।

ब्राह्मण के मुंह से वृक्ष की प्रशंसा सुनकर वणिक् ने शीघ्र ही उस वृक्ष में दो लात मारी और उसके पत्ते तोड़कर जमीन पर बिछाकर शीघ्र ही उन पर बैठ गया और ब्राह्मण से बोला-यह वनस्पति भी क्या मनुष्यों का सुख-दुःख हर सकती है? रुद्रदत्त ने जवाब तो कुछ नहीं दिया पर मन ही मन सोचने लगा इसने मेरा अपमान किया है, किन्तु वणिक् उस ब्राह्मण की भाव भंगिमा को समझ गया, उसको समझाते हुए बोला-देखो मित्र! यह पीपल एकेन्द्रिय जीव है, इसमें न तो मनुष्यों के समान विशेष ज्ञान है और न किसी प्रकार की सामर्थ्य, यह तो केवल पक्षियों का घर है, जीव के शुभ-अशुभ कर्मों के अतिरिक्त किसी की भी इतनी सामर्थ्य नहीं कि वे उनका बिगाड़ या सुधार कर सकें। इस प्रकार वणिक् ने आगमानुसार समझाकर ब्राह्मण का वह मिथ्यात्व दूर कर दिया, और दोनों स्नेहपूर्वक बातचीत करते हुए आगे चल दिए और गंगा नदी के किनारे पहुँचे। वणिक् को तो बहुत जोर से भूख लग रही थी इसलिए वह तो खाना खाने बैठ गया और रुद्रदत्त गंगा में स्नान करने घुस गया, उसने बहुत देर तक गंगा में स्नान किया, पानी उछाल-उछालकर पितरों को पानी दिया, और फिर उसी वणिक् के पास आया, ब्राह्मण को आता देख वणिक् ने पुनः उसकी लोकमूढ़ता को देखते हुए कहा-आइए! ब्राह्मण महोदय जी! यह झूठा भोजन रखा है आप आनंदपूर्वक इसको ग्रहण करो, वह बोला- महाशय जी! यह झूठा भोजन मेरे लिए कैसे योग्य हो सकता है, मैं इसे कदापि ग्रहण नहीं कर सकता। वणिक् ने जवाब दिया-अरे! यह भोजन तो गंगाजल से मिश्रित है इसमें झूठापन कहाँ से आया? तुम तो निर्भय होकर इसे खाओ, गंगाजल मिश्रित होने से इसमें कोई दोष नहीं? हाँ, यदि तुम कहो कि तीर्थजल से मिश्रित भी झूठा भोजन योग्य नही हो सकता फिर तुम्हीं बताओ कि पापों की शुद्धि गंगा जल से कैसे हो सकती है? यदि यह बात ठीक है कि स्नान से शुद्धि हो जाती है तो मछलियाँ, मगरमच्छ आदि जलचर जीव

तो दिन-भर जल में ही रहते हैं, धीवर हमेशा नहाते-धोते रहते हैं, फिर उन्हें तो शुद्ध होकर सीधे स्वर्ग ही चले जाना चाहिए? लेकिन मित्र! तुम तथ्य को समझो, अंतरंग की शुद्धि बाह्य स्नानमात्र से नहीं होती अपितु व्रत-नियम-संयम-जप-तप-ध्यान आदि विशुद्ध परिणामों से होती है, जैसे शराब का घड़ा लाखों-करोड़ों बार भी धोने से शुद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार यह तन व चेतन स्नान से शुद्ध नहीं होता। जिन महापुरुषों ने ज्ञानतीर्थ में अवगाहन किया है वे बिना जल के ही घी के घड़े के समान शुद्ध रहते हैं।

वणिक् के ऐसे वचनों को सुनकर ब्राह्मण ने उस लोकमूढ़ता का भी त्याग कर दिया, पुनः वहीं पर एक तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा था, वणिक् उस ब्राह्मण को वहाँ ले गया और जलती अग्नि में अनेक प्राणियों को मरते हुए दिखाया जिससे उस विप्र की तपो मूढ़ता भी दूर हो गई, उसे समझाया मित्र! वेद हो चाहे लोक पाप से कभी धर्म नहीं होता, प्राणीहिंसा करके धर्म मानना बड़ी भारी भूल है और इस प्रकार उस वणिक् के निमित्त रुद्रदत्त की तत्त्वों में श्रद्धा निष्ठ हुई और सभी मिथ्या मूढ़ताएँ नष्ट हो गईं। रुद्रदत्त और वणिक् दोनों की घनिष्ठ मित्रता हो गई, दोनों तत्त्वचर्चा करते हुए मार्ग में जा रहे थे किन्तु पूर्व पाप के उदय से उन्हें दिशा भ्रम हो गया, वह वन निर्जन वन था, वहाँ उन्हें कोई रास्ता बताने वाला नहीं था और दोनों का संग छूट गया, रुद्रदत्त ने अब कोई बचने का उपाय नहीं है यह जानकर शीघ्र ही संन्यास लेकर चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया और प्रथम स्वर्ग में जाकर देव हुआ। और वही रुद्रदत्त का जीव जिसने समस्त मूढ़ताओं को त्यागकर जिनधर्म की शरण ली स्वर्ग से आकर श्रेणिकपुत्र अभयकुमार हुआ। और आगे नियम से सिद्धपद प्राप्त करेंगे।

यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे हैं गतानुगतिक नहीं बनो। एक कर्नाटक के कवि हुए उन्होंने कन्नड़ भाषा में एक बहुत अच्छा ग्रंथ लिखा उसमें लिखा-जिस धर्म में बलि आदि हिंसा को धर्म माना जाता है तो फिर उस धर्म में पाप किसे माना जाता है? क्योंकि एक हिंसा में सारे पाप समाहित होते हैं और जिस धर्म में पाप को धर्म कहा वह धर्म, धर्म ही नहीं। उनके कहने का यही आशय है कि कभी भी, कहीं भी, किसी भी क्षेत्र-काल में, किसी भी प्राणी के लिए हिंसा धर्म नहीं हो सकता। आपने हरिवंश पुराण में पढ़ा होगा, नारायण श्रीकृष्ण की छोटी बहिन महामाया जिसने दीक्षा ली व साधना करने लगी। जंगल में भील आदि उसे देवी मानकर पूजा करने लगे। एक दिन उन आर्यिका माता जी को जंगली जानवर भक्षण कर जाता है, केवल तीन अँगुली वहाँ शेष रहती हैं, वह भील लौटकर आए, देखा वह देवी कहाँ

चली गई, वहाँ तो मात्र उसकी तीन अँगुली हैं। उन्होंने उन तीन अँगुलियों को बांधकर वहाँ लटका दिया और संभव है तभी से त्रिशूल की पूजा करना प्रारंभ हो गई।

महानुभाव! लोक में न जाने कौन-कौन सी रूढ़ियाँ चलती हैं किन्तु जो व्यक्ति धर्मात्मा है वह मूर्खता के कार्य नहीं करता, विवेक और बुद्धि से सोच-समझकर ही कार्य करता है, सोच-समझकर ही बोलता है और उत्तम विचार बनाता है। आप सभी भी मूर्खता को छोड़कर विवेकबुद्धि से अच्छी क्रिया करो, अच्छे वचन बोलो, अच्छे भाव मन में लाओ और आत्मा की शुभ व शुद्ध परिणति हो। क्रियाओं में धर्म नहीं है ये बाह्यक्रियाएँ पाप की संवर्धक भी हो सकती हैं इसलिए पाप क्रिया से बचकर पुण्य क्रिया में लगो यही आत्महित का शाश्वत मार्ग है। आचार्य महोदय का यही अभिप्राय है कि आप इन पापवर्धक क्रियाओं से दूर हों, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

देवमूढ़ता का स्वरूप

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसः।
देवता यदुपासीत, देवतामूढ़-मुच्यते॥23॥

अन्वयार्थ–आशावान् – इस लोक संबंधी फल की इच्छा करने वाला जो पुरुष, **वरोपलिप्सया** – वर पाने की इच्छा से, **रागद्वेषमलीमसाः** – राग-द्वेष रूपी मैल से मलीन, **देवताः** – देवताओं की, **यत्** – जो, **उपासीत्** – उपासना करता है, **तत्** – वह उपासना, **देवतामूढ़ं** – देवमूढ़ता, **उच्यते** – कही जाती है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में मूढ़ता का प्रसंग चल रहा है। पूर्व में लोकमूढ़ता के संबंध में देखा कि लौकिक कार्यों को करके धर्म मानना यह लोक या धर्म मूढ़ता है। कोई कार्य जो रूढ़ि से चला आ रहा है उसे धर्म मान लेना। उदाहरण स्वरूप देखें किसी व्यक्ति ने अपने घर त्यागीव्रती का निमंत्रण किया, भोजन के लिए उन्हें ज्यों ही बिठाया त्यों की संयोग की बात एक बिल्ली आई और चौके में से निकल गई, उनका अंतराय हो गया। दूसरी बार जब उन्होंने भोजन के लिए त्यागीव्रती को बुलाया तो घर वालों ने भोजन पर बिठाने से पूर्व ही बिल्ली को टोकरी से ढककर रख दिया। वे घर वाले हर माह अष्टमी-चतुर्दशी पर किसी न किसी त्यागी-व्रती को भोजन के लिए बुलाते थे। उनकी सास जैसा करती बहू भी वैसा ही करती। कई वर्षों तक यही क्रम चलता रहा। अब सास दिवंगत हो गई, बहू भी सास बन गई उन्होंने वही क्रम रखा, दिवंगत तो बिल्ली भी हो गई किन्तु बहू सोचती थी हमारी सास हर महीने चार बार त्यागी-व्रतियों को भोजन कराती थी, हम कम से कम एक बार तो कराएँ फिर एक बार का कराना भी मुश्किल हो गया, कौन कुएं से जल लाए, कौन चक्की से आटा पीसे, अब छह माह-सालभर में एक बार त्यागी-व्रती को भोजन कराते किन्तु समस्या ये थी कि सास की सास यानि दादी सास जब भोजन कराती थी तो बिल्ली को टोकरी से ढांक करके रखती थीं, अब तो बिल्ली भी नहीं है, अब त्यागी-व्रती का निमंत्रण कैसे करें। कभी बिल्ली मिल जाती तो त्यागी-व्रती का निमंत्रण करने जाते और फिर बिल्ली घर पर लाकर उसे टोकरी से ढांकते फिर भोजन कराते। उन्हें नहीं मालूम कि बिल्ली ढांकने का क्या रहस्य था किन्तु वह रूढ़ि चल गई, ऐसे ही जो व्यक्ति रूढ़ि में धर्म मानने लगते हैं उसके रहस्य को नहीं समझते हैं वे निःसन्देह मूर्खता का परिचय देते हैं।

लोकमूढ़ता की तरह ही होती है देवमूढ़ता। कई बार व्यक्ति परमार्थ की प्राप्ति के लिए संसारमार्गियों की उपासना करने लगता है। संसारमार्गी की उपासना करने से परमार्थ की सिद्धि

कैसे होगी? हर व्यक्ति जानता है जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है। यदि सूर्य गर्म है तो उसकी किरणें भी ऊष्ण ही होंगी, यदि चन्द्रमा शीतल है तो उसकी किरणें भी शीतल ही होंगी, यदि किसी वस्तु में से सुगंध आ रही है तो उस वस्तु का वह सुगंधयुक्त स्वभाव है, दुर्गंध आ रही है तो वैसा स्वभाव है।

यदि आपको परमार्थ की प्राप्ति करना है तो परमार्थ में कारणभूत पारमार्थिक देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त बन सकते हैं, लौकिक देव, लौकिक शास्त्र, लौकिक गुरु परमार्थ में निमित्त नहीं बन सकते। जैसे गेहूँ के आटे से बाजरे की रोटी नहीं बन सकती है, बाजरे के आटे से गेहूँ की रोटी नहीं बन सकती। जामुन की गुठली बोने से आम का पेड़ पैदा नहीं किया जा सकता, आम की गुठली बोने से जामुन का पेड़ नहीं हो सकता। कारण और कार्य दोनों स्पष्ट हैं। परमार्थ की संप्राप्ति की वांछा है तो परमार्थभूत देवता की उपासना करो, जो लोक में देवता कहे जाते हैं उनकी उपासना करने से लौकिक वस्तु की प्राप्ति भले ही हो जाए किन्तु परमार्थ की संप्राप्ति नहीं हो सकती।

आचार्य महोदय कह रहे हैं ''वरोपलिप्सयाशावान्'' वर पाने की इच्छा से जो आशावान् बना है। मन में उत्कृष्ट वरदान की इच्छा से कि मुझे पुत्र प्राप्ति हो, मेरा व्यापार अच्छा चले, मेरे बेटे की नौकरी लग जाए, मेरी बेटी की शादी हो जाए इत्यादिक वांछाओं से लौकिक देवताओं की, चाहे किसी वृक्ष की, पत्थर की, किसी स्थान की पूजा करना प्रारंभ कर दिया। मूढ़ता की हद तो देखो लोग यहाँ पर कूप, तालाब को भी देवता मानने लगे हैं। लोकमूढ़ता से अंधे होकर एकइंद्रिय वृक्ष को भी देवता मानने लगे हैं, लोग अंधे होकर के तिर्यंच गति के जीवों को भी देवता मानने लगे हैं। इन्हें सम्मान दो, रक्षा करो, भगवान् महावीर स्वामी ने कहा जीयो और जीने दो, अच्छी बात है सबको जीने का अधिकार है, आपको भी और उन सब जीवों को भी; किन्तु उनकी पूजा करना उचित नहीं है। पूज्यनीय की पूजा करो, सेवनीय का सेवन करो, भक्षणीय का भक्षण करो, ऐसा नहीं अभक्ष्य का भक्षण कर लो व भक्ष्य को छोड़ दो।

तो यहाँ पर कहा–परमार्थ की इच्छा है तो राग-द्वेष से मलीन देवी देवताओं की पूजा करना छोड़ दो। उनकी पूजा से परमार्थ की प्राप्ति नहीं होगी। संसार में परिभ्रमण करना है, बार-बार जन्म मरण करना है तो करते रहो, कोई मना नहीं करता किन्तु अपनी आत्मा को कर्म से हीन सिद्ध बनाना चाहते हो तो आपको कर्महीन सिद्धों की उपासना करनी पड़ेगी। यदि अपनी आत्मा को वीतरागी बनाना चाहते हो तो राग रहित वीतरागी देव की पूजा करनी होगी। यदि अपनी आत्मा को सर्वज्ञ बनाना चाहते हो तो सर्वज्ञता से युक्त देवता की पूजा करनी होगी। यदि अपनी आत्मा को अरिहंत बनाना चाहते हो तो जिन्होंने अपने मोहनीय आदि चार घातिया

कर्मों का हनन कर दिया है ऐसे अरिहंत की उपासना करनी चाहिए। कोई कितना भी प्रयास करे कोयले के धोने से वह कोयला सफेद नहीं हो जाता, भैंस को नहलाने से वह गाय नहीं हो जाती, प्याज की कोई अष्ट द्रव्य से पूजा करे तो उसमें से गुलाब की गंध नहीं आने लगेगी। कपूर को संस्कारित करो या न करो कपूर की गंध कपूर की ही रहेगी हींग कपूर नहीं बन जाएगा और कपूर हींग नहीं बन सकता। संसार के सब पदार्थों के अलग-अलग स्वभाव हैं हम उसे अन्यथा नहीं कर सकते। कोई व्यक्ति चाहे कि मुझे भूसा बेचने वाले के पास अच्छे हीरे मिल जाएँ तो वह कहाँ से देगा। ये बात जब सिद्ध है, सत्य है तब संसार में जो स्वयं परिभ्रमण कर रहे हैं, राग द्वेष से जो मलिन हैं, जो चार प्रकार की संज्ञाओं से सहित हैं, चार प्रकार की कषायों से संयुक्त हैं, पाँच प्रकार के पापों में संलिप्त हैं उनकी पूजा अर्चना करने से क्या वीतरागता की प्राप्ति हो जाएगी? नहीं हो पाएगी, असंभव है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं 'यदुपासीत' यदि कोई रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा करता है तो वह विवेकी नहीं कहलाता वह उसकी देवता संबंधी मूढ़ता कही जाती है। वह विचारपूर्वक प्रवृत्ति करे, लक्ष्य का चयन करने के उपरांत देवता का चयन करे। लक्ष्य वीतरागता का है तो देवता वीतरागी बनाओ, लक्ष्य रागी का है तो रागी को बनाओ। एकलव्य को धनुर्विद्या प्राप्त करनी थी इसलिए उसे द्रोणाचार्य को गुरु बनाना आवश्यक था। क्योंकि उस समय धनुर्विद्या का ज्ञाता और कोई नहीं था। वह किसी किसान के पास रहकर धनुर्विद्या नहीं सीख सकता। यदि किसी को खेती करना सीखना है तो फिर कृषक के पास जाए, किसी को वकालत सीखना है तो वकील के पास जाए, डॉक्टरी सीखना है तो डॉक्टर के पास जाए ऐसे ही जिसे वीतरागी बनना है, अरिहंत सर्वज्ञ बनना है तो उसे वीतरागी की, अरिहंतों की, सर्वज्ञों की उपासना करना चाहिए।

आचार्य महोदय का इतना कहना है कि परमार्थ में चलने वाले व्यक्तियों को राग-द्वेष से सहित देवताओं की उपासना करना उचित नहीं। रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा करने से संसार के लौकिक कार्यों की सिद्धि तो हो सकती है किंतु परमार्थ की सिद्धि नहीं होती है। इसीलिए कहा ये उसकी देवता संबंधी मूढ़ता है। एक बार बादशाह अकबर के दरबार में सभी मंत्री-परिषद् आदि उपस्थित थे। तभी सम्राट अकबर ने सभासदों से पूछा—अविद्या किसे कहते हैं? सभी सभासदों ने कहा- जहाँपना आप बीरबल को बहुत स्थान देते हो, उसे बहुत इनाम भी देते हो उसी से प्रश्न पूछो, हम तो सामान्य हैं, जो ज्यादा इनाम पाने का अधिकारी है वही उत्तर देगा। बीरबल से पूछा-उसने कहा जहाँपना! मैं आपकी कृपादृष्टि का पात्र हूँ, मैं इसका उत्तर दे दूँगा किन्तु मुझे इसके लिए एक सप्ताह का समय चाहिए। अकबर ने कहा- समय मात्र 1 सप्ताह का ही मिलेगा, अगर उत्तर नहीं मिला तो दण्ड मिलेगा। जहाँपना जैसा आपको उचित लगे।

एक दिन संध्याकाल का समय था, किसी ने देख नहीं पाया, रात्रि बढ़ती चली गई, जैसे ही प्रातःकाल हुआ एक स्थान पर लोगों ने एक बहुत बड़ी जूती पड़ी देखी। किसी को लगा यहाँ से कोई व्यक्ति दौड़कर के गया है और उसकी जूती यहाँ पर रह गई है। वहाँ पर लोग इकट्ठे हुए, सबने जूती को देखा और कहने लगे यह जूती किसकी है। इतनी बड़ी जूती कौन पहन सकता है? इंसान की तो है नहीं, ऐसी जूती अपने बादशाह के पास भी नहीं है। मौलवी को बुलाया गया। उसने कहा- अरे! क्या तुम लोगों को मालूम नहीं कि आज क्या है? आज का कितना उत्तम मुहूर्त्त है, आज की रात्रि बहुत शुभ है, आज खुदा स्वयं चलकर के यहाँ आया था और जल्दबाजी में शायद आप लोग आ गए शोरगुल होने लगा इसलिए उसकी एक जूती रह गई, वह पहन नहीं पाया। इस जूती की तो पूजा होनी चाहिए। मौलवी ने स्वयं सबसे पहले जूती को चूमा और माथे से, आँखों से लगाया, कहा–ये तो पूजने के योग्य है। सब लोगों ने भी वही प्रक्रिया की, उसके बाद वह समाचार बादशाह के पास भी पहुँचा। उन्होंने भी देखकर यही कहा- निःसंदेह यह जूती इंसान की तो नहीं हो सकती। ये जूती तो खुदा की है, उसने भी जूती को चूमा, आँखों से लगाया, माथे से लगाया और कहा हम अपने राज्य की ओर से इसके लिए विशेष मंदिर बनवाते हैं और इसकी पूजा की जाएँ, पूजा प्रारंभ हो गई, भक्त आने लगे, जैसे ही सप्ताह पूरा हुआ बीरबल पहुँचा, बीरबल ने अपना चेहरा ऐसा बना लिया जैसे उसे बहुत दुःख हो। सबने बीरबल की ओर देखा, बादशाह ने भी देखकर यही कहा-क्या हुआ बीरबल? बीरबल बोला जहाँपना बहुत दुःख की बात है, मेरे यहाँ दो दिन पूर्व रात्रि में चोरी हो गई। मैं उसमें ही लगा हुआ था।

बादशाह बोले-बीरबल हमारी बात का क्या हुआ? अरे बादशाह! बात छोड़ो, जो दण्ड देना है सो दो, पर पहले मेरी बात तो सुनो। बात ये हुई जहाँपना कि मेरे दादा के दादा के दादा बड़े धर्मात्मा थे, बड़े रहीस थे, उनके पास पदत्राण अर्थात् जो पादुकाएँ थीं उनकी मैं हिफाजत करता था, मैं मानता था कि ये मुझे शक्ति देती हैं। अपने बुजुर्गों के प्रति मेरी निष्ठा थी। वो जूती चोरी चली गई। जहाँपना को जूती का रहस्य समझते देर न लगी उन्होंने कहा- अच्छा! वह जूती तुम्हारे पूर्वजों की थी, ठीक है, जूती मँगवायी जाए और बीरबल को वापिस की जाएँ। बादशाह ने पूछा- और कुछ भी कहना है क्या? बोला हाँ। आपने प्रश्न पूछा था अविद्या क्या है? तो यही अविद्या है कि पहचान किए बिना आपने जूती की पूजा प्रारंभ कर दी कि खुदा की जूती है। अविद्या इसी भ्रम का नाम है। अज्ञानता में व्यक्ति किस प्रकार से प्रवृत्त होता है, विवेक नहीं लगाता, बुद्धि का प्रयोग नहीं करता, सामान्य सी वस्तु को भी विशेष

मानने लगता है। विवेक का यदि परिचय करे तो उसे मालूम चलेगा कि गन्ना और नीम एक नहीं है, मिशरी और नमक एक नहीं है, चंदन की लकड़ी और बबूल की लकड़ी एक नहीं है, कस्तूरी और तम्बाकू एक नहीं है, हल्दी और केशर एक नहीं है, सरागता और वीतरागता दोनों एक नहीं हैं।

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने देव का लक्षण वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशक बतलाया है। इसके विपरीत जो राग-द्वेष से मलिन है अर्थात् उपासना करने से प्रसन्न होता है और उपासना न करने से रुष्ट होता है वह देव नहीं है, अदेव है। सांसारिक फलों की इच्छा रखकर ऐसे रागी-द्वेषी देवों की आराधना करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि का धर्माचरण कर्मक्षय के उद्देश्य से होता है, भोगोपभोग की वस्तुएँ प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं। यह उद्देश्य तो अभव्य जीव का रहता है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी जी ने कहा **''धम्मं भोगणिमित्तं कुव्वइ ण दु कम्मक्खय-णिमित्तं''** अर्थात् वह भोग के निमित्त धर्म करता है न कि कर्मक्षय के निमित्त। सम्यग्दृष्टि जीव जब सांसारिक फल की इच्छा लेकर जिनेन्द्रदेव की उपासना को भी सम्यक्त्व का दोष मानता है तब रागी-द्वेषी देवों की उपासना को वह करे ऐसा संभव ही नहीं। आचार्य भगवन् सोमदेव सूरी ने कहा है–

देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः।
समं पूजा विधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः॥

तीनों जगत् को देखने के लिए नेत्र स्वरूप अरिहंत देव को तथा व्यंतरादि देवों को जो पूजाविधान में समान देखता है, वह बहुत दूर नीचे जाता है, यानि नरक का पात्र होता है। सम्यग्दृष्टि की दृढ़ आस्था अपने वीतरागी देव में होती है। उसका दृढ़ विश्वास है कि हमारे पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार ही शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है, किसी के देने-लेने से नहीं। यही कारण है कि वह कभी देवमूढ़ता नहीं करता, वह कुदेवों की उपासना से अपने मनोरथ पूर्ण नहीं करना चाहता।

इसलिए वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, चार घातिया कर्म से रहित, अनंतचतुष्टय व नव केवललब्धि से सहित देवता ही परमार्थभूत देवता हैं, मोक्षमार्ग के कारक हैं, सम्यक्त्व के कारक हैं उनकी उपासना करके हमें अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहिए।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

पाखण्ड मूढ़ता का स्वरूप

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्॥24॥

अन्वयार्थ-सग्रन्थारम्भहिंसानां – परिग्रह,आरंभ और हिंसा सहित **संसारावर्त्तवर्तिनाम्** – संसार के चक्र में रहने वाले **पाखण्डिनां** – पाखण्डी साधु-तपस्वियों का **पुरस्कारः** – जो भक्ति, आदर, सम्मान करना, सो **पाखण्डिमोहनम्** – पाखण्डी मूढ़ता **ज्ञेयं** – जानना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में देखते हैं गुरु मूढ़ता के संबंध में। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने मूर्खताओं से बचने के लिए यह निषेधपरक उपदेश दिया। पहले लोक मूढ़ता के संबंध में बताया कि मूर्खता से लौकिक कार्यों को धर्म नहीं मान लेना, फिर देवमूढ़ता के संबंध में बताया कि राग-द्वेष से मलिन वस्त्र-शस्त्र, स्त्री-पुत्र आदि से युक्त अथवा वृक्ष आदि को देवता नहीं मान लेना, ये परमार्थ के कारक नहीं हैं, इनके माध्यम से तो संसार की ही संवृद्धि होती है। अब यहाँ बता रहे हैं गुरु के संबंध में मूर्खता नहीं करना। गुरु वह होता है जो गुणों में श्रेष्ठ हो, भारी हो। गुरु शब्द में दो अक्षर हैं, विस्तार करने पर चार दृष्टिगोचर होते हैं। 'ग'+ उ + र + उ ये चार अक्षर हैं। 'ग' अक्षर का अर्थ है जो गरिमा युक्त हो, जो ज्ञान से युक्त हो, जो गंभीर हो, जो गहन हो। 'उ' अक्षर का अर्थ है जो उन्नतशील हो, ऊर्ध्वगामी हो, उत्कर्षगामी हो। 'र' अक्षर का अर्थ है रहस्य और 'उ' अक्षर का अर्थ है उद्घाटक। गुरु वह है जो श्रेष्ठ है, गरिमावान् है, गंभीर है, गतिशील है, उत्कर्षमार्गी है, रहस्यों का उद्घाटन करने वाला है।

आप पढ़ते हैं गुरु के संबंध में–

गुशब्दस्त्वंधकारे च, रुशब्दस्तन्निवर्तका।
अंधकार विनिस्तत्त्वात्, गुरुसंज्ञाविधीयते॥

'गु' अक्षर अंधकार का वाची 'रु' अक्षर विनाश का वाची। जो अंधकार का विनाशक है वह गुरु है। बाह्य अंधकार का विनाशक सूर्य है तो वह गुरु की तरह से है। अंतरंग का अंधकार जो आत्मा के प्रदेशों में विद्यमान है, ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अंधकार को विनष्ट करने में जो समर्थ है वह गुरु है। आप पढ़ते हैं–

अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः॥

जिन्होंने अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट किया है। आँखों में ज्ञान की शलाका उन्मीलित करके हमारे नेत्रों का उद्घाटन किया है वह गुरु हैं। वह गुरु, गुरुता से एवं गुण समूह से युक्त होना चाहिए। जो गुरुता से हीन है वह गुरु नहीं है। जैन दर्शन में पंचगुरु माने अरिहंत भी गुरु हैं, सिद्धपरमेष्ठी भी गुरु हैं, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी भी गुरु हैं। जैन दर्शन में गुरु का स्वरूप बताते हुए कहा-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

जो विषय-कषाय-वासनाओं से, पापों से, आरंभ-परिग्रह से रहित है, जो अपने चित्त को सम्यग्ज्ञान के विनिमय में लगाता है, तप में लगाता है, सम्यक् उत्तम ध्यानों में लगाता है वह गुरु है। इससे जो इतर है या रहित है वे परमार्थभूत गुरु नहीं होते। अथवा आज लोक में लोग अन्य-अन्य जनों को गुरु कहते हैं। हर क्षेत्र के गुरु अलग-अलग माने जाते हैं। संसार मार्ग के अनेक अलग गुरु हैं। एक वकील कहता है जिनसे हमने वकालत सीखी वे हमारे गुरु हैं। डॉक्टर कहता है जिनसे हमने डॉक्टरी सीखी वह हमारे गुरु हैं, इंजीनियर कहता है ये हमारे गुरु हैं इनके माध्यम से मैं अभियंता बना, कृषक कहता है ये हमारे गुरु हैं इन्होंने हमें खेती करना सिखाया, एक यांत्रिक-तांत्रिक कहता है ये मेरे गुरु हैं इन्होंने मुझे यह विद्या दी, एक धनुर्धारी कहता है इन्होंने मुझे धनुर्विद्या सिखायी, लौकिक विद्या प्राप्त करने वाला कहता है इनसे मैंने विद्या प्राप्त की। किसी से गणित, किसी से अँग्रेजी, संस्कृत, व्याकरण, सिद्धान्त, न्याय, आगम, आचार संहिता आदि जो-जो भी जिससे प्राप्त किया वे लोक में गुरु माने जाते हैं।

किन्तु आचार्य महोदय कह रहे हैं लोक में जिन्हें गुरु मान रहे हो उनसे यही मानकर चलना कि केवल लोक का फल मिलेगा, लौकिक वस्तुओं की संप्राप्ति हो जाएगी, परमार्थ की संप्राप्ति नहीं होगी। जिसके पास जो नहीं है वह तुम्हें कहाँ से देगा, जिसके पास जो है वही दे सकता है। गाय दूध दे सकती है उससे आप कहो- हे गौ माता! तुम मुझे हीरे-मोती दे दो तो गाय कहेगी मेरे पास हीरे मोती कहाँ हैं। समुद्र के पास जाकर कहो हे रत्नाकर! तुम रत्न देते हो आज मुझे भूसे की आवश्यकता है भूसा दे दो, वह कहाँ से देगा। हीरे की खदान के पास जाकर कहो तुमने मुझे हीरे तो बहुत दिए आज मुझे गेहूँ की आवश्यकता है, वह कहाँ से देगा। जिसके पास जो नहीं है वह उस वस्तु को दे नहीं सकता नीतिकार कहते हैं-

नहि शशक विषाणं कोऽपि कस्मै ददाति।

खरगोश के पास सींग नहीं होते, तुम जाकर के खरगोश की उपासना करो, आराधना करो, खूब चढ़ावा चढ़ाओ, उससे कहो हे खरगोश महाराज! अपना सींग मुझे दे देना। खरगोश कहेगा पागल तो नहीं हो गया। अन्य लौकिक गुरुओं की सच्चे गुरु मानकर, परमार्थ गुरु मानकर पूजा करें तो क्या वह सम्यग्दृष्टि होगा या मिथ्यादृष्टि होगा? आप स्वयं सोच सकते हैं। हमारे जैन दर्शन में आर्यिका माता जी को भी परमार्थ में गुरु नहीं माना। ऐलक-क्षुल्लक जी को या भट्टारक जी को भी निर्ग्रंथ गुरु नहीं माना। ठीक है ये सम्यक्त्व के संवर्धक हैं, अपना कल्याण कर रहे हैं, आपके लिए सहयोगी बन सकते हैं किन्तु इनके पास मोक्षमार्ग का आत्मोत्पन्न अनुभव नहीं है। मोक्षमार्ग का यथार्थ में प्रारंभ होता है सप्तम गुणस्थान से, अप्रमत्त दशा से और व्यवहार से प्रारंभ होता है आगम दृष्टि से कहें तो छटवें गुणस्थान से और उपचार से आरंभ होता है पंचम गुणस्थान से और चौथे गुणस्थान वाला तो मोक्षमार्गी नहीं है, कभी होगा।

महानुभाव! परमार्थभूत गुरु को ही गुरु मानें। आज कुछ एकान्तवादी वस्त्रधारियों को गुरु मानने लगे हैं। ये कोई पंथ श्याम सितारे की तरह से अपना दुष्प्रभाव दिखा रहा है। कुछ व्यक्ति रागद्वेष से मलीन मोह के आगोश में डूबे हुए, अज्ञान के अंधकार में भ्रमण करते हुए वस्त्रधारियों को सद्गुरुदेव कहकर पुकारने लगे हैं, यह निःसंदेह शर्मनाक बात है। आचार्य महोदय कह रहे हैं गुरु के संबंध में मूर्खता नहीं करना। यदि तुम्हें परमार्थ चाहिए तो निम्न को गुरु नहीं मानना।

पहली बात कही **'सग्रन्थ'** अर्थात् परिग्रह सहित जो सांसारिक धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह व क्रोधमानादि अंतरंग परिग्रह से संयुक्त हैं, वे सच्चे गुरु कैसे हो सकते हैं? परिग्रह संसार का बीज है, जिन जीवों ने इस बीज को अंतरंग में से निकालकर फेंक दिया है और उसके बदले मोक्षमार्ग के बीजभूत सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने संसार चक्र से मुक्त होने के लिए रत्नत्रय को प्राप्त कर लिया है वे निर्ग्रंथ गुरु ही सच्चे गुरु हैं। इसके विपरीत जो पाँचों ही इंद्रियों के विषयों तथा तदनुकूल सभी भोगसामग्री साधनों के प्रति अंतरंग में आसक्ति व मूर्च्छा भाव रखकर स्वयं को उनसे अलिप्त बताने का प्रयत्न करते हैं वे अवश्य ही पाखण्डी हैं। इन्हीं को यहाँ पर सग्रन्थ शब्द से बताया गया।

दूसरी बात **'आरंभ'** अर्थात् भोग अथवा उपभोग रूप विषयों के अर्थ तथा रक्षण के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसको ही आरंभ कहते हैं। और जो व्यक्ति गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यासाश्रम में स्वयं को उपस्थित करके गृहस्थों की भाँति आरंभ कर्म करता है उसे भी पाखण

डी ही कहा जा सकता है। ऐसे पाखण्डियों के नेतृत्व में कोई भी भव्यजीव आत्म कल्याण सिद्ध नहीं कर सकता। इसीलिए यहाँ कहा जो आरंभ-सारंभ से सहित हैं वे सच्चे गुरु कैसे हो सकते हैं।

तीसरी बात **'हिंसा'** प्रमाद के वशीभूत होकर किसी जीव के प्राणों का हरण करना या पीड़ा देना हिंसा कहलाती है। यहाँ हिंसा से समस्त सावद्यों को ग्रहण करना चाहिए। फिर भी मुख्यता से पाँचों इंद्रियों के विषय सेवन में जो हिंसा होती है, भक्ष्य-अभक्ष्य, हित-अहित के विवेक से शून्य सभी क्रियाएँ जिनमें प्राणी घात होता है ऐसी हिंसा युक्त क्रिया व परिणामों से युक्त जीव को सच्चा गुरु नहीं मानना चाहिए। अगली बात कही 'संसार' **''संसरणं संसारः''** जिसमें भ्रमण किया जाता है वह संसार है अर्थात् 84 लाख योनियों एवं एक कोड़ाकोडी 99 लाख 50 हजार कुलों में जीव भ्रमण करता है उसे संसार कहते हैं। यह तो बाह्यसंसार है, अंतरंग कारण रूप संसार तो प्रमुख रूप से मोहनीय कर्म है, जिसके उदय से जीव विषय-सेवन, आरंभ-परिग्रह में प्रवृत्ति करके उन्हीं कर्मों का पुनः संचय करता है और संसार चक्र में ही पड़ा रहता है। जो स्वयं संसार के चक्र में फँसे हुए हैं वे दूसरों को उस चक्र से कैसे निकाल पाएँगे इसलिए आचार्य महोदय ने ऐसे पाखण्डी गुरुओं से बचे रहने के लिए उपदेश दिया। पुनः कहा 'आवर्तवर्तिनाम्' आवर्त यानि भंवर, जिस तरह समुद्र, नदी आदि विशाल एवं गंभीर जलाशयों में भंवर पड़ते हैं, उसी तरह संसार में भी निगोदादि बड़े-बड़े भंवर हैं जहाँ एक बार जाने पर इस जीव का संसार चक्र से निकलना अत्यंत कठिन है इसीलिए कहा जो स्वयं संसार के आवर्त में पड़े हुए हैं वे दूसरों को भी उसी आवर्त में डालने वाले हैं ऐसे 'पाखण्डी' अर्थात् **''वा पान्ति रक्षन्ति पापात् संसारात् इति पा आगम वाक्यानि तानि खण्डयति इति पाखण्डीः''** जो संसार से रक्षा करने वाले आगम वाक्यों का खण्डन करते हैं तथा उनके विरुद्ध आचरण करते हैं वे पाखण्डी कहलाते हैं। उन पाखण्डियों का 'पुरस्कारः' सत्कार करना, प्रशंसा करना, स्तुति आदि द्वारा बढ़ावा देना, 'पाखण्डिमोहनं' पाखण्ड मूढ़ता कहलाती है।

महानुभाव! ऐसे आरंभ-परिग्रह-हिंसा से युक्त होने के कारण जो संसार में भटक रहे हैं वे नास्तिक हैं। जिनकी नीची क्रिया ऊँचा वेश, मिथ्या आचार, धर्म मार्ग के नाम पर स्वेच्छाचार, सावद्य प्रवृत्तियाँ आदि रूप जो सेवन है वह सब आगम की आज्ञा के विरुद्ध है और जो भोले प्राणी हैं वे उनसे ठगे जाते हैं। ऐसे पाखण्डी गुरु स्वयं तो पाप कर्मों से लिप्त होने के कारण संसार में डूबते ही हैं अपने अनुयायियों को भी डुबाते हैं। एक दृष्टांत के द्वारा बात और स्पष्ट हो जाएगी।

आसौज मास का महीना था, इस समय गाँव-देहात में ज्वार-बाजरे की खेती होती है, लंबे-लंबे पेड़ होते हैं। एक महात्मा सोच रहा था अब श्राद्ध पक्ष प्रारंभ हो गया, मैं कहीं निमंत्रण को प्राप्त करूँ और मेरा भोजन पानी अच्छे से चले। उसके पास कुछ चाँदी के सिक्के थे, वह खेत में घुस गया और अपने सिक्के गिनने लगा, उसने देखा मेरे पास 100 सिक्के हो गए। सौ अच्छे नहीं होते 101 का शगुन अच्छा होता है। उसने 100 चाँदी के सिक्के उस थैली में डाले और गाँठ लगाई, पुनः जटाओं को फैलाया और उस थैली को रखा व जूड़ा बाँध लिया। जब वह यह कृत्य कर रहा था तो चाँदी के सिक्कों की टनटन आवाज आ रही थी, तभी उस खेत की मेढ़ से एक ठाकुर चला जा रहा था। उसने आवाज सुनी तो रुक गया और दबे पाँव भीतर जाकर उसने देख लिया कि बाबा चाँदी के सिक्के गिनकर रख रहा है। वह जल्दी से साधु से पहले ही खेत के बाहर आया और साधु के आने पर आँखें झुकाकर, हाथ जोड़कर साधु के चरणों में लेट गया। बोला महात्मा जी मेरी पत्नी ने व्रत किया है वह आज आपको भोजन कराकर ही अपना व्रत खोलेगी और दक्षिणा भी दी जाएगी मेरा निमंत्रण स्वीकार करो।

साधु ने कहा–अरे! नहीं नहीं मैं कहीं नहीं जाता, ऐसे दो चार बार मना करने लगा, और ज्यादा हो तो भले ही यहाँ पर ले आना, वह बोला नहीं-नहीं महात्मा जी! आपको घर तक तो चलना ही पड़ेगा, एक चाँदी का सिक्का भी आपको विदाई में दूँगा। महात्माजी मन में सोचने लगे चलो अच्छा है, मैं सोच ही रहा था कब 100 के 101 हों, आज वह शुभ दिन आ गया। ठीक है भगत तू नहीं मानता है तो चलते हैं। महात्मा जी उसके घर पहुँचे। भगत ने अपनी पत्नी से कहा–देख ठकुराइन! ये महात्मा जी बहुत तपस्वी हैं, बहुत मुश्किल से आए हैं, इनके लिए भोजन पानी बना। उसने भोजन पानी बनाया और महात्मा ने खूब खाया। वह भगत बड़ी जोर से अपनी पत्नी से बोला–अरे! महात्मा जी को चाँदी का सिक्का भी देना है विदाई में; पत्नी बोली मैं अभी लाती हूँ, वह फिर बोला–अरे! वहाँ मटकी में थैली रखी है, उसमे 100 चाँदी के सिक्के रखे हैं उसमें से एक सिक्का निकाल लाओ। पत्नी अंदर गई खटर-पटर करने लगी, वापस आई और कहने लगी इसमें तो थैली है ही नहीं, अरे? थैली कहाँ चली गई, उसने ठकुराइन पर चिल्लाना शुरू कर दिया और आस-पास के लोग इकट्ठा हो गए। लोग पूछने लगे क्या हुआ? वह बोला–कल शाम मैं अपना माल बेचकर के आया और 100 चाँदी के सिक्के लाया था, मैने पूरा घर छान मारा पता नहीं कहा गायब हो गए, ठकुराइन भी कहने लगी मैंने सुबह अपने हाथों से रखे हैं, और कोई आया भी नहीं है। एक शरारती लड़का आया और कहने लगा ऐसा तो नहीं है कि इन महात्मा के पास हों।

ठाकुर बोला-अरे! नहीं-नहीं, ऐसा नहीं कहना, साधु से ऐसा कहने पर पाप लगेगा। लड़का बोला—अरे! पाप-पुण्य बाद में देख लेंगे, पहले ये देख लो कि साधु के पास तो नहीं है। साधु कहने लगा-नहीं-नहीं मेरे पास नहीं है, ठाकुर ने धीरे से उस बच्चे के सिर पर हाथ रखकर इशारा किया। वह बच्चा तुरंत कहने लगा कहीं ऐसा तो नहीं इनके जूड़े में हों। जूड़ा खोला गया तो देखा उसमें चाँदी के 100 सिक्कों वाली थैली रखी थी। सब कहने लगे—तुम तो कह रहे थे मेरे पास नहीं है, मैं क्या करूँगा पैसे का, पैसे से मेरा वास्ता नहीं। ठकुराइन भी बोली- अरे हाँ-हाँ ये ही तो थैली थी। साधु कुछ कह नहीं पाया। ठाकुर ने सिक्के गिनने शुरू किए, वह तो कह ही रहा था 100 सिक्के थे, सभी लोग आश्चर्य से देख रहे थे, और महात्मा कुछ कह ही नहीं पा रहा था। ठकुराइन को 100 सिक्कों की थैली दे दी, ठकुराइन ने मुद्राओं से एक सिक्का महात्मा को दे दिया, भीड़ चली गई। अब दोनों ठाकुर-ठकुराइन ने हाथ जोड़े, बोले महात्मा जी अब कब आओगे? महात्मा जी बोले—बेटा! जब दुबारा 100 हो जाएँगे तब फिर आ जाएँगे।

कहने का आशय है यदि इस प्रकार के साधु हैं तो वे न अपना कल्याण कर सकते हैं न दूसरों का। किसी ने कहा साधु चार प्रकार के होते हैं—एक पेट के, एक चपेट के, एक लपेट के, एक थेट के। अरे! ऐसे लक्षण तो साधु के हमने पहले कभी सुने नहीं। पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रंथ-स्नातक ये नाम तो सुने और जिनकल्पी, स्थविरकल्पी सुने हैं। किंतु ये तो कभी नहीं सुने। तो बताया—पेट के साधु वे होते हैं जो सोचते हैं घर में कुछ नहीं बचा, चलो साधु बन जाओ।

नार मरी घर संपत्ति नाशी।
मूढ़ मुढ़ाये भये संन्यासी॥

तो ऐसे पेट के साधु जो खाने के लिए साधु बन गए, घर में कौन ढोकें। दूसरे लपेट के साधु होते हैं जो कहते हैं मेरा मित्र साधु बन गया है तो मैं भी साधु बन जाता हूँ, पुष्पडाल की तरह से, भवदेव-भावदेव की तरह से लपेट में आके साधु बन गया। तीसरे चपेट के साधु—जो साधु बनना तो नहीं चाहते थे पर व्यापार में ऐसा घाटा लगा कि सब कुछ बेच के भी पूर्ति नहीं हुई, तुम जानो- तुम्हारा काम जाने, मैं चला। चपेट लगी और साधु बन गए। ये तीनों साधु नकली साधु हैं। एक होते हैं थेट के साधु जिन्हें परमात्मा से अपनी लगन लगाना है, आत्मा को परमात्मा बनाना है। इस प्रकार का साधु ही यथार्थ साधु हो सकता है।

आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी यही कह रहे हैं कि गुरु के संबंध में मूर्खता नहीं करना। जिसने स्वयं कभी एक तालाब को भी पार नहीं किया वो तुझसे कहे कि मैं तुझे नदी

और सागर पार करा दूँ तो उसकी बातों में नहीं आ जाना। जो तैराक है वही उसे तैरना सिखा सकता है। ऐसे ही मोक्षमार्ग में चलना चाहते हो तो मोक्षमार्गी को ही अपना गुरु बनाना। यदि और किसी को बना लेगा तो काम नहीं चलेगा। जिस राह पर चलना है उसे ही गुरु बनाना अन्यथा को गुरु बनाओगे तो उस मार्ग को, अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकोगे।

आचार्य महाराज का यही संकेत है कि परमार्थ की सिद्धि के लिए परमार्थभूत साधु को ही अपना गुरु बनाना, संसारी को गुरु बनाकर परमार्थ की सिद्धि नहीं होगी। यहाँ गुरु मूढ़ता के संबंध में बताकर सम्यक्त्व को निर्मल व शुद्ध बनाने की बात कह रहे हैं। गुरु मूढ़ता से डरें और परमार्थभूत लक्ष्य के लिए परमार्थभूत गुरु को ही अपने जीवन का आदर्श बनाएँ।

सम्यग्दर्शन के तीन विषय बताए देव, शास्त्र और गुरु। तीनों का सम्बन्ध रत्नत्रय से है फिर भी देव का सम्यग्दर्शन से, शास्त्र का सम्यग्ज्ञान से और गुरु का सम्यक्चारित्र से मुख्य संबंध है। सम्यग्दर्शन का प्रत्यनी यानि विपरीत भाव मिथ्यादर्शन है। उसके भी विषय तीन हैं—कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु। इनमें भी मुख्यतया कुदेव-देवमूढ़ता से मिथ्यात्व का, कुशास्त्र-लोकमूढ़ता से मिथ्याज्ञान का और कुगुरु-पाखण्डीमूढ़ता से मिथ्याचारित्र का संबंध है। तीनों ही भाव परस्पर अविनाभावी हैं फिर चाहे भले ही उसमें गौण मुख्यता या तरतमता पाई जाती हो। यही कारण है आचार्यों ने तीनों ही मूढ़ताओं के परित्याग की बात कही कि तीनों मूढ़ताओं का त्याग कराकर सम्यग्दर्शन को अथवा उसके साथ पाए जाने वाले यथायोग्य रत्नत्रय को अप्रशस्त न होने देने का उपदेश दिया है।

महानुभाव! जो व्यक्ति अपने विवेक का प्रयोग न करता हुआ चाहे जिस किसी को पूजे, चाहे जिस किसी को धर्म मानकर उपासना करने लगे, चाहे जिस किसी को गुरु मानकर शरण प्राप्त करना चाहे तो ऐसा व्यक्ति मूढ़ होता है। किन्तु मूढ़ताओं का त्याग करने पर ही जीवन में समीचीनता आविर्भूत होती है। समीचीनता अर्थात् जब सम्यग् दृष्टि आती है तब व्यक्ति की प्रवृत्ति, वचनालाप, चिंतन की धारा स्वतः ही बदल जाती है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

मद का लक्षण व आठ मदों के नाम

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥25॥

अन्वयार्थ-ज्ञानं – ज्ञान, विद्या-कला **पूजां** – आदर-सत्कार-प्रतिष्ठा **कुलं** – कुल **जातिं** – जाति **बलं** – शक्ति **ऋद्धिं** – धन-सम्पत्ति **तपः** – तपश्चरण **वपुः** – शरीर **अष्टौआश्रित्य** – इन आठ पदार्थों का आश्रय करके **मानित्वं** – जो गर्व करना है, उसको **गतस्मयाः** – मद रहित गणधरादिक आचार्य **स्मयं** – मद **आहुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार नामक श्रावकों की आचार संहिता में आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी श्लोक 25 के माध्यम से यह बता रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव अहंकार नहीं करता। अहंकार आत्मा का अंधकार है। जिसके जीवन में अहंकार आ गया वह व्यक्ति बाहर की आँखों से युक्त होने पर भी अंधे के समान है। क्योंकि यह अंधकार, मान, घमण्ड, गर्व अच्छे-अच्छे लोगों का नहीं रहा, चूर-चूर हो गया। जिस वस्तु का, जिस उपलब्धि का अहंकार वह कर रहा है वह उपलब्धि या वस्तु शाश्वत नहीं है, नष्ट हो जाएगी। पुद्गल की जितनी भी उपलब्धि हैं वे आकाश में छाए हुए मेघ की तरह से हैं, हवा का एक झोंका आया, मेघ तितर-बितर हो गए, कहाँ से कहाँ नष्ट हो गए, ऐसे ही संसार में जो कोई भी वस्तु आपको दिखाई देती है वह तब तक ही आपके पास है जब तक आपके पुण्य का उदय है, यदि पुण्योदय दीर्घकाल तक है तो वस्तु दीर्घकाल तक रहेगी, चाहे वह वस्तु नष्ट भी हो जाए तो दूसरी वस्तु प्राप्त हो जाएगी किन्तु पुण्य क्षीण हो जाए तो वस्तु आपके पास रहते हुए भी आप उसका भोग-उपभोग नहीं कर पाएँगे। वस्तु नष्ट हो जाएगी या आपका उससे वियोग हो जाएगा। अहंकार के संबंध में आचार्य महोदय 8 प्रकार के मद बताते हैं–

आचार्य महोदय की दृष्टि में मद के ये 8 नाम पर्याप्त हैं। नौवाँ नाम लेने की आवश्यकता नहीं और सात नाम लेते तो कुछ विषय छूट जाता। आठ में प्रायःकर सम्पूर्ण बातें आ गईं। व्यक्ति कभी पद को पाकर मद करता है तो कभी कद लम्बा होने पर मद करता है। व्यक्ति जब मद से सहित होता है तो निरापद नहीं रह पाता। संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत हैं जिन्हें ज्ञान है और इतना ही नहीं अपने ज्ञान का मान भी है, क्योंकि उन्होंने शब्द ज्ञान को ही ज्ञान मानकर के रखा है। ज्ञान का मान करना कल्याण का कारण नहीं है किंतु मान का ज्ञान होना

कल्याण का कारण है। जब तक अपने मान का ज्ञान नहीं होगा तब तक मान को छोड़ा नहीं जा सकता और जब तक ज्ञान का मान रहेगा तब तक कल्याण नहीं हो सकता। आठ मदों में सबसे पहला मद ज्ञान कहा, फिर पूजा का, कुल का, जाति का, बल का, ऋद्धि का, तपस्या का व अंत में शरीर का मद कहा।

महानुभाव! ये आठ उपलब्धियाँ हैं जिनको पाकर के व्यक्ति मद से युक्त होता है। जो इस प्रकार के मद से रहित हैं ऐसे सर्वज्ञ भगवान् ने ये आठ प्रकार के मद कहे हैं। प्रथम है **'ज्ञान का मद'**-ज्ञान का मद कहाँ से प्रारंभ होता है। यदि छोटा बालक जो LKG-UKG में पढ़ता है ABCD याद कर लेता है, हिंदी की वर्णमाला याद कर लेता है, गणित की 1-100 तक गिनती याद हो गई तो उसे अहंकार आने लगता है अथवा किसी को कोई डिग्री प्राप्त हो जाए तो उसे अपनी इस उपलब्धि का बड़ा घमण्ड होने लगता है। अहंकार से युक्त व्यक्ति वस्तु का समीचीन स्वरूप नहीं जान पाता।

यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं वह व्यक्ति मान पर्याय का करता है यदि दृष्टि द्रव्य की ओर चली जाए तो व्यक्ति में मान कषाय न आए। द्रव्यदृष्टि में मद नहीं, वह जानता है आत्मा का यह स्वभाव है, ऐसी परिणति है। वह जानता है जो मेरी आत्मा के गुण हैं वे शाश्वत है, नष्ट नहीं हो सकते और जो आत्मा के गुण नहीं हैं उन्हें कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अचेतन के गुण चेतना में नहीं आते व चेतना के गुण अचेतन में नहीं आ सकते। आकाश में दिखने वाला इंद्रधनुष शाश्वत नहीं है, अभी पानी आकाश में ठहरा हुआ है, मेघ आकाश में ठहरे हुए हैं ऊपर से सूर्य की किरणें आती हैं तो पुनः उसकी परछाई पड़ती है, इन्द्रधनुष बन जाता है। सूर्य अस्त हो जाए तो इंद्रधनुष दिखाई नहीं देगा। आकाश में विद्यमान बादल विलय को प्राप्त हो जाए तो इन्द्रधनुष दिखाई नहीं देगा ऐसे ही जब तक प्राणी के जीवन में पुण्य का उदय चल रहा है तो पुण्य रूप वस्तुएँ दिखाई दे रही हैं, जब पुण्य नष्ट हो जाएगा तो वह उपलब्धि भी नष्ट हो जाएगी।

ज्ञान शब्द सुनते ही व्यक्ति ये सोचता है कि मैंने जो शब्द ज्ञान इकट्ठा कर लिया है वह ज्ञान है, मैंने दो-चार-छह पुस्तकें कण्ठस्थ कर लीं, मैंने इतने शास्त्र रट लिए अथवा मैंने इतनी डिग्रीयाँ प्राप्त कर ली अथवा मेरी वक्तृत्व कला बहुत अच्छी है, इसे वह ज्ञान मानता है। ये शब्द तो पुद्गल हैं, पुद्गल आत्मा का गुण नहीं हो सकता इसलिए जो व्यक्ति शब्दों को ज्ञान मानते हैं वे बहुत बड़ी भूल कर रहे हैं, अपनी आत्मा को ठग रहे हैं। शब्दों का आडम्बर लगाने से अहंकार आता है जैसे कोई व्यक्ति अपना बहुत बड़ा मकान या कोठी बनवाकर

अहंकार संयुक्त होता है किंतु यह कोठी उसके साथ नहीं जाएगी ऐसे ही शब्द आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। ये शब्दज्ञान अरिहंतों व सिद्धों के पास नहीं है, केवलज्ञान है और केवलज्ञान शब्दज्ञान नहीं है।

शब्दज्ञान तो श्रुतज्ञान का भेद है इसलिए शब्दज्ञान पर अहंकार करना मूर्खता है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। आज तुम्हारे क्षयोपशम के कारण मस्तिष्क में इनका शब्द भण्डार है, कब क्षयोपशम घट जाए तो वह शब्दों का भण्डार भी घट जाएगा। जैसे युवावस्था में किसी ने 100 शास्त्र कण्ठस्थ किए, हो सकता है वृद्ध अवस्था आते-आते उसे एक शास्त्र भी कण्ठस्थ न रहे। कई बार ज्यादा पढ़ने वाले विद्यार्थियों को देखा-सुना कि वे बहुत पढ़ाई करते हैं और बाद में पढ़ते-पढ़ते पागल हो गए, ब्रेन हेमरेज हो गया या ब्रेन नर्वस् ब्रस्ट हो गई उसकी जिंदगी ही खराब हो गई। जिनको 4-5 भाषाओं पर कमाण्ड थी, आज स्थिति ऐसी हो गई कि स्वयं का नाम भी याद नहीं, सब भूल गए, पागल सी चेष्टाएँ कर रहे हैं।

महानुभाव! अहंकार किसका करना, ये अहंकार के योग्य नहीं है और जो अहंकार के योग्य है उस पर भी अहंकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आपकी आत्मा रूपी द्रव्य का जो स्वभाव है वही स्वभाव सबकी आत्मा का है, तो आपके पास कोई विशेष उपलब्धि नहीं है। जो उपलब्धि आप अपनी आत्मा की करना चाहते हो वैसी उपलब्धि अनंतानंत सिद्धों ने कर ली है फिर अहंकार कैसा करना। अहंकार तो तब किया जाता है जब कोई विशेष उपलब्धि हो, जो उसके समीपवर्ती जीवों के पास न हो तो अहंकार करता है। चेतना की उपलब्धि तो अनंत जीवों के पास है, उनके सामने अहंकार कैसे किया जाएगा। और अचेतन की उपलब्धि आपके पास है तो वह शाश्वत ठहरने वाली नहीं है वर्तमान में ये बहुत मुश्किल है कि व्यक्ति शब्दों का भण्डार भरता चला जाए-भरता चला जाए और उसमें अहंकार नहीं आए। जिसे शब्दज्ञान के साथ अहंकार नहीं आता है तो समझ लेना वह शब्दज्ञान भावश्रुतज्ञान बन रहा है, वह चेतना की निधि हो सकती है और जिसके साथ अहंकार आ रहा है वह अहंकार उस जीव के लिए अभिशाप रूप है, कभी वरदान स्वरूप नहीं हो सकता।

इंद्रभूति गौतम गणधर के बारे में आपने सुना होगा। पूर्व में वह मिथ्याधर्म का पोषण करने वाले बहुत बड़े विद्वान् थे। अनेक भाषा जानते थे, अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रतिपादित करते थे; किन्तु सौधर्मइन्द्र द्विज का रूप बनाकर इन्द्रभूति के पास पहुँचा और एक जिज्ञासा प्रकट की, उस जिज्ञासा को सुनकर इन्द्रभूति का मान गलने लगा, अपने शिष्यों के बीच में, अपने भाईयों के बीच में कैसे कहे कि इसका अर्थ मुझे नहीं आता और अहंकार में आकर

कहा–जिसने तुझे पढ़ाया है मैं उसी को जाकर समझाऊँगा। चल कौन है तेरा गुरु? यह थी अहंकार की भाषा किन्तु जैसे ही भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में इन्द्रभूति पहुँचा तो मानस्तंभ को देखकर मान गल गया। मान गल गया तो समझो उसे वास्तव में सद्ज्ञान मिल गया। जब तक मान नहीं गलता है तब तक सद्ज्ञान नहीं मिलता है। शब्दज्ञान का मान चला गया, भावश्रुत ज्ञान उसे मिल गया मानो आत्मा की निधि मिल गई।

दूसरा मद है **''पूजा का मद''** पूजा मद का आशय है कि मेरी संसार में इतनी प्रशंसा है, प्रतिष्ठा है, लोग मेरी पूजा करते हैं, इसका मद करना। जब व्यक्ति के चरणों में कोई माथा झुकाये तो व्यक्ति अपने आपको भगवान् मानने लगता है, ऐसा सोचता है मैं भगवान् बन गया। किसी के माथे को अपने चरणों में झुकाना ये बहुत बड़ी बात नहीं है किन्तु उसका हृदय आपके प्रति यावज्जीवन समर्पित रहे यह बहुत बड़ी बात है। सिर तो व्यक्ति वहाँ भी झुका लेता है जहाँ उसे 100–150 रुपये मिल रहे हों या फ्री की कोई वस्तु मिल रही हो; किन्तु ये सिर झुकाया किसी लोभ से, जब अंतरंग में श्रद्धा होती है तो सिर झुकाया नहीं, झुक गया। पूज्यता प्राप्त करना इस कलियुग में कोई बड़ी बात नहीं है, बड़ा सरल है। फिर कठिन क्या है? कठिन है उस पूज्यता को दीर्घकाल तक बरकरार बनाए रखना। कलिकाल में तो कहीं भी व्यक्ति आडम्बर करके बैठ जाए, चमत्कार सा दिखाने लगे, जादूमंत्र करने लगे तो भीड़ लग जाएगी, लोग उसे पूजने लगेंगे, लोग उसकी मूर्ति–मंदिर बनवाने लगेंगे किन्तु जिसकी पूजा की जा रही है वह अपने आप में संभल जाए, उसको पचा ले।

कलिकाल में दो चीजें बड़ी कठिन हैं कमाकर के बचाना और पूज्यता प्राप्त करके पचाना। चाहे व्यक्ति महीने में 10,000 रु. कमाता हो या 20 हजार या 50 हजार, लाख–दो लाख या इससे भी अधिक कमाता हो; पर महीने के अंत में यही कहता है आते–आते सब खत्म हो गया। कितना कमाया यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, पर महीने के अंत में कितना बचाया यह महत्वपूर्ण है। उससे भी ज्यादा ये महत्वपूर्ण है कि जो आपने बचाया उसका क्या सदुपयोग किया। तो आज पंचमकाल में कमाकर के बचाना कठिन है, पूज्यता–प्रशंसा प्राप्त करके पचाना कठिन है। व्यक्ति भोजन को नहीं पचा पाता है तो तन रोगी हो जाता है और पूज्यता को नहीं पचा पाता है तो मन और चेतन रोगी हो जाता है इसलिए मद कभी न करें। ये मद सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं; जैसे निर्मल जल में कोई व्यक्ति गंदी वस्तु डाल दे तो जल बदबू से युक्त हो जाता है, अशुद्ध हो जाता है, ऐसे ही सम्यक्त्व में किसी को अहंकार आ जाए,

सम्यग्दृष्टि में किसी भी प्रकार का अहंकार आ जाए जो सम्यग्दर्शन दूषित होने लगता है। इसलिए अहंकार न करें, सम्यक्त्व को दूषित न करें।

अगला मद कहा **'कुल का मद'** मद किस तरह जीवन को दूषित करता है? मद कैसे व्यक्ति की उन्नति में बाधक बनता है? किस तरह वह मद व्यक्ति को ऊँचे शिखर से नीचे गिराता है? यह मद उसी तरह से है जैसे कमजोर पाए की नसैनी पर चढ़ना। जो व्यक्ति अहंकार से युक्त होते हैं वे जीवन में कब धराशाही हो जाएँ कोई भरोसा नहीं। क्योंकि उन्होंने जो उपलब्ध किया है वह उपलब्धि शाश्वत नहीं है, वह नश्वर है। दीपक की ज्योति आपको जलती दिखाई दे रही है, हवा के झोंके से कभी भी बुझ सकती है, वैसे ही मानव जीवन की पौद्गलिक भौतिक उपलब्धि भी कभी भी नष्ट हो सकती है। दीपक की ज्योति को देखकर कोई ये गारण्टी नहीं ले सकता कि ये कब तक जलेगी, कुछ नहीं कह सकते। पहाड़ की चोटी पर दीपक जल रहा है यही आश्चर्य की बात है, हवा के झोंके से कभी भी बुझ सकता है। बुझना निश्चित है चाहे हवा के झोंके से बुझे या घी-तेल के खत्म हो जाने से या बत्ती खत्म हो जाए, बुझना तो है। अहंकारी का पतन निश्चित है उसे तो कोई रोक नहीं सकता।

महानुभाव! यह जीवन ओस की बिन्दु की तरह से है या पर्वत से गिरती हुई तीव्रवेग वाली नदी की तरह से है जो दिखने में तो आता है पर पकड़ में नहीं आता। जाति और कुल का मद व्यक्ति किस प्रकार से करता है? जिस प्रकार पद का मद, ज्ञान का मद, पूजा-प्रतिष्ठा-यश-कीर्ति का मद करता है या सातावेदनीय का उदय है तो सातगारव-ऋद्धिगारव-बलगारव का मद करता है, ऐसे ही व्यक्ति अपने कुल का मद करता है। कुल कहते हैं पितृवंश को। जिसके पूर्वज श्रेष्ठ रहे, युगपुरुष रहे, महापुरुष रहे, पुण्यपुरुष रहे, बाद में धर्मात्मा, महात्मा, पुण्यात्मा व परमात्मा बने ऐसे कुल में जन्म लिया। अच्छा कुल वह होता है जो लोकमान्य हो, राज्य में प्रशंसनीय हो, व्यक्ति उस कुल का नाम सुनते ही उस कुल के प्रति भी सम्मान व निष्ठा का भाव रखे। वह श्रेष्ठ कुल उच्च कुल या आगम की भाषा में कहें तो उच्चगोत्र होता है। इसके विपरीत होता है नीचकुल या नीचगोत्र। जो लोक निंद्य कुल होते हैं वे नीच कुल कहलाते हैं। कुल कहो या गोत्र स्थायी नहीं है। जिस कुल में जन्म लेकर वह शरीर ही स्थायी नहीं है तो कुल कैसे स्थायी हो सकता है। उच्च गोत्र प्राप्त करने के लिए आचार्य भगवन् उमास्वामी जी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा कि उच्चगोत्र तब प्राप्त होता है जब पूज्य पुरुषों की प्रशंसा की जाए, उनकी पूजा की जाए, तपस्वियों को प्रणाम किया जाए, स्वयं की निंदा और पर की प्रशंसा की जाए तब उच्च कुल की प्राप्ति होती है।

जो व्यक्ति संसार में जितनी अच्छाईयाँ हैं उनकी प्रशंसा करता है, किसी व्यक्ति की एक अच्छाई देखकर भी प्रशंसा करता है, अच्छे व्यक्तियों की यशकीर्ति गाता है, सदाचारियों का सम्मान करता है, श्रेष्ठ-गुणवान् पुरुषों को प्रणाम करता है, परमात्मा को, महात्माओं को वंदन करता है वह पुरुष अगले भव में उच्चगोत्र को प्राप्त करता है और उस भव में भी पूजा-प्रतिष्ठा-सम्मान को प्राप्त करता है। नीच कुल में पैदा हुआ मातंग-चाण्डाल भी यदि व्रती बन जाता है, धार्मिक बन जाता है तो वह भी लोक में प्रशंसा-पूजा-जयकार को प्राप्त करता है। यहाँ तक कि एक तिर्यंच भी व्रती बन जाता है तो वह भी उच्च गोत्री कहलाने लगता है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति ने निंद्य कुल में जन्म लिया, निंद्यकार्य कर रहा है उसका निंद्यकुल है। अच्छे कुल में पैदा होकर भी जो धर्मात्मा का अपमान करे, अविनय करे, अवहेलना करे, निंदा करे या उपसर्ग आदि करे तो निःसंदेह वह प्राणी नीचगोत्र या नीचकुल को प्राप्त होता है। अच्छे कुल में पैदा होकर भी नीच कार्य करने से, रथ्यापुरुष-विट्पुरुषों जैसे काम करने से, दुर्व्यसनों में संलिप्त रहने से, पापों में आसक्त होने से, विषयों में आकण्ठ डूब जाने से उच्चकुल के व्यक्ति भी लोक निंदा को प्राप्त होते हैं इसलिए कुल का अहंकार करना कदापि उचित नहीं है।

अच्छे-अच्छे कुल वाले व्यक्ति भी सप्तव्यसनों में पड़कर के नरक में जा समाए। अच्छे-अच्छे कुल वाले व्यक्ति भी कुल की रक्षा करते रहे किन्तु कालांतर में उन्हीं के कुल में ऐसा व्यक्ति पैदा हो गया जिसने कुल को कलंकित कर दिया। तो कुल का अहंकार क्यों करना। आज तुम्हारे पास उच्च कुल है, मृत्यु के उपरांत तुम्हारा शरीर किस कुल में पैदा हो, कह नहीं सकते जो आज राजा है वह कल विष्टा का कीड़ा भी बन सकता है। जो आज मनुष्य है, लोकमान्य कुल में पैदा हुआ है वह कल गंदी नाली का कीड़ा भी हो सकता है, सड़े-गले पदार्थों में पैदा होने वाला कीड़ा हो सकता है या वह अन्य किसी शूकर-श्वान-बिलाव-मार्जार-सर्प आदि की योनि में जा सकता है। वह किस कुल में चला जाए कह नहीं सकते। अभी जो कुल प्राप्त किया है वह शाश्वत नहीं है। इस एक भव की आयु की भी गारण्टी नहीं है कितने समय तक वह कुल स्वच्छ चलता ही रहेगा, वह भी दूषित हो सकता है, कलंकित हो सकता है इसलिए कुल के संबंध में कभी व्यक्ति को बढ़-चढ़कर के नहीं बोलना चाहिए और न दूसरों का तिरस्कार-अपमान करना चाहिए। जैन दर्शन कभी भी किसी का भी अपमान करना नहीं सिखाता, जैन दर्शन तो वस्तु तत्त्व का ज्ञान कराता है और जिसे वस्तु तत्त्व का भान हो गया, तत्त्वज्ञान हो गया वह अहंकार कैसे कर सकता है, कभी

नहीं कर सकता। जब सूर्यचन्द्र जैसे ज्योतिष विमान भी राहु के द्वारा ग्रसित होते हैं, आकाश में बादल छा जाएँ तो इनका प्रभाव भी नष्ट हो जाता है तब कुल का प्रभाव किसका रहा। यदि द्विज कुल में पैदा होकर के ऐसे कार्य करे जिससे नरक की प्राप्ति हो तो उसका कुल किस प्रकार प्रशंसनीय हो सकता है। कुल का मान करना मिथ्यादृष्टि का कार्य हो सकता है। सम्यग्दृष्टि पर्याय का मान नहीं करता, पर्याय का ज्ञान करता है और द्रव्य का ज्ञान करता है, द्रव्य को शुद्ध करने का पुरुषार्थ करता है। महानुभाव! जो 199 1/2 लाख कोटि कुल हैं उनमें अनंतानंत जीव पैदा हो रहे हैं। वे उनमें जन्म लेकर के कब मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ कोई नहीं जानता, सर्वज्ञ ही जानते हैं, हम और आप छद्मस्थ नहीं जान सकते।

अगला मद कहा **'जाति का मद'**। मातृपक्ष को जाति कहा जाता है। कोई व्यक्ति कहे कि मेरे मामा तो बड़े पैसे वाले हैं, बहुत उच्चपद पर हैं, उनका प्रभाव ऐसा है, इस प्रकार अहंकार की बात करने से अपना ही पुण्यक्षीण होता है। और आगे पाप के उदय से नीच अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

राजा अपरिचर एक योग्य शासक था किन्तु विषयों में आसक्त था। वह राज्य का संचालन करता था किन्तु उसके संचालन में क्रूरता ज्यादा नम्रता कम थी। वह चाहता तो था कि प्रजा बहुत खुश रहे, मैं भी संतुष्ट रहूँ किन्तु इसके लिए वह विनम्र नहीं होना चाहता था, उसे अपने कुल-जाति का बहुत घमण्ड था और अपने अधीनस्थ सामान्य व्यक्तियों को निम्नदृष्टि से देखता था, बहुत जघन्य तुच्छ दृष्टि से उनके साथ व्यवहार करता था। राज्य संचालन करते-करते कब उसके शरीर में रोग लग गया और उसकी मृत्यु समीप आ गई उसे पता ही नहीं चला। उसने मुनि महाराज से पूछा-मेरा मरण समीप है आप अपने अवधिज्ञान से मुझे यह बताईए कि मृत्यु पश्चात् मेरी आत्मा कहाँ जाएगी? महाराज ने अवधिज्ञान से बताया कि तू तो अपने ही विष्टागृह में कीड़ा होगा। अपरिचर राजा को सुनकर बड़ा दु:ख हुआ; किन्तु अब क्या कर सकता है। मुनिराज ने अवधिज्ञान से जो जाना वही सच होगा। घर आकर बहुत उदास हुआ और अपने पुत्र को पास बुलाकर कहा कि मुझे मुनिराज ने बताया है कि 7 दिन बाद मेरी मृत्यु होगी और मृत्यु को प्राप्त करके मैं अपने ही विष्टागृह में कीड़ा होऊँगा। बेटा! मेरा रंगरूप अमुक प्रकार का होगा, तुम मुझे मार देना जिससे मुझे अगली आयु प्राप्त हो जाए, दूसरा शरीर प्राप्त हो जाए, मैं उसमें रहना नहीं चाहता। पिता जी! मैं आपको कैसे मार सकता हूँ। बेटा! मैंने तेरे ऊपर इतना उपकार किया है उसका यदि तू बदला चुकाना चाहता है तो मुझे विष्टा का कीड़ा होने पर मार देना।

पिता की मृत्यु हुई, मुनिराज के कथनानुसार निःसंदेह वह जीव विष्टा का कीड़ा बन गया और उसी रंग-रूप का कीड़ा बना। जब विष्टा में से वह कीड़ा निकला, उसने देखा मुझे कोई व्यक्ति मारने को तैयार है वह तुरंत ही विष्टा में घुस गया। पुत्र ने मुनिमहाराज के पास जाकर पूछा- आपने बताया था कि अपरिचर राजा, मेरे पिता जी विष्टा में कीड़ा होंगे, उन्होंने मुझसे कहा था तुम मुझे मार देना, मैं वहाँ रहना नहीं चाहता, मैं इतने उच्च कुल-जाति वाला राजा, क्या विष्टा में रहूँगा। अब जब मैं उसे मारने जाता हूँ तो वह कीड़ा विष्टा में घुस जाता है, इसका क्या कारण है? मुनिमहाराज ने कहा-पहले वे भले ही उच्चकुल व उच्चजाति वाले थे, विष्टा का कीड़ा होने पर अब उनकी मनः स्थिति ऐसी बन गई है कि उन्हें वही अच्छा लगने लगा। क्योंकि उन्होंने लोगों का अपमान व तिरस्कार किया जिससे उन्हें नीच जाति, नीचगोत्र की प्राप्ति हुई, गंदे स्थान पर पैदा होना पड़ा। जो व्यक्ति गंदी-गंदी गालियाँ देते हैं वे निःसंदेह गंदे-गंदे स्थान पर पैदा होते हैं। जो व्यक्ति गंदी चेष्टाएं करते हैं वे भी गंदे स्थानों पर पैदा होते हैं।

महानुभाव! इसीलिए विवेकी व्यक्ति को चाहिए कि वह कभी भी कुल और जाति का अहंकार न करे, वह सदैव सहज-सरल बनकर रहे और जो नीच कुल में पैदा हुए हैं उनके प्रति भी मैत्री का भाव रखे, सेवा का भाव रखे और यह भावना भाए कि ये भी अच्छे कार्य करके उच्च कुल-गोत्र आदि को प्राप्त हों। ये कुल-जाति का मद भी सम्यक्त्व को दूषित करने वाला है, इनसे भी बचें।

अगला मद कहा **'बल का मद' 'शक्तिः परेषां परपीडनाय'** की उक्ति वाले लोग अपने नश्वर शरीर के बल का गर्व करते हैं। अरे! जिस आत्मिक बल से कर्मरूप शत्रुओं को जीता जाता है, कषायों को जीता जाता है, इंद्रियों को जीतकर जितेन्द्रिय बना जाता है, वह बल प्रशंसा के योग्य है। इस शारिरिक बल का क्या अहंकार करना। आज शरीर तगड़ा है, कल किसी असाता कर्म के उदय से शरीर की शक्ति क्षीण हो जाए, नहीं कह सकते। पुण्योदय में जीव अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर को पाकर मान लेता है कि मैं सबसे अधिक बलवान हूँ। किन्तु यही अंतर है ज्ञानी और अज्ञानी में, ज्ञानी जीव यदि शरीरबल से भी विशिष्ट हो तो भी उसे बल का मद नहीं होता वह जानता है कि शरीर का बल तो बल का विकार है, आत्मा का बल अनंत है। और जिसमें सर्वोत्कृष्ट बल है उनके अभिमान नहीं होता। तीर्थकर प्रभु जन्म से अतुल्य बल के धारी होते हैं, ऐसा उनके जन्म का अतिशय है। शास्त्रों में बताया है कि सबसे अधिक बलशाली जीव तीर्थंकर होते हैं। 19-20 बकरों में जितना बल है उतना बल

एक गधे में होता है, 10 गधों में जितना बल होता है उतना बल एक घोड़े में होता है, 10-15 घोड़ों में जितना बल होता ही उतना बल एक भैंसे में होता है, 10-15 भैंसों में जितना बल होता है उतना बल एक हाथी में होता है, 10-15 हाथियों में जितना बल होता हो उतना एक कोट सुभट बल वाले मनुष्य में होता है, अनेक सुभटों में जितना बल है उतना एक नारायण में होता है, अनेक नारायणों में जितना बल होता है उतना एक देव में होता है, जितना बल ऐसे अनेक देवों में होता है उतना बल एक इन्द्र में होता है और जितना बल अनेक इन्द्रों में होता हो उतना बल तीर्थंकर की अंगुली मात्र में होता है।

एक बार श्रीकृष्ण की कुसुमचित्रा नामक सभा में युवा नेमिकुमार, बलदेव तथा नारायण श्रीकृष्ण अपने-अपने सिंहासन पर विराजमान थे, तभी सभा में सबसे अधिक बलवान् कौन है ऐसी चर्चा छिडी, तब कोई अर्जुन की, कोई युद्ध में स्थिर रहने वाले युधिष्ठिर की तो कोई पराक्रमी भीम की एवं कई अन्य लोगों की प्रशंसा करने लगे। तब उसी सभा में किसी ने कहा कि बलदेव सबसे अधिक बलवान् हैं, तो एक यदुवंशी कहने लगा कि दुर्धर गोवर्धन पर्वत को उठाने वाले श्रीकृष्ण सबसे अधिक बलवान् हैं। इस प्रकार श्री कृष्ण की सभा में उपस्थित राजाओं की वार्ताओं के बीच बलदेव ने लीलापूर्ण दृष्टि से भगवान् नेमिनाथ की ओर दृष्टि देकर कहा कि तीनों जगत् में इनके समान कोई दूसरा बलवान् नहीं है। ये अपनी हथेली से पृथ्वी तल को उठा सकते हैं, समुद्रों को शीघ्र ही दिशाओं में फेंक सकते हैं और गिरिराज को भी अनायास कम्पायमान कर सकते हैं, यथार्थ में ये जिनेन्द्र हैं, इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है। बलदेव के वचनों को सुन कृष्ण ने पहले तो भगवान् की ओर देखा पुनः मुस्कुराते हुए कहा—हे भगवन्! यदि आपके शरीर का ऐसा उत्कृष्ट बल है तो बाहुयुद्ध में क्यों न उसकी परीक्षा कर ली जाए? भगवान् ने कुछ खास ढंग से अपना मुख ऊपर उठाते हुए श्रीकृष्ण से कहा कि मुझे इस विषय में मल्लयुद्ध की क्या आवश्यकता है? हे अग्रज! यदि आपको मेरी भुजाओं का बल जानना ही है तो सहसा इस आसन से मेरे इस पैर को विचलित कर दीजिए। श्रीकृष्ण उसी समय कमर कसकर भुजबल से जिनेन्द्र भगवान् को जीतने की इच्छा से उठ खड़े हुए परंतु पैर का चलाना तो दूर रहा नखरूपी चन्द्रमा को धारण करने वाली पैर की एक अँगुली को भी चलाने में समर्थ नहीं हो सके। श्रीकृष्ण का सारा शरीर पसीना के कणों से व्याप्त हो गया और मुख से लम्बी साँसे निकलने लगीं। अंत में उन्होंने अपने बल का अहंकार त्यागकर स्पष्ट शब्दों में कहा कि हे देव! आपका बल लोकोत्तर एवं आश्चर्यकारी है। तो यहाँ कहा कि देह के बल का मद नहीं करना चाहिए वरन् इस बल का सदुपयोग संयम व तप करके करना चाहिए।

अगला मद कहा **'ऋद्धि का मद'** ऋद्धि अर्थात् धन-सम्पत्ति का गर्व करना। धन को प्राप्त करके निर्धन या अपने से कम धन वाले को हीन दृष्टि से देखना, धन की आड़ में व्यसनों का सेवन करते हुए स्वयं को सच्चा साहूकार मानना यह धन मद कहलाता है। एक सम्यग्दृष्टि तो धनआदिक परिग्रह को महाभार मानता है। वह कहता है—हे भगवन्! वह समय कब आएगा जब मैं इस परिग्रह का भार छोड़कर अपने चैतन्य रूप गुणनिधि को प्राप्त करूँगा। धन के मद से जिसकी बुद्धि आकुलित हो गई है वह धन के गर्व से सत्य को छोड़ देता है, बंधु-बांधवों की भी परवाह नहीं करता, वह धनान्ध व्यक्ति अपने आगे किसी को नहीं देखता। आचार्य भगवन् सोमदेव सूरी ने कहा जो व्यक्ति धन होने पर भी मद नहीं करते, ज्यादा हर्ष से युक्त नहीं होते तथा उस धन के नाश होने पर खेद नहीं करते, वे मानव तीनों लोकों के तिलक स्वरूप होते हैं। सम्यग्दृष्टि उस ऐश्वर्य सम्पदा को प्राप्त कर उन्मत्त नहीं होता, वह वस्तु स्वरूप को जानकर विवेकपूर्वक क्रिया करता है।

आगे कहा **'तप मद'** तप अर्थात् उपवास, ऊनोदर आदि विविध तप करके मन में इस प्रकार विचार करना कि मेरे बराबर कौन इतनी तपस्या कर सकता है, मैं ही महान तपस्वी हूँ, ऐसा भाव तपमद कहलाता है। सम्यक्त्व के बिना मिथ्यादृष्टि का तप निष्फल है। संयम, तप तो आत्मकल्याण का साधन है और उसका मद करना बाधक है। जो सच्चे तपस्वी होते हैं वे कभी भी अपने तप का मद नहीं करते। अपने अंदर कुछ तपश्चरण की शक्ति होने पर यह कहना कि मेरे समान तपस्वी कोई नहीं, मैं आतापन आदि कठिन-कठिन योगधारण करता हूँ, षट्रसी पालन करता हूँ, उपवास आदि बाह्य तप करता हूँ, यह सब कहना व घमण्ड के साथ तप करना 'तप मद' है। यह तो अपने ही खेत को आग लगाने जैसा कार्य है, यह तप कर्म निर्जरा में सहयोगी नहीं बनता। सम्यग्दृष्टि कभी अपने नियम, व्रत, संयम, साधना का अहंकार नहीं करता।

अगला कहा-**'रूप का मद'** अर्थात् अपने रूप-सौंदर्य पर घमण्ड करना।

अयोध्या में एक सुरत नाम का राजा था, उसकी 500 रानियाँ थी, उनमें एक सती नाम की रानी प्रमुख थी, जिस पर राजा का विशेष स्नेह रहता था। राजा के मन में मुनिराज को आहारदान आदि देने का भाव बहुत रहता था, उसने सब राजकार्य छोड़ दिए थे किन्तु मुनियों को आहार देने का कार्य हमेशा करता रहता, अन्य सभी राजकार्य उसने अपने मंत्री पर छोड़ रखे थे। एक दिन वह राजा अपनी प्राणप्रिया के कपोल पर तिलक रचना कर रहा था, इतने में आहारार्थ मुनिराज का आगमन हुआ, राजा ने ज्यों ही मुनिराज को देखा त्यों ही वह रानी

का शृंगार करना छोड़कर आहार देने चला गया। रानी को यह देख बहुत क्रोध आया, उसने अपने रूप-सौंदर्य में बाधा देखकर मुनिराज को बहुत अपशब्द कहे और अपने दास-दासियों के समक्ष ही मुनि निंदा करती रही। इस पाप से उसके शरीर में तत्काल ही गलित कुष्ट रोग हो गया, जिस शरीर को इत्र फुलैल लगाकर सुगंधित कर रही थी अब उसी में से भयंकर दुर्गंध आने लगी। राजा आहार देकर ज्यों ही रानी के पास लौटा, रानी की यह दशा देखकर स्तंभित रह गया। उसे उसी क्षण शरीर व भोगों से वैराग्य हो गया और सर्व राज्य का त्यागकर जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। रानी उस कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर कुछ समय बाद मृत्यु को प्राप्त हुई और अपने रूप-सौंदर्य के मद में आकर किए गए मुनिनिंदा के पाप के फल से अनेक दुर्गतियों में दुःख की पात्र हुई।

महानुभाव! हाड़-माँस का यह पिंजरा जिसमें मक्खी के पंख के समान पतली सी चर्म चढ़ी है। यदि इस माँस-मज्जा-मेदा से वेष्टित शरीर पर यह चर्म न हो तो इस शरीर की काग आदि पक्षियों से रक्षा करना भी मुश्किल हो जाए, और जो तन क्षण-क्षण विनाशशील है और वृद्धावस्था में कुरूप-अभद्र ही दिखने लगता है, यदि रोग हो जाए तो किसी के छूने लायक भी नहीं रहता, उस शरीर पर इतना घमण्ड क्यों करना। एक सम्यग्दृष्टि अपने शरीर के रूप पर गर्व नहीं करता, वह जानता है चेतना तो ज्ञान-दर्शन स्वरूप है, यह जो दिख रहा है वह न मेरा था, न है, न कभी होगा। वह यथार्थता को जानता है इसलिए अपने सम्यक्त्व में दोष नहीं लगाता है। सबसे उत्तम रूप तीर्थंकर, कामदेव आदि का है। रूप का प्राप्त होना हानिकारक नहीं है अपितु रूप को प्राप्त कर दूसरों का तिरस्कार करना हानिकारक है।

महानुभाव! ये आठ प्रकार के मद सम्यग्दर्शन को दूषित कर नष्ट कर देते हैं इसीलिए कभी किसी प्रकार का अहंकार मत करना। यहाँ 'अष्टावाश्रित्यमानित्वं' यह शब्द सूचित करता है जो इन आठ वस्तुओं को प्राप्तकर मान पर्वत पर चढ़ता है वह मान कहलाता है। यह मान कषाय त्याज्य है उसी को त्याग करने का यहाँ उपदेश दिया है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

गर्व करने का फल

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥26॥

अन्वयार्थ-यः – जो **गर्विताशयः** – गर्वयुक्त आशय वाला पुरुष **स्मयेन** – अपने घमण्ड से **अन्यान्** – दूसरे **धर्मस्थान्** – धर्मात्मा पुरुषों को **अत्येति** – अपमानित करता है **सः** – वह पुरुष वास्तव में **आत्मीयं धर्मं** – अपने धर्म को ही **अत्येति** – अपमानित करता है, क्योंकि **धार्मिकैःविना** – धार्मिक पुरुषों के बिना **धर्मःन** – धर्म नहीं ठहर सकता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी इस रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ के माध्यम से सम्यक्त्व को निर्दोष बनाने के लिए उसमें लगने वाले दोषों को बता रहे हैं क्योंकि **'बिन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये'।** पूर्व में 25 दोषों में से 8 शंकादि दोष और तीन मूढ़ताओं के बारे में बताया पुनः 8 प्रकार के मदों की बात कही अब यहाँ बता रहे हैं कि मद करने का फल क्या है? मान वही व्यक्ति करता है जिसने पुद्गल का ढेर इकट्ठा कर लिया हो; क्योंकि चैतन्य गुणों पर मान नहीं किया जाता, वे चैतन्य गुण अन्य गुणों को प्रकट करने में निमित्त बनते हैं। किन्तु पौद्गलिक उपलब्धि व भौतिक पदार्थों का संग्रह कर जो इनका मूल्यांकन अपने चेतना के गुणों से ज्यादा करता है तो उसमें अहंकार आता है और उसकी अपेक्षा से दूसरे को निम्न कोटि का मानकर के उसका अपमान और तिरस्कार भी करता है। आचार्य भगवन् इस 26वें श्लोक में कह रहे हैं।

मद से युक्त होकर के जो कोई भी जीव दूसरों का अपमान करता है और अंदर से घमण्ड को रखता है, धर्मात्मा पुरुषों का तिरस्कार करता है वह व्यक्ति अपने ही आत्मीय धर्म का अपमान करता है क्योंकि बिना धर्मात्मा के कहीं भी धर्म नहीं ठहरता है। जैसे अग्नि में अग्नित्व/ऊष्णता/दाहकता पाई जाती है, जल में शीतलता पाई जाती है, हवा का स्वभाव गतिशीलपना है, गुड़ शक्कर आदि में मिठास गुण पाया जाता है, मिर्ची में चरपरापन, नीम में कड़वापन आदि। ये उस तत्त्व के स्वभाव हैं ऐसे ही आत्मा का स्वभाव भी धर्म है। जो व्यक्ति अपने आत्मा के स्वभाव से अनभिज्ञ है वही व्यक्ति बाह्य पदार्थों को प्राप्त करके अहंकार से फूल जाते हैं और अपने स्वाभाव को भूल जाते हैं।

प्रायःकर वर्तमानकाल में देखा जाता है कि कोई व्यक्ति धन से किसी से आगे है तो स्वयं को बहुत बड़ा मानता है और दूसरों को तुच्छ। जिस पर शब्दज्ञान ज्यादा है वह उस पर

अहंकार करता है, किसी के पास रूप है, किसी के पास तप है, किसी के पास पद प्रतिष्ठा है, किसी के पास राज्य वैभव तो कोई स्वयं पर उच्चकुलीन होने के कारण अहंकार करता है, ये सब शरीर गत अवस्थाएँ हैं। आत्मा स्वभावत: न उच्च है न नीच है। आत्मा में शब्दों का कोई काम नहीं, सिद्ध परमेष्ठी शब्दज्ञान से रहित हैं। आत्मा स्वयं के वैभव से ही समर्थ है, पुद्गल के वैभव से कोई आत्मा परमात्मा नहीं बनती। आत्मवैभव प्राप्त किए बिना पूजा और प्रतिष्ठा संसार की दशा में जिस किसी को भी प्राप्त हुई है वह शाश्वत नहीं रही और जिसने आत्मवैभव प्राप्त कर लिया उसकी पूज्यता बरकरार है। आज पुण्य के उदय से कोई उपलब्धि प्राप्त की कल वह नष्ट भी हो सकती है इसलिए धर्मात्माजन, साधर्मीबंधु, चतुर्विध संघ के जो चार मुख्य स्तंभ हैं मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका इन चारों को आपस में बड़े प्रेम-वात्सल्य के साथ रहना चाहिए। यदि एक श्रावक दूसरे श्रावक का आपस में तिरस्कार या अपमान करते हैं, निंदा करते हैं तो वे नहीं जानते कि हम अपने ही धर्म को निंदित कर रहे हैं।

धर्म, धर्मात्मा के अंदर होता है किन्तु व्यक्ति जब अहंकार से युक्त होता है तब उसमें धर्म का भाव लुप्त हो जाता है, अंदर का चित्त भी कठोर हो जाता है उसे ऐसा लगता है मैं ही सब कुछ हूँ, मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं, कोई भी नहीं। कई बार जिनालय में पूजा-अर्चना करने वाले गरीब व्यक्ति भी हो सकते हैं, कोई पैसे वाले भी हो सकते हैं तो धनवान् व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि जो निर्धन हैं उनका ख्याल रखना चाहिए, उनके धर्म में सहयोगी बने। जिनके पास शब्दज्ञान है उनका कर्त्तव्य है वे अल्पज्ञानियों की सहायता करें, उनका तिरस्कार न करें या हीन दृष्टि से न देखें। जिनके पास धर्म की सेवा करने का सामर्थ्य है वह धर्म की सेवा करें किन्तु किसी का अपमान न करें। प्राय:कर व्यक्ति संसार के कार्यों में संलग्न रहता हुआ रागद्वेष से लिप्त रहता है तो वहाँ किसी की भी निंदा-प्रशंसा करते रहने से कर्म का इतना बंध नहीं होगा; किन्तु धर्म के क्षेत्र में जो आगे बढ़ रहे हैं उनकी निंदा करने से, अपमान-तिरस्कार करने से नि:संदेह तीव्र पाप कर्म का बंध होगा और जो इस प्रकार से तिरस्कार करता है वह अभी धर्म से बहुत दूर खड़ा है।

''जो समझते स्वयं को सबसे बड़े हैं, वे धर्म से अभी बहुत दूर खड़े हैं'' जो व्यक्ति अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मान लेता है तो समझना चाहिए उसने अभी धर्म के मर्म को समझा ही नहीं। धर्म भेद-भाव करना नहीं सिखाता। धर्म तो ये बताता है कि प्रत्येक भव्य आत्मा परमात्मा बन सकता है। धर्म तो ये बताता है कब किस आत्मा में पाप का या पुण्य का उदय आ जाए तो पाप के उदय में दु:खी नहीं होना क्योंकि पाप भी शाश्वत नहीं है, उसके उदय

में आँसू नहीं बहाना। पापोदय में अपने कर्त्तव्य को मत भूलना, अपने कर्त्तव्य-नियम-संयम का पालन करना क्योंकि धर्म शाश्वत है, पाप का उदय शाश्वत नहीं है। पुण्य का उदय आ जाए तो कभी इतराना नहीं, साधर्मी की ओर नेह दृष्टि रखना, उपेक्षा नहीं करना क्योंकि एक धर्मात्मा, धर्मात्मा के साथ रहकर ही आनंद का अनुभव करता है। जिस धर्मात्मा को धर्मात्मा नहीं सुहाता है तो समझो वह धर्मात्मा है ही नहीं। दूध-दूध में मिल जाता है। पानी में पानी मिल जाता है परंतु उसका विरोधी तत्त्व हो तो नहीं मिल पाता; इसी तरह से धर्मात्मा एक साथ दो-दस-सौ हजार-लाख-करोड़ भी होंगे तो मिल जाएँगे किन्तु विधर्मी उसमें नहीं मिल पाएगा। गाय के दूध में गाय का दूध मिलाया जा सकता है आक का दूध नहीं, ऐसे ही हर पीली वस्तु सोना नहीं होती। सोना भी पीला होता है, पीतल भी पीली होती है पर दोनों को एक नहीं कर सकते। धर्मात्मा में जो मिल जाए तो धर्मात्मा है, जो न मिल पाए वह धर्म से रहित है। हर सफेद वस्तु चाँदी नहीं होती, लोहा भी सफेद होता है, लैड भी सफेद होता है, दूर से देखो तो सीप भी चमकती हुई सफेद दिखाई देती है किन्तु इन सबकी चमक को देखकर के कोई व्यक्ति कहे कि ये चाँदी है तो ऐसा नहीं हो सकता। चाँदी अपने आप में चाँदी है। चाँदी, चाँदी को तो अपने अंदर समा सकती है लोहे को वह अपने आप में मिक्स नहीं कर सकती।

भगवान् के समवसरण में असंख्यात् भव्य जीव होते हैं। चार प्रकार के देव-देवांगनाएँ, मुनिराज, आर्यिका माताजी, श्रावक-श्राविका-तिर्यंच सभी प्रकार के जीव बिना वैर-विरोध भाव के धर्म का श्रवण करते हैं, अपने चित्त को शुद्ध करते हैं, अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने का उपक्रम करते हैं, रत्नत्रय को स्वीकार करते हैं। जिस किसी आत्मा में रत्नत्रय का वास है, उसके रत्नत्रय को देखो, बाहर की अवस्था को मत देखो, किसी कवि ने लिखा-

जात न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान॥

साधु को देखकर ये नहीं कहना कि ये साधु कैसा है, किसका शिष्य है, यह गोरवर्णी है या श्यामवर्णी, लौकिक शिक्षा ज्यादा है या कम, तपस्या ज्यादा कर रहा है या कम इस चक्कर में नहीं पड़ना, उस साधु के अंदर की साधुता को देखना। ये नहीं देखना कि ये साधु तो पहले हमारी जाति का था, हमारे क्षेत्र का था, यह भेद-भाव करने वाला व्यक्ति अभी धर्म से रहित है। जिसे धर्म दिखाई दे रहा है वह व्यक्ति ही धर्म का फल प्राप्त करता है, धर्म की प्रभावना करता है।

महानुभाव! **'अहंगारो जीवणुत्थाणे महा रिऊ'** अहंकार जीवन उत्थान में महाशत्रु है। किन्तु यहाँ आचार्य महोदय ने जो 'गर्विताशय' विशेषण दिया वह बहुत गूढ़ अर्थ वाला है क्योंकि व्यक्ति जब घमण्ड पूर्वक दूसरों को नीचा दिखाने के अभिप्राय से वशीभूत होकर धर्मात्मा का तिरस्कार करता है तब सम्यग्दर्शन मलिन होता है किन्तु यदि धर्म प्रभावना करने के लिए पाखण्डियों को अपमानित किया जाता है तो सम्यग्दर्शन मलिन नहीं होता अपितु सम्यग्दर्शन उज्ज्वल बनता है। निरभिमानी, ऋद्धि सम्पन्न महामुनि विष्णुकुमार ने धर्म और धर्मात्माओं की रक्षा के लिए थोड़ी देर निम्नस्तर पर उतरकर बलि को तिरस्कृत वा अपमानित करके भी स्वकीय सम्यग्दर्शन को मलिन नहीं किया बल्कि वात्सल्यगुण से विभूषित हुए।

राजा हितशीतल की सभा में अकलंक देव ने कहा था राजन्! तुम्हारे बराबर कोई राजा नहीं है तो मेरे बराबर इस भूतल पर कोई विद्वान् नहीं है, यदि आपकी सभा में कोई विद्वान् है तो मेरे साथ शास्त्रार्थ करे। राजाज्ञा से अकलंक देव ने छह महीने तक बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया तथा बौद्धों को पराजित कर जिनधर्म की प्रभावना की। इसमें अकलंक स्वामी स्वयं अपनी प्रशंसा करते हुए दिख रहे हैं परन्तु वे गर्विताशय वाले नहीं हैं। इसलिए उन्होंने विवाद में विजय प्राप्त करके कहा–

नाहंकार वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्य बुद्धया मया।
राज्ञः श्री हितशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
बौद्धौधान्सकलान् विजित्य स घटः पादेन स्फालितः॥

राजन् ! मैंने अहंकार के वशीभूत होकर बौद्धों का अनादर नहीं किया और न द्वेष के वशीभूत होकर किया। परन्तु राजा हिमशीतल की सभा में नैरात्मवाद को प्राप्त होकर नष्ट होते हुए (संसार में भटकते हुए) प्राणियों पर करुणा-दया कर उनको सन्मार्ग में लाने के लिए मैंने तारा देवी के स्थापना युक्त घट को पैर से स्फालित कर बौद्धों पर विजय प्राप्त की है।

महानुभाव! सिद्ध होता है कि मनःशुद्धि होने से अकलंक स्वामी पाप के भागी नहीं बने, इसलिए यहाँ जो गर्विताशय शब्द दिया वह यही ध्वनित करता है कि क्वचित्-कदाचित् धर्म की प्रभावना करने के लिए किसी का अनादर किया जाता हो तो वह क्रिया सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाली नहीं है।

महानुभाव! सम्यग्दृष्टि के बाह्य व अंतकरण में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। वह जानता है कि इस पृथ्वीतल पर किसी का अहंकार न रहा है और न रहेगा, फिर भी यदि

कोई अपनी किसी भी उपलब्धि पर गर्व करता है तो यह आश्चर्य की बात है। यह अहंकार काँच के दर्पण से ज्यादा नहीं, गिरा नहीं कि टूटा। इसीलिए जरा झुको और गिरा दो इसे। जो आत्मा में धर्म को नहीं देख सकता, केवल शरीरों को देखता है, केवल शरीर के गुण-दोष देखता है, शरीर की जाति व नाम देखता है तो इसका आशय यही है कि उसने अभी धर्म को नहीं देखा।

एक बार अष्टावक्र विद्वानों की सभा में पहुँचे। उनका शरीर आठ जगह से वक्र था। अष्टावक्र को देखकर सभी विद्वान् ठहाका मारकर हँसने लगे। अष्टावक्र को बड़ा खराब लगा। वे सभा में पहुँचकर अपने स्थान पर आसीन हुए और हाथ जोड़कर कहा महाराज जनक! मुझसे बड़ी भूल हो गई मैंने तो ये समझा कि आपने ऐसा निमन्त्रण भेजा है कि यहाँ विद्वत् गोष्ठी होना है, विद्वानों की सभा होगी इसलिए मैं यहाँ पर आया किन्तु यहाँ आकर के मुझे खेद है कि मैं न जाने कहाँ आ गया, ये तो मुझे विद्वानों की सभा दिखाई नहीं देती, ऐसा लगता है यह तो चर्मकारों की सभा है, चर्म का व्यापार करने वालों की ही सभा है, चर्म को देखने वालों की ही सभा है। इस सभा में धर्म नेत्र वाला तो कोई है ही नहीं। सभा के सभी विद्वत्गण बड़े शर्मिन्दा हुए कि निःसंदेह उन्होंने एक महान् विद्वान् का अपमान करके ज्ञान का ही अपमान किया है, धर्मात्मा का अपमान करके धर्म का अपमान किया है। अष्टावक्र ने कहा यदि इनके अंदर धर्म होता तो दृष्टि मेरे शरीर के ऊपर नहीं होती, मेरे अंदर विद्यमान ज्ञान के ऊपर होती। ऐसे ही हम धर्म के क्षेत्र में भी कई बार देखते हैं लोग कहते हैं महाराज जी! समाज में तो पैसे वालों का ही बोलबाला है, भावनाओं का कोई महत्व नहीं किन्तु जो सच्चा धर्मात्मा है वह पैसे को कम महत्व देता है भावनाओं को अधिक महत्व देता है।

अरब-खरब की सम्पदा उदय अस्त लो राज।
सम्यक् बिन सब जानिए पत्थर भरे जहाज॥

जहाज में पत्थर भर दो तो जहाज डूब जाता है ऐसे ही यदि जीवन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं है, व्रत-संयम आदि नहीं है तो विपुल सम्पत्ति भी प्राप्त हो जाए तो वह सम्पत्ति उसके लिए दुर्गति का कारण बन सकती है। धर्म से रहित व्यक्ति के पास जो भी साधन सामग्री आएगी वह उस साधन सामग्री का दुरुपयोग करके दुर्गति का पात्र बनेगा, इसलिए आचार्य महोदय कहते हैं धर्म जब चित्त में होता है तो अमरचन्द्र दीवान शेर को पिंजरे में जलेबी खिला सकते हैं। धर्म जब चित्त में होता है तब ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे पुरुष गुप्त रूप में व्यक्ति की सेवा कर सकते हैं। धर्म जब हृदय में होता है तब व्यक्ति अनजान व्यक्ति की भी सहायता

करता है, कोई Road के किनारे पड़ा हो तो उसकी भी सहायता करता है। कुछ लोग कहते हैं हम तो इसलिए छोड़कर आ जाते हैं कि हम पर कोई केस नहीं बने, अरे भाई! कुछ नहीं होगा, भलाई का परिणाम भलाई ही होता है, बुराई का बुराई ही होता है।

यदि कोई हमारे साथ घटना घटित होने वाली है तो उसे अपने ही पाप कर्म का फल मानिए। अच्छाई कभी बुरा फल नहीं देती। अंगूर की बेल पर कभी बबूल के काँटे नहीं लगते और बबूल के पेड़ पर कभी अंगूर की बेल नहीं लटकती इसलिए जीवन में अच्छा सोचो, अच्छा बोलो, अच्छा करो, कभी किसी का अपमान मत करो, यही धर्मात्मा का लक्षण है। जो दूसरों का अपमान करता है वह धर्मात्मा नहीं होता है। उस धर्मात्मा के अंदर सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उस व्यक्ति का अपमान किया जाना रत्नत्रय का अपमान है इसलिए कभी भी किसी भी व्यक्ति का अपमान मत करो, यहाँ तक कि मिथ्यादृष्टि का भी अपमान मत करो, वह भी भविष्य में कभी सम्यग्दृष्टि हो सकता है, उसकी आत्मा में भी सिद्धत्व प्रकट हो सकता है अतः अपनी आत्मा के समान ही सभी की आत्मा को समझते हुए सबका हित करो, उपकार करो, प्रशंसा करो, गुणग्राहक बनो। अपमान की प्रवृत्ति छोड़ो यही धर्म का मर्म है। आप सभी चेतना के स्वभाव को जानें, पुद्गल के स्वभाव में रंजायमान न हों, आत्मा की निधि को प्राप्त कर सकें, ऐसी मैं आपके प्रति मंगल भावना भाता हूँ। इन्हीं भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्पत्ति की निष्फलता

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्॥27॥

अन्वयार्थ-यदि – यदि, **पापनिरोधः** – पाप का निरोध अर्थात् पाप का आस्रव नहीं है फिर **अन्यसम्पदा** – अन्य सम्पत्ति से **किं** – क्या **प्रयोजनम्** – प्रयोजन है। **अथ** – और यदि **पाप-आस्रवः अस्ति** – पाप का आस्रव है तो फिर **अन्यसम्पदा** – अन्य सम्पत्ति से **किं** – क्या **प्रयोजनम्** – प्रयोजन है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने श्रावकों के कल्याणार्थ जो रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की रचना की है वह रत्नों के पिटारे की तरह से उस समय भी महत्वपूर्ण थी और आज भी महत्वपूर्ण है, उसका महत्व कम नहीं हुआ। संसार में कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका महत्व कभी ज्यादा होता है कभी कम किन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका महत्व सदा ही बराबर रहता है, घटता-बढ़ता नहीं। यह रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ निःसंदेह आज भी Update है Out of date नहीं हुआ। जितनी आवश्यकता, महत्ता व प्रमाणिकता कल थी उतनी ही आज है और आगे भी रहेगी। इस ग्रंथ में आचार्य महोदय श्रावकों के लिए पुण्य की प्रेरणा दे रहे हैं, पापों से बचने का सूत्र दे रहे हैं।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं जिसने अपने जीवन में पापों को रोक दिया, पाप का आस्रव रुक गया तो फिर बाह्य सम्पदा संग्रह करने का क्या प्रयोजन? और यदि पापों का आस्रव नहीं रोका तो भी बाह्य सम्पदा से क्या प्रयोजन? किसी बर्तन में पानी के साथ कीचड़ बहकर आ रही थी, उस बर्तन को व्यक्ति बार-बार धोता है, तो बार-बार बर्तन धोने से क्या लाभ है कीचड़ तो लगातार आ ही रही है, और कीचड़ का आना रोक दिया तो फिर बर्तन का बार-बार धोना आवश्यक क्यों है? जब कीचड़ आ ही नहीं रही है। ऐसे ही चित्त में निरन्तर पाप का आस्रव हो रहा है तो पुण्य का कुछ फल इकट्ठा कर भी लिया, कुछ इष्ट पदार्थों की सम्प्राप्ति कर ली, किन्तु पापों को नहीं रोका तो वे पुण्य के फल रूप पदार्थ शीघ्र नष्ट हो सकते हैं। वह पुण्य-फल आकाश में चमकती बिजली की तरह से है, जो दिखाई देता है पुनः लुप्त हो जाता है। कब पाप कर्म का उदय आए, कब पुण्य का फल नष्ट हो जाए कह नहीं सकते। और यदि किसी व्यक्ति ने पाप का निरोध कर दिया तो फिर पुण्य का संचय

करने की आवश्यकता क्या है? जब पाप ही नहीं आएगा तो जो कुछ पुण्य-फल रूप सामग्री प्राप्त हुई है वह नष्ट नहीं हो सकती। पापकर्म के उदय के बिना पुण्य के फल को नष्ट नहीं किया जा सकता है।

आचार्य महोदय ने कहा यदि पाप का निरोध कर दिया तो सम्पत्ति का कोई प्रयोजन नहीं और निरोध नहीं किया तो बाह्य सम्पत्ति का कोई प्रयोजन नहीं। जैसे वैद्य कहते हैं परहेज नहीं तो औषधि क्यों? और यदि परहेज है तो औषधि क्यों? उनका कहना है यदि कोई रोगी परहेज न करे मात्र औषधि का सेवन करे तो अपथ्य का सेवन करने से वह रोग को बढ़ाता चला जाएगा, औषधि उस रोग को ठीक नहीं कर पाएगी। दूसरी ओर कहा यदि अपथ्य का त्याग करता है, पथ्य का सेवन करता है तो औषधि क्यों? पथ्य सेवन ही अपने आप में औषधि है इसलिए अलग से औषधि लेने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें-अंधकार को रोक देना ही प्रकाश है, प्रकाश का बाह्य संग्रह करने से क्या लाभ? जैसे माना किसी के पास सौरऊर्जा का Plant है जिससे 24 घंटे लाइट रहती है, 1 second के लिए भी लाइट नहीं जाती है तो उसे इनवर्टर रखने की क्या आवश्यकता, जनरेटर रखने की क्या आवश्यकता। और यदि सौर ऊर्जा वाली लाइट नहीं है तो जनरेटर या इनवर्टर अपना कितना काम करेगा। इनवर्टर ज्यादा चल नहीं पाएगा, जनरेटर में कभी भी तेल खत्म हो गया तो बीच में रुक सकता है, उन्हें Regular electricity चाहिए, किन्तु ये सौर ऊर्जा की light जा नहीं सकती। यदि यह है तो जनरेटर आदि उपकरण की आवश्यकता नहीं, यदि ये नहीं है तब भी उनसे पूर्ति नहीं हो सकती।

किसी व्यक्ति के पास पूर्व पुण्य के उदय से लाखों-अरबों-खरबों की सम्पत्ति है किन्तु वह पुण्य नहीं करता, पाप में लगा रहता है तो ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति कब तक साथ दे सकती है। पाप का घड़ा जब फूटता है तो राजा भी रंक हो जाता है। कोई व्यक्ति पुण्य करता जा रहा है तो उसे भी सम्पत्ति जोड़ने की आवश्यकता नहीं है जंगल में भी जाएगा तो वहाँ मंगल ही मंगल होगा, स्वर्ग से देवता आकर उसकी व्यवस्था बनाएँगे, उसकी सेवा करेंगे। जैसे किसी व्यक्ति के पास बैंक में Account तो है किन्तु Balance कुछ भी नहीं, जब Balance नहीं है फिर भी अपनी जेब में ATM Card लेकर घूम रहा है, चेकबुक लेकर घूम रहा है तो ये सब क्या करेंगे, कुछ नहीं और यदि Bank Balance है किंतु ATM Card और चेकबुक नहीं है तो अपने आधार कार्ड से; बैंक से Application (एप्लीकेशन) लगाकर के अपना धन प्राप्त कर सकता है। क्योंकि बैंक वाले को मालूम है यह एकाउण्ट इसका है और इसका पैसा जमा है, वह दे ही देगा।

यहाँ आचार्य महोदय यही कह रहे हैं-हे भव्यजीव! 'यदि पापनिरोधोऽन्य' यदि तूने पाप का निरोध कर दिया है तो तुझे पापों से घबराने की आवश्यकता नहीं, पुण्य अपने आप आ जाएगा। यदि जीवन में पाप के सघन श्याम मेघ नहीं छाये हैं तो प्रकाश अपने आप आ जाएगा और सूर्य का उदय ही नहीं हुआ, अमावस्या की रात्रि है तो आकाश में बादल छाये हों या नहीं क्या फर्क पड़ने वाला है। पुण्य का फल पुण्य की परछाई है, पाप का फल पाप की परछाई है। पाप को हटाने से पाप की परछाई हट जाती है, पाप का फल हट जाता है। पाप का फल नहीं चाहते तो पाप को छोड़ना ही पड़ेगा और पुण्य का फल चाहते हैं तो पुण्य को जोड़ना पड़ेगा। बिना पुण्य के पुण्य का फल नहीं मिलता। नीतिकारों ने लिखा है-

पुण्यफल-मिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

व्यक्ति पुण्य का फल तो चाहता है किन्तु पुण्य कार्य करना नहीं चाहता। और व्यक्ति पाप का फल नहीं चाहता किन्तु पाप के कार्य को छोड़ना नहीं चाहता। जब पाप के कार्यों को नहीं छोड़ोगे तो पाप के फलों से कैसे बच पाओगे, पुण्यकार्य को नहीं करोगे तो पुण्यफल को कैसे प्राप्त करोगे। आचार्यों ने कहा है पुण्य-पाप क्या चीज है- **'अनिष्टवस्तुदायकं पापम्'**- जो अनिष्टवस्तु प्राप्त कराए, जो दुःख की सामग्री प्राप्त कराए वह पाप है **'इष्टवस्तुदायकं पुण्यं'** जो इष्ट वस्तु की संप्राप्ति कराए वह पुण्य है। **पुनातीति पुण्यं**-जो आत्मा को पवित्र करे वह पुण्य है। **'पातयति भवसागरे जीवान् तत् पापं'** जीवों को जो भवसागर में पतित करे वह पाप है। पाप का आस्रव पुण्य के फल को नहीं दे सकता और पाप का आस्रव रुक गया तो पाप का फल नहीं आ सकता।

महानुभाव! प्रायःकर के संसारी प्राणी पाप में संलग्न रहते हैं और पाप में संलग्न रहकर पुण्य की कामना करते हैं। जैसे कोई व्यक्ति समुद्र के किनारे खड़े होकर के समुद्र के जल में अवगाहन करने का आनंद लेना चाहे तो नहीं ले सकता। और कोई समुद्र में डूबकर प्रार्थना करे कि मुझे जल का आनंद आ जाए तो प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है। ऐसे ही व्यक्ति जब पाप को नहीं छोड़ रहा है तो कितनी भी सम्पत्ति इकट्ठी कर ली जाए, पुत्र के लिए-पौत्र के लिए, किन्तु जब पापकर्म का उदय आएगा तब वहाँ तक पहुँचना तो दूर की बात स्वयं का जीवन भी पूरा नहीं हो पाएगा। पाप कर्म से भूकंप आ गया तो अरबपति-खरबपति भी धराशाही हो गए, भूकंप के बाद झोपड़ी में रहने वाला गरीब व्यक्ति और दस मंजिल के घर में रहने वाला व्यक्ति दोनों समान रूप से जंगल में जमीन पर लेटे हैं। और जिसके पास पुण्य था उसने बेटे के लिए कोई FD नहीं कराई। फिर? मैंने उसे पुण्य के, धर्म के संस्कार दिए

हैं जिसके माध्यम से वह जहाँ भी जाएगा सम्मान पाएगा, उसे ऐसा हुनर व काम करने की कला सिखाई है कि वह कभी भूखा न रहेगा, खूब कमाएगा। पुण्य में लगे रहो, धन-लक्ष्मी तो पुण्य की परछाई है वह अपने आप पीछे-पीछे आ जाएगी। और जिस व्यक्ति ने अपने बच्चों को पुण्य के संस्कार नहीं दिए, धर्म के संस्कार नहीं दिए, कोई सत्कला नहीं सिखाई तो वह अपने बेटे के लिए कितनी भी सम्पत्ति इकट्ठी कर ले वह पुत्र व्यसनी या भोगी बन गया तो करोड़ों की सम्पत्ति को भी कुछ महीनों में नष्ट कर देगा। आपने कहावत भी सुनी होगी-

''पूत कपूत तो का धन संचय, पूत सपूत तो का धन संचय''

किसी नगर में एक सेठ जी रहा करते थे। उनको एक पुत्र व पुत्री रूप संतान का सुख प्राप्त था। सेठ जी अत्यंत धर्मात्मा व कर्म सिद्धांत पर विश्वास करने वाले थे। सेठानी भी उन्हीं के अनुरूप धर्म-कार्यों में सेठ जी का साथ दिया करती थीं। एक बार सेठ जी ने योग्य वर ढूँढकर अपनी पुत्री का विवाह किया। विवाह के उपरांत थोड़े ही समय में पुत्री की ससुराल में सब धन-सम्पत्ति नष्ट हो गई। पाप कर्म का उदय इतना तीव्र था कि अब पुत्री व दामाद को दो समय का भोजन भी मुश्किल से प्राप्त होता था। जो भी कार्य करते सबमें असफलता ही हाथ लग रही थी। इधर सेठ-सेठानी को भी अपनी पुत्री के विषय में ज्ञात हुआ। दोनों को बहुत दु:ख हुआ। सेठानी ने सेठ जी से कहा- अपनी पुत्री अभी बहुत कष्ट में है क्यों न हो हम आर्थिक सहायता कर दें। सेठ जी बोले आप ठीक कहती हैं अभी पुत्र को भेजकर उसके पास कुछ धन भिजवा देते हैं। ऐसा ही हुआ, पुत्री के पास धन भिजवाया गया किंतु कुछ ही महीनों में पापकर्म के उदय से वह सब धन भी नष्ट हो गया। सेठ जी समझ गए, अभी पुत्री-दामाद का तीव्र पाप का उदय है, अभी उनके लिए की गई कोई भी सहायता उनके काम नहीं आएगी। सेठानी प्रतिदिन सेठ जी से पुत्री के सहयोग के लिए कहतीं किंतु सेठ जी कर्म का उदय बतलाकर सेठानी को समझा देते। किंतु माँ का मन कहाँ मानने वाला था।

एक बार सेठ जी तीर्थवंदना के लिए गए हुए थे। सेठानी ने सोचा ये अच्छा मौका है पुत्री की सहायता करने का; किंतु दामाद जी बहुत स्वाभिमानी हैं, ऐसे ही वे धन आदि हमसे नहीं लेंगे। उसे उपाय सूझा, उसने दामाद को अपने घर भोजन के लिए बुलाया और विदाई में देने के लिए पाँच किलो मोतीचूर के लड्डू बनाए। लड्डू बनाते समय उसने उन लड्डूओं के बीच में रत्न छिपा दिए; सोचा घर जाकर बेटी लड्डू देखेगी तो उसे ये रत्न मिल जाएँगे। दामाद जी को भोजन कराया व विदाई में मोतीचूर के लड्डू दे दिए। दामाद जी बस पकड़ने के लिए बस स्टैण्ड पर पहुँचे, तभी उनके मन में ख्याल आया यदि इन लड्डुओं को खाते हैं तो दो-चार दिन में खत्म हो जाएँगे, क्यों न हो इन्हें हलवाई को बेचकर कुछ पैसे ले लिए

जाएँ, जिससे घर का कुछ राशन आ जाएगा। दामाद जी ने वे लड्डू हलवाई को बेच दिए और बस में बैठकर अपने नगर चले गए।

इधर सेठ जी उसी दिन तीर्थयात्रा से घर लौट रहे थे। उसी बसस्टैण्ड पर आकर उनकी बस रुकी। सेठ जी ने सोचा घर पर खाली हाथ जाऊँगा तो पोता-पोती पूछेंगे दादाजी हमारे लिए क्या लेकर आए? तभी सेठजी की दृष्टि उसी हलवाई की दुकान पर रखे मोतीचूर के लड्डुओं पर पड़ी। सेठ जी ने सोचा ताजे लड्डू हैं, ये ही खरीद लेता हूँ, बच्चे खुश होंगे। सेठ जी ने वे सभी लड्डू खरीद लिए। घर आए, आकर बच्चों को लड्डू खाने के लिए दिए। सेठानी जी ने जैसे ही वे लड्डू देखे, वो पहचान गई कि ये तो वही लड्डू हैं जो मैंने दामाद जी को दिए थे। सेठानी ने जल्दी से सारे लड्डू लिए और रसोई में जाकर उनको फोड़कर देखा तो उसमें से रत्न निकल पड़े। अब सेठानी समझ गई कर्म की विचित्रता को, वह समझ गई सेठजी ने ठीक कहा था कि अभी उनका तीव्र पाप कर्म का उदय है, अभी हमारे द्वारा की गई कोई भी सहायता उनके काम नहीं आएगी। अभी तो सोने को भी हाथ लगाएँ तो वो मिट्टी हो जाएगा। सच में लक्ष्मी तो पुण्य की परछाई है। हमें उसकी सहायता धन से नहीं अपितु उसको पुण्य कार्य में लगाकर, पुण्य की प्रेरणा देकर करनी चाहिए।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं परछाई को मत पकड़ो, परछाई पकड़ने से पकड़ में नहीं आती है, परछाई का कारण प्रकाश है उसे उत्पन्न करो। 'यदि पापनिरोधोऽन्यो'' तो इसका आशय यही है कि पाप का निरोध कर दिया तो सम्पत्ति इकट्ठी नहीं करना। कई बार संसारी प्राणी जो मोह में आसक्त होते हैं, वे क्या करते हैं कि स्वयं तो अच्छे से खाएँगे नहीं, अच्छे से पहनेंगे नहीं, धर्म कार्य करेंगे नहीं वरन् जोड़-जोड़कर अपने पुत्र के लिए रखते चले जाएँगे। और जब उनकी आँखों के सामने वे ही बच्चे उस धन व वस्तु का दुरुपयोग करते हैं तब उन मोही माता-पिता को अहसास होता है कि हमने स्वयं के लिए तो आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं की, बड़ी मुश्किल से बचा-बचाकर इतना धन अपने बेटे के लिए रखा था और बेटा तो पढ़ाई के नाम पर बर्बादी कर रहा है। अब पिता सोचता है मैंने इतना परिश्रम किया, धन कमाया व बचाया, सिर्फ इसलिए कि पुत्र को सुख-शांति मिले, उसकी खुशियों के लिए मैंने अशांति व दुःख को स्वीकार किया। किंतु मैंने गलती की, मुझे स्वयं पुण्य कार्य करते हुए दूसरों को पुण्य कार्य में लगाना चाहिए था, क्योंकि ये सम्पत्ति विश्वास के योग्य नहीं है, यह उपयोग के योग्य है। लक्ष्मी का उपयोग करो, विश्वास करना है तो धर्मात्मा पर करो, विश्वास करना है तो परमात्मा पर करो, विश्वास धर्म पर करो वह विश्वास निःसंदेह आपके जीवन में सुख देने वाला होगा। वस्तु पर विश्वास करने से किसी को सुख नहीं मिला, वस्तु तो नष्ट होनी ही होनी है।

महानुभाव! इस छोटे से जीवन में कुछ कर सकें तो इतना करें, अपने आप को पाप की गंदगी से बचा लें। जहाँ बदबू आ रही है वहाँ से बचा लें। अगर बचा लोगे तो कभी अपने ऊपर इत्र छिड़कने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और गंदगी से सनकर के इत्र भी छिड़कोगे तो वह भी मलिन हो जाएगा। **''पुण्य कार्य मत करो भले ही, किन्तु करो मत पाप, पुण्य के फल को पा लोगे।''**

पुण्यकार्य आप न कर सको तो न करो किन्तु पाप कार्य में मत लगना, स्वतः ही पुण्यफल प्राप्त हो जाएगा। यदि प्रकाश तुम नहीं कर सकते तो नहीं करो, बस अंधकार से बच जाओ तो जीवन में प्रकाश ही प्रकाश बना रहेगा। यदि ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं पर अज्ञान की वृत्ति-प्रवृत्ति से बचो तो ज्ञान का प्रवाह, भाव आपके जीवन में आ जाएगा। आप संयम की साधना नहीं कर रहे हो तो कम से कम असंयम को छोड़ना प्रारंभ कर दो, फिर आपके जीवन में स्वतः ही संयम आना प्रारंभ हो जाएगा।

महानुभाव! आचार्य महोदय का यही भाव है कि बाह्य सम्पदा कोई प्रयोजनभूत नहीं है, वह तो नष्ट हो जाने वाली है इसलिए आध्यात्मिक वैभव, आत्मा का वैभव शाश्वत है उसी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जिसने उस पुण्य को शरण मानकर के पुण्य का आश्रय लिया है उस व्यक्ति ने अपना भव-भ्रमण मिटाया है, जिसने पुण्य का तिरस्कार करके अपना कल्याण चाहा वह कल्याण तो प्राप्त कर नहीं पाया अपितु पाप के गर्त में चला गया। इसलिए आप सभी पापों से बचकर पुण्यकार्य में संलग्न हों ऐसी हम आप सभी के प्रति भावना भाते हैं और इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी वाणी को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दर्शन का प्रभाव

सम्यग्दर्शन-सम्पन्न-मपि मातङ्गदेहजम्।
देवाः देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम्॥28॥

अन्वयार्थ– देवाः – जिनेन्द्रदेव, गणधर देव, **सम्यग्दर्शन सम्पन्नं** – सम्यग्दर्शन सहित, **मातङ्गदेहजमपि** – चाण्डाल के पुत्र को भी, **भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्** – भस्म से ढके हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान, **देवं** – देव, आदरणीय, **विदुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में विगत दिवस आचार्य महोदय बता रहे थे कि यदि व्यक्ति अपने जीवन में निरन्तर बहने वाली पाप की नालियों को बंद कर दे तब उसे भौतिक-संपत्ति का संग्रह करने की आवश्यकता नहीं और पाप की नालियों को बंद नहीं किया तब भी भौतिक-सम्पत्ति संग्रहीत करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि पापोदय में कितनी भी भौतिक-सम्पत्ति क्यों न हो, क्षणार्द्ध में नष्ट हो सकती है। पाप का आस्रव नहीं हो रहा है, लगातार पुण्य का आस्रव हो रहा है तो फिर पुण्य का आस्रव होने से पुण्य का बंध होगा, उस पुण्य के उदय होने पर भौतिक सम्पत्ति आपको अपने आप प्राप्त होगी, उसके लिए आज से संग्रह क्यों करना।

आगे आचार्य महोदय 28वें श्लोक में सम्यक्त्व की महिमा बता रहे हैं। सम्यक्त्व चैतन्य-रत्न है, सम्यक्त्व मोक्षमार्ग का मूल है, सम्यक्त्व प्राप्त होने पर ही ज्ञान सम्यक्पने को प्राप्त होता है, वैराग्य-संयम-व्रत आदि सम्यक्पने को प्राप्त होते हैं। यदि सम्यग्दर्शन अर्थात् समीचीन दृष्टिकोण नहीं है, आपका नजरिया गलत है तो वस्तु गलत ही दिखाई देती है। देखने का नजरिया गलत है तो व्यक्ति गलत दिखाई देता है। देखने का नजरिया गलत है तो घटनाक्रम गलत ही दिखाई देता है, उद्देश्य-प्रवृत्ति गलत ही दिखाई देती है। अगर देखने का नजरिया गलत है तो पुनः जिस फल की भी प्राप्ति होती है वह गलत ही दिखाई देता है। इसलिए नजरिया बदलते ही नजारे बदल जाते हैं। दृष्टि के बदलते ही सृष्टि बदल जाती है। कश्ती मुख बदल ले तो किनारे बदल जाते हैं। किनारे को उठाकर यहाँ से वहाँ नहीं रखना, जिस किनारे की ओर नाव की पीठ थी यदि नाव का मुख बदल दें तो जहाँ उसकी पीठ है वहाँ उसका मुख हो जाएगा। ऐसे ही संसारी प्राणी भव्यजीव अपनी मिथ्यात्व से युक्त दृष्टि को समीचीनता प्रदान कर दे तो समीचीन दृष्टि आते ही संसार में जिन पदार्थों के लिए वह

लालायित या व्याकुल था, जिनके लिए आतुर था कि ये पदार्थ मुझे मिले, दृष्टि बदलते ही उन पदार्थों से फिर मुक्ति चाहता है। अभी तक उसे मिथ्यात्व की दशा में वैराग्य, संयम, तप, साधना कष्टकर दिखाई दे रही थी, सम्यक्त्व के अभाव में जो भी धार्मिक क्रियाएँ थी वे रूढ़ि दिखाई दे रहीं थी, धर्म भी उपेक्षा के योग्य वस्तु दिखाई दे रहा था, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त होते ही उसे लगता है कि संसार में वैराग्य और ज्ञान ही सुख का कारण है, जो विषय-कषाय मिथ्यात्व के उदय में उसे अच्छे लगते थे वही विषय-कषाय सम्यक्त्व के प्रकट होने पर विष के समान प्रतिभासित होते हैं।

सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व के माध्यम से महत्वपूर्ण हो जाता है, महापुरुषों में बैठने के योग्य हो जाता है, देवों के द्वारा भी सम्मानीय-पूजनीय-अर्चनीय और वंदनीय हो जाता है। यह महत्व उस व्यक्ति का नहीं है, महत्व उस सम्यक्त्व का है। उदाहरण के तौर पर एक सामान्य गर्भवती माता एवं पिता जिनकी नगर के व्यक्ति भी आकर पूजा नहीं करते किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का बंध पूर्व में जिस जीव ने कर लिया ऐसा जीव माँ के गर्भ में आ जाए तो सौधर्म इन्द्र भी उस दम्पत्ति की पूजा करता है। वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी होता है, वह अवधिज्ञानी भी होता है, अगले भव से नियम से मोक्ष जाने का नियोग भी है, ऐसा सौधर्म इन्द्र भी उन माता-पिता की पूजा कर रहा है, किसके कारण? माँ के गर्भ में जो शिशु अवतरित हुआ है वह तीर्थंकर है, वह लोक में धर्म का प्रवर्तन करेगा, वह अपनी आत्मा का कल्याण करने के साथ-साथ असंख्यात जीवों के कल्याण में निमित्त बनेगा। उस जीव के निमित्त वे माता-पिता बने हैं इसलिए वे माता-पिता भी पूज्य अवस्था को प्राप्त हुए।

महानुभाव! यदि पत्ते के दोने में रसगुल्ला रखा है तो उस दोने को भी व्यक्ति सावधानी से रखता है, यदि किसी मिट्टी के सकोरे में घी रखा है तो उस सकोरे को भी सावधानी से रखता है क्योंकि उसमें रखी हुई चीज महत्वपूर्ण है। उस अंतरंग की वस्तु से वह बाह्य वस्तु भी महत्वपूर्ण हो जाती है। किसी कागज की पैकेट में यदि सामान्य बालू रखी है तो उस पैकेट का व्यक्ति ज्यादा ध्यान नहीं रखेगा और उसमें यदि शक्कर हो तो ध्यान ज्यादा रखेगा। तो अंदर की वस्तु से बाहर की वस्तु का मूल्य भी बढ़ गया। यदि कोई कागज या पैकेट सामान्य भी हो उसमें कोई शास्त्र पैक किया जाता है तो व्यक्ति उस कवर को भी संभालकर रखता है। ध्यान रखता है कहीं गंदे हाथ न लग जाएँ। कीमत उसकी है जो उसके अंदर है। व्यक्ति के पास कलश स्वर्ण का हो चाहे मिट्टी का हो, स्वर्ण और मिट्टी के कलश में विशेष अंतर तब पड़ता है जब उसमें रखने वाला पदार्थ विशेष अंतर वाला हो। सोने के कलश

में यदि जहर भरा हुआ है और उस जहर को देखते ही व्यक्ति की मौत हो जाए, सूंघते ही या स्पर्श मात्र से व्यक्ति की मृत्यु हो जाए तो व्यक्ति उस स्वर्ण कलश को देखना, सूंघना या स्पर्श करना नहीं चाहेगा, उसका पान करना न चाहेगा। और मिट्टी के कलश में यदि अमृत भरा हुआ है तब भी व्यक्ति उसे ग्रहण करना चाहेगा, मिट्टी के कलश में दूध या पानी भी भरा हुआ है तो वह उपादेयभूत है, ग्रहण करना चाहेगा, अंदर में रखी हुई वस्तु से बाहर की वस्तु की कीमत भी बढ़ जाती है।

महानुभाव! आचार्य महोदय सम्यक्त्व की महिमा किस प्रकार बता रहे हैं उन्हीं के शब्दों में देखते हैं–

'सम्यग्दर्शन-सम्पन्नं' जो जीव सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है **'अपिमातंगदेहजम्'** चाण्डाल का पुत्र भी क्यों न हो किन्तु सम्यग्दर्शन से सहित है तो वह भी 'देवाः देवं विदुः' देवों के द्वारा प्रशंसनीय है। वह किस प्रकार से प्रशंसनीय है? जैसे अंगारे पर भस्म छा गई, उसमें अग्नि की चिंगारी है उस चिंगारी में जो अग्नि व दीप्ति विद्यमान है, बाहर से भले ही भस्म हो फर्क नहीं पड़ता किन्तु छोटी सी चिंगारी भी जंगल को जलाने में समर्थ होती है। ऐसे ही भले ही मातंग का पुत्र है, चाण्डाल पुत्र के चित्त में यदि सम्यग्दर्शन है तो वह भी सम्मानीय-प्रशंसनीय हो गया और यदि राजकुल में पैदा हुआ पुत्र भी मिथ्यादृष्टि है, विषयों में आसक्त है तो वह अपने कुल के व्यक्तियों द्वारा भी सम्मान को प्राप्त नहीं होता। पूज्यता का कारण है उसके अंदर का विशिष्ट रत्न।

एक स्थान पर मिट्टी का टीला बना हुआ था। किसी ने पूछा इसकी क्या कीमत है? जवाब मिला इसकी कीमत क्या होगी ज्यादा से ज्यादा 10,000 रुपये, दूसरी जगह पत्थर का सा टीला बना हुआ था उसकी कीमत पूछी तो कहा-50 हजार रुपये, तीसरे स्थान पर भी पत्थर का टीला था उसकी कीमत पूछी तो कहा-एक लाख रुपये एक और स्थान पर टीला देखा तो कीमत कही 10 लाख रुपया। अब एक जगह मिट्टी का टीला बना हुआ था, उसमें छेद सा हो रहा था, उसकी कीमत पूछी तो बताया-वैसे तो ये मिट्टी का टीला है, ज्यादा कीमत नहीं है, सैकड़ों या हजार में भी नहीं। किन्तु लोग कहते हैं इसकी कीमत करोड़ों से भी जयादा है। भाई ऐसा क्यों? ये तो सामान्य सी गंदी सी मिट्टी पड़ी हुई है, कीमत भी सैकड़ों में सामान्य ही होनी चाहिए और आप कह रहे हैं करोड़ों से ज्यादा कीमत होनी चाहिए क्या बात है? वह बोला इस मिट्टी के अंदर छोटे-छोटे हीरे के कण पड़े हुए हैं। इस मिट्टी को धोकर साफ कर लिया जाए, बालू को छान लिया जाए तो इसमें हीरे के कण निकलकर आ जाएँगे। तो

हीरे के कण होने के कारण वह मिट्टी भी मूल्यवान् हो गई। ऐसे ही देह चाण्डाल की है, पर चाण्डाल की देह में भी ऐसी आत्मा वास कर रही है जिस आत्मा में सम्यक्त्व प्रकट हो गया और सम्यक्त्व का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान भी प्रकट हो गया। उस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर वह मांतग देशसंयम को प्राप्त करता है और साधना करता हुआ स्वर्गादिक सुख को प्राप्त करेगा। वह जब स्वर्गसुखों को भोगेगा उससे पूर्व ही वह मातंग सम्यक्त्व व व्रत के माध्यम से देवों के द्वारा पूज्यता को प्राप्त करता है। अहिंसा अणुव्रत में प्रसिद्ध उस चाण्डाल की कहानी तो आपने सुनी ही होगी–

वह मातंग जिसने ''मैं चतुर्दशी के दिन जीव-हिंसा नहीं करूँगा'' यह संकल्प लिया था। एक बार उसे राजा के पुत्र को फाँसी देने का अवसर प्राप्त हुआ, किंतु उस दिन चतुर्दशी थी। चाण्डाल ने मना कर दिया आज मैं हिंसा नहीं करूँगा। राजाज्ञा के कारण सिपाही उसके घर बुलाने के लिए आए। सिपाहियों को आता देख चांडाल घर के भीतर छुप गया और अपनी पत्नी से कह दिया कि वह सिपाहियों से कह दे कि चाण्डाल घर पर नहीं है। पत्नी ने ऐसा ही किया। राजकीय कर्मचारियों से कह दिया कि मेरे पति घर में नहीं हैं, बाहर गए हैं। राजकीय कर्मचारी कहते हैं अरे! वह तो हतभागी है, आज तो राजपुत्र को फाँसी लगनी थी, उसे आज तो कितने अच्छे-अच्छे वस्त्र-आभूषण मिलते। यह सुनकर चाण्डालनी के मन में लोभ आ गया और उन कर्मचारियों को अंगुली के इशारे से बता दिया कि चाण्डाल यहाँ है और मुँह से मना करती रही। कर्मचारी समझ गए और चाण्डाल को पकड़कर ले गए व राजा के समक्ष प्रस्तुत किया। राजा ने कहा इसे फाँसी देना है। चाण्डाल बोला-क्षमा करो राजन्! आज मैं फाँसी नहीं दूँगा आज मेरा अहिंसाव्रत है। राजा बोला क्या चाण्डालों के भी कोई व्रत होते हैं? महाराज! मुनि महाराज ने उपदेश दिया था, उन्होंने कहा था तुम व्रत का पालन कर सकते हो, व्रत पालन करने के लिए ये आवश्यक नहीं है कि शरीर चाण्डाल का है या ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ है या वैश्य-क्षत्रिय कुल में पैदा हुआ है। धर्म के प्रति आस्था तो किसी की भी हो सकती है, परमात्मा से नाता तो कोई भी जोड़ सकता है। चित्त की विशुद्धि बढ़ना चाहिए, मन शुद्ध होना चाहिए तो परमात्मा की भक्ति सच्ची हो सकती है, मन अशुद्ध है तो परमात्मा की कितनी बड़ी-बड़ी मूर्ति भी बनाओ, मंदिर बनाओ उस मंदिर व मूर्ति बनवाने का पुण्य तो मिलेगा किन्तु परमात्मा से साक्षात् संबंध नहीं बनेगा। साक्षात् संबंध बनता है श्रद्धा व आस्था के माध्यम से। एक चाण्डाल द्वारा राजा की आज्ञा का उल्लंघन होते देख राजा बहुत क्रोधित हुआ और यमपाल चाण्डाल को भी मृत्युदंड सुना दिया। भूखे मगरमच्छों से भरे तालाब में उसे

फेंका गया किंतु उसके एक दिन के अहिंसाणुव्रत से प्रभावित होकर देवों ने वहीं यमपाल के लिए सिंहासन की रचना की व अर्घ आदि समर्पित किया।

महानुभाव! आज का जमाना ऐसा है व्यक्ति अच्छी पैकिंग करना चाहते हैं। पैकिंग अच्छी हो इसलिए अधिकांश लोग पैकिंग पर रीझ जाते हैं, माल चाहे कितना ही घटिया हो वे ठगे जाते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो पैकिंग भी अच्छी माँगते हैं और माल भी अच्छा माँगते हैं। जैसे कोई व्यक्ति शक्कर, गेहूँ, चना कुछ लेने गया, तो बोरे में चुँगी लगाकर परख लेते हैं तब उसे लेते हैं, बाहर का बोरा कैसा है, सड़ा नहीं और अंदर का माल भी ठीक है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो पैकिंग खराब हो तो चलेगी किंतु माल अच्छा होना चाहिए, कुछ व्यक्ति ऐसे होते है पैकिंग भी खराब चलेगी, माल भी खराब चलेगा मुझे तो सस्ता माल चाहिए।

महानुभाव! चार प्रकार के व्यक्ति हैं—जो व्यक्ति पैकिंग व माल दोनों ही अच्छा माँगता है वह उच्चकुलीन धर्मात्मा है। वह परमात्मा की भक्ति में अहर्निश लगा रहा रहता है, उनके प्रति श्रद्धावान् रहता है, प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में ब्रह्मस्वरूप आत्मा का ध्यान करता है, उनकी भक्ति-स्तुति वंदना करता है। एक व्यक्ति ऐसा है बाहर की पैकिंग अच्छी है किंतु माल खराब है, वह उच्चकुलीन तो है किन्तु पापों में संलग्न है। तीसरा व्यक्ति है जिसकी पैकिंग खराब है किंतु माल अच्छा है, वह कोई निम्नकुल में उत्पन्न हुआ चाण्डाल आदि का पुत्र है, उसका शरीर भले ही रोगी है, गलित कुष्ट है, सड़ा-गला कैसा भी है किन्तु धर्म के प्रति बड़ी आस्था है, सबकी सेवा करता है, धर्म में लगा रहता है, प्राणीमात्र के प्रति करुणा-दया का भाव रखता है। उसकी पैकिंग खराब है किंतु माल अच्छा है और चौथा वह है जिसकी पैकिंग भी खराब और अंदर का माल भी खराब है वह नीच कुल में पैदा हुआ और पाप कर रहा है, अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करता है, अण्डा-माँस खाता है, गंदे कार्य करता है, उसका शरीर भी गंदा और उसकी आत्मा भी गंदी। पैकिंग भी गलत और माल भी गलत। ये चार तरह के व्यक्ति हैं।

महानुभाव! सम्यग्दृष्टि व्यक्ति उस कलश की तरह से है जिसमें अमृत भरा हुआ है चाहे वह शरीर रूपी कलश सोने का हो या मिट्टी का किन्तु अंदर अमृत होना चाहिए। वह सम्यक्त्व अमृत की तरह से है जो आत्मा को अमरत्व एवं शाश्वत दशा देने वाला होता है। वह सम्यक्त्व आपकी आत्मा में भी प्रकट होना चाहिए जिससे आप अपनी आत्मा का कल्याण कर सकें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ—

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म और अधर्म का फल

श्वापिदेवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम्॥29॥

अन्वयार्थ–धर्मात् – धर्म के प्रभाव से, **श्वापि** – कुत्ता भी, **देवः** – स्वर्ग का देव **जायते** – हो जाता है। **किल्विषात्** – अधर्म अर्थात् पाप के प्रभाव से, **देवः अपि** – स्वर्ग का देव भी, **श्वा** – कुत्ता, **जायते** – हो जाता है, **शरीरिणाम्** – संसारी जीवों के, **धर्मात्** – धर्म के प्रभाव से, **अन्या कापि नाम सम्पत्** – कोई एक अद्वितीय सम्पत्ति अर्थात् ऐश्वर्य, **भवेत्** – प्राप्त होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी इस रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ की 29 वीं कारिका के माध्यम से धर्म और पाप का फल बता रहे हैं– पूर्व कारिका में सम्यक्त्व का महत्व बताया कि सम्यग्दर्शन धर्म का एक अंग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर धर्म की पूर्णता करते हैं। अकेला सम्यग्दर्शन पूरा धर्म नहीं है, अकेला सम्यग्ज्ञान पूरा धर्म नहीं है, अकेला सम्यक् चारित्र पूरा धर्म नहीं है, तीनों मिलकर ही सम्पूर्ण धर्म बनते हैं। व्यवहार में इन्हें तीन कहते हैं किन्तु निश्चय में रत्नत्रय एक होता है। अभेद रत्नत्रय से परिणत आत्मा ही धर्म है क्योंकि धर्म और आत्मा अलग-अलग चीज नहीं हैं, धर्म आत्मा का स्वभाव है और आत्मा उस धर्म को धारण करने वाली धर्मी है। जैसे जल और जल की शीतलता। जल से जल की शीतलता अलग नहीं है एकमेक है, अग्नि और उसकी ऊष्णता अलग नहीं है एकमेक है ऐसे ही धर्म और धर्मात्मा अलग-अलग नहीं एकमेक हैं।

अब यहाँ देख रहे हैं धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी वैमानिक देव हो जाता है, पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता की पर्याय को प्राप्त हो सकता है। आप जानते हैं मिथ्यादृष्टि देव एक इन्द्रिय में आकर भी पैदा हो सकते हैं। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म-ईशान स्वर्ग के देव एक इन्द्रिय में आकर भी उत्पन्न हो सकते हैं। इन संसारी प्राणियों के लिए धर्म से बढ़कर और कोई सम्पत्ति नहीं है। धर्म ही समीचीन शाश्वत सम्पत्ति है। इसलिए उसे ही प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जो इस बात को नहीं जानते हैं वे अपना जीवन धन कमाने में निकाल देते हैं, अपना जीवन परिवार को बढ़ाने में उनका पालन-पोषण करने में लगा देते हैं किन्तु अपनी आत्मा का पोषण करने में नहीं लगाते। शरीर का पोषण, परिवार का भरण-पोषण चल रहा है; पर आत्मा का शोषण होता चला जाता है।

शरीर को धारण करने वाले संसारी प्राणियों के लिए धर्म से बढ़कर कोई सम्पत्ति नहीं है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो धर्म से बढ़कर हितकारी हो। तीनों लोकों में तीनों कालों में धर्म से बढ़कर न कुछ था, न कुछ है और न कुछ होगा। धर्म ही इस संसारी प्राणी के लिए आज भी सुखकर है, कल भी था और कल भी सुखकर ही होगा। धर्म के फल से कुत्ता भी देव हो जाता है। आपको ज्ञात है–निशिभोजन कथा आपने पढ़ी या सुनी होगी।

एक कुत्ता जिसे कुमार जीवंधर ने णमोकार मंत्र सुनाया था। कुमार जीवंधर प्रातःकाल पूजार्चना के लिए शुद्ध धवल वस्त्र पहन हाथ में स्वर्ण के बर्तनों में पूजन सामग्री लेकर जिनालय की ओर जा रहे थे। मार्ग में एक कुत्ता तड़पता हुआ चला आ रहा था, उस मरणासन्न कुत्ते को देखकर के जीवंधर कुमार ने भगवान् की पूजा का भाव तो एक तरफ किया और भाव हुआ कि इस तड़पते जीव का पहले कल्याण होना चाहिए। यदि इसी तड़पन में आर्त्तध्यान के साथ इसके प्राण निकल गए तो संभव है तिर्यंच बनेगा या परिणाम रौद्र हो गए तो नरक आयु में जा सकता है। इस कुत्ते का आर्त्त-रौद्र ध्यान इसकी खोटी आयु का कारण न बन जाए इसलिए पूजन की सामग्री तो एक साइड रख दी और उसके पास बैठकर णमोकार महामंत्र सुनाने लगे, एवं संबोधन देने लगे हे भव्य जीव! तू अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है आज अपने परिणामों को मरते समय नहीं संभालेगा तो दुर्गति में चला जाएगा। पूर्वभव में तूने कोई ऐसा कृत्य किया होगा जिसका फल तुझे ताड़ना रूप मिल रहा है। तेरे ही पाप कर्म का फल है, तू क्यों किसी पर क्रोध करता है, क्यों किसी के प्राण लेने का मन में संकल्प करता है। सभी को अंतरंग से क्षमा कर दे व सभी से क्षमा माँग ले। णमोकार मंत्र का, पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं यह संबोधन उसके अंदर में चला गया। जैसे-जैसे संबोधन अंदर जा रहा है वैसे-वैसे उस कुत्ते के परिणाम शांत हो रहे हैं।

जिस प्रकार गिलास में रखे दूध में 1-1 शक्कर का दाना कोई डालता चला जाए तो दूध मीठा होता चला जाता है; ऐसे ही धर्मात्मा का संबोधन किसी क्रूर प्राणी को भी मिल जाता है तो उसके परिणाम भी शांत होने लगते हैं। सूखी मिट्टी में 1-1 बूंद पानी की गिरती है तो वह भी गीली हो जाती है, वह भी नम हो जाती है। किसी संतप्त शिला पर पानी की बूंद गिरती है तो वह शिला भी शीतल हो जाती है ऐसे ही किसी धर्मात्मा का संबोधन प्राप्त होता है तो हिंसक सिंह आदि जानवर भी अपने परिणाम बदल लेते हैं।

आपको ज्ञात होगा अमरचंद दीवान ने एक क्रूर शेर को जलेबी खिलाई; ये कहकर कि हे वनराज सिंह! यदि तुम्हें अपना पेट भरना है तो मैं तुम्हें यह शुद्ध भोजन खिलाना चाहता हूँ। हिंसा करने का तेरा भाव है तो मैं किसी जीव को तेरे सामने नहीं रख सकता। मैं स्वयं तेरे सामने उपस्थित हूँ तुझे जो स्वीकार हो वह ग्रहण कर। राजा ने अमरचंद की परीक्षा के लिए ऐसी आज्ञा दी थी कि तुम अहिंसक हो तो भूखे शेर को भोजन करके बताओ। राजा को लगा कि सेठ शेर के भोजन के लिए बकरे आदि जानवर को मारेगा; तब देखता हूँ इसका धर्म कैसे पलेगा। किंतु अमरचंद दीवान ने किसी जीव की हिंसा करना स्वीकार नहीं किया वरन् स्वयं को ही उसके सामने उपस्थित कर दिया, वे स्वयं पिंजरे में घुस गए। यह देख राजा भी अचम्भित रह गए। शेर ने अमरचंद की ओर देखा, अहिंसा की शक्ति को पहचाना, उस निर्भीक आवाज को सुना तो शेर का मन बदल गया और आश्चर्य तो तब अधिक हुआ जब वह शेर जलेबी खाने लगा और अमरचंद दीवान के सामने ऐसे बैठ गया जैसे कोई उनका पालतू जानवर ही हो।

महानुभाव! जब कोई व्यक्ति अच्छी भावना से संबोधन देता है, निःस्वार्थ भावना से, आत्मीयता से समझाता है तो सामने वाले पर प्रभाव पड़ता है। जीवंधर स्वामी का संबोधन कुत्ते पर प्रभाव डाल गया और कुत्ता उनके संबोधन को सुनते-सुनते मृत्यु को प्राप्त हुआ व देव अवस्था को प्राप्त हुआ। आचार्य भगवन कह रहे हैं– 'श्वाः अपि देवाः' कुत्ता भी देव हो सकता है। किससे? 'धर्मात्' धर्म के प्रभाव से। दूसरी ओर 'देवः अपि श्वा जायते' देव भी कुत्ता हो सकता है, किसके प्रभाव से? 'किल्विषात्' पाप के प्रभाव से। व्यंतर आदि देव जो मध्यलोक में भटकते रहते हैं, ज्योतिषी देव जो विमान में रहते हैं, भवनवासी देव जो पाताल में और मध्यलोक में भी रहते हैं वे यदि किसी को सताते हैं, सुनने में आता है किसी को व्यंतर बाधा है उसे भूत-प्रेत आदि परेशान कर रहे हैं यदि उन देवों को धर्म का संबोधन दिया वे फिर भी नहीं माने, पूर्व भव के बैर वश उस जीव को सताये जा रहे हैं तो वह देवगति का देव भी क्रूर परिणामों के साथ पाप कमाकर पुनः कुत्ते की अवस्था में आ सकता है। ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। वह कुत्ता भी बन सकता है, शूकर भी बन सकता है, एकेन्द्रिय वृक्ष आदि भी बन सकता है अन्य निकृष्ट अवस्था में भी जा सकता है।

इसलिए यहाँ आचार्य महोदय बता रहे हैं कि ये धर्म की महिमा है। जैसे मिशरी की संगति से पानी भी मीठा हो जाता है और नमक की संगति से दूध भी खारा हो जाता है। मिशरी मीठी है वह गंदे पानी को भी मीठा कर देती है, नमक खारा है तो दूध को भी खारा कर दिया। पुष्प में गंध है, पुष्प की टोकरी में कपड़ा ढक दिया तो कपड़े में भी सुगंध आ गई, प्याज

यदि बदबूदार है वही कपड़ा प्याज की टोकरी पर ढाक दिया तो बदबू से भर गया। संगति का प्रभाव पड़ता है। हाथ में मिर्ची ली तो मिर्ची की जलन हाथ पर आ गई और मेहंदी ली तो वह रच गई, चंदन लिया तो उसकी गंध आ गई या कोई दुर्गंध युक्त वस्तु ली तो बदबू आ गई। प्रभाव पड़ता ही है **'जैसी संगत वैसी रंगत'** आती ही है। यदि कोई जीव धर्म की और धर्मात्मा की संगति करता है तो उसमें धर्म का प्रभाव आता है, यदि कोई जीव पाप की या पापी जीव की संगति करता है तो वह भी पापी हो जाता है।

लकड़ी यदि अग्नि की संगति करती है तो वह भी अग्नि बन जाती है, जल भी बर्फ (-Temp.) की संगति करता है तो बर्फ बन जाता है। एक विद्वान् के साथ बैठा सामान्य व्यक्ति भी लोगों की दृष्टि में विद्वान् माना जाने लगता है, जुआरी, चोर या डाकू की संगति में सज्जन व्यक्ति भूल से भी पहुँच जाएगा तो लोग उसे बदमाश ही समझेंगे। कई बार ऐसा होता है आहार के बाद चौके से लौटते समय मार्ग में आ रहे होते हैं और चौके वाले हमारे साथ में होते हैं तो कई बार ऐसा देखने में आया जैनेतर व्यक्ति हमें प्रणाम करने के साथ-साथ उस चौके वाले श्रावक को भी प्रणाम निवेदित कर देता है, उसके भी पैर छू लेता है, क्यों? क्योंकि यह मुनिराज की संगति में है, यह भी भला व्यक्ति ही होगा। वही व्यक्ति चोर के साथ जा रहा हो तो चोर को चार डंडे पड़ेंगे तो इसको भी दो डंडे पड़ ही जाएँगे। तो संगति का ये प्रभाव है। जिसने धर्म की संगति की तो अच्छा हो गया, जिसने पाप की संगति की वह पापी हो गया।

महानुभाव! स्वाति नक्षत्र में बरसी जल की बूँद सीप की संगति करती है तो मोती बन जाती है, यदि उस जल बिन्दु ने सर्प की संगति की तो वह जहर बन गई, केले पर पड़ी तो कपूर बन गई, भगवान् के सिर पर गिरी तो गंधोदक बन गई, यदि धूल में गिरी तो कीचड़ बन गई, नींबू में खट्टी, आँवलें में कषैली, ईख में मीठी, नीम में वही बूँद कड़वी हो गई और मिर्ची में चरपरी हो गई ऐसे ही यह संसारी प्राणी जैसी संगति करता है वैसा ही हो जाता है। धर्म की संगति करता है तो धर्म का रसायन इस आत्मा को परमात्मा का रूप दे देता है और पाप की संगति करता है तो ये पाप इस आत्मा को पापिष्ठ बना देता है, इस आत्मा को दुर्गति का पात्र बना देता है, यह संगति का प्रभाव है। हल्दी, चूना जब एक साथ मिलते हैं तो लाल रंग आ जाता है न पीला रहता न सफेद ऐसे ही धर्म और आत्मा जब मिलते हैं तो वह पहले तो धर्मात्मा कहलाता है किन्तु वह धर्म आत्मा के एक-एक प्रदेश में अपना प्रभाव छोड़ता है तो वह धर्म उस आत्मा को परमात्मा बना देता है, शुद्धात्मा, भगवान् आत्मा, सिद्धात्मा बना देता है।

महानुभाव! भव्य जीवों को धर्म की संगति करना चाहिए पाप की नहीं, धर्मात्मा की संगति करना चाहिए पापी की नहीं। धर्मात्मा की संगति से ही आत्मा धर्मात्मा बनती है और धर्म के फल से ही धर्मात्मा परमात्मा बनती है। आप सभी उस धर्म का अनुसरण करें, सेवन करें, धर्म का पालन करें, धर्म को धारण करें जिससे धर्म आपको उठाकर सिद्धालय में धारण कर दे, वहाँ पहुँचा दे, ऐसी हम आपके प्रति भावना रखते हैं और इन्हीं सद्भावनाओं के साथ शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दृष्टि का आवश्यक कर्त्तव्य

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागम-लिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव, न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥30॥

अन्वयार्थ–शुद्धदृष्टयः – शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव, **भय-आशास्नेह-लोभात् च** – भय, आशा, स्नेह और लोभ से भी, **कुदेवागमलिङ्गिनाम्** – कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं को, **प्रणामं** – नमस्कार, **च** – और, **विनयं** – विनय, **एव** – भी, **न कुर्युः** – नहीं करे।

व्याख्यान–महानुभाव! संसार में अनेक प्रकार के पदार्थ हैं, उनका पृथक्-पृथक् स्वभाव है, जिस पदार्थ का संयोग जिसके साथ जैसा होता है उस प्रकार का प्रभाव उस पदार्थ में भी आने लगता है। यहाँ आचार्य महोदय सम्यक्त्व की चर्चा करते हुए सम्यग्दृष्टि की विशेषता बता रहे हैं। जैसा पूर्व में बताया सम्यग्दर्शन क्या है, सम्यग्दर्शन का स्वरूप, उसके अंगों की चर्चा की, सम्यक्त्व के दोष, तीन मूढ़ता, आठ मद आदि के त्याग की बात कही। अब बता रहे हैं जो सम्यग्दृष्टि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन चार लक्षणों से युक्त होता है वह परमार्थभूत जिनदेव, परमार्थ में कारणभूत जिनवाणी और परमार्थ पर चलने वाले निर्ग्रंथ गुरुओं की उपासना-भक्ति-सेवा-पूजार्चना आदि कार्य सम्पन्न करता है। जो परमार्थ के मार्ग के प्रतिकूल हैं, परमार्थ के मार्ग में नहीं लगे हैं, जो संसार के संवर्धक हैं ऐसे कोई भी तत्त्व हैं, नाम भले ही उनका देव-शास्त्र-गुरु हो या कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु हो, जो संसार का कारक है वह मोक्ष का कारक नहीं हो सकता। मुक्ति का कारक और संसार का कारक एक नहीं अलग-अलग है। संसार का कारण है बंध और बंध का कारक है आस्रव, तो आस्रव और बंध संसार में ही अपना फल देते हैं। आस्रव का फल है कर्म का बंध और कर्म बंध का फल है जब कर्म उदय में आएगा तो इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं की सम्प्राप्ति कराएगा। जबकि मोक्ष का कारण है संवर और निर्जरा। आते हुए कर्मों को रोक देना और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करना मोक्ष का हेतु है।

अथवा मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र संसार का कारण हैं। ये कभी भी, किसी भी काल में, किसी भी आत्मा के लिए मोक्ष का निमित्त नहीं हो सकते। इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, किसी भी आत्मा के लिए संसार का कारक नहीं हो सकते। जितने अंश में राग व द्वेष होता है उतने अंश में कर्म का बंध

होता है, जितने अंश में सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र होता है उतने अंश में कर्म का बंध नहीं होता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र नियम से मोक्ष के ही कारण हैं, संसार के नहीं। जो सम्यग्दृष्टि जीव परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु का वंदन करता है, उनकी अर्चन-पूजन-विनय-उपासना करता है, उनकी भक्ति करता है, स्तुति गाता है वह कदापि परमार्थ से विपरीत कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु का वंदन-पूजा-भक्ति आदि नहीं करता।

यहाँ पर कारिका नं-30 में आचार्य भगवन् बता रहे हैं कि यदि आपको मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा है तो मोक्ष के आवश्यक अंगों का सहारा ले लो। जो मोक्ष के विपरीत मार्ग है उस पर अपने कदम मत रखो। मोक्ष के आवश्यक अंग हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। सम्यक्त्व के मूलभूत तत्त्व हैं-परमार्थभूत देव, परमार्थभूत शास्त्र और परमार्थभूत गुरु। देव में सर्वज्ञ, वीतरागी हितोपदेशी जिनेन्द्र प्रभु, शास्त्र में जिनेन्द्र भगवान् की वाणी, अनेकान्त धर्मों से समन्वित एवं स्याद्वाद शैली में जिसका प्ररूपण किया गया है। निर्ग्रंथ गुरु जो मुमुक्षु हैं, वे दोनों प्रकार के परिग्रह से यथाशक्य विरहित, पापादि से निवृत्त, आरंभ-परिग्रह से विरक्त तथा ज्ञान-ध्यान-तप में संलग्न। ये तीन मोक्षमार्ग के आवश्यक अंग हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं इन तीन को प्रणाम करने से, भक्ति-स्तुति-वंदना करने से मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। ये सम्यक्त्व के आयतन हैं।

जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है उन्हें भय से, आशा से, स्नेह से व लोभ से कुदेव, कुआगम व कुलिंगियों को प्रणाम-विनय-भक्ति आदि नहीं करना चाहिए। सर्वप्रथम समझने की बात यह है कि कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु का स्वरूप क्या है, जब तक स्वरूप समझ नहीं आएगा तब तक व्यक्ति अज्ञानतावश, प्रमादवश, पूर्व संस्कार के कारण या किसी संगति में आकर के भय से, आशा से, स्नेहवश या लोभ में आकर उन्हें प्रणाम कर सकता है। कुदेव किसे कहते हैं? पहले देव शब्द को समझें। 'देव' शब्द का आशय होता है जिस प्राणी के जीवन में देवायु का उदय है, देवगति नामकर्म का उदय है वे देव कहलाते हैं। वे देव चार प्रकार के होते हैं वाणव्यंतर, भवनवासी, ज्योतिषी और वैमानिक। चारों निकायों में सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी होते हैं। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान तक के देव देवगति के देव हैं। दूसरे होते हैं 'देवाधिदेव' जो वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी होते हैं। तीसरे होते हैं अदेव, जिनमें देवत्वपना नहीं है। अदेव का आशय है जो देवगति के जीव नहीं है। जैसे किसी भी वस्तु में देवपने की कल्पना करना, जैसे कोई वृक्ष को देव मानता है, कोई किसी कूप-नदी-सरोवर को देव मानता है, कोई किसी पाषाण को देव मानता है, कोई किसी पशु-पक्षी या उनके अंग विशेष को देव मानता है तो ये देव नहीं है इनमें देवत्वपना ही नहीं है। न तो देवगति का देवत्वपना है, न देवाधिदेव का देवपना है।

अब आगे चलते हैं–तो फिर कुदेव कौन हैं? कुदेव के संबंध में शायद आज तक आपकी धारणा बनी हुई है कि जिनशासन के रक्षक देवी-देवता हैं, चाहे यक्ष-यक्षिणी हों, चाहे क्षेत्रपाल आदि हों, चाहे जिनशासन के प्रभावक जिनशासनरक्षक देव-देवी हों। ऐसा बहुत से लोग मानते हैं, आप क्या मानते हैं यह आप जानें। जिनेन्द्र भगवान् के यक्ष-यक्षिणी, पद्मावती, धरणेन्द्र, चक्रेश्वरी देवी, ज्वालामालिनी देवी, कुष्मांडिनी देवी या और भी उनके यक्ष वा क्षेत्रपाल आदि हैं तो क्या वे आपकी दृष्टि में कुदेव हैं? यदि आप ऐसा मानते हैं तो नि:संदेह गलत मानते हैं। वे कुदेव नहीं हैं। आपको सुनकर आश्चर्य हो रहा होगा। हाँ, वे कुदेव नहीं हैं यदि आपको शास्त्रों में, पूर्वाचार्यों की वाणी में कहीं पढ़ने में ऐसा आया हो कि जिनशासन के रक्षक, प्रभावक या तीर्थंकर भगवान् के यक्ष-यक्षिणी कुदेव हैं तो बताईए।

वे कुदेव क्यों नहीं हैं? उसका कारण बताते हैं–आप जानते हैं कि षट्आयतन होते हैं और षट् अनायतन होते हैं। छह अनायतन हैं-कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुदेव के सेवक, कुशास्त्र के सेवक, कुगुरु के सेवक। और छह आयतन हैं वीतरागी देव, जिनेन्द्रभगवान् की वाणी और निर्ग्रंथ गुरु और इन तीनों के उपासक अर्थात् वीतरागी देव के उपासक, जिनवाणी के उपासक और निर्ग्रंथ गुरुओं के उपासक; तो जो वीतरागी देव के उपासक हैं वे तो आयतन में आ गए, जब वे आयतन में आ गए तो अनायतन कैसे हुए? वे कुदेव कैसे हुए? जो आयतन हैं वे कुदेव कैसे हो सकते हैं? एक ही वस्तु एक ही समय में आयतन और अनायतन कैसे हो सकती है? वीतरागी देव, जिनवाणी और निर्ग्रंथ गुरु आधार स्तम्भ हैं और इनका उपासक कोई साधर्मी है तो क्या वह धर्म का विरोधी है, जो जिनेन्द्र भगवान् की वाणी का स्वाध्याय करने वाला है क्या वह धर्म का विरोधी है, जो निर्ग्रंथ गुरुओं की सेवा करने वाला है तो क्या वह धर्म का विरोधी है? नहीं, ये छह आयतन हैं ये तो सम्यक्त्व की पुष्टि करने वाले हैं, सम्यक्त्व का खंडन करने वाले नहीं हैं।

फिर जो अनायतन हैं कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र इनमें कुदेव कौन हैं? कुदेव का आशय अब समझिए-आपने यदि साधर्मी को साधर्मी माना तो आपने कुदेव या कुगुरु की उपासना नहीं की, यदि आपने सामान्य पुस्तक को सामान्य पुस्तक माना, शास्त्र नहीं माना तो भी आपने कुशास्त्र उपासना नहीं की। रागी-द्वेषी देवों का लक्षण विद्वत्वर दौलत राम जी ने दिया–

जे रागद्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादि जुत चिह्न चीन।
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, षट् करत न तिन भव भ्रमण छेव॥

जो व्यक्ति इनकी उपासना करता है तो वह मूर्ख व्यक्ति इनकी उपासना करने से संसार भ्रमण का छेद नहीं कर सकता, यदि इनको सच्चा देव मान लेता है तो। किनको? जो राग-द्वेष के मल से मलिन हैं, स्त्री आदि रखते हैं, गदा, तलवार, भाला आदि शस्त्र रखते हैं उन्हें यदि भगवान् मानकर, वीतरागी मानकर, परमार्थभूत मानकर पूजा करते हैं तब निःसंदेह वह सम्यक्त्व का दोष होता है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव, जो अपनी आत्मा को परमात्मा बनाना चाहता है, अपनी आत्मा में विद्यमान कर्मों का नाश करना चाहता है वह इस प्रकार के देवों को वीतरागी देव न माने। जो जिनवाणी स्याद्वाद से समन्वित है, अनेकान्त शैली से युक्त है, जिसमें अहिंसा का पोषक धर्म कहा गया है, आत्मा के स्वभाव को प्राप्त करने की विधि बताई गई है वह आगम सच्चे शास्त्र हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कामशास्त्र, कोपशास्त्र, भोजनशास्त्र, अन्यकलाओं को सिखाने वाले शास्त्र मोक्षमार्ग में कारक नहीं हैं, वे तो संसार के संवर्धक हैं, अपनी रुचि के अनुसार उन्हें पढ़ें किन्तु उनके माध्यम से मोक्षमार्ग की प्राप्ति न होगी, कर्मक्षय का मार्ग नहीं मिलेगा।

'कुलिंगी' वे हैं जो नाना प्रकार के वेष को धारण करते हैं, उन्हें मुमुक्षु नहीं कह सकते, उन्हें मोक्ष का राही नहीं कह सकते, शिवपंथी नहीं कह सकते। संसार मार्ग पर चलने वाले जो अनेक गुरु होते हैं वे कुगुरु में आते हैं, इन तीनों के उपासक भी अनायतन हुए, जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव हैं उन्हें इनको प्रणाम-विनय-भक्ति नहीं करना चाहिए। कैसे नहीं करना चाहिए तो आचार्य महोदय कह रहे हैं—भय से नहीं करना चाहिए, कई बार व्यक्ति भय के कारण उनको प्रणाम करता है। किसका भय? राजा का भय कि राजा दण्ड देगा, यदि राजा ने कहा इनको प्रणाम नहीं करोगे तो सबको मृत्युदण्ड दे दूँगा। पहले ऐसे राजा होते थे जो क्रूर परिणामी होते थे, वे कहते थे यही धर्म तुम्हें मानना पड़ेगा, इसी देवता की पूजा करनी पड़ेगी, ये राजगुरु हैं इनकी ही उपासना करनी पड़ेगी। तो इस प्रकार राजभय से कुदेव-कुगुरु को प्रणाम करता है। स्त्री भय से—वह कहती है मैं तुम्हें तब चाहूँगी जब तुम इस प्रकार का धर्म स्वीकार करो नहीं तो मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगी या तुम्हारी बदनामी कर दूँगी इस प्रकार स्त्री के भय से भी प्रणाम करता है। भोग के भय से कि मुझे भोग प्राप्त नहीं होंगे अथवा पुत्र के भय से या लोक निंदा के भय से कि अगर मैं इनके धर्म को न मानूँ, इन देवता को प्रणाम न करूँगा तो लोग निंदा करेंगे। या लोग डरा दें कि तुमने इस देवी की पूजा नहीं की या देवता की पूजा नहीं की तो कोई भी प्राकृतिक प्रकोप हो सकता है, भगवान तुम पर कुपित हो जाएँगे, वे तुम्हें बर्बाद कर देंगे या कोई प्राकृतिक महामारी आदि आ जाएगी या इन देवताओं की पूजा न करोगे तो मृत्यु की प्राप्ति हो जाएगी आदि-आदि अनेक भयों से व्यक्ति इनको प्रणाम करता है।

जय-विजय के सम्यक्त्व की परीक्षा हुई। देवों ने सर्प बनकर उनकी परीक्षा ली। वे उनके घर पहुँचे और पूरे परिवार को मृत्यु के द्वार पहुँचा दिया और उनसे कहा अब हमारा धर्म स्वीकार करो। जय-विजय ने कहा-मैं मर सकता हूँ किन्तु असत्य को कभी सत्य नहीं कह सकता, सत्य को असत्य नहीं कह सकता। सत्य को सत्य और असत्य को असत्य ही कहूँगा। मृत्यु का भय दिखाने पर भी वे नहीं माने।

व्यक्ति लोभ के भय से भी प्रणाम करता है, यदि तुमने ऐसा नहीं किया तो तुम्हारा पूरा धन हरण कर लिया जाएगा इस प्रकार से भय के कारण लोग सत्य को सत्य नहीं कह पाते। जब सामने भय दिखाई दे रहा हो तो व्यक्ति झूठ बोलने लगता है। एक बार एक पुलिस वाले ने एक ऐसे अपराधी को पकड़ा जिसने अपराध तो छोटा सा किया था किन्तु पुलिस वालों ने पकड़कर उसकी पिटाई की और उससे कहा ये तीनों अपराध स्वीकार कर कि ये तीनों चोरियाँ तूने ही की है। जबकि अन्य तीन चोरियाँ तीन अलग चोरों ने की थी किंतु पुलिस वाले को शायद अन्य चोरों को बचाना था; उससे कहा अपराध स्वीकार कर अन्यथा अभी तो मैंने कुछ नहीं मारा, हम तुम्हारी बहुत पिटाई लगाएँगे, तू तड़प-तड़प कर मरेगा, बोल चोरी तूने की है। वह चोर पिटाई के भय से बोला हाँ, तीनों-चारों चोरी मैंने ही की हैं। उससे लिखवा लिया कि सभी चोरियाँ उसी ने की।

महानुभाव! डर के मारे व्यक्ति असत्य को सत्य व सत्य को असत्य कह देता है। ऐसे ही आक्रान्ता-क्रूर परिणामी यवन सम्राट हुए जिन्होंने कहा इस्लाम धर्म को स्वीकार करो नहीं तो तुम्हारे मंदिरों को तोड़ देंगे। उस समय कई जैनों व हिन्दुओं ने दाढ़ी रखना प्रारंभ कर दिया, अपना वैसा ही भेष बना लिया जैसे मुसलमान ही बन गए। इस प्रकार व्यक्ति भय से प्रवृत्ति करता है। अथवा कोई ऐसा भय दे दे कि तुमने हमारे धर्म को स्वीकार नहीं किया तो हम तुम्हारी पुत्री का अपहरण कर लेंगे या स्त्री का अपहरण कर लेंगे, तुम्हारे गाँव में आग लगा देंगे। ऐसे क्रूर आक्रान्ता सम्राट हुए उन्होंने जबरदस्ती अपने धर्म को लोगों पर थोप दिया, जबरन उनके लिए ऐसी समस्या खड़ी कर दी कि वह व्यक्ति भय के कारण अपने धर्म को छोड़कर के दूसरे धर्म में पहुँच गया।

भय भी बहुत बड़ी चीज होती है। व्यक्ति जब भयभीत होता है तो वह रागी-द्वेषी अथवा अन्य प्रकार से मोह से आविष्ट कुलिंगी, सरागी को भगवान् कहने लगता है, झुक जाता है। जो व्यक्ति सम्यक्त्व में सुदृढ़ नहीं होते वे तो झुक जाएँगे किन्तु जो व्यक्ति शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं वे तलवार के सामने भी झुकते नहीं, चाहे उनका गला काट दो। वे कहते हैं मेरे प्राण जाएँ किन्तु मैं अपने प्रण को नहीं छोड़ सकता, प्राण चले जाएँ पर मेरा धर्म नहीं जाएँ, धर्म मेरे

साथ रहेगा तो इस लोक व परलोक दोनों में सुख मिलेगा, मेरा धर्म नहीं रहा तो मेरे पास क्या बचा। अधर्म का सेवन करने से दुर्गति की प्राप्ति होगी। भय के कारण अधर्म का सेवन करने से चलो आज निर्भय अवस्था को प्राप्त हो रहा हूँ किन्तु जो आक्रान्ता क्रूर परिणामी शासक मुझे झुका रहा है, पाप करा रहा है उसके भी पाप कर्म का उदय आ सकता है, वह भी पाप से दु:खी हो सकता है, वह भी पाप का शिकार बन सकता है, मैं भी पाप का शिकार बन सकता हूँ इसलिए पाप का साथ तो मैं नहीं दूँगा। कोई पूर्व भव का बंधा कर्म उदय में आ रहा है इस कारण मुझे यह उपसर्ग सहन करना पड़ रहा है। ऐसे उदाहरण भी जिनागम में हैं जो उपसर्ग आने पर भी झुके नहीं, देवों ने आकर के उनके उपसर्ग को दूर किया।

उपसर्ग चाहे सीता सती पर आया हो या द्रोपदी पर आया हो, उपसर्ग चंदनबाला पर आया हो या मनोवती पर, मनोरमा पर आया हो या सुरसुंदरी पर आया हो, नीली बाई, अनंतमती पर आया हो चाहे वह उपसर्ग सुदर्शन सेठ पर आया हो, चाहे वारिषेण पर आया हो चाहे पाण्डुपुत्रों पर आया हो, गुरुदत्त मुनिराज पर आया हो चाहे पार्श्वनाथ स्वामी पर ही क्यों न आया हो किन्तु जो उपसर्ग से नहीं डिगे उनके चरणों में आज विश्व अपना माथा टिका रहा है, उनका नाम लेकर के पापों का क्षय कर रहा है, उनकी जय बोलकर भी पुण्य का आस्रव कर रहा है। जो उस उपसर्ग से डर गया तो समझो वह मर गया और जो नहीं डरा वह तिर गया। तो डरना नहीं है, डर के आगे जीत है।

यदि आपने भय को पार कर लिया तो आपकी जीत ही जीत है और भय से यदि डर गए, मर गए तो कुछ नहीं कर पाए। जब यह जीवन भी बर्बाद कर दिया तो आगे कितने जीवन बर्बाद होंगे कौन जानता है। अत: भय के कारण अपने सत्य को मत छोड़ो, संयम को मत छोड़ो। भय के कारण अपनी अस्मिता को मत छोड़ो। भय के कारण जो स्त्री अपने शील को छोड़ देती है तो क्या वह धर्मात्मा हो सकती है? भय से कोई अपना धर्म-व्रत-नियम तोड़ दे तो क्या धर्मात्मा हो सकता है? नहीं! देखो वह मातंग चाण्डाल जिसने चतुर्दशी को अहिंसा व्रत पालन करने का नियम लिया। एक बार राजा ने घोषणा कराई कि कोई मेरे राज्य में अष्टाह्निक पर्व के आठ दिन हिंसा नहीं करेगा, किंतु राजपुत्र ने पर्व में बकरे की हत्या कर उसका भक्षण किया था इसलिए राजाज्ञा भंग के अपराध के दण्ड स्वरूप राजा ने राजपुत्र को फाँसी की सजा सुनाई। अब चाण्डाल को राजपुत्र को मृत्युदण्ड देना था। चाण्डाल ने कहा-राजन्! मुझे क्षमा करें, आप हमारे अन्नदाता हैं, आप हमारे शासक हैं, हम आपकी किसी भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते पर ये आज्ञा हमारे धर्म के विरुद्ध है। मैंने यह नियम लिया है कि मैं चतुर्दशी पर्व के दिन हिंसा नहीं करूँगा, मैं इस प्रतिज्ञा का

उल्लंघन नहीं करूँगा। राजा ने डराया, तुम समझते नहीं किससे कह रहे हो, ना कहने का परिणाम नहीं जानते क्या? वह बोला-हाँ जानता हूँ, सामने मेरी मृत्यु है, राजाज्ञा का उल्लंघन करूँगा तो नि:संदेह मुझे मृत्युदण्ड ही मिलेगा। फिर? राजन्! मैं मृत्यु से नहीं घबराता, मैं अपने नियम-व्रत-संयम को तोड़ने से घबराता हूँ। आप भले ही मेरे प्राण ले लो। अरे! क्या चाण्डालों के भी कोई नियम होते हैं? महाराज! नियम तो कोई भी आत्मा पालन कर सकती है, धर्म तो किसी की भी आत्मा में आ सकता है। मैंने मुनि महाराज की साक्षी में यह नियम ग्रहण किया है, मैं इसे तो नहीं छोड़ सकता। दूसरी बात यह है मेरा नियम किसी अन्य की आत्मा का हित या अहित करने वाला नहीं है, यह मेरा नियम किसी को दु:ख देने वाला नहीं है, यह मेरा नियम मेरे लिए है, दूसरों के लिए सुख-शांति का निमित्त है। यह अहिंसाधर्म करुणा-दया का धर्म है, यह इस लोक-परलोक में सुख देने वाला है इसलिए मैंने ऐसा नियम लिया है, मैं इसे नहीं छोड़ सकता। उस चाण्डाल ने नियम को नहीं छोड़ा, राजा ने उसे भूखे मगरमच्छों से व्याप्त समुद्र में फिकवा दिया, किन्तु वहाँ तो सिंहासन बन गया, देवताओं ने आकर उसे उठा लिया।

महानुभाव! ऐसे ही एक कहानी वैदिक परम्परा में आती है हिरण्यकश्यप के पुत्र प्रह्लाद की। प्रह्लाद श्रीराम का नाम ही जपता था। उसके पिता हिरण्यकश्यप ने उसे डराया कि मुझे ही भगवान् मानों, प्रह्लाद नहीं माना, उसके पिता ने उसे लोहे के गरम-गरम खंभे से चिपकाया, तब उसने कहा-पिता जी! मुझे मृत्यु स्वीकार है किंतु मैं भगवान् को ही भगवान् मानूँगा, जो भगवान् नहीं है उसे मैं भगवान् नहीं मानूँगा। उसे लोहे के खंभे को पकड़ने के लिए कहा, प्रह्लाद ने देखा कि इस खंभे पर तो चींटियाँ चल रहीं हैं जब ये नहीं जलीं तो मैं क्यूँ जलूँगा, उसने खंभा पकड़ा, वह खंभा शीतल हो गया। अचिंत्य प्रभाव होता है पुण्य का, भक्ति की शक्ति अचिन्त्य होती है। पुन: उसे पर्वत से गिराया गया, भक्ति की शक्ति से किसी देवता ने उसे अधर में ले लिया, वह मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ। बताते हैं हिरण्यकश्यप की बहिन थी होलिका, वह जिसे भी अपनी गोदी में ले लेती थी वह जल जाता था, होलिका नहीं जलती थी। हिरण्यकश्यप ने अपनी बहिन होलिका से कहा इसे गोद में लेकर जलाओ, उसने जलाया तो प्रह्लाद नहीं जला, होलिका ही जल गई। कहते हैं तब से होलिका दहन होता चला आ रहा है। होलिका दहन का आशय है-कुविचारों का, पाप का, हिंसा का, कदाचार का, अत्याचार-अन्याय-अनीति का दहन करना। उस होलिका का दहन हुआ तो वैदिक परम्परा कहती है नरसिंह का रूप बनाकर कोई आया और हिरण्यकश्यप की मृत्यु हुई क्योंकि हिरण्यकश्यप ने वरदान प्राप्त किया था कि मैं न दिन में मरूँ न रात में, न कृष्ण पक्ष में न शुक्ल पक्ष में, मैं किसी मनुष्य द्वारा

नहीं मरूँ न किसी पशु के द्वारा मरूँ इसलिए नरसिंह का रूप बनाकर उनकी मृत्यु हुई ऐसा वैदिक परम्परा में दिया है।

महानुभाव! हम यहाँ केवल इतना तथ्य बताना चाहते हैं कि कुमार प्रह्लाद अपने धर्म से डिगा नहीं, उसने कहा जो भगवान् का रूप है उन्हीं को मैं भगवान् मानूँगा, उन्हें ही नमस्कार करूँगा। जो भगवान् नहीं है उन्हें भगवान् नहीं मानूँगा, चाहे मेरी मृत्यु हो जाएँ। यही बात आचार्य महोदय कह रहे हैं जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं हैं उन्हें ही यथार्थ मान लोगे तो मोक्षमार्ग को कभी प्राप्त नहीं कर सकोगे। जिसने रात को ही दिन मान लिया, वह कभी दिन को प्राप्त नहीं कर पाएगा। जहर को ही अमृत मान लेगा तो कभी असल अमृत को प्राप्त नहीं कर पाएगा। जहर को ही अमृत मानकर पीता रहेगा तो कभी अमृत की जिज्ञासा ही मन में नहीं आएगी। जो अपथ्य को ही पथ्य मानकर सेवन कर रहा है वह कभी रोग मुक्त नहीं हो पाएगा। जो कुमार्ग को ही सुमार्ग समझ रहा है तो कभी सुमार्ग की प्राप्ति न कर पाएगा। जो सरागता में ही परमात्मदशा मान रहा है वह कभी परमात्मदशा को प्राप्त नहीं कर पाएगा। कर्म संयुक्त जीव कभी सिद्ध नहीं होते।

यहाँ यही कहा कि आप भय से कभी भी उन्हें प्रणाम नहीं करें जो परमार्थभूत नहीं है। जो अयथार्थ हैं, संसारवर्धक हैं ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रों की पूजा-भक्ति मत करो। भय एक ऐसा उपद्रव है, भय एक ऐसा रूप है जो सामान्य प्राणी की मनः स्थिति को बदल देता है, भय एक ऐसा भयंकर शब्द है जिस भयंकर शब्द को सुनकर के, भयंकर स्थिति को देखकर व्यक्ति की चेष्टाएँ बदल जाती हैं, व्यक्ति की ध्वनि बदल जाती है, बोल-चाल बदल जाती है, चाल-चलन बदल जाता है, परिणाम बदल जाते हैं। किन्तु यहाँ पर कह रहे हैं तुम्हें धर्म की शक्ति प्राप्त है, तुम धर्म के मार्ग पर बढ़े हो तो तुम्हारी परीक्षा भी होगी, तुम्हें डराने वाले भी मिलेंगे, किन्तु सत्य को छोड़ नहीं देना, आप सत्य को छोड़ दोगे तो सत्य आपको छोड़ देगा। असत्य के गर्त में एक बार चले गए तो वहाँ से निकलना बड़ा मुश्किल है। इसलिए सच्चे प्राणियों को, शुद्ध सम्यग्दृष्टियों को कभी भी अपरमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु की पूजा-स्तुति-वंदना-प्रणाम आदि कृत्य नहीं करना चाहिए क्योंकि अपरमार्थ के रास्ते परमार्थ की सिद्धि नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति नरक के मार्ग में चले तो स्वर्ग की मंजिल प्राप्त नही होगी, रास्ता बदलना ही पड़ेगा।

महानुभाव! आचार्य महोदय यही समझा रहे हैं वह भय किसी भी प्रकार का हो धनहरण, वाहनहरण, भोग-सामग्री-हरण, स्त्री-पुत्र-हरण, प्राकृतिक-प्रकोप, स्वजन-परिजन-वियोग अन्य

प्रकार के कोई भी भय दिखाए, सीने पर बंदूक दिखाए, चाहे तो बंदूक चला दे-पर जो सत्य है वह सत्य है। अमरचंद दीवान को तोप के गोले के आगे खड़ा कर दिया, फिर भी उन्होंने सत्य धर्म को नहीं छोड़ा।

सात प्रकार के भय होते हैं-

इहलोक परलोक भय, मरण वेदना जास।
अगुप्ति अरक्षा भय, अकस्मात् भय सात॥

इन सात में से किसी भी प्रकार के भय से जो कोई भी जीव कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को नमस्कार करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि नहीं है।

सम्यक्त्व मोक्षमार्ग का एक प्रधान तत्त्व है। यदि मोक्ष की, मोक्षमार्गी बनने की, सम्यक्त्व को निर्मल बनाए रखने की सुदृढ़ भावना है तो वीतराग देव, उनकी वाणी व निर्ग्रंथ गुरुओं को प्रणाम करो। यदि आपकी इच्छा मोक्ष प्राप्त करने की है ही नहीं, संसार में जन्म-मरण करने की है, संसार में रहकर कुछ पुण्य कमाकर पुण्य फल भोगने की है और विषय-कषायों का पोषण करते हुए, पापों में प्रवृत्ति करते हुए तत्काल में बंध होने वाले पाप और पाप कर्म फल को भोगने की है तो फिर आप जो चाहे सो प्रवृत्ति करो। आचार्य महोदय कोई रोक-टोक नहीं कर रहे, वे सिर्फ इतना कहना चाह रहे हैं 'न कुर्युः शुद्धदृष्टयः' सम्यग्दृष्टि कुदेव-कुगुरु व कुशास्त्रों को प्रणाम नहीं करे। सामान्य अवस्था में भी नहीं करे और यदि कदाचित् कोई तुम्हें भय दिखाए तो भयभीत होकर भी प्रणाम नहीं करे। यदि तुम्हें उससे कोई आशा हो तो वरदान की आकांक्षा से भी प्रणाम न करे।

मिथ्यामार्ग कभी समीचीन मंजिल तक नहीं पहुँचा सकता। समीचीन मार्ग में गमन करने से चाहे गमन की गति मंद ही क्यों न हो फिर भी समीचीन मार्ग में गमन करने वाला व्यक्ति एक दिन मंजिल तक पहुँच ही जाता है। मिथ्यामार्ग में गति चाहे मंद हो या तीव्र हो, चाहे मंदतर-मंदतम हो, तीव्रतर-तीव्रतम हो, मिथ्यामार्ग में गमन करने से सम्यक्लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ ऐसा नहीं कहा कि देव-शास्त्र-गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी को प्रणाम नहीं करना। नहीं, बात को समझें, उन्होंने कहा कि देव-शास्त्र-गुरु जो परमार्थभूत हैं यदि परमार्थ चाहिए तो परमार्थभूत मानकर के परमार्थभूत कारणों को नमस्कार करो, संसार चाहिए तो फिर आप जैसा चाहो वैसा करो।

किसी व्यक्ति ने अपने माता-पिता को नमस्कार किया, तो बताओ वह सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि? माता-पिता को प्रणाम कर सकते हैं या नहीं? कर सकते हैं। सम्यक्त्व में दोष आएगा? नहीं आएगा। क्यों? क्योंकि माता-पिता को यदि माता-पिता मानकर नमस्कार किया है तो सम्यक्त्व में कहीं दोष नहीं है और माता-पिता को वीतरागी देव मानकर नमस्कार किया, निर्ग्रंथ गुरु समझकर नमस्कार किया तो दोष है।

यदि कोई व्यक्ति शास्त्र न पढ़कर के पुस्तक पढ़ रहा है, उपन्यास, पत्रिका पढ़ रहा है तो क्या उसके सम्यक्त्व में दोष आ रहा है? वह उस उपन्यास, पत्रिका या सामान्य पुस्तक को या इतर शास्त्रों को सच्चा शास्त्र मानकर पढ़ रहा है तो निश्चित रूप से सम्यक्त्व में दोष लगेगा किन्तु वह उसे धर्म की पुस्तक नहीं मान रहा, सामान्य पुस्तक मानकर, कोर्स बुक मानकर पढ़ रहा है तो वह मिथ्यादृष्टि नहीं हुआ। इसी प्रकार कोई देवगति के देव का सम्मान कर रहा है, जिनशासक के रक्षक धर्मप्रभावक यक्ष-यक्षिणी का सम्मान कर रहा है, विनय कर रहा है, अर्घ चढ़ा रहा है तो क्या मिथ्यादृष्टि को गया? यदि उन्हें वह सच्चा देव मान रहा है तो मिथ्यादृष्टि हो गया और यदि उन्हें वह सच्चा देव न मानकर देवगति का देव मान रहा है, अपना साधर्मी मान रहा है, इस भावना से उन्हें जयजिनेन्द्र कर रहा है, उन्हें भेंट दे रहा है या अर्घ चढ़ा रहा है तो वह सम्यग्दृष्टि ही रहेगा, मिथ्यादृष्टि नहीं कहलाएगा।

पर्यूषण पर्व में जहाँ मुनिमहाराज आदि नहीं होते हैं तो जिनेन्द्र भगवान् की वाणी को सुनने के लिए, जो हमें शास्त्रों का वाचन सुना दे ऐसे आर्षमार्गी विद्वानों को बुलाते हैं और उनका सम्मान भी करते हैं, उनको तिलक लगाकर श्रीफल भी भेंट करते हैं, उन्हें मंच पर बिठाते हैं आप नीचे बैठ जाते हैं, जब जाते हैं तब उन्हें शॉल उड़ाते हैं, पगड़ी या टोपी पहनाते हैं और इतना ही नहीं उन विद्वान् के चरण भी छू लेते हैं तो फिर क्या आप मिथ्यादृष्टि हो गए? आप जानते हैं ये पण्डित जी हैं, विद्वान् हैं, सच्चे गुरु नही हैं, सच्चे गुरु तो निर्ग्रंथ होते हैं, आर्यिका माता जी, ऐलक जी क्षुल्लक जी भी पंचमहागुरु की श्रेणी में नहीं आते किन्तु वे सच्चे मार्ग पर चल रहे हैं, हमारे गुरुओं का अनुकरण कर रहे हैं इसलिए ये भी हमें सही सलाह देंगे, सही मार्ग बताएँगे।

तो यहाँ बताया-भय से अथवा आशा से, मन में कोई आकांक्षा करके कि मुझे कोई वरदान मिल जाए, राजा की मैं पूजा करूँगा तो राजा मुझे अपने राज्य में मंत्री का पद देगा, इसलिए राजा की पूजा की जा रही है। राजा की पूजा करे कोई बात नहीं है; किन्तु वह यह सोचकर पूजा न करे कि उसकी पूजा से मुझे मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाएगी। संसार की कोई वस्तु

प्राप्त करने के लिए उसका सम्मान कर रहा है, विनय कर रहा है अलग बात है। कोई रोगी है वह डॉक्टर के पास पहुँचा उसके सामने हाथ जोड़ता है, पैर छूता है, कहता है डॉक्टर साहब कैसे भी बचा लो। वह डॉक्टर को भगवान् नहीं कह रहा, डॉक्टर को डॉक्टर मानकर ही निवेदन कर रहा है तो क्या ऐसा करने में उसके सम्यक्त्व में कोई दोष आ रहा है? नहीं आ रहा। अध्यापक से कोई विद्यार्थी विद्या प्राप्त कर रहा है, वह अध्यापक को अध्यापक मान रहा है, जानता है ये लौकिक गुरु हैं, उनका सम्मान करता है, पैर छूता है, इससे उसके सम्यक्त्व में दोष नहीं आया; क्योंकि वह जानता है कि ये मोक्षमार्ग के तत्त्व नहीं हैं। किन्तु जो व्यक्ति राग-द्वेष-मोह से संयुक्त होकर वस्त्रधारी, अस्त्र-शस्त्रधारी, स्त्रीधारी ऐसे किसी भी रूप को, कल्पना करके यह मान ले कि ये ही सच्चे देव हैं इन्हीं के माध्यम से मुझे मोक्ष की प्राप्ति होगी तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। यह दोष है, यह सम्यक्त्व को नष्ट करने वाली प्रवृत्ति है। यदि उपन्यास, कहानी की पुस्तक या रसायन-भौतिक-व्याकरण या अन्य कोई भी पुस्तक पढ़ते जा रहे हैं तो उसके पढ़ने से मिथ्यादृष्टि नहीं हुए, यदि उसे सच्चा शास्त्र मानकर बैठ गए तो मिथ्यादृष्टि हो गए।

कोई भी जटाधारी, लटाधारी, मठाधीश या धन सम्पत्ति के मालिक, सोना-चाँदी की खड़ाऊँ पहनकर चलने वाले, स्वर्ण चाँदी के कमण्डल लेने वाले, सर्वप्रकार का वैभव साथ में रखने वाले, हाथी-घोड़ा वाले संत-महात्मा को यदि आपने वीतरागी पंथ का अनुयायी मान लिया। उन सग्रंथी को निर्ग्रंथी मानकर आपने पूजा की तो फिर आप मिथ्यादृष्टि हो गए, सम्यक्त्व दूषित हो गया। किन्तु आपने यह मानकर कि ये सच्चे गुरु तो नहीं है किन्तु लोकव्यवहार में इनका अपमान नहीं करना चाहिए, हमें किसी से राग-द्वेष बैरभाव नहीं है, जो जैसा है वैसा ठीक है, उसके प्रति भी प्रेम के दो शब्द बोलो यहाँ तक सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं। आचार्य महोदय कह रहे हैं किसी आशा से कोई राजा कहे कि तू मुझे देवता मानकर पूज मैं तुझे मोक्ष दे दूँगा और वह राजा की पूजा देवता मानकर करने लगे तो फिर सम्यक्त्व दूषित होता है, कोई पिता कहे मेरी पूजा करो मैं मुक्ति दिलाऊँगा, फिर उसको पूजोगे तो भी सम्यक्त्व दूषित होता है। यदि कोई व्यक्ति मालिक की भगवान् मानकर पूजा करता है कि ये मेरे भगवान् हैं और ये ही मुझे मोक्ष देंगे, इस भावना से पूजा करता है तो ये सम्यक्त्व में दोष है। हाँ, अगर भावना ये रहे कि ये मेरे अन्नदाता हैं, मुझे आवश्यकता पड़ने पर अलग से पैसा देते हैं फिर उनका सम्मान करता है वहाँ तक दोष नहीं किन्तु आशा से युक्त होकर के पूजा-अर्चना करे तो सम्यक्त्व में दोष लगता है।

महानुभाव! वह आशा कई प्रकार की हो सकती है। धन की आशा में आकर कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को प्रणाम कर रहा हो या आरोग्य की आशा से या स्त्री प्राप्त हो जाएगी या पुत्र प्राप्ति की भावना से अथवा मुझे उच्चपद प्राप्त हो जाएगा, पद-प्रतिष्ठा की प्राप्ति होगी अथवा भोगोपभोग की सामग्री मिल जाएगी इन सभी भावनाओं के माध्यम से, ऐसा कोई आपको लोभ दे रहा है और उस आशा से उस कुमार्गगामी को प्रणाम कर रहे हो, पूजा-पाठ कर रहे हो तो निश्चित मानिए वह लौकिक वस्तु को तो दे सकता है किन्तु पारमार्थिक फल को नहीं दे सकता और उनसे पारमार्थिक फल की प्राप्ति मानना यही मिथ्यात्व है।

आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि 'शुद्धदृष्टयः' शुद्ध दृष्टि वाले कुदेव-कुआगम-कुलिंगी को प्रणाम विनय नहीं करें। न भय से करें, न मन में किसी आशा से करें कि मुझे मोक्ष मिल जाएगा। जो मोक्षमार्ग के विपरीत गमन कर रहा है वह स्वयं ही मोक्षमार्गी नहीं बना तो आपको मोक्षमार्ग कैसे दे सकता है। इसलिए यहाँ कहा भय व आशा से प्रणाम न करें।

जो अपनी आत्मा का हित करना चाहते हैं, परम पद को प्राप्त करना चाहते हैं, कर्म क्षय करना चाहते हैं उन्हें कदापि भय, स्नेह, आशा, लोभ या अन्य किसी विभाव के कारण कुमार्गगामी गुरु, कुमार्ग के पोषक शास्त्र और कुमार्ग के प्रवर्तक देव इनका आश्रय नहीं लेना चाहिए, इनकी पूजा-भक्ति-विनय नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो स्वयं कुमार्ग के प्रवर्तक हैं, स्वयं कुमार्ग पर गमन करने वाले हैं उनका आश्रय लेने से सुमार्ग के फल की प्राप्ति नहीं होगी। नीम बोने वाले को अंगूर नहीं मिलते। आचार्य महोदय का सीधा-सीधा समझाने का आशय यही है कि कुपथ का आश्रय लेने से सुपथ के फल की प्राप्ति न होगी। अंगूर का फल चाहिए तो अंगूर के वृक्ष से मिलेगा, नीम की निबोली नीम के वृक्ष से मिलेगी। जिस प्रकार के फल प्राप्त करने का आपका उद्देश्य है तो कारण वही होना चाहिए जिस कारण से उस प्रकार के फल की प्राप्ति हो। कारण- कार्य के विपरीत होगा तब फिर वह कारण कार्य को सिद्ध कैसे कर सकता है।

बहुत सरल सी बात बताएँ कि गन्ने को पेलने से रस मीठा ही निकलेगा चाहे वह आपने लोहे के बेलन से पेला हो, चाहे छोटी चरखी से पेला हो, चाहे चाँदी की मशीन से पेला हो, चाहे पत्थरों से कूटकर के रस निकाला हो और चाहे दाँतों से, मुख से चूसकर रस निकाला है, वह रस मीठा ही रहेगा क्योंकि उसका उपादान कारण मीठा है और कोई व्यक्ति नीम के पत्तों को पेलकर के रस निकाले तो कड़वा होगा चाहे वह रस सिललोड़े से पीसकर निकालो, मिक्सी में पीसकर निकालें, चाहे वह मिक्सी सोने-चाँदी-पीतल आदि किसी भी धातु की हो,

कुछ फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ही यहाँ बता रहे हैं जो कुमार्ग के पोषक, कुमार्ग के प्रवर्तक, कुमार्ग का संवर्धन करने वाले हैं उनका आश्रय लेने से सुमार्ग की प्राप्ति नहीं होगी। जिस प्रकार प्याज के अंदर घुसने वाला कीड़ा सोचे कि मुझे प्याज में से गुलाब के पुष्प की सी गंध आ जाए, नहीं आ सकती, इसी प्रकार कुमार्ग के पोषकों की भक्ति-पूजा-अर्चना-प्रणाम-विनय करने से कुमार्गपथ पुष्ट होता है और सुमार्ग पथ बहुत दूर छूट जाता है।

यहाँ पहले आचार्य भगवन् ने कहा 'भयाशात्' भय और आशा से प्रणाम नहीं करना है। इन कुलिंगी, कुआगम व कुदेवों की उपासना नहीं करना क्योंकि उनका आश्रय वही देगा जो उनके पास है। जो सुपथ पर गमन करने वाले हैं उनका आश्रय लेने से उसी प्रकार का प्रभाव आएगा। उनके पीछे-पीछे चलने से आप भी वहीं पहुँच जाओगे जहाँ वे पहुँचेंगे। सुपथ के पोषक शास्त्र पढ़ने से आपके मन में सुपथ पर गमन करने का उत्साह-शक्ति-ऊर्जा आएगी क्योंकि जैसा आदर्श होता है व्यक्ति वैसा ही बन जाता है।

एक व्यक्ति ट्रेन में बैठकर के आगरा से शिखरजी गया, एक चींटी उसकी शर्ट पर बैठ गई तो वह चींटी कहाँ पहुँचेगी? वह शिखरजी ही पहुँचेगी। चींटी सोचे कि मुझे शिखरजी नहीं जाना है कश्मीर जाना है, किंतु ट्रेन जिस दिशा में जा रही है, वह व्यक्ति जहाँ जा रहा है वह चींटी भी वहीं तो पहुँचेगी। अपने आश्रित के समीप रहकर के जीव वहीं पहुँच जाएगा जिसका आश्रय लिया है। यहाँ कहा आप्त-आगम और गुरु इनका आश्रय लेने से नि:संदेह वह व्यक्ति उनके लक्ष्य तक, अंतिम पड़ाव तक पहुँच जाएगा। और कुदेव-कुशास्त्र-कुलिंगी का आश्रय लिया है तो व्यक्ति उनके मार्ग का जहाँ अंतिम छोर है वहाँ तक पहुँच सकता है। जिसे मोक्ष चाहिए तो उसे आप्त, आगम व निर्ग्रंथ गुरुओं का आश्रय लेना चाहिए।

आगे आचार्य महाराज कह रहे हैं **'स्नेह'** उन्हें स्नेहवश भी प्रणाम न करें। स्नेह में आकर उनका आश्रय ले लिया तब भी आपको मोक्ष नहीं मिलेगा। आप निर्ग्रंथ मार्ग को समझते हैं जानते हैं, उसके अनुयायी हैं, भक्त हैं, कोई आपका मित्र इतर मार्ग का साधु बन गया, वह उसी प्रकार की साधना करता है और आप पूर्व मित्र के स्नेह से उसी प्रकार की प्रवृत्ति करने लगे। वह कुपथमार्ग का अनुसरण कर रहा है तो मित्रानुराग से यह सोचना कि मैं उसकी पूजा-उपासना नहीं करूँगा तो वह क्या सोचेगा। लोक व्यवहार में सम्मान करना अलग है किन्तु उससे पूर्व मित्र संबंध का स्नेह होने से उसको ही सच्चा हितैषी मानकर उसकी शरण में पहुँच जाएगा तो फिर सुपथ का फल नहीं मिलेगा। आगे कहा-**'लोभात्'** लोभ वश भी प्रणाम न करे। किसी साधक ने लोभ दिया कि मैं तुम्हें स्वर्ण बनाने के लिए रसायन विद्या

सिखा दूँगा, आकाश में उड़ने की विद्या प्राप्त करा दूँगा, जल में चलने की विद्या सिखा दूँगा ऐसा कोई लोभ देकर कुपथ पर लगाना चाहे तो आचार्य महोदय कह रहे हैं ऐसी कोई मूर्खता नहीं करना, अपनी बुद्धि और विवेक का सही-सही उपयोग करना; क्योंकि कुपथगामी, कुपथप्रवर्तक, कुपथ के पोषक संसार में अनंतजीव भरे पड़े हैं। सुपथ के प्रवर्तक, सुपथ के पोषक और सुपथ पर गमन करने वाले जीव बहुत कम हैं, अत्यल्प हैं, अंगुलियों पर गिनने लायक हैं। सुपथ पर चलने वाले व्यक्तियों का सहारा लो।

कुपथ की ओर एक बार दृष्टि चली गई तो संभव है कुपथ बड़ा लुभावना हो, कुपथ में आकर्षण करने की शक्ति ज्यादा हो, कुपथ में वही संस्कार मिलते हैं जो संस्कार अनादिकाल से हमारे अंदर पड़े हैं इसीलिए कुपथ की ओर पैर जल्दी जाते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं कुपथ आपको बुलाएगा, रिझाएगा, आपको उसमें अनुकूलता लगेगी फिर भी ये ध्यान रखना कुपथ का फल सुपथ का फल नहीं हो सकता। कुपथ का फल कुपथ का ही है और सुपथ का फल सुपथ पर चलने पर ही मिलेगा। तो ऐसे किसी भी लोभ से चाहे वह लोभ धन का हो, कोई कहे मैं तुम्हें बहुत धन दूँगा अथवा आरोग्य का लोभ दे कि तुम्हें दिव्य औषधि प्रदान कराऊँगा, अथवा यश- कीर्ति का लोभ दे कि सर्वत्र तुम्हारा नाम हो जाएगा, तुम्हारा नाम का नाम होगा और कल्याण भी हो जाएगा तो ऐसा यश का लोभ नहीं करना। या सुख का लोभ कि मुझे भौतिक सुख मिलेगा, इंद्रिय सुख, भोग-उपभोग की वस्तुएँ मिलेंगी इसका भी लोभ नहीं करना। कोई कहे हमारी शरण में आ जाओ तुम्हारा इहलोक सुधर जाएगा, आप जान रहे हैं कि ये कुपथ के पोषक हैं, अनुयायी हैं, ये बात आपकी आत्मा अच्छी तरह से जानती है फिर भी आत्मा की उस भावना को दबाकर के अपने मन के अनुसार कुपथ पर गमन करने की प्रवृत्ति करना, वह व्यक्ति नि:संदेह अभी मोक्षमार्ग से बहुत दूर है। जो मोक्षमार्ग को छोड़ देता है मोक्षमार्ग भी उसे छोड़ देता है। जो कुपथ को अपनाता है तो कुपथ भी उसको अपना लेता है।

संसार में मुख्यतया चार प्रकार की एषणा पाई जाती हैं। जिन्हें धर्म का ज्ञान नहीं है, आत्मा का भान नहीं है, जिन्हें शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञान नहीं है, जो शरीर को ही आत्मा मानकर के, पुद्गल वैभव को ही आत्म वैभव मानकर के उसे ग्रहण किए जा रहे हैं, उसका संग्रह कर रहे हैं और सोचते हैं इसी से हमें मोक्ष मिल जाएगा, वे और कुछ नहीं कर रहे स्वयं को ही ठग रहे हैं। दूसरे को ठगना फिर भी कठिन है अपने आप को ठगना बड़ा सरल है। अपनी आँखों पर विमोह-विभ्रम-संशय-अज्ञान का पर्दा बांधो फिर जो मन करे वैसी प्रवृत्ति करो, कौन मना करने वाला है? कोई रोकने वाला नहीं है। आपको स्वयं ही अपनी आँखों की

पट्टी को खोलना है। अच्छे मार्ग पर चलना है, वहाँ से भी कोई रोकने वाला नहीं है, हाँ, यदि रोकेंगे तो पूर्व के संस्कार रोकने आ सकते हैं। मन कभी डावांडोल हो सकता है किन्तु यदि दृढ़ निश्चय है तो व्यक्ति चार प्रकार की एषणा को छोड़ता है अन्यथा व्यक्ति सुबह से शाम तक यत्न करता है वित्तैषणा के लिए कि मेरे पास बहुत धन हो या सुखैषणा-भोगसामग्री की इच्छा रहती है। प्रचुर मात्रा में भोग उपलब्ध हों इसके लिए दिन-रात लगा रहता है। या फिर पुत्रैषणा-स्त्री एषणा भी हो सकती है कि मैं प्रचुर भोग भोगूँ, पुत्रों की प्राप्ति हो, मेरा वंश चले। अरे भैया! किसका वंश रहा, सब चले गए अपने-अपने कर्मानुसार अलग-अलग गतियों में। कर्म रहित सिद्ध बन गए और कर्म सहित चार गतियों में से कहीं न कहीं होंगे, इसलिए क्या चिंता करना वंश की? क्या चिंता करना अंश की? यहाँ न तुम्हारा कोई वंशज है न अंशज है। आत्मा का कोई अंश और वंश नहीं होता, आत्मा अखण्ड होती है। शरीर जन्म लेता है, शरीर का ही अंश होता है, शरीर का ही वंश होता है।

पुत्र को आत्मज कहते हैं किन्तु पुत्र भी आत्मज नहीं होता वह देहज होता है, तनुज होता है। आत्मा ने कभी किसी आत्मा को पैदा नहीं किया। तनुज कहिए, तनुजा कहिए ये तो माना जा सकता है किन्तु व्यक्ति उसे आत्मज कहकर उसमें लीन हो गया, ऐसी पुत्रैषणा भी खतरनाक होती है। व्यक्ति पुत्र की वांछा में न जाने कहाँ-कहाँ भटकते रहते हैं, कहाँ-कहाँ पर माथा टिकाते हैं, कौन-कौन सी पापमय क्रिया करते रहते हैं, क्योंकि उनके चित्त पर ऐसा मोह का मोटा पर्दा छा जाता है, उन्हें लगता है ये सब ही मेरा है, पुत्र बिना, धन बिना, स्त्री बिना मेरा जीवन बेकार है इसलिए व्यक्ति धर्म को छोड़कर पाप में लिप्त हो जाता है।

व्यक्ति को भोजन की एषणा भी सताती है उसमें वह नहीं देखता कि यह भक्ष्य है या अभक्ष्य, यह स्थान भोजन करने के योग्य है या नहीं, ये समय भोजन करने के योग्य है या नहीं। न तो समय का विवेक, न स्थान का विवेक, न वस्तु का विवेक और न भावों का विवेक। किसी ने पूछा—जब मेरे कुभाव हो रहे हों तब मैं भोजन करूँ या नहीं करूँ? जब कुभाव हों, क्रोध-मान-माया-लोभ का आवेश हो, विषय-वासनाओं का आवेश हो, पापमय प्रवृत्ति मन में चल रही हो तब भोजन मत करो, नहीं तो भोजन जहर बन जाएगा। विवेक रखो और भावों को शुद्ध रखो तब भोजन करो। जहाँ भोजन कर रहे हो वह स्थान शुद्ध हो, समय शुद्ध हो, रात्रि न हो, अकाल का समय या दुष्काल न हो और भोजन सामग्री वास्तव में भोजन करने के योग्य हो तब भोजन करो, विपरीत हो तब न करो। यह एषणा भी खतरनाक है। रोटियों के लिए व्यक्ति किसी का भी दास बन जाता है, सत्य धर्म को छोड़ असत्य की ओर

बढ़ जाता है। और चौथी एषणा होती है लोक की एषणा—लोक में मेरी ख्याति-पूजा-प्रशंसा हो इस लोकैषणा के लिए भी व्यक्ति कई बार कुपथ का अनुसरण करता है, सुपथ को छोड़ देता है।

आचार्य भगवन् यहा कह रहे हैं—हे भव्य जीव! सुपथ को छोड़ कुपथ का अनुकरण मत करो अन्यथा तुम्हें मोक्षमार्ग नहीं मिलेगा। शुद्ध सम्यक्दृष्टि जीवों को किसी भी प्रकार से भय-आशा- स्नेह व लोभ से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की उपासना नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने से मोक्षमार्ग की संप्राप्ति नहीं होती।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी का यही आशय है कि सम्यग्दृष्टि प्राणियों को किसी भय- आशा-स्नेह-लोभ से कुदेव-कुशास्त्र व कुलिंगधारियों की पूजा-विनय-प्रणाम आदि नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से मोक्षमार्ग अवरुद्ध होता है, सम्यक्त्व दूषित होता है और उसका फल संसार का वर्धन है। उस प्रकार की प्रवृत्ति करने से मोक्ष की और मोक्षमार्ग की संप्राप्ति नहीं होती।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥31॥

अन्वयार्थ–दर्शनं – सम्यग्दर्शन, **ज्ञानचारित्रात्** – सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा, **साधिमानं** – उत्कृष्टपने को, **उपाश्नुते** – प्राप्त होता है, **दर्शनं** – सम्यग्दर्शन, **मोक्षमार्गे** – मोक्षमार्ग में, **कर्णधारं** – खेवटिया के समान, **प्रचक्षते** – कहा गया है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित श्रावकों की आचार संहिता 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' इस लघुकाय ग्रंथ में देख रहे थे कि जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव हैं उन्हें मोक्ष प्राप्ति की कामना से भी कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को प्रणाम आदि नहीं करना चाहिए। कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु जो वास्तव में देव नहीं हैं, जो वास्तव में शास्त्र नहीं हैं, जो वास्तव में गुरु नहीं हैं उन्हें सच्चा गुरु मानकर प्रणाम किया, भक्ति उपासना की तो हो सकता है उन कुदेव को व कुगुरु को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा होती देख अहं भाव आ जाए और वे विशेष पाप में प्रवृत्ति करने लगें। यदि आपकी पूजार्चना से वे विशेष पापमय प्रवृत्ति करने लगेंगे तो आप पाप के निमित्त बन गए, आपको भी पाप का बंध होगा और यदि आपने कषाय की मंदता से उनकी पूजार्चना की है तो किंचित् पुण्य का बंध भी हो सकता है। किन्तु कदापि कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु की भक्ति-पूजा-स्तुति-वंदना मोक्ष का कारक नहीं हो सकती, मोक्षमार्ग में वह निमित्त नहीं बन सकती।

अग्नि ऊष्णता प्रदान करती है, जल अग्नि में डालें तो उससे अग्नि बढ़ती नहीं है वरन् बुझती है, ऐसे ही मिथ्यात्रय के माध्यम से मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, दृढ़ता नहीं आती। मिथ्यात्रय और कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु ये नियम से मोक्षमार्ग के विराधक हैं, खण्डन करने वाले हैं, अवरोधक हैं। और दूसरी बात लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए भी किसी आशा-स्नेह-लोभ या भय के वशीभूत होकर उन्हें प्रणाम नहीं करना है। आचार्य महोदय सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए श्लोक नं. 31 में बता रहे हैं कि सम्यक्त्व, ज्ञान-चारित्र-संयम-वैराग्य-तप-ध्यान आदि से श्रेष्ठ होता है। उनके ही शब्दों में देखें–

'दर्शनं' अर्थात् सम्यग्दर्शन, 'ज्ञानचारित्रात्', सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा, 'साधिमानं' अर्थात् उत्कृष्टता को, 'उपाश्नुते' प्राप्त करता है। जो सम्यग्दर्शन है वह बड़ा है। मोक्षमार्ग में सबसे पहले जन्म सम्यग्दर्शन का होता है उसी के साथ twins (जुड़वा) रूप में सम्यग्ज्ञान का जन्म होता है, उसके बाद वैराग्य का जन्म होता है, फिर संयम का जन्म

होता है, फिर तप का जन्म होता है, फिर ध्यान का जन्म होता है। यह सब गुण प्रकट होते हैं सम्यग्दर्शन के बाद। सम्यक्त्व के बाद ही निःशंकितादि सम्यक्त्व के अंग प्रकट होते हैं। ऐसे मानें जैसे जब गर्भ में जीव आया तो पहले वह पिण्ड जैसा होता है, उसके बाद उसमें से पाँच अंकुर निकलते हैं। एक सिर बनता है, दो हाथ बनते हैं, दो पैर बनते हैं किन्तु पहले पिण्ड होता है। ऐसे ही पहले सम्यक्त्व होता है। दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व-सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति व चारित्र मोहनीय की चार अनंतानुबंधी कषाय ये सात प्रकृति हैं इनके उपशम-क्षय-क्षयोपशम से सम्यक्त्व पैदा होता है, फिर वह व्यक्ति सम्यक्त्व का निर्दोष पालन करता है। वह अंगों का पालन बाद में करता है, पहले श्रद्धा जन्म लेती है।

यहाँ भी सबसे पहले सम्यग्दर्शन है। किन्तु सम्यग्दर्शन से पहले क्या होता है? कषायों की मंदता, मिथ्यात्वादि की मंदता। जब मिथ्यात्वादि मंद होता है फिर उसका उपशम कर पाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि पाँच प्रकृतियों को, सादि मिथ्यादृष्टि सात प्रकृतियों को दबाता है। वह सम्यग्दर्शन बीज की तरह से है। आत्मा में धर्म का अंकुर पैदा होना सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है। अंकुर का थोड़ा बड़ा होना, अंकुर दो एक साथ निकलते हैं एक नीचे की ओर जाता है तो जड़ बन जाता है, एक ऊपर की ओर जाता है वह तना बनता चला जाता है। दोनों एक साथ निकलते हैं फिर भी एक छोटा एक बड़ा होता है, जो ऊपर की ओर जाता है वह पहले आ गया, नीचे की ओर जाने वाला छोटा माना जाता है तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं।

युगपत् होते हु प्रकाश दीपक ते होई।

दोनों एक साथ होने पर भी पहले दीपक की ज्योति जलती है प्रकाश बाद में होता है, ऐसे ही पहले सम्यग्दर्शन होता है बाद में सम्यग्ज्ञान होता है। अंकुर होने के पश्चात् जब वह अंकुर मिट्टी के बाहर निकला हरितमा आई, पल्लव बनने लगा माना कि वैराग्य होने लगा फिर वह पौधा बन रहा है माना कि चारित्र आ रहा है। पत्ते और बढ़ते चले जा रहे हैं मानो संयम में वृद्धि होती चली जा रही है, उसके बाद उसमें पुष्प आने लगे माना कि तप अभिवृद्धि को प्राप्त हो रहा है। कच्चे-कच्चे फल आने लगे माना ध्यान की अवस्था और फल पकने लगे तो अरिहंत अवस्था हो गई पुनः सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाना अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाना।

तो महानुभाव! यह सम्यग्दर्शन बीज की तरह से है और फल मोक्ष की तरह से है। बिना बीज के उस पादप की आगे वृद्धि नहीं होती। यहाँ इतना ही कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन,

ज्ञान व चारित्र से श्रेष्ठ है। आचार्य महोदय स्वयं उदाहरण दे रहे हैं 'दर्शनं कर्णधारं तत्' वह सम्यग्दर्शन कर्णधार की तरह से है। आप पूछेंगे कि यहाँ तो दर्शन शब्द कहा सम्यग्दर्शन नहीं कहा। दर्शन शब्द के तीन-चार अर्थ होते हैं। किन्तु यहाँ पर सम्यक्त्व का प्रकरण होने से सम्यग्दर्शन लगाना चाहिए। दर्शन शब्द का अर्थ होता है 'देखना'। आप कहते हैं लोकव्यवहार में कि चलो मंदिर चलते हैं भगवान् के दर्शन के लिए तो वहाँ भगवान् जी का अवलोकन करते हैं या हम शिखरजी दर्शन करने जा रहे हैं तो दर्शन का अर्थ देखने से भी होता है। यद्यपि देखना शब्द बाह्य आँखों से होता है, दर्शन अंतरंग के श्रद्धा नेत्रों से देखने का भाव होता है।

दर्शन शब्द का दूसरा अर्थ होता है 'मत या विचार'। जैसे आप जानते हैं जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, मीमांसक दर्शन, चार्वाक दर्शन, सांख्य दर्शन, वैशेषिकदर्शन, योगदर्शन आदि। अर्थात् उस धर्म-प्रवर्तक के विचार क्या थे, उनका दृष्टिकोण क्या था। जो आचार होता है वह धर्म कहलाता है और विचार दर्शन कहलाता है। तो दर्शन शब्द का अर्थ मत-विचार-अभिप्राय भी होता है जिससे सम्प्रदाय आदि बनते हैं। तीसरा अर्थ दर्शन का होता है—सम्यग्दर्शन/श्रद्धा/समीचीन दृष्टि, उसे सम्यक्त्व कहा जाता है। यथार्थ निष्ठा, आस्था, प्रतीती, विश्वास, रुचि इन्हें भी दर्शन कहा जाता है। चौथा 'दर्शन' शब्द का अर्थ आता है 'दिगम्बर मुद्रा' को भी दर्शन कहते हैं। यथाजात दिगम्बर, केशलोंच करने वाले, पगविहार करने वाले, एक बार पाणिपात्र में खड़े होकर आहार लेने वाले, पिच्छी कमण्डलु धारण करने वाले ये पाँच चिह्न हैं जैन दर्शन के। दर्शन के पाँच चिह्न अर्थात् मुनिराज के चिह्न।

दर्शन को (मुनि) देखकर के दर्शन (सम्यग्दर्शन) निर्मल होता है, दर्शन को देखकर फिर दर्शन (विचार) मन में आता है, फिर दर्शन को देखकर के व्यक्ति अपने दृष्टिकोण को बदल लेता है। एक कुंभकार जो मिट्टी के बर्तन बना रहा था। उस कुंभकार के समीप दो मित्र बैठे थे जिनमें से एक चिलम पीता था। कुंभकार के पास मिट्टी के बर्तन बनाने के पश्चात् थोड़ी सी मिट्टी शेष बची थी, जिससे वह उस मित्र के लिए चिलम बना रहा था, पहले मित्र ने पूछा भाई ये क्या बना रहे हो? वह बोला—आपके मित्र के लिए चिलम बना रहा हूँ, अच्छा मेरा मित्र चिलम भी पीता है, मुझे तो ज्ञात ही नहीं था। आज से तुम्हारी और मेरी दोस्ती टूटी। चर्चा चल ही रही थी तभी अचानक उन्हें वाद्य ध्वनि सुनाई दी, मुड़कर देखा तो मुनिमहाराज का आगमन हो रहा था। उन्हें देखकर के उस कुंभकार के विचार बदल गए। अर्थात् दर्शन से (मुनिदर्शन) उसका दर्शन (विचार) बदल गया। उसने चिलम पर थप्पी मारकर के 'मंगलकलश' बना दिया। दूसरे मित्र ने पूछा भाई! ये क्या बना रहे हो? वह बोला मंगलकलश' अरे! अभी तो तुम चिलम बना रहे थे, तो उसको मिटा क्यों दिया? बोला—शाश्वत

जिनेन्द्र भगवान् की मुद्रा को देखकर के, इनके दर्शन करके मेरा दर्शन बदल गया अर्थात् दृष्टिकोण बदल गया इसलिए चिलम के स्थान पर कलश बना दिया। जो दोनों व्यक्ति सामने बैठे थे उनमें से चिलम पीने वाले ने कहा–अच्छा! तो ठीक है मैं आज से चिलम पीने का त्याग करता हूँ। दूसरा कहता है–हमारी–तुम्हारी दोस्ती पक्की।

पुनः तीनों कहते हैं इस दर्शन को देखकर के, शाश्वत दर्शन को देखकर के, प्राकृतिक दर्शन को (रूप) देखकर के हमारे विचार बदल गए। एक ने कहा मैं चिलम बना रहा था उसे छोड़कर मंगल कलश बना दिया तो मेरा विचार बदल गया। दूसरे ने कहा मेरा आचार (आचरण) बदल गया मैंने चिलम का त्याग कर दिया, तीसरे ने कहा मेरा व्यवहार बदल गया मैंने तुमसे दोस्ती तोड़ने की बात कही थी अब वह ज्यों की त्यों पक्की। वह मृतिका मूक भाषा में कहती है तुम्हारा आचार–विचार– व्यवहार बदला तो कुछ नहीं बदला, मुझसे पूछो मेरा तो जीवन का आधार ही बदल गया। पहले मैं चिलम के आकार की थी किन्तु अब मैं मंगल कलश बन गई, अत्यंत रम्य–सुरम्य हो गई, अब लोग मुझे सिर पर धारण करेंगे, गर चिलम होती तो अग्नि डालते, तम्बाकू डालते, होठों से लगाते किन्तु अब इसमें उत्तम जल भरकर के किन्हीं मुनिमहाराज का पड़गाहन करेंगे, मेरे निमित्त से भी व्यक्ति पुण्य का संचय करेंगे। चिलम के निमित्त से पाप का आस्रव करते।

तो यहाँ कह रहे हैं कि दर्शन (मुनिमुद्रा) को देखकर के दर्शन भी (विचार) बदलते हैं, आचार भी बदलता है और व्यवहार बदलता है इतना ही नहीं जीवन का आकार व आधार भी बदल जाता है। यहाँ कहा कि सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है, उदाहरण दिया कर्णधार अर्थात् खेवटिया की तरह। यह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया की तरह से है। जो नाव को खेने वाला है वह खेवटिया कहलाता है। नाव को खेने वाला न हो और नाव बहुत बड़ी नदी में हो तो नाव से पार नहीं हो सकते। नाविक है और नाव नहीं है तो वह नाविक भले ही लकड़ी पर बिठाल कर पार कर देगा नहीं तो उसका हाथ पकड़कर तैराकर पार कर देगा, नहीं तो ट्यूब में हवा भरकर पार कर देगा, खाली पीपे के माध्यम से पार कर देगा, वह खाली मटके में बिठाकर पार कर देगा, वह कपड़े का झोला सा बनाकर के उसमें पत्ते लगा करके, हवा भरकर के उससे भी पार कर देगा किन्तु नाविक ही नहीं है नाव रखी भी हो तो फिर नाव से पार नहीं हो सकते। नाव और नाविक में महत्वपूर्ण नाविक है क्योंकि नाविक नाव बना सकता है, नाविक तभी कहलाता है जब उसके पास नाव हो। तो मोक्षमार्ग में दर्शन खेवटिया की तरह से है, नाविक की तरह से है और ज्ञान नाव की तरह से है और प्रवृत्ति होना चारित्र की तरह से है।

महानुभाव! संक्षेप में यही आशय है कि मोक्षमार्ग की सिद्धि में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों का साहचर्य है, फिर भी तीनों में सम्यग्दर्शन ही प्रधान है। जिस तरह किसी राज्य के साधन में यद्यपि राजा, मंत्री व सेनापति तीनों ही सहचारी हैं, मिलकर राज्य का संचालन करते हैं फिर भी स्वतंत्र व नेतृत्व करने के कारण उनमें राजा को ही मुख्य माना जाता है। मंत्री अपनी बुद्धि बल से उचित-अनुचित को प्रकाशित करके और सेनापति शत्रुओं का विध्वंस करके राजा की आज्ञा का पालन कराने में सहायक हुआ करते हैं। उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र के विषय में समझना चाहिए। दर्शन राजा, ज्ञान मंत्री और चारित्र सेनापति है। मंत्री व सेनापति जिस तरह राजा की आज्ञा का पालन करते हैं और उसके अनुकूल तथा अनुसार ही प्रवृत्ति किया करते हैं उसी प्रकार ज्ञान व चारित्र दर्शन की आज्ञानुसार चलते हैं, उसी का अनुकरण तथा अनुसरण करते हैं किन्तु दर्शन राजा की भाँति न तो ज्ञान और चारित्र की आज्ञा में चलता है और न उसका अनुकरण व अनुसरण करता है, वह स्वतंत्र है। इसी बात को अधिक स्पष्ट रूप से बताने के लिए यहाँ आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में खेवटिया की तरह से कह रहे हैं। यह सम्यग्दर्शन मूल है, इसे नींव मानकर के सम्यक्त्व के महत्व को दर्शाया है। हम और आप अपने सम्यक्त्व को दृढ़ बनाएँ, उसके माध्यम से अपनी चेतना के अन्य गुणों की वृद्धि करें, उनकी सुरक्षा करें और उत्पन्न करें इन्हीं शब्दों के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता

विद्यावृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसतिसम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥32॥

अन्वयार्थ–बीजाभावे – बीज के अभाव में, **तरोरिव** – वृक्ष के समान, **सम्यक्त्वे असति** – सम्यग्दर्शन के नहीं होने पर, **विद्यावृत्तस्य** – सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की, **संभूति-स्थितिवृद्धि फलोदयाः** – उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, तथा फल की प्राप्ति, **न संति** – नहीं होती है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार में प्रथम अध्याय को देख रहे हैं। विगत दिवस सम्यक्त्व की महत्ता को समझ रहे थे। सम्यग्दर्शन प्रारंभिक कदम है, यह मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी है। जैसा विद्वत्वर दौलतराम जी ने लिखा–

मोक्ष महल की परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहे सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।

पहली सीढ़ी पर पैर रखे बिना दूसरी सीढ़ी नहीं मिलती। पहली मंजिल के ऊपर ही दूसरी मंजिल प्रारम्भ होती है। उसके ऊपर अन्य-अन्य मंजिल बनती चली जाती हैं। पहली मंजिल के बिना अन्य मंजिल नहीं बनाई जा सकती। पहले पहली मंजिल की दीवार खड़ी करें, उसके बाद ऊपर छत डालें, पुनः दीवार ऊँची हो जाएँ फिर छत डालें। कोई व्यक्ति कहे कि पहले दीवार ही न खड़ी करें सीधे दसवीं मंजिल ही बना ली जाए, तो वह बन नहीं सकती। क्यों नहीं बन सकती, हम तो पिलर को खड़ा करके 100 फीट की ऊँचाई पर छत डालेंगे वह दसवीं मंजिल हो जाएगी। अगर आपने 100 फीट की ऊँचाई पर भी छत डाली है, पहली छत है तब भी वह पहली मंजिल ही कहलाएगी चाहे 100 फीट की ऊंचाई पर डाली या 200 फीट की ऊँचाई पर डाली। पहली छत पहली मंजिल ही कहलाएगी। उसके बाद ही दूसरी मंजिल डाली जा सकती है।

महानुभाव! ऐसे ही एक क्रम है मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति का। सम्यग्दर्शन के अनन्तर ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है उसके उपरांत पुनः व्यक्ति धर्मानुरागी बनता है, विषय से विरागी बनता है, कषायों का शमन करने वाला बनता है, पापों से विरक्त होता है। वह अणुव्रतों को स्वीकार करता है, शीलव्रतों को स्वीकार करता है फिर महाव्रतों को स्वीकार करता है। संयम की साधना करता है तप की अभिवृद्धि करता है और फिर धर्मध्यान से सविकल्प व निर्विकल्प

धर्मध्यान में चित्त को एकाग्र करता है, फिर शुक्लध्यान की ओर जाता है। वह श्रेणी पर जाता हुआ कर्मों को क्षय करते हुए अरिहंत अवस्था प्राप्त कर लेता है पुनः सिद्ध दशा को प्राप्त होता है। ऐसा नहीं होता कि पहले अरिहंत अवस्था प्राप्त करे फिर सम्यक्त्व को प्राप्त करे, फिर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ले, फिर ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करे ये उल्टा क्रम नहीं होता। क्रम सीधा ही चलेगा। जैसे संसारी प्राणियों के पास इंद्रियाँ होती हैं पहले उसे स्पर्शन इंद्रिय प्राप्त होती है, फिर दूसरी इंद्रिय मिलेगी तो रसना इंद्रिय मिलेगी, तीसरी घ्राण इंद्रिय, चौथी चक्षु इंद्रिय, पाँचवी कर्ण इंद्रिय ही मिलेगी उसके बाद मन प्राप्त होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई जीव कहे मुझे एक इंद्रिय मिल जाए और मन मिल जाए, दूसरी-तीसरी, चौथी-पाँचवी इंद्रिय न मिले तो कोई बात नहीं, तो ऐसा नहीं होता। एक क्रम है, उस क्रम का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

ऐसी ही क्रम व्यवस्था इंसान के बारे में सोचें—पहले जीव गर्भ में आता है, फिर गर्भ का धीमे-धीमे संवर्धन होता है, जब गर्भ परिपक्व हो जाता है तब उसका जन्म हो जाता है, जन्म के समय शैशव अवस्था होती है, पुनः बाल्यावस्था होती है, फिर किशोर अवस्था होती है, फिर युवावस्था होती है। पुनः युवावस्था ढलती है तो प्रौढावस्था होती है, वह ढलती है तो वृद्धावस्था प्रारंभ होती है, वृद्ध अवस्था ढलते ही मृत्यु शय्या पर पहुँच जाता है यह सामान्यतया क्रम है। कोई सोचे जन्म के बाद पहले वृद्ध अवस्था आ जाए क्योंकि जन्म के तुरंत बाद तो मेरे पास मेरे माता-पिता रहेंगे तो मुझे वृद्ध अवस्था में ज्यादा परेशानी का सामना नहीं करना पड़ेगा और बाद में मेरी बाल्यावस्था आ जाए जिसमें मैं खेल-कूद में मस्त रहूँगा, अन्त में यौवन अवस्था आ जाए ताकि हाथ-पैर चलते-चलते ही मस्ती से वह अवस्था पूरी कर लूँ। तो ऐसा कभी नहीं होता। सब क्रम से चलता है। ऐसे ही मोक्षमार्ग में भी क्रम है।

आचार्य महोदय ने उदाहरण दिया-'बीजाभावे तरोरिव' बीज के अभाव में जो दशा तरु की होती है वही दशा सम्यक्त्व के अभाव में मोक्षमार्ग के तत्त्वों की होती है अर्थात् बीज के अभाव में अंकुर प्राप्त नहीं होता, बिना बीज के पौधा नहीं होता, उसके पत्ते-पुष्प-फल नहीं मिलते। बीज ही तो अंकुरित होगा ऐसे ही सम्यक्त्व की विशुद्धि बढ़ती है तब आत्मा में ज्ञान का अंकुर पैदा होता है। जब ज्ञान का अंकुर पैदा होता है तब संयम के पत्र पैदा होते हैं।

फिर तप के पुष्प महकते हैं, फिर ध्यान के फल लगते हैं अंत में संपूर्ण फल की अवस्था रूप वह 'सिद्धिस्वात्मोपलब्धि' सिद्धत्व अवस्था प्राप्त होती है।

महानुभाव! जिस प्रकार किट्टकालिमा से युक्त सोने को पहले शुद्ध किया जाता है फिर उसे तपाना प्रारंभ करते हैं, 1-1 ताप दिया जाता है पुनः वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है। कोई सोचे 16 ताप से शुद्ध होने वाली शुद्धि पहली बार में आ जाए पुनः दूसरे ताप की शुद्धि प्राप्त हो जाए, तो नहीं। क्रम-क्रम से ही शुद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जैसे बीज के अभाव में वृक्ष न तो अकुंरित होता है, न पल्लव, न पुष्प, न फल, न लकड़ी, न शाखा, न उपशाखा कुछ भी नहीं मिलेगा। ऐसे ही सम्यक्त्व के अभाव में 'विद्यावृत्तस्य' न तो सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है न व्रतों की निष्पत्ति हो सकती है।

मिथ्यादृष्टि जीव के जीवन में सम्यग्ज्ञान असंभव है, सम्यक् चारित्र असंभव है। मिथ्यादृष्टि जीव के जीवन में समीचीन तप-साधना-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्यादि धर्म असंभव हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के जीवन में कषायों के उपशम से प्राप्त होने वाला उत्तम क्षमा धर्म, उत्तम मार्दव धर्म, उत्तम आर्जव धर्म, उत्तम सत्य धर्म, उत्तम शौच धर्म इत्यादि असंभव है क्योंकि सम्यक्त्व के बाद ही इन धर्मों की निष्पत्ति संभव है, सम्यक्त्व के पूर्व नहीं। व्यक्ति पहले कुआँ खोदता है फिर पानी प्राप्त करता है, कोई सोचे पहले पानी मिल जाए फिर कुआँ खोद लें तो ऐसा नहीं होता है। ऐसे ही सम्यक्त्व को पहले आत्मा में प्रकट करना पड़ता है उसके बाद ही उससे सम्यग्ज्ञान-चारित्र-तप- संयम आदि प्राप्त होते हैं।

यहाँ बताया 'संभूति' अर्थात् सम्यग्ज्ञान की व सम्यक्चारित्र की समीचीन रूप से उत्पत्ति पुनः स्थिति। सम्यग्दर्शन है तो सम्यग्ज्ञान स्थित है, सम्यग्दर्शन छूट गया तो सम्यग्ज्ञान भी छूट गया, वह ज्ञान मिथ्या हो जाएगा। सम्यग्दर्शन छूट गया तो चारित्र भी मिथ्या हो गया, सम्यग्दर्शन छूट गया तो वैराग्य भी मिथ्या हो गया, सम्यग्दर्शन छूट गया तो तप भी मिथ्या हो गया, सम्यग्दर्शन छूट गया तो धर्मध्यान-शुक्लध्यान भी छूट गया, आर्त्त-रौद्र ध्यान आ गए सभी मिथ्यापने को प्राप्त हो गए, आत्मा की परिणति मिथ्यापने को प्राप्त हो गई। सम्यग्दर्शन एक ऐसा कारक है जो आत्मा के अन्य गुणों को प्रकट करने में सहयोगी है। जैसे माला में धागा अनुस्यूत होता है वह सुमेरु से प्रारंभ होता है व पूरे में होता है, यदि वह धागा न हो तो सब मोती बिखर जाएँगे। यदि 1-1 मोती पर गाँठ लगा दी है तब भी धागा तो है, धागा निकल जाएगा तो बिना धागे के मोती माला का रूप नहीं हो सकेंगे ऐसे ही सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा के अन्यगुण उत्पन्न नहीं हो सकते, उत्पन्न भी हो गए तो फिर वे स्थिर नहीं रह पाएँगे। धागे में मोती तो पिरो दिए किन्तु मोती उसमें रहें इसके लिए धागे का रहना जरूरी है, धागा निकाल दिया तो मोती फिर बिखर जाएँगे। ऐसे ही सम्यक्त्व के बिना सब बिखर जाएगा।

महानुभाव! यहाँ यही कहा कि जैसे बीज बोया तो वह निरंतर वृद्धि को प्राप्त होता जाता है ऐसे ही सम्यग्दर्शन ज्यों-ज्यों सुदृढ़ होता है, निर्मल होता है त्यों-त्यों ज्ञान भी निर्मल होता है, चारित्र भी निर्मल होता है, त्यों-त्यों तप की वृद्धि होती है ध्यान में चित्त संलग्न रहता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं 'स्थितिवृद्धिफलोदयाः' सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्दर्शन के फल प्राप्त होते हैं, मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है। ऐसा नहीं कोई व्यक्ति कहे अब हम अरिहंत बन गए सम्यक्त्व की आवश्यकता नहीं, छोड़ दें सम्यक्त्व को। नहीं, वह छूट ही नहीं सकता। क्षायिक सम्यग्दर्शन के माध्यम से अब वह 12 वें गुणस्थान में पहुँच गया, वह छूट ही नहीं सकता। 11वें गुणस्थान वाला व्यक्ति कदाचित् मिथ्यात्व तक जा सकता है किन्तु 12वें गुणस्थान वाला व्यक्ति कभी अनंतकाल तक भी मिथ्यात्व में नहीं जाएगा। उसने मिथ्यात्व आदि का क्षय कर दिया है। जब बीज को ही क्षय कर दिया तो अब उसकी संभूति, स्थिति, वृद्धि कैसे हो सकती है?

अब आचार्य महोदय कह रहे हैं 'न सति असति सम्यक्त्वे' सम्यक्त्व के न होने पर नहीं होते। क्या नहीं होते? सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सम्यक्चारित्र नहीं होता, सम्यक् वैराग्य नहीं होता और तप आदि की अभिवृद्धि नहीं होती। वे क्रमशः पर्याय मान लें। जैसे दूध है तो दूध की प्राप्ति किसी मादा के माध्यम से हुई, मादा को माने एक भव्य आत्मा। भव्य आत्मा है तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, उस भव्य आत्मा में मिथ्यात्व के उपशमन आदि से सम्यक्त्व प्रकट हुआ अर्थात् मानें कि मादा के माध्यम से दूध प्राप्त हुआ। अब दूध है तो दूध की रबड़ी भी बनाई जा सकती है, दूध की मलाई भी खाई जा सकती है, दूध का खोया–पनीर-दही-बनाया जा सकता है, दूध है तो उसमें से घी भी निकाला जा सकता है, दूध है तो यह सब संभव है, दूध नहीं है तो यह सब संभव नहीं है। यहाँ तो दूध ने ही नाना रूप परिणति की किन्तु यहाँ कह रहे हैं सम्यक्त्व अपने आप में ज्यों की त्यों परिणत रहते हुए भी चेतना के अन्य गुणों को प्रकट करने में समर्थ होता है। उसके अभाव में अन्य कोई गुण नहीं रह सकता। ऐसे ही यहाँ कहा कि जीवन में कोई व्यक्ति मोक्षमार्ग में बढ़ना चाहता है, धर्म करना चाहता है तो धर्म का प्रारंभ होता है सम्यग्दर्शन से। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने इसीलिए तो कहा- **'दंसण-मूलो धम्मो'** दर्शन ही धर्म का मूल है। जैसे मूल के बिना उसकी आगे की अन्य पर्याय प्राप्त नहीं हो सकती, बीज के बिना वृक्ष की अन्य पर्याय नहीं हो सकती ऐसे ही सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा के अन्य गुण प्रकट नहीं हो सकते।

महानुभाव! अब आत्मा के गुण कौन-कौन से हैं?जो आत्म द्रव्य के सामान्य गुण हैं वो हर अवस्था में रहते हैं उनका अभाव नहीं होता जैसे अस्तित्व गुण, वस्तुत्व गुण, द्रव्यत्व गुण, अगुरुलघुत्व गुण, प्रमेयत्व गुण, प्रदेशत्व गुण, ये छह गुण तो सामान्य गुण हैं जो सभी द्रव्य में पाए जाते हैं किन्तु यहाँ पर बात कर रहे हैं चेतना के विशेष गुणों की। जीव में चैतन्य गुण विशेषगुण है। संसारी जीव में ज्ञानादिगुण विभाव अवस्था को प्राप्त हैं। किन्तु ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य इन चार गुणों को अनुजीवी गुण कहते हैं इनका पूर्णतः घात कभी नहीं होता। घातिया कर्म इनका घात तो करते हैं किन्तु इनका पूर्णतः घात नहीं करते और दूसरे अघातियाकर्म के नाश होने पर सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व ये प्रतिजीवी गुण प्रकट होते हैं। इसके अलावा आत्मा के और भी गुण प्रकट माने जाते हैं क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में गुण पूर्ण प्राप्त नहीं होते हैं। जो नव केवललब्धियाँ हैं, सम्यग्दर्शन के बिना वे लब्धियाँ संभव नहीं हैं, सम्यग्दर्शन के बिना मुनि मुद्रा संभव नहीं है, सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी परमेष्ठी की अवस्था संभव नहीं है, सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक की अवस्था भी संभव नहीं है, सम्यग्दर्शन के बिना अविरत सम्यग्दृष्टि होना भी संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन मूल कारण है।

आचार्य महोदय उस मूल पर जोर दे रहे हैं। सम्यक्त्व की महिमा वे आगे और भी बताएँगे क्योंकि सम्यक्त्व होते ही मोक्षमार्ग का एक तत्त्व मिल गया। मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व को कर्णधार की तरह कहा या फिर कहें कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र ये तीनों तत्त्व ही अत्यंत आवश्यक हैं। अब आप पूछेंगे तो क्या ये तीन हैं? व्यवहार की भाषा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन गुण कहो या अन्य गुण कहो किन्तु निश्चय से आत्मा की परिणति है, आत्मा के गुण हैं, जो आत्मा से बिखरकर के कभी अलग नहीं होते। जिस प्रकार अग्नि की ऊष्णता अग्नि में से बिखरकर अलग नहीं होती, जल की शीतलता जल में से निकलकर कहीं अलग नहीं होती, वायु का बहाव वायु को छोड़कर के अलग नहीं होता, जिस प्रकार आकाश की शून्यता आकाश से निकलकर अलग नहीं होती, जिस प्रकार द्रव्य का पौद्गलिक गुण जो पार्थिवपना है वह कभी अलग नहीं होता, जिस प्रकार धर्म द्रव्य का गतिहेतुत्व गुण अलग नहीं होता, अधर्म द्रव्य का स्थितिहेतुत्व गुण अलग नहीं होता ऐसे ही आत्मा के गुण कभी आत्मा से अलग नहीं होते। निश्चय से आत्मा ही मोक्षमार्ग है, व्यवहार से मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र है।

आप उस सम्यक्त्व को सुदृढ़ बनाएँ, ज्ञान की वृद्धि करें, चारित्र को निर्मल बनाएँ इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यक्त्व बिना मोक्षमार्ग नहीं

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥33॥

अन्वयार्थ–निर्मोहः – मोह रहित, **गृहस्थः** – गृहस्थ, **मोक्षमार्गस्थ** – मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु, **मोहवान्** – मोह सहित, **अनगारः** – मुनि, **नैव** – मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। **मोहिनोमुनेः** – मिथ्यादृष्टि मुनि से, **निर्मोहः** – मोह रहित, **गृही** – गृहस्थ, **श्रेयान्** – श्रेष्ठ है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में आज देखते हैं श्लोक नं 33। विगत श्लोक में जाना कि सम्यग्दर्शन बीज की तरह से है; जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष तक की यात्रा असंभव है उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना मोक्षमार्ग असंभव है। जैसे नींव के बिना महल बनाना असंभव है ऐसे ही सम्यक्त्व के बिना जीवन में धर्म का आना असंभव है। जब तक धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं जागती तब तक व्यक्ति धर्मात्मा नहीं होता, केवल धर्म की क्रिया करने वाला व्यक्ति पुण्य की क्रिया तो कर सकता है, किन्तु अपनी आत्मा को मोक्षमार्ग में गतिशील नहीं कर सकता।

यहाँ श्लोक 33 में सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए कहते हैं कि सम्यग्दर्शन से युक्त एक गृहस्थ भी मोक्षमार्गी बन सकता है। किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित यति वेषधारी भी मोक्षमार्गी नहीं है।

इस काव्य में दो तीन बातें विशेष समझने लायक हैं। यूँ तो इसका अर्थ बड़ा सामान्य है कि गृहस्थ यदि मोह से रहित है तो मोक्षमार्गी है और अनगार साधु मोक्षमार्गी नहीं है यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो। यह तो सामान्य अर्थ हो गया किन्तु फिर भी इसमें विशेषता क्या है इसे जानने की कोशिश करते हैं। आचार्य महोदय ने ऐसा क्यों कहा कि एक गृहस्थ को मोक्षमार्गी कह दिया और साधु को संसारमार्गी कह दिया? यहाँ पर आचार्य महोदय की दृष्टि गृहस्थ और श्रावक की नहीं है, आचार्य महोदय की दृष्टि में सम्यग्दर्शन है। जिस व्यक्ति के पास सम्यग्दर्शन है वह व्यक्ति महत्वपूर्ण है, सम्यग्दर्शन नहीं है तो महत्वपूर्ण नहीं है। यदि किसी निर्धन के हाथ में 50 करोड़ का हीरा है उस समय वह व्यक्ति धनवान् है, जिसके पास वह हीरा नहीं तो वह राजा भी बना रहे तो उस समय वह कंगाल है। जिस समय समस्त राजमहल की चाबियाँ जिसके पास हैं या अधिकार में हैं उस समय वह महत्वपूर्ण है। व्यक्ति महत्वपूर्ण नहीं होता, महत्वपूर्ण होता है उसका अधिकार। एक सामान्य व्यक्ति का पुण्य इतना हो सकता है कि जिसे दुनिया सिर झुका रही हो, और एक विशेष व्यक्ति है, देखने में लगता है इन्द्र जैसा, किन्तु पुण्यहीन है तो उसे नमस्कार करना तो दूर कोई उसे स्थान भी नहीं देता, बल्कि लोग उसकी उपेक्षा कर देते हैं। यहाँ पर भी सम्यग्दर्शन का महत्व दिखा रहे हैं।

वैसे मोक्षमार्ग अकेले सम्यग्दर्शन से नहीं बनता, मोक्षमार्ग बनता है सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से। इन तीनों के बिना नहीं बनता, जैसा कि आप तत्त्वार्थ सूत्र में पढ़ते हैं **'सम्यग्दर्शन- ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः''** तीनों एक-एक हैं तो मोक्षमार्ग नहीं है तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। उदाहरण के तौर पर कहें आप हलवा बनाते हैं तो अकेले आटे का नाम हलवा नहीं है, अकेली शक्कर का नाम हलवा नहीं है और घी का नाम भी हलवा नहीं है। आटा + शक्कर + घी तीनों को मिलाकर अग्नि के साथ गर्म किया, इन्हें एक अनुपात में मिलाया तो हलवा बन गया। ऐसे ही आपने शिकंजी बनाई- जल + नींबू का रस + शक्कर आपने डाल दिया तो शिकंजी बन गई, तीनों में से एक को भी कम कर देंगे तो शिकंजी नहीं कहलाएगी, तीनों को अलग-अलग रखो तो शिकंजी नहीं कहलाएगी। तीन पहिए की गाड़ी का एक पहिया निकाल दो तो वह चल नहीं सकेगी, तीनों का समान महत्व है, किसी का महत्व कम नहीं आंका जा सकता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिलकर मोक्षमार्ग बनाते हैं।

महानुभाव! फिर भी आचार्य महोदय कह रहे हैं जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रावक है, उसने 5 अणुव्रतों को, 3 गुणव्रतों को, चार शिक्षाव्रतों को प्राप्त कर लिया, उसने दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरंभत्याग प्रतिमा, परिग्रहत्याग प्रतिमा, अनुमतित्याग प्रतिमा और उद्दिष्टत्याग प्रतिमा धारण कर ली, ऐसा ग्यारह प्रतिमाधारी भी श्रावक है। उसके पास देशव्रत है, एकदेश चारित्र है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी है, वह यदि सम्यग्दृष्टि है तो उपचार से वह एकदेश मोक्षमार्गी है किन्तु कोई नग्न अवस्था को प्राप्त कर ले, वस्त्रों को उतार कर तो फैंक दिया किन्तु उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, मिथ्यादर्शन है, उसकी आत्मा में मिथ्यात्व का वास है, वह आज भी शरीर और आत्मा को एक मान रहा है, आज भी उसके श्रद्धान में यह बैठा हुआ है कि सरागी कुदेव-कुशास्त्र व कुलिंगियों के माध्यम से मैं अपना कल्याण कर लूँगा, मुझे वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाएगी। वह जानता ही नहीं सम्यक्त्व क्या है, वीतरागता क्या है, उसे श्रद्धान् नहीं है तो अकेले वस्त्र उतारने से मोक्षमार्ग नहीं मिलता। यदि अकेले वस्त्र उतारने से, मात्र बिना कपड़े के मोक्षमार्ग मिल जाए तो जितने भी पशुपक्षी हैं वे सभी मोक्षमार्गी बन जाएँगे।

महानुभाव! मोक्षमार्ग आत्मा में आता है। आत्मा में जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र पैदा होता है तो मोक्षमार्ग आ जाता है। मात्र वस्त्रों के उतारने-पहनने से नहीं आता। यहाँ आचार्य महोदय ने गृहस्थों का उदाहरण दिया, मुनियों की फटकार लगा दी। जब डाँट लगाते हैं तो आप क्या कहते हैं-अरे! तुझसे ये काम भी नहीं हुआ इस काम को तो एक सामान्य बालक

भी कर लेगा, तुम तो पढ़े-लिखे हो फिर भी नहीं कर पाए। आचार्य महोदय ने ऐसे उदाहरण दिए जैसे अभयदान में शूकर का उदाहरण दिया। किसी राजा-महाराज का नहीं दिया। यदि पूजा-भक्ति में उदाहरण दिया तो मेंढक का दिया, यहाँ पर मोक्षमार्ग का उदाहरण दे रहे हैं तो मुनि को फटकारने के लिए एक गृहस्थ का उदाहरण दे रहे हैं। 'गृहस्थोमोक्षमार्गस्थो' एक गृहस्थ भी मोक्षमार्गी हो सकता है; जो सम्यग्दर्शन ज्ञान व एकदेश चारित्र से युक्त है किंतु जिसके अंतरंग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है ऐसा दिगंबर वेषधारी भी मोक्षमार्गी नहीं है। चारित्र में दोष लगें तब भी मोक्षमार्गी हो सकता है किन्तु बात ये है कि मुनि महाराज को हम कैसे मापें कि सम्यग्दर्शन है या नहीं। ऐसा कोई थर्मामीटर, पैमाना बना नहीं कि जिसके माध्यम में परिणामों को मापा जा सके। यह तो केवली जाने, केवलज्ञान का विषय है कि मिथ्यात्वादि कर्म उपशम भाव को प्राप्त हुए या नहीं। कषाय से भी नहीं नाप सकते क्योंकि महाव्रती के जीवन में कषाय का उदय भी हो सकता है, तब भी वे मोक्षमार्गी हो सकते हैं, और वे भावलिंगी मुनि भी हो सकते हैं किन्तु जिस मुनि के सम्यक्त्व नहीं है, अभव्य है वह मोक्षमार्गी कैसे हो सकता है।

आचार्य महोदय इस चरणानुयोग में करणानुयोग की पुट लगाते हुए कह रहे हैं कि जिसके चित्त में सम्यग्दर्शन प्रकट हो गया, सम्यक्त्व का सूर्य प्रकट हो गया, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश फैल गया, तो वह आत्मा कोई भी हो अपना कल्याण करने में समर्थ है। कोई व्यक्ति अहंकार से ये न सोचे कि मैं मनुष्य बन गया तो जल्दी मोक्षमार्ग प्राप्त हो जाएगा, मैंने जैनकुल में जन्म ले लिया तो जल्दी मोक्ष मिल जाएगा, मैं व्रती बन गया तो जल्दी मोक्ष चला जाऊँगा। जैन दर्शन संसार का एक ऐसा अनुपम दर्शन है जिसकी विशेषता कोई शब्दों में कह नहीं सकता। हम नहीं जान सकते कि सामने चलने वाली चींटी मृत्यु को प्राप्त कर हमसे पहले मोक्ष चली जाए, हम नहीं जान सकते कि निगोद में पड़ा जीव हमसे पहले मोक्ष पहुँच जाए। एक इंद्रिय वृक्ष आदि हमसे पहले मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कब किस जीव की परिणति बदल जाए अपने शास्त्र में ऐसे कई उदाहरण आते हैं। वह तुंगभद्रा जिसने मौन एकादशी व्रत किया और व्रत को दृढ़ता से पालन किया जिसके फलस्वरूप अगले भव से मोक्ष को प्राप्त किया।

एक सुभग नाम का ग्वाला था, वह अपने सेठ की गाय चराता था। एक बार शाम के समय वह जंगल से घर की ओर आ रहा था। मार्ग में उसने एक मुनिमहाराज को ध्यान में लीन बैठे देखा। उसने सोचा कड़ाके की सर्दी पड़ रही है, यदि ये रात भर यहाँ ऐसे ही बैठे रहे तो मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे अतः उसने आग जलाकर पूरी रात मुनिराज के शरीर की

वैयावृत्ति की। प्रातःकाल मुनिराज का ध्यान खुला। वे मुनिराज जंघाचारण ऋद्धि के धारी थे। वे जंघा पर हाथ रखकर 'णमो अरिहंताणं' कहते हुए आकाशमार्ग से विहार कर गए। ग्वाले को लगा 'णमो अरिहंताणं' ये कोई विशेष पद है जो साधु महाराज ने उसे दिया है। सुभग ने वह पद याद कर लिया। दिन-रात उसी पद को बोलता रहता। एक बार नदी में बाढ़ आने से सुभग ग्वाले की गायें नदी में बह गईं। वह उन्हें बचाने के लिए ज्यों ही नदीं में कूदा, सामने से एक ठूंठ (नुकीली लकड़ी) बहता हुआ आया और सुभग के पेट में लग गया। उसने निदान कर लिया कि हे भगवन्! उन 'णमो अरिहंताणं' की जो मैंने सेवा की थी, उन णमो अरिहंताणं की सेवा से मुझे अपने सेठ के घर में जन्म मिल जाए। सेठ के घर में कोई संतान नहीं थी। मृत्यु को प्राप्त कर वह ग्वाला उन सेठ के घर में जन्म लेता है और सुदर्शन सेठ बनता है, कामदेव जैसा सुंदर शरीर, वज्रवृषभनाराच संहनन प्राप्त किया और उसी भव से तपस्या करके पटना से मोक्ष को प्राप्त किया।

महानुभाव! जिनशासन की महिमा अचिन्त्य है। इसलिए हम कभी भी अहंकार न करें। जो गृहस्थ मोक्षमार्गी बन गया है वह अहंकार नहीं कर सकता, जो अहंकार कर रहा है वह मोक्षमार्गी नहीं है। क्योंकि गृहस्थ तो अभी विद्यार्थी है, साधु अध्यापक है। विद्यार्थी को अध्यापक की परीक्षा लेने का न अधिकार है और न परीक्षा लेने की पात्रता। आचार्यों ने लिखा है–

भुक्तिमात्र-प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनः।
ते सन्तोऽपि असन्तो वा गृही दानेन शोभते॥

गृहस्थ तो दान के द्वारा शोभा को प्राप्त होता है। उनके अंदर में सन्तत्व है या नहीं; तुम्हारे पास उसे मापने का कोई थर्मामीटर नहीं, कोई X-Ray जैसी मशीन नहीं कि अंतरंग के परिणाम को देख सको। उनके चार चिह्न देख लेना कि वे यथाजात दिगम्बर हैं, केशलोंच करते हैं, पैदल विहार करते हैं, दिन में एक बार खड़े होकर करपात्र में आहर करते हैं। इस प्रकार चार विशेषता देखकर के दिगम्बर साधु की पहचान करके सिर झुका लेना। उन्हें जो सिर झुका लेगा वह श्रावक भी मोक्षमार्गी बन जाएगा। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा कि अभव्य व्यक्ति भी यदि मुनि बन जाए, वह भले ही मोक्ष प्राप्त न करे, वह अभव्य मुनि भी अनेक भव्यों के लिए मोक्ष का निमित्त बन सकता है। उन अभव्य मुनि को देखकर भी गृहस्थ सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि कर सकते हैं।

गृहस्थ और साधु में यही अंतर होता है कि गृहस्थ का तन स्थित है, वह अपने घर में स्थिर रहता है किंतु मन चंचल होता है और साधु का तन विहार करता रहता है और मन स्थिर रहता है। वे एक जगह ठहरते नहीं, नदी के पानी की तरह इनका प्रवाह रहता है, आज यहाँ-कल वहाँ। क्यों? क्योंकि यदि वे एक जगह ठहर जाएँगे तो उनके चित्त में भी अपने भक्तों के प्रति राग हो जाएगा, और जो उनकी भक्ति नहीं करेंगे तो द्वेष हो जाएगा इसीलिए

साधु एक जगह से बंधते नहीं, यदि बंध गया तो समझो कर्मों से बंध गया, जो जल रुक जाएगा तो गंदा हो जाएगा, बहता जाएगा तो कभी गंदा न होगा।

बहता पानी निर्मला, रुके सो गंदला होय।
साधु तो चलता भला, दोष लगे ना कोय॥

महानुभाव! यहाँ यही कहा- 'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो' जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और एकदेश चारित्र से सहित है वह मोक्षमार्गी है, 'नैवमोहवान्' लेकिन जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व देशचारित्र से युक्त नहीं है, मोह से युक्त है वह मोक्षमार्गी नहीं है, मोह से युक्त साधु है तो मोक्षमार्गी नहीं है, मोह से युक्त एक तिर्यंच है तो मोक्षमार्गी नही है। अब यहाँ कहेंगे कि आचार्य महोदय ने गृहस्थ शब्द का ही प्रयोग क्यों किया? सम्यग्दृष्टि तो नारकी भी हो सकता, देव भी हो सकता है? देव और नारकी सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं, ये बात बिल्कुल ठीक है किन्तु वे देशव्रती नहीं हो सकते, चारित्र नहीं आ सकता। और बिना चारित्र के दर्शन-ज्ञान से मोक्षमार्ग बनेगा कैसे? नहीं बन सकता इसीलिए नारकी नहीं कहा और देव नहीं कहा। फिर तिर्यंच तो कह देते? तिर्यंच इसलिए नहीं कहा कि वह देशव्रती तो बन सकता है किन्तु साक्षात् मोक्षमार्गी मुनि नहीं बन सकता। वह गृहस्थ दीक्षा लेने के एक समय पहले भी गृहस्थ है, उसकी विशुद्धि बढ़ रही है दीक्षा लेने के लिए बैठा है वह मोक्षमार्गी है, वह सकलसंयम को प्राप्त कर सकता है। 'नैव मोहवान्' मोह से युक्त व्यक्ति कभी मोक्षमार्गी नहीं बनता।

आचार्य महोदय ने उस मिथ्यात्व पर चोट करने का प्रयास किया है। मिथ्यात्व को तोड़ो, मिथ्यात्व की चट्टान ऐसी है जो सहज टूटती नहीं है। आप लोग क्या करते हैं कि दिखाने के लिए, पाप के पहाड़ को तोड़ने के लिए बड़े-बड़े हथौड़ा लाते हैं। किन्तु वे हथौड़े किसके बने होते हैं, वे थर्माकोल के हथौड़े होते हैं। दुनिया को दिखाने को धोखा दे रहे हो, दिखा रहे हो कि मैं कर्म चट्टान को इतने बड़े हथौड़े से तोड़ रहा हूँ। अरे! थर्माकोल के हथौड़े से चट्टानें टूटती हैं क्या? नहीं टूटती। ऐसे ही जब हमारे चित्त में ये भाव आ जाता है कि मेरे धर्म की लोग प्रशंसा करें, मैं बहुत बड़ा धर्मात्मा हूँ, पूजा-भक्ति करता हूँ, ऐसी भावना से धर्म कर रहे हो तो धर्म नहीं कर पाओगे। धर्म तो तभी होता है जब अपनी आत्मा में संकल्प आ जाए कि चाहे कुछ भी हो जाए मेरी आत्मा को परमात्मा मैं ही बना सकता हूँ, विश्व की अन्य कोई शक्ति मुझे परमात्मा नहीं बना सकती। वैदिक परम्परा में तो मानते हैं कि तू मेरी शरण में आ जा मैं तेरा कल्याण कर दूँगा किन्तु जैन दर्शन कहता है-कोई किसी का कल्याण नहीं करता, अपना-अपना कल्याण हर प्राणी स्वयं करता है। जैन दर्शन कर्म सिद्धान्त पर विशेष बल देता है।

इस प्रकार आचार्य महोदय यहाँ जो मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ को मोक्षमार्ग में स्थित और श्रेष्ठ बता रहे हैं उसका अभिप्राय स्पष्ट है कि वे अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणों को मान्य करते हुए बताना चाहते हैं कि अंतरंग कारण के बिना केवल बाह्य कारण से मोक्षमार्ग में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। उनका यह कथन युक्ति, आगम, अनुभव व आम्नाय से सिद्ध है कि यद्यपि गृहस्थाश्रम से मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं, वह तो मुनि पद से ही हुआ करती है और गृहस्थ के पद से मुनि के पद की यह विशेषता चारित्र पर ही निर्भर करती है। यह ठीक है फिर भी देशचारित्र हो या सकलचारित्र उसकी वास्तविकता सम्यग्दर्शन मूलक ही है। जिस तरह किसी मकान की स्थिति उसकी नींव की दृढ़ता पर है, मानव सृष्टि की परम्परा वीर्य पर निर्भर है, उसी प्रकार मोक्ष के लिए साधनभूत चारित्र की स्थिति भी सम्यग्दर्शन पर ही है। मोक्ष का परम्परा से कारण देशसंयम हो या साक्षात् कारण सकलचारित्र हो यदि सम्यक्त्व पर स्थित है तो ही वह मोक्ष के साधनभूत संवर, निर्जरा का निमित्त कारण माना जा सकता है अन्यथा नहीं।

महानुभाव! अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र को प्रकट करो और मोक्षमार्गी बनो। बिना मोक्षमार्गी बने मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। आप सबका कल्याण हो, शुभ हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ–

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन में अंतर

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम्॥34॥

अन्वयार्थ–त्रैकाल्ये – तीनों कालों में, **त्रिजगति** – तीन जगत् में, **तनुभृताम्** – संसारी जीवों को, **सम्यक्त्वसमं** – सम्यक्त्व के समान, **अन्यत्** – दूसरा **किंचित् अपि** – कुछ भी **श्रेयः न** – कल्याणकारी नहीं है **च** – और **मिथ्यात्वसमं** – मिथ्यात्व के समान **अन्यत्किंचित् अपि** – दूसरा कुछ भी **अश्रेयः न** – अकल्याण नहीं है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के नाम से श्रावकों की आचार संहिता, उनके कल्याणार्थ लिख रहे हैं। यह ग्रंथ लगभग 1900 वर्ष पूर्व लिखा गया। ऐसा लगता है आचार्य महोदय ने गृहस्थों के लिए रत्नों का पिटारा दे दिया हो। एक-एक कारिका रत्न की तरह से दिव्य है जो चेतना के गहनतम को नष्ट करने वाली है, जो चिन्मय प्रकाश को देने वाली है। एक-एक कारिका का चिन्तन-मनन पुनः-पुनः अवलोकन और उसके अर्थ को ग्रहण करना धर्मध्यान का निमित्त बनता है। आचार्य भगवन् इस लघुकाय कृति में पूर्व कारिका में सम्यक्त्व की महिमा बता रहे थे कि सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी मनुष्य भी मोक्षमार्गी बन जाएगा। यदि एकदेश व्रतों का पालन कर रहा है तो एक देश मोक्षमार्गी बन गया, किन्तु सम्यक्त्वादि गुणों से हीन यदि कोई अनगार है तो वह मोक्षमार्गी नहीं है।

महत्व इस सम्यक्त्वरूपी रत्न का है। प्रकाश देने वाला छोटा सा दीपक श्रेष्ठ है, बुझे हुए बहुत बड़े दीपक की अपेक्षा से। लालटेन बहुत बड़ी भी हो किन्तु उसमें ज्योति नहीं तो बेकार है, छोटी सी मोमबत्ती सार्थक है जो जलकर के अंधकार को तिरोहित करके, सत्पथ को बताने में समर्थ है। ऐसे ही जिस आत्मा में सम्यक्त्व रूपी रत्न की ज्योति है, सम्यग्ज्ञान की ज्योति है। इस ज्योति से युक्त आत्मा में ही मोक्षमार्गी होने की पात्रता है किन्तु जिस चेतना में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की ज्योति नहीं है, देशचारित्र की भी ज्योति नहीं है वह आत्मा किसी भी शरीर को धारण कर रही है किन्तु वह मोक्षमार्गी नहीं है। इतना ही नहीं वह मनुष्य वस्त्र से सहित हो या रहित हो यदि सम्यक्त्वादि नहीं है तो वस्त्ररहित अवस्था भी मोक्षमार्ग की कारक नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र से युक्त दशा मोक्षमार्ग में है।

सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए श्लोक नं. 34 में कहा–'तनुभृताम्' तन को धारण करने वाले जो जीव हैं वे संसारी जीव हैं और जो शरीर से रहित जीव हैं वे मुक्त जीव हैं, सिद्धपरमेष्ठी हैं। वैक्रियक आदि शरीर वाले देव-नारकी जीव पहले-दूसरे-तीसरे-चौथे गुणस्थान

वाले भी हो सकते हैं इसके आगे नहीं हो सकते। तिर्यंच 1-5 गुणस्थान वाले हो सकते हैं इससे आगे नहीं। आहारक शरीर छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज के ही होता है, वे नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकते। आहारक शरीर का बंध सप्तम गुणस्थान में होता है। मनुष्य एक से चौदह गुणस्थान वाले हो सकते हैं किन्तु सिद्धान्त की भाषा में कहें तो जो जीव पहले गुणस्थान में, दूसरे गुणस्थान में व तीसरे गुणस्थान में हैं वे मोक्षमार्गी नहीं हैं। जो चौथे गुणस्थान में है वे मोक्षमार्गी होवेंगें, मोक्षमार्ग के सन्मुख हैं। जिसका पहला-दूसरा गुणस्थान है वह अभी संसार के गर्त में पड़ा है, चौथे गुणस्थान वाला गर्त से निकलकर सामने खड़ा है। 5 वें गुणस्थान वाला समझिए उसने चलने के लिए पैर बढ़ा दिया, अभी पैर जमीन पर रखा नहीं बस उठाया ही है। चलने के लिए पैर उठा लिया तो मार्गी बन गया, चाहे अभी चल नहीं रहा।

पथिक, राहगीर वह कहलाता है जो गमनशील है, पंथ पर चले सो पथिक, राह पर चले सो राहगीर, मार्ग में चले सो मार्गी। यहाँ पर बताया कि देह-धारण करने वाले जीवों के लिए सबसे ज्यादा हितकर क्या है? कल्याणकारक, सुखकारक क्या है? विद्वत्वर दौलतराम जी ने कहा-

आतम को हित है सुख सो सुख, आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहि न तातें, शिवमग लाग्यो चहिये।

आत्मा का हित निराकुल सुख को प्राप्त करने में है। वह सुख कब प्राप्त होगा? मोक्षमार्ग में चलने से, मोक्षमार्ग कैसे प्राप्त होगा? सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने से। तो आत्मा का हित तो मोक्षमार्ग की प्राप्ति में है। जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टि हैं उन्हें लगता है कि आत्मा का सुख मोक्ष के अलावा कहीं और भी मिल सकता है। यहाँ बता रहे हैं-'न सम्यक्त्व-समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि'। तीनों कालों में व तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान कोई किञ्चित् भी कल्याणकारक नहीं है। तीन लोक कहने से यह समाधान हो गया कि ऊर्ध्वलोक में देवों के लिए अणिमा आदि ऋद्धियाँ कल्याणकारक नहीं हो सकतीं, नरक में नारकी जीव हैं, मारकाट कर रहे हैं उनकी शक्ति कल्याणकारक नहीं हो सकती, चाहे मध्यलोक में कहीं भी जीव है उसके लिए सम्यक्त्व के समान कल्याणकारक दूसरा नहीं है।

वर्तमानकाल में संसार में जितने भी मनुष्य विद्यमान हैं उनमें से अधिकांश जीवों की ये मानसिकता है कि सुख की या कल्याण की परिभाषा इतनी सी है कि घर का मकान, घर की दुकान, फैक्ट्री, वाहन, नौकर-चाकर, बैंक बैलेंस, घर में मनोहर चित्ताकर्षक सुंदर-सुशील स्त्री हो आज्ञाकारी योग्य व बुद्धिमान् पुत्र हों जो मेरे नाम को रोशन करने

वाले हों, इतना सब मिल गया अब और क्या चाहिए? इतना पर्याप्त है, बस यही तो चाहिए था। अन्य कोई लक्ष्य ही नहीं। मोक्षमार्ग या मोक्ष वह चाहता है जो संसार के इन समस्त फलों को पाकर भी ऊब गया हो, इनसे परे हो गया हो। मोक्ष संसार के परे है। जब तक संसार के किञ्चित् पदार्थ की भी, परमाणु मात्र की भी मन में कांक्षा है तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। मुमुक्षु का आशय होता है जिसकी समस्त इच्छाएँ मर गई हों, केवल एक कर्मों से मुक्त होने की इच्छा बाकी रह गई हो। किंतु व्यक्ति मानता है मेरे कल्याणकारक तो मेरे माता-पिता है उनके बिना मेरा कल्याण कैसे होगा, स्त्री कहती है मेरा पति ही मेरा कल्याण करने वाला है, कोई कहता है बस घर वा दुकान अपनी हो जाएँ तो ये संसारी प्राणियों द्वारा कल्पित कल्याण की अलग-अलग परिभाषाएँ हो गई।

कोई कहता है महाराज! बस शरीर निरोगी रहे तो कल्याण हो जाए, इस असाध्य बीमारी से मुक्ति मिल जाएँ। कोई कहता है मेरे स्वजन-परजन मुझे चाहते रहें, मेरी उपेक्षा न करें, मेरा तिरस्कार अपमान न करें। तो कोई मानता है मैं उच्च कुल में पैदा हो गया तो मेरा कल्याण हो गया। कोई कहता है साधु संगति मिल गई तो हो गया कल्याण। कोई कहता है भगवान् बस मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे तो एक पारसमणि रत्न दे दो मेरा तो कल्याण ही हो जाएगा, लोहे को सोना बनाता रहूँगा। मैंने सुना है पहले कामधेनु गाय व कल्पवृक्ष होते थे मुझे ढेर सारे नहीं बस एक कल्पवृक्ष दे दो, जो माँगू सो देता जाएँ। कोई व्यक्ति कहता है भगवान् ऐसी विद्या दे दो जो विद्या कभी आकाश में ले जाए, कभी जलमार्ग से ले जाए, कभी थलमार्ग से ले जाए, रूपपरावर्तिनी विद्या, भिन्न और अभिन्न विक्रिया विद्या; ऐसी विद्याएँ प्राप्त हो जाएँ तो और क्या चाहिए, कुछ नहीं, बस पर्याप्त है, इतने से तो मेरा कल्याण निश्चित रूप से हो ही जाएगा। तो जो व्यक्ति इस प्रकार की भावना भाता है वह भूल कर रहा है। किसी को जादूई तलवार चाहिए तो किसी को अजेय धनुष बाण चाहिए, किसी की चाह चक्रवर्ती की नौ निधि में बसी है तो कोई 14 रत्नों को चाहता है। व्यक्ति कल्याण के लिए इन वस्तुओं को माँगता है; किन्तु कल्याण इन सब चीजों से नहीं होगा।

महानुभाव! कितनी भी लौकिक विद्याएँ प्राप्त कर लो, चाहे चक्रवर्ती की विभूति प्राप्त कर लो, चाहे विद्याधरों की विद्या प्राप्त कर लो, देवों की ऋद्धियाँ प्राप्त कर लो कल्याण यदि आज होगा तब भी सम्यक्त्व के माध्यम से होगा, कल होगा तो भी सम्यक्त्व के माध्यम से होगा, पूर्व में जब भी कल्याण हुआ तो सम्यक्त्व के माध्यम से ही हुआ। इसलिए आचार्य महोदय बड़ी दृढ़ता के साथ कह रहे हैं कि तीनों कालों में, अतीत काल में भी सम्यक्त्व ही आत्मा का कल्याणकारक था और अनागत में भी आत्मा का कल्याण होगा तो सम्यक्त्वादि गुणों के माध्यम से ही होगा। सम्यक्त्व के बिना चेतना के अन्य गुण प्रकट नहीं होते।

भूत-भविष्य काल में भी सम्यक्त्व ही कल्याण का कारक रहेगा। वर्तमानकाल में भी सम्यक्त्व ही कल्याण का कारक है।

सभी बोलते हैं–**''जैनं जयतु शासनं, विश्वकल्याण-कारकम्''।** ये जिनशासन ही कल्याणकारक है। जिनत्व को समझ लेना, अपनी आत्मा का स्वभाव जान लेना, अपने शरीर को अलग मान लेना ही कल्याणकारक है। वह सम्यक्त्वादि जो चेतना के गुण हैं वही आत्मा का कल्याण करने वाले हैं, वही आत्मा को परमात्मा बनाने वाले हैं। कोई भी व्यक्ति पुद्गल का ढेर लगाकर आत्मा को परमात्मा नहीं बना सकता। 14 रत्न नहीं 1400 रत्न भी प्राप्त कर ले तब भी आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। यदि 9 नहीं 90 निधि भी प्राप्त कर ले तब भी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। निधि 90 हों या 900 हों क्या फर्क पड़ता है, आत्मा की निधि के बिना आत्मा का कल्याण नहीं होगा। कोई सोचे अमुक जन मेरा अकल्याण कर रहे हैं, इन्होंने मुझे धर्म से भ्रष्ट कर दिया, तो यह भूल है। जो व्यक्ति दूसरों को अपनी गलती का जिम्मेदार ठहराता है वह नि:संदेह अपनी आत्म को ठगता है। जो व्यक्ति स्वयं पाप करे व दूसरों को पाप का जिम्मेदार ठहराये, कहे कि मेरी पत्नी ने मुझे पापी बना दिया या मैं अपने बच्चों के लिए पाप करता हूँ अथवा मेरे भाई ने मेरे परिणाम खराब कर दिए इसलिए मेरे बैर रूप भाव हो गए, नाना-प्रकार की बातें कहकर जो दूसरों को द्वेषी मानता है वह स्वयं महादोषी है। जो व्यक्ति अपने अपराध को स्वीकार कर लेगा तो दोषों से मुक्त होने की संभावना भी है। जब तक अपने अपराध को स्वीकार नहीं करेगा तब तक दोष से मुक्त नहीं हो पाएगा।

महानुभाव! इस ग्रन्थ की तीसरी कारिका में जो धर्म व अधर्म का लक्षण लिखा था, उसी का फल इस कारिका में कहा है कि सम्यग्दर्शन रूप धर्म के समान प्राणियों के लिए कोई हितकारी वस्तु नहीं है और मिथ्यात्व के समान अहितकारी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा का कथन किया, मिथ्यात्व की निन्दा की है। कल्याणकारी-अकल्याणकारी का अर्थ सांसारिक पदार्थों की उपलब्धि या सांसारिक वैभव से सम्बन्धित नहीं है। तीर्थंकर आदि उत्कृष्ट पदों को छोड़कर शेष संसार के पद मिथ्यादृष्टि को प्राप्त हो सकते हैं, शारीरिक रोग-व्याधि का भी संबंध नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि उत्तम संहनन वाला समचतुस्र संस्थान वाला हो सकता है। तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों के सिवाय सारी पुण्य-पाप प्रकृतियों का बंध मिथ्यादृष्टि कर सकता है क्योंकि तीन प्रकृतियों के सिवाय बंध योग्य 117 प्रकृतियों का बंध मिथ्यादृष्टि के होता है। संसारी प्राणियों का आत्महित सम्यग्दर्शन से ही होता है, सम्यग्दर्शन के

बिना आत्मकल्याण नहीं होता इसलिए कहा जाता है सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा का कोई कल्याणकारी नहीं है, संसार में परिभ्रमण एवं सांसारिक दु:खों का कारण मिथ्यादर्शन है, अत: इसके समान कोई अकल्याणकारी नहीं है। सम्यग्दर्शन के होने पर अनंत संसार सान्त हो जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हो जाता है वह अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल से अधिक काल तक संसार में नहीं रहता, सम्यग्दर्शन के रहते एक नारकी के भी आत्मीय आनंद होता है, वह मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्र को भी दुर्लभ है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने यही कहा कि संसारी प्राणियों के लिए मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है। यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र ही अकल्याणकारी हैं। सम्यग्दर्शन- सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र ही कल्याणकारी हैं। यह सम्यक्त्व उत्कृष्ट रत्न है इसे प्राप्त करके चेतना के और सब रत्न आ जाएँगे और ये प्राप्त नहीं कर पाए तो मिथ्यात्व के साथ अन्य जितनी बुराईयाँ संसार में हैं उन समस्त बुराईयों को मिथ्यादृष्टि प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दृष्टि चेतना की समस्त निधि को प्राप्त कर सकता है इसलिए आप सभी मिथ्यात्वादि का त्याग कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर आत्मगुणों को प्राप्त करें इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दृष्टि जीव किन-किन अवस्थाओं में नहीं होते

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक - तिर्यङ् - नपुंसक - स्त्रीत्वानि।
दुष्कुल-विकृताऽल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाऽप्यव्रतिकाः॥35॥

अन्वयार्थ–सम्यग्दर्शन-शुद्धाः – निर्मल सम्यग्दर्शन के धारी जीव, **अव्रतिकाः अपि** – व्रत रहित होने पर भी **नारकतिर्यङ्नपुंसक-स्त्रीत्वानि** – नारकी, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्याय को **च** – और **दुष्कुल-विकृत-अल्प-आयुः दरिद्रतां** – नीचकुल, विकलांग, अल्प-आयु, दरिद्रपने को **न** – नहीं **व्रजन्ति** – प्राप्त होते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! यहाँ आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी जी सम्यक्त्व की महिमा का बखान कर रहे हैं कि संसारी जीवों के लिए सम्यक्त्व के समान उपकारक तीनों लोकों में कोई नहीं है और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारक नहीं है। जिसने एक बार मिथ्यात्व का क्षय कर दिया वह जीव अल्पकाल में नियम से मोक्ष प्राप्त करेगा। मिथ्यात्व के क्षय में सात प्रकृतियाँ क्षय होती हैं मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनंतानुबंधी क्रोध-मान माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया तो नियम से वह जीव उसी भव में या तीसरे भव में, नहीं तो चतुर्थ भव में मोक्ष प्राप्त करता है। मिथ्यात्व यदि विद्यमान है तो व्यक्ति चाहे पाप का त्याग भी कर दे, किंतु मिथ्यात्व को छोड़े बिना वह पाप आत्मा में पुनः-पुनः आ जाएगा। मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दृष्टि जीव कहीं पाप में लिप्त भी हो जाए तब भी वह अल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् 83 लाख पूर्व तक गृहस्थ जीवन में रहे और गृहकार्य संबंधी समस्त कार्यों का संचालन किया, राज्य का संचालन भी किया, वंशवृद्धि भी की किन्तु पुनः 1 लाख पूर्व समय शेष बचा तब स्वयं का कल्याण भी किया और अन्य भव्य जीवों को कल्याणार्थ धर्म का उपदेश दिया, जिनशासन का प्रवर्तन किया और पचास लाख करोड़ सागर तक भगवान् ऋषभदेव का शासन रहा। भरत चक्रवर्ती गृहस्थ जीवन में सम्यक्त्व से युक्त थे, चक्रवर्ती पद का भोगोपभोग किया, 9 निधि, 14 रत्न, 96 हजार रानियाँ, लाखों पुत्र-पुत्रियाँ इतना सारा वैभव होने के बावजूद भी उन्होंने दीक्षा लेने के अनंतर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया।

संसार में जीव को बांधकर के रखने वाला कोई खूँटा है तो वह है मिथ्यात्व। और संसार से पार ले जाने वाली सबसे बड़ी कोई नाव है, तो वह है सम्यक्त्व। कोई ऐसी चुम्बक जो मोक्ष के लिए खींच सकती है, वह है सम्यग्दर्शन। आचार्य महोदय सम्यक्त्व की महिमा गाते-गाते थक नहीं रहे, सम्यक्त्व ही ऐसा दिव्य रत्न है जिसकी जितनी महिमा गाई जाए उतनी कम

पड़ जाती है। आज 35 नं. की कारिका में पुनः सम्यक्त्व की महिमा गाते हुए कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव किस-किस गति में नहीं जाता, कौन-कौन सी अवस्थाओं को प्राप्त नहीं करता। जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं वे नरकायु का बंध नहीं करते, तिर्यंचायु का बंध नहीं करते, वे भवनवासी, बाणव्यंतर-ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होते, वे नपुंसक व स्त्री पर्याय में नहीं जाते। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के साथ दुष्कुल में नहीं जाते, वे विकृत/विकलांग नहीं होते, उनका शरीर कुब्जक, हुण्डक आदि संस्थान युक्त नहीं होता। वे असंप्राप्तसृपाटिकादि हीन संहनन को प्राप्त नहीं होते। नाम कर्म की अशुभ प्रकृतियाँ स्थावर, सूक्ष्म, साधारण आदि का बंध नहीं करते। सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व के साथ होने वाली 16 प्रकृति, सासादन गुणस्थान में बंध होने वाली 25 प्रकृतियों का बंध नहीं करते। ये 41 प्रकृतियाँ मिथ्यादृष्टि बांधते हैं सम्यक्त्व के नीचे आकर के। सम्यग्दृष्टि जीव इन 41 प्रकृतियों का बंध नहीं करता। सम्यक्त्व की महिमा है कि सम्यग्दृष्टि जीव कभी दरिद्र नहीं होता, सम्यक्त्व को साथ में लाने वाला जीव नियम से यदि मनुष्य अवस्था में पैदा होता है तो राजकुल में पैदा होता है, प्रचुर वैभव को प्राप्त करता है, श्रेष्ठी पद को प्राप्त होता है। देवगति में जाता है तो नियम से वैमानिक देव होता है और वैमानिक देवों में भी उत्तमऋद्धि का धारक होता है, अभियोग्य, किल्विष आदि नहीं होता।

आचार्य महोदय यही बता रहे हैं कि 'अव्रतिकाः अपि' जो व्रती नहीं है किंतु सम्यग्दृष्टि है वह भी इन अवस्थाओं में नहीं जाता। यह सम्यक्त्व रूपी रतन की महिमा है। जैसे किसी व्यक्ति के पास दिव्य रत्न था, जिस रत्न का यह प्रभाव था कि व्यक्ति उससे कभी अंधा नहीं हो सकता था। जिसके पास जब तक वह रत्न रहेगा तब तक वह व्यक्ति अंधा हो ही नहीं सकता। किसी व्यक्ति के पास एक दिव्यमणि थी उसका प्रभाव ऐसा था कि जब तक मणि उसके पास रहेगी उसके मस्तिष्क का क्षयोपशम कम नहीं हो सकता। चाहे कुछ भी करे कभी ज्ञानवरण कर्म का क्षयोपशम कम नहीं होगा, उसका मस्तिष्क कभी dead नहीं होगा, यह उस मणि का प्रभाव रहेगा। तीसरा व्यक्ति जिसके पास एक सामान्य सी लकड़ी थी किन्तु वह दिव्य थी, उसमें से चंदन जैसी सुगंध आती थी, वह दिव्यौषधि जिसके पास पहुँच जाए उसके रोग दूर हो जाते थे, जब तक वह रहेगी तब तक रोग नहीं हो सकता। जैसे सूर्य के रहते अंधकार नहीं ठहरता ऐसा ही प्रभाव उस दिव्यऔषधि का था।

जिस चक्रवर्ती के पास नव निधि, चौदह रत्न हैं उन निधि व रत्नों का प्रभाव ये है कि जब तक नवनिधि रहेंगी तब तक वह किसी भी तरह से कंगाल नहीं होगा। चक्रवर्ती कभी

निर्धन नहीं रह सकता। एक व्यक्ति के पास एक ऐसा दिव्य चूर्ण था जिसके माध्यम से दिव्य भोगों की प्राप्ति होती थी, उसके भोगों को कोई छीन नहीं सकता। किसी व्यक्ति के पास ऐसा अनुपम विमान था जिस विमान की गति को कोई रोक नहीं सकता, वह निर्बाधगति कर सकता है, ढाई द्वीप में कहीं भी जा सकता है। किसी व्यक्ति के पास एक ऐसा दिव्य लेप था जिसके माध्यम से तन का सौन्दर्य कभी घटता ही नहीं, यौवन कभी नष्ट ही नहीं होता चाहे कितनी भी उम्र हो जाए, वह दिव्यलेप कोई वृद्ध लगा ले तो उसे युवावस्था प्राप्त हो जाएँ। किसी व्यक्ति के पास एक ऐसा दिव्य मंत्र था जिसके माध्यम से सभी को अपने वश में किया जा सके, ये सब दिव्य-दिव्य शक्तियाँ हैं इनका अपना अलग-अलग प्रभाव है। किसी के पास एक ऐसा दिव्य वाद्य हो सकता है जिस एक ही दिव्यवाद्य के माध्यम से 56 करोड़ वाद्यों की ध्वनि निकाली जा सके और उस ध्वनि को कोई प्रतिहत न कर सके तो ये प्रभाव अपनी-अपनी अलग-अलग वस्तुओं के रहे किन्तु ये वस्तुएँ भी शाश्वत नहीं हैं, किसी व्यक्ति के पास शाश्वत रह नहीं सकती, जब तक उसका पुण्य है तब तक वे वस्तुएँ उसके पास रह सकती हैं और पुण्य क्षीण हो जाए तो वे वस्तुएँ नष्ट हो जाएँगी।

वस्तु पुण्य की परछाई है, पुण्य का फल पुण्य की परछाई है। पुण्य का वृक्ष यदि तुम्हारे जीवन में है तो उसमें पुण्य के फल लगेंगे और पुण्य का वृक्ष ही नहीं है तो पुण्य के फल प्राप्त नहीं किए जा सकते। किन्तु पुण्य का वृक्ष जिसकी आत्मा में है वह भी शाश्वत नहीं रहता, नष्ट हो जाता है। ऐसी कोई पर्याय नहीं है जो शाश्वत बनी रहे। तो आचार्यों ने कहा कि आपके पास वे सभी दिव्यशक्ति, दिव्यदृष्टि आ जाएँ कि जिसके माध्यम से आप आँख बंद करके भी देख लो, कौन कहाँ बैठा है, क्या कर रहा है, कहाँ गया है, वह दिव्यदृष्टि का प्रभाव हो सकता है। किसी के पास अन्य कोई भी ऐसी सामग्री हो सकती है जिसके प्रभाव से वह किंचित् समय के लिए सुख-शांति का अनुभव कर सके किन्तु ये सब चीजें शाश्वत नहीं हैं। जिस जीव ने एक बार क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो वह शाश्वत हो गया। एक बार क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो वह जीव नरक-तिर्यंचायु का बंध नहीं करेगा, वह भवनत्रिक में नहीं जाएगा, वह कदापि स्त्री पर्याय में नहीं जा सकता, वह कदापि नपुंसक पर्याय में नहीं जा सकता, वह कदापि स्थावर-विकलेन्द्रिय नहीं हो सकता, वह कदापि विकलांग नहीं हो सकता, उसके अंग कम या ज्यादा नहीं हो सकते, 4 या 6 अंगुली वाला, टेढ़े-मेढे हाथ पैरों वाला नहीं हो सकता। वह पुण्यवान् होता है। उसकी अकालमृत्यु नहीं हो सकती, वह पूर्णायु प्राप्त करेगा अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि जीव गर्भ में नहीं मरेगा, वह जन्म लेकर के आयु पूर्ण कर ही मृत्यु प्राप्त कर सकता है।

महानुभाव! जिसके पास सम्यक्त्व रूपी रतन है, सम्यक्त्व रूपी चुम्बक है उसके पास संसार की सभी सारभूत वस्तुएँ अपने आप आ जाती हैं, उसके पास दरिद्रता कैसे आ सकती है? जैसे सूर्य के विमान के पास अधंकार नहीं आ सकता क्योंकि उसमें सहस्रदिव्यरश्मि हैं, वह लोक के अंधकार को दूर कर रहा है, उसके पास अंधकार कैसे आएगा। जैसे केवलज्ञानी के पास अज्ञान नहीं आ सकता उन्होंने ज्ञानावरण कर्म का ही नाश कर दिया, सिद्धों के पास कर्म नहीं आ सकते उन्होंने तो कर्म और कर्म के कारणभूत राग और द्वेष का ही नाश कर दिया तो कर्म उनकी आत्मा को कैसे बाँध सकते हैं, इसी तरह से जिन्होंने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है ऐसा वह सम्यग्दृष्टि जीव यदि अव्रती भी है, देशव्रती-महाव्रती नहीं है तब भी वह खोटी अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होता यदि वह देशव्रती बन गया तो आगे देवायु अवस्था को प्राप्त होता है और महाव्रती पूरा मोहनीय कर्म नष्ट कर दें तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लें। जो पूरा मोह नष्ट नहीं कर पाएँ, तब भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन से युक्त हैं तो वे एक-दो भव लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, उसी भव से भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। आप सोचेंगे ऐसा कैसे हो सकता है क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक का जीव तो नरक में है? जिसने पहले आयु बंध कर लिया पुनः बाद में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया तो वह नरक में जा सकता है। क्योंकि आयु बंध भी नहीं छूटता और क्षायिक सम्यक्त्व भी नहीं छूटता। तो क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्ति से पूर्व नरकायु का बंध कर तो पहले नरक से नीचे नहीं जा सकता वह अपनी आयु को घटा करके कम कर लेगा जैसे राजा श्रेणिक ने 84000 वर्ष की आयु कर ली, इससे कम आयु हो नहीं सकती थी। क्षायिक सम्यग्दृष्टि की आयु नरक में इससे कम नहीं हो सकती, नहीं तो अल्पायु माना जाएगा। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ने पहले तिर्यंचायु का बंध कर लिया है तो वह भोगभूमि जाएगा, मनुष्यायु का बंध कर लिया है तो भोगभूमि जाएगा, देवायु का बंध कर लिया है तो वैमानिक देव होगा और किसी भी आयु का बंध नहीं किया है, क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो उसी भव से मोक्ष जाएगा या फिर उत्तम स्वर्गों की या अनुत्तर विमानों की आयु बंध करके अनंतर भव में मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

सम्यक्त्व की महिमा इस प्रकार आचार्य महोदय ने प्रस्तुत की, उस महिमा को समझकर आप भी सम्यक्त्व को सुदृढ़ व निर्मल बनाओ, सम्यग्ज्ञान को वृद्धिंगत करो यही कल्याण का मार्ग है, इन्हीं शुद्ध भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दृष्टि जीव को श्रेष्ठ मनुष्य पद प्राप्ति

ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धि-विजय-विभव-सनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलकाः भवन्ति दर्शनपूताः॥36॥

अन्वयार्थ–दर्शनपूताः – सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव, **ओजः तेजः विद्या-वीर्य-यशः-वृद्धि-विजय-विभव-सनाथाः** – कान्ति, प्रताप, विद्या, पराक्रम, कीर्ति, कुलवृद्धि, विजय और सम्पत्ति के स्वामी, **महाकुलाः** – श्रेष्ठ कुल वाले **महार्थाः** – महान् पुरुषार्थों के साधक व **मानवतिलकाः भवन्ति** – मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित श्रावकों की आचार संहिता रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आप श्रावकधर्म का मर्म, उसके तथ्यों को समझकर उन्हें ग्रहण करने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। धर्म जब चर्चा का विषय बनता है तो चर्या में भी आता है। व्यक्ति जिसकी चर्चा करता है उसकी चर्या भी करने लगता है, जैसा सोचता है, जैसा बोलता है वैसा करने भी लगता है। इस श्लोक नं 36 में भी आर्या छन्द के माध्यम से सम्यक्त्व की महिमा बताते हैं। 35वीं कारिका में निषेध परक बात बताई कि जीव सम्यग्दर्शन के प्रताप से किस गति व अवस्था को प्राप्त नहीं होता। अब यहाँ बता रहे हैं उसे मिलता क्या है। कुछ विशेषता यहाँ बताएँगे, कुछ आगे-आगे बताएँगे क्योंकि बालबुद्धि वालों के लिए बता रहे हैं। बालबुद्धि वाला चाहता है मैंने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो क्या मुझे धन मिलेगा? क्या मुझे अच्छी तरह से याद हो जाएगा, मेरी आँख की रोशनी कम तो नहीं होगी, मेरे कोई शत्रु तो नहीं होंगे, मेरी निंदा तो नहीं होगी, मुझे पत्नी-पुत्र तो मिलेंगे, अच्छा घर परिवार मिलेगा? तो आचार्य महोदय कह रहे हैं, हाँ मिल जाएगा ,जो तुम कह रहे हो वह मिल जाएगा।

छोटा बालक यदि माँगेगा तो क्या माँगेगा? टॉफी ही माँगेगा यह तो कहेगा नहीं कि मुझे चन्दहास खड़्ग दे दो, वह यह तो कहेगा नहीं कि मुझे इन्द्र का धनुष दे दो, छोटा बालक Narrow mind है तो उसकी Demand भी बहुत छोटी ही है, वह ज्यादा बड़ा नहीं माँग सकता। छोटे बालक की मुट्ठी में छोटी वस्तु आ सकती है या कम वस्तु आ सकती है, बड़े व्यक्ति की मुट्ठी में बड़ी वस्तु आ सकती है। बालबुद्धि का आशय यहाँ यही लेना कि जिसने पुण्य के सामान्य फल को ही उत्कृष्ट वस्तु मान लिया है। जिसका मन बहुत उदार है, विशाल है तो संसार की लोकोत्तम वस्तुओं को माँगता है, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम वस्तु को माँगता है, और जिसकी बुद्धि परिपक्व हो गई वह कहता है क्या माँगना, क्या लेना, क्या देना,

यह पुण्य है इसका फल अपने आप आ जाएगा। जब मेरे पास चुम्बक है तब मैं क्यों कहूँ कि ये ऑलपिन मेरे पास आ जाएँ वह तो स्वयमेव चुम्बक को देख खिचीं चली आएगी। और जो योगी है वह सोचते हैं, माँगना उसे जो शाश्वत रहे, जो कुछ समय बाद छूट जाएगा उसे क्या माँगना? जो शाश्वत रहेगी उसे भी क्यों माँगना, वह तो बिना माँगे मिल रही है।

तो यहाँ बालबुद्धि वालों की अपेक्षा कह रहे हैं क्योंकि उपदेश पहले बहुजन की अपेक्षा से दिया जाता है। बालबुद्धि वालों की संख्या ज्यादा होती है इसलिए पहले उनके लिए बात कह रहे हैं। उससे भी ज्यादा संख्या थी दु:खी व्यक्तियों की, तो पहले बात कही सम्यक्त्व के माध्यम से दु:ख दूर हो जाते हैं। अब कह रहे हैं अकेले दु:ख दूर नहीं होते कुछ उपलब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं तो अभी बालबुद्धि वाली उपलब्धियों को बता रहे हैं।

जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन से पवित्र हैं, जिनकी आत्मा शुद्ध हो रही है, जिनका सम्यग्दर्शन 8 अंग से संयुक्त है, जिनका सम्यग्दर्शन 25 दोषों से रहित है, कोई अतिचार नहीं, निर्मल-निर्दोष सम्यग्दर्शन के धारक हैं वे भव्यजीव उस सम्यक्त्व के प्रभाव से क्या-क्या वस्तु प्राप्त करते हैं। जैसे व्यक्ति के पास चेकबुक हो तो उसके माध्यम से वह क्या-क्या वस्तु प्राप्त कर सकता है? उस व्यक्ति को जो कोई भी वस्तु चाहिए चेक काटकर के दे दे तो वह वस्तु मिल जाएगी। credit card है तो चेक काटकर देने की भी आवश्यकता नहीं है Credit card use किया तो उसके Account से उतना पैसा कम हो गया। यदि कोई व्यक्ति इतना उदार और दानी है कि उसे ATM या Credit Card की आवश्यकता नहीं, इतना पुण्यात्मा जीव है कि वह जहाँ जाता है लोग वहीं उसका सम्मान करते हैं तो यह उसके पुण्य का फल है इसलिए उसे चेकबुक, ATM card, Credit Card आदि कुछ रखने की आवश्यकता नहीं। उसे चाहिए कणभर, व्यवस्था बन रही है मनभर ऐसा होता है पुण्यात्मा जीव।

तो सम्यक्त्व एक ऐसा रत्न है जिस रत्न के माध्यम से स्वत: ही उपलब्धि होती चली जाती है। व्यक्ति सोचता है कि मुझे दु:ख न मिले, नीचकुल में जन्म न लेना पड़े, मेरे जीवन में कभी पाप का उदय नहीं आए, मैं कभी रोगी न हो जाऊँ, मैं कहीं स्त्री या नपुंसक न बन जाऊँ, विकलांग नहीं बनूँ, मैं कभी नारकी और तिर्यंच नहीं बनूँ, मेरी देव दुर्गति न हो जाएँ। कुछ लोग धर्मध्यान करते हैं तो यही कहते हैं भगवान् बस इतना करना कि मेरा शरीर निरोगी बना रहे, भगवन्! इतनी रक्षा करना कि मेरा मान-सम्मान बना रहे, मेरे कुल में कोई कलंक लगाने वाला पैदा न हो जाए, कहीं ऐसा न हो जाए-वैसा न हो जाए ऐसी नकारात्मक-नकारात्मक बातों को सोचते हैं। जो व्यक्ति नकारात्मकता से घबराता नहीं है वह कहता है मुझे सकारात्मकता चाहिए।

नकारात्मक वाला कहता है कि हे भगवान्! बस मेरा कर्ज चुक जाए और दूसरा व्यक्ति कह रहा है कि मेरे पास तो कर्ज है ही नहीं, मेरे पास इतना Balance आ जाए कि मुझे कर्ज लेना न पड़े। तीसरा व्यक्ति कह रहा है कि न कर्ज चुकाना, न कर्ज लेना पड़े, बस मेरे पास इतना पैसा आ जाए कि मैं दूसरों को कर्ज दे सकूँ, लोग मेरे पास कर्ज लेने आ जाएँ अगला व्यक्ति कह रहा है–कहाँ के कर्ज की बात, क्या कर्ज देना-लेना, जो कुछ मिले वह ठीक है, न मैं कुछ साथ लेकर आया न लेकर जाऊँगा। हे प्रभु! मैं जिसको एक बार दे दूँ उससे वापिस नहीं माँगू। देकर के कभी माँगू नहीं, जो कोई भी व्यक्ति मेरे पास आकर जो कुछ भी माँगे वो सब मैं उसको दे दूँ, किमिच्छिक दान दे सकूँ। उसकी सोच और बड़ी हो गई। अगला व्यक्ति कह रहा है–क्या देना, देकर के क्या हो जाएगा, क्या मेरी आत्मा का कोई प्रदेश बढ़ जाएगा? संसार के पदार्थ हैं, पुण्य भाव हुआ तो पुण्यकर्म बंधा, वह उदय में आया उससे वस्तु प्राप्त हुई। पुण्य भी खिर जाएगा, वस्तु भी नष्ट हो जाएगी। हे प्रभु! मेरा परिणाम खराब न हो बस। मेरा मन धर्मध्यान में लगा रहे, मैं अपनी आत्मा में लीन रहूँ, मुझे बाहर की वस्तु कुछ नहीं चाहिए।

महानुभाव! फिर भी सामान्य बुद्धि वाला माँगता तो है। जिसकी श्रद्धा कमजोर होती है तो वह माँग लेता है या यूँ कहें कि नया-नया व्यक्ति धर्म के क्षेत्र में बढ़ा है तो कभी माँग भी लेता है। वैसे कभी कांक्षा नहीं करना चाहिए किन्तु चलो वह फिर भी भावना भा रहा है या यूँ कहें कि आचार्य महोदय उसे बता रहे हैं कि तू माँग नहीं लेना, बिना माँगे ही तुझे सम्यक्त्व के प्रभाव से ये-ये वस्तु प्राप्त हो जाएँगी। वह क्या-क्या वस्तु प्राप्त होंगी तो बताया कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से पवित्र है। जैसे घर को झाड़ू से साफ करते हैं, वस्त्रों को धोकर साफ करते हैं, बर्तनों को सूखी राख या भस्म से साफ करते हैं, कोई वस्तु गंदगी में गिर जाए तो अग्नि पक्व करते हैं, शरीर आदि की शुद्धि मंत्र से करते हैं तो ऐसे अलग-अलग प्रकार से शुद्धि करते हैं। यहाँ कह रहे हैं कि आत्मा पवित्र कैसे होती है? तो वह आत्मा सम्यक्त्वादि गुणों से पवित्र होती है। मिथ्यात्व का चाण्डाल बार-बार छू लेता था इसलिए अनादिकाल की अशुद्धि बनी हुई थी। मिथ्यात्व का ऐसा मल था जिसका संस्पर्श होते हुए आत्मा शुद्ध हो ही नहीं सकती। सम्यक्त्व के होते ही आत्मा सोला-शुद्धि की हो सकती है; फिर भी बीच-बीच में डर है, वह अनंतानुबंधी कषाय उदय में आ सकती है या सम्यक्त्व प्रकृति बार-बार उदय में आ सकती है। अनंतानुबंधी के तीव्र उदय से वह सम्यक्त्व को मलिन कर सकती है या सम्यक्प्रकृति के उदय से चल-मल-अगाढ़ दोष लग सकते हैं।

यहाँ कह रहे हैं अपनी आत्मा को पवित्र बनाना है तो 'दर्शनपूतः' सम्यग्दर्शन से पवित्र करना है। जिन्होंने अपनी आत्मा को सम्यक्त्व से पवित्र किया है वे 'भवन्ति' होते हैं। क्या होते हैं? **'ओज'** ओज अर्थात् कान्ति, द्युति, चमक, लावण्य, स्निग्धता, रमणीयता, कमनीयता, सुभगता। कई बार कहते हैं अमुक व्यक्ति की वाणी में बड़ा ओज है, बड़ी तेजस्वी-प्रभावी वाणी है, जिसे सुनकर या देखकर सामने वाला व्यक्ति प्रभावित हो जाए तो सम्यग्दृष्टि का व्यक्तित्व प्रभावक होता है। वह दूसरों को प्रभावित न करना चाहे तब भी लोग उससे स्वतः प्रभावित होते हैं। पुष्प में गंध होती है तो भ्रमर मंडराते हुए चले आते हैं, दीपक में ज्योति होती है तो पतंगे अपने आप आ जाते हैं, यदि किसी फल में मिठास है किशमिश, अंगूर आदि तो चींटी आदि अपने आप लग जाती हैं। आम आदि फल को कोयल पहले ही आकर चख लेती है ऐसे ही ये सम्यक्त्व का प्रभाव है कि व्यक्ति ओजस्वी होता है, उसका प्रभाव अपने आप दूसरों पर जाता है। ओज एक धातु भी होती है जो अंजुलि प्रमाण सबके शरीर में होती है।

अगला है **'तेज'** अर्थात् पराक्रम, प्रताप, शौर्यवीर्यता। सम्यग्दृष्टि जीव दब्बू नहीं होता, डरपोक नहीं होता वह साहसी-निर्भीक, पराक्रमी, वीर, प्रतापी होता है। उसके पुण्य बल के प्रभाव से ही अनेकों व्यक्ति प्रभावित हो जाते हैं, जैसे अकलंक देव के सम्मुख तारा देवी, बाहुबली के समक्ष भरत चक्रवर्ती के दूत व रामचन्द्र जी के सामने अनेक विद्याधर आदि राजा उनसे प्रभावित होकर नम्रीभूत हो गए यह सब उन सम्यग्दृष्टियों के अंतरंग व बहिरंग महिमा के तेज का ही प्रभाव था।

'विद्या' वह विद्यावान् होता है। प्रतिभा ग्रहण, धारण, ऊहापोह रूप तर्क शक्ति, विवेकशीलता तत्त्व परीक्षकता आदि बौद्धिक व वैज्ञानिक योग्यता, अनेक कलाओं में प्रवीणता यह सभी सम्यग्दृष्टि जीव को उनके ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विशुद्धि से प्राप्त होती हैं। शास्त्रों के सतत् अभ्यास से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विद्या कहलाती है और उसी विद्या के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि जीव ही श्रुतकेवली होता है, सम्यग्दृष्टि जीव ही श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी व केवलज्ञानी होता है, सम्यग्दृष्टि जीव ही अनुमान आदि ज्ञान में निष्णात् होता है, सम्यग्दृष्टि जीव का क्षयोपशम बहुत अच्छा होता है, उतना अच्छा हो सकता है कि मिथ्यादृष्टि का क्षयोपशम न हो पाए। अथवा वह अनेक प्रकार की लौकिक विद्याओं को भी प्राप्त करने वाला होता है। कई विद्याएँ सम्यग्दृष्टि को सहज में प्राप्त होती हैं, मिथ्यादृष्टि को वे सिद्ध करनी पड़ती हैं। तो सम्यग्दृष्टि जीव विद्याओं से भी युक्त होता है।

आगे कहा–**'वीर्य'** अर्थात् शक्ति। अपने प्रतिपक्षी वीर्यान्तराय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से व्यक्त होने वाली आत्मीय शक्ति अर्थात् विशिष्ट सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं, जिसके कारण इस आत्मा में अनंतगुणों को धारण करने का सामर्थ्य होता है। सम्यग्दृष्टि शक्तिशाली होता है। जैसे सौधर्मइन्द्र आदि के बारे में आप जानते हैं कि वह चाहे तो जम्बूद्वीप को उठाकर के गेंद की तरह फेंक दे। तीर्थंकर की शक्ति और अधिक अचिन्त्य होती है। राजा–महाराजाओं का भी बल होता है। सम्यग्दृष्टियों का बल ज्यादा होता है मिथ्यादृष्टियों का बल कम होता है।

'यश' सम्यग्दृष्टि जीव की यशकीर्ति दिगदिगन्तर तक फैल जाती है। जैसे पुष्प अपनी गंध लेकर कहीं जाते नहीं, स्वतः गंध फैल जाती है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की कीर्ति सब जगह स्वतः फैल जाती है। सूर्य पृथ्वी पर आता नहीं फिर भी उसकी रश्मियाँ यहाँ पर आकर बता देती हैं कि सूर्य में कितना तेज है, प्रकाश है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जहाँ नहीं भी गया हो वहाँ पर भी उसके अनुयायी होते हैं, उसको चाहने वाले होते हैं। ऐसा भी होता है जिसने कभी उसको देखा नहीं फिर भी वह उसके प्रति समर्पित है, ये सम्यग्दृष्टि की महिमा है।

आगे कहा **'वृद्धि'** जिसका अर्थ है समृद्धि, अभ्युदय, सम्पत्ति, समूह, व्याज, कुटुम्ब–परिवार पुत्र–पौत्रादि। इस कारिका में वृद्धि शब्द का मुख्य अर्थ आत्मीय गुण और कुटुम्ब–परिवार, धन–सम्पदा आदि से है। अथवा सम्यग्दृष्टि में ओजस्विता, तेजस्विता, पराक्रमता आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है यह वृद्धि शब्द इसी का सूचक है। **'विजय'** किसी भी कला, गुण, शक्ति, पुण्यबल या वैभव आदि के द्वारा अपनी उत्कृष्टता प्रमाणित कर देना विजय कहलाती है। सम्यग्दृष्टि जीव विजय को प्राप्त करता है। जो युद्ध सामान्य व्यक्ति के लिए असंभव होता है वह युद्ध सम्यग्दृष्टि के द्वारा बातों ही बातों में जीत लिया जाता है। कई बार तो अस्त्र–शस्त्र उठाये बिना ही शत्रु को जीत लेता है, शत्रु नम्रीभूत हो जाता है। चक्ररत्न को चलाए बिना ही विजय प्राप्त हो जाती है, जिसके पास खड़ा हो गया वह विजयी हो जाता है, जहाँ खड़ा हो गया वहीं विजयश्री आकर उसका वरण करती है। सम्यग्दृष्टि को कभी पराजय का मुख नहीं देखना पड़ता, क्योंकि उसके पास इतना पुण्य होता है।

अगला है **'विभव'**। यद्यपि विभव शब्द से **'विगत–भवः विभवः'** इस युक्ति अनुसार संसारातीत मोक्ष अवस्था, अर्हंतअवस्था, धन–धान्य आदि अनेक अर्थ हैं। इन सब अवस्थाओं को सम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है। फिर भी यहाँ मुख्य रूप से धन–धान्य, सम्पदा को ही विभव शब्द से लेना चहिए। सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकार के वैभव को प्राप्त करता है। चाहे वह भोग सामग्री हो या उपभोग सामग्री हो, चाहे और भी प्रकार का वैभव हो उस वैभव को वह प्राप्त करता है।

'सनाथ' सम्यग्दृष्टि स्वयं भी सनाथ होता है और दूसरों को भी सनाथ करने वाला होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि के ओजादि गुण सम्यग्दर्शन गुण के कारण अपने को सनाथ समझते हैं, ओजादि सभी गुण सम्यग्दृष्टि को शरण मानकर उसका आश्रय लेते हैं, अतः सनाथ कहलाते हैं। तथा **'महाकुला'** महान् कुल में जन्म लेने वाला होता है। हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, सूर्यवंश, चंद्रवंश, कुरुवंश, नागवंश, उग्रवंश आदि महान् कुल में जन्मता है और **'महार्थाः' महान्तः अर्था येषां ते महार्थाः** अर्थात् जिनका धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष पुरुषार्थ महान है, प्रशस्त, मान्य, न्यायपूर्ण, पापरहित है वे महार्थ कहलाते हैं। वे सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाले होते हैं।

'मानवतिलक' जो मनुष्यों में तिलक के समान हैं वे मानवतिलक कहलाते हैं। जिनके मनुष्यायु कर्म व मनुष्यगति नामकर्म का उदय है वे मानव कहलाते हैं और तिलक अर्थात् यूँ तो तिलक के अनेक अर्थ हैं परंतु दो अर्थ प्रसिद्ध और उपयुक्त हैं। चंदन आदि के द्वारा माथे पर चिह्न बनाना, दूसरा जो मुख्य है, प्रधान है जैसे यदुतिलक अर्थात् नेमिनाथ भगवान्, नाथवंश तिलक भगवान् महावीर स्वामी ऐसे यहाँ दोनों श्रेष्ठ अर्थों को लेना चाहिए। इस प्रकार जो मानवों में श्रेष्ठ होते हैं वे मानव तिलक कहाते हैं। जिस प्रकार मंदिर के शिखर व ध्वजा होती है उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्यों में महामानव तिलकभूत होता है।

'दर्शनपूताः' अर्थात् अतिक्रम-व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार आदि दोषों से रहित अथवा निर्मल सम्यग्दर्शन से पवित्र भव्यात्मा 'भवन्ति' अर्थात् सम्यग्दर्शन से पवित्र वह भव्यात्मा ओज, तेज विद्या, वीर्य, यश की वृद्धि, विजय और विभव सनाथ होकर महाकुल और महाअर्थ युक्त होकर मानव तिलक होते हैं।

महानुभाव! इस प्रकार आचार्य महोदय ने सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होने वाले अभ्युदय फल की विशेषता को दिखाने वाले सम्यक्त्व के माहात्म्य को दर्शाने वाली कारिका कही। यूँ तो पुण्य फल के उदय से मिथ्यादृष्टि को भी प्राप्त हो सकता है किन्तु सम्यक्त्व व मिथ्यात्व में महान अंतर पाया जाता है इस दृष्टि को रखकर ओज, तेज विद्या आदि गुणों का विशेष उल्लेख सम्यग्दर्शन के फल विशेष को स्पष्ट करने के लिए कहा। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि निःशंक व निर्भय होती है वैसी दृष्टि मिथ्यादृष्टि की नहीं होती। मिथ्यादृष्टि सदैव भयातुर व सशंक होता है, फलतः उसके ओज, साहस धैर्यादि गुण सम्यग्दृष्टि से निकृष्ट ही रहते हैं उत्कृष्ट नहीं हो सकते। प्रथमानुयोग में सम्यग्दृष्टि भव्यात्माओं स्त्री-पुरुषों की अनेक कथाएँ वर्णित हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि अनेक भयंकर आपत्तियों, परीषहों, उपसर्गों के आने पर भी सम्यग्दृष्टि भव्य कायर नहीं हुए, उनके आत्मबल के प्रभाव से उन्होंने कष्टों पर विजय प्राप्त की, उनकी वह

असाधारण सफलता देवों द्वारा पूज्य व स्तुत्य हुई। सम्यग्दृष्टि कभी व्यग्र नहीं होता, घबराता नहीं तत्त्वचिंतन में लीन रहकर समतापूर्वक अपने कर्मोदय को सहन करता है। इसीलिए वह मानवतिलक कहलाता है। महानुभाव! यह सब सम्यग्दर्शन की महिमा है, ऐसा आचार्य भगवन् ने यहाँ बताया। उस सम्यग्दर्शन को आप भी प्राप्त करें, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द शृंखला को विराम देता हूँ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दृष्टि जीव की श्रेष्ठ देवों में उत्पत्ति

अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि, चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥37॥

अन्वयार्थ–दृष्टि-विशिष्टाः – सम्यग्दृष्टि जीव **जिनेन्द्रभक्ताः** – जिनेन्द्र देव के भक्त **स्वर्गे** – स्वर्ग में **अष्टगुणपुष्टितुष्टाः** – अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से संतुष्ट, दिव्य शरीर से पुष्ट तथा **प्रकृष्टशोभा-जुष्टाः** – अतिशय शोभा युक्त होकर के **अमराप्सरसां** – देव तथा देवांगनाओं की **परिषदि** – सभा में **चिरं** – चिरकाल तक **रमन्ते** – आनन्द करते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रथम अध्याय में सम्यक्त्व के संबंध में विस्तृत चर्चा कर रहे हैं। मंगलाचरण उपरांत धर्म की व्याख्या और धर्म की चर्चा करने का संकल्प किया। समीचीन धर्म क्या है, उस धर्म का प्रमुख अंग सम्यक्त्व, सम्यक्त्व के मूल तत्त्व परमार्थ देव-शास्त्र गुरु, सम्यक्त्व का स्वरूप, उसके आठ अंग व उनमें प्रसिद्ध व्यक्तियों की चर्चा, दोषों का परित्याग करने के लिए तीनमूढ़ता-आठमद की चर्चा की। पुनः उस सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को किसी भी साधर्मी का अपमान नहीं करना चाहिए, यदि कोई धर्मात्मा का अपमान करता है तो समझो वह अपने धर्म का ही अपमान करता है। पुनः पुण्य की विशेषता बताई व धर्म का फल बताते हुए कहा कि धर्म के प्रभाव से श्वान भी देव हो जाता है और पाप के प्रभाव से देव भी श्वान हो जाता है।

पुनः कुदेव-कुआगम-कुलिंगियों को किसी भी भय, स्नेह-आशावश प्रणाम-विनय वह सम्यग्दृष्टि न करे। पुनः सम्यक्त्व को खेवटिया के समान बताया, वृक्ष के बीज के समान बताया जैसे बिना बीज के वृक्ष नहीं बनता उसी प्रकार बिना दर्शन के ज्ञान-चारित्र-तप-संयम आदि नहीं होते। पुनः बताया सम्यक्त्व जिस आत्मा में है वह मोक्षमार्गी बन सकता है, सम्यग्दर्शन नहीं है तो वह मोक्षमार्गी नहीं है। आगे सम्यक्त्व की महिमा गायी कि सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ-कहाँ जाता है कहाँ-कहाँ नहीं जा सकता। पुनः कहा सम्यक्त्व के समान इस जीव का तीनों लोक में कोई कल्याणकारी नहीं है व मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारक नहीं है। पुनः 35 वीं कारिका में बताया क्षयोपशम सम्यग्दर्शन, उपशम सम्यग्दर्शन छूट जाता है किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन छूटता नहीं। यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव आयु का बंध करते हैं तो तिर्यंच व मनुष्य नियम से वैमानिक देवों की आयु का बंध करते हैं, देव व नारकी नियम से मनुष्यायु का बंध करते हैं, उसमें भी नियम से पुरुषवेदी होते हैं।

पुनः आचार्य महोदय ने सम्यग्दृष्टि जीव का प्रभाव बताते हुए कहा कि वह तेजस्वी-ओजस्वी, विद्यावान्, वैभव सम्पन्न होता है, वह महाविजय को प्राप्त करता है, महान अर्थ को प्राप्त होता हुआ मनुष्यों में तिलकभूत होता है। जिसने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है वह इस भव में भी अनेक पाप प्रकृतियों को संक्रमित करता है और पाप का संवर कर देता है, शाश्वत पुण्य का बंध कर लेता है। और वह सम्यक्त्व के साथ भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी नहीं होता। क्षायिक सम्यग्दृष्टि या क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जिसका सम्यक्त्व नहीं छूटता है तो वह भी नियम से वैमानिक देव होता है।

वैमानिक स्वर्ग में उस सम्यग्दृष्टि जीव को क्या विशेषता प्राप्त होती है। यूँ तो आत्मा के वैभव की अपेक्षा से देखा जाए तो कोई विशेषता प्राप्त नहीं हो रही। उसका सम्यक्त्व बरकरार है, व्रती नहीं बन सकता, महाव्रती नहीं बन सकता, संयमी-तपस्वी नहीं बन सकता किन्तु हाँ वह सम्यग्दृष्टि रहते हुए सम्यक्त्व का पालन करते हुए उस देव अवस्था में पुण्य के फल को प्राप्त करता है। देवों की ऋद्धियाँ होती हैं, उनका अलग वैभव होता है। देव किसी अपेक्षा से चारों गतियों में श्रेष्ठ हैं। संसार के वैभव की अपेक्षा से देखा जाए तो देव वास्तव में श्रेष्ठ होते हैं किन्तु मोक्षमार्ग की अपेक्षा से देखा जाए तो मनुष्य श्रेष्ठ होता है। स्वर्ग में सुख होता है जैसा कि आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा- **'नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव'** स्वर्ग में रहने वाले स्वर्गीय देवों को कैसा सुख होता है, तो बोले इस सुख को दूसरी उपमा नहीं दी जा सकती, जैसा स्वर्ग में रहने वाले स्वर्गीय देवों का सुख होता है वही सुख प्राप्त होता है। वहाँ का सुख वहाँ का ही सुख है, वैसा सुख अन्य तीन गति में नहीं होता, न नरकगति में, न तिर्यंचगति में, न मनुष्यगति में। देवगति में भी स्वर्ग के देवों को जो सुख होता है वह सुख न भवनवासी देवों को होता है, न व्यंतर देवों को, न ज्योतिष देवों को है। वैमानिक देवों का सुख चाहे प्रवीचार से सहित हो या प्रवीचार से रहित हो उनका वह वैभव निस्सीम होता है। इसके बावजूद भी सम्यक्त्व को निर्मल बनाए रखने वाला साधन जिनबिम्ब, अकृत्रिम जिनालय इसके साथ-साथ मध्यलोक में विद्यमान अकृत्रिम जिनालय जिनकी वंदना करने देव आते हैं, इसके साथ-साथ मध्यलोक में ढाईद्वीप में विद्यमान तीर्थंकरों के समवसरण जिनमें जाकर के दिव्यध्वनि सुनकर वे सातिशय पुण्य का अर्जन करते हैं और पाप की निर्जरा भी करते हैं।

आचार्य समंतभद्रस्वामी सम्यग्दृष्टि जीवों के बारें में कह रहे हैं कि अगले भव में वे किस प्रकार के देव होते हैं। उन्हीं के शब्दों में देखें-

'जिनेन्द्रभक्तः' सम्यग्दृष्टि का पर्यायवाची शब्द कह रहे हैं। आचार्य महोदय ने सम्यग्दृष्टि के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया। कहीं किया 'दर्शनपूताः' जो सम्यग्दर्शन से

पवित्र है, यहाँ पर किया 'दृष्टिविशिष्टा:' जिनका सम्यक्त्व विशिष्ट है, और जिसका सम्यक्त्व विशिष्ट है वह जिनेन्द्र भक्त, जिनागम अनुरक्त, निर्ग्रंथ भक्त नियम से होता ही होता है। जो विशिष्ट सम्यग्दृष्टि है, जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में जिसका मन लगता है वह स्वर्ग के सुखों को भोगता है और जो विशिष्ट सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भक्ति के साथ-साथ तपस्या में संलग्न है वह कर्मों को क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यदि वह तपस्वी नहीं बना, मुनि नहीं बना, सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है तो वह गृहस्थ भी अन्त में समाधि करके, 12 व्रतों का पालन करके श्रावकाचार में वर्णित श्रावक के आचार का पालन करके 16 वें स्वर्ग का देव आदि हो सकता है।

तो यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं 'दृष्टिविशिष्टा:' जिनकी दृष्टि विशेष है। सामान्य दृष्टि से देखो कि बाहर कौन है तो किसी ने कहा-भीड़ है। पुनः दूसरे से कहा देखना कौन है? तो उसने कहा श्रावक है। पुनः तीसरे से कहा-देखना कौन है? तो कहा-धर्मात्मा बंधु हैं। अगले से कहा तुम देखना बाहर कौन है, तो उसने कहा मुझे तो भविष्य के सिद्ध परमात्मा दिखाई दे रहे हैं। चीज वही थी किंतु सबने अलग-अलग कहा। एक कह रहा है भीड़ है, एक कह रहा है श्रावक हैं, एक कह रहा है साधर्मी बंधु हैं, तो कोई कह रहा है कि भविष्य के परमात्मा हैं; सबका दृष्टिकोण अलग-अलग है। दृष्टिकोण अलग होने पर दृष्टि एक सी होने पर भी दृश्य अलग-अलग दिखाई देते हैं। इस बिल्डिंग को उस कोने से देखेंगे तो छायाचित्र अलग आएगा, इस कोने से देखेंगे तो छायाचित्र अलग आएगा, सामने से देखेंगे तो छायाचित्र अलग आएगा, दाँये-बाँये सब जगह से अलग-अलग छायाचित्र आएगा। दृष्टि वही है किन्तु कोण बदल गया। दृष्टि का कोण बदल जाता है तो फिर दृश्य भी बदला-बदला दिखाई देता है। संसारी प्राणियों के दृष्टि के कोण बदले हुए हैं उनकी दृष्टि में भोग सामग्री ही सब कुछ है, उसके दृष्टिकोण में शरीर का सुख ही सब कुछ है, पर्याप्त से ज्यादा धन-स्वजन-परजन, मनोहारिणी चित्ताकर्ष स्त्री, आज्ञाकारी सुत-सुता मिलें, ज्ञान का अपूर्व भण्डार हो, कुछ भी काम न करना पड़े, मैं बस विश्राम करता रहूँ, आदेश से काम होता रहे बस हो गया उसका मोक्ष, आज के व्यक्ति को इससे ज्यादा क्या चाहिए। किंतु जो इससे ऊपर उठ गया है वह कहता है मुझे पुद्गल का वैभव नहीं चाहिए, आत्मा का वैभव ही चाहिए, आत्मनिधि चाहिए, विशुद्ध सम्यक्त्व चाहिए, मुझे पूर्ण स्वभाविक क्षायिक ज्ञान चाहिए, क्षायिक चारित्र चाहिए, मुझे आत्मोत्पन्न सहज और शाश्वत शक्ति चाहिए, मुझे अपनी आत्मा के सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व आदि गुण चाहिए। सबके दृष्टिकोण अलग-अलग हैं।

एक व्यक्ति तालाब के पास पहुँचा। उसने तालाब के समीप पड़े हुए पत्थर को उठाया। दूसरा व्यक्ति तालाब के पास से गीली मिट्टी लेकर आया, तीसरा तालाब से पानी लेकर आया,

चौथा व्यक्ति तालाब से वहाँ की काई समेटकर ले आया। अगला व्यक्ति तालाब के पास गया उसमें खिलते कमलों को लेकर आया, एक व्यक्ति तालाब के पास पहुँचा कमल पुष्पों में पड़े हुए ओस बिन्दुओं को इकट्ठा करके औषधि बनाने हेतु ले आया। सब तालाब के पास गए किन्तु सबकी दृष्टि में अलग-अलग चीज थी। कोई व्यक्ति मंदिर में जाता है तो कहता है वाह! क्या मंदिर का गेट बनाया, इसमें 2-3 lock और भी हो सकते हैं, एक कहता है वाह! बिना पिलर के इतना बड़ा हॉल बना दिया, एक कहता है मंदिर की वेदी बहुत सुंदर बनाई है, कोई कहता है ये छत बहुत सुंदर है, एक कह रहा है ये भगवान् पाषाण के हैं, ये पीतल व चाँदी के हैं। और एक व्यक्ति कहता है क्या वीतरागी मुद्रा है, ऐसी परम शांत मुद्रा है जिसे देखकर ऐसा लग रहा है जैसे मानों साक्षात् मोक्षमार्ग की वर्षा हो रही है, साक्षात् आत्मोत्पन्न आनंद की वर्षा हो रही है।

महानुभाव! वस्तु वही है, सबको अलग-अलग दिखाई दे रही है। 'दृष्टिविशिष्टाः' जिसकी दृष्टि विशेष है ऐसा मनुष्य या तिर्यंच समाधि को प्राप्त करके स्वर्ग में देव होता है। वह जिनेन्द्रभक्त चिर काल तक 'अमराप्सरसां परिषदि' देवों व अप्सराओं की सभा में रमण करता है। वहाँ कोई आरंभ नहीं है, किसी और प्रकार का विकल्प नहीं है। वहाँ बस धर्मध्यान करो या तत्त्वचर्चा में रहो या भोग उपभोग का सेवन करो। वे देव आठ प्रकार के गुणों से युक्त होते हैं 'अष्टगुणपुष्टितुष्टा' वे देव अणिमा आदि आठ ऋद्धियों से युक्त व संतुष्ट हैं। वे ऋद्धि हैं अणिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व और कामरूपित्व। 'अणिमाऋद्धि' का प्रभाव होता है कि देव चाहें तो अपने आकार को अणु जैसा छोटा कर सकते हैं, ये उनकी सामर्थ्य होती है। 'गरिमाऋद्धि' का प्रभाव होता है कि वे चाहें तो अपने आकार को सुमेरु सम विशाल बना सकते हैं। 'लघिमा ऋद्धि' के प्रभाव से वे चाहें तो अपने आकार को लघु अर्क के तूल की तरह से बहुत हल्का कर सकते हैं। 'प्राप्ति ऋद्धि' का प्रभाव है कि वे स्वर्ग से ही बैठकर अपने हाथ को बढ़ा दें तो नीचे सुमेरु पर्वत के मूल को छू लें, ऊपर चाहें तो 16 वें स्वर्ग तक अपना हाथ बढ़ा सकते हैं या समवसरण, नंदीश्वरद्वीप तक अपना हाथ पहुँचा सकते हैं। 'प्राकाम्य ऋद्धि' वे देव इस ऋद्धि के बल से जल में ऐसे चल सकते हैं जैसे स्थल पर चल रहे हों, स्थल पर ऐसे डूब सकते हैं जैसे जल में डूब रहे हों, यह उनकी ऋद्धि का प्रभाव है। 'ईशत्व ऋद्धि' के माध्यम से वे प्रभुता को प्राप्त कर सकते हैं। समग्र वैभव को भोगते हुए सबके प्रभु बनके दिखा सकते हैं। 'वशित्व ऋद्धि' उनके पास सबको वश में करने की विद्या होती है। 'कामरूपित्व ऋद्धि' इसके प्रभाव से देव एक समय में अनेक रूप धारण करने की सामर्थ्य रखते हैं। इस प्रकार की ऋद्धियों से युक्त वे देव होते हैं।

देव वे होते हैं जो दिव्यमय-कांतिमय-ज्योतिर्मय होते हैं। **''दिव्यन्ति क्रीडन्ति येषां स्वभावः ते देवाः''** देवों का स्वभाव क्रीड़ा करना होता है, उनका दिव्य भोजन होता है, दिव्य शय्या होती है, उनके दिव्य वाहन होते हैं, उनके पास दिव्य रूप वैभव होता है, सब कुछ अपने आप में अद्भुत होता है। दिव्य ज्ञान अवधिज्ञान होता है, दिव्य भोजन अमृत का होता है, शरीर दिव्य होता है इसलिए उनके कोई रोग नहीं होता, ये सब उन देवों की विशेषता होती हैं। ऐसी विशेषताओं को प्राप्त करने वाले वे 'दृष्टि विशिष्टाः' सम्यग्दृष्टि होते हैं। जिनका सम्यग्दर्शन विशुद्ध है, निर्मल है, विशेष है वही मनुष्य या तिर्यंच उस दिव्य अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय सम्यग्दर्शन का असाधारण फल बता रहे हैं कि सम्यक्त्व के सातिशय फल से जीव वैमानिक देवों में भी उत्कृष्ट पदों को प्राप्त करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के जिनभक्ति में विशिष्ट शुभ राग-भाव होते हैं, उसके द्वारा इस तरह के पुण्य विशेष का बंध होता है जिसके कारण वह देवेन्द्रों के वैभव और ऐश्वर्य युक्त अवस्था को प्राप्त करता है।

आचार्य महोदय के कहने का अभिप्राय यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् की भक्ति करके स्वर्ग में चिरकाल तक देव व देवांगनाओं की सभा में रमण करते हैं, पुण्य का फल भोगते हैं और विशेष शोभा से युक्त होते हैं, उत्कृष्ट वैभव से युक्त होते हैं ऐसा सम्यक्त्व का प्रभाव यहाँ बताया।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती होते हैं

नवनिधि - सप्तद्वय - रत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥38॥

अन्वयार्थ–स्पष्टदृशः – सम्यग्दृष्टि जीव, **सर्वभूमिपतयः** – षट्खण्ड पृथ्वी अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होकर **चक्रं वर्तयितुं** – चक्ररत्न चलाने को **प्रभवन्ति** – समर्थ होते हैं, **नवनिधि-सप्तद्वय- रत्नाधीशाः** – नवनिधि, चौदह-रत्नों के स्वामी हैं **क्षत्र-मौलिशेखर-चरणाः** – तथा क्षत्रिय राजाओं के मुकुटों के तुर्रे जिनके चरण में हैं, ऐसे होते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यक्त्व की महिमा के संबंध में देख रहे हैं। पूर्वकारिका में सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए लिखा कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करने वाले अष्ट ऋद्धियों व वैभव से सम्पन्न, गुणों से तुष्ट वैमानिक देव होते हैं और चिरकाल तक देव और देवांगनाओं से खचित सभा में रमण करते हैं। वहाँ पर भी जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में संलग्न रहते हैं। 38 वीं गाथा में आचार्य महोदय बता रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य भव का उत्कृष्ट वैभव प्राप्त करता है। मनुष्य भव का उत्कृष्ट वैभव चक्रवर्ती के पास होता है उससे ज्यादा भौतिक वैभव किसी और के पास नहीं होता। आध्यात्मिक वैभव तीर्थंकर प्रभु के पास होता है, उनका मोक्ष नियामक होता है, वे आध्यात्मिक समग्रविभूति को प्राप्त करते हैं। चक्रवर्ती दीक्षा लेते हैं तो स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करते हैं यदि राज्य अवस्था में ही विलीन हो गए तो नरक गति को प्राप्त करते हैं। चक्रवर्ती के वैभव के संबंध में किंचित् शब्दों में बता रहे हैं, वैसे उनका वैभव निस्सीम है फिर भी प्रतीकात्मक बता रहे हैं कि चक्रवर्ती का वैभव क्या-क्या होता है और उसे कौन सा सम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है।

'स्पष्टदृशः' जिसका सम्यक्त्व स्पष्ट है, जिसकी दृष्टि समीचीन है, निर्मल है, विशुद्ध है। यहाँ बाह्य नेत्रों की बात नहीं कर रहे, यहाँ सम्यक्त्व रूपी नेत्र की बात कर रहे हैं। यदि आँख में जाला आ जाए तो सामने वाला पदार्थ स्पष्ट दिखाई नहीं देता, आँख में मोतिया बिन्दु आ जाए तो सामने वाला पदार्थ स्पष्ट दिखाई नहीं देता, आँख में पानी बह रहा हो तो पदार्थ स्पष्ट दिखाई नहीं देता, आँखों में लालिमा आ गई है, आँखें दु:ख रही हों तो भी पदार्थ स्पष्ट दिखाई नहीं देता। ये बाह्य आँखों की बात है ऐसे ही अंतरंग के जो नेत्र हैं वह है श्रद्धा नेत्र, जैसे दोनों आँखें साथ-साथ होती हैं ऐसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों नेत्र भी साथ-साथ होते हैं। बाहर के नेत्रों में खराबी आ जाती है तो निर्दोष पदार्थ भी सदोष दिखाई देगा, धुंधला

दिखाई देगा, दूर से देखो तो छोटा सा दिखाई देगा, ज्यादा पास में से देखो तो दिखाई ही नहीं देगा ऐसे ही श्रद्धा के नेत्र हैं जब वे निर्मल होते हैं तो वस्तु तत्त्व उसी प्रकार निर्मल ही प्रतिभासित होता है। ज्ञान जब निर्मल होता है तो वस्तु तत्त्व ज्यों का त्यों प्रतिभासित होता है। सम्यक्त्व के नेत्र में कौन-कौन से दोष आ जाते है? शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अप्रभावना और अवात्सल्य ये 8 बड़े-बड़े दोष हैं। 8 में से किसी प्रकार का मद आ जाए तो वह भी दोष है, किसी प्रकार की मूढ़ता आ जाए यह भी दोष है, षट् अनायतन में से कोई है तो ये भी दोष है, चल-मल-अगाढ़ आदि कोई दोष आ जाए तो ये भी दोष होते हैं। इनमें से कोई भी दोष आ जाए तो सम्यक्त्व निर्मल नहीं रह पाता, उस सम्यक्त्व में मल आ जाता है। जल निर्मल होता है, वह जल मल को दूर करता है किन्तु जल में ही मल आ जाए तो? जल मल को दूर करता है किंतु जल मल को पैदा भी करता है।

जलेन जनितं पंङ्क जलेन परिशुद्ध्यति।
चित्तेन जनितं कर्मं चित्तेन परिशुद्ध्यति॥

जल से पंक पैदा होता है व जल से ही शुद्ध होता है, चित्त से पाप पैदा होता है और चित्त से ही पाप धुलता है। ऐसे ही सम्यक्त्व निर्मल होता है तो चेतना में निर्मलता आती है, सम्यक्त्व मलिन होता है तो आत्मा का वैभव भी मलिन दिखाई देता है, परमात्मा का स्वरूप भी यथार्थ दिखाई नहीं देता, जिनागम पर समीचीन श्रद्धान् नहीं हो पाता, बार-बार शंका मन में आती है। यहाँ कह रहे हैं कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव जिनका सम्यक्त्व अति निर्मल है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव जिन्होंने सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान की उपासना की है, सम्यक्चारित्र की साधना की है, सम्यक्तप की आराधना की है ऐसा शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव तपस्वी बनकर के उत्तम समाधि को प्राप्त करता है। वह स्वर्ग में जाकर के 16वें स्वर्ग, नवग्रैवेयक या पंचअनुत्तर विमान में इन्द्र-अहमिन्द्र आदि पद को प्राप्त करता है। वहाँ से च्युत होकर के फिर वह चक्रवर्ती पद को प्राप्त करता है। कैसा है वह चक्रवर्ती? ''छत्र-चक्र-मौलिशेखर चरणाः'' जो अन्य राजागण, अधिराजागण, अर्द्धमण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर हैं वे भी उस चक्रवर्ती के चरणों में प्रणाम करते हैं। कैसे प्रणाम करते हैं? वे राजा-अधिराजा अपने सिर पर मुकुट लगाकर उन मुकुट में लगी कलिंगी को चक्रवर्ती के चरणों में स्पर्श करते हैं, नम्रीभूत होते हैं। ऐसे 1-2 नहीं पूरे 32000 मुकुटबद्ध राजा नमते हैं। एक राजा सामान्य राजा हुआ, 500 राजा का राजा अधिराजा हुआ, पुनः 1000 का महाराजा हुआ, आगे चलकर 2000 पर अर्द्धमण्डलेश्वर, पुनः 4000 पर मण्डलेश्वर, 8000 पर महामण्डलेश्वर और 16000 राजाओं का राजा अर्द्धचक्री व 32000 राजाओं का राजा चक्रवर्ती होता है ऐसे वैभव को शुद्ध सम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है।

आज तो धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि के थोड़े से पाप कर्म का उदय आता है, बस भटक जाता है, वीतरागी देव को छोड़ सरागी देवों की पूजा करना प्रारंभ कर दिया। अरे भाई! सरागी देवों को वीतरागी देव मत मानो। यदि जिनशासन के रक्षक देवी-देवता हैं तो उनका मात्र सम्मान करो, वे भगवान् नहीं हैं। अस्त्र-शस्त्र-स्त्री-पुत्र आदि से जो सहित हैं उन्हें जो सच्चा देव मान लेता है तो वह कुदेव उपासक होता है, जो जिनशासन के रक्षक देवी-देवता हैं वे कुदेव नहीं हैं वे तो वीतरागता के भक्त हैं, उपासक हैं, वे तो आयतन में आते हैं अनायतन में नहीं। किन्तु उनका भी मात्र सम्मान करना है, उन्हें वीतरागी देव नहीं मान सकते। वीतरागी देव तो परमार्थभूत सच्चे आप्त, वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी होते हैं, 18 दोषों से रहित होते हैं, नव केवललब्धि से युक्त, अनंत चतुष्टय व छियालीस गुणों से यथासंभव युक्त होते हैं।

महानुभाव! यहाँ कहा उन सच्चे आप्त की पूजा उपासना करने वाला, निर्ग्रंथ गुरुओं व जिन आगम की उपासना करने वाला कट्टरता से अपने धर्म का पालन करता है, शरीर छूटे तो छूटे किन्तु मेरा धर्म न छूटे। कोई मेरा अपमान करे, तिरस्कार करे, कुछ भी करे किंतु मैं अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता।

धन दे तन को राखिये, तन दे रखिये लाज।
तन दे, धन दे, लाज दे, एक धरम के काज॥

धर्म के लिए सब कुछ दिया जा सकता है। शरीर बचाने के लिए धन खर्च कर दो, कहीं प्रतिष्ठा पर आंच आ रही हो तो शरीर का कष्ट मत देखो प्रतिष्ठा बचाओ और कहीं धर्म पर आँच आ जाए तो धन-तन व प्रतिष्ठा सब धर्म के लिए न्यौछावर है। सम्यग्दृष्टि जीव की कई बार परीक्षा भी होती है। जैसे आप कोई छोटा सा नियम ले लें तो उसकी परीक्षा होती है। उदाहरण के लिए– आपने कहा वैसे तो हम बहुत दिनों से रात्रि में भोजन नहीं कर रहे थे, त्याग आज ही किया और आज ही मौका पड़ गया कि दिन में खा नहीं पाए, अब क्या करें? आज तो परीक्षा ही हो गई। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव की भी बहुत परीक्षा होती है। उनकी परीक्षा के लिए देव भी आते हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव अपनी परीक्षा में मेरुवत् सुदृढ़ रहे वह यहाँ से जाकर स्वर्ग का वैभव प्राप्त करते हैं, वहाँ से च्यतु होकर चक्रवर्ती का वैभव प्राप्त करते हैं।

चक्रवर्ती का वैभव क्या है? 'नवनिधि सप्तद्वय रत्न अधीश' वह नवनिधि और चौदह रत्नों का स्वामी होता है। 'सर्वभूमिपतयश्चक्रम्' और सर्वभूमि अर्थात् भरत क्षेत्र के छह खण्डों का अधिपति होता है। 'चक्रं' चक्र को धारण करने वाला होता है। नवनिधि है–पद्म, काल, महाकाल, सर्वरत्न, पाण्डु, नैसर्प, माणव, शंख, पिंगल। इन निधियों से वह चक्रवर्ती यथेच्छ सामग्री प्राप्त करता है। **पद्मनिधि** से अनेकों प्रकार के दिव्य वस्त्रों की प्राप्ति होती है। चक्रवर्ती

एक बार बस पद्मनिधि के सामने संकेत करे कि तुम करोड़ों प्रकार के करोड़ों-अरबों-खरबों दिव्य वस्त्र मेरे जितनी प्रजा है उन सबके लिए प्रदान करो तो वह पद्मनिधि अंतर्मुहूर्त में प्रदान कर देगी। जैसी वेषभूषा चाहो वैसी वेषभूषा वह पद्मनिधि प्रदान कर देती है जिसकी रक्षा 1000 देव करते हैं। **काल निधि** के माध्यम से शब्द, व्याकरण, कोश, छंद आदि संबंधी तथा गायन-वादन संबंधी शब्द उत्पन्न होते हैं। **महाकाल निधि** इसके माध्यम से असि-मसि आदि षट्कर्मों के साधनभूत द्रव्य और सम्पदाएँ निरंतर उत्पन्न होती रहती हैं। **सर्व रत्न निधि** के माध्यम से नाना प्रकार के रत्नों का ढेर प्राप्त होता है। भरत चक्रवर्ती जब अरिहंत भगवान् की पूजा करते थे तो वो आपकी तरह नहीं कि चम्मच से जल और चुटकी से चावल चढ़ाएँ। जब उन्हें जल चढ़ाना है तो चन्द्रकांत मणियों का ढेर लगा दिया, चंदन के स्थान पर पुखराज जैसे पीतरत्न का ढेर लगा दिया, अक्षत के स्थान पर मोतियों का ढेर लगा दिया, नाना-नाना प्रकार की जो द्रव्य हैं उसके दिव्य रत्न बनाकर भगवान् के समक्ष ढेर लगा देती है वह निधि। चक्रवर्ती कहता है आज मुझे मेरे पुण्य से ये वैभव प्राप्त हुआ है, ये पुण्य शाश्वत नहीं रहेगा, इस पुण्य का फल यही है कि मैं अरिहंत भगवान् के चरणों में समर्पित कर दूँ। इस प्रकार वह रत्नों से भगवान् की पूजा करता है।

पाण्डु निधि—इससे नाना प्रकार के इष्ट-मिष्ट-स्वादिष्ट व्यंजनों की प्राप्ति होती है। आप तो 56 प्रकार के भोग कहते हैं, किंतु इस निधि से तो इससे भी अधिक प्रकार के भोग दिव्य बर्तनों में सजकर तैयार हो जाएँगे। चक्रवर्ती की पूरी सेना के लिए पाण्डुक निधि से कहा जाए कि मेरी सेना के लिए दिव्य भोजन आए तो तत्काल ही वह प्राप्त हो जाएगा। **नैसर्प्य निधि**—ये शय्या, आसन तथा मकान आदि की उत्पत्ति करती है। **माणव निधि**—इससे नीति शास्त्र तथा अनेक प्रकार के शस्त्रों की उत्पत्ति होती रहती है तथा जो अपने प्रदक्षिणावर्त नाम के शंख से सुवर्ण की सृष्टि उत्पन्न करती थी और जिसने उछलती हुई सुवर्ण जैसी कान्ति से सूर्य की किरणों को जीत लिया ऐसी **'शंखनिधि'** होती है। **पिंगल निधि**—इसके माध्यम से जितने प्रकार के आभूषण हैं, रत्नजड़ित, स्वर्णादि के आभूषण तत्काल में उपस्थित हो जाते हैं।

महानुभाव! पुनः 14 रत्न प्राप्त होते हैं—7 चेतन, 7 अचेतन। चेतन रत्नों में **सेनापति रत्न**—जो सेना का नेतृत्व करने वाला होता है, **स्थपति रत्न**—वह अद्वितीय शिल्पकार होता है, **गृहपति रत्न**—यह वास्तु शास्त्री होता है, **पुरोहित रत्न**—जो मुहूर्त आदि निकालकर नाना प्रकार की माँगलिक क्रियाएँ कराने वाला होता है। **अश्व रत्न**—हवा से बातें करने वाला दिव्य घोड़ा, **गज रत्न**—ऐरावत हाथी की तरह से पर्वताकार हाथी पुनः **स्त्री रत्न**—छह खण्ड में अद्वितीय कन्या रत्न प्राप्त होता है।

अचेतन रत्नों में **असिरत्न** भूतमुख नाम की श्रेष्ठ तलवार थी जिसे हाथ में लेते ही समस्त जगत् झूले में बैठे हुए के समान काँप उठता था। चण्डवेग नाम का **दण्ड रत्न** जो विजयार्द्ध गुफा के द्वार का उद्घाटन करने में, गुफा के काँटों आदि को स्वच्छ करने में और वृषभाचल पर्वत पर चक्रवर्ती के नाम लिखने में काम आता है। **चर्मरत्न** इसका नाम मज्झमय है यह रत्न म्लेच्छ राजा द्वारा कृत जल वृष्टि से उत्पन्न जल में तैरकर अपने ऊपर सारी सेना को आश्रय देता है। चूडामणि नामक **मणि रत्न** इसके द्वारा विजयार्द्ध गुफा में प्रकाश किया जाता है। चिन्ताजननी नामक **काकिणी रत्न** जो विजयार्द्ध की गुफाओं का अंधकार दूर करने के लिए दीपिका के समान था। **छत्र रत्न** जिसका नाम सूर्यप्रभ था, यह 12 योजन लम्बा, 12 योजन चौड़ा वर्षा से चक्रवर्ती के कटक की रक्षा करता और सातवां सुदर्शन नामक **चक्ररत्न** यह एक दिव्य अस्त्र है जो कि चक्रवर्ती के शस्त्रागार में उत्पन्न होता है। इसमें एक हजार आरे होते हैं और एक हजार देवों के द्वारा सुरक्षित रहा करता है। यह अपने योग्य भूमि पर विजय प्राप्त होने को सूचित करने वाला है अतः जब यह उत्पन्न होता है तभी चक्रवर्ती उससे अपनी दिग्विजय के योग्य समय को समझ लेता है और उसका पूजन करके उसी को आगे करके दिग्विजय की यात्रा प्रारंभ कर देता है। यात्रा के समय यह चक्र सबसे आगे-आगे आकाश में गमन किया करता है और उसके पीछे-पीछे चक्रवर्ती का षडङ्ग बल चला करता है, इसके कारण ही वह चक्रवर्ती कहा जाता है। नवनिधि, चौदह रत्नों को तो यहाँ श्लोक में उपलक्षण मात्र जानना चाहिए, इसके अतिरिक्त वह चक्रवर्ती षट्खण्ड में स्थित भूमिगोचरी व विद्याधर राजाओं द्वारा प्राप्त धनराशि तथा व्यंतर देवों द्वारा भेंट में आए हुए सर्व रत्न-आभूषणों एवं प्रचुर भोग-सम्पदाओं का भोक्ता होता है।

वह चक्रवर्ती सर्वभूमि पति होता है उसके 96 हजार रानियाँ, संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियाँ, 84 लाख हाथी, 84 लाख रथ, 18 करोड़ उत्तम अश्व, 84 करोड़ वीरभट, अनेक करोड़ विद्याधर, 88 हजार म्लेच्छ राजा, 32 हजार मुकुटबद्ध राजा, 32 हजार नाट्यशालाएँ, इतनी ही संगीतशालाएँ, 48 करोड़ पदातिक, 32 हजार देश, इन्द्र के नगर के समान 75 हजार नगर, 96 करोड़ गाँव, धन-धान्य समृद्धियों के स्थान ऐसे 99 हजार द्रोणमुख यानि बन्दरगाह, 48 हजार पत्तन, 16 हजार खेट, 24 हजार कर्वट, 4 हजार मटंब, 56 अन्तद्वीप, 700 कुक्षि निवास, 14 हजार संवाहन, फसल आने के बाद जो निरंतर खेतों को जोतने में लगाए जाते हैं ऐसे एक लाख करोड़ हल, तीन करोड़ गाय, एक करोड़ थालियाँ, 360 वैद्य व इतने ही रसोइये, 28 हजार सघन वन थे। उत्तर से हिमवान् और पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में लवण समुद्र की सीमा के अन्तर्गत जितनी भूमि है उतना प्रमाण समझना चाहिए। गंगा, सिंधु और विजयार्द्ध पर्वत के कारण इस भूमि के छह खण्ड हो जाते हैं। इस प्रकार

षट्खण्डाधिपति कहलाने वाला वह चक्रवर्ती जो सर्व प्रजा का हितचिन्तक, रक्षक व पोषक होता है और उनके चरणों में 32 हजार मुकुटबद्ध राजा नमस्कार करते हैं। इस प्रकार आचार्य महोदय ने सम्यक्त्व की महिमा व अभ्युदय पुण्य की प्राप्ति का वर्णन यहाँ किया। आचार्य भगवन् सोमदेव सूरी जी ने भी कहा कि–

चक्रिश्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकश्री दर्शनोत्सुका।
तस्य दूरे न मुक्तिश्री निर्दोषं यस्य दर्शनम्॥

जिनका सम्यक्त्व आठ दोषों से विरहित है चक्रवर्ती की लक्ष्मी उसका आश्रय लेने के लिए उत्कंठित रहती है, स्वर्ग की लक्ष्मी उसके दर्शन के लिए उत्सुक होती है तथा मुक्ति लक्ष्मी भी उसके समीप रहती है। महानुभाव! जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में निष्ठ सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्र समूह की महिमा को, राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले तीर्थंकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है।

धर्मानुरागी महानुभाव! आप सभी भी अपने सम्यक्त्व का निष्ठा के साथ पालन करो और मोक्षमार्ग में अपने कदम बढ़ाओं व आत्मा का कल्याण करो, ये ही श्रेयोमार्ग है। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दर्शन से तीर्थंकर पद प्राप्ति

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥39॥

अन्वयार्थ–सुनिश्चितार्थाः – जीवादि सप्ततत्त्व, नवपदार्थों का दृढ़ निश्चय करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव **दृष्ट्या** – सम्यक्त्व के प्रभाव से **अमर-असुर-नरपतिभिः यमधरपतिभिः च** – देवेन्द्र, धरणेन्द्र व नरेन्द्रों के द्वारा और गणधरों के द्वारा **नूतपादाम्भोजः** – नमस्कार किए गए हैं चरण कमल जिनके ऐसे **लोकशरण्याः** – तीन लोक के जीवों को शरणभूत **वृषचक्रधराः** – धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर **भवन्ति** – होते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में 39 नंबर की कारिका पर चर्चा करते हैं। विगत दिवस 38 वीं कारिका में आचार्य भगवन् सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हुए कह रहे थे कि जिनका सम्यक्त्व निर्मल है, वे सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्चारित्र की आराधना करते हुए संयम और तप के फल से स्वर्ग के वैभव को भोगकर के आते हैं और चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त करते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं केवल चक्रवर्ती का वैभव ही प्राप्त नहीं होता, सम्यक्त्व का प्रभाव, सम्यक्त्व की महिमा अचिंन्त्य है। श्लोक 31 से सम्यक्त्व की महिमा का बखान करते आ रहे हैं अब यहाँ 39 वें श्लोक में बता रहे हैं कि वह सम्यग्दृष्टि और क्या वैभव प्राप्त करता है?

'दृष्ट्या सुनिश्चितार्था'-जिस भव्य जीव ने सुनिश्चित कर लिया है कि किस पदार्थ का क्या स्वभाव है, किस द्रव्य का क्या स्वभाव है, मेरी जीवतत्त्व इस आत्मा का क्या-क्या स्वभाव है ऐसा जिसने अपने अंतरंग में निश्चित कर लिया है ऐसा सुनिश्चित अर्थ वाला भव्य जीव जिसकी दृष्टि-निर्मल हो गई है वह निर्मल दृष्टि के माध्यम से कौन-कौन सी अवस्था प्राप्त करता है। **''अमर-असुर-नर-पतिभिः''** अमर अर्थात् स्वर्ग के देव उनका पति यानि सौधर्मइन्द्र के द्वारा 'असुरपति' अर्थात् भवनवासी देवों के इन्द्रों द्वारा, इसी के साथ-साथ बाणव्यंतर व ज्योतिष देवों के इन्द्रों को भी ले लेना चाहिए। नरपति अर्थात् चक्रवर्ती के द्वारा तथा 'यमधर' यम अर्थात् संयम- महाव्रतों को यम कहते हैं। तो जिन्होंने महाव्रतों को धारण किया है वे यमधर हैं, मुनिमहाराज हैं और यमधरों के पति अर्थात् मुनिराजों के स्वामी गणधर परमेष्ठी/आचार्य परमेष्ठियों के द्वारा **'नूतपादाम्भोजः'** जिनके चरण कमलों की पूजा की जाती है। **'लोकशरण्यः'** तीनों लोक जिनकी शरण को प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे **'वृषचक्रधराः'** धर्मचक्र को धारण करने वाले तीर्थंकर होते हैं।

तीर्थंकर का 'वृषचक्रधर' यह विशेषण है। वृष यानि धर्म और चक्र अर्थात् समूह को 'धर' धारण करने वाले को वृषचक्रधर कहते हैं। स्वकीय स्वरूप धर्म को धारण करने वाले वास्तव में तीर्थंकर होते हैं क्योंकि उनको ही पूर्ण स्वरूप से स्वभाव रूप धर्म की प्राप्ति होती है अथवा तीर्थंकर देव ही धर्ममय होते हैं, जितने भी धर्म के लक्षण हैं वे सभी उस अवस्था में निष्पन्न एवं पर्यवसन्न होते हैं। अथवा तीर्थंकर भगवान् के निकट चारों दिशाओं में धर्मचक्र नाम विशिष्ट सातिशय उपकरण होते हैं जो धर्माधिपतित्व के सूचक हैं। तीर्थंकर भगवान् का धर्मचक्र उनके विहार के समय आगे-आगे चलता है यह तो उनका अतिशय सुप्रसिद्ध ही है किन्तु उनकी आत्मा स्वयं धर्मचक्र-धर्मों के समूहरूप ही है क्योंकि धर्म के जितने भी प्रकार बताए गए हैं वे उन सभी से परिपूर्ण हैं। उनकी आत्मा का स्वभाव प्रगट हो चुका है, रत्नत्रयरूप धर्म उनमें पूर्णतया प्रकाशमान है। दया की सीमा पार कर वे वीतरागी बन चुके हैं। इसी की अपेक्षा से उन्हें वृषचक्रधरा कहा गया है। आचार्यों ने कहा है।

त्यक्त्वास्त्र-दिव्यास्त्र-शस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशांति भाक्।
जिनमाराध्य-योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत्। (आ.पु.)

यह धर्मचक्र उसी महापुरुष को प्राप्त होता है जिसने अस्त्र, शस्त्र और दिव्यास्त्रों का परित्याग करके प्रशान्त परिणामों से जिनेन्द्र भगवान् की आराधना की हो।

आगे कहा **'लोक-शरण्याः'** लोकानां शरणे साधवः शरणागत जीवों का हित करने वाले हैं। इसका आशय यह नहीं कि जो उनके निकट पहुँचकर उनकी सेवा करे वही उनसे हित अथवा उसके साधन को प्राप्त कर सकें अन्य नहीं। मतलब यह है कि जो उनके उपदिष्ट मार्ग को स्वीकार करता है वह अवश्य ही उनके समान अनन्त कल्याण को प्राप्त किया करता है। पद्म पुराण में एक कथा आती है।

ब्रह्मरुचि नामक एक ब्राह्मण अपनी कुर्मी नाम की स्त्री के साथ तापस बनकर वन में आश्रम बनाकर रहने लगा, एक बार ब्राह्मणी ने गर्भधारण किया। तभी वहाँ दो निर्ग्रंथ मुनिराज कुछ देर विश्राम करने के लिए रुके। उन्होंने जब ब्राह्मण को देखा और वहीं उन्होंने दुर्बल और गर्भ के भार से म्लान ब्राह्मणी को देखा तो उनके मन में दयावश धर्मोपदेश देने के भाव उत्पन्न हुए, तब बड़े मुनिराज ने मधुर स्वर में कहा—हे तापस! तुमने संसार सागर से पार होने की आशा से धर्म समझकर सर्व कुटुम्बीजनों का त्याग कर अपने आपको इस वन के कष्ट में क्यों डाला है? तुमने जो चारित्र धारण किया था तुम तो उसके विपरीत ही चल रहे हो, केवल वेष ही दूसरा है, पर चारित्र तो गृहस्थ जैसा है। जैसे कोई भी मनुष्य वमन किए हुए

अन्न को पुनः कभी नहीं खाते वैसे ही विज्ञजन विषयों का परित्याग कर चुकते हैं फिर उनकी इच्छा नहीं करते। जो लिंगधारी साधु एक बार स्त्री का त्याग कर पुनः स्त्री का सेवन करता है वह भयंकर वन में भेड़िया होता है। जो सभी प्रकार के आरंभ-सारंभ करता हुआ भी स्वयं को दीक्षित मानता है वह अत्यन्त मोही है। जिसकी आस्था ही दूषित है उसकी प्रव्रज्या कैसी? तुम्हीं कहो जो मिथ्यावेशधारी है, कुदृष्टि है, जिसका मन विषयों के अधीन है फिर भी अपने आपको तपस्वी कहता है वह झूठ बोलने वाला व्रती कैसे हो सकता है। जिस प्रकार जलते हुए मकान में से कोई किसी तरह बाहर निकले और फिर से अपने आपको उसी मकान में फेंक दे तो वह मूर्ख समझा जाता है। इस प्रकार परमार्थ का उपदेश देने वाले वचनों से सम्बोधन सुनकर ब्रह्मरुचि ब्राह्मण ने मिथ्यात्व त्यागकर सम्यक्त्व प्राप्त करके दीक्षा ग्रहण की। कुर्मी भी मिथ्यामार्गियों के संसर्ग को छोड़कर जिनभक्ति में तत्पर रहने लगी। इस प्रकार ब्रह्मरुचि ब्राह्मण ने मुनिराज से धर्मश्रवण करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया। यही यहाँ कह रहे हैं कि भगवान् की वाणी से सभी अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपना हित प्राप्त करते हैं। यहाँ लोक शरण्यः कहकर यही बता रहे हैं कि जिनेन्द्रप्रभु की धर्मसभा समवसरण में उपस्थित होकर शरण ग्रहण करके जीव अपने को धर्ममय बना लेते हैं।

महानुभाव! मिथ्यादृष्टि तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकता। चक्रवर्ती का वैभव तो मात्र छह खण्ड में होता है, चक्रवर्ती छह खण्ड के व्यक्तियों द्वारा सम्मानीय-पूजनीय भले ही हो जाए, 32000 मुकुटबद्ध राजाओं को अपने चरणों में नम्रीभूत कर ले किन्तु तीर्थंकर तो तीनों लोकों के उत्कृष्ट जीवों के द्वारा, भव्यात्माओं के द्वारा पूज्यनीय होते हैं। उत्कृष्ट शब्द ही क्यों कहा? क्योंकि निकृष्ट जीव तीर्थंकर की पूजा नहीं कर सकता, जिसने पूजा कर ली वह उत्कृष्ट ही होता है। पूजा करने वाला दुर्गति-दुःख या दुरावस्था को प्राप्त करे तो पूजा व्यर्थ चली जाएगी इसलिए जिसे दुर्गति में जाना है, जिसे दुःखों को प्राप्त करना है वह अरिहंत भगवान् की शरण में आ ही नहीं पाएगा, वह तो संसार में व्याप्त अन्य कुदेव आदि की शरण में जाएगा, वह कुमार्गगामी होगा, व्यसनों का सेवन करेगा, पापों में लिप्त हो जाएगा, कषायों का पोषण करेगा किन्तु वह अरिहंत भगवान् के बताए मार्ग पर नहीं चल सकता।

तीर्थंकर लोक के लिए शरणदाता होते हैं, वे धर्मचक्र को धारण करने वाले होते हैं। चक्रवर्ती तो सामान्य चक्र को धारण करते हैं, शत्रुविजित चक्र को धारण करते हैं, बहिरंग शत्रु के लिए किन्तु तीर्थंकर अंतरंग शत्रुओं को जीतने वाले, धर्मचक्र को धारण करने वाले होते हैं। कैसे होते हैं तीर्थंकर? तीर्थंकर वह होते हैं जो तीर्थ करने वाले होते हैं। **'तीर्थं करोति**

इति तीर्थकराः' तीर्थ वह है जिसका आश्रय पाकर भव्य जीव संसार सागर से तिर जाएँ। जैसे नदी को पार करना है तो नाव के माध्यम से, समुद्र को तिरना है तो किसी पानी के जहाज के माध्यम से, छोटा-मोटा तालाब तिरना है तो कोई पनडुब्बी या लकड़ी अथवा खाली ट्यूब के माध्यम से किन्तु संसार सागर तिरना है तो तीर्थ के माध्यम से। तीर्थ दो प्रकार के होते हैं चेतन तीर्थ और अचेतन तीर्थ। अचेतन तीर्थ वे होते हैं जहाँ भगवान् का गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान व मोक्ष कल्याणक मनाया गया हो और चेतन तीर्थ होते हैं मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका। वास्तव में मूलतः तीर्थ माना जाए तो रत्नत्रय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र यही तीर्थ है, इसी को नौका बनाओ। नाव में दो बल्लियाँ होती हैं पुनः दोनों साइड खेने के लिए पतवार होती है। तो जिसकी नाव सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान रूपी दो बल्लियों के माध्यम से बनी है, जिसमें एक साइड की पतवार सम्यक्चारित्र की, दूसरी साइड की पतवार सम्यक् तप की है और पुनः जो सामने एकाग्रचित्त होकर देखता जा रहा है ध्यान के माध्यम से, ऐसी रत्नत्रय की नौका में बैठकर ही संसार सागर को तिरा जा सकता है। रत्नत्रय की नौका के बिना कोई भी संसार सागर तिर नहीं सकता। तीर्थंकर स्वयं संसार सागर से तिरते हैं और अन्य भव्य जीवों को भी संसार सागर से पार करते हैं।

तीर्थंकर वे होते हैं जिनके मुख्यतया पाँच कल्याणक होते हैं। विदेह क्षेत्र में कोई तीन कल्याणक, कोई दो कल्याणक वाले भी तीर्थंकर होते हैं, किन्तु भरत-ऐरावत क्षेत्र में 5 कल्याणक वाले तीर्थंकर होते हैं। कल्याणक शब्द का अर्थ होता है कल्याण करने वाला उत्सव, तीर्थंकर भगवान् जब गर्भ में आते हैं तब चार निकाय के देवों के द्वारा, मनुष्यों के द्वारा बड़ा धर्ममय महोत्सव मनाया जाता है, जिस धर्ममय महोत्सव को देखकर व्यक्ति अपने आत्मकल्याण की प्रेरणा प्राप्त कर लेते हैं वह है गर्भकल्याणक। जब उनका जन्म होता है तब तीनों लोकों में क्षणभर की शांति छा जाती है। वह जन्मकल्याण का महोत्सव उनकी जन्म नगरी में नहीं सुमेरुपर्वत की पाण्डुकशिला पर जाकर सम्पन्न होता है। पाँच मेरुओं पर चार-चार शिलाएँ हैं वहाँ उस-उस क्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र बड़े ठाट-बाट के साथ जन्म-कल्याणक महोत्सव मनाने के लिए आता है, उस जन्मकल्याणक मनाने में भी वह पुण्य का संचय करता है। तीसरा उनका महोत्सव होता है 'दीक्षा कल्याणक'। तपकल्याणक भी भव्यजीवों के कल्याण में निमित्त बनता है जब वे संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर यथाजात दिगम्बर प्रव्रज्या को स्वीकार करते हैं, तप को स्वीकार करते हैं, दुर्द्धरतप करते हैं वह दीक्षा का प्रसंग भी भव्यों के कल्याण का होता है। चतुर्थ प्रसंग होता है जब वे तपस्या के फलस्वरूप

केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं, वह ज्ञान कल्याणक महोत्सव और अंतिम महोत्सव होता है मोक्षकल्याणक जब सभी अघातिया कर्मों को भी नष्ट करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ये पाँच ही कल्याणक होते हैं छटवाँ कल्याणक नहीं होता।

तीर्थंकर लोकातिशायी पुरुष होते हैं अर्थात् लोक में अतिशय से युक्त। अन्य कोई व्यक्ति जगत् में चमत्कार दिखा दे तो कहने लगता है मैं बड़ा चमत्कारी हूँ किन्तु तीर्थंकर प्रभु लोक में अतिशय दिखाने वाले होते हैं। जन्म के दस अतिशय होते हैं, केवलज्ञान के 10 अतिशय होते हैं, 14 अतिशय देवकृत होते हैं ऐसे 34 अतिशय से युक्त होते हैं। उनके गर्भ में आने के छह महीने पहले से सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर नगरी की रचना करता है। तीर्थंकर भगवान् का ऐसा प्रभाव है कि गर्भ में आने के छह महीने पहले ही रत्नों की वर्षा होती है, एक संध्याकाल में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। एक दिन में चार बार रत्नों की वर्षा तो पूरे दिन में 14 करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। 14 करोड़ का आशय हुआ 56 करोड़ की चौथाई। आज लोकव्यवहार में कहते हैं हे भगवान्! हमारे घर में भी 56 करोड़ का चौथाई आ जाए, मतलब हमारे आँगन में भी 14 करोड़ रत्नों की वर्षा नित्य हो। indirect कह रहे हैं कि हमारे घर में भी तीर्थंकर प्रभु का जन्म होवे। किंतु यह तीर्थंकर की पदवी ऐसे ही प्राप्त नहीं होती, तीर्थंकर की पदवी प्राप्त होती है शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके, दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावना भाने से। मिथ्यादृष्टि सोलहकारण भावनाओं को नहीं भा सकता, सम्यग्दृष्टि होना जरूरी है 'दृष्ट्या सुनिश्चितार्था'। जिसकी दृष्टि बिल्कुल अटल है, अड़िग है, जिन्होंने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया या क्षयोपशम वाले भी हैं फिर भी उनकी दृष्टि में निर्मलता है, प्राणी मात्र का कल्याण करने की भावना, संक्लेशतम दया है। आचार्य भगवन् अकलंक स्वामी जी ने राजवार्तिक में लिखा कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध में मुख्य कारण है संक्लेशतम दया अर्थात् इतनी दया के परिणाम कि मैं प्राणी मात्र का कल्याण कैसे करूँ, मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि संसार के सभी प्राणी कल्याण को प्राप्त हों, जितने भी जीव दु:खी हो रहे हैं उन्हें दु:ख में से निकालकर मोक्षसुख तक पहुँचा दूँ। अनादिकाल से इन्हें जन्म-मरण करते करते अनंतकाल हो गया इन्हें मैं कैसे पार उतारूँ। ये तीव्रभावना होती है, उस तीव्रभावना से ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है।

महानुभाव! तीर्थंकर प्रभु कितने पुण्यात्मा होते हैं कि तीर्थंकर प्रभु की सेवा करने वाला, पाँच कल्याणक मनाने वाला सौधर्म इन्द्र नियम से अगले भव में मोक्ष जाता है। तीन लोक में विद्यमान कोई भी नारी अगले भव से मोक्ष जाए ऐसा नियम नहीं है किन्तु तीर्थंकर बालक का शृंगार करने वाली शची इन्द्राणी नियम से अगले भव से मोक्ष जाती है। तीर्थंकर के वैराग्य की

अनुमोदना करने वाले लौकान्तिक देव अगले भव से नियम से मोक्ष जाते हैं। तीर्थंकर के पिता के दरबार में आने वाले लोकपाल अगले भव से मोक्ष जाते हैं, दक्षिणेन्द्र अगले भव से मोक्ष जाते हैं और तीर्थंकर जहाँ से च्युत होकर आए सर्वार्थसिद्धि-विजय-वैजयंत-जयंत-अपराजित ये 5 अनुत्तर विमान, नव अनुदिश विमान, नौ ग्रैवेयक विमान, 16 स्वर्ग जहाँ से मुख्यतः तीर्थंकर आते हैं, उन देव-इन्द्र-अहमिन्द्र अवस्था में उनके साथ रहने वाले अहमिन्द्रादि सखा भी कुछ भवों में नियम से मोक्ष जाते हैं। तीर्थंकर जैसे जीव का सान्निध्य अभव्यों को नहीं आसन्न भव्य, निकटभव्य जीवों को मिलता है जो अल्पभवों में मोक्ष जाता है। कदाचित् अपवाद में कोई तीर्थंकर नरक से भी निकलकर आए तो उस नारकी जीव की छह माह पूर्व देव व्यवस्था बनाते हैं, उन तीर्थंकर नारकी के साथ रहने वाला नारकी भी अल्पभव में मोक्ष प्राप्त करेगा। ये मत सोचना की स्वर्ग में साथ रहने वाले देव ही मोक्ष जाएँगे, नरक में साथ रहने वाला नारकी भी अल्प भवों में मुक्ति प्राप्त करता है। तीर्थंकर या तो वैमानिक स्वर्ग से च्युत होकर या कदाचित् नरक से निकलकर आते हैं किन्तु वे नियम से मोक्ष को प्राप्त करने वाले होते हैं तो ऐसे तीर्थंकर के वैभव को प्राप्त करने वाला शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

महानुभाव! सम्यग्दर्शन के निमित्त से प्राप्त होने वाले सभी तरह के फलों को जब आचार्य महोदय संक्षेप में बता रहे हैं तब वहाँ सम्यक्त्व के प्रभाव से मिलने वाले सर्वोत्कृष्ट पद का निर्देश अवश्य ही किया जाना था, यह न केवल सम्यक्त्व का महान् फल है वरन् स्व-पर दोनों के लिए कल्याणदायी है। संसार में जितने पद हैं वे सब सीमित हैं परन्तु तीर्थंकर रूप अभ्युदय असीम है, अनंत है, अब उनके संसार का नाश हो गया है।

यहाँ सम्यग्दर्शन के निमित्त से प्राप्त होने वाले अभ्युदयिक पदों में यह अंतिम और सर्वोत्कृष्ट पुण्यफल तीर्थंकर पद को कहा। तीर्थंकर नामकर्म ही एक ऐसा नामकर्म है जिससे स्वयं उस जीव को परम शांति और सुख प्राप्त होता है और उनकी शरण में जाने वाले अन्य जीवों को भी अभूतपूर्व शांति प्राप्त होती है। इस कारिका में सम्यग्दर्शन का जो अभूतपूर्व फल बताया उसी बात को शुभचन्द्राचार्य ने भी श्रेणिक चरित्र में बताते हुए कहा–

दर्शनात्साध्यते सिद्धिः दर्शनात्तीर्थनाथता।
दर्शनादाप्यते नाको दर्शनात्सर्वसातता॥ (12 सर्ग/170)

सम्यग्दर्शन की कृपा से ही समस्त सिद्धियाँ मिलती हैं, सम्यक्त्व की कृपा से ही तीर्थंकर पद की प्राप्ति और स्वर्ग मिलता है। साथ ही संसार में जितने सुख हैं वे सभी सम्यग्दर्शन की कृपा से बात ही बात में प्राप्त हो जाते हैं।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी कह रहे हैं कि हे भव्यजीव! अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाओ, श्रावकों के व्रतों का पालन करो, परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति में रम जाओ तो तुम्हारी आत्मा का कल्याण सुनिश्चित है ऐसा आचार्य महोदय का भाव है। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ कि आपका कल्याण हो, मंगल हो, शुभ हो।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दर्शन से मोक्ष प्राप्ति

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोक - भयशंकम्।
काष्ठागतसुख-विद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः॥40॥

अन्वयार्थ–दर्शन-शरणाः – सम्यग्दर्शन की शरण लेने वाले जीव **अजरम्** – वृद्धावस्था से रहित **अरुजम्** – रोग रहित **अक्षयम्** – विनाश रहित **अव्याबाधं** – बाधा रहित **विशोक-भय-शंकं** – शोक-भय व शंका से रहित **काष्ठागत-सुख-विद्या-विभवं** – अनंतसुख व अनंतज्ञान के वैभव से युक्त **विमलं** – कर्म मल रहित, **शिवं** – मोक्ष पद को **भजन्ति** – प्राप्त होते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी जो आज से 1900 वर्ष पूर्व हुए, जिन्होंने श्रावकों के कल्याणभूत एक सुव्यवस्थित-प्रामाणिक लघुकाय आचार संहिता 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' लिखी। उस श्रावकाचार के एक-एक रत्न श्रावक-श्राविका के आत्मप्रदेशों में विद्यमान मिथ्यात्व-अज्ञान व असंयम के अंधकार को तिरोहित करने में समर्थ हैं। पूर्व कारिका में आचार्य महोदय ने बताया कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव जिनका श्रद्धान तत्त्व और अर्थ के संबंध में सुनिश्चित हो गया है वे सम्यक्त्व के साथ दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं, पंचकल्याणक की विभूति एवं धर्मप्रवर्तन करते हैं, उनकी आत्मा का परमात्मा बनना नियामक है। यहाँ कहा–सम्यग्दृष्टि जीव केवल चक्रवर्ती, तीर्थंकर, मण्डलेश्वर-महामण्डलेश्वर, सौधर्मइन्द्र या अहमिन्द्र का ही वैभव प्राप्त नहीं करते वरन् सम्यग्दृष्टि जीव नियमतः संसार सागर से पार पहुँचकर आत्मा के समग्र वैभव को भोगने वाले सिद्ध परमेष्ठी भी होते हैं। ऐसा आचार्य महोदय इस 40 वीं कारिका में बता रहे हैं–

महानुभाव! जिन्होंने शुद्ध सम्यग्दर्शन की शरण प्राप्त की है, शुद्ध सम्यग्दर्शन आत्मा में होता है अर्थात् जिन्होंने आत्मा की शरण को प्राप्त किया, उस आत्मा की शरण प्राप्त की है जिस आत्मा में सम्यक्त्व पैदा हुआ है, सम्यग्ज्ञान पैदा हुआ है, सम्यक्चारित्र पैदा हुआ है, जिस आत्मा के अंदर अन्य भी चैतन्य गुण विकास को प्राप्त हो रहे हैं, जो आत्मा अब चार घातिया कर्मों से रहित भी हो गई, वह आत्मा अपनी आत्मा में सम्पूर्ण स्वभाव को प्रकट करने के लिए आत्मा में लीन हो गई ऐसे सम्यक्त्व की शरण को प्राप्त करने वाले भव्य जीव 'भजन्ति' प्राप्त करते हैं, क्या प्राप्त करते हैं? वे सम्यग्दृष्टि भव्य जीव मनुष्यभव के व स्वर्ग के उत्तमोत्तम, उत्कृष्ट वैभव को सुदीर्घकाल तक भोगते हुए अंत में मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं, सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

श्रद्धान् जब सद्रूप होता है तब ज्ञान भी सद्रूप हो जाता है। चारित्र-वैराग्य तप भी सद्रूप हो जाते हैं। और सद्रूप इन गुणों का अनुभोग करता हुआ, विकास करता हुआ वह भव्य आत्मा 'सिद्' श्वेत अवस्था को धारण करता है यानि आत्मा की धवलता को आत्मा में धारण करता है। 'ध' अक्षर धारण का प्रतीक है तो वह सिद्ध हो जाता है। कर्मों के माध्यम से आत्मा में नाना प्रकार के रंग (वर्ण) आ रहे हैं, कोई काला कर्म है अर्थात् लेश्या की अपेक्षा से, कृष्ण-नील-कापोत-पीत-पद्म व शुक्ल लेश्या ऐसे कार्माण वर्गणाओं में माना कि वर्ण होते हैं, जब वे उदय में आते हैं तो जीव के परिणाम बहुरंगी हो जाते हैं और यह जीव अपने स्वभाव से च्युत होकर के पर पदार्थों से राग करने लगता है व द्वेष करने लगता है और किन्हीं-किन्हीं पदार्थों में तो मोहित हो जाता है। जब ये आत्मा धर्म को धारण करता है अर्थात् स्वभाव को धारण करना ही धर्म को धारण करना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये आत्मा के स्वभाव भी हैं, धर्म भी हैं, जब इन्हें प्राप्त करता है तब आत्मा इनके माध्यम से शाश्वत सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। अन्य सभी पद अक्षय नहीं हैं, संसार के अन्य सभी पदों का क्षय होता है, वे नष्ट होते हैं, उनका संयोग-वियोग होता है किन्तु सिद्ध अवस्था एक ऐसी है जो एक बार प्राप्त होती है तो फिर कभी छूटती नहीं। वह सिद्ध अवस्था कैसी है? तो आचार्य महोदय बता रहे हैं।

'शिवं-अजरं-अरुजं-अक्षयं'-शिव अर्थात् सुख, मोक्ष, शुद्धात्मा। सम्यग्दृष्टि जीव जिसने क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त आत्मा की शरण ली है ऐसे भव्य जीव उस शिव अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं अथवा शाश्वत सुख को, आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त करते हैं अथवा आत्मा के प्रदेशों को आत्मा के प्रदेशों में ही लीन कर देते हैं अर्थात् आत्मा का उपयोग स्वकीय प्रदेशों के अतिरिक्त कहीं नहीं जाता। आप कहेंगे कि-कहा जाता है कि केवलज्ञानी भगवान् लोकालोक को जानने-देखने वाले होते हैं, जब वे जानते देखते होंगे तो उपयोग बाहर जाता होगा? नहीं, ऐसा नहीं है, उनका उपयोग बाहर नहीं जाता।

'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रस लीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित अरि रज रहस विहीन॥

वे सम्पूर्ण पदार्थों को जानते-देखते हैं यह व्यवहार की भाषा है निश्चय से तो वे अपनी आत्मा को जानते देखते हैं, उसमें लीन रहते हैं। आत्मा का उपयोग अपनी आत्मा के अतिरिक्त एक समय के लिए भी कभी बाहर पर पदार्थों में नहीं जाता। तो शिवत्व की अवस्था उन्हें प्राप्त होती है जिन्होंने शुद्ध सम्यग्दर्शन की शरण प्राप्त की है।

'अजर' जरा बुढ़ापे का नाम है **'तिर्यङ्मानवानां वयः कृत-देह-विकार एव जरा'** तिर्यंच और मनुष्यों के आयुकृत देह विकार को जरा कहते हैं। शरीर में शिथिलता आना, इंद्रियों की शक्ति क्षीण हो जाना, बाल पक जाना, दाँत गिर जाना, दृढ़तापूर्वक काम करने की स्फूर्ति का न रहना, शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाना आदि ये सब वृद्धावस्था के सूचक हैं। किसी को अल्पवय में तो किसी को अधिक वय में बुढ़ापा आता है और किसी मनुष्य को कोटि पूर्व आयु हो जाने पर भी बुढ़ापा नहीं आता। अतः शरीर का शिथिल आदि होना चिह्न जब प्रगट होते हैं तब जरापन कहलाता है। इस जरा से जो रहित है उसको अजर कहते हैं। यह अजर शब्द 'शिव' शब्द का विशेषण है। जिनके जीवन में कभी जरा नहीं आए ऐसी अजर अवस्था कर्म, नोकर्म से रहित संसारातीत अवस्था है। देवों को भी अजर-अमर कहा जाता है क्योंकि वे कभी बूढ़े नहीं होते। मृत्यु को तो प्राप्त होते हैं किन्तु फिर भी लोकरूढ़ि वशात् समभिरूढ़ नय की अपेक्षा से उन्हें अमर कहते हैं। तो सिद्ध भगवान् वास्तव में अजर हैं, अमर हैं, शिवरूप हैं, उनका शरीर कभी जर्जर नहीं होता क्योंकि उनके शरीर ही नहीं होता, उनकी तो बस आत्मा ही बची है और उनके जीवन में निर्जरा भी नहीं होती, उनके जीवन में जरा भी वैभव में कमी नहीं आती, वे अजर हैं, अजन्मा हैं, अमृतक हैं, वे नित्यसुखभोगी हैं।

'अरुज'–**''न रुजन्ति स अरुजस्तम्''** जो रोगों-शारीरिक व्याधियों से रहित है उसे अरुज कहते हैं। शरीर में व्याधियों के न होने अथवा होने का मुख्य कारण नामकर्म का भेद स्थिर वा अस्थिर नामकर्म का उदय है। क्योंकि शरीर की धातु-उपधातुओं का साम्य अवस्था में रहने का नाम ही स्वास्थ्य है। उनकी विकृति या विषमता को ही व्याधि या रोग कहते हैं। लोक-व्यवहार में जब तक व्याधियों का मूल कारण समाप्त नहीं हो जाता तब तक वास्तव में नीरोगता नहीं मानी जाती, उसी प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने पर जब तक व्याधियों की उत्पति का मूल कारण द्रव्य-भावकर्म एवं उनके आधारभूत शरीर व नोकर्म की संतति सर्वथा निर्मूल नहीं हो जाती तब तक उस जीव को पूर्णरूपेण व अनंतकाल के लिए निरोगी नहीं कहा जा सकता है। सिद्धावस्था ही कर्म शून्य अवस्था है।

संसारी प्राणियों के शरीर में कोई न कोई रोग लगा रहता है। 5 करोड़, 68 लाख, 99 हजार 584 रोग इस शरीर में हैं। एक अंगुल में 96-96 रोग विद्यमान रहते हैं। मुक्तगामी, जिन्होंने मोक्ष को प्राप्त कर लिया है उन्हें रोग नहीं होते। निद्रा आदि आना-न आना भी रोग ही मानो, जन्म भी एक रोग है, मृत्यु भी रोग है, बुढ़ापा भी रोग है इसलिए आप पूजा करते समय कहते हैं 'जन्म-जरा- मृत्यु विनाशनाय' इन तीन महारोगों का विनाश हो जाए, वात-पित्त-कफ रोग इतने भयानक नहीं होते जितने भयंकर जन्म-जरा-मृत्यु के रोग हैं। तो उन रोगों से रहित अवस्था होती है सिद्ध अवस्था।

'अक्षय'–जिसका क्षय न हो उसे अक्षय कहते हैं। यह शब्द शिवरूप विशेष्य का विशेषण है। किसी भी वस्तु का न तो सर्वथा नाश होता और न वस्तु कूटस्थ नित्य ही है, प्रत्येक वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है। उत्पाद–व्यय का कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है और ध्रौव्य द्रव्यार्थिक नय से कहा जाता है। यद्यपि प्रत्येक समय प्रत्येक पदार्थ में निरंतर उत्पाद–व्यय होता रहता है तथापि जिस प्रकार संसार अवस्था में होने वाली नर–नारकादि पर्याएँ विनाशशील हैं उसी प्रकार सिद्ध अवस्था विनाशशील नहीं है, अनंतकाल तक ध्रुव रहती है। अतः सिद्धों की अवस्था अक्षय अवस्था है, उनकी सिद्धावस्था का कभी क्षय नहीं होता, वह कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती।

'अव्याबाध'– असातावेदनीय कर्म के उदय से होने वाली आकुलता को बाधा कहते हैं और आत्मा के प्रत्येक भाग में विशिष्ट रूप से तथा नाना प्रकार से जहाँ दुःखों के कारण, असाधारण कारण नहीं पाए जाते उसको कहते हैं अव्याबाध। यह भी सिद्ध अवस्था का विशेषण है। अर्हत् अवस्था में अनंतचतुष्टय का कथन करके भी अव्याबाध गुण का वर्णन नहीं किया क्योंकि अर्हत् अवस्था वेदनीय कर्म के अस्तित्व से शून्य नहीं है, इसीलिए यह अव्याबाध अर्हत् अवस्था का नहीं सम्पूर्ण कर्मों के नाश से उत्पन्न हुई सिद्ध अवस्था का विशेषण कहा गया है। सिद्धों ने जो कुछ भी प्राप्त कर लिया है वह सब ज्यों–की–त्यों अनंतकाल तक रहेगा, उसमें कभी भी–किसी भी प्रकार से बाधा नहीं आ सकती। उनका गुण वैभव अव्याबाध है।

'विशोकभय-शंकं' – शोक नामक नोकषाय वेदनीय के उदय का निमित्त पाकर और इष्ट माने हुए पदार्थ का वियोग होने पर जो परिताप होता है उसे शोक कहते हैं। भय नामक नोकषाय के उदय के निमित्त से दुर्बलता के कारण प्रबल अनिष्ट प्राप्त प्रसंग से बचने के लिए जो आकुलता हुआ करती है उसको भय कहते हैं। तथा चल–अचल उभयकोटि स्पर्शी अनिश्चित रूप परिणामों से अमुक विषय में क्या होगा, क्या नहीं होगा, कैसा होगा आदि भविष्य की चिन्ता होती है उसको शंका कहते हैं। वे सिद्ध परमेष्ठी शोक से रहित हैं उनके जीवन में कभी क्षोभ नहीं होता, कोई वियोग नहीं हो सकता, अन्य पदार्थों का संयोग नहीं हो सकता। उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं, सिद्ध परमात्मा सभी प्रकार के भयों से रहित हैं। उन्हें कोई शंका नहीं समस्त शंकाओं से रहित निशंक हैं। क्योंकि जब तक शंका रहती है तब तक भय रहता है और जब शंका नहीं तो भय नहीं।

आगे कहा–**'काष्ठागत-सुख-विद्या'**–काष्ठ माने लकड़ी और काष्ठा माने चरमसीमा यानि सिद्ध परमेष्ठी ने अंतिम सीमा को प्राप्त कर लिया है, उसके आगे कुछ है ही नहीं। उन्होंने अनंत सुख को प्राप्त कर लिया उस अंत सुख को प्राप्त कर लिया जिसके आगे कोई सुख

है ही नहीं अर्थात् सम्पूर्ण सुख को प्राप्त कर लिया। मोहनीय कर्म का क्षय होते ही वे अनंत सुख को प्राप्त हो गए। और 'विद्या' ज्ञानावरणी कर्म का क्षय होते ही अनंत विद्या को प्राप्त कर लिया। वह विद्या कैसी है? काष्ठा अर्थात् उनका ज्ञान चरम सीमा तक पहुँच गया, उसके आगे और ज्ञान शेष नहीं बचा। अब आप कहेंगे यहाँ दो ही बातें क्यों कहीं? अरिहन्तों के भी तो चार गुण होते हैं—अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य। तो यहाँ पर दो क्यों कहे? इन दो में ही और दो समाहित कर दिए। कैसे किए? जब विद्या शब्द का प्रयोग किया तो विद्या यानि ज्ञान और ज्ञान के साथ ले लिया दर्शन को। छद्मस्थों में दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है और वीतरागी सर्वज्ञ के युगपत् दर्शन-ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। विद्या शब्द कहने से अनंतदर्शन को भी ग्रहण कर लेना चाहिए। यानि वे अनंतज्ञान-अनंतदर्शन से सहित है वे दर्शन-ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँच गए।

सुख कहने से उन्होंने शक्ति को भी ले लिया क्योंकि दुर्बल व्यक्ति अनंतसुख को भोग नहीं सकता। सुख भोगने के लिए अनंत शक्ति चाहिए। 10वें गुणस्थान के अंत में क्षपक श्रेणी वाले मुनिराज ने मोहनीय कर्म का क्षय कर दिया और क्षय होते ही गुणस्थान 12वाँ हो गया और मोहनीय कर्म के क्षय से अनंतसुख होता है फिर 12वें गुणस्थान में अनंतसुख क्यों नहीं कहा? क्योंकि अनंतसुख को जानने के लिए अनंतदर्शन-अनंतज्ञान चाहिए। चलो अनंतज्ञान प्राप्त कर लिया फिर क्यों नहीं कहा? क्योंकि अनंतज्ञान के साथ अनंतदर्शन भी चाहिए बिना अवलोकन के अनंतज्ञान होता नहीं। चलो, अनंतज्ञान भी हो गया अनंतदर्शन भी हो गया, अंतराय कर्म का क्षय होने के पूर्व अनंतज्ञान-अनंतदर्शन होने पर भी अनंत सुखी क्यों नहीं कह दिया? इसलिए नहीं कहा क्योंकि अनंतज्ञान, अनंतदर्शन का उपयोग करने के लिए, अनंतसुख को भोगने के लिए अनंतशक्ति चाहिए। अनंतशक्ति होगी तभी अनंतसुख का भोग किया जा सकता है, अनंतज्ञान का उपयोग किया जा सकता है, अनंतदर्शन का उपयोग किया जा सकता है। इसलिए 12वें गुणस्थान में अनंतचतुष्टय नहीं कहा। अंतराय कर्म का क्षय होते ही गुणस्थान 13वाँ हो जाता है, सयोगकेवलीजिन अनंत चतुष्टय से युक्त हो गए।

महानुभाव! यहाँ पर सुख शब्द कहने के साथ-साथ अनंतशक्ति को भी ग्रहण कर लेना चाहिए, यही बात आचार्य महोदय यहाँ कह रहे हैं कि जिन्होंने सम्यक्त्व की शरण प्राप्त की है वह भव्य जीव शिव-अजर-अरुज-अक्षय-अव्याबाध-विगतशोक-विगतभय-विगतशंका-अनंतसुख-अनंतविद्या-अनंतदर्शन-अनंतवीर्य को प्राप्त करने वाले होते हैं।

विभवं—विभव शब्द का अर्थ पृथक् न होकर सुख और ज्ञान की विभूति है। इस शब्द से अनंतवीर्य अर्थ भी लिया जा सकता है अथवा जब विगतभव, भव का ही नाश हो जाता

है तब वे अनंतशक्ति के धारक होते हैं। यहाँ यही आशय प्रकट किया है कि चारित्र के द्वारा वीर्याचार के निमित्त से ही प्रतिपक्षी कर्मों का क्षय करते अनंतचतुष्टय रूप आत्मगुणों को प्रकट किया जाता है। इंद्रिय गुणों की पूर्णतया उद्भूति शिव पर्याय में ही हुआ करती है। आगे कहा–

विमलं–जहाँ पर किसी भी प्रकार का मल, दोष, कलंक, अशुद्धि, अपवित्रता वा उसके कारणभूत पर पदार्थों का सम्पर्क नहीं रहा। सिद्ध अवस्था इन समस्त दोषों के अभाव को बतलाने वाला अंतिम विशेषण है। यह इस बात को बताता है कि सिद्ध होते ही जीव के साथ न तो द्रव्य–भाव व नोकर्म का सम्पर्क रहता और न तज्जनित कार्यों के सद्भाव के विषय में किसी को शंका रहती। भविष्य में फिर कभी किसी तरह की अशुद्धि प्राप्त नहीं होगी यह आशय इससे सूचित हो जाता है। साथ ही उनकी अनंतकालीन तद्वस्थिति, द्रव्य–गुण–पर्याय की पूर्ण विशुद्धि आदि की सिद्धि तथा अवतारवाद का खण्डन हो जाता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का अंतिम व वास्तविक फल सिद्धावस्था की प्राप्ति है। सिद्धावस्था में आठों कर्म नष्ट हो गए हैं उनके फल का कथन इस श्लोक में किया है। अजरं, अरुजं, अक्षयं व अव्याबाधं यह चार प्रतिजीवी गुण और काष्ठागत सुख विद्या शब्दों से ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सम्यग्दर्शन इन चार अनुजीवी गुणों का कथन किया है। इस प्रकार आचार्य महोदय ने यहाँ शिवसुख का कथन किया है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शातिनाथ भगवान् की जय ॥

सम्यग्दर्शन महिमा उपसंहार

देवेन्द्र - चक्र - महिमानममेयमानं, राजेन्द्र - चक्रमवनीन्द्र - शिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्र-चक्रमधरीकृत-सर्व-लोकं, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्ति-रुपैति भव्यः॥41॥

अन्वयार्थ–जिनभक्तिः भव्यः – जिनेन्द्रदेव की भक्ति करने वाला भव्य जीव **अमेयमानं –** अपरिमित **देवेन्द्र-चक्र-महिमानम् –** देवेन्द्र समूह की महिमा को **अवनीन्द्र-शिरः अर्चनीयं –** राजाओं के मस्तक से पूजनीय **राजेन्द्र-चक्रम् –** राजाओं के इन्द्र चक्रवर्ती के चक्र को **अधरीकृत- सर्वलोकं –** नम्रीभूत किया है सर्वलोक को जिसने ऐसे **धर्मेन्द्र-चक्रम् –** धर्म के इन्द्र तीर्थंकर प्रभु के धर्मचक्र को **लब्ध्वा –** प्राप्त करके **च –** और फिर **शिवं –** मोक्ष को **उपैति –** प्राप्त करता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के माध्यम से श्रावकों की आचार संहिता का विवेचन कर रहे हैं। उन्होंने प्रथम अध्याय में सम्यक्त्व की महिमा का कथन किया कि क्या है सम्यक्त्व और क्या है धर्म का प्रथम तत्त्व। सम्यक्त्व के गुण-दोष-अंगों को जानना भी जरूरी है क्योंकि सम्यक्त्व के गुणों को जाने बिना सम्यक्त्व को ग्रहण नहीं कर सकते और दोषों को जाने बिना परित्याग नहीं कर सकते। आचार्य महोदय ने विगत 5-6 गाथाओं में सम्यक्त्व की महिमा का कथन किया। आज इस अध्याय का उपसंहार करते हैं। यह अंतिम गाथा सूत्र बसंततिलका छंद में कहा। इस छंद की विशेषता होती है कि इसके प्रत्येक पद में 14 अक्षर और 21 मात्राएँ होती हैं। यह अंतिम छंद विगत 40 छंदों का सारभूत है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि भव्य जीव सम्यग्दृष्टि होकर के जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करता हुआ क्या-क्या प्राप्त करता है।

'भव्य' का अर्थ होता है जो होने के योग्य है। क्या होने के योग्य है? परमात्मा होने के योग्य है, सिद्धपरमेष्ठी होने के योग्य है वह भव्य है। जो होने के योग्य नहीं होता वह अभव्य। दूरानुदूरभव्य के संबंध में कहा कि वह देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त प्राप्त नही करता इसलिए मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता। क्वचित् आचार्य मानते हैं कि अनंतकाल बाद दूरानुदूरभव्य को निमित्त प्राप्त होगा और वह भी अपना कल्याण कर सकेगा। पूर्व गाथा में आचार्य महोदय कह रहे थे कि सम्यक्त्व के प्रभाव से जीव मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करते हैं। वह मोक्ष जन्मजरामृत्यु से रहित है, जहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय ये आठ कर्म नहीं हैं वह मोक्ष है। जहाँ राग-द्वेष-मोह रूप कोई कुभाव नहीं है, जहाँ

औदारिक-वैक्रियक-आहारक-तैजस व कार्माण रूप 5 शरीर नहीं, कर्म की एक भी प्रकृति नहीं है ऐसा भव्य सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष प्राप्त करता है। शरीर दु:ख का मूल है, संयोग-वियोग इसमें होते हैं, रोग-शोक-भय इसमें रहता है। वह सम्यग्दृष्टि जीव उस अवस्था को प्राप्त करता है जहाँ यह सब नहीं होता।

अब यहाँ बता रहे हैं कि वह किस प्रकार तीन लोक में विशेष वैभव को प्राप्त करता है। किस प्रकार वह स्वर्ग और मध्यलोक के वैभव को प्राप्त करता है। उन्हीं के शब्दों में देखते हैं-

'भव्य:' जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करने वाला वह भव्य। कैसे हैं वे जिनेन्द्र भगवान्? वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी, रागद्वेषादि 18 दोषों से रहित हैं, जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय व अंतराय कर्म से रहित हैं, अनंतज्ञान-अनंतदर्शन-अनंतसुख-अनंतवीर्य से सहित हैं, नवकेवल लब्धियों से सहित हैं, जो सामान्य भूमि से 5 हजार धनुष ऊपर जाकर आकाश में विराजमान हैं। तीर्थंकर हैं तो उनका समवसरण लगा होता है, सामान्य केवली हैं तो उनकी गंधकुटी होती है; जहाँ पर भव्य जीव आत्मकल्याण का उपदेश सुनकर के आत्महित में प्रवृत्ति करते हैं। उन जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करने वाला जिनभक्त; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जिनभक्त नहीं हो सकता, वह बाह्य क्रिया कर सकता है, जिनभक्ति का नाटक कर सकता है किन्तु अंतरंग से जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति वही भव्य कर पाता है जो आसन्न भव्य है।

जिसका भगवान् की भक्ति करने में मन लगता है, जो दिगम्बर साधुओं को आहारादि दान देता है, जो समवसरण का ध्यान लगाता है, जो सम्मेदशिखर जी की यात्रा करता है, जो अपने आत्मा के वैभव को प्राप्त करने के लिए समता पूर्वक मरण को स्वीकार करता है अर्थात् सल्लेखना पूर्वक समाधि को प्राप्त करता है और वह जीव सिद्धक्षेत्र आदि पर अपने शरीर का त्याग करना चाहता है ऐसा वह भव्य जीव 'देवेन्द्र-चक्र-महिमानम-मेयमानं' देव और देवों का इन्द्र अर्थात् उन देवेन्द्रों का समूह, उनकी अणिमा आदि ऋद्धियाँ, उनकी विभूति, दिव्य-दिव्य सबल अवस्थाएँ, दिव्य भोग, शरीर-कांति, दिव्य वाहन-आभूषण-वस्त्र, दिव्य ज्ञान ऐसे सभी महिमा से युक्त वैभव को वह सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त करता है। मिथ्यादृष्टि जीव निकृष्ट देव तो हो सकता है किन्तु वह इन्द्र आदि नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टि जीव अनुत्तर और अनुदिश विमानों में जाकर भी अहमिन्द्र नहीं हो सकता। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव अनुत्तर-अनुदिश विमानों में भी जा सकता है, अहमिन्द्र भी हो सकता है और सौधर्म इन्द्र के पद को भी प्राप्त कर सकता है।

'राजेन्द्र-चक्रमवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयं' वह सम्यग्दृष्टि 'राजेन्द्र' राजाओं का इन्द्र बनता है, चक्र को धारण करने वाला अर्थात् चक्रवर्ती बनता है। कैसा चक्रवर्ती? 'अवनीन्द्र शिरोऽर्चनीयं' पृथ्वी पति-भूपतियों का समूह, उनके सिरों के द्वारा जिनकी अर्चना की जाती है ऐसी अवस्था को प्राप्त करने वाला वह चक्रवर्ती होता है। अनेक राजा सिर झुकाकर जिस चक्रवर्ती को प्रणाम करते हैं, वंदना करते हैं। और क्या प्राप्त करता है वह सम्यग्दृष्टि। 'धर्मेन्द्र-चक्रमधरीकृत-सर्वलोकं' वह जिनभक्ति करने वाला भव्य जीव धर्म का इन्द्र होता है। धर्मेन्द्र तीर्थंकर को कहते हैं। वह सम्यग्दृष्टि जीव धर्म प्रवर्तन करने वाला तीर्थंकर होता है। धर्मचक्र को धारण करने वाला होता है। जहाँ समवसरण का विहार होता है वहाँ विहार के साथ आगे-आगे धर्म चक्र को लेकर के देवगण चलते हैं उनकी जय-जयकार करते हैं। 'अधरीकृत' तीर्थंकर प्रभु ने सम्पूर्ण लोक को नम्रीभूत किया है क्योंकि तीर्थंकर प्रभु तीन लोक के द्वारा पूज्य हैं।

अधोलोक-ऊर्ध्वलोक व मध्यलोक ऐसे त्रयलोकों से पूज्य अरिहंत भगवान् पर तीन छत्र लगाए जाते हैं। नीचे वाला छत्र बड़ा, बीच वाला छत्र उससे थोड़ा छोटा होता है ऊपर वाला और छोटा होता है। ऐसे तीन लोक के नाथ होने से भगवान् तीन छत्र से सहित होते हैं। चंवर-भामण्डल से युक्त, अष्ट प्रातिहार्य, अष्ट मंगल द्रव्य यह उनका वैभव है। ऐसे तीर्थंकर धर्मचक्र को धारण करने वाले होते हैं। उन तीर्थंकर को तीनलोक के जीव प्रणाम करते हैं, तीन लोक उनके चरणों में नम्रीभूत होता है। यद्यपि नारकी जीव प्रत्यक्ष रूप से समवसरण में नहीं आ सकते किन्तु फिर भी जो सम्यग्दृष्टि नारकी हैं वे परोक्ष में तीर्थंकर की भक्ति-स्तुति आदि करते हैं, उनका ध्यान करते हैं। अधोलोक में रहने वाले भवनवासी आदि देव हैं वे भी तीर्थंकरों की पूजा करते हैं। अधोलोक के उत्तम पुरुष भवनवासी इन्द्र आदि, मध्यलोक के वाणव्यंतर-ज्योतिषी व उनके इन्द्र, मनुष्यों के इन्द्र चक्रवर्ती आदि, तिर्यंचों के इन्द्र अष्टापद आदि भी तीर्थंकर भगवान् को प्रणाम करते हैं और ऊर्ध्वलोक के जो वैमानिक देव हैं व उनके इन्द्र, 12 कल्पों में 12 इन्द्र व 12 प्रतीन्द्र होते हैं ऐसे 100 इन्द्रों से तीर्थंकर भगवान् पूजित होते हैं।

भवणालय चालीसा व्यंतरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर-चउबीसा चंदो सूरो णरो तिरियो॥

वे तीर्थंकर भगवान् भवनवासी के 40 इन्द्रों से प्रत्येक निकाय से 20 इन्द्र व 20 प्रतीन्द्र इस प्रकार 40 होते हैं, व्यंतर देवों के आठ भेद हैं उनमें से 2-2 इंद्र 2-2 प्रतीन्द होते हैं तो वे 32 हुए, कल्पवासी देवों के 16 कल्पों में 12 इंद्र व 12 प्रतीन्द्र इस प्रकार 24 हुए, पुनः

ज्योतिषों के इंद्र- प्रतीन्द्र सूर्य-चंद्र, मनुष्यों का इंद्र चक्रवर्ती व तिर्यंचों का इन्द्र अष्टापद ऐसे 100 इन्द्रों से वंदनीय होते हैं।

यहाँ पर कहा-'सर्वलोकं अधरीकृतं' जिन तीर्थंकर भगवान् के प्रभाव से सम्पूर्ण लोक नम्रीभूत हो जाता है, तीर्थंकर प्रभु धर्मचक्र को धारण करने वाले होते हैं। ऐसे वैभव को 'लब्ध्वा' प्राप्त करके 'शिवं च उपैति' मोक्ष को प्राप्त करता है कौन? शुद्ध सम्यग्दृष्टि भव्य जीव। तो आचार्य महोदय ने यही बताया कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ-कहाँ जा सकता है। संसार में इससे उत्कृष्ट फल और कोई नहीं, मोक्ष ही सर्वोत्कृष्ट फल है। इसलिए शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव अपने गुणों का संवर्धन करते हुए मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे बीज सम्यग्दर्शन है, बीज अंकुरित होकर पौधा बनता है, पुष्प और फल आते हैं, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के साथ ज्ञान आदि गुणों का वर्धन करते हुए सिद्धत्व को प्राप्त करता है। अथवा जैसे इक्षु रस मिष्ट होता है, उसकी नाना पर्याय और उज्ज्वल होती चली जाती हैं। उससे गुड़, खाड़ शर्करा, बूरा, मिशरी आदि बनती है। दूध का उत्कृष्ट रूप घी बन गया, जिसे एक बार शुद्ध होने के उपरांत अशुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती। तो जिस प्रकार वह शक्कर या गन्ने का जूस जिसके साथ मिल जाता है उसको मीठा कर देता है, चाहे अन्न के साथ हो या फल के साथ हो, चाहे दूध के साथ हो या दही के साथ ऐसे ही इन सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान जो भी भव्य जीव लगाता है उसके चित्त में भी आनंद की अनुभूति होती है।

महानुभाव! उस परम सिद्ध अवस्था को पाने वाला जीव भव्य सम्यग्दृष्टि ही होता है, मिथ्यादृष्टि जीव इन पंच परमपद को अरिहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु पद को या आत्मा के वैभव को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकते। अतः आप सभी भव्यात्माओं! आचार्य समंतभद्रस्वामी जी की इस कारिका का अर्थ समझते हुए अपने चित्त में शुद्ध-निर्मल सम्यक्त्व को प्रकट करो, मिथ्यात्व का त्याग करो, कषायों का शमन करो, भगवान् की भक्ति करो, पंचपरमेष्ठी की भक्ति करो यही मुक्ति का शाश्वत साधन था, है और रहेगा। आप सभी का कल्याण हो, शुभ हो, मंगल हो ऐसी सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

2

सम्यग्ज्ञान अधिकार

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ञानमागमिनः॥42॥

अन्वयार्थ–यत् – जो वस्तु स्वरूप को **अन्यूनं** – न्यूनता रहित **अनतिरिक्तं** – अधिकता रहित **विपरीतात् विना** – विपरीतता रहित **याथातथ्यं** – जैसा का तैसा **निःसंदेह** – सन्देह रहित **वेद** – जानता है, **तत्** – उसको **आगमिनः** – आगम के ज्ञाता पुरुष **ज्ञानं** – सम्यग्ज्ञान **आहुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की इस वाचना में पूर्व दिवस प्रथम अध्याय का उपसंहार किया, जिसमें आचार्य महोदय ने मंगलाचरण से प्रारंभ करके धर्म की प्रतिज्ञा, धर्म का स्वरूप एवं धर्म के मूलस्वरूप सम्यक्त्व के बारे में, सम्यक्त्व के आधार स्तम्भ रूप परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का वर्णन किया व इसके साथ-साथ सम्यक्त्व के आठ अंग की विवेचना की, आठ अंगों में जो व्यक्ति प्रसिद्ध हुए उनका कथन किया। एक अंग से हीन सम्यक्त्व भी संसार की परम्परा को नष्ट करने में असमर्थ होता है इसका कथन किया। पुनः देवमूढ़ता-गुरुमूढ़ता व लोकमूढ़ता के बारे में, आठमद के संबंध में, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा यदि कदाचित् किसी धर्मात्मा का अपमान तिरस्कार करता है तो वह अपने धर्म का ही अपमान तिरस्कार करता है इस बात को बताया, पुनः पाप का निरोध कर दिया तो संपत्ति का संचय-निग्रह क्यों, पुनः सम्यक्त्व की महिमा का गुणगान किया कि मातंग भी यदि सम्यक्त्व से सहित है तो देवों के द्वारा प्रशंसनीय-पूज्यनीय है, जैसे अंगार में छिपी हुई अग्नि ऊपर से भस्म से ढकी हुई है फिर भी अंगार में चिंगारी है पूरे जंगल को भस्म करने में छोटी सी चिंगारी भी समर्थ होती है। धर्म और पाप का फल बताते हुए कहा कि धर्म के फल से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के फल से देव भी कुत्ता बन जाता है।

पुनः बताया भय-आशा-स्नेह व लोभ से प्रभावित होकर सम्यग्दृष्टि को कुदेव-कुशास्त्र व कुलिंगियों को प्रणाम, उनकी भक्ति-वंदनादि नहीं करना चाहिए। फिर सम्यक्त्व की एकान्ततः महिमा बताते हुए कहा कि सम्यक्त्व खेवटिया की तरह से है, सम्यक्त्व बीज की तरह से है, जैसे बीज के बिना पौधा-वृक्ष-पुष्प-फल आदि नहीं होते उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना सम्यग्ज्ञान- सम्यक्वैराग्य-सम्यक्चारित्र-तप-संयम-ध्यान आदि नहीं होते। पुनः सम्यक्त्व की महिमा को दूसरे रूप से प्रस्तुत करते हुए बताया कि जो सम्यक्त्व से युक्त है वह भले ही गृहस्थ श्रावक ही क्यों न हो वह मोक्षमार्गी हो सकता है। सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञानी व देशव्रती बन गया उसे एकदेश मोक्षमार्गी कह सकते हैं किन्तु जो सम्यक्त्व से हीन है चाहे किसी भी भेष को धारण करने वाला हो वह संसारमार्गी ही है। आगे कहा सम्यक्त्व तीनों लोकों व तीनों कालों में इस भव्य जीव का सबसे बड़ा हितकारक-उपकारक है व कल्याण ाकारक है और मिथ्यात्व तीनों लोक और तीनों कालों में इस संसारी आत्मा का अपकारक है, अहितकारक है और संसार भ्रमण का मूल हेतु है। सम्यग्दृष्टि जीव नरक, तिर्यंच अवस्था को प्राप्त नहीं करता, विकलत्रय नहीं होता, निगोद में नहीं जाता, स्थावर नहीं होता, वह स्त्री व नपुंसकवेद में नहीं जाता, भवनत्रिक में नहीं जाता। वह सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंच जिसने आयु का बंध नहीं किया है; नियम से वैमानिक देव होता है और देव आदि यदि सम्यक्त्व के साथ आते हैं तो नियम से मनुष्य अवस्था को प्राप्त करते हैं नारकी भी मनुष्य अवस्था को प्राप्त करते हैं।

पुनः सम्यक्त्व की विशेषता बताते हुए कहा कि सम्यक्त्व के माध्यम से ओजस्वी-तेजस्वी-यशस्वी- कीर्तिवान्-यशवान्-गुणवान्-ज्ञानवान्, महानकुल में जन्म लेने वाली अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। उस सम्यक्त्व के माध्यम से अष्टऋद्धि से युक्त दिव्य शरीर, दिव्य भोजन-वाहन-विमान आदि समस्त दिव्यताओं से सहित स्वर्ग सुख प्राप्त होता है, इतना ही नहीं सम्यक्त्व के माध्यम से वह भव्य जीव नवनिधि, चौदह रत्नों का स्वामी, षट्खण्डाधिपति होता है अर्थात् चक्रवर्ती पद को प्राप्त करता है पुनः अनंतर वह चक्रवर्ती उसी भव से या कुछ भव लेकर के मोक्ष को प्राप्त करता है। सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर जैसे परम पावन पवित्र पद को भी प्राप्त करते हैं, पंचम ज्ञान केवलज्ञान की विभूति को प्राप्त करते हैं, धर्मचक्र का संचालन व धर्मप्रवर्तन करने वाले होते हैं। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव सिद्ध अवस्था को भी प्राप्त करता है, जहाँ पर द्रव्य-भाव-नोकर्म से रहित अवस्था, समस्त दोषों से रहित अवस्था प्राप्त होती है। जो अवस्था जन्म-जरा-मृत्यु से रहित, शोक-भय-शंका से रहित है वह सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होती है। और पुनः 41 वें श्लोक में वसंततिलका छंद के माध्यम से उपसंहार रूप में

कहा कि सम्यक्त्व के प्रभाव से दिव्य स्वर्गीय सुख, मनुष्य भव के सुख प्राप्त होते हैं, इसके साथ-साथ तीर्थंकर पद का वैभव भोगते हुए वह जीव सिद्धत्व को प्राप्त करता है।

महानुभाव! अब यहाँ आचार्य महोदय द्वितीय अध्याय का प्रारंभ कर रहे हैं, जिसमें सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान के बारे में बता रहे हैं। जैसे प्रथम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में सम्यक्त्व की परिभाषा बताई ऐसे ही यहाँ सम्यग्ज्ञान की परिभाषा बता रहे हैं। क्या है सम्यग्ज्ञान तो उन्हीं के शब्दों में देखते हैं–

यहाँ कहा–**'आगमिनः'** आगम के वेत्ता, आगम में निष्णात, सद्ज्ञानी पुरुष जो गणधर आदि परमेष्ठी हैं, श्रुत केवली हैं वे सम्यग्ज्ञान की परिभाषा बताते हैं। इस कारिका में सम्यग्ज्ञान की चार विशेषता दीं और पाँववी बात कहकर के सम्यग्ज्ञान की पुष्टि की। पहली विशेषता दी 'अन्यूनमनतिरिक्तं' सम्यग्ज्ञान वह कहलाता है जो न्यूनता और अधिकता से रहित हो, दूसरी विशेषता कही 'याथातथ्यं', वस्तु तत्त्व का ज्यों का त्यों विवेचन करने वाला हो, अगली बात कही 'विपरीतात्' वह विपरीतपने से रहित हो तथा 'निःसंदेहं' संदेह का निवारण करने वाला हो वह सम्यग्ज्ञान होता है।

एक-एक शब्द की व्याख्या देखें–**'अन्यूनं'** न्यून का अर्थ होता है कम। यदि किसी ने पूछा तुम्हारे पास कितने रुपये हैं? यदि आपके पास 100 रुपये हैं और आपने कहा 99 रु. हैं तो आपने 1 रुपया न्यून बताया। 1 रुपया न्यून बताना यह आपका सम्यग्ज्ञान नहीं है, यह सत्यज्ञान नहीं है, असत्य ज्ञान है। सत्यज्ञान वह होता है जिसमें ज्यों का त्यों, जरा भी हेरफेर न हो, किंचित् भी बदलाव न हो। किसी ने पूछा-आप कितने पापों में संलग्न हैं? आपने कहा चार पापों में; किन्तु आप तो पाँच पापों में संलग्न हैं तो असत्य हो गया। किसी ने कहा आप कितने अणुव्रतों का पालन करते हैं? आपने कहा चार का, जबकि आप पाँच का पालन करते हैं, तो न्यून हो गया। आप यदि किंचित् भी न्यून बता रहे हैं तो इसका आशय है ज्यों का त्यों नहीं बता रहे। किंचित् भी न्यून कर दिया तो वह सम्यग्ज्ञान नहीं रहा, सम्यग्ज्ञान का दोष हो गया।

'अनतिरिक्तं'-सम्यग्ज्ञान वह होता है जो अतिरिक्त का भी व्याख्यान करने वाला नहीं है। अतिरिक्त कथन जब भी करेंगे तो मिथ्या हो जाएगा। 100/100 प्राप्त होना शत-प्रतिशत प्राप्त होना है और कोई बच्चा कहे पापा मैं तो 100 में से 105 नंबर लेकर आया हूँ तो प्रबुद्ध व्यक्ति समझ जाएगा कि ये झूठ बोल रहा है। 100 में से 105 कहाँ से आएँगे 100 में से 100 तो आ सकते हैं। और कोई कहे कि मैं सौ में से पूरे नंबर लाया हूँ, 95 नंबर आए हैं तो 95 क्यों, 100 क्यों नहीं कहा, यदि कथन न्यून कर दिया तो भी मिथ्या हो गया, अतिरिक्त कर दिया तब भी मिथ्या हो गया, ज्यों की त्यों कहना ही सम्यक् हो सकता है। सम्यग्ज्ञान वह होता है जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु तत्त्व का विवेचन न्यूनता व अधिकता से रहित होकर किया जाएँ।

'याथातथ्यं' जैसा, जिस प्रकार का स्वरूप-स्वभाव या लक्षण है वैसा ही कहना सम्यग्ज्ञान है। जरा भी change कर दिया तो वह सम्यक् नहीं हो पाएगा, सत्य न होकर मिथ्या हो जाएगा। जैसे किसी ने पूछा आपके यहाँ गाय है? आपने कहा घोड़ी है। अरे! प्रश्न पूछा कि गाय है या नहीं, आप हाँ या ना में ही उत्तर दो, घोड़ी कहना यह उत्तर आपका यथार्थ नहीं है। प्रश्न के अनुकूल उत्तर दें। किसी ने पूछा आप जैन हैं? आपने उत्तर दिया मेरी उम्र 22 वर्ष है तो नाम से उम्र का क्या तालमेल। जैसा प्रश्न हो वैसा उत्तर हो तो सत्य हो सकता है किन्तु आपने उसे घुमा दिया तो सत्य नहीं। ज्यों का त्यों कहना ही उचित है।

'विना च विपरीतात्' कथन विपरीतपने से भी रहित होना चाहिए। किसी ने पूछा कुछ और उत्तर दे रहे हैं बिल्कुल विपरीत। अग्नि कैसी होती है? उत्तर दिया बहुत ठंडी; जबकि अग्नि गर्म होती है। आपसे पूछा पुद्गल किसे कहते हैं? उत्तर दिया जिसमें ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, चेतना पाई जाती है वह पुद्गल है। तो यह तो विपरीत कह दिया। जीव किसे कहते हैं? तो कह दिया जो चेतना से रहित है; यह कथन भी विपरीत है। तो विपरीत बात कहना भी मिथ्याज्ञान है और जो विपरीतता से रहित कथन करता है वह सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार वह सम्यग्ज्ञान न्यूनता से रहित हो, वस्तु तत्त्व का कथन ज्यों का त्यों करे। कम ना करे, अधिकता से भी रहित हो, ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर भी न कहे, जैसे का तैसा कहे और विपरीत भी नहीं कहे। कई बार मूर्ख व्यक्ति को देखकर कोई व्यक्ति उसकी हँसी बनाते हुए कहता है भाई! तुम पंडित हो क्या? नहीं मैं महापंडित हूँ। 4 + 4 = 7 होते हैं, 3 + 3 = 18 होते हैं। हाँ तुम वास्तव में महापंडित कहलाने के लायक ही हो, कोई छोटा पंडित होता तो 4 + 4 = 8 ही कहता। तो आपका यह कहना (महापंडित) विपरीत कथन हो गया। वह महापंडित नहीं महामूर्ख है। पानी ऊपर से बहकर नीचे की ओर आता है। मूर्ख व्यक्ति बोला अरे! कौन कहता है? मुझ महापंडित से पूछो, पानी नीचे से ऊपर जाता है। वह व्यक्ति बोला भाई! तुमसे तो मैं बहस कर ही नहीं सकता, जो तुमसे बहस करेगा वह कभी जीत ही नहीं पाएगा। तो विपरीत बात कहने वाला मिथ्याज्ञानी है, मूर्ख है, सम्यग्ज्ञानी विवेकी व्यक्ति उससे बहस नहीं करेगा।

कई बार व्यक्ति स्वयं को बहुत विद्वान् मानकर कहते हैं बस मैं ही ज्ञानी हूँ। एक व्यक्ति ने कहा-मैं जो भी निशाना लगाता हूँ वह अचूक जाता है। यहाँ तक कि उड़ते विमान में भी तीर छोड़ूँ तो सीधा वहीं जाकर लगेगा, अर्जुन भी मेरे सामने क्या लगता है, उसने मछली की आँख को भेदा होगा उस जमाने में, मेरा तीर तो बिल्कुल निशाने पर लगता है। उसके मित्र ने कहा ठीक है जब तू इतना ही माहिर निशानेबाज है तो फिर सामने डाल पर बैठे पक्षी को

निशाना बना। उसने कहा ठीक है, निशाना बनाकर तीर छोड़ा, तीर उस पक्षी से कम से कम 20 फीट नीचे वृक्ष के तने में लगा। तना हिला तो पक्षी उड़ा, वह देखने लगा। मित्र कहता है क्या देख रहे हो, पक्षी तो उड़ रहा है। वह बोला यही आश्चर्य की बात तो मैं देख रहा हूँ कि मेरा तीर निशाने पर लगा है, पक्षी फिर भी उड़ रहा है। तो महानुभाव! जो व्यक्ति किसी की बात मानते ही नहीं, अपनी हर बात को जिन्हें सिद्ध करना ही है, चाहे वह झूठी हो या सत्य उसके साथ बात करके समय बर्बाद करना व्यर्थ है। बुन्देलखण्ड में एक कहावत है **'लबरा बड़ा है या दोंधा।'** लवरा कहलाता है झूठ बोलने वाला, दोंधा कहलाता है किसी की बात को न मानने वाला।

एक बार दो व्यक्तियों में किसी छोटी सी बात पर बहस हो गई, बहस का विषय था कि स्वर्ग कितने होते हैं और नरक कितने होते हैं। पहले वाले ने कहा स्वर्ग 7 होते हैं व नरक 16 होते हैं। दूसरे व्यक्ति ने कहा-भाई! आप भूल में हो हमें तो ऐसा ध्यान है कि नरक की तो 7 पृथ्वी होती हैं और स्वर्ग 16 होते हैं। पर पहले वाला मानने को राजी ही नहीं था तब उसने कहा शर्त लगाते हैं-क्योंकि मैंने स्वाध्याय किया है, मैं सबको पढ़ाता हूँ, मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि नरक 7, स्वर्ग 16 होते हैं; किंतु सामने वाला व्यक्ति भी कमजोर नहीं था उसने कहा ठीक है, लगा ले शर्त क्या लगाता है? दूसरा बोला मैं जीत गया तो तेरा मकान-दुकान सब मेरा हो गया और तू जीत गया तो तेरा हो गया। बात तय हो गई कि शाम को मिलेंगे। वह व्यक्ति अपने घर पर पहुँचा तो पत्नी ने पूछा क्या हो गया, आज देरी से कैसे आए? बोला-आज मैंने ऐसी-ऐसी शर्त लगा ली, पत्नी बोली-चुपचाप चले जाओ मकान-दुकान सब उसके नाम कर आओ, बोला क्यों? क्योंकि तुम गलत हो, वह सही है। नरक 7 व स्वर्ग 16 ही होते हैं। वह बोला तू भी उसकी बातों में आ गई, पागल हो गई है क्या। वह बोली जब पंचों के सामने बात रखी जाएगी तो सब यही कहेंगे कि नरक 7 व स्वर्ग 16 होते हैं। वह बोला-पंच कहें, तू कहे, वह कहे, चाहे पूरी दुनिया कहे, पर मैं मानूँ तब ना। मैं अपनी हार मानूँगा ही नहीं। तो जो दोंधा होता है उसे कौन हरा सकता है।

कहने का आशय यह है कि मिथ्याज्ञानी व्यक्ति संदेह पैदा करने वाला होता है। आगम के वेत्ताओं ने सम्यग्ज्ञान की यही परिभाषा दी है कि जो ज्ञान न्यूनता से रहित हो, अधिकता से रहित हो, वस्तुतत्त्व का यथातथ्य कथन करने वाला हो, विपरीतता से रहित हो, संदेह का निवारण करने वाला हो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रथमानुयोग का स्वरूप

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि-समाधि-निधानं बोधति बोधः समीचीनम्॥43॥

अन्वयार्थ–समीचीनं बोधः – सम्यग्ज्ञान **अर्थाख्यानं** – जिसमें चार प्रकार के पुरुषार्थ का वर्णन है **पुण्यं** – जो पुण्य का कारण है **बोधि-समाधि-निधानं** – बोधि समाधि का खजाना है **चरितं पुराणमपि** – चरित्रों एवं पुराणों को भी **प्रथमानुयोगम्** – प्रथमानुयोग **बोधति** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार के द्वितीय अधिकार को देख रहे हैं, उसमें आचार्य महोदय ने सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से विवेचन किया। पूर्व कारिका में सम्यग्ज्ञान का सामान्य लक्षण देखा जो न्यूनता व अधिकता से रहित हो, विपरीतता से रहित हो, सर्व संदेहों का निराकरण करने वाला हो, वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध कराने वाला हो वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है; ऐसा आगम के वेत्ता गणधर परमेष्ठी कहते हैं। उस सम्यग्ज्ञान के चार भेद हैं–प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जैसे किसी कमल के पुष्प की चार पांखुड़ी, बीच में कर्णिका होती है। चारों पांखुड़ी कर्णिका से जुड़ी होती हैं, उससे पृथक् नहीं हैं, विपरीत भी नहीं हैं। चार पांखुड़ी चार दिशा में हैं, हर कोने से देखने पर अलग-अलग प्रकार का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। यथा–गाय के चार स्तन होते हैं चारों में दूध एक जैसे वर्ण-स्वाद व शक्ति सामर्थ्य वाला होता है, ऐसे ही चारों अनुयोगों में निहित सम्यग्ज्ञान आत्मा का कल्याण करने में समर्थ होता है। कोई व्यक्ति किसी एक का उल्लंघन करके दूसरे को ही सम्पूर्ण मान ले तो कभी सम्पूर्ण तक पहुँच नहीं पाता।

यहाँ पर सर्वप्रथम प्रथमानुयोग के संबंध में कह रहे हैं। आपके मन में जिज्ञासा हो सकती है कि सम्यग्ज्ञान को चार भागों में क्यों बाँटा? सम्यग्ज्ञान के भेद दो भी हैं, पाँच भी हैं, चार भी हैं, एक भी है और उससे ज्यादा भी हो सकते हैं अपेक्षा अलग-अलग हो सकती है। सम्यग्ज्ञान ज्ञानत्व की अपेक्षा से एक भेद वाला है, वही सम्यग्ज्ञान परोक्ष और प्रत्यक्ष की अपेक्षा दो प्रकार का है। वही सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष के दो भेद देशप्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष करने से तीन प्रकार का है। वही सम्यग्ज्ञान परोक्ष को एक में समाहित करके एकदेश प्रत्यक्ष के दो

भेद करने से अवधिज्ञान व मन:पर्यय ज्ञान और सकल प्रत्यक्ष का केवलज्ञान ऐसे चार भेद भी होते हैं। वही सम्यग्ज्ञान मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय और केवलज्ञान की अपेक्षा से पाँच प्रकार का है। अपेक्षा अलग-अलग हैं। यहाँ पर भी सम्यग्ज्ञान (श्रुतज्ञान) को चार प्रकार से वर्णन कर रहे हैं। समझाने की शैली ये है कि भव्यजीव समझ सकें।

'प्रथम' शब्द कह रहा है पहला भेद/पहली सीढ़ी। अनुयोग चार ही क्यों कहे? तीन क्यों नहीं कह दिए, पाँच क्यों नहीं कह दिए। श्रुतज्ञान के दो भेद अंगबाह्य-अंगप्रविष्ट के रूप में कहे फिर ये 4 भेद किस अपेक्षा से कहे? कोई भी भव्य जीव अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए जब वस्तुतत्त्व को समझना चाहता है, अपने आप को समझना चाहता है या दूसरों को समझाते हैं तो उसके सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण से बात जल्दी समझ में आती है। और संसार में केवल चार ही भेद हैं पाँचवां भेद नहीं है। सम्पूर्ण संसार का ज्ञान चार प्रकार के भेदों से पूरा हो जाता है। तीन से पूरा नहीं होगा और पाँचवे की आवश्यकता नहीं। कैसे? संसार में दो द्रव्य हैं। दो चीज हैं एक स्व और एक पर। स्व कहें तो अपनी आत्मा और पर कहें तो अन्य सभी जीवात्मा, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य। अपनी आत्मा के अलावा जितना सब कुछ है वह सब पर है। अब दोनों के दो-दो रूप होते हैं। संसार में कोई भी वस्तु है उसके दो रूप होते हैं, तीसरा रूप नहीं होता। एक बाह्य भाग, दूसरा अभ्यंतर भाग। बाह्यरूप पहले देखने में आता है अंतरंग रूप बाद में देखने में आता है। तो स्व के भी दो भेद और पर के भी दो भेद हैं– स्व का अंतरंग और स्व का बहिरंग, पर का अंतरंग और पर का बहिरंग।

जब भी आप किसी वस्तु को देखते हो तो सबसे पहले वस्तु बाहर से दिखाई देती है, फिर आप उसके अंतरंग में जाते हो, उसकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं? उदाहरण स्वरूप आपने आम देखा। तो बाह्य रूप देखकर कहा वह पीला है, पुन: कहा खट्टा या मीठा है। कोई भी वस्तु देखी तो बाहर व अंदर दोनों रूपों का वर्णन करते हैं। अब व्यक्ति अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता है तो उसके लिए एक आदर्श चाहिए। कहाँ जाना है, कहाँ पहुँचना है। उसे जहाँ जाना है जहाँ पहुँचना है, वह पर हो गया, पर में से आपने किसी को आदर्श बनाया, जो आपने Target बनाया उस मंजिल तक पहुँचने के लिए वह सहयोगी बन सकता है, प्रेरक बन सकता है, निर्देशक बन सकता है, निमित्त बन सकता है तो जो भी आपने पर को आदर्श बनाया है उसका बहिरंग क्या है और फिर उसका अंतरंग क्या है। उसके बहिरंग को जानने का साधन है प्रथमानुयोग। पर के अंतरंग को जानने का साधन है करणानुयोग,

अपने बहिरंग को जानने-समझने का साधन है चरणानुयोग और अपने अंतरंग को समझने का, प्राप्त करने का कारण है द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग पर का बाह्य दृश्य बताता है। जब तक पर के बारे में बाह्य अवस्था को नहीं देखोगे तब तक तुम्हें संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति नहीं हो सकती, सम्यग्ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश नहीं हो सकता। पहले जानो; उसने अच्छा किया तो अच्छा फल प्राप्त किया, बुरा किया तो बुरा फल प्राप्त किया, ये आपने जाना, उसकी बाह्य क्रिया को जाना। उसने संयम की साधना की कर्म क्षय कर मोक्ष चले गए, तपस्या सामान्य की तो स्वर्ग चले गए, उसने पाप किया था तो नरक में चला गया, छल कपट-मायाचारी की तो तिर्यंच अवस्था में चला गया। तो जो हमसे पूर्व में हो चुके हैं उन पुण्य पुरुषों की अथवा जो मोक्ष चले गए या मोक्ष जा रहे हैं या मोक्ष जाने वाले हैं उनका बाह्यरूप जब आपकी समझ में आ जाएगा तब फिर आप उसको अपने से मैच करोगे। उसने पाप किया, मैं भी पाप कर रहा हूँ, उसने जो फल प्राप्त किया वही फल मैं भी प्राप्त करूँगा। फिर पर के अंतरंग से जानो कि उसके परिणाम कैसे थे, ऐसे परिणामों से ऐसे कर्म का बंध होता है, यदि मैं भी ऐसे परिणाम करूँगा तो मेरे भी ऐसे ही कर्म का बंध होगा। फिर अपने बहिरंग को समझने के लिए चरणानुयोग एवं अपनी आत्मा को जानने के लिए द्रव्यानुयोग का सहारा लो। यह चार ही पर्याप्त हैं, पाँचवे की आवश्यकता नहीं है और तीन से काम नहीं चलेगा।

तो प्रथम अनुयोग पहली सीढ़ी है। जब भी व्यक्ति अपना कल्याण करना चाहे, धर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहे तो सर्वप्रथम व्यक्ति प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करता है। जैसे किसी डॉक्टर ने अध्ययन करना प्रारंभ किया था तो पहले उसने थ्योरी पढ़ी किस प्रकार के रोग में कौन सी औषधि लाभकारी होती है। किसी अंग-उपांग में कीटाणु आ जाए तो उसे कैसे निकालें, कैसे ऑपरेशन करके निकालें, किस-किस का प्रयोग करना पड़ता है। पुनः उस प्रकार के प्रैक्टीकल करना प्रारंभ किया। पहले मेंढक आदि पर रिसर्च किया जाता था। अब वो बात नहीं है, अहिंसा का पालन करने वाले समझदार डॉक्टर हैं, वे कहते हैं इन सबकी आवश्यकता नहीं ये तो व्यर्थ में ही न जाने किस अल्पज्ञानी ने यह प्रथा चला दी जिसमें कितने जीवों की हिंसा हो जाती थी। किन्तु हम यहाँ इतना बताना चाह रहे हैं कि आपको किसी का Out Look तो देखना पड़ेगा, उसको देखकर ही उसके अंदर प्रवेश करने का आप प्रयास करेंगे। तो यह प्रथमानुयोग महापुरुषों का, पुण्यात्मा जीवों का और पापी जीवों का बाह्यहाल बताने

वाला है। प्रथमानुयोग वह टॉर्च है जिसके माध्यम से अच्छे पुरुषों ने व बुरे पुरुषों ने क्या-क्या किया यह जाना-देखा जा सकता है। इन दृष्टातों को बताने वाला होता है प्रथमानुयोग।

प्रथमानुयोग ऐसा सरल शास्त्र होता है जो सबकी समझ में आ जाता है। हम तो इसे हलवा की तरह समझते हैं। हलवा एक बालक भी खा सकता है जिसके दाँत नहीं आए, वह आम्मा भी खा सकती है जिसके दाँत चले गए, वह युवा भी खा सकता है जिसके दाँत बड़े मजबूत हैं। वह भी खा सकता है जिसके दूध के दाँत टूट गए, चावल वाले आए नहीं। वह भी खा सकता है जिसके चावल वाले दाँत आ गए, वह भी खा सकता है जिसके दाँत हिल रहे हैं या उखड़ रहे हैं। जिस प्रकार हलवा हर कोई खा सकता है ऐसे ही कथा-कहानी-प्रसंग-दृष्टांत किसी को भी सुनाओ सबको अच्छी लगती हैं। इसीलिए आज वर्तमानकाल में इतने काल्पनिक सीरियल चल रहे हैं कि व्यक्ति देखने बैठ जाए तो छोड़े ही नहीं, उसे जिज्ञासा रहती है कि आगे क्या होगा; क्योंकि प्रथमानुयोग एक जिज्ञासा छोड़कर जाता है कि इसके आगे क्या हुआ, क्या होगा?

महानुभाव यहाँ आचार्य महोदय उस प्रथमानुयोग का स्वरूप अपने शब्दों में बता रहे हैं-

'प्रथमानुयोग' प्रथम यानि पहला, अनुयोग अर्थात् किसी भी विषय का व्यवस्थित अध्ययन करना, किसी भी विषय का व्यवस्थित व्याख्यान करना, किसी भी विषय को व्यवस्था के अनुसार कहना। जैसे आपसे किसी ने पूछा मनुष्य का शरीर कैसा होता है, तो आप व्यवस्थित रूप से बताएँगे कि उसका सिर होता है, फिर मुख होता है, उसके ऊपर नासिका व दो आँखें होती हैं। दो कान साइड में होते हैं, एक गर्दन होती है, दो कंधे होते हैं, उनसे जुड़े दो हाथ होते हैं, वक्षस्थल होता है, उदर होता है, कटिभाग होता है, जंघा-घुटने पुनः पैर होते हैं यह आपने व्यवस्थित बताया तो व्यक्ति के दिमाग में बात set हो जाएगी। यदि आपने कहा मनुष्य का एक सिर दो पैर फिर जीभ, फिर गर्दन होती है, फिर कटिभाग होता है, पीठ भी होती है, आगे आँख भी होती है, ऐसे बताएँगे तो व्यक्ति क्या समझेगा? इसलिए अनुयोग का अर्थ होता है किसी भी विषय का व्यवस्थित व्याख्यान। तो प्रथमानुयोग पहला अध्याय है अध्ययन करने के लिए।

मिथ्यादृष्टि, अव्रती, विशिष्ट ज्ञान से रहित जीवों को धर्म में प्रवृत्ति कराने के निमित्त जो प्रयत्न है, वह अनुयोग प्रथमानुयोग कहलाता है। तुच्छ जीवों को धर्म में प्रवृत्ति कराने के लिए पुण्य व पाप के फल का कथन करके संसार दुःखों से भय उत्पन्न कराया जाता है, संसारी-शरीर-भोगों से विरक्ति उत्पन्न कराई जाती है। प्रथमानुयोग में पुण्य का कथन करने

वाली संवेगिनी व पाप के फल का कथन करने वाली निर्वेदिनी कथा है। इन स्वर्ग व मोक्ष प्राप्ति की कथाओं का कथन करने वाला प्रथमानुयोग कहलाता है।

प्रथमानुयोग क्या करता है? **'अर्थाख्यानं'** पदार्थों का व्याख्यान करता है, वस्तुओं का अध्ययन करता है। कैसे करता है? **'चरितं पुराणं अपि पुण्यम्'** किसी एक पुण्यात्मा पुरुष का वर्णन करने वाला चरित्र कहलाता है। जैसे–श्रेणिक चरित्र, प्रद्युम्न चरित्र, जम्बूस्वामी चरित्र, जीवंधर चरित्र, सुभौमचक्रवर्तीचरित्र, रामचरित्र, पार्श्वनाथचरित्र, शांतिनाथचरित्र। एक-एक का कह रहे हैं तो चरित्र हो गया। पुराण कहलाता है जिसमें एक नायक है किन्तु उसमें अनेक व्यक्तियों के चरित्र आ जाते हैं। पद्मपुराण, आदिपुराण, महापुराण, हरिवंशपुराण आदि जितने भी पुराण हैं उनमें एक से ज्यादा महापुरुषों के, पुण्य पुरुषों के, श्लाका पुरुषों के जब चरित्र दृष्टिगोचर होते हैं तो वह कहलाता है पुराण। तो यह प्रथमानुयोग चरित्र रूप भी होता है और पुराण रूप भी होता है। प्रथमानुयोग अधिकार 5000 पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है तथा त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन है। ऐसा कषायपाहुड़ जी में कहा है। यह प्रथमानुयोग पुण्य का कारक होता है, इसमें चारों पुरुषार्थों की बात आती है, इसमें धर्म की बात भी है, अर्थोपार्जन की बात भी है, कामसेवन की बात भी है और इसमें मोक्ष की बात भी है।

'बोधिसमाधि निधानं' बोधि कहिये तो 'रत्नत्रय'। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। महापुरुषों के जीवन चरित्र को पढ़कर हृदय आनंद-विभोर हो जाता है। उन महापुरुषों के जीवन दर्शन का आद्योपान्त अवलोकन करता है, उन अरिहंत-सिद्ध और साधुओं के स्वरूप से अपने स्वभाव को समझने का प्रयत्न करता है, तब उसे सहज ही समझ में आने लगता है कि ''अहो! मैं भी तो स्वभाव से (शक्ति रूप से) परमात्मा के समान अनंत शक्तियों का संग्रहालय हूँ, अनंत गुणों का निधान हूँ। इस प्रकार का विचार करने पर उसका ध्यान भगवान् की पूर्व पर्यायों पर जाता है, तब सोचता है सभी पूज्य परमात्मा पूर्व पर्याय में मेरे समान पामर थे। जब वे अपने त्रिकाल स्थायी स्वभाव का आश्रय लेकर परमपूज्य परमात्मा बन गए तो मैं भी स्वभाव का आश्रय लेकर उनका अनुसरण कर परम पवित्र परमात्मा बन सकता हूँ। इस प्रकार प्रथमानुयोग के विषय का पठन-मनन-चिन्तन कर परमात्मा बनने के लिए रत्नत्रय को धारण करता है, उन महापुरुषों के चरण चिह्नों पर चलने का प्रयत्न करता है। रत्नत्रय धारण करता है वह बोधि है, व अन्त तक रत्नत्रय का पालन करना समाधि है। इस रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि का निधान है प्रथमानुयोग।

जिस प्रकार किसी मकान आदि को बनाने के लिए उसका नक्शा बनाकर सामने रखना पड़ता है उसी प्रकार बोधि और समाधि के लिए जिन्होंने कठिन से कठिन आपत्तियों के आने पर भी खुद को अपने ही स्वरूप से विचलित नहीं किया उनका चित्रण सामने रखना होगा, अन्यथा बोधि एवं समाधि की प्राप्ति नहीं होगी। इसीलिए भगवती आराधना में शिवकोटि आचार्य ने समाधि साधना वा चउ आराधना की सिद्धि के लिए उन महापुरुषों का कथन किया है जो घोरोपसर्ग आने पर भी अपनी आराधना से च्युत नहीं हुए। जिनके चरित्र को सुनकर वर्तमानकालीन आराधक के मन में भी दृढ़ता आती है, वे उन चरित्रों के ध्यान से, चिंतन से स्वयं को आत्मसंबोधन देते हैं, अरे! जब वे महामुनि श्यालनी के तीन दिन तक भक्षण करते रहने पर भी नहीं डिगे फिर मुझे क्या उनसे बड़ा कोई कष्ट है जो एक मच्छर के दंश की पीड़ा भी मैं सहन नहीं कर सकता? मेरी आत्मा भी उन्हीं की आत्मा के समान है। ऐसा विचारकर अपने आपमें दृढ़ होता है, पुनः सभी परीषहों को उन महापुरुषों का स्मरण कर समता भाव धारण करता है। अतः यह प्रथमानुयोग समाधि का बहुत बड़ा कारण है। यहाँ आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि यह प्रथमानुयोग का पठन-मनन-चिंतन अपनी आत्मा में उतारने व आचरण करने से बोधि, समाधि की प्राप्ति होती है।

यह प्रथमानुयोग खजाना है, रत्नत्रय को देने वाला है। इसको पढ़ते-पढ़ते आपकी आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्रकट होगा। प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करते-करते समाधि करने की सामर्थ्य प्राप्त होगी, बल भी प्राप्त होगा। जो व्यक्ति प्रथमानुयोग की उपेक्षा कर देते हैं वे जीवन में और किसी अनुयोग को पढ़कर के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाते। यह प्रथमानुयोग बोधि-समाधि का खजाना है। और **'बोधतिबोधः समीचीनं'** जो प्रथमानुयोग है वह समीचीन ज्ञान को देने वाला होता है। यह मिथ्यात्व ग्रसित पुरुषों के द्वारा कथित कूर्मादि 18 पुराणों का खण्डन करता है, अथवा जिन्होंने युक्ति विरुद्ध प्रत्यक्ष बाधित कथानकों का कथन किया है, जैसे ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई, पैरों से शूद्रों की, हाथों से क्षत्रियों की आदि-आदि। जो विपरीत कथन हैं और जो पुराण हिंसा के पोषक हैं उन सभी का निषेध करने के लिए यहाँ समीचीन पद कहा है। प्रथमानुयोग वही है जो सत्यार्थवादी है, जो अनर्गल कथाओं का वर्णन करता है वह समीचीन पुराण वा सम्यग्ज्ञान नहीं है। प्रथमानुयोग के द्वारा ही जीवादि के अस्तित्व वा अनादिनिधनता का ज्ञान होता है।

जब किसी व्यक्ति को समझाना है; यदि आपने बिना किसी उदाहरण के समझाना शुरु किया तो समझो बात उसके सिर के ऊपर से चली जाएगी। कोई बहुत ही बुद्धिमान्

है या प्रज्ञावान् है तो बात पकड़ पाएगा और मंदबुद्धि है तो कहेगा भैया! छोड़ो, मुझे तो नींद आ रही है किन्तु जिसको नींद भी आ रही है उसको प्रथमानुयोग का कथानक सुनाना प्रारंभ कर दो तो नींद भाग जाएगी। यह प्रथमानुयोग उसी प्रकार से है जो व्यक्ति को पर का बहिरंग बताकर के संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति का निमित्त बनता है। यह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का कारक है, संपोषक है, संवर्धक है, स्थायित्व प्रदान करने वाला है। यह उसके फल समाधि को देने में समर्थ है। प्रथमानुयोग धर्म का मंदिर बनाता है, उसको ध्वजा, शिखर, कलशारोहण तक पहुँचाता है। यह प्रथमानुयोग जिनवाणी का प्रमुख अंग है, कथा के माध्यम से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह अंग प्राथमिक जीवों के लिए अत्यंत हितकारी है। प्रथमानुयोग बाँचने व सुनने वाले जीवों की मानसिक पवित्रता का कारण होने से पुण्य रूप है।

महानुभाव! यहाँ इस प्रकार प्रथमानुयोग की बात कही आगे करणानुयोग की बात कहेंगे।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

करणानुयोग का स्वरूप

लोकालोक-विभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च॥44॥

अन्वयार्थ–तथामतिः – श्रुत ज्ञान **लोकालोकविभक्तेः** – लोक-अलोक के विभाग को, **च** – और, **युगपरिवृत्तेः** – कल्पकालों के परिवर्तन को **च** – तथा **चतुर्गतीनां** – चारों गतियों को **आदर्शम् इव अवैति** – दर्पण के समान स्पष्ट रूप से जानता है, उसे **करणानुयोग** – करणानुयोग कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार की पूर्व कारिका में सम्यग्ज्ञान के विषय में देख रहे थे; जो कि सम्यग्दर्शन का अविनाभावी होता है। सम्यग्ज्ञान की विशेषता देखते हुए अनुयोग की अपेक्षा से श्रुतज्ञान के चार भेद किए–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग के संबंध में जाना कि पुराणपुरुष, महापुरुष, तीर्थंकरादि मोक्षगामी पुण्य पुरुष या अनेक पुण्यात्माओं का जीवन चरित्र, पुण्य और पाप का फल, रत्नत्रय का कारक, समाधि का हेतु आदि का कथन करने वाला जो शास्त्र है वह प्रथमानुयोग का शास्त्र कहलाता है।

प्रथमानुयोग लोक रंजायमान करने के लिए नहीं वरन् वह विषयों को चित्त से हटाने में कारक है। प्रथमानुयोग के माध्यम से व्यक्ति अपने उपयोग को धर्म की ओर खींचने में समर्थ होता है। यहाँ तक कि किसी के शरीर में पीड़ा हो रही हो, वेदना हो रही हो, प्रतिकूल स्वास्थ्य हो, किसी इष्ट का वियोग हो गया हो, आर्त्तध्यान चल रहा हो, किसी अनिष्ट का संयोग हो गया हो तो उस समय में भी प्रथमानुयोग धर्मध्यान में ले जाने में एक समर्थ साधन है। दु:खी व्यक्ति भी किसी कथानक को सुनता है तो उतने क्षण के लिए अपने दु:ख को भूल जाता है। कोई व्यक्ति तनावग्रस्त हो उस समय कोई कथानक सुने तो तनाव को भूल जाएगा। सिद्धान्त की बात उसे समझ में आए या नहीं आए, व्यवहारिक जीवन की बात उसकी समझ में आए या नहीं आए, लोकरीति-राजनीति समझ में आए या नहीं आए, उसके लिए आत्मा की बात करो, परमात्मा की चर्चा करो या कर्म सिद्धान्त की चर्चा करो, व्याकरण न्याय की चर्चा करो संभव है उसका मन स्थिर न हो और थोड़ी देर में सिर खुजाता हुआ चला जाएँ, वह कहता है ये बातें हमारी समझ में नहीं आ रही। OHUFT-Over Head Under feet transfer अर्थात् आधी बात ऊपर से निकल गई, आधी पैरों

के नीचे से निकल गई, समझ में कुछ भी नहीं आया किन्तु प्रथमानुयोग की वार्ता ऐसी होती है कि व्यक्ति उसके शब्दों को पकड़ पाए या न पकड़ पाए किन्तु वह उन भावों को जरूर पकड़ लेता है। कोई भी कथानक आपने 10-20-50-100 व्यक्तियों को सुनाया तो वे सभी व्यक्ति भावों को जरूर पकड़ लेंगे कि सारांश क्या था, अच्छा या बुरा। उससे जो प्रेरणा मिल रही है वह प्रेरणा प्राप्त कर लेगा। सुनाने की शैली सबकी पृथक्-पृथक् हो सकती है किन्तु भाव सबकी समझ में अच्छी तरह से आ सकता है। यह प्रथमानुयोग की विशेषता थी।

अब यहाँ करणानुयोग के संबंध में आचार्य महोदय वार्ता कर रहे हैं। करणानुयोग की आवश्यकता क्यों? जिस प्रकार प्रथमानुयोग से पर का बहिरंग जाना जाता है उसी प्रकार पर का अंतरंग जानने के लिए साधन है करणानुयोग।

यह करणानुयोग भी है, इसे गणितानुयोग भी कहते हैं। क्योंकि इसमें गणित का विषय ज्यादा है। इसमें Calculation ज्यादा करनी पड़ती है। और calculation करने की सामर्थ्य हर व्यक्ति की तो होती नहीं है। करणानुयोग का विषय ऐसा समझना चाहिए जैसे काजू-किशमिश की बर्फी, बादाम का हलवा आदि गरिष्ठ पदार्थों का सेवन करना अथवा कर्कश पदार्थ सुपारी आदि खाना या चने चबाना जैसा है क्योंकि यह न तो बालक के वश की बात है न वृद्ध के वश की बात है और जिसके दाँत हिल रहे हैं ऐसे प्रौढ़ के वश की भी बात नहीं है। कोई युवा ही इतनी कठोर वस्तु को चबा सकता है। चलो कोई खा भी जाए तो पचाना बड़ा मुश्किल है तो ये करणानुयोग उनके लिए है जो प्रथमानुयोग से पार हो गए और चरणानुयोग को स्वीकार कर जिन्होंने बाहर से अपने आचरण को सुधारा है। दूसरे व्यक्ति के परिणाम कैसे होते हैं, उनके परिणाम कैसे संभाले अथवा बहिर्जगत का परिणमन कैसे हो रहा है, लोक में जो अन्य द्रव्य हैं उनका कैसे-कैसे परिणमन हो रहा है; उसे जानने का उपाय है करणानुयोग।

आचार्य महोदय कह रहे हैं-**'लोकालोकविभक्ते'** 'लोक किसे कहते हैं'? **''लुक्यंते जीवाद्या पदार्थाः यस्मिन् सः लोकः''** जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं वह लोक है। यह 'लुक' शब्द ऐसा है जो तीन चार भाषाओं में समरूप से रहता है, उसका अर्थ लगभग एक रूप ही रहता है। अँग्रेजी में Look शब्द का अर्थ देखना, संस्कृत में लुक्यंते-देखे जाते हैं, हिन्दी में भी कहते हैं तुम्हें लुकता नहीं है अर्थात् दिखता नहीं क्या। लुक का अर्थ लोक के अर्थ में भी आता है, लुक संधि होती है। तो लुक शब्द देखने के अर्थ में आता है। अर्थात् जहाँ जीवादि द्रव्यों को देखा जाए। आपने तीन लोक का नक्शा देखा होगा, उस तीन लोक में ही जीवादि पाए जाते हैं उसके बाहर अलोकाकाश है।

लोकाकाश के तीन भेद हैं–नीचे अधस्तन वाले स्थान को अधोलोक कहते हैं, ऊपर वाले स्थान को ऊर्ध्वलोक कहते हैं, बीच वाले को मध्य लोक कहते हैं। अधो–मध्य–ऊर्ध्व ये तीन Part करने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि तीनों की ही अलग–अलग विशेषता है। अधोलोक तिपाहे की तरह से है नीचे फैला हुआ। जैसे कोई व्यक्ति अपने दोनों पैरों को फैलाकर खड़ा हो जाए कमर पर हाथ टिका ले तो वह जो आकृति बनती है वह अधोलोक की बनती है। मध्यलोक नाभि के समान है। कटिभाग वलयाकार थाली के आकार का है या झल्लरी के समान कहें जो 1 राजू के विस्तार वाला व 1 लाख योजन ऊँचाई वाला है। ऊपर उर्ध्वलोक कटि भाग से ऊपर का हिस्सा।

अधोलोक में नारकी रहते हैं, नरकों के नीचे कलकल भूमि मे नित्य निगोदिया जीव रहते हैं। पहले नरक के ऊपर खर–पंक–अब्बहुल भाग हैं जिसमें खर–पंक भाग में भवनवासी–व्यंतरदेव रहते हैं। मध्यलोक में मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं। मध्यलोक 1 राजू योजन का है किन्तु मनुष्य ढाई द्वीप में ही हैं, उसके बाहर मनुष्यों का आगमन–संचरण नहीं है। इस मध्यलोक में असंख्यातासंख्यात विमान ज्योतिषी देवों के भी हैं, वाणव्यंतर देवों के भी आवास बने हैं जिसमें व्यंतरादि देव रहते हैं, उनमें अकृत्रिम जिनालय भी हैं। ऊर्ध्वलोक में चलते हैं सुमेरु के ऊपर से ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होता है इसमें पहले 16 स्वर्ग हैं, उसके आगे 9 ग्रैवेयक हैं पुनः नव अनुदिश हैं पुनः उसके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान हैं जो कि चार कोने पर एवं एक मध्य में है। सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से ऊपर जाकर के सिद्धशिला है, उस पर सिद्धों का वास है। फिर तीनों लोकों को वेष्टित किए हुए तीन वलय हैं, यह लोक है। इस प्रकार लोक का विस्तार से कथन करने वाला कोई अनुयोग है तो वह है करणानुयोग।

अलोकाकाश में केवल आकाश मात्र है उसका कथन करने वाला, विभाग करने वाला करणानुयोग है। 'युगपरिवृत्तेः' युग परिवर्तन कैसे होता है? कहाँ–कहाँ शाश्वत पहला काल है? उत्तम भोगभूमि में, कहाँ दूसरा काल है? मध्यम भोगभूमि में, कहाँ शाश्वत तीसरा काल है? जघन्य भोगभूमि में, कहाँ शाश्वत चौथा काल है? विदेह क्षेत्रों में और कहाँ छह काल परिवर्तन होता है? तो भरत–ऐरावत क्षेत्र में। युग परिवर्तन कैसे होता है? पहला काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का, दूसरा काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर का, तीसरा काल दो कोड़ाकोड़ी सागर का, चौथा काल 42 हजार वर्ष कम 1 कोड़ाकोड़ी सागर का, पाँचवा काल 21 हजार वर्ष, छटवाँ काल 21 हजार वर्ष, यह इस अवसर्पिणी की अपेक्षा से है। उत्सर्पिणी आएगा तो पहला काल 21 हजार वर्ष का, दूसरा 21 हजार वर्ष का, जिसे आपकी भाषा में कहें (लौटते हुए) छटवाँ

फिर पाँचवा। उसके उपरांत उत्सर्पिणी की अपेक्षा तीसरा काल (वैसे चौथाकाल) क्रमशः 42 हजार वर्ष कम 1 कोड़ाकोड़ी सागर, फिर जघन्य भोगभूमि, मध्यमभोगभूमि व उत्तमभोगभूमि क्रमशः 2 कोड़ाकोड़ी सागर, 3 कोड़ाकोड़ी सागर व 4 कोड़ाकोड़ी सागर का काल होता है।

यह काल परिवर्तन कैसे-कैसे होता है यह बात बताने वाला, सूक्ष्मतया विस्तार से कथन करने वाला करणानुयोग है। और इसके साथ-साथ **'चतुर्गतीनां च'** चार गतियों का कथन करने वाला। नरक में जीव किस प्रकार से वास करते हैं, नारकी जीवों की आयु-बल-अवगाहना-प्रवृत्तियाँ-लेश्या इत्यादि का सम्पूर्ण कथन करने वाला यह करणानुयोग है। तिर्यंचगति के जीवों का कथन करने वाला, जीव कितने इंद्रिय होते हैं, कहाँ-कहाँ रहते हैं, तिर्यंचों का पूरा कथन करने वाला। मनुष्य गति की प्राप्ति कैसे होती है, मनुष्य के कितने भेद हैं, उनकी क्या-क्या विशेषता है, जीव कहाँ से आकर मनुष्य हो सकता है, कहाँ-कहाँ तक जा सकता है इत्यादि कथन करने वाला और देवगति के बारे में, वहाँ की आयु-अवगाहना, जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति, देवों के भेद, उनकी लेश्याओं आदि का विस्तार से कथन है। इन चार गति के जीवों के संबंध में कथन करने वाला यदि कोई शास्त्र है तो वह करणानुयोग का शास्त्र है।

महानुभाव! 'करण' शब्द कई अर्थों में प्रवृत्त होता है। 'क' कहिए तो आत्मा 'रण' कहिए तो युद्ध करने वाला अर्थात् कर्मों से युद्ध करने के लिए आत्मा के परिणाम करण कहलाते हैं। अथवा कर्ण कहिए तो कर्ण इन्द्रिय। यहाँ पर करण शब्द से लिया जा रहा है गणित शास्त्र। तो करणानुयोग गणित का शास्त्र है, इसका जब व्यक्ति स्वाध्याय करने बैठता है, अध्ययन-अध्यापन करता है तो प्रैक्टीकल करता जाता है, Maths करता जाता है, इसकी लम्बाई-चौड़ाई इतनी, ऊँचाई व मोटाई इतनी, इतने बिल, इतने पटल आदि-आदि तीनों लोकों के एक-एक क्षेत्र का विस्तार से कथन चलता जाता है। नंदीश्वर द्वीप कैसा है, रुचकगिरि कैसी है या मानुषोत्तर पर्वत के जिनालय कैसे हैं या विदेह क्षेत्र की व्यवस्था-संरचना कैसी है, ढाईद्वीप की संरचना कैसी है, कहाँ 5 मेरु हैं यह सब कथन एक-एक करके विस्तार से करणानुयोग के माध्यम से जाना जाता है। जिसकी बुद्धि का क्षयोपशम कम है उसका तो प्रवेश ही नहीं है, जिसका क्षयोपशम अच्छा है उसका प्रवेश हो गया तो उसे इस विषय को छोड़ने का मन नही करेगा। कई बार करणानुयोग का स्वाध्याय करने वाले महानुभाव इन ग्रंथों में इतने खो जाते हैं कि कब सुबह से शाम हो गई, भोजन-पानी का भी याद नहीं रहा, शाम से बैठे तो पता ही नहीं चला कब रात्रि व्यतीत हो गई व सवेरा हो गया। जैसे वैज्ञानिक लोग होते हैं किसी एक कार्य में संलग्न हो गए तो ख्याल ही नहीं रहता है कि कितना समय निकल गया।

करणानुयोग भी ऐसा है जो व्यक्ति के चित्त को बाँध लेता है। सिद्धान्त के मनन से मन वश में हो जाता है। मन को बांधने का यही उपाय है। जैसे बंदर हरे-भरे वृक्ष पर, जिस पर फल लदे हैं सघन वृक्ष है वहाँ जाकर शांति से बैठता है और यदि कोई सूखा वृक्ष हो, सूखी शाखाएँ हों तो उनको पकड़कर कसकर हिलाता है। ऐसे ही श्रुतज्ञान में अवगाहन करता हुआ चित्त करणानुयोग के अध्ययन से शांति को पाता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि यह करणानुयोग **'आदर्श इव'** दर्पण की तरह से है, जैसे दर्पण में पदार्थ झलकते हैं, पदार्थ सामने है दर्पण यहाँ रखा है तो दर्पण पर प्रभाव नहीं पड़ता, पदार्थ झलकता है। सामने चाहे पहाड़ है तो दिखाई दे रहा है, अग्नि है तो दिखाई दे रही है, बारिश भी दिखाई दे रही है ऐसे ही दर्पण की तरह से जो लोक और अलोक को, युग के परिवर्तन एवं चार गतियों का ज्ञान कराता है वह करणानुयोग कहलाता है। इस प्रकार करणानुयोग का कथन आचार्य महोदय ने किया, आगे चरणानुयोग का वर्णन करेंगे। आज के लिए बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

चरणानुयोग का स्वरूप

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोग-समयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥45॥

अन्वयार्थ–सम्यग्ज्ञानं – सम्यग्ज्ञान **गृहमेध्यनगाराणां** – गृहस्थ एवं मुनियों के, **चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्** – चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा के कारणभूत अंग को, **विजानाति** – जानता है, उसे **चरणानुयोग-समयं** – चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ जी में सम्यग्ज्ञान के विषय में देख रहे हैं। आज 45 वें श्लोक के माध्यम से चरणानुयोग की व्याख्या देखते हैं।

चरण शब्द का अर्थ रूढ़ि अनुसार पद के अर्थ में आता है। चरणप्रक्षालन, चरणस्पर्श, माता-पिता व गुरुजनों के चरण स्पर्श करो, तो चरण अर्थात् पद/ पैर। चरण में आङ् प्रत्यय लगा दो तो बनता है आचरण। आचरण के पूर्व यदि मंगल शब्द लगा दो तो बनता है 'मंगलाचरण'। सत् शब्द लगा दो तो बनता है सदाचरण, और कद् शब्द लगा दो तो कदाचरण ।। यह 'चरण' शब्द आचार का सूचक है। जिनका आचरण मंगलमय है उनके जीवन में सदैव मंगलाचरण है, जिनका आचरण कुत्सित है, अमंगल है उनका जीवन कुत्सित आचरण से युक्त होता है। 'चर' शब्द गमन के अर्थ में आता है। 'चर धातु गमने-भुक्ते च' गमन के अर्थ में भी आती है और भोजन के अर्थ में भी आती है। आचरण करना आत्मा को भोजन कराना है। सदाचरण आत्मा का सम्यक् भोजन है और कदाचरण आत्मा के लिए अभक्ष्य अर्थात् हेयरूप है। सदाचरण के भोजन से आत्मा तृप्त होती है और शाश्वत सुख को प्राप्त करने में समर्थ होती है। कदाचरण से आत्मा दुर्बल होती है, रोगी होती है व पतित होती है।

चरण के माध्यम से ही मोक्षमार्ग में गमन होता है, बिना चरण के गमन नहीं होता। जैसे संसारी प्राणी पैरों के बिना चल नहीं सकता, जो पैरों पर खड़ा है वह चल सकता है, जो अभी बैठा है या लेटा है तो चल नहीं सकता। मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और मिश्र गुणस्थान वाले जीव समझो अभी पड़े हैं। जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि हैं वे अपने स्थान पर खड़े हैं, चलने को तत्पर हैं। किन्तु जो देशव्रती, प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थान वाले हैं वे चलना प्रारंभ कर रहे हैं। तो चलना पैरों से होता है, चरण के बिना चलना नहीं होता। जैसे चरण के बिना चलना नहीं होता ऐसे ही आचरण के बिना मोक्षमार्ग में चलना नहीं होता।

और आचरण आता है व्यवहार की भाषा में छटवें गुणस्थान से और निश्चय से आचरण आता है सप्तम-अष्टम गुणस्थान से। उपचार से आचरण माना जाता है पंचम गुणस्थान से और चौथे गुणस्थान वाला आचरण से रहित होता है। वहाँ संतुष्टि के लिए सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा किन्तु वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं कराता है, बस मोक्षमार्ग के सन्मुख खड़ा कर देता है।

चरणानुयोग के ग्रंथ; जिनमें प्राणियों के आचरण की बात है। प्रथमानुयोग से पर का आचरण जाना, उनके अंतरंग परिणामों का आचरण कैसा था यह करणानुयोग से जाना। अब चरणानुयोग के माध्यम से 'स्व का बहिरंग' जाना जाता है। जो बहिरंग क्रियाएँ हैं चाहे पापमय या पुण्यमय, शुभ या अशुभ उन क्रियाओं से ही जीव का यह निश्चित होता है कि वह कौन सी गति में जाएगा। पापमय क्रिया है तो अधोगति का पात्र होगा, पुण्यरूप क्रिया है तो ऊर्ध्वगति में जाएगा और क्रिया शुद्ध रूप है तो वह चार गति के पार चला जाएगा। तो यह चरणानुयोग स्व की बाह्य प्रवृत्ति व चेष्टाओं को, स्वयं के अन्तर्जल्प-आलाप व विचारों को जानने का साधन है और बहिरंग की शुद्धि से ही अंतरंग की शुद्धि तक पहुँचा जा सकता है। जीव ने अपने परिणामों को सुधारने के लिए बहिरंग में नियम लिया, संयम की ओर कदम बढ़ाया, उसके माध्यम से फिर अंतरंग में विशुद्धि आएगी उसका कथन आगे द्रव्यानुयोग में करेंगे।

यहाँ कहा यह चरणानुयोग सम्यग्ज्ञान को विशेष रूप से जानता है। **'गृहमेध्यनगाराणां** – जो घर में स्थित हो वह गृहस्थ और जो घर के बाहर हो वह अनगार। आगार सहित सागार, आगार रहित अनगार। गृह शब्द का अर्थ यूँ समझें कि जहाँ ग्रहण करना ज्यादा होता है व छोड़ना कम होता है वह गृहस्थ होता है। और जहाँ पर छोड़ना ही छोड़ना होता है, जहाँ मोक्षमार्ग का श्रम होता है वह है श्रमण। जहाँ आगार आदि परिग्रह का त्याग होता है वह अनगार। गृहस्थ सागार होता है। देशव्रती श्रावक जो गृहस्थ है वह अपनी धुरी पर रहकर वहीं घूमता रहता है, जो श्रमण है वह धुरी को छोड़कर आगे चलता है, गृहस्थ का जीवन समझो कोल्हू के बैल की तरह से है, वह चलता तो सुबह से शाम तक है किन्तु पहुँचता कहीं नहीं है, वहीं वहीं चक्कर लगाता रहता है। और श्रमण का जीवन बहती हुई नदी की तरह से है एक बार चलना प्रारंभ कर दिया तो फिर नदी लौटकर नहीं आती, समुद्र तक पहुँच ही जाएगी; जल पर्याप्त मात्रा में रहा तो। ऐसे ही श्रमण के पास जल रूपी धर्म पर्याप्त रहा, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूपी धर्म का जल पर्याप्त रहा तो उसके माध्यम से सिद्धालय तक पहुँच जाएगा। बीच में कमी पड़ गई तो वह धारा टूट जाएगी, स्वर्गादि का

वैभव भोग दुबारा आएगा, पुनः बारिश होगी नदी वहाँ से बहना प्रारंभ होगी और फिर समुद्र तक पहुँच जाएगी।

महानुभाव! दो प्रकार का आचरण होता है एक गृहस्थों का व दूसरा श्रमणों का। गृहस्थों का जो आचरण है उसका मूल प्रारंभ समीचीनश्रद्धा-समीचीनज्ञान व समीचीनक्रिया से होता है इसलिए वह श्रावक कहलाता है। उस श्रावक के मूलगुण होते हैं; जिसके बिना श्रावक का श्रावकपना ठहर नहीं सकता। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं ठहरता है वैसे ही जिन गुणों के बिना श्रावक का श्रावकपना नहीं ठहरता वे 8 मूलगुण श्रावक के हैं। यह चरणानुयोग उन मूलगुणों का वर्णन करता है। श्रावक के उत्तरगुण भी होते हैं जिन्हें 12 व्रत कहते हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों का कथन करने वाला श्रावकाचार ग्रंथ, इसके साथ-साथ श्रावक की षट्आवश्यक क्रियाएँ, श्रावक की तिरेपन क्रियाएँ और एक-एक क्रिया का विस्तृत कथन, श्रावक के 12 व्रतों का स्वरूप, इन व्रतों को निर्मल बनाने की भावना, इन व्रतों के अतिचार, श्रावकों की 11 प्रतिमाएँ इन सभी का कथन करने वाले वर्तमान में लगभग 35-40 श्रावकाचार हैं। आचार्यों द्वारा लिखित विद्वान् व कवियों द्वारा भी लिखित अन्य कई श्रावकाचार हैं। श्रावक के धर्म का कथन करने वाला श्रावकाचार भी चरणानुयोग का एक भाग है।

चरणानुयोग का दूसरा भाग है श्रमणाचार। जो मुनियों के धर्म का कथन करने वाला है श्रावक का धर्म निर्ग्रंथ नहीं होता, ग्रंथी सहित होता है। श्रावक का धर्म ऐसा होता है कि वह अणुव्रत को धारण करता है महाव्रतों का पालन नहीं कर पाता, श्रावक सकल परिग्रह का त्यागी नहीं होता, श्रावक के मन में पाप के प्रति विरक्ति तो है किन्तु वह स्थूल पापों का त्याग करने वाला होता है सूक्ष्म पापों का त्याग नहीं करता। श्रावक अपने अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाने के लिए गुणव्रतों का दिग्व्रत-देशव्रत-अनर्थदण्डविरतिव्रत का पालन करता है। पुनः वह श्रावक मुनि बनने की प्रेरणास्वरूप शिक्षा प्राप्त करने हेतु सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथि संविभाग नामक शिक्षाव्रतों का पालन करता है अथवा किन्हीं आचार्यों ने सल्लेखना व्रत को भी लिया। इस प्रकार इन 12 व्रतों को शुद्ध बनाने की भावनाएँ भी हैं, इनमें कैसे-कैसे दोष लग सकते हैं, उन दोषों-अतिचारों से बचने की भी बात कही, इन 12 व्रतों की स्थिरता कैसे आए उसका वर्णन भी चरणानुयोग में आता है।

तो यहाँ कहा गृहस्थ व साधुओं के चारित्र की उत्पत्ति और रक्षा कैसे की जाए उसका वर्णन चरणानुयोग करता है। जीवन में आचरण का प्रारंभ कैसे होता है, जीवन में वैराग्य का

उद्भव कैसा होता है, जीवन में देशसंयम-सकलसंयम की प्राप्ति व पालन कैसे किया जाए, व्रतों का पालन करते-करते परिणाम निर्मल कैसे हो सकते हैं यह सब चरणानुयोग के माध्यम से ज्ञात होता है। मुनियों के 18 हजार शील के भेद होते हैं उनका आगे गुणस्थान बढ़ते-बढ़ते कैसे पालन करना, उनका स्वरूप, उन सबकी विधि, उन सबका फल मुनियों के आचरण संबंधी ग्रंथों में है। श्रावक और मुनियों के आचरण संबंधी सभी ग्रंथ चरणानुयोग के अन्तर्गत आते हैं।

महानुभाव! चरणानुयोग श्रावक को उसके आचरण के मूल से बढ़ाकर चूल तक ले जाने में सहयोगी ग्रंथ है। दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभुक्तित्याग या दिवामैथुनत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरंभत्याग प्रतिमा, परिग्रहत्याग प्रतिमा, अनुमतित्याग प्रतिमा व उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा इन ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप सरल भाषा में विस्तार या सूक्ष्म रूप में जिन ग्रंथों में है वह चरणानुयोग के ग्रंथ हैं। चारित्र की वृद्धि, उसकी निर्मलता के हेतु, साधना की वृद्धि हेतु विस्तार से कथन चरणानुयोग में होता है। मुनियों के आचरण का कथन, वह कैसे संयम की परिपालना करें इसकी विधि 5 प्रकार का चारित्र–सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यात और इसके साथ मुनियों का 6 प्रकार का बहिरंग व 6 प्रकार का अंतरंग तप की व्याख्या, धर्मध्यान व शुक्लध्यान में प्रवृत्ति कैसे करें उनका स्वरूप व मुख्य रूप से श्रावक व श्रमण अपने व्रतों में कैसे स्थिर रहें, क्या उनकी संहिता है, वे किसके अनुरूप चलें इन सब बिंदुओं की चरणानुयोग विशद व्याख्या करता है। जैसे कोई व्यक्ति कहीं पहुँचना चाहता है तो हाथ में MAP लेकर जाता है तो पहुँच जाता है। वर्तमानकाल में आपको जहाँ जाना होता है वहाँ की Location आपको प्राप्त हो जाए तो आप वहाँ सहजता में पहुँच जाते हैं ऐसे ही चरणानुयोग श्रावक और श्रमणों के द्वारा आत्मकल्याण के मार्ग में गमन करने का एक मानचित्र है। इसे लेकर चलेंगे तो भटकोगे नहीं, मंजिल तक पहुँच जाओगे।

यहाँ कहा कि ये चरणानुयोग के शास्त्र सम्यग्ज्ञान को प्रदान करने वाले होते हैं। आप सभी उस सम्यग्ज्ञान के माध्यम से अपनी आत्मा में रत्नत्रय के संस्कारों का बीजारोपण करें, रत्नत्रय की साधना करने का साहस जाग्रत करें और रत्नत्रय का निर्दोष पालन करें यही आत्महित का मार्ग है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

द्रव्यानुयोग का स्वरूप

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग-दीपः श्रुतविद्यालोक-मातनुते॥46॥

अन्वयार्थ–जीवाजीवसुतत्त्वे – जीव, अजीव उत्तम तत्त्वों को **च** – और **पुण्यापुण्ये** – पुण्य-पाप को **च** – तथा, **बन्ध-मोक्षौ** – बन्ध-मोक्ष को **श्रुतविद्यालोकं** – श्रुत ज्ञान के प्रकाश को **आतनुते** – प्रसारित करता है वह **द्रव्यानुयोग-दीपः** – द्रव्यानुयोग रूपी दीपक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में द्वितीय अधिकार के अंतिम श्लोक में सम्यग्ज्ञान के श्रुत की अपेक्षा से चतुर्थ भेद द्रव्यानुयोग की व्याख्या देखते हैं।

पूर्व श्लोक में चरणानुयोग का लक्षण देखा। आचरण न केवल संवर का कारण है अपितु वह निर्जरा का भी कारण है। आचरण के माध्मय से पूर्ण धर्म होता है। सम्यक्त्व धर्म का एक अंश है, सम्यग्ज्ञान धर्म का एक अंश है और चारित्र जहाँ प्राप्त होता है वहाँ तीनों अंग पूरे होते हैं। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के माध्यम से धर्म पर श्रद्धान होता है, धर्म का ज्ञान होता है किन्तु धर्म को जान लेने से, धर्म को मान लेने से धर्म की पूर्णता नहीं होती। धर्म का आशय है जिसे धारण किया जाएँ, धर्म का फल है जो जीव को उत्तमसुख सिद्धालय में धारण करे। यहाँ पर आचार्य महोदय द्रव्यानुयोग का स्वरूप बता रहे हैं। चारों अनुयोग एक दूसरे से जुड़े होते हैं। आपने श्रुत पीठ देखी होगी, श्रुत पीठ में चार पार्ट हैं ऐसे ही चार अनुयोग हैं। प्रथमानुयोग जिससे पर का बहिरंग देखा जाता है, करणानुयोग जिससे पर का अंतरंग देखा जाता है, चरणानुयोग जिससे स्वयं का बरिहंग देखा जाता है और द्रव्यानुयोग जिससे स्वयं का अंतरंग देखा जाता है। ये चार भाग हैं किन्तु आपस में जुड़े हैं पृथक्-पृथक् होते हुए भी श्रुतपीठ की तरह जुड़े हुए हैं। यहाँ चतुर्थ 'द्रव्यानुयोग' की बात कर रहे हैं। जो द्रव्य का कथन करे, द्रव्य का स्वभाव बताए, द्रव्य को शुद्ध करने की अंतरंग प्रक्रिया क्या है उसे दर्शाए वह द्रव्यानुयोग है। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी के शब्दों में देखें–

'श्रुतविद्या' ये चारों अनुयोग श्रुतज्ञान के भेद हैं। यह श्रुतज्ञान केवलज्ञान का पिता है, बिना श्रुतज्ञान के आज तक कोई केवली नहीं हुआ। केवली होने के लिए श्रुतकेवली-श्रुतज्ञानी होना जरूरी है। अवधिज्ञान-मनःपर्ययज्ञान होना जरूरी नहीं है किन्तु श्रुतज्ञान होना जरूरी है। श्रुतज्ञान के माध्यम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रुतज्ञान यदि भावश्रुत को प्रकट नहीं

करे तो द्रव्यश्रुत ज्ञान अपने आप में पर्याप्त नहीं होता। द्रव्यश्रुत को धारण करने वाला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि हो जरूरी नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव भी शास्त्रों को कण्ठस्थ कर सकता है किन्तु भावश्रुत ज्ञान जो समीचीन रूप से है उसके माध्यम से चेतना में परिणमन होता है और भावश्रुतज्ञान चेतना के प्रदेशों में ही उत्पन्न होता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से वह व्यक्ति शब्दों को कण्ठस्थ करने की क्षमता रखे, मस्तिष्क में बहुत सारे शब्दों का भण्डार रखे किन्तु फिर भी जरूरी नहीं है उसकी आत्मा में उसी प्रकार की अनुभूति हो किन्तु भाव श्रुतज्ञान के माध्यम से उसका परिणमन नियम से होता है। उदाहरण के रूप में समझें कि दूध के डिब्बे के ऊपर नींबू रख दिया तो दूध पनीर नहीं बनेगा, न दही जमेगा, दूध के डिब्बे के ऊपर शक्कर रख दी तो दूध मीठा नहीं होगा, दूध के डिब्बे को ही शक्कर-नमक या नींबू के ढेर में रख दें तो भी दूध में असर नहीं आएगा; किन्तु डिब्बे का ढक्कन खोलकर के उसमें नींबू के रस की दो बूँद भी चली गई तो दो बूंद से ही दूध में परिणमन हो जाएगा, यदि कुछ दाने भी शक्कर के चले गए तो दूध मीठा हो जाएगा, ऐसे ही कोई व्यक्ति शास्त्रों का बैग अपने सिर पर रखकर चले तो ऐसा करने से व्यक्ति ज्ञानी नहीं हो जाता, यदि सिर पर न रखकर इस मस्तिष्क में भर लिया तब भी व्यक्ति ज्ञानी नहीं हो गया और हजारों-लाखों-करोड़ों शास्त्रों का सार या शब्दों को किसी पेनड्राइव या चिप में भर लिया, उस पेनड्राइव या चिप को मुट्ठी में ले लिया तो भी व्यक्ति ज्ञानी नहीं होगा।

'लाद पुस्तकें गधा पीठ पर क्या ज्ञानी कहलाएगा'

यदि व्यक्ति ने ज्ञान को आचरण में नहीं लिया तो जैसे किसी गधे पर शास्त्रों को रख दो तो वह ज्ञानी नहीं होता ऐसे ही मस्तिष्क में यदि शब्दों का ढेर लगा लिया और कण्ठ में खुजलाहट होती रहती है तो ज्ञानी नहीं है। शब्दों का अर्क श्रुतज्ञान चेतना में पहुँच जाए तो चेतना में सम्यक्त्वमय परिणमन होने लगे। मिथ्यात्व की प्रवृत्तियाँ छूटें, वह संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो, फिर उसकी जो प्रवृत्ति होती है वह भावश्रुतज्ञान के बल से होती है। भावश्रुतज्ञान के बल से ही शिवभूति मुनिराज केवलज्ञानी हो गए। द्रव्यश्रुतज्ञान तो उनके पास बहुत अल्प था। 12 साल में भी वे 35 अक्षर के णमोकारमंत्र को याद नहीं कर पाए। फिर उनके गुरु महाराज ने 16 अक्षर का खण्ड पद याद कराया वह भी याद नहीं हुआ, फिर उन्होंने असिआउसा नमः याद कराया वह भी याद नहीं हुआ, फिर उन्हें 'मा मुज्जह' 'मा रज्जह' याद कराया कि राग मत करो, संसार के पदार्थों में संतुष्ट न होओ यह सब मृषा है। आचार्य महाराज ने पुनः उदाहरण के माध्यम से याद कराया 'तुषमासभिन्नं' तुष-छिलका, मास-दाल, जैसे दाल का छिलका अलग है दाल अलग है, जैसे केला अलग है केले का छिलका अलग है, नारियल

अलग है उसके अंदर का गोला अलग है। ऐसे ही शिवभूति महाराज के गुरु महाराज ने उन्हें बताया कि हे शिवभूति! तुम्हारी आत्मा अलग है तुम्हारा शरीर अलग है। तुम अपनी आत्मा का अनुभव करो, आत्मा अनुभवगम्य है, यह शरीर तुम नहीं हो, यह तो खोल है। खोल वस्तु नहीं होती खोल में वस्तु होती है, वह सहयोग करता है अंदर की वस्तु का सदुपयोग करने में। तब उन शिवभूति मुनिराज को भेदविज्ञान हो गया, शरीर अलग है, आत्मा अलग है, उस भावश्रुतज्ञान के बल से वे केवली हो गए।

महानुभाव! यहाँ पर बताया कि द्रव्यानुयोग का विषय है द्रव्य पर दृष्टि रखना। वह द्रव्य की अपेक्षा से कथन करता है। द्रव्य किसे कहते हैं? **'द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति द्रव्यम्'** जो द्रवित होता है, द्रवित होता था और द्रवित होता रहेगा वह द्रव्य है। द्रवित होने का आशय है कि जिसमें सदैव परिणमन होता रहता है, जो कूटस्थ नहीं रहता। परिणमन होता है तो गुणों की भी पर्याय आती है और द्रव्य की भी पर्याय आती है। गुणों की पर्याय अर्थपर्याय, द्रव्य की पर्याय व्यंजनपर्याय इस प्रकार दोनों तरह की पर्याय जिसमें होती हैं वह द्रव्य है। जो लोकाकाश में विद्यमान है, संख्या में एक है किन्तु प्रदेश असंख्यात है, जो पुद्गल और जीवों को गति करने में सहकारी निमित्त होता है वह धर्मद्रव्य है। यह भी संख्या में एक है व प्रदेश असंख्यात हैं, जो पूरे लोकाकाश में व्याप्त है। जो ठहरते हुए पुद्गल और जीवों को ठहराने में सहयोगी होता है वह अधर्म द्रव्य है। आकाश द्रव्य वह है जो स्वयं को स्थान देते हुए सभी द्रव्यों को स्थान देता है। कालद्रव्य स्वयं में परिणमन करते हुए सभी द्रव्यों के परिणमन का हेतु है, वर्तना लक्षण है जिसका वह कालद्रव्य है। इस प्रकार का कथन द्रव्यानुयोग करता है।

द्रव्यानुयोग वह है जो पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्य, सातत्त्व, नवपदार्थ का कथन करता है। 'जीवाजीवसुतत्त्वे' जीव-अजीव ये दो तत्त्व विशेष रूप से जानना जरूरी है। इन दो के जानने से इस आत्मा के लिए समग्र प्रयोजनभूत जो तत्त्व हैं वह सब जानने में आते हैं। उदाहरण के रूप में देखें-नदी में नाव है, नाव में नाविक बैठा है। माना नाविक जीव तत्त्व है व नाव पुद्गल है, उस नाव में छेद हो गया तो नदी में से पानी आ रहा है समझो आस्रव तत्त्व। पानी बढ़ता चला जा रहा है समझो बंध तत्त्व क्योंकि पानी पूरा भर जाएगा तो नाव डूब जाएगी, विवेकी व्यक्ति ने उस पानी आने वाले छेदों को बंद कर दिया, छेदों को बंद करने से पानी बंद हो गया, यह हो गया संवर तत्त्व। किन्तु जो नाव में पानी भरा था उसे बाहर निकालकर फेंकना माना कि निर्जरा तत्त्व। और नाव पूरी तरह से पानी से खाली से गई और नाविक नाव को पतवार से खेते हुए किनारे तक ले गया, नाव से जो प्रयोजन सिद्ध करना था वह प्रयोजन सिद्ध कर लिया यानि मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

महानुभाव! यह शरीर नौका की तरह से है। इस शरीर रूपी नौका को प्राप्त करके यह आत्मा संसार के इस किनारे से उस किनारे तक पहुँच जाती है, फिर शरीर छूट जाता है पुनः कभी प्राप्त नहीं होता और जब तक इस किनारे पर है तब तक शरीर मिलता है। नाव कभी छोटी मिलती है तो कभी बड़ी, कभी जर्जर मिलती है कभी अच्छी किन्तु इसे प्राप्त करके इस शरीर से आने वाले आस्रव को रोकें। काययोग से, वचनयोग से व मनोयोग से होने वाले आस्रव को रोकें, जिससे संवर तत्त्व की प्राप्ति की जाती है। **'चेतना लक्षणो जीवाः, तद् विपरीत-अजीवः'**-चेतना लक्षण है जिसका वह जीव है इसके विपरीत जिसमें चेतना नहीं पाई जाती वह अजीव है। जब जीव और अजीव दोनों मिले तब आस्रव होना प्रारंभ हो गया। जीव की संगति से अजीव में राग-द्वेष की प्रवृत्ति हुई, अजीव से जीव मोहित हो गया। जीव अजीव में रंजायमान हो गया, वह पुद्गलादि शुभ-अशुभ को प्राप्त करके राग-द्वेष करता है, जब उसे वह अति भाता है तो उसमें लीन हो जाता है। वह उसमें अपने आप को समाविष्ट कर देता है तब उस जीव को तीनों योगों से कर्मों का आस्रव होना प्रारंभ हो जाता है। शुभभाव होते हैं तो शुभआस्रव, अशुभ भावों से अशुभ आस्रव होता है। जब आस्रव होता है तो बंध भी होता है, आस्रव के साथ बंध है। अजीव-आस्रव-बंध एक साथ हो गए। उधर संवर-निर्जरा और मोक्ष। जब वह आस्रव से बचना चाहता है तब संवर का सहारा लेता है और जब पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट करना चाहता है तो निर्जरा का सहारा लेता और निर्जरा का सहारा लेता हुआ वह मोक्ष तक पहुँच जाता है।

इस प्रकार यह द्रव्यानुयोग 'पुण्या-पुण्ये' पुण्य के संबंध में और अपुण्य के संबंध में व्याख्यान करता है या बंध-मोक्ष के संबंध में व्याख्यान करता है, यह कर्म सिद्धान्त का भी व्याख्यान करता है, षट्दर्शन का भी व्याख्यान करता है, यह आत्मा के रूप का व्याख्यान करता है, व्यवहार से आत्मा कैसी है, निश्चय से आत्मा कैसी है, व्यवहार से वक्तव्य है निश्चय से अवक्तव्य है। यह द्रव्यानुयोग का स्व-पर प्रकाशी दीपक श्रुत विद्या को विस्तार देता है। यह द्रव्यानुयोग का दीपक लोक में भावश्रुत ज्ञान का विस्तार देता है, यह आत्मा के स्वरूप को जानने वाला है इसलिए आप सभी सात तत्त्वों का, नवपदार्थों का स्वरूप यथारूप जानें, द्रव्यानुयोग के माध्यम से अपनी आत्मा को जानें व उसे परम शुद्ध करने का प्रयास करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

3

अणुव्रताधिकार

चारित्र धारण करने की आवश्यकता क्यों?

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥47॥

अन्वयार्थ–मोहतिमिरापहरणे – दर्शन मोह रूपी अंधकार के नाश होने पर **दर्शनलाभात्** – सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से **अवाप्तसंज्ञानः** – जिसको सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा **साधुः** – भव्य जीव **राग-द्वेषनिवृत्त्यै** – राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए **चरणं** – सम्यक्चारित्र को **प्रतिपद्यते** – धारण करता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में 41 गाथाओं द्वारा सम्यक्त्व का अधिकार पूर्ण किया पुनः सम्यग्ज्ञान अधिकार का पूर्व में उपसंहार किया अब यहाँ सम्यक्चारित्र अधिकार प्रारंभ करते हैं।

आचार्य महोदय बता रहे हैं कि जीवन में सम्यक्चारित्र की आवश्यकता क्यों है? देखना-जानना मात्र पर्याप्त नहीं है। किसी को मंजिल तक पहुँचना है तो मार्ग के बारे में विश्वास हो कि ये रास्ता ठीक है और मार्ग की पूर्ण जानकारी हो; किंतु विश्वास से व जानकारी से मंजिल की प्राप्ति नहीं होगी मंजिल को प्राप्त करने के लिए क्रिया करनी पड़ती है। आचरण-चर्या व चारित्र का परिपालन आवश्यक है। माता-पिता बचपन से ही मोक्षमार्ग का उपदेश सहज में ही देते हैं। आप लोग समझ पाएं या न समझ पाएं। वे जब छोटे बच्चों से कहते हैं बेटा! 'देख भालकर चलो' तो देख शब्द का अर्थ सम्यक्त्व की ओर इशारा कर रहे हैं, भाल शब्द के माध्यम से सम्यग्ज्ञान की ओर इशारा कर रहे हैं और चलो शब्द से सम्यक्चारित्र को इंगित कर रहे हैं। तीनों क्रिया ही पूर्ण होती हैं। जैसे कोई कहे भैया! 'सोच-समझकर बोलो'। 'सोचना'-दर्शन का प्रतीक, समझना ज्ञान का प्रतीक और बोलना-चारित्र का प्रतीक।

यहाँ पर भी आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जिसके जीवन में सम्यक्त्व हो गया तो उसका अविनाभावी सम्यग्ज्ञान भी हो गया। वह चार प्रकार के ज्ञान के माध्यम से सम्यग्ज्ञान की

वृद्धि भी कर रहा है, सम्यक्त्व को दृढ़ बना रहा है, चारित्र की वृद्धि कर रहा है; तो ज्ञान के साथ वैराग्य की भी वृद्धि होती है; क्योंकि जब व्यक्ति को मालूम हो जाए कि ये वस्तु मेरे लिए अहितकर है तो वह अहितकर से बचना चाहता है और हितकर को प्राप्त करना चाहता है। आचार्य महोदय बता रहे हैं कि जिन साधु पुरुषों ने, तीर्थंकर गणधरादि देवों ने चारित्र का प्रतिपादन किया है उनका क्या प्रयोजन है?

इस 47वीं कारिका में चारित्र का प्रारंभ करते हुए कह रहे हैं **'मोहतिमिरापहरणे'** इस प्राणी के जीवन में तीन प्रकार के तिमिर होते हैं। ये तीनों ही तिमिर मोह से संबंधित होते हैं। मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है तो तीनों तिमिर भी नष्ट हो जाते हैं। वे तिमिर हैं– मिथ्यात्व का अंधकार, अज्ञान का अंधकार और असंयम या मिथ्याचारित्र का अंधकार। यदि व्यक्ति के जीवन में एक भी अंधकार हो तो व्यक्ति सुमार्ग में अच्छी तरह से गमन नहीं कर पाता, उसमें भी संभावना है कि ठोकर खाकर गिर पड़े। हो सकता है सुमार्ग में अंधकार हो, व्यक्ति को लगे कि मैं दीवार से न टकरा जाऊँ, कहीं सामने गहरा गड्ढा तो नहीं है, जहाँ पैर रख रहा है वहाँ कंकड़, कील, कांच, सर्प, बिच्छू आदि तो नहीं है। तो अंधकार में व्यक्ति की प्रवृत्ति समीचीन नहीं हो सकती। इसलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं सबसे पहले मिथ्यात्व के अंधकार का परित्याग किया जाता है।

मिथ्यात्व के अंधकार को दूर करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, कषायों को मंद करना होता है और अपनी अनादिकालीन मिथ्या धाराणाओं को बदलना होता है और फिर जहाँ सम्यक्त्व का बीज अंकुरित होता है ऐसे माहौल में पहुँचना होता है अर्थात् देव–शास्त्र–गुरु की सन्निधि में। परमार्थभूत देव, परमार्थभूत शास्त्र और परमार्थभूत गुरु की सन्निधि में पहुँचकर इस आत्मा में सम्यक्त्व का बीज अंकुरित होने लगता है, सम्यक्त्व उत्पन्न होने लगता है। अनादि मिथ्यादृष्टि के जीवन में मिथ्यात्व एक ही प्रकृति होती है किन्तु सादि मिथ्यादृष्टि के जीवन में मिथ्यात्व के तीन टुकड़े होते हैं। जैसे कोई दाल को दले तो एक टुकड़ा साबुत निकल आए, दूसरा जिसका आधा फलक निकल गया, तीसरा जिसका छिलका सा अलग हो गया तो तीन प्रकार के टुकड़े होते हैं–जो साबुत ज्यों की त्यों है वह तो मिथ्यात्व की तरह से है, जिसके दो टुकड़े हुए वह सम्यक्मिथ्यात्व की तरह से है और जिसका छिलका सा निकल गया है वह सम्यक् प्रकृति की तरह से है।

इसके साथ में रहने वाली चार कषाय हैं क्रोध–मान–माया–लोभ। यद्यपि चारों कषाएँ चारित्र मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं, दर्शन मोहनीय की प्रकृति तो एक थी मिथ्यात्व, उसके दो टुकड़े हो गए सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। इस प्रकार मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व व सम्यक्

प्रकृति इन तीन की संगति में रहने वाली चार कषाय अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ, उनका स्वभाव भी ऐसा हो जाता है। अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभ का कुल तो चारित्रमोहनीय ही है किन्तु उस कुल में पैदा होकर के भी मिथ्यात्व के साथ रहती हैं। यानि कि दत्तक बनकर के रहती हैं इसलिए चारित्र मोहनीय का जो मूल स्वभाव है वह कहीं जाता नहीं किन्तु इस कुल में आते ही इस कुल में संस्कार आ जाते हैं। अनंतानुबंधी भी फिर सम्यक्त्व का घात करने लगती है। अनंतानुबंधी चारित्र का तो घात करती ही है उस कुल के संस्कार थे, अब इस कुल में आ गई (दत्तक बनकर) तो इसने यहाँ का काम करना शुरु कर दिया।

जैसे किसी कुल का बेटा था, उसमें उसके जन्मदाता माता-पिता के संस्कार विद्यमान हैं किन्तु वह जिस कुल में पल रहा है-बढ़ रहा है, जिन्होंने विधिपूर्वक उसे गोद लिया है तो अपने नाम के साथ उन माता-पिता का नाम लिखता है जिनके यहाँ वह पल रहा है, जन्मदाता का नाम नहीं लिखता। गर्भ के संस्कार जन्मदाता के आ रहे हैं, जन्म के बाद के संस्कार दूसरे कुल के आ रहे हैं। उभय संस्कार उस पुत्र में आ जाते हैं, ऐसे ही अनंतानुबंधी में उभय संस्कार हैं, उसमें चारित्र मोहनीय के संस्कार भी हैं अर्थात् वह चारित्र का भी घात करती है और दर्शन मोहनीय के संस्कार भी हैं, वह सम्यक्त्व का घात भी करती है।

महानुभाव! यहाँ कहा 'मोहतिमिरापहरणे' जब ये आत्मा मोह रूपी तिमिर का हरण करता है, तो मोह तिमिर का अपहरण होने पर सम्यक्त्व का लाभ होता है। जब तक मोह स्वतन्त्र विचरण करता है उसके साथ-साथ 7 प्रकृतियाँ विचरण करती हैं तब तक सम्यक्त्व पैदा नहीं हो सकता, इनका अपहरण करने पर ही सम्यक्त्व पैदा हो सकता है। जब सम्यक्त्व पैदा होता है तब विशेषता ये है-**'दर्शनलाभादवाप्त-संज्ञानः'** उसके साथ ही सम्यग्ज्ञान अपने आप प्रकट हो जाता है, उसको पैदा करना नहीं पड़ता। दीपक जलता है तो प्रकाश अपने आप होता है। आपने ट्रेन से यात्रा की होगी और स्टेशन पर देखा होगा कि स्टेशन मास्टर दिन में लाल और हरी झंडी दिखाता है, और रात में लाल-हरी लाइट दिखाता है। जहाँ चौकी बनी रहती है, स्टेशन नहीं है तो वहाँ पर भी जो गार्ड रहता है वह लाल-हरी टॉर्च दिखाता है। पहले टॉर्च नहीं थी तो वहाँ पर दीपक जलता रहता था, गाड़ी आने को हुई और लाइन अगर clear है तो गार्ड दीपक की ज्योति के सामने हरा काँच लगा देता और अगर लाइन खराब है या गाड़ी आ रही है तो वहाँ दीपक पर लाल काँच लगा रहने देता। अगर लाल काँच को हटाकर हरा काँच लगाया है तो प्रकाश अपने आप हरा हो गया, दीपक को बदला नहीं, ज्योति ज्यों की त्यों है, ऐसे ही जो मिथ्यादृष्टि प्राणी था, जब उसका मिथ्यात्व का उदय चल रहा था तब उसके पास जो ज्ञान था वह मिथ्याज्ञान था किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त होते ही यूँ समझिए अब हरा काँच लग गया, वही ज्ञान ज्यों की त्यों सम्यक् रूप को प्राप्त हो गया। तो यहाँ यही कह रहे

हैं कि सम्यग्दर्शन का लाभ होने से सम्यग्ज्ञान अपने आप अंदर से प्रकट हुआ। कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ा, ज्ञान में सम्यक्त्वपना आता है सम्यक्त्व के माध्यम से और ज्ञान मे सत्यपना आता है वस्तु तत्त्व के यथार्थ निर्णय से।

तो आचार्य महोदय कह रहे हैं जिसने मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति व अंनतानुबंधी 4 कषाय इन सात प्रकृतियों का क्षय, उपशम कर दिया अथवा 6 प्रकृतियों का उपशम कर दिया है और सम्यक् प्रकृति का उदय चल रहा है तो ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अब चारित्र प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है। तो कैसे बढ़ता है–**'रागद्वेष-निवृत्त्यै'** राग-द्वेष की निवृत्ति करने के लिए चारित्र को स्वीकार करता है। कोई लोग कहते हैं मन में तो राग-द्वेष भरा पड़ा है और तुम व्रती बनना चाहते हो, महाव्रती बनना चाहते हो, पहले राग-द्वेष को तो छोड़ो। उन्हें समझाओ भैया! जब राग-द्वेष छूट जाएगा तो चारित्र की आवश्यकता क्या है, रागद्वेष छूट गया फिर तो वीतरागी भगवान् ही बन गए। रागद्वेष को नष्ट करने के लिए ही व्रती-महाव्रती बना जाता है। राग-द्वेष छूट जाता है तो केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है व वीतराग दशा प्राप्त हो जाती है किन्तु वीतराग दशा वैराग्य के बाद प्रकट होती है, पहले वैराग्य होता है फिर संयम की प्राप्ति होती है, फिर तप की अभिवृद्धि होती है, फिर ध्यान साधना चलती जाती है और क्रमशः उपशम श्रेणी वाले मुनिराज मोहनीय कर्म का उपशम करते हैं व क्षपक श्रेणी वाले मुनिराज क्षय करते हैं। जब उसका क्षय हो जाता है तब वीतराग दशा प्रकट हो जाती है। किसी भी संसारी प्राणी से राग होना दुःख का कारण बनता है, वीतरागी से राग होना दुःख का कारण नहीं बनेगा। क्यों? क्योंकि राग की पुष्टि नहीं होगी। संसारी प्राणी से आप राग करोगे, वह आपसे राग करेगा तो वह राग टूटेगा ही नहीं, द्वेष भी यदि किसी से करोगे तो वह तुमसे द्वेष करेगा, द्वेष का टूटना भी मुश्किल है और वीतरागी से राग कर लिया, वे तो आपसे राग करेंगे नहीं, एक तरफ राग होगा तो छूट जाएगा, सोचोगे ये वीतरागी हो गए तो हम भी वीतरागी हो जाएँगे। तो वीतरागी से किया गया राग वीतरागता देने वाला होता है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं यह राग-द्वेष आत्मा को कष्ट देने वाला है, आत्मा को बंधन में डालकर, घसीटकर नीचे ले जाता है किन्तु राग-द्वेष के सिपाहियों से बचने के लिए, मोहनीय कर्म जो सांकलों में बांधकर ले जाए उससे बचने के लिए चारित्र को-व्रतों को-महाव्रतों को स्वीकार करना होता है। इन्हें स्वीकार करने से शक्ति आती है, वह व्रती झटके से सांकलों के बंधन तोड़ देता है, मोहनीय कर्म भी एकक्षण के लिए सोच में पड़ जाता है कहीं ये मुझ पर हावी न हो जाए और जब मोह रूपी राजा ही कांप गया तो आजू-बाजू में जो रागद्वेष रूपी सिपाही कोड़े मार रहे थे वे भी सतर्क हो जाते हैं। शक्ति आते ही वह आत्मा दोनों हाथों को फैलाकर उन राग- द्वेष को परास्त कर देती है और सामने से

पैर का वार करती है तो मोहनीय कर्म धराशाही हो जाता है। उसके सीने पर खड़ी हो जाती है, बिना अस्त्र-शस्त्र के ही वह तीनों को समाप्त कर देती है अर्थात् राग-द्वेष-मोह तीनों मृत्यु को प्राप्त हुए तो वीतराग दशा प्राप्त हुई।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने इस कारिका में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति का क्रम तथा चारित्र धारण करने का प्रयोजन बहुत उत्तम रीति से प्रकट किया है। जिस प्रकार मेघों के हट जाने पर धूप और प्रकाश दोनों एक साथ प्रगट होते हैं, उसी प्रकार दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षयोपशम वा क्षय होने पर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रगट होते हैं, और जिस भव्यात्मा के हृदय में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हो जाते हैं वह साधु स्वकीय राग-द्वेष रूप विभावों को दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र को स्वीकार करते हैं। राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए साधुपुरुषों ने चारित्र का प्रतिपादन किया है, वह चारित्र आपके जीवन में भी आए इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

राग-द्वेष निवृत्ति से चारित्रोत्पत्ति

रागद्वेष-निवृत्तेर्हिंसादि-निवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्॥48॥

अन्वयार्थ–रागद्वेष-निवृत्तेः – रागद्वेष की निवृत्ति से **हिंसादि-निवर्तना** – हिंसादि पाँच पापों का त्याग रूप चारित्र **कृता भवति** – होता है, जैसे **अनपेक्षितार्थवृत्तिः** – आजीविका की इच्छा न रखने वाला **कः पुरुषः** – कौन पुरुष **नृपतीन्** – राजाओं की **सेवते** – सेवा करता है अर्थात् कोई नहीं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार की वाचना में यहाँ तृतीय अधिकार को देख रहे हैं। प्रथम अधिकार सम्यक्त्व की प्रधानता से है, द्वितीय अधिकार सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से है और तृतीय अधिकार में श्रावकों के पाँच अणुव्रत और उनके अतिचार, पाप में तथा अणुव्रत में प्रसिद्ध पुरुषों के नामों का उल्लेख करते हुए इस अधिकार को निबद्ध किया है। आचार्य महोदय यहाँ पर गृहस्थों के आचरण का विवेचन कर रहे हैं। साधुओं के आचरण का विवेचन करने वाले ग्रंथ अलग हैं, गृहस्थों के आचरण का विवेचन करने वाले ग्रंथ अलग हैं और उनमें वर्णित विषय गृहस्थों की क्षमता के अनुसार हैं। गृहस्थ जीवन में रहकर के वह किस प्रकार अपना हित कर सकता है, गृहस्थ जीवन में रहकर वह किस प्रकार अपने कर्तव्यों का पालन करे, उसके धर्म के प्रति, माता-पिता के प्रति, पत्नी और बच्चों के प्रति, भाई- बहिनों के प्रति, अपने ग्रामीण नागरिकों के प्रति या शीर्षस्थ देश के राजा के प्रति क्या कर्त्तव्य हो सकते हैं? वर्तमानकाल में मोनार्की नहीं है डेमोक्रेसी है। बादशाहियत तो पहले चलती थी अब तो प्रजातन्त्र है फिर भी प्रजातन्त्र के अन्तर्गत भी प्रजा का अपने राजा के प्रति क्या कर्त्तव्य है और राजा का अपनी प्रजा के प्रति क्या कर्त्तव्य है इन सभी कर्त्तव्यों की एक आचार संहिता है।

जन्म लेकर के श्वासों को पूरा कर लेना और मृत्यु को प्राप्त कर लेना यह तो संसार का प्रत्येक प्राणी करता ही है। जन्म लेकर के भोजन करना, वंशवृद्धि के लिए विषयों का सेवन करना, सुख की आकांक्षा से धन-परिग्रह का संचय करना और मेरी आत्मा नष्ट न हो जाए इसलिए भयंकर वस्तु-घटना या व्यक्ति को देखकर भयभीत होना ये चार चीजें प्रायःकर के संसार के सभी जीवों में पाई जाती हैं। जो जन्मा है वह भोजन करता है, कोई घासफूस खाकर के पेट भरता है तो कोई मिट्टी खाकर के भरता है, कोई अन्न या मेवामिष्ठान्न खाकर के तो

कोई माँस-मदिरादि से पेट भरता है। पेट भर लेना इस मनुष्य भव की सफलता-सार्थकता का कारण नहीं है। मनुष्य मनु की संतान माना जाता है, इस जगत् में उत्कृष्ट बुद्धि का धारक, श्रेष्ठ योनि में जन्म लेने वाला यह मनुष्य जो नर भव प्राप्त करके सामान्य पशुओं जैसा काम करे तो उसकी सार्थकता नहीं है। सो जाना, क्रोध करना, अहंकार करना, छल-कपट करना, लोभ करना यह तो संसारी प्राणियों के अनादिकालीन दुर्भाव हैं, दुष्कर्म हैं, पाप का फल है। हिंसादि पापों को करना इस संसारी प्राणी की अनादिकालीन संस्कार वशात् चली आ रही संतति है, यदि यही चलता रहा तो चार गति और 84 लाख योनि में भ्रमण करने वाली आत्मा कभी मुक्त न हो सकेगी।

आज व्यक्ति कहता है कुछ हटकर करना है। हटकर के करना यानि जो कार्य अभी तक अनादिकाल से करता चला आया उस कार्य से हटकर करना है। तो जिन कर्मों के करने से आत्मा कर्मों से बंध जाती है उन कर्मों को नहीं करना, जिन कर्मों को करके आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है ऐसे कार्य करना। आप कहोगे ऐसे कार्य तो गृहत्यागी, पुण्यात्मा, संन्यासी, संत-महात्मा कर पाता है? ठीक कहा-किन्तु जितनी शक्ति है उतना तो गृहस्थ भी पाप से बच सकता है। जिस पाप को किए बिना उसका जीवन चल जाए तो ऐसा पाप वह क्यों करे। इसलिए आचरण की बात कही।

विश्व के सभी दर्शन, सभी धर्म, सभी पंथ, आम्नाय और सम्प्रदाय आचरण की बात जरूर करते हैं। चाहे किसी का चिंतन-विचार-दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् भी होगा तब भी परमात्मा है, सभी जीवों से प्रेम करो ऐसी सामान्य बात सभी प्राणियों को ग्राह्य है। कोई कहता है त्याग ही जीवन है, त्याग से ही परमात्मा का फल संभव है अतः त्याग करो। कोई कहता है संयम ही जीवन का सार है, संयम के वृक्ष पर ही मोक्ष के फल आते हैं, संयम के बिना असंयमी जीवन तो संसार का कारण है। तो कोई कहता है उत्तम क्षमादि आत्मा के स्वभाव हैं, इनकी ओर अग्रसर होने से सम्पूर्ण स्वभावों की प्राप्ति होती है, क्रोधादि करने से नहीं। तो कोई कहता है परस्पर में सबका हित करो-उपकार करो-सहयोग करो इसके माध्यम से अपने मन के परिणाम अच्छे होते हैं, क्रूर परिणाम शांत होते हैं। बुरा करने से सबसे पहले परिणाम खराब होते हैं।

यहाँ पर चारित्र अधिकार में आचार्य महोदय ने पहली बात कही कि मोहरूपी तिमिर का अपहरण होने पर जिसकी चेतना में सम्यक्त्व का दिव्य प्रकाश प्रकट हुआ है ऐसा वह भव्य जीव अपनी आत्मा का हित करने के लिए कुमार्ग को छोड़कर सुमार्ग का अनुकरण करे।

सुमार्ग पर चलता रहेगा चाहे मंदगति से भी चल रहा है किंतु मार्ग यदि सम्यक् है तो आज नहीं तो कल मंजिल तक पहुँच जाएगा और कुमार्ग पर चलेगा चाहे गति कितनी भी अच्छी हो किंतु कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को सुमार्ग की मंजिल नहीं मिलती। गृहस्थ जीवन में सुमार्ग को स्वीकार किया जा सकता है। गृहस्थ जीवन में सुमार्ग में गति मंद होती है, कोई बात नहीं, साधु जीवन में गति तीव्र हो जाती है। साधु-संत संयम का पालन करें, त्याग-तपस्या करें, आत्मा का ध्यान-परमात्मा की भक्ति आदि कुछ भी करें, वह संसार के झंझटों से मुक्त होकर आत्महित के मार्ग पर तीव्र गति से चल सकते हैं। गृहस्थ जीवन में तीव्र गति से नहीं चल सकता किन्तु अपना ध्येय बना सकता है कि मुझे ये पाप नहीं करना, मेरी आत्मा कह रही है कि यह काम गलत है तो यह काम नहीं करना। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर शक्ति रूप एक परमात्मा बैठा है, एक न्यायाधीश बैठा हुआ है जो हमारी हर क्रिया पर, हर प्रवृत्ति पर, हर विचार पर हमें टोकता है कि यह उचित नहीं है और यह उचित है, उसकी बात हम सुनें या न सुनें। जो सुनता है वह सद्गृहस्थ बनता है, वह श्रावक हो सकता है, सागार धर्म का पालन करने वाला हो सकता है, देशव्रती हो सकता है, वह परम्परा से आत्मा का हित करने में समर्थ हो जाता है।

''रागद्वेषनिवृत्तेः'' 47वीं कारिका में कहा कि राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए साधु पुरुष आचरण का, चारित्र का, सदाचार का व्याख्यान करते हैं। क्योंकि सदाचार का पालन किए बिना व्यक्ति राग- द्वेष से निवृत्त नहीं हो सकता। सम्यक् आचरण किए बिना कुराग और अनंतसंसार का कारण कुद्वेष से मुक्त नहीं हो पाता, इसीलिए उसे अपने परिणामों में समत्व जाग्रत करना होता है, कषायों का शमन करना होता है। जब परिणाम अति सरल-प्रांजुल हो जाते हैं तब व्यक्ति का धर्मध्यान सहज में बन जाता है और जो व्यक्ति जितना ज्यादा संसार की उलझनों में फँसा रहता है उसका चित्त उतना व्याकुल रहा है, चंचल रहता है, धर्म के क्षेत्र में पहुँच भी जाए तो भी चित्त में व्याकुलता बनी रहती है और जो व्यक्ति अपने चित्त की वृत्तियों को शांत करने में समर्थ होता है वह व्यक्ति अपनी आत्मा का अनुभव करने में भी समर्थ होता है। यहाँ कहा जिसकी राग-द्वेष से निवृत्ति हो गई है वह पुरुष **'हिंसादि-निवर्तनाकृता भवति'** हिंसादि कार्यों में प्रवृत्ति कैसे कर सकता है, उसकी तो हिंसादि कार्यों से निवृत्ति सहज हो जाएगी। क्योंकि व्यक्ति यदि हिंसा कर रहा है तो कोई न कोई लोभ है। कोई किसी को सता रहा है, मजदूर से ज्यादा काम लिया क्योंकि उसको लोभ है कि 10 चक्कर न लगाकर के 5 चक्कर में ही पूरा सामान पहुँच जाए मुझे कम पेमेन्ट करना पड़े। या किसी पशु पर बोझा ढो रहा है तो

मन में लोभ है ज्यादा ले जाऊँ तो दूसरा चक्कर न लगाना पड़े या किसी की हिंसा कर रहा है धनहरण करने के लिए या यह मेरे सुख में बाधक है इसका नाम मुझसे ज्यादा हो गया, इसका सम्मान ज्यादा है, इसको रास्ते से अलग कर दो।

मन में जब तक विकारी भाव नहीं है, मन में जब तक कोई इच्छा नहीं है तब तक व्यक्ति हिंसा नहीं कर सकता। मन में कुत्सित परिणाम नहीं है तो व्यक्ति झूठ नहीं बोल सकता। झूठ अकारण नहीं बोला जाता, अकारण मुख से सत्य निकलता है। किसी ने पूछा सूर्य का उदय कहाँ से होता है? आपने कहा पूर्व दिशा से होता है। कोई कारण नहीं है फिर आपने क्यों बताया कि पूर्व से होता है, वह सहज है। यदि आपने कहा पश्चिम से होता है तब कोई न कोई पीछे स्वार्थ छिपा होगा। शर्त लगाई होगी मैं जीत जाऊँगा या मेरा मित्र जीत जाएगा। अथवा कोई भी जब Negative बोलता है, असत्य बोलता है तब पीछे कोई न कोई कारण निमय से होता है या कभी प्रमाद से, अज्ञानता से शब्द असत्य निकल गया वह अलग बात है किन्तु बुद्धिपूर्वक बोल रहा है तो मन में निश्चय ही कहीं न कहीं राग-द्वेष है। उसके मन में कहीं न कहीं कोई लोभ है। यदि कोई चोरी कर रहा है तो बिना इच्छा के नहीं कर सकता, यदि कोई कुशील सेवन कर रहा है तो बिना वासना के कुशील सेवन नहीं कर सकता, यदि कोई व्यक्ति परिग्रह का संचय भी कर रहा है तो परिग्रह का संचय तभी करता है जब उसके मन में तीव्र लोभ होता है, इच्छा होती है, उसके मन में अरमानों व अभिलाषाओं की शृंखला चल रही है, तब वह पापमय प्रवृत्ति करता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर हिंसादि की निवृत्ति अवश्य होती ही होती है। उदाहरण स्वरूप समझें-रामचन्द्र जी पिता की आज्ञा का पालन करते हेतु वनवास की ओर गए, भरत को राज्य मिला। यदि वे नहीं जाते तो? वे नहीं जाते तो यह माना जाता कि इनके मन में कोई स्वार्थ भावना है। गए तो यह सिद्ध कर दिया कि उनका राज्य के प्रति कोई मोह नहीं था और भरत जी मनाने के लिए गए तो भरत जी ने सिद्ध कर दिया कि भरत जी के मन में भी राज्य के प्रति कोई मोह नहीं था, मोह होता तो भरत जी कहते, चलो अच्छा हुआ, भैया स्वयं चले गए, पिता जी ने मेरे रास्ते का काँटा हटा दिया। इधर मन में स्वार्थ होता तो राम जी पिता से कहते कि आपने तो मेरे राजतिलक की घोषण कर दी अब भरत को राज्य कैसे? मैं उससे युद्ध करूँगा, राज्य मेरा है। किन्तु वहाँ तो यह प्रवृत्ति है कि राम जी कहते हैं भैया भरत राज्य तुम्हारा है पिताजी ने आपके लिए कहा है और भरत जी कहते हैं, नहीं भाई राज्य तो आपका है पिताजी ने पहले आपके नाम की

घोषणा की है, राज्य आपका ही है। ये पहले समय की बात थी और आज तो दो भाई एक ही घर में रहते हैं, पिताजी ने अभी खेत का बंटवारा नहीं किया तो भी छोटा भाई कहता है कि पिताजी खेत मेरे नाम कह गए थे मौखिक रूप से, वह तो मेरा है। बड़ा भाई कहता है तेरा कैसे हो गया मेरा है। वहाँ कहते हैं मेरा है-मेरा है और वह भी जमाना था जहाँ राम कहते हैं, तेरा है-तेरा है, भरत कहते हैं आपका है।

महानुभाव! जब तक हमारे चित्त में दूषित वृत्तियाँ रहती हैं, लोभ की अग्नि जलती है, छल कपट रहता है, अहंकार रहता है, वासनाएँ रहती हैं, क्रोध की ज्वालाएँ धधकती रहती हैं तब तक व्यक्ति अपना हिस्सा छोड़ना तो दूर की बात रही दूसरे के हिस्से को भी ग्रहण करना चाहता है। हिंसा करके मिले, झूठ बोलकर मिले, चोरी करके मिले, कैसे भी कानूनी या गैरकानूनी ढंग से मिले उससे कोई सरोकार नहीं, चाहिए तो चाहिए। जब व्यक्ति पाप से दूर हो जाता है तो वह कहता है मुझे क्या चाहिए, तेरा सो भी तेरा, मेरा भी तेरा ये संसार के पदार्थ तो अनादि से हैं और रहेंगे, यहीं के यहीं पड़े रहेंगे। ये आत्मा आज इस शरीर में कल दूसरे शरीर में जाएगी, क्यों राग-द्वेष करना, जीवन में यहाँ सब संयोगवशात् मिले हैं तो क्यों न प्रेम-वात्सल्य से रह लें, बाद में तो सबको ही यहाँ से छोड़कर चले जाना है, कौन साथ मे लेकर गया।

आचार्य महोदय कह रहे हैं जो रागी-द्वेषी व्यक्ति है वही हिंसादि पाप कार्य करता है, जिसके मन में राग-द्वेष नहीं होते वह हिंसादि पाप कार्य नहीं करता, इसलिए हिंसादि पाप कार्यों को छोड़कर के रागद्वेष को कृश करना चाहिए, रागद्वेष को नष्ट करना चाहिए तभी आत्मा का कल्याण संभव है। यहाँ इस श्लोक में आचार्य महोदय का यही भाव है कि जब जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है तब राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र की आवश्यकता होती है। आचार्य महोदय ने समाधान किया उन व्यक्तियों की जिज्ञासाओं का जो कहते हैं अरे! राग-द्वेष तो तुमने छोड़ा नहीं साधु बनने जा रहे हो। राग-द्वेष को छोड़ने के लिए ही आचरण को स्वीकार किया जाता है। राग- द्वेष को छोड़ना, हिंसादि पाँच पापों को छोड़ना चारित्र है।

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्ति रूवं, ववहारणया दु जिण भणियं॥ -(द्र.सं.-गा. 45)

अशुभ से निवृत्ति शुभ में प्रवृत्ति ही तो व्यवहार चारित्र है। जिस व्यक्ति की राग-द्वेष से निवृत्ति हो जाती है ऐसा व्यक्ति हिंसादि पाप नहीं कर सकता। यहाँ उन्होंने उदाहरण बताया 'कः पुरुषः सेवते नृपतीन्' जिस व्यक्ति के जीवन में कोई अपेक्षा नहीं है, कोई अभिलाषा

नहीं है वह किसी राजा की या अन्य व्यक्ति की सेवा क्यों करेगा। राजा की चापलूसी, सेवा, आराधना, पूजा वही करता है जिसे राजा से कुछ चाहिए। चाहिए तो उसके सामने झुककर के रहेगा और नहीं चाहिए तो अपने काम से काम रखेगा। इस प्रकार संक्षेप में यहाँ पाँच पापों के त्याग रूप चारित्र का संपादन किया। आप सभी उस चारित्र को स्वीकार करें तभी इस आत्मा का कल्याण संभव है अन्यथा अनादि से संसार में पंचपरावर्तन करने की इस शृंखला का अन्त नहीं। आप सभी का कल्याण हो, शुभ हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

चारित्र लक्षण

हिंसानृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥49॥

अन्वयार्थ– संज्ञस्य – सम्यग्ज्ञानियों का **हिंसानृतचौर्येभ्यो** – हिंसा, झूठ, चोरी **च** – और **मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां** – मैथुनसेवा एवं परिग्रह रूप **पापप्रणालिकाभ्यो** – पापास्रवों के द्वारों से **विरतिः** – विरक्ति होना ही **चारित्रं** – चारित्र है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के इस चारित्र अधिकार में 49वीं गाथा में चारित्र की परिभाषा बता रहे हैं। यहाँ पाँच शब्द दिए, इन पाँच शब्दों के भाव को समझें और उनके अर्थ को समझकर उस क्रिया को छोड़ना है, तभी चारित्र की प्राप्ति होगी। केवल शब्द के छोड़ने मात्र से काम नहीं चलेगा, शब्द के कहने मात्र से काम नहीं चलेगा। प्यासे व्यक्ति को पानी न देकर उससे कहें पानी पीओ, मुँह खोलो, पानी पीओ, और पीओगे, पीओ-पीओ यही कहते रहे तो क्या कहने मात्र से उसकी प्यास बुझ जाएगी? शब्दों से प्यास नहीं मिटती। भूख लगी हो, चलो भोजन ग्रहण करो, इतना कहने से क्या भूख शांत हो जाएगी? शरीर में रोग हो गया हो, औषधि सेवन तो करे नहीं, इतना मात्र कहने से कि औषधि सेवन कर लो, क्या रोग दूर हो जाएगा? नहीं होगा। ऐसे ही पापों को छोड़े बिना व्यक्ति केवल यह सोचे कि मैं हिंसादि पापों को छोड़ता हूँ, तो क्या इतने से वह हिंसादि पापों से मुक्त हो जाएगा? नहीं होगा। यदि ऐसे कहने से ही हो जाए तो व्यक्ति एक बार कह दे मुझे सिद्ध बना दो, तो सिद्ध बन जाएगा क्या? वह जाप भी लगाए सिद्धोऽहं, शुद्धोऽहं, सोऽहं-सोऽहं तो क्या जाप लगाने मात्र से वह वैसी अवस्था को प्राप्त कर पाएगा? नहीं कर पाएगा। उसे जाप इसलिए लगाना कि कहीं वह अपने उद्देश्य को भूल नहीं जाए, वे शब्द आचरण में आना चाहिए।

हर सहारा बे अमल के वास्ते बेकार है,
गर आँख ही खोली नहीं तो कोई उजाला क्या करे?

महानुभाव! जितने भी सहारे होते हैं वे आपके मार्ग को सुगम करने वाले होते हैं। व्यक्ति सीढ़ियों पर चढ़ रहा है, साइड में रेलिंग लगी है वह उसे पकड़ता है, चढ़ता है। वह रेलिंग अथवा रस्सी सहारा है चढ़ने के लिए, यदि उसे पकड़कर नीचे खड़े हो जाओगे तो ऊपर नहीं पहुँच पाओगे। वह सहारा है, उसे पकड़कर मत बैठ जाना। उसका सहारा लेते जाओ, आगे

बढ़ते जाओ तो आगे बढ़ जाओगे, पकड़कर बैठ जाओगे तो नहीं बढ़ पाओगे। भूखे व्यक्ति को भोजन पकड़कर नहीं बैठना है उदरस्थ करना है, प्यासे व्यक्ति को पानी दिखाना नहीं, पानी कंठ में पहुँचेगा तभी तृप्ति होगी। रोगी व्यक्ति को अच्छी-अच्छी औषधि की List बनाकर के दिखा दो कि देखो इस रोग में इतनी सारी औषधि काम करती हैं, तो औषधि के नाम देख-पढ़कर के रोग शमन नहीं हो पाएगा, इसी तरह से धर्म की जितनी भी व्याख्याएँ हैं, चारित्र की, संयम की जो व्याख्याएँ हैं उन्हें केवल पढ़ने मात्र से व्यक्ति धर्मात्मा नहीं होता, धर्म तो वह चीज है जिसे धारण किया जाता है।

बुरी बातों को छोड़ा जाता है, अच्छी बातों को ग्रहण किया जाता है उसका नाम ही धर्म है। केवल उपदेश देने से व्यक्ति धर्मात्मा नहीं होता। आपने सुनकर दूसरों को सुना दिया, उसने किसी और को सुना दिया तो यह उपदेश सुनाकर भी कोई धर्मात्मा नहीं होता। जैसे भगोने में रखी खीर को चम्मच से किसी और को परोस दी तो चम्मच के पास क्या रहा? ऐसे ही जो व्यक्ति धर्म की बात को सुनकर किसी और को सुना दे और स्वयं ग्रहण न करे तो इससे क्या लाभ हुआ, जब तक जीवन में धारण नहीं किया तब तक लाभ नहीं होता।

दूसरे को टॉर्च बेचकर उनके मार्ग के अंधकार को तो दूर कर रहे हो किंतु स्वयं टॉर्च को जलाकर के प्रकाश में चल नहीं रहे हो। टॉर्च सुबह से शाम तक आपने कितनी बेची यह महत्व की बात नहीं है, महत्व की बात तो यह है कि रात्रि के अंधकार में आप चले तब आपने टॉर्च जलाई या नहीं जलाई। चाहे टॉर्च सौ-हजार-लाख-करोड़ बेचो इससे क्या होता है? कोई कहे अरे! तुम तो टॉर्च बेचने वाले हो फिर ठोकर खाकर कैसे गिर पड़े? बोला अंधेरे में। क्यों भैया आपके पास टॉर्च नहीं थी? थी तो सही पर उसे जलाया नहीं। भैया टॉर्च का बंडल लेकर भी चलोगे और अंधेरे में एक टॉर्च भी नहीं जलाओगे तो ठोकर खाकर गिर ही पड़ोगे। पास में एक टॉर्च भी हो और उसे जलाकर चलोगे तो गड्ढे से, पत्थर की ठोकर से, साँप-बिच्छू-कील-काँच-कंकड़ से बच सकते हैं। छोटी सी टॉर्च भी आपको इन दुर्घटनाओं से बचा सकती है और पूरा ट्रक भी टॉर्च से भरा था और आपके ट्रक की लाइट खराब हो गई तो पूरा ट्रक भी नदी में गिर सकता है, डिवाइडर से टकरा सकता है, कोई भी दुर्घटना हो सकती है क्योंकि वस्तु का उपयोग नहीं किया।

धर्म संग्रह करने की चीज नहीं है, धर्म तो एक जीवन शैली है। अच्छी बातों को उपयोग में लाने का नाम है-धर्म। अच्छी बातें तो शास्त्रों में लिखी रहती हैं, व्यक्ति उन शास्त्रों को सिर पर रखकर नाचता-कूदता रहे कि मेरे पास धर्म आ गया, मैं धर्मात्मा हो गया, तो क्या

वह धर्मात्मा हो गया? नहीं हुआ। ऐसे ही हम धर्म की व्याख्या बहुत सुनते हैं, सुनाते हैं और आज वर्तमानकाल में तो ऐसा लगता है कि धर्म के उपदेशक तो बहुत हैं किन्तु धर्म का पालन करने वाले कम होते चले जा रहे हैं। धर्म कम हो रहा है क्यों? शायद आज से 50-100 वर्ष पहले इतने शास्त्र नहीं थे, बहुत कम शास्त्र थे, हाथों से लिखे जाते थे। किसी मंदिर में या विद्वान् के यहाँ 5-10 पुस्तकें निकल आयीं तो बहुत बड़ी बात है। आज तो हर मंदिर में सैकड़ों की संख्या में शास्त्र रखे हैं। बहुत सारे पुस्तकालय हैं। व्यक्ति के घर में जिसे थोड़ा भी धर्म से अनुराग है तो 10-20-50 पुस्तकें उसकी अल्मारी में रखीं होगी। किन्तु क्या अल्मारी में रखी पुस्तकें ज्ञानी बना देंगी? क्या पापों से छुड़ा देंगी? नहीं, स्वयं ही पापों का परित्याग करना पड़ेगा। जब तक व्यक्ति स्वयं त्याग नहीं करेगा तब तक पाप नहीं छूटता है।

एक बार वर्णी जी के सामने सेठ जी आए, बोले-वर्णी जी! मेरा बहुत मन है कल्याण करने का, सोचता हूँ गृहस्थी को छोड़कर कल्याण मार्ग पर बढ़ जाऊँ, महात्मा बन जाऊँ। पत्नी-बच्चों की चिंता छोड़कर के संन्यास धारण करना चाहता हूँ, मेरी बहुत भावना है कल्याण की। वर्णी जी ने कहा-फिर देर क्यों? आओ जल्दी आओ। वे बोले-क्या बताऊँ वर्णी जी इस गृहस्थी ने तो मुझे ऐसा बाँधकर रखा है कि मैं छूटना भी चाहता हूँ फिर भी ये गृहस्थी मुझे छोड़ती नहीं है। वर्णी जी ने कहा-अरे! तुमने गृहस्थी को पकड़ा है या गृहस्थी ने तुम्हें पकड़ा है। वर्णी जी मैं तो विरक्त हूँ, मुझे क्या लेना-देना, पत्नी-बच्चे जो कुछ करें वह करें, उनका सब कुछ वो जानें मुझे किसी से कुछ लेना-देना नहीं, परन्तु फिर भी ये लोग मुझे छोड़ते नहीं हैं।

वर्णी जी ने कहा-यह आपका भ्रम है कि ये आपको नहीं छोड़ते किन्तु सत्य ये है कि तुम भी उन्हें नहीं छोड़ते। जब तुम छोड़ने को तैयार हो जाओगे तब कोई तुम्हें पकड़ नहीं पाएगा। आकाश में बिजली चमकती है, बादल कितना भी रोकें बिजली रुकती नहीं, बादलों को चीरकर आ जाती है। जब मन में ज्ञान का दीप जल जाए, वैराग्य हो जाए तब किसी को कोई रोक सकता है क्या? मरते व्यक्ति को कोई रोक सकता है क्या? जब मरते को कोई रोक नहीं सकता तो वैरागी को भी कोई रोक नहीं सकता, यदि वैरागी का वैराग्य पक्का और सच्चा है तो। कच्चा या झूठा है तो फिर तो अपने आप ही रुका-रुकाया है, वह तो बस कथन मात्र है कि मुझे वैराग्य हो गया, मैं दीक्षा लूँगा। जैसे व्यक्ति कहते हैं महाराज! मैं सिगरेट-बीड़ी छोड़ना तो चाहता हूँ किन्तु छूटती नहीं है, क्यों नहीं छूटती, बीड़ी कसकर अंगुली से पकड़ लेते हो, अँगुली ढीली कर दो एक सैकिण्ड में बीड़ी छूट जाएगी। तम्बाकू मुँह की जगह जमीन पर गिरा दो अपने आप छूट गया।

वर्णी जी के समझाने पर भी जब वह व्यक्ति नहीं माना तब वर्णी जी ने एक तरकीब निकाली। वर्णी जी पास के ही एक खम्भे को कसकर पकड़कर खड़े हो गए और जोर-जोर से चिल्लाने लगे मुझे बचाओ, मुझे बचाओ, इस खम्भे ने मुझे कसकर पकड़ लिया है, ये खम्भा मुझे छोड़ ही नहीं रहा है। वह व्यक्ति पास में खड़ा यह देख रहा था। उसने कहा वर्णी जी! खम्भे ने आपको नहीं पकड़ा, आप ही उसे कसकर पकड़े हैं, पकड़ ढीली कर दो आप मुक्त हो जाओगे। वर्णी जी ने कहा-भले आदमी! जब तू जानता है कि खंभे ने नहीं मैंने खंभे को पकड़ रखा है, मैं छोड़ना चाहूँ तो छूट सकता हूँ, यदि ना छूटना चाहूँ तो कभी छूट नहीं सकता, ऐसे ही गृहस्थी ने तुझे नहीं पकड़ा, यह तो तू बहाना करता है कि गृहस्थी ने मुझे पकड़ लिया। सेठ जी बोले-वर्णी जी! बात तो आपने सत्य बताई, मेरे मन में ही कहीं न कहीं इस गृहस्थ जीवन के प्रति राग है, मेरे मन में इनके प्रति कहीं न कहीं मोह तो है। परिवारीजनों के प्रति मोह नहीं होता तो इन्हें सामान्यजनों की तरह छोड़कर चला आता।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं पाँच पापों से विरक्ति का नाम ही चारित्र है **हिंसा**-किसी जीव को सताना, मन से बुरा विचार करना, वचनों से अपशब्द कहना और शरीर से ऐसी चेष्टा करना कि उसे कोई कष्ट हो, यह हिंसा है। **'झूठ'**-असत्य बोलना, वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न कहकर अन्यथा कहना मृषा है। **'चौर्य'**-बिना पूछे किसी की रखी वस्तु को ग्रहण करना, जिसका मालिक कोई और है उस वस्तु को छल-कपट से या अन्य तरीके से अपना बनाने की कोशिश करना चोरी है। **मैथुन सेवा**-विषयों का सेवन करना। **परिग्रह**-अनावश्यक धन-परिग्रहादि का संग्रह करना ये पाँच पाप हैं, इनसे विरक्त होना चाहिए। क्यों? क्योंकि ये पाँच पाप नहीं हैं वरन् 'पापप्रणालि' ये पाँच पापों को लाने के लिए बहुत बड़े-बड़े नाले हैं जो आत्मा में जाकर खुलते हैं। इन पाँचों नालों से पाप आता है जो आकर आत्मा से चिपक जाता है। यदि पाँचों नाले बंद हो जाएँ तो पाप की कीचड़ आना बंद हो जाएगी। जब जीव इन पाँचों नालियों को रोक देता है तब आत्मा स्वच्छ होने लगती है। आप तत्त्वार्थ सूत्र में पढ़ते हैं 'दुःखमेव वा' ये पाँच ही दुःख हैं, जब इनका बंध होता है तब पाप हैं और जब उदय में आते हैं तो दुःख है।

पाप से विरक्ति तब तक नहीं होगी जब तक आप पाप को हेय नहीं मानोगे। व्यक्ति को जब मालूम पड़ जाए इसमें जहर है तो वह खाएगा नहीं, छोड़ देगा, कोई कितनी भी जबरदस्ती करे वह कहेगा भैया! क्या मेरे प्राण लेने हैं, फेंक दो इसे, मुझे नहीं चाहिए। ऐसे ही जब आपको लगे कि ये 5 पाप मेरी आत्मा के लिए जहर हैं, दुःख देने वाले हैं; यह बात जब

आपकी आत्मा स्वीकार कर लेगी तो पाँचों पापों से विरक्ति हो जाएगी। पाचों पापों से विरक्ति का संकल्प ही चारित्र है। यही यहाँ कहा कि सम्यग्ज्ञानी पुरुष ही उस चारित्र को स्वीकार कर पाता है, अज्ञानी नहीं। ज्ञानीपुरुष जान लेता है कि सुख-दुःख के मार्ग कौन से हैं वह दुःख के मार्ग को छोड़ देता है और सुख के मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाँच पापों का त्याग करना सम्यग्ज्ञानी का चारित्र कहलाता है। ये पाँच द्वार हैं जिनके माध्यम से पाप रूपी कीचड़ बह-बहकर आती है। जैसे आत्मा में आस्रव के पाँच द्वार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग होते हैं ऐसे ही ये पाँच पाप के द्वार हैं जिनसे निरंतर पाप कीचड़ बहकर आ रही है और आत्मा उसमें संलिप्त हो रही है। इन पाँच पापों से संज्ञी जीव अर्थात् जिसके पास समीचीन ज्ञान है ऐसा सम्यग्ज्ञानी ही बच पाता है। वह जानता है यह पाप है और मेरी आत्मा को दुःख देने वाला है, इसे मुझे छोड़ना है। यह पाप मेरी आत्मा के लिए कभी भी, कहीं भी, किसी भी रूप से हितकारक नहीं हो सकता। पुण्य कभी किसी जीव को दगा नहीं देता और पाप कभी किसी का सगा नहीं होता। पाप चाहे देव करे या नारकी, मनुष्य करे या तिर्यंच, अमीर करे या गरीब, उच्चकुलीन करे या नीचकुलीन, विद्वान् करे या मूर्ख यह पाप तो ऐसा अग्नि का गोला है जो इससे खेलेगा वह जलेगा। पाप तो विषमिश्रित सामग्री है, जो कोई भी भक्षण करेगा वह मरेगा। यह पाप तो अस्त्र-शस्त्र के साथ बालक्रीड़ा करने का नाम है। छोटा बालक अस्त्र-शस्त्रों से क्रीड़ा करेगा तो अपने अंग-उपांगों को भंग करके ही उठेगा। पाप जब आता है तब समझ में नहीं आता कि पाप आ रहा है, जब पाप आत्मा में अपनी सत्ता जमाकर जम जाता है और दुःख देता है तब लगता है पाप भी कोई चीज है। व्यक्ति पुण्य के उदय में पाप का बहुत अर्जन कर लेता है, उस समय उसे भान नहीं होता। पुण्य के उदय में पाप भी चुपचाप आकर चला जाता है जैसे किसी घर में घर का मालिक या घर के लोग जग रहे हों, घर में चर्चा हो रही हो, बच्चे शोर कर रहे हों तो चोर चुपचाप पीछे से घर में आ भी जाएगा तो चोरी नहीं करेगा, चुपचाप छिपकर बैठ जाएगा और जैसे ही घर वाले सोए तो उन्हें वहीं की वहीं कमरे में बंद कर दिया जिससे वे निकल नहीं पाएं और चोर सारा सामान लूटकर ले गए या कई बार वे बदमाश घरवालों को मारकर लूटपाट करके ले गए। अथवा ऐसा भी होता है कि वे सो रहे हों तो सोते ही रह जाएँ।

महानुभाव! जब व्यक्ति पुण्य का फल भोग रहा होता है उस समय उसे अहसास नहीं होता कि पाप मेरे साथ आ रहा है, उसका उपयोग पुण्य पर रहता है। किन्तु जब पुण्य का

फल खत्म हो जाता है, पाप का फल आता है तब लगता है कि ये कहाँ से आ गया। अरे! आया कहाँ से, तुमने ही तो इस पापकर्म को बांधा था। तूने ही तो बुलाया था, बिना बुलाए कोई कर्म आत्मा में आता ही नहीं। बुलाया तो आ गया। महानुभाव! ये पाप जब तक पाप नहीं लगता है तब तक पाप से विरक्ति नहीं होती। जब ये पाप पाप लगने लगता है तब पाप करने का मन नहीं होता, कोई कितना भी कहे इस पाप कार्य को कर ले, वह करता ही नहीं। और जब तक व्यक्ति पाप को पुण्य रूप अच्छा मानता है, अरे! कुछ नहीं, सब चलता है, ऐसा कहकर कभी कुसंगति में पड़ गया, गंदा-संदा खाने लग गया, बुरी-कुचेष्टाएं करने लगता है तब उससे कुछ पुण्य की बात करो तो वह कह देता है मुझसे ये तुम्हारा धर्म-कर्म नहीं होता, ये पाप मुझसे नहीं छूटता। अभी कह रहा है पाप नहीं छूटता, जब कर्मों की मार पड़ेगी तब क्या नहीं छूटता और क्या नहीं होता सब समझ में आ जाता है।

जो व्यक्ति अंडा-माँस-शराब का सेवन करते हैं, Smoking करते हैं उनसे कहो ये सब छोड़ दो, इनसे बहुत पाप लगता है, इससे शरीर भी खराब होता है, क्यों बेमौत मरता है, क्यों अपने परिवार को बर्बाद करता है, मान जा; पर नहीं, वह कहता है मुझसे नहीं छूटता। भैया! चल तू मंदिर जाना तो प्रारंभ कर, तुझे शक्ति मिलेगी, साहस बनेगा तो इनको छोड़ देगा। नहीं, मेरे बसका नहीं है मंदिर जाना, क्यों मेरे पीछे पड़ गए हो, मुझे चैन से रहने दो। वह झुंझुलाकर घर वालों पर शेर की तरह दहाड़ता है, घरवाले कुछ नहीं कह पाते। साल दो साल 10-20-30 साल शराब पी-पीकर गुर्दे खराब हो गए। पड़े हैं अस्पताल में, घर में कुछ बचा नहीं, पीने में सब बर्बाद कर दिया, व्यापार किया नहीं, कुसंगति मे पड़कर सब धन-सम्पत्ति न्यौछावर कर दी, डॉक्टरों ने भी जवाब दे दिया। अब आँखों में आँसू भरकर घरवालों को देख रहा है, वही बाल-बच्चे-पत्नी जो आनंद से रहते थे आज बिलख रहे हैं, वे कुछ कर नहीं सकते और खुद भी अब कुछ कर नहीं सकता। पुण्य करने का समय निकल गया।

पाप जब फल देता है तो एक तरफ से नहीं देता चारों तरफ से घेरकर मारता है, भागने के लिए कहीं जगह ही नहीं छोड़ता। जब पाप की पूरी सेना आ जाती है तब चारों तरफ से आत्मा को घेर लेती है। व्यक्ति कहता है महाराज! चारों तरफ से मैं परेशान हूँ, शरीर रोगी हो गया, व्यापार ठप्प हो गया, घरवालों, रिश्तेदारों से परेशान, अब तो प्रतिष्ठा पर भी बट्टा लगने लगा है, क्या करूँ? जहर खाकर मर जाऊँ या आत्महत्या कर लूँ? अरे भाई! ऐसे शब्द कहने की नौबत क्यों आई? पहले से पुण्य के उदय में सचेत क्यों नहीं हुआ? क्यों पाप करता रहा? अब पाप करके तूने अपना घड़ा भर लिया तो तू इस शरीर को छोड़ना चाहता है, शरीर के

छूटने से क्या पाप छूट जाएँगे। तेरे पाप कर्म क्या शरीर से चिपके हैं जो शरीर छूटते ही पाप छूट जाए? अरे भाई! ये पाप कर्म तो आत्मा के प्रदेशों से चिपके हैं, जहाँ भी आत्मा जाएगी वहाँ ये पाप प्रकृतियाँ आत्मा के साथ जाएँगी। आत्मा चाहे नरकगति में जाए या तिर्यंचगति में जाए, चाहे देवदुर्गति में जाए चाहे मनुष्यगति में जाए पाप का फल तो भोगना पड़ेगा।

देवदुर्गति के कारण व्यंतरादि देव हो गए तो अन्य देवों से युद्ध हो रहा है, मारपीट कर रहे हैं, नौकर की तरह उनसे काम ले रहे हैं, कोई नियत स्थान नहीं, भटकते फिर रहे हैं। पशु हुए तो दिन-रात-सर्दी-गर्मी में बोझा ढो रहे हैं, दु:ख सह रहे हैं। नरकगति में गए तो नारकी निरंतर मारकाट कर रहे हैं, मनुष्यगति में गए तो ऐसे नीच कुल में जन्म लिया कि दरिद्रता-विकलांग, रोगी शरीर, जन्म लेते ही माता-पिता का वियोग हो गया, अनाथ की तरह से रह रहे हैं। यह पाप कहीं भी-कभी भी छोड़ता नहीं है। परछाई भले ही साथ छोड़ जाए किन्तु पाप साथ नहीं छोड़ता, परछाई अंधेरे में साथ छोड़ती है जहाँ प्रकाश मिलेगा वहाँ परछाई पड़ती ही रहेगी किन्तु पाप तो अँधेरे में भी साथ नहीं छोड़ता, शरीर छोड़ दो तब भी साथ नहीं छोड़ता, पाप का फल तो भोगना ही पड़ता है। हाँ, यदि कहीं तीन लोक के नाथ के चरणों में समवसरण में बैठ गए, पाप कमजोर पड़ा, आप भागकर भगवान् के चरणों में पहुँच गए, चारों प्रकार के आहार-जल का त्याग कर आँख बंद कर बैठ गए, ब्रह्मचर्य का नियम लेकर कि मैं आपके चरणों में बैठा हूँ तो भगवान् के सामने पाप प्रहार नहीं करता। किन्तु भगवान् के पास पहुँचने के लिए भी तो पुण्य चाहिए, ऐसे थोड़े ही पहुँचते हैं।

'पश्यन्ति पुण्य-रहिताः न हि वीतरागं'

पुण्य से रहित व्यक्ति वीतरागी मुद्रा को देख नहीं पाता, स्वप्न में भी नहीं दिखते। कई बार तो ऐसे पापी जीव भी देखे कि मंदिर के बाजू से घर है, दीवार से दीवार लगी है किन्तु भगवान् के दर्शन करने के लिए वर्ष में एक बार भी नहीं जा पाते। सुबह से शाम तक पाप कार्य में लिप्त हैं। अभक्ष्य पदार्थों को खाने में, कुचेष्टाओं में लगे हैं। कलह मची है, घर को नरक जैसा बना लिया, पाप कमाए जा रहे हैं, ऐसे भी पापी जीव हैं। और ऐसे पुण्यात्मा भी देखे जो घर में वाहन नहीं है फिर भी 2-2 km तक 4-4 km तक पैदल चलकर के भगवान् के दर्शन को जा रहे हैं। बिना दर्शन किए अन्न का एक दाना भी मुख में नहीं डालूँगा, मैं पानी भी नहीं पीऊँगा ऐसा नियम है। कहीं नौकरी लगी वहाँ मंदिर नहीं है तो अपने घर में एक छोटे से भगवान् लकड़ी के मंदिर में विराजमान कर लिए, स्फटिक मणि की मूर्ति विराजमान कर ली, अभिषेक नहीं कर पाया तो कम से कम दर्शन तो मिलेंगे। वर्षों

से जिसका देवदर्शन नियम नहीं टूटा, कभी ऐसी परिस्थिति आई तो तुरंत ही भोजन-पानी का त्याग कर दिया, उपवास कर लिया किन्तु नियम को नहीं तोड़ा; ऐसे पुण्यात्मा जन भी देखे।

ऐसी कई वृद्ध माताएँ देखीं जो अपने नियम को बड़ी कट्टरता से पालन करती हैं। आज भगवान् के दर्शन नहीं हो पाए तो मन ही नहीं लग रहा, भोजन नहीं भाता। ऐसे पुण्यात्मा भी देखे जिनके मन में जिनदर्शन की लगन रही तो जहाँ घर लिया वहीं निकट में मंदिर निर्माण का प्रस्ताव आ गया, मंदिर बन गया और कई लोग तो घर लेते ही वहीं हैं जहाँ मंदिर पास में हो ऐसा पुण्योदय आया कि स्वतः ही अनुकूलता बनती चली गई। पुण्योदय से साधर्मी का संयोग मिला, पुण्योदय से जीवनसाथी भी पुण्यात्मा मिला जो पुण्यकार्य से कभी रोकते नहीं। माता-पिता पुण्यात्मा हों, संतान पुण्यात्मा हो यह सब पुण्य का ही फल है।

महानुभाव! यहाँ पर कह रहे हैं कि पाँच पापों से विरक्ति का नाम ही चारित्र है, उस चारित्र को धारण करें, पापों के द्वार को रोकें जिससे पुण्य का अर्जन हो, वह पुण्य परंपरा से आपको आत्मसुख, मोक्षसुख दिलाने में कारण बनेगा। अतः आप सभी पाप को छोड़ें, पुण्यकार्य पुण्यनिमित्तों के बीच में रहें ताकि संसार की अनर्गल से बच सकें और मुक्तगगन में विचरण कर सकें। आचार्य भगवन् शांतिसागर जी महाराज ने अपने अंतिम उपदेश में यही कहा-हे भव्य प्राणियों! डरो नहीं, संयम धारण करो, संयम धारण किए बिना मुक्ति नहीं। आप सभी उस उपदेश को यथाशक्ति धारण करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

चारित्र के भेद

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्॥50॥

अन्वयार्थ–तत् – वह **सकलं चरणं** – सकल चारित्र **विकलं चरणं** – विकल चारित्र इस प्रकार दो प्रकार का है **सर्वसंगविरतानाम् अनगाराणां** – सर्व परिग्रहों से रहित मुनियों का **सकलं** – सकल चारित्र है एवं **ससंगानाम् सागाराणाम् विकलं** – परिग्रह सहित गृहस्थों को विकलचारित्र होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना करते हुए इस चारित्र अधिकार में देखते हैं 50वीं कारिका, जिसमें चारित्र के भेद बताए हैं।

चारित्र दो प्रकार का है सकल चारित्र और विकल चारित्र। सकल चारित्र क्या है? 'सकल संग विरतानां' हिंसादि पाँच पापों का पूर्णतया त्याग, अहिंसादि महाव्रतों का पालन करना सकल चारित्र है। यह किनके होता है? सर्वपरिग्रह के त्यागी 'अनगाराणां' अनगारों के होता है और विकल चारित्र 'सागार' जो घर में रहते हैं उनके होता है। वे 'ससंगानां' परिग्रह आदि भी रखते हैं। जिन्होंने हिंसादि पाँच पापों का एकदेश त्याग किया है, गृहस्थ हैं, अणुवती बनते हैं, जो आरंभ-सारंभ करते हैं और भी क्रियाएँ करते हैं। वे भगवान् की पूजा-पाठ भी करते हैं, दान भी देते हैं, पर्वों में शीलव्रत का पालन भी करते हैं, उपवास आदि भी करते हैं, णमोकार महामंत्र की जाप आदि भी लगाते हैं, पुण्य की क्रिया करते हैं। घर में रहकर थोड़ा बहुत पाप भी होता है, उनसे बचने का प्रयास भी करते हैं। वे गृहस्थ हैं जो अणुव्रतों का पालन करते हैं और जो पापों को पूर्णतया त्याग दें वे श्रमण हैं।

महानुभाव! स्थूल पापों का त्याग करना अणुव्रत कहलाता है। पाइप में से बड़ी-बड़ी कीचड़ आ रही थी, उस पाइप में बड़ा पत्थर फंसा दिया तो अब बड़ी-बड़ी कीचड़ नहीं आ रही केवल गंदा पानी आ रहा है। धीमे-धीमे इस प्रेशर को भी कम करके पानी को भी रोका जा सकता है। तो जो व्यक्ति अणुव्रत लेते हैं, स्थूल पापों का त्याग करते हैं वे देशव्रती श्रावक कहलाते हैं और जो पूर्णतया पापों का त्याग कर देते हैं वे महाव्रती होते हैं।

मोक्षमार्ग तो एक ही है परंतु उस पथ पर चलने वाले पथिक दो प्रकार के हैं-मुनि व श्रावक। या यूँ कहें कि मार्ग पर चलने वाले पथिक दो प्रकार के हैं शीघ्रगामी व मन्दगामी।

जो शीघ्रगामी हैं उसे अपने सारे वस्त्रों को समेट करके चलना पड़ता है अन्यथा वह गिर जाता है और जो मन्दगामी होते हैं उनके वस्त्र कुछ लटकते रहते हैं, उसी प्रकार शीघ्रगामी मुनिराज अपनी पाँचों इन्द्रिय रूपी वस्त्रों को समेटकर चलते हैं, यदि सम्पूर्ण रूप से उसका निरोध न करें तो संयम से च्युत हो जाते हैं और श्रावक मन्दगामी है अतः वह अपनी इंद्रियों को पूर्ण रूप से निरोध नहीं करता है। अतः श्रावक का व्रत अणुव्रत है मुनियों का व्रत महाव्रत है।

यहाँ पर आचार्य महोदय; क्योंकि यह रत्नकरण्डश्रावकाचार है इसलिए श्रावकों की आचार संहिता बता रहे हैं। साधुओं की आचरण संहिता मूलाचारादि ग्रंथों से देखकर आचरण की जा सकती है। किन्तु यहाँ बताया जब तक सम्पूर्ण पापों का त्याग करने की सामर्थ्य नहीं है तब तक पापों को थोड़ा-थोड़ा छोड़ते जाओ। उदाहरण के रूप में—उत्तम तो यही है कि रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करो, नहीं कर पा रहे तो पहले अन्न का त्याग करो। वह कहता है-मैं अन्न का त्याग आजीवन नहीं कर पाऊँगा, कोई बात नहीं, कुछ समय की मर्यादा लेकर कर दो। जमीकंद का त्याग करना चाहिए, जमीकंद खाने वाला कृष्ण लेश्या वाला होता है, वह कहता है-महाराज जी! जमीकंद के बिना मेरा काम कैसे चलेगा। ठीक है भाई! पूरा नहीं छोड़ सकते तो कुछ का त्याग कर दो, आजीवन नहीं छोड़ सकते हो तो सालों-महीनों-की समय मर्यादा तक के लिए छोड़ो। इतना ही नियम ले लो आज मेरा रात्रिभोजन-जमीकंद का त्याग है, एक दिन का नियम लिया तो भी कुछ तो पुण्य मिला। आज पालन हो गया तो कल के लिए उत्साह बन जाएगा, आगे नियम की सामर्थ्य बढ़ जाएगी। या दूसरे प्रकार से भी नियम ले सकते हो कि मैं शाम के 6 बजे से सुबह के 6 बजे तक समस्त खाद्य पदार्थों का त्याग करता हूँ। यदि व्यक्ति रात्रि में अन्न-जल आदि त्याग कर देता है तो उसे भी साल में 6 माह के उपवास का फल मिल जाता है। यदि आप ऐसे उपवास न कर पाओ तो इतना ही कर लिया कि रात्रि के 12 घंटे निर्जल रखा तो अपने आप ही 6 माह का उपवास हो गया।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं जो मुनियों का चारित्र पालन करने में असमर्थ हैं उन्हें श्रावकों के चारित्र पालन करने का अभ्यास करना चाहिए। और करत-करत अभ्यास से व्यक्ति अपने कार्य में निष्णात होता है, परिपक्व होता है और शनैः-शनैः पापों से मुक्त हो जाता है। पापों से मुक्त हुआ व्यक्ति का पुण्य भी छूट जाता है, वह पुण्य के फलस्वरूप अरिहंत और सिद्ध अवस्था को पा लेता है। बिना चारित्र का पालन किए कोई धर्मात्मा कैसे बनेगा? मोक्षमार्गी कैसे बनेगा?

श्रावकों का चारित्र विकल चारित्र, एकदेश चारित्र या अपूर्णचारित्र होता है। सद्गृहस्थ के पास अणुव्रत होते हैं और साधु के पास महाव्रत होते हैं। अणु अर्थात् छोटा महा अर्थात्

बड़ा। जो बड़ा होता है वह साधु होता है इसलिए छोटा साधु के चरणों में प्रणाम करता है, उनके चरणों की रज अपने माथे से लगाता है। या यूँ कहें साधु का 6 वाँ-7वाँ गुणस्थान है और श्रावक का 5 वाँ गुणस्थान है। यह तो बिल्कुल सामान्य सी बात है कि छटवीं मंजिल पाँचवीं मंजिल के ऊपर ही होती है। जहाँ 5 वीं मंजिल का सिर है वहाँ छटवीं मंजिल के पग हैं। जहाँ चौथी मंजिल का सिर है वहाँ पाँचवी मंजिल का पग है। जहाँ छटवीं का सिर है वहाँ 7वी का पग है। यह तो सुनिश्चित है कि साधक की दशा श्रावक से पृथक् है और उच्च है। साधु का त्याग, तप, संयम, ध्यान व साधु का रत्नत्रय श्रावक की अपेक्षा से बहुत उच्च कोटि का है। श्रावक साधु के पीछे-पीछे चल रहे हैं। या यूँ कहें कि साधु के पास तो समुद्र भरके है और श्रावक के पास एक बाल्टी या एक ड्रम भरके है। 'अणुव्रत' छोटे व्रत, 'महाव्रत' बड़े व्रत।

महाव्रतों से बड़ा व्रत कोई नहीं होता। महाव्रतों का पालन करके परमात्मा बना जा सकता है किन्तु अणुव्रतों का पालन करके परमात्मा तो नहीं बनते, स्वर्गादि का वैभव प्राप्त हो सकता है और मुनि बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। विकल चारित्र गृहस्थों का व सकल चारित्र मुनियों का होता है। यहाँ ग्रंथ में श्रावकों की आचार संहिता का कथन है। जैसा कि ग्रंथ का नाम है 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' श्रावकों के आचरण संबंधी कारिका को मानिए रत्न और उन कारिकाओं का समूह है रत्नों का पिटारा। एक-एक श्लोक रत्न की तरह से श्रावक के जीवन में महत्वपूर्ण हैं। गृहस्थ जीविकोपार्जन करता है, संध्याकाल तक 1000-2000 रु. कमा कर लाता है, अपना खर्चा व्यवस्थित करता है, बच जाता है तो दान-पुण्य में लगाता है, और बच जाता है तो अच्छे वस्त्राभूषण-वाहन आदि भौतिक सुख-साधनों को ग्रहण करता है, और ज्यादा धन हो जाए तो रुपयों के बंडल की जगह छोटा सा स्वर्ण खरीद कर रखता है ताकि समय पर उसे बेचकर पुनः नोटों की गड्डी बन सकती है। और छोटा सा रत्न हो तो रत्न से बहुत सारा सोना, रुपयों को प्राप्त किया जा सकता है। रत्न ऐसा ही होता है। ये तो बाह्य रत्न पाषाण के टुकड़े हैं किन्तु सच्चे रत्न क्या है? आचार्य महोदय के द्वारा लिखी गई ये कारिकाएँ ही सच्चे रत्न हैं। एक-एक कारिका रत्न के सामान है। जिस श्रावक के हाथ इन रत्नों का पिटारा लग गया वह श्रावक तो मालामाल हो गया। वह कभी नरक-तिर्यंच आदि दुर्गतियों में, कुभोगभूमि में नहीं जाएगा। वह रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोकों के अनुसार अपने व्रतों का पालन करे तो नियम से स्वर्गादि की विभूति को प्राप्त करेगा।

उत्कृष्ट श्रावक श्रावक के व्रत पालन करके 16वें स्वर्ग तक पहुँच सकता है और अनंतर वह मनुष्य बने, राजा-महाराजा बने फिर दीक्षा लेकर तपस्या करे तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकता

है। तो गृहस्थों के लिए जो चारित्र है वह विकलचारित्र है। हिंसा, झूठ, चोरी कुशील व परिग्रह इन पाँच पापास्रवों की नालियों से, द्वारों से विरक्त होना विकल चारित्र है, किन्तु पापों की नाली को बंद कैसे करें? तो आचार्य महोदय कह रहे हैं उन नालियों को पूर्णतः बंद नहीं कर सकते तो कुछ उपक्रम ऐसा करो जिससे मोटे-मोटे पाप तो रुक ही जाएँ क्योंकि गृहस्थ जीवन में पूरा द्वार बंद नहीं किया जा सकता इसलिए कह देते हैं कि मोटे-मोटे पाप तो जीवन में नहीं हो रहे, छोटे-छोटे पाप हो रहे हैं। अव्रती के जीवन में छोटे-मोटे सब प्रकार के पाप हो रहे हैं। छोटे पाप न छोड़ सको तो मोटे पाप छोड़ दो। इस प्रकार यहाँ पर चारित्र के भेदों का वर्णन किया, आगे विकल चारित्र के भेदों को देखेंगे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शातिनाथ भगवान् की जय ॥

श्रावक का चारित्र

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षा-व्रतात्मकं चरणम्।
पंच त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम्॥51॥

अन्वयार्थ–गृहिणां – गृहस्थियों का **चरणं** – चारित्र **त्रेधा** – तीन प्रकार का, **तिष्ठति** – होता है **अणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकम्** – अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप **त्रयं** – तीनों **यथासंख्यं** – क्रम से **पंच-त्रि-चतुर्भेदं** – पाँच, तीन और चार भेद वाले, **आख्यातम्** – कहे गए हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के चारित्र अधिकार में देख रहे हैं कि रागद्वेष की निवृत्ति हेतु पाँच पापों से विरक्ति आवश्यक है, यह विरक्ति ही चारित्र है। पाँच पापों का पूर्णतया त्याग करना महाव्रत अर्थात् सकल चारित्र है व एक देश त्याग करना विकल चारित्र है ऐसा पूर्व कारिका में कहा। अब कह रहे हैं गृहस्थों का चारित्र तीन प्रकार का होता है। पहले बताया चारित्र दो प्रकार का है सकल-विकल चारित्र और यहाँ 51 वीं गाथा में कह रहे हैं विकल चारित्र भी तीन प्रकार का है-देखते हैं आचार्य महोदय के ही शब्दों में–

गृहिणां-गृह अर्थात् घर, गृही यानि घर में रहने वाला गृहस्थ। ग्रह् धातु ग्रहण करने के अर्थ में होती है। जो लेता ही जाता है, लेता ही जाता है सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ नहीं पाता, थोड़ा-थोड़ा छोड़ता है दान करता है वह गृहस्थ है। जो ग्रहण करता जाए सो गृहस्थ और जो सब कुछ विसर्जन करके मोक्षमार्ग में श्रम करे वह श्रमण। जो गृह आदि परिग्रह का त्याग कर दे तो अनगार, जो साधना करे वो साधु, जो संयम को पाले वह संयमी यह उसके पर्यायवाची नाम हैं। तो 'गृहिणां' गृहस्थों का 'त्रेधातिष्ठति अणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणं' चारित्र तीन प्रकार का होता है अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। अणुव्रत वे हैं जहाँ हिंसादि पाँच पापों का स्थूलरूप से त्याग कर दिया जाता है। मोटे-मोटे पाप छोड़ने से जितने अंश में पापों से बच गए उतने अंशों में आप व्रती बन गए। जितनी हिंसा छोड़ दी उतना आपके जीवन में अहिंसाणुव्रत आ गया, जितना असत्य छोड़ दिया उतना सत्याणुव्रत आ गया, जितनी चोरी छोड़ी उतना अचौर्याणुव्रत आ गया, जितना कुशील छोड़ा उतने अंश में ब्रह्मचर्यव्रत आ गया और जितने परिग्रह का परिमाण कर लिया तो उतना अपरिग्रह व्रत आ गया या परिग्रहपरिमाण व्रत नाम भी कह सकते हैं।

ये अणुव्रत हैं, अणुव्रत श्रावक का धर्म है किन्तु अणुव्रतों को लेकर पालें कैसे? अकेला व्यक्ति यदि चले तो थक जाता है, रास्ते में कोई साथी मिल जाए तो रास्ता आसानी से कट जाता है। किसी से अकेले 3-4 किमी. की दूरी तक पैदल जाने को कह दो तो वह कहता है महाराज जी! हम अपने घर से अपनी दुकान तक जो 1/2-1 km दूरी पर है; वहाँ तक तो पैदल जाते नहीं, आप इतनी लम्बी दूरी अकेले तय करने की बात कर रहे हैं। यदि ऐसा है तो फिर यह बताओ कि जब हमारा (साधुओं का) विहार होता है 20-30 km तक तब आप साधुओं के साथ कैसे विहार कर लेते हैं। तो आप कहते हैं आपस में बात करते हुए चलते चले जाते हैं मालूम ही नहीं पड़ता कब रास्ता तय हो गया। शिखर जी की वंदना अकेले करने जाओ तो थक जाओगे, सिर पकड़कर बैठ जाओगे, किससे बोलें, यहाँ तो सब Unknown हैं और जब 10-20 जन एक साथ जाते हैं और भगवान् की जयकार लगाते हुए जाते हैं, अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करते जाते हैं, एक-एक टोंक की वंदना करते हैं, परिक्रमा लगाते हैं, सामग्री चढ़ाते हैं, धोक लगाते हैं और आगे बढ़ते चले जाते हैं। आश्चर्य होता है कि यात्रा की दूरी पता ही नहीं चलती। कई लोग तो नीचे से ऊपर की वंदना करके छह घंटे में आ जाते हैं प्रातःकाल 4 बजे चले और 10 बजे तक लौटकर आ गए, कोई 7 घंटे में कोई 8-10 घंटे में तो कोई ऐसे भी हैं जो 12 घंटे में आएँ। किन्तु जो रास्ते में धर्म चर्चा करते जा रहे हैं तो समझो जिह्वारथ पर बैठकर चल रहे हैं, उन्हें मार्ग की दूरी का अहसास नहीं होता। ऐसे ही अणुव्रत अकेले पालोगे तो इसके पालने में बड़ी कठिनाई होगी, इसके साथ 7 शीलव्रत और होते हैं उनका भी पालन करो। शीलव्रत के गुणव्रत व शिक्षाव्रत रूप में दो भेद हैं।

अणुव्रत छोटे व्रतों को कहते हैं। अणुव्रत के गुणों को जो बढ़ाएँ उन्हें गुणव्रत कहते हैं और जो मुनि बनने की शिक्षा देते हैं उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। गृहस्थ को अपने जीवन का निर्वाह करने के लिए आलम्बन/सहारे की आवश्यकता होती है। प्रारंभ में आलम्बन चाहिए। जैसे एक छोटा बालक जो पहले अपने सहारे से बैठ भी नहीं पाता तो उसे दीवार के सहारे तकिया लगाकर बिठा देते हैं, वह फिसल जाता है पुनः बिठाते हैं, ऐसे करते-करते वह बैठना सीख जाता है। फिर थोड़ा बड़ा होता है तो अपना हाथ टिकाकर बैठने लगता है किन्तु वह खड़ा नहीं हो पाता, खड़ा करो तो वह कांपता हुआ गिर जाता है किन्तु बाद में अपने दोनों हाथों की अंगुली देकर खड़ा करो तो खड़ा हो जाता है किन्तु आगे कदम नहीं उठाता, जैसे ही कदम उठाता है तो गिर पड़ता है किन्तु बाद में धीमे-धीमे चलाओ तो वह एक-एक कदम

चलता है। कभी लम्बी डग कभी छोटी डग रखता-रखता चलता है। फिर जब वह अपना बैलेंस संभालने में समर्थ होता है तो उसके माता-पिता उसे तीन पहिये की गाड़ी देते हैं, वह उस पर अपना पूरा वजन रखकर धीमे-धीमे उसे बढ़ाता चला जाता है। ऐसे ही गृहस्थ के लिए पंच गुरुओं के (पंचपरमेष्ठी) चरण ही अंगुली है जिन्हें पकड़कर आगे बढ़ जाना चाहिए। कोई भी परमेष्ठी हों उनके चरण पकड़कर चल लो तो आपके जीवन में चारित्र आ जाएगा अथवा शास्त्र का स्वाध्याय करके चलना प्रारंभ कर दो।

धर्म सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप होता है, उस धर्म की शरण को प्राप्त करो, ये तीन पहिये की गाड़ी है। जब वह गृहस्थ आगे बढ़ता है तब वह दर्शन प्रतिमा से व्रत प्रतिमा लेता है पुनः क्रमशः प्रतिमा बढ़ाते-बढ़ाते 11 प्रतिमाओं का पालन करता है। अब वह सहारे को थोड़ा छोड़कर अपने आप का सहारा ले रहा है स्वावलम्बी बन रहा है। क्षुल्लक जी, ऐलक जी बनकर अब सोचता है यह भी छोड़ मुनि बनना है। उसे इतना ग्रहण करने की शक्ति कहाँ से आई? यह शक्ति अंदर से ही आई। किन्तु प्रारंभ में कोई भी हो, उसे सहारे की आवश्यकता तो पड़ती है। आपने अथवा हमने ऐसा कोई छोटा बालक नहीं देखा जिसने पैदा होते ही स्वयं चलना प्रारंभ कर दिया हो या जिसने कभी माँ की गोद नहीं ली हो या अंगुली पकड़कर चलना नहीं सीखा हो, तीन पहिये की गाड़ी से नहीं चले हों। सहारा तो लेना पड़ता है किन्तु बाद में जब पैरों में बल आ जाता है तो सहारा नहीं लिया जाता है।

ऐसे ही आप श्रावकों को भी व्रतों का पालन करते-करते निष्णात होना है, पापों का त्याग करना है, अभक्ष्य का त्याग करना है, अपने जीवन को धर्म से संस्कारित करके अपना हित व कल्याण करना है, यही शाश्वत मार्ग है। आत्मा को परमात्मा बनाने की यह प्रारंभिक सीढ़ियाँ हैं, इन पर चलें पुनः आगे बढ़ें यही हमारा आपके प्रति मंगल आशीर्वाद है। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अणुव्रत का लक्षण

प्राणातिपातवितथ - व्याहारस्तेय - काम - मूर्च्छाभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥52॥

अन्वयार्थ–स्थूलेभ्यः प्राणातिपात – स्थूल हिंसा **स्थूल-वितथव्याहार** – स्थूल असत्य कथन **स्थूलस्तेय** – स्थूल चोरी **स्थूलकाम** – स्थूल मैथुन सेवा **स्थूलमूर्च्छाभ्यः** – स्थूल परिग्रह रूप **पापेभ्यो** – पापों से **व्युपरमणम्** – विरक्त होना **अणुव्रतं भवति** – अणुव्रत होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार में श्रावक व मुनियों का चारित्र देख रहे थे। मुनियों का चारित्र सर्व पाप परिहार रूप होता है व श्रावकों का विकल चारित्र होता है, अणुव्रत रूप होता है। जिसके पूर्व कारिका में तीन भेद किए अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। अणुव्रत के 5 भेद बताए, गुणव्रत के तीन भेद और शिक्षाव्रत के चार भेद बताए। अब यहाँ कारिका नं. 52 में आचार्य महोदय अणुव्रत की परिभाषा बता रहे हैं कि अणुव्रत क्या है–

'प्राणातिपात' प्राणों का व्यतिपात/वियोग, **'वितथ'**-विगत तथ-जिसमें से तथ अर्थात् तथ्य सत्यपना तथा जैसा है वैसा यथार्थपना निकल गया है वह मिथ्याभाषण **'व्याहार'**-वचनालाप **'स्तेन'**-चोरी **'काम'**-विषयसेवन, **'मूर्च्छा'**- आसक्ति **'स्थूलेभ्यो'**-स्थूल रूप से **'पापेभ्योव्युपरमणम्'** पापों से विरक्त होना या त्याग कर देना **'अणुव्रतं भवति'**-अणुव्रत होते हैं ऐसी संक्षेप में परिभाषा कही। अर्थात् स्थूलहिंसा, स्थूलझूठ, स्थूलचोरी, स्थूलकुशील, स्थूलपरिग्रह से विरक्ति का नाम अणुव्रत है। व्यक्ति सूक्ष्मपापों का त्याग बाद में करता है। कई बार लोग कहते हैं महाराज जी! मैंने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया, मेरे मन में रात्रिभोजन करने का भाव आ गया तो क्या मेरा नियम टूट गया? नहीं टूटा। क्यों महाराज श्री? क्योंकि अभी आपने रात्रिभोजन करने का त्याग किया है, यह अच्छी बात है कि रात्रिभोजन का विचार भी नहीं आना चाहिए किंतु वह सूक्ष्मपाप है, पहले स्थूल का त्याग करो। स्थूल का त्याग पहले किया जाता है सूक्ष्म का त्याग बाद में किया जाता है। जिसके माध्यम से मोटे-मोटे पाप जीवन में आ रहे हैं, बड़ी-बड़ी कीचड़ आ रही है पहले उससे बचो।

व्यक्ति को पहले माँस का त्याग करना चाहिए कि रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए? सभी जानते है पहले माँस का त्याग करना चाहिए। पहले शराब का त्याग करना चाहिए

या अनछने जल का त्याग करना चाहिए? सभी जानते हैं पहले शराब का त्याग करना चाहिए। वर्तमान काल में कुछ विद्वान् लोग सूक्ष्म-सूक्ष्म व्याख्या करके श्रावकों को डराते हैं। व्रती नहीं बन जाना अतिचार लगेगा, दोष लगेगा, व्रत भंग होने का बहुत पाप होता है, नरक में जाना पड़ेगा, ऐसे डराने से व्यक्ति धर्म से बहुत दूर होता चला जाता है। साधु श्रावकों को धर्म के निकट लाना चाहते हैं, उससे कहते हैं बेटा! डरो मत। आचार्य शांतिसागर श्री महाराज समाधि के समय मराठी भाषा में यही उपदेश देकर गए ''बाबा नो भिऊ नका संयम धारण करावयास, मुनिपद धारण करा! त्याच्या शिवाय कल्याण होणार नाही'' संसार के भव्य प्राणियों डरो मत, संयम को धारण करो संयम बिना मुक्ति नहीं। कोई कहता है महाराज! हम व्रती बनेंगे किंतु हमसे व्रत में अतिचार लग गए तो? आचार्य श्री कहते थे-भैया! प्रायश्चित ग्रंथ हैं, दोष लग सकते हैं, प्रायश्चित लेकर के शुद्धि करो। यदि दोष नहीं लगे तो प्रायश्चित ग्रंथों की क्या आवश्यकता? हाँ, पर दोष बुद्धिपूर्वक मत लगाओ। ये पंचमकाल है जहाँ सम्यक्त्व भी निर्दोष पालित नहीं हो सकता, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है उसमें भी चल-मल-अगाढ़ दोष लगते हैं।

महानुभाव! दोषों के भय से उस पाप का त्याग नहीं करना यह मूर्खता है। व्यक्ति जब चलता है तो पैर भी फिसलता है। कोई कहे मैं बरसात में चल रहा था तो मेरा पैर फिसल गया, अब मैं कहीं जाऊँगा नहीं। तो क्या ऐसे काम चलता है। व्यापार में घाटा लग गया इसलिए अब मैं जीवन में कोई काम नहीं करूँगा; ऐसे कोई काम चलता है क्या? घोड़े पर चढ़ेगा तो गिरेगा भी, साइकिल चलाना सीखी तो आप गिरे भी। ऐसे ही व्यक्ति कोई काम करे तो उसमें असफल भी हो सकता है। जो जीवन में कभी असफल नहीं हुआ समझो उसने कोई नया काम करने का अनुभव ही प्राप्त नहीं किया। अच्छा काम अनादि से तो किया नहीं, आज कर रहे हो तो अच्छे कार्य करने में कई बार पूर्व के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं जिससे व्यक्ति असफल भी हो जाता है, पतित भी होता है किन्तु फिर फिर अभ्यास करता रहे जैसे चींटी दीवार पर चढ़ने का प्रयास करती है तो अंततः सफल हो ही जाती है।

तो यहाँ पर कह रहे हैं श्रावकों को सूक्ष्मपाप का त्याग करना तो दूर की बात पहले वह स्थूल पापों का ही त्याग कर दे। सर्वप्रथम स्थूल हिंसा का त्याग करे। स्थूल का अर्थ है जो जगत्प्रसिद्ध पाप हैं, जिसके करने पर राजकीय दण्ड मिलता है, जगत् में अपयश होता है उसे स्थूल पाप कहते हैं अर्थात् अणुव्रती आरंभी, विरोधी और उद्योगी इन तीन प्रकार की हिंसा का त्यागी नहीं होता संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। मैं किसी पशु-पक्षी आदि को नहीं मारूँगा,

तलवार से, चाकू से या लाठी से उसके प्राणों का हरण नहीं करूँगा। वह सबसे पहले तो ये संकल्प लेता है कि मैं संकल्पपूर्वक किसी के प्राणों का हरण नहीं करूँगा, पंचेन्द्रिय जीव को नहीं मारूँगा, बाद में नियम ले कि मैं दो इन्द्रिय-तीन इंद्रिय-चारइंद्रिय जीवों को भी नहीं मारूँगा पुनः वह प्रयास करे कि मैं एक इंद्रिय जीव की हिंसा से भी बचूँ, अनावश्यक हिंसा ना करूँ। यदि वह सोचे कि मैं तो पहले सूक्ष्म का त्याग करूँगा तो सूक्ष्म का त्याग ऐसे नहीं होता, उसकी यह जिद् ऐसे ही मान लीजिए जैसे मूँगफली उसके हाथ में है और मूँगफली के बाहर मोटे छिलके को तोड़े बिना अंदर की लालिमा (लाल छिलके) को हटाऊँगा बाद में मूँगफली तोडूँगा। ऐसा कभी होता है क्या? ऐसा नहीं होता कि सूक्ष्मपाप पहले छूट जाएँ स्थूल बाद में। पहले स्थूल पापों को छोड़ा जाता है फिर सूक्ष्म पापों से बचने की भावना जाग्रत होती है, स्थूल पापों का त्याग किए बिना सूक्ष्म पापों से विरक्ति नहीं होती।

पहले मन को वहाँ से रोको जो मन तुम्हें संसार की कीचड़ में ले जाता है, वहाँ से मोड़ो जो मन पापों से सानकर रखता है, जिस मन ने पाप को और पाप ने मन को पकड़ लिया है पहले वहाँ से छूटकर तो आओ, जब तक बड़े-बड़े पापों को नहीं छोड़ोगे तब तक छोटे-छोटे पापों को छोड़ने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। तो यहाँ पर अणुव्रत की परिभाषा बताते हुए कहा कि किसी के प्राणों का वियोग नहीं करना। कोई कहे कि मैं कभी-कभी कड़वे शब्द बोल देता हूँ तो सामने वाले को दुःख होता है। मैं कैसे त्याग कर सकता हूँ हिंसा का? अरे! कड़वे शब्द का त्याग नहीं करा रहे अभी तो इतना कह रहे हैं कि मैं कभी बंदूक से, तलवार से, धनुषबाण, लाठी आदि से किसी के प्राणों का अपहरण नहीं करूँगा, पहले ये त्याग करो। पुनः मैं कभी किसी जीव के नाक-कान नहीं छेदूँगा या अन्य प्रकार से कष्ट नहीं दूँगा, पुनः वचनों के माध्यम से भी कष्ट नहीं दूँगा, पुनः मन में भी कष्ट देने का भाव नहीं लाऊँगा इस प्रकार शनैः-शनैः आगे बढ़ो। पहले शरीर से तो हिंसा का त्याग करो। तो पाप में पहले बताया स्थूल हिंसा का त्याग।

दूसरा है 'वितथ'- वितथ का अर्थ है असत्य। तथ्य को सत्य कहते हैं। शास्त्र के अनुसार बोलना, प्रिय-हितकारी वचन तथ्य कहलाते हैं। जिस वचन में तथ्य नहीं वह वितथ है। बिना कारण के वचन, गर्हित, सावद्य एवं पीड़ाकारक वचन वितथ कहलाते हैं। मर्मच्छेदी, कठोर, उद्वेगकारी, कटुवचन, बैरोत्पादक, भयोत्पादक तथा अवज्ञाकारी वचन वितथ की श्रेणी में आते हैं, ऐसे वितथ कथन करना वितथ व्यवहार कहलाता है अर्थात् असत्य बोलना कहलाता है। इसलिए यदि पूर्ण रूप से असत्य का त्याग नहीं कर पा रहे तो स्थूल रूप से असत्य का त्याग

करना अर्थात् मोटे-झूठ नहीं बोलना। आप व्यवहार जीवन में रहते हो कभी हँसी-मजाक कर रहे हो और कोई झूठ बोल दिया वह तो चलो अभी त्याज्य नहीं है किन्तु पहले उस झूठ के बोलने का त्याग करो जिस झूठ के बोलने से किसी के प्राण चले जाते हैं, किसी के प्राण संकट में पड़ जाएँ, ऐसा झूठ मत बोलो कि उसका परिवार संकट में पड़ जाए, ऐसा झूठ मत बोलो जिस झूठ के कारण महाभारत जैसे युद्ध हो जाएँ, तो पहले ऐसे स्थूल झूठ का त्याग करो।

अगली बात कही स्थूल चोरी का त्याग। महाराज जी! मैं तो बिना पूछे श्वांस भी ले लेता हूँ, बिना पूछे कर्म-नोकर्म वर्गणा ग्रहण करता हूँ, मैं चोरी का त्याग कैसे कर सकता हूँ? अरे भाई! इन चोरियों की बात नहीं कह रहे, सबसे पहले तो परधनहरण का त्याग करो कि मैं किसी की पड़ी हुई, रखी हुई, भूली हुई वस्तु का ग्रहण नहीं करूँगा, स्थूल चोरी का पहले त्याग करो। पुनः कुशील सेवन का त्याग करना। महाराज जी! कुशील सेवन का त्याग कैसे संभव है? मैं गृहस्थ जीवन में रहता हूँ वंशवृद्धि भी करनी है उसका पूरा त्याग कैसे किया जा सकता है? अरे! जो तुम्हारी पत्नी नहीं है, जिसे तुम परिणय करके नहीं लाए हो उस स्त्री के साथ कभी बुरा काम मत करो, चाहे वेश्या है या परनारी है उसके साथ विषयसेवन करने का पहले परित्याग करो। जब परस्त्री आदि का त्याग करोगे तो आगे आपका मन होगा कि स्वकीय स्त्री में भी मैं अधिक रमण नहीं करूँगा, उसमें भी मैं क्रमशः पर्व के दिनों में त्याग, पुनः 8 दिन का त्याग पुनः दिन बढ़ाते-बढ़ाते 16-24-28 दिन पुनः माह के पूरे 30-31 दिन तक अब्रह्म का त्याग कर दिया। धीमे-धीमे आगे बढ़े तब तो ठीक है; व्यक्ति सोचे कि मेरे मन में भाव भी नहीं आए, अरे! भाव तो बाद में रुकेंगे पहले द्रव्य की क्रिया को तो रोको।

अगली बात कही परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा का त्याग। आपने यदि परिग्रह का परिमाण नहीं किया है तो तीन लोक में जितनी भी वस्तुएँ हैं उन्हें ग्रहण करने का दोष आपको लगेगा और यदि आपने परिग्रह की सीमा बना ली कि इतने परिग्रह के अतिरिक्त अन्य परिग्रह का मैं त्याग करता हूँ तो आपको सबका आस्रव नहीं होगा। जितना पदार्थ आपका है उतने संबंधी ही आस्रव होगा। और दूसरी बात जितने परिग्रह का आपका परिमाण है उतने में ही आपकी राग रूप प्रवृत्ति होगी। जैसे किसी किसान के पास चार खेत हैं, किसी के पास 100, किसी के पास 1000 खेत हैं। गाय यदि खेत में आ गई तो जिसके जितने खेत हैं उसे उतनी ज्यादा चिंता रहेगी, जिसके चार खेत हैं उसे चार की चिंता रहेगी। चार के अलावा पाँचवें खेत में गाय आ गई या फसल सूख रही है या पानी ज्यादा हो गया तो उसे विकल्प नहीं आएगा। अपनी दुकान का विकल्प आता है कि कोई मेरी दुकान से चोरी करके नहीं ले जाए, सामने वाले की से ले जाए तो इतना विकल्प नहीं आता।

यदि आपने परिग्रह का परिमाण कर लिया है कि इतने से ज्यादा नहीं रखूँगा तो त्याग किए परिग्रह से आपका आस्रव नहीं होगा, उससे आप बचे, उससे बचने से किंचित् संसार बंधनों से भी आप बचे। तो व्यक्ति पहले सीमा बनाए। कोई कहे महाराज जी! ये भी कोई सीमा होती है, उसने सीमा बनाई है कि मैं छह खण्ड से ज्यादा नहीं रखूँगा, मैं 96000 रानियों से ज्यादा नहीं रखूँगा, मैं 18 करोड़ घोड़े, 84 लाख हाथी रखूँगा इससे ज्यादा नहीं रखूँगा, यह सीमा बनाना भी क्या कोई सीमा होती है? इसलिए हमने तो सीमा बनाई ही नहीं। सीमा नहीं बनाई तो तुम्हें सम्पूर्ण का आस्रव हो रहा है, उसने उतनी ही सीमा बना ली तो और सबका तो त्याग कर दिया। अन्य द्रव्य से होने वाले आस्रव से तो बच गया। ठीक है आज उसने चक्रवर्ती के वैभव के बराबर सीमा बनाई है कल वह इससे कम कर सकता है, आगे-आगे और कम कर सकता है। वह कम तो कर सकता है किन्तु बढ़ा नहीं सकता। वही श्रावक-गृहस्थ बाद में समस्त परिग्रह का त्याग करके महाव्रती भी बन सकता है।

आचार्य महोदय यहाँ यही कह रहे हैं कि इन स्थूल पापों से बचना अर्थात् विरक्त होना अणुव्रत कहलाता है। यदि किसी व्यक्ति को हार्ट अटैक पड़ गया हो और उसके पैर में कहीं फुंसी हो गई हो तो डॉक्टर पहले फुंसी का ऑपरेशन करेगा या हार्ट का? हार्ट का, क्योंकि डॉक्टर हार्ट के ऑपरेशन को छोड़ देगा तो रोगी की मृत्यु ही हो जाएगी, फुंसी का ट्रीटमेन्ट नहीं करेगा तो मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। तो पहले Major Problem Solve की जाती है, Minor Problem को तो बाद में भी Solve किया जा सकता है। ऐसे ही जो स्थूल पाप हैं वे गृहस्थों की Major Problem है, बहुत बड़ी समस्या हैं, यदि बड़े-बड़े पापों का त्याग कर दिया तो गृहस्थों की लगभग 80-90% समस्याओं का समाधान अपने आप हो जाएगा। स्थूल पापों का त्याग कर दिया, परिग्रह का परिमाण कर लिया तो लोभ की अग्नि अपने आप शांत हो जाएगी, अरे! क्या करना इतनी धन सम्पत्ति का, छोटी सी जिंदगी है उसका भी भरोसा नहीं, हद से हद मैं कितना जीऊँगा, आज वर्तमान काल में 100-120 वर्ष से ज्यादा आयु हो नहीं सकती। महावीर स्वामी की ही 72 वर्ष रही। इतनी आयु निकल गई अब संचय करके क्या करना है। वह व्यक्ति इस प्रकार स्थूल पापों का त्याग करके अणुव्रती बनता है।

महानुभाव! जो अणुव्रती बन गया समझो संसार सागर से पार होने वाली नौका में बैठा गया। आप सभी भी अणुव्रती बनें, संसार सागर से पार होने के लिए संयम की नौका में बैठें और भवदधि पार करें। आप सभी का मंगल हो शुभ हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अहिंसाणुव्रत का लक्षण

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥53॥

अन्वयार्थ–योगत्रयस्य – तीन योग के **कृतकारितमननात्** – कृत, कारित और अनुमोदन रूप **संकल्पात्** – संकल्प से **यत्** – जो **चरसत्वान्** – त्रस जीवों को **न हिनस्ति** – नहीं मारता **तत्** – उसको, **निपुणाः** – गणधर आदि आचार्य **स्थूलवधात्** – स्थूल हिंसा से **विरमणं** – विरक्त अर्थात् अहिंसा अणुव्रत **आहुः** – कहा गया है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में चारित्र अधिकार का वर्णन चल रहा है। विगत कारिका में अणुव्रत का स्वरूप बताया–जो स्थूल पाँचों पापों का यावज्जीवन त्याग करता है उसका वह अणुव्रत होता है। यहाँ पर प्रथम अणुव्रत का स्वरूप अर्थात् अहिंसाणुव्रत का स्वरूप बता रहे हैं–

यहाँ कहा जो जीव तीन योगों से कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक संकल्पपूर्वक त्रस जीवों का घात नहीं करता उसे गणधर परमेष्ठी स्थूल हिंसा से विरक्त नाम का व्रत कहते हैं। यह उसका संक्षेप में अर्थ हुआ। विस्तार से देखें तो 'संकल्प' जिनशासन में संकल्प यदि शुभ होता है तो वह शुभसंकल्प भी शुभ का आस्रव कराने वाला होता है, अशुभ संकल्प होता है तो पाप का आस्रव कराने वाला होता है। शुभ संकल्प जैसे–आपने संध्याकाल में मन में संकल्प ले लिया कि कल प्रातःकाल जल्दी उठकर भगवान् का पूजन-अभिषेक करने जाऊँगा, कल जाएँगे किंतु संकल्प आज से ले लिया है तो संकल्प लेते ही पुण्य का आस्रव प्रारंभ। किसी व्यक्ति ने संकल्प लिया कि मैं एक वर्ष में 12 माह (12 बार) सम्मेदशिखरजी जाऊँगा, उसके शुभ संकल्प लेते ही पुण्य का आस्रव शुरू, यदि वह इस बीच दिवंगत हो जाता है और एक बार भी शिखर जी नहीं जा पाया तो भी उसे शिखर जी की वंदना का पुण्य मिलेगा जैसे मेंढक भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में जा रहा था, राजा श्रेणिक के हाथी के पगतल आकर मृत्यु को प्राप्त हुआ, फिर भी भगवान् महावीर स्वामी की वंदना का भाव मन में था इस शुभ भाव से मृत्यु को प्राप्त कर वह देव हो गया।

आचार्य भगवन् शिवकोटि जी महाराज ने भगवती आराधना ग्रंथ मे दिया है कि आराधक यदि अपनी शुद्ध आलोचना करता है, अपने दोषों का परिहार करता है, प्रायश्चित लेता है तो

वह शुद्ध आराधक होता है, यदि नहीं करता है तो अशुद्ध आराधक होता है। उन्होंने बताया कि यदि कोई मुनिमहाराज सल्लेखना लेने के पूर्व अपना परमार्थ प्रतिक्रमण करने के लिए और यावज्जीवन की आलोचना करने के लिए कहीं निर्यापकाचार्य गुरु के पास जा रहे हैं, उनके मन में भाव है कि मैं प्रत्येक लघु और स्थूल सभी दोषों का प्रायश्चित्त लूँगा, उनकी आलोचना करूँगा जिससे मेरे मन की गंदगी, मैल सब दूर हो जाएगा। ऐसा सोचकर जा रहे हैं कि गुरु महाराज जो भी मुझे प्रायश्चित्त देंगे मैं ग्रहण करूँगा। इससे मेरी शुद्धि होगी व कल्याण होगा किन्तु मार्ग में समाधि हो गई तो वे आराधक ही कहलाएँगे क्योंकि उनके मन में प्रायश्चित्त लेने का भाव था, उनकी इतनी विशुद्धि बढ़ी थी कि मैं अपने दोषों का परिहार करूँ।

एक शिष्य अपने गुरु के सामने अपने दोषों की आलोचना भी करता है किन्तु वह शुद्ध आलोचना नहीं कर रहा, कुछ दोषों को छिपा रहा है, सोच रहा है कुछ बड़े दोष बता दूँ, कुछ छोटे दोष बता दूँ जिससे विश्वास बना रहे कि मैं दोषों का परिहार करने के लिए प्रायश्चित्त भी लेता हूँ। ऐसा छल-कपट करने वाला वह साधु प्रायश्चित्त लेने के बाद भी शुद्ध नहीं होता, आराधक नहीं कहलाता। तो यहाँ पर कहा संकल्प शुभ कार्य का लिया तो शुभ आस्रव शुरू, अशुभ का लिया तो अशुभ आस्रव शुरू। किसी ने संकल्प लिया कि मैं अमुक व्यक्ति को मारूँगा किन्तु मारा नहीं तो भी उसे मारने का पाप लगेगा। मैं उससे ऐसा झूठ बोलूँगा, ऐसी चोरी करूँगा, उसे ठगूँगा, विषयों का सेवन करूँगा, मेरे पास खूब परिग्रह होगा ऐसा मन में दु:संकल्प लेकर बैठा है तो अशुभ कर्म का ही आस्रव होता है।

यहाँ कहा-**'संकल्पात्'** संकल्पपूर्वक **'कृतकारितमननात्'** कृत-कारित-अनुमोदना से संकल्प लिया कि मैं हिंसा नहीं करूँगा, मैं उसे नहीं मारूँगा, उसके प्रति खोटे वचन भी नहीं कहूँगा और मैं अपने मन में ऐसे विचार भी नहीं लाऊँगा जिन विचारों से मेरी ही आत्मा का घात होता है तो संकल्पपूर्वक स्वयं अशुभ नहीं करना, न कराना न भावना भाना। मन से, वचन से, काय से किसी ने अगर अशुभ किया है तो मैं उसका अनुमोदन भी नहीं करूँगा। कोई आपको अपनी बातें बताए कि मैंने अमुक व्यक्ति को मार दिया तो जो धर्मात्मा गृहस्थ है वह यह नहीं कहेगा कि तूने बहुत अच्छा किया, वह तो यही कहेगा भैया! हिंसादि पाप कार्य करना तो नहीं चाहिए, तुमने किए तो तुम जानो। जो धर्मात्मा है, सद् गृहस्थ है, व्रती है या अहिंसाणुव्रत का पालन करना चाहता है वह संकल्पपूर्वक किसी जीव को नहीं मारे, किसी प्राणी से नहीं कहे कि तुम इसे मारो और कोई व्यक्ति संकल्पपूर्वक मारकर आया है तो उसके कार्य की प्रशंसा-अनुमोदना न करे।

'योगत्रयस्य'- आत्मा की सारी क्रिया इन तीन योगों के द्वारा होती है जिनका नाम है मन, वचन और काय। ये तीनों योग कषायों का निमित्त पाकर इतने बलवान् बन जाते हैं कि आत्मा को कर्मों से मलीन कर संसार में भ्रमण कराते हैं इसीलिए आचार्य महोदय ने सर्वप्रथम योगत्रय का कथन किया। सारे पापों का मुख्य कारण है ये तीनों योग। अहिंसाणुव्रत का कथन करने के लिए इन तीन योग से होने वाले पापों से कैसे विरक्त होना होता है उसका निरूपण किया। यानि मन से हिंसा न करें, न कराएँ और अनुमोदना भी न करें। वचनों से हिंसा न करें, वचनों से कारित न करें और वचनों से अनुमोदना भी न करें। काय से भी हिंसा न करें, काय से कारित भी न करें और काय से अनुमोदना भी न करें। तीनों योगों मन-वचन-काय से जो कोई **चरसत्वान्** 'चरन्ति जीवा:'-जो जीव चलते हैं, गमन करते हैं अथवा 'त्रसन्ति इति त्रसा' चर जीव कहो या त्रस जीव, क्योंकि स्थावर जीव तो स्थिरशीला होते हैं एक जगह पर रुक जाना जिनका स्वभाव है वे स्थावर कहलाते हैं। यहाँ 'चरसत्व' त्रस जीवों का सूचक है। अहिंसाणुव्रती त्रसजीवों का संकल्पपूर्वक घात नहीं करता है। यद्यपि पानी छानना, पंखा चलाना, जमीन खोदना आदि कार्यों में छहों काय के जीवों की विराधना हो सकती है परंतु उसका संकल्प तो पानी छानने का है, त्रस घात का नहीं। जैसे कोई महिला फल-सब्जी सुधार रही थी विचारते-विचारते उस फल सब्जी में स्थित कोई लट या जीव का घात भी हो सकता है परंतु उसका संकल्प उसको मारने का नहीं है। कोई उनसे कहे कि तुम एक लट या सूक्ष्म जीव को मार दो तो नहीं मारेंगे क्योंकि उसमें संकल्पपूर्वक मारना होता है। आरंभ में त्रसघात हो सकता है पर संकल्पपूर्वक नहीं।

अहिंसाणुव्रती स्थावर का घात भी बिना प्रयोजन नहीं करता **''त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे''** यहाँ पर अभी स्थावर जीवों की हिंसा की बात नहीं बता रहे अभी तो त्रसजीवों की हिंसा का त्याग करा रहे हैं और अभी सम्पूर्ण हिंसा के त्याग की बात नहीं कह रहे, क्रम-क्रम से आगे बढ़ो आरंभी, विरोधी, उद्योगी और संकल्पी के भेद से हिंसा चार प्रकार की होती है। गृहस्थ संबंधी कार्यों में जैसे रसोई बनाना, पानी छानना, झाड़ू लगाना आदि-आदि क्रियाओं में जो जीवों की विराधना होती है वह आरंभी हिंसा कहलाती है। धार्मिक स्थानों की सुरक्षा हेतु विरोधी दल से झगड़ा होना, धर्म-धर्मात्माओं की रक्षा हेतु युद्ध करना-उसमें जीवों का घात होता है वह विरोधी हिंसा है तथा व्यापार संबंधी हिंसा उद्योगी हिंसा कहलाती है। इन तीनों प्रकार की हिंसा का त्यागी गृहस्थ नहीं हो सकता। अभी तो संकल्पी हिंसा के त्याग की बात कह रहे हैं।

संकल्पी हिंसा की जाती है, आरंभी-उद्योगी-विरोधी ये हिंसा हो जाती हैं। करने में परिणामों की तीव्रता है, रागादि की तीव्रता है और होने में रागादि की मंदता है। कोई भी अशुभ कृत्य जब बुद्धिपूर्वक किया जाता है तब उस अशुभ कृत्य के माध्यम से विपुल मात्रा में पाप का आस्रव होता है। यदि कोई व्यक्ति अशुभकार्य करने की योजना भी बनाता है तब भी तीव्रमात्रा में पाप कर्म का आस्रव होता है। यदि कोई व्यक्ति बुरे कार्य करने वालों का संग्रह करता है, उनकी अनुमोदना करता है तब भी अशुभ कर्म का तीव्र आस्रव होता है। इनसे बचने का उपाय है हम स्वयं उस अशुभ का त्याग करें, संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करें कि मैं कभी जीवन में संकल्पपूर्वक जीववध नहीं करूँगा; इस प्रकार जो स्वयं न करता है, न कराता है, न अनुमोदना करता है वह व्यक्ति अहिंसा के निकट पहुँच गया। फिर क्या करता है? जीवों की रक्षा करता है। जिसने स्थूल वध का त्याग कर दिया तो उसका वह स्थूल हिंसा से विरक्ति नामक अणुव्रत हो गया।

महानुभाव! आचार्यों ने कहा है–

इति पञ्च-जिनैः प्रोक्तामनर्थानां च कारणम्।
धर्म-नीति-सदाचार-स्वात्मगुण-विघातकम्॥ – (सुधर्म श्राव.)

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों को जिनेन्द्र भगवान् ने अनेक अनर्थों का कारण कहा और इतना ही नहीं ये पाँचों पाप धर्म, नीति, सदाचार और आत्मा के गुणों के घातक कहलाते हैं।

इन पापों में से एक हिंसा रूप पाप समस्त पापों का कारण है, इस हिंसा में समस्त पाप अन्तर्भूत हो जाते हैं। एक हिंसा का त्याग करने से निश्चित ही समस्त पापों का त्याग हो जाता है इसलिए जिनेन्द्रदेव ने एक हिंसा के त्याग को ही सबसे मुख्य व्रत माना है, इस हिंसा का त्याग करने से संसार के चक्र का त्याग भी अवश्य हो जाता है।

यह अहिंसा व्रत सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत के लिए आधारभूत होता है। पहले जीव में अहिंसाणुव्रत आता है तत्पश्चात् सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदार-संतोष व्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत ये क्रमशः आगे आते जाएँगे। क्योंकि जब व्यक्ति भवन का निर्माण करता है तो पहले पहली मंजिल बनाता है, पहली मंजिल पुख्ता बन गई तो दूसरी मंजिल उसके ऊपर बन जाएगी पुनः तीसरी-चौथी-पाँचवी मंजिल बन जाएगी। जिसने हिंसा का त्याग किया है वह व्यक्ति झूठ से भी बच सकता है। हिंसा करने वाला झूठ से कैसे बच पाएगा वह तो झूठ बोलेगा ही, उसने हिंसा की और किसी ने पूछा क्या हुआ तो

वह कहेगा नहीं-नहीं कुछ नहीं किया। हिंसा करके व्यक्ति झूठ बोलता है। यदि हिंसा का त्याग कर दे तो झूठ भी छूट सकता है। हिंसा का स्थूल त्याग करने से वह झूठ का स्थूल त्याग भी कर सकता है।

जिसने स्थूल झूठ का त्याग कर दिया तो वह स्थूल चोरी का भी त्याग कर सकता है। और जिस व्यक्ति ने स्थूल चोरी का भी त्याग कर दिया है तो फिर वह कुशीलसेवन न करेगा क्योंकि कुशील सेवन छिपकर के, अंधकार में, एकांत स्थान में किया जाता है। जो व्यक्ति एकांतवास की इच्छा ही न करे, जो छिपाने जैसा कुछ कृत्य ही न करे, चोरी का त्याग कर दिया तो उसके जीवन में पारदर्शिता है। बस दर्पणवत् उसकी क्रिया-चर्या है, उसके जीवन में फिर अब्रह्म सेवन का कृत्य नहीं रहेगा और जब अब्रह्म सेवन का त्याग कर दिया तो किसके लिए संपत्ति आदि जोड़ना। व्यक्ति प्राय:करके अपनी पत्नी के लिए, बच्चों के लिए धन दौलत जोड़ता है और इसलिए भी जोड़ता है कि पत्नी सदा निरोगी रहे, स्वस्थ रहे जिससे मेरे विषयों में बाधा न आए। तो वह व्यक्ति जो हिंसा का त्याग करता है संभव है चारों पापों का त्याग कर सकता है और जिसने हिंसा का त्याग नहीं किया तो हिंसा करते हुए उसका व्यवहार वितथ व्यवहार कहलाएगा। शब्दों से नहीं भी बोले फिर भी उसका वचनालाप असत्य ही होगा।

जो हिंसा करता है वह नि:संदेह अपने कर्त्तव्य की चोरी करता है। हिंसा का त्याग किए बिना अचौर्यव्रत का पालन नहीं किया जा सकता, हिंसा का त्याग किए बिना कुशील सेवन का त्याग नहीं किया जा सकता, हिंसा का त्याग किए बिना परिग्रह का त्याग नहीं किया जा सकता तो सबसे पहले हिंसा का त्याग किया जाता है। पहले आपने स्थूल हिंसा का त्याग किया वह भी संकल्पपूर्वक कि मैं संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करूँगा। हिंसा जीवन में हो सकती है किन्तु बुद्धिपूर्वक मैं किसी जीव को नहीं मारूँगा। चलने में हिंसा–हुई हो सकती है, व्यापार में हिंसा हुई–हो सकती है, खेती करने में हिंसा हुई–हो सकती है। Do और Be दोनों में थोड़ा अंतर है। 'Do' अर्थात् करना Be अर्थात् होना। Do, become, may इनका अर्थ अलग ध्वनित होता है, Be का अलग ध्वनित होता है। होना एक सहज प्रक्रिया है और करने में अंतरंग के परिणाम भी लगाए जाते हैं। जब कोई क्रिया व्यक्ति बुद्धिपूर्वक करता है तो उसमें अपनी पूरी शक्ति लगाता है, मन-वचन-काय की शक्ति भी लगाता है और अपना उपयोग भी केन्द्रित करता है तब वह अपना कार्य कर पाता है, जैसे आपने बुद्धिपूर्वक भक्तामर का पाठ किया, याद नहीं है पहली बार पढ़ रहे हो तो आपका उसमें उपयोग लगेगा कि कोई शब्द गलत न हो जाए, कोई अक्षर छूट न जाए तो उसमें आपको टाइम ज्यादा लगेगा और मन भी ज्यादा लगेगा

किन्तु जब आपको वह भक्तामार स्तोत्र याद हो गया फिर आप पाठ कर रहे हैं, कोई काम भी करते चले जा रहे हैं, टेपरिकॉर्डर की तरह बोलते चले जा रहे हैं और काम भी आपका चल रहा है, कब पाठ हो गया आपको पता भी नहीं चला, पूरा पढ़ गया। तो कई बार ऐसा होता है जो क्रिया-प्रवृत्ति सहज होती हैं उनमें इतनी तीव्रता नहीं होती। जो पाठ देखकर किए जाते हैं उनमें समय भी ज्यादा लगता है और थकान भी हो जाती है और जो शब्द सहजता में आपके मुख से निकलते जा रहे हैं तो थकान भी कम आएगी, energy भी कम लगेगी और परिणामों में तीव्रता भी कम रहेगी।

महानुभाव! इसलिए यहाँ कह रहे हैं कि बुद्धपूर्वक जीव का घात नहीं करना है। जो गृहस्थ है वह घात करने का त्यागी होता है, उसे आत्महत्या का भी त्याग करना है तभी वह अणुव्रती बन सकता है, उसे परघात का त्याग करना है, गर्भपात आदि करने-कराने का त्याग करना है क्योंकि इसका त्याग किए बिना वह अणुव्रती नहीं बन सकता इसलिए उसे संकल्पपूर्वक त्याग करना है कि मैं किसी जीव को नहीं मारूँगा और कोई मारता है तो उसे मना करूँगा, समझाऊँगा कि ऐसा करना ठीक नहीं है और कोई व्यक्ति किसी जीव का घात करके आया और पूछे मैंने ठीक किया न, तो मैं उसके कृत्य की अनुमोदना भी नहीं करूँगा।

इस प्रकार गणधर परमेष्ठियों ने अहिंसाणुव्रत के स्वरूप को कहा। जब कोई सम्यग्दृष्टि जीव अप्रमत्त होकर किसी जीव की हिंसा नहीं करता, उस समय उत्कृष्ट क्रियाओं को करता हुआ भी समस्त जीवों का रक्षक कहा जाता है। जहाँ अपनी आत्मा को तथा अन्य जीवों को दु:ख देने वाला कषायों का उदय मन-वचन-काय द्वारा रोक दिया जाता है वहीं पर मनुष्यों का उत्तम अहिंसा व्रत पालन होता है। जो पुण्यवान् पुरुष तीनों लोकों में उत्तम और परमपवित्र एक अहिंसा व्रत का पालन करता है वह पुरुष बिना किसी परिश्रम के समस्त व्रतों का पालन कर लेता है। इसीलिए बुद्धिमान् जीवों को समस्त व्रतों के पालन के लिए, पाप के मार्गों को नाश करने के लिए, आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए इस हिंसा का त्याग कर देना चाहिए।

''अहिंसा-जननी प्रोक्तां व्रतानां जिनेश्वरै:।''

यह अहिंसा समस्त व्रतों की माता है ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है इसलिए अपना पूर्ण प्रयत्न करके भव्य प्रणियों को अहिंसा व्रत का साधन करना चाहिए। इस संसार में जीवों की हिंसा करने से कभी किसी काल में धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि हिंसा के समान दु:ख देने वाला महापाप तीनों लोकों में कहीं नहीं है।

महानुभाव! यदि अपने शरीर में एक फांस भी लग जाती है तो पीड़ा होती है। भला जिन प्राणियों को शस्त्र से मारा जाता है क्या उनको दु:ख नहीं होता? अवश्य होता है। संसार में जितने जीव हैं वे सब अपनी आत्मा के समान कहे गये हैं, वे सभी जीवित रहने की इच्छा रखते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, इसीलिए अपनी आत्मा के समान समस्त जीवों की रक्षा करनी चाहिए। आप सभी गृहस्थजन अहिंसाणुव्रत का पालन करें, आत्मा का कल्याण करें, यही आपके लिए श्रेयस्कर है, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

छेदन-बंधन-पीडन-मतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च॥54॥

अन्वयार्थ–स्थूलवधाद् व्युपरतेः – स्थूलवध त्याग अर्थात् अहिंसाणुव्रत के, **पञ्चव्यतीचाराः** – पाँच अतिचार हैं **छेदन-बन्धन-पीडनम्**–छेदना, बांधना, पीड़ा देना, **अतिभारारोपणं** – बहुत भार को लादना, **च**–और, **आहारवारणा** – आहार अर्थात् भोजन-पान कम करना वा रोकना, **अपि** – भी।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में पूर्वकारिका में अहिंसा अणुव्रत का स्वरूप बताया कि किसी भी जीव को संकल्पपूर्वक नहीं मारना, मन-वचन-काय से हिंसा का त्याग, कृत-कारित-अनुमोदना से भी परित्याग। स्थूल वध से विरक्त होना अहिंसा अणुव्रत है। उस अहिंसाणुव्रत का पालन करने वाला गृहस्थ श्रावक या श्राविका किस प्रकार अपने व्रत का निर्दोष पालन करे, किस प्रकार प्रवृत्ति करे जिससे व्रत में दोष न लगे। तो यहाँ पर सर्वप्रथम बताते हैं अहिंसा अणुव्रत के कौन-कौन से दोष होते हैं, कौन-कौन से अतिचार होते हैं इनका वर्णन यहाँ किया–

महानुभाव! यहाँ कहा-जिस किसी भी भव्य जीव ने स्थूल वध का त्याग कर दिया है, स्थूलहिंसा का त्याग अर्थात् संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करता, उसने संकल्पी हिंसा का त्याग किया है। जो संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की व स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करता किन्तु आरंभ करने में, व्यापार करने में, खेती करने में, उद्योग-धंधा करने में उससे हिंसा हो जाती है वह गृहस्थ है, वह हिंसा करता नहीं, हो जाती है। धर्म, धर्म के आयतन एवं स्वकीय परिवार इत्यादि की रक्षा करने का वह दायित्व निभाता है, अपने कर्तव्य का पालन करता है, उनकी रक्षा करता है, कहीं कोई व्यक्ति आक्रमण करे, उपसर्ग करे तो ये निवारण करने का प्रयास करता है, उसमें यदि कहीं हिंसा होती है तो उसका उसने अभी त्याग नहीं किया। वह संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है आरंभी, उद्योगी व विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं होता।

जिस अहिंसाअणुव्रत को स्वीकार किया था उस व्रत का वह निर्दोष रीति से पालन करना चाहता है। वह अहिंसा अणुव्रत को निर्मल से निर्मल बनाना चाहता है कि किञ्चित् भी हिंसा का भाव न आए, हिंसा के वचन न निकलें, हिंसा की क्रिया न होवे और किसी भी प्रकार से हिंसा का अनुमोदन भी न हो। वह हिंसा के लिए किसी को आदेश भी नहीं देता और स्वयं भी हिंसा नहीं करता। आचार्य महोदय ने उस अहिंसाअणुव्रत के पाँच अतिचार बताए।

छेदन, बन्धन, पीड़न, अतिभारारोपण और भोजनपान कम करना। प्रथम अतिचार है-'छेदन' इसका अर्थ है छेदना-काटना या छेद करना, विग्रह करना, अलग करना, यह छेदन शब्द के सामान्य अर्थ हैं। क्या काटना? कोई पशु है, पक्षी है उसके अंग-उपांग काटना या उनको छेद कर देना यह अहिंसा अणुव्रती के लिए उचित नहीं है। यदि वह ऐसा करता है तो उसका अहिंसा अणुव्रत दूषित होता है। ग्रामीण क्षेत्र में कृषक लोग अपने बैल-गाय-बकरा आदि जानवरों के कान कटवा देते हैं, कहीं उसमें सिक्के लगवा दिए, उसकी पूँछ कटवा दी या अन्य प्रकार से अंग छेद कर अलग कर दिया तो ये भी अहिंसा अणुव्रती के लिए दोष है, वह छेद नहीं कर सकता। यहाँ तक कि जो व्यक्ति इस प्रकार के कार्य करते हैं ऊँट-बैल आदि की नाक में नकेल डालना, उनकी नासिका में रस्सी डालना, रीछ-भालू आदि की नाक को भी छेदना आदि ये सभी अतिचार हैं, क्योंकि ऐसा करने से उस प्राणी को कष्ट होता है। किसी के नाक-कान छिदवाना यह भी अहिंसाणुव्रती के लिए दोष है। दुर्भावना या कषाय के उद्वेग से प्राणियों के निर्दयतापूर्वक नाक, कान आदि छेदना, छेद नामक अतिचार है। पूर्ण रूप से प्राणों का वियोग नहीं हुआ इसलिए पूर्णव्रत भंग नहीं हुआ परन्तु जिसके नाक आदि छेदे गए हैं उसका मन संतापित हुआ तथा नाक आदि छेदने वाले के भावों में विकृति आई है, अतः प्रमत्त योग होने से एक देशव्रत भंग हुआ इसलिए अतिचार कहलाता है। अहिंसाणुव्रती न स्वयं किसी के अंग छेदन करता, न करवाता और करने वालों की अनुमोदना भी नहीं करता।

अगला अतिचार है-**'बंधन'** इसका सीधा अर्थ है बाँधना। दुर्भावों से बांधना अतिचार है। किसी को योग्य बनाने के लिए बांधा जाता है वह अतिचार नहीं है। अतिचार कषायों के तीव्र उदय से होता है। बंध दो प्रकार का होता है सार्थक और निरर्थक। निरर्थक बंध तो अहिंसाणुव्रती के योग्य नहीं है। सार्थक बंध के दो भेद हैं सापेक्ष बंध और निरपेक्ष बंध। अग्नि आदि से छोटे बच्चों की रक्षा करने के लिए बांधे जाते हैं अथवा अपने पालतू पशुओं की रक्षा करने के लिए बांधे जाते हैं जो उपद्रव आने पर स्वयं बंधन को तोड़कर भाग सकते हैं, अपनी रक्षा कर सकते हैं यह सापेक्ष बंध है। यह क्रिया अतिचार रूप नहीं है क्योंकि इस बन्धनरूप क्रिया में जीवों की रक्षा के भाव हैं या उनको दुर्घटना से बचाने का उपाय है।

कठोर रूप से बांधने को निरपेक्ष सार्थक बंध कहते हैं। इस बंधन में परिणामों में कठोरता, निर्दयता, क्रूरता आती है अतः यह बंधातिचार है क्योंकि इसमें प्राणियों के पूर्ण रूप से प्राणों का घात नहीं है अतः एकदेश व्रतों की रक्षा है तथा परिणामों की क्रूरता होने से एक देशव्रतों का भंग होता है इसलिए यहाँ अहिंसाणुव्रत का बंधन नामक अतिचार है। संसार में सभी जीव

स्वतन्त्र रहना चाहते हैं किन्तु फिर भी उनकी स्वतंत्रता को छीनकर जो कोई भी मनुष्य उन्हें बंधन में बांधकर रखता है, रस्सी से, सांकल से बांधकर रखना यह भी अहिंसाअणुव्रती के लिए अतिचार है। क्योंकि बंधन किसी को प्रिय नहीं होता। हर प्राणी बंधन से मुक्ति चाहता है, बंधन में उसे कष्ट का आभास होता है। जो अहिंसा अणुव्रती है वह दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहता। जब स्वयं की आत्मा को कष्ट इष्ट नहीं है तो दूसरे की आत्मा को कष्ट इष्ट कैसे हो सकता है, जब स्वयं के लिए कष्ट अनिष्टकारक होता है तब दूसरे प्राणी के लिए भी वह कष्ट अनिष्टकारक ही होता है इसलिए अहिंसाअणुव्रती बंधन नहीं चाहता और बंधन में किसी को बांधता भी नहीं है।

अगला अतिचार दिया **'पीड़न'** अर्थात्-पीड़ा देना। पीड़ा और वध एकार्थवाची हैं, अतः पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथों में इसको वधातिचार और रत्नकरण्डश्रावकाचार में इसको पीड़ातिचार कहा है। बेंत-चाबुक-कोड़ा आदि से मारकर पीड़ा पहुँचाना पीड़ा (वध) कहलाता है। अथवा श्रीसर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में कहा आयु, इंद्रिय श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करना, तीक्ष्ण तलवार, मूसल, मुद्गर आदि से शरीर को तोड़ना, मरोड़ना, वध करना, प्राणों का सर्वथा नाश करना वध कहलाता है। आचार्य महोदय ने यहाँ वध शब्द का प्रयोग न करके 'पीड़न' शब्द का प्रयोग कर पीड़नातिचार कहा कि पूर्णरूप से प्राणों का वियोग नहीं होता, एकदेश व्रत का पालन होता है अतः देशहिंसा होती है, यह अतिचार है अनाचार नहीं।

किस प्रकार से पीड़ा देना? कोई आपके अधीनस्थ नौकर-चाकर, दास-दासी, सेवक-सेविका हैं उनको जानबूझकर कष्ट दे रहे हो। वह रोगी है, वह काम ज्यादा नहीं कर पा रहा है, आप यह सब जान रहे हो देख रहे हो फिर भी उसे डाँट दिया कि देरी से क्यों आए? आज तुम्हें ज्यादा काम करना पड़ेगा, वह कहता है बाबू जी! आज मैं काम ज्यादा नहीं कर पाऊँगा, मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, मैं कल-परसों भले ही ज्यादा काम कर दूँगा; किन्तु नहीं, उसे पीड़ा कष्ट देने में स्वयं खुश होना यह अणुव्रती का पीड़ा नामक अतिचार के अन्तर्गत आता है। अन्य प्रकार से भी पीड़ा देना जैसे सर्दी है, बरसात है या मौसम की प्रतिकूलता है, आप देख रहे हैं वह सर्दी में ठिठुर रहा है, पर आपने कह दिया चाहे सर्दी हो या गर्मी, चाहे ओलावृष्टि हो, नौकरी पर आना है तो आना है और यहीं खड़ा होना है। वह कहता है बाबू जी गर्मी बहुत है मैं छाया के नीचे खड़े होकर निगाह रख लूँगा, किन्तु नहीं, तुम्हें यहाँ ही खड़े रहना है, हिलना नहीं; जबकि आपको पता है उसे यहाँ कष्ट हो रहा है तो भी हृदय में दया का भाव नहीं लाता। आपको उसके कष्ट की कोई परवाह नहीं, अहिंसा अणुव्रती ऐसा नहीं कर सकता।

अहिंसा अणुव्रती को दूसरे के कष्ट की परवाह होती है, वह दूसरे को जानबूझ के कष्ट नहीं देता, वह सोचता है यह कार्य भी करे किंतु इसे कष्ट भी न हो। यह बेचारा धूप में खडा होकर कब तक काम कर पाएगा इसलिए कुछ नहीं तो ऊपर टीन शेड लगाकर एक छोटा सा कमरा बन जाए तो यहाँ बैठ सके। यदि सर्दी का समय है, शीतलहर चल रही है, वह ठिठुर रहा है, ठंडी इतनी है कि पानी बर्फ बन रहा है किन्तु आप उसके साथ ऐसा बर्ताव कर रहे हैं जैसा बर्ताव मानव एक पशु के साथ भी नहीं करता, अमानवीय व्यवहार, क्रूरता-निर्दयता का व्यवहार करना, पीड़ा देना भी अहिंसा अणुव्रती के लिए उचित नहीं है। जिसे पीड़ा हो रही है उसका उपाय व उपचार करें, जिससे पीड़ा न हो ऐसी व्यवस्था बनाएँ। वह कामचोर नहीं है काम करना चाहता है किन्तु थोड़ी सी अनुकूलता चाहता है; पर उसकी अनुकूलता न बनाकर उसे डाँटना, अपशब्द बोलना उचित नहीं है। यदि वह काम ठीक नहीं करता तब तो उसे डांटकर समझाना ठीक है किन्तु अच्छा काम करने के बावजूद भी यह दिखाने के लिए कि मैं मालिक हूँ तू नौकर है, मैं जैसा चाहूँ वैसा व्यवहार तेरे साथ कर सकता हूँ तो यह अहिंसा अणुव्रती के लिए उचित नहीं है। अनावश्यक पीड़ा न पहुचाएँ वरन् काम करने के लिए प्रोत्साहित करें, जब उसका मन लग जाएगा तो वह अपना काम समझकर अच्छे से अच्छा काम करेगा, शक्ति से ज्यादा काम स्वयं करेगा, यदि उसका मन टूट जाएगा तो काम तो वह करेगा, बंधुआ मजूदर है किंतु वह बंधन में पड़े हुए पशु की तरह से संक्लेशता के साथ काम करेगा। बंधन में डालकर उसे पीड़ा देना अहिंसाणुव्रती का दोष है।

अगला कहा–**'अतिभारारोपण'** शक्ति से ज्यादा वजन रख देना, बैल आदि पशु और मानव जितने भार का वहन कर सकते हैं लोभादि कषाय के वशीभूत हो उनकी शक्ति से अधिक भार को उन पर लादना अतिभारारोपण अतिचार है। इसमें कषाय की पुट होने से एक देश व्रत भंग होने की संभावना है, बिना लोभादि कषाय के ऐसा कार्य नहीं हो सकता।

चाहे पशु है, चाहे कोई मनुष्य है या कोई आपके अधीनस्थ देव है किसी पर भी आपने उसकी शक्ति से ज्यादा भार लाद दिया तो यह भी अहिंसाणुव्रती के लिए अनुचित है। बैल, ऊँट, गधा, भैंसा, घोड़ा आदि किसी पशु पर आपने उसकी शक्ति से ज्यादा भार लाद दिया तो ऐसा करना अहिंसा अणुव्रती का अतिचार है। उसमें जितनी क्षमता है उतना काम लो। जैसे तांगा है उसमें 4-5 व्यक्ति बैठ सकते हैं, उतना तो ठीक है किन्तु इससे ज्यादा बिठालना, उस पशु को कष्ट हो रहा है, बेचारा धूप में दौड़ रहा है, सर्दी में दौड़ रहा है किन्तु आप उससे और ज्यादा काम ले रहे हैं तो यह अतिभारारोपण नामक अतिचार है। यदि सरकार टेक्स ज्यादा बढ़ाती है तो यह भी सरकार का जनता के प्रति अति भारारोपण होता है। जो न्यायोचित

है उसका उल्लंघन करके कर का भार बढ़ा देना यह भी अहिंसाणुव्रती के लिए उचित नहीं है। अथवा कार्य का भार बढ़ा देना; बॉस ने कहा-इतना काम पूरा करना ही करना है, सर मैं कोशिश करूँगा, नहीं हो पाया तो दुगुना-तिगुना काम और दे दिया तो अहिंसाअणुव्रती ऐसा नहीं कर सकता, उसकी कार्य शक्ति से ज्यादा भार नहीं डाल सकता। अथवा किसी ने गलती की, उसे दण्ड दिया यदि प्रायश्चित भी शक्ति से ज्यादा दिया तो दण्ड का भार भी अतिभारारोपण हो सकता है।

अगला है-**'अन्नपान-निरोध'** भोजन पान का निरोध करना। पशु-पक्षियों को बांधकर समय पर उन्हें भोजन नहीं देना यह भी अहिंसाणुव्रती के लिए अतिचार है। क्योंकि दया होगी तो वह स्वयं अपना भोजन आगे-पीछे कर सकता है किन्तु अपने अधीनस्थ को तो समय पर भोजन देता है। कम भोजन देना, आधा-चौथाई भोजन देना, पर्याप्त जल नहीं दिया तो यह भी इस बात का संकेत है कि दया घटती चली जा रही है, अंदर में निर्दयता आ रही है। महानुभाव! जिसने अहिंसा अणुव्रत को स्वीकार किया है उस व्यक्ति को किसी भी प्राणी का अंग-उपांग छेदन नहीं करना चाहिए, उसे किसी को बंधन में नहीं बांधना चाहिए। वह किसी के प्राण नहीं ले सकता और किसी को अनावश्यक पीड़ा नहीं दे सकता, अतिभार भी नहीं लाद सकता और न ही किसी के भोजन पानी का निरोध कर सकता।

यहाँ श्लोक में 'अपि' शब्द से तात्पर्य है कि इन पाँच अतिचारों के अतिरिक्त मंत्र- तंत्र आदि के द्वारा भी किसी जीव के लिए किए गए बंध आदि भी अतिचार हैं यहाँ उनका ग्रहण किया है। जिस प्रकार लाठी आदि के द्वारा जीवों को ताड़ने, रोधने से व्रत का एक देश भंग होने से अतिचार है उसी प्रकार मंत्र-तंत्र आदि के द्वारा बंधादि करना अतिचार है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने यहाँ इस कारिका में अहिंसाणुव्रत का पूर्णरूपेण पालन हो सके उसके लिए इन अतिचारों का व्याख्यान किया जिससे व्रतों की सुरक्षा हो सके, अतिचारों का निराकरण करने से ही व्रत की रक्षा हो सकती है। आ. भगवन् उमास्वामी जी ने व्रतों की रक्षा के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ भी कहीं। यहाँ अहिंसाव्रत की रक्षा किस प्रकार हो सकती है इसका सुगम समाधान दिया।

महानुभाव! एक अहिंसाणुव्रती का कर्त्तव्य होता है वह अपनी चित्त की सरलता-सहजता-दया के कारण इन अतिचारों से बचता है और अपने अहिंसाणुव्रत का निर्दोष पालन करता है। आप सभी भी इन दोषों से बचें और अहिंसाणुव्रत को स्वीकार करें, यह आपके कल्याण का एक साधन है। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सत्याणुव्रत का लक्षण

स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूलमृषावादवैरमणम्॥55॥

अन्वयार्थ–यत् – जो **स्थूल-अलीकं** – स्थूल झूठ **न वदति** – नहीं बोलता **न परान् वादयति** – न दूसरों से बुलवाता है **विपदे** – विपत्ति के कारणभूत **सत्यमपि** – सत्य भी नहीं बोलते **तत्** – उसे **सन्तः** – सज्जन पुरुष **स्थूल-मृषावाद-वैरमणम्** – स्थूल झूठ का त्याग अर्थात् सत्याणुव्रत, **वदन्ति** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में श्रावक धर्म की चर्चा चल रही है। श्रावक को अपना आचरण कैसा करना चाहिए जिससे वह पापों से बच सके, दुर्गति से, दु:खों से, दुरावस्था से बच सके, सन्मार्ग पर चल सके। गृहस्थ जीवन में रहते हुए किस प्रकार वह कल्याणमार्ग का पथिक बन सकता है, उसकी प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिए? हिंसामय हो या अहिंसामय, दयामय हो या क्रूरतामय, सत्यरूप हो या असत्य रूप, चौर्य कर्म करने वाला हो या अचौर्य कर्म, कुशीलसेवी हो या स्वदार संतोषव्रत का पालन करने वाला, परिग्रह में आकण्ठ डूबकर अपना जीवन यापन करे या विषय-भोगों से विरक्त होकर के। आचार्य महोदय श्रावक के लिए ऐसा मध्यममार्गीय उपदेश दे रहे हैं जो अति कठिन भी नहीं है और अति सरल भी नहीं है। क्योंकि वह पूर्ण साधक नहीं, साधु नहीं, संन्यासी नहीं, वह गृहस्थ है यदि वह गृहस्थ जीवन में रहते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, पतित हो जाता है तो वह गृहस्थ जीवन में पाप का अर्जन करके दुर्गति का पात्र बनता है, वह इस लोक में भी दु:ख भोगता है और परलोक में भी दु:ख भोगता है। यदि धर्म के प्रति ज्यादा श्रद्धावनत् है, त्याग के प्रति तीव्र भावना बलवती हो रही है और संसार-शरीर-भोगों से पूर्ण विरक्ति को प्राप्त करके आगे बढ़ता है तो गृहस्थ जीवन में रहना कठिन होता है। वह संन्यास स्वीकार कर लेता है।

भरतचक्रवर्ती ने गृहस्थ जीवन में रहकर भी व्रती जीवन व्यतीत किया। षट्खण्डाधिपति, नवनिधि, चौदहरत्न, 32 हजार मुकुटबद्ध राजा उनके अधीन एवं अन्य भौतिक वैभव, निधि व रत्नों की रक्षा करने वाले देवसमूह; इतने अपरिमित वैभव को प्राप्त करके भी वह चक्रवर्ती व्रती जीवन जी सकता है, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत का पालन कर सकता है

तो वर्तमान काल का सामान्य गृहस्थ क्यों नहीं कर सकता? जो व्यक्ति भोगों में लीन रहता है व उनसे विरक्त नहीं होता, अत्यासक्ति से भोगों को भोगता है वह दुर्गति का पात्र होता है। अनेक चक्रवर्ती जिन्होंने राज्यअवस्था में रहकर प्राणों का त्याग किया वे नरकायु जैसी दुर्गति को प्राप्त हुए। अनेक राजा लोग दुर्गति को प्राप्त हुए किन्तु ऐसे भी महामना पुरुष हुए जिन्होंने राज्य का संचालन भी किया, गृहस्थ जीवन में रहकर के अपने कर्त्तव्यों का पालन भी किया और वे धर्म के मार्ग पर भी चलते रहे। उन्होंने कभी न्यायनीति का उल्लंघन नहीं किया, अनीति अन्याय का सहारा नहीं लिया, जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं की। यूँ तो उनके जीवन में आरंभी, उद्योगी, विरोधी हिंसा भी रही किन्तु उनमें कषाय की तीव्रता नहीं थी, क्योंकि जब कोई कार्य बुद्धिपूर्वक किया जाता है तब उसमें तीव्रता ज्यादा होती है। अबुद्धिपूर्वक किये कार्य में इतनी तीव्रता नहीं होती, अबुद्धिपूर्वक कोई भूल भी होती है तो क्षम्य होती है। बुद्धिपूर्वक किया गया अपराध दण्डनीय अपराध होता है।

यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे हैं एक गृहस्थ को सद्गृहस्थ बनना चाहिए। सद्गृहस्थ फिर श्रावक बने। गृहस्थ वह है जो घर में वास करता है, सद्गृहस्थ वह है जो घर में वास करते हुए भी धर्म को नहीं भूलता है। श्रावक वह है जो श्रद्धावान्, विवेकवान् और क्रियावान् है, जो श्रावक के व्रतों का पालन करता है, संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करता जैसा कि श्लोक नं. 53 में कहा, पुनः 54वें श्लोक में अहिंसाअणुव्रत के अतिचारों को देखा। आज श्लोक नं. 55 में सत्यअणुव्रत का स्वरूप बता रहे हैं।

महानुभाव! असत्य वचन विश्वासघातक व धर्म का नाश करने वाले हैं। आचार्यों ने असत्य वचनों की कई तरह से परिभाषाएँ दीं। आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखा ''जिन वचनों के उच्चारण करने पर प्राणियों को पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त वचन कहते हैं वह सत्य हो या असत्य हो परंतु प्राणीपीड़ाकारक हो तो असत्य की श्रेणी में आता है।'' श्लोकवार्तिक अलंकार में आचार्य भगवन् श्री अकलंकदेव स्वामी जी ने कहा ''जिन मर्मच्छेदी, अप्रिय, कटुक वचनों से हृदय में पीड़ा होती है, वे वचन सत्य होते हुए भी असत्य हैं, जैसे अन्धे को अन्धा कहना, दरिद्री को दरिद्री कहना और जिन वचनों से विद्यमान का लोप तथा अविद्यमान का प्रकटीकरण हो वे वचन भी असत्य कहलाते हैं। जैसे आत्मा नहीं है, स्वर्ग-नरक ये तो कोरी कल्पना मात्र है या आत्मा तो श्याम तन्दुल के बराबर है, अंगूठे के पोर के बराबर आत्मा निष्क्रिय है इत्यादि वचन मिथ्या होने से असत्य हैं।

आचार्य भगवन् शिवकोटि जी महाराज ने भगवती आराधना की 824वीं गाथा में स्पष्टरूप से कहा–

पढमं असंतवयणं समूदत्थस्स होदि पडिसेहो।
णत्थि वारस्स अकाले मुच्चति णधेव मादीयं॥824॥

वीतरागी प्रभु की वाणी में कथित, गणधर द्वारा प्रतिपादित एवं आरातीय आचार्यों के द्वारा संग्रहीत वस्तु के स्वरूप का लोप करना वा निषेध करना भी सत्प्रतिषेधक होने से असत्य है। जैसे कर्मभूमियों में मनुष्य व तिर्यंचों का अकालमरण नहीं होता ऐसा कहना सत्प्रतिषेधक असत्य है।

इसी प्रकार की और भी बहुत सी बातें हैं, जिनका शास्त्रों में प्रतिपादन होते हुए भी निषेध करते हैं, वे असत्य की श्रेणी में आते हैं। धवला पुस्तक 12 में आचार्य भगवन् ने कहा ''मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद से उत्पन्न वचन के समूह को असत् वचन कहते हैं।''

आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी जी ने सत्याणुव्रत का स्वरूप बताते हुए यहाँ कहा कि जो स्थूल झूठ नहीं बोलता, जिसने संकल्प ऐसा ले लिया है कि जीवन में कभी ऐसा झूठ नहीं बोलूँगा जिस झूठ के कारण मेरा धर्म नष्ट होता हो, मेरे परिणामों में क्रूरता आती हो, न्यायमार्ग का उल्लंघन होता हो, सत्यमार्ग का उल्लंघन होता हो, मर्यादा का लोप होता हो, कर्त्तव्यों का हनन होता हो, जीवों की हिंसा होती हो। संसार-शरीर-भोगों से डरा हुआ, घबराया हुआ, पाप भीरू गृहस्थ झूठ नहीं बोलता। वह संकल्पपूर्वक झूठ नहीं बोलता; ऐसे तो दैनिक चर्या में उससे कोई शब्द प्रमाद से निकल भी जाते हैं किन्तु बुद्धिपूर्वक ऐसा झूठ नहीं बोलता कि किसी की झूठी गवाही दे दे या किसी की वस्तु को हड़प जाए या किसी को झूठ बोलकर के संकट में धकेल दे; ऐसा नहीं करता, वह सत्य बोलता है। उसके चित्त में सरलता-सहजता होती है, कषायों की मंदता होती है वह ऐसा क्रूर परिणामी नहीं है कि झूठ बोलकर दूसरों को परेशान करे, क्योंकि वह जानता है कि आज झूठ बोलकर वर्तमान काल में किसी को परेशान करता हूँ तो वह झूठ मेरे लिए पाप कर्म का बंध कराने वाला होगा, उसका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा।

इसलिए यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं **'स्थूल-अलीकं न वदति'** वह मोटा झूठ नहीं बोलता। कैसे नहीं बोलता है? **'संकल्पात्'** यह अनुवृत्ति में शब्द चला आ रहा है कि संकल्पपूर्वक वह हिंसा नहीं करता, ऐसे ही संकल्पपूर्वक वह मोटा झूठ नहीं बोलता। कभी प्रमाद में बात निकल गई या सहजता में, अज्ञानता से प्रमादवश कह दिया तो अलग बात है

किन्तु बुद्धिपूर्वक किसी के पास जाकर झूठ बोल दिया अरे! तूने ऐसा काम क्यों किया, तुझे पता नहीं तुझे पुलिस पकड़ने आ रही है। यह सुनकर बेचारा घबरा गया, डर के मारे भागा, रात्रि में किसी वाहन आदि से टकराया, दुर्घटना हुई और मृत्यु को प्राप्त हो गया। तुम्हें मालूम था कि तुम्हारे शब्दों को सुनकर वह विश्वास कर लेगा, वह कुछ भी कर सकता है, आत्महत्या भी कर सकता है तो वह सत्याणुव्रती ऐसी झूठी मजाक भी नहीं करता। वह आमोद-प्रमोद करता है किन्तु उसमें भी सत्य का सहारा लेता है, झूठ का सहारा नहीं लेता। स्वयं झूठ नहीं बोलता और **'न परान् वादयति'** दूसरों से झूठ बुलवाता भी नहीं है। वह कहता नहीं कि तुम झूठ बोलो क्योंकि उसने सत्य अणुव्रत का संकल्प लिया है कि मैं सत्य बोलने की पूरी कोशिश करूँगा, कहीं प्रमाद से शब्द स्खलित हो जाएँ, फिर भी मेरा भाव झूठ बोलने का नहीं रहेगा। इस प्रकार वह सत्याणुव्रती छल से भी झूठ नहीं बोलता।

आगे कहा–**'सत्यमपि विपदे'** और ऐसा सत्य भी नहीं बोलता कि सामने वाला विपत्ति में पड़ जाए। यदि कोई गृहस्थ किसी जंगल के किनारे चला आ रहा था, आते समय सामने से कसाई आ रहा था, कसाई ने उससे पूछा भाई तुम सामने से आ रहे थे तुम्हें मार्ग में उधर से कोई गाय भागती हुई दिखाई दी? उसने तुरंत ही समझ लिया कि ये गाय का मालिक नहीं है, यह कसाई है यदि मैंने कह दिया कि गाय मुझे यहीं रास्ते में मिली थी तो यह निःसंदेह दौड़कर के गाय को पकड़ लेगा और उसे मार देगा, इसीलिए उसने कह दिया ऊऽऽ हूँ ऽऽ, मतलब, मैंने गाय नहीं देखी, हो सकता है वह झूठ भी बोल दे, हाथ का इशारा दूसरी तरफ करके जहाँ गाय नहीं गई, कहे कि ऐसा लगता है इधर से कोई आवाज आ रही थीं उधर कोई दौड़ता हुआ जानवर गया था। तो वह कसाई उधर दौड़ गया, वह गाय थोड़ी दूर और निकल गई। गाय के प्राण बच गए। वहाँ उसने झूठ भी बोला है तो वह भी अहिंसा की रक्षा के लिए, किसी के प्राणों को बचाने के लिए। वह गृहस्थ है, किसी की रक्षा करने के लिए, प्राणों को बचाने के लिए, बहुत प्राणियों का घात न हो, रक्तपात न हो, युद्ध न हो इसलिए वह ऐसा सत्य भी नहीं बोलता कि जिस सत्य के कारण पूरे देश पर ही संकट आ जाए, पूरे नगर पर, पूरी जाति, समुदाय-समूह पर संकट आ जाए।

महानुभाव! वह सत्याणुव्रती है, पूर्ण सत्य वाला नहीं है इसलिए पहले मोटे-मोटे असत्य का त्याग करता है। यदि उसे मालूम है कि राजा कुपित है और इस समय मैंने कह दिया कि इस व्यक्ति ने गलती की थी, यद्यपि उस व्यक्ति से गलती हो गई थी परंतु उसका भाव गलती करने का नहीं था किन्तु राजा आज कुपित है यदि आज मैंने हाँ कर दी तो हाँ कहते ही राजा देखते-देखते उसे सूली पर चढ़ा देगा। तो क्या करूँ? वह उस समय यह नहीं कहेगा

कि इसने गलती की, वह यही कहेगा कि मुझे तो ऐसा लगता है कि ये व्यक्ति ऐसी गलती कर नहीं सकता। क्योंकि वह जानता है कि उसने गलती वास्तव में नहीं की, उससे भूलवश हो गई, भूल क्षम्य होती है। राजा अभी इस भूल को क्षम्य नहीं करेगा, अपराध मानकर दण्ड देगा। उस समय विपत्तिकाल में यानि किसी पर आपत्ति-विपत्ति नहीं आए तो उस समय ऐसा सत्य भी नहीं बोलेगा, मौन रह जाएगा या कहीं बोलना पड़े तो धर्म की रक्षा करने के लिए असत्य भी बोल सकता है।

एक शिकारी आया, उसकी मुट्ठी में चिड़िया थी, उसने पूछा-यह बताओ कि मेरी मुट्ठी में चिड़िया मरी है या जीवित है? उस श्रावक को मालूम है कि यदि मैं कहूँगा मरी है तो शिकारी उसे छोड़कर उड़ा देगा और यदि मैं कह दूँगा जीवित है तो वह यहीं इसे मार देगा, गला मसल देगा। वह देख रहा है चिड़िया जीवित है उसके बावजूद भी उसका भाव क्या है? झूठ बोलने का नहीं उस चिड़िया के प्राण बचाने का भाव है। तो वह क्या बोलेगा? मुझे तो लगता है चिड़िया मरी है, शिकारी ने कहा-और सोचकर बोल तू कभी झूठ नहीं बोलता, वह कहता है मुझे तो ऐसा ही लगता है कि मरी होना चाहिए। शिकारी ने चिड़िया छोड़ दी वह उड़ गई। तू तो कहता था कि मरी है, वह बोला-हाँ मुझसे भूल हो गई मैं इसका प्रायश्चित ले लूँगा। किन्तु यदि मैं कह देता कि जीवित है तो तुझे इसका कण्ठ दबाने में समय नहीं लगता, इसके प्राण चले जाते। तो वह श्रावक इस प्रकार का सत्य भी नहीं बोलता जिससे उसका व्रत खण्डित हो। झूठ बोलने से किसी के प्राण संकट में आएँ, किसी समूह-समुदाय-जाति पर, देश-नगर पर संकट आए ऐसा झूठ भी नहीं बोलता और ऐसा सत्य भी नहीं बोलता कि सम्पूर्ण धर्म ही नष्ट हो जाए, अहिंसा धर्म नष्ट हो जाए, संस्कृति ही नष्ट हो जाए, सत्यवादिता ही नष्ट हो जाए।

विश्वावसु राजा का पुत्र वसु, क्षीरकदम्ब उपाध्याय का पुत्र पर्वत और नारद तीनों ने एक साथ एक गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी। एक बार पर्वत-नारद में बहस हुई। पर्वत कहता है गुरुमहाराज बताते थे, 'अजैर्यष्टव्यं' इसका अर्थ बकरे की बलि देना चाहिए, उसे होम करना चाहिए होता है। नारद ने कहा नहीं, ऐसा अर्थ नहीं बताया गुरुमहाराज ने। पुनः पर्वत ने घर जाकर माँ को सब बात बताई। माँ ने कहा तेरे पिता जी तो ऐसा बताते थे कि तीन वर्ष का पुराना धान्य उससे यज्ञ करना चाहिए, जिसमें पुनः उपजने की शक्ति न हो। यही तो नारद कहता है, वह ठीक कहता है। पर्वत ने कहा चाहे वह ठीक कह रहा हो या गलत, मेरी बात खण्डित नहीं होनी चाहिए। वे न्याय के लिए राजा वसु के पास गए। पर्वत ने पहले ही अपनी माँ को राजा वसु के पास समझाने भेज दिया, राजावसु ने दीक्षा के समय अपने गुरु को वचन

दिया था कि मैं गुरु माँ की रक्षा करूँगा। यद्यपि राजा वसु जानता था कि नारद सत्य कह रहा है किंतु फिर भी उस समय उसने झूठ बोल दिया, नारद को असत्य ठहरा दिया, उसका परिणाम यह हुआ कि उसका सिंहासन जो स्फटिकमणि का था वह जमीन में धंस गया, भग्न हो गया और मृत्यु को प्राप्त करके वह राजा नरक में चला गया।

महानुभाव! सत्य बोलना है, झूठ नहीं बोलना, धर्म की रक्षा करना है। जहाँ पर सत्य बोलने से रक्षा नहीं हो रही हो वहाँ पर मौन रह जाना। कहीं कोई साधक ध्यान लगा रहा था। उनसे शिकारी द्वारा पूछा गया आपने मृग देखा। जो देख रहा है वह बोलता नहीं, आँखों ने देखा आँखें बोलती नहीं, मुँह बोलता है मुँह ने देखा नहीं इस प्रकार उन्होंने उस शिकारी को बातों में लगा दिया, तो ऐसे प्राणी की रक्षा करने के लिए, धर्म की रक्षा करने के लिए वह मौन रह सकता है या बातों को टाल सकता है किन्तु जब भी बोलता है सत्य बोलता है, यथार्थ बोलता है, वह गृहस्थजीवन में रहकर भी धर्म का पालन करता है।

आचार्य महोदय इस कारिका के माध्यम से सत्याणुव्रती को सत्य वचनों की महिमा बता रहे हैं। जो जीव दुष्ट परिणामों से वा अशुभ लोभ से मिथ्या वचन बोलता है वह विश्वासघाती कहलाता है, उसे अवश्य ही दुर्गतियों में जाकर दुःख भोगने पड़ते हैं। सत्याणुव्रती को सदैव हित-मित-प्रिय वचनों का उच्चारण करना चाहिए। आगमविरुद्ध, चारों प्रकार के संघ, धर्म, तप की निंदा करने वाले, सदाचार में दोष लगाने वाले वचन भूलकर भी अपने मन में नहीं लाने चाहिए क्योंकि ऐसे असत्य वचन घोर दुःखों का कारण बनते हैं। प्रथमानुयोग में अनेक उदाहरण इसकी सत्यता को प्रदर्शित करते हैं।

इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं, सत्य वचनों से ही धर्म की वृद्धि होती है, तपश्चरण, संयम की वृद्धि होती है, परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। सत्य वचन के समान कोई धर्म नहीं, यह सत्य धर्म श्रेष्ठ है, पूज्य है क्योंकि सत्यवचनों से ही विश्वास उत्पन्न होता है, सम्यग्दर्शन की शुद्धता होती है इसलिए जिन वचनों से अपनी आत्मा का हित होता है, उन्हीं वचनों का प्रयोग करना चाहिए।

आप भी सत्य अणुव्रत का पालन करते हुए आगे बढ़ें, सत्यअणुव्रत का नियम लेने से डरें नहीं। सत्यअणुव्रत गृहस्थ जीवन को पवित्र बनाने वाला है, कल्याण की प्रेरणा देने वाला है और सुख के मार्ग पर जाने वाली पगडंडी है। आप सत्यमार्ग पर बढ़ें, यही श्रेयोमार्ग है। आप सभी का शुभ हो, मंगल हो, इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सत्याणुव्रत के अतिचार

परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारिताऽपि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य॥56॥

अन्वयार्थ–सत्यस्य – सत्याणुव्रत के **पञ्च** – पाँच **व्यतिक्रमाः** – अतिचार होते हैं। **परिवाद** – दूसरों की बुराई करना **रहोभ्याख्या** – दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना **पैशून्यं** – चुगली करना **च** – और **कूटलेखकरणं** – झूठे लेख लिखना **अपि च** – तथा **न्यास-अपहारिता** – किसी की धरोहर को हरना।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में अणुव्रतों के स्वरूप को समझ रहे हैं। आचार्य महोदय जैन जगत् के एक ऐसे महान् आचार्य हुए जो अनेक विद्याओं में पारंगत, न्याय-व्याकरण-सिद्धान्त-अलंकार-विद्या एवं आध्यात्मिक रसिक हुए उन महान् आचार्य ने इस ग्रंथ में श्रावकों की एक आचार संहिता लिखी। संस्कृत भाषा के श्लोकों में निबद्ध यह लघु ग्रंथ है किन्तु इसमें जो कारिकाएँ हैं वह रत्नों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। यदि श्रावक इन एक-एक कारिकाओं के अर्थ को समझकर के उसके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है तब निःसंदेह उसका जीवन भी रत्नों के पिटारे की तरह से महत्वपूर्ण बन सकता है। वह इन व्रतों का पालन करके इस लोक में भी सुख-शांति को प्राप्त कर सकता है और परलोक में भी सुख-शांति को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ पूर्वकारिका में आचार्य महोदय ने सत्यअणुव्रत का स्वरूप बताया कि जो स्थूल झूठ बोलने से विरक्त हो गया है वह सत्यअणुव्रती है। वह स्वयं असत्य नहीं बोलता, न दूसरों से असत्य बुलवाता और धर्म की रक्षा हेतु ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जिससे हिंसा होती है, किसी के प्राण जाते हों, जिसके माध्यम से धर्म, संस्कृति, मानवता, दया आदि का लोप होता है। वह सत्यअणुव्रत का पालन करता हुआ अपने जीवन को सुख-शांतिमय बनाता है। सत्याणुव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति सत्यव्रत को निर्दोष पालने के लिए भावना भी भाता है। वह क्रोध, लोभ, हास्य, भीरुत्व इन चार का त्याग करता है और आगम के अनुसार वचन बोलने की भावना रखता है। क्योंकि व्यक्ति के द्वारा क्रोध के आवेश में मिथ्यावचन निकल जाते हैं, व्यक्ति हँसी-हँसी में भी झूठ बोल देता है, कई बार व्यक्ति भय के कारण भी झूठ बोल देता है और लोभ-लालच मन में हो तब भी व्यक्ति झूठ बोल देता है। तो जो सत्य बोलना चाहता है, झूठ से बचना चाहता है वह क्रोध,

लोभ, भीरुत्व और हास्य इन चारों का परित्याग करे तथा एक भावना हमेशा मन में रखे कि मैं आगम के अनुसार ही वचन बोलूँगा, जिनागम का उल्लंघन नहीं करूँगा, सत्य का उल्लंघन नहीं करूँगा इस प्रकार की जो भावना भाता है वह व्यक्ति सत्य अणुव्रत का पालन करने में समर्थ होता है।

सत्य अणुव्रत का पालन करने से व्यक्ति की वाणी प्रभावक होती है, सत्य बोलने से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं, सत्य बोलने से व्यक्ति स्वजन और परजन में विश्वास का पात्र बनता है, सत्य बोलने वाला व्यक्ति लोकप्रिय होता है, सत्य बोलने वाला व्यक्ति न्याय का उल्लंघन नहीं करता व अन्याय को सहन नहीं करता। सत्य बोलने वाला व्यक्ति सदाचारी होता है, उसे सब स्नेह करते हैं, सम्मान करते हैं, उसकी प्रतिष्ठा होती है। सत्य तीनों लोकों में प्रतिष्ठा के योग्य है। जिन्होंने सत्याणुव्रत को स्वीकार किया है वे व्यक्ति अपने अणुव्रत का निर्मल पालन करने के लिए पाँच प्रकार की भावना तो भाते ही हैं किन्तु पाँच प्रकार के अतिचारों से भी बचते हैं।

आचार्य महोदय ने इस 56 वीं कारिका में सत्याणुव्रत के पाँच अतिचारों की चर्चा की है। सत्यअणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार दोषों का ही नाम है। अनाचार महादोष होता है। अतिक्रम यानि सीमारेखा के थोड़ा बाहर निकले, व्यतिक्रम अर्थात् अतिक्रम से भी और आगे बढ़ गए। अतिचार-कुछ अंश में पूरा दोष लग गया और अनाचार व्रत से च्युत हो जाना। यहाँ सत्याणुव्रत के अतिचारों की बात कही।

पहला अतिचार है **'परिवाद'** अर्थात् दूसरों की बुराई करना। बुराई चाहे सत्य भी हो फिर भी वह अहिंसा की पुष्टि नहीं करती। जिसकी तुम बुराई करते हो उसका मन तो दु:खता ही है और बुराई करने वाले व्यक्ति की दृष्टि जब बुराई पर है तो उसके श्रीमुख से एक की बजाय दो बुराई निकल जाती हैं। किसी की बुराई का प्रसंग चल रहा हो यदि व्यक्ति हाँ में हाँ मिलाता चला जाता है तो बुराईयों की श्रृंखला प्रारंभ होती है उस शृंखला में ब्रेक लगाने से भी लगता नहीं, वह बिना ब्रेक की गाड़ी चलती ही जाती है। सत्याणुव्रती को किसी की बुराई करने का अधिकार नहीं है। सत्याणुव्रती अपने सत्य की सुरक्षा करना चाहता है तो किसी की बुराई को प्रोत्साहन न दे, बुराई करे नहीं व सुने भी नहीं। यदि किसी में बुराई दिखाई देती है तो उसके पास जाए और विनम्रता पूर्वक कहे भैया! तुम बहुत अच्छे हो, धर्म का पालन करते हो, नि:स्वार्थी हो, तुम्हारा व्यक्तित्व अपने आप में एक आदर्श है बस आपसे एक निवेदन है, आपकी यह जो अमुक बुराई है वह ठीक नहीं है। आप पीठ पीछे जो किसी की बुराई करते हो आपकी यह आदत उचित नहीं है। यदि एक बार भी हास-परिहास में

झूठ बोला तो वह उचित नहीं है, आपको नहीं ज्ञात कि उसके माध्यम से सामने वाले को कितनी परेशानी हो सकती है। वर्तमान में कभी-कभी जो लोग अप्रैल फूल बनाते हैं, आपने मजाक किया किन्तु वह घबरा गया और इस घबराहट से उसका अहित भी हो सकता है। तो ऐसी मजाक करना भी उचित नहीं है, इसमें भी दोष लगता है। यह भी पाप का आस्रव कराने वाला है। तो परिवाद करना यानि दूसरों की बुराई-निंदा करना, बदनामी करना यह सब सत्याणुव्रत के अतिचार में आते हैं।

अगला है- **'रहोभ्याख्यान'** जो सत्याणुव्रती है वह दूसरों की गुप्त बातों को किसी को बताता नहीं है, जगजाहिर नहीं करता। वह उपगूहन अंग का पालन करता है अर्थात् यदि किसी में कोई दोष है या उससे कोई गलती हो गई है या अन्य कोई गुप्त वार्ता है तो उसको दूसरों के सामने उजागर नहीं करता। कभी भी किसी की गुप्त वार्ता को सुनना नहीं, कान लगाकर सुनोगे तो चोरी कहलाएगी। किसी की गुप्त वार्ता या संकेत समझ में आ जाए तो किसी के सामने प्रकट नहीं करना। अन्यथा उसका तुम पर से विश्वास हट जाएगा, आप विश्वासघाती कहलाओगे। आपके मन में कोई कष्ट हो, पीड़ा हो, विकल्प आ रहा हो, शंका हो रही हो तो उसी से जाकर कह देना, भैया! आपकी ऐसी-ऐसी बात मेरे कान में पड़ गई है, क्या ऐसी बात है? वह सामने वाला ही आपका समाधान कर सकता है।

अगला है-**पैशून्य'** अर्थात् चुगली करना। यह कृत्य कभी भी अच्छा नहीं माना जाता। एक बार एक व्यक्ति एक सेठ के यहाँ नौकरी करने के लिए आया। सेठ ने पूछा-क्या लोगे? बोला आप जो भी देना चाहें वह स्वीकार है। और दोनों में तय हो गया कि वर्ष में एक बार वस्त्र, दिन में एक बार भोजन, दो बार नाश्ता व रहने के लिए स्थान। वह व्यक्ति बोला जो आप मुझे देंगे वह मुझे इष्ट है किन्तु मेरी एक शर्त है। सेठ ने कहा कैसी शर्त? शर्त ये है कि मुझे साल में एक बार तो झूठ बोलना पड़ेगा। वैसे तो मैं झूठ प्रतिदिन बोलता हूँ किन्तु अब नहीं बोलूँगा, मैं स्वयं पर नियंत्रण कर रहा हूँ, धीरे-धीरे मेरा अभ्यास बढ़ा, अब माह में एक दिन झूठ बोलता हूँ किन्तु आज से बस साल में एक बार झूठ बोलने की छूट चाहता हूँ।

सेठ ने कहा-ठीक है, एक बार झूठ बोलने पर मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा, झूठ तो किसी के मुख से भी निकल सकता है। सेठ ने इस बात पर ज्यादा गौर नहीं किया। एक साल पूरा होने को आया, सब कुछ ठीक चल रहा था। वह सेवक सेठानी के पास गया और बोला-कल मेरा एक वर्ष पूरा हो जाएगा मैं यहाँ से कहीं और चला जाऊँगा, वहाँ नौकरी देखूँगा किन्तु जाते-जाते मैं आपसे एक बात कहकर जा रहा हूँ। सेठानी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा-क्या बात है? वह बोला बात बड़ी महत्वपूर्ण है इसलिए आपको बताना जरूरी है। मैं सेठ जी के साथ दुकान पर बैठता हूँ और

दुकान इतनी चलती है, इतना मुनाफा होता है यदि पूरी दुकान की कमाई आपके घर में आ जाए तो आपका घर सोने का बन जाए मतलब! पूरी कमाई मेरे पास में नहीं आती, तो कहाँ जाती है? बस सेठानी जी मैं आपके सामने हाथ जोड़ता हूँ, आपका इतना ही समझना उचित है। सेठ जी पहले दुकान से कितने बजे आ जाते थे? बोली लगभग 7-8 बजे तक आ जाते थे। और इस वर्ष? कभी 9-10 बजे। कभी 11-12 बजे भी तो आते हैं, हाँ हाँ आते तो हैं। अभी भी आपको समझाना पड़ेगा क्या? आप इतनी भोली-भाली क्यों बनती हो। सेठानी के मन में छोटा सा शंका का चूहा कूद गया। वह सोचने लगी क्या बात है।

वह नौकर बोला-सेठानी जी! क्या बताऊँ जाते-जाते मेरा मन नहीं माना आपको संकेत कर रहा हूँ यदि दुकान की पूरी आमदनी आपके घर में आ जाए तो सच मानना ये घर घर नहीं सोने का महल बन जाएगा। एक बात और पूछना चाहता हूँ कि इस एक साल में मैंने देखा है कि सेठ जी का स्नेह आपके प्रति इतना ही है या कुछ घटा है? शाम को आकर कभी आपको डाँटते भी हैं, झुंझुलाते भी हैं। सेठानी ने दिमाग लगाया, हाँ कभी-कभी ऐसा होता तो है। सेठानी जी! व्यक्ति थका हारा आया, उसका धन दो जगह बँट रहा है, प्रेम दो जगह बँट रहा है, तुम्हें क्या मिल रहा है ऐसा समझो जैसे किसी किसान की खेती हो रही है तो अनाज तो दूसरी जगह जा रहा है तुम्हारे यहाँ तो भूसा भी नहीं आ रहा। अब तो सेठानी जी का दिमाग खराब हो गया। अब वह सेठानी नौकर की बातों में आ गई। जो कच्चे दिल की महिलाएँ होती हैं वे इस प्रकार की बातों में आ सकती हैं, सेठानी बोली-जब तुमने यह बात बताई है तो इसका उपाय भी बताओ। देखो! सेठानी जी, मुझे क्षमा करो उपाय आदि मैं नहीं जानता, आप जानो आपके पति जानें, ये आपके घर का मामला है। नहीं-नहीं-तू ही बता। वह बोला-सेठ जी बहुत सुंदर हैं, इस उम्र में भी राजकुमार जैसे लगते हैं, जब मूँछों पर ताव देकर जाते हैं तो कौन स्त्री उन पर मोहित नहीं होगी। इसलिए बड़ा सरल उपाय यही है कि उनकी एक साइड की मूंछ काट दें तो सेठ जी विचित्र ही लगेंगे, हो सकता है जो महिला उन्हें चाहती है वह न चाहे और वह आपके पति का अपमान कर दे, और आपके पति के मन से वह महिला निकल जाए।

सेठानी बोली-यह तो छोटा सा काम है, रात में उस्तरा से एक साइड की मूंछें हटा दूँगी। नौकर बोला ठीक है-मैं चलता हूँ। और कहकर सेठ जी के पास चला गया। सही बात तो यह थी कि नौकर के आ जाने से सेठ जी की दुकान अच्छी चलने लगी थी, इसलिए सेठ जी को हिसाब लगाने में कभी 9-10-11 भी बज जाते थे। अब वह नौकर सेठ जी के पास गया और बोला सेठ जी! आपके पैर पकड़ता हूँ मेरी एक बात सुन लो, आप दिनरात मेहनत

करते हो, सुबह 4 बजे से उठकर काम करते हो, 10-11 बजे घर पहुँचते हो, बैल की तरह दिन-रात काम कर रहे हो, आपको मालूम है घर में क्या चल रहा है? यदि पूरा पैसा आपके घर में जाता तो आपकी कोठी-बन जाती। आप अपनी पत्नी को सती-सावित्री समझते होंगे। अरे! कैसी बात करते हो? सेठ जी! आज तो उसका इरादा है आपका गला काटने का, नाक तो काट ही देगी। मैं कल जा रहा हूँ, जाते-जाते आपको सावधान करके जा रहा हूँ। सेठ जी ने कहा ऐसे कैसे हो सकता है, आज आप देख लेना।

सेठ जी घर पहुँचे, रात्रि में बनावटी खर्राटे लेने लगे। इधर सेठानी उस्तरा को पैना करके लाई और बैठ गई सेठ के पास। सेठ जी तुरंत ही उठकर खिड़की के पास पहुँच गए। सेठ जी भागे, पीछे सेठानी भी भागी। अब पूरा गाँव दोनों को देख रहा था कि ये क्या हो गया। सेठ जी सेठानी के प्रति शंकाग्रस्त हो गए, सेठानी सेठजी के प्रति शंकाग्रस्त थी। गाँव वालों ने कहा आपका इतना अच्छा परिवार है, आज ये क्या हो गया। सेठानी ने कहा-हमारे पति ठीक नहीं हैं, सेठ जी कहते हैं मुझे नहीं मालूम था तुम ऐसी हो। बात बढ़ती चली गई। फिर गाँव के बड़े-बुजुर्ग आए और कहने लगे आखिर बात क्या है? सेठानी सेठ पर दोष लगाने लगी, सेठ जी सेठानी पर। पूछा गया कि तुम्हें किसने बताया, दोनों एक साथ बोल पड़े नौकर ने। नौकर ने हाथ जोड़े, बोला क्षमा करना मेरा एक साल पूरा हो गया, मैंने कहा था वर्ष में बस एक दिन झूठ बोलूँगा, और एक दिन झूठ बोल दिया, अब मैं चलता हूँ।

महानुभाव! जब एक दिन के झूठ का यह कमाल हो सकता है तो जो व्यक्ति प्रतिदिन झूठ बोलते हैं उनकी क्या बात होगी।

मस्करी दिन दस करी ज्यादा करी तो बीस।
तीसों दिन की मस्करी आन कटावे सीस॥

ज्यादा हंसी मजाक करना, झूठ बोलना भी ठीक नहीं है। तो पैशून्य अर्थात् चुगलखोरी भी ठीक नहीं है।

उल्टी को सीधी करे, सीधी दे पलटाय।
काम बिगाड़े आपनो, चुगल खोर कहलाए।

चुगली करने वाला व्यक्ति यहाँ की बात वहाँ, वहाँ की बात यहाँ कह कर भिड़ा देता है। वह जब तक दोनों को लड़ा नहीं देगा तब तक चैन नहीं पड़ती। उसे लगता है समाज में झगड़े क्यों नहीं हो रहे, घर में शांति क्यों है। कुछ लोग समाज में ऐसे विघ्नसंतोषी होते हैं कि जब विघ्न आते हैं तो उन्हें बड़ा आनंद आता है। वे लोग मक्खी की तरह से होते हैं

जो गर्म खीर में गिरकर अपने प्राण भी छोड़ देगी और खीर को अखाद्य बना देगी, न खाए न खाने दे। वह कोई न कोई बात ऐसी छेड़ देगा जिससे सबका मन खराब हो जाएगा। ऐसे व्यक्ति हर परिवार-समाज में होते हैं किन्तु उनकी संख्या ज्यादा नहीं होती, पचासों में कोई एक होते हैं, जिनको दूसरी भाषा में कहते हैं 'मन्थरा'। जो मंथरा का काम करे अर्थात् यहाँ की बात वहाँ, वहाँ की यहाँ लगाए या पहले राजाओं के दरबार में कुट्टनी होती थी वे ऐसे उल्टे-सीधे संवाद करने कराने का काम करती थीं। तो समाज में जो व्यक्ति इस प्रकार का कार्य करते हैं वे सत्य का घात करने से दुर्गति के पात्र बनते हैं और संभव है वे असुरकुमार देवों में अम्बावरीष जाति के देव बन जाएँ जो नरक में जाकर नारकियों को भिड़ाते रहते हैं। और वे नारकी बन जाएँ तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देवदुर्गति भी हो सकती है, पशु भी बन सकते हैं इसलिए चुगली करना अच्छी बात नहीं है।

'साफ कहना सुखी रहना' कुछ लोग कहते हैं भैया! हमसे चापलूसी नहीं आती। मक्खनबाज व्यक्ति देखने में तो बड़ा प्यारा सा लगता है किंतु अंदर से वही बड़ा खतरनाक होता है। जो आपकी खुशामत करता रहता है वह शक्कर की चाशनी लगाकर जहर देना चाह रहा है अतः सावधान रहो। हमारे जीवन में सबसे ज्यादा घातक वही हो सकता है जिसे तुम सबसे ज्यादा प्यार करते हो, जिस पर तुम सबसे ज्यादा विश्वास करते हो वह कब तुम्हारे जीवन को बदल दे कुछ नहीं कह सकते। तो यह पैशून्यता भी अतिचार है।

अगला अतिचार है-**'कूटलेखकरणं'** झूठे दस्तावेज बनाना। आज भी कुछ ऐसे काम होते हैं, झूठे दस्तावेज बनाए जाते हैं, झूठा अँगूठा भी लग जाता है, हस्ताक्षर भी हो जाते हैं, पूरे के पूरे कागज बदल जाते हैं। वसीयत वास्तव में पिता जी ने लिखी तो कुछ और थी किंतु कुछ की कुछ हो गई। बीच में से दो लाइन हटानी थी, वे हटा करके कागज भी चिपका दिया और उसी प्रकार की लिखावट से लिख भी दिया, Photo copy भी करा ली और उसको safe करके रख लिया। उसमें लिखा था अमुक सम्पत्ति में तीनों का हिस्सा बराबर-बराबर है किन्तु अमुक सम्पत्ति मैं पूरी की पूरी छोटी बहु को देना चाहता हूँ। पर कलाकार व्यक्ति ने कलाकारी से उसको बदलकर छोटी के स्थान पर बड़ी लिख दिया। ऐसी चालाकी से cut किया कि किसी को पता नहीं चले। जबकि बड़ी बहू अपने ससुर का तनिक भी ध्यान नहीं रखती थी, अपमान-तिरस्कार करती थी। सास-ससुर से पहले ही न्यारी हो गई थी। किन्तु उसके पति ने चालाकी से वसीयत में छोटी बहू का नाम हटा करके अपनी पत्नी का नाम लिखवाकर झूठा दस्तावेज तैयार करवा लिया। या किसी को उधार दिए 10,000 रुपये और बाद में क्या किया कि 10,000 में एक शून्य लगा दिया तो एक लाख कर दिए।

वह सोच तो ये रहा है कि मैं कितना बुद्धिमान हूँ, कितनी होशियारी से यह काम कर दिया, मेरी चालाकी कोई पकड़ भी नहीं पाया। वह दूसरों को ठग रहा है, वह भले ही मन में स्वयं को बुद्धिमान् समझे किन्तु तेरी आत्मा व परमात्मा जानते हैं, तुमने छल किया है इसका परिणाम आज नहीं तो कल भोगना ही पड़ेगा। इस करनी से शाश्वत सुख का भोक्ता नहीं बन जाएगा। आज तुमने दूसरों की आँख में धूल झोंकी है, कल तुम्हें धोखा मिलेगा, दुर्गति मिलेगी। जिसके लिए तुम छल-कपट-मायाचारी कर रहे हो वह एक भी तुम्हारे काम नहीं आएँगे। यदि कहो कि पत्नी के लिए कर रहा हूँ तो वह अपने पुण्य-पाप के फलानुरूप गति में जाएगी, बच्चों के लिए कर रहा हूँ तो बच्चे भी अपने पाप-पुण्य के अनुसार सुख-दुःख भोगेंगे। आप समझ लो कि आप क्या कर रहे हो, जैसी करनी वैसा ही फल पाओगे। इसलिए जीवन में कभी झूठे दस्तावेज न लिखना न लिखवाना।

एक बात सदैव ध्यान रखना हमारी करनी को हमारी आत्मा व हमारा परमात्मा जानता है। कर्म का बंध दुनिया की आँखों के देखने से नहीं होता है, कर्म का बंध तो मेरी आत्मा के परिणामों से होता है। दुनिया हमें शरीफ-साहूकार कहती रहे, साधुपुरुष-धर्मात्मापुरुष कहती रहे इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता है किन्तु आत्मा ने जैसे कृत्य किए हैं वैसा कर्म बंध होता है और उन्हीं को भोगना पड़ता है इसलिए कभी झूठे दस्तावेज आदि लिखना नहीं, लिखवाना नहीं, सदैव सत्य पर विश्वास रखना; जो मेरे भाग्य का है उसे कोई छीन नहीं सकता, यदि मेरे भाग्य का है तो कहीं भी होगा दौड़कर के मेरे पास आ जाएगा, जो मेरे भाग्य का नहीं है उसके लिए मैं कितनी भी चालाकी करूँ, होशियारी दिखाऊँ मेरे पास टिकेगा नहीं, मैं उसे भोग नहीं पाऊँगा, वह नष्ट हो जाएगा, गुम जाएगा या रोग हो गया तो औषधि में चला जाएगा पर भोग नहीं पाओगे। इसलिए कभी किसी को धोखा नहीं देना।

यदि किसी को धोखा देकर आप खुश हो रहे हो तो खुश नहीं होना वरन् रोना क्योंकि मैंने कितना बड़ा पाप किया है, उसे मेरे ऊपर कितना विश्वास था मैंने विश्वासघात कर दिया। झूठे दस्तावेज लिखवाना धर्मात्मा के लिए कभी उचित हो ही नहीं सकता। जो कुछ भी पदार्थ हैं चाहे आपके भाग्य में कम आया या ज्यादा, मिला या नहीं मिला, कोई ले गया तो भगवान् के सामने हाथ जोड़कर संतोष कर लेना हे भगवान्! जो मेरे भाग्य में है मैं अपने कर्म फल भोगने को तैयार हूँ किन्तु मैं दूसरे का छीन नहीं सकता, झूठ नहीं बोल सकता। जो कोई तुझसे कहते हैं तू पागल है, सीधा-साधा, भोला-भाला है, सामने वाला तेरे साथ छल कर रहा है तू भी ऐसा कर ले। उससे कहना भैया! मैं बस ये ही नहीं कर सकता, मैं झूठ

नहीं बोल सकता, भूखा रह सकता हूँ, मैं रूखा-सूखा खा सकता हूँ, मुझे महल नहीं चाहिए, ये पत्थरों के महल मेरी आत्मा को सुख नहीं दे पाएँगे। सुख-शांति तो चित्त में मिलती है, सरलता-सहजता में मिलती है। इसलिए वह सत्याणुव्रती कभी झूठे लेख नहीं लिखता, कभी झूठी गवाही नहीं देता है।

अगला अतिचार है–**'न्यासापहार'** न्यास अर्थात् गिरवी रखना। कोई व्यक्ति आप पर विश्वास करके कोई वस्तु आपके पास रख गया और वह भूल गया। आप भी चुपचाप बैठे हो, वो आएगा तब दे दूँगा। अरे! वह भूल गया तो जाकर उससे कहो कि तेरी वस्तु मेरे यहाँ रखी है इसे उठा ले। यदि आप चुपचाप बैठे हैं तो आपके मन मे कहीं न कहीं कुछ पाप है, आप सत्य को सत्य प्रकट करना नहीं चाहते, आप चाहते हैं यह वस्तु मेरे पास ही रह जाए। यदि ऐसा भाव आ जाए कि भूल गया तो भूल जाने दो मैंने चोरी थोड़ी ही की है, वह लेने नहीं आया तो मैं क्या करूँ तो ये भी पाप है। अरे! वह अपनी वस्तु आपके पास रख गया था, आज वह भूल गया या मृत्यु को प्राप्त हो गया, उसके बच्चों को भी वस्तु के विषय में ज्ञात नहीं और तुमने उसकी वस्तु हड़प ली। तुम क्या सोच रहे हो, तुम उसकी वस्तु को जिंदगी भर भोग नहीं पाओगे, वह नष्ट हो जाएगी।

पुण्य कमाओ, पाप से अपना घड़ा मत भरो। पाप का घड़ा जब तक नहीं भरा है तब तक फूट नहीं रहा है, एक बार भरा हुआ घड़ा फूट जाएगा तो चारों तरफ से पाप की वर्षा होगी। पाप जब मारता है तब चारों ओर से घेरकर मारता है, शरीर में रोग लग गया, व्यापार में घाटा लग गया, प्रतिष्ठा Down हो गई, चोरी हो गई, सब तरफ से आपत्ति आना शुरु हो गई। इसलिए जीवन में पाप का उदय आए ही नही अतः पाप से बचो। कभी भी मन में यह भाव न लाओ कि दूसरे की सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो जाए। गिरवी रखी वस्तु या किसी ने कोई वस्तु आपको उपयोग के लिए दी है, वह देकर भूल गया तो आपका कर्त्तव्य है उसकी वस्तु उसे वापिस कर दो, हड़पो मत। व्यक्ति के मन में जब गलत भाव आता है तब वह दूसरों की वस्तु को अपना मानने की, उस पर हक जताने की कोशिश करता है। इस प्रकार परवस्तु-धन-सम्पत्ति का हरण करना सत्याणुव्रत का दोष है, अतिचार है, इस प्रकार के अतिचार से उसे बचना चाहिए, डरना चाहिए।

महानुभाव! सत्याणुव्रती अपने व्रत का निर्दोष, निर्मलता से पालन करता है क्योंकि वह सत्य की शक्ति को समझता है, सत्य पर विश्वास रखता है। सत्य शाश्वत है, वह असत्यवादी की तरह नहीं होता। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि झूठ बोलकर हमारी दुकान अच्छी चलेगी,

झूठ बोलकर कहते हो मेरा पेट भर जाता है, अरे! तनिक सोचो तो सही झूठ तुम्हारा पेट भर सकता है तो क्या सत्य पेट नहीं भर पाएगा? झूठ पेट भरता नहीं वह तो पेट को काटता है, सत्य बोलने वाले का पेट सदैव निरोगी रहता है, कोई दोष नहीं होता।

महानुभाव! आचार्य भगवन् यहाँ सत्याणुव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हुए यही कह रहे हैं कि कभी किसी की बुराई नहीं करना, किसी की बुराई सुनना भी नहीं व किसी में दोष भी न निकालें। हम उसकी अच्छाई देखना प्रारंभ करें, अनावश्यक उनके दोषों को उजागर न करें। उन्हें समझाने के कई तरीके हो सकते हैं। किसी की निंदा करके कभी सुधार नहीं होता उसके चार गुणों की प्रंशसा करके एक बुराई का सुधार किया जा सकता है। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं कि जिसमें सिर्फ बुराई ही बुराई हो और ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं जिसमे सिर्फ अच्छाई ही अच्छाई हों। पाँचों अँगुली एक जैसी नहीं होती; ऐसे ही किसी में अच्छाई ज्यादा बुराई कम, किसी में बुराई ज्यादा अच्छाई कम होती है। पुष्प सभी होते हैं किन्तु सभी पुष्पों की गंध एक जैसी नहीं होती, ऐसे ही हर व्यक्ति में अपने आप में पूर्ण होने पर भी कोई न कोई कमी होती है। हमें उस कमी पर ध्यान नहीं देना, उसके गुणों पर ध्यान देना है, गुणों की प्रशंसा करना है। गुण प्रशंसा करके हम उनके गुणों की वृद्धि कर सकते हैं, अकेले में दोषों को समझा दें तो वह दोषों का परित्याग कर सकता है। हम भी अपने दोषों का परित्याग करने की कोशिश व गुणों को बढ़ाने की कोशिश करें।

सत्याणुव्रती के लिए अनावश्यक ज्यादा बोलना भी दोषप्रद है। जितनी आवश्यकता है उतना बोलें। जैसे आप दूध-तेल-घी-दही आदि का प्रयोग करते हैं, ज्यादा नहीं करते, वैसे ही शब्दों का प्रयोग भी उतना ही करो जितना बोलना आवश्यक है। कम से कम बोलेंगे तो सार्थक व यथार्थ बोलेंगे, ज्यादा बोलेंगे तो कई बातें ऐसी मुख से निकल जाती हैं जिन्हें बोलने की आवश्यकता नहीं। बुराई करते हैं तो एक की दो बुराई निकल जाती हैं। प्रशंसा एक की दो कह देना बुरी बात नहीं है पर बुराई बढ़ा-चढ़ाकर कह देना बुरी बात है।

आप सभी सत्याणुव्रत का निर्दोष पालन करो। परवाद, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेखक्रिया व न्यासापहार ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं इनका परित्याग करके निर्दोषव्रत पालन करने की भावना रखो। सत्याणुव्रत नहीं लिया है तो ग्रहण करो और कल्याणमार्ग के पथिक बनो, ऐसी हम आप सभी के प्रति शुभ भावना भाते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अचौर्याणुव्रत का लक्षण

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृश-चौर्यादुपारमणम्॥57॥

अन्वयार्थ–निहितं वा – रखा हुआ **पतितं वा** – गिरा हुआ **सुविस्मृतं वा** – भूला हुआ **अविसृष्टम्** – बिना दिया हुआ हो ऐसे **परस्वं** – दूसरों के वस्तु या धन को **यत्** – जो **न हरति** – न स्वयं लेता है **न च दत्ते** – नू दूसरों को देता है **तत्** – वह **अकृशचौर्यात् उपारमणम्** – अचौर्य अणुव्रत है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सद्गृहस्थों की आचार संहिता का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं। वह गृहस्थ घर में रहते हुए किस प्रकार से पापों से बच सकता है, किस प्रकार सुगति का पात्र बन सकता है, वह स्व-पर के लिए किस तरह हितकारी हो सकता है। आचार्य महोदय श्रावक के धर्म का वर्णन कर रहे हैं क्योंकि जिनशासन में धर्म दो प्रकार का बताया श्रमण धर्म और श्रावक धर्म। सागार व्रत और अनगार व्रत। श्रमण धर्म में सकल परिग्रह का त्याग किया जाता है, हिंसादि पाँच पापों का पूर्णतया त्याग होता है, श्रावक धर्म में हिंसादि पापों का स्थूल त्याग होता है, वह सूक्ष्म पापों का त्याग नहीं कर पाता। कोई भी प्राणी पहले स्थूल पापों से बचता है सूक्ष्म से बाद में बचता है। शरीर में बड़ी बीमारी हो तो पहले उसी पर ध्यान दिया जाता है, फोड़ा-फुंसी पर बाद में। इसी तरह यहाँ बता रहे हैं पहले स्थूल पाप त्याग करना जरूरी है। जैसे–पहले सप्त व्यसन का त्याग करो फिर पापों का त्याग करो, पापों में भी पहले मोटे-मोटे पापों का त्याग करो। जैसे किसी का शरीर कीचड़ से सना हो, जल थोड़ा हो तो पहले हाथ से मोटी-मोटी कीचड़ को अलग कर देता है। श्रेणिक चरित्र में आपने पढ़ा होगा कि उस श्रेणिक ने बांस की डंडी से पहले कीचड़ अलग किया फिर एक गिलास पानी से पैरों को साफ किया तो स्थूल पापों का पहले त्याग करो।

स्थूलहिंसा का त्याग करने से अहिंसाणुव्रत जीवन में आया, स्थूल झूठ का त्याग करने से सत्याणुव्रत उत्पन्न हुआ। अब बता रहे हैं स्थूल चोरी का त्याग। स्थूल चोरी का त्याग करने वाला व्यक्ति अपने परिणामों को निर्मल रख सकता है, जिसके चित्त में हिंसा का भाव रहे, झूठ बोलने का भाव रहे, परवस्तु ग्रहण करने का भाव रहे उसके चित्त में विशुद्धि बढ़ नहीं पाती। पापों का त्याग करने से मन में निर्मलता आती है, बाद में व्यक्ति कहता है कि सूक्ष्म पापों को भी छोड़ो, ये गंदगी भी मेरे जीवन में क्यों रहे। तो यहाँ पर स्थूल चोरी त्याग करने रूप जो व्रत है वह

अचौर्याणुव्रत **'अकृश चौर्यात् उपारमणम्'**–कृश यानि सूक्ष्म, अकृश माने स्थूल चोरी से विरक्ति या त्याग। इस व्रत का स्वरूप आचार्य महोदय के शब्दों में देखते हैं–

कोई व्यक्ति नल पर पानी पी रहा था, पानी पीते समय उसने अपनी अँगूठी उतारकर रख दी और भूल गया, वहाँ से वह चला गया, आप वहाँ पहुँचे आपने वह अँगूठी देखी और आपके मन में ग्रहण का भाव आ गया। उसकी रखी वस्तु थी, आपने ग्रहण की तो चोरी हो गई। स्वयं उठा लिया तो भी चोरी हो गई, स्वयं न उठाकर किसी अन्य से उठवा ली तब भी चोरी हो गई। कुछ लोग अपने आपको बड़ा विवेकी और ज्ञानी समझते हैं और वे सलाह देते हैं भैया! स्वयं के उपयोग में मत लो, चलो मंदिर जी की गुल्लक में डाल देंगे या किसी भिखारी को दे देंगे। तो यह भी उचित नहीं है। आपसे हम पूछें कि यदि मार्ग में आपको 2000 का नोट पड़ा हुआ दिख जाए तो आप क्या करेंगे? उठा लोगे, ये गलत है। उठाकर क्या करोगे? मंदिर की गुल्लक में डाल देंगे। अरे भाई! चोरी का धन गुल्लक में क्यों डाल देंगे, मंदिर को चोर क्यों बना रहे हो। यह भिखारी को दोगे तो उसे भी क्यों चोर बनाते हो। अरे! भिखारी को दान देना है, धन्ना सेठ बनना है तो अपने धन से बनो दूसरों की वस्तु से क्या बनते हो। उसे तो छूना ही नहीं। आचार्य सकलकीर्ति जी महाराज ने लिखा है 'दूसरों का धन दहकते अंगारों की तरह से है' दहकते अंगार को छूओगे तो क्या होगा? व्यक्ति जल जाएगा। दूसरे का धन/वस्तु काली नागिन की तरह से है उसके पास भी नहीं जाना, नहीं हो वह डस लेगी।

महानुभाव! यहाँ कहा **'निहितं वा पतितं वा'** दूसरों की रखी हुई या पड़ी हुई वस्तु। किसी के हाथ से कोई चीज गिर गई, वह बातों में चलता चला गया उसे पता ही नहीं चला और आपको मालूम है यह वस्तु उसकी है, फिर भी उठा ली और आपका देने का भाव नहीं है, भाव ये है कि माँगने आएगा तो दे दूँगा वरना रख लूँगा। तो दूसरे की पड़ी वस्तु को जिसका स्वामी आपको ज्ञात नहीं है या ज्ञात भी है, उसकी पड़ी हुई, रखी हुई, भूली हुई वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। हम आपको उदाहरण सहित समझाकर एक अच्छी बात बताते हैं। यह सत्य घटना है।

एक दुकान पर एक बालिका चॉकलेट लेने गई, दुकान के लड़के ने उसे चॉकलेट दे दी। बालिका ने कहा मुझे इससे भी अच्छी चाहिए। लड़के के मन में बालिका को देखकर पाप आया, वह दुकान के अंदर बालिका को ले गया और पीछे ले जाकर उसके साथ गलत कार्य करने लगा। बालिका रोने लगी, मुझे घर जाना है। इतने में लड़के की माँ आई उसने देखा मेरे बेटे की गलती है, यह लड़की तो एक अच्छे परिवार की है। अभी इसकी आवाज सुनकर गाँव

के लोग इकट्ठे हो जाएँगे, बात बढ़ेगी, हमारी भी बदनामी हो जाएगी। अब क्या करें, पाप तो किया, पाप को छिपाएं कैसे, माँ-बेटे ने मिलकर उस बेटी को जान से मार दिया। समय नहीं मिला कि उसे बाहर निकाल सकें। वहीं रखे कूलर मे उस की Dead Body को छिपाकर रख दिया। 2-3-4 घंटे हो गए बालिका के घर-परिवारीजन उसे ढूँढ़ने आए। वह लड़का सोच तो ये रहा था कि मैं जमीन में गड्ढा खोदकर इसे दफना दूँगा। अड़ोस-पड़ोस से फावड़ा लेकर भी आ गया। इधर शोर सा होने लगा, लड़की की खोज होने लगी कहाँ-गई-कहाँ गई। अब वह सोचता है अपने पाप को कैसे छिपाऊँ। दुकान पर उसकी चप्पलें थी उसे उठाकर फेंक दिया। लोग खोज करते हुए उसकी दुकान पर भी आए, पूछा-बिटिया कहीं तुम्हारी दुकान पर तो नहीं आयी, बोले यहाँ तो नहीं आयी पर मैंने वहाँ उसे जाते देखा था जहाँ वो साधु-महात्मा बैठा है। लोग वहाँ गए, देखा तो साधु महात्मा वहाँ नहीं थे। लगता है साधु महात्मा ही ले गया है। लोगों के मन में साधु के प्रति गलत धारणा बनने लगी। साधु के स्वभाव की खोज शुरू की तो पता लगा कि साधु जी तो सीधे-सरल थे, अपनी साधना में रत रहते थे, वे अभी-अभी ही यहाँ से कहीं गये हैं। साधु-महात्मा भी मिले, पता चला साधु महात्मा जी ने कुछ नहीं किया, वे निर्दोष हैं, हम गलत ही सोच रहे थे।

एक दिन निकल गया-दो दिन निकल गए, गाँव के लोगों को चिन्ता हो गई। पुलिस भी खोजबीन में लग गई, कहीं कोई सुराख नहीं मिल रहा। अचानक दो-तीन दिन बाद सड़क पर झाड़ू लगाने वाली महिला को वे चप्पलें मिलीं। उसने कहा चप्पलें तो नई सी हैं उठाकर अपनी झोली में डाल लीं, अपने घर में ले गई और अपनी बेटी को पहना दी। वे चप्पलें पहनकर उस महिला की बेटी सड़क पर घूम रही थी, संयोग की बात जिस बेटी की मृत्यु हुई थी उसकी एक सहेली थी, उस सहेली ने वह चप्पलें देखी तो अपनी माँ से बोली माँ-माँ ये चप्पलें तो मेरी उसी सहेली की हैं जिसे सभी ढूँढ रहे हैं। बात पुलिस तक आई, पूछताछ की तो महिला ने कहा मुझे तो सड़क पर मिली। पर पुलिस वाले तो पुलिस वाले उसे डराते हुए बोले-बताओ तुमने उस बेटी को कहाँ पर छिपाकर रखा है। वह महिला रोने लगी, भाई मैं नहीं जानती किसकी बेटी, कहाँ गई। पुलिस वाले बोले-उसकी चप्पलें तेरे पास हैं, सबूत तेरे खिलाफ हैं, सच बताओ। वह बोली सच कहती हूँ मुझे तो सड़क पर एक चप्पल सीधी-एक उल्टी पड़ी मिली थी, मैं तो झाड़ू लगा रही थी सो उठा लाई।

अब खोज की गई कि किसने चप्पल फेंकी और पता चला उसी दुकान से चप्पलें आई थी, वह पकड़ा गया, सजा दी गई। ये सब बाद की बात है किन्तु उसकी चप्पलें पड़ी हुई थी, यदि सच सिद्ध नहीं होता तो चप्पल उठाने मात्र से पुलिस महिला को पकड़कर ले जाती,

उसे सजा दे देती। तो ऐसे कभी किसी की कोई चीज पड़ी हो चाहे रुमाल हो, पर्स हो, फलों की टोकरी हो, क्या पता कुछ ऐसा सामान हो जो चोरी का हो, आपने उठा लिया, खोज बीन हुई तो पकड़े गए।

एक व्यक्ति ने कहीं से चोरी की और माल बैग में रख दिया, जल्दी से ट्रेन में बैठ गया। उसे लगा कि कोई मेरा पीछा कह रहा है, उसने चुपचाप बैग वहीं छोड़ा और वहाँ से निकलकर बीच स्टेशन पर उतर गया। बैग वहाँ रखा था, किसी व्यक्ति ने सोचा चलो उठा लेता हूँ। बैग की तलाश करते हुए पुलिस आयी, पूछा बैग किसका है तो उस व्यक्ति ने कह दिया मेरा है। बैग खोलकर देखा तो उसमें चोरी का सामान था। अब वह पछता रहा है, लोभ में आकर बड़ी मुसीबत में फँस गया। तो किसी भी पड़ी चीज को उठाना नहीं चाहिए।

एक बार किसी अमीर सेठ के घर के सामने कोई व्यक्ति नोटों से भरा बैग छोड़कर चला गया। सेठ ने नोटों की गड्डी से भरा बैग देखा और उठाकर घर ले गया। अब जो व्यक्ति छोड़कर गया था उसी व्यक्ति ने पुलिस को संकेत कर दिया कि मार्केट में नकली नोट चल रहें हैं। पुलिस आई और सेठ के घर में छापा पड़ गया, नोट नकली थे। सेठ के हाथ-पैर ठंडे पड़ गए। तो कभी भी किसी की वस्तु को छूना भी नहीं, दूसरे की वस्तु तो दहकता हुआ अंगारा है, छूने पर जल जाओगे, मृत्यु को प्राप्त होओगे।

आचार्य समंतभद्रस्वामी जी भी यही समझा रहे हैं कि किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई या जिसका त्याग नहीं किया ऐसी किसी की वस्तु स्वयं नहीं लेना, उठाना नहीं और उठाकर किसी को देना भी नहीं, मंदिर में भी नहीं देना। वह ज्यों की त्यों वहीं पड़ी छोड़ देना, हो सकता है उसे छूने से तुम चोर सिद्ध हो जाओ। यहाँ तक कि उस वस्तु के पास जाकर आप खड़े भी हो गए और पुलिस वाले संयोग से आ गए तो तुम्हें पकड़कर ले जाएँगे। इसीलिए कभी किसी की कोई वस्तु या धन नहीं लेना। स्थूल चोरी का त्याग करने वाले श्रावक को अचौर्याणुव्रत का पालन करने के लिए किसी की वस्तु को ग्रहण करने का भाव भी नहीं करना, छूना भी नहीं, दूसरे की वस्तु के पास जाकर खड़ा भी नहीं होना चाहिए अन्यथा संकट में फँस सकते हैं इसीलिए आचार्य महोदय ने पहले ही संकेत कर दिया कि दूसरों की वस्तु को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

महानुभाव! यह अचौर्याणुव्रत का स्वरूप संक्षेप में कहा। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

चौरप्रयोग - चौरार्था - दान - विलोपसदृशसन्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः॥58॥

अन्वयार्थ–अस्तेये – अचौर्याणुव्रत के **पञ्च व्यतीपाताः** – पाँच अतिचार हैं **चौरप्रयोग** – चोर को चोरी करने की प्रेरणा या अनुमोदना करना **चौरार्थादान** – चोरी का माल खरीदना **विलोप** – राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना **सदृशसन्मिश्राः** – समान वस्तुओं को मिलाना **हीनाधिकविनिमानं** – माप-तौल के बाँटों तथा नियमों में न्यून-अधिक अर्थात् कम ज्यादा करना।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में पूर्व कारिका में देख रहे थे अचौर्याणुव्रत का स्वरूप। जीवन में अचौर्याणुव्रत की क्या आवश्यकता है? अचौर्याणुव्रत का पालन न करने से जीवन में कितने प्रकार के विकल्प, दु:ख, आपत्ति, विपत्ति, संकट आने की संभावना हो सकती है? जिस व्यक्ति के मन में लोभ-लालच रहता है, लालच में आकर के वह अचौर्य व्रत का पालन नहीं करता, दूसरों की पड़ी हुई, रखी हुई, भूली हुई वस्तु को ले लेता है तो वह न केवल संकट को आमंत्रित करता है वरन् उसके प्राण जाने की भी नौबत आ सकती है। आज 58वीं कारिका में अचौर्याणुव्रत के अतिचार बता रहे हैं। अचौर्याणुव्रत को निर्मल-निर्दोष बनाने के लिए इन पाँच अतिचारों का भी त्याग करना चाहिए अन्यथा अचौर्य अणुव्रत निर्दोष परिपालित नहीं होता और व्रतों के बिना कल्याण नहीं होता। व्रतों का पालन करने का आशय है पापों से उतना छूट जाना, पाप पंक से बच जाना।

पहला अतिचार है-'चोरी करने का प्रयोग बताना', स्वयं चोरी तो नहीं की किन्तु दूसरों को बताना। दूसरा अतिचार है चोरी की वस्तु को ग्रहण कर लेना या सस्ते मूल्य में चोरी की वस्तु को खरीद लेना। तीसरा अतिचार है चोरी तो नहीं की किन्तु राजकानून का उल्लंघन किया अपने कर्त्तव्य का लोप किया, जो संविधान भारतीय नागरिक के लिए है, स्व-पर सुखद जीवन के लिए है उसका उल्लंघन करना। चौथा अतिचार है समान वर्ण वाली वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाकर बेच देना और पाँचवाँ नाप-तौल के पैमाने मीटर, लीटर, बाँट, पोटली, मुट्ठी आदि में हीनाधिकता कर लेना, इसमें चोरी का भाव आता है तभी व्यक्ति बेईमानी करता है, चोरी का भाव नहीं तो उसके जीवन में पारदर्शिता रहती है, मन दर्पण की तरह स्वच्छ रहता है। तो उन पाँच अतिचारों से व्रती को बचना चाहिए। इनकी थोड़ी सी व्याख्या देखें–

चौर्य प्रयोग स्वयं चोरी नहीं की किन्तु आपने चोर को बताया–देखो! एक काम करना उसके मकान का पीछे वाला दरवाजा टूटा है, उसमें ताला सही से नहीं लगता, ताला तोड़ना नहीं, धीमे से हिलाना तो कब्जे अपने आप निकल जाएँगे, तुम चुपचाप चले जाना, जो लेना हो वह ले लेना, तेरा कर्ज अपने आप चुक जाएगा। खुद तो चोरी नहीं की पर दूसरे को चोरी करने की प्रेरणा दे दी। या चोर को जाकर बता दिया कि आज उनका पूरा परिवार किसी तीर्थक्षेत्र की यात्रा करने गया है और तुम्हें कुछ नहीं करना बस सामने वाले का जो मकान है उसके यहाँ नसैनी टिकानी है, फिर ईट पकड़कर उसकी छत पर चढ़ जाना, वहाँ से सीढ़ीयों की साइड आ जाना, सीढ़ीयों पर कोई दरवाजा है ही नहीं, तुम सीधे आ जाओगे, सब खुला मिलेगा जो लेना हो सो ले आना। किन्तु मेरा नाम कहीं नहीं आ जाए, पकड़े गए तो तुम ही जिम्मेदार होंगे। चोर भी कहता है अरे! मैं तुम्हारा नाम क्यों लूँगा, तुमने तो मुझे मालामाल कर दिया। चोरी करने का उपाय बताना यह भी अचौर्य अणुव्रती के लिए दोष है। चोरी का उपाय तो बहुत दूर की बात ऐसी कोई बात भी नहीं करना चाहिए कि चोरी करने वाला चोरी कैसे करता है अर्थात् चोर कथा नहीं करनी चाहिए क्योंकि हो सकता है कि चोरी करने की बात सुनाओगे तो सामने वाले के मन में चोरी करने का भाव आ जाए। बात सुनाना है तो यह सुनाओ कि अचौर्य अणुव्रत का पालन कैसे किया जाए।

गोपालदास जी बरैया मुम्बई से मुरैना के लिए यात्रा कर रहे थे। उनके बेटे की उम्र लगभग उसी दिन 3 वर्ष की हुई और ट्रेन में 3 वर्ष से बड़ा बालक हो तो आधा टिकट लगता है। उनकी पत्नी ने बताया आज हमारा बेटा 3 वर्ष का हो गया। पंडित जी घबरा गए बोले–अरे! मैंने बेटे का टिकट तो लिया ही नहीं, 1/2 टिकट लेना था। टी.टी.आया, उन्होंने कहा–क्षमा करना मुझसे भूल हो गई, मुझे यही ज्ञात था कि मेरा बेटा 3 साल से छोटा है किन्तु अभी मेरी पत्नी ने बताया कि आज उसका जन्मदिवस है, वह 3 वर्ष का पूर्ण हो गया, मुझे इसकी 1/2 टिकट बनाकर दे दो। टी.टी. ने कहा–तुम चिंता क्यों करते हो, अगले स्टेशन तक तो मैं हूँ, रही इसके आगे की बात तो ठीक है मैं उस टी.टी. से भी कह दूँगा कि तुमसे कुछ ना कहे। टी.टी. साहब मेरी यात्रा उससे भी आगे की है। पंडितजी आपको तो मुरैना तक ही जाना है ना। नहीं, मेरी यात्रा और आगे तक की है। पर आपका टिकट तो मुरैना तक का है। भाई! मुरैना तक तो इस ट्रेन का टिकट है, मुझे तो यात्रा परलोक की भी करनी है, वहाँ जाकर क्या जवाब दूँगा, आप तो मेरे बेटे का आधा टिकट बना दीजिए। जो जुर्माना बनता है मैं उसे भरने को तैयार हूँ। तो ये अचौर्य व्रत कहलाता है। और चोरी करने वाला क्या सोचता है कब मुझे चोरी करने

का मौका मिले। अचौर्याणुव्रती सोचता है मैं कैसे अपने व्रत को निर्दोष बनाऊँ। अतिचार व्रतों में दोष लगाते हैं और निरतिचार व्रतों को निर्दोष करते हैं। तो यदि कोई चौर्य प्रयोग बताता है या अनुमोदना करता है तो समझ लेना वह अपने अचौर्य अणुव्रत में दोष लगा रहा है।

दूसरा अतिचार है **'चौरार्थादान'** चोरी के धन को ग्रहण कर लेना। प्रातः काल चार बजे पहुँच गए दुकान पर। अभी लोग सोकर भी नहीं उठे कि उसके बंधे हुए ग्राहक आते हैं और चोरी का माल उसे दे जाते हैं, वह माल उसे आधी रेट में मिल जाता है। चाहे जो भी माल हो लोहे का, पीतल का, चाँदी का, स्वर्ण का या और भी कोई है। दुकान नगर में बड़ी प्रतिष्ठित है, नगर में धाक है। कोई व्यक्ति उस पर चोरी की शंका भी नहीं कर सकता। अब वह सोचे मैंने चोरी थोड़े ही की है, किंतु नहीं, यह भी चोरी है। चोरी की वस्तु है इसलिए कम पैसे में मिल गई। उस वस्तु को लेना भी दोष है, यह भी संकट का कारण है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु को कम पैसे में दे रहा है तब भी नहीं लेना, हो सकता है वह चोरी की हो क्योंकि अपनी वस्तु होती तो पूरे मूल्य में देता। 1 लाख की वस्तु यदि 20 हजार में मिल रही है या 40 हजार में मिल रही हो तो समझ लो कोई गड़बड़ है। लाख की वस्तु व्यक्ति मजबूरी में 95000 की दे सकता है, 99000 की दे सकता है पर 1 लाख की वस्तु को 20-40 हजार में दे रहा है तो निश्चित मानिए इसमें गड़बड़ जरूर है। कई बार व्यक्ति सोचता है फ्री की वस्तु मिल जाए, पर फ्री की वस्तु बहुत महँगी पड़ती है।

अभी कोरोना काल चल रहा है, एक लड़की आयी और मास्क लेकर के एक व्यक्ति को दिया। ये कम्पनी का है, मुफ्त में मास्क बाँट रही हूँ, लोगों की सेवा करने के लिए आप ले लीजिए। उसने कहा ठीक है और फ्री में ले लिया। मास्क ज्यों ही लगाया उसमें क्लोरोफार्म था, मास्क लगाते ही उसको बेहोशी आ गई, वह लड़की उस व्यक्ति की गाड़ी मे जो सामान रखा था वह सब बांधकर ले गई। तो फ्री की वस्तु भी नहीं लेना है। फ्री में व्यक्ति न जाने क्या-क्या देना चाहता है।

एक व्यक्ति ट्रेन में यात्रा कर रहा था, किसी ने फ्री में उसको बिस्किट खिलाया, उसने सोचा मुझे कोई फ्री में बिस्किट दे रहा है तो क्यों न खा लूँ, और ज्यों ही बिस्किट खाया मूर्च्छा खाकर गिर पड़ा और वह व्यक्ति उसका सारा सामान लेकर रफू चक्कर हो गया। वह ट्रेन में पड़ा ही रह गया। कई बार होता है ठगी करने वाले बातों में लगाकर बाजू में बैठ गए, उसने देख लिया आपके पास सूटकेस है, आपकी निगाह बार-बार उस पर जा रही है और वह आपको बातों में लगाए जा रहा है, उसने बातों में इतना उलझाया कि व्यक्ति का उपयोग

उसकी बातों में ही लगा रहा और उसके अन्य साथी उसका सूटकेस लेकर पार हो गए उसे पता भी नहीं चला।

महानुभाव! इसलिए कभी फ्री की वस्तु नहीं लेना, फ्री में (बेवजह) कोई बातों में भी लगाए तो लगना नहीं, उसका कोई न कोई प्रयोजन उल्टा भी हो सकता है। तो फ्री की वस्तु लेना भी चोरी के बराबर ही है। व्यक्ति पर तुम्हें विश्वास हो तो वस्तु को लेना, कोई जान-पहचान का हो तभी उसकी वस्तु का प्रयोग करना, अनजान व्यक्ति का माल फ्री में भी मिले तो नहीं लेना।

तीसरा अतिचार है **'विलोप'** राजनियमों का, कानून का उल्लंघन करना। जो व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है वह भी चोर कहलाता है। कम Tax देना या अन्य राज्यनियम को तोड़ना। कोई वस्तु पड़ी हुई मिली उसका कोई स्वामी नहीं है तो क्या करोगे? उसका स्वामी राजा होता है। जिसका कोई स्वामी नहीं है उस वस्तु का उत्तराधिकारी मेधनीपति अर्थात् राजा होता है, शासक होता है इसलिए शासन की वस्तु भी बिना पूछे नहीं लेनी चाहिए। राजनियमों का उल्लंघन करना भी अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है। राजा ने जो भी नियम बनाए हैं चाहे मार्ग पर चलने के, सामान बेचने-खरीदने के, मकान बनाने के किसी भी प्रकार के नियम हों उन सभी नियमों का पालन करना चाहिए।

चौथा अतिचार दिया **सम्मिश्र**-अर्थात् बहुमूल्य वाली वस्तु में अल्पमूल्य की वस्तु मिला दी और अधिक मूल्य में बेच दी, ये भी अतिचार है। कई बार व्यक्ति ऐसा कर देते हैं, पर यह भी एक प्रकार से चोरी ही है इसीलिए यह कार्य भी उचित नहीं। आचार्य भगवन् उमास्वामी, अमृतचन्द्राचार्य, आदि ने इस अतिचार को प्रतिरूपक व्यवहार वा प्रतिरूपक व्यवहृति कहा है। जैसे चावल के धान्य में चावल के भूसे को, घृत में चर्बी को, हींग में खदिर को, असली सुवर्ण में नकली सुवर्ण को, असली चाँदी में नकली चाँदी को मिलाकर व्यापार करना सम्मिश्र नामक अचौर्याणुव्रत का अतिचार कहलाता है। इसमें भी ऐसा कार्य करने वाले के मन में यह भाव रहते हैं कि मैं चोरी नहीं कर रहा हूँ अपितु अपनी निपुणता से व्यापार कर रहा हूँ। परंतु यह कार्य प्रगट होने पर दण्ड मिलता है, अतः चोरी है, एकदेश व्रत भंग है। इसलिए अतिचार है परंतु बार-बार करना अनाचार है।

अगला अतिचार है **'हीनाधिकविनिमानं'** देने के बांट छोटे-छोटे, लेने के बड़े-बड़े। देने वाला मीटर छोटा और लेने वाला बड़ा। व्यक्ति क्या करता है जब लेना होता है तो लीटर में थोड़ा ठोक करके गहरा कर दिया, एक घूंट दूध ज्यादा आ गया और देने वाला है तो उसको

थोड़ा ऊपर की ओर पिचका दिया, वह उठ गया थोड़ा सा घूंट भर दूध उसमें कम भरेगा। मन इतना बेईमान हो गया।

एक सेठ जी क्या करते थे जब कोई वस्तु देने आता था तो कहते थे बड़ी बहू बांट ले आना, बहू बांट लेकर आ जाती। जब कोई वस्तु दुकान पर लेने आता तो आवाज लगाते छोटी बहू बाँट तो लाना तो छोटी बहू आ जाती। किसी ने पूछा-सेठ जी के यहाँ बहू तो एक ही है दो कहाँ। वे बोले तू नहीं जानता। मतलब? अरे! छोड़ इस बात को। अरे! बताओ तो सही, जब कोई देने आता है तो मैं बड़ी बहू कहता हूँ, इसका मतलब है बड़े वाले बाँट ले आना, और जब कोई लेने आता है तो कहता हूँ छोटी बहू, मतलब छोटे-छोटे बाँट ले आना। ये मेरे कोड वर्ड हैं। तो ऐसे ही जो हीनाधिक मान-उन्मान रखता है वह भी अचौर्याणुव्रत का दोष है, ये भी एक प्रकार की चोरी है। अचौर्याणुव्रत का पालन करने वाले श्रावक को इन अतिचारों से बचना चाहिए व अपने व्रतों को निर्मल बनाना चाहिए। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदार - निवृत्तिः, स्वदार - सन्तोषनामापि॥59॥

अन्वयार्थ–यत् – जो **पाप-भीतेः** – पाप के भय से **न तु** – न तो स्वयं **परदारान् गच्छति** – पर स्त्री के प्रति गमन करता है **च** – और **न परान् गमयति** – न दूसरों को गमन कराता है **सा परदार-निवृत्तिः** – वह 'परदार निवृत्ति'' ब्रह्मचर्याणुव्रत है **स्वदार-सन्तोष-नाम-अपि** – स्वदार सन्तोष भी उसी का दूसरा नाम है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में देखते हैं ब्रह्मचर्य अणुव्रत के संबंध में। जिस व्यक्ति को ब्रह्म स्वरूपी आत्मा का परिज्ञान हो गया है, आत्मा के बारे में श्रद्धान है वह मानता है मेरी आत्मा अलग है शरीर अलग है, शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा शाश्वत है शरीर नश्वर है। शरीर की सुख-सुविधा के लिए, शरीर के आनंद के लिए जब व्यक्ति अनैतिक कदम बढ़ाता है तब समझो अपनी आत्मा का ही घात करता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं; यदि आप चिरकाल तक अपनी आत्मा में रमण करने में समर्थ नहीं हैं, यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत लेकर साधना नहीं कर सकते, आत्मा को परमात्मा बनाने का जो साधन है, जो पथ है उस पर नहीं चल सकते तब कम से कम गृहस्थ जीवन में रहकर के यह नियम तो अवश्य लेना चाहिए कि मैं अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति न तो बुरे विचार रखूँगा, न बुरे वचन बोलूँगा, न निंद्य व गलत चेष्टा करूँगा। स्वकीय पत्नी के प्रति भी आसक्ति का भाव नहीं रखूँगा। वंशवृद्धि के लिए चार पुरुषार्थ में कामपुरुषार्थ को लिया है लेकिन उसका आशय ऐसा नहीं है कि व्यक्ति भोगों का ही कीड़ा बन जाए, उस पाप पंक में ही लिप्त हो जाए। वह अपनी पत्नी का साथ चाहता है किन्तु दूसरी स्त्रियों को माता-बहिन या पुत्री के समान व्यवहार करता है।

उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत मानो, माता बहिन सुता पहचानो॥

जो अपनी पत्नी है उसे भी धर्म की प्रेरणा दो। वह भी भोगों में अति आसक्त न रहे, उसका भी मनुष्यभव व्यर्थ न चला जाए, पापों का कारक न बने। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी कह रहें है जो ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करने वाला है वह श्रावक पर नारी से विरक्त रहता है। चाहे वह परनारी कुंवारी है या किसी की शादी-शुदा, चाहे वह नगर-नारि है किसी के प्रति भी वह आकर्षित नहीं होता, उनसे वह विरक्त ही रहता है। क्योंकि यह एक ऐसा पाप

है जिस पाप के कारण व्यक्ति की निगाह नीची होती है, व्यक्ति जीतेजी मर जाता है, वह अपनी प्रतिष्ठा पर कलंक लगाता है। ऐसे पाप जब प्रकट हो जाते हैं तब इन पापों का ऐसा मजाक उड़ाया जाता है कि उसके कुलवंश मे भी लोग सहम जाते हैं, लोग कहते हैं तुम्हारे कुल में ऐसा पाप हुआ था। श्रावक इस पाप से बचते हुए गृहस्थ जीवन में रहते हुए ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करते हैं।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत का स्वरूप यहाँ बताया कि गृहस्थ जीवन में रहकर कैसे आप लोग ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करें। **'न तु परदारान् गच्छति'** जो पर स्त्रियों के साथ गमन नहीं करता, उनके पास जाना-आना नहीं रखता, उनसे गलत संबंध नहीं बनाता, उनके साथ हास-परिहास, रूप-विच्छेद, विलास-रासक्रीड़ा आदि नहीं करता, वह उनके प्रति अच्छा भाव रखता है। आपको ज्ञात होगा जब राम-लक्ष्मण और सीता वनवास में थे तब सीता जी का अपहरण होने के उपरांत मार्ग में रावण उन्हें ले जा रहा था तब उन्होंने अपने आभूषण, कुण्डल, केयूर, आदि उतारकर विमान से नीचे फेंक दिए थे। जिससे उनके माध्यम से ज्ञात हो सके कि सीता को इस मार्ग से कोई ले गया। जटायु पक्षी ने बचाने का प्रयास भी किया था किन्तु वह घायल होकर गिर गया था। जब राम-लक्ष्मण आए तब पता चला कि जटायु यहाँ घायल अर्द्धमृतक है, सीता का अपहरण हो गया है, रामजी ने जटायु को संबोधन दिया, महामंत्र सुनाया पुनः सीता की खोज की। मार्ग में सीता के आभूषणों को देखकर रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से पूछा-भैया देखो! क्या ये सब आभूषण तुम्हारी भाभी के हैं। लक्ष्मण ने कहा-

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपूरे तु अभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात्।

भैया! मैं तो नित्य माता सीता के चरणों की सेवा करने वाला हूँ, पैर के नुपूर (बिछुआ) उसको तो मैं पहचान सकता हूँ, मैंने कभी उनके चेहरे को नहीं देखा, मैं नहीं पहचान सकता उनके कर्ण में कौन से कुण्डल थे, कौन से केयूरादि आभूषण थे, मैं नहीं पहचान पाऊँगा।

महानुभाव! यह भारतीय संस्कृति है जिसमें चाहे भाभी है वह माँ के समान है अथवा अन्य रिश्ते भी यदि साली है तो छोटी बहिन के समान है, उम्र में बड़ी स्त्री है तो वह माँ के समान है, उम्र में छोटी है तो वह पुत्री के समान है। इस प्रकार का यदि व्यवहार करोगे तो मन दूषित नहीं होगा, मन दागी नहीं होगा, ये मन बागी नहीं बनेगा, बगावत नहीं करेगा, मन त्यागी बना रहेगा। यहाँ बता रहे हैं कि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कैसे करना? तो बताया कि परायी स्त्री के साथ गमनागमन नहीं करना, उसके साथ कोई ऐसा आलाप-विलाप-हास-परिहास नहीं करना जो लोक निंद्य है और धर्म के विरुद्ध है।

और कहा **'न परान् गमयति'** दूसरे व्यक्ति को भी पाप में रंजायमान नहीं करना, मित्र से कह रहा है मेरा मन तो नहीं है पर लड़की ठीक है तू उससे सम्पर्क कर ले, तो यह गलत काम भी नहीं करना। ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति अपने पुत्र-पुत्री के विवाह के अतिरिक्त अन्य किसी के विवाह आदि में रुचि नहीं रखता। वह जानता है शादी करने के बाद उन्हें तो पाप कमाना है इसलिए वह सोचता है मुझे तो बस मेरे पुत्र-पुत्री के विवाह का दायित्व निभाना है, यही मैं करूँगा किन्तु दूसरों के लिए नहीं। लड़की अच्छे घर में पहुँच गई तो लोग कहेंगे लड़की का भाग्य है और जरा सी प्रतिकूलता हो गई तो सारा इल्जाम आपके सिर पर, इनके कहने पर ही हमने यह रिश्ता तय किया था, ये ही इस विवाह में बिचौलिया बनकर आए थे। तो ये भी करना उचित नहीं है। कोई आपसे कुछ पूछे तो कह दो-आप दोनों आमने-सामने बैठकर चर्चा कर लो यहाँ तक तो गृहस्थ का धर्म हो सकता है। यहाँ कह रहे हैं स्वयं तो पराई स्त्री के साथ गलत व्यवहार-आचरण नहीं करना किन्तु दूसरों को भी प्रेरित नहीं करना।

ऐसा क्यों नहीं करना? तो कहा **'पापभीतेर्यत्'** पाप के डर से नहीं करना। लोकव्यवहार के डर से नहीं कि यदि मैं पराई स्त्री के साथ संबंध रखूँगा तो मेरी लोक निंदा हो जाएगी, ये तो बहुत दूर की चीज है, लोकनिंदा से आपने पाप का त्याग किया ये तो ठीक किया पाप से बचे, किन्तु आचार्य महोदय कह रहे हैं लोकनिंदा के साथ-साथ पाप से भीरुता होनी चाहिए। जब पाप से डर होगा तब आपसे पाप नहीं होगा और पाप से डर नहीं है तो लोकनिंदा से बचने के लिए जो पाप सबके दृष्टिगोचर होगा वह पाप तो आप नहीं करोगे फिर भी वचन-तन से पाप नहीं भी किया तो भी मन से पाप चलता रहेगा; इसीलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जो पाप से भयभीत है ऐसा व्यक्ति गलत कार्य नहीं करता। वह पापभीरू कभी पराई स्त्री के साथ कदाचार नहीं करता, असेव्य सेवन नहीं करता, न दूसरों को इन गंदे कार्यों के लिए प्रेरित करता है और न दूसरों के गंदे कार्य की अनुमोदना करता है।

तुम्हारा मित्र भी है तुम्हें मालूम है कि ये गंदे कार्य में लिप्त है तो उसे उस कार्य से छुड़ाओ, नहीं छूटता है तो मित्रता को छोड़ दो। अपने मित्र को या तो पाप से बचाओ, यदि वह पाप से नहीं बचे, वह पाप को नहीं छोड़े तो आपको उस मित्र को छोड़ देना चाहिए। यह परस्त्री से निवृत्ति रूप स्वदारसंतोष नाम का व्रत है। महानुभाव! पर नारी के संबंध में कवियों ने भी लिखा-

परनारी पैनी छुरी, तीन ठौर से खाएँ
धन नाशे, यौवन हरे, मरे नरक ले जाएँ।

यह पाप ऐसा है; जो एक बार परअंगना में आसक्त हो गया तो सुनने में आता है कि उस व्यक्ति का परिवार ही अनाथ हो जाता है, बिखर जाता है, आपस के सभी रिश्ते टूटने की कगार पर आ खड़े होते हैं। यह बहुत बड़ा पाप है। पर नारी पैनी छुरी की तरह से है, यूँ तो छुरी से एक तरफ से वार होता है किन्तु परनारी रूपी छुरी तीन ओर से वार करती है। पहला तो 'धन का नाश' जो परअंगना के रंग में रंग गया वह व्यक्ति कितना ही अमीर से अमीर क्यों न हो उसका धन पानी की तरह से बह जाएगा क्योंकि अंगना की संतुष्टि करने के लिए, उसके मन की पूर्ति करने के लिए वह जो चाहेगी उसे वही वस्तु लाकर देगा। आप जानते हैं अंजनचोर को, जो रानी का हार चुराकर भाग रहा था, सैनिक को अंजनचोर तो नहीं दिखा किन्तु हार की चमक दिख रही थी। सैनिकों ने पीछा किया तो वह हार छोड़कर भाग गया। उसने हार की चोरी क्यों की? क्योंकि वह जिस वेश्या में आसक्त था उसके मन की पूर्ति के लिए उसे चोरी करनी पड़ी। तो जो अब्रह्म में आसक्त हैं वे चोरी भी कर सकते हैं, झूठ भी बोल सकते हैं और हिंसा भी करते हैं।

हिंसा एक अकेला पाप है, झूठ में दो पाप होते हैं; एक झूठ और दूसरा हिंसा, चोरी में तीन पाप होते हैं हिंसा-झूठ-चोरी, अब्रह्म में चारों पाप होते हैं हिंसा-झूठ-चोरी और अब्रह्म। तो जो व्यक्ति आसक्त होता है वह अपने धन का नाश पानी की तरह करता है। दूसरा है-'यौवन हरे' जो परअंगनाओं में आसक्त होता है फिर उसकी तृप्ति नियम से विषय सेवन करने से नहीं होती, फिर वह अवैध रूप से भी दिन हो या रात, विषय सेवन का समय है या नहीं वह कामासक्त होकर के अपनी शरीर की शक्ति को क्षीण करता है जिससे जवानी में ही वृद्धापन आ जाता है। उसकी शक्ति, धातु-उपधातुएँ नष्ट होती हैं अर्थात् शरीर नष्ट होता है। जब वह उस पाप में आसक्त है तो उसका मन धर्मध्यान में नहीं लगता। पाप में लीन होने से वह नरकादि दुर्गतियों को प्राप्त करता है।

महानुभाव! रावण भले ही त्रिखण्डाधिपति था किन्तु परनारी की संगति से, यद्यपि उसने अब्रह्म सेवन किया नहीं किन्तु अब्रह्म सेवन की भावना से परनारी का अपहरण तो किया; उस अपहरण करने से वह रावण अपयश को प्राप्त हुआ, क्लेश-अशांति को प्राप्त हुआ। पूरा परिवार आँखों के सामने देखते-देखते बिखर गया, वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त होकर नरक गया।

चारुदत्त नगरश्रेष्ठी का पुत्र था। शादी होने के कई दिनों तक तो अपनी पत्नी को स्पर्श भी नहीं किया किन्तु जब पत्नी की माँ (उसकी सास) आयी तो उन्होंने अपनी बेटी से पूछा-बेटी क्या हुआ तेरे हाथ की मेंहदी ज्यों की त्यों है। वह बोली माँ पति ने आज तक स्पर्श भी नहीं किया, वे बोले तक नहीं, वे तो विषयों से विरक्त हैं। उसकी माँ ने अपनी समधन से कहा

जब आपका बेटा इतना ही वैरागी था तो मेरी बेटी से शादी ही क्यों की। यह सुनकर चारुदत्त की माँ ने अपने देवर से कहा कि किसी भी तरह से मेरे बेटे को विषयों में आसक्त करो। तब काका चारुदत्त को वेश्या के घर ले गया, वहाँ वेश्या की पुत्री ने चारुदत्त को प्यास लगने पर कुछ नशे वाली वस्तु पिला दी, जिससे चारुदत्त तो वहीं सो गया, उसका चाचा घर लौट गया। चारुदत्त उस वेश्या के साथ विषयों में आसक्त हो गया और 30 करोड़ स्वर्ण दीनारें वेश्या के चरणों में चढ़ा दी, भोगों में समर्पित कर दी। जब घर में कुछ भी नहीं बचा, पत्नी का मंगलसूत्र भी आ गया तब वेश्या की माँ ने चारुदत्त को उठाकर गटर में डाल दिया।

महानुभाव! यह पाप वास्तव में धन का नाश करने वाला, यौवन को हरने वाला एवं नरक में ले जाने वाला है। चारुदत्त भी उसके कारण अपमान को प्राप्त हुआ। महानुभाव! जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कोई भी कर सकता है। यदि आप पञ्च अणुव्रत को नहीं ले सकते तो कम से कम ब्रह्मचर्य अणुव्रत को तो ले ही सकते हो, इससे जीवन सुखद और शांतमय बनेगा। इस प्रकार 59 वें श्लोक में आचार्य महोदय ने ब्रह्मचर्य अणुव्रत की परिभाषा बताई। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीड़ा विटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः॥60॥

अन्वयार्थ–अन्य-विवाहः – दूसरों का विवाह **आकरण** – करने में पूर्ण सहयोग देना **अनङ्गक्रीडा** – काम सेवन से भिन्न अंगों के द्वारा काम क्रीड़ा करना **विटत्व** – खोटे वचनों को बोलना **विपुलतृषः** – काम की तीव्र लालसा **च** – और **इत्वरिकागमनं** – व्यभिचारिणी स्त्रियों से संबंध रखना ये **पञ्च** – पाँच, **अस्मरस्य** – ब्रह्मचर्याणुव्रत के **व्यतीचाराः** – अतिचार हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचर ग्रंथ श्रावकों की आचार संहिता लघु काय किन्तु विशेष शक्ति और गुणों से युक्त कृति के अन्तर्गत हम देख रहे थे ब्रह्मचर्य अणुव्रत का स्वरूप। आज ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचारों के बारे में देखते हैं कि जिन्होंने ब्रह्मचर्य अणुव्रत को स्वीकार किया है, वह उस व्रत का निर्दोष पालन कैसे करें? उसके कौन-कौन से अतिचार हैं, उन अतिचारों से कैसे बचें? जब तक जानेंगे नहीं तब तक बचना शक्य नहीं। जिसका व्रत जितना निर्दोष व निर्मल होता है उसे उतने ही उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है। मलिन वस्तु भी आपको पसंद नहीं है फिर मलिनव्रत आपको कैसे पसंद हो सकते हैं। आपने बाजार में जाकर कोई भी बर्तन देखा तो जो बर्तन चमाचम चमक रहा है उसे पहले खरीदोगे और उसके साथ रखा कोई गंदा बर्तन है चाहे वह स्टील, पीतल या तांबे आदि जिसका भी है; उस गंदे बर्तन को आप नहीं खरीदते हो। कोई भी वस्तु यदि फ्रेश है तो आप उसे खरीदना चाहोगे, गंदे को नहीं। आपको कोई भी मलिन वस्तु अच्छी नहीं लगती, तब आप मलिन व्रतों को क्यों स्वीकार करोगे? मलिन वस्तु में अच्छा स्वाद नहीं आता; बहुत अच्छी खीर बनी है, उसमें थोड़ी सी मिट्टी पड़ी हो, 2-4 कंकड पड़े हों तो वह मेवा-मिष्ठान से युक्त खीर भी अच्छी नहीं लगती क्योंकि कंकड-मिट्टी पड़े होने के कारण रुचिकर नहीं लगेगी, आप कहेंगे उसे छोड़ ही दो। ऐसे ही व्रत भी निर्दोष होने चाहिए, उसमें गंदगी-मलिनता-कूड़ा-कचरा कुछ नहीं होना चाहिए, बिल्कुल स्वच्छ साफ-सुथरा हो।

जितना शुद्ध व्रत पाला जाता है, चाहे वह अहिंसाणुव्रत हो, सत्याणुव्रत हो, अचौर्याणुव्रत हो या ब्रह्मचर्याणुव्रत हो अथवा परिग्रह का परिमाण जो भी व्रत आपने जीवन में लिए हैं, चाहे रात्रिभोजन का त्याग ही क्यों न किया हो, चाहे जमीकंद का त्याग हो, अभिषेक करने

का नियम लिया हो, उसका दृढ़ता से पालन करो। पहले लोग दृढ़ता से पालन करते थे, आज दृढ़ता में कमी आ गई है इसीलिए आज नियम लेने से पहले व्यक्ति छूट माँग लेते हैं। नियम बाद में, छूट पहले। व्रतों में छूट माँगते हैं तो छूट लेने पर उत्कृष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती।

पहले क्षत्रिय राजकुमार व्रतों का उत्कृष्ट रीति से पालन करते थे, द्विज भी अच्छी तरह से पालन करते थे, वे क्रियाकाण्ड में ध्यान लगाते थे। क्षत्रिय भावों के ऊपर ही खेलता था, द्रव्य की क्रिया गलत भी हो किंतु भाव गलत न हो। ब्राह्मण द्रव्य क्रिया पर जोर देता है, भावों को शुद्ध करने का प्रयास पूरा रहता है। किन्तु अब तो वैश्य क्रियाओं में ही डूबे हुए हैं, भाव विशुद्धि का तो ख्याल ही नहीं है। आज वर्तमानकाल में जिनशासन का पालन करने वाले अधिकांशतः वैश्य ही हैं, वे एक-एक नियम का पालन करेंगे तो पहले कहेंगे महाराज श्री! कौन से नियम से ज्यादा पुण्य मिलेगा वही मैं ले लूँगा। धर्म के क्षेत्र में भी बस व्यापार जैसा चल रहा है। सोचते हैं क्रिया देखने में अच्छी हो इससे लोगों के बीच अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, क्रिया-कलाप बढ़िया हो भाव चाहे खराब हो जाएँ किन्तु ये जिनशासन का मूल सिद्धान्त नहीं है, मूल सिद्धान्त है भावों की शुद्धि। भाव शुद्ध करने का प्रयास करो। भावों को लक्ष्य बनाओगे तो आपकी क्रिया अपने आप शुद्ध होने लगेगी और आपका भाव क्रिया शुद्ध करने का होगा तो दूसरों को संतुष्ट करने के लिए क्रिया तो शुद्ध कर लोगे किंतु भाव फिर भी अशुद्ध हो सकते हैं।

महानुभाव! यहाँ पर ब्रह्मचर्य अणुव्रत की चर्चा कर रहे हैं कि ब्रह्मचर्य अणुव्रत का शुद्ध पालन कैसे किया जाए, उन दोषों से कैसे बचा जाए, तो यहाँ पाँच अतिचार बताए। आचार्य भगवन् के शब्दों में ही देखते हैं—पहला अतिचार है—**'अन्य विवाहाकरण'**-जिनसे आपको कुछ लेना-देना नहीं फिर भी आप उनके विवाह में रुचि ले रहे हो या आप विसंगतियों को मिला रहे हैं या अन्य कोई युगल है उसकी मिथुन चेष्टा देख रहे हो या सोच रहे हो या उन्हें मिलाने की कोशिश कर रहे हो ऐसे करना यानि ऐसे परिणाम करना कि इसकी शादी इससे हो जाए, अरे! जो हो रहा है ठीक है, आप उसमें ज्यादा रुचि क्यों ले रहे हो। ब्रह्मचर्य अणुव्रत वाले को उसमें रुचि नहीं लेनी चाहिए, ऐसा करना अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत में दोष लगाना है। जिन्होंने ब्रह्मचर्य अणुव्रत को नहीं लिया ऐसे गृहस्थ प्राणी चाहे कुछ भी करें किन्तु अनावश्यक पापों का बंध आप क्यों करते हो। आचार्यों ने बताया एक बार के विषय सेवन करने से 9 लाख अथवा 9 कोटि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है; तो क्यों उस पाप की अनुमोदना कर रहे हो। ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करने

वाला व्यक्ति यदि दूसरों के विवाह के बारे में सोचता है, प्रवृत्ति करता है तो उसका वह अतिचार है।

अगला है **'अनंगक्रीड़ा'**-ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करने वाला कोई भी पुरुष एवं स्त्री यदि शरीर की अन्य चेष्टा करते हैं, काम सेवन के नियत अंगों के अलावा कामचेष्टा करते हैं तो यह उनका अतिचार है। इस प्रकार की कुचेष्टाएं नहीं करनी चाहिए।

अगला है **'विटत्व'** ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति खोटे शब्द न बोले, गाली-गलौज भी न दे, ऐसा करने पर व्रत में दोष लगता है। कई बार गृहस्थ लोग गाली देते हैं किन्तु जो सदाचारी-शिष्ट हैं उनके मुख से गाली नहीं निकलती है। कई परिवार ऐसे देखे जिन परिवारों में गाली सुनने में नहीं आई, जिह्वा पर वे शब्द आते ही नहीं। कहीं कोई लड़ाई-झगड़ा भी हो जाए तब भी उनके मुँह से गाली नहीं निकलती। ऐसे शिष्ट-संस्कारवान्-सदाचारी परिवार हैं जिनके घर का वातावरण इतना अच्छा है कि अपशब्द-गंदाशब्द मुँह से निकलता ही नहीं और कुछ परिवार ऐसे गंदे भी हैं जिनके यहाँ बिना गाली के दिन का प्रारंभ ही नहीं होता, जैसे वे शब्द उनके मुहावरे हो, बात-बात पर गाली देते हैं। उनसे कहो कि आप गाली देकर बात क्यों कर रहे हैं तो वे कहते हैं हमने गाली कब दी। ऐसे शब्द कह देते हैं जिनका अर्थ लगाएँ तो न जाने क्या-क्या अर्थ निकलता है, स्वयं की निगाह शर्म से झुक जाए। तो ऐसे गंदे शब्द नहीं बोलने चाहिए, गंदे शब्द बोलने से गंदे संस्कार आते हैं, आत्मा दूषित होती है।

कई बार व्यक्ति क्रोध के आवेश में आकर के भाई-भाई को, पुत्र-पिता को, कोई पुरुष अपनी पत्नी को गाली देता है तो ये शब्द अच्छे नहीं हैं, इन गंदे शब्दों से पाप का ही बंध होता है, पाप का आस्रव होता है। इसलिए इन अनावश्यक पापों को क्यों करना। अपने व्रतों को शुद्ध रखना है, अपनी आत्मा को शुद्ध रखना है तो गंदे शब्द कभी नहीं बोलना चाहिए। विटत्व अर्थात् गंदे शब्द, भण्ड वचन बोलना या शरीर से कुचेष्टा से करना जैसे आँख चलाना, मुँह मटकाना ये सब गंदी क्रियाएँ हैं, इनसे आत्मा दूषित होती है। ब्रह्मचर्यअणुव्रत का पालन करने वाले को इस प्रकार का व्यवहार नहीं करना है।

अगला अतिचार है **'विपुलतृषः'** ब्रह्मचर्य अणुव्रत का नियम लिया है तो मन में कामसेवन की तीव्रता मत रखो, अपने मन को धर्मध्यान में लगाओ, भगवान् की पूजा-भक्ति में लगाओ, सेवा- सुश्रुषा में लगाओ, व्रत-उपवास में लगाओ, स्वाध्याय में लगाओ तो तुम्हारा मन पवित्र हो जाएगा। और जब मन पवित्र होता है तब आनंद आता है। आनंद वस्तुओं को प्राप्त करके नहीं आता, आनंद किसी भोग को भोगकर नहीं आता, आनंद यदि आता है तो चित्त की

विशुद्धि से आता है। चित्त में शांति चित्त की निर्मलता से आती है, बाहर से नहीं। घर में कहीं गंदगी पड़ी हो तो मन नहीं लगता और मन में ही गंदगी पड़ी हो तो शांति कैसे आएगी, आनंद कहाँ से आएगा। आनंद का कारण है चित्त की विशुद्धि और चित्त की विशुद्धि आती है सही क्रिया-चर्या करने पर, अच्छे-अच्छे वचन बोलने पर, सुविचार करने पर मन निर्मल होता है, आनंद आता है।

चाहे पुण्य की क्रिया कर पाओ या न कर पाओ किंतु इन पाप की क्रियाओं से, पाप वचनों से, पाप विचारों से बच जाना भी एक पुण्य है। पाप नहीं करना इससे भी पुण्य का खजाना भर जाएगा। यदि मन में काम की तीव्रता चल रही हो, परिणाम खराब हो रहे हों तो धर्म में मन लगा लो, णमोकार मंत्र पढ़ना प्रारंभ कर दो, और कुछ नहीं आ रहा हो तो लंबी लंबी श्वांस लो और सो जाओ कम से कम बुरा विचार तो नहीं आएगा, खोटा विचार तो नहीं आएगा, खोटे वचन तो नहीं बोलोगे। अब भी मन खराब होता है तो अर्हंत भगवान् की आकृति अपनी आँखों में बसा लो। आँख बंद करके किसी भी अरिहंत मुद्रा का चिन्तन करो, अंदर के विकार-विषय-वासना दूर भाग जाएगी। जैसे सूर्य का उदय होते ही अंधकार भाग जाता है ऐसे ही अर्हंत मुद्रा का ध्यान लगाते ही मन का विकार भाग जाता है, विषयवासना नष्ट हो जाती है। तो विपुलतृषः भी ब्रह्मचर्य अणुव्रत का एक अतिचार है।

अगला है-**'इत्वरिकागमनं'** गंदी स्त्रियाँ जिनका आचरण ठीक नहीं है, चालचलन ठीक नहीं हैं, जो दूसरों को बहलाने-फुसलाने का काम करती हैं, उनका स्वयं का मन उनके बस में नहीं है कभी किसी के साथ हंसी-मजाक कर रहीं हैं तो कभी किसी और के साथ, तो ऐसी स्त्रियों की संगति मत करो। जो व्यक्ति ऐसी गंदी स्त्रियों की संगति करता है तो उसका मन भी गंदा होता चला जाता है। ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति इन पाँचों अतिचारों से बचता है, निर्दोष ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करता है। कई बार उसकी परीक्षा भी होती है तो वह परीक्षा में सफल होता है, दृढ़ता से परीक्षा देता है, चलायमान नहीं होता। आचार्य भगवन् मानतुंगस्वामी जी ने आदिनाथ भगवान् के बारे में कहा-

मद की छकी अमर ललनाएँ, प्रभु के मन में तनिक विकार,
कर न सकी आश्चर्य कौन सा, रह जाती हैं मन को मार।
गिर-गिर जाते प्रलय पवन से तो फिर क्या वह मेरु शिखर,
हिल सकता है रंच मात्र भी पाकर झंझावात प्रखर॥

महानुभाव! प्रथमानुयोग में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने अपने शील की किसी भी परिस्थिति में रक्षा की, कितने संकटों का सामना किया, उन पर उपसर्ग हुए किन्तु उनका मन चलायमान नहीं हुआ, मन विकृत नहीं हुआ। कितने स्त्री-पुरुष ऐसे हुए जो अपने शील में दृढ़ रहे। शीलवती नारियों का कथन देखें तो सैकड़ों-हजारों नारियों के उदाहरण मिलेंगे, पुरुषों के भी सैकड़ों उदाहरण मिल जाएँगे। शास्त्रों में नहीं लोकव्यवहार में भी वर्तमान में देखेंगे तो ऐसे कई संस्कारवान् परिवार मिलेंगे जिन परिवारों में धर्म का दृढ़ता से आचरण किया जाता है। भौतिकता का प्रभाव उन परिवारों में नहीं है, कोई कुसंस्कार, कुविचार, कुक्रियाएँ नहीं, उनका जीवन ऐसा लगता है जैसे चौथे काल के श्रावक का जीवन हो।

पन्ना नरेश छत्रसाल जब छोटे थे तो पालने में झूल रहे थे, उस समय उनके पिता उनकी माँ से हास-परिहास कर रहे थे। उस समय महल में कोई नहीं था उनके पिता ने अपनी पत्नी का आलिंगन किया, तो पत्नी ने कहा हे देव! आपने पर पुरुष के सामने मेरी बेइज्जती की है, माना कि मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ किन्तु आप किसी पुरुष के सामने ऐसे नहीं कर सकते। उसने कहा-मैंने ऐसा क्या किया तुम मेरी अर्द्धांगिनी हो अगर मैंने तुम्हें प्यार कर लिया, आलिंगन कर लिया तो क्या बुरा किया, और दूसरी बात यहाँ परपुरुष कौन है, महल के दरवाजे तो बंद हैं, हम दोनों ही तो हैं। पत्नी ने कहा--यहाँ तीसरा भी है, वह है हमारा बालक। अरे! वह छह महीने का बालक क्या जानता है कि हम क्या कर रहे हैं। नहीं, वह सब जानता है, जब आपने मेरा आलिंगन किया तो उसने अपनी आँखें मूँद ली, अब देखो उसने करवट उधर बदल ली यानि वह संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है, बोलना नहीं जानता तो क्या सुनना भी नहीं जानता, क्या देखना भी नहीं जानता। वह बालक छत्रसाल बड़ा होकर बहुत संस्कारवान् बनता है।

एक बार किसी ने Challenge करते हुए कहा कि यदि कोई छत्रसाल को व्रत से डिगा दे तो मैं उसको मुँहमाँगा इनाम दूँ। एक युवती बहुत सुंदर थी, नवयौवना थी, उसने कहा-मैं गारण्टी से कहती हूँ कि राजा छत्रसाल को मैं डिगा दूँगी। वह अँगना जंगल में वहाँ गई जहाँ से महाराज छत्रसाल निकलते थे। मार्ग में रोती हुई बैठी थी तभी वहाँ छत्रसाल आए- देखा मेरे राज्य में कौन रो रहा है, कौन इतना दु:खी है? वे अपना घोड़ा लेकर उसी दिशा में पहुँचे। वह महिला कम्बल ओढ़े बैठी थी, ऐसा लग रहा था जैसे कोई बुढ़िया हो। छत्रसाल ने उससे पूछा- आप कौन हो? वह बोली मैं बहुत दु:खी हूँ, क्या चाहती हो? आप राजा हैं मेरे दु:ख को दूर कर सकते हैं, आप वचन दो कि आप मेरे दु:ख को दूर करेंगे। वे बोले मैं ऐसे वचन नहीं देता। वह बोली आप समर्थ हो, राजा हो, आप मेरा दु:ख दूर नहीं करना चाहते तो जाइए

मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। राजा ने कहा– बताओ क्या बात है, मैं वचन देता हूँ यदि मैं पूर्ण करने में समर्थ हुआ तो अपने धर्म का पालन करते हुए तेरे वचन को पूर्ण करूँगा। उस युवती ने अपना कम्बल उठाया और कहा– ''मुझे आप जैसा बेटा चाहिए''। छत्रसाल ने तो ऐसा सोचा भी नहीं था, उसका एकपत्नी व्रत था। वह तुरंत ही घोड़े से उतरा और उस युवती के पैर पकड़ लिए-बोले– माँ मुझे अपना दूध पिला दे, मैं तेरा बेटा हूँ। उस युवती के तो होश उड़ गए कि यह इस प्रकार की बात भी बोल सकते हैं। छत्रसाल ने कहा मैं तुम्हें माँ तो कह सकता हूँ किन्तु पत्नी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता हूँ।

महानुभाव! कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के पुरुष भी हुए और हमारा प्रथमानुयोग का साहित्य ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। हम इनका स्वाध्याय करके अपने ब्रह्मचर्य अणुव्रत को निर्दोष बनाएं। अन्य कोई व्रत नहीं भी लिया है तो कम से कम ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन तो अवश्य करें, जिससे परिणाम शुद्ध हों और सातिशय पुण्य का आस्रव हो। आप सभी का शुभ हो, मंगल हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का लक्षण

धन-धान्यादि-ग्रन्थं, परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमित-परिग्रहः स्यादिच्छा-परिमाण-नामाऽपि॥61॥

अन्वयार्थ–धन-धान्यादि-ग्रंथं – धन-धान्य आदि दस प्रकार के परिग्रह को **परिमाय** – परिमाण करके **ततः** – उससे **अधिकेषु** – अधिक में **निःस्पृहता** – इच्छा रहित होना **परिमित- परिग्रहः** – परिग्रहपरिमाण व्रत **अपि** – अथवा **इच्छापरिमाणनाम** – इच्छापरिमाण नाम व्रत **स्यात्** – है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में पाँच अणुव्रतों के स्वरूप का व्याख्यान चल रहा है, जिनमें से चार अणुव्रतों का स्वरूप देख लिया, आज पाँचवें परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का स्वरूप देखते हैं। गृहस्थ श्रावक को परिग्रह का परिमाण करना क्यों आवश्यक है, परिग्रह का परिमाण करने से उसे क्या लाभ होता है, परिग्रह जीवन में दुःखकर क्यों है, परिग्रह के माध्यम से जीवन में संक्लेशता क्यों आती है, परिग्रह पाप आस्रव का कारण कैसे बनता है।

सद्गृहस्थ; जो अपने गृहस्थ जीवन में रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, धार्मिक कर्त्तव्य, नैतिक कर्त्तव्य, सामाजिक कर्त्तव्य, पारिवारिक कर्त्तव्य, राजनैतिक कर्त्तव्य आदि का वह पालन करता है। उन कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपने आपको भूलता नहीं, धर्म को भूलता नहीं। वह वर्तमान के सब कार्यों को करता है, धनोपार्जन का कार्य भी करता है परिवार का संचालन भी करता है, वह समाज की सेवा भी करता है, अपने जिनआयतन की सेवा भी करता है किन्तु आत्मा परलोक में दुःखों को प्राप्त न हो, आत्मा की दुर्गति न हो इसलिए वह अपने आपको पापों से बचाता है। क्योंकि यदि उसके पास ज्यादा परिग्रह होता है, परिग्रह के प्रति आसक्ति ज्यादा रखता है, मूर्च्छाभाव ज्यादा रहता है तो उस आसक्ति से उसी प्रकार की खोटी आयु का बंध कर लेता है। यदि परिग्रह में आसक्ति कम है, चित्तविरक्त है, जितनी आवश्यकता है उतना धन रख लिया, शेष धन का परित्याग कर दिया तो त्यागे धन में मूर्च्छाभाव न होने से उस संबंधी आस्रव नहीं होता। आस्रव नहीं होगा तो कर्मबंध भी नहीं होगा, कर्मबंध नहीं होगा तो उसे अशुभ-कर्म का फल नहीं भोगना पड़ेगा इसलिए वह पाप पंक से अपनी आत्मा को बचाता है। हिंसा आदि पाँच पाप हैं, ये प्रतिक्षण आत्मा से चिपकते चले जा रहे हैं, कोई भी प्रवृत्ति कर रहा है तो कर्म चिपक रहे हैं, ये तो निमित्त हैं पाप कर्म का आस्रव कराने के लिए।

पूर्व श्लोक में कहा था कि ये पाँच पाप पाँच प्रकार की प्रणाली (नाले) हैं जिनके माध्यम से कीचड़ आ रही है। जिस नाली से कीचड़ आकर गिर रही है ऐसे कीचड़ के दलदल में कोई व्यक्ति फँस जाए तो निकलना मुश्किल हो जाता है। जो हिंसा में आसक्त है, झूठ में आसक्त है, चोरी में आसक्त है, कुशील में आसक्त है या परिग्रह में आसक्त है, किसी भी एक-एक पाप में आसक्त हुआ व्यक्ति भी दुर्गति को प्राप्त हो जाता है तो जो पाँचों पापों में आसक्त है वह किस प्रकार के दुःख नहीं उठायेगा, वह तो न जाने कौन सी दुर्गति तक जा सकता है। इसलिए व्रती उन पापों से बचता है। जहाँ पर बहुत ज्यादा-ज्यादा कीचड़ आ रही थी, जिसमें हाथी सरीखे भी डूब जाएँ ऐसे दलदल में जो व्यक्ति फँस गया तो फिर निकलना बड़ा मुश्किल है। फिर वह क्या करे? वह वहाँ से निकलकर के वहाँ जाए जहाँ कीचड़ नहीं आ रही, गंदा पानी बह रहा है, गंदे पानी में पैर रखने से शरीर गंदा तो होगा पर शीघ्र ही साफ हो जाएगा।

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का स्वरूप क्या है यहाँ आचार्य महोदय बता रहे हैं-**'धनधान्यादि ग्रंथं'**-यहाँ धन से आशय है-रुपया-पैसा-सोना-चाँदी। व्यक्ति की धन में बड़ी आसक्ति रहती है, वह धन कमाने के लिए दिन-रात एक कर देता है, न तो शरीर को देखता है कि शरीर में रोग हो रहा है, न पर्याप्त नींद लेता है, न अच्छे से भोजन करता है, वह बस आठों याम धन के पीछे लगा है, पागल हुआ जा रहा है? धन कमाने के चक्कर में घर में भी बच्चों को कम समय देता है, देर रात से आता है सुबह-सुबह चला जाता है, न मंदिर जाता, न पूजा-पाठ करता। आश्चर्य तो यह है वह इतनी कमाई कर किसके लिए रहा है? जिसके कारण अपने शरीर का, परिवार का ख्याल नहीं रख रहा, बच्चों की परवरिश, उनकी संगति का, उनके संस्कारों का ध्यान नहीं रख पा रहा, पत्नी को दुःख है, सुख है, माता-पिता कैसे हैं जब उसे कुछ ख्याल ही नहीं है तब वह पैसा किसके लिए कमा रहा है, वह परिग्रह जोड़ किसके लिए रहा है? आचार्य महोदय कह रहे हैं भाई! ज्यादा कीचड़ में मत डूबो, जहाँ दलदल है वहाँ से बचकर भले ही वहाँ आ जाओ जहाँ गंदा पानी है, यदि गंदे पानी को भी छोड़ना है तो बहुत दूर से निकलना पड़ेगा जहाँ पर स्वच्छ पानी आता है। गंदे पानी से मतलब है गृहस्थ जीवन का पालन भी करते रहे और उसके साथ-साथ धर्म का भी पालन करते रहो।

वह गृहस्थ अपने परिग्रह की सीमा कर ले। देखो-यदि आपने परिग्रह का परिमाण नहीं किया तो तीन लोक में जितना भी परिग्रह है उस संबंधी आपको पूरा पाप का आस्रव होगा, भले ही वह आपको मिलना नहीं। तीन लोक की सम्पत्ति आपको मिलेगी क्या? तीन लोक में

अनंतानंत जीव भरे पड़े हैं, जितना जिसका पुण्य होता है उसे उतनी वस्तु या पदार्थ मिलता है, पुण्य नहीं है तो कहाँ से मिलेगा। यह तीन लोक 343 घनराजू प्रमाण क्षेत्र वाला है, इसमें मध्यलोक तो केवल एक राजू विस्तार वाला है, अब कम से कम इतनी ही मर्यादा ले लो कि जब तक मैं इस शरीर में रहूँगा तब तक मैं ऊर्ध्वलोक के वैभव को नहीं भोगूँगा, अधोलोक के वैभव को नहीं भोगूँगा। कम से कम इतना तो आपने त्याग कर दिया, मिलना ही नहीं है, बिना मरे न नरक जा सकते न स्वर्ग जा सकते, न भवनवासी देव हो सकते, न व्यंतर देव हो सकते। अब आप चाहो तो फिर और मर्यादा कम कर लो, मनुष्य ढाईद्वीप के बाहर नहीं जा सकता तो इतनी मर्यादा कर लो कि ढाईद्वीप में जितना वैभव विद्यमान है उसके अलावा समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह का मैं त्याग करता हूँ तो आपको उतने सब त्याग करने पर पाप का आस्रव नहीं होगा। आपके पास कोई ऋद्धि नहीं है, विद्या नहीं है तो आप ढाईद्वीप में भी नहीं जा सकते, आप जंबूद्वीप में रहते हैं, उससे दूने विस्तार वाला लवण समुद्र है, उससे दूने विस्तार वाला धातकीखण्ड है, उससे दूने विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है और कालोदधि के बराबर ही पुष्करार्ध द्वीप है। आप जंबूद्वीप के बाहर भी नहीं जा सकते तो मर्यादा और कम कर लो जंबूद्वीप में जो परिग्रह है उसके अलावा मैं समस्त परिग्रह का त्याग करता हूँ। तो आपको पाप का आस्रव और कम हो जाएगा। पूरे जंबूद्वीप में भी आप नहीं घूम सकते, जंबूद्वीप में भी 7 क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत इन क्षेत्रों में नहीं जा सकते, सुमेरु तक भी नहीं जा सकते तो अपने भरतक्षेत्र तक की सीमा कर लो। भरतक्षेत्र में जितना भी वैभव है उसके अतिरिक्त मैं सकल वैभव का त्याग करता हूँ।

आप पूरे भरतक्षेत्र में भी नहीं जा सकते, उसमें भी छह खण्ड हैं जिसमें बीच में विजयार्ध पर्वत है तो तीन खण्ड इधर तीन खण्ड उधर हैं, बीच का खण्ड है आर्यखण्ड तो इतनी मर्यादा कर लो कि आर्यखण्ड में जितना वैभव है उसके अलावा मैं सकल वैभव का त्याग करता हूँ। तो पापों से बच गए। वैसे तो आर्यखण्ड भी छोटा-मोटा नहीं, आर्यखण्ड यूँ मानिये कि वर्तमान का पूरा विश्व समा जाता है। तो फिर मर्यादा थोड़ा और कम कर लो, भारत देश में जो वैभव है उसके अतिरिक्त मैं समस्त वैभव का त्याग करता हूँ। और एक बात बताओ, पूरे भारतवर्ष का वैभव आपको मिल जाएगा क्या? तो फिर और कम कर लो। जितना उत्तर प्रदेश में वैभव है उसके अतिरिक्त सब वैभव का त्याग करता हूँ। तो क्या पूरा उत्तरप्रदेश आपका है? नहीं, तो उसे और थोड़ा कम कर लो कि आगरा जनपद में जितना वैभव है उसके अतिरिक्त सबका त्याग और ये भी पूरा तुम्हें नहीं मिल रहा। पुनः मर्यादा और कर लो। जितनी-जितनी आपने मर्यादा कर ली, जितना-जितना परिग्रह छोड़ दिया उस संबंधी पाप के आस्रव से आप बच गए।

किसी के मन में शंका उत्पन्न होती है कि यह सब तो व्यक्ति को प्राप्त हुआ ही नहीं अथवा इस भव में प्राप्त होगा ही नहीं तब उसे त्याग करने को क्यों कह रहे हैं? अब समाधान देते हैं—अहो भव्य प्राणी! आचार्यों की करुणा बुद्धि देखो! उन्होंने यह सरलतम त्याग उस व्यक्ति के लिए बताया जो इस त्याग से दूर भागता है। जिसमें त्याग के संस्कार नहीं हैं उसमें संस्कार डालने के लिए यह त्याग बताया। क्या इस त्याग का भी कोई लाभ है? हाँ, है। यही छोटे-छोटे त्याग उसे एक दिन बड़े त्याग के लिए प्रेरित करते हैं।

एक नगर में एक फकीर रोज भिक्षा लेने जाता था। जहाँ जाता वहीं से भिक्षा मिल जाती किन्तु एक घर से उसे कभी भिाक्षा नहीं मिलती। लोग उससे कहते भी थे कि वह रोज उस घर में क्यों जाता है? किन्तु वह मुस्करा देता। एक दिन महिला ने गुस्से में उसके कटोरे में कचरा डाल दिया। वह फकीर बहुत खुश हुआ। आसपास खड़े लोग उसे आश्चर्य से देखने लगे, पूछा कि वह खुश क्यों है? तब उसने कहा कि मैं रोज यहाँ आता रहा किंतु आज तक यहाँ से मुझे कुछ नहीं मिला, कचरा ही सही कम से कम आज कुछ तो मिला। अब आशा है कि कल कुछ मिलेगा। एक दिन उस महिला ने फकीर पर गुस्से में पोंछा फेंक दिया, फकीर ने उस पोंछे से बहुत सारी बत्तियाँ बनाईं और दीपक में उसे जलाकर अपनी झोपड़ी को प्रकाशित किया व परमात्मा की अर्चना की। बाद में एक दिन ऐसा आया कि उसी महिला ने उस भिक्षुक को भोजन-वस्त्रादि भी दिए। इस प्रकार उस महिला में त्याग का संस्कार पड़ा।

मुनि महाराज के द्वारा खदिरसार भील को दिया गया कौए के माँस त्याग भी उसके कल्याण में निमित्त बना। कौए के माँस के त्याग ने उस भील में त्याग की वो भावना पैदा कर दी कि अंत समय में सर्व मांसादि त्याग स्वर्ग में देव हुआ। पुनः राजा श्रेणिक हुआ और आगे भविष्यकाल का प्रथम तीर्थंकर महापद्म होगा।

कोई भी त्याग छोटा या बड़ा नहीं होता। जिसने कभी त्याग का साहस नहीं किया संभवतः पहले वह वो त्याग करे जिसका उसने कभी सेवन किया ही नहीं किन्तु बाद उसके त्याग के वही संस्कार उसे त्यागी के रूप में प्रतिष्ठित कर देंगे। अथवा उसने त्याग किया कि आर्यखंड से बाहर वैभव का त्याग। तब यह त्याग उसका मन से भी है। वह सौधर्म इंद्रादि के वैभव की भी आकांक्षा नहीं करेगा। एक निर्धन व्यक्ति भी जिसके पास कुछ नहीं आकांक्षा-वांछा के बल से, आसक्ति से पाप कर्म का बंध कर लेता है। किन्तु इतना परिमाण करने वाले व्यक्ति की इच्छाएँ सीमित हो गईं। अब यदि व्यंतरादि कोई देव भी बाहर की कोई वस्तु लाकर दे तो वह स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि उसका त्याग है। पुनः अपने इसी त्याग के बोध के कारण

वह आगे अपना परिग्रह अपने आप ही और सीमित करता चला जाएगा। त्याग ही त्याग के संस्कारों को संवर्धित करता है।

आचार्य महोदय ने 10 प्रकार का परिग्रह बताया है। आचार्य भगवन् उमास्वामी जी महाराज ने बताया क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्य, यान, वाहन, शय्या, आसन आदि जितनी भी भोगोपभोग की सामग्रियाँ हैं इनका आप प्रमाण करो। परिग्रह का परिमाण करने से आपको व्याकुलता-चिंता कम होगी। अभी तो आपका मन कहता है पूरी तीन लोक की सम्पत्ति मेरे पास आ जाए, किंतु सीमा बनाने के बाद आपका मन कहेगा मुझे इससे ज्यादा नहीं चाहिए। इसलिए एक सीमा तो बनाओ, कुछ मर्यादा तो बनाओ। चाहे आपने मर्यादा ऐसी ली कि मैं अपने नाम से 100 बीघा जमीन रखूँगा या 500-1000 बीघा रखूँगा तो कुछ तो मर्यादा की। और मर्यादा नहीं करोगे तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर जितनी भूमि है सबका दोष लगेगा, तो मर्यादा करनी चाहिए।

वास्तु-अर्थात् मकान चाहे आपके पास एक है या दो या ज्यादा किन्तु उसकी मर्यादा कर लो मैं इतने मकान से ज्यादा नहीं रखूँगा। स्वर्ण-चांदी की सीमा कर लो चाहे दस तौले, बीस तौले, 50 तौले, 100 तौले, किलो-दस किलो जितना भी करना है। ली हुई सीमा को लिख लो, अपनी डायरी में नोट कर लो कि मैं जीवन में अपने पास इतने से ज्यादा सोना नहीं रखूँगा, चाँदी की भी मर्यादा कर लो। इसी के साथ अनाज की मर्यादा करना कि मैं दस बोरे अनाज रखूँगा या 20-50-1000 बोरे कुछ तो मर्यादा कर लो। जितनी मर्यादा कर ली उतने का ही आस्रव होगा उससे ज्यादा का नहीं। ऐसे ही दासी-दास की मर्यादा कर लो कि अपने स्वयं की सेवा में मैं कितने नौकर रखूँगा या कोई फैक्ट्री चलानी है तो जितने फैक्ट्री में आवश्यक हैं उतने worker ही रखूँगा, एक मर्यादा कर लो। वस्त्र जितने भी जोड़ी चाहिए उतनी सीमा कर लो, बर्तनों की सीमा कर लो जितने कि आपको आवश्यकता है, एक गृहस्थी के बर्तन, दो के, चार के या इससे अधिक कर लो किन्तु मर्यादा कर लो कि इतने से ज्यादा का त्याग। गाय-भैंस आदि चतुष्पद की भी सीमा करें, शय्या, आसन, वाहन आदि सभी की मर्यादा कर लो।

महानुभाव! उदाहरण से समझें किसी कमरे में 100 बोरे रखे थे, कोई बालक आया तो वह 100 के 100 बोरों पर उछल रहा था, माना कि 100 बोरे छू रहा है तो सौ बोरों संबंधी आस्रव हो रहा है। 100 में से 10 बोरे निकल गए तो 90 का, और 40 निकल गए तो 50 का आस्रव हो रहा है। जितना कम करते जाओगे उतने आस्रव से आप बचते चले जाओगे। गाय के गले में बंधी रस्सी जितनी लम्बी होगी वह उतना ही ज्यादा घूमती है, फिर भी रस्सी बंधी

होने से वह उसके बाहर के खेत को तो नहीं खा सकती, बाहर के खेत वाले व्यक्ति आकर तो उसको नहीं मारेंगे। ऐस ही हमारा मन जब परिग्रह की सीमा बांध लेगा तो उसके बाहर जाएगा ही नहीं। आचार्य महोदय कह रहे हैं–धन-धान्यादि 10 प्रकार के परिग्रह का परिमाण करके उस परिमाण के बाहर की वस्तु में 'निस्पृहता' इच्छा का त्याग करना ही परिग्रहपरिमाण अणुव्रत कहलाता है। इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण व्रत भी है। तो यह अणुव्रत पापों से बचाने वाला है। जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया वह बहुत सारे पापों से बच गया। जो परिग्रह का परिमाण नहीं करता है वह व्यक्ति पापों में डूब जाता है। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय ने परिग्रह परिमाण की बात कही। आचार्यों ने कहा है–

प्रमाणं क्रियते यत्तद्बाह्यपरिग्रहस्य च।
तृष्णा-भाव-निवृत्यर्थं पञ्चमाणुव्रतं मतम्॥ –सु.श्रा.

अपने तृष्णा रूप परिणामों को घटाने के लिए समस्त बाह्य परिग्रहों का परिमाण नियत कर लेना परिग्रहपरिमाण नामक अणुव्रत कहलाता है।

जो बाह्य परिग्रह व्रतों की हानि करने वाला और अयोग्य हो, उसका भी त्याग कर देना चाहिए तथा जिस परिग्रह से संयम नष्ट होता हो उसका भी त्याग कर देना चाहिए। जो गृहस्थ लोभवश परिग्रह को ग्रहण कर अपने व्रतों में दोष लगाता है वह परम दुःख को प्राप्त होता है तथा जो गृहस्थ परिग्रह का परिमाण नियतकर इस दुर्धर लोभ को जीत लेता है वह पुरुष जन्म-मरण के दुःख देने वाले इस अनंत संसार को जीत लेता है। इस संसार में तृष्णा अजेय है, जो इस तृष्णा को जीतने में समर्थ होता है वह भव्यपुरुष ही परिग्रहत्याग व्रत को प्राप्त होता है। जिनेन्द्र प्रभु ने मोक्षमार्ग का कारण एक निर्ग्रंथ लिंग ही बतलाया है क्योंकि यह निर्ग्रंथलिंग जन्म से उत्पन्न होने के समान यथाजात स्वरूप है। इस परिग्रह का परिमाण नियत कर लेने से महासंतोष उत्पन्न होता है, संतोष से आत्मा को शांति प्राप्त होती है, शांति से आत्मसुख। इस परिग्रह को ग्रहण करने से संसार के समस्त अनर्थ प्राप्त हो जाते हैं तथा परिग्रह का त्याग करने से शीघ्र ही समस्त सुख प्राप्त हो जाते हैं। जो अपने अज्ञान के कारण किसी अन्याय से, अनीति के मार्ग से वा छल, कपट से इस महानिंदनीय परिग्रह को इकट्ठा करते हैं वे जीव दुःख देने वाले महाभयानक इस संसार रूपी वन में चिरकाल तक भ्रमण करते रहते हैं। आप सभी अपनी शक्ति के अनुसार परिग्रह का परिमाण करें और अनावश्यक पापों से बचें। मोक्षमार्ग पर आगे बढें। यही आप सभी के प्रति मंगल भावना भाते हुए....।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के अतिचार

अतिवाहनाति-संग्रह-विस्मय-लोभातिभार-वहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते॥62॥

अन्वयार्थ–परिमित-परिग्रहस्य – परिग्रहपरिमाण व्रत के **पञ्च** – पाँच **विक्षेपाः** – अतिचार **लक्ष्यन्ते** – निर्दिष्ट किए जाते हैं **अतिवाहन** – प्रमाण से अधिक वाहन **अतिसंग्रह** – अति संग्रह करना **अतिविस्मय** – अति भूलना **अतिलोभ** – अधिक लोभ करना **च** – और **अतिभार वहनानि** – अधिक भार लादना।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में परिग्रह के परिमाण का स्वरूप देख रहे थे। परिग्रहपरिमाण अणुव्रत सद्गृहस्थ का वह व्रत है जिस व्रत को अंगीकार करने से वह गृहस्थ भी बहुत सारे पापों से बच जाता है; क्योंकि तीन लोक में विद्यमान समस्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा जब तक मन में रहती है तब तक उस संबंधी आस्रव चलता ही रहता है। और जब मर्यादा कर ली तो मर्यादा करते ही वह व्यक्ति अपनी मर्यादा की वस्तु संबंधित आस्रव को प्राप्त होता है, शेष के आस्रव से छूट जाता है। यूँ कहें यह तीन लोक की सम्पदा तो असंख्यात द्वीप-समुद्रों में विद्यमान जल की बिन्दु की तरह से है और परिमाण कर लेने से जो आस्रव होगा वह चुल्लू भर पानी के बराबर का होगा।

महानुभाव! जो व्यक्ति व्रती बन जाता है वह व्यक्ति अपने बहुत सारे संसार को छोड़ देता है। वह संसार में ज्यादा परिभ्रमण नहीं करता और वह परिग्रह परिमाण करने से देवायु का बंध करने वाला हो जाता है। और कोई व्रत पाल पाए या न पाल पाए किंतु परिग्रह का परिमाण करने मात्र से भी वह बहुत सारे पाप से बच जाने के कारण देवायु का बंधक हो जाता है; क्योंकि परिग्रह पाँचों पापों का मूल है। व्यक्ति परिग्रह इकट्ठा क्यों करता है? उसे भोगने के लिए, भोगना यानि कुशील सेवन करना, पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करना। वह जब सेवन करता है तो चोरी भी करता है, जब चोरी करता है तो झूठ भी बोलता है और जब असत्य वचन रूप क्रिया करता है तो उसमें हिंसा भी होती है।

आचार्यों ने बताया कि परिग्रह का संचय करने वाला व्यक्ति, परिग्रह में आसक्त व्यक्ति पाँचों पापों को करता है। इसीलिए जीवन में व्रती बन पाओ या न बन पाओ, प्रतिमाधारी बन पाओ या न बन पाओ कम से कम परिग्रह की सीमा तो जरूर कर लेनी चाहिए। जिन्हें धर्म के प्रति थोड़ी भी आस्था है तो परिग्रहपरिमाण करते ही उनका बहुत सारा संसार छूट जाता है। यहाँ

बता रहे हैं जिस श्रावक ने परिग्रह का परिमाण कर लिया है वह अपने व्रत में अतिचार भी न लगाए। परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं उन पाँच अतिचारों से बचें, ये लघु दोष कहलाते हैं। वे दोष कौन-कौन से हैं तो आचार्य महोदय इस कारिका के माध्यम से स्वयं बता रहे हैं–

यहाँ कह रहे हैं **'परिमित-परिग्रहस्य'** जिन्होंने परिग्रह का परिमाण कर लिया है, परिग्रह की मर्यादा रूप व्रत जिसने ले लिया है उसे पाँच अतिचारों का त्याग करना चाहिए। पहला अतिचार है **'अतिवाहन'** आवश्यकता से अधिक वाहन नहीं रखे। लोभ में आकर ज्यादा वाहनों का संग्रह न करे, जितनी आवश्यकता हो उतना ही रखे। अथवा लोभ की तीव्रता को कम करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी कोई लोभ के आवेश से अधिक वाहन (सवारी) करता है। अर्थात् बैल आदि पशु जितने मार्ग को सुख से पार कर सकते हैं उससे अधिक मार्ग पर उन्हें चलाता है तो उसकी यह क्रिया अतिवाहन कहलाती है। इस व्रत के धारी किसी मनुष्य ने बैल आदि की संख्या तो कम कर ली, परन्तु उनकी संख्या के अनुपात से खेती तथा मार्ग का यातायात कम नहीं किया इसलिए उन कम किए हुए बैल आदि को ही अधिक चलाकर अपना काम पूरा करता है। ऐसी स्थिति में अतिवाहन नाम का अतिचार होता है।

'अतिसंग्रह' जिन वस्तुओं की पहले मर्यादा ले ली; माना किसी ने सोने की सीमा रखी थी कि 10 kg से ज्यादा नहीं रखूँगा किन्तु उसने देखा कि अब सोने का भाव कम हो गया, पर लोग कह रहे हैं भाव बढ़ेगा, चलो 1-2 kg सोना और खरीद लो पैसा तो रखा ही है मेरे पास किन्तु ऐसे लोभ में आकर मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकते। जितनी मर्यादा है उतना रखो यदि उससे ज्यादा रखोगे तो दोष लगेगा। किसी भी चीज की मर्यादा ली है चाहे वाहन की मर्यादा, चाहे वस्तु की मर्यादा, चाहे क्षेत्र की मर्यादा, चाहे दासी-दास की मर्यादा, चाहे वस्त्र-आभूषण की मर्यादा, चाहे पशुओं की मर्यादा, आसन-शय्या आदि की मर्यादा को भी भंग नहीं करना चाहिए। किसी ने आपको उपहार में बर्तनों के कई Set दिए आपकी मर्यादा थी दस हजार की, किसी ने 1000 बर्तन और Gift में दे दिए, और आपने ले लिए तो अतिचार लग गया। मर्यादा से एक भी ज्यादा वस्तु ली तो व्रत में अतिचार लग गया इसलिए जितनी मर्यादा ली है उसी में रहना चाहिए।

किसी भी वस्तु का संग्रह उतना तो कर सकते हो जितनी मर्यादा ली है किन्तु मर्यादा से बाहर का संग्रह नहीं कर सकते। जैसे कोई व्यक्ति कह रहा है भाई! आज ही अनाज महँगा हो रहा है, तुमने मर्यादा ली है 100 बोरे की ऐसा करो 500 बोरे कर लो तुम्हें बहुत लाभ हो जाएगा, उससे कहना नहीं, मैंने जितनी मर्यादा ली है उतना ही अनाज रखूँगा। चलो आप न खरीदो हम तुम्हें 100 बोरे भेंट कर रहे हैं। तो कहना नहीं भैया, हम भेंट भी नहीं ले सकते।

बस हमारी जितनी मर्यादा है उतना ही रखेंगे। कोई स्वर्ग का देव, व्यंतर देव या भवनवासी देव आकर किसी श्रावक से कहे मैं तुम्हारी भक्ति पूजा से बड़ा प्रसन्न हूँ और मैं तुम्हें एक क्विन्टल सोना देना चाहता हूँ तुम स्वीकार करो। वह तुम्हारी परीक्षा के लिए आया है, तुमने मर्यादा ले ली थी वह उस मर्यादा के बाहर देना चाहता है तो क्या करोगे? जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया है उसको कोई किलो-दो किलो, 100 टन या पूरा का पूरा पहाड़ भी सोने का करके दे दे तो भी परिग्रहपरिमाण अणुव्रती श्रावक यही कहेगा कि भैया! मैंने तो मर्यादा कर ली, मैं नहीं ले सकता, मेरा त्याग है, ये परिग्रह पाप का कारण है। जब मेरे मन में लोभ था तब मैं सब ले लेता था चाहे वस्तु काम की है या नहीं सब संग्रह कर लेता था, घर को बना लिया था कबाड़खाना, मैं सामान निकालता ही नहीं था, उसके कारण घर में नकारात्मक ऊर्जा आ रही थी किन्तु जबसे मैंने मर्यादा ली, कूड़े करकट को बाहर निकाल दिया तो पूरा घर साफ सुथरा हो गया अब उसमें सकारात्मक ऊर्जा जनरेट हो रही है। मेरा मन अच्छा लग रहा है।

कोई व्यक्ति कुछ भी दे यदि मर्यादा बांध रखी है तो संग्रह नहीं कर सकते। चाहे संग्रह बैंक बैलेंस का ही क्यों न हो। दस लाख का किया था अब ब्याज आएगी, तो ब्याज साथ के साथ निकाल दो, अब ऐसा नहीं है कि एक साल बाद ब्याज-ब्याज के ही दो लाख रुपये हो गए। तो ब्याज का पैसा निकाल कर तुंरत खर्च कर दो। अपने बैंक बैलेंस की जितनी मर्यादा ली है उससे ऊपर का धन यदि आप रखते हो तो व्रत में दोष लगता है। संग्रह की भावना रखने वाला व्यक्ति परिग्रहपरिमाण व्रत का उल्लंघन कर सकता है। इसलिए यहाँ बताया कि ज्यादा संग्रह मत करो, ज्यादा संग्रह करना भी अति संग्रह नामक परिग्रहपरिमाण व्रत का अतिचार है।

तीसरा अतिचार बताया **'अति विस्मय'** दूसरे के पास सम्पत्ति देखकर आश्चर्य करके रहना अरे! इतनी सम्पत्ति। आश्चर्य करके व्यक्ति के मन मे भाव आने लगता है कि मेरे पास भी ऐसा हो। इसलिए दूसरे की वस्तु देखकर आश्चर्य मत करो और न ही लालसा। दूसरे के पास स्वर्ग जैसा वैभव भी हो तो इससे क्या, बना रहे उसके पास, मेरे पास जितना है उससे मेरी जिंदगी पार हो जाएगी, अधिक से मुझे क्या? तो विस्मय भी नहीं करना चाहिए।

अगला अतिचार कहा **'लोभ'** व्यक्ति लोभ से अपनी वस्तु खर्च नहीं करता है। **'युक्त-काले धन-व्ययादभावोलोभः'** समय पर धन का खर्च नहीं करना लोभ कहलाता है। जो लोभ करेगा वह अपने परिमाण की सीमा का उल्लंघन कर सकता है। व्रतों का भंग वा अतिचार अंतरंग में उत्पन्न लोभ कषाय के निमित्त से होता है और कषायों की उत्पत्ति बाह्य पदार्थों के सद्भाव से होती है अर्थात् अंतरंग परिणाम और बाह्य पदार्थों का अविनाभाव सम्बन्ध है जैसे तालाब

में पाषाण के गिरने से तलभाग में दबा हुआ कीचड़ भी क्षुब्ध होकर ऊपर आ जाता है वैसे ही बाह्य परिग्रह का संयोग रूप पत्थर हृदय में गिरने पर मन क्षुब्ध हो जाता है।

सोमदेव आचार्य ने कहा-लोभ के कारण किए हुए प्रमाण से अधिक पदार्थों के ग्रहण करने की भावना ही अतिचार है; क्योंकि शुद्धि की हानि ही व्रतों का अतिक्रम है। इसलिए एक व्रत के पाँच-पाँच ही अतिचार ऐसा नहीं समझना अपितु असंख्यात लोक प्रमाण अतिचार हैं।

अगला है **'अतिभारवहन'** अति लोभ के कारण पशुओं पर ज्यादा बोझा लादना। वाहन पर ज्यादा ढो रहा है कि ज्यादा माल आ जाएगा तो यह भी अतिचार है। मन में परिग्रह के प्रति जब आसक्ति होती है, मूर्च्छा होती है तब व्यक्ति ऐसी प्रवृत्ति करता है। परिग्रह परिमाण करने वाला व्यक्ति संतोषी होता है, उसकी भावना यही रहती है कि जो सीमा बांधी है उसे आगे कम करता चला जाऊँ ऐसे कम करते-करते वह एक दिन सर्वपरिग्रह का त्यागी होकर के आत्मा का अनुभव करता है, आत्मा का आनंद लेता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं 'परिमितपरिग्रहस्य' जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया उसके ये पाँच विक्षेप हैं, अतिचार हैं। इनका परित्याग करना चाहिए। तभी परिग्रहपरिमाण व्रत निर्दोष पालन हो सकता है। क्रोधादि कषायों के आवेश में आकर जो क्रिया व्रतों के विरुद्ध की जाती है वे सब अतिचार हैं, अतः अतिचार पाँच ही नहीं हैं वरन् जो-जो क्रिया व्रत विरुद्ध है वे सब अतिचार हैं। व्रतों में अतिचार लगने के कारण तो बहुत हैं परंतु मुख्य दो ही कारण हैं—अज्ञान और कषाय। जिस प्रकार वात-पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न रोग के कारण जीव दुःखी होता है, हेयोपादेयता को भूल जाता है, रोगजन्य पीड़ा से पीड़ित हो हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है और अपथ्य सेवी बन जाता है उसी प्रकार अज्ञान व कषाय के कारण भी मानव हिताहित के विचार से शून्य हो जाता है और व्रतों को धारण करके भी उनमें अतिचार अनाचार लगाता है।

महानुभाव! जीवों को व्रत पुण्य फल देते हैं परंतु अतिचार सहित व्रत पुण्य जनक नहीं होते हैं। जिस प्रकार बीज बो देने मात्र से खेती फलप्रद नहीं होती, उसके साथ आने वाली अनावश्यक घास आदि को अलग करके स्वच्छ करना पड़ता है उसके बिना फसल घर में नहीं आती है उसी प्रकार केवल ग्रहण किए हुए व्रत पुण्यफल के दाता नहीं हैं उनके ग्रहण करने के बाद बीच-बीच में लगने वाले अतिचारों से व्रतों की रक्षा करनी पड़ती है। अतः सर्वप्रथम स्वशक्ति, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानकर व्रत ग्रहण करना चाहिए और ग्रहण किए हुए व्रतों को निरतिचार पालन करना चाहिए। आप सभी इस व्रत का पालन करें इन्हीं शब्दों के साथ शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अणुव्रतों के धारण करने का फल

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥63॥

अन्वयार्थ–निरतिक्रमणाः – निरतिचार **पञ्चाणुव्रत-निधयो** – पाँच अणुव्रत रूप निधियाँ **सुरलोकं फलन्ति** – सुरलोक को फलती हैं। **यत्र** – जहाँ **अवधिः** – अवधिज्ञान **अष्टगुणा** – अणिमा-महिमा आदि आठ ऋद्धियाँ **च** – और **दिव्य-शरीरं** – दिव्य परम शरीर **लभ्यन्ते** – प्राप्त किए जाते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में अणुव्रतों के स्वरूप को देख रहे हैं आज श्लोक नं. 63 में आचार्य महोदय अणुव्रतों के फल के संबध में चर्चा कर रहे हैं। जो पाँच अणुव्रतों का पालन करता है उसे कैसे-कैसे फलों की प्राप्ति होती है तो देखते हैं उन्हीं के शब्दों में–

आचार्य महोदय यहाँ बता रहे हैं– **'पञ्चाणुव्रतनिधयो'** पाँच अणुव्रत चेतना की निधि हैं, चेतना का धन हैं। बाहर का धन तो कोई चोर चोरी कर सकता है, बाहर के धन में अग्नि लग गई तो नष्ट हो सकता है, बाहर के धन में बँटवारा हो सकता है, बाहर का धन जल से, दीमक से नष्ट हो सकता है किन्तु ये पाँच अणुव्रत श्रावक का चैतन्य धन हैं। इसलिए यहाँ पर पाँच अणुव्रत को निधि कहा। जैसे चक्रवर्ती की नवनिधि होती हैं ऐसे ही ये श्रावक की निधि हैं। जैसे चक्रवर्ती की निधि का अचिन्त्य फल होता है वैसे ही श्रावक की इस निधि का अचिन्त्य फल है। इन पाँच अणुव्रतों के माध्यम से वह इस जीवन में भी सुख-शांति का अनुभव करता है। वह अपने जीवन को तो सुखमय बनाता ही है साथ ही वह जिस परिवेश में रहता है उन्हें भी सुख-शांति का अनुभव होता है।

इन पाँच अणुव्रतों का पालन करने से वह जीव नियम से दिव्य स्वर्ग की अवस्था को प्राप्त करता है। वैमानिक स्वर्ग में जाकर देव होता है। वहाँ पर भी इन व्रतों के प्रभाव से दिव्य शरीर को प्राप्त करता है, दिव्य भोगों को, दिव्य आसन, दिव्य वाहन, दिव्य शय्या को प्राप्त करता है। और वैक्रियक शरीर होने से उसमें ऐसी क्षमता होती है कि वह अनेक प्रकार की विक्रिया करने में समर्थ होता है। वह देव नियम से अवधिज्ञान से संयुक्त होता है। अपने अवधिज्ञान से बैठे-बैठे मध्यलोक की बात को जान सकता है, नरक की बात को जान सकता है। उसका अवधिज्ञान इतना विशेष होता है कि वह अनेक भव पहले के और अनेक भव बाद के जान

सकता है। यह अवधिज्ञान का फल है। यह कैसे प्राप्त होता है? पंचअणुव्रतों का पालन करने से। जैसा कि आचार्य महोदय ने कहा–पंचअणुव्रतों का निर्दोष, निरतिचार पालन करने से ये पाँच अणुव्रत रूप निधियाँ ही फलित होती हैं–वे स्वर्ग लोक को देने वाली होती हैं। ये पाँच अणुव्रत रूपी वृक्ष ऐसे हैं जिस पर स्वर्ग रूपी फल उत्पन्न होते हैं। जिसने भी अपनी आत्मा में पाँच अणुव्रत रूपी वृक्ष आरोपित कर लिया है; उस आत्मा को स्वर्ग के सुख रूपी फल की प्राप्ति होती है। और स्वर्ग का सुख कैसा होता है? तो आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने लिखा–

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव॥

स्वर्ग का सुख इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख है, आतंक से रहित, यावज्जीवन के लिए प्राप्त होता है। वह दीर्घकाल तक रहता है। स्वर्ग में वह दिव्य सुख प्राप्त होता है जिस सुख को यहाँ के सुख की उपमा नहीं दे सकते, बस इतना ही कह सकते हैं जैसा सुख स्वर्ग में रहने वाले देवों को प्राप्त होता है वह सुख वैसा ही होता है, उसे अन्य प्रकार के भौतिक सुख की उपमा नहीं दे सकते। जो सुख स्वर्ग के देवों को है वह सुख न तो नरक के नारकी को कभी संभव हो सकता है, न पशु-पक्षी आदि तिर्यंचों को संभव हो सकता है और न ही कभी मनुष्यों को संभव हो सकता है। वह चक्रवर्ती भी बन जाए तब भी स्वर्ग जैसे सुख को नहीं भोग सकता। आप कहेंगे चकव्रर्ती क्यों नहीं भोग सकता, वह तो छह खण्ड का स्वामी, नवनिधि-चौदह रत्नों का स्वामी होता है? तो क्या हो गया, स्वर्ग की व्यवस्था ये है कि जितने सागर की आयु होती है उतने पक्ष में एक बार श्वास लेता है, हमारी तो एक मिनट में 70-72 बार नाड़ी धड़कती है, इतनी श्वांस सहजता में ही छोड़ते हैं। और देव माना कि आयु 16 सागर है तो वह 16 पक्ष में एक बार अर्थात् 8 महीने में एक बार श्वांस लेता है फिर 8 महीने के लिए फुर्सत। और उन देवों को अलग से कोई भोजन- पानी नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब भी उन्हें इच्छा होती है तो उनके कंठ में से अमृत अपने आप झर जाता है। वे देव प्रतिदिन भोजन नहीं करते अपितु जितने सागर की आयु होती है उतने हजार वर्ष में एक बार भोजन की इच्छा होती है। यदि आयु 16 सागर की है तो 16 हजार वर्ष में एक बार भोजन की इच्छा होगी तभी कण्ठ से अमृत झर जाएगा। यह पंचमकाल तो 21 हजार वर्ष का है, उसने पंचमकाल के प्रारंभ में, चौथे काल के अंत में एक बार अमृत का आहार लिया और 21 हजार वर्ष के लिए तृप्ति हो गई, पूरा पंचमकाल निकल गया, पुनः एक बार लिया छटवाँ काल निकल गया पुनः एक बार लिया अवसर्पिणी का छटवाँ काल निकल गया, पुनः

एक बार लिया तो उत्सर्पिणी का पाँचवाँ काल निकल गया। चार बार अमृत झरा तब तक तो 84 हजार वर्ष में चार काल ही निकल गए।

महानुभाव! यह अणुव्रती श्रावक अधिकतम 22 सागर की आयु प्राप्त कर सकता है अर्थात् 16 वें स्वर्ग तक जा सकता है। तो 22 सागर की आयु जिसने प्राप्त कर ली वह 22 पक्ष में एक बार श्वांस लेगा, अर्थात् 11 महीने में एक बार। और 22 हजार वर्ष में उसे एक बार अमृत का आहर करना है, ऐसा स्वर्ग का वैभव है, सुख है, तो क्या यह विशेषता चक्रवर्ती को मिल सकती है? नहीं मिल सकती। उसे तो नित्य भोजन करना ही पड़ता है, श्वांस भी लेना पड़ता है।

तो यहाँ कहा-'पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं' यह अणुव्रत सुरलोक के फल को देने वाला वृक्ष है। सुरलोक में क्या है? 'यत्रावधिरष्टगुणा' यहाँ अवधिज्ञान प्राप्त होता है। वह अवधिज्ञान से अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही सब जान लेता है। देवों को शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती, वे अपने अवधिज्ञान से समस्त भाषाओं को सीख सकते हैं। उन्हें अन्य किसी विषय वस्तु को याद करने की आवश्यकता नहीं, वे तो भगवान् के समवसरण में जाते हैं दिव्यध्वनि सुनते हैं और आनंद लेते हैं। तो देवों के नियम से दिव्य अवधिज्ञान होता है जो कि भव प्रत्यय होता है।

'अष्टगुणा' स्वर्ग के देवों के पास अष्ट गुण होते हैं। अष्ट गुण अर्थात् ऋद्धियाँ होती हैं। **'अणिमाऋद्धि'** जिसके माध्यम से देव चाहे तो अपने शरीर को अणु जैसा छोटा बना ले, यानि अपने शरीर को सूई की नोक के बराबर बना ले, चाहे तो सूई के छेद में से निकल जाए ऐसी ऋद्धि। **गरिमाऋद्धि** वह देव चाहे तो अपने शरीर को पहाड़ जैसा बड़ा विशाल भी बना सकता है। **लघिमाऋद्धि** के माध्यम से वह देव चाहे तो अपने शरीर को बहुत लघु बना सकता है, इतना हल्का बना ले कि आक के फूल की तरह, जिसे फूंक मार दो तो उड़ जाता है। वह पानी पर खड़ा हो जाए तो डूबे नहीं, किसी फूल पर खड़ा हो जाए तो फूल की पांखुड़ी भी न मुरझाये, अग्नि की लपट पर खड़ा हो जाए तो अग्नि की लपट झुके नहीं, वह चाहे तो इतना सूक्ष्म हो जाए कि दीवार में से पार हो जाएँ, वज्र में से पार हो जाए। **प्राकाम्यऋद्धि** जिस ऋद्धि के प्रभाव से जल के समान पृथ्वी पर उन्मज्जन-निमज्जन किया जाए जैसे जमीन पर चल रहा है तो लगे कि पानी पर चल रहा है और जल में ऐसे चले कि जमीन पर चल रहा हो ऐसी उनके शरीरगत ऋद्धियों की महिमा होती है।

प्राप्तिऋद्धि वह देव ऐसी ऋद्धि को प्राप्त करता है कि यहाँ बैठ कर चाहे तो हाथ बढ़ाकर के सुमेरु पर्वत को छू ले, चाहे तो धातकीखण्ड के सुमेरु को छू ले, मानुषोत्तर पर्वत तक पहुँच जाए ऐसी विक्रिया ऋद्धि हो सकती है।

ईशत्व ऋद्धि–वह सबके स्वामीपने को प्राप्त करता है। **वशित्व ऋद्धि** वह ऐसा रूप प्राप्त कर सकता है कि सभी उसके वश में हो जाए। **कामरूपित्व ऋद्धि**–वह जैसा चाहे वैसा रूप बना ले, एक रूप बना ले–अनेक रूप बना ले, एक साथ सेना खड़ी कर दे तो यह सब देवों की ऋद्धियाँ होती हैं। पाँच अणुव्रतों का पालन करने वाला वह श्रावक या श्राविका स्वर्ग में जाकर इस प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करता है। इसके साथ–साथ वह देव देवत्व अवस्था में दिव्य शरीर को प्राप्त करता है। यहाँ तो शरीर में रोग भी होता है, बुढ़ापा भी आता है किंतु देवों के शरीर में न तो कोई रोग होता और न ही कभी बुढ़ापा आता। यहाँ बाल्यअवस्था होती है किन्तु स्वर्ग में तो जन्म लेने के अंतर्मुहूर्त बाद ही युवा जैसे सुन्दर हो जाते हैं और यावज्जीवन तक युवा ही रहते हैं, उनके शरीर की कांति कभी कम नहीं होती। उनके दिव्य वस्त्राभूषण होते हैं। उन्हें रोना नहीं, शोक नहीं करना, वे अपने धर्मध्यान में मस्त रह सकते हैं किन्तु ऐसी दिव्य अवस्था को प्राप्त करता कौन है? जिसने अपने जीवन में पाँच अणुव्रतों को स्वीकार किया हो वह ऐसी अवस्था प्राप्त कर सकता है।

श्रावकों को गृहस्थ जीवन में रहते हुए अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाण अणुव्रत इन पाँच अणुव्रतों का पालन करना चाहिए। इन पाँच अणुव्रतों का पालन नागश्री ने किया था। वह नागशर्मा ब्राह्मण की पुत्री थी। एक बार वह अपनी सखियों के साथ उद्यान में नागदेवता की पूजा करने गई। वहाँ एक मुनिराज को देखा तो अन्य सखियाँ तो भाग गई किन्तु वह महाराज के पास बैठी और कहा महाराज! मुझे उपदेश दो। मुनिराज ने उपदेश दिया–पुत्री! तुम भव्य हो, पाँच अणुव्रतों का पालन करो, स्त्री पर्याय का छेद करके पुरुषपर्याय को प्राप्त कर अपना कल्याण करो। नागश्री ने पाँच अणुव्रतों को स्वीकार कर लिया और साथ में मुनिराज ने यह भी कह दिया कि यदि तुम्हारा पिता तुमसे कुछ कहे तो भी इन व्रतों को तोड़ना नहीं, भले ही ये व्रत मुझे वापस कर जाना।

नागश्री घर पहुँची, पिता को मालूम चला, उसे क्रोध आया बोला–मेरी बेटी को व्रत कैसे दे दिया। और पुत्री को लेकर उन्हीं मुनिराज के पास जाने लगा उन्हें उलाहना देने के लिए। रास्ते में पाँच घटनाएँ घटित हुईं जिन्हें देखकर बेटी ने कहा–पिता जी! हिंसा करने वालों को सूली लगती है, झूठ बोलने वालों की जिह्वा काटी जाती है, देखो! चोरी करने वाले को कड़ी

सजा मिलती ही है, कुशील सेवन करने वाले को-परिग्रह संचय करने वाले को कड़ी से कड़ी सजा मिल रही है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहपरिमाण ये मैंने सही व्रत ही तो लिए हैं। पिता ने कहा-ठीक है तू इन पाँच अणुव्रतों को रख ले किन्तु मैं मुनिमहाराज को उलाहना तो जरूर देने जाऊँगा कि मेरी बेटी को व्रत कैसे दे दिए। वह राजा एवं श्रेष्ठी वर्ग आदि को लेकर पहुँचा और मुनिराज से प्रश्न किया कि आपने मेरी बेटी को व्रत कैसे दे दिया। मुनिराज बोले-अरे! वह आपकी बेटी कहाँ है वह तो मेरी बेटी है, मैंने व्रत अपनी बेटी को दिया है। अरे महाराज! आपकी बेटी कहाँ से आ गई, मेरे घर इसका जन्म हुआ है, यह बात सब जानते हैं। तब मुनिराज बोले-अगर तुम्हारी बेटी है तो क्या तुमने अपनी बेटी को संस्कृत-व्याकरण आदि कुछ पढ़ाया है? मैंने पढ़ाया है और कहते के साथ नागश्री के ऊपर पिच्छी रखी और कहा 'बोल वायुभूति' वह सब कुछ बोलने लगी। वह नागश्री पूर्व में वायुभूति था जो उन मुनि महाराज का भानजा था। विस्तार से कथा सुकुमाल चरित्र से जाननी चाहिए। तो कहने का आशय है वह नागश्री कन्या पंचअणुव्रतों का पालन करके देव अवस्था को प्राप्त हुई और पुनः वहाँ से आकर सुकुमाल बने। पुनः समाधि को प्राप्त करके सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए आगे मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय ने यही बताया कि अतिचार रहित पाँच अणुव्रत निधियों के समान हैं, इनका निरतिचार पालन करने से नियमपूर्वक स्वर्ग की गति होती है, जहाँ कि उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान नियम से प्राप्त होता है तथा अणिमादि आठ ऋद्धियाँ तथा धातु-उपधातु से रहित परम सुंदर वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है। इसलिए भव्यजीवों को इन उत्पन्न पाँचों अणुव्रतों का निरतिचार पालन करना चाहिए। जिनेन्द्र देव की आज्ञा पर श्रद्धान् रखकर अपने पूर्ण प्रयत्नों के साथ इन सर्वोत्तम पाँचों अणुव्रतों का पालन करना चाहिए।

महानुभाव! आप सभी श्रावक-श्राविकाओं को भी शक्ति अनुसार इन व्रतों का पालन करना चाहिए, यही व्रत हमारी निधि हैं और आत्मकल्याण का प्रशस्त मार्ग हैं इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अणुव्रतों में प्रसिद्ध के नाम

मातङ्गो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः, पूजातिशयमुत्तमम्॥64॥

अन्वयार्थ–अणुव्रतोंमेंक्रमश:**मातङ्ग** – चाण्डाल**च** – और**धनदेव** – धनदेव (सेठ) **ततःपरः** – अचौर्याणुव्रत में **वारिषेण** – वारिषेण **नीली** – नीली **च** – और **जय** – जय **उत्तमम् पूजातिशयम्** – उत्तम पूजा के अतिशय को **संप्राप्ताः** – प्राप्त हुए हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्रावक के द्वारा पालन करने योग्य पाँच अणुव्रतों का स्वरूप समझ रहे थे। जो कोई भी भव्यजीव अहिंसा आदि अणुव्रतों का निर्दोष रीति से पालन करते हैं, अपने परिणाम विशुद्ध रखते हैं उनके चित्त की पवित्रता इस भव में भी सुख-शांति देने वाली होती है और वह जीव परभव में भी दिव्य शरीर को, अणिमाआदि आठ ऋद्धियों को, अवधिज्ञान एवं दिव्य अमृतोपमा भोगों को प्राप्त करता है। स्वर्ग में रहकर भी वह भव्य जीव प्रभुभक्ति एवं तत्त्वज्ञान की चर्चा करते हुए अपने परिणाम निर्मल बनाए रखता है।

यहाँ आज श्लोक नं. 64 के माध्यम से बताते हैं कि जिन-जिन भव्य जीवों ने अहिंसा आदि अणुव्रतों का निर्दोष पालन किया उन्होंने इस भव में क्या दिव्य लाभ लिया और परभव में कौन सी अवस्था प्राप्त हुई एवं उन्हें किस प्रकार की परीक्षा देनी पड़ी। पाँच अणुव्रतों में पाँच पुण्य पुरुष प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जिनके नाम आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी ने इस कारिका में उल्लिखित किए हैं।

आचार्य महोदय कह रहे हैं अतिशय पूजा को प्राप्त हुए वे पाँच पुण्य पुरुष हैं। सबसे पहला व्रत अहिंसाणुव्रत है जो सभी धर्मों का आधार है। बिना अहिंसा के कोई भी धर्म संभव नहीं है। अहिंसा कहिए, दया कहिए, करुणा कहिए, रहम कहिये ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं, ये एक ही अर्थ को ध्वनित करने वाले शब्द हैं। तुलसीदास जी ने दयाधर्म कहा–

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये जब लौ घट में प्राण॥

जब तक इन प्राणों का वास इस शरीर में है, पाँच इन्द्रिय + तीन बल + आयु + श्वांसोच्छ्वास ये 10 प्राण जब तक शरीर में वास कर रहे हैं तब तक दया को छोड़ना नहीं चाहिए। अंतिम श्वांस तक दया-करुणा का पालन करना चाहिए। **'अहिंसा परमो धर्मः'** यह विश्व प्रसिद्ध वाक्य है, अहिंसा परम धर्म है, उत्कृष्ट धर्म है इससे उत्कृष्ट धर्म और कोई नहीं हो सकता। ये क्षत्रियों के

द्वारा निष्पन्न धर्म है। क्षत्रियों ने राज्य किया, युद्ध किए किन्तु बाद में जब धर्म को अंगीकार किया तो परम अहिंसा को स्वीकार किया। उस परम अहिंसा को स्वीकार कर वे राजा पहले महात्मा बने फिर परमात्मा बने। अहिंसा का पूर्ण पालन साधु संन्यासी करते हैं। अहिंसा का एकदेश पालन गृहस्थ करता है। अपने जीवन में संकल्पी हिंसा का त्याग करके बुद्धिपूर्वक मैं किसी जीव को नहीं मारूँगा, मैं संकल्पपूर्वक किसी जीव का घात नहीं करूँगा, मैं किसी को नहीं सताऊँगा, उस पर करुणा-दया करूँगा और अपने अहिंसा धर्म का निर्मल रीति से पालन करूँगा; इस प्रकार अहिंसा धर्म का पालन करने वाले अनेक पुरुष हुए। यहाँ आचार्य महोदय एक छोटे से सामान्य व्यक्ति अर्थात् चाण्डाल का उदाहरण दे रहे हैं; उस सामान्य व्यक्ति ने किन परिस्थितियों में भी अहिंसा धर्म का पालन किया, अपने प्राणों की परवाह नहीं की किन्तु अहिंसा की रक्षा की।

महानुभाव! भगवान् शांतिनाथ पूर्वभव में मेघरथ की पर्याय में थे, उस समय दो देवों ने आकर उनकी परीक्षा ली। एक देव कबूतर का रूप बनाकर उनकी शरण में आकर के गिरा, मुझे बचाओ-मुझे बचाओ। दूसरा देव बाज का रूप बनाकर पीछा करता हुआ आया, बोला-यह मेरा शिकार है, मेरा भोजन है, इसे मुझे दो। राजा मेघरथ बड़े दयालु थे, कृपालु थे उन्होंने कहा-इस कबूतर को तो मैं नहीं दे सकता। बाज ने कहा-यदि नहीं दे सकते तो भूख के कारण मैं अपने प्राणों का परित्याग करता हूँ। राजा मेघरथ ने कहा-तुम्हें भूख लगी है तो मैं तुम्हें नाना प्रकार के उत्तम-स्वादिष्ट व्यंजन दे सकता हूँ। उस बाज के रूप में जो देव था उसने कहा मुझे मिष्ठान नहीं चाहिए मुझे माँस चाहिए। राजा मेघरथ ने कहा-मैं तुम्हें इस कबूतर का माँस नहीं दे सकता, ये मेरी शरण में आया है, इस पर मैं दया करूँगा व इसके प्राणों की रक्षा करूँगा। ठीक है, यदि आपको इसके प्राणों की रक्षा करना है तो आप मुझे किसी और का माँस दे दीजिए मुझे तो माँस चाहिए, न सही इसका किसी और का सही।

राजा ने कहा-मैं किसी और का भी माँस नहीं दे सकता हूँ, यदि तुझे माँस खाना ही इष्ट है तू मिठाई आदि नहीं खाता तो तुझे मैं अपने शरीर का माँस देता हूँ। बाज बोला ठीक है मुझे इस कबूतर के वजन के बराबर माँस दे दीजिए। तराजू के एक पलड़े पर कबूतर को बिठा दिया दूसरे पलड़े पर राजा मेघरथ स्वयं अपने शरीर का माँस काटकर रखता गया। वह कबूतर कबूतर नहीं था, देव था, देवमाया से उसने अपने शरीर को और भारी कर लिया। राजा माँस काट-काटकर रखता गया, अन्ततोगत्वा राजा स्वयं पलड़े पर बैठ गया और बोला हे बाज! तुझे माँस ही खाना है तो मुझे खाकर संतुष्ट हो किन्तु मैं किसी का घात नहीं कर सकता। इस दृश्य को देखकर के बाज और कबूतर असली रूप में आ गए, दोनों देवों ने महाराज मेघरथ

को प्रणाम किया और कहा- हमने आपके बारे में जैसी चर्चा वार्ता सौधर्मइन्द्र के मुख से स्वर्गों में सुनी थी आपकी दया-करुणा-अहिंसा की भावना वैसी ही पाई।

इसी प्रकार का प्रसंग एक और है—जब भगवान् महावीरस्वामी जी की प्रतिमा चाँदनपुर में प्रकट हुई, महावीरजी का मंदिर बना। वहाँ के राजा जयपुर के दीवान अमरचंद से बड़े संतुष्ट थे किन्तु अन्य लोगों ने महाराज को भड़का दिया कि राजन्! ये व्यक्ति आपकी क्या सेवा करेगा अहिंसा-अहिंसा कहता है, ये बनिया होकर के हिंसा से डरता है तो आपके युद्ध में क्या काम देगा। उसको एक काम दीजिए कि ये शेर को भोजन कराएगा। यदि शेर को भोजन करा सकता है तो युद्ध में भी किसी का घात कर सकता है। राजा ने अमरचंद दीवान से कहा-तुम्हें शेर को भोजन कराना है। अमरचंद दीवान ने सोचा आज तो मेरे धर्म पर संकट आ गया। शेर तो माँसाहारी है, मैं शेर को भोजन कैसे कराऊँगा। किन्तु उसने चिन्ता नहीं की, महाराज का आदेश है तो मैं शेर को भोजन कराता हूँ। और शेर जिस पिंजरे में बंद था उसके पास जलेबियों का थाल लेकर पहुँचा। शेर के सामने हाथ जोड़कर बोला-हे वनराज्! तुम्हें भूख लगी है, मैं जानता हूँ तुम तीन दिन से भूखे हो, मैं तुम्हारे लिए स्वादिष्ट व्यंजन लाया हूँ, ये जलेबी खाओ और अपनी भूख मिटाओ। मैं तुम्हारे सामने किसी जीव को नहीं डाल सकता, किसी भी पशु को नहीं मार सकता, तुम्हें भूख लगी है यदि इससे तुम्हारा पेट नहीं भरता है तो मैं तुम्हारे कटहरे में घुस जाता हूँ, मुझे मारकर के खा सकते हो। शेर उसकी बात को बड़े ध्यान से सुन रहा था, टकटकी लगाकर के देख भी रहा था, शेर की आँखों में आँसू आ गए। अमरचंद ने दरवाजा खोला, जलेबी का थाल आगे रखा और शेर ने चुपचाप जलेबियाँ खा ली। यह अहिंसक की आवाज का प्रभाव था।

महानुभाव! राजस्थान में एक बहुत बड़ा राणा हुआ जिसे महाराणा प्रताप के नाम से इतिहास में जानते हैं। महाराणा प्रताप ने अपने जीवन में बहुत संघर्षों का सामना किया किन्तु यवनों की गुलामी स्वीकार नहीं की, यवनों ने बहुत प्रयास किया किंतु प्रताप ने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की। उस समय के तात्कालिक सम्राट-अकबर ने महाराणा प्रताप को झुकाने का प्रयास किया, संधि करने का प्रयास किया किन्तु महाराणा प्रताप झुकने को तैयार नहीं हुए। उनके भाई शक्तिसिंह ने विश्वासघात कर दिया इसलिए वे हल्दीघाटी के युद्ध में हार गए और उन्हें चित्तौड़ छोड़कर जाना पड़ा। जंगल में भी रहना पड़ा, जंगल में रहकर भी महाराणा प्रताप ने घास की रोटी खाना स्वीकार कर लिया किन्तु माँस की बोटी खाना स्वीकार नहीं किया, ये हमारी भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति में घास शाकाहार है, उसे खा सकते हैं किन्तु माँस नहीं खा सकते। ऐसे ही आचार्य महोदय ने यहाँ अहिंसाणुव्रत में प्रसिद्ध 'यमपाल चाण्डाल' का उदाहरण दिया है।

अहिंसाणुव्रत में प्रसिद्ध यमपाल चाण्डाल कथा

एक यमपाल नाम का चाण्डाल था। वह इसी भरतक्षेत्र में सुरम्य देश के पोदनपुर नाम के नगर में रहा करता था। यह वही पोदनपुर नगर है जो प्रथम कामदेव बाहुबली जी की राजधानी थी। उस पोदनपुर नगर में कभी राजा महाबल राज्य करता था। राजा महाबल बड़ा धर्मात्मा था, अहिंसा प्रेमी था, दयावान् था, अपनी प्रजा का पुत्र जैसा पालन करता था। रात्रि में भेष बदलकर अपने नगर में घूमता था, कहीं कोई दु:खी तो नहीं, भूखा तो नहीं है, मेरे राज्य में कोई रोगी तो नहीं है और जब देखता कोई रोगी है, दु:खी है, भूखा है तो उसकी व्यवस्था करता था। लोग पहचान नहीं पाते कि यह राजा महाबल है। वह इस प्रकार से अपनी प्रजा की सेवा करता था जैसे माता-पिता अपनी संतान का ख्याल रखते हैं। राजा महाबल ने आष्टाह्निक पर्व में घोषणा करा दी कि मेरे राज्य में कोई भी आठ दिन तक हिंसा नहीं करेगा, जीवघात नहीं करेगा। यह शाश्वत आष्टाह्निक पर्व चल रहा है इसलिए सभी को जिनेन्द्रप्रभु की पूजा-अर्चना-भक्ति करना है, आठ दिन तक सभी का राज कार्यों से अवकाश है, सभी प्रभु उपासना में लग जाओ।

किन्तु राजा महाबल का पुत्र 'बलकुमार' अपने पिता के बिल्कुल विपरीत था। पिता ने कहा है हिंसा नहीं होनी चाहिए पर मैं हिंसा करूँगा। उसने राज्य के उद्यान में जाकर छिपकर एक मेढ़े को मार दिया और उसका माँस पकाकर भक्षण किया। बाग का माली उस समय पेड़ पर चढ़ा हुआ था, उसने देख लिया कि राजकुमार ने मेढ़े को मारा है व उसका माँस खाया है। राजा की आज्ञा का भंग हुई है। वह माली रात्रि में अपनी पत्नी को सुना रहा था कि देखो हमारे राजा कितने दयालु हैं, अहिंसक हैं उन्होंने अहिंसा की घोषणा की है किन्तु उनके पुत्र ने हिंसा की और माँस खाया। यह वार्ता राजा के गुप्तचर ने सुन ली और राजा को बता दी। राजा ने माली को बुलाया, माली ने राजा से ज्यों का त्यों हाल सुना दिया। राजा ने कहा राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाला, हिंसा करने वाला कोई भी व्यक्ति क्यों न हो उसे मृत्युदंड दे दो। और पुन: यमपाल चाण्डाल को बुलवाया।

राजा ने सैनिकों को भेजा- कहा यमपाल चाण्डाल से कहना राजपुत्र बलकुमार को मृत्युदंड देना है। और मृत्यु भी ऐसे नहीं देना उसके नौ टुकड़े कर दो ताकि जनता को याद रहे कि हिंसा करने वाले को क्या दण्ड मिलता है। यमपाल चाण्डाल ने जैसे ही सैनिकों को अपने घर की ओर आते हुए देखा वह भागकर अपने घर में छुप गया; क्योंकि उस दिन चौदस थी

और यमपाल का नियम था कि वह चतुर्दशी के दिन हिंसा नहीं करता था। उसने अपनी पत्नी से यह कहा कि यदि कोई व्यक्ति मुझे हिंसाकर्म के लिए बुलाए तो कहना कि मेरे पति घर में नहीं हैं, गाँव गए हैं। ऐसा कहकर वह घर के कोने में छिपकर बैठ गया। तब तक सैनिक आ गए और पूछा–यमपाल चाण्डाल कहाँ है? पत्नी ने कहा वे तो आज ही गाँव गए हैं। एक सैनिक बोला अरे! कितना सुनहरा मौका छोड़ दिया, यमपाल कितना अभागा है, आज तो राजकुमार को मारना था उसे मारने से वस्त्र-आभूषण, स्वर्ण और रत्नादि मिलते। इतना सुनते ही चाण्डालनी के मन में लोभ आ गया अतः वह मुख से तो कह रही थी कि ये गाँव गए हैं किन्तु हाथ के इशारे से कह दिया कि अंदर छिपकर बैठा है। सैनिक घर में घुस गए और चाण्डाल को पकड़कर ले आए व राजा के सामने प्रस्तुत किया।

यमपाल चाण्डाल ने राजा से कहा-राजन्! मुझे क्षमा करो, मैं आज हिंसा नहीं करूँगा, आज चतुर्दशी का दिन है, मैंने मुनिराज से चतुर्दशी पर्व पर अहिंसा व्रत का नियम लिया है। मुझे एक बार सर्प ने डस लिया था, मेरे शरीर में विष व्याप्त हो गया था, लोग मुझे मृत जानकर श्मशान में जलाने के लिए ले गए, श्मशान में सर्वौषधि ऋद्धि के धारक महामुनिराज तपस्या कर रहे थे, उनसे संस्पर्शित वायु मुझे छू गई और मेरा विष दूर हो गया, उस समय उन मुनिराज की कृपादृष्टि हुई जिससे मैं जीवित हूँ, तब से मैंने नियम ले लिया था कि कम से कम चौदस के दिन तो मैं हिंसा नहीं करूँगा। चाहे कुछ भी हो, भले ही आप मेरे प्राण ले लो पर मैं किसी के प्राण नहीं लूँगा। 'अस्पृश्य चाण्डाल के भी व्रत होता है?' यह विचारकर राजा बहुत रुष्ट हुआ और बोला राजपुत्र व चाण्डाल दोनों को अनेक भयंकर मगरमच्छों से व्याप्त सुमार (शिशुमार) नामक तालाब में डाल दो। जैसे ही यमपाल को जल में डाला उस जलदेवता ने आकर के चाण्डाल को उठा लिया और सिंहासन पर विराजमान कर दिया, रत्न आदि से उसकी पूजा की, सत्कार किया। राजा ने देखा-उसके पुत्र को तो मगरमच्छ खा गया किंतु चाण्डाल देवपूज्य हुआ। तब राजा ने कहा-धन्य है चाण्डाल तेरा नियम, मुझसे बड़ी गलती हुई जो मैं तेरा नियम तुड़वा रहा था। तत्पश्चात् राजा ने भी चाण्डाल का सम्मान किया तथा अपने छत्र के नीचे उसका अभिषेक कराकर उसे स्पर्श करने योग्य विशिष्ट पुरुष घोषित कर दिया।

महानुभाव! जब एक चाण्डाल भी एक दिन चतुर्दशी पर्व पर हिंसा न करने का नियम लेकर के देवों द्वारा पूज्यता की अवस्था को प्राप्त हुआ फिर जो भव्य प्राणी यावज्जीवन के लिए अहिंसा व्रत का पालन करेंगे उन्हें निःसंदेह संसार के और परम्परा से मोक्ष के सुख अवश्य प्राप्त होंगे। आप सभी अपनी शक्ति अनुसार अहिंसा व्रत का पालन करो।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सत्य अणुव्रत में प्रसिद्ध धनदेव की कथा

महानुभाव! आचार्य महोदय ने अहिंसाणुव्रत में यमपाल चाण्डाल का नाम उदाहरण के रूप में दिया; जिसने पहले तो अहिंसाणुव्रत का पालन किया पुनः पञ्चाणुव्रतों का पालन करके स्वर्ग की अवस्था को प्राप्त किया। पुनः सत्याणुव्रत में धनदेव का नाम दिया है। सत्य जीवन का प्राण है। रामायण में लिखा–

'धर्म न दूसर सत्य समाना, आगम वेद पुराण बखाना'

सत्य के समान दुनिया में कोई धर्म नहीं है, सत्य धर्म का प्राण है। चाहे शरीर छोटा हो या बड़ा हो, शरीर में प्राण हैं तो शरीर जीवंत माना जाता है, शरीर में से प्राण निकल गए तो वह मुर्दा कहलाता है। ऐसे ही धर्म सत्य के माध्यम से जीवित रहता है, जिस धर्म में सत्य नहीं है वह धर्म मुर्दे की तरह से है। इतिहास उठाकर देखो कि सत्य के लिए लोगों ने अपनी कुर्बानियाँ दीं, सत्य की रक्षा के लिए लोगों ने वनवास या जंगल को स्वीकार किया किन्तु सत्य को नहीं छोड़ा।

महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्री राम उन्होंने सत्य की रक्षा के लिए वनवास को स्वीकार किया किन्तु वचन का उल्लंघन नहीं किया। दशरथ महाराज ने कैकया को जो वरदान दिया था, उस वरदान में कैकया ने भरत के लिए राज्य माँगा यद्यपि दशरथ महाराज ने राम के लिए राज्य देना सुनिश्चित कर लिया था, मुहूर्त्त भी निकल गया था, राज्यभिषेक का समय निकट था उसके बावजूद भी श्रीरामचन्द्र जी ने सत्य को निभाया, वचन की रक्षा की और भरत के लिए राज्य दिया। राम स्वतः ही अपने अनुज लक्ष्मण व धर्मपत्नी सीता के साथ वन विहार कर गए। भरत जी राम को मनाने गए, भाई! यह राज्य तो आपका है, आप ही ज्येष्ठ पुत्र हो, बड़े भाई भी हो और पिताजी ने पूर्व में ही आपकी घोषणा भी कर दी थी। किन्तु रामचन्द्रजी ने कहा–नहीं, यह रघुकुल की परम्परा है, इस सूर्यवंश की, चंद्रवंश की, इक्ष्वाकुवंश की परम्परा रही है कि सत्य के लिए सब कुछ न्यौछावर किया जा सकता है। पिताजी ने राज्य की घोषण आपके लिए की है। पिताजी ने अपने वचनों की रक्षा करने के लिए ऐसा किया है, माँ ने जो माँगा पिता जी ने वह दे दिया, मैंने अपना कर्त्तव्य किया आप भी अपना कर्त्तव्य करो, आप राज्य को स्वीकार करो। भरत जी कहते हैं, राज्य तुम्हारा है और राम जी कहते हैं राज्य तुम्हारा है। आज के भाई होते तो कहते राज्य मेरा–राज्य मेरा। किन्तु वह चतुर्थकाल था, छोटा भाई कहता है राज्य आप प्राप्त करो, बड़ा भाई कहता है राज्य आप प्राप्त करो। खैर, राम जी के समझाने पर भरत जी मान गए और वैदिक परंपरा

के अनुसार रामजी के खड़ाऊ रखकर राज्य का संचालन करने लगे। अपने भाई के प्रति उनके चित्त में अगाध प्रेम था, मातृभक्ति थी। सत्य की रक्षा के लिए उन महापुरुषों ने भी जंगल में वास किया किन्तु सत्य को तिलाञ्जलि नहीं दी।

लोकव्यवहार में एक सुप्रसिद्ध उदाहरण मिलता है राजा हरिश्चन्द्र के संबंध में। उन्होंने भी सत्य के लिए अपना राज्य छोड़ा, अपने पुत्र को बेचा, स्वयं श्मशानघाट पर जाकर नौकरी करने लगे। देवताओं ने ऐसी परीक्षा ली कि उनके पुत्र को सर्प बनकर डस लिया, उनकी पत्नी अंतिम संस्कार के लिए आती है तो वे उनसे भी कर माँगते हैं। वो कहती है तुम्हारा पुत्र मर गया है और तुम कर माँगते हो, उन्होंने कहा चाहे कुछ भी हो मेरा पुत्र वह तब था जब मैं यहाँ नौकरी नहीं करता था, तुम मेरी पत्नी तब तक थीं जब तक मैंने तुम्हें बेचा नहीं था। आज हम तीनों अलग-अलग हैं। मैं अपनी नौकरी पर हूँ इसमें कोई छूट नहीं चलेगी, पहले कर दो फिर ही अपने पुत्र को जला सकती हो। उसने कहा मेरे पास तो देने के लिए कुछ भी नहीं है, तो कहा ठीक है जो तुम्हारे शरीर पर वस्त्र है उसे ही आधा फाड़कर दे दो, जब उन्होंने यह किया तभी आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी; देवताओं द्वारा जय-जयकार होने लगी कि धन्य है इस वसुधा पर इस प्रकार के सत्यवादी भी हैं।

सत्य संघर्ष का सामना तो करता है, सत्य काँटों का ताज पहनता है, सत्य को अग्नि में तपाया जाता है, सत्य को नाना प्रकार की प्रतिकूलताएँ सहन करनी पड़ती हैं किन्तु सत्य कभी मरता नहीं। सत्य सदैव जयवान् होता है। **सत्यमेव जयते** यह आर्ष वाक्य है। चिरकाल से यह वाक्य चला आ रहा है कि सत्य सदैव विजयी होता है, साँच को आँच नहीं।

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है ताके हृदय आप॥

सत्य के बराबर जग में कोई तप नहीं है, धर्म नहीं है और झूठ के बराबर पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य का वास है समझिए उसके हृदय में ही प्रभु परमात्मा का वास है। सत्यवादी का भगवान् से संबंध होता है, उसे भगवान् की अनुभूति होती है। सत्य के लिए एक नहीं अनेकों व्यक्तियों ने कुर्बानियाँ दी। सत्य की रक्षा के लिए, धर्म के लिए, देश के लिए, चाहे परिवार की रक्षा के लिए, चाहे संस्कृति की रक्षा के लिए व्यक्तियों ने अपने नियम को नहीं तोड़ा, भले ही भूखे-प्यासे रहे। राजा का प्राण सत्य होता है। जिस राजा के पास सत्य रूपी प्राण नहीं है तो वह राजा मुर्दे की तरह से होता है।

सत्येन शोभते राजा, संयमेन शोभते यतिः।
दानेन शोभते गेही एषाः रीतिः सनातनः॥

राजा की शोभा सत्य से है, यति की शोभा संयम से है, गृहस्थ की शोभा दान से है यह अनादिकालीन सनातन रीति है। राजा सत्य को छोड़ दे तो वह राजा राजा नहीं कहलाता, साधु संयम का पालन करना छोड़ दे तो वह साधु साधु नहीं कहलाता। गृहस्थ यदि दान-पूजा करना छोड़ दे तो वह गृहस्थ गृहस्थ नहीं कहलाता। सत्य राजा का प्राण होता है और राजा प्रजा का प्राण होता है। जिस राजा में सत्यनिष्ठा नहीं है वह राजा अपनी प्रजा का प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता, लोकप्रिय नहीं हो सकता, उस राजा के लिए वहाँ की प्रजा समर्पित नहीं हो सकती और वह अपने देश की उन्नति व विकास नहीं कर सकता। सत्य प्राप्त करना अपने आप में बड़ा कठिन होता है, यह जहर जैसा कड़वा होता है किन्तु इसे पीने पर अमरत्व की प्राप्ति होती है। सत्य कभी भी मरता नहीं और असत्य ज्यादा जीता नहीं। कई बार ऐसा भी होता है कि असत्य सिंहासन पर बैठा दिखाई दे जाए, सत्य कहीं दर-दर की ठोकर खाता दिखाई दे जाए इसके बावजूद भी उस सिंहासन पर बैठने का अधिकारी सत्य ही होता है। असत्य ज्यादा समय तक टिक नहीं पाता। असत्य तो इस तरह जानो जैसे आंधी तूफानों में जलता हुआ दीपक, जो बुझ ही जाएगा और सत्य मिट्टी में पड़ा हुआ वह रत्न है जिसकी कान्ति कभी कम नहीं होती, अंधकार में भी चमक रहती है और प्रकाश में भी चमक रहती है।

महानुभाव! सत्य अणुव्रत का पालन करने वाले जितने पुरुष हुए उन्होंने लोक में पूजा-प्रतिष्ठा को प्राप्त किया, देवों के द्वारा आदर-सम्मान को प्राप्त किया। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी भी उसी संबंध में सुप्रसिद्ध सेठ धनदेव का उदाहरण दे रहे हैं।

धनदेव कथा प्रारंभ

जंबूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र संबंधी पुष्कलावती देश में पुण्डरीकिणी नाम की नगरी थी। उस नगरी में धनदेव व जिनदेव नामक दो सेठ रहते थे। धनदेव के पास पूँजी कम थी, जिनदेव के पास धन पर्याप्त था। उन दोनों में धनदेव सत्यवादी था। एक बार जिनदेव ने कहा मैं व्यापार करने जा रहा हूँ, तुम भी चलो, धनदेव बोला मेरे पास इतनी पूँजी नहीं। तो जिनदेव ने कहा-'तुम चिंता न करो पूँजी मैं लगा दूँगा। हम दोनों मिलकर व्यापार करेंगे, तुम मेहनत करना और मैं पूँजी लगाऊँगा, जो व्यापार में लाभ होगा उसे आधा-आधा कर लेंगे। और यह बात मौखिक रूप में दोनों के बीच में तय हो गई। जिनदेव और धनदेव दोनों व्यापार करने गए। धनदेव धर्मात्मा था, प्रभु की पूजा उपासना करता था और ईमानदारी के साथ सुबह से शाम तक मेहनत करता था। दिन में एक बार शुद्ध भोजन करता था; उसका परिणाम यह हुआ कि व्यापार में उसे बहुत लाभ हुआ। जिनदेव को जितनी उम्मीद थी उससे शतगुना लाभ प्राप्त हुआ।

व्यापार करके दोनों अपने देश की ओर लौट आए। धनदेव ने कहा, अब जो धन हमने कमाया है उसे आधा-आधा करो। जिनदेव ने कहा—मैं यह कदापि नहीं करूँगा। धनदेव ने कहा-भाई! हम दोनों में बात तय हुई थी कि लाभ का हिस्सा आधा-आधा करेंगे। आप मुझे आधा हिस्सा क्यों नहीं दे रहे हो। जिनदेव ने कहा-जो मुझे उचित लगता है वह तुम्हें दे देता हूँ, आधे पूरे की कोई बात नहीं हुई। बात स्वजनों के बीच पहुँची, परिवारीजन भी कहने लगे हाँ, बात तो यही तय हुई थी कि धन आधा-आधा करेंगे। यहाँ तक कि जिनदेव के घरवाले भी कह रहे थे कि हमने भी यही सुना था कि धन आधा-आधा करेंगें किन्तु अब जिनदेव अपनी बात से क्यों मुकर रहा है। जब जिनदेव ने परिवारीजनों की बात भी नहीं मानी तो गाँव के लोगों को बुलाया गया, पंचायत में भी धनदेव की बात को मान्य किया गया, किन्तु जिनदेव ने कह दिया मैं किसी की बात नहीं मानूँगा, व्यापार में मेरी पूँजी लगी है। धनदेव ने कहा-यदि आप नहीं कहते कि आधा हिस्सा दूँगा तो कोई बात नहीं किन्तु आपने कहा है इसलिए मैं अपना पैसा माँग रहा हूँ। जिनदेव ने कहा मैंने कहा या नहीं यह बात छोड़ो किन्तु मैं धन नहीं दूँगा।

अब बात राजा के पास पहुँची, राजा के सामने जिनदेव कहता है मैंने ऐसी कोई बात नहीं की कि धन आधा-आधा होगा। धनदेव कहता है कि इसने कहा है। दोनों में बहस हो गई। राजा ने कहा-ठहरो! अभी सत्य की परीक्षा की जाती है। जिनदेव ने कहा-यदि इसके पास कोई प्रमाण हो, कोई लेख हो तो मैं इसे इसका हिस्सा दे दूँगा। राजा ने पूछा-धनदेव! क्या आपके पास लिखित में कोई साक्ष्य है? उसने कहा-राजन् मैंने लिखित में तो इनसे कुछ नहीं लिया, मैंने तो इसकी बात का विश्वास किया था। मैं तो मनुष्य की बात का विश्वास करता हूँ, कागज के टुकड़े की बात का क्या विश्वास करूँ। लिखकर तो कुछ बात तय नहीं हुई महाराज, किन्तु मुझे असत्य का धन नहीं चाहिए। यदि ये एक पैसा ज्यादा भी देगा तो भी मैं नहीं लूँगा, मुझे उतना ही चाहिए जितना इसने तय किया था। राजा ने सोचा-जिनदेव कहता है कि कोई बात तय नहीं हुई, मैंने नहीं कहा और धनदेव कहता है कि हमारी मौखिक बात तय हुई थी, अब सत्य का निर्णय कैसे करूँ।

राजा ने एक उपाय निकाला, और भरे दरबार में ही घोषणा की कि सत्य के निर्णय के लिए अग्नि परीक्षा लेनी चाहिए। जैसे सीता की अग्नि परीक्षा हुई, वह सत्यनिष्ठा रहीं तो अग्नि में कूदकर भी अग्नि उन्हें जला नहीं पाई। प्रह्लाद की परीक्षा हुई तो होलिका जल गई किन्तु प्रह्लाद नहीं जले। सभा में दहकते अंगारे लाए गए और दोनों से कहा-आपका न्याय बस इसी प्रकार से हो सकता हैं, अन्य कोई उपाय नहीं बचा अतः अब आप दोनों अपने हाथ आगे करो।

दोनों के हाथ पर जलते अंगारे रखे जाएँगे। धनदेव ने कहा महाराज! मैं सत्य हूँ और सत्य के साथ मुझे अग्नि जलाएगी तो भी मुझे चिंता नहीं किन्तु मैं झूठा नहीं। मैं अपने सत्य को नहीं छोड़ूँगा। जिनदेव ने कहा-अग्नि तो जलाएगी ही इसमें सत्य-असत्य क्या है महाराज? अग्नि का कार्य तो जलाने का ही है। राजा ने कहा अग्नि असत्य को जलाएगी सत्य को नहीं जलाएगी। नहीं महाराज, अग्नि तो सत्य को जलाएगी और मैं सत्यवादी हूँ इसलिए मुझे डर लग रहा है। अग्नि मुझे जालाएगी, मैं अंगारे नहीं रखूँगा। राजा ने सैनिकों को आदेश दिया और दोनों के हाथ पर अंगार रखवाएँ धनदेव के हाथ पर अंगारे आए तो उसके हाथ पर कोई फर्क नहीं आया। राजा ने कहा धनदेव सत्य कहता है, जिनदेव असत्य कहता है इसलिए व्यापार मे जो धन कमाया है उसमें से आधा धन धनदेव को दे दो। धनदेव को धन लाभ हुआ और उसकी सत्यवादिता को देखकर राजा ने अपने दरबार में धनदेव का सम्मान किया। धनदेव सब देवों के द्वारा पूजित हुआ।

महानुभाव! सत्य शाश्वत है, सत्य की जड़ पाताल तक होती है। असत्य क्षणध्वंसी होता है इसीलिए जीवन में कभी झूठ बोलकर के धन नहीं कमाना, जीवन में कभी किसी को धोखा नहीं देना। सत्य के साथ रहना, सत्य तुम्हारी हर समय रक्षा करेगा। सत्य जिसकी रक्षा करता है उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। सत्य ही धर्म का प्राण है, आप सदैव सत्य की रक्षा करें, सत्य निष्ठ बनकर रहें, सत्यवादी बनकर रहें। कई बार व्यक्ति झूठ बोलकर धन कमा भी लेगा किन्तु उस धन को भोग नहीं पाएगा। यदि किसी का कर्ज लिया है तो ईमानदारी से चुका देना, झूठ नहीं बोलना, नहीं तो इस भव में ना सही परभव में चुकाना पड़ेगा। गधा, घोड़ा, बैल या भैंसा बनना पड़ेगा, कैसे न कैसे चुकाना पड़ेगा, उसके खेत में पेड़ बनना पड़ेगा, हर साल अपने फल देकर कर्ज चुकाना पड़ेगा।

इस संसार में कोई भी किसी का एक परमाणु भी ग्रहण नही कर सकता, सभी अपने-अपने पुण्य का फल भोगते हैं इसीलिए जीवन में कभी भी असत्य से अपना पेट भरने की कोशिश नहीं करना, सत्यवादी रहकर भूखे रह जाना तो भी तुम्हारा बालबांका नहीं होगा, असत्य का खाओगे तो पेट चीरा जाएगा, असत्य का खाओगे तो हृदय को या पूरे शरीर को कहाँ-कहाँ से चीरा जाएगा नहीं जानते। झूठ का कमाओगे तो डॉक्टर या वकीलों की जेबों में जाएगा, पुलिसवालों या चोरों की जेब में जाएगा, नष्ट हो जाएगा किन्तु सत्य कोई छीन नहीं सकता, सत्य का धन तुम्हारा ही रहेगा, उसे तुम ही भोग सकोगे इसलिए सदैव सत्य के साथ जीओं बस यही धर्म का मर्म है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अचौर्याणुव्रत में प्रसिद्ध वारिषेण की कथा

महानुभाव! आचार्य महोदय ने अचौर्याणुव्रत में प्रसिद्धि को प्राप्त उदाहरण के रूप वारिषेण कुमार का नाम लिया। अचौर्यव्रत का स्वरूप जैसा कि आचार्य महोदय ने बताया कि किसी की रखी हुई, भूली हुई, पड़ी हुई वस्तु को नहीं उठाना या जिस वस्तु का कोई मालिक नहीं है उस वस्तु को भी नहीं उठाना। जिस वस्तु का कोई स्वामी नहीं है उस वस्तु का मालिक राजा होता है, शासक होता है। आपको मार्ग में कोई वस्तु मिल जाए तो उसे उठाओ मत, जिसकी है वह आकर ले लेगा। अचौर्य व्रत धर्म का एक अंग है। चाहे धन कितना भी पड़ा हो, वस्तु कितने ही मूल्य की क्यों न हो ''परवस्तु लोष्ठवत्'' दूसरे की वस्तु मिट्टी के डेले के जैसी है। नीतिकारों ने लिखा है–

'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्'

परस्त्री माता के समान है और पराया धन मिट्टी के डेले की तरह से है, उसे छुओ मत। आचार्यों ने लिखा है ''पराया धन काले नाग की तरह से है, काले नाग के पास यदि चले गए और उसने फुंकार भी मार दी तो जहर चढ़ जाएगा। पराया धन दहकते अंगार की तरह से है, व्यक्ति अंगारों के पास नहीं जाता वह दूर से निकल जाता है ऐसे ही किसी की भी वस्तु यदि पड़ी है तो उसे लेना नहीं। चोरी का धन भी नहीं खरीदना, अल्प मूल्य में कोई दे रहा है तब भी नहीं लेना, चोरी का धन चोरी का है। वर्तमानकाल में तो ऐसे प्रकरण सुनने में आते हैं कि किसी व्यक्ति ने फ्री की वस्तु ले ली और वह वस्तु चोरी की थी, पुलिस आई और थाने में बंद कर दिया, भले ही आप कहते रहो मैंने चोरी नहीं की किन्तु कोई प्रमाण आपके पास नहीं। इसलिए जीवन में कभी यह न सोचो कि मुझे फ्री की मिले, वस्तु अपनी कीमत से कम मूल्य में मिले, उचित मूल्य में वस्तु खरीद कर उपयोग करो, चोरी का भाव मन में मत लाओ, लोभ की भावना मन में मत रखो।

महानुभाव! अचौर्यव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति जीवन में सब जगह आदर को प्राप्त करता है। अचौर्यव्रत पालन करने वाले व्यक्ति का पूरा संसार विश्वास करता है कि यह एक पैसे की भी चोरी नहीं करेगा। वह व्यक्ति भगवान् की तरह पूज्य होता है, उसके पास जो भी वस्तु रख दो वह ज्यों की त्यों मिलेगी, वह कभी हड़पने की कोशिश नहीं करता। अचौर्यव्रत का पालन करने वाले अनेक पुरुष हुए। इस भारतीय संस्कृति को देखें तो पता चलेगा कि कितने ही महान् पुरुष हुए जिन्होंने अचौर्यव्रत का पालन किया।

अंजनचोर, विद्युत् चोर आदि चोरी में प्रसिद्ध हुए किन्तु बाद में उन्होंने इसका परित्याग कर अपना कल्याण भी किया। चोरी का त्याग किए बिना व्यक्ति न तो स्वजनों में विश्वास का पात्र बनता है न परजनों में। जो चोरी करने वाला है उसके माता-पिता भी उस पर विश्वास नहीं करते, पत्नी-पुत्र आदि कोई भी विश्वास नहीं करता, उसे सभी निंद्य दृष्टि से देखते हैं। यहाँ चोरी करने पर पुलिस आदि के द्वारा ताड़ना दी जाती है और परभव में भी नरकादि दुर्गतियों में भारी कष्ट उठाने पड़ते हैं। परधन हरण करने वाले को उसका धन चुकाना ही पड़ता है, चाहे बंधुआ मजदूर बनकर जिंदगी भर गुलामी करनी पड़े इसीलिए कभी दूसरे के एक कण को भी, एक पैसे को भी स्वीकार मत करो। अपने भाग्य से ईमानदारी से प्राप्त करो।

आप लोग टेक्स की चोरी करते हो जो नहीं करना चाहिए, आप लोगों का ऐसा विश्वास बन गया कि हम चोरी करके अधिक धन कमा लेंगे, मेरा पेट भर जाएगा। अरे! सोचो, जिस पाप से तुम्हारा पेट भर रहा है तो क्या पुण्य से तुम्हारा पेट नहीं भरेगा। अचौर्य व्रत का पालन करके क्या तुम भूखे रह जाओगे? नहीं रहोगे। ईमानदारी से चलो तुम्हारे जीवन में कभी कमी नहीं आएगी, बेईमानी से चलोगे तो कभी पूर्ति नहीं कर पाओगे सदैव कोई न कोई कमी रहेगी ही रहेगी। ईमानदारों का साथ स्वर्ग के देवता भी देते हैं और बेईमानों का साथ घर के लोग भी नहीं देते। इसीलिए यहा पर अचौर्यव्रत में प्रसिद्ध वारिषेण राजकुमार के बारे में बताते हैं।

वारिषेण कथा प्रारंभ

आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व जब भगवान् महावीर स्वामी का शासन चल रहा था। मगध देश में राजगृही नाम की एक नगरी थी। वहाँ पर राजा श्रेणिक राज्य करते थे। वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। रानी चेलना जो जिनधर्म सेविका, राजा चेटक की पुत्री थी। महाराज श्रेणिक ने छल से जिनधर्म उपासक बनकर रानी चेलना से विवाह किया, इस विवाह में अभयकुमार ने भी सहायता की थी। महाराज श्रेणिक ने बाद में जैनत्व को स्वीकार कर लिया। वे भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण के मुख्य श्रोता थे। पूर्व में उन्होंने जैनमुनि पर सर्प डालकर उपसर्ग किया था जिसके फलस्वरूप उन्होंने सप्तम नरक की आयु का बंध किया किंतु बाद में रानी के द्वारा समझाए जाने पर जैनधर्म को स्वीकार किया, मुनिमहाराज से आशीर्वाद लिया तो सम्यक्त्व को प्राप्त किया पुनः भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में गए और वहाँ उन्होंने भगवान् की भक्ति की, क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया व सप्तम नरक की आयु को घटाकर प्रथम नरक में 84000 वर्ष की आयु की। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि अल्पायुष्क नहीं होता अतः इससे कम आयु नहीं हो सकती। वे भगवान् महावीरस्वामी के समवसरण में मुख्य श्रोता के रूप में रहे वहाँ उन्होंने लगभग 60,000 जिज्ञासाएँ पूछी, जिसके माध्यम से हमारे पास आज शास्त्र बने हैं।

राजा श्रेणिक की चेलना रानी के अतिरिक्त अन्य रानियाँ भी थी। रानी चेलना से उन्हें वारिषेण, मेघकुमार आदि पुत्रों की प्राप्ति हुई। वारिषेण बाल्यअवस्था से ही बड़े धार्मिक थे, संसार के प्रति उन्हें कोई रुचि नहीं थी फिर भी माता-पिता का मोह होता है, बेटा कहीं मुनि न बन जाए इसलिए उनका बत्तीस कन्याओं के साथ विवाह करा दिया। किन्तु वारिषेण का मन आज भी धर्म के प्रति उतना ही संलग्न रहा जितना पूर्व में था। अष्टमी और चौदस के दिन कुमार वारिषेण अपने महलों को छोड़कर सुनसान श्मशान आदि स्थान पर ध्यान-सामायिक करते थे। यह क्रम उनका चलता था। यह बात सभी लोग जानते थे कि वारिषेण संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हैं और धर्मध्यान में संलग्न रहते हैं।

एक समय विद्युच्चोर मगधसुंदरी नामक वेश्या में आसक्त था, उस वेश्या ने कहा मुझे श्रीकीर्ति सेठानी का हार चाहिए, यदि आप मुझे लाकर दो तभी मेरे जीवन का प्रयोजन है अन्यथा नहीं। चतुर्दशी के दिन वह चोर रानी का हार चुराकर भाग रहा था, सैनिकों ने पीछा किया, किन्तु वह भागता ही जा रहा है, जब चोर ने देखा सैनिक उसके पीछे ही आ रहे हैं अब मेरे बचने का कोई उपाय नहीं है क्योंकि हार की चमक इतनी है कि वस्त्रों में छिप नहीं रही; वह एकान्त स्थान की ओर दौड़ा और श्मशान में पहुँच गया, वहाँ देखा कोई व्यक्ति खड़ा हुआ है, चोर ने उस व्यक्ति के पास हार को फेंक दिया और स्वयं झाड़ियों में छिप गया। सैनिकों ने देखा-जो व्यक्ति खड़ा है इसी के पास हार पड़ा है, लगता है चोर यही है, यह ध्यान लगाने का नाटक कर रहा है। सैनिकों ने कुमार वारिषेण को पकड़ लिया और बंदी बनाकर के महाराज श्रेणिक के पास ले गए।

राजा श्रेणिक के समक्ष कहा महाराज! नगर में आजकल चोरियाँ बहुत हो रहीं हैं, चोर पकड़ में नहीं आ रहा था, आज चोर पकड़ में आ गया है। किंतु महाराज! आपसे कहते हुए हमें डर लग रहा है कि उल्टा आप हमें ही दण्ड न दे दो। क्यों क्या हुआ? राजन्! आप तो न्यायप्रिय हैं, प्रजा पालक हैं, दयालु हैं, हम क्या करें, आपकी आज्ञा हो तो चोर को छोड़ दें, हो सकता है हमसे कोई भूल हुई हो।

राजा श्रेणिक ने कहा-जो चोर है उसे छोड़ा नहीं जा सकता। बताओ तो सही कौन है वह चोर? वारिषेण को सामने लाया गया और कहा-महाराज यह और कोई नहीं आपका ही पुत्र है। यही चोर है, यह धर्मध्यान करने का नाटक करता है, यह हार इसके पास पाया गया। राजा श्रेणिक ने कहा-मैं सत्य को बड़ा मानता हूँ। चोर कोई भी हो, यदि चोरी इसने की है तो इसे भी दण्ड दिया जाएगा। वारिषेण से पूछा-क्या तुमने वास्तव में चोरी की है? वारिषेण ने कुछ नहीं कहा, सोचा मेरे पूर्वकृत कर्म का उदय है, यदि इस समय मैं कहता हूँ कि

मैंने चोरी नहीं की तो पिता जी मुझे क्षमा कर देंगे जिससे प्रजा में यही संदेश जाएगा कि अपना बेटा था इसलिए छोड़ दिया, हमने तो रंगे हाथों पकड़ा था इसके पास हार भी था। पिता जी से कहूँ तो भी गलत होगा, नहीं कहूँगा तो भी गलत होगा। इसीलिए जो मेरे भाग्य में है पूर्व में जो मैंने किया होगा उसका फल तो मुझे भुगतना ही पड़ेगा। और अपने मन में संकल्प ले लिया कि पूर्व में मैंने जो कर्म किया था उसका फल भोगने को तैयार हूँ। महाराज श्रेणिक ने वारिषेण को फाँसी की सजा सुना दी। कुमार विचार करता है, मैंने संसार की लीला देख ली, संसार में न कोई किसी का पिता है, न माँ है, न कोई किसी का भाई है, न बंधु है, सब लोग मेरे बारे में जानते हैं कि चोरी करना तो दूर की बात कोई चोरी करे उसकी मैं प्रशंसा भी नहीं करता। पाँच अणुव्रतों का पालन करने वाला, आज मेरे ऊपर उपसर्ग आ गया है। मैं तो विवाह ही नहीं करना चाहता था, जबरन मेरी शादी कर दी। अब जब पिता जी ने फाँसी की सजा घोषित कर ही दी है, अब मैं संकल्प लेता हूँ यदि मैं इस उपसर्ग से बच गया तो जीवन में मैं कर पात्र में ही आहार लूँगा, मुनिदीक्षा ले लूँगा।

वारिषेण को महाराज श्रेणिक की आज्ञानुसार फाँसी की सजा देने के लिए ले जाया गया, जैसे ही फाँसी के फन्दे पर खड़ा किया, फाँसी अपने आप टूट गई वहाँ पर रत्नों से जड़ित स्वर्ण का सिंहासन बन गया और वारिषेण उस स्वर्ण सिंहासन पर बैठ गए, आकाश से देवों ने पुष्पों की वर्षा कर दी। धर्मात्मा पर ऐसा कष्ट हो तो देवों का आसन भी कम्पायमान हो जाता है। देवों ने आकर उनकी पूजा की और दिव्य रत्नादि की भेंट चढ़ाकर के जय-जयकार करने लगे। महाराज श्रेणिक अपने ही पुत्र से क्षमा माँगने लगे। हे पुत्र! मुझे क्षमा कर दे मैंने सत्य का निर्णय लिए बिना ही, कोतवाल आदि के कहने पर तुम्हें सजा दे दी, मुझे क्षमा कर देना। वारिषेण ने कहा-पिता जी गलती आपकी नहीं थी, मेरे पूर्वकृत कर्म का उदय था जो उदय में आकर फल देकर चला गया। ठीक है पुत्र, अब महलों में चलो। नहीं पिता जी, क्षमा करो मैं नियम ले चुका हूँ, अब मैं करपात्र में ही आहार ग्रहण करूँगा। और वारिषेण कुमार ने भगवान् महावीर स्वामी जी के समवसरण में जाकर दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

महानुभाव! अचौर्यव्रत में जिस तरह वारिषेण कुमार प्रसिद्ध हुए ऐसे और भी महान् पुरुष हुए जिन्होंने अचौर्य अणुव्रत का पालन करके उत्तम गति को प्राप्त किया, आप भी अचौर्याणुव्रत का पालन करें व उत्तम गति को प्राप्त करें।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत में प्रसिद्ध वणिक् पुत्री नीली की कथा

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरिचत रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में पंचाणुव्रतों में प्रसिद्ध पुरुषों की कथा देख रहे हैं। पूर्व में अहिंसा, सत्य व अचौर्य अणुव्रत में प्रसिद्ध यमपालचाण्डाल, धनदेव व वारिषेण कुमार की कथाओं को देखा। आज ब्रह्मचर्य अणुव्रत के संबंध में चर्चा करते हैं।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत क्या है, इसकी आवश्यकता क्यों है, इसके पालन करने से क्या लाभ है, पालन न किया जाए तो क्या हानि है, इस संबंध में विचार विमर्श करना भी आवश्यक है। 'ब्रह्मचर्य' दो शब्दों से मिलकर बना है ब्रह्म-आत्मा, चर्य-चर्या करना। अपनी आत्मा में रमण-विचरण करना। व्यक्ति जब अपनी आत्मा में विचरण करता है तब पर पदार्थों से विरक्त होता है। जो भी स्त्री या पुरुष जब तक दूसरों में आसक्त-लीन रहते हैं तब तक ब्रह्मचर्यव्रत की निर्दोष साधना नहीं कर पाते। और जो व्यक्ति घर में आसक्त है वह अपने मोह को तोड़ने में भी असमर्थ होता है। जब तक ये जीव पर पदार्थों में चाहे चेतनमय पदार्थ हैं या अचेतनमय; उनमें लीन रहता है, उनका भोग-उपभोग करता है तब तक उसका मन धर्मध्यान में नहीं रहता, उसका मन केवल भोगों की ओर बार-बार जाता है।

ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करने से वह जीव अशुभ कर्मों का बंध कम करता है। अब्रह्म का सेवन करने से पाप कर्म का बंध होता है। कोई व्यक्ति अपने जीवन में भले ही कोई और पुण्य कार्य कर पाए या न कर पाए, अकेले ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करने से वह पंचमकाल का मनुष्य-तिर्यंच भी देव अवस्था को प्राप्त कर सकता है। लौकान्तिक देव प्रवीचार से रहित होते हैं, तीर्थंकरों के वैराग्य के समय वैराग्य की अनुमोदना करने आते हैं वे नियम से अगले भव से मोक्ष जाते हैं। और भी ऐसे कई साधक देखे जो भले ही कुछ त्याग न कर पाएँ; यदि अकेले ब्रह्मचर्य की साधना भी कर लेते हैं तब भी वे साधु-संन्यासी, संत-महात्मा गिने जाते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना न करने वाला व्यक्ति दुर्गति का पात्र हो सकता है किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करने वाला व्यक्ति कदापि दुर्गति का पात्र नहीं हो सकता। जिसने भी यह साधना की है चाहे पुरुष है या स्त्री पूरे जगत् ने उनकी पूजा की, उनकी अर्चना-प्रशंसा एवं सत्कार किया है।

ब्रह्मचर्य व्रती का सम्मान करने वाला व्यक्ति स्वयं सदाचार की प्रेरणा प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य से च्युत हुआ व्यक्ति लोकनिंदा को प्राप्त होता है। अब्रह्म का सेवन करने से शरीर

में अनेक प्रकार के रोगों के होने की संभावना रहती है। शारीरिक शक्ति क्षीण होने से शरीर के अंदर विद्यमान श्वेत रुधिर कणिकाओं का अभाव हो जाता है, रक्तरुधिर कणिकाएँ वृद्धि को प्राप्त होती है इसके कारण व्यक्ति असमय में वृद्ध हो जाता है। उसके शरीर में अनेक रोग लग जाते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला व्यक्ति 100 साल का भी हो जाए तब भी उसके शरीर में उत्साह होता है, चेहरे पर ओज-तेज-कान्ति होती है। और जो अब्रह्म का ज्यादा सेवन करता है वह 50 वर्ष का होने से पहले ही बूढ़ा हो जाता है, वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य महाव्रत की साधना न कर सको तो कम से कम ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन तो करना चाहिए, वह भी न कर पाए तो ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करें।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करने वाला व्यक्ति अपने मन को शुद्ध रख पाता है। उसका मन चंचल नहीं होता, उसका मन धर्मध्यान में शीघ्र लग सकता है, वह पूजा भक्ति में अपना मन लगा सकता है किन्तु जो ब्रह्मचर्य व्रत की साधना नहीं कर सकता उसका मन न स्वाध्याय में लगता है, न णमोकार मंत्र की जाप लगाने में लगता है, न कोई व्रत-उपवास आदि में लगता है और न कोई अच्छे कार्य करने में मन लगता है, धर्म करने से उसे विरक्ति सी हो जाती है। आप देखना—जो व्यक्ति भोगों में जितना आसक्त होगा वह धर्म से उतना विरक्त होगा। जो भोगों से विरक्त होगा फिर उसका मन धर्म की ओर समर्पित हो जाएगा, फिर वह भगवान् की पूजन-अभिषेक का भाव भी रखता है, जाप भी लगाएगा और वह अपने मन को निर्मल बनाने में भी समर्थ होता है।

अब्रह्म ऐसी गंदगी है जिससे चित्त इतना गंदला हो जाता है कि अन्य किसी प्रकार से साफ ही नहीं किया जा सकता है। और ब्रह्मचर्य एक ऐसी निर्मलता-पवित्रता है कि जिसके माध्यम से चित्त विशुद्ध होता है इसीलिए आचार्यों ने कहा-**'तिलोए पुज्जं बंभं'** ब्रह्मचर्य तीनों लोकों में पूज्यनीय होता है। **'सया णिंदया अबंभं'** अब्रह्म सदैव निन्दनीय अवस्था को प्राप्त होता है। जब तक कन्या अक्षता होती है, जब तक उसका ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं होता तब तक लोग उसके पैर पूजते हैं, लोक व्यवहार में उसका निमंत्रण करते हैं। बालक भी जब तक शादी नहीं की तब तक लौकान्तिक देव बन सकता है, विवाहोपरांत नहीं बन सकते। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने 64वीं कारिका में पंचाणुव्रतों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम बताए।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत में नीलीबाई का नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। यूँ तो और भी अनेक उदाहरण हैं। जो सतियाँ हुईं उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत की साधना की, जीवन में कितने भी उपसर्ग आए किन्तु उन्होंने उन उपसर्गों को समता से सहन किया। अपने पूर्वकर्म का उदय मानकर उन प्रतिकूलताओं में भी अपने शीलव्रत को भंग नहीं किया। चाहे वह सुरसुंदरी हो, चाहे द्रोपदी हो, चाहे सती सीता हो, मनोरमा हो या और भी अनेक श्रेष्ठ नारियाँ इस भारतभूमि पर हुईं, लोक उन्हें आज भी श्रद्धा से स्मरण करता है। यहाँ नीली बाई जो शीलव्रत में प्रसिद्धि को प्राप्त हुई उसकी कथा कहते हैं–

नीलीबाई कथा प्रारंभ

इस भारतवर्ष में लाट देश के भृगुकच्छ नगर में राजा वसुपाल रहता था। वह बड़ी न्याय-नीति से राज्य का संचालन करता था। वह पराक्रमी, सत्यवादी, धर्मी एवं प्रजावत्सल राजा था। वह अपने कर्त्तव्य पालन करने में सदैव तत्पर रहता था। उसी राजा वसुपाल के राज्य में एक जिनदत्त नाम का श्रेष्ठी रहता था, उसकी भार्या का नाम जिनदत्ता था, इन दोनों के अत्यंत रूपवती नीली नाम की पुत्री थी। वह बाल्यअवस्था से ही बड़ी धार्मिक थी। जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करने में, उनकी पूजा-भक्ति करने में, णमोकार मंत्र की जाप करने में उसका बहुत मन लगता था। नगर में आए साधुओं की आहारादि से वैय्यावृत्ति करना, स्वाध्याय करना उसकी रुचि थी।

एक दिन नीली बाई मंदिर में कायोत्सर्ग से खड़ी थी, उसके चेहरे पर अमिततेज था, उसके चेहरे को कोई देखे तो देखता ही रह जाए, निःसीम रूप राशि की खान ही थी। उसने पूर्व में कोई पुण्य कार्य किया होगा, आर्यिका माताजी की वैय्यावृत्ति की होगी, औषधिदान दिया होगा, जिसके प्रभाव से उसने अत्यंत सुंदर रूप प्राप्त किया। जब वह कायोत्सर्ग में संलग्न थी उसी समय उस नगर का एक दूसरा श्रेष्ठी सागरदत्त वहाँ आया। वह यद्यपि मंदिर तो आता-जाता नहीं था क्योंकि वह जैन धर्म को नहीं मानता था। वह बौद्धधर्म को मानने वाला था, किंतु एक दिन अचानक घूमते हुए वह अपने मित्र प्रियदत्त के साथ वहाँ आया और नीली को कायोत्सर्ग में खड़ा देख पूछा, क्या यह कोई देवी की मूर्ति है? किन्तु यह तो श्वांस लेती दिखाई दे रही है या कोई देव कन्या है। उसके मित्र ने कहा-न तो ये देव कन्या है और न ही कोई मूर्ति है, यह अपने नगर सेठ जिनदत्त की पुत्री नीलीबाई है। यह अप्रतिम सौंदर्य से युक्त है, इसका

रूप लावण्य देवों के द्वारा भी प्रशंसनीय है। सागरदत्त ने कहा मित्र! मुझे किसी भी तरह यह कन्या पत्नी के रूप में प्राप्त हो। मित्र ने कहा–इस बात को तुम भूल ही जाओ, यह कन्या तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकती, ये कन्या व इसका पिता कभी भी इस विवाह के लिए स्वीकृति नहीं देंगे, क्योंकि ये जैन हैं, वह जिनधर्म की सच्ची अनुगामिनी है, किसी अन्यधर्म में इसके पिता इसका हाथ नहीं देगा।

प्रियदत्त के मुख से यह बात सुनकर सागरदत्त ने अपने पिता से कहा–पिता जी! मुझे वह कन्या चाहिए। पिता ने कहा–ठीक है यदि जिनदत्त अपनी कन्या जैन कुल में देगा तो हम जैन बन जाते हैं। समुद्रदत्त व उसका पुत्र सारगदत्त कपट से जैनधर्मावलम्बी बन गए और उसी मंदिर में जाकर पूजा–भक्ति करने लगे। कुछ दिन बाद उन्होंने प्रियदत्त के माध्यम से जिनदत्त श्रेष्ठी के यहाँ समाचार भेजा कि वे नीली को चाहते हैं। जिनदत्त ने सोचा मेरी पुत्री पुण्यवान् है जो ऐसे घर से रिश्ता आया है, लड़का भी अच्छा है, जिनधर्म को मानने वाला है। अतः जिनदत्त ने विवाह प्रस्ताव स्वीकार किया व उनका विवाह करा दिया।

विवहोपरांत समुद्रदत्त व सागरदत्त जैनधर्म को छोड़कर अपने असली रूप में आ गए व नीलीबाई को परेशान करने लगे। उस पर दबाव डाला गया कि तुम जैनधर्म को छोड़कर हमारे धर्म को स्वीकार करो, हमारे गुरु बड़े ज्ञानी–ध्यानी–तपस्वी हैं तुम उनकी संगति करो। एक दिन समुद्रदत्त ने अपने गुरुओं को घर पर बुलाया और भोजन कराया। नीली ने उन्हीं गुरुओं की एक–एक जूती को उठवाकर उन्हीं का भोजन बनाकर उन्हें खिलाया। जब वे जाने को हुए तो पूछा हमारे खड़ाऊँ कहाँ हैं। तो नीली ने कहा–आप तो ज्ञानी–ध्यानी हैं आप अपने ज्ञान से जान लीजिए और नहीं जान सकते तो आप सभी वमन कीजिए आपकी जूतियाँ आपके पेट में ही स्थित हैं, वे बाहर निकल आएँगी। इस घटना से ससुराल पक्ष के लोग नीली से बहुत रुष्ट हो गए। तदनंतर नीली की ननद ने क्रोधवश उस पर परपुरुष के संसर्ग का झूठा दोष लगाया। जब इस दोष की प्रसिद्धि सब ओर फैल गई तब नीली ने जिनेन्द्रप्रभु के आगे प्रण लिया यदि इस दोष से मेरी निवृत्ति होगी तभी में आहारादि में प्रवृत्त होऊँगी, अन्य प्रकार नहीं। तदनंतर क्षोभ को प्राप्त हुए नगर देवता ने रात्रि में आकर नीली से कहा–हे महासति! इस तरह प्राणत्याग मत करो, तू शीलव्रती है, हम तेरे शील से प्रभावित हैं, इस नगर में एक परीक्षा होगी तू उस परीक्षा में अग्रणी रहेगी, चिंता न कर।

उसी रात को उस नगर देवता ने राजा को स्वप्न दिया कि नगर के सब प्रधानद्वार कीलित हो गए हैं, वे द्वार किसी महापतिव्रता स्त्री के बाएँ चरण के स्पर्श से खुलेंगे, ऐसा कहकर वह

नगर देवता प्रधानद्वारों को बंद करके बैठ गया। प्रातःकाल हुआ, नगर के प्रधानद्वार को कीलित देख राजा को रात्रि के स्वप्न का स्मरण हुआ और नगर की सभी स्त्रियों के पैरों से द्वारों की ताड़ना लगाई। परन्तु किसी भी स्त्री के स्पर्श से द्वार नहीं खुले। पुनः नीलीबाई को भी वहाँ ले जाया गया तो ज्यों ही पाँव का अंगूठा टेका त्यों ही द्वार खुल गया। नगर में जय-जयकार हो गई। राजा-मंत्री-नगरसेठ आदि सभी ने उसके शील की प्रशंसा की, देवों ने आकर उसकी पूजा की। महानुभाव! इस प्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रत में वह नीलीबाई प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। यह कथा इस प्रकार संक्षेप में यहाँ कही गई। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत में प्रसिद्ध जयकुमार की कथा

महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की 64 वीं कारिका का व्याख्यान देख रहे हैं जिसमे पाँच अणुव्रतों में प्रसिद्ध पाँच महानुभावों की प्रासंगिक कथा को देख रहे हैं। चार अणुव्रतों में क्रमशः यमपाल चाण्डाल, धनदेव श्रेष्ठी, राजकुमार वारिषेण व श्रेष्ठी पुत्री नीली बाई की कथा को देखा अब परिग्रहपरिमाण अणुव्रत में जयकुमार की कथा प्रासंगिक है।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे अनादिकाल से थे, हैं और आगे भी रहेंगे। पुण्य पुरुष पुण्य पदार्थों का भोक्ता होता है, पापिष्ठ जीव अनिष्टकारक पदार्थों को भोगते है। तीन लोक में जितने पदार्थ हैं वे सभी तो किसी एक जीव को प्राप्त होते नहीं, अनंत जीवों को अपने-अपने कर्म से प्राप्त होते हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपने परिग्रह का परिमाण नहीं करता है तब तक उसे संसार में विद्यमान चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह रखने का दोष लगता है। जब वह परिग्रह की मर्यादा कर लेता है कि मैं इतने चेतन-अचेतन पदार्थ रखूँगा तब उसने जितने पदार्थ की मर्यादा की है तत्संबंधी परिग्रह का ही आस्रव होता है शेष परिग्रह का नहीं।

आचार्यों ने दस प्रकार के परिग्रह बताए-क्षेत्र, वास्तु, सुवर्ण, हिरण्य, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड। इस बाह्य परिग्रह में सभी को अपनी मर्यादा कर लेनी चाहिए। मैं अपने जीवन में इतने खेत रखूँगा, इतना सोना-चाँदी धन आदि रखूँगा, इतने द्विपदधारी नौकर आदि रखूँगा, इतने चतुष्पद गाय-घोड़ा-भैसा आदि जानवर रखूँगा, इतने वस्त्र व इतने बर्तन रखूँगा, इतने वाहन, आसन, शय्या आदि रखूँगा आदि-आदि सभी की मर्यादा कर लें। मर्यादा करने से त्याग के बाहर वस्तु संबंधी आस्रव आपको नहीं होगा। जितने की मर्यादा की है उतने ही परग्रिह में राग-द्वेष मोह होने से तत्संबंधी ही पाप का आस्रव होगा शेष का आस्रव छूट जाएगा।

गाय के गले में रस्सी पड़ी होने से वह गाय वहीं तक जा सकती है। वह अन्य किसी के खेत को उजाड़ नहीं सकती। जब वह किसी का खेत नहीं उजाड़ेगी को दण्डे भी नहीं खाएगी। यदि आगे जाएगी तो खेत उजाड़ सकती है, उसका दण्ड/कुफल भी भोग सकती है, ऐसे ही हमारी आत्मा जितना अल्प परिग्रह रखती है, अल्पारंभ करने वाला व्यक्ति मनुष्यआयु को प्राप्त होता है, अल्पारंभ-परिग्रह धारण करने वाला व्यक्ति देवायु को प्राप्त होता है और बहु आंरभ-परिग्रह धारण करने से नरकगति को प्राप्त होता है और उसमें छल-कपट की प्रधानता हो तो तिर्यंच आयु को प्राप्त होता है।

महानुभाव! परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का पालन करने वाले अनेक श्रावक और श्राविका हुए। प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करने पर ज्ञात होता है कि तिर्यंचों ने भी परिग्रह का परिमाण किया। हाथी आदि जीवों ने भी पाँच अणुव्रतों का पालन किया। मनुष्य तो बुद्धिजीवी है, वह तो चारों गति के जीवों में सबसे ज्यादा श्रेष्ठ है, विचार कर सकता है, चिंतन कर सकता है। इसके पास स्वस्थ-स्वच्छ मन है उससे विचार करने पर सातिशय पुण्य का अर्जन किया जा सकता है, पाप से बचा जा सकता है, व्रत आदि धारण किए जा सकते हैं। ये व्यवस्था तिर्यंचों, नारकी व देवों में नहीं है। क्योंकि नारकी और देव व्रती बन नहीं सकते, तिर्यंच अणुव्रती बन सकते हैं किन्तु उनके पास इतना विचार नहीं है। मालिक जैसा उनके साथ व्यवहार करता है उन्हें मजबूरी में वह सब सहन करना पड़ता है । सर्दी-गर्मी-बरसात को सहना, बोझा ढोना, मार सहन करना आदि तिर्यंचों के दुःख हैं।

वह पशु बहुत पराधीन है किन्तु मनुष्य पुण्य के उदय से अच्छे कुल में पैदा हुआ, सत्संगति प्राप्त हुई, उत्तम शरीर है, बुद्धि भी अच्छी है, उसे देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य भी मिल गया और इतना होने के बावजूद भी अपने आपको परिग्रह की कीचड़ से न निकाले तो यह उसकी मूर्खता है। अन्य कोई बड़े-बड़े व्रत-संयम पालन न कर सके कोई बात नहीं, प्रतिदिन अभिषेक नहीं कर पाओ, प्रतिदिन दान न दे पाओ, जाप न कर पाओ, पर्वों में उपवास न कर पाओ, स्वाध्याय न कर पाओ तो कोई बात नहीं किन्तु परिग्रह की मर्यादा तो कर सकता है। इसमें क्या बिगड़ता है, इतना पुण्य तो सहजता में प्राप्त किया जा सकता है, इस पुण्य के माध्यम से वह एक दिन मोक्षमार्गी बन सकता है।

महानुभाव! जिसने दस प्रकार के परिग्रह का परिमाण किया है वह अपने व्रतों में अतिचार नहीं लगाता। इस प्रकार के परिग्रह का परिमाण करने वाले अनेक पुरुष हुए। यहाँ पर आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जयकुमार की प्रसिद्धि की बात कहते हैं। जयकुमार ने परिग्रहपरिमाण व्रत का पालन करके देवों द्वारा पूजा को व अतिशय को प्राप्त किया, साथ ही सम्मानपूर्वक दिव्य रत्नों को प्राप्त किया व लोक में प्रशंसा को प्राप्त किया। उनकी कथा इस प्रकार है–

जयकुमार कथा प्रारंभ

प्रथम धर्मप्रवर्तक तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान् को प्रथम आहार देने वाले या यूँ कहें दान तीर्थ प्रवर्तक राजा सोमप्रभ व राजा श्रेयांस जो कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी राजा थे। राजा सोमप्रभ व रानी लक्ष्मीमती का पुत्र था जयकुमार, यह वही जयकुमार है जो भरतचक्रवर्ती का सेनापति हुआ, जिसे मेघेश्वर नाम दिया गया। जयकुमार मेघेश्वर ने

बनारस के राजा की पुत्री सुलोचना को प्राप्त किया। स्वयंवर रीति से सुलोचना ने वरमाला जयकुमार के गले में डाली क्योंकि स्वयंवर की रीति है जिसमें कन्या स्वयं अपना वर चुनने की अधिकारी होती है। जयकुमार सुलोचना बड़े धार्मिक थे, ये पूर्व भव से ही पति-पत्नी के रूप में चले आ रहे थे, यहाँ इस भव में भी नियोगवश पति-पत्नी बने। अकृत्रिम जिनालयों की वंदना करना, कैलाश पर्वत की वंदना करने में उनका मन लगता था।

एक बार विद्याधरों के भवों की कथा के बाद उन्हें अपने पूर्व भव का ज्ञान हो गया कि मैं पूर्वभव में हिरण्यवर्मा और मेरी पत्नी जो आज सुलोचना है यह पूर्व में प्रभावती नाम की मेरी विद्याधरी थी। विद्या के बल से दोनों ने अपना रूप बदला और विद्याधर युगल का रूप अर्थात् हिरण्यवर्मा व प्रभावती का रूप बनाकर मेरुपर्वत की वंदना करने गए तथा कैलाश पर्वत पर भरतचक्रवर्ती के द्वारा प्रतिष्ठित जिनालयों की वन्दना करने आए।

उसी समय सौधर्म स्वर्ग में सुधर्मासभा चल रही थी, उस सभा में प्रसंग आया कि परिग्रह से विरक्त कौन श्रावक है। जिसने परिग्रहपरिमाण का व्रत लिया है और उसमें अतिचार भी नहीं लगा रहा। सौधर्मइन्द्र ने कहा वर्तमानकाल में कुरुजांगलदेश, हस्तिनागपुर नगरी का राजा जयकुमार व रानी सुलोचना अपने परिग्रहपरिमाण व्रत का पालन कर रहे हैं। रतिप्रभ देव ने कहा–ऐसे कैसे हो सकता है जो भरतचक्रवर्ती का सेनापति हो उसके पास तो अपार धनसम्पत्ति होगी और कई रानियाँ भी होंगी, उसका मन लोभी भी होगा रानियों के लिए। सौधर्मइन्द्र ने कहा-नहीं, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और परिग्रहपरिमाण व्रत का निष्ठा से पालन कर रहा है। रतिप्रभ देव ने कहा मैं उसकी परीक्षा लेने जाऊँगा।

रतिप्रभदेव उनकी परीक्षा लेने स्वर्ग से आया और एक कन्या का रूप बनाकर जयकुमार के सामने पहुँचा व निवेदन किया आप बड़े धर्मात्मा हैं, कृपालु हैं, दयादृष्टि धारक हैं व पूर्वपुण्य के माध्यम से समर्थ हैं। आप सभी पर कृपा करते हैं मुझ पर भी दया करो व कृपा करो। जयकुमार ने कहा-आप पहले अपनी बात कहो, फिर विचार करते हैं कि दया-कृपा के पात्र हो या नहीं। उसने कहा-सुलोचना के स्वयंवर के समय जिस विद्याधर राजा नमि से आपका युद्ध हुआ था, उस युद्ध में जीतकर नमि मुझे ले गया और मैं उसकी अंगना बनी किन्तु मैं उसे पसंद नहीं करती। मैंने शुरु से ही आपको अपना जीवनसाथी माना है, मैं आज भी आपको मानती हूँ। मेरे साथ ये तीन कन्याएँ हैं यह भी आपको अपना पति मानना चाहती हैं। आप हमें स्वीकार करो व पूरा राज्य स्वीकार करो। जयकुमार ने कहा-यह तो नहीं हो सकता, असंभव है। मतलब? मतलब यह कि मैं आपको स्वीकार नहीं कर सकता और ना ही राजा नमि का

राज्य स्वीकार कर सकता। मैंने एक पत्नी व्रत लिया है, वह मेरे पास है, उसके अतिरिक्त मुझे किसी की आवश्यकता नहीं। तीन लोक में चाहें कितनी ही सुंदर देवांगनाओं सम सुंदर स्त्रियाँ हों मैं उन्हें नहीं चाहता। राज्य वैभव मुझे मेरे पुण्य से प्राप्त हुआ है वह मेरे लिए पर्याप्त है, मैं किसी के राज्य की इच्छा नहीं करता।

वह देव जो कन्यारूप में आया व तीन कन्या साथ में लाया था वह कहने लगी–यदि आपने मुझे स्वीकार नहीं किया तो आप नहीं जानते कि इसका दुष्परिणाम क्या हो सकता है। जयकुमार ने कहा–जो भी हो, मैंने परिग्रह का परिमाण किया है मैं उस मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता। मैं आपसे पुनः कहती हूँ कि आप मुझे स्वीकार करो, इसी मैं आपकी भलाई है, आपने मेरा तिरस्कार किया व राज्य भी नहीं स्वीकारा तो इसका आपको बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ेगा। जयकुमार ने कहा–मुझे इसकी परवाह नहीं है, मैं धर्म को, अपने व्रत–संयम को नहीं छोड़ सकता चाहे मृत्यु को ही मुझे गले क्यों न लगाना पड़े। उस स्त्री ने अपनी विद्या के बल से जयकुमार पर उपसर्ग किया, किन्तु जयकुमार किंचित् भी विचलित नहीं हुए, समता से उसे सहा। जब वे चलायमान नहीं हुए तब वह स्त्री अर्थात् रतिप्रभदेव अपने असली रूप में आते हैं, उनके चरणों में प्रणाम करते हैं व कहते हैं–महोदय! आपके परिग्रहपरिमाण व्रत की चर्चा सौधर्म स्वर्ग की सुधर्मा सभा में सौधर्म इंद्र के मुख से सुनी थी। जैसा सुना वैसा ही आपको पाया। धन्य है आपका परिग्रहपरिमाण व्रत। वह देव जयकुमार–सुलोचना की व्रत के प्रति निष्ठा देखकर कृतकृत्य हुआ उनकी पूजा करता है, स्तुति करता है, पुष्पवृष्टि करता है, रत्नथाल भेंट करता है। जयकुमार–सुलोचना कुछ समय तक राज्य अवस्था में रहे पुनः संसार–शरीर–भोगों से विरक्त होकर दीक्षा को स्वीकार किया। दीक्षा उपरांत तपस्या की। भगवान् ऋषभदेव की धर्मसभा में जयकुमार बाहत्तरवें गणधर के रूप में हुए व मोक्ष को प्राप्त किया। सुलोचना ने भी आर्यिका व्रतों को स्वीकार किया व स्त्री पर्याय का छेद कर वह भी स्वर्ग में देव अवस्था को प्राप्त हुई।

महानुभाव! यह परिग्रहपरिमाण व्रत लगता छोटा सा है किन्तु परीक्षा छोटे–छोटे नियमों की भी होती है, बड़े–बड़े नियमों की भी होती है। आप परिग्रहपरिमाण अणुव्रत को स्वीकार करें, निष्ठा से पालन करें यही आप सभी के लिए मंगल आशीर्वाद है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

हिंसादि पाँच पापों में प्रसिद्ध व्यक्ति

धनश्री सत्यघोषौ च तापसाऽऽरक्षकावपि।
उपाख्येयास्तथाश्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम्॥65॥

अन्वयार्थ–पाँच पापों में **धनश्री सत्यघोषौ** – धनश्री, सत्यघोष, **च** – और **तापसारक्षकौ** – तपस्वी व कोतवाल **अपि** – तथा **श्मश्रुनवनीतः** – श्मश्रुनवनीत **यथाक्रमम्** – क्रमशः **उपाख्येया** – प्रसिद्ध हुए।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में आचार्य महोदय ने श्रावकों के पाँच अणुव्रत, उनके अतिचारों का स्वरूप, पाँच अणुव्रतों के पालन करने का फल एवं पाँच अणुव्रतों में प्रसिद्ध लोगों की कथाएँ बताईं। अब इनके विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाँच पाप ही नहीं वरन् पाप के मार्ग हैं, ये पंक की नालियाँ हैं जिनके माध्यम से पाप आता है। जिस जीव ने पाँच पाप में से एक पाप का भी सहारा लिया उस पाप के फल से वह इस लोक में भी दुःखी हुआ और परलोक में भी दुःख को प्राप्त होगा। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने 65वीं कारिका में पाँच पापिष्ठ जीवों के नाम लिखे। ये पाँच हिंसादि पापों में प्रसिद्ध हुए। ऐसे तो अनेक महानुभाव हुए किन्तु आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने इन पाँच व्यक्तियों की वार्ता विशेष दी कि एक-एक पाप को करने वाले ये पाँच महानुभाव किस प्रकार दुःख को प्राप्त हुए। आचार्य महोदय यहाँ यथाक्रम से पाँच पापों में कुख्यात व्यक्तियों के नाम बता रहे हैं। हिंसा करने में कुख्यात हुई धनश्री नाम की एक स्त्री, झूठ बोलने में सत्यघोष नाम का ब्राह्मण, चोरी करने में प्रसिद्ध हुआ एक तापसी, अब्रह्म का सेवन करने में प्रसिद्ध हुआ एक कोतवाल और परिग्रह के प्रति तीव्र लालसावान् लोभी हुआ श्मश्रुनवनीत।

यहाँ प्रथमतः हिंसा में प्रसिद्ध धनश्री के बारे में बता रहे हैं। यूँ तो हिंसा करने में अनेक स्त्री व पुरुष हुए जो जीवहिंसा के पाप से सप्तम नरक में या छटवें, पाचवें, चौथे, तीसरे, दूसरे व पहले नरक मे गए अथवा तिर्यंच की निम्नतर योनियों में उत्पन्न हुए। हिंसा करने वाला व्यक्ति क्रूरकर्मा, चण्ड, कषाय की तीव्रता से युक्त होता है, वह कृष्ण लेश्या वाला होता है। अधिकांश हिंसा करने वाले जीव नरक में ही गए। धनश्री कौन थी, इसने हिंसा कैसे की, इस संबंध में देखते हैं।

धनश्री की कथा

इसी आर्यावर्त में एक लाट नाम का देश प्रसिद्ध हुआ। वहाँ भृगुकच्छ नामक एक नगर था, उस नगर में लोकपाल नाम का राजा राज्य करता था। यद्यपि राजा न्यायप्रिय, सत्यवादी,

अहिंसा में निष्ठा रखने वाला, प्रजा में स्नेह-वात्सल्य रखने वाला था। न्यायनीति का पालन स्वयं करता था व अपनी प्रजा में भी न्यायनीति की घोषणा करता था ताकि सभी न्याय का पालन करें, नीतियों के मार्ग पर चलें, अनीतियों के मार्ग पर कोई न चले। किन्तु फिर भी देश में कुछ जीव पुण्यात्मा भी होते हैं तो कई पापी जीव भी होते हैं।

उस भृगुकच्छ नगर में धनपाल नाम का श्रेष्ठी था, वह उदारमना, निर्धनों की सहायता करने वाला एवं धर्मात्मा, निष्ठावान् पुरुष था। इस धनपाल का विवाह धनश्री नाम की एक कन्या के साथ हुआ। दोनों अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत कर रहे थे। विवाह के कई वर्ष पश्चात् भी उन्हें वंश की वृद्धि करने वाला कोई पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। स्त्री बड़ी भावुक होती है, पुरुष फिर भी समझदार होता है। धनपाल उसे समझाता था कि हमें पुण्यकार्य करना चाहिए, इधर-उधर भटकने से कुछ नहीं होता है। जब भी पाप का क्षय होगा पुण्य करने से होगा, पाप करने से पाप नष्ट नहीं होते वरन् बढ़ते ही हैं। हमने पूर्व में कोई पाप किया होगा, किसी का पुत्र वियोग किया होगा या किसी का वंश नष्ट किया होगा जिससे आज हमारा वंश नष्ट हुआ जा रहा है। किन्तु फिर भी हम पूर्व के पाप को आज पुण्य साधना करके नष्ट कर सकते हैं। धनश्री का मन पुण्य कार्य में कम लगता था, अन्य कार्य में ज्यादा लगता था।

धनपाल श्रेष्ठी पुण्य कार्य में संलग्न रहता व प्रभु से कहता-हे भगवन्। यदि मुझे पुत्र रत्न की प्राप्ति होनी है, मेरा वंश चलना है तो ठीक, नहीं तो मैं आपके चरण छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। धनश्री नहीं मानी और सभी उपाय करके जब वह थक गई तो बोली-हम एक पुत्र गोद ले लेते हैं। यह सोचकर कि छोटे पुत्र को गोद लूँगी तो उसका पालन-पोषण करना पड़ेगा अतः धनश्री ने एक युवा पुत्र को गोद ले लिया। धनश्री उसका पुत्रवत् पालन करने लगी। धनपाल का पुण्य उदय आया और उसे एक पुत्र और एक पुत्री की प्राप्ति हुई। दोनों की प्राप्ति तो हुई किन्तु धनपाल अपने पुत्र व पुत्री को ज्यादा समय तक देख नहीं सका। आयुकर्म अवसान को प्राप्त हुआ और धनपाल की मृत्यु हो गई। धनपाल असमय में मृत्यु को प्राप्त हो गया। कुछ समय तो धनश्री दुःखी रही, रुदन करती रही किन्तु स्त्री की चेष्टा कौन जानता है। **'देवो न जानाति न कुतो मनुष्याः'** तारों की गति, सूर्य-चन्द्रमा की गति, नक्षत्रों की गति तो ज्योतिषी बता देते हैं कि कब सूर्य ग्रहण होगा कब चन्द्रग्रहण होगा, कब कौन सा शुभ-अशुभ समय होगा। ऐसे भी निमित्तज्ञानी हैं जो पृथ्वी में गढ़े हुए धन को बता देते हैं, ऐसे भी ज्ञानी हैं जो बता दें वर्षा कब होगी कब नहीं होगी, कब मानसून आएगा किन्तु स्त्री के चरित्र को बताने में मनुष्य तो क्या देव भी असमर्थ हैं। उसका चरित्र कैसा होता है यह कोई गारण्टी से कह नहीं सकता।

एक बालक बनारस से पढ़कर आया, पत्नी ने पूछा तुमने 12 वर्ष में क्या पढ़ा? वह बोला मैंने सब कुछ पढ़ लिया न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त आदि सब पढ़े हैं। उसकी पत्नी बहुत चतुर थी, उसने पूछा-क्या तुमने त्रिया चरित्र पढ़ा है? वह बोला त्रियाचरित्र तो मैंने नहीं पढ़ा। वह बोली जाओ पहले त्रियाचरित्र पढ़कर आओ। जब तक पढ़कर नहीं आओगे तब तक मैं तुम्हें पति के रूप में स्वीकर नहीं करूँगी। वह बेचारा गया और भटकते-भटकते एक गाँव तक पहुँचा, वह बहुत प्यासा था, उसका गला सूख रहा था, उसने देखा एक युवती कुँए पर पानी भर रही थी, उससे कहा-कृपया कर हमें पानी पिला दीजिए। युवती ने पानी पिला दिया और पूछा-तुम कहाँ जा रहे हो? वह बोला मैं त्रिया चरित्र सीखने जा रहा हूँ। अरे! तुम इतनी दूर क्यों जाते हो, मैं अभी सिखा देती हूँ। ठीक है, तुम ही सिखा दो। उस युवती ने तुरंत एक बाल्टी पानी खींचा और अपने ऊपर पानी डाल लिया, आस-पास कोई नहीं था और चिल्लाने लगी बचाओ-बचाओ! गाँव के लोग दौड़े देखा-हमारे गाँव की बिटिया है, पानी भरने गई थी, ये लड़का यहाँ खड़ा है जरूर इसने कोई हरकत की होगी। सब उसको मारने को तैयार हो गए।

उस कन्या ने कहा-ठहरो! गाँव वाले बोले क्या इसने छेड़खानी की है। वह बोली आप शान्त रहो पहले मेरी पूरी बात सुनो। लड़का घबरा गया-अब तो मेरे प्राणों की खेर नहीं, पता नहीं कैसी युवती है, त्रिया चरित्र भी नहीं सिखाया पिटवा और देगी। बालक बेचारा हाथ जोड़कर खड़ा रहा, लोगों ने पूछा-पुत्री तुम बताओ इसने क्या किया तुम्हारे साथ? वह बोली ये तो देवता है देवता। मतलब? अरे! मैं कुएँ में गिर गई थी, ये नहीं निकालते तो मैं मर जाती। लोगों ने उस बालक का खूब सम्मान किया, कहने लगे देखो! अनजान होकर भी हमारे गाँव की इज्जत बचा ली। वह कुछ नहीं बोला और सभी वापस चले गए। वह कन्या बोली-अब तुम मेरे घर चलो, तुम मेरे मेहमान हो, घर में भोजन-पानी करना।

लड़का पहले से ही डर रहा था, ये अब कुछ और न करे। उसके पीछे-पीछे घर चला गया। कन्या ने भोजन पानी कराया। वह बोला-अब जा सकता हूँ। हाँ जा सकते हो, मेरा पाठ पूरा हो गया। बोला मतलब! मतलब ये कि यही त्रिया चरित्र कहलाता है कि कौन सी स्त्री तुम्हारे प्राण बचाने तैयार हो जाए और कब कौन प्राण लेने तैयार हो जाए, जीवन में सब पर विश्वास करना किंतु स्त्री का विश्वास नहीं करना, जब तक वह आँखों के सामने है तब तक तुम्हारी है। और कहते हैं-

होंते की बहन अनहोंते का भाई, नैना पीछे नार पराई।

जिस भाई के पास धन है, बहन उसके पास जाती है और बहन जिसके पास कुछ भी नहीं तब भी भाई अपनी उस बहन के साथ खड़ा रखता है और यदि स्त्री को छोड़कर पति विदेशादि चला जाए तो वह पराई हो जाती है।

महानुभाव! ऐसे ही धनश्री ने अपना त्रिया चरित्र दिखाया। अपने पति की मृत्यु के बाद जिस कुण्डल नामक युवा पुत्र को उसने गोद लिया था उसी के साथ गलत संबंध रखने लगी। उसने सोचा मेरे पुत्र-पुत्री गुणपाल और सुंदरी मेरे कामसेवन में बाधक हैं, यदि ये न रहें तो हम इच्छानुसार विषय सेवन करेंगे। फिर क्या करना चाहिए? कुण्डल तो डर गया बोला-मैं जाता हूँ भले ही भिक्षावृत्ति करके रह लूँगा पर तुम्हारे यहाँ नहीं रहूँगा। धनश्री बोली-तुम चिंता न करो, डरो मत, मैं सब उपाय कर लूँगी। क्या करोगी? मैं अभी अपने पुत्र गुणपाल को गाय चराने के लिए जंगल में भेजती हूँ, जब यह थककर सो जाएगा तब तुम वहाँ जाकर इसको मार देना। जब ये मर जाएगा तब थोड़ा मैं रोऊंगी थोड़ा तुम भी रो लेना, फिर केवल कन्या सुंदरी बचेगी, बाद में मौका पाकर इसे भी मार देंगे पुनः हम स्वच्छन्द होकर स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति करेंगे। उसने कहा ठीक है। जब धनश्री कुण्डल को यह सब बात बता रही थी, उस समय उसकी बेटी सुंदरी इन बातों को चुपचाप सुन रही थी। वह दौड़कर अपने भाई के पास गई ओर बोली-भाई! आज माँ तुझे गाय चराने जंगल में भेजेगी और तुझे मरवा देगी। भाई ने कहा-यूँ तो मृत्यु कभी भी आ सकती है पर अच्छा हुआ तूने मुझे बता दिया।

माँ धनश्री गुणपाल के पास आई और कहने लगी-आज कुण्डल का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, तुम गाय चराने चले जाओ। वह चला गया और अपने वस्त्र उतारकर लकड़ी के ठूंठ पर टाँग दिए, दूर से ऐसा लग रहा था जैसे वह बैठा हुआ है। वह स्वयं झाड़ी के पीछे छिप गया। कुण्डल चुपचाप आया और तलवार का वार किया, वार करके वह सीधा भाग गया। वह भागा किन्तु भाग नहीं पाया गुणपाल ने पीछे से ही कुण्डल पर वार किया और कुण्डल वहाँ मृत्यु को प्राप्त हो गया। अब गुणपाल को विश्वास हो गया कि मेरी माँ गलत है, बहिन ने ठीक ही बताया था। गुणपाल शाम को गाय लेकर घर पहुँचा। जब धनश्री ने देखा गुणपाल जीवित है, कुण्डल लौटकर नहीं आया, क्या हुआ? उससे पूछा कुण्डल कहाँ है? वह बोला-क्या हुआ क्या नहीं हुआ यह मैं नहीं मेरी खून से रंगी तलवार बताएगी। धनश्री समझ गई कि इसने कुण्डल पर प्रहार किया है। उसने क्रोधित होकर गुणपाल पर प्रहार किया, यह देख सुन्दरी ने माँ पर प्रहार किया और बहुत हल्ला मच गया। गाँव के लोग निकलकर आ गए, परिणाम यह हुआ कि नगर का कोतवाल आया, सारा वृतान्त जानकर धनश्री को पकड़कर ले गया। राजा के आदेश से धनश्री का मुंह काला कराया, मुण्डन कराया और गधी पर बिठालकर पूरे नगर में घुमाया और अन्त में वह धनश्री कुष्ट रोग से पीड़ित हुई व मृत्यु को प्राप्त करके नरक आदि दुर्गतियों में गई।

महानुभाव! इस प्रकार हिंसा में प्रवृत्त हुई धनश्री इस लोक में भी निंदा को प्राप्त हुई, बड़ी असह्य पीड़ा के साथ मृत्यु को प्राप्त हुई पुनः दुर्गतियों को प्राप्त हुई। इसीलिए कभी भी हिंसा नहीं करना चाहिए, हिंसा का त्याग करना चाहिए। अहिंसा ही परम धर्म है उसे स्वीकार करना चाहिए। अहिंसा के माध्यम से ही दिव्य ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, अहिंसा से ही तीन लोक में अभय अवस्था प्राप्त होती है, अहिंसा के माध्यम से ही दिव्य स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं, अहिंसा के माध्यम से ही परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है इसीलिए सभी सज्जनों व धर्मात्मा प्राणियों को अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए, स्वप्न में भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा ही परम धर्म व शक्ति है सदैव उसी की वृद्धि करना चाहिए। हिंसक व्यक्तियों को अहिंसा का उपदेश देना चाहिए कि देखो अहिंसा का पालन करने वाले उस मृगसेन धीवर ने मछली की रक्षा करने से आगे धनकीर्ति होकर स्वर्गादि के वैभव को प्राप्त किया। आप सभी भी अहिंसा व्रत का पालन करें।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

असत्य में कुख्यात सत्यघोष की कथा

महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में देख रहे थे पाँच पापों में कुख्यात प्राणियों के नाम। पाप प्राणियों के लिए कभी भी सुखद नहीं होता। पुण्य संसारी प्राणी का सदा साथ निभाता है। पुण्य का फल सुदीर्घकाल तक सुख और शांति को प्राप्त करना है व परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति करना है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने पुण्य के फल के संबंध में लिखा-**'पुण्यफला अरिहंता'** पुण्य के उदय से अरिहंत अवस्था की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर प्रकृति भी पुण्य प्रकृति है, जो कि तेरहवें गुणस्थान में उदय में आती है। जब पुण्य जाता है तब मोक्ष को देकर जाता है। पुण्य के रहते-रहते अरिहंत अवस्था प्राप्त हो सकती है और पुण्य जाते-जाते सिद्ध अवस्था को देता है किन्तु पाप का फल नरक-तिर्यंचगति की प्राप्ति, नीच कुल की प्राप्ति, असातावेदनीय संबंधी दु:ख, दरिद्रता, विकलांग अवस्था एवं अनिष्ट के संयोग ये सभी पापकर्म के फल हैं।

आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने धवला टीका में लिखा है **'कानि पाप-फलानि?'** पाप के फल क्या हैं? नरक-तिर्यंच गति के दु:ख, इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग के दु:ख, अंगोपांग की हीनता, निर्धनता, शरीर का रोगी होना, असातावेदनीय का उदय, नीचकुल, अशुभनाम कर्म ये सब पाप कर्म के फल हैं। वहीं कहा-**'कानि पुण्य-फलानि?'** पुण्य के फल क्या हैं? तो कहा-तीर्थंकर का पद, कामदेव, चक्रवर्ती, बलभद्र का पद, इन्द्र आदि के पद एवं जीवन में शुभ व इष्ट वस्तु की संप्राप्ति, विशेष प्रकार के भोगोपभोग संबंधी वस्तुओं की प्राप्ति, सातावेदनीय, उच्चगोत्र, शुभनाम, शुभआयु इत्यादि पुण्य के फल हैं।

यहाँ पर आचार्य महोदय गृहस्थों को उनके कर्त्तव्य का उद्बोधन दे रहे हैं; इसमें प्रथमत: सम्यक्त्व की महिमा, सम्यग्ज्ञान के विषय में व सम्यक्चारित्र में पाँच अणुव्रतों की चर्चा की। श्लोक 65 में पाँच पापों का वृत्तान्त बता रहे हैं, पाँच पापों में कौन-कौन प्रसिद्ध हुआ। पूर्व में हिंसा नामक पाप में प्रसिद्ध धनश्री की कथा सुनी, आज असत्य बोलने में प्रसिद्ध कौन हुआ, उस संबंध में बता रहे हैं। यूँ तो मिथ्याभाषण करने वाले अनेक स्त्री और पुरुष हुए जिन्होंने इस भव में भी दु:खों को प्राप्त किया और परभव में दुर्गति को प्राप्त किया। सुकुमाल चरित्र में कथा आती है जब नागश्री ने व्रत लिए थे और उसका पिता व्रतों को लौटाने की बात कहता है, तब मार्ग में जाते समय एक व्यक्ति की जिह्वा का छेद किया जा रहा था, पूछने पर पता लगा कि इस व्यक्ति ने झूठ बोला इसलिए राजा ने इसे दण्ड दिया है। ऐसे अनेकों उदाहरण

आते हैं कि झूठ बोलने वाले व्यक्तियों को इस भव में कारागार की सजा, शारीरिक पीड़ा अथवा अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़े हैं। झूठ बोलने वाला व्यक्ति परभव में भी नरकादि दुर्गतियों को प्राप्त करता है। आप लोग पूजन में पढ़ते हैं–

'वच झूठ सेती नरक पहुँचा, सुरग में नारद गया।'

झूठ बोलने से राजा वसु व उसका स्फटिक मणि से जड़ित सिंहासन टूट गया और जमीन में धंस गया। राजा वसु के बारे में एक किंवदन्ती थी कि राजा वसु आकाश में अधर होकर न्याय करता है, उसकी बात सत्य और प्रमाणिक होती है। किन्तु उसने पर्वत की माँ स्वस्तिमती की बातों में आकर के कि तुम्हारे गुरु क्षीरकदम्ब कहकर गए थे कि तुम मेरा ध्यान रखोगे। आज तुम राजा बन गए हो, आप इस तरह की बात कहो जो मेरे पुत्र ने कहा है, यद्यपि गुरु ने सिखाया था कि 'अजैर्यष्टव्यं' का अर्थ तीन वर्ष का पुराना धान्य होता है, जिसमें उत्पन्न होने की क्षमता नहीं है। स्वस्तिमती ने कहा कि तुम्हें मेरे पुत्र का पक्ष लेना है अपने वचन को ध्यान रखो। राजा वसु ने मोह में आकर के पर्वत का पक्ष लिया और जैसे ही उसने कहा कि गुरु महाराज कहते थे अज का अर्थ बकरा होता है, उसकी बलि देनी चाहिए त्यों ही पहले उसका सिंहासन टूटा, दूसरी बार कहा तो नीचे धँस गया पुनः तीसरी बार कहा तो पूरा सिंहासन जमीन में धँस गया, राजा वसु मृत्यु को प्राप्त होकर के नरक की अवस्था को प्राप्त हुआ।

महानुभाव! यहाँ इसी तरह से एक कथानक सुप्रसिद्ध है। प्रायःकर यह कथानक जैनागम के अनेक ग्रंथों में वर्णित है। पद्मपुराण में, हरिवंशपुराण में और मेरुमन्दर पुराण आदि कई शास्त्रों में सत्यघोष का प्रकरण दिया है। नाम सत्यघोष कैसे पड़ा और उसने झूठ कैसे बोला इस संबंध में वृत्तान्त को देखते हैं।

सत्यघोष की कथा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र संबंधी सिंहपुर नगर में राजा सिंहसेन राज्य करता था। उस राजा की रानी का नाम रामदत्ता था। उस राजा का एक श्रीभूति नाम का पुरोहित था जो कि अपने जनेऊ में कैंची बाँधकर घूमता था और कहता था–यदि मैं भूल से भी असत्य बोलता हूँ तो मैं अपनी जीभ को काटकर फेंक दूँगा। इस तरह कपट से रहते हुए उस पुरोहित का सत्यघोष यह दूसरा नाम चल पड़ा। लोगों को उस पर विश्वास हो गया क्योंकि प्रायःकर वह लोगों के सामने सत्य ही बोलता था किन्तु उसके मन में लोभ था। कई बार वह ऐसा करता था कि जो लोग उसके पास धन गिरवी रखने आते थे उसमें से वह कुछ वस्तु बचाकर रख लेता और ज्यों कि त्यों उसकी पोटली वापस कर देता और कहता मैंने तो आपकी पोटली छुई भी

नहीं, आप जहाँ रख गए हो वहीं से उठा लो। किन्तु चालाकी से उसमें से कभी कोई रत्न निकाल लेता, कभी स्वर्ण निकाल लेता। लोग डर के मारे कुछ कहते नहीं क्योंकि वह राजा का बड़ा विश्वासी था, राजा उसे बड़ा स्नेह करते थे कि मेरे नगर से ऐसे सत्यवादी पुरोहित भी हैं इसलिए राजा ने उसका सत्यघोष नाम रख दिया था।

एक दिन पद्मखेट नगर का एक समुद्रदत्त नामक वणिक् व्यापार करने के लिए जा रहा था, उसने अपने नगर में अपनी माँ व पत्नी को छोड़ा और कहा मैं व्यापार करने जा रहा हूँ, वैश्य का कर्त्तव्य है वह अपने धन की वृद्धि करे, मैं भी अपने धन की वृद्धि करूँगा, अपने भाग्य को आजमाऊँगा। जब वह जाने लगा तो उसने सोचा यहाँ मेरी माँ और पत्नी हैं, कहीं कोई मेरे धन को लूट न ले इसलिए अपने पाँच बहुमूल्य रत्न सिंहपुर नगर में श्रीभूति ब्राह्मण यानि सत्यघोष के यहाँ गिरवी रख दिए और कहा मैं विदेश व्यापार करने जा रहा हूँ, जब लौटकर आऊँगा तब अपने रत्न वापिस ले लूँगा, मुझे विश्वास है मेरे रत्न मुझे मिल जाएँगे।

समुद्रदत्त व्यापार हेतु चला गया। विदेश में उसने बहुत सारा धन कमाया और पुनः धन कमाकर के जब उसे अपने परिवार की स्मृति आने लगी उसने सोचा अब मैं लौटकर अपने देश को जाता हूँ। समुद्रीयात्रा कर जब वह जहाज में अपना धन भरकर ला रहा था तब मार्ग में झंझावात् तूफान आया और जहाज फट गया। वह समुद्रदत्त अपने धन को तो नहीं बचा पाया, बेचारा अपने प्राणों को भी बचाने में असमर्थ महसूस कर रहा था। किंतु संयोग से जहाज का एक लकड़ी का तख्ता उसने हाथ लग गया; जिसके सहारे वह जैसे-तैसे एक किनारे पर आ गया। उसका सारा धन नष्ट हो गया, वह पागल जैसा हो गया, मैं अब क्या करूँ? बाद में सोचता है चलो कोई बात नहीं, जो भाग्य में लिखा है वह मैंने भोग लिया, मेरे पास पाँच रत्न हैं जो मैंने श्रीभूति ब्राह्मण के पास रखे हैं, उसके पास से जाकर लेता हूँ। वह सिंहपुर पहुँचा और अपने रत्न माँगने जाने लगा। वह पहुँच ही रहा था कि मार्ग में श्रीभूति ब्राह्मण ने उसे पहचान लिया, और उसे फटेहाल अवस्था में देखकर सोचने लगा यह तो अपने रत्न लेने आ गया, मुझे तो लगा ये विदेश में जाकर मर जाएगा, इसके रत्न मेरे पास रह जाएँगे, किंतु यह तो जीवित है।

श्रीभूति के मन में बुरा विचार आया और वह अपने आस-पास बैठे व्यक्तियों से कहने लगा, आज मैंने रात्रि के अंतिम प्रहर में स्वप्न देखा है कि कोई व्यक्ति प्रातःकाल आकर मुझसे लड़ेगा, मुझ पर झूठा दोष लगाएगा और मुझसे पाँच रत्न माँगेगा, ऐसा मैंने स्वप्न देखा है और कहते-कहते कहने लगा वह देखो सामने से जो व्यक्ति आ रहा है, ऐसा ही व्यक्ति

मेरे स्वप्न में आया था और देख लेना ये आकर के मुझसे 5 रत्न माँगेगा। यह पागल हो गया है, लगता है इसका जहाज फट गया है, मुझे स्वप्न में आया था, इसे देखकर वही ख्याल आ गया। तब तक समुद्रदत्त उसके पास पहुँच गया और बोला मैं विदेश गया था मैंने बहुत धन भी कमाया था, जब लौटकर आ रहा था तो मेरा जहाज फट गया, मैं निर्धन हो गया। आप मुझे मेरे पाँच रत्न वापिस कर दीजिए। श्रीभूति पास बैठे लोगों से कहता है देखो-देखो मैंने कहा था कि यह ऐसा ही कहेगा, मेरी बात सत्य हो गई, मैंने जो स्वप्न देखा था वह भी सत्य हो गया। लगता है इसका जहाज फट गया है, जिससे यह पागल हो गया है।

श्रीभूति ने कहा—माना तुम्हारा जहाज फट गया है इससे तुम्हारी मानसिक स्थिति कुछ ठीक नहीं है, मैं तुम्हारी सहायता के लिए 100-200 स्वर्ण दीनारें तुम्हें दे देता हूँ, उससे काम चला लो। समुद्रदत्त ने कहा-मैं भीख माँगने नहीं आया हूँ, मैं तो अपने रत्न लेने आया हूँ, वह मुझे वापिस कर दो। अरे! कैसे रत्न-कहाँ के रत्न। श्रीभूति ब्राह्मण जी, मैं उन रत्नों की बात कर रहा हूँ जो मैंने आपके यहाँ जमा कराये थे। श्रीभूति ने कहा- मेरे पास रत्न नहीं हैं और अपने सेवकों से मार-पीट करवाकर उसे भगा दिया।

समुद्रदत्त राजदरबार में गया किन्तु राजा के यहाँ भी उसकी सुनवाई नहीं हुई। चौकीदारों ने उसे रोका-पूछा कहाँ जाते हो? उसने सारा वृतांत्त सुना दिया, चौकीदारों ने कहा-तुम राजा के पास नहीं जाना अन्यथा तुम्हें उल्टा दण्ड ही मिलेगा, न्याय नहीं क्योंकि वह पुरोहित राजा का मित्र है व उनका हितैषी है, राजा तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। बेचारा समुद्रदत्त मरता क्या न करता। राजा के महल के पीछे एक इमली का पेड़ था वह उस पर चढ़कर प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त्त में आवाज लगाता-श्रीभूति ब्राह्मण ने मेरे पाँच रत्न ले लिए हैं वह देता नहीं, मैं पागल नहीं हूँ। इस प्रकार प्रतिदिन जाकर वह आवाज लगाता और दिनभर में बाजार में घूमता। वह भीख माँगकर अपना पेट भरता। एक-दो दिन बीते, सप्ताह-माह बीत गए।

रानी रामदत्ता ने अपने पति सिंहसेन से कहा-यह व्यक्ति पागल नहीं है, आप इसकी बात सुनो, यह 6 माह से एक ही बात कह रहा है दूसरी बात नहीं, अगर पागल होता तो कुछ और भी कहता, अपशब्द बोलता, किसी को पत्थर मारता या अन्य हरकत करता। राजा ने कहा-यदि आपको ऐसा लगता है कि यह सत्य बोल रहा है तो इसका न्याय तुम ही करो। रानी ने कहा-ठीक है महाराज, जैसा आपका आदेश। अगले दिन जब रानी महलों में ही बैठी थी तब राजा ने कहा—क्या आपने अपना कार्य प्रारंभ किया? रानी ने कहा—आज इतनी देर हो गई श्रीभूति ब्राह्मण आया ही नहीं। राजा-रानी राजदरबार में पहुँचे। तभी वहाँ श्रीभूति भी

उपस्थित हुआ, रानी ने पूछा–आज आने में इतनी देरी कैसे हो गई? तो ब्राह्मण ने बताया आज मेरी पत्नी का भाई आया था उसकी सेवा में लग गया। रानी ने कहा–चलो आज हम मिलकर एक खेल खेलते हैं और द्यूतक्रीड़ा/जुआ खेलने लगे। राजा सिंहसेन ने भी आज्ञा दे दी कि रानी खेलना चाहती है तो मेरी स्वीकृति है।

खेल प्रारंभ हुआ, तभी रानी ने अपनी दासी निपुणमती को बुलाया और उसके कान में कहा–तुम सत्यघोष पुरोहित के घर जाना और उसकी स्त्री से कहना कि ब्राह्मण ने उस पागल के रत्न मँगाये हैं। निपुणमती गई और रत्न माँगे किंतु ब्राह्मणी ने वे रत्न नहीं दिए, क्योंकि श्रीभूति ने पहले से ही उससे मना कर रखा था। दूसरी बार खेल खेलते–खेलते रानी ने ब्राह्मण की अँगूठी जीत ली और पुनः दासी को भेजा और ब्राह्मण की अँगूठी दिखाते हुए कहा कि देखो यह तुम्हारे पति की अँगूठी है, रत्न दे दो वरना तुम्हारे पति के प्राण संकट में आ जाएँगे। ब्राह्मणी बोली रत्न तो मैं दे नहीं सकती क्योंकि उन्होंने मुझे मना कर रखा है। दासी पुनः रानी के पास खाली हाथ आ गई। तब तक रानी ने ब्राह्मण की कैंची व जनेऊ भी जीत लिया। उसे लेकर पुनः दासी को भेजा–और पुरोहित की निशानी दिखाते हुए कहा कि पुरोहित ने कहा है अपने पति के प्राणों को देखना चाहती हो तो जल्दी से रत्न दे दो, नहीं तो मेरा मुख नहीं देख पाओगी। मैं इस समय संकट में फँस गया हूँ। निपुणमती ने जब यह सब कहा तो ब्राह्मणी घबरा गई और सोचने लगी जब मेरे पति ने अपनी अँगूठी, जनेऊ, कैंची तक भेज दी और मैं अभी भी वे रत्न नहीं दूँगी तो मेरे पति संकट में फँस जाएँगे, उसने वे रत्न दे दिए।

रानी रामदत्ता ने राजा से कहा–पुरोहित से वे पाँच रत्न तो आ गए हैं। अब राजा ने अपने खजाने से और रत्न मँगवाए व उन रत्नों में वे पाँच रत्न मिला दिए। और समुद्रदत्त को बुलाकर कहा–तुम्हारे कितने रत्न थे। बोला–पाँच। क्या तुम उन्हें पहचान लोगे? बोला हाँ, उसने राजा के रत्नों में से अपने पाँच रत्नों को पहचान लिया। राजा ने कहा–इसने तो ठीक पहचाने हैं। सत्यघोष पुरोहित से राजा ने पूछा कि यदि कोई व्यक्ति धोखाधड़ी करे, विश्वासघात करे तो उसे क्या दण्ड देना चाहिए? सत्यघोष बोला–महाराज! यह तो बहुत बड़ा पाप है, ऐसा पाप तो कभी करना ही नहीं चाहिए। यदि आपने किया हो तो? अरे महाराज! कैसी बात करते हो, मैं तो स्वप्न में भी ऐसा सोच नहीं सकता, यह तो महान् पाप है, इस पाप के लिए तो मृत्युदण्ड ही देना चाहिए। राजा ने मंत्रिपरिषद से पूछा–सबने तीन दण्ड निर्धारित करे। पहला–वह तीन थाली गोबर खाए या दूसरा–पहलवानों के बत्तीस मुक्के खाए अथवा तीसरा–उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली जाए। राजा ने सत्यघोष से कहा–तुमने ऐसा पाप किया है, समुद्रदत्त ने अपने

रत्न पहचान लिए हैं, तुम्हारे घर से ही ये रत्न आए हैं, तुम्हारी पत्नी ने ही दिए हैं। अब तो वह और संकट में फँस गया, अब क्या करे। वह क्षमा माँगने लगा। राजा ने कहा–यहाँ तीन दण्ड हैं इनमें से तुम कौन सा दण्ड चाहते हो बताओ? वह बोला मैं तीन थाली गोबर खाऊँगा। वह थोड़ा सा गोबर खा पाया उसे उल्टी हो गई। पुनः बोला मुझे मुक्के मार दो, मैं गोबर नहीं खा सकता, पहलवान के दो–चार मुक्के खाए, घबरा गया, बोला मैं मुक्के नहीं खा सकता, आप मेरी सम्पत्ति ले लो। उसकी सारी संपत्ति ले ली गई।

इस प्रकार तीन दण्डों को भोगकर वह मरा और तीव्र लोभ के कारण राजा के खजाने में अगंधन जाति का सर्प हुआ। वहाँ उसने राजा को डस लिया, अनेक भव तक बैर चलता रहा और वह दीर्घ संसारी अनेक दुर्गतियों को प्राप्त हुआ। महानुभाव! कहने का आशय है कभी असत्य नहीं बोलना चाहिए, सत्यव्रत की रक्षा करनी चाहिए। सत्य ही प्राणी का धर्म है, सत्य का आश्रय लें व अपना कल्याण करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

चोरी में कुख्यात तापस की कथा

महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में 65 वीं गाथा के माध्यम से पाप करने में प्रसिद्ध हुए; हिंसा में धनश्री, असत्य में सत्यघोष ब्राह्मण का वृतान्त देखा। अब चोरी में प्रसिद्ध तापस के बारे में यहाँ बताते हैं। चोरी एक बहुत बड़ा पाप है, चोरी करने वाला जीव अविश्वासी होता है, सबकी नजरों में गिर जाता है। वह स्वयं सदैव शंकित रहता है, भयभीत रहता है कहीं मेरी चोरी किसी ने देख नहीं ली हो। वह न चैन से सो पाता है न खा-पी पाता है, उसे डर लगा रहता है कहीं पुलिस आकर पकड़ न ले, कोई मार न दे, कोई मेरे चोरी के धन-वस्तु को पहचान न ले। वह हमेशा ही भयभीत रहता है। चोरी करने वाला व्यक्ति न इस लोक में सुख-शांति को प्राप्त करता है और ना ही परलोक में। चोरी करने वाला व्यक्ति समाज में भी सम्मान को प्राप्त नहीं करता, लोक उसका तिरस्कार और अपमान करते हैं। लोग उसे चोर कहते हैं व उसका कुल भी चोर माना जाता है। चोर के परिवार को भी शंकित दृष्टि से ही देखा जाता है। चोरी के संस्कार उसके परिवारीजन पत्नी-पुत्र-पुत्री में भी धीरे-धीरे पनपने लगते हैं।

एक गर्भवती महिला जिसका जब प्रसूति का समय आया तो ऑपरेशन के माध्यम से एक पुत्र का जन्म हुआ। प्रसूति कार्य के दौरान उस नर्स ने अपनी हीरे की अँगूठी वहीं उतारकर रख दी। ऑपरेशन के बाद देखा तो अँगूठी वहाँ से गायब हो गई, उसने परिचारिकाओं से पूछा-मैंने अपनी अँगूठी यहीं रखी थी कहाँ गई? सबने मना कर दिया हमें नहीं ज्ञात। नर्स ने कहा-हम 3-4 लोगों के अतिरिक्त कोई और यहाँ आया नहीं फिर अँगूठी कौन ले गया। तभी देखा वह छोटा बालक जिसका जन्म हुआ था उसकी मुट्ठी में अँगूठी बंद थी। नर्स ने हैरत से पूछा कि इस नवजात शिशु की मुट्ठी में अगूँठी कैसे आई। वह स्त्री बोली-मैं चोरनी हूँ, मेरा पति चोर है तो मेरा बेटा कोई साहुकार थोड़े ही होगा, वह भी चोरी के संस्कार ही लेकर आया है इसलिए जन्म लेते ही उसने आपकी अँगूठी चुरा ली।

महानुभाव! उसने चोरी की या नहीं की, बात बस इतनी बतानी है कि चोर व चोरनी का बेटा होगा तो वह साहूकार नहीं बनेगा, चोर ही बनेगा। माता-पिता जैसे होते हैं संतान में संस्कार उसी प्रकार के आते हैं, यदि माता-पिता धर्मात्मा हैं, सज्जन हैं, उपकारी हैं तो उनकी संतान भी प्राय:कर के उसी प्रकार की होती है। यदि माता-पिता आचरण में गलत हैं, खान-पान अशुद्ध होता है या और भी कोई गंदी आदत है तो संतान में भी वे संस्कार गर्भ से ही आ जाते हैं। इसलिए स्वयं भी अच्छे संस्कारों को स्वीकार करें और अपने बच्चों को भी अच्छे संस्कार दें। एक अच्छी माँ एक अच्छे भविष्य का निर्माण करती है, वह गर्भ से ही संस्कार दे सकती है और एक कुसंस्कारी माँ पूरे कुल को खराब कर सकती है।

कई प्रसंग ऐसे आते हैं। एक बालिका जो विवाह से पूर्व साधु सेवा में लगी रहती थी, उसका विवाह हुआ उसके उपरान्त भी उसके मन में साधुओं के प्रति बड़ी भक्ति थी। उसके गर्भ में एक जीव आया। वह उस समय में भी साधुओं की सेवा आदि करती थी। एक मुनिराज के प्रति उसकी गहरी श्रद्धा थी और वह जब गर्भवती थी तब भी उन महाराजश्री का आशीर्वाद लेने उनके पास गई। उन्होंने उसे णमोकार मंत्र सुनाया, भक्तामर का पाठ करने का नियम दिया और कहा-बेटा! तुम अपने परिणाम शुभ रखना, खूब पुण्य कार्य करना, स्वाध्यायादि करना। उसने महाराज के उपदेश को सुना और पालन भी किया।

उसने समयपूर्ण होने पर एक पुत्र को जन्म दिया पुनः कुछ समय बाद वह उन्हीं साधु संघ के दर्शन करने को गई। 2-3 वर्ष का वह बालक हो चुका था, जब वह बालक के साथ साधुओं के पास पहुँची तो वहाँ पूरा संघ उपस्थित था, माँ ने अपने बेटे से कहा-बेटा! सामने जो सिंहासन पर विराजमन हैं वे बड़े महाराज जी हैं उनके चरण छू ले। वह बेटा बोला-नहीं माँ! हमारे महाराज जी कहाँ हैं। माँ ने कहा-बेटा! तुमने तो कभी इस संघ के किसी महाराज को देखा ही नहीं, पहली बार ही आया है फिर हमारे-तुम्हारे महाराज की बात क्यों करते हो। संघ के सबसे बड़े महाराज तो यहाँ विराजमान हैं। बेटा नहीं माना, बोला हमारे महाराज जी कहाँ है। इधर शौच से लौटकर 5-6 मुनिराज आ रहे थे, वे मुनिराज आपस में चर्चा कर रहे थे। उस बेटे ने उन मुनिराज की आवाज सुनी और वह दौड़कर के गया क्योंकि जिन मुनिराज ने उसकी माँ को गर्भ के समय उपदेश दिया था, नियम दिया था, वे ये ही मुनिराज थे, उनकी आवाज को उसने गर्भ में सुना था और जल्दी ही मुनिराज के चरण पकड़कर कहता है-मम्मी-मम्मी ये ही मेरे महाराज जी हैं। बताओ, कैसे पहचान लिया? जबकि पहली बाद दर्शन किए थे। महाराज ने पूछा-क्या तुमने इसे हमारे बारे में कुछ बताया था? माँ ने कहा-महाराज ये आपको सुनता था और घर में जो आपकी Photo रखी थी उसे देखता था इसीलिए आपकी आवाज सुनकर दौड़कर आपके पास आ गया।

महानुभाव! गर्भ में भी जीव संस्कार प्राप्त करता है और जन्म के बाद भी संस्कार प्राप्त करता है। गर्भ के समय संस्कार प्राप्त करना बड़ा सरल है क्योंकि वह बालक अभी नूतन शरीर बना रहा है। जन्म के उपरांत संस्कार प्राप्त करना थोड़ा कठिन है। बाल्यावस्था में पुनः युवावस्था में संस्कार प्राप्त करना और ज्यादा कठिन है। वृद्ध पुरुषों में कोई कुसंस्कार आ जाए तो किसी संत-महात्मा की संगति प्राप्त होने पर ही वह सुधर सकता है। बाल्यअवस्था में पिता सम्भाल सकता है और गर्भ अवस्था में माँ संभाल सकती है। माँ को पूरा अधिकार है गर्भस्थ शिशु को सुसंस्कार देने का, जैसे संस्कार चाहे वैसे वह दे सकती है। बाल्यावस्था में पिता को पूरा अधिकार है बालक को सुधारने का।

महानुभाव! तो चोरी के संस्कार कहीं बाहर से नहीं आते, माँ में यदि चोरी करने की प्रवृत्ति है तो गर्भस्थ शिशु में भी वही संस्कार आते हैं, पिता में चोरी करने की प्रवृत्ति है तो बालक भी चोरी करना सीख जाता है। पिता दुकान पर बैठकर बेईमानी करता है, कम तौलता है ज्यादा धन लेता है तो बालक में भी कुसंस्कार आते हैं। स्त्री यदि अपने पति से, सास-ननद से बात-बात पर झूठ बोलती है तो उसके बेटे-बेटी में भी ऐसे ही झूठ बोलने के संस्कार आ जाते हैं। बालक-बालिका संस्कार बाहर से नहीं लाते हैं, घर से ही लाते हैं।

आपको ज्ञात होगा वह दृष्टान्त जब एक बालक पहले दिन स्कूल से एक कलम चोरी करके लाया, अगले दिन कुछ और लेकर आया, माँ ने कभी कुछ कहा ही नहीं और इन्हीं आदतों से वह आगे चलकर बहुत बड़ा चोर-डाकू बन गया। जब उसे फाँसी की सजा सुनाई गई तब उससे पूछा-तुम्हारी अंतिम इच्छा क्या है? बोला-माँ से मिलना चाहता हूँ, माँ मिलने गई-तो उसने कहा-माँ मैं आपके कान में कुछ बात कहना चाहता हूँ। माँ ने कान सामने किया, ज्यों ही कान आगे किया बेटे ने माँ का कान काट खाया। लोगों ने देखा तो आश्चर्य हुआ। पूछा तुमने ऐसा क्यों किया-वह बोला मुझे यहाँ तक लाने की भागीदार यदि कोई है तो वह मेरी माँ ही है, जब पहले दिन मैं चोरी करके लाया तभी यह मुझे डाँट देती, रोक देती तो आज मैं इतना बड़ा चोर और डाकू नहीं बनता।

माताओं का कर्त्तव्य है कि वे अपनी संतान में अच्छे संस्कार दें। बच्चों पर निगरानी रखें, उनकी संगति पर, उनके खान-पान पर, उनके व्यवहार पर। उनकी यही अच्छी-बुरी आदतें उनके व्यक्तित्व पर अच्छा अथवा बुरा प्रभाव डालती है। महानुभाव! चोरी करने में एक तापस प्रसिद्ध हुआ, उसकी कथा इस प्रकार है-

तापस की कहानी

वत्सदेश की कौशाम्बी नामक नगरी में सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था, उसकी रानी का नाम था विजया। उस राज्य में बहुत चोरियाँ होती थीं। प्रतिदिन चोरियाँ हो रहीं थी किन्तु चोर पकड़ में नहीं आ रहा था। जनता ने जाकर राजा से कहा-महाराज! हमारा नगर लुट गया, सब कंगाल हो गए, आप ये मानकर चलिए कि बस आपका महल ही सुरक्षित है अन्यथा हमारा करोड़ों-अरबों का माल लुट गया। राजा ने कहा-ऐसे कैसे हो सकता है? महाराज वह चोर अथक प्रयासों से भी पकड़ में नहीं आ रहा है। राजा ने कोतवाल को बुलाया और कहा-सात दिन के अंदर चोर को मेरे सामने उपस्थित करो नहीं तो अपना सिर काटकर हमारे सामने रख दो। कोतवाल घबरा गया, उसने 2-4 दिन पूरे नगर में उसे ढूँढ़ा, खूब सैनिक

भगाये किंतु चोर पकड़ में नहीं आया, छटवाँ दिन भी बीत गया, चोर नहीं मिला। कोतवाल हैरान-परेशान होकर अपने घर के बाहर अपने कपोल पर हाथ रखकर बैठा हुआ था तभी एक ब्राह्मण वहाँ आया, वह संत-महात्मा के वेश में था, उसने पूछा-वत्स! तुम ऐसे क्यों बैठे हो? कोतवाल ने कहा मैं बहुत परेशान हूँ-ब्राह्मण ने कहा मुझे भूख लग रही है मुझे भोजन दे दो। कोतवाल ने कहा-मुझे अपने प्राणों की पड़ी है और तुम मुझसे भोजन माँग रहे हो। अगर कल तक मैंने चोर को नहीं पकड़ा तो मेरे प्राण पखेरु उखाड़ दिए जाएँगे।

ब्राह्मण ने कहा-मैं तुम्हारी सहायता करूँगा पहले तुम मुझे भोजन दे दो। ठीक है आप भोजन करो। भोजन के बाद ब्राह्मण ने कहा-यह बताओ कि तुम्हारे नगर में सबसे ज्यादा निस्पृह-विरक्त और तपस्या व धर्म करने वाला व्यक्ति कौन है? कोतवाल ने कहा-इससे क्या मतलब है? अरे बता तो सही। हाँ! एक साधु है जो बहुत तपस्या करता है-उसके सामने लोग प्रणाम करते हैं, लोगों की भीड़ लगी रहती है। ब्राह्मण ने कहा-वही चोर है। अरे! आप ऐसे कैसे कहते हो। कोतवाल जी इस विषय में आप मेरी कहानी सुनिए।

मैं अपने नगर में सुखपूर्वक रहता था, मेरी पत्नी अपने को महासती कहती थी, कहती थी मुझे कोई छू नहीं सकता। मैं पर पुरुष के शरीर को स्पर्श नहीं करती, यह कहकर तीव्र कपट से अपने आँचल से कपड़ा लपेट करके अपने पुत्र को दूध पिलाती थी किन्तु मैंने गुप्त रूप में देखा कि रात्रि में गृह के बरेदी (ग्वाला) के साथ वह कुकर्म करती थी जिसे देखकर के मुझे विरक्ति हो गई और मैं घर छोड़कर चला आया। संसार में मैं किस पर विश्वास करूँ जब स्वयं को महासती कहने वाली स्त्री भी दुराचारिणी हो सकती है।

जब मैं घर से निकला तब मेरे हाथ में एक बाँस की लाठी थी, जिसमें मैंने मार्ग के भोजन आदि की व्यवस्था के लिए स्वर्ण शलाका रख ली थी, सोचा था रास्ते में काम आएँगी, आज कौन किसका साथ देता है, मैं पत्नी-बच्चों को छोड़कर आया हूँ। रास्ते में एक ब्रह्मचारी बालक मिला और वह मेरे साथ-साथ चलने लगा, वह मेरी सेवा करने लगा, मैंने उससे कहा कि मैं कोई साधु नहीं हूँ। वह माना नहीं और मेरे पीछे ही लग गया। मैं उसका विश्वास नहीं करता था, इसलिए उस लाठी की बड़े यत्न से रक्षा करता था। उस बालक ने ताड़ लिया, वह समझ गया कि इस लाठी के भीतर कुछ धन है। एक दिन हम दोनों ने एक कुंभकार के यहाँ भोजन किया, वहीं पर रात्रिविश्राम भी किया, प्रातःकाल चलने लगे। जब हम 2-3 कोस आ गए तो उस बालक ने कहा-महात्मा जी मुझे क्षमा करो, कुंभकार के घर से एक तिनका मेरे सिर पर लगकर आ गया है मैं इस तिनके को वापस करने जा रहा हूँ पुनः लौटकर आऊँगा।

वह बालक एक सड़े तिनके को लौटाने कुंभकार के यहाँ गया। मैंने उससे मना भी किया कि इस सड़े से तिनके के लिए क्यों जाते हो किन्तु वह नहीं माना, कहने लगा मैं चोर कहलाऊँगा और वापस करने गया। जब तक वह आया तब तक मैं भोजन-पानी कर चुका था। वह भूखा प्यासा था, मैंने कहा-आस-पास के घर में चला जा वहाँ भोजन कर लेना। वह बोला वहाँ सूनसान भी है और कुत्तों का भी भय है। मुझे उस पर दया आ गई तो मैंने उसे अपनी बाँस की लाठी दे दी। वह बालक मेरी लाठी लेकर चला गया और आज तक लौटकर नहीं आया। वह ऐसा विरक्त था कि तिनका भी लौटाने गया था और मेरी स्वर्ण मोहरों से भरी लाठी को लेकर चला गया।

पुनः मैंने देखा कि महाअटवी में एक वृद्ध पक्षी; जो बहुत कपटी था, वह अंधा भी था तथा एक बड़े पेड़ पर रहता था, और नीचे अन्य पक्षी रहते थे। वह पक्षी अपना शिकार नहीं कर पाता था, उसने अन्य पक्षियों से कहा—पुत्रों! तुम दाना-चुगने जाते हो तो तुम मेरा मुंह बांधकर चले जाया करो, कदाचित् भूख से विचलित होकर मैं आप लोगों के बच्चों को न खा लूँ। उन्होंने कहा-दादा जी तुम कैसी बात करते हो, हमें विश्वास है कि तुम ऐसा नहीं कर सकते हो। फिर भी जिद्द से गृद्ध पक्षी ने अपना मुँह बंधवा लिया और कहा-आप लोग जाओ मैं कोटर में मुँह बाँधकर ही पड़ा रहूँगा।

जब वे पक्षी चले गए, उनके छोटे-छोटे बच्चे वहाँ रह गए, तब उस गृद्ध पक्षी ने अपने पैर से अपना मुँह खोला और छोटे-छोटे बच्चों को खा गया। और जब पक्षियों के आने का समय हुआ तो पुनः अपना मुँह बाँध लिया और कपट से अपना पेट पिचकाकर पड़ा रहा। जब उन्होंने देखा कि हमारे बच्चों को कौन खा गया तब वह गृद्ध पक्षी भी रोने का नाटक करने लगा। वह ब्राह्मण बोला-कोतवाल जी यह घटना मैंने अपनी आँखों से देखी तो मुझे लगा यह भी ऐसा ही है, जग में किसी का भरोसा नहीं।

मैं और आगे बढ़ा-तब एक और कपटपूर्ण वृतान्त देखा कि एक चोर तपस्वी का रूप रखकर सबको ठगता था। वह दिन में तो दोनों हाथों से मस्तक के ऊपर एक बडी शिला को उठाकर दिन भर खडा रहता था और रात्रि में 'हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ, हे जीव हटो मैं पैर रख रहा हूँ' इस प्रकार कहता हुआ भ्रमण करता था। समस्त भक्तजन उसे 'अपसर जीव' इस नाम से कहने लगे थे। वह चोर जब कोई गड्ढा आदि एकांत स्थान मिलता तो सब ओर देखकर सुवर्ण से विभूषित प्रणाम करते हुए एकाकी पुरुष को उस शिला से मार डालता और उसका धन ले लेता था।

मैंने ये चार कपटपूर्ण घटनाएँ देखीं इसीलिए मैं कह सकता हूँ इस नगर में रहने वाला निस्पृही होने का ढोंग करने वाला तपस्वी ही चोर होगा। कोतवाल को धीरज बंधाकर वह ब्राह्मण उस तपस्वी के पास गया। तपस्वी के सेवकों ने उस ब्राह्मण को वहाँ से निकालना भी चाहा परंतु वह रात्र्यन्ध बनकर वहीं पड़ा रहा और कौने में बैठ गया। तपस्वी के सेवकों ने कि यह वास्तव में रात्र्यन्ध है या नहीं इसकी परीक्षा के लिए तृण की काड़ी तथा अँगुली आदिक उसके नेत्रों के पास चलाई परंतु वह देखता हुआ भी नहीं देखता रहा। जब बड़ी रात्रि हो गई तब उसने गृहरूप अंधकूप में रखे जाते हुए नगर के धन को देखा और उन लोगों के खान-पान आदि को देखा।

प्रात:काल ब्राह्मण ने जो कुछ रात्रि में देखा उसे कहकर राजा के द्वारा मारे जाने वाले कोतवाल की रक्षा की। सींके में बैठने वाला वह तपस्वी उस कोतवाल द्वारा पकड़ा गया और भारी यातनाओं से दु:खी होता हुआ मरकर दुर्गति को प्राप्त हुआ।

महानुभाव! चोरी करने वाला चाहे चोर के वेश में रहे या साहूकार के वेश में रहे चोरी का कृत्य एक महान् पाप है, वह चोरी करने वाला जीव इस लोक में भी दारुण दु:ख को प्राप्त करता है और पर लोक में भी महादु:खों को भोगता है इसलिए चोरी जैसा पाप कभी किसी को नहीं करना चाहिए, न चोरी की अनुमोदना करना चाहिए, न चोरी की प्रेरणा देनी चाहिए। अचौर्यव्रत का पालन करना चाहिए, अचौर्यव्रत ही आत्मकल्याण का समर्थ मार्ग है। आप सभी का कल्याण हो, शुभ हो, मंगल हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

कुशीलसेवन में कुख्यात यमदण्ड कोतवाल की कथा

महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की 65वीं कारिका में देख रहे हैं पाँच पापों में कौन-कौन व्यक्ति कुख्यात हुआ। हिंसा, झूठ, चोरी इन तीन पापों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के वृतान्त को सुना, आज देखते हैं अब्रह्म पाप में कौन कुख्यात हुआ। अब्रह्म सबसे बड़ा पाप है। इस पाप को करने वाला व्यक्ति सदैव मलिन चित्त रहता है, उसका मन शुद्ध नहीं रहता, उसके मन में नाना प्रकार के पाप के विचार उत्पन्न होते रहते हैं। वह भगवान् की भक्ति में मन नहीं लगा सकता, साधु सेवा में मन नहीं लगा सकता, वह माता-पिता की सेवा, निर्धनों की सेवा-सहयोग परोपकार जैसे पुण्य के कार्य नहीं कर पाता। कदाचित् पुण्य का कार्य करने की सोचे भी तो उस समय उसके पाप का उदय हो जाता है। उसका चित्त दूषित होने से वह पुण्य क्षेत्र पर भी पापरूप विचारों से संयुक्त हो जाता है। कई बार तो ये सुना जाता है कि व्यक्ति मंदिर भी चला जाए वहाँ भी उसकी पाप की भावना आकर चित्त को दूषित करती है। क्योंकि ये अब्रह्म का पाप केवल शरीर से नहीं होता सबसे पहले विकारी भाव मन में आता है। मन के माध्यम से यह प्रवृत्ति वचनों व शरीर के द्वारा पाप की क्रियाओं में परिवर्तित हो जाती है। जिसका मन शुद्ध हो जाए तो वह शरीर से भी पाप नहीं करेगा।

अब्रह्मपाप समस्त पापों का दादा है। इस अब्रह्मपाप के साथ अन्य सभी पाप वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अब्रह्मसेवन करने वाला व्यक्ति धन का, परिग्रह का संचय करता है, चौर्य कर्म करता है, अब्रह्मसेवी झूठ भी बोलता है, अब्रह्म का सेवन करने वाला व्यक्ति एक बार के अब्रह्मसेवन में नव लाख या नवकोटि संज्ञीपंचेंद्रिय जीवों की हिंसा भी करता है। इसलिए अब्रह्म को सबसे बड़ा पाप कहा। ब्रह्मचर्य से बढ़कर कोई पुण्य नहीं और अब्रह्म से बढ़कर कोई पाप नहीं। जब भी व्यक्ति संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर के, आत्मकल्याण का भाव जिसके मन में आता है वह सबसे पहले सोचता है कि मैं ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। कोई गृहस्थ भी सबसे पहले यही नियम लेता है कि मैं कम से कम इस महापाप से बचूँ। परस्त्री सेवन, वेश्यासेवन ये महापाप व्यसन कहलाते हैं। इसके साथ-साथ वह स्वदारसंतोषव्रत का पालन करता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है और आगे बढ़ता-बढ़ता ब्रह्मचर्य प्रतिमा का पालन करता है। वह एक दिन ब्रह्मचर्य महाव्रत को भी स्वीकारने की सामर्थ्य से युक्त होता है।

महानुभाव! अब्रह्म पाप को जो नहीं समझते वे निःसंदेह इसके कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं। कामी पुरुष की चेष्टा ऐसी होती है जिसे समझ पाना बड़ा कठिन है।

विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्॥

आचार्य अजितसेन सूरि जी ने छत्रचूड़ामणि ग्रंथ में लिखा-जिसका चित्त विषयों में आसक्त है उसके कौन से गुण विनष्ट नहीं होते। अर्थात् जो विषयों में आसक्त है उसके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं, उसके अंदर मनुष्यता नहीं रहती, वह दुष्कर्म को तिर्यंचिनी के साथ भी करे तो आश्चर्य नहीं। उसके अंदर विद्वत्ता नहीं रहती। कितना भी ज्ञानी हो यदि कामातुर होता है तो उसका सब ज्ञान विस्मृत हो जाता है। जो कामातुर व्यक्ति है वह नीच-उच्च कुल का भेद नहीं करता इसलिए उसका सज्जातिपना भी नष्ट हो जाता है और वह अब्रह्मसेवी धर्म को छोड़ देता है क्योंकि धर्म के क्षेत्र में ऐसे विट पुरुषों का प्रवेश वर्जित है। जब वह उस पाप को छोड़ देता है तब धर्म को स्वीकार कर सकता है। पाप करते-करते धर्म नहीं कर सकता है। एक साथ दोनों कार्य नहीं हो सकते कि पाप भी कर ले और पुण्य कार्य भी संपादित कर ले। दोनों मार्ग एक दूसरे के विपरीत हैं, अब्रह्म का मार्ग पाप का मार्ग है और ब्रह्मचर्य का मार्ग धर्म का मार्ग है, आत्मकल्याण का मार्ग है।

महानुभाव! अब्रह्म की भावना से त्रिखण्डाधिपति रावण ने सीता का अपहरण किया, भले ही सेवन नहीं किया किन्तु भावना अब्रह्म की थी। अपहरण करने से वह लोक में निंदा को प्राप्त हुआ, लक्ष्मण के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ और नरक में गया। चारुदत्त ने भी अब्रह्म में आसक्त होने से अपना सारा धन उस व्यसन में नष्ट कर दिया, व्यापार करने विदेश भी गया तो सात बार उसका जहाज फटा और वह सात बार परेशान होकर के बड़ी मुश्किल से बचकर आया और पुनः संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर दीक्षा ली। महानुभाव! कुलीन पुरुष भी अब्रह्म के कारण निंदा को प्राप्त होते हैं। कोई राजा भी क्यों न हो यदि गलत कार्य करता है तो वह भी प्रजा के द्वारा पद च्युत कर दिया जाता है।

यह अब्रह्म पापों का बीज है, महापाप है, पापों की जड़ है इसलिए अपना कल्याण चाहने वाले भव्य जीवों को इस अब्रह्म से बचना चाहिए। घर-गृहस्थी में रहते हुए श्रावक-श्राविका कम से कम यह भी ध्यान रखें कि ब्रह्मचर्य मेरी आत्मा का स्वभाव है, ब्रह्मचर्य धर्म है, ब्रह्मचर्य व्रत है उसका पालन करें। यदि ज्यादा पालन नहीं कर सकते हैं तो कम से कम प्रत्येक गृहस्थ को पर्व के दिनों में तो अब्रह्म का सेवन नहीं करना चाहिए। अष्टमी-चतुर्दशी शाश्वत पर्व हैं, आष्टाह्निक पर्यूषण पर्व ये शाश्वत पर्व हैं इन पर्वों पर बुद्धिपूर्वक उसे अब्रह्म का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि जो कोई व्यक्ति पर्व के दिनों में भी अब्रह्म का सेवन करता है वह नारकी के तुल्य कहलाता है, महापापी कहलाता है इसलिए महान् पाप से बचने के

लिए वह अब्रह्म का त्याग करे। जिसने पर्व के दिनों में अब्रह्म का त्याग किया है उसकी आगे और भावना हो सकती है, जितना ज्यादा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करोगे उतना ही ज्यादा सुख आपके जीवन में आएगा।

अब्रह्म का सेवन करने वाला व्यक्ति न केवल अपने शरीर को रोगी करता है अपितु अपने पुण्य को भी बर्बाद करता है। अब्रह्म सेवन करने का आशय है अपने पुण्य में आग लगा देना। एक बार के अब्रह्म सेवन में बहुत जीवों की हिंसा होती है, पुण्य ऐसे जलता है जैसे जंगल की सूखी लकड़ी जलती है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी यहाँ पर अब्रह्म में कुख्यात यमदण्ड नाम के कोतवाल की प्रसिद्ध कथा को बताते हैं।

यमदण्ड कोतवाल की कथा

इसी भारत वर्ष में अहीर देश के नासिक्य नगर में राजा कनकरथ राज्य करता था, उनकी रानी का नाम कनकमाला था। राज्य का संचालन बड़ी कुशलता के साथ, लोकप्रियता के साथ, न्यायप्रियता के साथ चल रहा था। प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हुए राजा बड़ा संतुष्ट था। उसकी सहधर्मिणी कनकमाला भी धर्म के प्रति अनुरक्त रहती थी। वह अपने पति को भी धर्म की प्रेरणा देती थी। धर्मपत्नी का आशय भी यही होता है जो अपने पति को धर्ममार्ग में लगाए। यदि धर्म के मार्ग में नहीं लगाती तो वह धर्मपत्नी न होकर मात्र कर्मपत्नी रह जाती है, स्वयं भी पाप का आस्रव करती है और अपने पति को भी पाप का आस्रव कराती है इसलिए भारतीय संस्कृति में सहधर्मिणी को धर्मपत्नी कहा जाता है। पुरुष को धर्मपति नहीं कहा जाता है। रानी हो चाहे सामान्य स्त्री प्रत्येक नारी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने पति को धर्म के मार्ग पर अग्रसर करे व स्वयं भी धर्म के मार्ग पर चले। वे राजा-रानी दोनों ही धर्मात्मा थे और प्रजा भी प्रायःकर के धर्म का पालन करती थी।

उसी नासिक्य नगर में एक यमदण्ड नाम का कोतवाल था। जब वह युवा हुआ तब उसकी शादी हुई। वह यमदण्ड कोतवाल अपने को संभालने में असमर्थ होने लगा, वह गुप्त रूप से पाप करने लगा। एक दिन संयोग की बात जिस स्थान पर वह व्यभिचार करने जाता था वहाँ उसे एक महिला प्राप्त हुई, उस महिला के साथ उसने दुराचार किया और महिला का स्वर्णयुक्त कड़ा उसके पास रह गया। उस कोतवाल ने वह कड़ा अपनी पत्नी को लाकर के दे दिया। पत्नी ने कहा ये आप कहाँ से लाए, यह तो मेरा कड़ा है। उसने कहा तेरा कहाँ से आया तेरा कड़ा तेरे पास होगा। वह बोली मैंने अपने सभी आभूषण अपनी सासु माँ को सुरक्षित रखने के लिए दे दिए थे। सासु माँ आभूषण पहनकर खुश हो जाती हैं। मैंने कल

शाम को देखा भी था कि वे आभूषण पहनकर कहीं जा रहीं थी और आज आप यह कड़ा लेकर आए हैं, लगता है आप कहीं दुराचार करते हैं। वह यमदण्ड झूठ बोलने लगा कि ऐसा कुछ नहीं है किन्तु उसकी पत्नी उसके हाव-भाव से समझ गई कि मेरा पति संभव है अपनी माँ के साथ दुराचार करता है।

यमदण्ड की माँ अत्यन्त रूपवती थी, यौवन अवस्था में ही विधवा हो गई तथा व्यभिचारिणी बन गई थी। यह बात यमदण्ड की पत्नी जान तो गई पर वह कहे तो कैसे कहे, बड़े शर्म की बात है। वह सास को समझाए या अपने पति को समझाए, वह मन की पीड़ा को मन में रखती। यमदण्ड कोतवाल का बहुत नाम था, उस पर कोई आक्षेप लगाए तो कैसे लगाए, बड़ा मुश्किल हुआ। उसकी पत्नी बहुत चिंतित थी, अंदर ही अंदर घुलती जाती थी, सोचती ऐसे घर में रहना भी क्या रहना है जहाँ पर माँ ही अपने बेटे के साथ दुराचार करे, इससे बड़ा पाप और क्या होगा। वह एक दिन बहुत उदास थी, उसी समय एक धोबिन आई, धोबिन ने पूछा-क्या बात है बहिन! क्या शरीर में कोई कष्ट है, वह बोली-नहीं, ऐसा कुछ नहीं है तुम अपना काम करो और जाओ, धोबिन बोली-नहीं कुछ बात तो है, तुम दुःखी लग रही हो, अपना दुःख मुझे बताओ क्योंकि दुःख बाँटने से कम होता है। मेरा विश्वास रखो मैं तुम्हारे दुःख को दूर करने का प्रयास करूँगी, तुम्हारी बहिन की तरह सेवा करूँगी। यमदण्ड की पत्नी ने उस धोबिन से सारी बात कह दी-कि हमारी माता अपने ही पुत्र के साथ व्यभिचार करती है, ऐसा महापाप हमारे ही घर में चल रहा है। धोबिन ने कहा-यह तो बहुत गलत है किन्तु इसका न्याय कैसे मिले, क्या करना चाहिए? धोबिन ने कहा-मैं प्रयास करती हूँ। धोबिन ने यह बात मालिन से कह दी। मालिन रानी कनकमाला के पास गई। रानी ने पूछा आज-देरी से क्यों आई हो? मालिन ने कहा मेरी एक सहेली है वह मुझे एक विशेष बात बता रही थी। क्या विशेष बात थी? वह मैं आपको नहीं बता सकती। क्यों नहीं बता सकती?रानी बात ऐसी है यदि मैं आपको बता दूँगी तो आप विश्वास नहीं करोगी। आपको बताने से लाभ भी क्या, आप समाधान भी न दे सकेंगी। रानी ने कहा-बताओ तो सही। और मालिन ने धोबिन द्वारा बताई सारी बातें रानी को बता दी। रानी ने कहा-इसमें झूठ तो नहीं है, नहीं-नहीं बिल्कुल सत्य है।

रानी ने यह समाचार राजा से कहा, राजा ने यमदण्ड कोतवाल को बुलवाया, उसकी माँ को भी बुलवाया, अपराध सिद्ध हुआ और राजा ने कोतवाल को बड़ी सजा दी। वह अत्यंत तीव्र दुःखों के साथ मृत्यु को प्राप्त हुआ व दुर्गतियों को प्राप्त हुआ। महानुभाव! यह अब्रह्म का पाप बहुत बड़ा पाप है। आप सभी इस पाप से बचें व ब्रह्मचर्य से अपनी आत्मा को पवित्र बनाएँ, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ अपनी शब्द शृंखला को विराम देता हूँ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

परिग्रह पाप में कुख्यात श्मश्रुनवनीत की कथा

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की 65 वीं गाथा में पाँच पापों में कुख्यात पापियों की चर्चा की, इन पापिष्ठ जीवों का वृत्तान्त बताया। चार पापों के बारे में पूर्व में देखा कि हिंसा में धनश्री, झूठ में सत्यघोष, चोरी करने में तापस व अब्रह्म का सेवन करने में कोतवाल प्रसिद्ध/कुख्यात हुए। ऐसे ही परिग्रह पाप में लुब्धदत्त (श्मश्रुनवनीत) नाम का श्रेष्ठी पुत्र प्रसिद्ध हुआ।

परिग्रह एक ऐसा पाप है जिस पाप की गोद में पाँचों पाप पलते हैं। जैसे आकाश सभी द्रव्यों को अवगाहन देता है ऐसे ही परिग्रह सभी पापों को अवगाहन देता है। परिग्रह जिसके पास है उसे नवग्रह भी परेशान करते हैं; चाहे कोई व्यक्ति मंगल की दशा से परेशान है या कोई शनि की दशा से, कोई राहु-केतु से परेशान है, कोई अन्य-अन्य ग्रहों से परेशान है। मारकेश की दशा जब चलती है या गोचर में आता है तब वह कष्ट देता या अष्टमेश या षष्ठमेश उदय में आते हैं तो कष्ट देते हैं। परिग्रह नवग्रह का बाप है, जो नवग्रह मिलकर कष्ट नहीं देते उससे ज्यादा कष्ट परिग्रह देता है। परिग्रहत्यागी व्यक्ति ग्रहों की पीड़ा-बाधाओं से घबराता नहीं। परिग्रह के संबंध में वैदिक परम्परा में एक कहानी आती है–

शनि को लोग विशेष हानिकारक मानते हैं, कहीं शनि की साढेसाती न आए, शनि की पनौति न आए। वैदिक परम्परा में मानते हैं कि शनि ग्रह का उदय आ जाए तो वह कंगाल कर देता है, राजा को भी भिखारी बना देता है। एक बार वह शनि शंकरजी के पास गया, कहने लगा-मैं तुम्हारे पास आ रहा हूँ। शिवजी ने कहा-तू धमकी किसे दे रहा है आना है तो आ जा। शनि ने कहा-मैं तो आगाह कर रहा हूँ कि मैं आ रहा हूँ, मुझसे देवता भी घबराते हैं। शिवजी ने कहा मैं नहीं घबराता, आना है तो आ जा। शनि ने पुनः कहा देख लो, सोच लो, मैं आ रहा हूँ। शिव जी बोले-मुझे डर नहीं है, मैंने पार्वती को मायके भेज दिया, नांदिया को पहाड़ पर छोड़ दिया, मैं स्वयं ध्यान में बैठ गया अब बता तू क्या करेगा? शनि ने कहा-अभी तो मैं आया नहीं तब तुम तीन प्राणी तीन जगह हो गए, जब आ जाऊँगा तब क्या होगा। तो शनि से सब घबराते हैं, शनि-राहु की पीड़ा किसी का धन नष्ट करती है तो किसी का तन अर्थात् रोगी बनाती है तो किसी की बुद्धि भ्रष्ट करती है। जब सभी ग्रह उल्टे पड़ जाएँ तो दुःख देने वाले हो जाते हैं किन्तु दुःख उसी को दे पाते हैं जिसके पास परिग्रह हो। आचार्य भगवन् शिवकोटि महाराज ने भगवती आराधना ग्रंथ में लिखा है–

''अत्थो अणत्थ मूलो स्यात्।''

अर्थ अनर्थ का मूल है। धन वह है जो धर्म को नष्ट करके आए किंतु धर्म के साथ आया हुआ अर्थ परमार्थ का रास्ता खोलता है। जिसके पास न्यायोपार्जित धन है, उसका वह धन इस जीवन में भी सुख-शांति देता है, वह उसके माध्यम से पुण्य की क्रिया, दान-पूजा-पाठ करता है तो परभव में भी वह धन सुख-शांति देता है।

'बहुधन बुरा हूँ भला कहिये, लीन पर उपकार सूं'

जो धन पर उपकार में लगा हुआ है वह धन भला है, शुभगति देने वाला है। भरत चक्रवर्ती ने अपने धन का सदुपयोग किया जिनालय के लिए तो वे भरतचक्रवर्ती दीक्षा लेने के अनंतर अंतर्मुहूर्त में केवली बन गए, उसी भव से मोक्ष गए एवं रावण ने अपने धन का दुरुपयोग किया वह मृत्यु को प्राप्त कर दुर्गति को प्राप्त हुआ। धन प्राप्त करना आज के जमाने में कोई बड़ी बात नहीं है किन्तु धन को पुण्य के कार्य में खर्च करना ये सबके वश की बात नहीं है। जो धर्मात्मा जीव है, जिसका धन पुण्यमय है, उसका धन तो पुण्य के कार्य में लग जाता है किन्तु जो पापी जीव है उसका धन पुण्य के कार्य में लग नहीं पाता, पाप के कार्य में चला जाता है। किसी का दवाई में जाता है तो किसी का दारू में चला जाता है, किसी का परस्त्री गमन में तो किसी का चोरों के यहाँ चला जाता है, किसी का अग्नि में जल जाता है तो किसी का धन कर देने में चला जाता है किन्तु पाप का धन व्यक्ति भोग नहीं पाता।

या धन की गति तीन हैं दान भोग अरु नाश।
दान भोग यदि ना करे, तो निश्चय होय विनाश॥

दूसरी प्रकार से कहा–

लक्ष्मी के सुत चार हैं धर्म अग्नि नृप चोर।
जहाँ जेठे की कदर नहीं तीनों लेत बटोर॥

लक्ष्मी के चार बेटे हैं एक धर्म है, दूसरा अग्नि, तीसरा राजा व चौथा चोर है। जहाँ लक्ष्मी का उपयोग ज्येष्ठ पुत्र धर्म के लिए नहीं किया जाता तो वह धन या तो अग्नि के द्वारा नष्ट हो जाएगा, या राजा टैक्स के रूप में ले लेगा अथवा चोर चोरी करके ले जाएँगे। पापी व्यक्ति का धन या तो जाता है लिवासों में अर्थात् अच्छे वस्त्राभूषण पहनने में खर्च कर देता है, या जाता है गिलासों में अर्थात् Drink करने में या फिर जाता है विलासों में अर्थात् विलासी जीवन जीने में। पापी व्यक्ति का धन अधिकांशतः डॉक्टर्स के पास, वकील के पास,

अन्य-अन्य व्यक्तियों के पास जाकर नष्ट हो जाएगा किन्तु पुण्यात्मा व्यक्ति की एक पाई भी पाप कर्म में नहीं जाती, उसका पूरा धन प्रायःकर के पुण्यकार्य में ही लगता है।

महानुभाव! परिग्रह मत जोड़ो परिग्रह में आसक्त मत होओ। धन उतना ही रखो जितना आवश्यक है। जितना आरम्भ परिग्रह रखोगे उससे नरकायु का बंध होता है।

''बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः'' बहुत आरंभ-परिग्रह नरक का कारण है। लोभी व्यक्ति धन का व्यय नहीं करता। **''युक्तायुक्तकालेऽपि धनव्याभावो लोहः''** युक्तकाल में भी धन के व्यय का अभाव हो, समय आने पर भी धन का व्यय नहीं करे, पुण्यकार्य सामने है फिर भी धन का व्यय नहीं करे वह कंजूस-लोभी कहलाता है। लोभी के धन के लिए कहते हैं-लोभी का धन लाबर (झूठा) खाए और बचे तो सरकार जाए''-लोभी अपना धन स्वयं नहीं खाता अपितु झूठ बोलने वाले, डाकू बदमाश ही भोग करते हैं या फिर बच जाए तो राजा छीन लेता है। पुण्यात्मा व्यक्ति के एक पैसे का भी दुरुपयोग नहीं होता तथा पापी का धन अच्छे काम में नहीं लग पाता। यहाँ परिग्रह में आसक्त श्मश्रुनवनीत की कथा कहते हैं-

श्मश्रुनवनीत की कथा

कौशलदेश की अयोध्या नगरी; जो चौबीस तीर्थंकरों की शाश्वत जन्मभूमि है। इस हुण्डावसर्पिणी काल में कुछ तीर्थंकरों का जन्म अयोध्या में हुआ व कुछ का अयोध्या के अतिरिक्त अन्य स्थानों से हुआ। अयोध्या जैनों की ऐतिहासिक नगरी है। उस नगरी में भवदत्त नाम का सेठ रहता था, उसकी सहधर्मिणी का नाम धनदत्ता था। सेठ-सेठानी निराकुलता के साथ अपने पुण्य का फल भोगते हुए जीवन यापन कर रहे थे। इनका एक पुत्र था जिसका नाम था लुब्धदत्त। वह बहुत लोभी-लालची था। दान देना तो वह जानता ही नहीं था, वह सोचता था कैसे भी मिल जाए उसकी दशा तो उस सेठ की तरह से थी जो सेठ जीवन में कभी देना नहीं बस लेना ही लेना जानता था।

एक दिन एक सेठ रास्ते में बने कच्चे कुएँ में गिर गया, रात भर पड़ा रहा, आवाज लगाता रहा, कोई मुझे निकालो-निकालो, प्रातःकाल हुआ लोग उसे निकालने के लिए आए। लोगों ने कहा सेठी जी! अपना हाथ हमें दे दो आपको निकाल लेंगे। सेठ ने कहा-मैं नहीं दे सकता, सुबह से दोपहर हो गई सेठ नहीं निकला, जो आता वह यही कहता सेठ जी हमें अपना हाथ दो हम आपको निकाल लेंगे किन्तु सेठ जी अपना हाथ किसी को देते नहीं। सेठ का पड़ोसी आया, बोला-सेठ जी को मैं निकालता हूँ, वह सेठ जी के पास पहुँचा और बोला-सेठ जी!

मेरा हाथ लो। सेठ जी ने उसका हाथ पकड़ा और सेठ बाहर आ गया। लोगों ने पूछा आपको कैसे पता कि यह सेठ जी ऐसे निकलेंगे? अरे भाई! मैं इनके पड़ोस में रहता हूँ, मुझे मालूम है ये बहुत कंजूस हैं ये देने के नाम पर कुछ देता नही है, चाहे गड्ढे में पड़ा है फिर भी अपना हाथ नहीं देगा, मैंने कहा-मेरा हाथ लेले तो लेने को तैयार है। तो ऐसे कुछ लोग होते हैं जो जीवन में देना तो कुछ जानते ही नहीं, सोचते हैं कहीं भी जाएँ वहाँ से कुछ न कुछ मिल ही जाए। ऐसे व्यक्ति अपने घर में कबाड़ इकट्ठा कर लेंगे, टूटे फूटे बर्तन, लकड़ी-बांस के टूटे टुकड़े, फटे पुराने कपड़े, टूटी घड़ी आदि रखते चले जाएँगे, इनसे ऐसा सामान भी अलग नहीं किया जाता। ऐसे परिग्रह में आसक्त होकर वे दुर्गति का पात्र बन जाते हैं।

तो यहाँ कह रहे हैं परिग्रह में आसक्त जो लुब्धदत्त था वह भी कभी देना नहीं जानता था वह एक-एक कोड़ी जोड़कर रखता था। नीतिकार कहते हैं-

मीत न नीत गलीत है, जो रखिये धन जोड़।
खाये खर्चे जो जुड़े तो जोड़िये करोड़॥

हे मित्र! यह नीति नहीं है, यह तो धिक्कारने की बात है कि तुम धन जोड़ रहे हो, धन जोड़ना भी है तो खाने के उपरांत, खर्च करने के उपरांत, दान करने के उपरांत बचे तब जोड़ो। यदि अपना पेट काट-काटकर जोड़ रहे हो, न कभी अच्छे से खा ही पाते हो, न अच्छे वस्त्र पहन पाते हो, न अपना इलाज करा पाते हो, घर-परिवारीजनों की इच्छाएँ भी पूर्ण नहीं करते क्योंकि धन खर्च हो जाएगा तो यह ठीक नहीं है। यदि तुम्हारे भाग्य का धन नहीं है तो कोई और खा जाएगा। वह लुब्धदत्त भी ऐसा ही था। उसके पास सब कुछ था पर उसे लगता था मैं और कमाकर लाऊँ। वह व्यापार करने विदेश चला गया। संयोग की बात उसने अच्छा लाभ भी प्राप्त किया। भाग्य से कहीं धन कमा लिया जाए तो उसे दान दे दो, दान नहीं दोगे तो कहीं न कहीं तुम्हारा धन फँस कर ही रह जाएगा।

कई बार व्यक्ति आते हैं, कहते हैं महाराज श्री! हमारा लाखों-करोड़ों रुपया फँसा पड़ा है। एक व्यक्ति तो बोला महाराज 500 करोड़ रु. फँसे पड़े हैं, हमें आश्चर्य हुआ, हमने पूछा-ईमानदारी से बताओ तुम्हारा सही में 500 करोड़ रुपया फँस गया, 500 करोड़ रुपया तुम्हारे पास था तभी तो फँस गया। तुमने क्या कभी अपने पूरे जीवन में 50 करोड़ का दान दिया है, उसने निगाह नीची करके गर्दन हिला दी। हमने कहा- सही-सही बताओ वास्तव में क्या तुमने ईमानदारी से धर्म के लिए, देव-शास्त्र-गुरु के लिए, तीर्थक्षेत्रों के लिए, मंदिर के लिए, जिन आगम के लिए अथवा किसी भी पुण्य कार्य के लिए क्या जीवन में 5 करोड़

का दान दिया है, उसने हाथ जोड़ दिए, कहा शर्मिन्दा मत करो मैंने जीवन में 5 करोड़ क्या 5 लाख तक का दान नहीं दिया। जब 5 लाख तक का दान भी नहीं दिया तो भाई! तेरा पैसा सुरक्षित कैसे रहेगा। व्यक्ति दुकान से सौदा लाता है तो किसी पैकेट में रखकर लाता है, यूँ ही शक्कर को कोई हाथ में पकड़कर नहीं लाता या घी को पकड़कर नहीं लाता वह पैकेट उस वस्तु की सुरक्षा के लिए होता है। वह पैकेट उस द्रव्य के भाव में तो आता है किन्तु वह नहीं है अर्थात् उसी वस्तु के मूल्य के साथ उस पैकेट का मूल्य चुकाया किन्तु वह सुरक्षा के लिए जरूरी था। ऐसे ही धन की सुरक्षा के लिए दान देना अत्यन्त आवश्यक है। दान देते रहोगे तो आपका एक पैसा भी डूब नहीं सकता, दान देते रहोगे तो जीवन में कभी प्रतिकूलता न होगी।

उस लुब्धदत्त ने धन तो कमाया लेकिन दान देने का भाव कभी मन में नहीं आया। धन कमाते-कमाते उसने बहुत सारे रत्न इकट्ठे कर लिए और अपने देश की ओर लौटने को हुआ। जब वह समुद्री मार्ग से आ रहा था तो बदमाशों ने उसका सारा धन लूट लिया व जहाज भी तोड़ दिया। वह जैसे-तैसे लकड़ी के तख्ते के सहारे किनारे पर आया। वह जंगल में अपना माथा धुनता है, अब मैं क्या करूँ, पिता के पास कैसे लौटकर जाऊँ, मेरा नगर बहुत दूर है।

तदनंतर वह अत्यन्त निर्धन होकर किसी मार्ग से आ रहा था, वह भूखा-प्यासा तो था ही उसने वहाँ एक ग्वाला देखा। वह ग्वाला छाछ से अपनी रोटी खा रहा था। लुब्धदत्त ने कहा-मुझे भी कुछ दे दो। ग्वाले ने कहा-ठीक है मट्ठा तुम पी लो, मैं नमक से रोटी खा लूँगा। लुब्धदत्त ने मट्ठा पी लिया, पीकर मुँह पर हाथ फेरा तो छाछ का कुछ मक्खन मूँछों में लग गया। उसने विचार किया यह तो अच्छा काम है, अब मैं इससे व्यापार करूँगा, घर लौटकर नहीं जाऊँगा। वह अब प्रतिदिन नगर में घूमता, छाछ माँगकर पीता और जैसे ही मूँछों में कुछ नवनीत आता तो उसे इकट्ठा करता जाता। वह वहीं झोंपड़ी बनाकर रहने लगा। प्रतिदिन मक्खन संचय करने से उसका श्मश्रुनवनीत नाम प्रसिद्ध हो गया। श्मश्रु अर्थात् मूँछ, नवनीत अर्थात् मक्खन। इस प्रकार वह एक मटकी में नवनीत इकट्ठा करने लगा और उसके पास एक प्रस्थ प्रमाण घी हो गया।

सर्दी का समय था, दिन में बिस्तर पर लेटा था और वहीं लेटे-लेटे विचार कर रहा था कि मैं इस घी को बेचकर के बकरी खरीदूँगा। उन बकरियों को बेचकर गाय खरीदूँगा, उससे बहुत सारा दूध-मट्ठा होगा, इससे घी प्राप्त कर मैं व्यापार करके नगर सेठ बन जाऊँगा, फिर धीरे-धीरे सामंत, महासामन्त राजा और अधिराजा बन जाऊँगा। मेरी शादी किसी राजकुमारी से

होगी। उस समय मैं अपने महल में शय्यातल पर पड़ा होऊँगा, चरणों के समीप बैठी मेरी स्त्री मेरे पैर दबाएगी और मैं स्नेहवश उससे कहूँगा तुझे पैर दबाना भी नहीं आता, ऐसा कहकर मैं पैर से उसे ताड़ित करूँगा। ऐसा विचार कर उसने जैसे ही पैर उठाकर लात मारी नीचे उसकी खाट के पास अग्नि जल रही थी, ऊपर घी की मटकी टंगी थी। वह लात मटकी में लगी, मटकी धड़ाम से गिरी, वह घी अग्नि में गया जिससे बहुत जोर से अग्नि प्रज्ज्वलित हो गई व पूरी कुटिया जलकर भस्म हो गई। वह लुब्धदत्त उस अग्नि से निकलने में असमर्थ रहा, वह उसी अग्नि में जलकर मृत्यु को प्राप्त हो गया व दुर्गति का पात्र हुआ।

महानुभाव! लोभी व्यक्ति अपनी जीवन लीला ऐसे ही समाप्त कर देता है और लोभ के कारण दुर्गति को प्राप्त होता है। आप सभी लोभ न करें, जो आपके पास है उसका सदुपयोग करें, अपने धन का दान करें, भोग करें, दूसरों के हित में लगाएँ, यही पुण्य का साधन है। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

श्रावक के आठ मूलगुण

मद्य - माँस - मधु - त्यागैः सहाणुव्रत-पञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥66॥

अन्वयार्थ–मद्यमाँसमधु-त्यागैः सह – मद्य-माँस-मधु त्याग सहित **अणुव्रतपञ्चकम्** – पाँच अणुव्रतों को **श्रमणोत्तमाः** – गणधरादिक आचार्य **गृहिणां** – गृहस्थों के **अष्टौमूलगुणान्** – आठ मूलगुण **आहुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में कारिका नं. 66 में देखते हैं श्रावक के कितने मूलगुण होते हैं? 'मूल' शब्द का अर्थ होता है जड़। जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति नहीं होती, नींव के बिना महल का निर्माण संभव नहीं है, शिखर के बिना कलशारोहण नहीं किया जा सकता, संयम साधना के बिना सल्लेखना की सिद्धि नहीं की जा सकती, चउआराधना सल्लेखना का फल प्रदान करने वाली होती है उसी प्रकार श्रावक के लिए उन आठ मूलगुणों का पालन करना अतिआवश्यक है, जिन मूलगुणों के माध्यम से श्रावक का श्रावकपना ठहर पाता है। श्रावक जिस श्रावकत्व गुण के कारण सम्मानीय, अभिवन्दनीय, प्रशंसनीय होता है, जिनसे श्रावक का मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है वे कौन से मूलगुण हैं?

यूँ तो समय-समय पर अनेक आचार्यों ने श्रावक के मूलगुण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखकर के अलग-अलग से प्ररूपित किए हैं किन्तु आज से लगभग 1900 वर्ष पूर्व हुए आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने श्रावक के आठ मूलगुण इस प्रकार कहे–मद्य, माँस, मधु त्याग व पंच अणुव्रतों का पालन।

जो मोक्षमार्ग का श्रम करते हैं उन्हें श्रमण कहते हैं। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र से बनता है। तीन रत्न में से एक रत्न भी कम हो तो मोक्षमार्ग नहीं बनता और उस मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति मोक्षमार्गी नहीं कहलाता। जब किसी योगी की आत्मा में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र व्यवहार तथा निश्चय रूप से प्रकट होता है तब वह साधक मोक्षमार्गी कहलाता है। उस मोक्षमार्ग का राहगीर श्रमण होता है। संसार के अन्य सभी श्रम तो संसार का संवर्धन करने वाले होते हैं, सिर्फ और सिर्फ रत्नत्रय की, की गई साधना, उसके साथ किया गया मन-वचन-काय का श्रम, वही कर्म का क्षय करने में समर्थ होता है, वही श्रम उन्हें श्रमण और मोक्षमार्गी बनाता है। उस रत्नत्रय से ही योगी धन्यभागी, पूज्यनीय, प्रशंसनीय, वंदनीय और अर्चनीय होता है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि ये श्रावक के 8 मूलगुण मैं नहीं कह रहा। अपितु जो श्रमणों में, मोक्ष का यत्न करने वाले साधु, ऋषि, मुनि, यति, अनगारों में सर्वोत्तम व सर्वश्रेष्ठ हैं, वर्धमान चारित्र को धारण करने वाले हैं, वीतरागी-सर्वज्ञ व परमहितोपदेशी हैं वे अरिहंत परमेष्ठी तीर्थंकर पद से सुशोभित निःसंदेह श्रमणोत्तम हैं, जिनेन्द्र हैं उन्होंने **''अष्टौमूलगुणान्''**- आठ मूलगुणों को **'गृहिणां'** गृहस्थों के कल्याण के लिए कहा है। गृहस्थ अर्थात् घर में वास करने वाले, घर में वास करने का आशय क्या है? जो श्रमण हैं, साधु हैं, त्यागीव्रती हैं वह भी तो किसी भवन में वास करते हैं किन्तु यहाँ गृहिणां शब्द से क्या उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते? नहीं ग्रहण कर सकते। क्यों? क्योंकि गृहस्थ वह कहलाता है जिसके अंदर गृह आदि परिग्रह विद्यमान हो। केवल बाह्य गृह का त्याग करने से वह अनगारी गृहत्यागी नहीं होता। जो अनगार होते हैं वह दस प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं। क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्ण-दासी-दास-कुप्य-भाण्ड ये 10 प्रकार का बाह्य परिग्रह है। 14 प्रकार का अंतरंग परिग्रह होता है-मिथ्यात्व, क्रोध-मान-माया-लोभ और नोकषाय। श्रमणराज इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करते हैं, वे अनगार कहलाते हैं।

श्रमण, साधु, संन्यासी, भदंत, मुनि आदि भी धर्मशाला में, भवन में, मंदिर में, वसतिका में निवास करते हैं किंतु वह स्थान उनके चित्त में निवास नहीं करता। गृहस्थ घर में निवास करे या जंगल में निवास करे किन्तु गृहस्थ के अंदर में गृह बसा हुआ है। किराए के मकान में रह रहा है तब भी मन में लालसा लगी हुई है कब मेरा घर का मकान बने। यदि किराए का मकान नसीब नहीं हो रहा है, फुटपाथ पर सो रहा है तब भी मन में घर बसा हुआ है, कब मेरा मकान बने और मैं घर में रहूँ। तो जिसके मन में घर बसा हुआ है वह गृहस्थ है और जो भवन में रह रहा है किंतु उसमें अपना स्वामित्व नहीं बताता, उसे अपना नहीं मानता, अतिथि है, वह आया, श्रावकों ने स्थान दिया, वह ठहर गया, पुनः आगे विहार कर गया। वे श्रमणोत्तम कहलाते हैं, वे अनगार होते हैं, भदंत होते हैं, ऋषि-मुनि होते हैं। उन्होंने श्रावकों के लिए आठ मूलगुणों की व्याख्या की। क्योंकि श्रावक का उद्देश्य अपने शुद्ध-शाश्वत आठ गुणों को प्राप्त करने का है। जिन आठ गुणों को सिद्धों ने प्राप्त किया है उन आठ गुणों को प्राप्त करने का उद्देश्य उस श्रावक का है जो संसार सागर से पार होना चाहता है, जिसने संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति स्वीकार की है। वह श्रावक सिद्धों के, प्रत्येक शुद्ध आत्मा के उन आठ गुणों को प्राप्त करना चाहता है इसीलिए आचार्य भगवन् कह रहे हैं श्रमणोत्तमों ने श्रावकों के लिए आठ मूलगुण कहे।

उन्होंने कहा कि श्रावक आठ मूलगुणों का पालन करे, वह अष्टद्रव्य से श्री जिनेन्द्र प्रभु की पूजन-अर्चना करे, वह आठ पहर में एक बार भी भगवान् का नाम लेता रहेगा तो आठ कर्मों से मुक्ति सहज में हो जाएगी। यह कर्म का काठ जल जाएगा और धर्म के फल रूप सिद्ध-शुद्ध आत्मा का वैभव, अंतरंग का ठाट-बाट सब मिल जाएगा, अंतरंग का राजपाट सब मिल जाएगा। आचार्य महोदय कहते हैं कि श्रावक को पहले स्थूल पापों का त्याग करना चाहिए। स्थूलपापों का त्याग किए बिना वह श्रावक श्रावकपने को प्राप्त नहीं होता, वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र को भी प्राप्त नहीं कर पाता। तो यहाँ श्रावक के लिए कहा वह 8 मूलगुणों का पालन करे, 5 अणुव्रतों का पालन व मद्य-माँस-मधु का त्याग करे। स्थूल हिंसा का त्याग करे, संकल्पपूर्वक किसी जीव की हिंसा न करे।

'त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे' वह अणुव्रती त्रस जीवों का तो घात करता नहीं, स्थावर जीवों की हिंसा करने में पूर्ण रूप से बचने का प्रयास करता है। वह संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। आरंभी-उद्योगी-विरोधी हिंसा उससे हो जाती है, बचने की कोशिश तो उनसे भी करता है। पुनः वह स्थूल रूप से असत्य का भी त्यागी होती है, वह ऐसा झूठ नहीं बोलता जिस झूठ के कारण धर्म का लोप हो, सिद्धान्त का लोप हो, संस्कृति का लोप हो, मान-मर्यादा का लोप हो, कर्त्तव्यों का लोप हो। जिस झूठ के कारण किसी के प्राण चले जाएँ, कोई व्यक्ति संकट में फँस जाए, जिस झूठ के कारण व्यक्ति का धर्म पर से विश्वास हट जाए, ऐसा झूठ वह कभी नहीं बोलता। वह ऐसा झूठ भी नहीं बोलता जिसके कारण अधर्म की कोई प्रवृत्ति चल जाए, वह तो सत्य बोलने की कोशिश करता है और सत्य की अनुमोदना करता है, सत्य की ही प्रेरणा देता है। वह सत्याणुव्रत का पालन करता है।

वह श्रावक अचौर्याणुव्रत का भी पालन करता है किसी की रखी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई वस्तु को उस वस्तु के स्वामी की अनुमति के बिना स्वीकार नहीं करता। वह ब्रह्मचर्याणुव्रत का भी पालन करता है, अपनी स्वयं की स्त्री जिसके साथ उसने समाज की रीति-नीति के अनुसार, संस्कृति की मर्यादा का ध्यान रखते हुए उसने जिस कन्या को परिणाया है, स्त्री के रूप में स्वीकार किया है, लोकव्यवहार का उल्लंघन नहीं किया है, कुलवंश का उल्लंघन नहीं किया है, जाति के नियमों का उल्लंघन नहीं किया है, ऐसी कन्या को स्त्री के रूप में स्वीकार किया है उसके साथ विषय सेवन करता है अन्य के साथ नहीं करता, अन्य का त्याग कर देता है, उन्हें माता-बहिन-पुत्री के समान मानता है। अपनी स्त्री के प्रति भी अवैध रूप से सेवन नहीं करता है ऐसा वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करता है। स्वयं की स्वकीय परिणायी

स्त्री एक भी हो सकती है, दो भी हो सकती हैं उससे ज्यादा भी हो सकती हैं। चक्रवर्ती की 96000 स्त्रियाँ होती हैं तब भी वह अणुव्रती ही होते हैं। किंतु पर स्त्री के प्रति वह बुरा भाव नहीं रखते हैं।

वह श्रावक परिग्रह की सीमा भी रखता है। निःसीम परिग्रह की कीचड़ में से निकलकर के वह स्वयं का प्रक्षालन करता है। परिग्रह का त्याग करना अपनी आत्मा का अभिषेक करना है, परिग्रह का त्याग करना अपनी आत्मा पर जमी कालिमा को साफ करना है, परिग्रह का त्याग करना अपनी आत्मा को कीचड़ में से निकाल करके परिशुद्ध करना है। इस प्रकार से वह श्रावक पाँच अणुव्रतों का पालन करता है।

महानुभाव! इन पाँच अणुव्रतों का पालन करने के लिए मुख्य रूप से मद्य-माँस-मधु इन तीन का भी त्याग करता है। 'मद्य' अर्थात् शराब का भी त्याग, 'माँस' दो इन्द्रिय आदि जीव के कलेवर को माँस कहते हैं, उसका भी त्याग करता है और 'मधु' अर्थात् शहद, जो मधुमक्खियों के द्वारा पराग लाया जाता है वह उनकी झूठन है, उसमें ही उनका मल एकत्रित होता है, गंदगी होती है, उसमें जीवों का उत्पन्न होना और मृत्यु होना भी संभव है वह मधु कहलाता है। सदाचारी-सज्जन-श्रेष्ठ पुरुष उस मधु का सेवन नहीं करते। इस प्रकार वह श्रावक मद्य का त्याग, माँस का त्याग, मधु का त्याग और पाँच अणुव्रतों का पालन करने वाला होता है। महानुभाव! श्रावकों के आठ मूलगुणों का उल्लेख कई प्रकार से मिलता है, सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य महोदय समंतभद्रस्वामी जी का स्वयं का मिलता है जिसमें उन्होंने मद्य, माँस, मधुत्याग व अहिंसादि पाँच अणुव्रतों को सम्मिलित किया है, और आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामी जी ने महापुराण में पाँचों पापों के त्याग के साथ जुआ, मद्य और माँस का त्याग करना अष्टमूलगुण कहा। पुनः आचार्य जिनसेन जी के परवर्ती आचार्यों ने और भी सरलता करते हुए सोमदेव आचार्य ने पाँच उदम्बर फलों के साथ मद्य, माँस, मधु को त्याग करना गृहस्थों के अष्टमूलगुण कहे, तथा इसी बात को पुष्ट करते हुए आचार्य भगवन् अमृतचन्द्रस्वामी जी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा-

मद्यं माँसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरति-कामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥61॥

हिंसा को छोड़ने की इच्छा करने वाले पुरुषों को सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक मदिरा, माँस, मधु, पांच उदम्बर फल को छोड़ देना चाहिए।

अष्टावनिष्ट-दुस्तर-दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥74॥

इन आठ कठिनता से छूटने वाले और पापों की खान स्वरूप फलों को छोड़कर ही शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश को ग्रहण करने के पात्र होते हैं।

इस प्रकार आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से मूलगुणों का कथन किया, परन्तु सर्व आचार्यों का सार एक ही है ''अहिंसा धर्म का पालन'' जिन वस्तुओं का भक्षण करने से त्रसजीवों का घात होता हो उन सभी वस्तुओं के भक्षण का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार 'अष्टौमूलगुणा' वह आठ मूलगुणों का पालन करता है। आठ मूलगुण श्रावक धर्म के आठ अंग की तरह से हैं। जिस तरह शरीर में एक अंग खण्डित हो जाए तो वह पूर्णांगी नहीं होता, अंगविहीन होता है। जैसे सम्यक्त्व के आठ अंग होते हैं एक अंग भी खण्डित हो जाए तो सम्यक्त्व पूर्ण नहीं होता, ऐसे ही सम्यग्ज्ञान के आठ अंग होते हैं, एक अंग भी खण्डित हो जाए तो सम्यग्ज्ञान पूर्ण नहीं होता। इसी तरह से यहाँ कहा श्रावक के भी आठ मूलगुण होते हैं उन मूलगुणों का वह पूर्ण श्रद्धा के साथ, शक्ति के अनुसार पालन करता है और उनका पालन करता हुआ महाव्रतों की ओर अग्रसर रहता है।

इस प्रकार इस 66 वें श्लोक में आचार्य महोदय ने अष्ट मूलगुणों को पालन करने की प्रेरणा दी। हमें आशा है आप सभी श्रावक-श्राविका अपनी शक्ति के अनुसार इन 8 मूलगुणों का अवश्य ही पालन करेंगे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

4

गुणव्रताधिकार

गुणव्रतों के नाम

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुवृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः॥67॥

अन्वयार्थ–आर्याः – गणधरादिक देव **गुणानाम्** – अष्ट मूलगुणों को **अनुवृंहणात्** – बढ़ाने से **दिग्व्रतं अनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग-परिमाणम्** – दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण को **गुणव्रतानि** – गुणव्रत **आख्यान्ति** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार के 66 वें श्लोक में देखा कि आचार्य महोदय ने श्रावक के आठमूलगुणों की चर्चा की। मद्य-माँस-मधु का त्याग व अहिंसादि 5 अणुव्रतों का पालन करना गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं। स्थूल पापों का त्याग करना अणुव्रत है। पाप ही दु:ख है, पाप ही संसार है, जो पापों से बच गया समझो दु:खों से बच गया, जो पापों से बच गया समझो संसार से बच गया। जो भव्यजीव निकट भविष्य में मोक्ष जाने की पात्रता रखते हैं वे मनसा-वाचा-कर्मणा, कृत-कारित-अनुमोदना से पाँचों पापों का पूर्णतया त्याग करते हैं। किन्तु श्रावक पाँचों पापों का पूर्णतया त्याग करने में असमर्थ होता है इसलिए वह पाँचों पापों का एक देश त्याग करता है। उन अणुव्रतों का पालन करते-करते उसके चित्त में भाव आता है कि मैं कब महाव्रती बनूँ, कब मेरे अणुव्रत महाव्रत रूप में परिणत हों, कब मेरा अहिंसाणुव्रत अहिंसा महाव्रत बने, कब सत्याणुव्रत सत्यमहाव्रत बने, कब अचौर्याणुव्रत अचौर्य महाव्रत बने, कब ब्रह्मचर्य अणुव्रत ब्रह्मचर्य महाव्रत बने और कब यह परिग्रहपरिमाण अणुव्रत अपरिग्रह महाव्रत बने। इस प्रकार जब गृहस्थ इन पाँच अणुव्रतों का पालन करने के साथ-साथ तीन मकार मद्य-माँस-मधु का त्याग करता है तब ये उसके आठ मूलगुण कहलाते हैं।

महानुभाव! अब वह संवेगी श्रावक-श्राविका पाँच अणुव्रतों का पालन करते-करते गुणव्रतों को धारण करने का भाव रखते हैं। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने चतुर्थ अध्याय में श्रावक के

तीन गुणव्रत और चार-शिक्षाव्रतों का कथन किया है। यहाँ 67 वें श्लोक में आचार्य महोदय आर्यजनों के गुणव्रतों को बता रहे हैं। यहाँ आर्य शब्द से क्या अर्थ लेना है? क्या भोगभूमि के आर्य से अर्थ लेना है? नहीं, आर्य शब्द से यहाँ लेना है उच्चकुलीन, जिसने श्रेष्ठ कुल में जन्म लिया। कौन से कुल में? राजकुल में जन्म लेने वाला, वैश्यकुल में जन्म लेने वाला? नहीं, वह भी अपेक्षा नहीं है यहाँ श्रेष्ठ कुल माना जाता है गुरुकुल, जिसने गुरुकुल में जन्म लिया। गुरुकुल का आशय जो पूर्व में पाठशालाएँ चलती थी, जंगल में आश्रम चलते थे, राजकुमार आकर के शिक्षा प्राप्त करते थे तो क्या उसमें शिक्षा प्राप्त करने वाले आर्य? नहीं, वह भी नहीं, गुरुकुल का आशय होता है गुरु अर्थात् श्रेष्ठ कुल, दिगम्बर साधुओं के वंश में जन्म लिया हो, दिगम्बर श्रमणों का कुल ही उच्च कुल है। अर्थात् आर्य उसे कहेंगे जो यथाजात दिगम्बर है। आर्य पुरुष का अर्थ है यथाजात दिगम्बर श्रमण। यहाँ पर आर्य कहा जो दिगम्बर हैं, आचार्य हैं, उपाध्याय हैं, मुनि हैं, गणधर परमेष्ठी हैं। इतना ही नहीं आर्य पुरुष से उन आर्य को भी लेना है जिन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना करके केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंत सुख व अनंत शक्ति को प्राप्त कर लिया है। आर्य पुरुष तीर्थंकर केवली भगवान् को भी कहते हैं, आर्य पुरुष श्रुतकेवली व गणधरों को भी कहते हैं, आर्यपुरुष मति-श्रुत-अवधि व मनःपर्ययज्ञानधारी मुनिराज को भी कहते हैं अर्थात् जो प्रत्यक्षज्ञानी हैं, जो लोक-अलोक को जानने वाले, ऐसे सर्वज्ञ देव ने श्रावक के लिए तीन गुणव्रत कहे।

गुणव्रत क्या होते हैं? जो व्रत अणुव्रतों का संवर्धन करें, वृद्धि करें वे गुणव्रत कहलाते हैं। गुणव्रतों का पालन किए बिना श्रावक व श्राविका के व्रतों में वृद्धि नहीं होती और जब तक अणुव्रतों में वृद्धि नहीं होती तब तक वह मुनि और आर्यिका बनने की शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाता, तब तक वह आगे वाली सीढ़ी नहीं चढ़ पाता। सर्वप्रथम वह पाँच अणुव्रतों को स्वीकार करता है पश्चात् तीन गुणव्रत को स्वीकार करता है तदनन्तर वह चार शिक्षाव्रतों को स्वीकार करता है। अतः जो अणुव्रती हैं वे अपने गुणों में वृद्धि करने के लिए गुणव्रतों का पालन करें।

ऐसा संसार में कौन है जो गुणों की वांछा नहीं करता। **'गुणाः सर्वत्र पूज्याः'** गुण सर्वत्र पूज्य होते हैं। **'सज्जनानाम् कुलेषु गुणाः सर्वत्र पूज्याः'** सज्जनों के कुल में गुणों की हमेशा पूजा होती है। **'दुर्जनानाम् कुलेषु न कदापि पूज्याः गुणाः'** दुर्जनों के कुल में गुणों की कभी पूजा नहीं होती। वे तो दुष्ट व दुर्जनों को

श्रेष्ठ मानते हैं, उन्हीं की प्रशंसा करते हैं, उन्हीं की प्ररेणा व उनसे ही प्ररेणा लेते हैं। दुर्जन दुर्जनता की प्रेरणा देता है, दुष्ट दुष्टता की प्रेरणा देता है किन्तु गुणीजन गुणों की प्ररेणा देते हैं। जो गुणार्थी हैं, गुणाभिलाषी हैं, गुणों के वांछक हैं, उन पुरुषों व महिलाओं को, बालक-बालिकाओं को गुणों की प्ररेणा दी जाती है। जो कोई भी गुणों की प्ररेणा दे वे सज्जन पुरुष कहलाते हैं, आर्य कहलाते हैं। आर्यसंस्कृति में गुणों का बड़ा महत्व है, गुणों की पूजा की जाती है, गुणों की पूजा करने से ही गुणी की पूजा हो पाती है। व्यवहार में हम गुण और गुणी को अलग-अलग कहते हैं किन्तु वास्तव में गुण और गुणी दोनों अभेद रहते हैं जैसे अग्नि में अग्नि की ऊष्णता, जल में जल की शीतलता, किसी मीठे पदार्थ में उसकी मिठास, किसी तिक्त पदार्थ में उसकी तिक्तता, किसी पुष्प में उसकी गंध जिस प्रकार अभेद रूप से घुले-मिले रहते हैं उसी प्रकार गुण गुणी में अभेद रूप से मिले होते हैं।

यहाँ पर बताया कि अणुव्रतों की वृद्धि के लिए आर्य पुरुष गुणव्रतों को कहते हैं। भव्यजीव, श्रावक-श्राविका, सम्यग्दृष्टि महानुभाव, अपने आत्मकल्याण के इच्छुक इन तीन गुणव्रतों को स्वीकार करें। व्रत का अर्थ होता है संकल्प लेना, व्रत का अर्थ होता है प्रतिज्ञा लेना, प्रण कर लेना। तो वे तीन प्रतिज्ञाएँ कौन सी हैं जिन्हें लेने से अणुव्रतों में वृद्धि होती है। तो आचार्य महोदय ने बताया—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाणव्रत। दिग्व्रत-दिग् अर्थात् दिशा। यथाजात निर्ग्रंथ मुनिराज को आप दिगम्बर कहते हैं। दिगम्बर का अर्थ ये है कि वे मुनिराज दिशाओं को ही अपना वस्त्र बनाते हैं। उनके अलग से वस्त्र नहीं होते, दशों दिशाएँ उनके वस्त्र हैं, वे ही आवरण हैं अन्यथा उनका पूरा शरीर निरावरण है। यहाँ 'दिग्व्रत' कहा तो दिशाओं का व्रत कैसे लेना? उससे अणुव्रत में वृद्धि कैसे हो जाएगी? दिशाएँ दस होती हैं, कोई भी श्रावक व श्राविका दसों दिशाओं में गमन तो करता नहीं, वह तो कभी निवास (ठहरता) भी करता है, वह कुछ क्षेत्र में गमन करता है। जितने क्षेत्र में गमन करना शक्य हो उतने क्षेत्र की ही मर्यादा ले लो तब भी वह आपका दिग्व्रत कहलाएगा। मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर नहीं जा सकता तो पहली प्रतिज्ञा ऐसी ही ले लो कि मैं इस मनुष्य पर्याय में कभी ढाईद्वीप के बाहर नहीं जाऊँगा या सुमेरुपर्वत की चोटी के ऊपर इस शरीर के साथ मनुष्य नहीं जा सकता तो कम से कम वहाँ तक की प्रतिज्ञा ले लो कि मैं सुमेरुपर्वत की चोटी के ऊपर नहीं जाऊँगा।

मनुष्य चित्रा भूमि के अंदर नहीं जा सकता है तो दिग्व्रत में यही प्रतिज्ञा ले लो कि मैं चित्राभूमि के नीचे नहीं जाऊँगा। यदि इतने में आपका काम चल जाए तो शेष दिशाओं में

गमनागमन का त्याग कर दो। यदि इससे कम में काम चल जाए तो फिर प्रतिज्ञा ऐसी ले लो कि मैं जम्बूद्वीप के बाहर नहीं जाऊँगा। ऊपर जो विमान हैं ज्योतिषी देवों के 790 यो. से लेकर 900 योजन तक उतने क्षेत्र को पार नहीं करूँगा। वैसे इतनी सामर्थ्य अभी पार करने की है नहीं, पर इतनी ही प्रतिज्ञा ले लो। यदि और कम कर सकते हो तो आप लोग भरतक्षेत्र में रह रहे हैं इतनी प्रतिज्ञा ले लो कि भरत क्षेत्र के बाहर नहीं जाऊँगा। यदि इससे भी कम में काम चल सकता है तो अभी आप लोग आर्यखण्ड में रह रहे हो तो इतनी प्रतिज्ञा ले लो कि मैं जीवन पर्यंत आर्यखण्ड के बाहर नहीं जाऊँगा। और यदि इससे भी कम में काम चल जाए, आपका भारत देश में रहने से काम चल जाए तो अन्य सभी क्षेत्र में गमनागमन का त्याग किया जा सकता है और जिस क्षेत्र में जाना संभव हो सके उस क्षेत्र का नियम ले लो कि भारत देश के आसपास 2000-5000-20 हजार-50 हजार किलोमीटर तक जाऊँगा, इससे आगे नहीं जाऊँगा। ऊपर यदि हवाई यात्रा करनी है तो प्रतिज्ञा की जा सकती है कि जहाँ तक यान जा सकता है वहाँ तक की मर्यादा ले लो और नीचे जहाँ तक जाना शक्य हो वहाँ तक मर्यादा ले लो ये दिग्व्रत कहलाता है। पर इस दिग्व्रत से लाभ क्या है? लाभ ये है जितनी आपने मर्यादा ले ली उस मर्यादा के बाहर के सम्पूर्ण क्षेत्र का आपने त्याग कर दिया तो आपको उस क्षेत्र में रहने वाले जीव के घात का प्रसंग नहीं आएगा। उन जीवों का आपके मन-वचन-काय से कोई सम्पर्क नहीं है तो तद्-क्षेत्र संबंधी आस्रव नहीं होगा।

अगला व्रत है अनर्थदण्ड व्रत। इसका अर्थ होता है अनावश्यक कार्य नहीं करना। निष्प्रयोजनीय हिंसा जन्य कार्य नहीं करना। प्रयोजनवश श्रावक-श्राविका कार्य करते हैं, उनसे कभी उद्योगी-आरंभी-विरोधी हिंसा हो जाती है वह करता नहीं। संकल्पी हिंसा का तो वह त्यागी होता है किन्तु फिर भी निष्प्रयोजन हिंसादि कार्य क्यों करना। अनर्थदण्ड मुख्य रूप से पाँच प्रकार के माने हैं। पापोपदेश, हिंसादान अपध्यान, दु:श्रुति व प्रमादचर्या ये पाँच प्रकार के अनर्थदण्ड हैं। इन पाँच प्रकार के अनर्थों से विरक्त हो जाना अनर्थदण्डविरति व्रत है। किसी भी जीव को पाप का उपदेश देना पापोपदेश कहलाता है। अत: किसी को कभी पाप का उपदेश मत दो। न हिंसा की प्रेरणा, न झूठ की प्रेरणा, न चोरी करने की प्रेरणा, न अब्रह्म की प्रेरणा और न परिग्रह संचय की प्रेरणा।

अगला है 'हिंसादान'। हिंसा आदि के उपकरणों को भी दान न दें। तलवार छुरी, चाकू, कटारी, भाला आदि अस्त्र-शस्त्र होते हैं, इनमें जीव घात संभव है इसलिए इन हिंसक वस्तुओं

का दान नहीं देना चाहिए। अगला है 'दु:श्रुति'। अर्थात् खोटी पुस्तकें पढ़ना व सुनना। खोटी पुस्तकों को पढ़ने से विचार भी मलिन होते हैं, मन दूषित होता है, वचन भी अपशब्द या कुवचन रूप से निकलने लगते हैं और शरीर की चेष्टाएं भी खोटी होने लगती हैं इसलिए दु:श्रुति अनर्थदण्ड से भी बचें। अगला है 'अपध्यान' कभी भी खोटा ध्यान, आर्त्तध्यान मत करो, रौद्रध्यान मत करो और अंतिम है 'प्रमादचर्या' कभी प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति मत करो, विवेकपूर्वक सोच-समझकर व आलस्य का त्याग करके अपनी प्रवृत्ति करना चाहिए। यह अनर्थदण्ड के पाँच भेद संक्षेप में कहे, आचार्य महोदय आगे-आगे गाथाओं के माध्यम से विस्तार में भी कहेंगे। क्योंकि जब तक इनके अर्थों के बारे में नहीं जानोगे तब तक त्याग कैसे करोगे।

बिन जानन तें दोष गुनन को कैसे तजिये गहिए।

बिना जाने दोषों का परित्याग संभव नहीं है और बिना जाने गुणों का आहरण अर्थात् ग्रहण संभव नहीं है। और तीसरा कहा 'भोगोपभोग परिमाण' व्रत। भोग तथा उपभोग की वस्तुओं का कुछ समय का नियम लेकर अथवा जीवन पर्यन्त के लिए परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। जो वस्तु एक बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन, पेयपदार्थ आदि और जो बार-बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र, आभूषण, वाहन, शय्या आदि। इनका परिमाण काल का नियम लेकर अथवा जीवन पर्यन्त के लिए दोनों प्रकार से होता है। आचार्य भगवन् उमास्वामी जी ने दिग्व्रत-देशव्रत व अनर्थदण्डव्रत इन तीनों को गुणव्रत माना है और यहाँ आचार्य महोदय ने दिग्व्रत, अनथर्दण्डविरतिव्रत व भोगोपभोगपरिमाणव्रत को गुणव्रत माना है। आचार्य महोदय का अभिप्राय जान पड़ता है कि भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करने से परिग्रहपरिमाणाणुव्रत की वृद्धि होती है, रक्षा होती है इसीलिए इसे गुणव्रत में सम्मिलित करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ संक्षेप में गुणव्रतों के नाम देखे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दिग्व्रत का लक्षण

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्नयास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै॥68॥

अन्वयार्थ–अणुपापविनिवृत्यै – सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति के लिए **आमृति** – मरणपर्यंत, **दिग्वलयं** – दसों दिशाओं का **परिगणितं कृत्वा** – परिमाण करके **अतः बहिः** – इससे बाहर **अहं** – मैं **न यास्यामि** – नहीं जाऊँगा **इति संकल्पः** – इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना **दिग्व्रतं** – दिग्व्रत है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्रावकों की आचार संहिता को देख रहे हैं व आचरण में लाने का प्रयास कर रहे हैं। जिस प्रकार सछिद्र अंजुलि में जल नहीं ठहरता ऐसे ही मूलगुणों के बिना श्रावक का श्रावकपना, मुनिराजों का मुनित्व नहीं ठहरता। आचार्य महोदय ने जहाँ पाँच अणुव्रतों को मूलगुण में सम्मिलित किया वहाँ मद्य-माँस-मधु के त्याग को भी सम्मिलित किया। चतुर्थ अध्याय का प्रारंभ करते हुए उन्होंने अणुव्रतों में गुणों की वृद्धि करने हेतु तीन गुणव्रतों का कथन किया। पूर्व कारिका में उन गुणव्रतों के नाम देखे। दशों-दिशाओं की मर्यादा यावज्जीवन के लिए लेना दिग्व्रत है। निष्प्रयोजनीय पापवर्धक क्रियाएँ नहीं करना अनर्थदण्डविरति व्रत है और एक बार जो सेवन में आए वह भोग, बार-बार जो सेवन में आए वह उपभोग इसका परिमाण कर लेना यह भोगभोगपरिमाण व्रत है। ये तीन गुणव्रत तीर्थंकरादि महापुरुषों ने श्रावकों के अणुव्रतों में वृद्धि करने के लिए कहे।

आचार्य महोदय बता रहे हैं कि यह दिग्व्रत क्यों लिया जाता है, इसका स्वरूप क्या है। एक-एक शब्द का अर्थ देखते हैं। **'दिग्वलयं'** वलय अर्थात् मण्डल, चूड़ी अर्थात् जहाँ से मर्यादा का प्रारंभ हो वही पर आकर अंत हो, बीच में किंचित् भी कोई विग्रह न हो। जैसे लवण समुद्र जंबू-द्वीप को वलयाकार से घेरे हुए है व लवण समुद्र को वलयाकार से धातकीखण्ड द्वीप घेरे हुए है, धातकी खण्ड को कालोदधिसमुद्र घेरे हुए है व कालोदधि समुद्र को पुष्करार्द्ध द्वीप घेरे हुए हैं व पुष्करार्द्ध द्वीप को मानुषोत्तर पर्वत घेरे हुए है, उसके आगे उत्तर पुष्करार्द्ध व उसके आगे-आगे अन्य द्वीप- समुद्र वलयाकार रूप से घेरे हुए हैं। अब यहाँ पर श्रावक व श्राविका दिग्व्रत को जब स्वीकार करें तब स्वयं को स्वयं में संकुचित करने का प्रयास करें। मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को संकुचित और आत्मा के प्रदेशों को विस्तार देने के लिए उत्सुक

रहें। मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से आस्रव होता है। जब चित्त में करुणा-दया का भाव आता है, उदारता का भाव आता है, वैराग्य का भाव आता है, समता का भाव आता है तब उसके चित्त में यह भाव आता है कि सभी आत्माएँ मेरे समान हैं, किसी को भी मेरे माध्यम से कष्ट न हो, कोई भी आत्मा मेरे माध्यम से संक्लेशित न हो, मैं किसी के आर्त्तध्यान में निमित्त न बनूँ, मैं किसी के दु:खद जीवन में निमित्त न बनूँ, मैं किसी के लिए पाप का कारण न बनूँ, मैं किसी के लिए पतन का कारण न बनूँ। मेरे कारण कोई व्यक्ति तीव्र पाप करने को उतारू न हो जाए, मेरे शब्दों को कहने से सामने वाले को क्रोध आता है तो मुझे उसके सामने वैसे शब्द नहीं कहने।

अब आप कहेंगे इसमें मेरी क्या गलती है क्रोध तो सामने वाला कर रहा है? नहीं, उस समय हमें मौन धारण कर लेना चाहिए जिससे उसकी कषाय प्रज्ज्वलित न हों, कषायों का प्रकर्ष न बढ़े, कषाएँ उद्दीप्त न हों यह भी हम अपने संसार को संकुचित करने की प्रक्रिया कर रहे हैं। तो यहाँ बताया-'दिग्वलयं परिगणितं'-चारों तरफ से गणना करके। जैसे कोई बॉल होती है, बॉल के अंदर बैठा हुआ कोई जीव जिसने सब तरफ से अपनी मर्यादा कर ली, मैं यहाँ सुरक्षित हूँ, बाहर नहीं जाऊँगा। जैसे कच्छप (कछुआ) सामने भय का आभास हो तो अपने अंग-उपांग को संकुचित कर लेता है। ऐसे ही संयमी साधु भी अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करते हुए अपनी प्रवृत्ति संकुचित कर लेते हैं। अभी वह श्रावक मुनि नहीं बना, अपने अणुव्रतों की वृद्धि कर रहा है तो उसने सर्वप्रथम बाहर आना-जाना बंद किया कि इन सबकी आवश्यकता नहीं है, मैं अपने इतने क्षेत्र से ही काम चलाऊँगा, इसके बारह नहीं जाना। वह इस प्रकार अपनी सीमाओं को कम करता है।

वह श्रावक इन दिशाओं की मर्यादा वलय रूप से ऊर्ध्व से अधोदिशा तक व चारों दिशा- विदिशाओं में करता है। यह मर्यादा उसने संकल्पपूर्वक ग्रहण की कि जो मर्यादा दसों दिशाओं की ली है उससे बाहर मैं नहीं जाऊँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके **'दिग्व्रतं आमृति'** दिग्व्रतों को मृत्यु पर्यंत के लिए स्वीकार करता है। देशव्रत को घड़ी-घंटा-पहर अहोरात्रि-सप्ताह-पक्ष-ऋतु-मास-अयन-वर्ष-युग आदि समय तक के लिए लेता है, उसमें तो समय की मर्यादा है किन्तु दिग्व्रत तो जीवन पर्यंत के लिए लिया जाता है, एक बार जो मर्यादा ले लो इसके बारह आना-जाना बंद।

कोई व्यक्ति पूछे-इस प्रकार की मर्यादा लेने से लाभ क्या है? पाँच अणुव्रतों की बात तो समझ में आ गई और स्थूल रूप से पाँच पापों का त्याग कर दिया। किन्तु दिग्व्रत की मर्यादा लेने से कौन सा लाभ हो गया? तो आचार्य महोदय कह रहे हैं जिसने दिग्व्रत की मर्यादा ले

ली वह मर्यादा के बाहर क्षेत्र संबंधी सूक्ष्म पापों से भी मुक्त हो गया। इसलिए प्रयोजन दे दिया **'पापविनिवृत्यै'।** पापों से निवृत्ति, कौन से पापों से निवृत्ति? तो कहा **'अणु'** छोटे-छोटे पापों से निवृत्ति के लिए दिग्व्रत की सीमा स्वीकार करनी चाहिए। क्योंकि जब मर्यादा ले ली तो उस मर्यादा के बाहर हमें नहीं सोचना, वहाँ से कोई वस्तु नहीं मँगाना, कोई सम्पर्क नहीं करना, बस इतने में ही रहना है।

किसी पिता के पास चार मकान हों, उसके चार बेटे हों तो वह सोचता है चारों बेटों को चारों मकानों में अलग-अलग सेट कर दूँ। उसके चार मकान चार अलग-अलग महानगरों में हैं। चारों बेटों को सेट कर दिया तो क्या चारों बेटों में प्रेम भाव संवर्धित हो पाएगा, क्या चारों बेटे आपस में मिल पाएँगे? जो जिस स्थान पर रहता है वह उसी स्थान से स्नेह करता है, जिसके साथ रहता है उसी के साथ राग और द्वेष की प्रवृत्ति करता है। दूरवर्ती तो फिर दूर होता चला जाता है और जो दूर होता चला जाता है वह टूट जाता है। यदि आप पाप के समीप रहेंगे तो आपका पाप क्रियाओं के प्रति राग-द्वेष रहेगा, पाप से मित्रता रहेगी, पाप से परिचय रहेगा और पाप को दूर से छोड़ दोगे तो एक दिन पाप स्वयं आपको छोड़कर चला जाएगा। तो दिग्व्रत का आशय हुआ कि मर्यादा के बाहर क्षेत्र में न तो आप स्थूल पाप कर रहे हैं और न सूक्ष्म पाप कर रहे हैं। तथा वह श्रावक व श्राविका जिसने दिग्व्रत में जो सीमा ली है उस सीमा के अंदर स्थूल पापों का त्याग किया है सूक्ष्म पापों का नहीं, सूक्ष्म पाप तो वहाँ पर संभावित हैं।

तो यहाँ पर छोटे-बड़े सभी पापों से बचने के लिए दिग्व्रत को स्वीकार करने की बात कही। उदाहरण से समझें–किसी गोदाम में पुष्पों के 500 बोरे पैक रखे थे, वे बोरे बस कुछ ही क्षणों में load होकर कहीं बाहर जाने थे। किंतु किसी कारण से वे बोरे वहाँ से नहीं गए। उस गोदाम मालिक का छोटा बालक खेलता हुआ आया और उन बोरों पर कूदने लगा। उछल-कूद करने से फूल कुचल रहे हैं किन्तु बेटे को बड़ा आनंद आ रहा है। मालिक ने उसे मना किया किन्तु वह फिर भी नहीं मान रहा, थोड़ा ज्यादा मना किया तो रोने लगा। अब क्या करें? बच्चे को कैसे समझाएँ? संयोग वशात् ट्रक आ गया, उस ट्रक में 400 बोरे चले गए। अब 100 बोरे बचे। अब बालक 500 बोरों पर कूदेगा या 100 बोरों पर? सहज बात है जब वहाँ 400 बोरे हैं ही नहीं तो वहाँ कैसे कूदेगा? कदाचित् पुनः कोई वाहन आया तो वहाँ से 50 बोरे और चले गए, पुनः कोई वाहन आया तो 20 बोरे और चले गए। बोरे क्रम-क्रम से 10, 5 ही रह गए और कम करते-करते दो बोरे रह गए। वह बालक अभी भी उछल-कूद कर रहा है किन्तु उसका क्षेत्र सीमित होता चला गया।

अब वह एक बोरे पर कूद रहा है। 499 बोरे उससे दूर हो गए। दूर हो गए अर्थात् उसकी सीमा के बाहर हो गए, अब वह उन पर कूद नहीं सकता। उस संबंधी उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, उसकी प्रवृत्ति वहीं होगी जो सामने रखा होगा। ऐसे ही जो श्रावक दिग्व्रत ले लेता है, सीमा के बाहर आने-जाने का त्याग कर दिया तो उसकी चर्चा भी छूट गई। कई बार आप कहते हैं अरे भाई! जिस रास्ते पर चलना ही नहीं है उस रास्ते के कोस क्यों गिनो अथवा ऐसे भी कहते हैं—भाई! तुझे आम खाने हैं या पेड़ गिनने हैं। जो तेरा प्रयोजन है वह बात व कार्य करो, निष्प्रयोजन कार्य क्यों करना। जब तुझे कभी चन्द्रमा पर जाना ही नहीं है और तू पूछे कि चन्द्रमा पर कितने बड़े प्लॉट हैं, कितने का एक प्लॉट मिल जाएगा। तो ऐसी अनावश्यक चर्चा ही क्यों करना, बुद्धिमान् व्यक्ति कहेगा यह चर्चा करना तो समय को बर्बाद करना है और क्षयोपशम का दुरुपयोग करना है। इसीलिए व्यक्ति कहता है प्रयोजन की बात करो। आप जहाँ रह रहे हैं वहीं की बात करो।

महानुभाव! यदि सभी व्यक्ति दिग्व्रत का पालन करें तो आपस में प्रेम वात्सल्य की वृद्धि हो, परस्पर सहयोग की भावना की वृद्धि हो, भारत आत्मनिर्भर बने। यह दिग्व्रत भी निःसंदेह आपस में व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने वाला है। यदि एक व्यक्ति परिवार में रहता है तो उसकी अपने परिवारीजनों के प्रति स्नेह वात्सत्य की वृद्धि होती है और परिवारीजन से दूर रहता है तो परिवारी छूट जाएँगे और जिसके संग रहता है उसी के साथ वह जुड़ जाएगा। तो यहाँ अणुपापों की निवृत्ति के लिए गुणव्रतों का विधान किया गया है।

प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत है, जिसके माध्यम से सूक्ष्म पापों से भी बचा जा सकता है। आप सब भी इसका पालन कर सकते हैं। आप अभी भी नियम ले सकते हो कि जहाँ पर जन्म से लेकर आज तक आप गए ही नहीं और आगे भी आपके जाने की संभावना नहीं है। अथवा आपके पास इतनी अनुकूलता नहीं है कि आप लाखों रुपयों की टिकट लेकर के विदेश यात्रा करें। आप तो संतोषी जीवन जीने वाले हैं, अपने परिवार का उचित रीति से पालन-पोषण कर रहे हैं और कहीं यात्रा का मन होता है तो 10-20-50 किमी. की यात्रा करके आ जाते हैं। ज्यादा से ज्यादा 500-1000-2000 किमी. तक की यात्रा करके आ जाते हैं। तो ऐसे ही आप मर्यादा ले लो कि इसके बाहर मैं नहीं जाऊँगा, मेरा आधे से ज्यादा जीवन तो इतने से क्षेत्र में रहकर बीत गया, अब शेष बचे जीवन के लिए बाहर जाने की आवश्यकता क्या पड़ गई। तो इस प्रकार की मर्यादा ली जा सकती है इसमें कोई विशेष त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु हाँ! मन तो बनाना पड़ेगा, मन पक्का करना पड़ेगा। क्योंकि कल कोई आपसे कहे

चलो भाई! हम तुम्हारी यात्रा करा देंगें, मैं तुम्हारा खर्चा दे देता हूँ, तब आपको यह कहना पड़ेगा कि मैंने संकल्प ले लिया है कि इतने क्षेत्र के बाहर मैं नहीं जाऊँगा, मेरे दिग्व्रत का संकल्प है। जिससे आप उस संकल्प से बाहर वाले स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के पापों से बच जाएँगे।

दिग्व्रत का मुख्य उद्देश्य आरंभ व लोभ को कम करना है अर्थात् व्यापारादि सम्बन्धी राग को घटाने के लिए अर्थात् लोभ कषाय को घटाने के लिए दशों दिशाओं में गमन करने की सीमा बांधना दिग्व्रत कहलाता है। मर्यादा के भीतर स्थूल पापों से निवृत्ति रहती है परन्तु मर्यादा के बाहर यातायात सर्वथा बंद हो जाने से वहाँ सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार व्रत लेने से अनेक पापों से स्वयं की रक्षा हो जाती है।

इस प्रकार आचार्य महोदय समंतभद्रस्वामी जी ने दिग्व्रत का प्रयोजन बताते हुए कहा कि 'अणुपापविनिवृत्यै:' सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिए श्रावक और श्राविका दिग्व्रत नामक गुणव्रत का पालन करते हैं। आप भी अपनी शक्ति अनुसार दिग्व्रत की मर्यादा ले लें इसी में आपका कल्याण निहित है। आज बस इतना ही।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दिग्व्रत में की जाने वाली क्षेत्र मर्यादा

मकराकर-सरिदटवी-गिरि-जनपद-योजनानि मर्यादाः।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि॥69॥

अन्वयार्थ–दशानां दिशां – दश दिशाओं के **प्रतिसंहारे** – परिमाण में **प्रसिद्धानि** – जो लोक प्रसिद्ध हैं, ऐसे **मकराकर** – समुद्र **सरिदटवी** – नदी, जंगल **गिरिजनपदयोजनानि** – पर्वत, देश व योजन आदि को **मर्यादाः** – मर्यादा रूप से **प्राहुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में दिग्व्रत के स्वरूप को बता रहे हैं कि श्रावक अपने अणुव्रतों की वृद्धि के लिए गुणव्रतों का पालन करे। दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत इन तीन व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। पूर्वकारिका में दिग्व्रत का लक्षण बताया कि जीवन पर्यन्त सूक्ष्म पापों से बचने के लिए दसों दिशाओं का परिमाण करके, इतने क्षेत्र से बाहर मैं नहीं जाऊँगा इस प्रकार का संकल्प करना दिग्व्रत है। किन्तु अब बात यह है कि दिग्व्रत कैसे लें, ग्रहण की विधि क्या है। अब ऐसा तो नहीं है कि रस्सी बांधकर नियम ले लो कि मैं इस रस्सी के बाहर नहीं जाऊँगा या कोई दीवार खड़ी करके नियम ले लो। तो नियम कैसे लें। इसलिए आचार्य महोदय यहाँ स्वयं बता रहे हैं।

महानुभाव! यह जीव तीन लोक में परिभ्रमण कर सकता है किन्तु अभी मनुष्य है तो सशरीरी ऊर्ध्वलोक और अधोलोक नहीं जा सकता, मध्यलोक में भी मनुष्य है तो ढाईद्वीप के बाहर नहीं जा सकता, वर्तमान में जंबूद्वीप के बाहर भी नहीं जा सकता क्योंकि ऋद्धि आदि नहीं है, और तो और भरत क्षेत्र के बाहर भी नहीं जा सकता, सामान्य मनुष्य है तो आर्यखण्ड के बाहर भी नहीं जा सकता। अब कोई ऐसा है जिसकी सामर्थ्य भारत के बाहर जाने की भी नहीं है तो वह अपनी सीमा को और कम करता चला गया। यह भारत देश भी बहुत बड़ा है एक छोर पश्चिमबंगाल की तरफ, दूसरा गुजरात व राजस्थान का बॉर्डर, एक छोर तमिलनाडु की तरफ हो गया ऐसे अलग-अलग छोर हो गए तो वह उसके बाहर नहीं जाएगा। अब जहाँ पर वह अपने जीवन में कभी गया ही नहीं, चार-आठ या दस प्रान्तों से ज्यादा कभी उसका गमनागमन हुआ ही नहीं तो वह किस प्रकार से मर्यादा ले। तो आचार्य महोदय ने दिग्व्रत लेने की विधि इस श्लोक में बताई।

मर्यादा इस प्रकार लें 'प्रसिद्धानि' जो प्रसिद्ध हैं 'मकराकर'–अर्थात् समुद्र कहो, रत्नाकर कहो, मीनाकर कहो, जलधि, वारिधि, पयोधि, सागर, सिन्धु आदि सभी पर्यायवाची नाम हैं।

मकराकर अर्थात् जो मगरमच्छों की खदान है, वहाँ बड़े-बड़े विशालकाय मच्छ रहते हैं। रुढिवशात् मकराकर का अर्थ है समुद्र। सरिदटवी-नदी, जंगल। पहले सैकड़ों कि.मी. तक बड़े-बड़े जंगल होते थे। 'गिरि' अर्थात् पर्वत एवं 'जनपद' अर्थात् महानगर, तो प्रसिद्ध समुद्र, प्रसिद्ध नदी, प्रसिद्ध जंगल, प्रसिद्ध पर्वत, प्रसिद्ध नगर-महानगर और 'योजनानि' प्रसिद्ध योजन-कोस आदि की मर्यादा कर लेना। 'प्राहुर्दिशा- दशानां प्रतिसंहारे'। दसों दिशाओं में जितने में गमनागमन करते चले आए हैं उसमें और कम कर लेना। एक कह रहा है कि जन्म से लेकर अभी तक हमारा एक या दो प्रान्तों में गमन हुआ है, दूसरा कह रहा है प्रान्त की बात तो दूर मैं तो चार छह जिले से बाहर आज तक नहीं गया, और दिग्व्रत लेता हूँ कि भारत वर्ष के बाहर दस हजार कि.मी. से ज्यादा नहीं जाऊँगा। अरे! अभी पूरा प्रान्त देखा नहीं और मर्यादा ले रहा है भारत के बाहर तक की। तो यह मर्यादा का प्रतिसंहार नहीं किया बल्कि विस्तार कर लिया। मर्यादा ऐसे करनी चाहिए कि जितने में आपका गमनागमन है उस गमनागमन क्षेत्र को भी अब कम करते चले जाओ। विचार करो, चिंतन करो, अब तो हम संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो गए, वैरागी हो गए, अब हमें मर्यादा कम करना है, आना-जाना कम करना है, धीरे-धीमे हम बाहर की दुनिया से निकलकर के अन्तरंग की दुनिया में आना चाह रहे हैं।

तो यहाँ मर्यादा की विधि बताते हुए आचार्य महोदय ने कहा—जो प्रसिद्ध क्षेत्र आदि है वहाँ तक का परिमाण लेना। जैसे यहाँ कहा सागर तक की मर्यादा लेना अर्थात् अब कोई व्यक्ति भारत में रहता है, उसने नियम ले लिया कि मैं प्रशान्त महासागर से बाहर नहीं जाऊँगा, अरब सागर से आगे नहीं जाऊँगा या अन्य छोटे-छोटे समुद्र भी होते हैं, कन्याकुमारी में समुद्र है उसके आगे नहीं जाऊँगा या पश्चिमी बंगाल की खाड़ी के आगे नहीं जाऊँगा, गंगा नदी से आगे नहीं जाऊँगा। पहले व्यक्तियों के पास साधन भी कम हुआ करते थे तो इस प्रकार की मर्यादाएँ होती थी। इस नदी के आगे दूसरा देश, हम दूसरे देश में नहीं जाएँगे, अपने देश में रहकर ही अपना काम चलाएँगे। आज भी ऐसी मर्यादा ली जा सकती है।

सरिता की सीमा कर ली चाहे गंगा नदी है, चाहे यमुना नदी है, चाहे चम्बल नदी है, चाहे झेलम आदि जो भी नदियाँ हों उन नदियों की सीमा पार करके आगे नहीं जाऊँगा। पर्वत की मर्यादा लेना कि मैं अष्टापद पर्वत से आगे नहीं जाऊँगा या मैं नेमिनाथ भगवान् की मोक्षस्थली गिरनार पर्वत के आगे नहीं जाऊँगा, इस प्रकार चार दिशाओं में जो-जो प्रसिद्ध पर्वत हों उन पर्वतों तक ही जाऊँगा इसके आगे नहीं या जनपद की सीमा ले ली। जैसे जो व्यक्ति भारत में रह रहा है उसने कहा मैं पूर्वदिशा में कोलकाता से आगे नहीं जाऊँगा या

चंडीगढ़ से आगे नहीं, अहमदाबाद से आगे नहीं तो चारों दिशाओं में अमुक-अमुक जनपद की मर्यादा लेना। अब किसी क्षेत्र में न तो आगे नदी है, न समुद्र है, न कोई महानगर है तो जंगल की सीमा ले लें। इतना बड़ा जंगल है मैं इसको पार करके आगे नहीं जाऊँगा, उसकी सीमा तक की मर्यादा ले लें।

इस प्रकार जिस सीमा में जो चीज प्रसिद्ध हो उसकी सीमा लें। ऐसा क्यों? अप्रसिद्ध की ले लें तो क्या हानि है? हानि ये है कि यदि किसी ने सीमा ले ली कि मैं इस मौहल्ला के आगे नहीं जाऊँगा। वह गाँव या मौहल्ला नदी के किनारे बसा था, बाढ़ आई पूरा मौहल्ला बह गया, आपकी सीमा का क्या हुआ। आपने सीमा ले ली मैं अमुक पेड़ के आगे नहीं जाऊँगा, आंधी चली पेड़ गिर गया अथवा आपने अमुक मिट्टी के टीले की सीमा ले ली राजस्थान में कहीं तूफान आया, मिट्टी का टीला उड़कर यहाँ से वहाँ पहुँच गया, कहाँ गई आपकी सीमा? इसीलिए कहा जो बड़ी-बड़ी विशाल प्रसिद्ध चीजें हैं उनकी सीमा बनानी चाहिए, जो आपके जीवन पर्यन्त स्थान न बदलें। पुनः योजन की मर्यादा भी इस प्रकार ले कि चारों दिशाओं में अमुक दूरी तक ही मैं गमनागमन करूँगा। आपको अपनी गति का अनुमान है कि मैं एक दिन में कितना चलता हूँ, मेरा वाहन कितना चलता है तो इसके आगे मैं नहीं जाऊँगा। इस प्रकार की मर्यादा करना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सीमा में रहना चाहिए और दूसरे शब्दों में कहते हैं अपनी अप्पा (आत्मा) में रहना चाहिए। लोग कहते हैं 'आपे में रहो' यानि आत्मा में रहो। आत्मा में रहने के लिए पहले बाहर से संकुचित तो हो जाओ। कोई व्यक्ति कहता है अपनी हैसियत देखकर बात करो अर्थात् अपनी मर्यादा के बाहर मत जाओ। कई बार व्यक्ति कहावत में भी कहता है-

तेते पांव पसारियो जितनी लंबी सौर।

जितना लम्बा आपके पास ओढ़ने का वस्त्र है उतने ही पैर फैलाओ, उससे ज्यादा नहीं। तो यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं कि इस प्रकार की मर्यादा स्थल पर लेनी चाहिए। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ईशान-आग्नेय, नैऋत्य-वायव्य से आठ दिशाओं में तो आपने मर्यादा ले ली। किन्तु अधोदिशा व ऊर्ध्वदिशा की मर्यादा कैसे लेंगे। इसके लिए एक उपाय तो यह हो सकता है कि आप कोस-किलोमीटर आदि की दूरी से मर्यादा ले सकते हैं। मनुष्य का ऊर्ध्व व अधो दिशा में जहाँ तक गमनागमन हो सकता है वहाँ तक की मर्यादा लेना कि यदि मैं गया तो वहाँ तक जाऊँगा उसके ऊपर या नीचे नहीं जाऊँगा।

व्रती अपने गमनागमन को संकुचित करता जाता है, वह संकुचित करते-करते अपने आपके समीप आता जाता है। प्रतिक्रमण में व्रती पक्षी की तरह से भीड़ को छोड़कर नीड़ में

आने लगते हैं। जैसे पक्षी दिन भर में दाना चुगने के लिए कहीं भी दूर-दूर तक गया किन्तु संध्याकाल में लौटकर के अपने नीड़ में आ जाता है ऐसे ही त्यागीव्रती संध्याकाल में जब प्रतिक्रमण करता है, आलोचना करता है तो लौट करके अपने नीड़ में आने लगता है। अपने ही दायरे/सीमा में आने का पुरुषार्थ करता है। जैसे पक्षी अपने नीड़ की ओर लौटता है वैसे ही त्यागीव्रती भी बाहर की सीमा लेकर के बाहर की दुनिया से मुक्त होकर के अंतरंग की सीमा में आता है। जब वह अपने अंतरंग में आएगा तब उसे अपने पाप व पुण्य दिखाई देंगे, शुभ-अशुभ कर्म दिखाई देंगे, अपनी करनी दिखाई देगी, उसे अपनी प्रवृत्ति का आभास होगा। यदि कोई व्यक्ति किसी पर्वत के बाहर नहीं जा सकता या किसी अटवी, खाई, जंगल आदि के आगे नहीं जा सकता, वहीं पहाड़ की चोटी पर रह रहा है तो क्या करेगा? पहले किसी झील से या झरने से पानी आता था, अब पानी नहीं आ रहा है, बाहर जाना भी शक्य नहीं है, वहीं छोटा सा गाँव बना हुआ है तो वह क्या करेगा?

वह वहीं पर पानी की खोज करेगा, बाहर नहीं जाएगा। वहीं गड्ढा खोदेगा, कुआँ खोदेगा, अपना प्रयास करेगा, ऐसे ही जब हम बाहर की दुनिया से अपने अंदर आने लगेंगे तो सुख और शान्ति को अपने ही अंदर खोजने की कोशिश करेंगे। अपने आस-पास, फिर और आस-पास पुनः करीब-करीब आते-आते हो सकता है आपका मन कहे क्यों न अपने चित्त में ही शांति खोजूँ। जब चित्त में शांति चाहिए तो वह शांति चित्त में ही मिलेगी, बाहर की दुनिया में नहीं मिलेगी। बाहर की दुनिया से संकुचित होकर फिर वह अंतरंग की दुनिया में आने का पुरुषार्थ करता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने यहाँ पर दिग्व्रत की मर्यादा लेने की विधि बताई। इस प्रकार की विधि आप भी अपना सकते हैं और उस मर्यादा के अनुसार ही अपने जीवन को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर कर सकते हैं। ये दिग्व्रत बहुत सहज व लघु व्रत है किन्तु वास्तव में इसका प्रभाव बहुत विशाल है। इस व्रत को लेने से जीव कितने पापों से, अशुभ आस्रवों से बच सकता है; इसलिए आप भी देर नहीं करना, जो प्रतिमाधारी नहीं बन पाए किन्तु एक दिग्व्रत का भी पालन करते हैं, कोई व्यक्ति एक अनजान फल का भी त्याग करता है, कोई भी एक नियम लेता है तो उसका पुण्य भी उसे लगता है। आप भी दिग्व्रत की मर्यादा लेकर के बाहर के सूक्ष्म पापों से बच सकते हैं, आत्मा के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं, आत्मा से प्रति जागरूक हो सकते हैं। आप सभी उस व्रत को स्वीकार करें ऐसी मैं आपके प्रति मंगल भावना भाता हूँ। इसी भावना के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दिग्विरति के मर्यादा के बाहर महाव्रतपना

अवधेर्बहिरणुपाप-प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्।
पञ्चमहाव्रत - परिणति - मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते॥70॥

अन्वयार्थ–दिग्व्रतानि धारयताम् – दिग्व्रतधारी श्रावकों के **अवधेर्बहिरणुपाप**- – की हुई मर्यादा के बाहर सूक्ष्म भी पाप का **प्रतिविरतेः** – त्याग होने से **पञ्चअणुव्रतानि** – उनके पाँच अणुव्रत **महाव्रतपरिणतिं प्रपद्यन्ते** – महाव्रतपने की समानता को प्राप्त हो जाते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में आज देखते हैं श्लोक नं. 70, जिसमें आचार्य महोदय बता रहे हैं कि अणुव्रतों का पालन करने वाला व्यक्ति अपने अणुव्रतों का संवर्धन करने के लिए गुणव्रतों का आचरण करता है, उन्हें पालन करता है। पूर्व कारिका में कहा भी था कि दिग्व्रत के बाहर स्थूल पापों के त्याग के साथ सूक्ष्म पापों का त्याग भी हो जाता है क्योंकि क्षेत्र के बाहर वह व्यक्ति गमनागमन नहीं करता, उसकी योगत्रय की प्रवृत्ति उसमें रागद्वेष रूप नहीं होती है। वह सावद्यकार्य वहाँ नहीं करता इसलिए उस क्षेत्र में उसका गमनागमन न होने से, उसका उपयोग वहाँ न होने से, उन जीवों के प्रति राग- द्वेष न होने से, पुद्गलादि द्रव्यों के प्रति राग- द्वेष न होने से तत्संबंधी आस्रव से वह बच जाता है।

जितने क्षेत्र में वह गमनागमन करता है उतने क्षेत्र में ही वह उस कर्म से संबंधित आस्रव में समर्थ होता है। जैसे कोई गाय रस्सी से बंधी है तो जितनी बड़ी रस्सी है उतना बड़ा चक्कर वहाँ लगा सकती है, घूम सकती है, उससे बाहर नहीं जा सकती। उसके बाहर जाने से अन्य किसान के खेत हैं, इन खेत में चरने से उसे ताड़ना-प्रताड़ना आदि सहन करना पड़ता है, उसे पीड़ा होती है। किन्तु यदि वह अपनी रस्सी में ही बंधी है, अपनी मर्यादा में ही घूम रही है तो किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ताड़ना-प्रताड़ना–वध आदि को वह पशु या गाय प्राप्त नहीं करती। यदि वह अपनी रस्सी या सांकल तोड़कर चली जाए तब वह निःसंदेह डण्डों की मार खाती है। ऐसे ही जो व्रती श्रावक होता है वह अपनी मर्यादा में रहता है, मर्यादा के बाहर नहीं जाता है तो वह पापों की मार से बच जाता है।

बाहर जाने का कोई प्रयोजन भी नहीं। जैसे गाय को अपने स्थान पर चारा-पानी मिलता है, घास मिल रही है तो बाहर जाना निष्प्रयोजनीय है। यदि फिर भी वह पशु अपने बंधन–रस्सी आदि को तोड़कर जाता है तो निःसंदेह वह पीड़ा-दुःख को ही प्राप्त करता है। दूसरे उदाहरण से समझे-जैसे किसी आँगन में पानी बरसने से वह बार-बार गीला हो जाता है किन्तु उस

आंगन में बार-बार धुलाई होती रहती है वहाँ कीचड़ नहीं है, पत्थर लगा हुआ है तो वहाँ पर गमन करने से व्यक्ति के पैर आर्द्र होते हैं गीले होते हैं, थोड़ी बहुत रज के कण चिपक जाते हैं, उसके भी बाहर यदि कच्चे में जाता है तो उसके पैरों में धूल और ज्यादा चिपकती है, उसके बाहर जाता है तो उसे कीचड़ आदि दिखती है, और बाहर जाता है तो गंदगी पड़ी हुई है। ऐसे में भला आदमी अपने मकान की सीमा के बाहर नहीं जाता; क्योंकि बाहर जाएगा तो धूल-मिट्टी मिलेगी, कीचड़ मिलेगी, गंदगी मिलेगी।

पहले समय ऐसा था जब गंदगी का उत्सर्ग करने के लिए अपने निवास स्थान से दूर कहीं जंगल में शुद्धि के लिए जाते थे किन्तु आज गंदगी को अपने भवन के नीचे दबाकर रखते हैं। पहले समय वह था जब अपने भवन में धन-दौलत दबाकर रखी जाती थी, स्वर्णादि रखा जाता था, उस पर निवास करने से व्यक्ति के परिणाम भी स्वर्ण जैसे होते थे। रजत अर्थात् चाँदी रखी जाती थी जिसके माध्यम से उसके परिणामों में शीतलता रहती थी किन्तु आज लोग मकान बनवाते हैं तो सोचते हैं हर कमरा Attach room बने। हर कमरे के नीचे गड्ढा हो, ढेर सारी गंदगी वर्षों तक उसी में बनी रहे।

जैसे–अपने को ज्यादा समझदार समझने वाला व्यक्ति क्या करता है; जुकाम होने पर वह अपनी नासिका के मल को अपने रुमाल में पोंछता है और जेब में रख लेता है किन्तु कोई व्यक्ति कम समझदार होगा तो वह नासिका के मल को धोकर साफ करके, हाथ-पांव साफ रखता है। तो बुद्धिमानी यह है कि गंदगी को अपने पास नहीं रखना, गंदगी से दूर रहना। व्यक्ति जहाँ रहता है वहाँ शुद्धता हो, स्वच्छता हो, निर्मलता हो, शीतलता हो, भद्रता हो तथा परिणामों को शुद्ध करने के निमित्त हों। जिनके माध्यम से परिणामों में क्रूरता आए, संक्लेशता आए, पाप की प्रवृत्ति जन्मे ऐसे निमित्तों को अपने कक्ष में नहीं रखना चाहिए, अपने भवन के समीप नहीं रखना चाहिए। वास्तुशास्त्री कहते हैं कि भवन के सम्मुख खंभा नहीं हो, कांटे का पेड़ नहीं हो, भवन के अंदर जहाँ पूजा गृह आदि है वहाँ अस्त्र-शस्त्र आदि नहीं हो, जो पवित्र स्थान है वहाँ झाड़ू-जूते-चप्पल आदि नहीं हों, वहाँ शुद्धि रखना चाहिए क्योंकि अशुद्धि वहाँ आएगी तो परिणाम अशुद्ध होंगे।

तो यहाँ कहा अपने क्षेत्र की सीमा बना लो, जहाँ तक की सीमा में रहने से आपको परिणामों की निर्मलता के निमित्त मिल रहे हैं, उनके बीच में रहो। आप पूरे संसार में तो परिणामों की निर्मलता के निमित्तों की स्थापना कर नहीं सकते, अपने परिणामों की निर्मलता के निमित्तों की स्थापना आप अपने कक्ष में कर सकते हो, अपने गुरु, प्रभु, तीर्थ क्षेत्रों के चित्र लगाकर उन्हें देखने से आपका मन अच्छा हो जाता है। अब आप बाहर कहीं जाकर मन लगाना चाहो तो

सब जगह नहीं लगा सकते, कहीं आपको दृश्य विपरीत भी दिखाई दे सकता है। इसीलिए यहाँ कहा वह श्रावक अपनी सीमा को कम करता जाए। सबसे पहले तो यहाँ यही कहा कि वह ऐसी मर्यादा ले कि जीवन भर के लिए उसके बाहर नहीं जाना पड़े और आत्मा का स्वभाव तो आत्मस्थ रहना है, जब आत्मा आत्मा के प्रदेशों में लीन हो जाए तब समझ लेना वह सिद्ध बनने के काबिल हो गया। जब योगी क्षणभर के लिए अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में लीन करता है तो वह योगी भी सिद्ध बनने के लायक है, अब वह संसार में परिभ्रमण करने के लायक नहीं रहा। और संसार में परिभ्रमण करने का जिसका मन है, यहाँ देखूँ, वहाँ जाऊँ, तो जो ज्यादा संचरण करता है वह परिभ्रमण करता रहता है, उसका चित्त भी स्थिर नहीं रह पाता।

आचार्य महोदय 70वीं गाथा के माध्यम से कहने की चेष्टा कर रहे हैं कि **'दिग्व्रतानि धारयताम्'** जिन भव्य जीवों ने दिग्व्रत को धारण कर लिया; क्योंकि अभव्य जीवों द्वारा धारण किया गया दिग्व्रत मात्र शब्दों के लिए धारण किया है, वे यथार्थ दिग्व्रत का पालन नहीं कर सकते। भव्यजीव जो दिग्व्रत धारण कर सकते हैं वह अपने आत्मा के आयाम को अर्थात् बाहर आत्मा भटक रही थी उस भटकन को दूर करता चला जा रहा है। वह जितना ज्यादा भटकेगा उतना ज्यादा कष्ट होगा, उतना ज्यादा चक्कर लगाना पड़ेगा। आपने कभी कोल्हू देखा होगा, वे बैल जितना लम्बा चक्कर लगाये उतना ज्यादा समय लगेगा व उतना ज्यादा कष्ट होगा। लंबा चक्कर है क्षेत्र बड़ा है तो दस चक्कर लगाने में अधिक समय व छोटा क्षेत्र है वहीं-वहीं घूमना है तो प्रत्येक घंटे में 100 चक्कर भी लगा सकता है। तो अपना संसार कम करते जाओ इससे आपके पाप का अशुभ आस्रव भी कम हो जाएगा और अपने आप में लीन होने से शुभ आस्रव बढ़ जाता है, पुण्य कर्म का आस्रव बढ़ जाता है और निम्न कोटि का पुण्य भी घट जाता है। उच्चकोटि का पुण्य Purity होकर आने लगता है, पुण्य वर्गणाएँ-पुण्य प्रकृतियाँ आती रहती हैं और पाप प्रकृतियाँ शनै-शनैः विलय को प्राप्त होती रहती हैं।

तो यहाँ बताया कि दिग्व्रतों को धारण करने वाले जो श्रावक या श्राविका हैं उनकी **'अवधेर्बहिरणुपाप-प्रतिविरतेः'** अपनी की हुई मर्यादा से बाहर अणुपापों से भी विरक्ति हो जाती है। स्थूल पापों का त्याग तो अपने क्षेत्र में भी किया किन्तु सूक्ष्म पाप उससे हो रहे हैं; किन्तु उसके क्षेत्र के बाहर सूक्ष्म पाप भी नहीं हो रहे। स्थूल व सूक्ष्म दोनों पापों का त्याग हो गया। अणुपापों से भी विरक्ति होने से **'पञ्चमहाव्रत-परिणति-अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते'** वे अणुव्रत उस मर्यादा-सीमा क्षेत्र के बाहर (सूक्ष्मपापों का त्याग होने से) अणुव्रत ही महाव्रत में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे क्षेत्र के बाहर दूध रखा है, शुद्ध है, कोई बात नहीं किन्तु वही दूध का कलश वहाँ ले जाकर रख दिया जहाँ दही, छाछ के पात्र रखे हैं और स्थान को बंद कर दिया तो दूध में जामन नहीं डाला किन्तु उन दही-छाछ का असर उस दूध पर आया तो

पास में रखा दूध भी दही बन गया। या दही का बर्तन हो वह कितना भी साफ कर लिया हो उसमें दूध रख दिया और थोड़ा सा अंश भी आया तो वह जमकर के दही हो गया। दूध दही में परिवर्तित हो गया इसी तरह अणुव्रत भी जो पालन किए जा रहे हैं पहले अणुव्रत थे, उसमें सूक्ष्म पापों का त्याग होने से वही व्यक्ति, भव्य श्रावक व श्राविका मर्यादा क्षेत्र के बाहर महाव्रती के समान माना जाता है।

महानुभाव! यहाँ पर बताया कि परिणति कैसे होती है। जो व्यक्ति अभी धूप में खड़ा है तब उसका अलग ही असर दिखाई दे रहा है, चेहरा-वस्त्र अगल ही दिखाई दे रहे हैं किन्तु वह वहाँ से अंदर आता है तो उसका रूप ही परिवर्तित हो जाता है, ऐसे ही एक दिग्व्रत लेने से वह व्यक्ति अपने उस क्षेत्र को छोड़कर के शेष सभी क्षेत्र के लिए महाव्रती के समान हो गया। 343 घन राजू प्रमाण तीन लोक है, किसी भव्य श्रावक-श्राविका ने यह मर्यादा ले ली कि मैं तो मध्यलोक के बाहर नहीं जाऊँगा जब तक मनुष्य पर्याय में हूँ तो उसका ऊर्ध्वलोक व अधोलोक का त्याग होगा, बीच का मध्यलोक रह गया। और उसमें भी मर्यादा ले ली कि मैं ढाई द्वीप के बाहर नहीं जाऊँगा तो 343 घन राजू में से ढाईद्वीप बहुत छोटा सा है, मात्र 1 लाख योजन सुमेरु पर्वत की चूलिका के बराबर मान कर चलो और विस्तार से लें तो 45 लाख योजन मात्र क्षेत्र रह गया। 1 राजू का तो मध्यलोक है, ढाईद्वीप उसमें कहीं नहीं अर्थात् बहुत छोटा सा है। उसमें भी उसने मर्यादा ले ली कि जंबूद्वीप के बाहर नहीं जाऊँगा तो और सीमित क्षेत्र हो गया, भरतक्षेत्र की सीमा ले ली तो मर्यादा और कम हो गई, आर्यखण्ड-भारत देश के बाहर नहीं जाऊँगा तो भारत देश में रहता हुआ वह अणुव्रती अणुव्रती है, भारत देश के बाहर तीन लोक व अलोकाकाश के प्रति वह महाव्रती के समान है।

महानुभाव! यह इतना छोटा सा व्रत दिखाई दे रहा है किन्तु कितना महत्वपूर्ण व्रत है। यानि उस क्षेत्र के बाहर महाव्रती के समान है बस इतने से क्षेत्र में (जिसका त्याग नहीं किया) महाव्रती नहीं बन पा रहा, बाकी के क्षेत्र में तो महाव्रती के समान ही है। वे पाँच अणुव्रत भी पाँच महाव्रत में परिणत हो जाते हैं। आप सभी भव्य श्रावक-श्राविकाओं को पहले पुरुषार्थ करना चाहिए, उपक्रम करना चाहिए कि आपके जीवन में भी वह दिग्व्रत आए। दिग्व्रत आएगा तो देशव्रत भी आएगा। देशव्रत आएगा तो अन्य-अन्य व्रत भी आएंगे। आप यदि महाव्रती बनना चाहते हैं—सम्पूर्ण महाव्रती नहीं बन सकते तो कम से कम उस दिग्व्रत के बाहर महाव्रती बनने की कोशिश करो, जिससे तुम्हारे अंदर महाव्रती बनने की भावना प्रादुर्भूत होगी व सफल भी होगी। इन्हीं भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अणुव्रतों के महाव्रतपना

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुःखधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते॥71॥

अन्वयार्थ–प्रत्याख्यानतनुत्वात् – प्रत्याख्यानावरण कषाय के मन्द होने से, **चरण-मोह-परिणामाः मन्दतराः** – चारित्र मोहनीय कर्म के परिणाम भी मन्दतर हो जाते हैं **सत्त्वेन दुरवधारा** – वे विद्यमान हैं ऐसी बड़ी कठिनता से निश्चय किया जाता है **महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते** – वे चारित्रमोह रूप परिणाम ही महाव्रत के लिए कल्पना किए जाते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में दिग्व्रत के स्वरूप को समझ रहे हैं। अवधि के बाहर स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के पापों का त्याग हो जाने से वह दिग्व्रती जिस क्षेत्र में गमनागमन नहीं करता है उस क्षेत्र में महाव्रतीपने को प्राप्त होता है। इसी प्रकार की बात पुष्ट करने के लिए आचार्य महोदय 71 वें श्लोक के माध्यम से कहते हैं।

यहाँ कहा 'प्रत्याख्यान' अर्थात् त्यागना या छोड़ना किन्तु यहाँ यह अर्थ मात्र नहीं लेना है। कषाय चार प्रकार की होती हैं–अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इनके चार-चार भेद हैं क्रोध-मान-माया-लोभ, इस प्रकार से कषाय के 16 भेद होते हैं। नोकषाय के 9 भेद होते हैं–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। ये 25 प्रकृतियाँ चारित्रमोहनीय की कहलाती हैं। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ होती हैं–मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति कुल मिलाकर के मोहनीय कर्म के 28 भेद होते हैं। इन 28 भेदों को जब तक निरस्त नहीं किया जाता है, जब तक इन पर विजय प्राप्त नहीं की जाती है तब तक कोई भी व्यक्ति मोक्षमार्गी नहीं बनता, भले ही इन 28 प्रकृतियों को समूल नष्ट न किया हो। सादि मिथ्यादृष्टि प्रारंभ में मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और अनंतानुबंधी 4 कषाय इन 7 प्रकृतियों को दबाकर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। अनादि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी चार इन पाँच प्रकृतियों को दबाता है। उपशम सम्यग्दृष्टि पुनः क्षयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है फिर वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है जिसमें सातों प्रकृति का क्षय हो जाता है और क्षयोपशम सम्यग्दर्शन में छह प्रकृतियाँ दबायी जाती हैं, एक सम्यक्प्रकृति उदय में रहती है।

महानुभाव! यहाँ पर बात कह रहे हैं कि अनंतानुबंधी कषाय के उपशम-क्षय-क्षयोपशम से सम्यक्त्व होता है उसे सम्यक्त्वाचरण चारित्र कह सकते हैं। इसके पश्चात् अप्रत्याख्यान

कषाय के अनुदय से जीवन में देशव्रत आते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का जब तक उदय रहता है, तीव्र उदय होने पर तो उसके देश संयम ग्रहण के परिणाम भी नहीं होते, अप्रत्याख्यानावरण कषाय का जब अनुदय होगा तब वह देशव्रती बन पाएगा। इसके उपरांत कह रहे हैं प्रत्याख्यानावरण कषाय का जब तक उदय रहता है तब तक वह महाव्रती नहीं बनता। संज्वलन कषाय के उदय व प्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय में महाव्रती बनता है। जब संज्वलन का तीव्र उदय रहता है तब तक प्रमत्त दशा होती है, संज्वलन का मंद उदय होता है तो आगे बढ़ते-बढ़ते श्रेणी पर चढ़ता हुआ संज्वलन को दबाता है तो उपशान्त मोह और नष्ट कर देता है तो चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों का क्षयकर के क्षीणमोह हो जाता है।

यहाँ श्लोक में कहा **'प्रत्याख्यानतनुत्वात् मंदतराश्चरण-मोहपरिणामाः'** प्रत्याख्यान कषाय का तीव्रोदय होने पर तो यह निशिचित है कि वह महाव्रती नहीं बना किंतु मंद उदय हो गया तो महाव्रती बनने की भावना बनने लगी। अणुव्रतों में उसकी विशुद्धि और अधिक-अधिक बढ़ती जा रही है। प्रत्याख्यानावरण कषाय देशव्रती के जीवन में रहेगी ही रहेगी। यहाँ कहा प्रत्याख्यान कषाय के मंद उदय में मोह के परिणाम और मन्दतर होते जाते हैं। कषाय के परिणाम जितने तीव्र होंगे चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने से चारित्र नहीं आ सकेगा, असंयम भाव उतना तीव्र रहेगा और चारित्र मोहनीय के परिणाम जितने मंद होंगे तो चारित्र भी प्रादुर्भूत होगा, विशुद्धि बढ़ेगी।

यह मान कर चलो चारित्र मोहनीय ज्यों-ज्यों दबती जाएगी त्यों-त्यो चारित्र ऊपर उठता जाएगा। जैसे कोई कपड़ा बहुत गंदा हो गया, इतना गंदा हो गया कि उसको देखकर लगता है कि कहीं इसका रंग काला ही तो नहीं है; किन्तु जब किसी ने गर्म पानी में कास्टिकसोड़ा आदि डालकर धोने डाल दिया तो उस वस्त्र की कालिमा कुछ नष्ट हुई, लगा कि ये कपड़ा काला नहीं है। कपड़े का रंग कुछ अन्य ही प्रकार का है। फिर उस कपड़े को कूटकर के धोना प्रारभ किया, उसका मल और धुल गया, पहले जो कालिमा निकली है वह समझो अनंतानुबंधी कषाय आदि रूप कालिमा निकली है। दूसरी पर्त जो निकली है वह समझो अप्रत्याख्यानावरण कषाय निकली है तीसरी कालिमा प्रत्याख्यानावरण कषाय है उसके निकलने से देशव्रतों अणुव्रतों में शुद्धि होती है और ज्यों-ज्यों अणुव्रतों में शुद्धि होगी वह अणुव्रती गुणव्रतों को विशुद्धि से पालन करेगा, शिक्षाव्रतों को पालेगा त्यों-त्यों महाव्रतों के समीप पहुँचेगा। अभी महाव्रती है नहीं किन्तु महाव्रती होने के सन्मुख है। यह स्थिति तब होती है जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का मंद उदय होता है।

उदय छह प्रकार का होता है। मंद, मंदतर, मंदतम, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम। सम्यग्दृष्टि के जीवन में कषायों का मंद उदय होता है, देशव्रती के जीवन में मंदतर होता है और महाव्रती के जीवन में मंदतम होता है। मिथ्यादृष्टि के जीवन में तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता है यह सामान्य कथन है। इस प्रकार यहाँ कहा प्रत्याख्यान कषाय के मंद उदय होने से परिणाम निर्मल होते हैं, कषाएँ शमित होती हैं तो चारित्र में विशुद्धि आती है।

'मोहपरिणामः' यह मोह के परिणाम संसार का कारण हैं, जब तक आत्मा में मोह भाव है तब तक उसे मोक्ष की बात अच्छी नहीं लगती। जब तक मोह है तब तक मोक्षमार्ग नहीं मिलता, जब तक मोह की तीव्रता है तब तक आत्मा का आभास नहीं होता, जब तक मोह है तब तक भेद विज्ञान नहीं होता। **'सत्वेन दुरवधारा'** जिसकी सत्ता का जानना भी अत्यंत दुष्कर हो गया है ऐसी प्रत्याख्यानावरण कषाय के अत्यंत मंद होने से **'महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते'** फिर उस अणुव्रती के व्रत महाव्रत की कल्पना को प्राप्त होते हैं। जब तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का मंद उदय नहीं होता है तब तक दिग्व्रत की संभावना नहीं है। सकलसंयम की घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय है तब तक, छठवां, सातवाँ आदि गुणस्थान नहीं हो सकते अतः परमार्थ महाव्रत नहीं है। इसलिए श्लोक में ''महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते'' यह शब्द दिया गया कि महाव्रत की कल्पना है वास्तविक नहीं। मोह का परिणाम कैसा होता है एक दृष्टान्त के माध्यम से देखने की चेष्टा करते हैं–

कोई राजा गजराज पर आरूढ़ होकर वनभ्रमण करके अपने नगर में प्रवेश कर रहा था। संध्या काल था। नगर प्रवेश के समय ही कोई मद्यपाई व्यक्ति राजा के सामने खड़े होकर कहता है– ऐ! नीचे उतर। ये हाथी मुझे दे। लोगों ने कहा–क्या कहते हो, जानते नहीं ये यहाँ के राजा हैं। वह बोला कहाँ का राजा, राजा तो मैं हूँ, बताओ राज्य का क्या लोगे? वह मद्यपापी विवेकहीन होकर के ऐसा वार्तालाप कर रहा है, बिल्कुल अनर्गल जैसा। पहले तो राजा शांत रहा पुनः उसको क्रोध आ गया, सैनिकों को संकेत दिया इसे बंदी बनाओ और कारागार में डाल दो। प्रातःकाल हुआ, राजदरबार में उसे प्रस्तुत किया गया। वह शराबी व्यक्ति रोता हुआ राजा के सामने खड़ा हुआ। राजा ने कहा–कहो शाम को तुम क्या कह रहे थे? कौन सा हाथी आपको चाहिए, मेरा राज्य चाहिए क्या? वह बोला–महाराज! आप मुझे प्राणदण्ड देना चाहते हैं तो वैसे ही दे दीजिए, मैं कहाँ आपसे कुछ कह सकता हूँ। मैं ऐसे कैसे आपका हाथी व आपका राज्य माँग सकता हूँ। मैंने ऐसा कुछ नहीं किया। सैनिकों ने कहा–तुम झूठ बोलते हो, कल शाम को तुमने यह दुर्व्यवहार किया था। वह बोला क्षमा करना महाराज! उस समय मैं

नहीं बोल रहा था, वह बोतल बोल रही थी। उस शराब का नशा बोल रहा था। महानुभाव! शराब की बोतल का नशा चढ़ता है तो घंटे-दो घंटे में उतर जाता है किन्तु मोह का नशा बड़ा खतरनाक होता है।

मोहमहामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।

अपने आपको भूलकर जीव पर में भ्रमण करता है, पर को इष्ट मानता है, पर को ही ग्रहण करना चाहता है। ऐसे ही जब पाप का तीव्र उदय होता है, कषायों का तीव्र आवेग होता है तब वह मोही व्यक्ति बड़े से बड़ा पाप कर बैठता है, जब मंद उदय होता है तब उसकी आँखों में से आँसू आते हैं, पश्चाताप होता है, वह एक अन्तर्मुहूर्त में बड़े से बड़ा पाप कर लेता है और उसका पश्चाताप करने में एक अन्तर्मुहूर्त नहीं, वर्ष ही नहीं पूरी जिंदगी ही निकल जाती है। पाप बंध करने के लिए अन्तर्मुहूर्त भी पर्याप्त है, पाप का प्रक्षालन करने के लिए एक जीवन भी थोड़ा पड़ जाता है।

तो यहाँ पर कह रहे हैं मोह की महिमा बड़ी विचित्र है।

यह संसार असार न करना पलभर राग सयाने,
यहाँ जीव ने अब तक पहने हैं कितने ही बाने।
पिता पुत्र के रूप जनमता बैरी बनता भाई,
देह त्यागकर पुत्र कभी बन जाता सगा जमाई॥

हे सयाने विवेकीजन! बुद्धिमान्! पलभर के लिए भी इस संसार में राग न करना, यह संसार तो असार है। जैसे केले के स्तम्भ में कोई सार नहीं होता, प्याज को छीलते जाओ, छीलते जाओ उसमें कोई सार नहीं होता, जैसे धान के छिलके को कूटने से धान नहीं निकलती है, खल को पेलने से तेल नहीं निकलता है, पानी को मथने से नवनीत हाथ नहीं लगता ऐसे ही इस संसार से राग करने से चेतना का एक भी गुण प्रकट नहीं होता, चेतना की एक भी निधि प्रकट नहीं होती। इस जीव ने यहाँ पर न जाने कितने शरीरों को धारण किया, कितने रूप धारण किए।

कभी पिता अपना ही पुत्र बन जाता है, कभी भाई जिसके लिए प्राण देने को तैयार था आज वही भाई प्राण हरने को तैयार हो जाता है, कभी पिता पोता बन जाता है, कभी पत्नी मृत्यु को प्राप्त होकर के अपनी ही पोती बन जाती है या अपने ही परिवार में कहीं जन्म ले लेती है। कभी खुद का ही पुत्र मृत्यु को प्राप्त होकर के अपना सगा जमाई बन जाता है। संसार की दशा बड़ी विचित्र है। जितना भी कहा जाए ऐसा लगता है वह सारहीन व अंतहीन

है। इसके बारे में कितना सोचोगे? अब अपने बारे में सोचना प्रारंभ करें, तब सार और तथ्य दिखाई देगा। जब तक दही के अलावा सब कुछ मथते रहो तब तक नवनीत नहीं मिलता और सब छोड़ दही को मथें तो नवनीत मिल जाता है। तिलहन के अलावा कुछ भी पेलो तेल नहीं निकलता, तिलहन को पेलना प्रारंभ करो तो तेल निकल आता है। ऐसे ही इस अंतहीन संसार का चिंतन नहीं करना, अपनी आत्मा का चिंतन करना है, तब अपने चित्त से ही ऐसा चमत्कार होगा और आपको आपकी निधि प्रतिभासित होगी।

एक सम्राट जो अपने महल में बड़ा उदास था, परेशानी का कारण यह था कि उसका एक बेटा था, जिसे वह बहुत स्नेह करता था, उसमें ही उसकी दुनिया बसती थी। हुआ यूँ कि पुत्र पापकर्म के उदय से अस्वस्थ अवस्था को प्राप्त हो गया। अब वह सम्राट बहुत दु:खी हुआ, उसने अपने देश के सभी वैद्य-हकीम-सयानों को बुलाया व पुत्र उपचार के लिए निवेदन किया। सभी डॉक्टर-वैद्य-हकीम हार गए। सभी ने राजा से कह दिया इसका बचना मुश्किल है। वह राजा तीन दिन लगातार उसके पास बैठा रहा किन्तु पुत्र ठीक ही नहीं हो रहा था। राजा तीन दिन का थका हारा था इसलिए कुछ क्षण के लिए उसकी नींद लग गई, इतने में ही पुत्र का प्राणान्त हो जाता है। पुत्र का प्राणान्त होते ही रानी चीख मारकर रोने लगी, उसकी आवाज सुनकर के राजा भी जगा और जगकर के राजा हँसने लगा। रानी को लगा राजा को सदमा लग गया है। रानी ने राजा को झकझोरा और कहा आपको क्या हो गया है, सभी अचम्भे में रह गए। राजा पुत्रमरण पर शोक नहीं कर रहा वरन् हँस रहा है। रानी ने कहा—आपको क्या हो गया है, आपके इकलौते पुत्र का मरण हो गया है। राजा ने कहा-बस! अब मेरी नींद खुल गई। मैं किसके लिए रोऊँ, मुझे अभी स्वप्न आया कि मैं चक्रवर्ती बन गया था, मेरी 96 हजार रानियाँ थी, 64 हजार पुत्र, 32 हजार पुत्रियाँ थी, नव निधि चौदह रत्न थे, आपने मुझे झकझोर दिया मेरा सपना नष्ट हो गया। इसके लिए रोऊँ या उसके लिए रोऊँ। राजन्! आप कैसी बात कर रहे हो, वह तो सपना था। मेरी समझ में आ गया, वह भी सपना था तो यह भी सपना है, अपना तो मेरे पास है।

महानुभाव! जब मोह टूट जाता है तो अपने से परिचय हो जाता है, जब मोह रहता है तो अपने से परिचय नहीं हो पाता है। आप सभी लोग उस मोह को त्याग करके उस कठिनाई से धारण करने योग्य महाव्रतों की जिसमें परिकल्पना की जाती है ऐसे अणुव्रतों को स्वीकार करने का पुरुषार्थ करें। अणुव्रत महाव्रतों की कुंजी है, अणुव्रत महाव्रतों का बीज है। आप भी महाव्रती बनें और अपना कल्याण करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

महाव्रत का लक्षण

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदै-स्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥72॥

अन्वयार्थ–हिंसादीनां – हिंसा, झूठ आदि **पञ्चानां** – पाँच **पापानां** – पापों का **मनोवचःकायैः** – मन, वचन और काय से **तु** – और **कृतकारितानुमोदैः** – कृत, कारित और अनुमोदना से **त्यागः** – त्याग करना **महतां** – महापुरुषों (6वें, 7वें आदि गुणस्थानवर्तियों) के **महाव्रतं** – महाव्रत कहलाते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में देख रहे थे कि बड़ी कठिनाई के द्वारा प्राणियों के माध्यम से महाव्रत धारण किए जाते हैं। प्रत्याख्यान कषाय के मंद होने से चारित्र के प्रति उसकी भावना तीव्र होती है, देश चारित्र से सकल चारित्र ग्रहण करने का भाव होता है। उसका देशचारित्र भी बड़ा निर्मल परिपालित होता है।

महानुभाव! मोह का परिणाम बड़ा विचित्र है, मोह का वेग बड़ा प्रबल वेग है ''अनिर्वारोद्रेकः'' यह उद्रेक अनिवार है अर्थात् उसका निवारण करना बड़ा कठिन है। कोई विरला व्यक्ति होता है जो मोह के वेग को नष्ट कर पाता है। मोह की तीव्रता से युक्त संसारी प्राणी अपने स्वरूप को उसी प्रकार नहीं जान पाता जिस प्रकार अंधा व्यक्ति वर्ण को नहीं जान पाता। अथवा जैसे चतुरिन्द्रिय जीव शब्दों को नहीं जान पाते, वे सुन नहीं सकते क्योंकि उनके पास कर्ण इंद्रिय नहीं। अथवा कोई दो इंद्रिय जीव गंध के बारे में नहीं जान सकता या एकेन्द्रिय जीव किसी प्रकार का स्वाद नहीं ले सकता तथा किसी भी प्रकार का वचन नहीं बोल सकता। ऐसे ही मोह के तीव्र उदय के रहते हुए कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वभाव को जानने में समर्थ नहीं हो सकता। ज्यों-ज्यों कषाय की, मोह की तीव्रता रहती है त्यों-त्यों वह आत्मा से दूर हट जाता है और ज्यों-ज्यों कषाय की, मोह की मंदता होती है त्यों-त्यों वह आत्मा के समीप आता है। एक तरफ दूरी बढ़ती है एक तरफ घटती है। आप लोग स्कूल टाइम में जब परीक्षा देने जाते थे तब अपनी दफ्ती या पैड पर चिमटी लगाते थे। एक तरफ से चिमटी दबाते तो दूसरी तरफ उसका मुख खुल जाता है, इधर से छोड़ दिया तो उसका मुख भी बंद हो गया। ऐसे ही संसार से मोह छूटा तो आत्मा के समीप पहुँचे और आत्मा से दूरी बन रही है तो मोह के आगोश में पड़े हुए हैं।

महानुभाव! मोह से विरक्ति तब होती है जब सम्यग्ज्ञान की ज्योति अन्तरंग में प्रज्ज्वलित होती है। सम्यग्ज्ञान की ज्योति के उदय हुए बिना मोह का अंधकार हटता नहीं। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के अविनाभावी रूप होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ नियम से सम्यग्ज्ञान भी होता है। दोनों साथ-साथ रहते हैं; किन्तु चारित्र भजनीय है। सभी सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रवान् नहीं होते किन्तु सभी सम्यग्दृष्टि नियम से सम्यग्ज्ञानी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि के पास चारित्र नहीं है, देशव्रती के पास एक देश चारित्र है, महाव्रती के पास सकल चारित्र है, आगे-आगे चारित्र की विशुद्धि बढ़ती चली जाती है। तो भेदविज्ञान होने पर, सम्यग्ज्ञान की ज्योति जलने पर उसे विरक्ति होती है। इस जीव को जब भी विरक्ति होती है चाहे वह विरक्ति अतीत में हुई हो चाहे आज हुई हो चाहे आगे होगी किंतु उस विरक्ति के पहले भी तीन ही कारण थे, आज भी तीन कारण हैं और आगे भी तीन ही कारण होंगे, अन्य कोई कारण नहीं होते।

एक व्यक्ति वह होता है जो सुनकर के संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है, दूसरा व्यक्ति वह होता है जो देखकर के संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है और तीसरा व्यक्ति वह होता है जो अनुभव करके संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है। एक देखकर के विरक्त हुआ, दूसरा सुनकर के विरक्त हुआ और तीसरा अनुभव करके विरक्त हुआ चौथी प्रकार की विरक्ति का कोई कारण नहीं। विरक्ति कैसे होती है? जो केवल दशा को देखकर विरक्त हो गए अर्थात् जो दूसरों की गलती को देखकर स्वयं को सुधार लें, दूसरों के दु:खों को देखकर दु:खों के कारणों को छोड़ दें वे महापुरुष होते हैं। और जो दु:खों को सुनकर के कि कोई बता रहा है कि मेरे साथ ऐसा-ऐसा हुआ अथवा अपने पूर्वभव सुनकर के विरक्त हुआ वह दूसरा कारण हुआ और तीसरा कारण है जो संसार में तड़प रहा है, रो रहा है, बिलख रहा है, अनुभव कर रहा है कि मैंने ऐसे किया तो ऐसा फल मिला, फिर वह विरक्त हुआ कि मैंने संसार में देख लिया कोई किसी का नहीं है। संसार स्वार्थ से भरा है।

जिया जग धोखे की टाटी, जानबूझ कर अंध बने हैं आंखन बांधी पाटी।

जिया जग धोखे की टाटी॥

इस संसार में धोखा ही धोखा है। जब वह देखता है पुत्र अलग हो गया, पत्नी भी साथ नहीं दे रही, मित्र भी छोड़ गए, माता-पिता को पहले ही अलग कर दिया था, धन भी नष्ट हो गया। जब धन था तब सब साथ में थे, आज मुझे समझ में आ गया संसार में कोई किसी का नहीं। अब उसने अनुभव कर लिया तब उससे कहो भैया! देखो संसार कितना अच्छा है, यहीं रहो, वह कहेगा नहीं नहीं मुझे तो दीक्षा लेनी है। जब पिता ऋषभदेव ने दीक्षा ली तब

बाहुबली के भी भाव हुए किंतु भरत ने उन्हें मना किया, कहा–भाई! हम दोनों मिलकर राज्य करेंगे, इतना बड़ा राज्य है, पहले इसका संचालन करेंगे फिर मोक्ष का राज्य प्राप्त करेंगें। जब पिता दशरथ दीक्षा के लिए गए उस समय रामचन्द्र जी के भाई भरत भी विरक्त हुए किंतु मोह के कारण उन्हें रोक लिया गया, वे नहीं जा पाए। कई महापुरुष होते हैं जो किसी के रोके से रुकते नहीं, जब तीव्र वैराग्य होता है तब वह रुकता नहीं है, जब मंद वैराग्य होता है तब किसी की राग की आँधी से वैराग्य का दीपक बुझ जाता है।

कोई महिला किसी टोकरी को मलमल के अच्छे से कपड़े से ढांक कर ले जा रही थी। उस मलमल के कपड़े में बहुत सुंदर बेलबूटे टंगे हुए थे। कुछ मनचले युवा लड़के मदिरापान से धुत्त होते हुए वहाँ आए और उसके पीछे पड़ गए। बोलो–कहाँ जा रही हो, इस सुंदर से टोकरे में क्या है? उसने कहा–इसमें मल है, गंदगी है। तो इसे ऐसे कैसे लेकर जा रही हो? वह बोली इसे खोल कर नहीं ले जा सकते, खुला ले जाना अपराध है और खुला तो मैं स्वयं ही लेकर नहीं जा पाऊँगी इसीलिए अंदर के मल को चमकते वस्त्र से ढाँक दिया है। जिन युवाओं की शराब का नशा मंद हो गया था उन्होंने तो कह दिया ठीक है जाओ, और स्वयं रास्ते से लौट गए, कुछ दूसरे लड़के और थे वे नहीं माने, उस महिला ने कहा देखो इसमें से बदबू आ रही है, आपके कुछ साथी वापस भी चले गए। और लोगों ने भी कहा देखो–अभी ये गंदगी लेकर यहाँ से गई है, मान जाओ। तब दो–चार युवाओं ने और मान लिया व वहाँ से लौट गए, यह सोचकर कि इतने सारे लोग कह रहें हैं वे झूठ नहीं बोल सकते। दो–चार युवा फिर भी नहीं माने पीछे–पीछे चलते ही रहे, कहने लगे इस टोकरी को खोलकर बता कि इसमें क्या है। महिला के बहुत समझाने पर भी वे युवा नहीं माने, टोकरी छीन ली और उघाड़कर देखा तो उसमें मल–विष्टा भरी थी। देखते ही सभी छी–छी करने लगे, अरे! यह तो गंदगी है और वहाँ से लौट गए विरक्त हो गए।

महानुभाव! उन युवाओं में कुछ युवा तो दूर से देखकर, अंदाजा लगाकर कि यह गंदगी है लौट गए, कुछ सुनकर ही लौट गए, बाकी के युवा नहीं माने वे साक्षात् ही देखकर लौट गए। तो जो देखकर के अनुभव करते हैं वे जघन्य हैं, जो सुनकर के लौट गए वे मध्यम। जो संसार की दशा को अवलोक कर विरक्त हो गए वे उत्तम पुरुष हैं। महानुभाव! मोह की परिणति जब तक रहती है तब तक जीवन में संयम का भाव नहीं आता, तब तक व्यक्ति के परिणाम असंयमजन्य होते हैं। तो यहाँ पर कहा विरक्ति तीन प्रकार से होती है–पहला संसार की दशा को देखकर अर्थात् वीतरागी–सरागी दोनों मुद्रा को देख लिया और देखकर के संसार

से विरक्ति हो गई कि यही संसार का स्वरूप है। दूसरा किसी को सुनकर विरक्ति हुई एक शास्त्र सुना, किसी ने दो-चार-दस-सौ शास्त्र सुने उसके बाद विरक्ति हुई, यह दूसरा भेद और तीसरी विरक्ति वह है जो अनुभव करके हो वह जघन्य है। राजा मधु जिसने हाथी पर बैठे-बैठे केशलोंच कर लिया। जब उसका शरीर बाणों से छलनी हो गया तो उसे देखकर विरक्ति हुई। भगवान् ऋषभदेव को नीलांजना की मृत्य देखकर विरक्ति हुई, संसार की दशा का बोध हुआ।

महानुभाव! पाप पाँच प्रकार के होते हैं। पाप पाँच होते हैं ऐसा नहीं कहा वरन् पाँच प्रकार का होता है ऐसा कहा। जैसे जीव सामान्यतः एक प्रकार के, विशेषतः दो प्रकार के संसारी-मुक्त और उसके अनेक भेद करते जाओ। तो जो दो भेद कहे वे दो प्रकार के जीव हैं ऐसा जानना चाहिए; ऐसे ही पाप केवल पाँच नहीं पाँच प्रकार के हैं, पाप तो अनंत होते हैं। जितने भी निंद्यविचार, निंद्यभाव, निंद्यकृत्य, निंद्यवचन, निंद्य परिणतियाँ हैं वे सभी पाप कहलाती हैं। सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में कहा-**''पाति रक्षति आत्मानं शुभादितिपापं''** (स.सि. अ. 6 सू. 3), जो आत्मा की शुभ और शुद्ध उपयोग से रक्षा करता है अर्थात् शुभ कार्यों में व शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति नहीं करने देता उसको पाप कहते हैं। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने 'पंचास्तिकाय' ग्रंथ में कहा चारों संज्ञा व तीन अशुभ लेश्याएँ व पंचेन्द्रियों के वशीभूत होना, आर्त्तध्यान व दुःप्रयुक्त ज्ञान व मोह भाव होना पाप कहलाता है। और योगसार ग्रंथ में कहा अर्हन्तादि पूज्य पुरुषों की निन्दा करना, सारे जीवों के प्रति निर्दय भाव रखना व निन्दित आचरण में प्रीति रखना, अव्रत के भाव रखना, पाप भाव है।

महानुभाव! पाप का आधार बाह्य द्रव्य नहीं है अपितु आंतरिक कषाय परिणति है। पाप अनंत भी हैं तो भी उन्हें पाँच भेदों में विभक्त कर दिया जाता है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच प्रकार के पाप होते हैं यदि इनमें थोड़ा सा change कर लें तो कल्याण हो जाए। हिंसा में असत्य का 'अ' लगा दें तो हिंसा अहिंसा बन जाएगी और असत्य सत्य हो जाएगा। चौर्य में अब्रह्म का 'अ' लगा दें तो चौर्य अचौर्य हो जाएगा, वहाँ ब्रह्मचर्य बन जाएगा और परिग्रह में एक अपरिग्रह का 'अ' आदि दें तो अनादि से जो परिग्रह जोड़ रखा है उसमें 'अ' लगते ही सब छूट जाएगा, आप अपरिग्रही बन जाएँगे, आप संसारमार्गी से मोक्षमार्गी बन जाएँगे।

मन से, वचन से, काय से, कृत-कारित-अनुमोदना से हिंसादि पाँच प्रकार के पापों का त्याग करना 'महाव्रतं महतां' यह महापुरुषों के महाव्रत होते हैं। जघन्य पुरुषों के महाव्रत क्यों नहीं कहे? इसलिए क्योंकि आप लोग भी तो कहते हैं यह धनवान् का धन है कभी ये क्यों नहीं कहते कि ये दरिद्री का धन है। जब निर्धन है तो धन कहाँ से होगा, रूपवान् का सुंदर

रूप है ऐसा कहते हैं, कुरूप का सुंदर रूप क्यों नहीं कहते हैं। जिनकी देश-कुल-जाति की शुद्धि हो वे महान् कहलाते हैं। उन महापुरुषों के द्वारा स्वीकृत है अतः महतां विशेषण है। अथवा जो महान् मोक्ष रूप अर्थ की सिद्धि का कारण हैं, महान् तीर्थंकरादि महापुरुषों ने इनका पालन किया है तथा सर्व पाप योग से रहित होने से स्वतः महान हैं, पूज्य हैं इसलिए महाव्रत कहलाते हैं। यहाँ आचार्य महोदय ने इस श्लोक से महाव्रतरूप चारित्र के स्वरूप का, इसको कौन धारण कर सकते हैं, उनका 'महतां' पद से और 'तु' शब्द से चारित्र के भेद-प्रभेदों का कथन किया है। प्रत्याख्यान कषाय के मन्द हो जाने से दिग्व्रत धारण करने वाले के मर्यादा के बाह्य त्रस, स्थावर घात से रहित हो जाने से उसके दिग्व्रत भी महाव्रत हो जाते हैं। इस कथन को सुनकर कोई उसको वास्तविक महाव्रत न समझ ले इसलिए आचार्य महोदय ने संक्षेप में महाव्रतों का कथन किया है क्योंकि दिग्व्रतधारक के महाव्रत का उपचार मात्र है वास्तव नहीं है। अतः मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना रूप नव विकल्पों से पापों का त्याग करना महाव्रत है। तो इसका आशय है महाव्रत महानव्रत हैं। इनसे महानव्रत तो कोई है ही नहीं। फिर उनकी प्राप्ति कैसी होगी? प्राप्ति तो महापुरुष बनने पर होगी। हम इस पंचमकाल के जघन्य जीव हैं महापुरुष तो नहीं बन सकते हैं। या पूर्व के संस्कार लेकर नहीं आए तब क्या करें? यदि महाव्रती नहीं बन सकते तो अणुव्रती बन जाओ। अणु अर्थात् छोटा, स्कंध उससे बड़ा होता है। दो या दो से अधिक अणु का स्कंध होता है। जितने भी व्रत हैं उनका छोटा सा भाग अणुव्रत कहलाता है।

अणुव्रत जीवन में सुख-शांति के सृजक होते हैं। विश्व में भी शांति करनी हो तो अणुव्रतों के माध्यम से संभव है। कोई व्यक्ति कहता है मैं तलवार के बल से विश्व में शांति स्थापित करूँगा, कोई कहता है मैं तोप और तमंचा से करूँगा, किन्तु जैन धर्म कहता है विश्व में शांति जब भी होगी हिंसा से नहीं अहिंसा से होगी, अणुबमों से शांति नहीं होती उनसे तो क्रान्ति होती है। अणुबम आत्म भ्रान्ति का कारण है, अशांति का कारण है। शांति का कारण तो अणुव्रत है।

ज्ञानी जैलसिंह जी जब तात्कालीन प्रधानमंत्री थे उस समय उन्होंने एक अच्छी बात कही थी, वे निष्पक्ष अपना वक्तव्य देने वाले थे उन्होंने कहा-जैन धर्म में वर्णित अणुव्रतों का पालन यदि सभी करने लग जाएँ तो भारत वर्ष में एक भी कारागार (जेल) की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। सिर्फ और सिर्फ भगवान् महावीर स्वामी की अहिंसा ही विश्व में शांति की स्थापना कर सकती है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने भी भगवान् महावीर स्वामी की अहिंसा की सराहना

करते हुए कहा–''अहिंसा एक शाश्वत धर्म है, जिसे भी सुख-शांति चाहिए उसे अहिंसा की सुखद छत्रछाया में आ जाना चाहिए, उसके बिना शांति नहीं मिल सकती। आज भी इतने निष्पक्ष दार्शनिक हैं, आध्यात्मिक जन या विद्वान हैं वे जानते व मानते हैं कि आत्मा की शांति अणुव्रत और महाव्रत से ही संभव है इसके बिना आत्मशांति संभव नहीं है।

तो 'महाव्रतं महतां' महापुरुषों के द्वारा महाव्रत स्वीकार किए जाते हैं और ये महाव्रत मन-वचन- काय-कृत-कारित-अनुमोदना इस प्रकार नव कोटि से पाँच पापों का त्याग करने से संभव हैं। वे महाव्रत आपके जीवन में भी घटित हों, आप भी अपने जीवन को संयमी बनाकर के आत्मकल्याण करने में समर्थ हो सकें; ऐसी हम आप सभी के प्रति भावना भाते हैं व इन्हीं सद्भावनाओं के साथ शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाऽधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते॥73॥

अन्वयार्थ–अज्ञान या प्रमाद से **ऊर्ध्वव्यतिपाताः** – ऊपर की दिशा-मर्यादा का उल्लंघन **अधस्तात् व्यतिपाता** – नीचे की दिशा मर्यादा का उल्लंघन **तिर्यक्-व्यतिपाताः** – दिशाओं-विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन **क्षेत्र-वृद्धिः** – क्षेत्र की मर्यादा को बढ़ा लेना तथा **अवधीनाम् विस्मरणं** – की हुई मर्यादा को भूल जाना **पञ्च** – ये पाँच **दिग्विरतेः** – दिग्व्रत के **अत्याशाः** – अतिचार **मन्यन्ते** – माने गए हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! नियत क्रम का उल्लंघन करके अपनी प्रवृत्ति करना यह अतिक्रम कहलाता है। नियतमार्ग क्या है? सबके लिए नियतमार्ग अलग-अलग हैं। उदाहरण स्वरूप हवाई जहाज का नियतमार्ग अलग है, ट्रेन का अलग है, बस, गाड़ी का अलग है, बैलगाड़ी का अलग है, ऊँट आदि जिसे रेगिस्तान का जहाज कहते हैं उसका मार्ग अलग है, नाव-स्टीमर आदि के जलमार्ग अलग हैं। जल-थल-वायु मार्ग ये तीन प्रकार के भिन्न-भिन्न मार्ग तो आपको स्पष्ट दिखाई देते ही हैं। थल मार्ग में भी अलग-अलग वाहन के अनुकूल अलग मार्ग हैं। ट्रेन के रास्ते पर बस नहीं चल सकती तो बस के रास्ते पर ट्रेन नहीं चल सकती। ट्रेन के रास्ते पर बैलगाड़ी नहीं चल सकती और बैलगाड़ी के रास्ते पर ट्रेन नहीं चल सकती क्योंकि बैलगाड़ी के लिए कच्ची मिट्टी का अलग रास्ता होता है जिसे 'डगरा' कहते हैं। ऊँट के चलने के लिए स्थान होता है रेगिस्तान, जहाँ धूल के बड़े-बड़े ढेर लगे होते हैं, जिसमें ट्रेन नहीं चल सकती न कोई चार पहिये वाला वाहन चल सकता, वे धूल में धँस जाएँगे, वहाँ तो ऊँट गाड़ी ही चल सकती है।

तो ऐसे सबके मार्ग अलग-अलग हैं, जो कोई भी अपने मार्ग का उल्लंघन करता है, वह उल्लंघन करना ही दोष लगाना है। किसी श्रावक ने अणुव्रत लिए, उन अणुव्रतों की मर्यादा आपने पूर्व में देखा कि किस व्रत की कितनी मर्यादा है; यदि उस मर्यादा के बाहर जाता है तो उसे दोष लग जाता है। इन व्रतों का एक वलय था, एक सुरक्षा कवच था, एक कोट था। उस कोट का एक मार्ग है यदि उस मार्ग से ही आना-जाना है तब तो कोई बात नहीं यदि अन्य मार्ग से, कुमार्ग से, विमार्ग से उल्लंघन कर रहे हैं तब दोषप्रद हो गया।

यहाँ पर दिग्व्रत की चर्चा की और दिग्व्रत का स्वरूप समझाया, अब बता रहें हैं कि दिग्व्रत की मर्यादा का उल्लंघन कैसे होता है? वह उल्लंघन चार प्रकार से होता है। प्रथम प्रकार के उल्लंघन को कहते हैं 'अतिक्रम'। दूसरे प्रकार से और बड़ा उल्लंघन हो गया उसे कहते हैं 'व्यतिक्रम'। इसके आगे और बड़ा उल्लंघन हो गया उसे कहते हैं 'अतिचार'। यदि व्रत का पूर्ण विनाश हो गया तो उसे कहते हैं 'अनाचार'। आप कहेंगे दो शब्दों के साथ क्रम शब्द लगा है और दो शब्दों के साथ आचार शब्द लगा है ऐसा क्यों?

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार ये चार शब्द कहे। व्यतिक्रम को व्यतिचार क्यों नहीं कहा? और यदि अनाचार कहा तो अनाक्रम क्यों नहीं कह दिया? मन में जिज्ञासा हो सकती है। अतिक्रम अर्थात् मर्यादा के बाहर। मर्यादा के बाहर कैसे गए? दिग्व्रत का पालन करने वाले व्यक्ति के अंदर विशुद्धि बढ़ना चाहिए, उसे अपना सौभाग्य मानना चाहिए कि मैंने दिग्व्रत का नियम लिया है, मुझे आनंद आ रहा है जैसे किसी रंक को निधि मिल जाती है, किसी सुदीर्घकाल से बिछुड़े पुत्र को अपनी माँ मिल जाती है तो उसे बहुत आनंद आता है, किसी अंधे को आँखें मिल जाएँ तो बहुत आनंद आता है, किसी क्षुधातुर व्यक्ति को यथेष्ठ भोजन मिल जाए, तृषातुर व्यक्ति को यथेष्ठ शीतल सुगंधित पेय मिल जाए तो उसे बड़ा आनंद आता है ऐसे ही सुदीर्घकाल से भ्रमण करने वाले इस भव्यजीव को यदि व्रत मिल जाते हैं तो उसे भी बहुत आनंद आता है।

अनादिकाल से अव्रत अवस्था में इस संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, व्रतों के बारे में जाना ही नहीं, समझा नहीं, रुचि नहीं हुई इतना ही नहीं जो व्रती बने उनका उपहास किया, अवमानना की, अवहेलना की। यदि उनको देखने की बजाय स्वयं को देख लेते तो ज्यादा अच्छा रहता। व्रती-महाव्रतियों का उपहास करके पाप का बंध करते रहे। किन्तु जिस व्यक्ति की कषाय मंद हुई, कषाय के मंद होने से वह सम्यक्त्व के उन्मुख हुआ, सम्यक्त्व को प्राप्त किया पुनः वह महाव्रतों के समान कहे अणुव्रतों को प्राप्त करता है। अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से वह सम्यग्दृष्टि हो गया किन्तु प्रत्याख्यान कषाय का मंद उदय चल रहा है तो विशुद्धि बहुत बढ़ रही है।

जो कोई भी व्रती बनता है उसकी बहुत विशुद्धि बढ़ती है, उसे बड़ा आनंद आता है, वह कहता है मुझे व्रत रूप में निधि मिल गई है। लोग जिस सम्पत्ति को सम्पत्ति कहते हैं वह तो पुद्गल का ढेर है उसे त्यागने में मुझे देर नहीं लगेगी क्योंकि मेरी अब पहचान हीरे से हो गई है। मैं जिसे अब तक जोड़ रहा था वह तो काँच का ढेर था, पहचान होते ही काँच के टुकड़े एक क्षण में छोड़ दिए जब तक काँच की पहचान नहीं थी तब तक अपने अमूल्य जीवन को उसके पीछे व्यर्थ कर रहे थे।

ऐसे ही जिस व्यक्ति ने दिग्व्रत लिया उसे आनंद आ रहा है कि इतना सा व्रत लेने में इतने सारे पापों से बच गया, इतना थोड़ा सा क्षेत्र रह गया है, हे भगवान्! अब तो मेरा संसार चुल्लू प्रमाण रह गया। वह खुश होता है, इस खुशी में उसे आनंद आता है। जैसे श्रावकों को आहार देने में आनंद आता है, वह कहता है महाराज श्री! जो आनंद हमें खिलाने में आता है वह आनंद खाने में नहीं आता। तो ऐसे ही व्रत ग्रहण करने पर उसे आनंद आता है।

महानुभाव! यह आनंद आना चाहिए, यदि उस आनंद में, विशुद्धि में कमी आ गई तो थोड़ा सा उल्लंघन हो गया, इसी उल्लंघन का नाम है 'अतिक्रम'। अपने क्रम का थोड़ा अतिक्रम किया। जैसे कोई व्यक्ति चल रहा था, चलते-चलते वह गिरा भी नहीं, रास्ता भी नहीं बदला, लीक से भी नहीं हटा, पीछे भी नहीं मुड़ा किंतु चलते-चलते अचानक से उसकी चाल में एक कम्पन सा आया चक्कर सा आया, पुनः संभल गया। वह संभला हुआ व्यक्ति जो थोड़ा सा प्रमादी हुआ, चक्कर सा आया समझो वह अतिक्रम है। यदि व्यक्ति के चलते-चलते पैर लड़खड़ाने लगे, गिरने को हुआ तो समझो व्यतिक्रम। अतिक्रम-व्यतिक्रम शब्द आते हैं एक देश दोष के लिए। व्यतिक्रम में 'व्य' शब्द विपरीत अर्थ में जा रहा है 'क्रम' अर्थात् गमन तो चल रहा है पर गमन करते-करते कदम कभी आगे चलकर रुक जाता है या पीछे हट जाता है। लीक से हटा नहीं, किन्तु कदम पीछे हट गया। जैसे कोई गाड़ी चल रही थी अचानक से ब्रेक लगाकर फिर बेक में गेयर डाल दिया। तो गाड़ी उसी लीक पर चल रही है वह पलटी नहीं, टकरायी नहीं है किन्तु Back में आ गई। तो गाड़ी का उसी मार्ग में चलते हुए Back में आ जाना कहलाता है 'व्यतिक्रम'।

अतिचार को ऐसे समझें कि वह व्यक्ति लीक से थोड़ा हट गया। चल तो आगे की ओर रहा है किन्तु पैर लीक से थोड़ा हटके पड़ रहा है। लीक से हटने पर दुर्घटना होती है। ट्रेन यदि पटरी से थोड़ी सी भी डिस्टर्ब हो जाए तो दुर्घटना संभावित है। ऐसे ही जो व्रती है, जो अपनी लीक पर चल रहा था किंतु लीक पर चलते-चलते उसके कदम थोड़े से बहक गए। जैसे वृद्ध पुरुष सोचता है मैं अपने कदम रखूँगा यहाँ, किन्तु पड़ता है कहीं और। वृद्ध पुरुष भी चलता है, प्रमादी पुरुष भी चलता है, शराबी पुरुष भी चलता है जैसे इनके पैर चलने में लड़खड़ा जाते हैं ऐसे ही व्रती व्यक्ति जो आलस्य से भर गया है उसके भी पैर लड़खड़ा जाते हैं, इस पैर लड़खड़ाने की प्रवृत्ति का नाम है अतिचार।

अनाचार का अर्थ होता है उसने लीक को छोड़कर के अब तो अन्य मार्ग का सहारा से लिया, व्रतों को ही छोड़ दिया। महानुभाव! आप जानते हैं कि अनाचार तो बहुत बड़ा दोष है, अतिचार थोड़ा छोटा दोष है, व्यतिक्रम उससे छोटा दोष है और अतिक्रम उससे और छोटा

दोष है किन्तु दोष सब हैं। सबका नाम दोष है। चोरी चाहे एक पैसे की हो या करोड़ों की, चोरी चोरी होती है किन्तु सबकी सजा एक जैसी नहीं होती। नाम से तो उन्हें चोर ही कहते हैं, किसी ने कंकड़ी की चोरी की तो किसी ने हीरे की चोरी की, किसी ने भगवान् की चोरी की तो किसी ने किसी की कन्या की चोरी की, चोर तो सब हैं पर सबकी सजा एक जैसी नहीं हो सकती है। ऐसे ही अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार चारों ही दोष हैं पर चारों का प्रायश्चित एक जैसा नहीं होता। भगवान् से भक्त प्रार्थना करता है–''कंकरी के चोर को कटार मारिये नहीं'' कंकड की चोरी करने वाले को कटार नहीं मारी जाती और राजा की हत्या करने वाले को क्षमा नहीं किया जाता। कुछ अपराध क्षम्य होते हैं कुछ अक्षम्य।

अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार-अनाचार चारों दोष हैं, इनका प्रायश्चित अलग-अलग है। अब देखना ये है कि जो दिग्व्रत लिया है उसके अतिचार कौन-कौन से हैं। विशुद्धि का ह्रास होना अतिक्रम है, संक्लेशता का बन जाना व्यतिक्रम है। अतिचार अर्थात् मर्यादा से थोड़ा डिस्टर्ब होना। यहाँ अतिचार बताते हैं कि दिग्व्रत के पाँच अतिचार माने गए हैं। **'ऊर्ध्वव्यतिपात'**-जिस व्यक्ति ने दस दिशाओं की मर्यादा ली थी। ऊर्ध्वदिशा की मर्यादा मानो दस हजार किलोमीटर ली थी, वह किसी विमान में बैठा जो विमान ग्यारह हजार किलोमीटर ऊपर जाता है तो उसने ऊर्ध्वदिशा की मर्यादा का उल्लंघन कर दिया। मैं तो विमान मैं बैठूँगा ही, मैं अपनी भावना रोक नहीं सकता चाहे वह कितना ही ऊँचा जाए, अथवा उसने पहाड़ की मर्यादा 1 km की रखी हो, कहीं 1.5 कि.मी. वाला पहाड़ है, उसने सोचा मुझे चढ़ना ही है, मैं अपनी मर्यादा बढ़ा लेता हूँ तो ऐसा करना ऊर्ध्वदिशा संबंधी अतिचार हो गया।

'अधोव्यतिपात'-नीचे की मर्यादा ली थी कि मैं 500 km से ज्यादा गमन नहीं करूँगा, पर कोई स्थान 1000 km की गहराई में है तो मर्यादा बढ़ाना, जानते हुए भी मर्यादा का उल्लंघन करना। तो यह अधःव्यतिक्रम है। **'तिर्यग्व्यतिक्रम'**-चार दिशा, चार विदिशा अर्थात् पूरव, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य इन 8 दिशाओं में अपनी सीमा को बढ़ा लेना। **'क्षेत्र वृद्धि'**-अज्ञानतावश कहना अरे! पहले मैं जानता नहीं था, मैंने अमुक-अमुक मर्यादा ले ली थी, अब मैं जान गया हूँ, अब मुझे अपनी मर्यादा को बढ़ा लेना चाहिए। वह मर्यादा बढ़ा लेता है तो क्षेत्रवृद्धि रूप अतिचार लगा लिया। वह पूर्ण रूप से उल्लंघन नहीं कर रहा पर मर्यादा बढ़ा ली। 10 km का 11, 19, 20, 25 km तक बढ़ा लिया तो यह क्षेत्रवृद्धि नामक अतिचार है। अगला कहा-**'विस्मरण'** ली हुई मर्यादा को ही भूल जाना। अपने व्रतों के प्रति उत्साह होना चाहिए, अपनी निधि का ख्याल तो रखो। ये व्रत आपकी निधि हैं, आप इन्हें भूलते क्यों हैं। कई बार त्यागी व्रती कहते हैं मैं भूल गया कि मैंने कौन से अपराध किए हैं, आज हमें प्रायश्चित दे दो, अरे! जब तुम्हें अपराध ही ज्ञात नहीं,

अपने व्रत में लगे दोष का ही ज्ञान नहीं तो प्रायश्चित कैसे लोगे। यह तो ऐसा हो गया कि जैसे आप किसी दुकानदार से कहो कि तुम्हारे पास मेरे कितने रुपये जमा हैं यह मुझे नहीं मालूम, तो फिर उससे सौदा कैसे लोगे।

आचार्य महोदय यहाँ यही समझा रहे हैं कि व्रतों में अतिचार अज्ञान, प्रमाद और कषायों के कारण लगते हैं। एक बार ऐसा करने पर अतिचार कहलाते हैं और बार-बार लगने पर अनाचार हो जाते हैं। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की मन्दता होने से जिसे सीमा की प्रतिज्ञा का स्मरण नहीं रहता है वह अज्ञानकृत अतिचार है। बुद्धि मन्दता तो नहीं है परन्तु किन्हीं सांसारिक कार्यों में संलग्न होने से स्वकीय प्रतिज्ञा का स्मरण नहीं रहता वह प्रमादकृत अतिचार है। कभी कषायों के उद्वेग से लोभादि के कारण भी अतिचार लगते हैं वह कषायकृत अतिचार हैं।

महानुभाव! अपनी निधि का ख्याल रखो, लोक में अपनी सम्पत्ति का ख्याल नहीं रखोगे तो दिवालिया निकल जाएगा और व्रत रूप निधि का ख्याल नहीं रखा तो व्रतों का भी दिवालिया निकल जाएगा। इन पाँच अतिचारों से बचो, जो इन अतिचारों से बच जाता है वही अपने व्रतों को निर्मल बना पाता है। आप सभी का कल्याण हो, मंगल हो, शुभ हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥74॥

अन्वयार्थ–दिगवधेः – दिशाओं की मर्यादा के **अभ्यन्तरं** – भीतर **अपार्थकेभ्यः** – बिना प्रयोजन **सपापयोगेभ्यः** – पापबन्ध के कारणभूत कार्यों से **विरमणं** – विरक्त होने को **व्रतधराग्रण्यः** – व्रतधारियों में अग्रणी जो तीर्थंकर देव हैं वे **अनर्थदण्डव्रतं** – अनर्थदण्ड व्रत, **विदुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में पूर्व में दिग्व्रत की विशेषता देखी, उसके फल के बारे में जाना व उसके अतिचारों को जाना।

इसके उपरांत गुणव्रत के द्वितीय व्रत अनर्थदण्डविरतिव्रत के संबंध में कहते हैं-क्या है अनर्थदण्डविरति व्रत? क्या यह भी कोई व्रत होता है? यह तो समझदार प्राणियों का कर्त्तव्य होता है। क्या इसको भी व्रत की संज्ञा दी जा सकती है? प्रारंभ में जो कोई भी व्यक्ति बड़े-बड़े कार्य नहीं कर पाता है तो उन्हें छोटे कार्यों से वंचित नहीं किया जाता, छोटे कार्यों की प्रेरणा देकर के, छोटे कार्य सम्पन्न कराके उस व्यक्ति को बड़े कार्य करने की योग्यता प्रदान की जाती है। लघुता से ही प्रभुता का साक्षात्कार होता है। प्रथम सोपान पर कदम रखने वाला व्यक्ति अंतिम सोपान पर अपने चरण स्थापित कर लेता है, फिर वे सोपान और उसके चरण आदरणीय, प्रशंसनीय, पूज्यनीय, वंदनीय, श्लाघनीय और पथ प्रदर्शक बन जाते हैं।

यहाँ पर भी आचार्य महोदय श्रावक के अणुव्रत (छोटे व्रत) का कथन कर रहे हैं, उन्हें व्रतों की संज्ञा दे रहे हैं। जैसे कोई निर्धन अपने बेटे को कहता है 'राजा बेटा' तो वह राजा बेटा नहीं है किन्तु वह निरन्तर कहता रहेगा 'राजा बेटा मेरा ऐसा काम करेगा', 'ऐसा नाम करेगा' तो वह प्रेरणा पाते-पाते अपनी क्षमता को पूर्ण विकसित करके उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। यदि उसे हतोत्साहित किया जाएगा तो वह आगे तो बढ़ेगा ही नहीं अपितु जहाँ खड़ा है वहाँ खड़ा रहना भी उसके लिए मुश्किल हो जाएगा। तूफान यदि सामने से आ रहा हो तो उसमें चलना तो मुश्किल है ही, यदि कोई व्यक्ति एक जगह खड़े होकर अपनी स्थिति संभाल पाए यह भी मुश्किल है, हो सकता है तूफान के वेग से वह धराशाही भी हो सकता है, पीछे की ओर गति भी कर सकता है और पतित भी हो सकता है इसलिए आचार्य महोदय श्रावकों के अणुव्रतों की बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं और प्रशंसा करने का आशय होता है किसी के छोटे

कार्यों को भी सराहना, उसके सद्गुणों को एक साथ उद्घाटित कर देना और बुराईयों का उसमें जिक्र नहीं करना, यह कहलाती है प्रशंसा और प्रोत्साहित करना।

जिस तरह प्रथम दिवस स्कूल में पढ़ने के लिए गया विद्यार्थी कदाचित् वर्णमाला याद करके आता है, 27 स्वर, 33 व्यंजन, 4 योगवाह इन 64 अक्षरों को याद करके आता है तो उसके माता-पिता बहुत खुश होते हैं, कहते हैं वाह! मेरा बेटा तो विद्वान् बनेगा। इन 64 अक्षरों को पढ़कर के उसे कह दिया कि विद्वान् बनेगा क्योंकि इन 64 अक्षरों से ही हिन्दी के सब काम सम्पन्न होते हैं, 65 वां कोई अक्षर नहीं होता। तो इन्हें याद कर उस बालक की पीठ थपथपाने से, प्रशंसा करने से वह बालक केवल 64 अक्षर ही याद नहीं रखेगा अपितु इन अक्षरों को जोड़कर जो शब्द बनाएगा उन्हें याद करने की कोशिश करेगा, फिर वाक्य भी बनाएगा शनैःशनै और आगे बढ़ता जाएगा। ऐसे ही आचार्य महोदय पहले उसे हिंसा से विरक्त करते हैं, अहिंसा का उपदेश देते हैं, उससे पूछते हैं क्या तुम अपनी आत्मा की रक्षा चाहते हो? यदि हाँ तो इसकी रक्षा ऐसे नहीं होगी, उसके लिए कवच बना लो। एक कमरे में घुसकर बाहर चौकीदार, पहरेदार नियुक्त कर लें क्या? ऐसे सुरक्षा हो जाएगी? नहीं। तो क्या उपाय है? वह श्रावक कहता है मुझे तो अभी शरीर से भी राग है, परिवार से भी राग है, आत्मा से राग है, आत्मा से राग तो इसलिए है कि वह शरीर के अंदर है, वैसे मैंने आत्मा को जाना नहीं है, मैं क्या करूँ? यदि अपने जीवंत शरीर की रक्षा करना चाहते हो तो किसी के जीवंत शरीर को मारना नहीं। नहीं मारोगे तो तुम्हारी रक्षा हो जाएगी, यदि घात किया तो तुम्हारे शरीर का भी घात होगा, चाहे आज हो या कल, अब हो या तब। ये बात सच है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् के वाक्य कभी भी किसी भी स्थिति में अन्यथा होते ही नहीं हैं।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा सिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः॥

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहा हुआ एक भी शब्द हेतुओं के द्वारा खण्डित नहीं हो सकता। उनकी जो आज्ञा है वह ग्रहण करने योग्य है, कल्याण में निमित्त है। तो क्या अहिंसा से कभी मेरी हिंसा नहीं होगी? हाँ, नहीं होगी, सबको अभयदान दो, तुमको नियम से अभयदान मिलेगा। पहले छोटे-छोटे अणुव्रतों का पालन करो, तभी महाव्रतों को पालन करने की सामर्थ्य प्राप्त होगी। जैसे छोटी सी चम्मच से दूध पीने वाले के अंदर बाल्टी उठाकर दूध पीने की सामर्थ्य नहीं होती। और जो चम्मच से दूध पीना नहीं जानते उन्हें माँ का दूध पिलाया जाता

है, माँ का दूध न मिले तो परिस्थिति विशेष में बोतल से निप्पल लगाकर दूध पिलाते हैं किन्तु उसे बाल्टी भरके दूध नहीं पिलाया जाता है। ऐसे ही जो श्रावक अभी संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हुए हैं, महाव्रती बनने का भाव है, अच्छी बात है, किंतु भाव के साथ-साथ सामर्थ्य कितना है। कोई कहता तो है कि मैं एक क्विन्टल वजन उठा लूँगा, पहले परीक्षा लेकर देख लो कि 2 kg भी वजन उठा पाएगा या नहीं, ऐसा नहीं कि 5 kg के बोरे उठाने में ही उसकी हड्डी टूट जाए।

इसलिए श्रावकों के लिए आचार्य महाराज कह रहे हैं कि पहले अणुव्रतों को स्वीकार करो। तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो अहिंसाणुव्रत का पालन करो, तुम यदि चाहते हो कि कोई मुझे ठगे नहीं, धोका न दे तो झूठ बोलना छोड़ दो, तुम चाहते हो कि तुम्हारी या तुम्हारी किसी भी वस्तु की चोरी न हो तो चोरी करना छोड़ दो, तुम चाहते हो तुम्हारे साथ कोई बदसलूकी न की जाए, बद्व्यवहार न किया जाए तो अपने व्यवहार को सुधारो, तुम चाहते हो तुम्हारी वस्तु कोई छीने नहीं, तुम्हारे धन पर कोई अधिकार न जमाये तो तुम संकल्प ले लो कि तुम किसी दूसरे की वस्तु पर, धन पर अधिकार न जमाओगे। अपनी मर्यादा कर लो मुझे इतना चाहिए इससे ज्यादा नहीं, बाकी सबका त्याग कर दो। इसके अतिरिक्त आप चाहते हो कि मुझे अनावश्यक पाप न लगे, तुमने दुकान से जितना सामान खरीदा उतने का ही पेमेन्ट करना चाहते हो, ज्यादा तो नहीं करना चाहते। इसलिए अनावश्यक को छोड़ो।

जहाँ आप जाना नहीं चाहते, और किन्हीं जगह आप जा नहीं सकते तो आप जाने का त्याग कर दो, आपका दिग्व्रत हो जाएगा। तत्संबंधी क्षेत्रों के पापों से आप बच गए। आचार्य महोदय उस श्रावक को शनैः-शनैः उस संसार के पापों के गर्तक्षेत्र से निकालकर के धर्म क्षेत्र में ला रहे हैं। जैसे माँ अपने बेटे की अँगुली पकड़कर एक-एक कदम चलना सिखाती है। पहले माँ घर के आँगन में तीन पहिये की गाड़ी घुमाकर चलवाती है, पुनः बालक थोड़ा बड़ा होता है तो तीन पहिये की गाड़ी से चलना छोड़ देता है, वह घर के सामने पैदल-पैदल चलता है, बालक अपना क्षेत्र थोड़ा और बढ़ाता है छोटी साईकिल चलाता है, दौड़ता है अब उसे न माँ की अँगुली चाहिए न तिपहिया की गाड़ी ऐसे ही आचार्य महोदय शनै-शनैः लघुव्रतों को देकर के महाव्रतों को ग्रहण करने की प्रेरणा दे रहे हैं, कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

इन पाँच अणुव्रतों को पालन करने के लिए फिर क्या करना चाहिए? इन अणुव्रतों के भी गुणव्रत होते हैं जैसे कोई व्यापारी अपने व्यापार को बढ़ाता है, कृषक अपनी फसल बढ़ाता है, उद्योगपति अपनी फैक्ट्री में अच्छा माल बनाने का प्रयास करता है, ऐसे ही अणुव्रती भी

प्रयास करता है कि कैसे भी मेरे अणुव्रतों में वृद्धि हो। तो अणुव्रतों की वृद्धि करने के लिए तीन गुणव्रत होते हैं। जिनके माध्यम से अणुव्रतों में वृद्धि होती है। दिग्व्रत, अनर्थदण्डविरति व्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रत ये तीन गुणव्रत होते हैं। पूर्व में दिग्व्रत के बारे में जाना।

दिग्व्रत में मर्यादा के बाहर होने वाले पापपूर्ण निरर्थक कार्यों से निवृत्ति होती है और अनर्थदण्ड- विरति व्रत में दिग्व्रत की सीमा के भीतर होने वाले पापपूर्ण निरर्थक कार्यों से निवृत्ति होती है यही इन दोनों में अंतर है। उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है वह अनर्थदण्ड है। अथवा अपने तथा अपने कुटुम्बीजनों के मन-वचन-तन संबंधी प्रयोजन के बिना पापोपदेशादिक क्रियाओं के द्वारा प्राणियों को पीड़ा देना अनर्थदण्ड है, उस अनर्थदण्ड का त्याग करना या उससे विरक्त होना अनर्थदण्डविरति व्रत कहलाता है। अथवा जिस मन-वचन एवं काय की क्रिया से हमारे किसी भी पारमार्थिक और सांसारिक कार्य की सिद्धि नहीं होती, केवल पाप का बंध ही होता है वह सभी पापमय निष्प्रयोजनीय कार्य व क्रियाओं का त्याग करना अनर्थदण्डविरति व्रत है। यहाँ कहा निष्प्रयोजन कार्य न करना।

लोक में कहावत है भैया! बिना स्वार्थ के तो कोई किसी को पानी भी नहीं पिलाता, बिना स्वार्थ के तो कोई किसी को फूटी आँख नहीं सुहाता, बिना स्वार्थ के कोई कुछ भी काम नहीं करता। सब क्षेत्रों की भाषा अलग-अलग होती है यहाँ इतना समझ लें कि अगर आप निष्प्रयोजन काम करते हो तो तुम्हारे परिवार वाले टोक देते हैं। कोई बालक खाट पर बैठे-बैठे पैर हिलाता है तो तुरंत टोक देते हैं, पैर क्यों हिला रहे हो, शांति से बैठो। अब बालक नहीं कह सकता कि मेरे पैर हिलाने का प्रयोजन क्या है। एक डॉक्टर आया उसने कहा-पैर हिलाने दो, भाई क्यों? अगर पैर हिलाता रहेगा तो उसको तनाव नहीं होगा, उसकी बॉडी मूमेन्ट करती रहेगी। कोई व्यक्ति धूप में दौड़ रहा है, किसी ने टोका-धूप में नहीं दौड़ो, तभी उससे कहा-नहीं, इसे दौड़ने दो, धूप में दौड़ने से उसका शरीर मजबूत हो जाएगा, जितना पसीना बहेगा उतना जीवन में कभी खून नहीं बहाना पड़ेगा। धूप में, गर्मी में, सर्दी में घूमने दो, जिससे इसे कभी रोगों से बचाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। प्रयोजन सिद्ध हो गया तो आप नहीं रोकोगे। निष्प्रयोजन अपने बच्चों को आप कोई भी कार्य करने नहीं देते, क्यों का प्रश्नचिह्न हर कार्य के पीछे लगा है।

यहाँ पर भी आचार्य महाराज कह रहे हैं, अर्थहीन कोई भी कार्य करना ही नहीं चाहिए, यदि करता है तो मूर्ख पुरुष, रथ्या पुरुष कहलाता है। अर्थवत्-सारभूत कार्य करो। जो कार्य

अर्थहीन के साथ-साथ पाप देने वाले भी हैं तो ऐसे कार्य न करो। जिन कार्यों में सार नहीं उन कार्यों को क्यों करना, कोयले की दलाली क्यों कर रहे हो, इससे तो आपके ही हाथ काले होंगे, मिलेगा कुछ नहीं। अरे! काँटों का व्यापार क्यों कर रहे हो, इससे आपके हाथ ही लहुलुहान हो जाएँगे, प्याज को काट-काटकर क्यों बेच रहे हो, आपकी आँख के आँसू व्यर्थ ही बह जाएँगे, मिलेगा कुछ नहीं। जब आपको लाभ कुछ नहीं हो रहा, हानि ही हानि हो रही है, ऐसे कार्यों को क्यों करना।

इसी बात को समझाते हुए आचार्य महोदय कह रहे हैं कि व्रतों को धारण करने में अग्रणी तीर्थंकर प्रभु ने बताया है कि 'अभ्यंतरदिग्व्रते' जो दिग्व्रत की मर्यादा ले ली उसके अंदर भी 'अपार्थकेभ्यः' प्रयोजनविहीन कार्य न करो। 'सपापेभ्यः' इससे पाप का आस्रव होगा। **'अपगतः अर्थः प्रयोजनं येषां ते अपार्थकास्तेभ्यः'** इस समास के अनुसार जिनका कुछ भी प्रयोजन नहीं है उन्हें अपार्थक या अनर्थ कहते हैं तथा **योगप्रवृत्तिर्दण्डः** योगों की प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं। मन से विचार करना, वचन से उपदेश देना व शरीर से कुछ कार्य करना दण्ड कहलाता है।

यह दण्ड जब पाप से युक्त होता है तब अपराध कहलाता है। जैसे खोटा चिन्तन करना, पाप कर्मों का उपदेश देना तथा प्रमादपूर्वक शरीर से प्रवृत्ति आदि करना। जिन कार्यों में अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं है ऐसा अप्रयोजनीय कोई भी कार्य न करो जिसका बहुत बड़ा भुगतान आपको देना पड़े। एक व्यक्ति धूप में खड़ा होकर जुआ खेलने वालों को देख रहा था, इतने में पुलिस आई और जुआरियों के साथ उस देखने वाले को भी ले गई, अब वह रो रहा है, भाई! तू वहाँ खड़ा ही क्यों हुआ था? अप्रयोजनीय ऐसा कोई कार्य क्यों करो जिसमें पाप का बंध हो रहा है और प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो रहा, तो इतनी बुद्धि तो रखो। आचार्य महोदय कह रहे हैं दिग्व्रत में की गई मर्यादा के अभ्यन्तर जिनसे धर्म, यश, सुख व लाभ कुछ भी नहीं होता है ऐसी निष्प्रयोजनीय पाप बंध की कारणभूत मानसिक, वाचनिक, कायिक क्रियाओं का करना अनर्थदण्ड कहलाता है। ऐसे कार्यों से विरक्त हो जाओ, इसी का नाम है अनर्थदण्डविरति व्रत। इसका शक्त्यानुसार पालन करो। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अनर्थदण्ड के भेद

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुती पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः।।75।।

अन्वयार्थ–अदण्डधराः – दण्ड को नहीं धारण करने वाले गणधरादिक देव **पापोपदेश-हिंसादानापध्यानदुःश्रुती प्रमादचर्या** – पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुती व प्रमादचर्या **पञ्च** – इन पाँच **अनर्थदण्डान्** – अनर्थदण्डों को **प्राहुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ के माध्यम से अनर्थदण्डविरतिव्रत को समझा रहे हैं कि निष्प्रयोजनीय पापपूर्ण कार्यों को करना अनर्थदण्ड है, उनसे विरक्त होकर के यह संकल्प ले लेना कि मैं ये कार्य नहीं करूँगा यही अनर्थदण्डविरति व्रत है। यहाँ आचार्यों ने 'अनर्थदण्ड व्रत' शब्द ग्रहण किया अनर्थदण्डविरति नहीं कहा, क्योंकि कुछ सूत्र देशामर्षक होते हैं। देशामर्षक का आशय होता है कि तीन शब्द में से दो शब्द ले लिए तो व्यक्ति समझ जाता है कि क्या कहना चाहते हैं। जैसे किसी का पूरा नाम बहुत लम्बा है तो Short में नाम बोलना, समझदार व्यक्ति शॉर्टनेम से समझ जाता है। या कई बार स्थानों के नाम भी बड़े-बड़े होते हैं तो उसे भी व्यक्ति Short में कह देता है। जैसे 'नोएडा' यह नाम आपने Short में कह दिया, पूरा नाम है ''NEW OKHALA INSTITUTE DEVELOPMENT AUTHORITY'' संक्षेप में आपने ''NOIDA'' कह दिया।

अणुव्रत का अर्थ था स्थूलपापों का त्याग करना तो ये नहीं कहा 'स्थूलपापविरतिव्रत' क्या कहा-'अणुव्रत' अर्थात् छोटा सा संकल्प। ऐसे ही यहाँ पर अनर्थदण्डविरतिव्रत न कहकर अनर्थ- दण्डव्रत शब्द का प्रयोग आचार्यों ने किया। दिग्व्रत की अवधि के बाहर तो आपके अणुव्रत भी महाव्रत सरीखे होते हैं, तो फिर क्या करें? दिग्व्रत के भीतर उपद्रव मचाएँ क्या? शांति से न बैठकर दूसरों के लिए अशांति पैदा करें? क्योंकि हम दिग्व्रत के बाहर महाव्रती सरीखे हैं, अपने अहंकार से सबको परेशान करोगे क्या? नहीं, यह श्रावक का प्रयोजन नहीं है। जो आपने दिग्व्रत की सीमा ली है उसमें भी अब और घटाओ। जो स्थूल पाप छोड़े हैं अब सूक्ष्म पापों से भी बचो। यदि अपने गुणव्रतों को सुरक्षित रखना चाहते हो, गुणव्रतों को बढ़ाना चाहते हो तो अपनी आदतों को सुधारो।

सागरसेन मुनिराज ने पुरुरवा भील को उसके कल्याण के लिए एक नियम दिया था, जब मुनिराज ने माँस त्याग के लिए उससे कहा तो उसने कहा–मैं भील हूँ, माँस ही मेरा भोजन है, मैं इसका त्याग कैसे कर सकता हूँ? उसे तभी एक उड़ता हुआ कौवा दिखाई दिया, उसने कहा–महाराज! मैं सभी प्रकार के माँस का त्याग तो नहीं कर सकता किन्तु हाँ, मैंने कभी कौवे का माँस नहीं खाया, मैं उसका त्याग कर सकता हूँ, इसे छोड़ने में मुझे कोई हर्ज नहीं। ऐसे ही आचार्य महोदय कह रहे हैं जिन कार्यों को करने से आपका कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा और उन कार्यों के करने में विशेष पाप भी हो रहा है तो वह कार्य क्यों करना, यदि आपका कोई प्रयोजन सिद्ध हो रहा हो तब तो ठीक भी है। भैया! वह कायेले की दलाली करता है, क्यों करता है? उसमें उसे कुछ पैसा मिल जाता है। सफेद कपड़े पहन कर जाता है शाम को काले करके ले आता है, कमाता कुछ है नहीं, पूरे दिन धूप में खड़ा रहता है, तो आप कहोगे–बेटा! ऐसा काम मत कर। वह कहता है नहीं पापा मैं 100 रु. कमाकर लाता हूँ तब कपड़े काले करता हूँ। पापा ने कहा–बेटा– 50रु. कपड़े धोने में लग गए, 25 रु. किराया जाने का, 25 रु. आने का, हो गए पूरे 100 रु. इसलिए शांति से घर में बैठो।

महानुभाव! यही आचार्य महाराज समझा रहे हैं कि जिन कार्यों को करने से सिर्फ और सिर्फ पाप का बंध हो रहा है, जिनसे कोई कार्य सिद्ध नहीं हो रहा है, ऐसे कार्य मत करो। स्वयं सोचो, जिस समय में आप पुण्य का कार्य कर सकते हो, वह प्रयोजनभूत हो सकता है तो उस प्रयोजन को क्यों नहीं कर लेते, तू प्रयोजन को सिद्ध करके आत्महितार्थी बन सकता है, मोक्षमार्गी बन सकता है। कहने का अभिप्राय यह है जो व्रती श्रावक बना है; जिसने देशव्रत को ले लिया, अनर्थदण्डों से विरक्त हो रहा है तो आचार्य महोदय कह रहे हैं उनसे विरक्त होने में तुम कोई बड़ा काम नहीं कर रहे, वे कार्य तो वैसे ही व्यर्थ के हैं जैसे कोई लड़का व्यर्थ में उछलकूद कर रहा है, पिता जी ने कहा बैठ जाओ शांति से, वह नहीं माना उछलकूद करता रहा, गिर गया और हाथ-पांव टूट गए, उसे क्या मिला? यही यहाँ आचार्य महोदय समझा रहे हैं कि उछलकूद ज्यादा न करो, तुम्हारे हाथ-पांव टूटने का आशय है तुम्हारा पुण्य नष्ट हो जाएगा और तुम पाप की कीचड़ में गिर पड़ोगे। इसलिए इन्हें छोड़ो, और इन्हें छोड़ने में तुम्हारा कुछ बिगड़ भी नहीं रहा।

आभ्यन्तर परिधि में दिग्व्रत लेकर अर्थहीन कार्यों को छोड़ देना चाहिए और जहाँ से पाप का बंध हो रहा हो, प्रयोजन कोई सिद्ध नहीं हो रहा हो ऐसी रथ्या पुरुष की सी यात्रा न करो। कोल्हू के बैल की तरह से सुबह से शाम तक चल तो रहे हैं पर पहुँच कहीं नहीं रहे। ऐसा कार्य विवेकी

व्यक्ति नहीं करते। इसलिए कहा–'विरमणं' विरक्त हो जाओ, इन निष्प्रयोजनीय मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से। मनोदण्ड-वचनदण्ड और कायदण्ड इन दण्डों को यदि अनावश्यक रूप से प्रवृत्त करोगे तो फिर दण्ड तो भुगतना पड़ेगा। आचार्य महोदय कह रहे हैं–जो व्रत धारण करने वालों में अग्रणीय हैं, जिनके व्रत सबसे उत्कृष्ट हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान् ने इस अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप कहा है।

जो अदण्ड अवस्था को धारण करने वाले हैं अर्थात् जो अब दण्ड को नहीं भोगेंगे क्योंकि उन्होंने अपराध के कारणों को नष्ट कर दिया है। अपराध जहाँ हो सकते हैं उस अवस्था से वे ऊपर उठ गए। ऐसी कौन सी अवस्था है जहाँ अपराध होते हैं? अपराध होते हैं जब तक मिथ्यात्व का उदय है, सम्यग्मिथ्यात्व का उदय है, सम्यक् प्रकृति का उदय है, कषायों का उदय है प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यान, संज्वलन का उदय है या नोकषाय का उदय है। जब तक मोहनीय कर्म भी 28 प्रकृति उदय में रहती हैं तब तक पाप होते हैं। मोहनीय कर्म जब नष्ट हो गया तो अब पाप नहीं हो सकते। मोहनीय कर्म की सत्ता या उदय अवस्था ही पापवृत्ति का कारण है। जिन्होंने मोहनीय कर्म को नष्ट कर दिया तो मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही ज्ञानावरण ी, दर्शनावरणी कर्म भी नष्ट हो गया। अज्ञानता से पाप होते थे उस अज्ञानता का नाश हो गया, अज्ञान (वा ज्ञान) के पूर्व दर्शन भी होता है तो क्षयोपशम भाव होता है, वह भी नष्ट हो गया क्षायिक दर्शन हो गया। शक्ति की हीनता में भी पाप हो सकते हैं सो अन्तराय कर्म को नष्ट कर दिया तो अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ये अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लिए इसलिए वे भगवान् बन गए। अब वे केवली भगवान् किंचित् भी किसी प्रकार से पाप प्रवृत्ति नहीं कर सकते अतः वे भगवान् कहलाए 'अदण्डधरा'। अब उनके मन- वचन-काय दण्डरूप नहीं हैं।

उन अदण्डधरा भगवान् ने कहा कि पाँच प्रकार के अनर्थदण्ड होते हैं। इनके करने से दण्ड की प्राप्ति होती है। और इन कार्यों को करने वालों के मनोदण्ड-वचनदण्ड-कायदण्ड कहलाते हैं। तीन प्रकार के योगों से यदि ये कार्य न करें तो दण्डों से मुक्ति पाई जा सकती है। वे पाँच कार्य अथवा प्रवृत्तियाँ हैं जो निष्प्रयोजनीय हो सकती हैं, जिनसे पाप का आस्रव होता है। प्रथम है **'पापोपदेश'**-कोई व्यक्ति जो ज्यादा होशियार बनता है, वह कहता है मैं तो पाप नहीं करता, मैं तो पाप से बहुत दूर रहता हूँ, जैसे कोई बालक कहे मैं तो आग से दूर रहता हूँ। तो क्या करते हो? बस चिंगारी लेकर उड़ा देता हूँ या पटाखे बम फोड़ता हूँ, जिससे कितने जीव, मकान आदि स्वाहा हो जाते हैं, तो ऐसे विद्वान् नहीं बनना, जो विद्वान् कहे कि

मैं तो पाप नहीं करता हूँ किन्तु पाप का उपदेश तो देता हूँ। तो ऐसा उपदेश देने वाला व्यक्ति भी धर्मात्मा नहीं है, पुण्यात्मा नहीं है, त्यागीव्रती नहीं है, इसलिए आचार्य महाराज कह रहे हैं इस पापोपदेश से पाँच प्रकार के पाप संभावित हैं।

अगला कहा **'हिंसादान'** हिंसा के उपकरणों का दान करना। तीसरा कहा **'अपध्यान'** खोटा ध्यान लगाना। चतुर्थ **'दु:श्रुती'** खोटे शास्त्रों को पढ़ना, पाँचवां **'प्रमादचर्या'** प्रमादपूर्वक क्रिया करना। पापोपदेश वचनदण्ड हो गया, हिंसादान कायदण्ड, अपध्यान मनोदण्ड की श्रेणी में, दु:श्रुती वचनदण्ड के माध्यम से व प्रमादचर्या तीनों के माध्यम से होती है। इस प्रकार से जब तीनों योग कार्य करते हैं तो दण्डनीय होते हैं उनके यह कार्य दण्डनीय अपराध कहलाते हैं। इन दण्डनीय अपराधों का त्याग कर देना चाहिए।

आपको ज्ञात होगा जिस प्रकार वायुभूति जब नागश्री की पर्याय में था, मुनिराज ने उसे अणुव्रत दे दिए थे। तब उसके पिता ब्राह्मण थे, वे अपनी पुत्री के साथ मुनिराज को उलाहना देने के लिए व व्रत वापिस करने के लिए गए। तब मार्ग में हुई कई घटनाओं को देखकर नागश्री ने अपने पिता से कहा–पिताजी! जिन व्रतों को आप वापस करने की कह रहे हैं वे व्रत हमारी रक्षा के लिए ही हैं। हिंसा करेंगे तो हिंसा का फल आपने और मैंने दोनों ने ही प्रत्यक्ष देखा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह इन पाँचों पापों का फल अभी देखा तो ऐसा दु:ख रूप फल हम नहीं भोगना चाहते हैं। इसिलए मैं इन व्रतों को नहीं छोड़ूँगी।

इसी प्रकार यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि इन अनर्थदण्डों के फल अच्छे नहीं हैं, इनसे बचना है तो अनर्थदण्डों का त्याग कर दो। पापोपदेश देना व सुनना दोनों कार्य वचनयोग की दुष्प्रवृत्ति है, खोटा चिंतन करना मनोयोग की दुष्प्रवृत्ति है तथा हिंसा का उपकरण दूसरों को देना तथा प्रमादपूर्वक शरीर की प्रवृत्ति करना यह काययोग की दुष्प्रवृत्ति है।

इस प्रकार इन तीन योगों की दुष्प्रवृत्ति रूप पाँच कार्य होते हैं। यद्यपि जितनी भी निष्प्रयोजन मन–वचन–काय की पापमय क्रिया हैं वे सर्व अनर्थण्ड हैं, फिर भी आचार्यों ने मंद बुद्धि वाले मानवों को समझाने के लिए यहाँ अनर्थदण्ड के पाँच भेद कहे हैं। इनसे व्यर्थ ही पाप कर्म का बंध होता रहता है, इसीलिए व्रती मनुष्य इनसे निवृत्त होकर पाँच प्रकार के अनर्थदण्डविरति व्रत को धारण करता है। आज इतना ही। विस्तार से पाँचों अनर्थदण्डों का स्वरूप आगे की गाथाओं के माध्यम से जानेंगे।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

पापोपदेश अनर्थदण्ड का लक्षण

तिर्यक्क्लेश-वणिज्या-हिंसाऽऽरम्भ-प्रलंभनादीनाम्।
कथा-प्रसंग-प्रसवः स्मर्तव्यः पाप-उपदेशः॥76॥

अन्वयार्थ–तिर्यक्क्लेशवणिज्या हिंसाऽऽरम्भ प्रलम्भनादीनाम् – तिर्यञ्चों को कष्ट होवे ऐसा व्यापार करना, हिंसा व आरम्भ बढ़ाने वाली तथा लोगों को ठगा जाए ऐसी **प्रसवः कथा-प्रसंग** – कथाओं का प्रसंग उपस्थित करना **पाप उपदेशः स्मर्तव्यः** – वह पापोपदेश नाम का अनर्थदंड जानना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' की वाचना में अनर्थदण्डव्रतों को समझने की चेष्टा कर रहे हैं। अब उनके भेदों का जरा विस्तार से वर्णन समझ लें क्योंकि बिना समझे समझदारी के कार्य नहीं किए जा सकते, इसलिए समझना जरूरी है। कोई व्यक्ति सोचे हम नासमझ बने रहें और समझदारी के कार्य कर लें तो नहीं कर सकते, समझदारी के कार्य करने के लिए भी समझदारी चाहिए और तुम ये समझो कि मैं अपनी नासमझी से दूसरों की समझदारी को समझ लूँ तो दूसरों की समझदारी को समझने के लिए भी समझदार बनना पड़ता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं आप अनादिकाल से समझदार हैं, आपके पास बहुत शब्द ज्ञान है

गुरु से शिष्य की कौन सी बात अनजानी है।
सागर को ज्ञात है बूँद में कितना पानी है॥

गुरु जानते हैं कि भक्तों में, शिष्यों में कितनी दमखम है। वे शब्दों के पहाड़ तो ढेल सकते हैं किन्तु आचरण का नाम आते ही ऐसा लगता है जैसे इनकी नानी मर गई हो। फिर तो बगलें झाँकने लगते हैं। उनसे कहा-भैया व्रती बन रहे हो? महाराज जी! अभी नहीं। वे अपने आपको समझदार सिद्ध करना चाहते हैं, समझदार दूसरों को बनाना चाहते हैं किन्तु स्वयं नामसमझ हैं। स्वयं की समझदारी के बिना स्वयं के लिए कभी समझदारी का कार्य नहीं किया जा सकता। हो सकता है तुम्हारी नासमझी का लाभ उठाकर के कोई व्यक्ति समझदार हो जाए और समझदारी का कार्य कर जाए, किन्तु खुद के लिए समझदारी का कार्य तब तक संभव नहीं है जब तक खुद के अंदर समझदारी पैदा न हो जाए। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने समयसार ग्रंथ में कहा है–

सुदपरिचिदाणुभूदा, सव्वस्स वि काम-भोग- बंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो, णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥4॥

एकत्व विभक्त आत्मा के बारे में जानना बड़ा दुर्लभ है। काम-भोग-बंध की कथा तो अनादि से सुनी है, भोगी है, उनसे चिरपरिचित हैं किन्तु एकत्व विभक्त आत्मा की चर्चा, धर्म की चर्चा तो सुनना भी मुश्किल है, जिनवाणी के स्वाध्याय में नींद आने लगती है। वे बहुत पुण्यात्मा हैं जिनका मन धर्मवाचनाओं को सुनकर ऊबा नहीं, पक्का मानना वे आज नहीं तो कल व्रती बनने की चेष्टा अवश्य करेंगे और चेष्टा सफल हो गयी तो व्रती बन जाओगे, आगे बढ़ गए तो महाव्रती भी बन जाओगे और आगे बढ़ गए तो उत्तम समाधि सल्लेखना के फल को भी प्राप्त कर लोगे।

महानुभाव! इसलिए यहाँ समझना है कि पाँच ऐसे कार्य कौन से हैं जो निष्प्रयोजनीय हैं जिनसे सिद्ध कुछ होता नहीं और पाप का बहुत सारा बंध हो जाता है। आचार्य महोदय ने पहला शब्द कहा–**''पापोपदेश''** पाप का उपदेश नहीं देना। पहले यह तो समझ में आ जाए कि पाप किसे कहते हैं? यदि पाप किसे कहते हैं यह समझ में आ गया तब तो पाप से बच सकते हो, नहीं तो पाप का उपदेश आपकी अज्ञानता में आपसे होता रहेगा। आप समझते तो ये रहेंगे कि धर्म की गद्दी पर बैठकर कल्याण का उपदेश दे रहे हैं, पर वह उपदेश पैसा कमाने के लिए या श्रावकों को भटकाने के लिए हो सकता है, वह उपदेश आत्मा का कल्याण करने वाला नहीं हो पाएगा। जब तक खुद नहीं समझोगे कि वास्तव में धर्म क्या है, पाप क्या है, तब तक दूसरों को समीचीन उपदेश नहीं दिया जा सकता। आचार्यों ने परिभाषा दी–संसार में जितने भी निम्न भाव हैं, कुभाव, जितने भी बुरे परिणाम हैं, उन परिणामों के माध्यम से किए गए जितने भी कार्य हैं वे सब पाप कहलाते हैं, दुर्भावों के साथ जितने भी वचन बोले जाते हैं वे सब पाप कहलाते हैं, दुर्भावनाओं के साथ जितने भी विचार आते हैं वे सब पाप कहलाते हैं।

प्रत्येक निंद्य कार्य, खोटा वाक्य, कुभाव, विचारधारा पाप है। खोटा वचन मात्र किसी से 'तू' कहकर बोलना नहीं है, तू करके बोला गया वचन अच्छा भी हो सकता है। क्योंकि इसमें यह देखो कि इस वचन रूपी बताशे में क्या भरा है, औषधि भरी है या जहर। जिस बताशे में जहर है वह वचन भी पाप है, जिस वचन के बताशे में औषधि है तो औषधि रूप ही होगा। आपने किसी से अच्छे शब्द का प्रयोग किया, निश्छलता से किया, तब तो ठीक है किन्तु वही शब्द चिढ़ाने के लिए कहा हो, मन में कुटिलता रखकर कहा हो कि यह मर्मभेदी शब्द उसे जाकर चुभेगा तो वही पाप होगा। शब्द पाप नहीं है, वस्तु पाप नहीं है किंतु जो आपकी चिंतन की धारा चल रही है, भावनाओं में पाप आ गया तो मन-वचन-काय व धन संबंधी

प्रत्येक क्रिया पाप रूप हो सकती है। कुभावों का जहर जिसमें मिल गया वह सब पाप हो गया। और सद्भावनाओं का प्रसाद जिसमें संष्लिष्ट हो गया वह सावद्य क्रिया भी तुम्हें पाप से नहीं बांधे, ऐसा भी हो सकता है।

साधुओं के लिए कहा प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति करने में चाहे जीव घात हो या न हो, हिंसा का पाप लगेगा। निष्प्रमाद पूर्वक प्रवृत्ति करने से जीवघात हो या न हो पाप नहीं लगेगा। साधु निर्विकल्प ध्यान में बैठे थे कोई छोटा सा जन्तु उड़कर आया उनके तन से टकराया व मर गया। क्या साधु को पाप का बंध होगा? और कोई एक व्यक्ति मारने के लिए घात लगाये बैठा है, पहाड़ी की चोटी पर बैठा है कि अमुक व्यक्ति यहाँ से निकलता है मैं उसे मारूँगा, उस दिन वह व्यक्ति वहाँ से नहीं निकला, वह किसी को भी नहीं मार पाया तो उसे पाप लगेगा या नहीं लगेगा? लगेगा। स्वप्न में आपने किसी को मार दिया है तो पाप लगेगा या नहीं लगेगा? स्वप्न में वह मरा नहीं किन्तु मारने वाले आप थे आपको ही पाप लगेगा; क्योंकि उस समय आपके चित्त की दशा अशुभ चल रही थी, यदि स्वप्न में आप आहार दे रहे हैं, शिखरजी की यात्रा कर रहे हैं, स्वाध्याय कर रहे हैं, शांतिधारा कर रहे हैं तो पुण्य लगेगा या नहीं? लगेगा, भले ही आप बिस्तर पर सो रहे हैं।

चित्त की शुभ प्रवृत्ति के साथ शरीर की क्रिया चाहे कोई भी चल रही हो पाप नहीं लगेगा। ऐसे ही यहाँ पर कह रहे हैं कि पापोपदेश कैसे-कैसे हो सकता है। भाव गलत आ रहा है, गलत भाव के साथ शब्द अच्छे भी बोल रहे हैं हो सकता है उन अच्छे शब्दों से सामने वाले का कल्याण भी हो जाए किन्तु जिसने भाव बुरे किए उसका पतन तो नियामक है, जिसने जहर खाया उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। जो जहर को अमृत बनाकर बांटे कहे जहर की पूड़ियाँ खाओ, मैं भी खाता हूँ, और ज्यों ही खाया तो खाने वाला मरा, ऐसे ही पाप का उपदेश देने वाला व्यक्ति मन में पाप का भाव रखता है, बिना पाप भाव को रखे पाप का उपदेश नहीं दिया जा सकता।

पाप उपदेश किस प्रकार का होता है तो श्लोक में बता रहे हैं—श्रावक उन बातों को सदैव स्मरण रखे जिन बातों से पाप कार्य संभावित हैं। जैसे हिंसा के संबंध में चर्चा करना, कहना, अरे! कोई जरा सी भी प्रतिकूलता हो तो तुरंत तलवार से प्रहार करना, चूकना नहीं, उसे लाठी से मारना आदि। तो इस प्रकार का उपदेश क्यों देना, यह जिह्वा इस प्रकार भी तो कह सकती है कि आपके सामने कोई व्यक्ति क्रोध के आवेश में आ जाए, आप शीतल वचन रूपी जल का प्रयोग करो जिससे कषाय शांत हो जाए, अपने शांत वचनों से दूसरे को आवेश से रोक लेना, अन्यथा वह अनर्थ करने जा रहा था, आपने आग में घी के स्थान पर जल डाल दिया

तो अग्नि बुझ गई, उसे समझाया वह समझ गया तो अब वह सामने वाला व्यक्ति आपके आगे हाथ जोड़ता है, कहता है—भैया! मुझे क्षमा करना, आपने मुझे बहुत बड़ा अपराध करने से बचा लिया, अनर्थ से बचा लिया अन्यथा मैं जेल जाता, मेरा परिवार बिछुड़ जाता, अब मेरी बुद्धि जागृत हो गयी। आपने उसे यह पाप का नहीं धर्म का उपदेश दिया। इसके स्थान पर यदि आप उस क्रोध के आवेशी व्यक्ति को और भड़का देते, हाँ जाओ, ये अमुक हथियार भी साथ ले लो, छोड़ना नहीं, ऐसे दूसरों की कषाय बढ़ाने वाले व्यक्ति भी होते हैं, उनका ऐसा प्रोत्साहन करते हैं, उनकी क्रोध-मान-माया-लोभ रूप दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने वाले होते हैं। हाँ-हाँ, तुम ऐसे कैसे सहन कर सकते हो, तुम तो ईंट का जवाब पत्थर से दो। एक प्रकार की उल्टी शिक्षा देना, यह सब कषाय को उद्वेलित करने वाले वचन पाप उपदेश में समाहित होते हैं।

इसके अतिरिक्त किसी को गर्भपात कराने की शिक्षा देना, भ्रूण हत्या करना-करवाना, उसके लिए जोर देना। यहाँ कहा— **'तिर्यक्क्लेश'** ऐसा काम नहीं करना जिससे तिर्यंचों को क्लेश हो, ऐसा कहना कि पक्षी को पिंजड़े में बांध ले, ऐसा करो कुत्ता पाल लो, मुर्गे की लड़ाई लड़ा, बैलों को भिड़ा दे बड़ा आनंद आएगा, तो मनोरंजन के लिए ऐसा कहकर उससे पाप करवाना। चाहे कोई भी पाप हो, गर्भपात किसी मनुष्यिनी का हो या तिर्यंचनी का, विपुल हिंसा त्रसों की हो या स्थावरों की जिनसे जीवों को कष्ट हो, वे तड़पें चाहे धूप में, सर्दी में या जल में बिलखें ऐसा उपदेश मत दो। अरे! ये चींटे बार-बार आ जाते हैं, चलो तुम एक काम करो यहाँ से लक्ष्मण रेखा खींच दो, न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी, ऐसा उपदेश दे दिया, इससे क्या हुआ? सब चींटे मर गये! मधुमक्खी का छत्ता देखकर कह दिया अरे धूआँ कर दो, सब जल जाएँगी, मर जाएँगी। तो ऐसी शिक्षा देने वाले भी हैं संसार में। और कहते ये हैं कि महाराज जी! जबसे हमने होश संभाला है तब से कोई पाप किया ही नहीं, अरे! इस खोटे उपदेश को पुण्य कहते हैं क्या? चलता-फिरता व्यक्ति इस प्रकार का पाप कमा लेता है जिन्हें वह पाप की श्रेणी में गिनता ही नहीं। जिन वचनों से जीवों के अनेक प्रकार के क्रोधादिक कषाय भाव उत्पन्न हों तथा अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न हों ऐसे वचन व उपदेशों को क्लेश नामक पापोपदेश कहते हैं।

बिना प्रयोजन किसी दूसरे को व्यापार की अनेक विधि बतलाना, पदार्थों का मोल लेने व बेचने की, दूर देशान्तर में भेजने की व वहाँ से मँगाने की, धान्यादि संग्रह करने की, तथा अनेक प्रकार की कपट करने की विधि बतलाना व दूसरों को उपदेश देना वाणिज्य नाम का पापोपदेश है। अथवा तिर्यंचों को क्लेश हो ऐसा व्यापार करना। पशुओं को किसी स्थान से खरीदकर कहीं जाकर बेचना,

तिर्यंच जहाँ जन्म लेता है उसे उस स्थान से मोह होता है। कई बार वे तिर्यंच वहाँ से जाते हैं तो आंसू बहाते-बहाते जाते हैं, वे बिलखते हैं, दो-दो-तीन-तीन दिन तक भोजन-पानी नहीं करते। महाराणा प्रताप के हाथी के बारे में आपने सुना ही होगा, 'रामप्रसाद' उसका नाम था, उसने सुमरण किया। तो महानुभाव! तिर्यंचों के व्यापार की बात भी नहीं कहनी चाहिए।

अगला कहा हिंसा व आरंभ नामक पापोपदेश अर्थात् पंचस्थावर व विकलत्रय जीवों के घात करने वाले वचन कहना, जैसे तुम इस पृथ्वी को खोदकर मिट्टी निकालकर अपने काम में ले लो, इस जल से स्नान कर यहाँ जल सींच दो, इन कपड़ों को धो दो, अथवा पंखा से हवा कर दो, खेत जोत दो, इस पेड़ की कलम दूसरे पेड़ पर लगाओ, यहाँ की घास खुदवा दो आदि-आदि। हिंसाजनित वचनों को कहना हिंसा नामक पापोपदेश है। इसके अतिरिक्त आरंभ-सारंभ जिनमें (हिंसा) अधिक होता है उन कार्यों की प्रेरणा भी नहीं देनी चाहिए। कैमिकल इस प्रकार बनाओ, बनाकर गंदा पानी नदी में छोड़ दो, स्लॉटर हाउस चलाओ इस प्रकार हिंसारंभी कार्यों की बात भी नहीं करना चाहिए।

'प्रलम्भनादीनाम्'—छल-कपट की बात भी मत बताओ। भगवन्! मेरे मुख से सदैव अच्छा शब्द ही निकले गंदा नहीं। यह पाप युक्त वचन मैं न बोलूँ। **'कथा प्रसंग प्रसवः'** ऐसी कथाएँ मत करो, ऐसे प्रसंग उपस्थित मत करो जिससे पाप कार्यों का संवर्धन होता है। जिन कथाओं के सुनने से जीवों की हिंसा हो, असत्य वचनों की प्रवृत्ति हो, चोरी की अधिकता हो, स्त्रियों के साथ भोग-विलास की वृद्धि हो, विषय-कषायों की वृद्धि हो, राग-द्वेष-कषाएँ वृद्धिंगत हों, जीवों को सन्ताप उत्पन्न हो, इंद्रिय व मन की चंचलता हो, जीवों का अकल्याण हो उनको पीड़ा पहुँचे, धर्म का विनाश हो, पाप की वृद्धि हो, ऐसी राजकथा, देशकथा, भोजनकथा, कामकथा, चोरकथा तथा अनेक प्रकार की लोकोक्तियाँ आदि का उपदेश देना यह सब पापोपदेश है। इन सबसे बचकर के रहो, अपनी जिह्वा पर लगाम लगाओ। घोड़े पर बैठने से पहले लगाम लगाते हो कि कहीं घोड़ा हमें दुर्मार्ग में न ले जाए, ऐसे ही अपनी जिह्वा पर लगाम लगाओ कि वह कहीं अनर्थकारी शब्द न बोल दे जो आपको संसार के दुर्मार्ग में भ्रमण करा दे।

महानुभाव! इसके सिवाय इस पापोपदेश के अनेक भेद हैं, इसलिए विवेकी पुरुषों को विचार कर वचन कहना चाहिए। शास्त्रदृष्टि से इन सबको जानकर निष्प्रयोजन पापों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह पापोपदेश बहुत बड़ा पाप है, इनसे बच जाना अनर्थदण्डविरति व्रत का एक भाग है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

हिंसादान अनर्थदण्ड का लक्षण

परशुकृपाण - खनित्रज्वलनायुध - शृङ्ग - शृंखलादीनाम्।
वध-हेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः॥77॥

अन्वयार्थ–वध-हेतूनां – मनुष्य व तिर्यंचों की हिंसा के साधक **परशु-कृपाण-खनित्रज्वलनायुधशृङ्ग-शृंखलादीनाम्** – फरसा, कृपाण, कुदाली, ज्वलनायुध अर्थात् अग्निमय शस्त्र, बंदूक-तोप आदि अस्त्र-शस्त्र, सींग, सांकल इत्यादि का **दानं** – दान देने को **बुधाः** – पण्डितजन **हिंसादानं** – हिंसादान **ब्रुवन्ति** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में आप देख रहे थे अनर्थदण्ड के पाँच भेदों में से प्रथम भेद पापोपदेश के संबंध में। पूर्व में जाना कि ऐसा उपदेश नहीं देना जिससे पाप का बंध हो। जो विवेकी श्रावक है वह निष्प्रयोजन पाप का बंध कराने वाला उपदेश क्यों देगा, शायद एक सामान्य मानव भी नहीं देना चाहेगा। जब देना नहीं चाहेगा तो उसका त्याग कर देना अच्छा है। पापोपदेश नाम के अनर्थदण्ड का त्याग करना यह भी एक व्रत है। आरंभ से संबंधित, परिग्रह से संबंधित, अब्रह्म से संबंधित, चोरी से संबंधित, मिथ्याभाषण से संबंधित, हिंसा से संबंधित, क्रोध-मान-मायाचारी-लोभ को संवर्धित करने वाला, राग-द्वेष की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाला, विवेक-बुद्धि को नष्ट करने वाला, सम्यक् श्रद्धा को खण्डित करने वाला, आचरण से पतित करने वाला इत्यादि ये सभी उपदेश पापोपदेश माने जाते हैं, इन पापोपदेश का त्याग करके व्रत को वृद्धिंगत करें। अणुव्रतों के गुणों का संवर्धन करने वाला 'गुणव्रत' जिसमें पहला पाप उपदेश का त्याग एवं दूसरा हिंसादान अनर्थदण्ड का त्याग करना यह हिंसादानविरतिव्रत कहलाता है।

हिंसादान किस प्रकार अनर्थदण्ड करने वाला है? आप जानते हैं किसी व्यक्ति को आप पुष्प देंगे तो आपके हाथों में भी गंध आ जाएगी, किसी को आप दुर्गंध युक्त कोई वस्तु देंगे तो आपके हाथों में भी दुर्गंध आ जाएगी, कपूर देने वाले के हाथ में कपूर की गंध, लहसुन देने वाले के हाथ में लहसुन की गंध, चंदन का चूरा मुट्ठी में रखा हो तो उसकी गंध आ जाती है। देने वाला व्यक्ति क्या चाहता है, शुभ या अशुभ? शुभ चाहता है तो शुभ देना प्रारंभ करो, आपको स्वतः ही शुभ मिलना प्रारंभ हो जाएगा। यदि अशुभ देने वाला व्यक्ति शुभ की आकांक्षा करता है तो अपने आपको ठगता है। अशुभ देकर कभी शुभ नहीं मिल सकता। काँटा बोकर के पुष्प की चाह करना मूर्खता है, किसी को नमक देकर के मिशरी खाने की इच्छा मूर्खता है, किसी का गला दबाकर ये सोचना कि मेरे प्राणों की रक्षा होगी यह मूर्खता

है। किसी को कष्ट देकर ये सोचना मुझे कष्ट से मुक्ति मिलेगी मूर्खता है। अपनी आँख के आँसू सुखाने हैं, कम करने हैं तो दूसरों के पैर का काँटा निकालो। दूसरों के पैर में पड़े हुए घाव को ठीक करो, कष्ट को दूर करने का प्रयास करो।

दूसरों के कष्ट दूर करने का प्रयास ही अपने दुःखों को दूर करने का सरल तरीका है। दूसरों के सुखों को छीनना ही अपने सुखों में आग लगाना है, अपने सुखों को छिनवाने के लिए दूसरों को आमंत्रित करना है इसलिए ये शाश्वत सिद्धान्त है जो चाहो वह देना प्रारंभ कर दो। जैसा दोगे वैसा पाओगे, जैसा बोओगे वैसा काटोगे; इसलिए उचित मार्ग यही है। अब आप चाहते हो मैं निर्भीक रहूँ, मुझे किसी प्रकार का भय नहीं सताये तो संसार में किसी को भयभीत मत करो, सबको अभयदान दो, सबके प्राणों की रक्षा करो, रक्षा का भाव रखो। अनंतानंत जीवों में सबके प्रति भावना भाओ कि मैं सबके सुख में निमित्त बनूँ। हे भगवान्! मैं संसार के किसी भी प्राणी को कष्ट देना नहीं चाहता, न दूँगा। मेरा मन-वचन-तन एवं मेरे पास उपलब्ध सामग्री दूसरों के लिए आर्त्त-रौद्रध्यान का निमित्त न बने, दूसरों के लिए धर्मध्यान का निमित्त बने।

किसी सेठ के पास ज्यादा धन है, कोई चोर चोरी करना चाहता है, वह चोरी करता है और प्राण गवां देता है या इस उधेड़बुन में मैं चोरी कैसे करूँ आर्त्तध्यान करता है तो वह सेठ उस चोर के लिए आर्त्तध्यान का निमित्त है अथवा वह सेठ स्वयं धन को लेकर आनंद मना रहा है, वह धन उसके लिए रौद्रध्यान का निमित्त है। तो क्या करें? यदि वही सेठ अपने धन को जरूरतमंदों के लिए दे देता है तो वे उसे दुआएँ देते हुए नहीं थकते, जुग-जुग जीओ, सेठ-सुखी रहो ऐसी शुभ भावनाएँ भाते हैं और यदि किसी को सताओगे तो हाय निकलेगी। भला करने से लाभ, बुरा करने से बद्दुआ मिलती है इसलिए किसी की हाय मत लो। असमर्थों को जीवन में कभी मत सताना, यदि आप स्वयं पर नियंत्रण न रख सकें, सताने का भाव आए, किसी की रक्षा न कर पाओ, किसी से युद्ध करना जरूरी हो जाए तो अपने से दूने-चौगुने को देखना, कमजोर को नहीं। क्योंकि वह तो मार देगा, मर जाओगे तो ज्यादा देर तक आर्त्त-रौद्र परिणाम नहीं कर पाओगे और तुमने अपने से असमर्थ को सताया, उसको मार दिया तो वह तुम्हारा उस समय तो कुछ नहीं कर पाएगा किन्तु उसके हृदय से जो हाय निकलेगी वह न जाने कितने भवों को स्वाहा करती रहेगी, उसकी बद्दुआ, वैदिक परम्परा में कहें तो उसका अभिशाप कितने भवों तक दुःख देगा, इसलिए जीवन में कभी असमर्थ को नहीं सताना। तो फिर क्या समर्थ को सता सकते हैं? नहीं! **'मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः'** बलवान् का विरोध

करोगे तो समूल से नष्ट कर दिए जाओगे। इसलिए अपनी सुरक्षा चाहते हो तो सबसे अच्छा एक ही उपाय है कि न निर्बल को सताओ न सबल को सताओ, तो फिर क्या बराबरी वालों को सताए? अरे! तुम क्या बराबरी वालों से दु:ख प्राप्त करना चाहते हो? नहीं चाहते, फिर क्यों सताना। किसी को मत सताओ, सबको धर्म का पाठ सिखाओ, सबको धर्म के माध्यम से चर्या करना बताओ, अभयदान दो और सबसे अभय प्राप्त करो।

आत्मज्ञान का सबसे बड़ा फल है अभयदान देना, आत्मज्ञान है तो आत्मा को जानना, आत्मा में छिप जाना। बाहर से जब कोई संकट आता है तो व्यक्ति अपने घर में छिप जाता है किन्तु योगी, विवेकी मनुष्य अपने अंदर छिप जाते हैं। वे अपनी ब्रह्मस्वरूपी आत्मा को जानते हैं। शरीर की खोल तो नश्वर है, आत्मा शाश्वत है। इस खोल में रहकर आत्मा की सुरक्षा नहीं हो सकी, इस खोल पर ज्यादा विश्वास नहीं करना, ये खोल तो नष्ट हो जाएगा। इस खोल को नष्ट होने से न हम और न आप कोई भी बचा नहीं पाएँगे, यह तो नष्ट होना ही होना है इसलिए इस आत्मा को बचा लेना। इस खोल को बचाने के चक्कर में यह आत्मा पाप न कर ले, किसी दूसरे की खोल नष्ट करने के लिए पाप न कमा ले। आचार्य महोदय कह रहे हैं–जैसा दोगे वैसा मिलेगा अत: पाप का उपदेश नहीं देना।

अब 77वें श्लोक में बताना चाह रहे हैं कि किसी को हिंसा के उपकरण दान में नहीं देना, क्योंकि हिंसा का उपकरण हिंसा का कारण है, कारण में कार्य का उपचार करने से हिंसा ही होती है। आपने किसी को अहिंसा का उपकरण दिया तो बदले में अहिंसा ही मिलेगी, अहिंसा का फल है सुख-शांति। आपने किसी को पुण्य का निमित्त दिया, माना कि पूजन सामग्री दी, वह पूजन करेगा, उसके भाव अच्छे हुए जिससे उस पूजा करने वाले को पुण्य मिलेगा और क्योंकि आपने पूजन सामग्री दी है तो तुम्हें कारण में कार्य का उपचार होकर लौटकर पुण्य आएगा। पुण्य का फल है सुख- शांति। आपने किसी साधु को आहारादि दान दिया, उससे उसने साधना की, पाप कर्म का क्षय किया, पुण्य वृद्धि की, उसके बदले आपको क्या मिलेगा? वही पुण्य मिलेगा, आपका पाप संक्रमित होगा।

आप जानते हैं खेतों में किसान काम करता है। फसल के समय जब वह अकेला फसल काटने के लिए समर्थ नहीं होता, जल्दी फसल काटनी है तो गाँव के अन्य लोगों को इकट्ठा कर लेता है गेहूँ, बाजरा जो भी उसकी फसल है उसके लिए ग्रामीण भाषा में शब्द आता है 'लाऊनी/लावनी'। तो लावनी करते हैं, काटते हैं तो किसान उसे क्या देता है? जिनकी फसल काट रहे हैं वही धान्य वह उन्हें बदले में देते हैं, भैया! आपने हमें खेत में सहयोग दिया है, आप यह थोड़ा गेहूँ-चना-बाजरा जो कुछ भी है वह ले जाओ। ऐसे ही एक श्रावक मुनिमहाराज

की साधना में सहयोगी बनता है उसके पापकर्म काटने में सहयोगी बना, मुनिराज ने अपने कर्म नष्ट किए तो आप सहयोगी बने वे कहेंगे चल तेरे भी थोड़े पाप नष्ट हो जाएँ। आपने आहारादि दान दिया, उपकरणादि दान दिया इससे मुनिराज ने पुण्य का संचय किया, पाप का संहार किया तब आपको भी उसके माध्यम से पुण्य संचय होगा।

यदि जुआरी जुआ जीत गया तो जीते धन से कुछ अपने साथी को दे देता है और जुआरी पकड़ा गया उसमें 10 डंडे पड़े तो साथ वाले में 2-4 डंडे तो पड़ ही जाते हैं इसलिए किसी को पाप की सीख मत देना, पाप के साधन मत देना। यहाँ पर आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जो बुधजन हैं, विशिष्ट ज्ञान को धारण करने वाले हैं, अनंत बुद्धि के धारक हैं ऐसे केवली भगवान् ने बताया है कि किसी को भेंट में भी हिंसा आदि के उपकरण दान नहीं देना। अपने बेटे की शादी में आपने सबको एक-एक तलवार दी, उस तलवार से क्या भगवन् की पूजा होगी? नहीं, किसी का गला ही कटेगा। इसलिए भले आदमी उपहार में अच्छी वस्तुएँ देते हैं। अपनी बेटी की विदाई में माँगलिक वस्तुएँ देते हैं या चाँदी के बर्तन, मंदिर की डिब्बी, जिनवाणी आदि देते हैं, जिससे वह पुण्य करे। वह करेगी तो देने वाले को भी पुण्य मिलेगा। यदि तुमने अपने यहाँ बारात में आए सभी व्यक्तियों को विदेशी चाकू कहकर भी बांटा तो यह हिंसा का उपकरण हिंसक भावों को ही उत्पन्न करेगा।

आगे कहा-'कृपाण'-तलवार 'खनित्र'-फावडा-कुदाली, 'ज्वलन'-अग्नि के गोले आदि या बारूद आदि का सामान और यहाँ तक कि माचिस भी उपहार में दे रहे हो तो भी ठीक नहीं, पटाखे फुलझड़ी आदि सभी पापवर्धक वस्तुएँ हैं। आप कहते हैं क्या करें बच्चे मानते नहीं हैं, अरे! इसे देकर आप उन्हें पाप दे रहे हो। न उनका कल्याण होगा न तुम्हारा। हिंसादान करके क्यों नरक में जाने का उपक्रम करते हो, अतः किसी को भी ऐसे उपकरण चाबुक, डंडा, लाठी, भाला आदि नहीं देना चाहिए। 'शृंङ्ग' सींग के आभूषण भी बनते हैं, औजार भी बनते हैं, पंजे, सांकल आदि बांधने के लिए नहीं देना। ये सभी वध के, कष्ट के, पीड़ा के, दुःख के हेतु हैं इसलिए उन्हें नहीं देना, यदि देते हो तो आप हिंसादान करने वाले कहलाते हो।

महानुभाव! इस हिंसादान नामक अनर्थदण्ड से बचें। उपरोक्त दान विवेकी श्रावक-श्राविका को नहीं करना चाहिए। निष्प्रयोजन जीववध की कारणभूत वस्तुएँ प्रदान कर पापार्जन नहीं करना चाहिए। गृहस्थावस्था में आवश्यकतानुसार सारे कार्य करने पड़ते हैं परंतु उसमें भी आचार्य महोदय कह रहे हैं कि बिना प्रयोजन ऐसी वस्तु किसी को प्रदान मत करो जो हिंसा की कारणभूत हो। आज के लिए बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अपध्यान अनर्थदण्ड का लक्षण

वध - बन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥78॥

अन्वयार्थ–जिनशासने विशदाः – जिनागम के कुशल वेत्ता ऐसे आचार्य **द्वेषात् च रागात्** – द्वेष से तथा राग से **परकलत्रादेः** – परस्त्री तथा परपुत्रादिकों के **वधबंधच्छेदादेः** – मारण, बन्धन, छेदन आदि हो जावे ऐसा **आध्यानं** – चिन्तवन करने को, **अपध्यानं शासति** – अपध्यान कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में आज देखते हैं अपध्यान के संबंध में। अपध्यान क्या है, इससे पाप का आस्रव कैसे होता है, कोई प्रयोजन सिद्ध क्यों नहीं होता, यह ध्याता का किस प्रकार सर्वनाश कर देता है? यह अपध्यान ध्यान के गुणों का संहार करता है, सुख-शांति को जलाने वाली अग्नि है। आचार्य समंतभद्रस्वामी किस प्रकार अपध्यान को परिभाषित करते हैं उन्हीं के शब्दों में देखें–

'जिनशासने विशदाः'–जिनेन्द्र भगवान् के शासन में स्पष्ट रूप से, प्रत्यक्षरूप से कह रहे हैं 'अपध्यानं' अपध्यान का स्वरूप। 'अप'-खोटा अर्थात् ध्यान की प्रतिष्ठा को खंडित करने वाला। सुध्यान-अर्थात् ध्यान की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला या प्रशस्त-शुभ ध्यान कह सकते हैं। धर्मध्यान व शुक्लध्यान ये दोनों मोक्षमार्ग के सहयोगी ध्यान हैं, आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ हैं, ये दोनों शुभ ध्यान क्रमशः अन्तरात्मा से परमात्मा तक ले जाने वाले हैं। जघन्य अंतरात्मा से यह शुभ ध्यान प्रारंभ होता है फिर मध्यम अंतरात्मा पुनः उत्तम अंतरात्मा। उत्तम अंतरात्मा से शुक्लध्यान प्रारंभ होता है, यह सकल परमात्मा तक पहुँचाता है, फिर सकल परमात्मा से निकल परमात्मा बनाता है।

यहाँ पर बात अपध्यान की है। अपध्यान, अप्रशस्त ध्यान, अशुभ ध्यान, निंदनीय ध्यान, कुभाव से युक्त ध्यान, दुर्गति के कारण रूप ध्यान, दुरावस्था एवं समस्त प्रकार की प्रतिकूलताओं को पैदा करने वाला ध्यान। यहाँ कहा **'परकलत्रादे'** दूसरों की स्त्री के संबंध में, पुत्री के संबंध में, पिता- पुत्र के संबंध में, भाई-मित्र के संबंध में, पर से संबंधित जो भी रिश्ते नाते हैं उन सबके संबंध में सोचना। क्या सोचना? **'वध'** जिससे तुम्हारी शत्रुता है उसके वध के बारे में सोच रहे हो कि वह मर जाए तो ठीक है या ये रोग को प्राप्त हो जाए,

अथवा इसका Accident हो जाए, कहीं नदी-तालाब में स्नान कर रहा है तो इसमें डूबकर मर जाए या कहीं अग्नि लगी है तो यह अग्नि उड़कर के इसके घर में लग जाए या किसी पशु का शिकार हो जाए, या इसके भोजन में कोई विषाक्त वस्तु आ जाए; इस प्रकार की जो विचारधारा मन में चल रही है, अथवा खुद सोच रहे हो कि हम इसे जहर देकर मार दें या इसका भोजन-पानी रोक दें या यह रक्तक्षय से मर जाए या किसी का अहित करने के लिए मंत्र-तंत्र आदि करना-करवाना ये सब अपध्यान कहलाते हैं।

मारक मूठ छोड़ना, जाली मंत्र बनाकर के उसे जलाना, पुतला छोड़ना ये सब प्राण लेवा घातक हमले हैं। किसी का वध करने के लिए राजा लोग पहले सिद्धी करते थे, जिससे हमें ऐसे अस्त्र-शस्त्र की प्राप्ति हो जाए जिससे मैं सामने वाले का घात कर सकूँ या उसने मेरा-मेरे परिवार का घात किया है तो मैं उसका प्रतिघात कर सकूँ। इस प्रकार का ध्यान जो निरंतर चल रहा है वह वध नामक अपध्यान है। अगला कहा-**'बंधन'** किसी की कोई वस्तु कहीं से उठाकर ले आए, शत्रु के घर में डाल दी और पुलिस वाले को फोन कर दिया कि चोरी का माल मैंने उसके घर में देखा है। पुलिस आई और उसे पकड़कर ले गई। या किसी अन्य प्रकार से उसे फँसा दिया, इसने दो नंबर का माल खरीदा है, पहले तो उसे उस कार्य को करने के लिए प्रेरित किया व करवाया पुनः बाद में राजदण्ड दिलवाया। बाद में उसकी प्रतिष्ठा पर चोट पहुँचायी, उसे मानसिक कष्ट दिया। इस प्रकार की प्रवृत्ति के विचार कि दूसरा बंधन को कैसे प्राप्त हो, दूसरे का वध कैसे हो जाए इस प्रकार की कल्पना या विचार करना अपध्यान है।

आगे कहा-**'छेद'** किसी का अंग भंग कैसे हो जाए। जानबूझ कर ऐसी योजना बनाना या ऐसे कृत्य करना जिससे दूसरे की आँख फूट जाए, नाक-कान कट जाएँ या चाकू या छुरी से कुछ और कष्ट दिया। ये सब क्रिया द्वेषात् व रागात् अर्थात् राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर रहा है। जिस स्त्री के प्रति तुम्हारा राग है उस स्त्री को कोई और चाहता है तो तुम्हारा उस स्त्री से राग होने से तुम उस पुरुष को हानि पहुँचाने का प्रयास कर रहे हो और किसी पुरुष ने आपका धन अपहरण कर लिया तो द्वेष हो गया, बैर बंध गया। सबके सामने तुम्हारा अपमान तिरस्कार कर दिया तो द्वेष का कारण हो गया। इस प्रकार खोटा-खोटा चिंतन करना, उल्टा-उल्टा सोचना ये सब अपध्यान कहलाता है। आचार्य महोदय कहते हैं ये अपध्यान कभी भी आत्मा का हित करने वाला नहीं है।

व्यक्ति अन्य प्रकार के भी अपध्यान करता रहता है, वह जब भी खाली होता है तो प्राय:कर के अपना मन दूसरों की बुराई खोजने में लगाता रहता है। आपके यहाँ कोई त्यागीव्रती उपदेश देने के लिए आए या क्षुल्लक जी आए, समाज तो उनकी प्रशंसा कर रही है किन्तु आप उनकी बुराई नोट कर रहे हैं, चिंतन कर रहे हैं इसमें क्या बुराई हो सकती है, कोई आर्यिका माता जी या महाव्रती साधु परमेष्ठी आए आपका धर्मध्यान कराने के लिए, वे अपना धर्मध्यान करने के साथ-साथ आपका धर्मध्यान भी करा रहे हैं किन्तु आप उनकी बुराई निकाल रहे हैं, आपका फोकस केवल उनकी बुराई पर है कि इनमें कौन-कौन सी कमी हो सकती है, ये कैसे बैठ रहे हैं, उठ रहे हैं, कैसी चर्या कर रहे हैं, सबके बीच में टोक दिया ये सही नहीं, ये गलत है। तो किसी के गुणों को न देखकर के दोषों की खोज करना भी अपध्यान है।

कई बार तो सामने वाले में वो दोष नहीं हैं तब भी कल्पित दोषों पर विचार करना, मिथ्या दोषों का आविर्भाव करना और उन्हें दोषीक सिद्ध करना, निंदा करना। किसी ने कोई वाक्य बोला, उस वाक्य का अर्थ तो सही निकल रहा है किन्तु उसका दूसरा अर्थ भी निकलता है, आपने दुष्प्रचार कर दिया वह तो ऐसा-ऐसा बोल रहे हैं और इसका अर्थ तो ऐसा-ऐसा होता है, तो जानबूझ करके मिथ्या अभिप्राय को ग्रहण करना, अपनी कुबुद्धि लगाना, कुतर्क लगाना और कुविचार करके सामने वाले को परेशान करना ये भी अपध्यान की श्रेणी में आता है।

''काहू की धनहानि किसी जय-हार न चिंतै'' श्रावक को किसी की धन हानि, किसी की पुत्री-पत्नी-पुत्रादि की मृत्यु का, उसकी प्रतिकूलता का विचार नहीं करना चाहिए, जो ऐसा कर रहा है, उल्टा-सीधा विचार कर रहा है, इससे अपध्यान होता है, पाप का आस्रव होता है। अथवा दूसरे प्रकार से कुभाव बना रहा है जीव हिंसा के संबंध में कि मैं ऐसी-ऐसी हिंसा करूँगा। एक कसाई प्रतिदिन जीवघात करता था, बकरा, भैंसा भी मारता था, उससे कहाँ भाई तुम ऐसा न करो किंतु वह नहीं माना। लोगों ने कहा हम तुम्हें यह सब नहीं करने देंगे। वह बोला-तुम मुझे कैसे रोकोगे मैं तो जरूर करूँगा। लोगों ने उसे पकड़कर कुएँ में डाल दिया, अब देखें तुम इसमें कैसे हिंसा करोगे। कुएँ में पानी तो नहीं था, गीली मिट्टी थी, वह उसमें बकरे आदि का रूप बनाता गया और छोटी सी लकड़ी लेकर गले को काटता जा रहा था और कह रहा था मैंने इतने पशु मार दिए। लोगों ने उसे बाहर निकाला, वह निकलते ही बोला-मैंने तो पहले से भी ज्यादा जीव घात किया, खूब जीव मारे। तो जो कुभाव पैदा कर रहा है उसके लिए जरूरी नहीं कि सामने कोई जीव हो तभी हिंसा करे। बात ये है वह भावों से भी हिंसा करके प्रचुर मात्रा में पाप का संचय कर लेता है। जैसे तंदुल मच्छ (चावल के

आकार का मच्छ) है वह महामत्स्य को देखता है कि इसके मुख में इतने जीव आ रहे हैं, जा रहे हैं, यह महामत्स्य सो रहा है, उन्हें खा नहीं रहा, वह सोचता है कि इसकी जगह अगर मैं होता तो एक भी जीव को नहीं छोड़ता, सबका भक्षण कर लेता। इस प्रकार विचार करने मात्र से वह तंदुल मच्छ सातवें नरक जाता है। तो ऐसे हिंसा करना, झूठ बोलने की सोचना कि इससे अपनी बात छिपा लूँगा, चोरी करना, आदि-आदि पाँच पापों के बारे में चिंतन करना यह सब अपध्यान कहलाता है। इनमें कहीं भी कल्याण का कोई निमित्त नहीं है, धर्मध्यान का कुछ भी निमित्त नहीं है, यह सब अपध्यान है।

महानुभाव! यह दूसरों को दु:ख पहुँचाने का जो अपध्यान चल रहा है इससे लाभ क्या है? इससे लाभ कहें तो वह है डिप्रेशन, डॉयबिटीज, Heart weak, liver damage, किडनी फेल, Brain Hemorrhage ये रोग होते हैं। जिस व्यक्ति का चिंतन अशुभ होता है,उसका शरीर निरोगी नहीं रह सकता। बुरा चिंतन रोग की जड है। कितनी ही दवाई खाओ, कितना भी औषधि दान दो, जब तक आप अपने चिंतन को नहीं बदलोगे तब तक तन स्वस्थ नहीं हो पाएगा। मन को स्वस्थ बनाओ तभी रोगों से बच सकते हो।

दो व्यक्ति कुश्ती लड़ रहे हैं, आप सोच रहे हैं इसमें एक हार जाए और मेरा मित्र या अमुक-अमुक व्यक्ति जीत जाए, कोई मैच चल रहा है या रेस चल रही है आप बार-बार सोच रहे हो ये टीम हार जाए, वो जीत जाए। अरे! किसी की जीत-पराजय से आपको क्या करना, क्यों इसके पीछे शर्त लगाना, क्यों खोटा चिंतन करना, ये उचित नहीं है। आप टी.वी देख रहे हैं, किसी सीरियल में एक नायक है एक खलनायक है, आप सोच रहे हैं कि नायक खलनायक पर हावी हो जाए, ये बच जाए, ये मर जाए अथवा गंदे चलचित्र देखना। इसमें भी भाव खराब होते हैं, यह भी अशुभध्यान है, अपध्यान है। इसके अतिरिक्त चार प्रकार का आर्त्तध्यान, चार प्रकार का रौद्रध्यान यह भी अशुभ बंध का कारण है, दुर्गति में ले जाने वाला है इसीलिए विवेकी श्रावक-श्राविकाओं को व साधर्मियों को इस प्रकार के अपध्यान से बचना चाहिए, यही आत्मकल्याण का मार्ग है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दु:श्रुति अनर्थदण्ड का लक्षण

आरंभसंगसाहस - मिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुश्रुतिर्भवति॥79॥

अन्वयार्थ–जो **आरंभसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेष-राग-मद-मदनैः** – आरंभ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, गर्व व विषय वासना आदि के द्वारा **चेतः कलुषयतां** – चित्त को कलुषित करने वाले हैं। **अवधीनां श्रुतिः दु:श्रुति** – ऐसे शास्त्रों को सुनना दु:श्रुति नामक अनर्थदण्ड **भवति** – है।

व्याख्यान–महानुभाव! इस कारिका में आचार्य महोदय दु:श्रुति नाम के अनर्थदण्ड के संबंध में बता रहे हैं कि किस प्रकार व्यक्ति दु:श्रुति के माध्यम से पाप का आस्रव करता है। दु:श्रुति किस प्रकार से दु:ख, दुरावस्थादि का निमित्त बनती है। क्या है दु:श्रुति? यूँ तो आप समझते हैं दु:-खोटा, श्रुति-श्रवण किए जाने वाले शब्द। वे शब्द जो आपके लिए पापास्रव का कारण हैं, जिन शब्दों से आपकी विचारधारा बदल जाती है, वे शब्द जो आपकी विशुद्धि को नष्ट करने वाले होते हैं, जिनके माध्यम से आप कषाय के आवेश में आ जाते हैं, इन्द्रिय विषयों में आसक्त हो जाते हैं, पापों में प्रवृत्त होकर अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। वे शब्द जिनके माध्यम से आप अपने धर्म की निंदा करने लग जाते हैं, जिन शब्दों को सुनकर आपकी श्रद्धा टूट जाती है, वे शब्द जिससे आप मिथ्यात्व का पोषण करने लगते हैं, वे सभी शब्द जिसको सुनने से आपके अंदर कुछ अशुभ होने लगता है वे सब दु:श्रुति कहलाती हैं।

आचार्य समंतभद्रस्वामी जी के शब्दों में देखें कि उन्होंने दु:श्रुति के बारे में क्या कहा–**'श्रुतिरवधीनाम्'** सुने हुए को धारण करना दु:श्रुति है। कोई व्यक्ति खोटा शास्त्र पढ़कर भी सही अर्थ निकाल सकता है और गलत अर्थ भी निकाल सकता है, कोई व्यक्ति अच्छा सुनकर भी खोटा अर्थ निकाल सकता है तो यहाँ पर कहा खोटा सुनना। किसी को पाप मे संलग्न देखकर व्यक्ति पाप से विरक्त हो सकता है और कोई व्यक्ति किसी को पुण्य में देखकर पुण्य के विपरीत भी जा सकता है। तो यहाँ पर ये नहीं कहा कि खोटा शास्त्र, न कहा कुशास्त्र। यहाँ पर कहा 'दु:श्रुति' जिसको आपने सुना है उसे सुनकर यदि आपका खोटा परिणमन हो गया तो वह दु:श्रुति है, वह चाहे आपने अच्छे शास्त्रों से सुना या बुरे शास्त्रों से

सुना। ऐसा नहीं है कि सम्यक् शास्त्रों को सुनकर के व्यक्ति का खोटा चिंतन नहीं बन सकता और ऐसा नहीं कि कुशास्त्र सुनकर के व्यक्ति उनसे बच नहीं सकता, बच सकता है किन्तु ये बात अपवाद में है सामान्यतः ये लेकर चलें कि खोटे शास्त्र नहीं पढ़ना क्योंकि वह खोटा शास्त्र सीधा सीधा खोटे भाव बनाने में निमित्त बनेगा।

महानुभाव! बात सिर्फ ये नहीं कि खोटे शास्त्र नहीं पढ़ना, वरन् खोटी बातें भी नहीं सुननी। कोई व्यक्ति किसी की बुराई कर रहा था, आपने वह सुनी और सुनकर आपके परिणाम उस व्यक्ति के प्रति जिसकी बुराई आपसे की जा रही है बहुत निकृष्ट हो गए। तो यह सुनना आपके लिए खोटा हो गया, चाहे सुनाने वाले ने अच्छे से सुनाया या बुरे से, अच्छे भाव से सुनाया या दुर्भाव से सुनाया उसको छोड़ो, पर तुम्हारा सुनना तुम्हारे लिए दुःश्रुति है। यहाँ कहा **'आरंभ'**–जिसको सुनकर के आप आरंभ में लग जाएँ। पहले आप आरंभ से विरक्त थे आरंभत्याग प्रतिमा का पालन कर रहे थे या संन्यास ले लिया था, पुनः आपने किसी से चर्चा की तो आपके मन में आ गया मैं भी खेती करूँ, व्यापार करूँ, गाय पालूँ आदि-आदि कार्य करने का भाव आपके मन में आया, तो जिस व्यक्ति के शब्दों को सुनकर ये भाव आए वे शब्द आपके लिए दुःश्रुति हैं क्योंकि आप इन सबसे विरक्त थे फिर भी आपने करना प्रारंभ कर दिया। आगे कहा–

'संग'–परिग्रह का आपने त्याग कर दिया किन्तु किसी कुसंगति में जाकर के, उसके पास बहुत सारा परिग्रह था, उस परिग्रह को देखकर के आपके मन में परिग्रह की लालसा जाग गई। टी.वी में Add देखा, आपको वस्तु की आवश्यकता नहीं पर Add से मन में भाव आ गया कि मैं भी वह वस्तु प्राप्त करूँ। या किसी और ने अपनी वस्तु की तारीफ की, उसे सुनकर मन में प्राप्ति का भाव आ गया या किसी की वस्तु देखी उसे देखकर मन में परिग्रह एकत्रित करने का भाव आ गया। तो जिसे सुनकर के आरंभ करने का भाव आए या परिग्रह एकत्र करने का भाव आए वह दुःश्रुति है।

आगे कहा–**'साहस'** चूँकि यहाँ दुःश्रुति का प्रसंग है तो साहस से आशय दुःसाहस से लेना है। ऐसा दुःसाहस जैसे किसी व्यक्ति ने सुनाया कि मैंने किसी लड़की से विवाह किया, पहले तो वह राजी नहीं हो रही थी, इसके लिए मैंने रात में जाकर खूब जाप लगायी, उसका वशीकरण किया या उसके भाई को पकड़ लिया, वह मान नहीं रहा था तो उसको ऐसे डराया-धमकाया। पहले तो मैं भी दब्बू था, डरता था पर फिर मैंने ऐसा साहस जुटाया। अब तुम भी ऐसा कर सकते हो। तो उस व्यक्ति की बात का प्रभाव सामने वाले व्यक्ति पर आ गया

तो वह भी वैसा ही कार्य करने की योजना बनाने लगा। तो जिन शब्दों को सुनकर के खोटा कार्य करने का भाव आया वह दु:श्रुति है। किसी का धन अवैध रूप से हरण करने का मन आया या किसी की स्त्री को अपना बनाने का भाव आया या किसी परिवार पर अपनी शक्ति का दबाव डालना, जिससे डरकर वे अपनी कन्या मुझे सौंप देंगे या धन कमाने का दु:साहस; जिसे पाने की चाह में स्वयं की व दूसरों की जान जोखिम में डाल दें। ये सब दु:साहस की बाते हैं। साहस वह होता है जो अपने धर्म का पालन करे, जो अपने व्रतों की रक्षा कराए। साहस वह होता है जो धर्मात्मा के धर्म की रक्षा करे, जिनशासन की प्रभावना करे। साहस वह होता है जो देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा करने के लिए आगे आ जाए, जिनमंदिर, जिनचैत्य, चैत्यालयों के नव निर्माण या जीर्णोद्धार में सहायता करे। इसके विपरीत कार्य करने के लिए यदि वह साहसी हो रहा है तो वह दु:साहस ही होता है।

महानुभाव! जिन शब्दों को सुनकर दु:साहस जाग्रत होता है वह सब दु:श्रुति कहलाता है। आगे कहा-**'मिथ्यात्व'** जिन शब्दों को सुनकर के आप कोई मिथ्या क्रिया करने लगें। सम्यक्त्व की क्रिया तो छोड़ दी, मिथ्यात्व का पालन करना प्रारंभ कर दिया। पहले आप पूजन, अभिषेकादि क्रियाएँ करते थे अब न जाने किनकी बातों में आ गए, अब आपने पूजा-पाठ छोड़ दिया, आरती करना छोड़ दिया। आरती टॉर्च से करूँगा। क्यों भाई घृत का दीपक क्यूँ नहीं, घृत के दीपक से O_2 पैदा होती है, वातावरण परिशुद्ध होता है, वह स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। पुण्य भावना होने से पुण्यास्रव करने वाला है। पहले जिनेन्द्रप्रभु के चरण स्पर्श से आपको आनंद आता था अब न जाने क्यों पुण्य क्रियाओं को छोड़ दिया तो जिसको सुनकर पुण्य क्रियाएँ छोड़ी वह सुनना भी दु:श्रुति है।

अब मैं पूजन नहीं करता, आरती नहीं करता, तो क्या करते हो? अब तो मैं भगवान् के सामने आँख बंद करके बैठता हूँ। अरे! ऐसे आँख बंद कर बैठने से भगवान् बन जाओगे क्या? ऐसे भगवान् नहीं बनोगे, पहले पुण्य की क्रिया करनी पड़ेगी। सम्यक् क्रियाओं को छोड़ मिथ्या क्रियाओं में लग गए। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र-कुधर्म की पूजा करने लगे। तो जिन शब्दों को सुनकर आप सम्यक्त्व से छूट गए, सम्यग्ज्ञान से छूट गए, सम्यक् चारित्र से छूट गए व मिथ्यात्व-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र में प्रवृत्ति करने लगे तो ये भी दु:श्रुति कहलाती है।

आगे कहा **'द्वेष'** अभी आपका आपके साथी के प्रति कोई द्वेष भाव नहीं था, किसी व्यक्ति ने आकर आपके कान में ऐसी बात कह दी जिससे आपका उसके प्रति द्वेष हो गया; यद्यपि बात झूठी है उस पर आरोप लगा दिया है आपने सुना और

सुनकर के उसके प्रति दुर्व्यवहार करने लगे। तो द्वेष के कारणभूत जो शब्द हैं वे भी दु:श्रुति कहलाते हैं। धर्म-धर्मात्मा के प्रति, मित्र-परिवार के प्रति, निज कर्त्तव्य के प्रति द्वेष पैदा करने वाले वाक्यों का सुनना दु:श्रुति है।

आगे कहा-**'राग'** किसी के प्रति रागवर्धक शब्दों को सुनना, जैसे-किसी बालक ने अपने मित्र से कहा मेरी तो एक मित्र है, क्या तुम्हारी नहीं। बस इतने शब्द कहकर उसको बहका दिया। अब धीमे-धीमे उनका इतना पतन हो गया कि वे अपनी मर्यादा से च्युत हो गए। राग में इतने लीन हो गए कि स्वयं को संभाल ही नहीं पाए, बाद में भले ही सोचा कि ये ठीक नहीं किन्तु अभी स्वयं को नियंत्रण करने में समर्थ नहीं हो पा रहे।

'मद-मदनै:' किसी के अहंकार रूपी शब्दों को सुनकर आपको मद आ जाना। अभी तक आप माता-पिता की सेवा करते थे, चरण स्पर्श करते थे, भाई के प्रति भी अति विनय का भाव था, त्यागी व्रतियों के प्रति भी वात्सल्य भाव था, वंदन करते थे पर अब किसी ने आपको उनके प्रति भर दिया, अरे! तुम इनकी वंदना करते हो, चरणस्पर्श करते हो, तुमको तो इनसे ज्यादा ज्ञान है। बस इतने शब्द सुने ही थे कि गर्व से भर उठे, अब मैं इन्हें वंदना नहीं करूँगा। उसने तुमको धर्म से च्युत कर दिया, तुम अहंकार में आ गए। तो जिन शब्दों को सुनकर के ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, बुद्धि, तप, शरीर ये 8 प्रकार का मद उत्पन्न हुआ है वो भी दु:श्रुति है, शब्दों को सुनकर क्रोध आना भी दु:श्रुति है, यदि भाव मायाचारी का आता है तो जिन शब्दों को सुनकर आया वह शब्द भी दु:श्रुति हैं। जिन शब्दों को सुनकर आपके मन में लोभ आ रहा है वे शब्द भी दु:श्रुति हैं, जिन शब्दों को सुनकर आप पंचेन्द्रियों के विषय में आसक्त हो रहे हैं ये भी दु:श्रुति हैं।

जिनको सुनकर व्यक्ति विषयवासनाओं में डूबता जा रहा है वे सभी शब्द दु:श्रुति हैं। आप किसी की बातों को सुनकर अपनी समीचीन परम्परा को छोड़ दूसरी परम्परानुसार कार्य करने लगे तो यह भी दु:श्रुति है। 'अजैर्यष्टव्यम्' अज का अर्थ तीन साल पुराना धान्य होता है किंतु किसी ने बता दिया कि अज का अर्थ बकरा होता है, उसको होम करना चाहिए तो उसने खोटा अर्थ बता दिया, आपने वह सुन लिया। ऐसे ही जो कोई व्यक्ति शास्त्र दिखाकर के आपको धर्म से च्युत कर रहा है उसके शब्दों को मत सुनो। इसीलिए कहा कि वक्ता प्रमाणिक होता है तो उसकी बात भी प्रमाणिक होती है, यदि वक्ता प्रमाणिक नहीं है तो वह प्रमाणिक बात भी कहे तब भी विश्वास के योग्य नहीं है। प्रमाणिक वक्ता अर्थात् तीर्थंकर भगवान्, केवली

भगवान्। उनके अभाव में गणधर, उनके अभाव में श्रुतकेवली, उनके अभाव में आरातीय आचार्य–आर्ष परम्परा पोषक आचार्य। आरातीय अर्थात् आप्त की वाणी से जुड़े हुए। जो अपने आज के चिंतन को आपके सामने परोसता है, कहता है मेरे चिंतनानुसार ऐसा होना चाहिए तो उसके चिंतन को मत पकड़ो। कोई कहता है तुम दही खाते हो, अरे! मैं तो नहीं खाता। आज के डॉक्टर व वैज्ञानिक तो ऐसा-ऐसा कहते हैं, उसने तुमको भटका दिया। जिनवाणी के प्रति आपके मन में शंका डाल दी। अरे! आलू खाओ इसमें कोई दोष नहीं है, देखो शास्त्रों में ऐसा लिखा है, उसने तुम्हारे सम्यक्त्व को तोड़ दिया। तो ऐसे शब्दों को नहीं सुनना।

आज वर्तमान काल में कई ऐसे एकान्तवादी हैं जो देव-शास्त्र-गुरु के परम उपासकों की श्रद्धा को तोड़ रहे हैं, वे स्वयं तो दुर्गति में जाने का कार्य कर ही रहे हैं, दूसरों को भी दुर्गति में भेज रहे हैं। वे निंदा रस में आनंद ले रहे हैं, जिसके पास भी गए उसी का मन खराब कर दिया, यही बस उनका काम है। अथवा किसी ने कहा मैंने तो पर्यूषण पर्व में दस उपवास किए थे; किंतु मैं तो भैया सुबह की इंतजारी नहीं करता, रात के 12 बजे ही हलवाई की दुकान पर चला जाता हूँ, चलो तुम भी मेरे साथ चलो। ये दु:श्रुति सुनाकर के उसका मन भी भटका दिया। वह कह रहा है भैया! मैं तो अगले दिन ही अपना व्रत खोलता हूँ, वह भी अभक्ष्य वस्तु से नहीं भक्ष्यपदार्थ सेवन करता हूँ। पर उसको भी भटका दिया, मिथ्या निंदा कर-करके उसकी धर्म से श्रद्धा तोड़ दी। निंदा करके, परेशान कर-करके परिवार से तोड़ दिया, माँ-पिता के प्रति सम्मान की भावना ही सुखा दी, भाईयों में झगड़ा कराकर पूरे परिवार से अलग करा दिया, आपस में फूट डाल दी जैसे अँग्रेजों ने फूट डालो राज्य करो आंदोलन किया था, जैसे उन्होंने पहले चाय के रूप में स्लो पॉइजन दिया जिससे आप बीमार पड़ें या एल्यूमीनीयम के बर्तन में भोजन दिया जिससे ये धीरे-धीरे मरते चले जाएँगे या आज भी ऐसी खाद्य सामग्री आ रही है जिन्हें खाकर व्यक्ति धीमे-धीमे मृत्यु के निकट पहुँच जाए। इन वस्तुओं का पहले Add दिया जाता है जिससे व्यक्ति अच्छाई से छूट जाए।

महानुभाव! अच्छी वस्तुओं का Add नहीं आता, वे स्वयं अच्छी होती हैं किन्तु बुरी वस्तुओं का Add इतना आ जाता है कि व्यक्ति का विश्वास अच्छी वस्तुओं से हटने लगता है। अच्छी पुस्तकें और अच्छे व्यक्ति बड़ी देरी से समझ में आते हैं। अच्छी बातें हर जगह सुनने को नहीं मिलती यदि अच्छी बातें सुनने में भी आ जाएँ तो मन में शंका आ जाती है क्योंकि बुरी बातों की यहाँ इतनी बहुतायत है कि अच्छी बातें कहीं छिप जाती हैं।

दु:श्रुति के मायने यही हैं कि जो कोई भी वचन हमारे चित्त को कलुषित कर रहा है यदि उसे भी हम रस ले लेकर सुन रहे हैं तो वह दु:श्रुति कहलाती है। इस प्रकार की दु:श्रुति से बचना चाहिए। यहाँ तक कि कोई व्यक्ति कहे कि मैं इसे रूलाऊँगा और कोई ऐसी बात कह दी कि वह व्यक्ति रोने लगा उसका आर्त्तध्यान बन गया, उसे ऐसी कोई बात सुना दी जिससे आवेश में आकर वह व्यक्ति तलवार उठाने तैयार हो गया तो ऐसे खोटे शब्द बोलना जिससे वह व्यक्ति पाप प्रवृत्ति में लग जाए और धर्म से छूट जाए ऐसी दु:श्रुति आप सभी को छोड़ देना चाहिए। आप सभी आत्म कल्याण में रत रहें इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का लक्षण

क्षिति-सलिल-दहन-पवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥80॥

अन्वयार्थ–विफलं – निष्प्रयोजन अर्थात् बिना प्रयोजन **क्षिति** – पृथ्वी खोदना **सलिल** – जल बहाना **दहन** – आग जलाना **पवनारम्भं** – हवा करना **वनस्पतिच्छेदं** – पेड़ पौधों को तोड़ना **च** – और **सरणंसारणमपि** – स्वयं घूमना औरों को घुमाना आदि को **प्रमादचर्यां** – प्रमादचर्या अनर्थदण्ड **प्रभाषन्ते** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! श्रावकाचार क्या है, उसका पालन किस प्रकार किया जाए, उस संबंध में विशद व्याख्या चल रही है। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी श्रावक-श्राविकाओं को पापों से बचाने के लिए ऐसा उपदेश दे रहे हैं जिसे ग्रहण करके प्राणी अनावश्यक पापों से बच सकता है। निष्प्रयोजनीय पापों को छोड़ने में कहीं कोई बाधा नहीं है, बस दृष्टिकोण बदल जाए। दृष्टिकोण बदलते ही व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ बदलने लगती हैं। व्यक्ति जब तक जिसे पाप नहीं समझ रहा है तब तक उसे आनंद लेते हुए करता चला जा रहा है किन्तु जब उसकी दृष्टि में आ जाएगा कि ये कार्य पाप कहलाते हैं तब व्यक्ति उन कार्यों से बचने की चेष्टा करेगा। पाप करना व पाप होना दोनों अलग-अलग बात हैं। यदि पाप होते हैं तो उनसे कर्म का बंध कम होता है, यदि व्यक्ति पाप करता है तो पाप का बंध बहुत होता है।

यहाँ पर अनर्थदण्ड के भेद बताते हुए आचार्य महोदय ने पहले पापोपदेश के संबंध में बताया। कोई ऐसा उपदेश नहीं देना जिससे व्यक्ति पाप कार्य में संलग्न हो जाए। पाप कार्य में संलग्न होने से आशय मात्र इतना नहीं मानना कि जैसे–आप उसे मार दो, यही पाप उपदेश है वरन् ऐसी प्रवृत्ति करना, ऐसी परम्परा चलाना जिससे पापों की प्रवृत्ति बढ़ती चली जाए। बलिप्रथा प्रारंभ करना, होम में पशु-पक्षियों को होमना, हवन में अन्य प्रकार का सावद्य, सचित्त पदार्थों का अर्पण करना या किसी ऐसे पाप को करना जिसे करके भी भयभीत नहीं होना, निर्भीक होकर कहना कि हाँ, मैंने ऐसा पाप किया है।

गर्भपात जैसे पाप पहले भारत वर्ष में नहीं होते थे। किसी एक परिवार में यह पाप हो गया उसे देखकर अनुसरण करने वाले उस पाप को करने लगे। तो उस व्यक्ति को केवल एक पाप करने का पाप नहीं लगेगा उसने अन्य के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया है तो अनेक व्यक्ति पाप करने वाले होंगें तो उनके पाप का भी कुछ अंश इसे लगेगा। व्यक्ति कहे कि मैंने

किसी से कहा थोड़े ही है कि तुम पाप करो। हाँ, ठीक है, मुख से नहीं कहा किन्तु आपने प्रवृत्ति रूप करके ही उसे दिखा दिया, जिसे देखकर सभी उसे करने लगे। यह भी पापोपदेश है कि कोई भी पाप की क्रिया सबके सामने ऐसे करना जिससे अन्य लोगों को भी पाप करने की प्रेरणा मिले।

'हिंसादान' जिस किसी से हिंसा की जा सकती है वे सभी पदार्थ यदि किसी को दान में दिए जाते हैं तो इसी भावना से कि इसके माध्यम से जीवों की हिंसा होगी, चाहे अस्त्रशस्त्र हों, चाहे किसी भी प्रकार का विष हो, चाहे रासायनिक पदार्थ हों या अन्य किसी लकड़ी, रबड़ आदि से बनाए जाने वाले गुलेल, जाल, पिंजरा आदि कुछ भी हैं जिनसे हिंसा किया जाना संभव है वो सब हिंसादान में आते हैं। क्योंकि आपका प्रयोजन उसके माध्यम से हिंसा करने का है। चाहे वह हिंसा न भी करे किंतु आपने हिंसा करने के प्रयोजन से दी है तब भी आपको हिंसा का पाप लगेगा।

'अपध्यान'-खोटा चिंतन करना। अपने मन को, अपने उपयोग को खोटे कार्य में लगा रहे हैं कि इससे कितना शत्रु का अहित किया जा सके। तालाब में विष घोल दो, कुओं में जहर डाल दो या इस प्रकार से आग लगा दो, उनकी भोजन सामग्री को नष्ट कर दो या वे किसी भी प्रकार से कहीं स्थान पर सुरक्षित हैं तो उस स्थान पर ब्लास्ट कर दो। ये सब किया नहीं किन्तु सोच रहा है कि ऐसा कर देंगे तो शत्रु को जीत लेंगे, ये अपध्यान है। किसी भी प्रकार से, किसी के भी निमित्त से अशुभ चिंतन करना अपध्यान है।

दु:श्रुति-कोई भी शब्द जिसे सुनकर के आपकी कषाय जाग्रत होती हैं, आप पंचेन्द्रिय विषयों का सेवन करने के लिए आतुर हो जाते हैं, आपकी हिंसादि रूप प्रवृत्ति हो जाती है, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नव नोकषाय रूप आपकी प्रवृत्ति होने लगती है तो समझना चाहिए वह सभी शब्द दु:श्रुति कहलाते हैं, खोटा श्रवण कहलाता है। दु:श्रुति से आशय मात्र इतना ही नहीं है वरन् खोटी पुस्तकें पढ़ना, कामसेवन की पुस्तकें पढ़ना, कोप शास्त्र पढ़ना या गंदी मूवी आदि देखना ये सब भी दु:श्रुति में आता है। कान से नहीं सुना पर आँखों से देखा है, उसे देखकर के आपने परिकल्पना की है कि ऐसे भी पाप किया जा सकता है, ये सब अपध्यान व दु:श्रुति हुए।

पाँचवा अनर्थदण्ड है पंचस्थावरकाय और त्रसकाय इन षट्काय जीवों की प्रमत्त होकर के हिंसा करना और उस समय आनंद लेना। नाना प्रकार की हिंसा करते हुए आनंद लेना। वह हिंसा मन से भी की जाती है, वचन से भी की जाती है और शरीर से भी की जाती है, तीनों

प्रकार की हिंसा है, उस हिंसा से आपका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा फिर भी हिंसा की जा रही है वह निष्प्रयोजनीय पाप है, मुफ्त का पाप है। भैया! ऐसा फ्री का पाप क्यों करते हो, कोई तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध हो तब भी बात समझ में आती है, जब कोई प्रयोजन नहीं है फिर ये पाप क्यों? आप समझदार हैं, विवेकी हैं, बुद्धिमान् हैं, सयाने हैं, दूसरों को सलाह दे देते हैं, अपने मन को क्यों नहीं समझाते? सजा रहे हैं शरीर को, शरीर को सजाना तो अपनी आत्मा को सजा देना है। अपने शरीर को सजाने के लिए आप न जाने कितने त्रस-स्थावर जीवों का घात कर रहे हैं, यह उचित नहीं है, अपने आप को समझाओ। ये पाप हैं, इसका फल आपकी आत्मा ही भोगेगी; क्योंकि करने वाली आपकी ही आत्मा है। आप कहेंगे मन-वचन-काय ने किया है, बिना आत्मा के मन-वचन-काय तो मुर्दा है, पुद्गल है, वो कैसे कर सकता है, आत्मा उसमें संलग्न है तभी तो शरीर जीवंत है, तभी तो वचन बोल पा रहे हो, तभी तो मन में चिंतन चल पा रहा है। यह आत्मा तो तुम्हारी है, जिस आत्मा के साथ रहते हुए मन-वचन-काय, आपका धन, साधनसामग्री पाप का निमित्त बन रही है उन सबका फल आत्मा भोगेगी, पुद्गल नहीं भोगता है।

आचार्य महोदय के शब्दों में देखें तो वह कह रहे हैं–

'प्रमादचर्या प्रभाषन्ते' प्रमादचर्या को कहते हैं। प्रमाद के पंद्रह भेद होते हैं–

विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणओ य।
चदु चदु पण मेगेगं, होंति पमादा हु पण्णरसा॥

4 विकथा, 4 कषाय, 5 इंद्रिय, निद्रा और प्रणय ये 15 प्रमाद के भेद कहे। मुख्य रूप से विकथा के भी 4 भेद हैं–स्त्रीकथा, भोजनकथा, चोरकथा व राष्ट्रकथा। जैसे चार कषायों के चार-चार के भेद होने से 16 होते हैं, 9 नोकषाय लगाओ तो 25 होते हैं, और लगाए तो संख्यात, असंख्यात, लोकप्रमाण भी होते हैं; ऐसे ही विकथा के भी भेद होते हैं। चार मुख्य होते हैं फिर 25 होते हैं, भंग बनाएँगे, प्रस्तार बनाएँगे तो बहुत भेद बनते चले जाते हैं।

महानुभाव! चार कषाय में प्रवृत्ति प्रमाद है, इंद्रिय विषयों में प्रवृत्ति करना भी प्रमाद है, नींद लेना यह भी प्रमाद है, आसक्ति, लीनता यह भी प्रमाद है, परपदार्थ में लीनता प्रमाद है, आत्मा में लीनता निष्प्रमाद है। तो यहाँ कहा प्रमादयुक्त प्रवृत्ति नहीं करना। आचार्य महोदय श्रावकों के लिए कह रहे हैं कि इन पापों से बचो। **'सरणं सारण अपि च'** गमन करना और गमन कराना। कैसा गमन करना व कैसा गमन कराना? जिस गमन और आगमन का कोई प्रयोजन न हो और उस गमनागमन में पाप का प्रचुर मात्रा में आस्रव हो रहा हो, निष्प्रयोजनीय पाप का

संवर्धन कराने वाला गमनागमन करना; कराना व जो निष्प्रयोजनीय हिंसामूलक कार्य कर रहा है उसके कार्यों की अनुमोदना करना, तो ऐसे पापों से बचना चाहिए। जब कोई प्रयोजन नहीं है तब उन कार्यों का विवेकी व्यक्ति संपादन नहीं करेगा। रथ्यापुरुष ही निष्प्रयोजनीय कार्य करते हैं और मूर्ख पुरुष ही अनर्थ का कार्य करते हैं, वे ही स्व-पर के लिए कष्ट, दुःख, पीड़ा, वेदना का जिससे निर्माण होता है ऐसे कार्य करते हैं। जो अणुव्रती बना उसने त्रसहिंसा का संकल्पपूर्वक त्याग कर दिया।

त्रसहिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे।

अणुव्रती निष्प्रयोजनीय स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करता। संकल्पी हिंसा व त्रसहिंसा का त्याग किया, उद्योगी-आरंभी-विरोधी हिंसा इससे हो जाती है। संकल्पी हिंसा की जाती है उद्योगी आरंभी-विरोधी हिंसा हो जाती है। जो कार्य किया जाता है उसमें बुद्धि प्रयोग किया जाता है, उसमें मन विशेष प्रकार से सक्रिय होता है, जहाँ मन विशेष रूप से सक्रिय है वहाँ वचनों का प्रयोग न करते हुए भी अन्तर्जल्प के माध्यम से वचनयोग बहुत प्रवृत्ति करता है और जहाँ पर मन-वचन योग बहुत सक्रिय रूप से प्रवृत्ति कर रहे हों वहाँ पर काय निश्चेष्ट भी पड़ी हो तब भी वह कार्य अपने में Active ही माने जाते हैं।

कोई व्यक्ति जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह खड़ा हो सके, किसी ने पहाड़ से धक्का दिया तो वह नीचे पड़ा हुआ है वह अपने हाथ-पैर चला नहीं पा रहा किन्तु फिर भी वह व्यक्ति अपने शत्रु को मारने की योजना बना रहा है, मन उसका सक्रिय है। मुख से वचन नहीं निकल रहे फिर भी अन्तर्जल्प चल रहा है मैं उसे मार दूँगा-छोड़ूँगा नहीं, ऐसे अशुभ शब्दों का अन्तर्जल्प अन्तरंग में चल रहा है। शरीर उठाने के काबिल नहीं है फिर भी मुँह बिचकाकर, मुट्ठी भींचकर, मिसमिसाकर मारने की चेष्टा कर रहा है, तीनों योग सक्रिय हैं जबकि व्यक्ति निष्चेष्ट जैसा पड़ा हुआ लग रहा है, वह भी पाप का तीव्र आस्रव कर सकता है। तो महानुभाव! अणुव्रती त्रसहिंसा का त्याग करता है, सद्गृहस्थ भी हिंसा से बचता है। एक सच्चा मानव भी हिंसादि पापों का त्याग कर देता है।

आहार में, विहार में, निहारादि क्रियाओं में अथवा सेवा, कृषि, वाणिज्यादि आरंभ कार्यों में या भोजनादि बनाने में, सामग्री जोड़ने में, जल भरना, चक्की-बुहारी आदि आरंभ-सारंभ कार्यों के माध्यम से वह त्रसजीव का घात नहीं करना चाहता। जिसके चित्त में धर्म के प्रति सच्चा श्रद्धान आविर्भाव हुआ है, जिसे धर्म के प्रति सच्चा श्रद्धान हुआ है कि धर्म ही सच्चा सुख का कारण है। **'सुखस्य मूलं धर्मः'** चाणक्य नीति में भी यह सूत्र दिया कि सुख का

मूल धर्म है, धर्म का मूल इंद्रिय विजय है, इंद्रिय विजय का मूल विनय है, विनय का मूल ज्ञान-विज्ञान है; ऐसी नीतियाँ दीं। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी भी लगभग उसी समय के हैं 100-150 वर्ष बाद हुए, इन्होंने भी व्याख्या की, उसके पूर्व अन्य आचार्यों ने भी व्याख्या की। चाणक्य भी जिनशासन के प्रभावक रहे, उन्होंने भी अंत में समाधिसहित मरण को प्राप्त किया, दीक्षा लेकर के उपसर्ग को सहन करके अपने पार्थिव शरीर का परित्याग किया। वे भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक बने।

महानुभाव! वह सद्गृहस्थ, मानवता से युक्त व्यक्ति भी हिंसा नहीं करना चाहता, यदि कहीं हिंसा का प्रयोजन होता है तो विरोधी हिंसा होती है। धर्म एवं धर्म के आयतनों की रक्षा करने के लिए, अपनी एवं परिवार की रक्षा करने के लिए, देश के लिए, प्रजा की रक्षा के लिए किसी का घात हो जाए वह विरोधी हिंसा हुई। और व्यापारादिक के लिए हुई हिंसा उद्योगी हिंसा है। वह अणुव्रती त्रस हिंसा का संकल्पपूर्वक त्यागी होता है, निष्प्रयोजनीय स्थावर हिंसा भी संकल्पपूर्वक नहीं करता। किन्तु कुछ लोग अभी समझते नहीं हैं वे कहते हैं कि मैंने जीवन मे कभी पाप नहीं किया किन्तु वे कितनी त्रसहिंसा करते हैं शायद उन्हें ज्ञात नहीं है, इसकी उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की होगी।

आचार्य महोदय तो यहाँ स्थावर हिंसा की बात बता रहे हैं किन्तु हम आपसे कह रहे हैं कि त्रस की हिंसा से भी बचो। कैसी त्रसहिंसा? कोई व्यक्ति यदि फलों को सड़ा रहा है, अनाज रखा है उसमें जीव पनप रहे हैं तो हिंसा हो रही है। वहाँ संख्यात-असंख्यात जीव पैदा हो रहे हैं। उसका मालिक जो उसका स्वामित्व धारण करने वाला है वह उस हिंसा का भागीदार है। कैमिकल से युक्त विषाक्त पदार्थों का पानी फैक्ट्री की गलियों से जा रहा है जिसमें करोड़ों-खरबों जीव मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। आतिशबाजी कर रहा है, फुलझड़ी चलाता है, पटाखे फोड़ रहा है, जिससे एक धमाका होता है उसकी अग्नि इतनी तेज होती है कि मनुष्यों की आँखों में भी चकाचौंध होने लगती है, अन्य छोटे-छोटे जीव तो मर ही जाते हैं। जाने कितने ही विकलत्रय जीव मर जाते हैं। इतना ही नहीं पंचेन्द्रिय पक्षियों का तो गर्भपात तक हो जाता है उनके अण्डे आदि मर जाते हैं। इस प्रकार की निष्प्रयोजनीय हिंसा एक सच्चा मानव नहीं कर सकता।

जो धर्म के बारे में कुछ नहीं जानता वह भी ऐसा कार्य नहीं करता। ऐसे कार्यों को करके भी तुम अपने आपको धर्मात्मा कह रहे हो। नहीं महाराज जी मैंने पटाखे नहीं चलाए, मैंने तो बस लाकर के बच्चों को दे दिया, वे जिद्द कर रहे थे, अरे! बच्चे जिद्द कर रहे थे नरक में

जाने की तो तुम उन्हें नरक में धक्का क्यों दे रहे हो, समझा क्यों नहीं रहे, आपने आतिशबाजी का सामान लाकर क्यों दिया। उनसे कहो फल-मिठाई खाओ, अच्छे-नेक काम करो, भगवान् की शांतिधारा पूजनादि करो, तीर्थवंदना, गुरुवंदना के संस्कार दो। तुमने अपने आपको रोका नहीं, तुम स्वयं नहीं जानते कि कितना पाप कर रहे हो, अपनी संतान को नरक के द्वार पर धकेल के ले जा रहे हो। इन सब पापों से बचो, इससे बहुत त्रस हिंसा होती है। त्रस घात चाहे जल के माध्यम से किया, चाहे अग्नि के माध्यम से किया, चाहे वायु के माध्यम से किया, चाहे पृथ्वी खोदने आदि के माध्यम से घात किया और चाहे वनस्पति छेदन से त्रस का घात किया, वह त्रस घात बहुत बड़ा पाप है।

महानुभाव! जो जीव आपके दृष्टिगोचर नहीं हो रहे उनकी हिंसा होना एक अलग बात है किन्तु जो जीव दृष्टिगोचर हो रहे हैं, और दृष्टिगोचर हों न हों किंतु आपके ज्ञान के गोचर हो रहा है कि इसमें बहुत सारे जीव हैं फिर भी आप उनका घात बुद्धिपूर्वक कर रहे हैं तो समझिये उसमें कितना बड़ा पाप लग रहा है। क्या वास्तव में आप नहीं जानते हैं कि आतिशबाजी करने में हिंसा होती है, क्या वास्तव में आप नहीं जानते हैं कि रात्रि में आप विवाह समारोह सम्पन्न करते हैं उसमें कितनी हिंसा होता है, इतनी lighting आप करते हैं उनमें लाखों, अरबों, खरबों जीव मारे जाते हैं।

रात्रि में शादियाँ कराते हो और कहते हो महाराज जी! बच्चा नहीं मान रहा, अरे! बच्चा नहीं मान रहा था या आपका मन नहीं मान रहा, बच्चे को दोष क्यों दे रहे हो। रात्रि की शादी में कितना पाप होता है। ड्रिंक, डॉस और डीजे ये 3D सब चलता है। रात में इतनी Lighting हो रही है, इतने जीव मर रहे हैं, रात के अंधेरे में शराब की बोतलें खुल रही हैं, रात के अँधेरे में न जाने क्या-क्या गलत कार्य हो रहे हैं।

आप अपने परिवार में ऐसे संस्कार दो कि हम रात में विवाह नहीं कराएँगे, ये हमारे कुल की रीति है। हमारा जैन कुल तीर्थंकरों का कुल है। हम किसी नीच या शूद्र कुल के नही हैं जो हम रात में शादी करें, हिंसादी पाप करें। आप ये संस्कार दोगे तो आपका जीवन भी सुरक्षित रहेगा और संतान का जीवन की सुरक्षित रहेगा। सुसंस्कारों से पुण्य का आस्रव होता है और पुण्य हमेशा सुख ही देता है, पुण्य ने आज तक किसी को दु:ख नहीं दिया और कुसंस्कारों से पाप का आस्रव होता है। पाप ने आज तक किसी को सुख नहीं दिया, पाप नियम से दु:ख ही दु:ख देता है इसलिए अपने आपको बचाओ। धर्मात्मा का ताज पहनकर के आप धर्मात्मा नहीं हो जाओगे, अपनी आत्मा से पूछो, परमात्मा से पूछो कि तुम्हारी प्रवृत्ति धार्मिक प्रवृत्ति है या पापात्मा की प्रवृत्ति।

महानुभाव! आचार्य महोदय कर रहे हैं गृहस्थ से सद्गृहस्थ तो बनो, सद्गृहस्थ से फिर श्रावक बनो, अणुव्रती बनो, अणुव्रती की प्रतिमाएँ होती हैं उन प्रतिमाओं को बढ़ाते-बढ़ाते आगे बढ़ते जाओ, परिणामों को निर्मल बनाते जाओ, क्यों इन पापों में रंजायमान होते जा रहे हो। आचार्य महाराज इस गाथा में बता रहे हैं निष्प्रयोजनीय **'क्षिति'** अर्थात् भूमि को खोदना, कुरेदना। चाहे लकड़ी से कुरेद रहे हैं या अंगुली से, लाठी से या डंडे से, हाथ में जो कुछ भी हो उससे जमीन पर वार करते जा रहे हैं उसमें बड़ा आनंद आ रहा है। गीली मिट्टी में दौड़ रहे हैं, सड़क में speed से गाड़ी दौड़ा रहे हैं, चातुर्मास का समय है, सड़क पर रात्रि के समय में छिपकली, नेवला, मेंढक, कछुआ, केचुआँ, गिजाई इत्यादि न जाने कितने जीव-जन्तु आपके वाहन से मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं और वे सड़क पर चिपके मिलते हैं।

महानुभाव! यदि आपका प्रयोजन है तो जाओ किंतु निष्प्रयोजन यह प्रतिस्पर्धा करते हो कि कौन गाड़ी तेज दौड़ाता है, रेस लगाते हो, इस रेस में छोटे-छोटे जानवर तो छोड़ो कुत्ता, बिल्ली, गाय आदि तक मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं निष्प्रयोजन आप कितना जीव घात कर रहे हैं। इसलिए प्रमादचर्या में बताया—क्षिति अर्थात् जमीन खोदना, घास पर स्वयं चलना, गाड़ी चलाना उससे कितने त्रस जीव भरे पड़े हैं, उनका घात हो रहा है। आप निष्प्रयोजन लकड़ी से जमीन खोद रहे हो, जमीन पर आग लगा दी जिससे पृथ्वीकायिक जीव मर रहे हैं, जंगल में आग लगा दी तो वनस्पतिकायिक जीवों का घात हो गया, अग्निकायिक जीवों का घात हुआ, हवा उसके सम्पर्क में आई तो वायुकायिक जीवों का भी घात हुआ। पाँचों स्थावरों का घात हुआ। कोई प्रयोजन नहीं फिर भी आप उसमें आनंद ले रहे हो।

हिंसा करके जो आनंद ले रहे हो वह हिंसानंदी आनंद है यह रौद्रध्यान हो गया। उस रौद्रध्यान में आपका आयु का बंध होता है तो नियम से नरकायु का बंध होता है। चाहे मिट्टी में आपने पानी डाल दिया, मिट्टी बहकर जा रही है, मिट्टी कट रही है, पृथ्वीकायिक, जलकायिक जीव मर रहे हैं, चाहे मिट्टी को कूट-कूटकर आनंद ले रहे हैं, चाहे जमीन पर तेल डालकर आग लगा दी, पृथ्वी जल रही है असंख्य जीव मर रहे हैं और आप आनंद ले रहे हैं। वाहन दौड़ा रहे हैं, मानते हैं चलना आपका प्रयोजन है किन्तु जहाँ प्रयोजन नहीं वहाँ पृथ्वीकायिक जीवों का घात क्यों किया जा रहा है? क्या आप समझते नहीं इसमें पृथ्वीकायिक जीव हैं। फिर कहते हैं हम हिंसा नहीं करते।

'सलिल' जलकायिक जीवों की हिंसा चल रही है, नदी किनारे पहुँचे पत्थर-कंकर फेंकते जा रहे हैं, आनंद ले रहे हैं। देखो! मैं यहाँ से पत्थर फेकूँगा, यहाँ से निकलकर पत्थर वहाँ

सुदूर गिरेगा अथवा पानी में गंदगी डाल रहे हैं। जो कुछ भी गंदी वस्तु ली वह नदी, झील, कुएँ में डाल दी। आप जानते हैं कि एक बूंद अनछने जल में असंख्यात जीव होते हैं, आपका वह पुद्गल क्षेप करने से कितने जीवों का घात हुआ। मछली आदि जलचर जीवों की हिंसा हो जाती है। नल खोल दिया व्यर्थ पानी बहा जा रहा है या साबुन, सोड़ा, सर्फ का पानी बहा दिया, कैमिकल बहा दिया, फैक्ट्रियों से पानी नदी में, नाली में जा रहा है, नालियाँ महीनों से बंद हैं उनमें असंख्यात जीव बिलबिला रहे हैं वह पानी उन जीवों को शांति देगा या तड़पाएगा? जैसे मनुष्य के ऊपर तेजाब डाल दो तो वह तड़पता है, जैसे उसके प्राण निकलते हैं वैसे ही उन जीवों के प्राण निकलते हैं। वहाँ अनेक त्रस जीवों का घात हो रहा है, जलकायिक जीवों का घात हो रहा है।

'दहन' अग्निकायिक जीवों की हिंसा भी लगातार चल ही रही है। आवश्यकता है तब तो कूलर, ए.सी, पंखा, बल्ब आदि जल ही रहे हैं; पर जब आवश्यकता नहीं तब भी घंटों-घंटों तक जल रहे हैं। अथवा कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी आग लगा दी, जंगल जल रहा है, देखकर आनंद ले रहे हैं। वायुकायिक जीव यूँ तो कूलर, पंखा आदि चलाते हैं तो घात होता ही है पर हवा में डंडा चला रहे हैं। वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करना, घास को तोड़ना, सौन्दर्य के लिए पेड़ों को काटना, छांटना। कोई व्यक्ति आपके हाथ-पैर काटकर कहे अब यह आदमी अच्छा लग रहा है तब आपको कैसा लगेगा, कान काटकर सपाट कर दे तो कैसा लगेगा। जैसे तुम्हें कष्ट होता है वैसे पेड़ को भी कष्ट होता है इसलिए निष्प्रयोजनीय पाप नहीं करना चाहिए, इन पापों से बचना चाहिए।

वैदिक परम्परा के महानुभाव पृथ्वी को माता मानते हैं, अग्नि को देवता मानते हैं, वायु को पवनकुमार देवता मानते हैं, जल को देवता मानते हैं, वृक्षों में भी पीपल, बरगद आदि को देवता मानकर पूजा करते हैं किन्तु जैन दर्शन कहता है इन सभी में जीव है, ये सामान्य देवता नहीं पर देव बनने की पात्रता रखते हैं। केवल देवगति के देव नहीं ये अरिहंत और सिद्ध देव भी बन सकते हैं, ऐसी आत्मा इनमें वास कर रही है। जैन दर्शन अभी तो इन्हें इसी पर्याय में मानता है, किन्तु ये कहता है कि इन जीवों में भी अरहंत, सिद्ध बनने की योग्यता है, जैसे आपकी आत्मा में क्षमता है वैसी ही क्षमता उनमें भी है। तो उन जीवों का घात क्यों कर रहे हो, क्या मिल रहा है उनको मारने से, यह सब व्यर्थ की हिंसा मत करो।

जमीन में विद्यमान पृथ्वीकायिक जीव या त्रस जीवों को अनावश्यक खोदो मत, जलकायिक जीवों का घात मत करो। नल की टोंटी खोल दी पानी बहकर जा रहा है जिनमें जलकायिक

जीव व त्रस जीव मर रहे हैं। आप एक बाल्टी पानी से नहा सकते हैं किन्तु फिर भी घर में समर्सिबल लगा है तो आप कितने ड्रम खाली कर रहे हो इसका कोई हिसाब-किताब नहीं। इस निष्प्रयोजन हिंसा से बचो। अग्निकायिक जीवों की हिंसा, अनावश्यक बिजली चल रही है उसमें कितने जीवों का घात हो रहा है, यदि प्रयोजन है फिर आप से हो रहा है तो अलग बात है किंतु आपने पंखा चालू किया, पाँच मिनट भी नहीं बैठे वहाँ से उठ गए अब वह व्यर्थ में चल रहा है। न जाने कितने वायुकायिक जीव, वहाँ कितने मकड़ी आदि के जाले थे तो वे त्रसकायिक जीव, लाइट चालू करके आए तो मच्छरादि जीव मर गए। आपका प्रमाद रहा और रात भर में न जाने कितने जीव उससे मर गए, सुबह देखा तो काले कीड़ों का ढेर लगा है या पतंगों का ढेर लगा है। इस प्रकार की हिंसा करना उचित नहीं है।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं यह निष्प्रयोजन हिंसा मत करो। ये प्रमाद है, प्रमाद ही पाप है। इस प्रकार निष्प्रयोजनीय हिंसाजनक कार्य अनर्थदण्ड हैं। इनसे विरक्त होने का नाम ही अनर्थदण्डविरति व्रत है। महानुभाव! दिग्व्रत व भोगोपभोगपरिमाण व्रत के मध्य में इस अनर्थदण्ड व्रत को रखा गया, कारण यह कि पूर्व कथित दिग्व्रत तथा आगे कहे जाने वाले भोगोपभोग परिमाण वा देशव्रत में स्वीकृत मर्यादा में भी निरर्थक गमनागमन न करें तथा भोगपभोग में स्वीकृत विषयों में बिना प्रयोजन आसक्ति के वश हो सेवन न करें अर्थात् किसी भी कार्य को न करें, ऐसा सूचित करने के लिए इस व्रत को मध्य में रखा है। व्रती मनुष्य इन सभी बातों का ध्यान रखकर अनर्थदण्डविरति व्रत को धारण करता है। आप भी इस व्रत का पालन करें। कल्याण के मार्ग पर बढ़ें ऐसी हम आप सभी के प्रति मंगल भावना भाते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार

कन्दर्प - कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य-चाऽधिकरणंव्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥81॥

अन्वयार्थ–कन्दर्प – कन्दर्प, **कौत्कुच्यं** – कौत्कुच्य, **मौखर्य** – वाचालता, **अतिप्रसाधनं** – आवश्यकता से अधिक भोगोपभोग सामग्री रखना, **च** – और, **असमीक्ष्य-अधिकरणं** – बिना विचारे किसी वस्तु पर अधिकार करना ये, **अनर्थदण्डकृद्विरतेः** – अनर्थदण्डविरति के, **पञ्चव्यतीतयः** – पाँच अतिचार हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी का कितना बड़ा उपकार है कि सद्गृहस्थों के लिए उन्होंने एक आचार संहिता बनाकर दी। जिस प्रकार राजनीति में कौटिल्य व चाणक्य के अर्थशास्त्र का महत्व है, उससे कहीं अधिक महत्व आचार्य समंतभद्रस्वामी जी के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का है। आप पूछेंगे ऐसा कैसे? राजनीति के पुरोधा, राजनीति का नेतृत्व करने वाले शीर्षस्थ नेता तो बहुत कम हैं अंगुलियों पर गिनने लायक। किन्तु सद्गृहस्थ की कोटि में आने वाले मनुष्य सब हो सकते हैं, यहाँ तक कि राजनेता भी एक सद्गृहस्थ के कर्त्तव्य का पालन करना चाहेगा किन्तु सामान्य गृहस्थ राजनीति का पालन न करना चाहेगा। नेतृत्व करने वाला राजनेता एक होता है पीछे चलने वाली प्रजा अनेक होती है। तो ये श्रावकाचार की संहिता नेतृत्व करने वाले राजनेताओं के लिए व शासित होने वाली प्रजा दोनों के लिए उपयोगी है इसीलिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार का महत्व चाणक्य या कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी कहीं अधिक ज्यादा उपयोगी सिद्ध होगा। यह आज के युग में ही नहीं वरन् हर युग में व हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण होगा। जैसे प्राणी के लिए श्वांस लेना हर युग में और हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण होता है ऐसे ही एक गृहस्थ की चेतना की प्राणवायु है उसकी आचार संहिता।

श्लोक नं 81 में आचार्य भगवन् कह रहे हैं कि जो इन अनर्थदण्डों से विरक्त हो गए हैं ऐसे अनर्थदण्डविरति व्रत पालन करने वाले व्यक्ति में कहाँ-कहाँ दोष लगने की संभावना हो सकती है। वह पाप का उपदेश नहीं दे रहा, हिंसोपकरण को दान नहीं कर रहा है, खोटा ध्यान नहीं कर रहा, वह खोटे शब्दों को नहीं सुन रहा है, वह प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर रहा है इसके बावजूद भी उसे दोषों की संभावना कहाँ हो सकती है। यदि नीचे दिए इन कार्यों को करेगा तो वह अनर्थदण्डों में जा सकता है, ये अनर्थदण्डविरति व्रत को पूर्णतः खण्डित करने वाले नहीं हैं किन्तु अनर्थदण्डों की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं। यदि प्रवृत्ति इस प्रकार

चलेगी तो व्यक्ति अनर्थदण्डों में प्रवृत्ति करने लगेगा। जैसे कारण वैसे कार्य की प्राप्ति। यहाँ आचार्य महोदय ने उन श्रावक-श्राविकाओं को समझाया कि आपने अनर्थदण्डों से विरक्त होने का संकल्प कर लिया है, तो आपको पाँच प्रकार के ''व्यतीतयो पञ्च:'' व्यतिक्रम करने वाले, मर्यादा का उल्लंघन कराने वाले मार्ग से भी बचना चाहिए। इन पाँच प्रकार के कार्यों से अनर्थदण्डविरति व्रत पूरा भंग नहीं होता किन्तु इन कार्यों को करने वाला व्यक्ति आगे चलकर अनर्थदण्डविरति व्रत के द्वारा छोड़ दिया जाता है और अनर्थदण्डों में पड़ जाता है। जैसे कोई मिथ्या पगडंडी का सहारा लेने वाला व्यक्ति राजमार्ग के द्वारा छोड़ दिया जाता है, किसी गर्त में पड़ जाता है ऐसे ही इन पाँच कार्यों को करने वाला व्यक्ति अनर्थदण्डविरति व्रत के द्वारा छोड़ दिया जाता है। इसीलिए आचार्य महोदय बता रहे हैं कि ये पाँच मार्ग तुम्हारे लिए दु:खद हैं, इनसे बचो। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ व काम ये पाँच पगडंडियाँ ऐसी हैं; जिसने भी इन पर पैर रखा वह नि:संदेह दु:ख के गर्त में चला गया, ऐसे ही यहाँ पर भी 5 पगडंडी बता रहे हैं जिनमें से एक पर भी पैर रखकर आगे बढ़ते चले गए तो नि:संदेह अनर्थों के कूप में डूब जाओगे, दलदल में फँस जाओगे, फिर उसमें से निकलना मुश्किल है इसीलिए पहले से सावधान हो जाओ। इन पगडंडियों पर नहीं चलना इन पगडंडियों के किनारों पर 5 साइन बोर्ड लगे हुए हैं एक पगडंडी पर लगा है कन्दर्प का साइन, दूसरी पर कौत्कुच्य, तीसरी पर मौखर्यता, चौथे पर अतिप्रसाधन और पाँचवें पर असमीक्ष्यचाधि-करण। इन्हें पढ़कर लौट आना, राजमार्ग पर आ जाना तभी आपका अनर्थदण्डविरति व्रत निर्दोष पालित हो सकता है। तो महानुभाव! इस प्रकार देखते हैं उन कारणों के विषय में जो व्रतों को भंग करते हैं, वे हैं-कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन, असमीक्ष्यअधिकरण।

जिनमें प्रथम हैं **'कन्दर्प'** इसका पहले सामान्य अर्थ समझें। 'क' – कुत्सित 'दर्प' – अहंकार, खोटा आवेग, खोटा जोश, यह उचित नहीं है। आचार्यों ने कल्याण के लिए संवेग कहा आवेग नहीं कहा, उद्वेग नहीं कहा। संवेग में समीचीनता के साथ वेग है तब तो ठीक है। नदी यदि संवेगी है तो भू को हरित-फलित करती हुई चली जाएगी, यदि वह आवेगी होगी तो संहार करती हुई चली जाएगी। जो रेगिस्तान को भी हरित कर देती है वह संवेगी नदी प्राणियों की प्यास बुझाती हुई अमृतोपमा दूसरों का उपकार करती हुई स्वयं अपने लक्ष्य पारावार तक पहुँच जाती है और वह समुद्र में गिरकर के समुद्र बन जाती है। वह अपने नीचे रत्नों का खजाना प्राप्त कर लेती है। वह मर्यादा में रहती है इसलिए रत्नों की स्वामिनी बन जाती है, सागर नाम पाती है। यदि वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर दे तो वही नदी न जाने कितने गाँवों को ध्वंस करती हुई, कितने वृक्षों को उखाड़ती हुई और सबको प्रलय का रूप देती हुई

समुद्र तक पहुँच भी पाए या न पहुँच पाए, वहीं अपने अस्तित्व को समाप्त कर देती है। जैसे पतंगा दीपक को बुझाने की चाह में, ज्योति को निगलने की चाह में स्वयं जल करके मृत्यु को प्राप्त करता है ऐसे ही मर्यादा का उल्लंघन करने वाला गृहस्थ भी अनर्थदण्ड के कूप में गिरकर अपना अहित कर लेता है।

यूँ तो अहंकार वैसे ही बुरा होता है किन्तु खोटा दर्प तो महाबुरा। एक व्यक्ति खोटे अहंकार से आवेशित होता है, खोटे कार्य करता है, खोटे वचन बोलता है, खोटा चिंतन करता है। कदाचित् अच्छा कार्य करने से हुई उपलब्धि से उसे स्वाभिमान आए तब स्वाभिमान की रक्षा करते हुए मर्यादा में रह सकता है। एक व्यक्ति को स्वाभिमान आया किसी की रक्षा करके, दूसरे को किसी का घात करके अहंकार आ रहा है, मैंने उपलब्धि प्राप्त कर ली, मैंने इसे 'छल-कपट' से मार दिया। दर्प दोनों में आया, एक का दर्प मर्यादित है रक्षा करके आने का भाव आया कि मैं और रक्षा करूँगा, और जिसने मारा है वह कहता है मैं और मारूँगा। दोनों अलग हैं।

कन्दर्प का दूसरा आशय है रागमिश्रित, हास्यमिश्रित भण्ड वचन बोलना। किसी की हँसी उड़ाना, ठहाका मारना, किसी को देखकर उसकी तौहीन करना, अपमान-तिरस्कार करना यह कन्दर्पी भाषा है। कन्दर्प जाति के देव भी होते हैं, कन्दर्पी भावना भी होती है जो समाधि से डिगाने वाली होती है। कन्दर्प वचन बोलने वाला भी अनर्थों के गर्त में चला जाता है, तो आप अपने वचनों पर संयम रखें, रागमिश्रित वचन न बोलें क्योंकि राग की तीव्रता में भी किसी का अपमान किया जा सकता है और किसी एक को इतना महिमामण्डित किया जा सकता है कि उसका महिमामण्डित करना आपके लिए भी अनर्थकारी हो सकता है व उसके लिए भी। राई को पहाड़ बनाओ किन्तु ऐसे बनाओ कि गुणों की अधिकता को कहो तो ठीक किन्तु गुण छिपाकर दोषों को कहो, उन्हें प्रोत्साहन दो तो अनर्थ में तुम भी जाओगे और जिसकी दोषप्रशंसा की जा रही है वह भी जाएगा। इसीलिए कभी अहंकार से पूरित न हों, क्रोध के आावेश में न आवें, मायाचारी के जाल में न फंसें, लोभ की अग्नि में न जलें, यदि वह चारों कषायों का शमन कर सकता है तो कन्दर्प से बच सकता है, अपना जीवन सहज-सरल-सुगम बना सकता है। यह कन्दर्प भी अनर्थदण्डों की पगडंडी पर ले जाने वाला है।

अगला कहा **''कौत्कुच्य''**– अर्थात् खोटी चेष्टाएँ करना, रागद्वेष से मिश्रित कषायों से समन्वित होकर कुचेष्टाएं करना, किसी को चिढ़ाना, परेशान करके आनंद लेना। ऐसी चेष्टाएँ नहीं करना चाहिए क्योंकि जो दूसरों को परेशान करता है उसे स्वयं भी परेशान होना पड़ता

है। कन्दर्प में वह फिर भी छोटी सी पगडंडी थी उस पर चलने की व्यवस्था कम थी किन्तु कौत्कुच्य के मार्ग पर तो एक कदम बढ़ाओगे चार कदम अपने आप बढ़ते जाएँगे।

यह दूसरी पगडंडी और अधिक चौड़ी है। पहली माना चार फीट की थी तो यह आठ फीट की है। इसमें कन्दर्प के साथ-साथ कुचेष्टा भी करना अर्थात् भण्ड वचन बोलना, गाली आदि अपशब्द बोलना, मर्यादा के प्रतिकूल शब्द बोलना और साथ-साथ शरीर की कुचेष्टा भी करना, हाथ चलाना, पैर चलाना, मुँह बिचकाना, ताड़ना-प्रताड़ना देना यह सब कौत्कुच्य है। यहाँ तक कि कोई लाठी, चाबुक लेकर सामने वाले को डराना, घात करने के लिए, हिंसा करने के लिए शरीर की दुष्प्रवृत्ति करना भी अनर्थदण्ड का कारण है। अभी तक तो मन-वचन ही शामिल थे, मन में राग-द्वेषादि का दुर्भाव आया तदनुरूप वचन भी हुए, किंतु अब कौत्कुच्य में मन भी अशुभ, वचन भी अशुभ, काय की चेष्टाएं भी अशुभ हो गई। तीनों योग अशुभ हो गए। अब जब आत्मा तीनों के बीच में फँस गई फिर इस व्यक्ति के पास जो भी साधन सामग्री है, धन है, वस्तु है उससे भी अनर्थ ही कर रहा है, उससे भी अहित कर रहा है; इस प्रकार आत्मा चारों के बीच में फँस गई। मन-वचन-काय व धन/साधन सामग्री से फँसी आत्मा भी अनर्थों की ओर चली जाएगी। ये चार साधन हैं आत्मा को पाप कमाने के लिए, ये आत्मा यदि ऐसी प्रवृत्ति करती है तो अनर्थदण्डों की ओर जाने का मार्ग है; जिसे अतिचार कहा।

अगला है–**'मौखर्य'** अर्थात् व्यर्थ का बकवाद। वाचालपना करना, अप्रिय वचन बोलना, तथ्यहीन बोलना, अहितकारी वचन बोलना, धर्म के विरुद्ध वचन बोलना, सदाचार-संस्कृति व सभ्यता के विरुद्ध बोलना, देशभक्ति के विरुद्ध देशद्रोह युक्त वचन बोलना, धर्म द्रोह करना, स्वजन-परजन का विरोध करना, साधर्मी का विरोध करना, ऐसी वाचालता निःसन्देह अनर्थों की जननी होती है। जो व्यक्ति वाचाल होते हैं, Senseless शब्द बोलते हैं या ऐसे शब्द बोल रहे हैं जिनमें कोई सार नहीं है उनके वे वचन ऐसे ही होते हैं जैसे धान के छिलके कूटने पर धान की इच्छा करना। जैसे बालू को पेलने में तेल की इच्छा करना, जैसे अण्डउआ को पेलने से इक्षु रस की बांछा करना अथवा पपीते के बीज में काली मिर्च की कल्पना करना, जैसे ये सब असंभव है वैसे ही व्यर्थ का बकवास व्यक्तित्व को बढ़ाता नहीं गिराता है। जो व्यक्ति ज्यादा बोलते हैं उन्हें लगता है मेरी छाप छूट रही है पर शब्द तो वातावरण में उड़ जाते हैं छाप छूटती है व्यक्तित्व की। जो व्यक्ति मौन रहते हैं, कम बोलते हैं, सारभूत बोलते हैं, सार्थक बोलते हैं, हित-मित-प्रिय बोलते हैं उनके शब्दों को सुनने के लिए दुनिया लालायित

रहती है, जो ज्यादा बोलते हैं उनकी बातों को कोई सुनना भी नहीं चाहता, लोग उठकर चले जाते हैं या आगे पीछे हो लेते हैं और फिर भी वह नहीं माने तो कुछ लोग मिलकर उसकी जीभ पकड़ लेते हैं और तब भी न माने तो जीभ को काटकर फेंक देते हैं। तो व्यर्थ का बकवास उचित नहीं है, व्यर्थ बकवाद करने से व्यक्ति का मन दूषित हो जाता है, पापों से सन जाता है। हित-मित-प्रिय वचन बोलो, ऐसे वचन बोलो जिससे आपके चित्त में भी आनंद हो और सामने वाले का भ्रम-संशय आदि दूर हो जाए, उसे भी आनंद की अनुभूति हो। वह तुम्हारे वचनों को सुनने के लिए प्यासे चातक पक्षी की तरह आतुर रहे, ऐसा नहीं कि तुम्हारे वचन बोलने पर तुम्हारी जीभ काटने को तैयार हो जाए या अपने कानों में रुई लगानी पड़े, ऐसे वचन मत बोलो। तो यह वाचालता निःसंदेह दुर्गति की कारण होती है। यह भी अनर्थों की जड़ है, इससे भी बचना चाहिए।

ज्यादा मत बोलो, ज्यादा बोलने से energy खर्च होती है, ज्यादा बोलोगे तो ज्यादा भोजन करोगे, ज्यादा भोजन करोगे तो नींद ज्यादा आएगी, नींद ज्यादा आएगी तो धर्म कार्य के लिए समय ज्यादा नहीं मिल पाएगा, धर्म कार्य के लिए समय नहीं मिलेगा तो पाप में संलग्न रहोगे। नींद भी पाप है, प्रमाद भी पाप है। फिर कषाय आदि से आपका मन संतुष्ट होगा, धर्म में आपका मन नहीं लगेगा वह भी पाप है, फिर आपका मन रौद्रध्यान में लगेगा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह संचय आदि में लगेगा वह भी पाप है, तो ज्यादा बोलने से कितनी हानि है और कम बोलने से लाभ है **'मौनं सर्वार्थ साधनं'** मौन तो सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला होता है। मौन भी बहुत बड़ी साधना है, मौन साधने वाला श्रुतकेवली और केवली बन जाता है, मौन धारण करने वाले को वचन सिद्धी होती है, मौन रखने वाला व्यक्ति परम्परा से मोक्षगामी होता है, मौन धारण करने वाले व्यक्ति की वाणी प्रभावक हो जाती है। व्यर्थ का बोलना बकवाद करना ठीक नहीं है।

आपके पास यदि एक करोड़ व्यक्ति हैं जो आपके एक वाक्य को सुनना चाहते हैं तो आपके एक वाक्य ने एक करोड़ व्यक्तियों का धर्मध्यान बना दिया और आपके पास 1 करोड़ व्यक्ति तो थे पर आपने अशुभ बात बोल दी उनका आर्त्त-रौद्र ध्यान बन गया। आपके वचन सारभूत हों, सार्थक हों, निरर्थक नहीं। यह मौखर्य भी अनर्थदण्ड व्रत का एक अतिचार है।

अगला कहा **''अतिप्रसाधनं''** सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री का प्रचुरता से संग्रह करना। आवश्यकता नहीं है फिर भी इकट्ठा करते जा रहे हैं। पुरुष हो या नारी यदि उसमें लीन है तो फिर वह यह नहीं सोचेगा कि ये वस्तुएँ कैसे आयी, वह उन्हें छोड़ नहीं पाएगा। जो वस्तु

चाहिए वह चाहिए ही, उसे कितना भी समझाओ कि इन प्रसाधनों में बहुत जीव हिंसा होती है, जीवघात होता है, रेशम के कीड़े से बनी रेशम की साड़ी, चाहिए तो चाहिए, समझाने वाला कहता है कि इतने पैसे का सदुपयोग आप कहीं और कर लो, ये नहीं खरीदो, इसमें पाप लगेगा किन्तु वह नहीं मानेगा। तो कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो पाप में आसक्त हो जाते हैं, स्वयं पर नियंत्रण नहीं कर पाते हैं, वे निःसंदेह बहुत बड़े-बड़े पाप कर जाते हैं।

संग्रह की प्रवृत्ति में पुरुष अधिकांश धन का संग्रह करते हैं, शक्ति-पराक्रम-सेना का संग्रह करते हैं, मित्रों का संग्रह करते हैं और नारी वस्त्रों का संग्रह करना ज्यादा पसंद करती हैं। महिलाओं को इसका ज्यादा शौक रहता है। उनके पास चार चीजें हैं किंतु फिर भी पाँचवी की आस लगी रहेगी। हो सकता है पुरुष अपने जीवन को 4-5 जोड़ी वस्त्रों से गुजार ले। आप किसी भी पुरुष को देख लेना, हम 99 व्यक्ति की बात कह रहे हैं, उनके पास जितने वस्त्र-आभूषण हैं उसकी पत्नी के पास उससे ज्यादा साधन सामग्री होगी। पुरुष के पास अगर दो जोड़ी होंगे तो पत्नी के पास 5 जोड़ी होंगे। भले ही कितना ही गरीब से गरीब व्यक्ति क्यों न हो। महिलाओं के पास आभूषणों का set अलग, वस्त्रों का अलग और खाने-पीने की सामग्री अलग। पुरुष का तो ये है कि जो जेब में रखा है लिया, खरीदा, खाया और फ्री, कोई परिग्रह नहीं और स्त्री स्वयं का पेट भरे या न भरे भूखी रह जाएगी पर साधन सारे रखेगी। पति आ रहे होंगे, बेटे के लिए रख देगी, कल-परसों काम आ जाएगी सोचकर बचा लेगी। उसे लोभ रहता है। और सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री का तो उन्हें इतना शौक रहता है कि एक रखी है और ज्यों ही दूसरा Add देखा खरीद ली और उससे मन भरा तो तीसरी खरीद ली। वस्त्र भी फैशन के अनुरूप ही चाहिए।

एक व्यक्ति दौड़कर जा रहा था उसके हाथ में एक ड्रेस थी। किसी ने उससे पूछा-बेटा दौड़कर क्यों जा रहे हो? वह बोला अभी मत पूछो बाद में बताऊँगा, अरे! बताओ तो सही, और पूछता हुआ उसके पीछे उसके घर तक आया। उसने वस्त्र अपनी पत्नी को दिया और बोला अब पूछो क्या पूछ रहे थे? यही पूछ रहा था कि आप दौड़कर क्यों आ रहे थे। वह बोला यह मेरी पत्नी की ड्रेस है, तो क्या हुआ, ये बात तो तुम उसी समय बता देते। अरे! कहीं तुम्हें बताने के चक्कर में देरी हो जाती, तब तक फैशन Change हो जाता तो मुझे पत्नी को संतुष्ट करने के लिए दूसरी ड्रेस लानी पड़ती। महानुभाव! इतनी जल्दी फैशन बदल रहा है और फैशन बदल पाए न बदल पाए, उससे पहले पत्नी का मन बदल जाता है। वह जिस ड्रेस को खरीदकर लाया उसके लिए इतनी मेहनत से पैसा कमाया और चार दिन भी नहीं हुए, कहती है अब मुझे यह पसंद नहीं आ रही दूसरी लाओ।

महानुभव! ये साधन सामग्री भी अनर्थदण्डविरति व्रत का अतिचार है। यहाँ साधन सामग्री से आशय मात्र सौन्दर्य प्रसाधन से नहीं है। वरन अन्य वस्तुओं का लोभ भी हो सकता है। पुरुषों को अन्य वस्तुओं का लोभ तो कम होता है किन्तु धन का लोभ होता है, धन संदूक के संदूक रखे हैं, जमीन में गढ़ा रखा है, गोदाम में माल भरा पड़ा है वर्षों से, मालूम ही नहीं सड़ रहा है, गल रहा है। यहाँ कह रहे हैं ये सभी अतिचार हैं। यदि आपने अनर्थदण्ड से विरक्ति ग्रहण की है तो आप इन पाँच प्रकार के दोषों से भी बचो। ये दोष तुम्हारे व्रतों को निर्दोष नहीं रहने देंगे, आपके व्रतों को शनैः शनैः खण्डित कर देंगे।

अगला है **'असमीक्ष्यचाधिकरणं'** बिना देखे-बिना सोच विचार किए किसी भी चेतन-अचेतन वस्तु पर अधिकार करना, उसे लेकर बेच देना आदि। ये सब प्रमाद है और प्रमाद है तो निःसंदेह पाप है। सोच समझकर कि यह वस्तु मेरे लिए उपयोगी है, अनुपयोगी है या दुरुपयोगी, यह सहयोगी है या मेरे पतन का कारण है, इस प्रकार विचार कर वस्तु को स्वीकार करें। अनावश्यक है तो दूर से ही हाथ जोड़कर उसका त्याग करें। ऐसा व्यक्ति अनर्थदण्डविरति व्रत का निर्दोष पालन करने में समर्थ हो सकता है। यदि उसने इस प्रकार का स्वयं पर संयम-नियंत्रण नहीं रखा तो संभव है अनर्थदण्डव्रत से सहित व्यक्ति भी अपने अतिचारों के कारण अपने व्रत से च्युत हो सकता है। महानुभाव! आचार्य भगवन् यही कह रहे हैं कि सद्गृहस्थ को इन पाँच अतिचारों से भी बचना चाहिए, तभी आत्मकल्याण संभव है।

कन्दर्प अर्थात् व्यर्थ का बकवास, सारहीन-तत्त्वहीन-निंदनीय, मर्यादा के प्रतिकूल, सदाचार के प्रतिकूल इस प्रकार के शब्दों को बोलना ये कन्दर्पी भावना हुई। कन्दर्पी भावना भाने वाला साधु भी क्यों न हो वह भी समाधि को प्राप्त नहीं करता, कन्दर्प जाति के देवों में जाता है। ऐसी कन्दर्पी, आसुरी, किल्विषी, सम्मोही, आभियोगी ये पाँचों ही भावनाएँ साधु की भी दुर्गति कर देती हैं। जहाँ एक भावना आ जाए वहाँ पाँचों के आने की संभावना रहती है। इसलिए यहाँ कहा 'कन्दर्प' अर्थात् रागनिर्मित वचन मत बोलो। 'कौत्कुच्य' शरीर के माध्यम से खोटी चेष्टा मत करो, कोई कुचेष्टा करता है तो उस क्रिया से भाव भी वही आता है और एक व्यक्ति कमरे में अकेला खड़े होकर हाथ जोड़कर नमस्कार करता है चाहे गुरु को, प्रभु को, जिनवाणी को, सज्जनों की प्रशंसा कर रहा है, जयकार कर रहा है तो ये शरीर की चेष्टा पुण्य को दे रही है। एक कुचेष्टा पाप को दे रही है।

मौखर्य अर्थात् व्यर्थ का बकवाद छोड़ मौन साधना करो।

मौन साधना करना प्यारे, मौन सदा सुखदायी है।
आत्मशांति का अनुभव होगा, सुख की यही दवाई है।

यदि आपको सुख चाहिए तो शांत रहो, मौन रहो। पुनः साधन सामग्री भी कम रखो। बिना देखे भाले साधनों को उठाना, रखना, प्रयोग करना, उन्हें खींचना, घसीटना, धक्का देना ये सब अनर्थदण्ड है। अर्थात् यह अतिचार है। बाद में ये अनाचार बन जाते हैं। इसीलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं इन सबसे बचना चाहिए। आप सभी इनसे बचें इन्हीं भावना के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

भोगोपभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥82॥

अन्वयार्थ–राग-रतीनां तनूकृतये – राग भाव के उद्रेक से होने वाली आसक्ति को घटाने के लिए, **अवधौ अपि** – परिमाण व्रत की मर्यादा में भी, **अर्थवताम्** – प्रयोजनभूत, **अक्षार्थानां परिसंख्यानं** – इंद्रिय के विषयों का परिमाण करना ही, **भोगोपभोगपरिमाणम्** – भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी इस 82 वीं कारिका में भोगोपभोगपरिमाण व्रत के संबंध में समझा रहे हैं। भोगोपभोग परिमाण व्रत क्या है, उसका पालन क्यों करना चाहिए, उस व्रत की विधि क्या है? देखते हैं उन्हीं के शब्दों में–

'रागरतीनां तनू कृतये' – राग भाव को, रतिभाव को, आसक्ति को कम करने के लिए व्यक्ति किसी भी पदार्थ का भोगोपभोग दो प्रकार से करता है। पहला अत्यासक्ति के साथ, दूसरा विरक्त भावों के साथ। अत्यासक्ति से करने वाला व्यक्ति तीव्र कर्म का आस्रव और बंध करता है, विरक्ति के साथ सेवन करने वाला कर्म के आस्रव और बंध से बहुत कुछ बच जाता है। उसके जीवन में अशुभ आस्रव और बंध अल्प मात्रा में होता है किन्तु अत्यासक्ति नि:संदेह तीव्र अनुभाग और तीव्र स्थिति का बंध कराने वाली होती है।

यहाँ पर बताया–**अक्षार्थानां**–अक्ष अर्थात् इंद्रियों के द्वारा भोगे जाने वाले पदार्थ। **'परिसंख्यान'** उन पदार्थों का परिमाण कर लेना, मर्यादा/सीमा बना लेना। स्पर्शन और रसना इंद्रिय के विषय को काम कहते हैं व शेष इंद्रिय के विषय को भोग कहते हैं। जिन पंचेन्द्रिय विषयों की परिग्रह-परिमाणव्रत में मर्यादा की उनमें भी आत्मीय राग भावों को कृश करने के लिए प्रयोजनीयभूत पंचेन्द्रिय विषयों का घटाना, उनकी अभिलाषाओं को कम करने के लिए परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। स्पर्शन इंद्रिय के आठ विषय हैं–हल्का, भारी, कड़ा, नरम, रूखा, चिकना, ठंडा, गरम। व्यक्ति कभी हल्की वस्तु का सेवन करना चाहता है कभी भारी का, कभी कड़ी वस्तु का तो कभी नरम वस्तु का, कभी ठंडी कभी गरम, कभी रुखी कभी चिकनी, मनचाहा सेवन करना चाहता है यह आठ प्रकार के स्पर्श गुण पुद्गल में संभव हैं।

प्राणी का राग ऐसे बदलता है जैसे मौसम। जैसे ही परिस्थितियाँ बदलती हैं, परिवेश बदलता है, उसका मन भी बदलता है, उसकी आसक्तियाँ बदलती रहती है। किन्तु वह आसक्ति को कम करे, वह वस्तुओं की मर्यादा कम रखेगा तो आसक्ति कम होगी। जैसे किसी व्यक्ति के पास सर्दी में पहनने वाले 100 जोड़ी वस्त्र हैं, गर्मी के अलग, बारिश के अलग हैं। उसने तीन प्रकार के मौसम में पहने जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा कर ली। पहले 100-100-100 तीनों अलग-अलग वस्त्र थे अब कुल 100 की मर्यादा है तो उन्हीं में काम करता चला जाएगा, इस प्रकार अन्य के प्रति उसकी आसक्ति भी कम होगी।

रसना इंद्रिय के माध्यम से स्वाद लेने वाले पदार्थ भी पाँच प्रकार के होते हैं—खट्टा, मीठा, चरपरा, कषायला, कड़वा। किसी व्यक्ति की रुचि खट्टे पदार्थ में है तो किसी की रुचि मीठे पदार्थ गुड़, शर्करा, दाक्षा आदि अन्य मीठे फलों के रस में है। किसी की आसक्ति मिर्ची में हो सकती है, किसी की नीम-चिरायता जैसी कड़वी वस्तुओं में हो सकती है तो किसी की कषायला आंवला आदि में हो सकती है। सबकी आसक्ति अगल-अलग हो सकती है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति गंध में आसक्त हो सकता है। सुगंध के भी अनेक भेद हैं, दुर्गंध के भी अनेक भेद हैं। जो दुर्गंध में पड़ा है उसे वही भाता है, वह शुद्ध स्वच्छ जगह नहीं जाना चाहता और जो सुगंध में पड़ा है वह उसी में आसक्त है। कोई चक्षुइंद्रिय के विषयों में आसक्त है। चक्षु इन्द्रिय वर्ण को ग्रहण करती है। गाड़ी का ऐसा रंग हो, भवन का ऐसा, वस्त्रों का अलग हो तो उसमें भी व्यक्ति की आसक्ति होती है। कर्ण इंद्रिय के विषय में भी आसक्ति होती है। सप्त स्वर होते हैं उन सात स्वरों में कोई किसी में आसक्त है कोई किसी में। तो इन इंद्रियों के विषयों में जो प्राणी आसक्त होता है वह अपनी आत्मा की सुध भूल जाता है, पदार्थ उसके लिए मुख्य हो जाते हैं आत्मा गौण हो जाती है।

इसीलिए कहा **'अक्षार्थानां परिसंख्यानं'** पंचेन्द्रिय के जो विषय हैं उनकी कुछ मर्यादा करो, परिमाण करो। जो एक बार भोगने में आए वह कहलाती है भोग सामग्री और जो बार-बार भोगी जा सके वह उपभोग सामग्री कहलाती है। **'भोगोपभोग-परिमाणं'** भोग और उपभोग का परिमाण करने के लिए इंद्रिय के द्वारा सेवन किए गए पदार्थों का परिमाण कर लेना चाहिए। यदि संख्या नहीं की जाती है तब नि:संदेह मानना चाहिए कि वह व्यक्ति अपने आप में संयमित नहीं है, वह उच्छृंखल है, स्वच्छंद है, वह अपनी इंद्रियों के अनुसार चल रहा है। उसने अपने रथ में लगे घोड़ों की लगाम अपने हाथ में नहीं वरन् घोड़ों के हाथ में दे दी है। जहाँ इंद्रिय रूपी घोड़े ले जा रहे हैं वहाँ जाता जा रहा है और स्वयं सारथी बनकर

घोड़ों के अनुसार चल रहा है। किसी ने पूछा-भैया कहा जा रहे? जहाँ ये घोड़े ले जाएं। तो जो सारथी घोड़ों के अनुसार चलता है वह सारथी पराधीन है, दु:खी है, जो सारथी घोड़ों को अपने अनुसार चलाता है वह सारथी स्वाधीन है, सुख के मार्ग पर चलने वाला है, संयमी है।

यहाँ पर कहा इंद्रियों पर नियंत्रण करने लिए उनके पदार्थों को उनसे कम करो। यदि इंद्रिय विषय पदार्थ यथेच्छ होंगे तो इंद्रियों को रोक नहीं सकते। जैसे घोड़ों के सामने यथेच्छ चारा रखा हो तो उसे रस्सी से बांध भी दोगे तब भी रस्सी तोड़कर वहाँ चला जाएगा। और चारा उसकी आँखों से हटा दो तो घोड़ों को नियंत्रित किया जा सकता है; ऐसे ही इंद्रियों के सामने से उनके विषयों को कम करते चले जाओ तो इंद्रियों पर नियंत्रण किया जा सकता है। यदि उनकी सामग्रियों को कम नहीं करोगे तो इंद्रियों को बांध पाना बड़ा कठिन है। वे मर्यादा का उल्लंघन करके भी प्रवृत्ति कर जाएँगी। किसी राजा को नियंत्रित करना है तो सीधे राजा पर आक्रमण मत करो, राजा के जो स्तंभ हैं उन्हें तोड़ना प्रारंभ करो। जब राजा की शक्ति टूट जाएगी, राजा कमजोर हो जाएगा तब उसे बंदी बनाया जा सकता है, पराजित किया जा सकता है। जब तक राजा के स्तंभ खड़े हैं, सेनापति, अंगरक्षक, महाअमात्यादि पूरा मंत्रिमण्डल साथ है तो राजा को जीतना बड़ा मुश्किल हो जाएगा।

जैसे साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से सर्वप्रथम शासक को कमजोर किया जाता है इसी तरह से इंद्रियों को जीतने के लिए केवल इंद्रियों को नियंत्रण करके नहीं बैठना है कि आँख, कान, नाक सब बंद कर लिए या शरीर को कसकर बैठ जाओ तब भी ये इंद्रियाँ बगावत करेंगी। किन्तु इंद्रियों के सामने जो विषय हैं उनकी मर्यादा ले लो। जैसे किसी ने अभक्ष्य वस्तु का त्याग कर दिया अब उसके सामने कोई भी अभक्ष्य वस्तु पड़ी हो उसका मन नहीं करेगा, कहेगा मैंने तो त्याग कर दिया है। किसी ने गंदे चित्रों को देखने का त्याग कर दिया। अब कोई कहे चलो मैं तुम्हें टी.वी. दिखाता हूँ, वह कहेगा मुझे नहीं देखना, मैं अपना नियम नहीं तोड सकता। जो व्यक्ति इंद्रियों के सामने से उसके विषयों को अलग करता चला जाता है, कम करता चला जाता है तो उसकी इंद्रियाँ बगावत नहीं कर पाती, उसका राग भी कम होता चला जाता है।

'रागरतीनां तनूकृतये' राग को कम करने के लिए, रति-आसक्ति भाव को कम करने के लिए यह परिमाण करना जरूरी है। अनर्थदण्डव्रत में देखा कि निष्प्रयोजन कार्य नहीं करना किन्तु प्रयोजनभूत जो कार्य करना हो उनमें भी मर्यादा कर लेना कि इतने ही पदार्थों का सेवन करूँगा, इससे ज्यादा नहीं। जैसे भोजन करना है, करो, पर मर्यादा से। एक बार, दो बार या

तीन बार-करूँगा, जल पीना है उसके समय की भी मर्यादा कर लो जिससे असीम का जो दोष लग रहा है, निस्सीम सेवन का जो दोष लग रहा था वह बच गया। किसी व्यक्ति ने भवनों की वस्त्राभूषणों आदि की मर्यादा ले ली, इतने का ही प्रयोग करूँगा, इससे ज्यादा का नहीं, उस मर्यादा के अंदर रहने से जो मर्यादा के बाहर के भोगोपभोग के पदार्थ हैं उन पदार्थों से विरक्ति होने से, उन पदार्थों का मोह छूटने से, उनका सेवन करने का भाव न आने से तत्संबंधी आस्रव-बंध से वह बच जाता है। इसलिए भोगोपभोगपरिमाण व्रत भी ऐसा साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने आप अपने पास तक पहुँच सकता है।

बाहर भटकने वाले व्यक्ति के लिए अंदर आना बड़ा मुश्किल है। जैसे कोई व्यक्ति भवन के बाहर चक्कर लगा रहा हो। अब चक्कर लगाता-लगाता कितनी दूर पहुँच जाए कुछ नहीं कह सकते। यदि दूर निकल जाएगा तो लौटकर महल में कैसे आ पाएगा। यदि उसने मर्यादा ले ली कि मैं इस भवन से किसी भी दिशा में 1 किमी. से ज्यादा दूरी पर नहीं जाऊँगा, वह 1 किमी. चक्कर लगाते हुए क्रमशः भवन में प्रवेश भी पा सकता है किंतु जिसने मर्यादा नहीं ली वह एक दिशा में 100 किमी. वा उससे ज्यादा भी जा सकता है। वहाँ से कहीं अलग दिशा में मुड़ गया तो महल में कभी आ ही नहीं पाएगा, ऐसे ही मर्यादा कर ली उसी सर्कल में घूमता रहेगा तो कभी ना कभी अपने लक्ष्य तक आ जाएगा। आत्मा के समीप विचरण करने वाला व्यक्ति आत्मा में निवास कर सकता है, परपदार्थों में लीन रहने वाला, परपदार्थों में गहरा डूबा व्यक्ति मुश्किल से उबर पाएगा।

महानुभाव! भोग और उपभोग सामग्री दलदल की तरह से है। भोगोपभोग सामग्री का इंद्रियों के द्वारा सेवन करने से वह आत्मा भी पर वस्तुओं में फँस जाती है इसीलिए ज्यादा पदार्थों का संग्रह मत करो। ये इंद्रियों के पदार्थ शत्रुओं की तरह से हैं। एक बार आपने इनको आमंत्रित किया, एक बार के आमंत्रण में इनकी पूरी की पूरी सेना आ जाएगी तो फिर इनसे मुक्त होना बड़ा मुश्किल है। शत्रु सेना बहुत बड़ी हो तो विजय प्राप्त कर पाना बड़ा कठिन होता है। शत्रु सेना लघु हो तो उसे पराजित किया जा सकता है। ऐसे ही पंचेन्द्रिय पदार्थों का आडम्बर मत जोड़ो, संग्रह ज्यादा मत करो, जितनी आवश्यकता हो उतना ग्रहण करो जिससे अनावश्यक के प्रति आसक्ति नहीं जाएगी। यहाँ पर आचार्य महोदय ने कहा-प्रयोजनभूत भोजन, वस्त्र, आभूषण और भी वस्तुएँ जो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक हों उतनी ही वस्तुएँ ग्रहण करो, ज्यादा नहीं, अर्थात् इससे आपको विरक्ति जल्दी हो जाएगी। किन्तु ढेर लगाने से उसे छोड़ न पाओगे। जैसे कोई व्यक्ति गलत रास्ते पर चल रहा हो और 2-4 कदम ही चला

हो, उससे कह दो भैया मुड़ जाओ, रास्ता गलत है तो वह पीछे लौट आएगा किन्तु यदि ज्यादा आगे निकल जाता है तो उसका लौटना मुश्किल हो जाता है।

इसीलिए कहा जो प्रयोजनभूत पदार्थ हैं उनकी भी अवधि कर लेनी चाहिए; जिससे अनावश्यक पाप से बचा जा सके। भोगोपभोगपरिमाण विधि और निषेध के भेद से दो प्रकार का है। इन पदार्थों का ही सेवन करूँगा, इतने दिन तक सेवन करूँगा, दिन में इतनी बार सेवन करूँगा यह विधिरूप है। जैसे राग से होने वाली विषयों की आसक्ति को घटाने के लिए परिग्रहपरिमाण के भीतर प्रतिदिन भोग में आने वाले इन्द्रियविषयों का नियमित समय के लिए वा जीवन पर्यंत इतने विषयों का सेवन करूँगा इत्यादि विधिरूप परिणाम हैं तथा इससे अधिक वस्तुओं का नियमित समय के लिए वा जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करता हूँ अर्थात् इनसे अधिक विषयों का सेवन नहीं करूँगा यह निषेध रूप है। क्योंकि विधि और निषेध दोनों एक साथ रहते हैं। इस प्रकार जो भोगोपभोग पदार्थों का नियम (प्रतिज्ञा) लिया जाता है उसको भोगोपभोगपरिमाण अणुव्रत कहते हैं। आज के लिए इतना ही....

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

भोग और उपभोग में अंतर

भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसन-प्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः॥83॥

अन्वयार्थ–जो **अशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः** – भोजन और वस्त्र आदि को लेकर पंचेन्द्रियों के विषय, **भुक्त्वापरिहातव्यो** – भोग करके छोड़ने योग्य हो अथवा पुनः भोगने में नहीं आवे, **'स' तु भोग** – वह तो भोग है, **च** – और, **भुक्त्वा पुनः भोक्तव्यः** – भोग करके पुनः भोगने योग्य हो, **स** – वह, **उपभोगः** – उपभोग होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक लघुकाय ग्रंथ में निस्सीम धर्म का अमृत परिपूरित है। एक भी अमृतबिन्दु भव्य प्राणी के अन्तरंग में पहुँच जाती है तो उस बिन्दु से उसका अनादिकाल से विद्यमान ताप दूर होने लगता है। इस ग्रंथ रूपी पिटारे का एक कारिका रूपी रत्न जिस भव्यजीव के हृदयंगत हुआ है उसका अनादिकालीन मिथ्यात्व व अज्ञान का अंधकार भी तिरोहित हुआ है। पूर्व कारिका में भोग-उपभोग परिमाण के संबंध में कहा, उनका परिमाण क्यों करें? यदि न करें तो क्या बाधा है? भोग और उपभोग क्या कहलाता है? उस संबंध में स्वयं आचार्य महोदय इस 83वें श्लोक के माध्यम से बता रहे हैं।

जो एक बार भोग लिया, जिसे दुबारा न भोगा जा सके वह भोग कहलाता है। भोग करके पुनः-पुनः भोगने के योग्य जो होता है वह उपभोग कहलाता है। यहाँ आचार्य महोदय स्वयं उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। 'अशन-भोगो वसन-उपभोगो' भोजन सामग्री भोग कहलाती है एवं वस्त्र-आभूषण आदि उपभोग सामग्री होती है। एक बार जिस खाद्य, स्वाद्य, लेय, पेय भोजन का आहरण कर लिया इसे अब दुबारा नहीं भोगा जा सकता, एक बार जल पी लिया वह अंदर चला गया उसे अब दोबारा कैसे पीओगे, एक बार शरीर पर तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाया उसका दुबारा सेवन नहीं कर सकते, तो वे वस्तुएँ भोग कहलाती हैं।

स्पर्शन इंद्रिय संबंधी भोगवस्तुएँ हैं–तेल, क्रीम, पाउडर, चिकनाई आदि। रसना इंद्रिय संबंधी वस्तुएँ हैं–भोज्य पदार्थ, घ्राणइंद्रिय संबंधी पदार्थ इत्र आदि हैं, चक्षु इंद्रिय संबंधी हैं–कज्जल, सुरमा इत्यादि और कर्ण संबंधी विषय हैं–शब्द, जिसे एक बार सुन लिया उन शब्दों को record करके तो सुन सकते हो किन्तु वही समय, वही स्थान, वही द्रव्य, वही भाव, वही पर्याय एक साथ नहीं मिल सकती इसीलिए वे शब्द जिन्होंने परिणामों को शुद्ध या अशुद्ध बनाया था वह भाव, समय पुनः नहीं आ सकता।

इन्हीं पंचेन्द्रिय के विषयों को उपभोग के रूप में देखें तो वस्त्र-आभूषण, भवन-वाहन या अन्य साधन सामग्री। जैसे-दर्पण, जिसमे कल भी चेहरा देखा, आज भी देख रहे हैं या कंघी आदि जिसका उपयोग कल भी किया, आज भी कर रहे हैं तो ये उपभोग की सामग्री है, जिसका बार-बार प्रयोग किया जा सके। आचार्य महोदय यही कह रहे हैं 'भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो 'भोगकर के जिसे छोड़ दिया जाता है अर्थात् जिसे पुनः भोगा नहीं जा सके वह भोग कहलाता है। 'भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः' भोगकर के पुनः-पुनः जो भोगने के योग्य रहता है वह उपभोग कहलाता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं, यह जितने भी पंचेन्द्रिय के विषय पदार्थ दिख रहे हैं वे दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं, एक भोग वस्तु, दूसरी उपभोग वस्तु।

आचार्य महोदय ने जब भोगपभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप श्लोक नंबर 82 में समझाया तब उन्होंने कहा मर्यादा करो। वस्त्र, भोजन, वाहन, भवन, भूषण आदि की मर्यादा कर लो। व्यक्ति फिर भोग-उपभोग की मर्यादा करता क्यों नहीं? आप जानते हैं एक महिला एक बार में एक ही साड़ी पहनेगी, दूसरी पहन नहीं पाएगी, भले ही साड़ियाँ 100-150 या इससे अधिक रखी हों। क्यों? और फिर भी उसकी आकांक्षा पूर्ण नहीं हुई, अभिलाषा यही लगी रहती है कि और भी आए। संसारी प्राणी इन पंचेन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों का संग्रह करता चला जाता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कहीं ऐसा न हो कि संग्रह करते-करते प्राण चले जाएँ, आप इनका भोग-उपभोग कर ही न पाओ, इसलिए वर्तमानकाल में जितना आवश्यक है उतना भोगोपभोग कर लो। वह व्यक्ति मूर्ख होता है जो वर्तमान में परोसी थाली को छोड़कर के सोचता है पहले एक साल की व्यवस्था कर लूँ तब भोजन करूँगा।

महानुभाव! व्यक्ति के जीवन में अनादिकालीन अव्रत के संस्कार पड़े हुए हैं, अनादिकालीन मिथ्यात्व के, अज्ञान के, कषाय के, उद्वेग के, पंचेन्द्रिय विषयों में रमण करने के, पापमय प्रवृत्ति करने के संस्कार हैं। व्यक्ति ने आज तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पालन नहीं किया न व्यवहार में न निश्चय में, पालन किया होता तो वह पुनः-पुनः निगोद में नहीं जाता। एक बार निश्चय रत्नत्रय का पालन कर लिया होता, निश्चयरत्नत्रय की पूर्णता कर ली होती तो संसार सागर में नहीं भटकता। एक बार मिथ्यात्व का समग्र नाश कर दिया होता तो संसार में नहीं भटकता। मिथ्यात्व को दबा दिया होगा, मिथ्यात्व दबा करके जीव संसार में अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक परिभ्रमण कर सकता है किन्तु मिथ्यात्व का समूचा नाश करके वह चार भव से ज्यादा नहीं ले सकता। अनंतानुबंधी कषाय को दबाया होगा, विसंयोजना की होगी किन्तु उसने अनंतानुबंधी कषाय का समूल क्षय नहीं किया होगा। एक बार क्षय कर दिया होता तो उसी भव से या तृतीय भव से अन्यथा चौथे भव से तो नियम से मोक्ष जाता ही जाता।

कोई सम्राट जिसकी सेना युद्ध के समय उसकी आँखों के सामने वीरगति को प्राप्त हो गई, सम्राट भी मूर्छित हो गया। कुछ सैनिक बचे जो मूर्च्छित राजा को उठाकर लाए और उन्होंने एक स्थान पर राजा को छोड़ दिया, वे उपचार के लिए औषधि आदि की व्यवस्था के लिए गए, वे लौटकर भी नहीं आ पाए तब तक राजा को होश आ गया। राजा ने देखा मैं कहा हूँ, ये तो जंगल है। उसने इधर-उधर देखा, कहीं कुछ दिखाई नहीं दिया क्योंकि राजा की सेना के सैनिक वीरगति को प्राप्त हो चुके थे। जो जीवित बचे थे वे इधर-उधर बिखर गए। उस समय राजा के पास कोई नहीं। राजा आवेश में दौड़ता है, दौड़ता चला जाता है किन्तु इसे कुछ भी हाथ नहीं आता। राजा सूर्य अस्त के समय नदी किनारे पहुँचा, सोचता है मैं क्या करूँ, यहाँ पर तो मेरा कोई ठिकाना ही नहीं, अब कहाँ जाऊँ, कोई साथ नहीं; क्योंकि कर्म का उदय ऐसा विचित्र होता है जो रंक को राजा बना सकता है और राजा को रंक बना सकता है, विद्वान् को मूर्ख और मूर्ख को विद्वान् बना सकता है, यह रूपवान् को कुरूप और कुरूप को रूपवान् बना सकता है, निंद्य को प्रशंसनीय वंदनीय बना सकता है, वंदनीय-प्रशंसनीय को निंदनीय बना सकता है। यह हारे हुए को विजेता बना सकता है, विजेता को हारा हुआ बना सकता है। कर्म का अचिंन्त्य प्रभाव है।

राजा सोच रहा था रात्रि बिताने के लिए ही स्थान मिल जाए। उसके पास न रथ है, न घोड़ा है, न बग्गी है, शरीर पर जो धारण किए वस्त्र हैं बस वही हैं, राजा घायल भी है, उसके साथी उपचार के लिए औषधि लेने गए थे किन्तु राजा गिरते-पड़ते नदी किनारे तक पहुँच गया। नदी में नाव खेने वाले नाविक को देखकर राजा ने उससे कहा—मुझे रात्रि विश्राम के लिए स्थान चाहिए। उसने कहा मैं स्थान नहीं दे सकता। उस नदी किनारे पर एक मछुआरे की बस्ती है वहाँ आप स्थान ढूँढ़ लें।

राजा उस बस्ती में गया तो उसने एक कन्या को देखा जो मछुआरे की पुत्री थी। उस कन्या ने भी राजा को देखा तो उसके मन में करुणा का भाव आया, मुझे इसकी रक्षा करनी चाहिए। उसने उनसे निवेदन किया-महानुभाव! आप जो भी अज्ञात अतिथि हैं, आपके ठहरने का स्थान यदि कहीं निश्चित न हो तो आप मेरा आमंत्रण स्वीकार करें, मेरे यहाँ चलें। राजा उसकी बात का उत्तर दिए बिना उसके पीछे-पीछे चल दिया। उसने अपनी झोंपड़ी में एक रस्सी की बुनी लकड़ी की बहुत पुरानी खाट डाल दी, जो उस मछुआरिन के लिए सोफा सेट से बढ़कर थी, जैसे राजा का सिंहासन ही हो। राजा ने उस पर विश्राम किया, भोजन-पानी ग्रहण किया। कन्या ने राजा का उपचार किया। इधर राजा के सैनिकों ने राजा को खोजने का बहुत प्रयास किया, किन्तु राजा नहीं मिला तो यह सोचकर कि अब वे नहीं बचे, शायद किसी जंगली जानवर ने भक्षण कर लिया हो, लौटकर नगर चले गए।

उस मछुआरिन कन्या की सेवा से राजा संतुष्ट हुआ और उस कन्या के प्रति राग उमड़ने लगा, राग इतना जाग्रत हुआ कि वह स्वयं को रोक नहीं पाया। राजा ने स्वयं ही निवेदन कर दिया कि चाहो तो आप मेरे जीवन साथी बन सकते हो, आपकी सेवा से मेरे शरीर को सुख मिला है। राजा उसके पिता के पास गया और कन्या को माँगा। उसके पिता ने कहा–कहाँ आप राजा कहाँ मेरी बेटी मछुआरिन। राजा ने कहा नहीं मैं आपको वचन देता हूँ कि इससे विवाह करके अपनी पटरानी बनाऊँगा। दोनों का विवाह हो गया। राजा गंधर्व विवाह करके उस मछुआरिन कन्या को अपने महलों में लेकर आया, किन्तु महलों में आते ही सब राजरानी का ठाट-बाट होते हुए भी मछुआरिन रानी का मन नहीं लग रहा था। उसे किसी भी चीज में, भोजन आदि में भी रुचि नहीं हो रही थी। सिरदर्द व पूरा शरीर दर्द से जकड़ रहा था, वह बहुत अस्वस्थ हो गई। बहुत सारे राजवैद्य बुलाए, उपचार कराया किन्तु उससे लाभ नहीं हुआ। पुनः सलाह दी गई कि इसे इसके मायके भेज दो, हो सकता है वहाँ पहुँचकर स्वास्थ्य ठीक हो जाए। उसे वहाँ भेज दिया गया और संयोगवशात् वहाँ पहुँचकर स्वास्थ्य ठीक हो गया। कुछ दिनों पश्चात् महलों में बुलाया गया तो महल में आते ही पुनः स्वास्थ्य खराब हो गया।

राजा ने वैद्य से पूछा–क्या कारण है जो ये वहाँ स्वस्थ हो जाती है यहाँ अस्वस्थ। राजवैद्य ने कहा- ये अभी तक मछलियों की दुर्गंध में रही, वहाँ उसे नींद आ जाती है। आपके महलों के सुगंधित पदार्थ सहन नहीं कर पाती, राजभोग सहन नहीं कर सकती इसलिए इसके सिर में दर्द हो जाता है, ये अस्वस्थ रहती है। महानुभाव! वह मछुआरिन पूर्व संस्कार के कारण राजमहल की सुगंध आदि को सहन नहीं कर पाई, ऐसे ही अनादिकाल से इस संसारी जीव में मिथ्यात्व के, अज्ञान के संस्कार पड़े हुए हैं मोह के संस्कार पड़े हुए हैं, इसलिए वह व्रती नहीं बन पाता, इसीलिए भोग और उपभोग की सीमा नहीं कर पाता। उसके संस्कार जाग जाते हैं कि मेरा पुनः नियम टूट गया तो, ऐसा-वैसा हो गया तो, इसलिए दीर्घसंसारी जीव व्रतों-महाव्रतों को स्वीकार नहीं कर पाता है। ये भोगोपभोगपरिमाण निःसंदेह स्वर्ग सुखों को देने वाला है, परम्परा से मोक्ष को देने वाला है, तीर्थकर चक्रवर्ती की विभूति देने वाला है, इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार इस व्रत का पालन करना चाहिए। यदि सीमा नहीं बनाओगे तो असीम का दोष लगेगा, सीमा बनाते ही आपके पाप का आस्रव अल्प रह जाएगा। अतः आप सभी इस व्रत को स्वीकार करो, आत्मकल्याण के मार्ग पर गतिशील होओ, इन्हीं मंगल भावना के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अणुव्रतियों के त्यागने योग्य वस्तुएँ

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरण-मुपयातैः॥84॥

अन्वयार्थ–जिनचरणौ शरणं उपयातैः – जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की शरण में रहने वाले जीवों को, **त्रसहतिपरिहरणार्थं** – त्रस जीवों की हिंसा निवारण करने के लिए, **क्षौद्रं पिशितं** – मधु और माँस, **च** – तथा, **प्रमादपरिहृतये** – प्रमाद दूर करने के लिए, **मद्यं** – मदिरा, **वर्जनीयं** – त्याग देना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! इस श्लोक में आचार्य महोदय अभक्ष्य के संबंध में बता रहे हैं। एक सद्गृहस्थ धर्मात्मा श्रावक जो आत्महितैषी है, जो जिनेन्द्र भगवान् की निर्ग्रंथ गुरुओं की, जिनधर्म की, जिनशास्त्र की शरण प्राप्त करना चाहता है उसे मद्य-माँस-मधु का त्याग कर देना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान् की चरण की शरण में जो आया है, चरण को प्राप्त करने वाले उस सुधी भक्त, श्रावक, श्राविका को अभक्ष्य पदार्थों को छोड़ देना चाहिए। यदि वह इन पदार्थों को नहीं छोड़ेगा तो भगवान् की शरण में टिक नहीं पाएगा। जिनेन्द्र भगवान् की शरण में आने वाला व्यक्ति सुदीर्घकाल तक जिनचरणों की भक्ति का फल प्राप्त करना चाहता है तब निःसंदेह उसे अभक्ष्य पदार्थ छोड़ देने चाहिए अन्यथा भगवान् की शरण के द्वारा छोड़ दिया जाएगा अथवा स्वयं छूट जाएगा। जो व्यक्ति नाव में बैठकर के नदी पार करना चाहता है वह व्यक्ति नाव में छेद हो जाने पर नाव को छोड़ दे और किनारे पर आ जाए, यदि वह किनारे पर आकर भी नाव न छोड़े, किनारे पर भी न उतरना चाहे तो नाव में पानी भर जाने से वह नाव उस व्यक्ति का परित्याग कर देगी। जिनेन्द्र भगवान् की शरण को प्राप्त हुआ व्यक्ति यदि संसार में पतित करने वाले मद्य-माँस-मधु का त्याग नहीं करता है तब निःसंदेह जिनेन्द्र प्रभु की शरण के द्वारा छोड़ दिया जाता है अर्थात् उसकी पकड़ वहाँ से कमजोर होती चली जाती है और वह छूट जाता है।

आचार्य महोदय मद्य, माँस व मधु इन तीन वस्तुओं का त्याग कराना चाहते हैं किन्तु क्यों? ऐसा क्या कारण है जो भगवान् की शरण में आने वाले व्यक्ति के लिए इन वस्तुओं का त्याग करना अनिवार्य कह दिया? अरे! लोग तो कहते हैं संसार में जितने पदार्थ हैं उन्हें खाओ-पिओ, मस्ती करो, सब खाने के लिए बनाए हैं। किंतु ऐसा नहीं है, खाने योग्य पदार्थ

खाने के लिए बनाए, पीने योग्य पदार्थ पीने के लिए बनाए। जो वस्तु जिस कार्य के लिए है, जिसकी जो अर्थ क्रिया है उसके विपरीत जाने से व्यक्ति नि:संदेह स्वभाव से च्युत हो जाएगा। दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य ये जीव के स्वभाव हैं, वह इन्हें प्राप्त कर सकता है, किंतु कब? जब वह प्रकृति के विरुद्ध न चले। प्रकृति के विरुद्ध चलेगा तो नि:सन्देह स्वभाव को प्राप्त न कर पाएगा, विभाव में पतित हो जाएगा, अनंत संसार का भाजक हो जाएगा।

मद्य-मांस-मधु इन तीन वस्तुओं का त्याग करना क्यों आवश्यक है? क्योंकि इन तीन पदार्थों की अर्थक्रिया मनुष्य के भक्षण के लिए नहीं है। मनुष्य विवेकी है, जो उसके खाने के योग्य है उसे ही खाना चाहिए। अविवेकी पुरुष अखाद्य को भी खाते हैं तो वे उसके दुष्परिणामों को भी भोगते हैं। यथा जहर मनुष्य के खाने के योग्य नहीं है फिर भी कोई व्यक्ति हठवादिता से जहर का भक्षण करे तो जहर भक्षण से वह मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा और जब तक मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ है तब तक जहर शरीर में फैलेगा, उस रक्त को विषाक्त कर देगा, धातु-उपधातु को विषाक्त कर देगा, हो सकता है उदर में पहुँचकर वहाँ छोटी आंत, बड़ी आंत को damage कर देगा, लिवर को खराब कर दे तो व्यक्ति तब तक छटपटाएगा और अंत में मृत्यु की गोद में सो जाएगा। जहर खाने के योग्य नहीं है, विष से युक्त गंध वाले पदार्थ सूंघने के योग्य नहीं हैं, विष मिश्रित कोई सुंदर फल है तो भी वह खाने के योग्य नहीं है, विषयुक्त किसी पेड़ के पत्ते आदि खाने के योग्य नहीं हैं, यदि विषयुक्त वायु है तब वह भी श्वांस लेने के योग्य नहीं है।

आप लोग विषाक्त वायु का ग्रहण नहीं करते हैं, ऑक्सीजन शुद्ध होती है तो ग्रहण करते हैं। विषाक्त वायु तो घातक होती है, रोगवर्धक होती है, वह मृत्यु का कारण भी बन सकती है। विषाक्त जल भी नहीं पीते। जल शुद्ध हो, स्वच्छ हो, अमृतोपमा हो, वह शरीर के लिए अनुकूल हो, श्वांस का प्रतिरोधी नहीं सहयोगी हो और वह आयु कर्म का अवसान करने वाला नहीं आयु कर्म का सहयोग करने वाला हो, ऐसा जल या पेय ग्रहण करना चाहिए। अपेय को कोई नहीं पीता। लोकव्यवहार में कोई व्यक्ति कहे जो मन में आए सो खाओ-पीओ, तो ऐसा नहीं है। यदि विष फल सामने रख दिया जाए तो व्यक्ति खाएगा नहीं, कह देगा विष फल है या कहीं अग्नि आदि जल रही है तो उस पर अपने पैर नहीं रखेगा, अग्निकुंड में नहीं कूदेगा या जो भूमि उसके लिए हानिकारक है, मृत्युकारक है वहाँ भवन नहीं बनाएगा तो ये तो विवेकी व्यक्ति का विवेक है कि उसे क्या ग्रहण करना है क्या नहीं।

अब यहाँ पर केवल रसना इंद्रिय वाली बात कह रहे हैं, स्पर्शन, घ्राण, चक्षु व कर्ण इंद्रिय के संबंध में भी उसे लगाना चाहिए। रसना इंद्रिय में व्यक्ति ज्यादा आसक्त होता है या फिर स्पर्शन इंद्रिय में। ये दो इंद्रियाँ सबसे ज्यादा पाप कराती है, ये दो इंद्रिया उसे दुर्गति में ले जाती हैं और अनंत दु:खों का कारण बनाती हैं। जब दो हैं तो यहाँ एक की बात क्यों कह रहे हैं? वह इसलिए कि स्पर्शन इंद्रिय भी दु:ख का कारण तब बनती है जब रसना इंद्रिय से वह अभक्ष्य का सेवन कर लेता है। जब वह मुख में अभक्ष्य वस्तु डालता है तो उसका मन खराब होता है, मन खराब होने से चक्षु से वह देखता है जो नहीं देखना चाहिए, कर्ण से वह सुनता है जो नहीं सुनना चाहिए, घ्राण इंद्रिय से वह सूंघता है जो नहीं सूंघना चाहिए और स्पर्शन उसका करता है जिसका नहीं करना चाहिए तो ये रसना इंद्रिय शेष चार इंद्रियों से व मन से खोटा कार्य कराने का निमित्त कारण है। इसीलिए आचार्य महोदय ने सबसे पहले कहा कि रसना इंद्रिय पर नियंत्रण रखो। जिस व्यक्ति का आहार शुद्ध है, उस व्यक्ति का आचरण शुद्ध हो सकता है। आचरण की शुद्धि बिना आहार शुद्धि के हो नहीं सकती। द्वादशांग का पहला अंग आचरण है। आचरण की शुद्धि के बिना कोई कल्याण नहीं कर पाता। कल्याण का मार्ग आचरण से होता है व आचरण की शुद्धि आहार की शुद्धि से होती है।

महानुभाव! आहार मुख से किया जाता है, मुख से भक्षण किया जाने वाला आहार दो प्रकार का है–एक तो रसना इंद्रिय के स्वाद के लिए, दूसरा स्पर्शन इंद्रिय को बलिष्ट करने के लिए। तत्काल में वह स्वाद पर रीझता है, कड़वी औषधि आदि नहीं खाना चाहता, आगे सोचता है ये पौष्टिक हो, फिर कहता है स्वादिष्ट हो तो और अच्छी बात है, चाहे घातक भले ही हो। तो आचार्य महोदय इन तीन पदार्थों को सर्वथा और सर्वदा हेय बता रहे हैं। उनके शब्दों में तीन पदार्थ हैं–क्षौद्र, पिशित, मद्य। इनके त्याग के तीन कारण दिए, उनमें पहला कारण दिया– **'त्रसहतिपरिहरणार्थं'** बहुत से त्रस जीवों का घात करने वाला। क्षौद्र अर्थात् मल, मधुमक्खियों का मल। वह जो जूठन आदि मल एकत्र करती है, जो पुष्पों से पराग रूप में इकट्ठा किया जाता है, वही मधु कहलाता है। 'क्षौद्र' अर्थात् क्षुद्र कीड़ों का मल शहद होता है। उस शहद का भक्षण नहीं करना चाहिए, ऐसा जिनशासन में कहा। कुछ व्यक्ति उसका भक्षण करते हैं, पूजा आदि में प्रयोग करते हैं वह उनकी मान्यता है, मैं उनकी मान्यता का खण्डन नहीं करता किन्तु मैं जिनशासन की बात को जिनशासन के अनुसार कह रहा हूँ। जो व्यक्ति बहुत से त्रसजीवों के घात से बचना चाहते हैं उन्हें क्षौद्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें बहुत जीवों की हिंसा होती है और लाभ अल्प।

दूसरा कारण कहा–''**प्रमादपरिहृतये**'' प्रमाद का परित्याग करने के लिए। प्रमादी व्यक्ति कभी भी पाप से नहीं बच सकता। त्रस घात करने वाला व्यक्ति कितना भी पुण्य करे उसका पुण्य कभी उसकी आत्मा में टिक नहीं पाता; क्योंकि पाप का इतना बड़ा छेद हो जाता है कि पुण्य की किंचित् बिन्दु उसमें टिक नहीं पाती। तीसरा कारण दिया–''**जिन-चरणौ शरण-मुपयातैः**'' जिनेन्द्र भगवान् की चरण-शरण को जो प्राप्त करना चाहते हैं वे भी इसका त्याग करें, क्योंकि इन तीन का भक्षण करेंगे तो जिनेन्द्र प्रभु की शरण में पहुँच नहीं पाएँगे। पहुँच गए तो वहाँ से फिसल जाएँगे। ये तीन चीज जिसमें पहला है शहद, वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थों में दिया है एक बूंद शहद का भक्षण करने से सात गाँव जलाने के बराबर पाप लगता है। कहीं अन्य स्थानों पर अलग-अलग प्रकार की व्याख्या है। सबकी मान्यता अलग-अलग है। जैन धर्म भी शहद को अभक्ष्य ही मानता है।

आगे कहा '**पिशित**' अर्थात् माँस। माँस दो इंद्रिय आदि जीवों का कलेवर है। उनके प्राण हरण करने पर उनका जो शरीर रह जाता है वह माँस कहलाता है। एक इंद्रिय जीव के शरीर को माँस संज्ञा की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि उनके शरीर में माँस, हड्डी, रक्त आदि धातु-उपधातु नहीं होती। और देव व नारकी के शरीर को भी माँस संज्ञा नहीं कहा। औदारिक शरीर जिसमें सात धातु-उपधातु होती हैं उस शरीर के कलेवर को माँस कहा। माँस किसी वृक्ष पर नहीं लगता, माँस किसी खदान से नहीं निकलता, माँस किसी जीव को मारकर ही प्राप्त किया जाता है, इसलिए जिस व्यक्ति का अहिंसा धर्म के प्रति अनुराग है, अहिंसा-करुणा-दया में निष्ठा है ऐसा व्यक्ति माँस का भक्षण स्वप्न में भी नहीं करता। जिसकी अहिंसा-करुणा के प्रति निष्ठा नहीं वही माँस का सेवन कर सकता है। अपने शरीर का माँस बढ़ाने के लिए दूसरे के शरीर का माँस खाना महामूर्खता है, बुद्धिहीनता है, विवेकशीलता नहीं है। जो व्यक्ति अपने शरीर को जीवित रखने के लिए दूसरों के शरीर का माँसादि खाते हैं वे वन में विचरण करने वाले हिंसक जन्तुओं से भी गए बीते हैं। उन हिंसक जन्तुओं की मजबूरी है, उनके शरीर की संरचना, दांत, दाड़, जिह्वादि की रचना माँसाहारी पशु के जैसी बनाई है, उनके पास विवेक नहीं है। यदि जिसकी शाकाहारी जैसी संरचना हो तब माँस खाए तो समझना चाहिए वह अपने कर्त्तव्य से विमुख है, अपनी मानव प्रकृति से विमुख है और अपनी जाति का विरोधी है। तो यहाँ पर कहा माँस का भक्षण स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए।

महाभारत आदि में लिखा है जो जिस पशु का माँस खाता है उस पशु के शरीर में जितने रोग होते हैं उतने करोड़ों वर्षों तक माँस भक्षण करने वाले जीव नरकों में सड़ते हैं। अन्य ग्रंथों

में व जैन ग्रंथों में तो इसके बारे में विशद वर्णन किया है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी, आचार्य अमितगति स्वामी, आचार्य जिनसेन स्वामी, आचार्य जयसेन स्वामी आदि अन्य सब आचार्यों ने इसका निषेध किया।

आगे कहा **'मद्य'** शराब। यह एक ऐसी मादक वस्तु है जो बुद्धि को भ्रष्ट करती है, विवेकशील व्यक्ति शराब का सेवन करते ही मूर्ख हो जाता है, पागल हो जाता है, उसकी इंद्रियों में उत्तेजना आती है। उत्तेजित इंद्रिय व मन वाला व्यक्ति कुछ भी पाप कर सकता है। उसके लिए कोई भी पाप ऐसा नहीं जो उनके द्वारा किया न जा सके। कदाचित् क्षौद्र और पिशित का सेवन करने वाला पाप से लौटकर आ जाए किन्तु शराब का सेवन करने वाले का लौटकर आना मुश्किल है, वह पाप के मार्ग पर बहुत आगे निकल गया। शराब के बारे में डॉक्टर्स का कहना है कि 100 रक्त की बूँद में 2 बूँद यदि शराब की आ जाएँ तो व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है और यदि छह बूँद पहुँच गई तो उसकी मृत्यु हो सकती है। आश्चर्य है जो व्यक्ति बोतल की बोतल अपने अंदर उढेल लेते हैं वे जीवित कैसे हैं? यह उन्होंने स्वयं लिखा है कि ये आश्चर्य की बात है अर्थात् यह बहुत घातक है।

किसी विद्वान् ने लिखा है यह शराब तो शैतान की छड़ी है, जैसे ही घुमाई तो व्यक्ति पागल हो जाता है। शराब की बोतल ज्यों ही मुख से लगाई वह भी शैतान बन जाता है, पागल बन जाता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं–यदि आपके चित्त में एक क्षण के लिए भी अपनी आत्मा का कल्याण इष्ट है तो मद्य-माँस-मधु इन तीनों का यावज्जीवन के लिए त्याग कर देना चाहिए क्योंकि जिन्होंने जिनधर्म को स्वीकार किया है, जिसका हृदय अनुकम्पा से ओतप्रोत है ऐसे श्रावकों को अहिंसाव्रत की सिद्धि करने के लिए मद्य-माँस व मधु का त्याग कर देना चाहिए। अपने मन और इंद्रियों को जीतने के लिए तथा रागादिक परिणामों को घटाने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन इस व्रत को धारण करते रहना चाहिए। पदार्थों का त्याग करने के दो मार्ग हैं–एक यम रूप, दूसरा नियम रूप त्याग करना। मद्य, माँस, मधु का त्याग, जिनके सेवन करने में त्रस जीवों की हिंसा होती है ऐसी निंदनीय वस्तुओं का त्याग तथा सेवन न करने योग्य भक्ष्य-अभक्ष्य व अयोग्य वस्तुओं का त्याग यम रूप से अर्थात् जीवन पर्यंत के लिए कर देना चाहिए। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

भोगोपभोग-परिमाण व्रत में अन्य भी त्याज्य वस्तुएँ

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥85॥

अन्वयार्थ–अल्पफलबहुविघातात् – थोड़ा फल और बहुत जीव हिंसा होने से, **आर्द्राणि** – गीले, **शृंगवेराणि** – अदरक, **मूलकं** – मूली, **नवनीतनिम्ब-कुसुमं** – मक्खन, नीम के फूल, **कैतकं** – केवड़े के फूल, **इति एवं** – इत्यादि समस्त वस्तुओं को, **अवहेयम्** – छोड़ देना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में मद्य- माँस-मधु के सेवन के त्याग के बारे में बताया कि इनका सेवन करने वाला जीव असंख्यात त्रस जीवों के घात के पाप का भागीदार होता है और स्थावर जीवों की संख्या तो कही नहीं जा सकती। वह अपने विवेक को नष्ट कर पाप का आस्रव करता है। अब यहाँ श्लोक नं. 85 में भी अभक्ष्य पदार्थों की ही चर्चा है। उन तीन महाअभक्ष्यों के अलावा अन्य क्या पदार्थ अभक्ष्य हैं देखते हैं आचार्य महोदय के शब्दों में ही–

आचार्य महोदय ने कहा नवनीत, मूलकंद, पुष्पादि का त्याग कर देना चाहिए, क्यों? तो पहले इसका कारण देखें, पहला दिया **'अल्पफलबहुविघातान्'** यद्यपि ये मद्य-माँस-मधु नहीं हैं फिर भी इनका भक्षण पाप का आस्रव कराने वाला है। इनका भक्षण करने से जठराग्नि तृप्त नहीं होती। आपने अल्प खाना खाया और बहुत से जीवों का घात हो गया। विवेकी वह होता है जो जीव का घात किए बिना अपना भोजन करे। जिसे अपने स्वयं के प्राण प्रिय हैं वह दूसरों के प्राणों पर खंजर न चलाए, दूसरों के प्राणों का वियोग न करे, दूसरों की हत्या न करे, इस प्रकार आचार्य महाराज बता रहे हैं कि जिसका फल अल्प है और घात बहुत से जीवों का है ऐसे पदार्थों का सेवन भी नहीं करना चाहिए। ये मादक भी होते हैं, ये तामसिक भी होते हैं। इसीलिए इनके त्याग की आचार्य महोदय ने प्रेरणा दी।

वे पदार्थ कौन से हैं तो यहाँ बता रहे हैं **'मूलक'**-यानि गाजर, अदरक, आलू, प्याज आदि जो जमीन के अंदर पैदा होते हैं। अब आप कहेंगे कि जमीन के अंदर पाए जाते हैं तो क्या हानि है? ऊपर से गर्मी नीचे से नमी मिश्र प्रकृति होते ही उन कंदों में असंख्यात जीवराशि पैदा हो जाती है। जमीन के अंदर तो मूँगफली आदि भी पाई जाती है उसे फिर जैनदर्शन में भक्ष्य क्यों बताया? मूँगफली जो होती है उस पर एक कठोर आवरण होता है, उसके अंदर

इसका दाना होता है, इस दाने पर भी एक आवरण होता है; जिससे ऊपर के ताप से व अंतरंग की शीत से उसमें जीवराशि पैदा हो ऐसी संभावना नहीं हो सकती। कठोर छिलका होता है इस कारण वहाँ जीवराशि नहीं पहुँच पाती और वह मूँगफली तब निकाली जाती है जब वह पक जाती है, उसके पेड़ को गाजर-मूली की तरह से उखाड़ना आवश्यक नहीं होता; जबकि मूली आदि कंदों को समूल ही नष्ट किया जाता है। उन कंदों को सुखाकर लकड़ी नहीं बनाया जाता, वह सड़ता है उसमें जीवराशि पैदा होती है किन्तु लकड़ी आदि अन्य वृक्षों की जड़ जैसे नीम, आम, बबूल आदि वृक्षों की जड़ लकड़ी होती है, उस लकड़ी को सुखाकर के उसका बुरादा बनाया जा सकता है किन्तु ऐसे कन्द को सुखाकर बुरादा नहीं बनाया जा सकता। उसमें लुगदी सी होती है, उस लुगदी में असंख्य जीव पैदा हो जाते हैं, फिर वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

आगे कहा 'आर्द्राणि' अर्थात् गीले। गीले क्या? **'श्रृंगवेराणि'** हल्दी, अदरक आदि। ये हल्दी, अदरक भी यदि गीले हैं तो उन्हें नहीं खा सकते, यदि वे सूख गए, लकड़ी बन गए तो उसका प्रयोग (सौठ आदि का) कर सकते हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने धवलाजी में और आचार्य वसुनंदी स्वामी जी ने वट्टकेर आचार्य द्वारा रचित मूलाचार की टीका में दिया 'सूंठ पिप्पलादि औषधि के रूप में प्रयुक्त करने के योग्य होता है। तो इसे सौंठ शब्द कहा अदरक शब्द नहीं कहा। अदरक शब्द का प्राचीन अर्थ **'आर्द्राणि'** अर्थात् जो गीला हो। आम आदि की जड़ भी गीली है तो भक्षण करने के योग्य नहीं है। उसमें सचित्तपना है, उसे गाढ दो तो वृक्ष भी पैदा हो सकता है या उसमें नमी होने से उसके आश्रय से और भी जीव हो सकते हैं। तो यह भक्षण करने योग्य नहीं है।

आगे कहा–**'नवनीत'** अर्थात् नेनू/मक्खन। मक्खन नहीं खाना चाहिए; पर कौन सा नहीं खाना चाहिए। ग्वालिन ने दूध को गर्म कर जमा दिया व प्रातःकाल उसका मक्खन निकाल रही है तो क्या उस मक्खन को भी नहीं खाना चाहिए? नहीं, ऐसी बात नहीं है, तत्काल में निकाला मक्खन एवं जिस दूध की चौबीस घंटे की मर्यादा थी उसका मट्ठा खाया जा सकता है। फिर यहाँ मक्खन त्याग की बात क्यों कही? आचार्य महोदय उस मक्खन की बात नहीं कर रहे। पहले क्या होता था कि दूध को ऐसे बर्तन में डाल देते थे जिसमें खटास होती थी, खटास की गंध होती तो वह जम जाता था। उसमें से मक्खन निकाला और उस मक्खन को भी एक बर्तन में इकट्ठा करते जाते थे। जब 2-4-10-15 दिन का मक्खन इकट्ठा होता फिर उसे गर्म करके घी बनाते थे। उस मक्खन में उसी जाति के, उसी वर्ण के जीव पैदा हो जाते थे, इसीलिए उस मक्खन को पूर्णतया त्याग करने के लिए बात कही। दही को मथते समय

अन्तर्मुहूर्त के अंदर उस मक्खन का प्रयोग किया जा सकता है। उसके बाद उसमें जीवराशि पैदा होने की संभावना रहती है। यहाँ उस नवनीत के त्याग की बात कही।

आगे कहा–**'निम्बकुसुमं'**–नीम आदि के पुष्प। उनमें गंध बहुत होती है, उस गंध के कारण उनमें जीव पैदा होते हैं। एक तो उस गंध को लेने वाले बाहर के लोलुपी जीव ग्रहण करने आते हैं किंतु उस पुष्प की गंध में पराग होने से जो उसका मृणाल है, उस मृणाल के आसपास जीवों का समूह इकट्ठा हो जाता है। उन गीले पुष्पों को यदि कोई खाए तो नि:संदेह उन जीवों का भक्षण भी वह कर जाएगा। यहाँ तक कि लवंग आदि के पुष्पों को भी गीला भक्षण नहीं करते वरन् उनको सुखा करके, सहज में गिरे पुष्पों को ग्रहण करते हैं, तोड़ते भी नहीं। जो व्यक्ति पुष्प आदि से पूजन-विधान करते हैं वह भी जमीन पर पड़े पुष्प की ही बात कहते हैं, तोड़ने की वे भी नहीं कहते।

महानुभाव! नीम के पुष्प अथवा **'कैतक'** केवड़ा आदि के पुष्प **'इति एवं'** इसी प्रकार से और भी जो पुष्प हो सकते हैं, और भी जमीन में पाए जाने वाले कंद हो सकते हैं या और भी अभक्ष्य पदार्थ हो सकते हैं; जो जमीन के अंदर नहीं हैं, ऊपर हैं किंतु वह अभक्ष्य हैं, जैसे कटहल आदि हैं। यद्यपि इस संबंध में भी दो बाते हैं–यह क्षेत्रीय समस्या भी है, उत्तर भारत में कटहल आदि को अभक्ष्य माना जाता है जबकि दक्षिण भारत में उसे भक्ष्य भी माना जाता है। हम किसी की क्षेत्रीय व्यवस्था को बिगाड़ नहीं रहे किन्तु ये कहेंगे जिस क्षेत्र में जो वस्तु अभक्ष्य है उसका भक्षण नहीं करना चाहिए। यथा उत्तर भारत में लौकी आदि को भक्ष्य माना जाता है और ग्रहण किया जाता है किन्तु दक्षिण भारत में लौकी आदि को अभक्ष्य मानते हैं और उसे ग्रहण नहीं करते। तो जिस क्षेत्र में जो वस्तु अभक्ष्य है, लोकव्यवहार का पालन करने के लिए उस क्षेत्र में उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। उत्तर भारत से जाने वाला कोई श्रावक लौकी आदि खाता है तो वहाँ के लोग उसकी व धर्म की निंदा करेंगे और उत्तर भारत में आकर दक्षिण वाला व्यक्ति कोई कटहल आदि खाता है तो वह भी निंदा को प्राप्त होगा।

अब प्रश्न ये है कि जमीकंद आदि पदार्थों के त्याग की बात कही, क्यों? क्योंकि वह मादक हैं व तामसिक भोजन है। पहली बात तो जमीकंद खाने वाला व्यक्ति कृष्ण लेश्या वाला है, क्योंकि उस वृक्ष को समूल नष्ट कर दिया, दूसरी बात कृष्ण लेश्या वाला है तो नरकायु का बंधक हो सकता है इसलिए भी नहीं खाना चाहिए। तीसरी बात उसके अंदर तामसकि गुण पैदा होंगे, उसकी सहनशक्ति नष्ट हो जाएगी। तामसिक वृत्ति वाला व्यक्ति स्वयं का भी घात कर सकता है इसलिए भी नहीं खाना चाहिए। अगली बात ये है कि जैसा भक्षण किया जाता है व्यक्ति की वृत्ति-प्रवृत्ति भी वैसी ही हो जाती है, जैसा कारण होता है कार्य भी तदनुरूप

ही होता है। आम की गुठली बोने से आम का पेड़ पैदा होता है, नीम की निबोली से नीम का पेड़ होता है, गेहूँ से गेहूँ, चने से चना, बाजरे से बाजरा होता है। जैसा कारण वैसा कार्य होता है। अतः जैसा भक्षण करेंगे, उस उदर में पहुँचा भोजन पूरे शरीर में धातु-उपधातु बनकर जाएगा तो मस्तिष्क में उसी प्रकार के विचार पैदा होंगे, जिह्वा से वचन भी वैसे ही निःसृत होंगे व शरीर की प्रवृत्ति भी उसी प्रकार होने लगेगी।

चाणक्य ने नीति में लिखा है–

दीपो भक्षयते ध्वान्तं, कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं, जायते तादृशी प्रजा॥

चाणक्य जो कौटिल्य के नाम से भी जाने जाते हैं, जिन्होंने मुनित्व पद को प्राप्त कर समाधिपूर्वक मरण किया, उनका जीवन चरित्र संस्कृत में लिखा हुआ है कि कैसा उनका जीवन रहा, वह चरित्र बड़ा ही प्रेरक है। उनका व्यक्तित्व आज वर्तमानकाल में अनेकों व्यक्तियों द्वारा ग्राह्य है। कहते हैं 2000 वर्ष के काल में ऐसा बुद्धि का पुतला कोई देखने में नहीं आया जो इस प्रकार अपनी बौद्धिक क्षमता के माध्यम से अस्त्रशस्त्र की शक्ति को भी प्रतिहत कर दे, अपने बुद्धि-कौशल के माध्यम से तत्काल में प्रयोग करके बड़ी से बड़ी सेना को भी हरा दे। चाणक्य के बारे में आता है कि अत्यधिक सहनशील व समत्व की भावना से युक्त, ज्ञान से परिपूरित और सर्वहितैषी विचारों का खजाना थे। जिसकी वृत्ति-प्रवृत्ति-वचनालाप व व्यवहार में सिर्फ स्वार्थ नहीं था, परहित था, प्रजा का कल्याण करने के लिए राजा भी यदि गलत है तो उसे भी गलत सिद्ध किया और गलत का जो स्थान था उस गलत को गलत तक पहुँचाया और उचित को उचित सिद्ध किया। ऐसे चाणक्य के सूत्र, नीति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र आज भी प्रसिद्ध है। लगभग 2300-2400 वर्ष का समय निकल गया उसके बावजूद भी उनके सूत्रवाक्य व नीतियाँ उतने ही प्रामाणिक व प्रासंगिक हैं जितने उस समय में थे। यह नीति भी अपना इस प्रकार व्याख्यान करती है–

'दीपो भक्षयते ध्वान्तं' दीपक जलाया तो वह क्या-क्या करता है? एक कारण से अनेक कार्य होते हैं और अनेक कारणों से एक कार्य की सिद्धि भी होती है। एक दीपक जला-अंधकार भागा, दीपक जला-प्रकाश हुआ, दीपक जला-ऊष्मा आयी, दीपक जला-उसके माध्यम से पाचक शक्ति पैदा हुई, दीपक जला-दाहक शक्ति पैदा हुई, दीपक जलने से उस दीपक ने अपने अस्तित्व का बोध कराया और पर पदार्थों के अस्तित्व का बोध कराया। उस एक दीपक के जलने से अनेक कार्य हुए किन्तु यहाँ पर प्रसंग क्या है कि दीपो भक्षयते

ध्वान्तं–जब वह दीपक जिससे प्रकाश हुआ वह ध्वान्त (अंधकार) को खा जाता है तो अंधकार खाने पर क्या निःसृत करेगा, दीपक का मल क्या होता है? आप जानते हैं यदि हाथी ने कैथ खाया तो हाथी के मल में कैथ ही निःसृत होगा। तो दीपक की भी एक विष्ठा है, वह है कज्जल, कालिमा। दीपक ने अंधकार खाया जो कि काला था, उस दीपक की बत्ती से भी कज्जल आया, जो जैसा खाते हैं वैसा मल होता है। **यदन्नं भक्षयेन्नित्यं** व्यक्ति जैसा अन्न खाता है, **'जायते तादृशी प्रजा'** उसी प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती है। माता-पिता के जैसे संस्कार होते हैं संतान वैसी ही होती है और व्यक्ति जैसा भक्षण करता है वैसे उसके विचार होते हैं व्यवहार होता है, वचनालाप होता है, वैसी ही काय की प्रवृत्ति होती है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं–अल्पफल वाले, बहुजीवों का घात करने वाले पदार्थों का चाहे मूली हो, गाजर हो, शकरकंदी हो, आलू हो, रतालू हो, शलगम हो, प्याज हो, अरबी हो, चुकन्दर हो, लहसुन हो, कुछ भी हो इनको भक्षण नहीं करना चाहिए। गीले हल्दी, अदरक को भी नहीं खाना चाहिए व नवनीत जो अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा समय का हो तो नहीं खाना चाहिए। नीम, केवड़ा आदि के पुष्पों का सेवन भी नहीं करना चाहिए। जो अपने आत्मकल्याण की वांछा रखते हैं और पर कल्याण की भावना भी रखते हैं उन्हें इनका त्याग करना परम आवश्यक है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

भोगोपभोगपरिमाण व्रत में विशेष त्याग व व्रत का लक्षण

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृता विरति-र्विषयाद्योग्यात् व्रतं भवति॥86॥

अन्वयार्थ–यत् – जो, **अनिष्टं** – प्रकृति विरुद्ध है, **तत् व्रतयेत्** – उसे त्याग करें, **च** – और, **यत्** – जो, **अनुपसेव्यं** – सेवन करने योग्य नहीं है, **एतदपि** – उसको भी, **जह्यात्** – छोड़ देवें। क्योंकि, **योग्यात्-विषयात्** – त्यागने योग्य विषय से, **अभिसन्धिकृता** – अभिप्रायपूर्वक किया गया, **विरतिः व्रतं भवति** – त्याग ही व्रत होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी जी ने विगत कारिका में बताया कि ऐसे पदार्थों का भक्षण नहीं करना चाहिए जिनको खाने से फल तो अल्प प्राप्त हो किन्तु बहुजीवों का विघात हो। उसके पहले मद्य-माँस-मधु के त्याग की प्रेरणा दी। आपके मन में प्रश्न पैदा होता होगा कि जैन दर्शन में त्याग की बड़ी विचित्र बात कही, इसे भी छोड़ो, ये भी मत खाओ। कई लोग कहते हैं हमें जैन दर्शन बहुत अच्छा लगता है, उसकी मान्यताएँ बड़ी अच्छी लगती हैं किन्तु उसमें एक चीज अच्छी नहीं लगती, उसमें त्याग की बात कही है। चलो मद्य-माँस-मधु का त्याग कर दिया, किंतु अब ये फल भी मत खाओ ये जमीन के नीचे रहते हैं वहाँ सूर्य का प्रकाश भी नहीं जाता, ये जमीकंद है, उसमें बहुत जीव पैदा होते हैं। कभी कहते हैं रात में मत खाओ, कभी कहते हैं अनछना पानी मत पीओ, कभी कहते हैं ये वस्तु 24 घंटे के बाद की हो गई तो अभक्ष्य हो गई, ये बासा है, ये त्याग-त्याग की बातें थोड़ी विचित्र लगती हैं, वैसे हमें जैनधर्म अच्छा लगता है।

त्याग की बात आपको विचित्र इसलिए लगती है क्योंकि अनादिकाल से आपने मनोनुकूल पदार्थों का सेवन किया है, जिसके कारण आपने पाप कर्म का आस्रव-बंध किया, उसी प्रकार के माहौल में रहते-रहते, उन्हीं खाद्यान्न पदार्थों के खाने के संस्कारों के आदी हो गए हैं। जैसे स्वर्ग में रहने वाला देव अमृत का आहार करता है, उसे वही अच्छा लगता है, उसे अन्य कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। नरक में रहने वाला नारकी मिट्टी आदि का भक्षण करता है, कुभोगभूमि में रहने वाले भी मिट्टी का भक्षण करते हैं, भोगभूमि के जीव वहाँ के कल्पवृक्षों से प्रदत्त भोज्यपदार्थों को ग्रहण करते हैं, कर्मभूमि के तिर्यंच, जो शाकाहारी होते हैं वे घास आदि खाते हैं; माँसाहारी पशु माँस खाते हैं, कर्मभूमि के मनुष्य उनका भी अपना एक भोजन होता है शुद्ध शाकाहारी।

सबकी प्रवृत्ति अलग-अलग है और जो जैसा खाता है उसे वैसा ही अच्छा लगता है; किन्तु उचित क्या है? जो व्यक्ति चोरी कर रहा है उसे चोरी का काम अच्छा लग रहा है किन्तु वास्तव में वो अच्छा है क्या? जो पाप कर रहा है उसे पाप करने में अच्छा लग रहा है किन्तु क्या वास्तव में पाप करना अच्छा होता है? नहीं। किन्तु पापी व्यक्ति जब पुण्य कार्य में संलग्न होगा तभी इस बात को जानेगा। क्रोधी व्यक्ति क्रोध के आवेश में, मानी मान के आवेग में इन्हें बुरा नहीं मानता, मायाचारी व्यक्ति मायाचारी करते समय कहता है ये तो चलता है, लोभी व्यक्ति कभी नहीं कहता दान करना चाहिए, ऐसे ही जो व्यक्ति जिस कार्य में संलग्न है, उसे वही अच्छा लगता है; किन्तु वास्तव में जो अच्छा होता है वही अच्छा लगना चाहिए, जो आपको अच्छा लग रहा है जरूरी नहीं है कि वह अच्छा ही हो।

महानुभाव! जैनदर्शन में त्याग की बात कही इसलिए जैनदर्शन त्याग प्रधान है। जैनदर्शन में समस्त पर-पदार्थों के त्याग की बात कही किन्तु हाँ त्याग करने का क्रम दिया। पहले बहुत हिंसा होने वाले पदार्थों का त्याग करो, पुनः अल्पहिंसा वाले पदार्थ का त्याग करो, फिर और-और पदार्थों का त्याग करते जाओ, जो पदार्थ आपने भक्षण किए शाकाहार आदि उसको भी रात्रि में मत खाओ, उसमें भी कच्चा मत खाओ, अति पका हुआ मत खाओ, बासी मत खाओ, मर्यादा के बाहर मत खाओ, बहुत सारे नियम दिए। क्यों? क्योंकि जितनी ज्यादा शुद्धि की जाती है परिणामों में उतनी ही ज्यादा निर्मलता आती जाती है।

जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी॥

एक बार एक राजा भ्रमण करते हुए किसी ऋषि के आश्रम पहुँच गया। वहाँ राजा ने विश्राम किया, जलपान ग्रहण किया। थोड़ी देर बाद वे साधु-संत भोजन करने के लिए बैठे, राजा से भी निवेदन किया, राजन्! आज आप हमारे अतिथि हैं, हम तो हमेशा ही दुनिया के अतिथि बनते हैं किन्तु आज आप जब हमारे आश्रम पर आए तो हमारे अतिथि हैं। आप भी कुछ ग्रहण कीजिए। उन साधु ने जो वृक्ष से स्वयं पके फल टूटे थे उन्हें गर्म पानी से धोकर शोधकर राजा को भी दिया, राजा ने वह आहार ग्रहण किया। आहार करने के उपरांत राजा का मन बड़ा शुद्ध हुआ, उसे लगने लगा वास्तव में संसार में क्या रखा है। अरे! सदैव सात्विक आहार करना चाहिए, ये साधु कितने महान् हैं, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर साधना कर रहे हैं, कोई अभीप्सा नहीं, इनका कितना शुद्ध मन होगा। तभी एक राजसेवक

भागता हुआ, राजा की खोज करता हुआ आश्रम तक आया और बोला महाराज! मैं आपके लिए राजसी भोजन लेकर आया हूँ, राजा ने कहा–तुम विलम्ब से आए हो और मुझे विश्वास भी नहीं था कि तुम भोजन लेकर आ भी पाओगे या नहीं क्योंकि मैं कहकर नहीं आया था; पर तुम खोजते-खोजते यहाँ आए हो, किंतु अब तो मैं भोजन कर चुका, इन महात्माओं की कृपादृष्टि हुई इन्होंने अपने साथ-साथ मुझे भी भोजन कराया।

सेवक ने कहा-राजन्! अब तो मैं भोजन लेकर आ गया। राजा ने कहा ठीक है इस भोजन को राजर्षि संतों को दे दो, उन्होंने वह भोजन किया। भोजन राजसी व गरिष्ठ था, ज्यों ही भोजन किया भोजनोपरांत तुरंत ही उनका मन बदल गया, अरे! हम यहाँ जंगल में क्यों पड़े हैं, हमारी मनुष्य अवस्था का सार तो यह है कि हम भी महलों में रहें, राजसी भोजन करें। राजा ने कहा मेरा मन तो साधु दीक्षा लेने का है, जंगल में रहने का है और साधु कहते हैं क्यों महलों में क्या कमी है, वहाँ का सुख तो बहुत अच्छा है। अरे महात्मन्! ये आप क्या कह रहे हैं, अभी कुछ समय पूर्व तो आप हमें संबोधन दे रहे थे। तभी एक साधु बोले तब इन्होंने राजसी भोजन नहीं किया था। यह सब भोजन का प्रभाव है। राजा ने जो यहाँ के शुद्ध प्रासुक फल खाए तो उसका मन शुद्ध हुआ और जिन साधु तपस्वियों ने राजसिक भोज कर लिया तो उनका मन उसी अनुरूप हो गया, उनके परिणाम बिगड़ गए। साधु का राजपिण्ड का त्याग होता है, वह राजसिक भोजन नहीं कर सकता अन्यथा अपनी साधना से च्युत हो जाएगा।

महानुभाव! इससे सिद्ध होता है कि उदर में जैसा भोजन जाता है वह अपना प्रभाव दिखाता है, खट्टा मट्ठा पीने से खट्टी डकार आती है और मीठा दूध पीने से डकार भी मीठी आती है। भोजन न केवल उदर व आंतों तक, अपितु इस शरीर के प्रत्येक अंग में उसका प्रभाव आता है, यहाँ तक कि मस्तिष्क के चिंतन को भी बदलता है, वह जिह्वा की प्रवृत्ति यानि वचनालाप को भी बदलता है। शरीर की प्रवृत्तियों को भी बदलता है। जो व्यक्ति गंदा भोजन करते हैं, तामसिक भोजन करते हैं, उनकी वृत्ति तामसी हो जाती है। जो राजसिक भोजन करते हैं उनकी वृत्ति राजसी हो जाती है, जो सात्त्विक भोजन करते हैं उनकी वृत्ति सात्त्विक ही रहती है। तो जैन दर्शन में त्याग की बात कही है। जमीकंदादि क्यों नहीं खाना चाहिए? क्योंकि उनके पास तक सूर्य की किरण सीधी नहीं पहुँच पाती। सूर्य की किरण Natural Sanitizer है। वह शरीर में जाती है तो Blood में स्थित Blood cells में अपने आप vit. D पैदा होता है, यदि सूर्य की किरण न मिले तो पाण्डु रोग हो जाए, vit. D की कमी न आ जाए इसीलिए भारतीय संस्कृति में जो भोजन की बात कही वह कुकर में नहीं बल्कि कढ़ाई में बनाने की

कही ताकि हवा लगती रहे। मिट्टी के बर्तन हों या शुद्ध धातु पीतल, कांसा, लोहा, तांबा के बर्तन हों किन्तु mix धातु एल्यूमीनियम, स्टील, प्लास्टिक आदि में सामान नहीं रखना चाहिए।

महानुभाव! यहाँ श्लोक में पुनः त्याग की बात कह रहे हैं। पहले बताया बहुत जीवों का घात करने वाला वह भोजन अभक्ष्य होता है। फिर बताया जमीकंदादि बहुत से स्थावर जीवों का घात करने वाला है अतः वह भी अभक्ष्य होता है। फिर बताया मद्य-माँस-मधु जिसमें त्रस जीवों का घात होता है वह अभक्ष्य होता है। अब आचार्य महोदय कह रहे हैं सद्गृहस्थ, विवेकी श्रावक को या व्रती प्रतिमाधारी को 'यत्अनिष्टं' जो उसके शरीर के लिए अनिष्टकारक है, जो उसके धर्म के लिए बाधक है, जिसमें स्वाध्याय-संयम की हानि होती है, जिससे पूजा-अर्चना-सामायिक में मन नहीं लगता ऐसे अनिष्टकारक आहार का त्याग कर देना चाहिए, उससे विरक्त हो जाना चाहिए। जुकाम हो रहा है फिर भी ठंडे पदार्थ का सेवन किया जा रहा है, उससे जुकाम और बढ़ेगा। जिन शीतल पदार्थों का सेवन ग्रीष्मकाल में किया जाता है यदि उनका सेवन शीतकाल में किया जाएगा तो उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। वह सर्दी में नींबू निचोड़कर गन्ने का जूस पिये या खीरे का रस पिये और उस पर पानी पिये तो ये खाद्य पदार्थ उसके लिए अनष्टिकारक हैं। उसे छोड़ देना चाहिए। पित्त ज्वर का रोगी यदि गरम पदार्थ का सेवन करेगा तो गर्मी बढ़ेगी, जिसका वातांश शरीर है, वात का प्रभाव अधिक है वह उड़द की दाल, भिण्डी आदि का सेवन करेगा तो और वात बढ़ेगा। ये पदार्थ उस व्यक्ति के लिए सेवन करने के योग्य नहीं हैं, जिस व्यक्ति की प्रकृति उस पदार्थ के प्रतिकूल है उसका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार करता है तो समझना चाहिए कि वह अभक्ष्य का सेवन कर रहा है।

तो **'यत्अनिष्टं'** जो शरीर के लिए अनिष्टकारक है वह धर्मध्यान को नष्ट कर देगा, संक्लेशता पैदा करने वाला हो जाएगा। शनैः-शनैः वह शरीर को कृश करने वाला होगा। इसलिए अनिष्ट पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि सीमा से अधिक पानी भी अनिष्टकारक होता है। दूध भी सीमा से अधिक पीना या अन्न खाना अनिष्टकारक होता है। मर्यादा में लिया गया गरिष्ठ भोजन भी संयम में साधक होता है। जो मर्यादा से बाहर ग्रहण करता है वह भोजन संयम में बाधक ही बनता है। अब यहाँ कह रहे हैं—जो सेवन करने के योग्य नहीं है उसे भी छोड़ देना चाहिए। लोक व्यवहार में जो सेवन करने योग्य पदार्थ नहीं है, राग में संलिप्त होकर के उन मल आदि का भी भक्षण न करें। मल चाहे किसी जानवर का भी क्यों न हो, मल तो मल है, वह मल लोक निन्दनीय है। भला व्यक्ति इनका सेवन नहीं कर सकता।

आगे कह रहे हैं **'अभिसन्धिकृता'** अभिप्राय पूर्वक या संकल्प पूर्वक की गई **'विरतिः'** विरक्ति ही **'व्रतं भवति'** व्रत कहलाती है। इस जीव को संकल्पपूर्वक विरक्त हो जाना चाहिए, इस प्रकार से विरक्त होना ही वास्तव में व्रत है। जो व्यक्ति बहुघात पदार्थों का सेवन करता है, स्थावर घातक पदार्थों का सेवन करता है, मद्य-माँस-मधु का सेवन करता है या निशि भोजन करता है या अपनी प्रकृति के विरुद्ध आहार करता है अथवा अनुपसेव्य अर्थात् लोक व्यवहार में निंदित पदार्थों का सेवन करता है उस व्यक्ति के लिए यही सोचना चाहिए कि वह अभक्ष्य का ही सेवन करता है। उसके अभक्ष्य का त्याग नहीं माना जाएगा। कोई कहे कि हमने 22 प्रकार के अभक्ष्य का त्याग कर दिया, और तर्क देने लगे कि आपको बर्फ नहीं खाना चाहिए, मिट्टी के बर्तन में नहीं खाना चाहिए ये सब उसके कुतर्क हैं। हमारे आचार्यों ने लिखा है कि अभक्ष्य क्या है। जो अभक्ष्य है वही अभक्ष्य मानना है, जो नहीं है उसे नहीं मानना।

कोई कहे दही नहीं खा सकते। तो उनसे पूछो भैया! क्यों नहीं खा सकते, क्या कारण है। दही खाने के लिए किन तीर्थंकरों ने किस शास्त्र में मना किया है। दूध-मट्ठा क्यों नहीं लेना चाहिए, जो हमारे शास्त्रों में भक्षण करने के योग्य है; आज के कुछ अल्पज्ञानी कुतर्की विद्वान् उन पदार्थों से तो आपको विमुख कर रहे हैं और गंदे पदार्थों के सेवन के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। यह जैन शास्त्र का घात है इसलिए आप सभी विवेकपूर्वक कार्य करें। वे कहेंगे-भैया क्या करें, पंचमकाल में रात्रिभोजन के बिना चलेगा नहीं, दूसरी ओर कहते हैं दूध मत पीयो, दही मत खाओ, अब उल्टी-उल्टी शिक्षा दे रहे हो। आपको जैनाचार्यों की बातों को समझना होगा कि उन्होंने किसका निषेध किया व क्यों किया। आज के विद्वान् कहेंगे अरे! रात में पानी पी लिया तो क्या हो गया, अरे! चलता है, नहीं, जो शास्त्र का घात करके आपको शिक्षा दे रहा है, वह शिक्षा आपके आत्मकल्याण की साधिका नहीं हो सकती। जो शास्त्र के अनुसार अपने आचरण को बनाता है वह सदाचारी, धर्माचारी कहलाता है, वही मोक्षमार्ग का पथिक होता है। आप सभी इस श्लोक के अनुसार अपनी चर्या बनाएँ। आपका मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

यम-नियम का लक्षण

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोग - संहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते॥87॥

अन्वयार्थ–भोगोपभोगसंहारे – भोगोपभोगपरिमाण व्रत में, **नियमः यमः च** – नियम और यम, **द्वेधा विहितौ** – दो प्रकार का कहा गया है, **परिमितकालः** – निश्चित काल या मर्यादापूर्वक होना, **सः नियमः** – वह नियम है तथा, **यावज्जीवं** – जीवनपर्यन्त को, **ध्रियते** – धारण किया जाता है, **यमः** – वह यम है।

व्याख्यान–महानुभाव! विगत दिवस व्रत के संबंध में देख रहे थे, व्रत क्या है? आचार्य उमास्वामी जी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा, **''हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्''**

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाँच पापों से विरक्त होने का नाम व्रत है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी कहा, इन पाँच पापों का त्याग करने की प्रतिज्ञा व्रत है। एक देश त्याग करना अणुव्रत है और सकल देश त्याग करना महाव्रत है। अब यहाँ दिया जो अपने लिए अहितकारक है उसको छोड़ देने का नाम व्रत है। यहाँ पर संकल्पपूर्वक पाँच प्रकार के पापों का त्याग करना, अभक्ष्यों का त्याग करना, त्रस-स्थावर घातक, तामसकारक, अनिष्टकारक, अनुपसेव्य पदार्थों का संकल्पपूर्वक त्याग करना, बुद्धिपूर्वक सोच-समझकर त्याग करना व्रत कहलाता है। वह व्रत कैसा होता है तो आचार्य महोदय कह रहे हैं वह दो प्रकार का है। एक होता है अल्पसमय के लिए दूसरा यावज्जीवन के लिए। अल्प समय के लिए ग्रहण किए नियम व यावज्जीवन ग्रहण किए यम कहलाते हैं। यहाँ यम-नियम के संबंध में यही बता रहे हैं–

'नियमः परिमितकालो' जो परिमित काल के लिए किया जाता है वह नियम कहलाता है। **'यावज्जीवं यमो ध्रियते'** जीवन पर्यंत के लिए धारण किया जाता है वह यम है। यह संक्षेप अर्थ हुआ। यम, नियम, आसन आदि अष्टांग योग की जहाँ चर्चा की वहाँ यम से शुरुआत की। यम का अर्थ होता है 'दमन', इंद्रियों का दमन करने हेतु पदार्थों का त्याग करना। यम अर्थात् मत्यु, जब तक यह शरीर नहीं छूटता तब तक के लिए त्याग कर दिया वह है यम।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी जी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है, जब कोई संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर के आत्म कल्याण के लिए आचार्य परमेष्ठी के श्रीचरणों में नतमस्तक होता है, अपने कल्याण की याचना करता है, दीक्षा की भावना भाता है तब आचार्य महोदय उसे सर्वप्रथम मुनिव्रत का उपदेश दें, महाव्रतों को ग्रहण करने का उपदेश दें कि महाव्रती बनो,

अपना कल्याण करो, उसे अणुव्रती बनने का उपदेश नहीं दें। यदि वे प्रथम अणुव्रती बनने का उपदेश देते हैं तो वे आचार्य महोदय प्रयश्चित के अधिकारी होते हैं। ऐसा क्यों कहा? क्योंकि यदि उससे पहले छोटे व्रत के बारे में बात कह दी तो फिर वह बड़े व्रत नहीं लेगा, बीच में ही हिम्मत हार जाएगा, कहेगा मैं यहीं ठीक हूँ। आप समझते हैं जब कोई ग्राहक दुकानदार के पास आता है तो दुकानदार उसे उच्च क्वालिटी वाली, उच्च मूल्य वाली वस्तु दिखाता है, जब वह ग्राहक कहता है, भाईसाहब! इतना महंगा मैं नहीं ले सकता तब थोड़ा सस्ता दिखाता है, और जिसके पास अच्छा पैसा है वह कहता है इससे भी अच्छी quality दिखाओ, वह Top से Top खरीदेगा। सर्वप्रथम Top वाली चीज दिखानी चाहिए।

ऐसे ही संयम-चारित्र का Top स्थान यदि कोई है तो वे हैं यम, महाव्रत। महाव्रत हमेशा यम रूप से ही लिए जाते हैं, कभी भी नियम रूप से नहीं लिए जाते हैं; यद्यपि अणुव्रत भी नियम रूप से नहीं लिए जाते, वे भी यम रूप से लिए जाते हैं किन्तु जो अणुव्रत व महाव्रतों को यम रूप से लेने में असमर्थ हैं वे अपनी आत्मा का कल्याण कैसे करें। आपको प्रसंग ज्ञात होगा खदिरसार भील व पुरुरवा भील का। पुरुरवा भील का जीव जो अनन्तर वर्तमानकालीन 24वें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी बने। सागरसेन नाम के मुनिराज का संबोधन प्राप्त करके उन्होंने सर्वप्रथम कौए के माँस का यावज्जीवन के लिए त्याग किया। ऐसे ही खदिरसार भील ने पहले काक माँस का त्याग किया बाद में उसके नियम की परीक्षा हुई उसका स्वास्थ्य प्रतिकूल हुआ जिसकी औषधि काक माँस थी किन्तु परीक्षा में भी वह दृढ़ रहा, उसने अपने नियम को तोड़ा नहीं, उसकी पत्नी व मित्र आदि ने कहा तुम्हारा स्वास्थ्य प्रतिकूल है काक का माँस ले लीजिए बाद में प्रायश्चित ले लेना, उसका साला शूरसेन भी उसे समझाने आया, उसने मार्ग का पूरा वृतान्त खदिरसार को सुनाया कि मार्ग में मुझे एक रोती स्त्री मिली, जो कह रही थी जिसे मैं माँस खिलाने जा रहा हूँ वह यदि अपना नियम तोड़ देगा तो वह व्रत भंग करने से नरक में चला जाएगा और यदि नियम का पालन करेगा तो देवायु का बंध करके मेरा देव बन सकता है।

यह सुनकर खदिरसार ने कहा-एक कौए के माँस का त्याग करने से जब मैं देव बन सकता हूँ तब मैं आज से आजीवन सम्पूर्ण माँस का त्याग व अभक्ष्यों का त्याग करता हूँ, अणुव्रतों को स्वीकार करता हूँ। अणुव्रत स्वीकार कर खदिरसार मृत्यु को प्राप्त हुआ व वैमानिक स्वर्ग में देव हुआ। शूरसेन जब खदिरसार के अंतिम संस्कार के बाद लौटा तो मार्ग में पुनः वही देवी रोती मिली, पूछा अब तुम क्यों रोती हो, उसने तो अपना नियम नहीं तोड़ा था।

वह बोली आपने मार्ग की पूरी कथा उन्हें सुना दी जिससे उन्होंने समस्त माँसों का त्याग कर दिया, अणुव्रतों को स्वीकार कर लिया, शुद्ध सम्यग्दृष्टि बन गया, वह तो अब वैमानिक स्वर्ग में देव बन गया। वह भवनत्रिक में क्यों आता, वहाँ तो मिथ्यादृष्टि आता है।

महानुभाव! एक छोटा सा नियम लेने वाला व्यक्ति भी कालान्तर में यम को प्राप्त कर सकता है। जब व्यक्ति किसी बुराई को पूरा नहीं छोड़ पाता है तब आप कहते हो महाराज जी! इनको थोड़े-थोड़े त्याग कराओ। महीने भर का, छह माह का ही नियम दो पुनः बढ़ाते-बढ़ाते साल-दो साल अथवा यावज्जीवन कर देना। अभ्यास करके योग्य बनने से पूर्ण नियम पालन कर पाएँगे। ये जिनधर्म-जिनशासन तो क्षत्रियों के द्वारा प्रणीत है, द्विजों के द्वारा संचालित है, वैश्यों के द्वारा प्रतिपालित है, आगे भी जिनधर्म का पालन कोई भी कर सकता है। किन्तु नियम को सीधे स्वीकार करने वाला क्षत्रिय व्यक्ति ही हो सकता है। जो कहता हो या तो इस पार या उस पार। वह सीधा महाव्रती बनता है, कोई भी तीर्थंकर क्षुल्लक-ऐलक बने क्या? आठ वर्ष के होते ही अणुव्रत पालन करते हैं बाद में जैसे ही वैराग्य होता है सीधे महाव्रती बनते हैं।

महानुभाव! नियम वह है जिनका पालन करते-करते व्यक्ति आगे बढ़ता है। एक-एक सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते व्यक्ति अंतिम सीढ़ी तक चढ़ सकता है और कोई ऐसा भी हो सकता है जो छलांग लगाए और एक बार में पहुँच सकता है। तो जैनदर्शन में यम व नियम दोनों की बात कही है। नियम के माध्यम से चाहे यम तक पहुँच जाओ और चाहे सामर्थ्य हो तो सीधे यम तक पहुँच जाओ किन्तु आपका लक्ष्य यम तक पहुँचने का हो। यम को स्वीकार करने से आप मोक्षमार्गी बनेंगे, नियम को स्वीकार करने से एकदेश मोक्षमार्गी या मोक्षमार्ग के अभिमुख माने जाएँगे, पूर्णतया मोक्षमार्गी नहीं हो सकते। आपने किसी भी वस्तु का त्याग किया चाहे धूम्रपान का, चाहे अभक्ष्य का, चाहे रात्रिभोजन का त्याग किया या अब्रह्म का त्याग किया कि माह में इतने दिन का त्याग तो ये नियम कहलाएगा और यदि यावज्जीवन के लिए त्याग किया है तो यम कहलाएगा।

पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज बताते थे कोई महिला सिलाई कर रही थी, सिलाई करते-करते आगे बढ़ती जा रही थी यदि वह पीछे धागे में गांठ न लगाए, सूई सहित धागा खींच ले तो पूरी सिलाई बेकार, धागा निकल जाएगा, तो गांठ लगाने का आशय है कि हमने एक नियम ले लिया, उस नियम से हम बंध गए अथवा जैसे आप लोग laptop पर काम करते हो, यदि उस file को save नहीं किया तो जितना भी कार्य किया उसका घाटा लग जाएगा, उस save करने का नाम है नियम लेना। शास्त्र पढ़ने के उपरांत यदि आपने

कोई छोटा सा नियम नहीं लिया तो शास्त्र का ज्ञान सब बेकार चला गया। कोई किसान खेत को बहुत जोत रहा है पर उसमें बीज न डाले तो? वह बेकार। विद्यार्थी खूब पढ़ाई कर रहा हो पर exam में न बैठे तो उसकी पढ़ाई निष्फल है, ऐसे ही गृहस्थों के जीवन में छोटे-छोटे नियमों की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

बालक जन्म लेता है तो पहले पेट के बल खिसकता है, पुनः अपने हाथों पर बल देता है और घुटनों के बल चलता है, फिर वह लड़खड़ाते हुए खड़ा होता है, चलता है-गिरता है, कभी दोनों अंगुली मां को पकड़ा देता है, तो चलना सीखता है। फिर तीन पहिए की गाड़ी से चलना सीखता है फिर उसके बाद वह बिना सहारे के भी चलना सीख जाता है। क्या कोई बालक आपने ऐसा देखा जो जन्म के तुरंत बाद दौड़ने लगा हो। कुछ पशुओं के बच्चे भले ही चलना शुरू कर देंगे या देव-नारकी किन्तु मनुष्य या सामान्य तिर्यंच नहीं, वे क्रम-क्रम से बढ़ते हैं।

घुटनों के बल चलते-चलते, पैर खड़े हो जाते हैं।
छोटे-छोटे नियम एक दिन, बहुत बड़े हो जाते हैं॥

छोटे-छोटे नियमों से व्यक्ति बहुत बड़ा बनता है। चाहे किसी भी महापुरुष का जीवन देखो ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तीर्थंकर तक, मोक्षगामी चक्रवर्तियों का, कामदेवों का, चाहे अन्य महापुरुषों का उन्होंने पूर्वभवों में पहले छोटे-छोटे नियमों का पालन किया, छोटे-छोटे व्रत लिए, चाहे णमोकार मंत्र व्रत का पालन किया, चाहे मौन एकादशी व्रत पालन किया, चाहे अन्य छोटे-छोटे व्रतों का पालन किया, उन व्रतों का पालन करते हुए उन्होंने सिद्धपद को प्राप्त कर लिया। छोटा व्रत भी मोक्ष तक पहुँचाने की एक पगडंडी है, ये नियम रूपी पगडंडी यम रूपी राजमार्ग तक ले जाती है और यम रूपी राजमार्ग पर चलने वाला सीधा मोक्ष को प्राप्त करता है; किन्तु नियम की पगडंडी भटकाने वाली नहीं है, जो भटकाने वाली हो वह नियम की पगडंडी ही नहीं है।

आपने समीचीन सम्यक् नियम लिया है, भले ही छोटा सा हो, वह छोटा सा नियम भी आपको बहुत बड़ा बना सकता है। आप ये न सोचें की कोई क्या कहेगा, अरे! बस चार दिन का त्याग कर रहे हो। हमने अपने जीवन में देखा (जब मुनि अवस्था में थे) जब चौके में युवा लड़के आहार देने आते उनसे अल्प समय का त्याग कराया और जब उन्होंने देखा कि महाराज जी कम समय के लिए त्याग कराते हैं तो वे आहार देने आते। पहले चौके में एक भी बच्चा दिखाई नहीं देता था मात्र वृद्ध महिला-पुरुष दिखाई देते थे किन्तु जब उन लोगों

को प्रेरणा दी तो युवाओं को प्रोत्साहन देने के लिए पहले कम त्याग कराया और उसका परिणाम यह हुआ कि चौके में 10-20-50 युवा लोग आने लगे। एक बार विधि ली कि 108 युवा पड़गाहने खड़े होंगे तब आहार करेंगे, वह विधि भी हमारी पूरी हुई। तो कहने का आशय यह है कि उन युवाओं को वहाँ तक कैसे लाया गया, वे युवा ऐसे थे जो बिगड़े हुए थे किन्तु सम्पर्क में आए और धीमे-धीमे त्याग किया फिर वे इतना त्याग करने वाले हो गए कि रात्रिभोजन, जमीकंद, मद्य-माँस-मधु, अभक्ष्य आदि पदार्थों का यावज्जीवन त्याग करने वाले हो गए। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि उनमें से कई युवा तो आज वर्तमानकाल में मुनिमहाराज हैं।

कहने का आशय है, **''जो जैनी है नाम का वह भी अपने काम का''।** पूज्य गुरुदेव कहते हैं जो नाम का भी जैनी है वह आज नहीं तो कल त्याग करेगा, अपना कल्याण कर सकेगा, उसकी भी अवहेलना मत करो, अपमान मत करो, वह भी अपना कल्याण कर सकता है। छोटे-छोटे नियम लेने वाला की बड़ा बन सकता है। आप सभी निमय से यम की ओर बढ़ें, आत्मा का कल्याण करें, आप सभी के प्रति ऐसी मंगल भावना भाते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रतिदिन करने योग्य नियम की विधि

भोजन - वाहन - शयनस्नान - पवित्रांगराग - कुसुमेषु।
ताम्बूल-वसन - भूषण - मन्मथ - संगीत - गीतेषु॥88॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्त्तुरयनं वा।
इति काल-परिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः॥89॥

अन्वयार्थ–भोजन-वाहन-शयन-स्नान-पवित्रांग-राग-कुसुमेषु – भोजन, सवारी, बिस्तर, स्नान, पवित्र विलेपन व पुष्प आदि में **ताम्बूल-वसन-भूषण-मन्मथ-संगीत-गीतेषु** – पान, वस्त्र, आभूषण, विषयभोग, संगीत और गायनादि विषयों में, **अद्य** – आज/घड़ी, प्रहर आदि, **दिवा** – एक दिन **रजनी** – रात **वा** – अथवा, **पक्षो** – एकपक्ष, **मासः** – एक मास, **तथा** – अथवा, **ऋतुः** – एक ऋतु, **वा** – अथवा, **अयनं** – एक अयन, **इति** – इस प्रकार, **कालपरिच्छित्त्या** – काल की मर्यादा/ काल विभाग से, **प्रत्याख्यानं** – त्याग करना, **नियमः भवेत्** – नियम होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भोगोपभोग नामक व्रत को देख रहे थे कि भोग और उपभोग का नियम भी दो प्रकार से यम-नियम पूर्वक लिया जाता है। अभक्ष्य पदार्थों का यावज्जीवन त्याग करना यम व संकल्पपूर्वक उन पदार्थों से कुछ समय के लिए विरक्त होना, त्याग करना नियम कहलाता है। यहाँ आचार्य महोदय बता रहे हैं कि भोग और उपभोग के नियम की विधि क्या है। श्लोक 88-89 दोनों को एक साथ देखते हैं कि आचार्य महाराज क्या कह रहे हैं?

आचार्य महोदय ने कहा कि इन चीजों की आप सीमा बांध लो। आपका भोजन के बिना काम नहीं चलता, सीमा बांध लो कि एक दिन में कितनी बार भोजन करोगे, कितनी बार पानी पीओगे, वस्त्रों की सीमा बांध लो कि एक दिन में कितनी बार वस्त्र change करोगे इससे यह होगा कि सीमा के बाहर जिन पदार्थों का आपने त्याग कर दिया है तत्संबंधी आस्रव से आप बच जाओगे। यद्यपि सम्पूर्ण पदार्थों का आप एक साथ सेवन नहीं करते किंतु उनका त्याग भी नहीं किया, त्याग न होने से तदनुरूप आस्रव जारी रहेगा और त्याग कर दिया तो उसका आस्रव आपको नहीं होगा।

महानुभाव! जैनदर्शन में यम-नियम-त्याग-संयम आदि का बहुत महत्व है। यहाँ सबसे पहले बात कही भोजन की, जिस व्यक्ति ने भोजन पर नियंत्रण कर लिया उसने अपने मन व इंद्रियों

पर नियंत्रण कर लिया और जो भोजन पर नियंत्रण नहीं कर पाता है वह कहीं पर भी नियंत्रण नहीं कर पाता है। भोजन उदर में जाता है, पचता है, उसके उपरांत वह सप्तधातु-उपधातु रूप में परिणत हो करके शरीर में चिरकाल तक साथ रहता है। भोजन यदि अच्छा है तो शरीर भी अच्छा होगा, वचन भी अच्छे होंगे, मन भी अच्छा होगा, व्यवहार आदि सब अच्छा होगा। भोजन बुरा है तब नि:संदेह मन-वचन-काय की प्रवृत्ति बुरी ही होगी, इसलिए पहले ये नहीं कहा कि आप सत्य व्रत का पालन करो या ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो, परिग्रह का त्याग करो आदि सब बातें बाद में, सबसे पहला नियम व्यक्ति को लेना है वह है 'भोजन की शुद्धि।' आहार शुद्ध हो गया तो उसका व्यवहार शुद्ध हो जाएगा, उसके विचार शुद्ध हो जाएँगे और उसका मूल आधार भी शुद्ध हो जाएगा। आहार की शुद्धि के बिना सम्पूर्ण शुद्धियाँ अशुद्धियाँ ही कहलाती हैं।

यहाँ सर्वप्रथम कहा 'भोजन'। भजन पूर्वक भोजन करो, प्रभु भजन पूर्वक जो भोजन करता है उसका भोजन औषधि बनता है, अमृतोपमा बन जाता है और जिसका भोजन बिना भजन के होता है उसका भोजन उस पर भार बन जाता है। वह भोजन के द्वारा भोग लिया जाता है। वह भोजन को नहीं भोगता अपितु वह भोजन ही क्रमश: उसके शरीर को भोगता चला जाता है। किन्तु जो भजनपूर्वक भोजन करता है वह वास्तव में उस भोजन का सही प्रयोजन सिद्ध कर पाता है। भोजन वह ग्रहण करो जो शुद्ध हो, प्रासुक हो, मर्यादित हो। यदि एक बार में काम चल जाता है तो दो बार मत करो। दो बार से काम चल जाता है तो तीन बार ग्रहण मत करो। आप चाहे जितनी बार भी खाओ किन्तु मर्यादा करके खाओ। भोजन करो किन्तु किसी को खिलाकर के खाओ, कहीं ऐसा नहीं स्वयं का पेट मात्र भर लिया। स्वयं का उदर तो संसार के सभी चराचर जीव भरते हैं किन्तु पुण्यात्मा जीव वे कहलाते हैं जो अपने से पहले पुण्य पुरुषों को, परमात्मा की राह पर चलने वाले महापुरुषों को खिलाते हैं तब खाते हैं।

'भोजन' यह नि:संदेह आत्मकल्याण का साधन है। भोजन मोक्षमार्ग का कारक है और भोजन संसार का भी कारण है, भोजन दुर्गति भी देता है सुगति भी देता है, भोजन दु:ख भी दे सकता है सुख भी दे सकता है। भोजन करना व्रत भी हो सकता है और भोजन करना अव्रत भी हो सकता है। भोजन सुधर गया तो जीवन में सुधार हो गया और भोजन में सुधार नहीं किया तो बाहर के सभी सुधार शून्य की तरह से होते हैं। भोजन का सुधार अंक की तरह होता है इसलिए पहले मूल में सुधार हो। जिस मकान की नींव ठीक है, नक्शा ठीक बन गया तो मकान भी ठीक बन पाएगा और नींव ठीक से नहीं भरी गयी, पिलर-दीवार खड़ी कर ली,

छत भी डाल दी, महराव, कंगूरे, शिखर सब बनाए किंतु वह भवन धराशाही हो जाएगा। तो भोजन धर्म की नींव है। भोजन की जितनी शुद्धि कर सकते हो करो। केवल बातों की शुद्धि नहीं, केवल अच्छे तर्क व युक्ति देने से कल्याण नहीं होता।

कई विद्वत्गण 'शब्दपाठी' अपने आपको विद्वान् कहते हैं, किन्तु उनके जीवन में अभी अभक्ष्य का त्याग नहीं। अब आप स्वयं सोचें, जिस विद्वान् की जिह्वा स्वयं के नियंत्रण में नहीं है, न बोलने में, न स्वाद चखने में, ऐसा विद्वान् गद्दी पर बैठने लायक नहीं है। वह शास्त्र की गद्दी जहाँ उपदेश देने का अधिकार मात्र तीर्थंकर भगवान्, गणधर परमेष्ठी, श्रुतकेवली को है, उस गद्दी पर उपदेश देने वाला असंयमी नहीं हो सकता। जिसने अपनी जिह्वा पर नियंत्रण नहीं किया उसे गद्दी पर नहीं बैठना चाहिए; क्योंकि अनियंत्रित जिह्वा होने से वह यद्वा-तद्वा, आगम के विरुद्ध भी बोल सकता है। इसीलिए यहाँ कहा भोजन पर नियंत्रण हो। भोजन के मायने रसना इंद्रिय पर नियंत्रण। रसना इंद्रिय पर नियंत्रण होगा तो स्पर्शन इंद्रिय पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। घ्राण, चक्षु, कर्ण इंद्रिय पर नियंत्रण किया जा सकता है। जब सब इंद्रियों पर नियंत्रण किया जा सकता है तो मन पर भी नियंत्रण किया जा सकता है।

अगला कहा-**'वाहन'** मैं आज 2-4-6 घंटे वाहन का प्रयोग करूँगा अथवा नहीं करूँगा। आज का मेरा दिन क्या बिना वाहन के निकल सकता है, क्या मैं कुछ घंटे के लिए वाहन का त्याग कर सकता हूँ, यदि वाहन का प्रयोग करूँगा तो कौन से वाहन का, पशु वाले वाहन का, जल-वायु अथवा थल वाले वाहन का। जाऊँगा भी तो कहाँ होकर जाऊँगा राजमार्ग से या अन्य मार्ग से, इस प्रकार वाहन की मर्यादा लेना। **'शयन'** आज मैं बिछाने में क्या लूँगा, एक गद्दा या दो-तीन गद्दे, रजाई, कम्बल इनकी मर्यादा करना अथवा कोई त्यागी-व्रती है तो चटाई का प्रयोग करूँगा या नहीं, करूँगा तो कितनी। अथवा पर्व के दिनों में मैं एक चटाई से काम चलाऊँगा या चौदस हो तो त्याग रखूँगा, तो ऐसे बिस्तर आदि की मर्यादा करना।

अगला है **'स्नान'** आज मैं कितनी बार स्नान करूँगा, एक बार-चार बार-छह बार, गर्मी हो तो आप कहो कि मैं छह बार करूँगा, ठीक है करो किन्तु मर्यादा लेकर कि मैं छह बार ही स्नान करूँगा, सातवीं बार नहीं। अगली बात कही **'पवित्रांग'**-सुगंधित चूर्ण विलेपन आदि जो पहले राजा-महाराजाओं के महलों में चलते थे, उबटन आदि लगाए जाते थे वे सुगंधित पदार्थ मैं लगाऊँगा या नहीं लगाऊँगा या आज किसी भगवान् का कल्याणक है या पर्व के दिनों में मैं सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग नहीं करूँगा, ऐसा नियम लेना। **'कुसुमेषु'**-पुष्पों का प्रयोग करूँगा या नहीं, पुष्पमाला धारण करूँगा या नहीं, अथवा कौन से पुष्प लूँगा उन पुष्पों

की मर्यादा करना। **'ताम्बूल'**-अर्थात् पान आदि, मुख शुद्धि करने के लिए इलायची, लोंग, सौंफ आदि ग्रहण करना। आज इनको मैं ग्रहण करूँगा या नहीं करूँगा, करूँगा तो कितनी बार उसकी भी मर्यादा लेना। **'वसन'** मैं दिन में कितनी बार वस्त्र बदलूँगा, सुबह से लेकर शाम तक दो जोड़ी से काम चल जाएगा या इससे ज्यादा, जितने से काम चल जाए उतने की मर्यादा लेना। **'आभूषण'** मैं दिन में कितनी बार आभूषण धारण करूँगा व कितने आभूषण धारण करूँगा। या मेरे शरीर पर जितने आभूषण हैं उनके अतिरिक्त अन्य का त्याग करना, या आज आभूषण ही धारण नहीं करूँगा इस प्रकार मर्यादा करना।

'मन्मथसंगीतगीतेषु' आज मैं हास-परिहास, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष या अब्रह्म सेवन करूँगा या नहीं। आज मैं कितनी बार संगीत सुनूँगा या सुनूँगा ही नहीं। या आज मैं राग से पूरित गीत श्रवण करूँगा या नहीं। गाऊँगा तो कितनी बार, इन सभी की मर्यादा लेना।

महानुभाव! ये पदार्थ तो हैं ही इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थों की भी सीमा कर लेना। प्रात:काल से ही मर्यादा कर लेना चाहिए क्योंकि श्रावक के 17 नियम होते हैं जिनका पालन वह प्रतिदिन करता है। वह देख लेता है कि आज मुझे बाहर जाना है या नहीं जाना है, जाना है तो कौन-कौन से व कितने वाहनों की आवश्यकता पड़ेगी, भोजन करूँगा तो दो बार, इतनी हरी लूँगा, इतने अन्न लूँगा, भोजन में इतने ही बर्तनों का प्रयोग करूँगा अथवा आज मैं एक घी ही लूँगा या नमक ही लूँगा या इससे अधिक 2-3 रस लूँगा अथवा नीरस भोजन करूँगा। स्वाद्य, खाद्य, लेय, पेय इन चार प्रकार के आहार में क्या-क्या लूँगा और कितनी बार लूँगा। इस प्रकार से छोटी-छोटी मर्यादा को लेने से पर पदार्थों से विरक्ति का भाव प्रकट होता चला जाता है। अपना जीवन संयमित होता है, वह व्यक्ति अनावश्यक रूप से पापों से बच जाता है। इस प्रकार सभी पदार्थों में मर्यादा करनी चाहिए।

अब भोग-उपभोग की वस्तुओं में समय के अनुसार कैसे मर्यादा लेनी चाहिए बताते हैं। वस्तुएँ हम जितनी कहें मात्र उतनी नहीं प्रत्येक व्यक्ति के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ अलग-अलग भी हो सकती हैं। एक व्यक्ति दिन में 20 गिलास का उपयोग कर रहा है, अभी पानी एक से पीया, दूसरी बार दूसरे से, वह एक दिन में 4-5 थाली का प्रयोग कर रहा है। उधर एक व्यक्ति ऐसा है जो एक कुल्हड़ का प्रयोग कर रहा है तो कौन कैसे प्रयोग कर रहा है, कौन व्यक्ति अपनी मूर्छा को, राग को, आसक्ति को कम कर सकता है, कैसे अपने परिणामों को निर्मल बना सकता है, इसीलिए आचार्य भगवन् यहाँ नियम बता रहे हैं। **'अद्य**

दिवा' मैं केवल आज के लिए लेता हूँ, आज नियम का पालन किया 'अद्यरात्रि' आज की रात्रि के लिए पालन किया 'अद्य अहोरात्रि' आज के दिन-रात के लिए अथवा तीन-चार दिन के लिए, सप्ताह के लिए, पक्ष, मास, दो मास, 4 मास, 6 मास या वर्ष भर के लिए काल का परिमाण करके त्याग करना नियम कहलाता है।

महानुभाव! कोई भी विद्यार्थी जब गिनती सीखता है तो एक से प्रारंभ करता है। पहले 1-10 तक गिनती सीखी, बाद में 20-30 फिर 40-50 क्रमशः 100 तक सीखी। पहले उसने वर्णमाला के 12 स्वर अ आ इ ई.... आदि सीखे, पुनः व्यंजन सीखे। स्वर-व्यंजन के बाद पहाड़े सीखे, वह क्रम-क्रम से आगे बढ़ता है। कोई माली बाग में एक साथ 100-500 पौधे लगाए तो बाग नहीं लग जाएगा, वह क्रम-क्रम से 1-2 वृक्ष लगाता जाता है। कोई मिस्त्री भवन बनाता है तो एक साथ पूरा भवन नहीं बनाता, पहले नींव खोदता है क्रमशः एक-एक ईंट लगाते-लगाते भवन बन जाता है। कोई व्यक्ति ऐसे ही एक साथ धनी नहीं हो जाता। एक-एक पैसा बचाता है, तब उसके पास बहुत सारा धन इकट्ठा हो जाता है। पुण्य करने वाला भी एक साथ पूरा पुण्य इकट्ठा नहीं कर लेता, धर्म की क्रिया थोड़ी-थोड़ी करके आगे बढ़ाता जाता है और शनैः-शनैः आगे बढ़ते-बढ़ते वह पुण्य के क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है।

किसी डॉक्टर से मरीज कहता है मैं बहुत अस्वस्थ हूँ मुझे अमुक प्रकार का रोग है, तो डॉक्टर कहता है मैं तुम्हारे रोग का उपचार बाद में करूँगा किन्तु पहले उन कारणों का आपसे त्याग कराता है जिससे रोग पैदा हुआ है। पहले परहेज कराता है। जुकाम हो रहा है और ठंडे पदार्थों का सेवन कर रहे हो तो पहले ठंडे पदार्थों का सेवन छोड़ दो, वह कहेगा नहीं छोड़ सकता, तब डॉक्टर कहेगा आजीवन न छोड़ो तो एक महीने छोड़कर देखो, एक महीना भी नहीं तो 15 दिन, 15 नहीं तो 4 दिन छोड़कर देखो। या कोई व्यक्ति धूम्रपान करता है तो उसको धीमे-धीमे त्याग कराया जाता है कि आजीवन नहीं तो छह माह या एक माह का नियम ले लो। कुछ समय के लिए त्याग की गई वस्तु से क्रमशः धीमे-धीमे त्याग बढ़ाया जा सकता है।

कोई व्यक्ति ऐसे भी नियम लेता है कि मैं एक सप्ताह का भगवान् के अभिषेक-पूजा का नियम लेता हूँ, या मैं सप्ताह में एक दिन शांतिविधान करूँगा, अथवा महीने में एक उपवास करूँगा या पर्व के दिनों में उपवास करूँगा तो वह छोटा-छोटा निमय लेकर मर्यादा करता है। यदि पहले छोटा-छोटा त्याग नहीं करोगे तो बड़े त्याग करने का साहस पैदा नहीं हो सकेगा, छोटे त्याग करने से ही बड़े त्याग करने का साहस मिलता है। जो कोई भी पहलवान बनता है वह पहले छोटे-छोटे बच्चों के साथ कुश्ती लड़ता था, वहाँ से बढ़ता-बढ़ता इतना

बड़ा पहलवान बन गया, अभी तो घर में पहलवान था अब मौहल्ले का पहलवान बन गया, पुनः बढ़ते-बढ़ते विश्व का सबसे बड़ा पहलवान बन गया। तो वह ऐसे नहीं बना, धीमे-धीमे बढ़ते-बढ़ते बन गया। ऐसे ही नियम भी छोटे-छोटे लिए जाते हैं। वे ही एक दिन बड़े व महान् बन जाते हैं।

महानुभाव! बुराई को छोड़ना भी एक नियम है। अच्छाई को ग्रहण करना भी एक नियम है। नियम दोनों प्रकार से लिए जा सकते हैं एक विधिपरक और एक निषेधपरक। जो मेरे जीवन में अपकारक है, हानिकारक है उसका परित्याग करना। कोई कहे मैं अनादिकाल से सेवन करता चला आ रहा हूँ इसका त्याग कैसे करूँ? शनैः-शनैः करो। पहले एक घंटे का करो, फिर एक पहर का करो, इससे आगे तुम्हारा साहस बढ़ेगा, अंदर से हिम्मत आएगी, तुम्हारा आत्मबल जाग्रत होगा, तुम उस बुराई को धीमे-धीमे छोड़ पाओगे। अच्छाई भी एक साथ ग्रहण नहीं हो सकती। उस अच्छाई को भी धीमे-धीमे ग्रहण करते जाओ। एक-एक बूंद मिलती चली जाती है तो धारा बन जाती है धारा ही नाला, नहर व नदी बन पाती है व समुद्र बन जाती है। यदि एक-एक गंदगी का कण दूर करते चले जाओ तो एक दिन निर्मल, स्वच्छ हो ही जाता है, ऐसे ही अपनी अंतरंग आत्मा को स्वच्छ व शुद्ध करने के लिए पहले शरीर की अशुभ क्रिया को छोड़ो पुनः वचन की अशुभ प्रवृत्ति छोड़ो पुनः मन के अशुभ विचारों को छोड़ो, फिर चित्त की अशुद्ध वृत्तियों को छोड़ो, ऐसे छोड़ते-छोड़ते निःसंदेह वह बहुत ऊँचाई तक पहुँच सकता है।

आचार्य भगवन् अनादिकाल से संसार में भ्रमण करने वाले भव्य जीवों के लिए बता रहे हैं कि तुम हिम्मत मत हारो। पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज कहते थे—हे संसार के भव्यप्राणियों! डरो मत, संयम धारण करो, संयम को धारण किए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। यदि मुक्ति की चाह है तो व्रत-नियम का परिपालन करो।

यदि दुःखों से मुक्त होने की इच्छा है तो श्रमणपने को स्वीकार करो, मुनि दीक्षा को ग्रहण करो। यदि अभी मुनि अवस्था को धारण करने की सामर्थ्य नहीं है तो शनैः-शनैः आगे बढ़ते चले जाओ, बढ़ते-बढ़ते आप वहाँ तक पहुँच जाएँगे जहाँ तक अरिहंत और सिद्ध पहुँच गए। जो आज सिद्ध बने हैं वे सीधे सिद्ध नहीं बने, उन्होंने एक बार में ही 148 प्रकृतियों का नाश नहीं किया। जीव उपशम सम्यक्त्व से क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। पुनः कर्म क्षयकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। पश्चात् चारित्र धारण कर कर्म का उपशम करते हुए उपशम श्रेणी वा क्षय करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है। फिर अरिहंत और सिद्ध बनता है।

आचार्य महोदय यही कर रहे हैं कि आप छोटे-छोटे नियम लें, नियमों से डरें नहीं। यदि नियम से घबराकर डर गए तो बड़ा मुश्किल हो जाएगा। देखो—किसी व्यक्ति के सामने आपने बहुत बड़ा काम एक साथ रख दिया कि आपको यह कार्य करना है तो वह काम नहीं कर पाएगा वह घबरा जाएगा। उससे कहो कि थोड़ा-थोड़ा काम करना है तो वह काम कर लेगा। एक रुई धुनने वाला था। वह पूरे गाँव में एक ही था। उसने देखा कि सामने से एक बड़ी गाड़ी आ रही है। उसने पूछा—भाई ये क्या आ रहा है? बताया कि ये रुई है और धुनवाना चाहते हैं, उसने कहा-कौन धुनेगा? बोले आप। वह रातभर इस चिंता में सो नहीं पाया कि मैं इतनी रुई कैसे धुनूँगा? अब वह पागल जैसा हो जाता है। कौन धुनेगा, कौन धुनेगा ऐसा कहता रहता है।

प्रातःकाल उसकी पत्नी नाश्ता लेकर आई पर वह तो बस एक ही धुन गाता रहा इतनी रुई कौन धुनेगा-कौन धुनेगा। डॉक्टर-वैद्य से पूछा, इन्हें क्या हो गया है? ये भोजन क्यों नहीं करते हैं? डॉक्टर बोले इसे मानसिक रोग हो गया है। इसके मन में कोई बात लग गई है, जिसके कारण इसकी भूख-प्यास सब नष्ट हो गयी है। फिर क्या करें? इनके मन को स्वस्थ करना पड़ेगा। क्या उपाय करें? वैद्य ने कहा—कौन धुनेगा कौन धुनेगा ये बार-बार कह रहे हैं तो संभव है बात रुई धुनने की ही है। हो सकता है इन्होंने रुई का बहुत बड़ा ढेर देख लिया हो, उस ढेर को देख करके इनके मन में व्याकुलता पैदा हो गई है और सोच रहा है रुई को कौन धुनेगा, यदि मैं दिन-रात धुनूँगा फिर भी नहीं धुन पाऊँगा।

सब लोगों ने समझाने की कोशिश की भाई! चिंता न करो गाड़ियों को लौटा देंगे, ये करेंगे-वो करेंगे पर उसकी समझ में कुछ नहीं आया। तभी एक छोटा बालक दौड़ता हुआ आया और बोला सुनो-सुनो जो रुई की गाड़ियाँ उधर से आ रहीं थी मैंने देखा उन सब गाड़ियों में आग लग गई। वह कहता है-वाह! बच गया ऽऽऽ। मैं तो बच गया इतनी रुई कैसे धुनता। यद्यपि रुई की गाड़ियों में आग नहीं लगी, वे ज्यों की त्यों हैं वे गाड़ियाँ उसके सामने नहीं लायी गईं। थोड़ी-थोड़ी, एक-एक बोरा रुई आती गई, वह धुनता रहा, ऐसे करते-करते साल भर में उसी ने सारी रुई धुनकर पूरी कर दी। बात ये है कि बड़े कार्य को देखकर व्यक्ति घबरा जाता है।

स्कूल में अध्यापक यदि कह दे कि ये सवाल बहुत कठिन है आप लोग कर नहीं पाओगे, इसे कोई नहीं कर पाया, तो विद्यार्थी अपना साहस खो देंगे। एक बार स्कूल में निरीक्षण करने के लिए टीम आयी, उन्होंने कह दिया यह एक ऐसा सवाल है जिसे हमने 50 स्कूल में दिया,

50 स्कूलों में कोई भी विद्यार्थी ऐसा नहीं निकला जो इस सवाल को हल कर पाए। आज 51वें स्कूल में आए हैं, क्या आपमें से कोई कर सकता है? सभी विद्यार्थी निगाह नीची करके बैठ गए। एक विद्यार्थी ने हिम्मत भी की पर हाथ में चौक उठाते ही घबरा गया व अपनी जगह आकर बैठ गया। बोला कोई नहीं कर पाया तो मैं कैसे कर सकता हूँ। सब हिम्मत हार गए। कुछ दिनों बाद वही टीम फिर आयी, कहने लगी हम 50 स्कूलों में गए उनमें ऐसा कोई स्कूल नहीं मिला जिस स्कूल के विद्यार्थी इस सवाल को हल नहीं कर पाए। सबने मिनटों में हल कर दिया। देखते हैं इस स्कूल में कितने विद्यार्थी हैं जो हल नहीं कर पाएँगे। कई विद्यार्थी खड़े हो गए और हल कर दिया। जब हम कोई बहुत बड़ी समस्या अपने सामने खड़ी कर लेते हैं तो छोटी समस्या भी बड़ी दिखाई देती है और जब बड़ी को हम छोटी के रूप में ग्रहण करते हैं तो बड़ी भी छोटी हो जाती है। हम बड़े नियमों को एक साथ नहीं ले सकते तो छोटे-छोटे नियमों को लेकर आगे बढ़ सकते हैं। महाव्रत एक साथ नहीं ले सकते तो अणुव्रत ले सकते हैं।

यहाँ आचार्य महोदय भी यही कह रहे हैं कि जिन-जिन नियमों को हम आजीवन नहीं ले सकते हैं उन नियमों को वर्ष भर, माह भर, सप्ताह भर के लिए, दो दिनों के लिए, घंटों के लिए, पहर भर के लिए लो, इतना लेते ही आप नियम के क्षेत्र में और आगे बढ़ सकते हैं। आचार्य भगवन् ने कहा-'प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः' यह त्याग करना ही नियम होता है, इन नियमों से घबराओ मत, डरो मत।

महानुभाव! ये मोक्षमार्ग नियम का रणक्षेत्र है। जो संयम के रणक्षेत्र में आगे बढ़ जाता है वह मोक्षमार्ग में आगे पहुँच जाता है। जो व्रत-नियम-संयम के रणक्षेत्र में पीठ दिखाकर कायरों की तरह भाग जाता है वह अनंतकाल तक संसार में पड़ा रह जाता है, अपना कल्याण नहीं कर पाता। आप सभी व्रत-नियम लें, भोगोपभोग की मर्यादा को समझें व ग्रहण कर अपनी आत्मा का कल्याण करें ऐसा हम आप सभी के प्रति शुभ भाव रखते हैं। इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ।।

॥ श्रीशांतिनाथ भगवान् की जय ॥

भोगोपभोग-परिमाण व्रत के अतिचार

विषय - विषतोऽनुपेक्षा - नुस्मृतिलौल्यमति - तृषाऽनुभवो।
भोगोपभोगपरिमा - व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥90॥

अन्वयार्थ–विषयविषतः – विषयरूपी विष में, **अनुपेक्षा** – आदर रखना, **अनुस्मृतिः** – पहले भोगे हुए विषयों का स्मरण करना, **अतिलौल्यं** – वर्तमान के भोगों में अति लालसा रखना, **अतितृषा** – विषय-भोगों की प्राप्ति में अति तृष्णा रखना, **अनुभवः** – विषयानुभव में अत्यधिक आसक्ति होना, **पञ्च** – ये पाँच, **भोगोपभोगपरिमा-व्यतिक्रमाः** – भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार, **कथ्यन्ते** – कहे गए हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्लोक नं. 82 से 89 तक भागोपभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप देखा। अब 90वें श्लोक में आचार्य भगवन् भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार बता रहे हैं। आचार्य भगवन् ने इस व्रत में यम-नियम की परिभाषा, भोग-उपभोग की परिभाषा बताई, अभक्ष्य त्याग की प्रेरणा दी, पाँच प्रकार के अभक्ष्यों की चर्चा की, मर्यादा कैसे करनी चाहिए वह भी बताया। अब बता रहे हैं कि जिसने भोगोपभोगपरिमाण व्रत लिया है ऐसा व्यक्ति संभावित आने वाले दोषों से कैसे बचे। यदि इन अतिचारों से बच जाता है तो अपने व्रतों को नष्ट होने से बचा सकता है। इनके माध्यम से व्रत पूर्णतया नष्ट नहीं होता किन्तु अपने व्रतों में इन दोषों को लगाता हुआ वह आगे बढ़ता है तो व्रत नष्ट होने की कगार पर पहुँच जाता है। वे अतिचार आचार्य महोदय स्वयं बताते हैं–

आचार्य भगवन् ने कहा–पंचेन्द्रियों के विषय अर्थात् जिन पदार्थों का सेवन स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन पाँच इंद्रियों से किया जाता है वे पंचेन्द्रिय के विषय कहलाते हैं। पाँच इंद्रियों से जिसका सेवन नहीं किया जा सकता वह पंचेन्द्रिय के विषय से अतीत हैं। ऐसा कुछ है क्या जो पंचेन्द्रिय के विषय से अतीत हो? हाँ, ऐसा बहुत कुछ है। आप केवल पौद्गलिक पदार्थों का पंचेंद्रिय से सेवन कर सकते हो, वह भी सभी पौद्गलिक पदार्थों का नहीं, कुछ स्कंधों का। स्पर्शन इंद्रिय के माध्यम से स्थूल स्कंध का अनुभव कर पाते हैं, इसके आठ भेद हैं हल्का, भारी, ठंडा, गरम, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम। इन पदार्थों का स्थूल स्पर्श किया व उनका संस्पर्श पाके अपनी धारणा के अनुरूप शुभ और अशुभ परिणाम आते हैं व अपनी धारणा के अनुरूप इनमें आनंद व संक्लेशता की अनुभूति आप करते हैं।

रसना इंद्रिय के माध्यम से पुद्गल मे विद्यमान पाँच प्रकार के रस का अनुभव किया जाता है। यूँ तो जैसे स्पर्शन के 8 भेद थे, अन्य भेद देखने पर असंख्यात भेद होते हैं, असंख्यात लोक

प्रमाण भी संभव हैं। ऐसे ही रस के मूल 5 भेद हैं। उनके उत्तरोतर भेद होते हुए असंख्यात भेद संभव हैं। रसना इंद्रिय के माध्यम से कुछ स्कंधों के रस का परिज्ञान किया जाता है। उस रस में अपनी धारणा स्थापित करके उसका आसक्तिपूर्वक सेवन किया जा सकता है। अपनी धारणा उसके विपरीत बनाकर के उससे विरक्ति भी हो सकती है। घ्राणइंद्रिय विषय के मुख्य दो भेद हैं–सुगंध और दुर्गंध, जिनका सेवन वह करती है। उत्तर भेद इसके भी असंख्यात होते हैं। इसके सेवन करने में अपनी धारणा के अनुसार राग-द्वेष बुद्धि करके आसक्त भी होता है व विरक्त भी हो सकता है। चक्षु इंद्रिय के विषय में यूँ तो वर्ण के अनेक भेद हैं, फिर भी मुख्यतया पाँच भेद हैं। किसी रंग को देखकर के नेत्र आसक्त होते हैं, राग भाव जाग्रत होता है। किसी रंग को देखकर द्वेष भाव जाग्रत होता है। सप्त प्रकार के मुख्य स्वर होते हैं। कर्ण इंद्रिय के माध्यम से उनका अनुभव होता है। किसी स्वर में यह आत्मा राग करती है तो किसी स्वर को सुनकर द्वेष करती है। तो ये पंचइंद्रिय के विषय हैं, वह जीव इनमें शरीर का सुख मानकर, शरीर की अनुकूलता के लिए इनका सेवन करता है। पाँच इंद्रियों का सेवन करने से आत्मा की परिणति में अंतर नहीं आता, ऐसा नहीं कि खट्टा-मीठा-चटपटा खाने से आत्मा की विशुद्धि बढ़ती हो। राग-द्वेष के माध्यम से सेवन करने से विशुद्धि नहीं बढ़ेगी।

महानुभाव! जिस व्यक्ति ने भोगोपभोगपरिमाण व्रत की सीमा ली है ऐसा व्यक्ति पंचेन्द्रिय के विषयों में आदर न करे। पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति आतुर होने वाला व्यक्ति आत्मा की शुद्ध परिणति से छूट जाता है इसलिए आत्मकल्याण करने के लिए, संकल्पपूर्वक यावज्जीवन के लिए पाँच महाव्रत की साधना करना।

पंचेन्द्रिय के विषय नेत्रों के सामने दिखाई दे रहे हों, उन विषयों को देखकर आपकी आत्मा मन व इंद्रियद्वारों के माध्यम से वहाँ तक पहुँच न जाए, उसमें अटककर न रह जाए बस उसे छोड़कर आगे बढ़ जाए, न तो उनसे द्वेष करे, न राग करे, समत्व भाव रखे। तो **'विषय-विषतः'** पंचेन्द्रिय के विषय तो विष की तरह से हैं। **'अनुपेक्षा'** उनकी अपेक्षा नहीं रखना। जो अपेक्षा रखता है तो अतिचार लगाता है इसलिए समभाव रखें। आप कहेंगे यदि वे विषय विष की तरह हैं तो इनसे द्वेष क्यों नहीं करें? द्वेष करना भी गलत है, बस आप तो आगे बढ़ते चले जाओ, उनमें उपयोग मत लगाओ। अच्छे बुरे का निर्णय ही आपको कर्मों से बांधने वाला है, क्या अच्छा क्या बुरा, जो जैसा है उसे वैसा रहने दो, आप आगे चलते जाओ क्योंकि जो आगे चलता जाता है वह अपनी मंजिल तक पहुँच जाता है।

आपका उद्देश्य तो आत्मा को शुद्ध करना है, आत्मा को परमात्मा बनाना है। रत्नत्रय के फल को प्राप्त करना यह आपकी मंजिल है तो फिर आप क्यों संसार के पुद्गल के पीछे पड़े हो। आप उनसे राग कर रहे तो भी गलत है, द्वेष कर रहे तो भी गलत है, समभाव रखो।

आगे कहा **'अनुस्मृति'** पूर्व में भोगे गए भोगों की बार-बार विचारणा करना। स्पर्शन इंद्रिय के भोगों का चिंतन करना कि पहले हम इस प्रकार के वस्त्र पहनते थे, पहले गर्मियों में हमारा कक्ष तो वातानुकूलित था, सर्दी में गरम रहता था अथवा रसना इंद्रिय के भोगों की विचारणा करना कि पूर्व में हम ऐसा भोजन करते थे, इतना मीठा खाते थे, इतना दूध पीते थे, बार-बार स्मृति करना। 'गंध' पहले हम सुगंधित तेल का प्रयोग करते थे, साबुन मंहगे से मंहगा खुशबूदार ही प्रयोग करते थे आदि-आदि की स्मृति करना। 'चक्षु' पहले हम नेत्र के माध्यम से मन को पसंद आने वाले चित्र देखते थे, पिक्चर, चित्रहार आदि देखते थे, हम अपने मन व शरीर को सुख देने का प्रयास करते थे, उनका चिंतन करना। जो चीजें अतीत में जा चुकी, जो मृत हो गईं उनकी स्मृति करके उन्हें क्यों जिंदा कर रहे हो। जो वृक्ष सूख गए हैं उनमें स्मृति का जल डालकर के उन्हें पुनः हरा-भरा क्यों कर रहे हो। ये पंचेन्द्रिय के विषय ही विष की तरह हैं। जिस विषय की मारक शक्ति नष्ट हो गई उसमें फिर से स्मृति रूपी रसायन पदार्थ मिलाकर के पुनः जीवित क्यों कर रहे हो। जो पंचेन्द्रिय विषय रूपी सर्प मूर्च्छित पड़े थे वे स्वयं समय पाकर मर जाते किन्तु हवा चलाकर के उन्हें जीवन दान क्यों दे रहे हो, वे तुम्हें डस लेंगे। तो यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं कि पंचेन्द्रिय विषयों की स्मृति बार-बार मत करो।

फिर हम क्या करें? हमारे पास तो बहुत समय है, जो काटे से नहीं कटता। अरे भाई! समय को काटना भी नहीं है, कर्मों को काटना है। कर्मों को काटने का उपाय है धर्मध्यान, शुभ क्रिया, अशुभ की निवृत्ति, पापों का परिहार, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप प्रवृत्ति। बचपन में आप जो धर्मध्यान करते थे उन्हें सोचो। हम पूजा-पाठ करते थे, स्वाध्याय करते थे, तीर्थयात्रा करते थे बड़े उत्साह के साथ ऐसा चिंतन करो। हम चतुर्विध संघ को आहारादि दान देते थे, उनका विहार कराते थे, व्रत करते थे, जाप लगाते थे, इतने उपवास करते थे इसका चिंतन करो। पंचेन्द्रिय विषयों का चिंतन क्यों करना, उससे तो कर्म का बंध होगा और शुभ की स्मृति कर ली तो आप पुनः उसी धर्म मार्ग पर चल सकते हो। जो व्यक्ति पहले बिगड़ा हुआ था बाद में सुधर गया, पुनः सुधरे माहौल को छोड़कर उसका चिंतन वहीं बिगड़े मार्ग पर पहुँच गया तो व्यक्ति भी लौटकर वहीं पहुँच जाएगा जहाँ से आया था इसलिए उन विषयों की स्मृति नहीं करना। पूर्व के भोगों का, रसों का चिंतन नहीं करना चाहिए।

'अतिलौल्य' वर्तमानकाल में जो विषय मिले हैं उनका लोलुपता के साथ, गृद्धता के साथ सेवन नहीं करना। विषयों का सेवन करो औषधि की तरह से। औषधि रोग परिहार के लिए सेवन की जाती है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव जब विषयों का पूर्णतया त्याग करने में असमर्थ होता है, जब विषयों की तीव्रता सताती हो तब वह पंचेन्द्रिय विषयों का औषधि की तरह सेवन करता है, बाद में छोड़ देता है। स्वस्थ व्यक्ति कड़वी औषधि नहीं खाना चाहता, स्वस्थ व्यक्ति मीठी औषधि भी नही खाना चाहता क्योंकि स्वस्थता में मीठी औषधि भी रोग को पैदा करने वाली होती है। इसलिए कहा अति आसक्ति नहीं।

आगे कहा **'अति तृषा'** भविष्य में मुझे ऐसे-ऐसे भोग मिलें ऐसा चिंतन नहीं करना। निदान एक शल्य है जिसमें आगामी भोगों की आकांक्षा की जाती है। मुझे मेरी तपस्या से यह फल मिल जाए, पुण्यक्रिया से अमुक फल मिल जाए, मैंने इतना त्याग किया मुझको इसका ऐसा फल मिल जाए आदि पंचेन्द्रिय विषयों की याचना करना, अभिलाषा करना भी भोगोपभोग व्रत से डिगाने वाला है। इसलिए साधना करते समय लक्ष्य आत्मा को परमात्मा बनाने का रखो, लक्ष्य **''सकलकर्मक्षयार्थं''** रखो। साधना करते समय लक्ष्य ये रखो कि मैं द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से मुक्त हो जाऊँ, लक्ष्य ये रखो कि अतीत के पाप रूप संस्कार जो बार-बार जाग रहे हैं ये सभी नष्ट हो जाएँ। भविष्य के लिए योजना भी बनाओ तो पुण्य रूप बनाओ कि मैं उत्तम समाधि करूँगा, मैं इस संसार सागर को पार करके ही रहूँगा, ऐसी शुभ, शुद्ध व विशुद्ध भावनाओं को भाते रहो, इसके माध्यम से आप वर्तमानकाल में धर्मध्यान कर पाओगे। भविष्य में भी मेरे व्रतों में दोष न लगे अतः भविष्य की योजना भी अच्छी-अच्छी बनाओ।

आगे कह रहे हैं- **'अनुभव'** कई बार अनुभवों की ही स्मृतियाँ आती हैं। जैसे माना कि कोई व्यक्ति अपना अशुभ अनुभव स्मरण कर रहा हो, सुसराल गया था वहाँ किसी ने अपमान कर दिया, उस समय इतना क्रोध आया था तो यह अनुभव करते ही वही क्रोध का भाव आ गया। अपने प्रति किसी का दुर्व्यवहार याद आ गया तो मन संक्लेशित हो गया या पूर्व के दुःख, कष्ट, पीड़ा की अनुभूति करके आँखों में आंसू आ गए अथवा किसी इष्ट के वियोग का चिंतन करते ही आँखें नम हो गई अथवा मैंने जीवन की कितनी प्रतिकूलताएँ सहन की ऐसे-ऐसे चिंतन नहीं करना। यदि अनुभवों को स्मरण में लाना ही है तो ऐसा अनुभव सोचें कि जब हमने शिखरजी की वंदना की तब कितना आनंद आया, उस दृश्य को अपनी आँखों में देखो, या जब मैंने स्वाध्याय सुना, दीक्षा देखी, केशलोंच देखा तब मेरा वैराग्य कितना प्रबलता को प्राप्त हुआ,

जब मैंने समाधि देखी तब कितना आनंद आया था, मुनियों को आहारादि दान देते समय कैसा आनंद आ रहा था, उस आनंद की अनुभूति करो। ऐसा करने से आपकी सकारात्मक ऊर्जा वृद्धि को प्राप्त होगी। यदि आप दु:ख, शोक, भय, संक्लेशता, पीड़ा, आवेग आदि का अनुभव करते हैं तब नि:संदेह आपकी संक्लेशता बनती है और आपके व्रत टूट सकते हैं।

महानुभाव! अतिचारों की उत्पत्ति अतितृषा, अति आसक्ति से होती है। पंचेन्द्रिय के विषयों की अतितृषा, अतिआसक्ति होने से बाह्य वृत्ति से व्रतों का पालन करने पर भी अन्तर्वृत्ति से व्रती च्युत हो जाता है, अत: व्रतों के अतिचार पाँच-पाँच ही नहीं अपितु अन्तर्वृत्ति से च्युत हो जाना ही अतिचार है। कभी अन्तर्वृत्ति से च्युत नहीं होने पर भी बाह्यवृत्ति से व्रतों में दूषण लग जाते हैं इसलिए व्रतों की रक्षा करने के लिए अतिचारों को जानकर उनसे दूर रहना चाहिए।

जो व्रती जीव अपने व्रतों का निरतिचार रूप से पालन करते हैं उनके लिए आचार्य भगवन् श्री सुधर्मस्वामी जी ने कहा-

भोगोपभोग - संख्यानं, ये कुर्वन्ति व्रताप्तये।
ते स्वर्गादिसुखं भुक्त्वा, शीघ्रं यान्ति शिवालयम्॥8/220॥

जो पुरुष अपने व्रत पालन करने के लिए भोग और उपभोग के पदार्थों का परिमाण नियत कर लेते हैं, बाकी सबका त्याग कर देते हैं वे स्वर्गादि के सुखों को भोगकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जिनके मन से कामादि भोगों की तृष्णा का त्याग है और जिनके हृदय में संतोष है वे ही उत्तम श्रावक इस संसार में धन्य हैं। भव्य जीवों को अपना अहिंसा व्रत शुद्ध रखने के लिए इन दोषों का (अतिचारों का) त्याग कर देना चाहिए। जो संतोषपूर्वक इस भोगोपभोग परिमाणाणुव्रत को निर्मल व उत्तम रीति से पालन करते हैं वे अवश्य ही अनुक्रम से सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। और जो इस संसार में ही अत्यंत आसक्त होकर भोगोपभोगों को तथा मन व इंद्रिय विषयों को भोगते हैं वे संसार में ही रोगादिक अनेक महादु:खों को प्राप्त होते हैं। इसीलिए बुद्धिमान मनुष्यों को अपनी आत्मा की सिद्धि के लिए और आत्मकल्याण करने के लिए व्रत का शुद्ध व निर्मल मन से सदा पालन करते रहना चाहिए। आप सभी का शुभ हो, मंगल हो, कल्याण हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

5
शिक्षाव्रताधिकार

शिक्षाव्रत के भेद

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥91॥

अन्वयार्थ–देशावकाशिकं – देशावकाशिक, **वा** – अथवा, **सामायिकं** – सामायिक, **प्रोषधोपवासः** – प्रोषधोपवास, **वा** – तथा, **वैय्यावृत्यं** – वैय्यावृत्ति, **एतानि चत्वारि** – ये चार, **शिक्षाव्रतानि** – शिक्षाव्रत, **शिष्टानि** – कहे गए हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार में यहाँ चार शिक्षाव्रत की बात कही। श्रावक के आठ मूलगुण की चर्चा हुई, पाँच अणुव्रत का स्वरूप, भावना एवं अतिचार की बात कही, तीन गुणव्रत, उनके अतिचार के संबंध में कहा। शिक्षाव्रत क्या है, क्यों आवश्यक है, क्या उसका उद्देश्य होना चाहिए, इसके माध्यम से जीवन में क्या लाभ संभावित है? शिक्षाव्रत सुनते ही यह बात ध्वनित होती है कि कोई नई बात बताई जा रही है। कोई निर्देश दिए जा रहे हैं, कोई विशेषताएँ जीवन में उपलब्ध हों उसकी विधि बताई जा रही है।

प्रायःकर के प्रत्येक नए कार्य को प्रारंभ करने के पूर्व ट्रेनिंग दी जाती है। कोई भी विद्यार्थी चाहे पुस्तकों से कितनी भी पढ़ाई करे, पढ़ाई करने के उपरांत उसके प्रेक्टिकल होते हैं, उसका ट्रेनिंग पीरियड़ भी होता है। चाहे कोई इंजीनियर हो, डॉक्टर हो, एडवोकेट हो या I.P.S, I.A.S, I.R.S, किसी की भी पोस्ट पर हो उनके अधिकारियों को प्रारंभ में ट्रैनिंग दी जाती है। ट्रेनिंग दिए बिना उन्होंने जिस उच्च पद पर सफलता प्राप्त की है उस उच्चपद पर ज्यों का त्यों आसीन कर दिया जाए तब उनके माध्यम से बहुत सा अनर्थ हो सकता है इसलिए पहले ट्रेनिंग देना जरूरी होता है।

महानुभाव! यहाँ तक कि किसान भी अपने बालक को पहले ट्रेनिंग देता है कि बेटा खेती कैसे करनी चाहिए, उद्योगपति अपने पुत्र को व्यवसाय की ट्रैनिंग देता है, गृहिणी अपनी बेटी को रसोई आदि तैयार करने की ट्रैनिंग देती है, उसी तरह अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाता है। यदि कोई विद्यार्थी पुनः अध्यापक बनता है तो उसे पुनः ट्रैनिंग लेनी पड़ती है। पढ़ना अलग है और पढ़ाने की विधि के लिए ट्रैनिंग अलग चीज है। यहाँ तक कि जो कोई शासक होते हैं, राजा को भी युवराज होने पर ट्रैनिंग दी जाती है, कोई शीर्षस्थ नेता होता है वह एक साथ सीधा उच्चपद पर नहीं पहुँचता, ऐसा नहीं कि पहली बार में ही वह देश का राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री बन जाए, उसे भी समाज सेवा की ट्रैनिंग होनी चाहिए। पहले छोटे-मोटे पदों पर रहकर सेवा देता है, बाद में अनुभव होने पर उच्चपद का अधिकारी होता है। अनुभवहीन व्यक्ति अपने कार्य में निःसंदेह असफलता ही प्राप्त करता है।

इतना ही नहीं साधु भी जब दीक्षा लेते हैं तो उन्हें भी ट्रैनिंग दी जाती है, उन्हें भी शिक्षा व निर्देश दिए जाते हैं, किस प्रकार से चलना, किस प्रकार से बैठना-उठना, वस्तु कैसे रखना-उठाना। ये पाँच समिति रूप मुनिमहाराज की ट्रैनिंग होती है, उनकी प्रवृत्ति पहले से शुरु हो जाती है।

किसी गुरुकुल में कुछ राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, जब उनकी शिक्षा पूर्ण हुई तब उनके गुरुकुल के अधिष्ठाता आचार्य ने सभी विद्यार्थियों से कहा आपकी शिक्षा लगभग पूर्णता की ओर है, अमुक दिवस आपको विदाई दे दी जाएगी। सभी राजकुमार के माता-पिता लगभग पहुँच चुके थे। विदाई समारोह का कार्यक्रम प्रारंभ हो रहा था, सब विद्यार्थी अनुशासित थे। सभी राजकुमारों ने अपने अधिष्ठाता, प्राचार्य या अन्य शास्त्रीजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। जिस गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की उस गुरुकुल की भूमि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित की, जिस स्थान से भिक्षावृति की उन निकटवर्ती ग्रामों के व्यक्तियों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित की और इसके साथ-साथ सबसे क्षमा याचना की व भाव प्रकट किया कि आपकी दी हुई शिक्षा हमारे जीवन में फलीभूत हो इसके लिए हम आपको गुरुदक्षिणा देना चाहते हैं। जो कुछ भी आप गुरुदक्षिणा माँगना चाहें वह हमारी क्षमता के अनुसार माँग सकते हैं।

सामान्यतया सभी राजकुमार के जो माता-पिता आए थे उन्होंने यथायोग्य सभी आचार्य, प्राचार्य अधिष्ठाता को सम्मानित किया और विदाई की। एक राजकुमार ऐसा था जिसकी विदाई के लिए अधिष्ठाता प्राचार्य ने कहा कि अभी तुम्हारी गुरुदक्षिणा पूर्ण नहीं हुई। उस राजकुमार ने कहा गुरुदेव क्या गुरुदक्षिणा है बताइए? सभी राजकुमार तो विदा हो गए एक

विशिष्ट राजकुमार जिसके लिए संभव यह था कि वह केवल एक छोटे से राज्य का संचालन नहीं करेगा, इसका पिता निःसंदेह बहुत बड़े राज्य का शासक है और ये अपने पिता से भी अधिक बड़ा शासक बनकर पूरे देश पर शासन कर सकता है, पूरे देश को एकता के सूत्र में बांध सकता है। प्राचार्य ने उस राजकुमार से कहा–आपकी विदाई अभी नहीं होगी। वह शिष्य अकेला रह गया, उसके माता–पिता भी उसके सामने थे। उसने करबद्ध अंजलि मस्तक पर रख प्रणाम करते हुए कहा—गुरुदेव, जैसा आपका संकेत, जब आपका कहना होगा तभी मेरा जाना होगा। आपने मेरी गुरुदक्षिणा भी स्वीकार नहीं की, आप जो कहें मैं अपनी शक्ति अनुसार उसे देने का प्रयास करूँगा। उसके माता–पिता ने भी हाथ जोड़कर कहा आपने जो हमारे पुत्र को योग्यता दी है हम उसकी क्या कृतज्ञता ज्ञापित करें, यावज्जीवन इसका ऋण न चुका सकेंगे। फिर भी आपका क्या मन है, राज्य की तरफ से वह व्यवस्था कर दी जाएगी। गुरुकुल का विस्तार करना हो या अन्य किसी व्यवस्था की अपेक्षा है। आप सबके सामने कहने में सकुचा रहे थे, अब आप कह सकते हैं।

प्राचार्य ने कहा ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु गुरुदक्षिणा तो लेना चाहता हूँ। राजकुमार को सामने बुलाया और कहा अपने हाथ ऊपर करो। राजकुमार हाथ ऊपर कर खड़ा हो गया। अधिष्ठाता प्राचार्य ने कोड़ा लिया और उस पर बरसाना प्रारंभ किया। बेचारा राजकुमार नाजुक शरीर वाला; यद्यपि गुरुकुल में रहकर शरीर अच्छा बन गया किंतु राजकुमार तो राजकुमार, जीवन में कभी कोड़े तो नहीं पड़े। परंतु जैसे ही 10–5 कोड़े पड़े वह तड़प गया, उसके माता–पिता की आँखों से आँसू बहने लगे। आचार्य ने सब प्रकार की परीक्षा ली, जमीन पर सुलाया, नंगे पैर दौड़ाया, भिक्षावृत्ति कराई, सब प्रकार की अस्त्र–शस्त्र कला में निपुण बनाया और यह गौरव के साथ सभा में कहा कि इस गुरुकुल का यदि श्रेष्ठतम विद्यार्थी है तो यह राजकुमार है, पर अब इस प्रकार का व्यवहार क्यों कर रहे हैं। माता–पिता कुछ कहें उससे पहले आचार्य ने कहा–ठहरो! मैं अपनी गुरुदक्षिणा ले रहा हूँ। राजकुमार फिर भी सिर झुकाए खड़ा था। वह चुपचाप कोड़े खाता रहा, एक शब्द भी मुख से नहीं कहा। पुनः आचार्य ने अपना कोड़ा फेंक दिया और उसे अपने गले से लगा लिया। कहा–धन्य हो तुम, बस मेरी गुरुदक्षिणा पूर्ण हुई। माता–पिता को समझ नहीं आया कि ये कैसी गुरुदक्षिणा है।

आचार्य ने कहा–यदि आप शब्दों में ही समझना चाहते हैं तो मैं समझा देता हूँ—यह भविष्य का शासक बनेगा, पूरे देश को एकता के सूत्र में बांधेगा, इसकी शक्ति पराक्रम निःसंदेह अनुपम है। ये कितना सहनशील हो सकता है ये इसकी परीक्षा थी। तुरंत क्रोध में आकर

कुपित होकर के दण्ड दे सकता है, फांसी की सजा दे सकता है, ग्रामों को उजड़वा सकता है, आग लगवा सकता है, कोई भी सजा दे सकता है और छोटी-छोटी गलती पर राजा जैसा आदेश देता है लगाओ 100 कोड़े, 500 कोड़े, अब जब भी यह किसी को सजा देगा, सबसे छोटी सजा कोड़ा मारने की सजा होती है, कोड़े की सजा बोलने के पहले इसे जरूर याद आएगा कि विदाई से पहले मुझे कोड़े पड़े थे, कोड़ा पड़ने का कष्ट क्या होता है। उस समय यह तौल करके एक कोड़े की भी ज्यादा आज्ञा नहीं कर सकता। शासक अनुशासन के लिए होता है उसके अंदर करुणा का भाव भी होना चाहिए।

महानुभाव! उस गुरुकुल के आचार्य ने उसकी जो परीक्षा ली वह ट्रैनिंग थी कि वह कितना सहनशील हो सकता है। राजाओं को कितने संघर्षों का सामना करना पड़ सकता है। ऐसे ही एक बार साधु बनने से पहले एक भक्त किसी महात्मा के पास आया और बोला महाराज! मैं साधु बनना चाहता हूँ। उन्होंने उसकी ओर देखा ही नहीं, उसने दुबारा कहा—फिर भी नहीं सुना, तीसरी बार पुनः कहा तो महात्मा ने कहा—पहले पतली कर। वह भक्त समझ नहीं पाया कि क्या पतली कर। वह भक्त दो-चार बार आया और यही कहता कि मुझे साधु बनना है—मुझे साधु बना दो। कुछ समय पश्चात् उसकी भाषा में अंतर आया, वह बोला मेरा आपसे निवेदन है मुझे दीक्षा दे दीजिए, फिर अंतर आया कि मैं आपकी कृपादृष्टि चाहता हूँ, फिर अंतर आया आपके चरणों की रज मुझे पाने का सौभाग्य मिले। अभी तक तो वह हाथ बांधकर प्रार्थना करता था पर धीमे-धीमे इतना अंतर आया कि साष्टांग लेटकर के, चरणों में माथा रखकर के कहता है कि ये तो पद दलित मिट्टी है, आप चाहें तो इसे मंगलकलश बनाएँ। गुरु की कृपादृष्टि होती है, मेरा सामर्थ्य नहीं है कि आपका शिष्य भी बन सकूँ। यदि आपके पाद स्पर्श हो जाएँ तो संभव है यह मिट्टी चंदन जैसी बन सकती है। आपके चरण स्पर्श का माहात्म्य है, आप तो पारसमणि की तरह से हैं, पारसमणि का स्पर्श पाकर लोहा भी सोना बन जाता है।

साधु महात्मा ने दीक्षा से पूर्व उस भक्त की परीक्षा ले ली, वह ट्रैनिंग में पास हो गया अब वह दीक्षा ले सकता है। तो ऐसी ट्रैनिंग आचार्य महाराज भी लेते हैं, कई बार शिष्य को गलती करने का मौका देते हैं जबकि पहले समझा दिया ऐसी गलती नहीं करना है, फिर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देंगे जिससे वह गलती करे और परीक्षा लेते हैं कि शिष्य क्या करेगा। जब शिष्य इन परीक्षाओं में पास होता है, अपना साहस-धैर्य नहीं छोड़ता, उसकी लगन तीव्र होती है तब दीक्षा के योग्य बनता है। फिर भी गुरु महाराज दीक्षा नहीं देते, उसकी शोभायात्रा

निकलवाते हैं, बिनौली निकलवाते हैं, गोद भराई कराते हैं। देखते हैं इसे रुपया-पैसा से कितना लगाव है, उसका सम्मान करवाते हैं कि ये सम्मान में कितना आनंदित होता है। देखते हैं यदि इसको इसी में अच्छा लग रहा है तो कहते हैं अभी तुम दीक्षा के योग्य नहीं हो। यदि विरक्त है तो दीक्षा देते हैं।

पहला देशावकाशिक अर्थात् देशव्रत में आचार्य महोदय कह रहे हैं कि मुनिराज सर्वदेश के त्यागी होते हैं किंतु श्रावक सर्वदेशत्यागी नहीं होता, वह ली हुई सीमा में भी कुछ प्रमाण नियत कर अपने व्रतों का पालन करता है। सामायिक अर्थात् समता भाव। त्रिकालवंदना, षट् आवश्यक की शिक्षा सामायिक व्रत से प्राप्त होती है। प्रोषधोपवासो अर्थात् अष्टमी-चतुर्दशी का उपवास करना सप्तमी, नवमी, त्रयोदशी अमावस्या/पूर्णिमा को एकासन करना यह शिक्षा इस प्रोषधोपवास से प्राप्त होती है तथा वैय्यावृत्य अर्थात् मुनिराज, उपाध्याय, आचार्यदेव की सेवा करना, आहारादि दान देने तथा लेने की विधि का अभ्यास कर अतिथिसंविभाग व्रत या वैय्यावृत्य की शिक्षा प्राप्त होती है। ये सब श्रावक के लिए मुनि बनने का एक मार्ग है, ट्रैनिंग है। आचार्य महाराज ने यहाँ शिक्षाव्रत कहकर नामोल्लेख किया है। इन चारों का स्वरूप आगे विस्तार से बताएँगे। आज बस इतना ही....

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

देशावकाशिक शिक्षाव्रत का लक्षण

देशावकाशिकं स्यात्काल-परिच्छेदनेन देशस्य।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य॥92॥

अन्वयार्थ–विशालस्य देशस्य – दिग्व्रत में धारण किए गए विशाल देश का, **कालपरिच्छेदनेन** – दिन-रात-मास-वर्ष आदि काल की मर्यादा से, **प्रत्यहं** – प्रतिदिन, **प्रतिसंहारो** – त्याग करना, सो, **अणुव्रतानां** – अणुव्रतधारियों का, **देशावकाशिकं** – देशावकाशिक नामक व्रत, **स्यात्** – होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में आचार्य भगवन् श्रीसमंतभद्रस्वामी द्वारा रचित श्रावकों के व्रतों को देख रहे हैं। इस अध्याय में आचार्य महोदय ने श्रावक के चार शिक्षाव्रतों का कथन किया। श्रावक के चार शिक्षाव्रत देशावकाशिक व्रत, सामायिक व्रत, प्रोषधोपवास व्रत व वैय्यावृत्ति या अतिथिसंविभाग व्रत हैं। ये चार व्रत मुनि बनने की शिक्षा देते हैं। मुनि शब्द का अर्थ है जो मन-वचन-काय- कृत-कारित अनुमोदना से हिंसादि पाँच पापों का यावज्जीवन के लिए त्याग कर चुका है। नवकोटि से पाँच पापों का त्याग करने वाला मुनि एक साथ तो बन नहीं जाएगा, उसे पहले धीमे-धीमे कदम बढ़ाने होते हैं। जिसे हवाईजहाज से यात्रा करनी होती है उसे पहले घर से Airport तक पहुँचने के लिए direct Aeroplane का सहारा नहीं लेना पड़ता वरन् किसी छोटे व्हीकल का (वाहन) सहारा लेना पड़ता है। किसी को ट्रेन से यात्रा करनी हो तो घर से ही ट्रेन में नहीं बैठता, रेलवे स्टेशन तक पहुँचने के लिए किसी अन्य वाहन का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे ही मुनि बनने के लिए सीधे मुनिव्रत पालन नहीं करता, उसके पहले मुनिव्रतों की ट्रेनिंग लेती होती है, वे ट्रेनिंग वाले व्रत मुनिव्रत नहीं होते, श्रावक के व्रत होते हैं। जो Airport पहुँचा है वह हवाईयात्रा कर सकता है। जो रेलवे स्टेशन पहुँचा है वह रेलयात्रा कर सकता है किन्तु उससे पहले उसे अन्य वाहन की आवश्यकता पड़ेगी, वह उसमें कारण है, वहाँ तक पहुँचे बिना Aeroplane and train से यात्रा करना संभव नहीं है।

महानुभाव! ये चार शिक्षाव्रत मुनित्व की ओर ले जाने वाले हैं, मुनित्व की भावना जाग्रत करने वाले हैं, संस्कारों को डालने वाले हैं और अंदर में साहस पैदा करने वाले हैं। इन चार व्रतों से कैसे प्रभाव पड़ता है, देखते हैं–मुनिराज सर्वक्षेत्र के त्यागी जहाँ बैठे हों वहाँ भी यह नहीं कह सकते कि मेरा आश्रम है, मेरा कमरा है, वे सर्वत्यागी होते हैं। तो सर्वत्यागी बनने के पहले उस क्षेत्र का त्याग तो कर दो जो आपके उपयोग में नहीं आ रहा, उसका त्याग तो

कर दो जिसकी आपको आवश्यकता नहीं है इसके लिए आपने व्रत-नियम लिया, अनावश्यक बहुत क्षेत्र का त्याग कर यावज्जीवन की मर्यादा ले ली तो उसमें भी थोड़ी-थोड़ी मर्यादा घटाते चले जाओ। दिन, प्रहर, घंटे, दो घंटे, दो दिन, चार दिन, सप्ताह, पहर, मास आदि तक मैं इतने क्षेत्र के बाहर नहीं जाऊँगा। तो उसने दिगव्रत में ली मर्यादा का बहुत हिस्सा कम कर दिया, इस प्रकार बाहर के समस्त क्षेत्र में अणुव्रती भी महाव्रती सरीखा हो गया, इन पापों से बच गया यह उसकी महाव्रती बनने की ट्रेनिंग हुई।

यहा श्लोक 92 में आचार्य महाराज देशावकाशिक व्रत के बारे में बताते हैं।

'देशावकाशिकं स्यात्' – वह देशावकाशिक व्रत है जो **'कालपरिच्छेदनेन देशस्य'**-काल की मर्यादा करके इतने समय तक-पल, प्रतिपल, विपल, विपलांग, घड़ी, मुहूर्त्त, घंटा, प्रहर, दिवस अहोरात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग इत्यादि समय की मर्यादा कर ली कि इतने समय तक मैं इतने क्षेत्र के बाहर नहीं जाऊँगा। तो पहले काल खण्ड निश्चित कर लिया इसका आशय है इतने काल तक इस क्षेत्र के बाहर जो कुछ भी है उसमें मेरा उपयोग नहीं लगा, मैंने सबका त्याग कर दिया। उस क्षेत्र में वह अणुव्रती भी महाव्रती सरीखा हो जाता है। तो क्षेत्र की सीमा कम करता चला जा रहा है। **'प्रत्यहं अणुव्रतानां'** उस अणुव्रती ने प्रतिदिन **'प्रतिसंहारो विशालस्य'** विशाल क्षेत्र का प्रतिसंहार किया और छोटी सी सीमा रख ली। दिग्व्रत में लिया कि मैं भारत वर्ष के बाहर नहीं जाऊँगा किन्तु प्रतिदिन तो आपको जाने का मौका नहीं पड़ता, आपने मर्यादा ले ली कि 1 वर्ष तक मैं अपने प्रान्त के बाहर नहीं जाऊँगा, अब इसमें भी आपने मर्यादा कर ली कि चौमासे में इस जिले के बाहर नहीं जाऊँगा। अब उसमें भी मर्यादा कर ली कि मैं 4-5 कि.मी. से बाहर नहीं जाऊँगा फिर और मर्यादा कर ली कि अभी तो मैं समायिक कर रहा हूँ या सुबह से शाम तक यहीं रहना है। इस घर से बाहर नहीं जाऊँगा, फिर और मर्यादा ले ली कि मैं सामायिक करते समय इस कमरे के बाहर नहीं जाऊँगा, मैंने आसन लगा लिया 3.5 फीट इधर, 3.5 फीट उधर इतने स्थान से बाहर नहीं जाऊँगा।

आचार्य महोदय यहाँ कहना चाह रहे हैं कि इससे किस प्रकार व्यक्ति पापों से बच सकता है। जैसे-कोई गाय खूँटे से बंधी थी, उस गाय की रस्सी माना कि एक हजार हाथ की थी तो वह गाय हजार हाथ तक के खेतों तक जाकर घास चर सकती है, उसकी फसल को उजाड़ सकती है। खेत में फसल नहीं होती थी घास होती थी तब रस्सी एक हजार हाथ कर दी तो गाय वहाँ तक घास चर लेती थी, और जब खेत में फसल होती थी तब वह किसान अपनी गाय की रस्सी को एक हजार हाथ से कम करके मात्र दस हाथ की रस्सी कर देता था जिससे

वह गाय वहीं चक्कर लगा लेती। वहीं के वहीं चक्कर लगाने से वे सभी खेत बच गए। गाय जितने खेत उजाड़ती उतना कष्ट ही सहन करना पड़ता, किसान उसको मारता। दूसरे उदाहरण से कहें–कोई बालक खेल रहा था, खेलते-खेलते उसने दीपक उल्टा दिया, जिससे कमरे में जितनी पुस्तकें थी वे जल गईं और बाहर जो पुस्तकें रखीं थी वे बच गईं। यदि कमरा नहीं होता बाहर ही सब पुस्तकें रखीं होती, हजारों-लाखों पुस्तकें भी जल सकती थी। तो जितनी कम जगह उतना उससे कम अपराध हुआ। गाय का जितना कम रस्सा था उतनी कम फसल खराब की तो गाय वाले को हर्जाना भी कम ही देना पड़ेगा, मगर लम्बी रस्सी होती तो बहुत दूर तक का खेत खराब करती और बहुत बड़ा हर्जाना चुकाना पड़ता।

महानुभाव! व्यक्ति यदि 1000 बल्ब जलाए, मीटर घूम रहा है, बिल ज्यादा आएगा। आवश्यकता उसे एक बल्ब के प्रकाश की है। उसने नियम ले लिया कि एक बल्ब ही जलाऊँगा तो उसे पाप भी कम लगा और बिल भी कम पेमेंट करना पड़ा। पूरे बल्ब जलाता तो बहुत ज्यादा बिल भरना पड़ता। तो जितने ज्यादा क्षेत्र में व्यक्ति अनर्थ करता है उतने क्षेत्र का पाप उसे लग जाएगा। जितना क्षेत्र कम होगा उतना पाप कम लगेगा। माना किसी व्यक्ति ने एक गिलास पानी में जहर घोल दिया, उस पानी को असावधानी से किसी ने पी लिया, पीकर वह एक व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो गया किन्तु कोई व्यक्ति पूरे तालाब में जहर घोल दे तो? सब पशु-पक्षी-मनुष्य उस जल का पान करके मृत्यु को प्राप्त हो जाएँगे। यानि देशावकाशिक का आशय हुआ आपका क्षेत्र बहुत कम हो गया, उतने ही क्षेत्र में आप पाप कर पा रहे हैं। यदि आपका क्षेत्र ज्यादा होता तो नि:संदेह आपको पाप का आस्रव भी ज्यादा होता।

आचार्य महाराज बता रहे हैं कि देशावाकाशिक व्रत वह होता है जिसमें निश्चित काल की मर्यादा होती है। यह व्रत यम रूप से नहीं लिया जाता यह नियम रूप से लिया जाता है। यम रूप से दिग्व्रत होता है। देशावकाशिक व्रत नित्य-नित्य भी लिया जाता है। देशावकाशिक व्रत में श्रावक अपनी सीमा घटा भी सकता है बढ़ा भी सकता है। इस व्रत को पालने वाला व्रती सोचता है जितने कम क्षेत्र में मेरा गमनागमन का काम चल जाए उतना अच्छा, मुझे सीमा बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। कहीं व्यक्ति ने कोई वस्तु जलाई, धुआँ विषाक्त था, वह धुआँ किसी कमरे में बंद हो गया, कमरे की खिड़की दरवाजे बंद थे इसलिए वह धुआँ कमरे के बाहर नहीं निकला, उस विषाक्त धुएँ से उस कमरे के जीवों का ही तो घात होगा यदि वह विषाक्त धुआँ पूरे वातावरण में चला जाता तो उस वातावरण में रहने वाले अनेक जीवों का घात हो जाता।

ऐसे ही जब क्षेत्र अल्प होता है तो फिर मन-वचन-काय की प्रवृत्ति उतने ही क्षेत्र में होती है। देशावकाशिक व्रत को लेने वाले व्यक्ति का पाप उतना कम रह जाता है जैसे किसी व्यक्ति ने फुलझड़ी चलाई और एक व्यक्ति ने तोप चलाई या बम फेंका। तोप-बम फेंकने से घात ज्यादा हुआ ऐसे ही जो देशावकाशिक का पालन नहीं करते हैं वे समझो बम चलाने या तोप चलाने के बराबर पाप कर रहे हैं। भले ही दिग्व्रत ले लिया फिर भी उन्हें पाप का आस्रव ज्यादा हो रहा है किन्तु जो देशावकाशिक व्रत की सीमा और कम करता चला जा रहा है तो समझो उसने तिली मात्र जलाई, वह जली पुनः बुझकर रह गई, ज्यादा अनर्थ नहीं हुआ। ऐसे ही देशावकाशिक व्रत पालन करने वाला व्यक्ति बहुत सारे पापों से बच जाता है। यूँ समझो उसका संसार बहुत कम रह जाता है, चुल्लू भर पानी के बराबर।

महानुभाव! आचार्य महाराज का अभिप्राय यह है कि श्रावक जब तक पूरे संसार के समस्त क्षेत्र का त्याग करने में असमर्थ है तो वह धीमे-धीमे त्याग करे। आचार्य महोदय समझा रहे हैं कि जो तुम्हारे लिए अनावश्यक है पहले उसका त्याग करो, जिसमें बहुत पाप होता है, तुम्हारा प्रयोजन नहीं है उसका त्याग करो। जिसके माध्यम से स्थावर जीवों की हिंसा हो रही हो उसका भी त्याग करो। बस वही काम करो जिससे आपका प्रयोजन है, आचार्य महाराज संकोच करते-करते जो अनात्मा है, पौद्गलिक पदार्थ हैं उन सबका संकोच करते-करते केवल आत्मा के समीप में ले जाना चाहते हैं।

किसी की धुरी से जो परिधि है वह गर छोटी होगी तो चक्कर जल्दी लग जाएगा और परिधि बड़ी होगी तो चक्कर बड़ा लगेगा। देशावकाशिक व्रत में जैसे क्षेत्र की सीमा कम हो जाती है वैसे ही उस जीव का परिभ्रमण भी कम हो जाता है और जो यह व्रत ग्रहण नहीं करता है उसके तीन लोकों के समस्त जीवों के प्रति राग-द्वेष का भाव हो सकता है, अन्य भाव भी हो सकते हैं, परिग्रह के प्रति मूर्च्छा भी जाग सकती है। श्रावक-श्राविकाओं को अपने क्षेत्र की सीमा कम करते रहना चाहिए। जब वह बाहर की वस्तुओं को छोड़ता चला जाएगा तो वह अपनी आत्मा के समीप पहुँच पाएगा।

महानुभाव! देशावकाशिक व्रत अन्यत्व भावना का पोषण करने वाला है। इस व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति अन्य क्षेत्र का, अन्य द्रव्य का, अन्य भावों का त्याग करके स्वात्मा के समीप पहुँच सकता है। आप सभी देशावकाशिक व्रत का निर्दोष पालन करें और इसका पालन करते-करते महाव्रती बनने की भावना भाएँ ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं। इसी भावना के साथ...

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

देशावकाशिक व्रत के क्षेत्र की मर्यादा

गृहहारिग्रामाणां, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च।
देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः॥93॥

अन्वयार्थ–तपोवृद्धाः – तपोवृद्ध गणधरादिक आचार्य, **देशावकाशिकस्य** – देशावकाशिक व्रत के क्षेत्र की, **सीम्नां** – मर्यादा को, **गृहहारिग्रामाणां** – अमुक घर, छावनी, गांव, **च** – तथा, **क्षेत्रनदीदावयोजनानां** – खेत, नदी, वन और योजन तक की, **स्मरन्ति** – स्मरण करते हैं अर्थात् कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में श्रावकों के शिक्षाव्रतों को समझाते हुए देशावकाशिक व्रत के बारे में बता रहे हैं। अब उसी बात को कि क्षेत्र की मर्यादा कैसे लेना है दूसरे प्रकार से समझा रहे हैं।

यहाँ कह रहे हैं कि श्रावक क्षेत्र की सीमा बनाए। वह क्षेत्र को चिह्नित कैसे करे कि हमने इस चिह्न से बाहर जाने का त्याग कर दिया। जैसे प्रकृति ने एक शाश्वत सीमा बनाई है, उस सीमा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, वह सीमा बनाई कि जीव कभी भी लोकत्रय की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता, दूसरी सीमा बनाई कि त्रस जीव कभी त्रसनाली का उल्लंघन नहीं करते, तीसरी सीमा बनाई कि मनुष्य ढाईद्वीप का उल्लंघन नहीं कर सकता, चौथी सीमा बनाई नारकी कभी नरक के बिलों का उल्लंघन नहीं कर सकते, अगली सीमा बनाई कि विकलत्रय जीव कर्मभूमि में ही संभव हैं भोगभूमि में नहीं किन्तु ये सीमा तो प्रकृति के द्वारा प्रदत्त सीमा है। मनुष्य अपनी सीमा को जितना कम करता चला जाएगा उतना स्वयं के निकट पहुँचता चला जाएगा। जो व्यक्ति स्वाश्रित होता है, स्वयं के निकट होता है, स्वयं में वास करता है वह उतना ही अपने स्वभाव के करीब होता है। स्वभाव में सुख है, शांति है, अमन-चैन-आनंद है। विभाव में दुःख है, क्लेश है, आंतक है, प्रतिकूलता है, भ्रमण है, दर्द है, दुरावस्था है इसीलिए आचार्य महाराज ने कहा सीमा बनाते जाओ।

ये बात आचार्य समंतभद्रस्वामी जी कह रहे हैं, मैं नहीं कह रहा। अपने से बड़ों का नाम लेने से कृतज्ञता ज्ञापित होती है, अपने से बड़ों का नाम लेने से उनके प्रति सम्मान ध्वनित होता है, हम उनकी आज्ञा में हैं यह बात स्पष्ट होती है, अपने से बड़ों का नाम लेने से घोषित होता है कि ये शासन उन्हीं का है। तो आचार्य महाराज ने पद के अन्त में शब्द दिया 'तपोवृद्धाः' वृद्ध शब्द कहने से व्यक्ति के मन में यूँ आ जाता है कि जो चलने में लड़खड़ाये,

जिसके दाँत भी टूट गए हों, आँखों की ज्योति कम हो गई हो, कानों से कम सुनाई देता हो, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी हों, अपना शरीर उससे नहीं संभल रहा हो ऐसी कल्पना आ जाती है। विद्वत्वर दौलतराम जी ने तो उस वृद्ध को अर्द्धमृतक कह दिया।

बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो।
अर्द्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो॥

महानुभाव! तपोवृद्ध वे हैं जिन्होंने आत्मकल्याण का मार्ग बताया। जब जाग जाओ तभी सवेरा, तभी से चलना प्रारंभ कर दो। मंजिल तुम्हारी बहुत दूर है, जब तुम्हें सम्यक्मार्ग का बोध हो जाए तुरंत ही गलत रास्ते से चलते-चलते लौट जाना सम्यक्मार्ग की ओर। जो सम्यक्मार्ग को जानकर भी मिथ्यामार्ग को नहीं छोड़ते उनका सम्यक्मार्ग जानना, न जानने से ज्यादा खतरनाक हो जाता है और वे कभी सम्यक्मार्ग की मंजिल को प्राप्त नहीं कर पाते। 'वृद्ध' शब्द कई प्रकार से सुनने में आता है-कोई कहता है ये ज्ञानवृद्ध हैं, ये आयु वृद्ध हैं, ये केशवृद्ध हैं ये तनवृद्ध हैं, ये तपवृद्ध हैं, ये अनुभव वृद्ध हैं। छह प्रकार के वृद्ध होते हैं।

आयुवृद्ध-जिसकी आयु के चार भाग में से तीन भाग निकल गए तब वृद्धत्व की अवस्था मानी जाती है। आयु वृद्ध की दशा कैसी होती है-

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दंतविहीनं जातं तुण्डं।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदनपि मुंचत्याशापिण्डं॥

जिसके अंग शिथिल पड़ गए हों, सिर सफेद हो गया हो, दाँत निकल गए हों, मुख थैली जैसा हो गया हो, गर्दन बिना हिलाए हिलने लगी हो। युवावस्था में तो सतर्क हो जाएँ तो गर्दन बिल्कुल हिले ही नहीं, न डरें, न कापें किंतु वृद्धावस्था में कितनी भी रोकने की कोशिश करो फिर भी हिल ही जाती है। वृद्धवस्था इतनी आ गई कि हाथ में डंडा ले लिया, उसके बिना चला नहीं जाता, तब भी वृद्धावस्था में आशा नहीं छूटी, वह आयु वृद्ध है। जिसके बाल श्वेत हो गए वह केश वृद्ध है। जिसके पास अथाह शास्त्रों का ज्ञान है, वह ज्ञान वृद्ध है चाहे बालक ही क्यों न हो। एक बालक के बाल भी सफेद हो सकते हैं, बालक का ज्ञान युवा, प्रौढ़ व वृद्ध से भी ज्यादा हो सकता है। तपोवृद्ध वह है जो तप करने वाला, इच्छाओं का निरोध करने वाला है। फिर होता है अनुभव वृद्ध जिसने अनुकूलता-प्रतिकूलता देखी हैं, जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं, जीवन में अनेक प्रकार के रंग, सुरंग, दुरंग सब देखें हैं, जिसने शूलों के भी ढेर देखे व जीवन में सर्व ओर फूलों के भी ढेर देखे, कभी धूप देखी तो कभी छांव देखी, कभी राजमहल के राजा सम भोगों का आनंद लिया तो कभी नारकी तुल्य पीड़ा भी सहन करी हो वह अनुभव वृद्ध होता है।

महानुभाव! यहाँ कह रहे हैं तपोवृद्धाः' अनुभव वृद्ध तो मिथ्यादृष्टि भी होता है सम्यग्दृष्टि भी होता है किन्तु तपोवृद्ध सम्यग्दृष्टि ही होता है। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी कह रहें हैं कि तपोवृद्ध गणधर परमेष्ठी को माना गया है। तीर्थंकर आदि तपोवृद्ध हैं जिन्होंने इच्छाओं का निरोध करके उच्च श्रेणी को प्राप्त कर लिया, इच्छाओं का निरोध करने वालों में भी वे अग्रगण्य हैं। वृद्ध के बारे में कहा जाता है। **'वृद्धैव समृद्धाः'** जो पुरुष वृद्ध है वह समृद्ध है किंतु वह वृद्ध ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध और तपोवृद्ध हो। हमारे गुरुमहाराज विद्यानंद जी महाराज कहते थे ''वृद्धानारी ईश्वरी'' नारी वृद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाए तो उसकी मन-स्थिति शुद्ध हो जाती है। बाल्यावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था में चंचला रही हो तब भी वृद्धावस्था में इसकी मनःस्थिति शुद्ध हो जाती है इसलिए उसे ईश्वरी का रूप माना जाता है।

किसी देश का युवा राजा जो अनुभवहीन था उसे राजगद्दी पर बिठाया गया। वह अपने पिता के नक्शकदम पर चलना नहीं चाहता था अपनी नई नीति बनाना चाहता था। विराजित होते ही उसने नया नियम लागू कर दिया, नियम बनाया कि ये वृद्ध पुरुष काम तो कुछ करते नहीं हैं बस दाम खर्च करते रहते हैं, इनकी दवाई में दाम खर्च करते रहो। काम करें युवा, नाम होता है वृद्ध का। ये वृद्ध पुरुष पेन्शन लेते हैं टेन्शन देते हैं, ये वृद्ध जो हैं इनसे कोई लाभ नहीं है। बहुरानी को वृद्ध माता तो असाता जैसी लगती है, पिता तो ऐसा लगता है जैसे जीवित चिता हो इसलिए उस राजा ने नियम ही बना दिया की वृद्धों को नगर के बाहर जंगल में छोड़ दिया जाए। वहाँ के जंगली पशु उनका भक्षण करके अपना पेट भरें, उनकी तृप्ति हो और वृद्धों को मुक्ति मिले।

अब उस राजा के निमय का उल्लंघन कौन करे, राजनियम का उल्लंघन मतलब प्राणदण्ड। सभी युवा अपने वृद्ध माता-पिता को छोड़ने जंगल जाते। एक बालक भी अपने वृद्ध माता-पिता को जंगल में छोड़ने जा रहा था। बालक की उम्र ज्यादा नहीं थी क्योंकि प्रौढ़ अवस्था के प्रवेश में उसके माता-पिता ने उसको जन्म दिया था। बालक के पिता मार्ग में पेड़ों की कुछ लकड़ियों को तोड़ते जा रहे थे। बेटे ने पूछा, पिता जी! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं, क्या कारण है? उसने कहा-बेटा! जिससे तुम वापिस लौटकर आओगे तो रास्ता भटक न जाओ, जिससे तुम इसी मार्ग से सीधे आ सको। उसे लगा मेरे पिता मृत्यु की गोद में जाते-जाते भी मेरे हित के बारे में सोच रहे हैं, मैं अपने पिता को नहीं छोडूँगा और वह अपने पिता को वापस ले आता है। उसने अपने पिता को अपने घर में ही छुपाकर रख लिया। एक दिन राजा ने सभा में कुछ प्रश्न पूछे, वह प्रश्न बड़े चुनौतीपूर्ण थे। पहला प्रश्न पूछा इस सभा में ऐसा कौन व्यक्ति है जो राख की रस्सी बनाकर ला सकता है, दूसरा प्रश्न जो स्वर्ण के कंगन को पानी में तैरा

सकता है और तीसरे प्रश्न के रूप में एक मूँगा लिया, जिसमें एक वक्र छेद था इसमें सूत का धागा कौन डाल सकता है। एक-एक प्रश्न बारी-बारी से क्रम से सभी से पूछे।

सभा में सन्नाटा छा गया, सभी युवा सोचने लगे राख की रस्सी कैसे बटी जा सकती है। वह बालक अपने पिता के पास गया, पूछा-पिताजी! क्या करना चाहिए? उसके पिता ने कहा रस्सी को थाली में रखकर जला दो और राजा को भेंट कर दो वह जली राख की रस्सी हो गई। कंगन को लकड़ी में फंसाओ और पानी में डाल दो वह लकड़ी के साथ तैरता चला जाएगा। मूँगा में सूत डालना है तो छोर पर थोड़ा गुड़ लगाकर मूंगा चींटी के बिल के पास रख दो। बेटे ने ऐसा ही किया। जब राजा ने देखा तो कहा-यह कार्य तो किसी वृद्ध का ही हो सकता है, युवा का नहीं। बालक ने रहस्य खोला और कहा मेरे घर में मेरे वृद्ध पिता हैं। राजा को बात समझ में आ गई कि वास्तव में वृद्ध पुरुष कितने काम के होते हैं।

राजा ने बालक के पिता का सम्मान किया और पुनः अपना आदेश निरस्त कर दिया कि कोई अपने माता-पिता को जंगल में छोड़कर नहीं आएगा। राजा को समझ आया कि वृद्ध समाज की महत्वपूर्ण समृद्धि हैं समाज की अचल सम्पत्ति हैं। वृद्ध जीवन में समृद्धि का कारण तो हैं ही और निःसंदेह वृद्धों के पास एक जोश होता है व होश होता है। युवा के पास मात्र जोश होता है, बिना होश के जोश व्यर्थ है। वृद्ध जल की तरह से हैं और युवा वायु की तरह से, जलवायु मिलती है तभी समृद्धि होती है। वृद्ध जड़ की तरह से हैं व युवा पत्र, फल, पुष्प की तरह से हैं उस फल, पत्ते के बिना वृक्ष की शोभा नहीं है यह बात सत्य है किन्तु जड़ के बिना वह संभव ही नहीं। वृद्ध-युवा दोनों ही किसी भी समाज के निर्माण के लिए आवश्यक हैं।

आचार्य महाराज यहाँ कह रहे हैं कि तपोवृद्ध पुरुषों ने देशावकाशिक व्रत के लिए कहा कि देशावकाशिक व्रत में तृष्णा को घटाने के लिए और पापों से निवृत्त होने के लिए अणुव्रती का कर्तव्य होता है कि वह प्रतिदिन अज्ञान और प्रमाद को छोड़कर दिग्व्रत के अभ्यन्तर भी प्रसिद्ध घर, गली, ग्राम, नदी, क्षेत्र और योजनादिक की मर्यादा करके देशव्रत का पालन करे। अर्थात् 'गृह'-मैं इस घर के बाहर नहीं जाऊँगा, 'हारि' इस मौहल्ले, गली या छावनी के बाहर नहीं जाऊँगा, 'ग्राम'-गाँव के बाहर नहीं जाऊँगा, 'क्षेत्र, नदी' किसी अमुक क्षेत्र के बाहर नहीं जाऊँगा व अमुक नदी के पार नहीं जाऊँगा 'दावयोजनानां च' अमुक स्थान व इतने योजन से बाहर नहीं जाऊँगा इस प्रकार देशावकाशिक व्रत की जो मर्यादा ली जाती है वह मर्यादा देशावकाशिक व्रत को शोभित करने वाली होती है। यह भी अनावश्यक पापों से बचाने वाली है। इस प्रकार यहाँ क्षेत्र मर्यादा की बात कही। सुख-शांति के मार्ग को प्राप्त करने के लिए आप सभी देशावकाशिक व्रत का पालन करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ....

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

देशावकाशिक व्रत में काल की मर्यादा

संवत्सरमृतुरयनं मास - चतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः॥94॥

अन्वयार्थ–प्राज्ञाः– गणधरादिक आचार्य, **देशावकाशिकस्य** – देशावकाशिक व्रत की, **संवत्सरं** – एक वर्ष, **ऋतुः** – दो मास, **अयनं** – छह मास, **मासचतुर्मासपक्षं** – एक मास, चार मास व एक पक्ष, **च** – और, **ऋक्षं** – अमुक नक्षत्र तक, **कालावधिं** – काल की मर्यादा, **प्राहुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–यहाँ आचार्य भगवन् ने देशावकाशिक व्रत का स्वरूप समझाते हुए कहा कि किस प्रकार क्षेत्र की मर्यादा कम करते जाएँ। अब काल की मर्यादा का क्रम कहते हैं। जहाँ पर दिग्व्रत की मर्यादा के बारे में बताया कि जिस दिन से दिग्व्रत लिया जाता है तब से लेकर के मृत्युपर्यंत या अणुव्रतपर्यंत उस दिग्व्रत का पालन किया जाता है। आप सोचेंगे दो बात क्यों कहीं–मृत्युपर्यंत और अणुव्रतपर्यंत। महाव्रती बन जाने के उपरांत श्रावकों के व्रतों का कोई औचित्य नहीं रहता क्योंकि अणुव्रत तो भवन में लगी एक छोटी खिड़की की तरह से थे और महाव्रत दीवारों से रहित निरभ्र आकाश में निवास करने वाले उस अखिल लोक रूपी भवन की तरह से हैं।

यहाँ देशव्रत के स्वरूप के संबंध में बता रहे हैं कि वह कितने समय का लिया जाता है। आचार्य समंतभद्रस्वामी पंचमकाल में हुए इसलिए पंचमकाल की तरह से ही मर्यादा बता रहे हैं। यदि वे चौथे काल में हुए होते तो चतुर्थकाल की अपेक्षा से मर्यादा बताते। यदि वे तृतीयकाल के अंत में हुए होते तो तृतीय काल की अपेक्षा से मर्यादा बताते। आप सोच रहे होंगे कि देशव्रत का स्वरूप तृतीयकाल के अंत में, चतुर्थकाल के अंत तक एक ही प्रकार का रहता है फिर मर्यादा अलग-अलग प्रकार की क्यों? पंचमकाल के मनुष्य की उत्कृष्ट आयु शताधिक वर्ष की हो सकती है। चतुर्थकाल के मनुष्य की अधिकतम आयु एक कोटि पूर्व भी हो सकती है। तृतीयकाल के अवसान के मनुष्य की आयु एक कोटिपूर्व से ज्यादा भी हो सकती है।

अब यहाँ पर भगवन् आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने देशव्रत की मर्यादा का कथन समय की अपेक्षा से किया तो समय की इकाईयों को लिया। समय की इकाई भारतीय संस्कृति के अनुसार अलग है, पाश्चात्य संस्कृति के अनुसार अलग। भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रतिविपुलांश, प्रतिविपुल, विपुल, विपुलांश, पल, विपल, घड़ी, आवली, मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त, अहोरात्रि, प्रहर,

सप्ताह, पक्ष, मास, चतुर्मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, शताब्दी आदि समय की इकाईयाँ हैं। आचार्य महोदय देशव्रत की मर्यादा अब शताब्दी से ज्यादा नहीं कहेंगे, सहस्राब्दी नहीं कहेंगे क्योंकि ने जानते हैं पंचमकाल के मनुष्य की आयु सहस्राब्दी में नहीं हो सकती। पर्व, पर्वांग, पूर्व, पूर्वांग, लता, लतांग, हू, हूमाँग, कुमुद, कुमुदांग इत्यादि ये सब आपने हरिवंश पुराण में पढा होगा कि इतने अंकों तक जैन गणित के अनुसार संख्या गिनी जा सकती है। भौतिक गणित के अनुसार पाइथागोरस महाराज ने गणित सार संग्रह लिखा। पाइथागोरस मुनिराज वे थे जिन्होंने दशमलव, शून्य एवं गणित की अन्य पद्धति एवं विभिन्न विधाओं के बारे में भारतीय लोगों को ज्ञान कराया।

यहाँ पर आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी पंचमकाल के भव्य सुधी श्रावक-श्राविकाओं के लिए, आत्मकल्याण के इच्छुक महानुभावों के लिए यह मर्यादा बता रहे हैं। जो कुतर्क करने वाले हैं, कषाय के उद्रेक से सहित हैं, जिनकी रुचि न स्वहित में लगती है न परहित में लगती है ऐसे व्यक्तियों के लिए नहीं बता रहे अपितु ऐसे व्यक्तियों के लिए जो मंद कषायी हैं, भद्र परिणामी हैं, सरल-सहज हैं आत्मकल्याण के प्रति जागरूक हैं, जो प्रत्येक समय का सही-सही सदुपयोग करने की सामर्थ्य रखते हैं, अपने आप को पाप कर्म से मलिन नहीं होने देना चाहते अपितु पाप कर्म से बचाना चाहते हैं उन सुधी श्रावक-श्राविकाओं के लिए यह देशव्रत का स्वरूप काल की मर्यादा के अनुसार बता रहे हैं।

वे स्वयं कर्त्ता नहीं बन रहे, वे तो कहना चाह रहे हैं कि मैं तो एक पोस्टमैन हूँ। पोस्टमैन का कार्य होता है यहाँ का समाचार वहाँ दिया, वहाँ का समाचार यहाँ दिया; किन्तु समाचार में किंचित् भी हेर-फेर नहीं करता। जिसका पता लिखा होता है उसी को समाचार दे दिया जाता है। ऐसे ही आचार्य भगवन् भव्य जीवों के हितार्थ यहाँ शास्त्र की रचना कर रहे हैं। जिसमें समाचार को, सूत्रों को, आगम वचनों को भव्यजीवों को दिया जा रहा है, अभव्य जीवों को नहीं दिया जा सकता। जैसे राजकीय गुप्तसंदेश राजा को ही दिया जाता है किसी और को नहीं, सेनापति का संदेश सेनापति तक, अमात्य का अमात्य को, महारानी का महारानी तक अर्थात् जिसके नाम पत्र है वही उस पत्र को खोलने व पढ़ने का अधिकारी है अन्य कोई नहीं। ऐसे ही आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने जो संदेश दिया है वह भव्यों के लिए है अभव्यों के लिए नहीं, मंद कषायी जीवों के लिए है उग्र कषायी जीवों के लिए नहीं, भद्र परिणामी के लिए है क्रूर परिणामी के लिए नहीं, आत्मकल्याण के इच्छुक के लिए है आत्मकल्याण से विमुख के लिए नहीं, परकल्याण में जो सहयोगी बनना चाहता है उसके लिए है जो परकल्याण का विरोधी बनना चाहता है उसके लिए नहीं।

तो आचार्य भगवन् ये संदेश किसको दे रहे हैं यह तो बता दिया अब यह पत्र आया कहाँ से तो कहा- 'देशयामि समीचीनं' समीचीन प्रकार से कहता हूँ, कहाँ से कहता हूँ इसके लिए उन्होंने जगह-जगह पर कहा-तपोवृद्धाः जो तप में वृद्ध हैं उन्होंने कहा, 'समयज्ञः' जो समय को जानने वाले हैं उन्होंने कहा, या 'प्राज्ञः' जो प्रकृष्ट ज्ञान के पुंज हैं उन्होंने कहा या 'धर्मेश्वराः' जो धर्म के ईश्वर हैं, तीर्थंकर हैं उन्होंने कहा, मैं नहीं कह रहा। यह समाचार उन सर्वज्ञ तीर्थंकर केवली का है। निःसंदेह उनकी दृष्टि इतनी व्यापक रही कि एक शब्द नहीं वरन् अनेक संबोधनों से अपने धर्मप्रवर्तक का उच्चारण किया। कोई व्यक्ति अपने धर्मप्रवर्तक को तीर्थंकर मात्र कह सकता है पर उन्होंने कहा 'धर्मेश्वराः' अर्थात् जो धर्म के ईश्वर हैं, किसी मत या मान्यता मात्र के नहीं। 'आर्य'-जो आर्यों में श्रेष्ठ हैं, सर्वज्ञ, प्रत्यक्षज्ञानी, केवली ऐसे शब्दों का प्रयोग किया।

प्रज्ञ पुरुष इस समय की अवधि को कहते हैं। 'ज्ञ' शब्द ज्ञान का वाची है 'प्र' प्रकृष्ट अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान। प्रकृष्ट ज्ञान कभी आत्मा से अलग नहीं होता इसलिए 'प्रज्ञ' शब्द से इस ज्ञान के धारक का भी बोध होता है। यह प्रज्ञपना जिसके अंदर है वह प्राज्ञ है। प्राज्ञ शब्द का अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान को धारण करने वाले तीर्थंकर भगवान् के लिए होता है और प्राग् शब्द का अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान की भावना भाने वाला व्यक्ति, तीर्थंकर भगवान् का शिष्य जो गणधर परमेष्ठी भी होते हैं, श्रुतकेवली अन्य मुनिराज भी होते हैं। यहाँ कहा 'प्राज्ञः' जो प्रकृष्ट ज्ञान को धारण करने वाले तीर्थंकर भगवान् हैं । प्रकृष्टज्ञान केवलज्ञान होता है जो सिर्फ अरिहंत व सिद्धों के पास होता है इसके अतिरिक्त किसी तीसरे के पास नहीं। प्रकृष्ट ज्ञान को धारण करने वाले जब अरिहंत सिद्ध ही हैं तो उनमें सिद्ध तो अशरीरी हैं वे कुछ कह नहीं सकते, अब बचे सर्वज्ञ केवली भगवान्। केवली में भी सात प्रकार के होते हैं तीर्थंकर केवली, सामान्य केवली, समुद्घात केवली, मूक केवली, उपसर्ग केवली, अन्तःकृत केवली और अनुबद्ध केवली इन सात प्रकार के केवलियों में मूक केवली की दिव्यध्वनि नहीं खिरती, उपसर्ग केवली व अन्तःकृत केवली की भी दिव्यध्वनि नहीं खिरती, सामान्य केवली का खिरने का नियम नहीं है। जिसका खिरने का नियम है वे तीर्थंकर केवली हैं, चाहे वे किसी भी क्षेत्र के हों विदेह के, भरत के या ऐरावत क्षेत्र के। दिव्यध्वनि नियम से वर्षपृथक्त्व काल के लिए तो खिरेगी ही खिरेगी। 3 वर्ष से 9 वर्ष तक का समय है इससे कम नहीं हो सकता और अधिकतम कुछ कम एक कोटि पूर्व तक भी खिर सकती है।

महानुभाव! ऐसे तीर्थंकर केवली भगवान् ने समय की मर्यादा लेने की विधि बताई। संवत्सर-अर्थात् वर्ष। आप पूछते हैं अभी कौन सा वर्ष चल रहा है तो 2546 वां, 2078 वां

या 2020 ऐसा कहते हैं। तो वह किसकी अपेक्षा से है। अलग-अलग व्यक्ति के नाम विशेष से, घटना विशेष से, महापुरुष विशेष से यह वर्ष का प्रारंभ हो गया। पुनः जब अतीत का समय ज्यादा हो जाता है तो नव-नव पुरुषों के माध्यम से वर्षों का प्रारंभ हो जाता है। प्रायःकर सभी सम्प्रदाय वाले व्यक्ति अपने-अपने युगपुरुष के नाम से उस वर्ष का प्रारंभ करते हैं और प्रारंभ करते नहीं हैं प्रारंभ हो जाता है। जैसे भगवान् महावीर स्वामी जी का मोक्ष हुआ कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन अथवा चतुर्दशी की रात्रि अमावस्या का प्रातःकाल मोक्ष हुआ तो अगले वर्ष उसी माह की उसी तिथि में लोगों ने कहा भगवान् महावीर स्वामी को मोक्ष प्राप्त किए एक वर्ष हो गया, तब प्रथम वीरनिर्वाण दिवस हो गया, दूसरा हो गया, तीसरा हो गया ऐसे मनाते-मनाते चले आ रहे हैं। अब भगवान् महावीर स्वामी को मोक्ष प्राप्त किए 2546 वर्ष हो गए। तो ये वर्ष उनके नाम से चलता चला आ रहा है। ऐसे ही कोई किसी अन्य पुरुष से प्रभावित होकर वर्ष का प्रारंभ करता है।

भगवान् महावीर स्वामी से पूर्व जिनशासन के 23 तीर्थंकर और हुए, उनके नाम से भी संवत्सर चले, भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी पर उपसर्ग हुआ अहिच्छेत्र में संवत्सर चला होगा, या भगवान् महावीर स्वामी की जन्म तिथि से संवत्सर। ऐसे ही आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी के नाम से द्विसहस्राब्दी महोत्सव, सम्राट खारवेल जो कलिंग चक्राधिपति थे उनके नाम से या अमोघवर्ष सम्राट के नाम से या चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से या आचार्य धरसेनस्वामी के नाम से, आचार्य भद्रबाहु स्वामी अंतिम श्रुतकेवली के नाम से या अंतिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी जी के नाम से, विक्रमादित्य राजा हुए उनके राज्याभिषेक वाले दिन चैत्र सुदी पढ़वा से विक्रमसंवत प्रारंभ हुआ या ईसा हुए उनके नाम से ईसवी सन् चला।

युग का प्रारंभ और संवत् का प्रारंभ अनादिनिधन परम्परा के अनुसार श्रावणवदी एकम से होता है क्योंकि आषाढ़ सुदी पूर्णमासी अंतिम दिन होता है। तो अलग-अलग प्रकार से संवत् की परम्परा है। ईसवी सन् 1 जनवरी से प्रारंभ होकर 31 दिसम्बर तक पूरा हो जाता है। तो संवत्सर अर्थात् वर्ष की मर्यादा। संवत्सर अनेक प्रकार का होता है सममास 12 माह वाला, 360 दिन वाला, 366 दिन वाला या 13 माह वाला भी हो जाए जिसमें मलमास जोड़ दिया जाए वह वर्ष एक ही माना जाता है।

'ऋतु'-ऋतु छह होती हैं। चैत्र-वैशाख में बसंत ऋतु, ज्येष्ठ-अषाढ़ में ग्रीष्म ऋतु, सावन-भादों में वर्षा ऋतु, आश्विन-कार्तिक में शरद ऋतु, अगहन-पौष में हेमन्त ऋतु, माघ-फाल्गुन में शिशिर ऋतु होती है। तो इन ऋतुओं की मर्यादा लेना। **'अयनं'**-अयन छह माह का होता है। जब सूर्य उत्तरायण होते हैं या दक्षिणायन होते हैं तो छह महीने के लिए होते हैं। **माह**-तीस दिन का भी

होता है, 31 दिन का भी होता है, 28 दिन का भी होता है, कभी 29 दिन का भी होता है। तिथि कभी घटती भी है, बढ़ती भी है, सम भी रहती है तो लगभग 28 दिन से लेकर 31 दिन तक के बीच का समय यथाअनुकूल मास माना जाता है। **'चातुर्मास'** चार माह का होता है। जैन परम्परा के अनुसार वह श्रावण वदी एकम् से लेकर के कार्तिक सुदी पूर्णमासी तक प्रथम चातुर्मास, द्वितीय चातुर्मास अगहन वदी एकम् से लेकर के फाल्गुन सुदी पूर्णमासी तक, तृतीय चातुर्मास चैत्र वदी एकम् से लेकर के अषाढ़ सुदी पूर्णमासी तक होता है।

'पक्ष'-पखवाड़े को कहते हैं। 15 दिन का एक पखवाड़ा होता है। अमावस्या के बाद एकम् से लेकर पूर्णमासी तक अथवा पूर्णमासी के बाद एकम् से लेकर अमावस तक पक्ष कहलाता है। **'मृक्षं च'** अर्थात् 'नक्षत्र' लगभग नक्षत्र की मर्यादा मानें तो 24 घंटे या 60 घड़ी। किन्तु इसमें नक्षत्र की मर्यादा कुछ कम-ज्यादा भी होती है। कोई नक्षत्र 60 घड़ी के होते हैं, कोई 45 घड़ी के होते हैं एक अभिजीत नक्षत्र ऐसा है जो 15 घड़ी का ही होता है। कोई नक्षत्र ऐसे भी होते हैं जो 60 घड़ी से दीर्घ भी होते हैं। जैसे लगन का समय निश्चित नहीं है कम ज्यादा हो जाता है ऐसे ही नक्षत्र का समय भी कम ज्यादा हो जाता है उसके अनुसार फिर तिथियों का समय भी कम-ज्यादा घट-बढ़ जाता है। इस प्रकार वह देशव्रती श्रावक या श्राविका अपने देशव्रत के पालन के लिए काल की मर्यादा करता है कि इतने समय के लिए मैं इतने स्थान से बाहर नहीं जाऊँगा। ऐसा प्राज्ञ पुरुष कहते हैं।

महानुभाव! प्राज्ञ वही है जो तपोवृद्ध है, तपोवृद्ध वही हैं जो केवली बन गए हैं, जिन्होंने तपस्या का फल प्राप्त कर लिया है, उसके बाद सिद्धत्व अवस्था है वहाँ तप का फल नहीं है। शरीर से रहित आत्मा तप से रहित है। अब आप कहेंगे क्या आप तपस्वियों से केवलियों का ग्रहण करना चाह रहे हैं। क्या सयोगकेवली, अयोगकेवली तपस्वी हैं। अरे! तप तो अनशनादि बारह प्रकार के बताए हैं क्या तीर्थंकर प्रभु अनशनादि बाह्य छह तप बुद्धिपूर्वक करते हैं? क्या प्रायश्चित्तादि छह प्रकार का अंतरंग तप करते हैं? बुद्धिपूर्वक तप करना तो प्रारंभिक भूमिका है। जब तप करते-करते अभ्यास हो जाता है तब फिर अपने आप तप होता है। सयोगकेवली अवस्था में बारहवें नंबर का तप जिसे 'ध्यान' कहते हैं वह ध्यान नामक तप में शुक्लध्यान का तीसरा और चौथा पाया होता है। वहाँ भी तप है इसलिए सबसे श्रेष्ठ तपस्वी तो 13वें 14वें गुणस्थान वाले हैं।

महानुभाव! वृद्ध का सम्मान कभी भी, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में कम नहीं किया जा सकता। जैसे सोना-सोना है किसी भी अवस्था में उसका मूल्य कम नहीं होता। दूध से घी

का मूल्य हर काल में ज्यादा होता है, बाल्यअवस्था दूध की तरह है, रबड़ी-मलाई, मक्खन-मावा युवावस्था की तरह से हैं, दही प्रौढ़ावस्था की तरह से और नवनीत वृद्ध अवस्था की तरह से मानना चाहिए। नवनीत दूध का सार है ऐसे ही मानव जीवन का सार है तो वृद्ध अवस्था है। सौभाग्य है कि वृद्ध अवस्था मनुष्यों को आती है, देवों-नारकी -भोगभूमि के जीवों को नहीं आती और विकलेन्द्रिय जीवों को नहीं आती, उसकी आयु तो पहले ही नष्ट हो जाती है। हाँ, ये बात भी ठीक है कि उत्कृष्ट मनुष्यों को भी वृद्ध अवस्था नहीं आती। उत्कृष्ट मनुष्यों को तपोवृद्ध कह सकते हैं वयोवृद्ध नहीं कहते। किन्तु वयोवृद्ध भी समाज में होते हैं, वे भी सम्मानीय, प्रशंसनीय, आदरणीय होते हैं। वे वृद्ध पुरुष छाया की तरह होते हैं, हो सकता है छाया में रहने वाला वृक्ष न पनपे किन्तु छाया में रहने से ताप से सुरक्षा जरूर होती है। वह वृद्ध पुरुष आपके घर में लगी टीन की तरह से है, जो तपता है उससे गर्मी नीचे आती है आपको आभास होता है किन्तु वह शीतलता को व गर्मी के ताप को रोक लेता है। कोई पत्थर मारे तो टन-टन की आवाज भी आती है किन्तु वह पत्थर आपके सिर तक नहीं आ पाता; इसी तरह से जब तक घर में वृद्ध माता-पिता हैं तब तक कोई आपत्ति आपके सिर तक नहीं आ पाती, वे अपने ऊपर ही ले लेते हैं। अगर वृक्ष की जड़ में कीड़ा लगे तो कीड़ा वृक्ष की जड़ तक ही लगता है वह कीड़ा पुष्प, फल तक नहीं पहुँचने पाता। वृक्ष की जड़ें लड़कर के कीड़े को समाप्त कर देती हैं या फिर ज्यादा ही परेशानी आ जाए तो फिर समूचा वृक्ष ही उसका शिकार बनता है। वृद्धों की सलाह कभी नकारना नहीं चाहिए उनकी सलाह हर अवस्था में लाभदायक होती है।

एक वृद्ध राजहंस पक्षी ने अपने बच्चों से कहा कि नीचे नहीं बैठना चाहिए, आप राजहंस हैं आप अपने कद को व पद को भूलो मत, अपनी मर्यादा का उल्लंघन करके नीचे गए तो आप दु:खों को प्राप्त करोगे। पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज जी कहते थे **'ऐसी जगह बैठ कोई न कहे उठ, ऐसी बात बोल कोई न कहे चुप।'** तो उस वृद्ध हंस पक्षी ने भी अपने बच्चों से कहा कि आप ऊँचे स्थान पर बैठो। बच्चों ने कहा—आप बूढ़े हो गए हो ना, उड़ नहीं पाओगे न, शिकारी आएगा तो क्या हमारी आँखें नहीं हैं, वो ज्यों ही आएगा त्यों ही हम उड़ जाएँगे। वे पक्षी के बच्चे प्रतिदिन नीचे जमीन पर बैठने लगे। एक शिकारी उन्हें रोज देखने लगा और एक दिन धोखे से ऊपर से आकर ऐसा जाल डाला कि हंस के बच्चे उस जाल में फँस गए। अब वे राजहंस से कहने लगे-काका ठीक कहते थे। हमने आपकी बात नहीं मानी और हम इसमें फँस गए। अब हम क्या करें, कोई उपाय है? आप वृद्ध हैं, अच्छी बात कहते हैं, पर हम आपको वृद्ध, समृद्ध, योग्य तब मानेंगे जब आप हमें इस जाल से मुक्ति का उपाय बता दें, हमें मुक्ति दिला दें।

राजहंस पक्षी ने कहा–यदि आप लोग मेरी बात मानोगे तो मुक्त भी हो जाओगे। वृद्ध की बात मानने से ऋण मुक्ति होती है, रोग मुक्ति होती है, दायित्वों से मुक्ति होती है, बंधन से मुक्ति होती है, निर्धनता से मुक्ति व बहुत सारी प्रतिकूलताओं से मुक्ति मिल जाती है। क्योंकि वृद्ध के पास एक ऐसी युक्ति होती है जिस युक्ति के माध्यम से समग्रता का मार्ग प्राप्त किया जा सकता है। राजहंस पक्षी ने कहा–चिंता न करो, जब वह शिकारी आएगा, मैं शब्द करूँगा, त्यों ही आप आँख खोलकर, श्वाँस रोककर प्राणायाम कर लेना, हाथ-पाँव ढीले छोड़ देना। ऐसा प्रतीत होना चाहिए जैसे आप मृत हो चुके हो। जो स्वयं को जीते जी मृत प्रस्तुत कर देता है उसे कोई भी बंधन में नहीं डाल पाता, उसे कोई भी कर्म बांध नहीं पाता। हम जीते जी पत्थर की मूर्ति की तरह से समत्व भाव में लीन हो जाएँ तो कोई कर्म बांध नहीं पाएगा, ऐसे ही कोई शिकारी आपको बांध नहीं पाएगा। जैसे ही शिकारी आने को हुआ वृद्ध हंस ने आवाज की, सभी बच्चों ने उसी प्रकार की प्रवृत्ति कर ली शिकारी ने सोचा ये सभी तो मृत हो चुके हैं और अपना जाल उठाने लगा। हंस पक्षी ने पुनः आवाज की और सभी पक्षी उड़ गए।

महानुभाव! गणधर परमेष्ठी को भी प्राज्ञ कहा जाता है, आचार्य परमेष्ठी को भी विशेषण में प्राज्ञ कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है–

प्राज्ञः प्राप्त-समस्त-शास्त्र-हृदयः प्रव्यक्त-लोक-स्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभा-परः प्रशमवान् प्रागेवदृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्न-सहः प्रभुः पर-मनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद् धर्म-कथां गणी-गुणनिधिः प्रस्पष्ट-मिष्टाक्षरः॥

प्राज्ञ का पहला विशेषण जो बुद्धिमान् है। 'प' अक्षर क्यों लिया? यह पवित्रता का प्रतीक है, 'प' अक्षर से परमात्मा का नाम प्रारंभ होता है। यह पुण्य का वाची है। 'प' अक्षर निःसंदेह प्रशस्तता का प्रतीक है, 'प' अक्षर के माध्यम से अपनी प्रवृत्ति को प्रकृष्ट बनाया जाता है और प्रकृति में भी 'प' अक्षर आता है, इसलिए वह प्रवृत्ति के समीप पहुँचने में भी समर्थ होता है। 'प्राज्ञ' पुरुषों ने जो श्रावकों के लिए देशावकाशिक व्रत को कहकर मर्यादा की बात कही कि संवत्सर, ऋतु, अयन, मास, पक्ष इस प्रकार समय की मर्यादा करना चाहिए। आप सभी शक्त्यानुसार देशावकाशिक व्रत की परिपालना करें, अनावश्यक पापों से बचें। कल्याण मार्ग के पथिक बनें ऐसी भावना भाता हूँ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

देशावकाशिक शिक्षाव्रत का महत्त्व

सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥95॥

अन्वयार्थ–सीमान्तानां परतः – क्षेत्र व काल की मर्यादा के बाहर, **स्थूलेतरपञ्चपाप-संत्यागात्** – स्थूल व सूक्ष्म रूप पाँचों पापों का भले प्रकार त्याग हो जाने से, **देशावकाशिकेन च** – देशावकाशिक व्रत के द्वारा भी, **महाव्रतानि** – पञ्च महाव्रत, **प्रसाध्यन्ते** – साधे जाते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में श्रावकों के लिए विधेयरूप चार शिक्षाव्रतों का कथन चल रहा है। पूर्व श्लोक में क्षेत्र व काल की अपेक्षा से देशावकाशिक व्रत में मर्यादा बताई। अब आचार्य महोदय कह रहे हैं–**सीमान्तानां परतः** सीमा के बाहर अर्थात् जो सीमा ली है कि मैं इस क्षेत्र से बाहर नहीं जाऊँगा वह सीमा जितने समय के लिए ली है, जो भी काल मर्यादा ली है उतने समय तक सीमा के भीतर क्षेत्र संबंधी उस जीव को आस्रव संभावित है। अन्य सब क्षेत्र संबंधी अशुभ आस्रव उसे नहीं होगा। यद्यपि उसने स्थूल पापों का ही त्याग किया है, सूक्ष्म पापों का त्याग नहीं किया। वह अुणव्रती श्रावक-श्राविका है किन्तु उस सीमा क्षेत्र के बाहर माना कक्ष सीमा है या भवन अथवा ग्राम नगर की सीमा है तो उसके बाहर वह श्रावक **'स्थूलेतर पञ्चपाप संत्यागात्'** स्थूल पाप और इतर पाप, पाँचों पापों का त्याग करने से **'देशावकाशिकेन'** इस देशावकाशिक के द्वारा भी **'महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते'** महाव्रत साधे जाते हैं।

आप कहेंगे अगर ऐसी बात है तो व्यक्ति सीधे महाव्रत ही क्यों न ले ले? बात तो आपने ठीक कही, सीधे महाव्रत ही लेना चाहिए। हम आपसे पूछते हैं–राजा-महाराजा लोग किले-महल बनाते थे तो वे पहले नीव क्यों खोदते थे, सीधे किले क्यों नहीं बना लेते थे? उनके पास तो काम करने वालों की बहुत बड़ी टीम होती थी। जहाँ दस व्यक्ति काम कर रहे हैं वहाँ 100 लगा दें, जहाँ 100 है वहाँ 10,000 लगा दें और एक साथ सभी कार्य प्रारंभ कर दें, नीव खोदने वाला नींव खोदे, तब तक कुछ लोग मिलकर शिखर बना लें, कोई पिलर खड़ा कर लें? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, सभी कार्य क्रम से होते हैं। किसान खेत में काम कर रहा है तो ऐसा नहीं है कि एक खेत जोते, दूसरा साथ में ही बीज बो दे, तीसरा सिंचाई कर दे, चौथा निराई कर दे पुनः पाँचवा व्यक्ति साथ-साथ फसल काट ले। नहीं क्रम-क्रम से चलेगा, अक्रम से नहीं चलेगा। तो ऐसे ही जिस व्यक्ति की सीधे चलने की सामर्थ्य नहीं

है, जिसकी महाव्रतों को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है तभी तो अणुव्रतों को स्वीकार किया, किन्तु अणुव्रतों को स्वीकार करके मात्र अणुव्रती बनकर ही नहीं रहना है, अब महाव्रती बनने की भावना भाना है। तो ये शिक्षाव्रत महाव्रती बनने की ट्रेनिंग है।

एक बार हम विहार करते समय किसी ग्राम में पहुँचे, वहाँ देखा एक बिल्ली अपने बच्चे को ऊपर चढ़ाने की कोशिश कर रही थी, वह उसे ऊपर चढ़ना सिखा रही थी, बच्चा डर रहा था चढ़ नहीं पा रहा था, जैसे ही बच्चा थोड़ा ऊपर चढ़ता वह उसे धक्का देकर बार-बार नीचे गिरा देती, उसने कई बार ऐसा किया और अंत में उस बच्चे का डर निकल गया, वह ऊपर चढ़ गया। पशु भी अपने बच्चे को ट्रैनिंग देते हैं, पक्षी भी अपने बच्चों को उड़ने की कला सिखाते हैं, ऐसे ही जो मोक्षमार्गी हैं वे अपने अनुज और अनुजाओं को, अनुगमन करने वालों को, अनुसरण करने वालों को संबल देते हैं, साहस देते हैं। धीमे-धीमे बढ़ो, धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते जाओगे तो आप महाव्रती बनने में सफल हो जाओगे।

दूसरी बात ये है कि कोई रोगी व्यक्ति सामने हो तो पहले उसे निरोगी बनाने के लिए औषधि दी जाती है, बाद में शरीर में कमजोरी हो तो भी गरिष्ठ भोजन नहीं दिया जाता। पहले कहते हैं मूँग की दाल का पानी पिलाओ, रोटी की पपड़ी खिलाओ, ऐसा नहीं कि काजू-किशमिश की बर्फी खिलाना शुरु कर दो, मावा-मिष्ठान्न या वे पदार्थ खिलाना शुरू कर दें जिससे जल्दी ताकत आ जाए, घी पिला दो। नहीं, पहले रोगी की पाचन शक्ति बढ़ाई जाती है, रोग दूर हो तब उसे गरिष्ठ भोजन देना ठीक रहेगा। ऐसे ही जिस श्रावक ने अनादिकाल से व्रतों का नाम नहीं सुना कि महाव्रत क्या होते हैं, क्या अणुव्रत होते हैं, क्या धर्म होता है, क्या कल्याण का मार्ग होता है उस व्यक्ति को शनैः-शनैः कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ाया जा रहा है। जैसे नवजात शिशु को पहले घुटनों के बल चलाया जाता है, फिर खड़ा करके सहारा दे-देकर कदम बढ़ाना सीखता है, फिर तीन पहिये की गाड़ी के सहारे चलता है फिर वह बिना सहारे के चलना सीख जाता है, ऐसे ही ये शिक्षाव्रत भी आगे बढ़ने के लिए प्रेरक निमित्त हैं।

देशावकाशिक व्रत में बता दिया कि आप क्षेत्र के बाहर महाव्रती के समान हैं, जितनी क्षेत्र की सीमा ली है उतने में आप अणुव्रती हैं। किसी युद्ध क्षेत्र में दो राजाओं का युद्ध हुआ, संध्याकाल होते ही युद्ध विराम हुआ। युद्ध में दोनों पक्षों के सैनिक घायल हुए। ऐसा लग रहा था जैसे उनके प्राण कंठ में आ गए हों। वहाँ पर भोजन और पानी की व्यवस्था उस समय

पर्याप्त नहीं थी। जिस स्थान से पानी लाना नियत था उस जल को शत्रुपक्ष के लोगों ने जहर मिलाकर विषाक्त कर दिया और यहाँ भोजन सामग्री को नष्ट कर दिया। तत्काल में वहाँ भोजन-पानी दोनों ही नष्ट हो गए। भोजन-पानी के बिना पूरे दिन से युद्ध करते वे सैनिक जो घायल थे, भूख के कारण रात्रि में प्राण त्यागने को आतुर थे, अब बचना बड़ा अशक्य था, दो घूंट पानी न मिले तो प्राण चले ही जाएँ। कुछ सैनिक जो घायल नहीं थे उन्होंने जल की खोज की, सुदूर देखा कि झरना झर रहा है, झरने से पानी लाने का कोई उपक्रम नहीं, दो चार बर्तन थे, सैनिक बहुत सारे थे, कैसे पानी लाया जाए, सभी को वहाँ तक ले जाना शक्य नहीं है।

कुछ लोगों ने झरने के पास से एक नाला निकालना शुरू किया, एक पतली सी नहर निकाली, जिससे पानी वहाँ तक आ जाए; किन्तु नहर निकालने में यह निश्चित था कि खोदते-खोदते प्रात:काल या मध्याह्न काल हो जाएगा, तब तक इनके प्राणों का संरक्षण कैसे किया जाए। भूख के कारण तड़प रहे थे। कुछ सैनिक खाद्यान्न पदार्थ की खोज में गए पर कुछ नहीं मिला किन्तु तभी कुछ सैनिक जो बर्तन उनके पास थे उसमें पानी भरकर लाए और यूँ तो सबकी प्यास बुझाना शक्य नहीं था, जिसकी प्यास न बुझेगी वह अपने प्राणों को छोड़ सकता था इसलिए इन सैनिकों ने दो-दो घूंट पानी सबके मुँह में डाला। और जो क्षुधातुर हो रहे थे, जिसके लिए सैनिक खाद्य पदार्थ की खोज कर रहे थे, उन्हें एक माली मिला उसने कहा मैं आपकी सेवा में कुछ आम्र फल लाया हूँ। उनकी आँखों में चमक आई कि सैनिकों के कंठ में दो घूंट पानी भी पहुँच गया है, अब फल भी हैं, संभव है इससे रात्रि भी व्यतीत होगी। प्रात:काल होने पर भोजन भी प्रस्तुत किया जा सकता है और पानी भी यहाँ तक लाया जा सकता है। यही किया गया, प्राय:कर के सभी सैनिकों को मरने से बचा लिया गया। उस दो घूंट पानी ने उन सैनिकों को 4-6 घंटे तक प्राण टिकने की शक्ति दे दी, जो आम आए थे उनसे जो पहले मूर्च्छा खाकर गिर रहे थे, आम्रफल सेवन से उन्हें सामर्थ्य प्राप्त हो गई।

अब प्रात:काल युद्ध की घोषणा होनी थी उससे पहले ही भोजन व जल की व्यवस्था हो गई। सैनिक पुन: तैयार हुए। सामने वाला पक्ष सोच रहा था कि भोजन-जल न मिलने से लोग युद्ध नहीं कर पाएँगे। यूँ तो उसकी स्वयं की सेना के लिए भी भोजन सामग्री नष्ट हो चुकी थी, जल उसके लिए भी विषाक्त था, वह भी अपने सैनिकों को प्रात:काल तक तैयार नहीं कर पाया था। जब तक उसके देश से भोजन सामग्री आयी तब तक उसके बहुत सारे सैनिक कुमरण को प्राप्त हो चुके थे।

महानुभाव! इस दृष्टांत से समझें कि जिस राजा ने विवेकबुद्धि से काम लिया, अपने सैनिकों को लगा दिया कि वे जल लेकर आएँ, दो-दो घूंट पानी पिलाने से उनके प्राण 4-6 घंटे टिके रहे, आम्र फलों से उन्हें इतना धैर्य और साहस बंध गया कि जब तक भोजन सामग्री नहीं आई तब तक उनकी आकुलता और मूर्च्छा दूर हुई। आचार्य महोदय यही समझाना चाहते हैं कि जब तक महाव्रत रूपी अमृतोपमा धर्म का सम्पूर्ण जल प्राप्त नहीं हो पा रहा है तब तक अणुव्रतों का, शिक्षाव्रतों का, गुणव्रतों रूपी जल का कुछ अंश प्राप्त हो रहा है, उसके माध्यम से पाप के गर्त से निकला जा सकता है और पुनः जन्म मरण पर विजय प्राप्त की जा सकती है। महाव्रती बनने के लिए वह श्रावक-श्राविका तैयार हो सकता है।

ये अणुव्रत तो नाश्ते की तरह से हैं, ये व्रत पूर्ण भोजन नहीं। यह संसार का नहीं परम्परा से मोक्ष का रास्ता हैं। अणुव्रत से आपने वास्ता कर लिया तो वे आपको महाव्रत तक पहुँचा देंगे। जैसे कोई राजा का सेवक, अमात्य, सेनापति, अंगरक्षक या कोई भी राजा से जुड़ा व्यक्ति राजा तक पहुँचाने में समर्थ होता है ऐसे ही अणुव्रत महाव्रत तक पहुँचाने में समर्थ होते हैं। अथवा जैसे कोई पगडंडी राजमार्ग तक पहुँचाने में समर्थ होती है ऐसे ही अणुव्रत पगडंडी की तरह से होते हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत ये व्रत महाव्रत रूपी राजमार्ग से मिलाने वाले होते हैं।

आचार्य महाराज बता रहे हैं जिसने भी दिग्व्रत का पालन किया पुनः देशव्रतों का पालन किया तो देशव्रतों का पालन करने वाला वह श्रावक और श्राविका उस क्षेत्र के बाहर महाव्रती सरीखा है। किंतु एक बात ध्यान रखना, महाव्रत सरीखा कहा है महाव्रत नहीं। आप ये नहीं सोच लेना कि वह महाव्रती हो गया। कोई श्रावक अपने वस्त्र उतारकर कमरे में खड़ा हो जाए और कहे कि मैं कमरे के बाहर नहीं जाऊँगा, वह अणुव्रती तो अणुव्रती ही है, वस्त्र उतारने मात्र से महाव्रती नहीं हो गया, उसे पंचपरमेष्ठी की श्रेणी में परिगणित नहीं किया जा सकता है। पंचपरमेष्ठी की श्रेणी में तो वही आ पाएगा जिसने संकल्पपूर्वक मन से, वचन से, काय से, कृत-कारित-अनुमोदना से हिंसादि पाँच पापों का यावज्जीवन परित्याग किया है। महाव्रत यम रूप से संकल्पपूर्वक स्वीकार किए जाते हैं, तभी महाव्रती होता है। बिना महाव्रत स्वीकार किए महाव्रती नहीं होता। उपचार से किसी आर्यिका माताजी के लिए कह दिया कि वे उपचार से महाव्रती हैं किन्तु श्रावक को तो उपचार से भी महाव्रती नहीं कहा। बस ऐसा ही कहा कि वह अभी नकल करने की कोशिश कर रहा है। नकल नकल है, वह असल नहीं होती। हाँ, नकल को देखकर के असली पेपर तैयार किए जा सकते हैं। नकल नहीं हो तो असली पेपर

कैसे तैयार किए जाएँ। यदि कोई जीर्णशीर्ण कागज हो उसकी नकल अर्थात् फोटोकॉपी करा ली जाए तो उसके माध्यम से पुनः type करके असल पेपर बनाए जा सकते हैं।

महानुभाव! यह श्रावक का धर्म नकल (copy) धर्म है। नकली नहीं है, ये नकल असल की तैयारी है। इसलिए यहाँ आचार्य महोदय ने कहा सीमा के बाहर आप महाव्रती सरीखे हैं। कल आप सर्वत्र महाव्रती बन जाओ इस प्रकार की साधना करने के लिए यह अभ्यास कराया जा रहा है। देशावकाशिक व्रत, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवास व्रत और वैय्यावृत्ति व्रत ये चार शिक्षाव्रत महाव्रत धारण करने की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, यहाँ देशावकाशिक की बात कही, आगे अन्य शिक्षाव्रत की बात करेंगे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार

प्रेषण - शब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति - पुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च॥96॥

अन्वयार्थ–प्रेषण-शब्द-आनयनं – मर्यादा के बाहर किसी को भेजना, मर्यादा के बाहर शब्द करना, मर्यादा के बाहर किसी वस्तु को मँगवाना, **रूपाभिव्यक्ति-पुद्गल-क्षेपौ** – अपना रूप और चेहरा आदि दिखाकर इशारा करना, कंकर-पत्थर आदि फेंकना, **पञ्च** – ये पाँच, **अत्ययाः** – अतिचार, **देशावकाशिकस्य** – देशावकाशिक व्रत के, **व्यपदिश्यन्ते** – कहे गए हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! परम पूज्य आचार्य भगवन् श्रीसमंतभद्रस्वामी जी का श्रावकों की आचार संहिता को बतलाने वाला यह रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ कितना महत्वपूर्ण है इसे वही व्यक्ति जान सकते हैं जो रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोकों की पालना कर रहे हैं। मानचित्र कितना महत्वपूर्ण होता है उसका सही मूल्यांकन तो वही व्यक्ति कर पाता है जो मानचित्र के सहारे चल रहा है, यदि मानचित्र गुम जाए तो रास्ता भटक जाए। जो व्यक्ति आज मोबाइल के अनुसार चलते हैं Location डाल करके, यदि Battery low हो जाए तो मोबाइल का क्या महत्व है। जंगल में खड़े हैं कुछ भी सहारा नहीं। ऐसे ही आचार्य समंतभद्रस्वामी के ये सूत्र, ये रत्न, ये मार्ग के मानचित्र उस भव्य जीव के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं जो इनके माध्यम से मुनि बनने की प्रेरणा प्राप्त करके मुनि बनने का हौसला जगा ले, अंतरंग की शक्ति और सामर्थ्य जगा ले।

अब यहाँ आचार्य महाराज बता रहे हैं कि निर्दोष शिक्षाव्रत पालने के लिए अमुक-अमुक दोषों से भी बचना चाहिए। वे दोष कौन-कौन से हैं जिनसे बचना चाहिए। आपने विधिपरक बात तो कह दी परंतु निषेध अर्थात् किससे बचना है। आपने ये तो कह दिया कि दिन में भोजन करना चाहिए परंतु कब नहीं करना चाहिए? रात में नहीं करना चाहिए। तो दोष को बताना भी जरूरी है कि देशावकाशिक व्रत का पालन करने के लिए कौन-कौन से दोष हैं जिनको छोड़ना चाहिए। जिस महिला को ये ज्ञान नहीं है कि चावल क्या है और अचावल क्या है; जिसमें अचावल के भी दो भेद होते हैं एक वह अचावल जो चावल का मित्र है, उसकी महिमा-गरिमा को बढ़ाने वाला है, जैसे चावल में पड़ा हुआ मिशरी का टुकड़ा यदि वह खीर

में पड़ जाए तो हानिकारक नहीं, दूसरा वह अचावल जो चावल की गरिमा को घटाने वाला है अर्थात् चावल में पड़ा हुआ कंकड़, वह खीर की गरिमा को भी घटा देता है इसलिए यहाँ पर देशावकाशिक व्रत के दोषों को बताना जरूरी है कि किन दोषों से बचना है।

मर्यादा तो ले ली कि अमुक-अमुक क्षेत्रकाल से बाहर नहीं जाना, यह सामान्य सी बात है कि नहीं जाओगे किन्तु जाने की कोशिश भी नहीं करना। जाना तो व्रत को तोड़ना है किंतु जाने की कोशिश करना व्रत में दोष लगाना है। मर्यादा के बाहर किसी को भेजना भी दोष है बुलाना भी दोष है, मर्यादा के बाहर कोई भी आदान-प्रदान करना दोष है। अब तो बड़ा मुश्किल है। हाँ, जो व्रत को मुश्किल मानते हैं उनके लिए व्रत मुश्किल ही होते हैं किन्तु जो सरल मानते हैं उनके लिए कभी मुश्किल नहीं आयी। जिस काम को करना चाहते हो उस काम को अपनी धारणा में सरल से सरल मान लो तो काम सरल हो जाएगा, यदि आपने अपनी धारणा में उस काम को कठिन से कठिन, दुरूह मान लिया तो वह महान कठिन हो गया, उसे कभी कर ही न पाएँगे। पहले ये मानना पड़ेगा कि यह कार्य मेरे लिए अति सरल है। इतना साहस पैदा करो कि वह काम छोटा पड़ जाए। मुश्किल मानने से मुश्किल खड़ी होती है और न मानने से मुश्किल रास्ते में पड़ी होती है, वह रास्ता बन जाती है, वह टूटी कड़ी जोड़ देती है और मुश्किल खड़ी हो जाए तो जुड़ी हुई कड़ी टूट जाती है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं इस काल में देशावकाशिक व्रत का पालन करना श्रावक-श्रविकाओं के लिए असंभव नहीं है, संभव है पर अनादिकाल के संस्कार हैं इसलिए गलती हो सकती है। हमें उन गलतियों से भी बचना है। जैसे जब बच्चे कहीं बाहर तीर्थस्थान या कहीं अन्य जगह जाते हैं तो माता-पिता बच्चों को समझाते हैं, बच्चों! सावधानी से जाना, चोरों से सावधान रहना, भोजन सामग्री पास रखना, कोई जेब नहीं काट ले, गाड़ी में अच्छे से चढ़ना, चलती गाड़ी में चढ़ना-उतरना नहीं आदि कितनी बातें समझाते हैं ऐसे ही आचार्य महोदय समझाते हैं कि इन दोषों से बचो। भले ही बेटा 100 बार भी बाहर जा चुका हो, माँ दस बार भी नहीं गई हो तब भी माँ समझाती है बेटा! ऐसे-ऐसे करना। ऐसे ही हमें जिनवाणी माँ समझा रही है कि व्रतों का पालन करते समय सावधानी रखना। यह माँ का कर्त्तव्य है व अंतरंग का वात्सल्य है।

माँ के वात्सल्य में ऐसी शक्ति होती है कि कायर कपूत को भी वह शेर जैसा सपूत बना देती है, निर्भीक बना देती है। समंतभद्रस्वामी की यह समंतभारती, यह जिनवाणी माँ अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों के लिए मोक्षमार्गी बनने की प्रेरणा देने वाली है। जीवन के अंत में ही सही व्यक्ति व्रती बनने की भावना भा लेता है। मैं व्रतों का

पालन करूँगा, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों की मर्यादा को पालूँगा व दोषों से बचूँगा। जैसे कोई यात्रा में जाते समय संकेत कर दे कि यहाँ जेब कतरे हैं, जेब संभालो तो हाथ जेब पर रहता है, नहीं तो इतना उपयोग नहीं रहता। पहले से कोई संकेत कर दे तो नि:संदेह 98-99% परेशानियाँ तो दूर हो जाती हैं और 100% भी दूर हो सकती हैं।

यहाँ आचार्य महोदय ने बताया कि इन परेशानियों से आपको बचना है। यदि Shortcut रास्ते से जाओगे तो 6 घंटे में पहुँचोगे, लम्बे रास्ते से जाओगे तो तीन घंटे में पहुँचोगे। यदि Shortcut रास्ते में आपने दौड़ने की कोशिश की तो 12 घंटे लग सकते हैं, यदि छलांग लगाई तो 24 घंटे में भी न पहुँच पाओगे, हमें निकालने ही जाना पड़ेगा। मतलब? Shortcut रास्ता दलदल का रास्ता है, पैर उसमें फंस जाएँगे। धीमे-धीमे जाओगे तो हो सकता है सावधानी से निकल जाओगे। लम्बे रास्ते से जाओगे तो धीमे-धीमे ही सही पहुँच जाओगे। ऐसे ही जो व्यक्ति बिना व्रती बने अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं वे व्यक्ति वैसे ही समझो कि बिना श्वांस लिए जीना चाहते हैं, बिना पानी पिए प्यास बुझाना चाहते हैं, बिना भोजन किए अपना पेट भरना चाहते हैं और बिना औषधि के निरोगी बनना चाहते हैं जो कि संभव नहीं है। व्रती बने बिना कल्याण कैसा। पापों से विरक्ति का नाम ही कल्याण है, पापों से विरक्ति का नाम ही व्रत है। व्रत और कल्याण दोनों एकार्थवाची हैं। पापों में जब तक अनुरक्ति है तब तक अकल्याण है, पाप ही अकल्याण है, पापों से विरक्ति को परमार्थ का मार्ग कहते हैं, जो परम प्रयोजन को सिद्ध कराने वाला है।

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं डरो मत, व्रती बनो, क्यों चिंता करते हो। व्रती बनने का आशय हुआ सावधानी से चलना और सावधानी से चलने पर फिसल गए तो संभल जाओगे, असावधानी से चलोगे तो सही रास्ते पर भी फिसल जाओगे। देशावकाशिक व्रत के वे पाँच अतिचार हैं-

'प्रेषण' अर्थात् भेजना, और भेजने वाले को कहते हैं प्रेषक, भेजने वाली वस्तु कहलाती है प्रेषित। **'प्रेषणशब्दानयनं'** क्या भेजना, कहाँ भेजना? आपने जो मर्यादा ली थी उस मर्यादा के बाहर किसी व्यक्ति को भेजना, किसी वस्तु को भेजना, किसी पशु-पक्षी को भेजना या पोस्टमैन को भेजना या कबूतरों के गले में पत्र डाल दिया उन्हें भेज दिया। वह सोचता है मैं थोड़े ही जा रहा हूँ, समाचार किसी के भी हाथ भेज देता हूँ किंतु यदि सीमा ले ली है तो अब सीमा के बाहर किसी को नहीं भेज सकते, अगर भेजते हो तो अतिचार हो गया। आप कहो मैं तो नहीं गया, हाँ आप नहीं गए पर भेजने वाले तो आप ही हो। प्रेषक तो आप ही कहलाएँगे। अरे! वह 3-4 दिन बाद जाता मैंने आज ही भेज दिया, भले ही वह 3-4 दिन

बाद जाता, जब वह स्वयं से जाता तब आपका दोष नहीं होता पर आपने भेजा है इसलिए दोष आपको लगेगा।

'शब्द'–शब्द भेजना। इधर आ जाओ, उधर चले जाओ, ताली बजाना ये शब्दों को प्रेषित करना होता है। आज की भाषा में दूरभाषसंचार यंत्र से शब्दों को भेजना। आपकी भाषा में टेलीफोन, मोबाइल का प्रयोग। मर्यादा लेने के पश्चात् इसका प्रयोग नहीं कर सकते। देशावकाशिक व्रत ले लिया कि मैं इस स्थान से बाहर नहीं जाऊँगा तो वह व्यक्ति इस स्थान से बाहर के व्यक्ति के लिए फोन नहीं लगा सकता। **'आनयन'** कोई वस्तु मँगाना। कोई व्यक्ति मर्यादा के बाहर किसी स्थान से आ रहा है तो वहाँ से अमुक वस्तु मँगाना ये भी अतिचार है। देशावकाशिक व्रत में मर्यादा के बाहर की वस्तु भी नहीं मँगा सकते। **'रूपाभिव्यक्ति'** मर्यादा ले ली कि इतने स्थान से बाहर नहीं जाऊँगा और पुनः अपना रूप दिखाकर कार्य कराना। कोई बालक मर्यादा के बाहर के स्थान में ऊधम मचा रहा था, आपने उसे आँख दिखा दी। इस प्रकार मर्यादा से बाहर शरीर की चेष्टाओं को नहीं करना। **'पुद्गल क्षेप'** अब ऐसा भी नहीं कि पत्थर डाल दिया, कमरे के बाहर कोई व्यक्ति बैठा है आपको उससे कुछ काम है। कक्ष के बाहर जाने का त्याग है और वह व्यक्ति आपको देख नहीं रहा तो आपने उठाया कंकड़ और फेंक दिया, जिससे उसने आपकी ओर देखा और आपने बुला लिया तो ये सब अतिचार हैं।

महानुभाव! कहने का आशय ये है कि जब आपने व्रत को स्वीकार किया है, स्थान या समय आदि की मर्यादा ग्रहण की है तो मर्यादा के बाहर हो रहे सभी कार्य व सभी व्यक्ति से आपका अनासक्त भाव है। यदि किसी भी यत्न से मर्यादा के बाहर के व्यक्ति या वस्तु से संपर्क रखते हैं तो ये आपके व्रत को दूषित करने वाला अतिचार कहलाएगा। इस प्रकार ये देशावकाशिक व्रत में दोष लगाने वाले पाँच अतिचार हैं। व्रत धारण करने का मूल प्रयोजन रागादिक भावों पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। जहाँ इन भावों पर नियन्त्रण नहीं हो पाता है वहाँ व्रत निर्दोष नहीं पलता, उसमें अनेक दोष लगने लगते हैं, इन दोषों का नाम ही अतिचार है, इसीलिए देशावकाशिक व्रत को धारण करने वाला स्वयं मर्यादा के भीतर बना रहे, मर्यादा के बाहर नहीं जाए अन्यथा उसके व्रतों में मलिनता आती है। इसीलिए व्रत को निर्मल रीति से पालन करने के लिए उपरोक्त अतिचारों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा अन्य भी यदि ऐसे कार्य हों तो उनको भी छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। कुशल सुधी श्रावक-श्राविका को अपने व्रतों का निर्दोष पालन करना चाहिए, दोषों से बचना चाहिए। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक शिक्षाव्रत का लक्षण

आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामायिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥97॥

अन्वयार्थ–सामायिकाः – आगम के ज्ञाता/शास्त्रज्ञ आचार्य, **अशेषभावेन** – पूर्णरूपेण, **सर्वत्र** – मर्यादा के अन्दर और बाहर भी, **आसमयमुक्ति** – किसी नियत समय की समाप्ति पर्यन्त, **पञ्चाघानामुक्तं** – पाँचों पापों को त्याग करने को, **सामायिकं नाम** – सामायिक नामक शिक्षाव्रत, **शंसन्ति** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में शिक्षाव्रतों की चर्चा कर रहे हैं। प्रथम देशावकाशिक शिक्षाव्रत को समझने की चेष्टा की उसकी विधि, स्वरूप उसके अतिचार को समझा। अब द्वितीय शिक्षाव्रत को समझने का प्रयास करते हैं।

द्वितीय शब्द सुनते ही आपको लगेगा की यह द्वितीय नंबर का व्रत है किन्तु ध्यान रखना यह द्वितीय नहीं अपने भाव में अद्वितीय है। यह शिक्षाव्रत धर्म का प्राण है, यह संयम साधना का बीज है। इस शिक्षाव्रत की ज्यों-ज्यों समृद्धि होती है त्यों-त्यों चेतना में धर्म वृद्धि को प्राप्त होता है, चेतना स्वभाव की ओर गतिशील होती है। इस शिक्षाव्रत का पालन किए बिना मुनित्व का अंतरंग प्राप्त नहीं होता। मुनित्व का अंतरंग भाव प्राप्त करने का कारण यदि है तो वह सामायिक नाम का शिक्षाव्रत है। इसके संबंध में स्वयं आचार्य महोदय बताते हैं–

'आसमयमुक्तिमुक्तं' में 'आङ्' यह एक प्रत्यय है। आङ् प्रत्यय लगने पर 'ङ्' का लोप हुआ व्याकरण में कांतत्ररूपमाला में 129वाँ सूत्र है–

योऽनुबन्धोऽप्रयोगी अर्थात् इजशटङ्पा विभक्तिष्वनुबन्धाः। इ, ज्, श्, ट्, ङ्, प् ये अनुबंध संज्ञक हैं। और ये अनुबंध अप्रयोगी हैं। यहाँ जो निष्प्रयोजनीय होता है उसे छोड़ दिया जाता है। जैसे पृष्ठ भाग से पूछी हुई जिज्ञासा छोड़ दी जाती है, सन्मुख बैठकर पूछी गई जिज्ञासाओं का समाधान किया जाता है। जैसे पत्ता जीर्ण होता है तो वृक्ष के द्वारा छोड़ दिया जाता है, फल पूर्ण होने पर उसके पूर्व में होने वाला पुष्प स्वयमेव झर जाता है उसी प्रकार 'ङ्' यह आङ् प्रत्यय में से छूट गया। समय शब्द के एक नहीं अनेक अर्थ हैं। 'शब्दानामनेकार्थाः' शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, प्रसंगानुसार उनके अर्थों को लगाना चाहिए। समय का अर्थ वक्त भी होता है, आप पूछते हैं क्या वक्त हो रहा है? तो व्यक्ति कहता है अभी तो 8:56 मिनट हो

रहे हैं। वक्त कहो, बखत कहो, समय कहो, काल कहो एकार्थवाची हैं। कभी व्यक्ति कहते हैं–क्या आपके पास थोड़ा सा समय है, हम आपसे कुछ चर्चा करना चाहते हैं अथवा मैंने आपके लिए कितना समय बर्बाद कर दिया या तुम मेरा समय बर्बाद मत करो।

समय ही जीवन है, समय के बिना कुछ भी नहीं। समय एक सीमा या मर्यादा भी होती है। समय का एक और अर्थ होता है 'शास्त्र'। प्रारंभिक विद्यार्थियों को, मोक्षाभिलाषियों को, धर्मात्माओं को स्वसमय का अध्ययन करना चाहिए। स्वसमय में निष्णात होने पर परसमय का भी अध्ययन करना चाहिए। तो समय का अर्थ यहाँ पर शास्त्र हुआ। समय का अर्थ 'शासन' भी होता है। जैसे कहते हैं अभी भगवान् महावीर स्वामी का शासनकाल चल रहा है। या उस समय मौर्यवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त मुकुटबद्ध राजा का शासन था या सम्राट खारवेल का शासन था या उस समय सम्राट अशोक का शासन चल रहा था या राजा श्रेणिक के शासन की बात है या उस समय चामुण्डराय सेनापति का काल था जब भगवान् बाहुबली स्वामी की मूर्ति का निर्माण हुआ। जैसे वर्तमान में कोई कहे ठीक है भैया, अभी तुम्हारा समय है इसलिए तुम जैसा चाहो वैसा कर लो, हमारा समय भी आएगा। तो समय यानि शासन, अपनी सत्ता, अधिकार। अपने अधिकारों का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता भी समय कहलाता है। समय के कई अर्थ देखे काल, जीवन, शास्त्र, शासन। समय के मायने आत्मा भी होता है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने समयसार ग्रन्थ लिखा है जिसमें आत्मा का सार है। सम्पूर्ण आत्मा का सार क्या है वह शब्दों के माध्यम से उस शास्त्र में कहा। फिर ये भी कह दिया कि शब्दों की अपनी एक मर्यादा होती है, मैं आत्मा के वैभव को बताऊँगा। आगम के परिपेक्ष्य में युक्ति से बताऊँगा, अनुभव से बताऊँगा फिर भी चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना। **'चुक्केज्ज छलं न घेत्तव्वं'** चूकने पर छल ग्रहण नहीं करना चाहिए। तो यहाँ समय यानि आत्मा कहा।

आत्मा का सार क्या है? आत्मा का सार है आत्मा का परमात्मा बन जाना, और आत्मा की वह शक्ति जिस शक्ति के माध्यम से आत्मा परमात्मा बनती है अर्थात् समय माने 'रत्नत्रय'। समय का दूसरा अर्थ होता है। 'स्वात्मोपलब्धि'' अपनी आत्मा की पूर्णरूप से उपलब्धि करना, अनात्मा को पूर्णरूप से छोड़ देना वह भी समय ही कहलाता है। यह समय के अर्थ हैं।

महानुभाव! **'समता प्रयोजनं यस्य सः सामायिकः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार समता भाव की प्राप्ति जिसका प्रयोजन है वह सामायिक कहलाता है। गृहस्थ सदा के लिए समताभाव धारण करने में असमर्थ रहता है अतः वह दिन में दो बार, तीन बार, दो घड़ी या चार घड़ी

अथवा छह घड़ी के लिए समस्त पापों का त्याग कर समता भाव धारण करता है। समय की अवधि से सहित होने के कारण उसकी यह क्रिया सामायिक शिक्षाव्रत कहलाती है।

यहाँ श्लोक 97 में आचार्य महोदय कह रहे हैं 'आसमय-मुक्ति' एक निश्चित समय पर्यंत अर्थात् जब तक उस (अमुक समय) समय की मर्यादा पूर्ण न हो तब तक के लिए 'मुक्त' छोड़ देना। क्या छोड़ देना? पाँच पापों को छोड़ दिया। तो क्या पाप पाँच ही होते हैं? नहीं, पाप अनंत होते हैं, जैसे जीव कितने होते हैं? अनंतानंत होते हैं। शास्त्र में दो प्रकार का लिखा है संसारी और मुक्त, संसारी के पुनः त्रस-स्थावर दो भेद किए। ऐसे ही पाप पाँच नहीं हैं, पाँच प्रकार के हैं। द्रव्य छह नहीं हैं छह प्रकार के हैं। तो पाँचों प्रकारों के पापों का त्याग करना। एक-एक पाप के असंख्यात-असंख्यात भेद होते हैं। 'अघ' अर्थात् जो अधोगति का कारण है, जो जीवन में दुःख का मूल हेतु है, जिसके बंधन में आत्मा बंध जाती है तो फिर उससे मुक्त होना कठिन होता है वह 'अघ' कहलाता है। अघ को नष्ट करने का उपाय है 'अर्घ्य'। जो भगवान् के सामने अर्घ्य चढ़ाते हैं उनके अघ नष्ट हो जाते हैं और अघ के स्थान पर उन्हें अनर्घपद मिल जाते हैं। जिनमें से सम्पूर्ण अघ निकल चुके हैं ऐसा पद अनर्घ पद कहलाता है। वह सिद्धत्व का पद अनर्घ पद कहलाता है क्योंकि अरिहन्त अवस्था में भी सयोगकेवली अवस्था तक जब कर्म प्रकृतियों की सत्ता है, वहाँ पाप प्रकृतियाँ भी हैं, निर्मूल नहीं हुई। घातिया कर्म पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं, अघातिया कर्म में कुछ पुण्य व पाप रूप प्रकृतियाँ होती हैं।

तो यहाँ बताया 'अशेष-भावेन' पाँच प्रकार के पापों का सम्पूर्ण भावों से अर्थात् चेतना की समस्त परिणति से नियत समय के लिए त्याग करना। मन-वचन-काय के बिना चेतना में कर्म को बाँधने वाले भाव पैदा नहीं हो सकते, न पुण्यकर्म को बांधने वाले न पाप कर्म को बांधने वाले। तो चेतना में भाव पैदा होते हैं मन-वचन-काय से अथवा अन्य धन-साधन आदि सामग्री के निमित्त से। जितने भी संसार में निमित्त हैं वे मन में विचार पैदा करते हैं, वस्तु को देखकर बोलने के विचार मन में आते हैं, सामने वस्तुओं को देखकर शरीर की क्रिया करता है। जब सामने कोई वस्तु ही न हो, धन-साधन सामग्री ही न हो, एक खुले आकाश में व्यक्ति है तो किससे बोले? क्या क्रिया करे? क्या सोचे? जब बाह्य वस्तुएँ दिखाई देती हैं तब बोलता है, सोचता है, क्रिया करता है, इनके माध्यम से रागद्वेष करता है। कर्मवर्गणाओं को कर्मरूप परिणत करके उन्हें अपने पास रख लेता है। इसीलिए यहाँ कहा सम्पूर्ण भावों से, कृत-कारित-अनुमोदना से, मन-वचन-काय से वह ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि इतने समय तक

मन से ऐसे पाप नहीं करेगा, मन से किसी से पाप कराएगा भी नहीं और मन से किसी के पाप की अनुमोदना भी नहीं करेगा। वचन से पाप न करना, न कराना न अनुमोदना करना, काय से पाप न करना, न किसी से कराना और न किसी की अनुमोदना करना। ऐसी प्रतिज्ञा कर अर्थात् नवकोटि से त्याग ही अशेषभावेन कहलाता है।

यदि किसी ने शरीर से पाप का त्याग कर दिया पर वचनों से पाप कर रहा है तो वह सामायिक नहीं है। शरीर से क्रिया भी नहीं, वचनों से मौन भी ले लिया किन्तु मन से पाप कर रहा है तब भी सामायिक नहीं कहलाएगी। व्यक्ति सामायिक में लीन तो तभी हो सकता है जब अशेषभावेन अर्थात् सम्पूर्ण भावना से पाँचों पापों का त्याग कर दे। कोई कहे मैं मन-वचन-काय से पाप नहीं कर रहा किन्तु मैं अनुमोदना कर रहा हूँ, दूसरे से करा रहा हूँ अगर ऐसा है तब भी सामायिक नहीं हो सकती। सामायिक करने वाला व्यक्ति स्वयं तो सम्पूर्ण पापों से दूर हो जाता है, वह दूसरों से भी पाप नहीं कराता उन्हें भी पापों से दूर रखने की चेष्टा करता है और वह दूसरों के लिए पापों की स्वप्न में भी अनुमोदना नहीं करता। इस प्रकार वह श्रावक जितने समय की अवधि लेकर सामायिक में बैठा है उतने समय के लिए वह पूर्ण मध्यस्थ रहता है। सुख-दुःख, बंधु-शत्रवर्गु, संयोग-वियोग आदि इष्टानिष्ट परिणतियों में उसे हर्ष- विषाद नहीं होता तथा पञ्चपापों का भी वह उतने समय के लिए पूर्ण त्यागी होता है।

महानुभाव! 'सर्वत्र सामायिकः' ऐसे व्यक्ति की सामायिक फिर सर्वत्र होती है। अत्र-तत्र-सर्वत्र अर्थात् यहाँ आत्मा में भी होती है, जहाँ वह बैठा है वहाँ भी सामायिक है और बाहर तीन लोक के क्षेत्र में भी उसके सामायिक के भाव हैं क्योंकि उसने सम्पूर्ण पापों का त्याग कर दिया, सम्पूर्ण पापों का त्याग कर चित्त में लीन रहने का नाम ही सामायिक है। समस्त प्राणियों में समताभाव धारण करना, दुर्ध्यान का त्याग करना, अपने आत्मा में तथा संयम में अपनी प्रवृत्ति रखना ही सामायिक है अथवा राग-द्वेषमय शुभ-अशुभ विकल्पों का पूर्णरूप से त्याग कर देना, आत्मा में ही समतारूप परिणाम रखना सामायिक है अथवा रागद्वेष की निवृत्ति 'सम' भाव है प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भावरूप ज्ञान का नाम 'आय' है इन दोनों के मिलने से 'समाय' शब्द की उत्पत्ति होती है। समय ही जिसका प्रयोजन है उसको सामायिक कहते हैं।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं-**'सामायिक'** अर्थात् समय को जानने वाले, शुद्धात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने वाले, समय के कर्ता, अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने वाले उस परमात्मा के कर्त्ता। प्रत्येक व्यक्ति अपने परमात्मा का कर्त्ता होता है दूसरे के परमात्मा का तो श्रद्धानकर्ता होता है। जो अपनी आत्मा को परमात्मा बना रहे हैं या बना चुके हैं ऐसे 'सामायिका'

शुद्ध समय के धारक वे तीर्थंकर प्रभु, सर्वज्ञ केवली, गणधर परमेष्ठी उसे सामायिक नाम से उद्घोषित करते हैं। किसे उद्घोषित करते हैं?– मन–वचन–काय से कृत–कारित–अनुमोदना से यत्र–तत्र–सर्वत्र सम्पूर्ण पापों का त्याग करना इसे सामायिक शब्द से उद्घोषित किया। इसे जानने वाले शुद्ध समय को प्राप्त करने वाले ऐसे तीर्थंकर भगवानों ने यह सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप कहा। आप और हम इसे जाने व अपने समय को शुद्ध बनाने का प्रयास करें यही समय का सदुपयोग है। हम भगवान् महावीर के समय मे रहते हुए, जब तक हमारा जीवन (आयु) हो तब तक इन ग्रंथों का आधार लेकर अपने समय को सार्थक करें, अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने का प्रयास करें। ऐसी मंगल भावना भाते हुए अपनी शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक का समय

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यंकबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः॥98॥

अन्वयार्थ–समयज्ञाः – समय अर्थात् आगम के ज्ञाता पुरुष, **मूर्धरुहमुष्टिवासोबंधनं** – केशबन्ध, मुष्टिबन्ध और वस्त्रबंध के काल को, **पर्यंकबन्धनं** – पद्मासन के काल को, **च** – और, **अपि** – भी **स्थानं** – खड़गासन, **वा** – अथवा, **उपवेशनं** – सामान्य आसन के काल को, **समयं** – सामायिक, **जानन्ति** – जानते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में पूर्व कारिका में सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप बताया कि एक निश्चित समय पर्यंत पाँचों पापों से नवकोटि से मुक्त हो जाना सामायिक है। आचार्य महोदय की एक विधा रही कि उन्होंने किसी बात को कहा तो अधूरा नहीं छोड़ा, चाहे दिग्व्रत का स्वरूप बताया, चाहे अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप बताया चाहे भोगोपभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप बताया, चाहे देशव्रत का स्वरूप बताया। अब यहाँ सामायिक का स्वरूप बताया। जो बात वह समझाना चाह रहे हैं जब तक बात पूरी तरह से समझ में नहीं आ जाए तब तक समझाते हैं। मालिक ने अपने सेवक से कहा–घोड़े को पानी दिखा देना अर्थात् पानी पिला देना वह नौकर घोड़े को तालाब तक ले गया और घोड़े को दूर खड़ा कर दिया, घोड़े ने पानी देखा और लौटाकर ले आया। ऐसा काम आचार्य महाराज ने नहीं किया। उन्होंने औपचारिकता नहीं निभाई, उन्होंने भव्यजीवों के हितार्थ कार्य किया। वह भव्यजीव तभी अपना हित कर पाएगा जब उसकी समझ में बात आ जाए। जब तक ग्रंथियाँ खुलती नहीं हैं, गुत्थियाँ सुलझती नहीं हैं, तब तक सरलता चित्त में आती नहीं है। रस्सी को उलझा दो, गाँठ में गाँठ लगाते चले जाओ तो रस्सी छोटी होती चली जाती है, उस रस्सी का उपयोग करना बड़ा कठिन है, उस रस्सी से कोई कुएँ से पानी खींचना चाहेगा तो नहीं खींच पाएगा। उलझे धागे से कोई वस्त्र सिलना चाहेगा तो नहीं सिल पाएगा। यदि किसी की आँतें उलझ गई हों तो वे भोजन को पचा नहीं पाएँगी, मस्तिष्क की नसों का जाल उलझ जाए तो मस्तिष्क सोच नहीं पाएगा, जिह्वा के तंतु उलझ जाएँ तो व्यक्ति स्पष्ट बोल नहीं पाएगा।

महानुभाव! उलझा हुआ व्यक्ति अपनी मंजिल तक बुद्धिपूर्वक चलकर नहीं पहुँच पाता कदाचित् संयोगवशात् पहुँच जाए तो बात अलग है। 'अंधे की लात खंदरे में चली जाए' या

'अंधे के हाथ बटेर लग गई' वह अलग चीज है किन्तु गुत्थी सुलझने पर ही मंजिल प्राप्ति की संभावना बढ़ जाती है इसलिए आचार्य महोदय गुत्थी सुलझाने का कार्य कर रहे हैं। क्योंकि ये सभी शिक्षा सग्रन्थ को निर्ग्रंथ बनाने की शिक्षा है। वह सग्रंथ निर्ग्रंथ कैसे बनेगा? उसकी अंतरंग की सब गुत्थियाँ खुलती चली जाएँ तो वह निर्ग्रंथ हो जाएगा अन्यथा निर्ग्रंथता संभव नहीं। लोग केवल बाहर कपड़े की ग्रंथी खोलकर निर्ग्रंथी होना चाहते हैं पर निर्ग्रंथ होने के लिए वस्त्रों के साथ अंतरंग की गाँठें खोलना भी बहुत जरूरी है। यहाँ आचार्य महोदय सामायिक के स्वरूप का विस्तार से कथन कर रहे हैं। पूर्व में सामायिक की परिभाषा बताई, अब 98वीं गाथा में सामायिक की विधि बता रहे हैं। आचार्य भगवन् कह रहे हैं भैया विधि मैं नहीं बता रहा वरना पंचमकाल के श्रावक कहेंगे महाराज जी के मन में जो आया सो कह दिया, यह भी कोई विधि होती है क्या। आज शब्दों का भार ढोने वाले विद्वानों की कमी नहीं है। अपने चित्त में कमी खोजने में असमर्थ हैं। देव-शास्त्र-गुरु में गलती निकाल सकते हैं, इसलिए आचार्य समंतभद्रस्वामी कह रहे हैं कि मैं नहीं कह रहा। फिर किसने कहा तो **'समयज्ञाः'** समय को जानने वाले। जिसने समय को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया। समय के बाहर तो कुछ है ही नहीं। और सब कुछ जानने वाले वे हैं जिन्होंने संपूर्ण ज्ञानावरण कर्म का क्षय कर दिया है। समय को जानने वाले वे प्रत्यक्षज्ञानी हैं। परोक्षज्ञानी इन सबको जानने में असमर्थ हैं। प्रत्यक्ष भी ऐसा नहीं कि विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष हो, देश प्रत्यक्ष भी नहीं, सकल प्रत्यक्ष ही यहाँ ग्राह्य है, वह है केवलज्ञान।

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूत-भावि-भवितः सर्वान् सदा सर्वदा।
जानीते युगपत्-प्रतिक्षण-मतः सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥

जो सम्पूर्ण चेतन और चेतन के स्वरूपानुसार उनके द्रव्यों को और उनके समस्त गुणों की भूत-भावी और वर्तमान सम्पूर्ण पर्यायों को, हमेशा सर्वकाल में प्रतिसयम में एक साथ जानते हैं अतः इसलिए वे सर्वज्ञ इस प्रकार कहे जाते हैं। उन सर्वज्ञ जिनेश्वर पूज्य महावीर भगवान् के लिए नमस्कार हो।''

यहाँ कहा-जो लोक और अलोक में विद्यमान समस्त चराचर पदार्थों को युगपत् जानते हैं वे समयज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं, वे सर्वदर्शी केवली हैं। आ. भगवन् कुंदकुंद स्वामी ने प्रवचनसार में कहा है-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥80॥

जो अरहंत भगवान को द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से जानता है, वह वस्तुतः अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह निश्चय ही नाश को प्राप्त हो जाता है। जिनको जानने वाला स्वयं उन रूप होने की सामर्थ्य रखता हो ऐसे वे अरिहंतजिन सामायिक का ऐसा स्वरूप बताते हैं। जैसा उन अरिहंतों की वाणी में खिरा वैसा हम आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं।

सामायिक की विधि बताते हुए कहा–**'मूर्धरूह-मुष्टिवासोबन्धं'** उस समय की बात है जब घड़ी, अलार्म आदि नहीं थे, या तो रेत वाली घड़ी थी, जार में बालू भर दी वह गिर रही है या जल घटिका में जल आ रहा है अथवा जा रहा है, इतने समय में भर जाती है या इतने समय में खाली हो जाती है। प्रकाश से परछाई नापकर समय जानते थे, या फिर सूर्य की गति को देखकर कि सूर्य इतने बजे उदय होता है, सूर्य यहाँ से यहाँ तक पहुँच गया तो लगभग इतना समय हो गया, वहाँ पहुँचा तो इतना टाइम हो गया है, तो पहले ऐसी परम्परा थी। भारतीय संस्कृति के ऐसे-ऐसे पुरोधा हुए जो दिन का समय ही नहीं रात्रि में चाँद-तारों की गति से बता देते थे कि रात्रि का इतना समय हो गया है।

उस समय की बात यहाँ कह रहे हैं कि कब तक मैं सामायिक करूँगा, तो समय का पता लगाने के लिए चोटी में गाँठ लगा ली, चोटी पर हाथ जाएगा अरे! गाँठ लगा है, मैं अभी सामायिक में हूँ, अभी तोड़ नहीं सकता। या मुट्ठी बांधकर बैठ गए, जब तक मुट्ठी बांधकर बैठे हैं तब तक अन्य कार्यों में आरंभ-परिग्रह-कषाय में उपयोग नहीं लगा सकते, या वस्त्र में गाँठ लगाकर सामायिक करने बैठ गए अथवा पद्मासन, अर्द्धपद्मासन लगाकर बैठ गए या अन्य आसन लगाकर बैठ गए। उपयोग की धारा चल रही है परपदार्थों से विरक्त होकर के समय को शुद्ध करने के लिए, यत्र-तत्र-सर्वत्र बातों का त्याग करके सारा उपयोग आत्मा की ओर जा रहा है, वह सामायिक है। आगे कहा–

'पर्यंकबन्धनं' पद्मासन, पर्यंकासन, अर्द्धपद्मासन, कुक्कुटासन, गौमुखासन, मत्स्यासन, भुजंगासन, कच्छपासन आदि अथवा 'स्थानमुपवेशनं वा' कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर, बैठकर के आसन के काल को सामायिक कहते हैं। उन सभी आसनों में सामायिक करने से शरीर को कष्ट होता है किन्तु उस समय शरीर का कष्ट अनुभव में नहीं आना चाहिए, आत्मा का उपयोग धर्मध्यान में लगना चाहिए। श्रावक के शिक्षाव्रत में कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में लिखा है कि-''पर्यंक आसन को बाँधकर अथवा सीधा खड़ा होकर काल का प्रमाण कर इन्द्रियों के

व्यापार से निवृत्त होने के लिए जिनवचन में एकाग्र करके, काय को संकोच करके, हाथ की अंजुलि बाँधकर अपने स्वरूप में लीन होकर अथवा वन्दना पाठ के अर्थ का चिंतन करता हुआ क्षेत्र का प्रमाण करके तथा सर्व सावद्य योग को छोड़कर जो श्रावक दशा प्राप्त होती है, वह सामायिक है।

सामायिक में समय को देखना। हाँ महाराज जी हम सामायिक में समय को देखते हैं घड़ी सामने रखते हैं। 'अरे! घड़ी नहीं देखना इस घट (देह) के अंदर आत्मा है, उस चैतन्य आत्मा को देखना है। बाहर की घड़ी नहीं, अंदर की घड़ी देखना है। एक-एक घड़ी करोड़ की निकलती चली जा रही है और हे जीव! यदि तू साठ घड़ी में से छह घड़ी भी नहीं निकालता है अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए तो तेरा जीवन व्यर्थ है। जिसने 60 में से 6 घड़ी निकाल ली उसके लिए सारा संसार शून्य जैसा हो जाएगा, वह समस्त कर्मों को शून्य कर सकता है। 60 में से 6 का अंक अलग कर लो, दो घड़ी सुबह की, दो घड़ी दोपहर की, दो घड़ी शाम की ये छह घड़ी निकालना है। ये निकालते ही शून्य बचेगा, अर्थात् तुम्हारा संसार भी शून्य हो जाएगा इतना नहीं निकाल पाए तो फिर आत्मा का कल्याण अभी बहुत दूर है, दुर्लभ है, दुःसाध्य है, दुर्गम है। और जब जागरूक हो गए, आत्मा को जान लिया, फिर आत्मा का कल्याण बड़ा सरल है, सुगम है, सहज है। जैसे पानी के लिए ढालू स्थान से नीचे बहना बड़ा सरल होता है, नदी का पहाड़ से गिरना बड़ा सरल होता है ऐसे ही जो जागरूक है, भव्य है, सम्यग्दृष्टि है, धर्मात्मा है, मंदकषायी, भद्रपरिणामी है उसके लिए तो सामायिक बड़ी सरल, सहज है और जिसकी आत्मा जागरूक नहीं, सम्यक्त्व नहीं, कषायों की तीव्रता चल रही है उससे सामायिक अभी बहुत दूर है।

नेत्र में ज्योति हो तो सामने वाला दृश्य देखना बड़ा सरल है। आँखों में ज्योति नहीं है तो कितने ही दर्पण लगाओ, कितने ही दीपक जलाओ, कितने की सूर्य उदय कराओ सब व्यर्थ है। ऐसे ही आत्मा में सम्यक्त्व नहीं तो आत्मकल्याण असंभव। उसके लिए आत्मकल्याण का मार्ग कहीं भी नहीं, किसी भी क्षेत्र में नहीं, किसी भी काल में नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव जहाँ है वहाँ आत्मा का कल्याण कर सकता है किन्तु जिसके पास सम्यग्दर्शन नहीं है वह कहीं भी पहुँच जाए आत्मकल्याण नहीं कर सकता।

महानुभाव! सामायिक कोई बच्चों की चीज या बच्चों का खेल नहीं है। एक दंतकथा श्रुति में आई, एक बार राजा श्रेणिक से किसी ने कह दिया कि तुम्हारा नरकायु का बंध हो गया है, नरक में जाना पड़ेगा। वह बोले मैंने भगवान् महावीर स्वामी से 60,000 प्रश्न पूछे, क्या

मैं नरक जाऊँगा? मैं तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि हूँ। हाँ, जा सकते हो। 60,000 प्रश्न पूछ लिए इनसे नरकायु का कोई संबंध नहीं है। नरकायु का बंध पहले कर लिया हो और बाद में 60 हजार क्या 60 लाख प्रश्न भी पूछ लें तो क्या फर्क पड़ता है, 60 करोड़ भी पूछ लें तब भी कोई बात नहीं। क्यों? क्योंकि वे शब्दों में प्रश्न पूछ रहे हैं और शब्दों में ही उत्तर मिल रहे हैं। आत्मा का प्रश्न तो आपने पूछा ही नहीं कि मेरी आत्मा का कल्याण कैसे होगा। दूसरों की जीवनी पूछी। अब नरक से बचने का कोई उपाय? कोई उपाय नहीं। नहीं मुझे बचना है। तो ठीक है एक काम करो तुम्हारे नगर में एक पूनिया सेठ है, वह बड़ा धर्मात्मा है, तीन बार की सामायिक करता है, उसकी एक बार की सामायिक खरीद कर ले आओ तो बच जाओगे। वह पूनिया सेठ के पास गए, पूनिया सेठ ने कहा राजन्! आप क्यों आए मुझे ही बुला लिया होता। वे बोले मुझे आपकी एक बार की सामायिक चाहिए। सेठ ने कहा–आप हमारे राजा हैं, अन्नदाता हैं, ईश्वर समान हैं, पर ये चीज दी नहीं जा सकती। अरे! क्यों नहीं दी जा सकती, आप तो बस मूल्य माँगो। नहीं राजन्! यह तो आत्मा की परिणति है, परिणामों का खेल है।

समत्वमय आत्मा के परिणामों का नाम सामायिक है जिस समय राग-द्वेष मंद हो जाएँ, कषाएँ मंद हो जाएँ, आसक्ति न रहे, संसार-शरीर भोगों से विरक्ति हो जाए, आत्मा के कल्याण के प्रति तीव्र लगन लग जाए। वह समत्व भाव जहाँ किसी की चाह नहीं, जहाँ संसार की कोई राह नहीं, बस एक आत्मा में प्रवेश करने की राह, आत्मा को शुद्ध बनाने की राह, वह सामायिक है। राजन्! अब आप ही बताईए मैं अपने आत्म परिणामों को आपको कैसे दे सकता हूँ। क्या आप अपने सिर के दर्द को किसी को निकाल कर दे सकते हो, क्या आप अपने चित्त की खुशी किसी को दे सकते हो, क्या अंदर की तृष्णा को निकालकर दे सकते हो, क्या किसी के प्रति आपका प्रेम है उसको निकालकर दे सकते हो? नहीं दे सकते। क्योंकि ये चेतना की परिणति हैं, चेतना में रहती हैं इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जैसे अग्नि की ऊष्णता को अलग नहीं किया जा सकता, जल में से जल की शीतलता को अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही आत्मा में से समत्व भाव को अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए महाराज श्रेणिक! उस समत्व भाव का नाम सामायिक है, वह मैं आपको दे नहीं सकता।

महानुभाव! इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय सामायिक के काल की मर्यादा बताते हुए यही कह रहे हैं कि निराकुलता का नाम सामायिक है। सामायिक करने बैठने के बाद कालमर्यादा की आकुलता का नहीं होना ही सामायिक है। घटिका आदि समय बाँध लेने पर जिनको किसी आवश्यक कार्य आने पर स्थिरता नहीं रहती उसके लिए आकुलता का निराकरण करने के

लिए आचार्य देव ने कहा है कि केशबंधन-जब तक चोटी की गाँठ लगी रहेगी तब तक मुझे सर्व पाँचों पापों का त्याग है, मुष्ठिबंधन, दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधकर बैठता है व प्रतिज्ञा करता है जब तक मुट्ठी बाँधे रहूँगा तब तक सर्व प्रकार के आरंभ पापादिक का त्याग है, इसी प्रकार वस्त्रबंधन, पर्यङ्कबंधन, स्थान, उपवेशन आदि के समय तक प्रतिज्ञा करने को गणधरादि देव समय कहते हैं। समय को जानने वाले व्यक्ति उतने काल के लिए अपने परिणामों में समता रखते हैं, वे जानते हैं कि मेरी आत्मा का शाश्वत स्वभाव ही समत्वमय होना चाहिए किन्तु क्रम-क्रम से बढ़ाते-बढ़ाते सुचिरकाल तक ले जाना चाहते हैं और मुनिमहाराज का तो समता व्रत ही होता है, मूलगुण ही होता है। उसे प्राप्त करने के लिए यह शिक्षाव्रत है, सोपान है। यहाँ सामायिक के समय आदि को जाना। आगे सामायिक के योग्य स्थानादिक का कथन करेंगे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक के योग्य स्थानादि

एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वाऽपि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया॥99॥

अन्वयार्थ–प्रसन्नधिया – श्रावक को प्रसन्न मन होकर, **वनेषु** – वनों में, **वा** – अथवा, **वास्तुषु** – मकान व धर्मशालाओं में, **च** – और, **चैत्यालयेषु** – चैत्यालयों में, **अपि** – तथा पर्वत की गुफा आदि में, **निर्व्याक्षेपे** – उपद्रव रहित, **एकान्ते** – एकान्त स्थान में, **सामायिकं** – सामायिक को, **परिचेतव्यं** – बढ़ाना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवान् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में श्रावकों के 4 शिक्षाव्रतों को समझते हुए सामायिक शिक्षाव्रत को समझने का प्रयास कर रहे हैं। सामायिक कैसे-कहाँ-कब करना चाहिए उस संबंध में आचार्य महोदय यहाँ विस्तृत कथन कर रहे हैं। श्लोक नं. 99 में सामायिक के योग्य स्थान के बारे में बता रहे हैं–

यहाँ कहा- **'एकान्ते'** एकान्त स्थान में सामायिक करें। बाद में भले ही भीड़ में सामायिक हो यानि आपकी सामायिक करते समय भीड़ इकट्ठी हो जाए तो कोई विकल्प नहीं किन्तु आप अपना मन ये मत बनाओ कि मैं भीड़ में जाकर सामायिक करूँगा। गृहस्थों की भीड़ सामायिक में बाधक है। रागद्वेष से जिनका चित्त मलिन है उनके साथ में बैठकर सामायिक होना बड़ा कठिन है। जिनके चित्त में कषाय का उद्रेक चल रहा है, उनके बीच में बैठकर सामायिक कर पाना बड़ा कठिन है। जैसे समुद्र में कूदकर के सूखा रह पाना कठिन है, कोई अग्निकुंड में गिर जाए और न जले यह असंभव है, जैसे धूप में खड़े होकर के व्यक्ति को ताप न लगे यह असंभव है, ऐसे ही राग-द्वेष से मलिन चित्त वाले व्यक्तियों के बीच में बैठकर के समत्व भाव की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

कोई व्यक्ति सड़े-गले पदार्थों के बीच में जाकर के बैठे और कहे कि मेरे शरीर से दुर्गन्ध न आए, यह असंभव है। एक किसान प्याज के खेत में प्याज के ढेर पर सो गया, उसके वस्त्रों से भी प्याज की गंध आने लगी, प्याज की गंध आना स्वाभाविक भी है, गुलाब की गंध थोड़े ही आएगी। गुलाब की गंध चाहिए तो गुलाब वाटिका जाइए, अर्थात् जहाँ गुलाब के पुष्प खिल रहे हैं उस वाटिका में-उपवन में जाइए वहाँ पर सहज ही गुलाब की गंध आपके नासा पुटों को तृप्त करेगी, आपके वसन-आभूषण तक को तृप्त कर देगी। आपके तन पर सुगंध

के परमाणु इस तरह चिपक जाएँगे जैसे चातुर्मास के समय में शरीर गीला होने पर क्रोध से आविष्ट हुआ कोई चींटा जब पैर को काटने के लिए चिपक जाता है तो छूटता नहीं है, ऐसे ही सुगंध के परमाणु शरीर से चिपकने लगेंगे।

महानुभाव! अब बात ये है कि जैसा वातावरण होता है वैसे ही परमाणु, उसी प्रकार की वर्गणाएँ चिपकना प्रारंभ होती हैं। भीड़-भाड़ का वातावरण कैसा होता है यह आप स्वयं जानते हैं कि व्यक्ति लड़ रहे हैं, झगड़ रहे हैं, मारकाट चल रही है, आप सोचो मैं वहाँ जाकर सामायिक करूँगा। तुमसे किसी का दु:ख तो देखा नहीं जाता, तुमसे तड़पती चींटी तो देखी नहीं जाती, तो क्या जहाँ पर रक्त की धारा बह रही है, हाहाकार मचा है वहाँ पर जाकर सामायिक कर लोगे? तुमसे यह तक तो देखा नहीं जाता कि कोई किसी से अपशब्द भी कह दे तो आपकी आँखों से आँसू आ जाते हैं, फिर जो कषायों के आवेश में है उसके पास बैठकर सामायिक कर सकोगे? जो व्यक्ति भोगों में आसक्त है, मायाचारी से जिसका चेहरा काला पड़ गया है, अहंकार के कारण जिसके मन में क्रूरता समा गई है और क्रोध के कारण जिसकी आँखों से ज्वाला सी निकल रही है उस व्यक्ति के समीप बैठकर सामायिक कर पाओगे क्या? सामायिक करने के लिए उचित स्थान चाहिए।

किसी खेत में बैठकर के कोई विद्यार्थी अध्ययन नहीं करता उसके लिए अलग से स्कूल की आवश्यकता है, डॉक्टर किसी रोगी का ऑपरेशन करता है तो ऑपरेशन थिएटर में जाकर के करता है, ऐसा नहीं है कि किसी चौपाल पर रखकर चीरना प्रारंभ कर दे, उसके लिए उचित स्थान चाहिए, अनुचित स्थान पर केस बिगड़ जाएगा। रोग नहीं जाएगा रोगी चला जाएगा। यदि अध्यापक उचित स्थान पर विद्यार्थियों को न पढ़ाएँ, वहाँ पर पढ़ाएँ जहाँ पर महिलाएँ चर्चा कर रही हों, लड़-झगड़ रही हों तो उनका मन स्थिर न हो पाएगा वे पढ़ नहीं पाएँगे। कहीं कोई खेल चल रहा हो, बालक अपना मन खेल में लगाए हों तब अध्यापक कहे सुनो-देखो मैं क्या पढ़ा रहा हूँ, आँखों को भले ही आदेश देकर अपनी ओर घुमवा लें किन्तु विद्यार्थियों का मन फिर भी खेल देखता रहेगा। कोई माँ बच्चे को जिस कार्य को करने से रोकती है, बुद्धि का नहीं बल का प्रयोग करके भी रोकती है तो कभी उस कार्य में सफल नहीं होती। बच्चे के शरीर को उठाकर ला सकती है मन को नहीं ला सकती। मन को उठाकर लाने के लिए उसको बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए बल का नहीं। अर्थात् बालक को जिस कार्य में संलग्न करना चाहती है उस कार्य में बालक की रुचि पैदा करे, जब रुचि पैदा हो जाएगी तो मना करने पर भी बालक उस कार्य को करेगा।

किसान के लिए खेत आवश्यक है तभी वह अपने बेटे को खेती करना सिखा सकता है, तैराक के लिए नदी आवश्यक है तभी वह किसी को नदी तैरना सिखा सकता है, बिस्तर पर लेटकर तैरना नहीं सिखाया जा सकता, स्थान की बहुत बड़ी महत्ता होती है। वकील प्रेक्टिस करता है तो कोर्ट में करता है, जिस प्रकार की प्रेक्टिस करनी है उस प्रकार का वातावरण तैयार करना पड़ता है। अरे! कोई व्यक्ति एक आलेख लिखता है तो उसके पूर्व भी आलेख की भूमिका लिखता है, बिना भूमिका के कुछ नहीं होता। मकान बनाने वाला व्यक्ति पहले नींव खोदता है (भूमिका बनाता है) फिर मकान बनाता है। धार्मिक सभा का प्रारंभ करने से पूर्व धर्म का मंगलाचरण किया जाता है तभी सभा शुरू होती है। युद्ध प्रारंभ करने से पहले घोष बजाए जाते हैं ताकि योद्धाओं में जोश आ जाए। तो सामायिक को क्या मामूली समझते हो? सामायिक मामूली नहीं है।

एक उपासक उपासना करने के लिए मंदिर की आवश्यकता समझता है उसे मंदिर चाहिए ही चाहिए, घर में भगवान् की तस्वीर रखकर पूजा करेगा तो उसका मन नहीं लगेगा, घर में गृहस्थ संबंधी वर्गणाएँ हैं, उपासना संबंधी नहीं इसलिए भगवान् की स्थापना के लिए मंदिर की आवश्यकता हुई। घर में जिनबिंब नहीं रखते, जो रखते भी हैं वे अलग से चैत्यालय बनाते हैं, जहाँ गृहस्थों का अशुद्ध वस्त्रों आदि में जाना शक्य न हो।

महानुभाव! इसी तरह यहाँ आचार्य महाराज कर रहे हैं कि सामायिक के लिए भी उचित स्थान होना चाहिए। स्थान यदि उचित नहीं है तो सामायिक करना शक्य नहीं है। वह असामायिक हो जाएगी, वातावरण से प्रारंभिक विद्यार्थी घबरा जाएगा, प्रभावित हो जाएगा और प्रभाव पड़ेगा ही पड़ेगा। यदि बसंत ऋतु में हवा चलकर आती है तो हवा में भी सुगंध होती है, वस्त्र सुगंधित हो जाते हैं, यदि कत्लखाने के पास चले जाओ तो हवा में भी दुर्गंध होती है। ऐसे ही सामायिक का उचित स्थान हो, एकान्त स्थान हो जहाँ दुर्वर्गणाएँ न हों, कुविचारों का प्रभाव न हो। वह स्थान जहाँ पर अपने मन को शुद्ध किया जा सके। गंदे पानी से गंदे वाहनों को साफ नहीं किया जाता, रक्त से रक्त के दाग को नहीं धोया जा सकता, गंदी कीचड़ से बर्तनों को साफ नहीं किया जाता, इसी तरह रागद्वेष के वातावरण में सामायिक का माहौल नहीं बनाया जा सकता। सामायिक के लिए अनुकूल वातावरण हो, जहाँ अनावश्यक बातों का प्रवेश न हो, जहाँ से अनावश्यक क्रिया-चेष्टाएँ न दिखें, अनावश्यक व्यक्तियों का प्रवेश न हो।

आगे कहा-**'निर्व्याक्षेपे'**-वहाँ पर कोई भी उपद्रव नहीं हो। जहाँ बाजू में शराब का ठेका हो वहाँ जैन मंदिर, जैनधर्मशाला बनाकर साधु को ठहराना चाहो, महाराज यहाँ सामायिक कर

लो, तो कैसे करेंगे सामायिक? आपने धर्मशाला में महाराज को रोक लिया, नीचे शादी हो रही है डी.जे. बज रहा है, ऊपर महाराज बैठे हैं, श्रावक बैठे हैं, त्यागीव्रती बैठे हैं, उनसे कहो करो सामायिक, तो कैसे चलेगी सामायिक? सामायिक का स्थान एकान्त में हो, धर्मशाला वसतिका आदि अलग हो। मंदिर ठहरने का स्थान नहीं है, कुछ लोग साधु को मंदिर मे ठहरा देते हैं तो मंदिर में अभिषेक की, पूजन की, शांतिधारा की, घंटों की आवाज आ रही है, साधु अपने कक्ष में ध्यान लगा रहे हैं, स्वाध्याय कर रहे हैं, कक्षा ले रहे हैं, क्या वे अपनी साधना निराकुल कर पाएँगे इसलिए कहा स्थान एकान्त हो।

चतुर्थकाल में भी श्रावक लोग एकान्त में सामायिक के लिए जाते थे कभी जंगल में, श्मशान में, बाग-बगीचे-उद्यान में तो कभी पहाड़ या नदी किनारे। तो श्रावकों को पहले भूमिका अच्छी मिलनी चाहिए जिससे कम प्रयास कर उसकी विशुद्धि ज्यादा बढ़ जाए। आगे कहा **'वनेषु'** सामायिक हेतु वन में जाना चाहिए। क्योंकि मनुष्यों से समाकीर्ण बस्ती में सामायिक करने का चित्त नहीं होता, रागद्वेष की भावना पनपती है, लोभ जागता है, वैर भाव जागता है, दिखावे की भावना उत्पन्न होती है इसलिए राग-द्वेष से संलिप्त चित्त वाले व्यक्तियों के संसर्ग को छोड़कर अलग जाओ। **'वास्तुषु'**-ऐसे ही भवनों में जाओ, **'चैत्यालयेषु'**-चैत्यालय क्या? जहाँ चैत्य विराजमान हो अर्थात् सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी जिनमुद्रा के धारी जिनेन्द्र अरिहंत परमेष्ठी की जहाँ प्रतिमा विराजमान है, उस चैत्यालय में जाकर सामायिक करो। चैत्यालयादि में भी सामायिकादि का कथन किया है किन्तु तब जब वहाँ शांति हो।

जहाँ किसी युवती का चैत्य अर्थात् बिम्ब हो, वो 16 शृंगार से सहित है और कामवेदना से पीड़ित है ऐसी स्त्री का चैत्य कहीं विराजमान है वहाँ जाकर सामायिक करोगे तो मन लगेगा क्या? कामदेव का मंदिर जहाँ हो, जो काम रूपी नेत्रों से प्रहार कर रहे हों क्या वहाँ मन लगेगा? जहाँ सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुएँ रखी हों क्या वहाँ मन लगेगा? नहीं लगेगा इसीलिए कहा निर्ग्रंथ जिनबिम्ब जहाँ विराजमान हों, आत्मस्थ बिंबों के सामने खड़े होकर के आत्मस्थ होने की प्रेरणा प्राप्त होती है और आत्मस्थ केवल परमेष्ठी हो सकते हैं उनके अलावा तीनों लोकों में और कोई आत्मस्थ नहीं हो सकते सब परस्थ हैं। पाँच परमेष्ठी के बिम्ब या चैतन्यमूर्ति जहाँ हों जो आत्मा का अनुभव करने में समर्थ हैं ऐसे चैतन्य साधु-संतों के पास जाकर सामायिक कर सकते हैं किन्तु उनका निर्देश है तो सामायिक करो अन्यथा जहाँ वे निर्देश करें वहाँ बैठकर सामायिक करो।

पहले जंगलों में बड़ी-बड़ी वापिकाएँ होती थी, जिन वापिकाओं में चारों तरफ जिनबिंब भी लगे रहते थे। वहाँ तट पर बैठकर शीतलता का अनुभव होता था। वहाँ का स्वच्छ वातावरण, शीतल- मंद बयार के चलते हुए तन का ताप, मन का पाप एवं बाह्य संताप स्वतः ही शांत होने लगता था। जैसे चन्द्रमा के उदय होते ही आकाश से सुधाकर सुधा की वर्षा करता है, शरद ऋतु में ओस बूंद गिरती हैं और जमीन गीली हो जाती है, वृक्ष-पुष्प-पत्र-फल रात्रि की ओस से आर्द्र हो जाते हैं स्वतः गीले हो जाते हैं ऐसे ही वापिका के समीप बैठकर के, वहाँ की शीतल हवा व्यक्ति के संताप को, क्रोध को शांत करती है, मन को शान्त करती है, मायाचारी का अवसर नहीं देती है, लोभ की अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं हो पाती है क्योंकि वहाँ पर ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसे देखकर ग्रहण करने का भाव आए। चित्त को शान्ति मिली तो समस्त इच्छाएँ शान्त होने लगती हैं। वापिका, झील, नदी, सरोवर, तालाब आदि के निकट बैठकर सामायिक की जा सकती है। अथाह जलराशि को देखकर इतना आनंद आता है कि वह आनंद चित्त के विकारों को धो देता है, चित्त के मल का प्रक्षालन कर देता है।

यहाँ श्लोक में 'च' कार से ग्रंथों में कथित सामायिक योग्य क्षेत्र, काल, आसन, विनय, मनशुद्धि, वचनशुद्धि व कायशुद्धि इन सात अधिकारों को ग्रहण करना चाहिए। **'क्षेत्र'** शुद्ध, निर्जीव, छिद्ररहित भूमि, शिला, काष्ठ निर्मित चौकी, गिरि की गुफा, सिद्धक्षेत्र, चैत्यालय आदि शांत एकान्त स्थान सामायिक के योग्य क्षेत्र कहे जाते हैं। यह क्षेत्र क्षुद्र जीवों की अथवा सर्दी-गर्मी की बाधाओं से रहित होना चाहिए। स्त्री, पाखण्डी, तिर्यञ्च, भूत-बेताल आदि, बाघ, सिंह आदि तथा अधिकजन के संसर्ग से दूर क्षेत्र होना चाहिए व निराकुल होना चाहिए। **'काल'** पौर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न इन तीनों कालों में छह-छह घटिका का काल सामायिक काल है।

'आसन' सामायिक के लिए मुख्य दो आसन हैं-खड़गासन व पद्मासन। इन आसनों में कमर सीधी व निश्चल रहे, दृष्टि नासाग्र हो, अपनी गोद में बाएँ हाथ के ऊपर दाहिना हाथ रखा हो, नेत्र न अधिक खुले हों और न अधिक मुंदे हों, निद्रा, आलस्य रहित प्रसन्न वदन हो, ऐसी मुद्रा आसन कहलाती है। **'विनय'** विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर, अर्थ सहित भक्ति पाठ श्रवण करना विनय है। **'मनशुद्धि'** आर्त्त-रौद्रध्यान से मुक्त मन का होना मनशुद्धि है। **'वचनशुद्धि'** अक्षरों का उच्चारण शुद्ध होना, अभद्र भंड वचनों का नहीं होना वचनशुद्धि है तथा **'कायशुद्धि'** मल-मूत्र आदि से रहित शरीर का होना वा हाथ-पैर स्वच्छ करके सामायिक करना काय शुद्धि है। स्नानादि से शुद्ध होकर चैत्यालय में या अपने घर में ही प्रतिमा के सन्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर पंचपरमेष्ठी, जिनबिम्ब, जिनधर्म, जिनवचन, अकृत्रिम-कृत्रिम जिन मंदिरों की वन्दना कर उनके गुणों का चिंतन करना

सामायिक है। यदि जिनप्रतिमा सन्मुख हो तो दक्षिण एवं पश्चिम दिशा में मुख कर सकते हैं परंतु प्रतिमा नहीं है तो उत्तर या पूर्व दिशा में मुख करके ही सामायिक करना चाहिए।

आगे कहा–**'परिचेतव्यं'** अर्थात् सामायिक के योग्य परिणामों की वृद्धि करना चाहिए। कैसे? तो विशेषण दिया **'प्रसन्नधिया'** प्रसन्नचित्त होकर के। सामायिक का और प्रसन्नता का अविनाभावी संबंध है। सामायिक में प्रसन्नता नहीं तो वह असामायिक है। बाह्य सारे साधन मिलने पर भी यदि अंतरंग में परिणाम विशुद्ध नहीं हैं, पंचपरमेष्ठी के प्रति अनुराग नहीं है तो वह सामायिक नहीं कहलाती। इसीलिए आचार्य महोदय ने 'प्रसन्नधिया' कहा। इसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि मानव आत्मविशुद्धि के लिए वा कर्मों की निर्जरा करने के लिए प्रसन्नचित्त होकर यानि आर्त्त-रौद्रध्यान को छोड़कर पशु आदि के उपद्रव से रहित एकान्त, निर्जन वन में, चैत्यालय में बैठकर समताभाव की वृद्धि करने का प्रयत्न करें।

यहाँ पर जो स्थान बताये वे हैं एकान्त स्थान, उपद्रव से रहित स्थान, मकान, धर्मशाला, चैत्यालय, वन आदि व उनके अतिरिक्त और भी स्थान हो सकते हैं जहाँ सामायकि वृद्धि को प्राप्त हो। शर्त ये है कि प्रसन्नता हो; क्योंकि प्रसन्नता सामायिक का प्राण है जैसे प्राण के बिना शरीर जीवित नहीं रहता, वैसे ही चित्त की प्रसन्नता के बिना सामायिक नहीं रहती किन्तु वह प्रसन्नता रागद्वेष को बढ़ाने वाली न हो, बाह्य पदार्थों से उत्पन्न न हुई हो, वह प्रसन्नता चित्त से, स्वभाव की ओर गमन करने से उत्पन्न हुई हो। वह प्रसन्नता निःसंदेह सामायिक को विशुद्ध बनाती है। वह सामायिक चेतना का चेतना से मिलन करा देती है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् समन्तभद्रस्वामी ने इस श्लोक में सामायिक के योग्य स्थान का वर्णन किया है क्योंकि गृहस्थ के परिणाम को निर्मल करने के लिए बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव निमित्त बनते हैं। जिस प्रकार फलों का बाह्य छिलका भीतरी रस के विकास व मधुरता का कारण है और उसका रक्षक होता है, उसी प्रकार बाह्य निमित्त उपादान के विकास में सहायक होता है। भव्य, सम्यग्दृष्टि प्राणी के समता भाव की वृद्धि में क्षेत्र भी एक बाह्य निमित्त है, जैसे नरक से निकलकर तीर्थंकर होने वाले प्राणी के परिणामों की विशुद्धि के लिए छह महीने पूर्व देवों के द्वारा रचित परकोटा कारण होता है, इसीलिए आचार्य महोदय ने यहाँ आदेश दिया कि उपद्रवरहित, एकान्तस्थान में, वनों में, चैत्यालय में, गुफा, वृक्ष, कोटर आदि स्थानों में प्रसन्नचित्त होकर सामायिक कर सकते हैं। ऐसी सामायिक आप सभी सम्पन्न करें, हम आप सभी के प्रति ऐसी भावना भाते हैं। इसी के साथ अपनी शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रोषध के दिन सामायिक को बढ़ावें

व्यापार - वैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा॥100॥

अन्वयार्थ–उपवासे – उपवास के दिन, **च** – और, **एकभुक्ते वा** – एकासन के दिन भी, **व्यापार-वैमनस्यात्** – शरीरादि की कुचेष्टा तथा चित्त की कलुषता से, **विनिवृत्या** – विनिवृत्त होकर, **अन्तरात्मविनिवृत्या** – मन के विकल्पों की विशेष निवृत्ति के द्वारा, **सामायिकं** – सामायिक को, **बध्नीयात्** – बढ़ावें।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में चार शिक्षाव्रतों में से सामायिक शिक्षाव्रत का कथन यहाँ चल रहा है। आचार्य महोदय सामायिक के संबंध में अलग-अलग प्रकार से व्याख्या कर रहे हैं। पहले सामायिक की परिभाषा बताई, फिर सामायिक के स्थान के बारे में बताया फिर सामायिक की विधि के बारे में बताया, अब सामायिक की अन्तरंग विधि के बारे में बता रहे हैं। सामायिक की बहिरंग विधि अलग प्रकार से है अंतरंग विधि अलग प्रकार से है। बहिरंग विधि का आशय था कि वह किस प्रकार से संकल्प के निमित्त बनाए। अब अंतरंग विधि बता रहे हैं कि अंतरंग में सामायिक के भावों का प्रादुर्भाव कैसे हो।

एक सामायिक की बाह्यमुद्रा होती है एक सामायिक की अंतरंग विशुद्धि होती है, दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। अंतरंग की विशुद्धि बाह्यसामायिक का निमित्त बनती है और बाह्य निमित्त अंतरंग विशुद्धि का निमित्त बनता है। कोई ये न सोच ले कि बहिरंग की सामायिक के बिना अंतरंग की सामायिक बन सकती है अर्थात् बहिरंग में वचनों से, शरीर से बुद्धिपूर्वक अशुभ क्रिया करता रहे और अन्तरंग में निर्मल परिणाम बने रहें ऐसा नहीं हो सकता। यदि किसी बर्तन में अग्नि रखी है तो उस बर्तन का बाह्य हिस्सा भी गर्म हो जाता है, या बर्फ रखी हो तो बाह्य हिस्सा ठंडा हो जाता है। अंतरंग और बहिरंग एक दूसरे के पूरक होते हैं, विरोधी नहीं।

महानुभाव! यहाँ पर आचार्य महोदय अंतरंग विधि की चर्चा कर रहे हैं। पूर्व श्लोक में जैसे कहा था कि **'परिचेतव्यं प्रसन्नधिया'** अन्तरंग की प्रसन्नता को बढ़ाते-बढ़ाते सामायिक को बढ़ाना चाहिए। जैसे-जैसे अंतरंग की प्रसन्नता बढ़ती है, वैसे-वैसे शरीर की चेष्टा में, वचनों

की प्रवृत्ति में मन के विचारों में भी विशुद्धि बढ़ती है, उन क्रियाओं में भी शान्तपना प्रदर्शित होता है। उदाहरण के रूप में देखें कि किसी जलशय में ज्यों-ज्यों जल बढ़ता है त्यों-यों कमल पुष्प भी जल से ऊपर बढ़ता चला जाता है, यदि जल न बढ़े तो कमल पुष्प ज्यादा न बढ़ेगा, ऐसे ही जब अंतरंग में विशुद्धि बढ़ती है तब व्यक्ति के व्यवहार में अपने आप परिवर्तन आ जाता है। जब तक विशुद्धि नहीं बढ़ती तब तक व्यक्ति बहिरंग की सामायिक की क्रिया भी नहीं कर पाता। उसकी बहिरंग की क्रिया में कहीं अहंकार प्रदर्शित होता है तो कहीं क्रोध, कभी अन्तर्जल्प तो कभी दुर्विचार भी आ जाते हैं। इसीलिए आचार्य महोदय हाथ पर हाथ रखकर, आँख बंद कर मन में संक्लेशता धारण करने के नाम को सामायिक नहीं कहते।

महानुभाव! अन्तरंग में वैमनस्यता का भाव, क्रोध की अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही हो और बहिरंग में नेत्र बंद हों, भृकुटि तनी हुई है, हाथ पर हाथ रखे हुए हैं, शरीर निश्चेष्ट जैसा लग रहा है काष्ठ या पाषाण की मूर्तिवत्, ऐसे भी सामायिक नहीं होती। अंतरंग में अहंकार पोषित हो रहा है, मायाचारी की वल्लरी बिना तरुवर के आश्रय के भी बढ़ती चली जा रही है ऐसे परिणामों को सामायिक नहीं कहते। लोभ की अग्नि चित्त की विशुद्धि का केवल ह्रास नहीं, नाश करने वाली है, लोभ की नागिन पल-पल में उस चित्त के प्राणधारी को डस रही हो तो सामायिक नहीं होती। जिस चित्त में विषय-वासना संवर्धित हो रही हो उसमें सामायिक नहीं ठहरती। विषय- वासना के छिद्र सामायिक के अमृतोपमा जल को चित्त से बाहर कर देते हैं इसलिए आचार्य महोदय ने अंतरंग सामायिक के बारे में भी निर्देश दिए। निर्देश बहुत कार्यकारी होते हैं। शायद वे आदेश और उपदेश से भी ज्यादा कार्यकारी होते हैं।

सामायिक आदेश की क्रिया का प्रतिफल नहीं है कि आदेश देकर किसी से सामायिक करा सकें। उपदेश अच्छा तो लगता है किन्तु वह ठहर नहीं पाता, जैसे सिर से बहता हुआ पानी नीचे तक जाता है, वह शरीर को तो शांत कर देता है किन्तु थोड़ी ही देर बाद शरीर में गर्मी बढ़ा देता है। आप कभी ग्रीष्मकाल में ठंडे पानी से नहाये हों और नहाकर अपने कक्ष में पहुँचते ही पसीने से भर जाते हैं, ऐसे ही किसी के आदेश को पाकर की गई सामायिक वह केवल कायिक सामायिक हो सकती है, काय को तो निष्चेष्ट बनाया जा सकता है किंतु भावों को विशुद्ध नहीं किया जा सकता है। उपदेश की सामायिक ऐसे ही है जैसे बालू में डाला गया जल, बालू सूखती नहीं है जल उसमें है किन्तु वह जल बालू को मृदु करने में समर्थ नहीं है, ऐसे ही आदेश और उपदेश की सामायिक व्यर्थ होती है। निर्देश द्वारा की गई सामायिक सफल और सार्थक होती है। निर्देश सूत्रों द्वारा किया जाता है। वे सूत्र उसे बंद आँखों में भी

दिखाई दे रहे हैं कि मुझे सामायिक में किन-किन सूत्रों का पालन करना है। वह अपने चित्त पर काबू करता है, चित्त को विशुद्ध करता है। वचनालापों के द्वन्द को समाप्त करता है, शरीर की अशुभ चेष्टाओं का परित्याग करता है, सब प्रकार से प्रयास करता है तब सामायिक की विधि और सामायिक बन पाती है।

सब्जी बनाने वाली महिला केवल भगोने में सब्जी सुधार कर चूल्हे पर रख दे तो क्या इतने मात्र से सब्जी बन जाएगी? उसे सब्जी न कहकर उबला हुआ पदार्थ कहा जाएगा। सब्जी बनाने के लिए तो नाना प्रकार के मसालों की, लवण आदि की आवश्यकता पड़ती है। रसोई एक बर्तन से तैयार नहीं होती, हाथ की शोभा किसी एक अंगुली से नहीं बनती, अलग-अलग प्रकार की चार अँगुली भी चाहिए कनिष्ठा, अनामिका, मध्यमा, तर्जनी और अंगुष्ठ। तब जाकर हाथों की शोभा है। ऐसे ही सामायिक केवल शरीर को निश्चेष्ट करने का नाम नहीं है, केवल मौन लेकर मूक पशुओं की तरह बैठ जाने का नाम सामायिक नहीं है। सामायिक का आशय है जिसमें शरीर की अशुभ चेष्टाओं का त्याग होना ही चाहिए, विकल्पों का अन्तर्द्वंद पैदा करने वाले कोलाहल की शांति होना ही चाहिए। मन के अशुभ विचारों का परित्याग कर देना चाहिए, चित्त में विशुद्धि बढ़ना चाहिए तब सामायिक कहलाती है। खीर अकेले चावल से नहीं बनती उसमें दूध-शक्कर सभी का सहयोग आवश्यक है। जब तक चावल उबले नहीं, खांड दूध में घुले नहीं और दूध अपनी परिणति चावल को दे नहीं तो खीर नहीं बन सकती। ऐसे ही सामायिक के लिए मन की परमविशुद्धि होना अत्यन्त आवश्यक है, वचनों का रोध होना भी आवश्यक है और शरीर का अशुभ चेष्टा से बच जाना भी आवश्यक है, फिर अंतरंग में जो आनंद का झरना झरता है उसका नाम सामायिक है।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि सामायिक सामान्य दिनों में तो सामान्य होती है पर्व के दिनों में विशेष होती है। पर्व के दिनों में सामायिक करने वाला वह श्रावक या श्राविका अपनी आत्मा के समीप में वास करता है; क्योंकि भोजनादि सामग्री अंदर जाते ही अंतरंग व बहिरंग रूप से अपना कार्य करती है। अंतरंग में प्रमाद लाती तथा शरीर को बल देती है। बहिरंग में वह भोजन चेहरे पर चमक भी ला सकता है और संक्लेशता के भाव भी ला सकता है। भोजन पर बहुत कुछ निर्भर करता है, ऐसा नहीं है कि उसका असर नहीं होता। उपवास करने पर जो विशुद्धि बढ़ती है वह विशुद्धि भोजन करने पर नहीं बढ़ती। नहाने पर जो तन को शांति मिलती है बिना नहाये नहीं। सामायिक का आशय है चित्त का स्नान, प्रक्षालन, आत्मावलोकन, स्वात्मोपलब्धि, राह में गतिशील कदम।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं–**'व्यापारवैमनस्यात्'** व्यापार से यहाँ आशय है शरीरादि की चेष्टाएँ जो स्थूल रूप से दृष्टिगोचर हो रही हैं। सामायिक करने बैठे चोर की तरह तांक-झांक कर रहे हैं, इधर-उधर, ऊपर नीचे देखा कौन क्या कर रहा है, ये सामयिक नहीं है। सामायिक में छिपकली की तरह से दीवार से चिपककर दूसरों की बातें सुनना, आँख बंद करके तो बैठे हैं किंतु कान वहाँ लगे हैं जहाँ लोग चर्चा कर रहे हैं इसका नाम भी सामायिक नहीं। दूसरों का तिरस्कार अपमान करने का नाम, तन का मूर्तिवत् अहंकार से युक्त होकर बैठने का नाम भी सामायिक नहीं है, और सामायिक वह भी नहीं जहाँ चित्त में दीनता के भाव आ जाएँ, क्रूरता के भाव आ जाएँ, दानवता व दयनीयता इन दोनों के परिणामों का नाम भी सामायिक नहीं है। सामायिक नाम है बहिरंग के पुरुषार्थ की फलोत्पत्ति। जैसे-जैसे फलभार बढ़ता है त्यों-त्यों रस मीठा होता चला जाता है, पुष्प की कली आगे बढ़ती है तो गंध बढ़ती चली जाती है यह सब प्राकृतिक है ऐसे ही अंतरंग के परिणामों में जब विशुद्धि आती है तो शरीर की क्रिया सुधारनी नहीं पड़ती स्वतः सुधर जाती है। वचनों को मीठा नहीं बोलना पड़ता, चित्त में विशुद्धि होती है तो चित्त से अनुस्यूत शब्द जब बाहर निकलकर आते हैं तो शब्दों में मिठास अपनेआप आ जाती है। जब ओलावृष्टि होती है तो साथ बरसने वाली बूँदे गरम नहीं होती ठंडी होती हैं और जब ग्रीष्मकाल में लू चलती है तो हवा ठंडी नहीं आती गर्म आती है। हवा न ठंडी है न गर्म है जिसके संसर्ग से होकर के आई उसका प्रभाव लेकर के आई।

बाह्य वातावरण गर्म है, सूर्य प्रचण्ड हो ताप दे रहा है तो वहाँ से गुजरने वाली हवा निःसंदेह स्वतः ही गर्म हो जाएगी, जब बाहर ठंडक पड़ रही है Temperature 10°C से नीचे है या उससे भी नीचे 3.0 तक पहुँच गया अब वहाँ हवा चले तो हवा का temperature स्वतः down हो जाएगा। ऐसे ही चित्त में जब कषाय की अग्नि जल रही हो तो परिणामों में समता भाव कैसे आएगा, शरीर की शुभचेष्टाएँ कैसे होंगी, वचन शुभ कैसे हो पाएँगे। हवा जिस दिशा से आती है उस दिशा की विशेषता अपने साथ लाती है। खिलते पुष्पों से संस्पर्शित हवा नासापुटों को गंध से तृप्त करती हुई आती है और श्मशान घाट से आती हवा निःसंदेह सड़े-गले पदार्थों की दुर्गंध साथ में लाती है, ऐसा लगता है नासापुटों को फाड़ने वाली हो। ऐसे ही भोजन करने वाला व्यक्ति शुद्ध भोजन करता है तो सामायिक में अच्छा मन लगता है और अशुद्ध-अभक्ष्य भोजन करके आता है तो सामायिक में मन नहीं लगता। उपवास करता है तो बहुत विशुद्धि बढ़ती है, ऐसा लगता है कि सामायिक में बैठा ही रहूँ, उठने की इच्छा

ही नहीं होती। जो आनंद बाह्य पदार्थों के भोगने से नहीं आता, खाने-पीने से नहीं आता वह आनंद चित्त की विशुद्धि से अपने आप आता है। चित्त की विशुद्धि का साधन है सामायिक।

महानुभाव! यहाँ यही कहा कि बाह्य क्रिया-चेष्टाओं से निवृत्त होकर **'अन्तरात्मविनिवृत्या'** मन के विकल्पों को भी दूर करना। वैमनस्य भाव, चित्त की कलुषता, रागद्वेष की तीव्रता से पड़ी हुई बैर की गाँठ दूर करके सामायिक करना। एक म्यान में कभी दो तलवार नहीं रखी जाती, एक राही एक साथ दो पथों पर गमन नहीं कर सकता, एक सुई एक साथ दो तरफ सिलाई नहीं कर सकती, व्यक्ति एक बार में ही मुँह खोलकर अट्टाहास करना व एक साथ फुलाना ये दोनों कोई नहीं कर सकता; ऐसे ही सामायिक और असामायिक दोनों एक साथ नहीं हो सकती। विशुद्धि बढ़ाते हुए सामायिक बढ़ाना चाहिए। आगे कहा 'उपवास चैक भुक्ते वा' उपवास व एकासन के दिन भी अर्थात् जब श्रावक उपवास करे, एकासन करे तब वह ऐसी विशुद्धिपूर्ण सामायिक को करे व बढ़ाए। जो दो आसन करेगा, दो बार में पूरा भोजन उदर में भर लेता है वह कहाँ सामायिक करेगा? जब सामायिक करने बैठेगा नींद लेने लगेगा। इसलिए आचार्यों ने कहा भोजन कैसा करें? सात्विक, और इतनी जगह खाली रखें कि दो भाग ठोस पदार्थ से भरे, एक भाग पेय पदार्थ से भरे और एक भाग खाली रखे तभी सामायिक में मन लग सकता है। चारों भागों को पूरा भरने पर सामायिक में मन नहीं लगता। सामायिक करने वाला व्यक्ति इतनी गुंजाइश रखता है कि प्रमाद न आए।

इस प्रकार आचार्य महोदय ने जहाँ 99वें श्लोक में समताभाव की वृद्धि के लिए क्षेत्र का वर्णन किया, वहीं इस 100वें श्लोक में उपवास और एकासन का वर्णन किया है क्योंकि जैसे क्षेत्र परिणामों की विशुद्धि का एक निमित्त कारण है वैसे ही उपवास और एकासन भी परिणामों की विशुद्धि का कारण है। उपवास भी मन और इन्द्रियों को वश में करने का कारण है। उपवास से ही मानसिक निश्चलता आती है और भोग संबंधी अभिलाषा शांत हो जाती है। सामायिक के समय मन-वचन-काय का निश्चल होना अति आवश्यक है क्योंकि मन-वचन-काय की विकृति सामायिक में बाधक होती है, इसलिए पहले मन को निश्चल करना चाहिए, जिससे बाह्य में ऐसा लगे कि मानो कोई निश्चल पर्वत है। यह सामायिक की बाह्य आकृति है और अंतरंग में उठने वाले राग-द्वेष विकल्पों को हटाकर अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में निश्चलकर उपवास के दिन तथा एकासन करके सामायिक भावों की विशेष वृद्धि करनी चाहिए।

महानुभाव! यह सामायिक की विधि आचार्य महाराज ने अंतरंग की विशुद्धि के लिए बनाई। जैसे आप लोग मकान की सिर्फ बाहर से रंगाई-पुताई नहीं करते हैं यदि मकान में रहना है तो अंतरंग साफ करना भी जरूरी है, बाहरी चमक-दमक को तो बाहर का व्यक्ति देखता है; अंदर में यदि बदबू भरी हो तो रहने वाले का जीवन मुश्किल हो जाएगा। अपनी आत्मा को, चित्त को आंनद देने के लिए अंतरंग में शांति की परम आवश्यकता है। बाह्य शरीर भी शांत हो, वचनालाप भी शांत हों, विचारों की लहरें भी शांत हों तब फिर आत्मविशुद्धि बढ़ती है और सामायिक स्वतः ही वृद्धि को प्राप्त होती है। इसी विधि से सामायिक की वृद्धि आप भी करें, नहीं करते हैं तो करना प्रारंभ करें। हम आपके प्रति शुभ भावना भाते हैं और इन्हीं भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

पाँचों व्रतों को पूर्ण करने का उपाय 'सामायिक'

सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
व्रत-पञ्चक-परिपूरण-कारणमवधानयुक्तेन॥101॥

अन्वयार्थ–अनलसेन – आलस्य रहित, **अपि** – और, **अवधानयुक्तेन** – एकाग्रचित्त वाले श्रावक को, **प्रतिदिवसं** – प्रतिदिन, **यथावत्** – विधिपूर्वक, **व्रतपञ्चकपरिपूरण-कारणं** – पाँच अणुव्रतों की परिपूर्णता का कारणभूत, **सामायिकं** – सामायिक शिक्षाव्रत, **चेतव्यं** – बढ़ाना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप देख रहे हैं। अब यहाँ श्लोक न 101 में बता रहे हैं कि सामायिक करने वाला श्रावक-श्राविका अपने व्रतों को कैसे पूर्ण करता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं–आलस्यरहित होकर प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक को बढ़ाना चाहिए। प्रमाद रहते हुए सामायिक निरवद्य नहीं हो सकती। सामायिक निरवद्य अवस्था का नाम है। यदि समायिक में ही सावद्य हो रहा है तो सामायिक कहाँ हुई। सामायिक शब्द का अर्थ है राग-द्वेष और मोह छूट जाना क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ, मत्सर भाव, ईर्ष्या भाव, घृणाभाव, कामवासना से युक्त भाव ये सभी कुभाव सामायिक को खण्डित करने वाले हैं। इन दुर्भावों के रहते हुए समत्व भाव नहीं आ सकता। यूँ कहें सूर्योदय के रहते हुए रात्रि का प्रारंभ नहीं होता और रात्रि के रहते हुए सूर्योदय नहीं होता। एक साथ दो काम नहीं हो सकते ऐसे ही रागद्वेषमय प्रवृत्ति, मोहमय प्रवृत्ति, क्रोधादिकषाय युत प्रवृत्ति चित्त को दूषित करने वाली होती है। जब चित्त संक्लेशित है, किसी के प्रति तीव्र राग की भावना पैदा हो रही है किसके प्रति? संसारी प्राणियों के प्रति, जो रागद्वेष, विषय-वासना से मलिनचित्तधारी हैं उनके प्रति। किन्तु यदि पंच परमेष्ठी के प्रति राग बढ़ रहा है तो सराग अवस्था है वह कथंचित् सामायिक में ग्राह्य है, किन्तु वह अवस्था ग्राह्य नहीं है जो राग किसी रागी के प्रति, किसी कुरागी के प्रति, विषयानुरागी के प्रति, कषायानुरागी के प्रति चल रहा है। वह राग ग्राह्य नहीं है वह द्वेष भी ग्राह्य नहीं है। सम्यक्त्व के प्रति या सम्यग्दृष्टि के प्रति, सम्यग्ज्ञान के प्रति या सम्यग्ज्ञानी के प्रति, सम्यक्चारित्र के प्रति या सम्यक् चारित्रवान् के प्रति, सम्यक् तप के प्रति या सम्यक् तपस्वी के प्रति, वैराग्य के प्रति या वैरागी के प्रति, सम्यक्ध्यान के प्रति या सम्यक्ध्यानी के प्रति यदि मन में द्वेष चल रहा है तो समझिए सामायिक खण्डित हो रही है। मोह के आवेश में अपनी आत्मा के स्वरूप को भूल जाता है, परस्वरूप को स्वस्वरूप मान लेता है। यह मोह की दशा कहलाती है।

पर को अपना मान बैठा निज को पहचाना नहीं।
भूल है यह आपकी जो आपको जाना नहीं॥
आपको जाने बिना परमात्म पद पाना नहीं,
परमात्म पद पाकर के फिर संसार में आना नहीं॥

चेतन परिग्रह अथवा अचेतन परिग्रह किसी भी प्रकार की वस्तु में अपनी आत्मा का अस्तित्व मान लेना, पर प्राणी के शरीर में अपना अस्तित्व मान लेना या पर भावों में अस्तित्व मान लेना, यह मोह है। यहाँ तक कि शरीर में अपनी आत्मा का अस्तित्व मान लेना कि यह शरीर ही आत्मा है, ये भी मोह की प्रगाढ़ता है। कोई व्यक्ति जो आत्मा के वैभव से अनजान है, आत्मा के अस्तित्व के प्रति श्रद्धान नहीं है ऐसे व्यक्ति छोटी-छोटी वस्तु पर कहते हैं कि मैं इस वस्तु को नहीं दे सकता, चाहे मैं प्राण दे दूँगा; अरे! इस वस्तु में मेरे प्राण बसते हैं। कई बार लोग कहते हैं दादी के प्राण तो पोते में बसते हैं या माँ के प्राण बेटा-बेटी में बसते हैं, तो जिसके जीवन में ये सब घटित हो रहा है तो वह अभी सामायिक से बहुत दूर है; क्योंकि सामायिक में यह सभी अवस्थाएँ नहीं हो सकती।

जो व्यक्ति बाहर में सामायिक का बहाना करके आँख बंद करके बैठा है और अंदर क्रोध की अग्नि जल रही है, तो वह सामायिक नहीं है। सामायिक में मान के कारण अकड़ कर बैठे हैं, यह सामायिक की अवस्था नहीं है, सामायिक तो सरल और सहज अवस्था है, उसमें कठोरता नहीं है। जो माला फेरते-फेरते छल, कपट, मायाचारी कर रहा है कि मेरा पाप प्रकट न हो जाए, और अपनी गलतियों को छिपाने के लिए योजना बनाना, झूठ बुलवाना आदि कपट-प्रपंच की भावनाएँ चल रही हैं, सामायिक में हाथ में माला है, विचारों में दुर्भाव है और घड़ी मिलाकर कहता है मैं तो 48 मिनट की सामायिक करता हूँ तो वह सामायिक नहीं है। अथवा सामायिक में लोभ की प्रवृत्ति चल रही है, अमुक सामान कोई ले न जाए, अमुक वस्तु मुझे कैसे न कैसे मिल जाए, किससे कहूँ, किसको बुलाऊँ, लोभ बढ़ता चला जा रहा है, पूछो अपनी आत्मा से क्या वास्तव में वह सामायिक है?

यदि सामायिक में व्यापार चल रहा है, किसी की बुराई चल रही है तो वह सामायिक नहीं सामायिक का बहाना चल रहा है, वह असामायिक है। यदि सामायिक में ये ही सब चल रहा है तो सामायिक को बदनाम क्यों करते हो? बिना सामायिक के सोचो न, खूब करो जो तुमको करना है पर सामायिक का बहाना मत करो। सामायिक की मुद्रा धारण करके सामायिक का

अभ्यास धारण करो ताकि तुम्हारा मन असामायिक में न जाए, तुम्हारे मन में क्लेशभाव पैदा न हो, संक्लेशता या वैमनस्यता न आए, मद-मत्सर-क्षोभ न आए। आपका मन यदि चलायमान होता है तो धर्म का आलम्बन लें, धर्म की पगडंडी पर चलें और मन के गले में धर्मध्यान की रस्सी ऐसे बांध लो जैसे ग्वाला गाय के गले में रस्सी बांध देता है; जिससे गाय रस्सी के बंधन को तोड़कर उच्छृंखल नहीं हो पाती। जैसे हाथी को वश करने के लिए महावत द्वारा अंकुश लगाया जाता है, बैल-घोड़े या ऊँट की नाक में नकेल डाली जाती है तभी वे नियंत्रित होते हैं ऐसे ही यदि सामायिक करने की भावना है तो मन को नियंत्रण करो।

महानुभाव! मन को नियंत्रित करना बहुत आवश्यक है। मन वहाँ जाता है जहाँ नहीं जाना चाहिए। कई बार तो इतनी विचित्रता हो जाती है कि जब अन्य कार्यों में लगे हैं तो विचार कम आएँगे और जैसे ही सब काम से निवृत्त होकर सामायिक करने बैठे तो इतने विचार पैदा होते हैं जो विचार दिन भर में नहीं आए, वे काम याद आते हैं जो दिनभर में नहीं कर पाएँ। विचारों का अम्बार खड़ा हो जाता है। इस प्रकार ख्याल आना मतलब सामायिक सदोष है, असामायिक है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि 'यथावत्' अर्थात् जो सामायिक का स्वरूप है उसी अनुरूप सामायिक करना चाहिए। प्रमाद को घटाकर, दुर्भावों को छोड़कर सामायिक बढ़ाना चाहिए। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए क्योंकि **'व्रतपञ्चक-परिपूरण-कारणं'** ये सामायिक श्रावक के पाँचों अणुव्रतों का परिपालन कराती है। सामायिक में बैठा श्रावक अपने 5 अणुव्रतों का, 7 शीलव्रतों का पालन कर रहा है। समताभाव में लीन योगी के 28 मूलगुण, 34 उत्तरगुण परिपालित हो रहे हैं। यहाँ पर भी कहा कि यह सामायिक पाँचों व्रतों की पूर्णता का कारण है।

'अवधानयुक्तेन' वह श्रावक-श्राविका एकाग्रचित्त होकर के अपने उपयोग को आत्मा के प्रति जागरूक करता है। उसकी परिणति आत्मा के प्रति होना चाहिए। आँख बंद करके क्षण भर के लिए चैतन्य आत्मा का अनुभव करना, अचेतन शरीर में रहने वाली चैतन्य आत्मा जो ज्ञान-दर्शन स्वभावी है, अमूर्तिक है, जो स्वभावतः कर्मबंध से रहित है, जिस आत्मा में आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा नहीं है, आत्मा आत्मा है ये सब पुद्गल के निमित्त से होने वाली दशाएँ हैं। उस आत्मा में कोई मार्गणास्थान नहीं, गुणस्थान नहीं, जीवसमास नहीं, पर्याप्ति नहीं, प्राण नहीं, संज्ञा नहीं, वह आत्मा धर्म-अधर्म-आकाश और कालद्रव्य की तरह अमूर्तिक है, शुद्ध है किन्तु ये चार द्रव्य अचेतन हैं। चेतना अमूर्तिक है, चैतन्यमय है, अभी अशुद्ध है किन्तु शुद्ध हो सकती है। वह सामायिक के माध्यम से शुद्ध हो सकती है।

सामायिक का कैमिकल आत्मा में डालो तो आत्मा की मलिनता दूर हो जाती है। जैसे गंदे कपड़े को सर्फ-सोड़ा-साबुन से गर्म पानी डालकर साफ करते हैं। मोंगरी (थपकी) से कूटते हैं, जिससे गंदगी-मैल निकल जाता है। ऐसे ही सामायिक करने वाला ज्ञान के जल में डालता है, वह जल तप के माध्यम से ऊष्ण होता है, उसमें समत्व भाव का सर्फ-सोड़ा डाल दिया, उसके बाद पुनः बाह्यतप अनशन-कायक्लेशादि तपों के माध्यम से कूटा जाता है। तब आत्मा में चिपकी हुई वह मिथ्यात्व की, अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ की या नवकषायादि की गंदगी अपने आप निकल जाती है। बिना सामायिक रूपी रसायन के आत्मा की शुद्धि संभव ही नहीं है।

महानुभाव! पिछले श्लोक में उपवास अथवा एकाशन के दिन सामायिक को बढ़ाने की बात कही थी, इसलिए कोई ऐसा न समझ ले कि सामायिक उसी दिन करने के योग्य है, अन्य दिनों में नहीं। इसका निराकरण करने के लिए इस श्लोक में कहा गया है कि सामायिक प्रतिदिन भी शास्त्रोक्त विधि से करना चाहिए, क्योंकि यह सामायिक हिंसाविरति आदि पाँच व्रतों की पूर्णता अर्थात् उनकी महाव्रतरूपता का कारण है। सामायिक करने वाले पुरुष को आलस्य रहित तथा चित्त की एकाग्रता से युक्त होना चाहिए।

कितने ही लोग आलस्य के वशीभूत होकर बिस्तर पर बैठे-बैठे ही सामायिक करने लगते हैं तथा खड़े होकर चारों दिशाओं में दण्डवत्, आवर्त तथा शिरोनति नहीं करते हैं। अथवा कुछ लोग ऊँघते-ऊँघते सामायिक करते हैं, उन्हें सचेत करते हुए आचार्य महोदय ने 'अनलसेन' विशेषण दिया जिसका अर्थ होता है सामायिक आलस्य रहित होकर करना चाहिए। कितने ही लोग मालाएँ करने को ही सामायिक समझ लेते हैं। अतः वे चित्त की स्थिरता की ओर ध्यान न देकर मात्र चार-छह मालाएँ फेरकर ही अपना सामायिक का काल पूरा कर लेते हैं। उन्हें सचेत करते हुए आचार्य ने **'अवधानयुक्तेन'** विशेषण दिया है अर्थात् सामायिक चित्त की एकाग्रता से युक्त होकर करना चाहिए। यह सामायिक न केवल उपवास व एकाशन के दिन अपितु प्रतिदिन करना चाहिए। और जैसा-तैसा नहीं यथावत् शास्त्रोक्त विधि का उल्लंघन न करते हुए करना चाहिए।

महानुभाव! यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं यह सामायिक ही पाँचों व्रतों की पूर्णता का कारण है। अतः श्रावक-श्राविका एकाग्रचित होकर निज सामायिक को बढ़ाएँ, वृद्धि करें। सामायिक करने वाला व्यक्ति भविष्य का सिद्ध परमात्मा है। सामायिक करने वाला साधक

यदि निर्विकल्प सामायिक-ध्यान कर रहा है तब उसे शुद्धात्मा की अनुभूति होती है, यदि श्रावक है तो उसे अशुद्ध आत्मा का आभास होता है, निज अस्तित्व का बोध होता है आप सभी निरतिचार शक्तिअनुसार प्रमाद आदि को छोड़कर, कषायों को मंद करके, दुर्भावनाओं को छोड़कर, पाँचों पापों का त्याग करके, पंचेन्द्रिय विषयों का निरोध करके अपने उपयोग को अपने आप में लगाओ। अपना उपयोग अपने आप में लगाने का नाम ही सामायिक है, अपने उपयोग का अपने से बाहर चले जाना ही असामायिक है। आत्मा का आत्मा के दायरे में रहना ही सामायिक है, समत्व भाव है। आपकी आत्मा में भी वही भाव प्रकट हो, आपको भी उसी अवस्था की प्राप्ति हो, ऐसी सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक शिक्षाव्रत की महिमा

सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यति-भावम्॥102॥

अन्वयार्थ–श्रावक के **सामायिके** – सामायिक काल में, **सारम्भ** – आरंभ सहित, **सर्वेऽपि** – सब ही, **परिग्रहाः** – परिग्रह, **न एव सन्ति** – नहीं होते हैं अतः, **तदा** – उस समय, **गृही** – गृहस्थ, **चेलोपसृष्टमुनिरिव** – उपसर्ग से ओढ़े हुए कपड़े सहित मुनिवत्, **यतिभावं** – मुनिपने को, **याति** – प्राप्त होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में सामायिक शिक्षाव्रत के संबंध में बता रहे हैं। पूर्व कारिका में बताया कि प्रत्येक दिन प्रमाद छोड़कर सामायिक करना चाहिए वह पाँचों व्रतों की पूर्णता का कारण है। अब बता रहे हैं सामायिक के समय अंतरंग का परिणाम कैसा हो। एक सामायिक की बाह्य मुद्रा होती है, एक सामायिक का अंतरंग का भाव होता है। अंतरंग का भाव प्राण की तरह मानकर चलें। जिस प्रकार भाव इन्द्रिय के बिना द्रव्य इंद्रिय शक्य नहीं है उसी प्रकार भाव सामायिक के बिना द्रव्य सामायिक का कोई महत्व नहीं है। भाव सामायिक है तो द्रव्य मुद्रा किसी भी प्रकार की हो तब भी सामायिक मानी जाएगी और भाव सामायिक नहीं है तो द्रव्य मुद्रा धारण कर बैठ भी जाएँ तब भी वह द्रव्य सामायिक जीवन को सार्थक करने में समर्थ नहीं होती।

यहाँ कहा जो सामायिक करने वाला है वह केवल नाम की सामायिक न करे, वह केवल स्थापना की सामायिक न करे, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल की सामायिक न करे। यह सभी सामायिक भावसामायिक के लिए निमित्त हैं। भाव सामायिक नहीं है तो किसी ने नाम निक्षेप की अपेक्षा से किसी का नाम सामायिक रख दिया। उसको बुला रहे हैं कि सामायिक ले आओ, सामायिक इधर आओ, सामायिक बैठा है ऐसे नाम सामायिक करने से सामायिक का फल नहीं मिलता या कोई व्यक्ति ये कहे कि मैं अपने अंदर सामायिक की स्थापना करता हूँ अतदाकार स्थापना। जैसे चावल, लोंग आदि में पूजा करते समय जिनबिम्ब की स्थापना करते हैं, तो वह स्थापना सामायिक भी जीवन को सफलता प्रदान नहीं कर सकती। स्थापना सामायिक आत्मा को परमात्मा नहीं बना सकती, आत्मा का कल्याण नहीं कर सकती। द्रव्य सामायिक में द्रव्य रूप से सामायिक की क्रिया कर रहे हैं, भक्तियाँ पढ़ना, जाप लगाना, मुद्रा भी अच्छी लगा ली

किन्तु भाव कुभाव से भरे हैं तो वह भी सामायिक की श्रेणी में नहीं आती। काल सामायिक वह है कि सामायिक काल के समय तक मूक बनकर बैठ गए, भावशून्य होकर, तो वह भी सामायिक नहीं। क्षेत्र सामायिक–जो सामायिक का स्थान है, जहाँ सामायिक करते थे वहीं जाकर बैठ गए किन्तु भाव असामायिक के हों। इस तरह असामायिक के भाव हों व व्यक्ति नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, कालादिक की सामायिक करे भी तो भावशून्य वे सभी सामायिक व्यर्थ हैं। किन्तु हाँ यदि भाव सामायिक का भाव है तो फिर द्रव्य सामायिक उसके लिए निमित्त बन सकती है और सार्थक भी हो सकती है।

द्रव्य–क्षेत्र–काल सामायिक का आशय यह भी है कि द्रव्य चाहे अनुकूल है या प्रतिकूल उन सभी द्रव्य में समता भाव रखना, द्रव्य सामायिक है। क्षेत्र अनुकूल है या प्रतिकूल उसमें समता भाव रखना क्षेत्र सामायिक है, काल अनुकूल है या प्रतिकूल समता भाव रखना काल सामायिक है। और भाव सामायिक वह है कि चाहे किसी के भी भावों का प्रभाव पड़ रहा हो, सामने वाला मलिन परिणाम करके आपके सामने खड़ा है, क्रोध का निमित्त बन रहा है, मान का निमित्त बन रहा है, या विषयों के प्रति प्रवृत्ति कराने वाला ऐसा कोई निमित्त बन रहा है, जिसके भाव आपको सामायिक से चलायमान करने वाले हैं, संक्लेशता पैदा कराने वाले हैं, राग–द्वेष की प्रवृत्ति कराने वाले हैं, मोह को जाग्रत कराने वाले हैं तो उन भावों मे समता रखो। यह समता भाव रखना, दूसरों के भावों का प्रभाव न पड़ना भाव सामायिक है।

महानुभाव! यह भाव सामायिक कैसे हो सकती है? तो बताया **'आरम्भपरिग्रहाः नैव'** जिस सामायिक में किञ्चित् भी आरंभ नहीं किया जाता, जिस सामायिक मे किञ्चित् भी बाह्य परिग्रह स्वीकार नहीं किया जाता, अन्तरंग के विकारी भाव, मिथ्यात्व, हास्यादि नोकषाय और चार कषाय, ये 14 प्रकार का अंतरंग परिग्रह व 10 प्रकार का बहिरंग परिग्रह, इस प्रकार परिग्रह व आरंभ में मन–वचन–काय की प्रवृत्ति बिल्कुल भी प्रयुक्त नहीं हो रही इसलिए नैव शब्द का प्रयोग किया। सामायिक में आरंभ के साथ परिग्रह भी नहीं होता है। सामायिक में लीन व्यक्ति आत्मा का चिंतन करता है, आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त करने का प्रयास करता है। पंच परमेष्ठी जिन्होंने शुद्ध दशा को प्राप्त किया है उनका चिंतन करता है, आत्मा की अनुभूति करने का प्रयास करता है।

मेरी आत्मा शरीर से अलग है। यह शरीर पड़ौसी की तरह से अलग है व शरीर से लगे रिश्ते– नाते अलग हैं। शरीर पर धारण किया परिग्रह सब अलग है और चेतन परिग्रह जिसके

साथ मैंने ममत्व भाव के साथ या द्वेष-बैर भाव के साथ संबंध बांध लिया है वे सब मुझसे अलग हैं। ऐसा नहीं है कि राग से ही संबंध बांधा जाता है, ऐसा नहीं कि जिसके प्रति आपका राग है, जो आपके इष्टजन, सगे संबंधी हैं वे ही संबंधी कहलाते हों, आप अपने माता-पिता, भाई, चाचा आदि जितने भी संबंध बनाते हैं वे तो संबंध हैं ही, इनको आगे चलकर एक झटके में तोड़ सकते हो किन्तु इनसे खास और बड़ा संबंध होता है बैरी का संबंध, दुश्मन का संबंध, वह होता है द्वेष का संबंध। आप कहते हो यह मेरा दुश्मन है, इसके प्रति मुझे ग्लानि है। आपने उसके प्रति जो क्रोध से संबंध बनाया, ईर्ष्या से बनाया, प्रमोद-हास्यादि से बनाया, किसी वेग या आवेग से बनाया वह संबंध भी आपका परिग्रह है। चेतन परिग्रह मात्र ऐसा नहीं कि मित्रजन, कुटुम्बीजन, शिष्यजन आदि ही हों अपितु जिनके प्रति द्वेष बुद्धि हो गई वह भी परिग्रह है।

यहाँ पर श्रावक के लिए कह रहे हैं वह जिस समय सामायिक के लिए बैठे, उस समय सभी रिश्ते-नातों को छोड़कर, शरीर को भी पड़ौसी मानकर चिन्तन करे, चिन्तन में डूबता चला जाए ऐसा लगे जैसे साक्षात् समवसरण में पहुँच गया हो। कभी भगवान् के पंचकल्याणक का चिंतन, कभी ऐसा चिंतन कि सम्मेदशिखर जी पहुँचकर किसी अयोग केवली या सयोग केवलि मुनिराज के सामने ध्यान लगा रहे हैं या चिंतन में अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना चल रही है, समाधिभक्ति का चिंतन चल रहा है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि जिस समय उसका सामायिक भाव चल रहा है उस समय **'चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही'** वह गृहस्थ वस्त्र धारण करता हुआ भी उपचार से मुनि के समान भावों को प्राप्त होता है। वह श्रावक की भाव विशुद्धि की चरम सीमा तक पहुँच जाता है, वही उपचार से मुनि के समान कहा है। जिस प्रकार बिंदु को सिंधु, राई को पर्वत आदि उपमा दी जाती है उसी प्रकार श्रावक के व्रतों को प्रोत्साहन देने के लिए, विशुद्धि संवर्द्धन के लिए आचार्य भगवन् ने यहाँ श्रेष्ठ उपचार दिया।

कोई दिगम्बर मुनि सामायिक में बैठे हुए हैं और उनके सर्व परिग्रह का त्याग है, परिणामों में निर्मलता है, उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़ती चली जा रही है, समत्व भाव वृद्धिंगत हुआ, उस समत्वभाव का आनंद अंदर में आ रहा है। गृहस्थ भी पारिवारिक-सामाजिक-शारीरिक-आर्थिक एवं मित्रजन संबंधी समस्त विचार-कुविचारों को छोड़कर उस समय क्षणभर के लिए प्रभुभक्ति में संलग्न हो गया तो उस समय उसके शरीर पर पड़े हुए वस्त्र भी उसे अनुभव में नहीं आ रहे। उस समय उसका भाव कह दिया 'मुनिरिव' किन्तु वह गृहस्थ मुनि नहीं है, महाव्रती नहीं है। जैसे देशव्रत के स्वरूप में कहा वह क्षेत्र के बाहर महाव्रती सरीखा है, तो महाव्रत सरीखा

महाव्रती नहीं है; ऐसे ही 'चेलोपसृष्ट मुनिरिव' अर्थात् कपड़े से ढके हुए मुनि की तरह से गृहीत होता है, उस समय उस प्रकार के भाव को प्राप्त करता है किन्तु मुनि नहीं है, मुनित्व का भाव भी नहीं आता।

अब आप कहेंगे कि जब मुनि नहीं है तो मुनित्व का भाव क्यों कहा? देखो कोई माँ चाहे वह भीख माँगकर पेट भरती हो, तब भी अपने बेटे से कहती है मेरा बेटा तो राजा बेटा है। ये भी नहीं कहती कि मंत्री बेटा है, सैनिक बेटा है, वह कहती है राजा बेटा है। ऐसे ही माँ जिनवाणी यहाँ कह रही है भो श्रावक-श्राविका! तुम भी उस समय अपनी आत्मा का चिन्तन कर रहे हो, तुम मुनित्व के मार्ग पर बढ़ रहे हो, यह शिक्षाव्रत है तुमको भी भावी मुनि कह सकते हैं। जैसे मुनिमहाराज को तीर्थंकर का लघुनंदन कहते हैं ऐसे ही श्रावक को मुनिका लघुनंदन कहते हैं। भावों की अपेक्षा से। भावों कि विशुद्धि बढ़ते समय जब किसी को उपमा दी जाती है तो बिन्दु को भी सिन्धु की उपमा दे दी जाती है। फिर तो किसी की आँखों को देखकर कह सकते हैं मृगनयनी है, चाहे उसके नेत्र चिलगोजा जैसे हों, किसी के मुख को देखकर कह सकते हैं चन्द्रमुखी है, ये उपमा दे दी जाती है। अथवा कोई बालक ABCD याद करके आ जाए तो उसके पिता उसकी पीठ थपथपाते हुए कहते हैं वाह! मेरा बेटा तो विद्वान् बन गया। और थोड़ा सा धन कमाकर ले आए तो अरे वाह! मेरा धन्नासेठ। तो इस प्रकार की बात उपमा देने में हो जाती है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी यहाँ ऐसी ही प्रेरणा दे रहे हैं। जैसे वर्तमानकाल में आप लोग Motivational Speech सुनते हैं, उससे आप Motivate होते हैं। जिसकी प्रेरणा दी जा रही हो उस ओर आपके कदम बढ़ने लगते हैं। आचार्य महोदय भी मुनित्व की प्रेरणा दे रहे हैं जिससे आपके कदम मुनि बनने के लिए बढ़ेंगे। आप पहले T.V. पर किसी वस्तु का Advertisement देखते हैं फिर आपकी भावना उस वस्तु को खरीदने की होती है। यहाँ भी गृहस्थ के लिए कह दिया मुनि जैसा लग रहा है। मुनि जैसा लग रहा है, है नहीं, कोई मुनिमहाराज आँख बंद करके बैठ जाएँ और कहें वे तो भगवान् जैसे लग रहे हैं, आपको बाहर से लग रहे हैं, पर हैं नहीं, ऐसे ही वह गृहस्थ मुनि है नहीं, लग रहा है। मानचित्र में नदी है, व्यक्ति उसे नदी ही कहेगा, पहाड़ नहीं कहेगा पर वह नदी है नहीं, दिख रही है। कई बार ऐसा होता है कि दिखता तो है, पर है नहीं और कई बार होता तो है पर दिखता नहीं। जैसे यदि कहीं तीव्रगति से कोई चक्र घूम रहा है या पंखे की पांखुड़ी घूम रही हो तो एक सर्किल सा दिखाई देता है, तीन पांखुडी दिखाई नहीं देती। जो है वे दिख नहीं रही, जो नहीं

है वह सर्कल दिख रहा है। उस समय वह श्रावक ध्यान में बैठा है, तत्त्वचिंतन में बैठा है, उसे लग रहा है मुनित्व को प्राप्त होऊँ, उसका श्रम है, उसे आचार्य महोदय प्रेरणा दे रहे हैं वास्तव में यह मुनि नहीं है, उपचार से भी नहीं है, दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं यहाँ प्रेरणा देने के लिए आचार्य महोदय ने 'मुनिरिव' शब्द का प्रयोग किया है, कोई भटक न जाए, अर्थ सही प्रकार से समझें।

गृहस्थ-गृहस्थ है और मुनि-मुनि है। मुनि गृहस्थपने को, गृहस्थ मुनिपने को प्राप्त नहीं होते। यहाँ अपने परिणामों को सुधारने की बात कही है, आप सभी अपने परिणामों को निर्मल बनाने की कोशिश करें यही हमारी आप सभी के प्रति सद्भावना है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक में परीषह उपसर्ग सहन का उपदेश

शीतोष्णदंशमशक-परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामायिकं प्रतिपन्ना, अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥103॥

अन्वयार्थ–सामायिकं प्रतिपन्नाः – सामायिक साधने वाले, **मौनधराः** – मौनधारी तथा, **अचलयोगाः** – अचल ध्यानी होते हुए, **शीतोष्णदंशमशक-परीषहं** – शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर आदि का परीषह, **च** – और, **उपसर्गं अपि** – उपसर्ग को भी, **अधिकुर्वीरन्** – सहन करें।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप समझ रहे थे। सामायिक एक ऐसा रसायन है जिसके माध्यम से आत्मा रूपी दूध को परमात्मा रूपी दही में परिवर्तित किया जा सकता है। जैसे जामन के बिना दूध दही नहीं बनता ऐसे ही सामायिक रूपी जामन के बिना आत्मा परमात्मा नहीं बनती। आत्मा का परमात्मा बनना तो बहुत दूर की बात आत्मा एक महात्मा नहीं बन पाती। महात्मा वही कहलाता है जिसमें समत्वभाव हो। समत्वभाव संत-संन्यासी-महात्मा का प्राण है। जिस संत-महंत में समताभाव नहीं है तो वह मुर्दा संन्यासी है। प्राण से रहित शरीर को मुर्दा कहा जाता है, ऐसे ही समत्व भाव से रहित साधु को भी मुर्दा कहा जाता है।

महाव्रती साधक बनने के लिए सामायिक शिक्षाव्रत Training की तरह है, पहले अभ्यास किया जाता है कि किस प्रकार महाव्रती बनें, किस प्रकार समत्व भाव को अपने चित्त में विकसित करें। यहाँ पर बता रहे हैं कि सामायिक करने वाला साधक किस प्रकार की सामायिक करता है उसी प्रकार की प्रक्रिया श्रावक को भी अपनाना चाहिए।

जो सामायिक व्रत से सम्पन्न है वह श्रावक क्या करे? सहन करे। कैसे? अपने तीनों योगों को स्थिर करके परीषह, उपसर्गादि को सहन करे। यहाँ पर तीन विशेषता दी। **'सामायिक-प्रतिपन्नाः'** जो सामायिक से सम्पन्न है, सामायिक में संलग्न है ऐसा व्यक्ति। **'मौनधराः'** मौन धारण करे। दूसरी विशेषता **'अचलयोगः'** चित्त को स्थिर रखने के लिए, मन-वचन-काययोग की स्थिरता बनाना जरूरी है ताकि आत्मा में विशुद्धि का ह्रास न हो, संक्लेशता जन्म न ले। वह शरीर से निश्चेष्ट बैठने की कोशिश करे, अनावश्यक वचनालाप नहीं करे और मन की भी अनावश्यक दौड़ नहीं। तीसरी बात–उपसर्ग, परीषह आदि को सहन करे, ये विधि उसके लिए बताई जो सामायिक सम्पन्न कर रहा है, उसमें लीन है। जैसे कहा कि स्कूल में पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए आवश्यक है ड्रेस पहनकर आए, समय पर पहुँचे, जो कक्षा में पढ़ाया जा रहा है उसकी पुस्तकें उसके पास हों, अपना Homework

पूरा करके लाए, कक्षा में शांति से बैठे, लड़े-झगड़े नहीं, गुरु जो भी पढ़ा रहे हैं वह उनका सम्मान करे, विनय करे, किन्तु जो ग्वाल स्कूल के बाहर अपनी गाय चराता है उसके लिए तो ये नियम लागू नहीं किया जा सकता, ऐसे ही जो सामायिक नहीं कर रहे हैं उनके लिए नहीं वरन् आचार्य महोदय कह रहे हैं 'सामायिकं प्रतिपन्ना' जो सामायिक में संलग्न हैं उन्हें सहन करना है, और यह भी कहा कि सहन तो करना है किन्तु मौनपूर्वक, अचल योग से।

महानुभाव! पहली बात कही कि 'कहना नहीं सहना'। साधक बनने के लिए पहली शर्त यही है कि कहना कम करो सहना ज्यादा करो। यदि सहना सीख गए तो साधु बन जाओगे, कहना सीख गए तो प्रचारक, उपदेशक, वक्ता, प्रवक्ता बन जाओगे, इसलिए आचार्यों ने कहा आत्मकल्याण के लिए सुनना जरूरी है, यहाँ कह रहे हैं सहना जरूरी है। माहौल को देखकर बहना नहीं अपने आप में रहना है यही साधक का लक्षण है। तो कैसे सहना? तीनों योगों को स्थिर करके सहना है। कोई व्यक्ति प्रतिकूलता सहन कर रहा है किंतु चित्त को मलिन करके सहन कर रहा है तो वह सहन करना सहनशीलता में नहीं आएगा। आँख बंद करके सामायिक में बैठा है और मन में संक्लेशता बन रही है, अन्तर्जल्प में अपशब्द चल रहे हैं, भावों से द्वन्द चल रहा है तो वह सामायिक नहीं। वह सहन करे। क्या-क्या सहन करे? तो बता रहे हैं–

'शीत परीषह'-शीत की बाधा को सहन करना। यदि सामायिक में बैठे हैं, अचानक ठंडी हवा आयी शरीर कांपने लगा, उस समय स्थिरता बनाए रखना कि यह शरीर तो पड़ोसी है, यह मकान की तरह से है, मकान में रहने वाली मेरी आत्मा तो अलग है, मकान के जर्जर होने से वह आत्मा नष्ट नहीं होती। यह सोचते हुए शीत की बाधा को सहन करना कि मैं अनंत बार नरकों में गया, वहाँ पर कितना शीत रहा, मैंने उस शीत को सहा, किंतु मजबूरी में सहा, यहाँ शीत की बाधा को स्ववश होकर सहूँगा।

मेरु समान लोह गल जाए ऐसी शीत उष्णता थाय।

मेरु पर्वत के बराबर लोहा डाला जाए तो वह भी उस शीत में जम जाए ऐसी शीत को मेरी आत्मा ने वहाँ सहन किया, किन्तु किसी पर अहसान नहीं किया। यहाँ पर तुमने यदि कमरे के बाहर बैठकर सामायिक कर ली, दूसरे त्यागी व्रती ने थोड़ा सा दरवाजा बंद कर लिया और भूल से कुण्डी लग गई, वह भी सामायिक पर बैठ गया और तुमने सर्दी में बाहर बैठकर सामायिक की, अब आँखें गर्म क्यों कर रहे हो। सर्दी में भी तुम्हारा माथा ठंडा क्यों नहीं हो रहा। सहन कर लो। अब सामायिक में असामायिक कर ली, दरवाजा खुलते ही टूट पड़े उस पर, ध्यान नहीं रखते हो, मैं बाहर से सामायिक कर रहा था। अरे! तुम सामायिक कर रहे थे या आर्त्तरौद्र परिणाम कर रहे थे। यह सामायिक नहीं।

'ऊष्ण परीषह'–गर्मी की बाधा को सहन करना। प्रचण्ड गर्मी हो, कहीं विहार करना पड़ा, साधुओं के विहार में गए या चौका लगाने पहुँचे, गर्मी के मारे गला सूख रहा है। सामायिक करने बैठे किसी वृक्ष की छाया में, बहुत गर्मी, लू लपट चल रही है, किसी भवन में बैठे तो लगा जैसे छत तवे सी तप रही है, उस छत के नीचे रखा हुआ पानी भी गर्म हो रहा है, इतनी भयंकर गर्मी। उस गर्मी को भी सहन करो। ये गर्मी आपके शरीर को नहीं तपा रही, समताभाव रखोगे तो यह गर्मी तुम्हारे कर्मों को जला देगी और समताभाव नहीं रखा, शरीर के ताप को आत्मा का ताप मान लिया तो वह गर्मी असंख्यात कर्मों का बंध कराने वाली होगी। इसलिए उस ऊष्णता को सहन करो। अचानक विहार करते हुए सर्दी आ जाए समता रखो, अचानक धूप तेज हो गई समता रखो, रास्ता भूल गए मंजिल तक नहीं पहुँच पाए समता रखो, अथवा जहाँ पहुँचना था वहाँ स्थान नहीं मिला, ताला लगा मिला, बाहर बैठना पड़े तो भी समता रखो। सामायिक में सब भूल जाओ कि किसने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया, उस समय तो अपनी आत्मा की खबर ले लो। वैसे तो आप संसार की खबर लेते रहते हो, अब तो थोड़ी सी आत्मा की खबर ले लो। इस प्रकार वह साधक सहन करता है।

और क्या सहन करता है–'दंशमशक परीषह' जब सामायिक के लिए बैठे तब तो कुछ नहीं था, थोड़ी देर बाद वहाँ पर अचानक डाँस-मच्छरों का झुंड आ गया और ऐसे टूट पड़ा जैसे कोई भूखा शेर अपने शिकार पर टूट पड़ा हो। जैसे बिल्ली किसी चूहे पर टूट पड़ी हो या गिद्धपक्षियों ने मिलकर किसी मृतकलेवर पर झपट्टा मारा हो। ऐसी डांस की पीड़ा को सहन करना। वे डांस जब काट रहे हैं तो ऐसा लग रहा है कि शरीर को छलनी कर देंगे। कई साधकों को हमने देखा, क्या समता रही उनकी, रातभर डांस की बाधा सतायी, शरीर ही लहुलुहान कर दिया, बड़े-बड़े फोले से आ गए किन्तु रात भर बैठे रहे, एक क्षण भी सोये नहीं और प्रातःकाल उनके चेहरे पर स्मित मुस्कान है, जबकि शरीर पूरा लाल पड़ा है। पूछा महाराज जी क्या हुआ? शायद रात में डाँस वैय्यावृत्ति करने आए थे, कोई बात नहीं। या हो सकता है पूर्व में मैंने उन्हें कभी सताया होगा आज उनका ऋण चुका दिया। इस प्रकार की समता, धन्य है उन साधक के लिए।

महानुभाव! आप जब बड़ा वाला समाधिमरण पाठ पढ़ते हैं तो उसमें भी यही कहते हैं–**''तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव भारी''** कितने-कितने उपसर्ग उन भव्य आत्माओं ने सहन किए। यहाँ कहा मच्छर आदि की बाधा को सहन करना। मच्छर भी तीन प्रकार के होते हैं छोटे मच्छर, बड़े मच्छर और बीच के मच्छर। छोटे मच्छर बहुत सूक्ष्म से होते हैं, दिखते नहीं पर जब काटते हैं तब मालूम चलता है और कुछ भी न करो तब भी

काटकर स्वयं मर जाते हैं। बीच वाले मच्छर होते हैं जो कान पर आकर गुनगुनाते हैं, नाक पर आकर झुंझुलाहट पैदा करते हैं, उन्हें जितना भगाओ उतना ही आते हैं, सामायिक करो तो आँखों पर भिनभिनाते रहते हैं। जो बड़े-बड़े मच्छर हैं वे अपने Preplane से आते हैं। पहले एक दस्तक दी कान पर, फिर सीधे आकर डंक मारा,जितना खून पीना है उतना पीया और चले गए। कभी कम पी गए तो कभी लोभ में आकर ज्यादा पी गए और वहीं अपने प्राण छोड़ गए। ये मच्छर की बाधा को भी समता से सहन करना चाहिए।

इस प्रकार अन्य 22 परीषह शास्त्रों में आते हैं। वह साधक उन परीषहों को भी सहता है क्योंकि मुनि अवस्था में यह सब परीषह सहन करने होंगे। किन्तु वह अभी मुनि बनने की ट्रेनिंग ले रहा है तो इन परीषहों का अभ्यास कर रहा है। अभी उस श्रावक का परीषहजय कोई तप नहीं है, जैसे कोई व्यक्ति जब ट्रेनिंग में होता है उस समय उसे सेलेरी नहीं मिलती, जब Duty Join कर लेता है तब सेलेरी मिलना प्रारंभ होती है। प्रारंभ में तो थोड़ा बहुत खर्चा पानी दे दिया। ऐसे ही वह श्रावक अभी श्रावक है मुनि या आर्यिका नहीं बना। अभी वह ट्रेनिंग ले रहा है, उस समय सहन करने में उसे थोड़ा बहुत पुण्य का आस्रव हो रहा है, पाप कर्म की निर्जरा भी हो रही है किन्तु मुनि बनने के लिए तैयार हो गया, अपनी शक्ति जाग्रत कर ली तो मुनि बनकर के वह अन्तर्मुहूर्त में असंख्यातभवों में बांधे गए कर्मों को निर्जीण कर सकता है।

आगे कहा 'उपसर्ग' सहन करना। उपसर्ग साधु पर भी आ सकते हैं और श्रावक पर भी आ सकते हैं। उपर्सग अर्थात् अचानक आयी हुई बाधा, वह बाधा चाहे देवकृत हो या मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत हो। वह बाधा स्वजनकृत हो या परजनकृत हो। राग के आवेश में उपस्थित की गई हो या द्वेष के आवेग में या मोह के वशीभूत होकर के, ईर्ष्यावश या लोभवश, मायाचारी में या क्रोध की अग्नि जलाते हुए या अहंकार के कारण अथवा अन्य किसी भी प्रकार से उपसर्ग आ रहा है तो सामायिक करने वाले को उस उपसर्ग को समता से सहन करना है। यदि समता भाव नहीं रख पा रहे तो अभी आपके 100/100 नंबर नहीं, 0/0 हो सकता है। धर्मध्यान है तो 100/100 नंबर माने जा सकते हैं, आर्त्त-रौद्र ध्यान में गिर गए तो 0/0। इसलिए समत्व भाव अन्दर से आना चाहिए।

तिर्यंचों के द्वारा जो कष्ट दिया जाता है वह तिर्यञ्चकृत उपसर्ग है जैसे सुकुमाल, सुकौशल आदि महामुनिराजों पर होने वाला उपसर्ग तिर्यञ्चकृत था। देवों के द्वारा जो उपद्रव किया जाता है उसको देवकृत उपसर्ग कहते हैं। जैसे पार्श्वनाथ भगवान् पर कृत उपद्रव, श्रीदत्त मुनि पर कृत उपद्रव देवकृत उपसर्ग था। मानव के द्वारा जो उपद्रव किया जाता है वह मानवकृत उपसर्ग

है जैसे गजकुमार मुनि, पाण्डव आदि मुनियों पर होने वाले उपसर्ग मानव कृत थे। घासफूस के ढेर व नदी से बाढ़ आदि से होने वाले उपद्रत अचेतन कृत कहलाते हैं–जैसे ललितघटादि 32 मुनि नदी में बहकर मर गये। परीषह स्वयंकृत होते हैं। स्वयं कर्मों की निर्जरा करने के लिए उपवास आदि के द्वारा भूख प्यास आदि को सहन करते हैं, मन-वचन-काय से खेदखिन्न नहीं होते हैं और उपसर्ग परकृत होता है, उन परकृत उपद्रवों को सहन करना उपसर्ग विजय कहलाता है।

महानुभाव! आगम में इतने सारे उदाहरण दिए कि कैसे-कैसे उपसर्गों को सहन किया और तनिक भी विचलित नहीं हुए। उपसर्ग तो तीर्थंकर जैसे महापुरुषों पर भी आ जाते हैं, उपसर्ग सामान्य व्यक्ति पर भी आ जाता है, जिस समय उपसर्ग आ रहा है उस समय उसका पाप कर्म का उदय है किन्तु उपसर्ग में समताभाव धारण कर लिया तो वह उपसर्ग उत्सर्ग में बदल जाता है। यदि समताभाव नहीं रखा तो वह उपसर्ग अपकर्ष में बदल जाएगा, उसका उत्कर्ष नहीं होगा। यदि वह उपसर्ग को विषमता से सहन करता है तो और कर्मों का आस्रव करता है, समता से सहन करता है तो अशुभ कर्मों की निर्जरा करके उस समय सातिशयपुण्य का किञ्चित् बंध करता है और पूर्वबद्ध कर्मों की प्रचुरमात्रा में निर्जरा करता है।

आचार्य महोदय यहाँ कह रहे हैं कि समायिक करने वाले व्यक्ति की यही तीन विशेषताएँ हैं कि वह मौन धारण करके सहन करे। ऐसा नहीं कि उपसर्ग सहन करके आए और सर्व जगत में गीत गाए, मैंने ऐसा उपसर्ग सहन किया। इसका आशय तुमने नाटक किया है उपसर्ग सहन नहीं किया। उपसर्ग सहन किया है तो दुनिया बताएगी, यदि आप खुद ही बता रहे हो तो मतलब उपसर्ग सहन ही नहीं किया। दूसरी विशेषता है–अचलयोग धारण करना और तीसरी है अधिकुर्वीरन्–सहन करे। यदि सहन नहीं किया है केवल कहते-कहते ही रहे तो समझो तुमने कहा है सहा नहीं। जितना सहन किया उससे ज्यादा कह दिया। एक चींटी के काटने भर की पीड़ा सहन की और उसे 100 बार कह दिया मैंने इतनी समता रखी। तो वह समता नहीं आप तो केवल अपनी ख्याति चाहते हैं। सत्यता तो यह है कि सामायिक में समत्व भाव होना चाहिए, तत्त्व का चिंतन होना चाहिए। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझो, आत्मा के स्वभाव को समझो। स्वात्मोपलब्धि के लिए सामायिक की जाती है, यदि ऐसा आप करते हैं तब आपकी सामायिक सफल और सार्थक है। आप सभी के अंदर समत्वभाव जाग्रत हो ऐसी हम आप सभी के प्रति सद्भावना भाते हैं, इन्हीं भावों के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक करते समय क्या विचार करें?

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामायिके॥104॥

अन्वयार्थ– इतिध्यायंतु सामायिके – सामायिक में इस प्रकार चिंतन करें कि मैं, **अशरणं** – शरणरहित, **अशुभं** – अशुभ रूप, **अनित्यं** – क्षण भंगुर/नाशवान्, **दुःखं** – दुःखमय, **अनात्मानं** – आत्मा से भिन्न, **भव** – संसार में, **आवसामि** – निवास करता हूँ और, **मोक्षः** – मोक्ष, **तद्विपरीतात्मा** – इससे विपरीत स्वरूप वाला है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में सामायिक नामक शिक्षाव्रत के संबंध में देख रहे हैं। आचार्य महोदय कितने सरल, बोधवृत शब्दों में सामायिक के स्वरूप को समझा रहे हैं। शब्द ऐसे तीर होते हैं जिन्हें सही प्रकार से प्रस्तुत किया जाए तो अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। तीर सुयोग्य धनुर्धारी के द्वारा छोड़ा जाता है तो अपने लक्ष्य को भेदने में समर्थ होता है। ऐसे ही शब्दों का संधान शरसंधान की तरह से किया जाता है तो वे शब्द भी अपने कार्य को करने में समर्थ होते हैं। वे शब्द अज्ञान-मिथ्यात्व और असंयम तीनों प्रकार के शत्रुओं का घात करने में समर्थ होते हैं। अथवा शब्दों की वह ज्योति, शब्दों के वे अग्निबाण अज्ञान-असंयम-मिथ्यात्वत्रय के अंधकार को दूर करने में समर्थ होते हैं। आचार्य महोदय ने सामायिक का स्वरूप विस्तार से कहाँ-कैसे करें, कब करें, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव शुद्धि का ध्यान रखें, सामायिक के समय आरंभ से रहित हो एकान्त में सामायिक करना चाहिए, सामायिक के समय मौनधारण करके अचल योग से सर्व परीषहों को समता से सहन करना चाहिए अब आगे बता रहे हैं कि सामायिक में क्या चिंतन करें?

लोग पूछते हैं महाराज! सामायिक में क्या करें? हम तो णमोकार मंत्र की माला फेर लेते हैं या मौन लेकर बैठ जाते हैं अथवा कोई पाठ कर लेते हैं–सामायिकपाठ, वैराग्यभावना, बारहभावना आदि का। यह भी ठीक है, अनुचित नहीं है। किन्तु पाठ को पाठ मानकर नहीं करें उस पाठ में जो भी शब्द निबद्ध हैं उन शब्दों का अर्थ समझते जाना चाहिए तब तो सामायिक है। कोई व्यक्ति खाद्य पदार्थों को एक प्लेट से दूसरी प्लेट में रखते जाए तो ऐसा करने से उसका पेट नहीं भरेगा, औषधि एक पैकेट से दूसरी पैकेट में पैक करता जाए तो रोग दूर नहीं होगा, ऐसे ही केवल शब्दों को गिनने से, शब्दों को जिह्वा से चढ़ाकर उतारने से वह

शब्द अपना सही कार्य न कर पाएँगे। औषधि जब घाव पर पहुँच जाती है तो घाव को ठीक कर देती है, घाव तक नहीं पहुँचे और किसी स्वस्थ स्थान पर पहुँच जाए तो वहाँ घाव बना भी सकती है। तो केवल शब्दों को पढ़कर यह मत सोच लेना कि हमने सामायिक कर ली।

ये कहने वाले लोग भी काफी हो सकते हैं कि हम सामायिक में 4-5 पाठ करते हैं, इतनी माला फेरते हैं, तुमसे अच्छी सामायिक करते हैं, तुम क्या करते हो सो जाते हो। तो ये सामायिक हित करने वाली नहीं अहित करने वाली है। क्योंकि इस सामायिक ने तुम्हारे अहंकार को जाग्रत कर दिया, तुम्हारी सरलता-सहजता को नष्ट कर दिया, तुम्हारे समतामय परिणामों को नष्ट कर दिया और तुमको धर्म व धर्मात्मा के प्रति विद्रोही बना दिया इसलिए ये सामायिक खतरनाक हो गई। जैसे औषधि यदि घाव में लगती तो घाव को ठीक करती है किन्तु जहाँ घाव नहीं था वहाँ वह लेप लगा दिया तो नया घाव पैदा हो जाता है। यदि वही सामायिक आपका सही चिंतन बनाने वाली होती तो निःसंदेह संसार सागर का विच्छेद करने में समर्थ कारण होती, वह सामायिक आपके पापकर्मों को ध्वस्त करने वाली होती। अग्नि कूड़ा-कचरे को जलाती है, अग्नि अंधकार को भी नष्ट करती है, शीतबाधा को भी नष्ट करती है, अग्नि अपक्व आहार को पकाती है, नेत्रों में ज्योति प्रदान करती है। उस अग्नि के कई सारे कार्य हैं किन्तु यदि उसका दुरुपयोग कर लिया तो वह अग्नि जो वरदान स्वरूप मानी जाती है अभिशाप रूप भी बन सकती है। ऐसे ही सामायिक में बैठकर शब्दों का दुरुपयोग किया तो वह संसार का कारण बन सकते हैं।

सामायिक में यदि समता भाव नहीं आ रहा, केवल बाह्य क्रिया चल रही है तो वह बाह्य प्रक्रिया कर्मों का अंत नहीं करती। जैसे भोजन किसी डिब्बे में पैक है उसे लेकर पेट पर या पीठ पर बांध लो तो पेट नहीं भर जाएगा, वह भोजन मुख में जाएगा तभी पेट भरेगा, क्षुधा का नाश करेगा। ऐसे ही सामायिक के शब्दों को अपने हित में प्रयोग किया जा सकता है और कुबुद्धि से अहित में भी। अब सामायिक में क्या चिंतन करना है? ऐसा नहीं कि मैंने इतनी मालाएँ फेरी, इतना पाठ किया या पूरे दिन के विचार-विमर्श स्मृति में घूम रहे हों, बदले की, रागद्वेष की भावना चल रही है अथवा मैंने यह खाया कल यह खाऊँगा, यह सब चिंतन सामायिक नहीं। यह सब सामायिक रूपी पर्दे के पीछे होने वाला पाप है इसलिए सामायिक में समता भाव रखो, संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति बढ़े ऐसा चिंतन करो, संसार की यथार्थता को समझो। यदि आपने संसार-शरीर-भोग तीनों के असली स्वरूप को जान लिया तब आपका सामायिक में प्रवेश हो सकता है। जिसने संसार-शरीर-भोगों की असलियत नहीं जानी तो वह सामायिक में प्रवेश नहीं कर सकता। शरीर को शाश्वत मानकर आत्मा को अशाश्वत मानने

वाला कभी सामायिक को प्राप्त नहीं हो सकता। भोगों में डूबे रहने वाला, भोगों का स्वाद लेने वाला, विषयों से विरक्ति को निस्सार मानने वाला सामायिक को प्राप्त नहीं कर सकता। संसार में सुख मानने वाला, संसार को सुखद मानने वाला, संसार को निज स्वभावमय मानने वाला कभी भी सामायिक को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ कह रहे हैं सामायिक में तो चिंतन करना ही चाहिए और यदि बाद में भी चिंतन करते हो तो वह भी आपका सामायिक काल बन जाएगा। वह भी आपकी आत्मा की शुद्ध आय कहलाएगी। दुकानदार जब दुकान पर बैठा है तब उसने माल खरीदा, बेचा, प्रोफिट किया, वह उसकी आय है किंतु दुकान से आने के उपरांत भी वह फोन पर काम कर रहा है, माल बेच रहा है, खरीद रहा है, वह भी उसकी दुकानदारी कहलाएगी, उसकी Income हो रही है, वह बिना दुकान पर बैठे भी कमा रहा है। ऐसे ही जो व्यक्ति सामायिक के अतिरिक्त भी इस प्रकार का चिंतन करता है, ध्यान करता है तो उसका सामायिकमय परिणाम अनस्यूत भी हो सकता है, अहर्निश सामायिक हो सकती है। जैसे कोई व्यक्ति अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी होते हैं उनका मुहुर-मुहुर निरन्तर ज्ञान में उपयोग लगा हुआ है ऐसे ही कोई व्यक्ति अभीक्ष्ण सामायिक भी हो सकता है, अभीक्ष्ण समत्वभाव के साथ रह सकता है। प्रत्येक पल-मुहूर्त में वह अपने आपमें निष्ठ हो सकता है, अपनी आत्मा को देखने वाला, जानने वाला, समझने वाला, चिंतन करने वाला हो सकता है। जो कभी आत्मा का अवलोकन कर रहा है, कभी आत्मगुणों का चिंतन कर रहा है, कभी द्रव्य-पर्याय के बारे में चिंतन कर रहा है तो वह जागरूक है, समत्व भाव से युक्त है, राग-द्वेष को क्षीण करता चला जा रहा है, मोह को दबा कर रखा है, वह स्वात्मोपलब्धि के लिए सामायिक के क्षेत्र में तीव्रगति से बढ़ता जा रहा है।

यहाँ आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने स्वयं बताया कि सामायिक में क्या चिंतन करना है? 'अशरणं अशुभं अनित्यं दुःखं अनात्मानं भवं-यह श्लोक बता रहा है कि यह संसार कैसा है। पहली पंक्ति में संसार का स्वरूप बताया, इसे समझना भी बहुत जरूरी है क्योंकि इसके विपरीत मोक्ष है। मोह और मोक्ष के अंतिम अक्षर में अंतर है। मोह ममत्व भाव से जोड़ने वाला है, **'मोक्ष का हनन जो करे वह मोह है'** और **'जो मोह का क्षय कर दे वह मोक्ष है।'**

यहाँ संसार की दशा बता रहे हैं कि संसार को नहीं समझेंगे तो मोक्ष तक नहीं पहुँच पाएँगे। पहले शत्रुओं को समझो तो मित्रों की सहायता से उनका संहार किया जा सकता है। रामचन्द्र जी के व्यक्तित्व को समझना है तो पहले रावण के व्यक्तित्व को समझना पड़ेगा। यदि भगवान् पार्श्वनाथ के मुनि अवस्था का सही व्यक्तित्व समझना है तो पहले कमठ के व्यक्तित्व को भी समझ लो। यदि ऐतिहासिक पुरुषों का व्यक्तित्व अच्छी तरह से समझना है,

चाहे वे सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य हों, राजा अमोघवर्ष हों, हर्षवर्धन हों, चाहे सम्राट अशोक हों, चाहे खारवेल या अन्य अन्य राजा हुए तो इनके विरोधियों का व्यक्तित्व समझना भी जरूरी है। अँग्रेजों का व्यक्तित्व जान लोगे तो झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के बारे में या अन्य शहीदों के बारे में जिन्होंने स्वतन्त्रता की चाह में अपनी कुर्बानी दे दी उनकी कुर्बानी को समझ पाओगे। खलनायक को समझकर हीरो की Value अपने आप समझ में आ जाएगी, ऐसे ही यहाँ पर पहले विभाव का वर्णन कर रहे हैं कि संसार कैसा है। संसार को समझ लोगे तो फिर मोक्ष की ओर आप अपने आप बढ़ जाओगे। जब तक व्यक्ति संसार को नहीं समझता तब तक मोक्ष की ओर बढ़ ही नहीं सकता। मिथ्यात्व को समझे बिना सम्यक्त्व को पाना असंभव है। खाली गिलास को खाली मान लेगा तो भरने का मन करेगा, अंधकार को अंधकार समझने वाला ज्योति की चाह में ज्योति कहीं न कहीं प्राप्त कर ही लेगा। अपने आपको पहले भूखा महसूस करे, भोजन की चाह, एवं तलाश अपने आप आएगी, प्यासा पानी की तलाश कर ही लेता है और जो स्वयं को रोगी मान लेता है उसे आज नहीं तो कल औषधि मिल ही जाएगी। इसीलिए पहले संसार के बारे में कहा।

संसार के लिए सबसे पहले कहा–**'अशरणं'**–कोई शरण नहीं। चाहे इन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्र, खगेन्द्र, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, अर्द्धचक्री, चक्री, नारायण, प्रतिनारायण अथवा तीर्थंकर भी हों, कोई भी शाश्वत नहीं है, सबको अपने शरीर का परित्याग करना पड़ता है। जब ये स्वयं शाश्वत नहीं है, इनके लिए कोई शरण नहीं है तो ये भी किसी के लिए शरण नहीं हो सकते। जिस संसार एवं सांसारिक पदार्थों में मैं आसक्त हूँ वे पदार्थ अशरण हैं, एक वीतराग परमदेव और सर्वज्ञ प्रणीत धर्म के बिना तीनों लोकों में व तीनों कालों में जन्म-मरण रूप दु:ख से बचने के लिए 'इन्द्र-चन्द्र' आदि भी काल के वशीभूत हैं। जन्ममरण रूप दु:ख से दु:खी हैं फिर भला वे जन्ममरण से कैसे बचा सकते हैं, अपनी शरण में कैसे रख सकते हैं, इसलिए इस संसार में शरण तो केवल अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म हैं। बाहर की शरण खोजना संसार को बढ़ाना है। इस प्रकार सामायिक करते समय आर्त्तरौद्रध्यान को दूर करने के लिए तथा धर्मध्यान में लीन होने के लिए विचार करना चाहिए।

'अशुभ' यह संसार अशुभ है। यह तो सर्प को दूध पिलाने के जैसा है। वह दूध अमृत नहीं बनेगा जहर ही बनेगा और सर्प को जहर पिलाओ तो जहर और जहरीला हो जाएगा। इस संसार को शुभ नहीं मानना। अशुभ को अशुभ मानना। ये संसार अशुभ, नाग की तरह से काटने वाला है और फिर संसार को शुभ मान लिया तब तो ये संसार इस जीव को नरक-निगोद तक की यात्रा करा सकता है, न जाने कितने अनन्तभव धारण करा सकता है, जिसकी कल्पना

नहीं की जा सकती। यह संसार पाप में डुबाने वाला है, इसमें जीवों को सदा पाप रूप कर्मों का बंध होता रहता है जिससे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव रूप पाँचों संसारों में यह जीव सदा परिभ्रमण करता हुआ महादु:खी हुआ करता है। ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।

'अनित्यं' ये संसार अनित्य है। पर्याय की अपेक्षा से द्रव्यदृष्टि से सब कुछ नित्य है। इसमें यह जीव सदा चारों गतियों में परिभ्रमण ही किया करता है, सदा काल तक कहीं एक जगह नहीं ठहर सकता इसलिए यह संसार क्षणभंगुर है।

'दु:खं' यह संसार दु:खमय है। जैसे अग्नि में सर्वत्र ऊष्णता होती है, जैसे दूध में सर्वत्र घृत होता है, घी में सर्वत्र स्निग्धता होती है, जैसे मिष्ट पदार्थों में सर्वत्र मिष्टता होती है ऐसे ही संसार में सर्वत्र दु:ख ही दु:ख है। आप जानते हैं–

दाम बिना निर्धन दु:खी तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान॥

यानि संसार में सुख कहीं भी नहीं है और कभी भी नहीं है, संसार तो दु:खों से भरा पड़ा है। अग्नि के कुंड में शीतलता कहीं नहीं मिलती ऐसे ही संसार में, संसार की किसी भी पर्याय में सुख-शांति नहीं मिलती। दु:ख रूप यह संसार शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक आदि अनेक व्याधियों से व्याप्त है। दु:खों की अविरल धारा यहाँ निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। नरकगति में सागरपर्यंत छेदन, भेदन, ताडन, तापन, शूलारोपण आदि अनेक प्रकार के दु:ख उठाने पड़ते हैं। तिर्यंचगति में पंचस्थावर जनित खोदना, पीटना, पानी गर्म करना, अग्नि में जलाना, साधारण व प्रत्येक वनस्पतिकायिक में छेदना, भेदना, मर्दन आदि दु:ख हैं। दो, तीन, चार इंद्रियों, सैनी-असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में दूसरों के द्वारा मारा जाना, भूख, प्यास, भारवाहन, शीत, ऊष्ण आदि बाधाएँ, रोग, भय आदि अनेक प्रकार के दु:ख हैं, मनुष्यगति में मानसिक दु:ख है, आर्त्तरौद्र ध्यान से उत्पन्न होने वाली चिन्ता के दु:ख हैं। ज्वर, अतिसार, संग्रहणी आदि भयंकर शारीरिक रोगों की उत्पत्ति से होने वाले दु:ख, जन्म, मरण, वृद्धावस्था के दु:ख, दरिद्रता का दु:ख, संयोग-वियोग जनित दु:ख, तन-मन-धन आदि अनेकानेक दु:ख हैं। देवगति में किसी देव को अधिक ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं किसी को कम, ईर्ष्या-मात्सर्य भाव, देवांगनाओं के वियोग में महादु:ख होता है। दासकर्म करने वाले देवों में, वाहन जाति के देवों में, किल्विष व चांडाल जाति के देवों में उत्पन्न होने के कारण देवों को महादु:ख होता है, उन्हें छह माह पूर्व माला मुरझाने के कारण मरण का ज्ञान हो जाता है, इससे वे तब तक बराबर दु:खी होते रहते हैं।

इस प्रकार चारों ही गतियों में अनेक प्रकार के दु:ख हैं। उन सबका कारण यह संसार है, ऐसा चिंतवन करना चाहिए अर्थात् निश्चय से देखा जाए तो इस संसार में कोई भी सुखी नहीं है, सभी दु:खी हैं।

'अनात्मानं' मेरी आत्मा का स्वभाव सर्वथा विपरीत है। मैं ऐसे संसार में निवास कर रहा हूँ जहाँ संसार और संसारस्थ सर्व पदार्थ पर रूप हैं, अनात्मरूप हैं। मैं कौन हूँ, मुझे कहाँ-कहाँ रहना पड़ा है और कहाँ-कहाँ रहना पड़ेगा यह सब संसार के स्वरूप का विचार सामायिक करते समय चिंतवन करना चाहिए। तथा **'मोक्षः तद्विपरीतात्'** मोक्ष उससे विपरीत है, इस प्रकार का **'ध्यायन्तु'** उस श्रावक-श्राविका को, मोक्षार्थी को, आत्महितार्थी को, अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने वाले संकल्पधारी को चिंतन करना चाहिए। यदि वह ऐसा चिंतन नहीं करेगा तो वह अपने पथ से च्युत हो सकता है। योद्धा अपनी तलवार पर धार घिसता रहता है जिससे शत्रु का घात कर सके, यदि प्रमादी होकर धार न रखेगा तो शत्रुओं के सामने पराजित हो जाएगा। इसलिए जिनबिंब का, पंचपरमेष्ठी वाचक अक्षरों का, कर्म विपाक का, बारह भावनाओं का, वैराग्य भावनाओं का चिंतन ये अपने उपयोग रूपी तलवार पर धार करने जैसा है और ये सामायिक अपने चित्त की तलवार पर धार करना है, जिससे संसार का अंत किया जा सके और मोक्ष की प्राप्ति की जा सके। यह मोक्ष सदा के लिए शरण रूप है, शुभ है, अनंत सुख का स्थान है। साम्यभाव से आत्म स्वरूप का चिंतन करने वाले बुद्धिमान् सम्यग्दृष्टि को जो आनंद का अनुभव होता है वह अलौकिक है। वह आनंद केवलज्ञान का बीज है, इस प्रकार सामायिक काल में आत्मस्वरूप का चिंतन कर आत्मानुभव का प्रयत्न करना चाहिए। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक के अतिचार

वाक्कायमानसानां दु:प्रणिधानान्यनादराऽस्मरणे।
सामायिकस्याऽतिगमा व्यञ्जन्ते पञ्च भावेन॥105॥

अन्वयार्थ–वाक्कायमानसानां – वचन, शरीर और मन का, **दु:प्रणिधानानि** – चलायमान करना, **अनादर स्मरणे** – सामायिक में अनादर करना, सामायिक काल व पाठ भूल जाना, **भावेन** – परमार्थ से, **सामायिकस्य –** सामायिक के, **पञ्चअतिगमाः** – पाँच अतिचार, **व्यञ्जन्ते** – प्रकट किए जाते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में सामायिक नामक शिक्षाव्रत के संबंध में देख रहे थे। आज उस सामायिक व्रत के अतिचार के संबंध में आचार्य महोदय बता रहे हैं। बुराई को जाने बिना बुराई को छोड़ा जाना शक्य नहीं होता। कई बार बुराई को जाने बिना बुराई को छोड़ने का प्रयत्न किया जाता है तो वह अनर्थकारी हो जाता है अर्थात् ऐसा हो जाता है जिसे छोड़ना था उसे तो पकड़ लिया और जिसे पकड़ना था वह छोड़ दिया। एक ग्रामीण भाषा में कहावत है–

'जिस जेठ से न्यारी हुई वही जेठ हिस्सा में आए'

यानि कोई महिला जिस जेठ के कारण घर से न्यारी हुई थी, जब हिस्सा हुआ तो उसी जेठ को भोजन कराना उसके हिस्से में आ गया। आशय यह है कि सामायिक जिन दोषों से बचने के लिए की जा रही थी, सामायिक में उन्हीं दोषों को उत्पन्न कर लिया। व्यक्ति को जो डर था कि मार्ग में कोई प्रतिकूलता न आए, सांप-बिच्छू, कीड़े-मकोड़े, कांच-कंकर आदि की बाधा न हो इसलिए मैं इस रास्ते से जाता हूँ, उसे मालूम था एक रास्ता अच्छा है एक खराब, किसी ग्रामीण व्यक्ति से मार्ग पूछने के लिए उसके पास समय नहीं था और यह सोचकर कि ये अच्छा रास्ता होगा वह बिना पूछे ही चल दिया और पहुँच गया उस रास्ते पर जो वास्तव में दुर्गम था, कंटकोत्कीर्ण था, सभी प्रकार की विघ्नबाधाओं से युक्त था, मार्ग में किसी भी प्रतिकूलता की कमी नहीं थी। क्यों? क्योंकि उसने प्रतिकूलता के बारे में जानकारी प्राप्त नहीं की, मार्ग के बारे में समीचीन ज्ञान नहीं किया इसलिए उसे उस प्रकार की प्रतिकूलता भुगतनी पड़ी। सामायिक में भी आप कहीं ऐसा न कर बैठें कि सामायिक करने के लिए बैठे और असामायिक कर बैठे। सामायिक तो की थी कर्मक्षय के लिए उसमें ही ज्यादा से ज्यादा कर्म का बंध कर लिया। सामायिक करना चाहते थे पापों से बचने के लिए पर सामायिक में ही आपने पाप का बंध कर लिया। सामायिक में सोच रहे थे किञ्चित् पुण्य का आस्रव हो जाएगा किन्तु सामायिक

में ही पाप का आस्रव कर लिया। वह सामायिक-सामायिक नहीं। वह सामायिक तो ऐसे ही मानिए जैसे कोई रोगी व्यक्ति शरीर के रोग को दूर करने के लिए औषधि का सेवन तो करता है किन्तु उस औषधि ने पूर्व का रोग तो ठीक नहीं किया बल्कि कई नए रोग पैदा कर दिए तो वह औषधि सेवन करने के योग्य नहीं। ऐसे ही वह सामायिक भी सेवन करने के योग्य नहीं है जो असामायिक से ज्यादा खतरनाक है अर्थात् दुर्सामायिक है।

सामायिक में किया गया खोटा ध्यान नि:संदेह दुर्सामायिक कहलाती है। जब व्यक्ति बाह्य क्रियाओं को छोड़कर आँख बंद करके एकान्त में सामायिक करने के लिए बैठ गया किंतु अब सामायिक में उसकी चक्रव्यूह की रचना चल रही है। मकरव्यूह, गरुड़व्यूह, कूटनीति, युद्ध चल रहा है, तो क्या उसे सामायिक कह सकते हैं। सामायिक में मारकाट कर रहा है, वह नगर के नगर भस्म कर रहा है ध्यान के माध्यम से, वह धर्म का विध्वंस कर रहा है, भोगों में आकण्ठ डूबा हुआ है, सामायिक करते समय वह संसार को बढ़ाने की याचना कर रहा है, संसार की वस्तुएँ माँग रहा है, अपने शरीर की सुन्दरता माँग रहा है, शरीर की कमनीयता, शरीर को अच्छा, सुखद, दीर्घायु वाला माँग रहा है तो ये सामायिक है क्या? सामायिक में माँग रहा है संसार का दु:ख, जबकि सामायिक की जाती है संसार के दु:खों का अन्त करने के लिए। सामायिक में संसार की वृद्धि की याचना करना असामायिक से भी ज्यादा खतरनाक है इसलिए सामायिक का स्वरूप बताते हुए पूर्व श्लोक में ही कह दिया कि पहले संसार का चिंतन कर लो। अशरण, अशुभ, अनित्य, दु:खमय, अनात्ममय संसार है, ऐसे संसार में मैं निवास करता हूँ यदि यही मुझे चाहिए तो मैं मोक्ष से विपरीत संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ। यदि संसार की प्रतिक्रियाओं के विपरीत हो जाऊँगा तो संसार की ओर पीठ करने से मेरी गति मोक्षमार्ग में हो जाएगी। संसारमार्ग और मोक्षमार्ग दोनों में एक साथ गति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र नि:संदेह मोक्ष का मार्ग है। मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र नि:संदेह संसार का मार्ग है। जब मिथ्यात्रय होता है तब सम्यक्रत्नत्रय नहीं होता, जब सम्यक् रत्नत्रय होता है तब मिथ्यात्रय नहीं होता। आप कहेंगे महाराज श्री! आप यह बताएँ कि तृतीय गुणस्थान में आप सम्यक् रत्नत्रय मानते हैं या मिथ्यारत्नत्रय? भैया! तीसरे गुणस्थान में हम रत्नत्रय ही नहीं मानते। वहाँ रत्न तीन हैं ही नहीं वहाँ दो रत्न थे वे भी धूमिल इसलिए वे मिश्र हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान था दोनों में आधी-आधी अवस्था मिल गई। तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के साथ सम्यक्त्व मिला हुआ है, जैसे कोई व्यक्ति दो व्यक्तियों के बीच में फँसा है एक ओर शत्रु, दूसरी ओर मित्र है। शत्रुघात कर रहा है, मित्र बचाने का प्रयास कर रहा है तो व्यक्ति कैसा अनुभव करेगा? सुख का या दु:ख का? अब

न सुख का अनुभव कर सकता है न दु:ख का। कोई व्यक्ति औषधि का सेवन व रोग को बढ़ाने वाली वस्तु इन दोनों का सेवन एक साथ करता जाए तो रोगी होगा या निरोगी। ऐसे ही मिश्र गुणस्थान वाले को संसार वर्धक भी नहीं कह सकते और मोक्षमार्ग में गतिशील भी नहीं कह सकते। वह मिश्रदशा को प्राप्त है किन्तु वह दशा ज्यादा चल नहीं सकती। अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा का काल नहीं है। उस गुणस्थान में जीव मर भी नहीं सकता, आयु का बंध भी नहीं कर सकता, बड़ी विचित्र दशा है वो। किन्तु यहाँ बता रहे हैं कि मोक्षमार्ग रत्नत्रय से बनता है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों में से एक भी कम है तो मोक्षमार्ग नहीं बनेगा। कोई इस भ्रम में न रहे कि हम सम्यग्दृष्टि बन गए सम्यग्ज्ञानी बन गए तो मोक्षमार्गी बन गए, नहीं। आचार्य भगवन् पूज्यपादस्वामी ने, आचार्य भगवन् उमास्वामी जी ने तीनों की एकता को ही मोक्षमार्ग कहा। यह मोक्षमार्ग एक से नहीं बनता, दो से नहीं बनता, तीनों की विपरीतता से नहीं बनता, तीनों की एकता से ही बनता है।

यहाँ कह रहे हैं कि सामायिक मोक्षमार्ग के लिए करना चाहिए। संसार से विपरीत मोक्ष है जब ऐसा चिंतन चलने लग जाएगा तब नि:संदेह मानिए कि आप संसार से बचकर मोक्षमार्गी बन जाएँगे। चिंतन नहीं करोगे तब तक मोक्षमार्गी नहीं बन सकोगे। व्यक्ति जैसा सोचता है वैसा हो जाता है, सोच ही आखिर में सच होती है इसलिए जिसको सच करना चाहते हो उस प्रकार का सोचना प्रारंभ कर दो। व्यक्ति बचपन से सोचता है मैं कब मुनि बनूँ, भजन गाता है–

संत साधु बनके विचरुँ वह घड़ी कब आएगी।
चल पड़ूँ मैं मोक्षपथ पर वह घड़ी कब आएगी।

जब सोचना प्रारंभ करता है नि:संदेह वह उस रूप बन जाता है। जिन्होंने समाधि की भावना को भाया उन साधकों ने समाधि को प्राप्त किया। जो धन कमाकर धनपति बने हैं उन्होंने ऐसी ही भावना भायी थी। भावना के अनुरूप प्रयास-पुरुषार्थ करने पर वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। यहाँ पर कहा संसार से विपरीत मोक्ष है इसका चिंतन करो। पहले सत्य को जान लो तो आपकी दृष्टि से भ्रम का पर्दा हट जाएगा फिर ज्यादा देर नहीं लगेगी असत्य को छोड़ने में और सत्य को प्राप्त करने में। अभी काले रंग को आपने सफेद रंग मान रखा है ,अनंतकाल भी निकल सकता है तुम सफेद रंग को प्राप्त न कर पाओ। अंधकार को प्रकाश मान लिया है, अनंतकाल निकल सकता है आप प्रकाश को प्राप्त न कर पाओ। किन्तु जिस क्षण आप अंधकार को अंधकार मान लोगे तो प्रकाश को प्राप्त करने की आपकी पहल प्रारंभ हो जाएगी, श्याम वर्ण को श्याम मान लोगे तो उसी क्षण से धवलता को प्राप्त करने की खोज प्रारंभ हो जाएगी। आप अपने आपको संसारी मान लोगे तो मोक्ष का रास्ता खोजना प्रारंभ कर

दोगे। आप अपने आपको दु:खी स्वीकार कर लोगे तो सुख के मार्ग को खोजने लगोगे। आप अपने आपको रोगी मान लोगे कि मैं जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोगों से ग्रसित हूँ तो जन्म-जरा-मृत्यु रोगों की दवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को खोज लोगे अथवा प्रभुभक्ति, वैराग्य, तप, ध्यान आदि सब आपको उपलब्ध हो जाएगा किन्तु बिना चाहे कुछ भी नहीं होता।

महानुभाव! मोक्षमार्ग बुद्धिपूर्वक चाहना पड़ता है और मोक्ष अबुद्धिपूर्वक मिल जाता है। पहले व्यवहार में मोक्ष की चाह करो, व्यवहार से निश्चय में पहुँचोगे तो निश्चयमोक्षमार्गी मोक्ष माँगता नहीं उसे तो मोक्ष मिल जाता है। राह पर चलने वाला व्यक्ति मंजिल तक पहुँच जाता है। सिर्फ सम्यक् राह पर कदम बढ़ाने होते हैं, अबुद्धिपूर्वक ऐसे कुछ भी घटित नहीं होता। आज आपके और हमारे साथ जो कुछ अबुद्धिपूर्वक घटित हो रहा है पूर्व में हमने संसार के संस्कार बुद्धिपूर्वक ग्रहण किए थे इसलिए संस्कारवशात् आज भी हम उन्हें ग्रहण किए जा रहे हैं। जैसे कुंभकार का चाक। कुंभकार दण्ड लेकर 10-12 बार अपना चाक घुमाता है और जब दण्ड को उठाकर अलग कर देता है फिर संस्कारवशात् चाक घूमता रहा है, ऐसे ही संस्कारवशात् हम भी संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। जिन कर्मों को हमने बुद्धिपूर्वक बाँधा है अब उनका हमें संस्कार पड़ गया है। अंधा व्यक्ति जिस रास्ते पर बार-बार जाता है, वह उस रास्ते पर ठोकर नहीं खाता क्योंकि नये रास्ते में जाने पर उसे ठोकर लग सकती है।

महानुभाव! ऐसे ही हम संसार का कार्य करने में बड़े निपुण हैं, बहुत प्रवीण हैं। हमारा मन संसार की ओर जल्दी गति करता है, हमारे वचन संसार का संवर्धन करना चाहते हैं। हमारा शरीर संसार के सुखों को भोगना चाहता है; जो वास्तव में दु:ख हैं। जैसे पानी की गति सहज में नीचे की ओर होती है और अग्नि की लपटों की गति सहज में ऊपर की ओर होती है। अरण्ड का बीज चटकता है तो दाना चटककर के ऊपर की ओर जाता है ऐसे ही यह पूर्व संस्कारवशात् सहज अवस्थाएँ हैं। हमारी आत्मा भी पूर्व संस्कारवशात् कर्मों का आस्रव और बंध करती चली आ रही है।

महानुभाव! निर्दोष सामायिक करना है। प्रारंभ में सामायिक में दोष लग जाएँ तो घबराना नहीं है किन्तु बुद्धिपूर्वक दोष लगाना नहीं। सामायिक का पर्दा डालकर पाप कमाना नहीं और सामायिक में अतिचार लग जाएँ तो दूर करने की कोशिश करना, सामायिक को छोड़कर भागना नहीं। युद्ध में से भागा शत्रु न वीरगति को प्राप्त हुआ न विजय को प्राप्त हुआ, वह कायर कहलाता है, उसे जीने का अधिकार नहीं होता, वह यावज्जीवन पल-पल मरता रहता है। ऐसे ही प्रमादवश, अज्ञानतावश यदि सामायिक में अतिचार लग जाए तो उन अतिचारों को दूर करने की कोशिश करना किन्तु ये मत सोच लेना कि मैं सामायिक व्रत को ही नहीं लूँगा, मैं

श्रावक के व्रत ही नहीं लूँगा, मैं धर्म ही नहीं करूँगा; यह सोचना तो नितान्त मूर्खता है। उसे तो ऐसा ही समझना है जैसे कोई व्यक्ति अग्नि के कुंड में भूल से गिर जाए और निकलने का साहस कर रहा हो तो उसका हाथ या पैर फिसल जाए तो दुबारा प्रयास न करना। तो जैसे वह मूर्ख कहलाता है ऐसे ही वह व्यक्ति भी मूर्ख है जो सामायिक में दोष न लग जाए इसलिए सामायिक व्रत को लेता ही नहीं।

आचार्य महोदय यहाँ श्लोक नं. 105 में इन्हीं अतिचारों की बात कह रहे हैं।

'वाक्कायमानसानां'–तीन योगों की बात कही। यहाँ बहुवचन में कहा, वैसे तो मन एक है, वचन भी एक है, शरीर भी एक है फिर बहुवचन क्यों? क्योंकि तीनों को एक साथ कह रहे हैं दु:प्रणिधान शब्द का प्रयोग तीनों के साथ करेंगे। मन का दु:प्रणिधान, वचनों का दुष्प्रणिधान और शरीर का दुष्प्रणिधान। यह विशेषता तीनों के साथ लगायी।

'वचनदुष्प्रणिधान' वचनों का दुरुपयोग करना। आज वचन बोलने की शक्ति आपके पास है तो इस वचन शक्ति के माध्यम से प्रभु परमात्मा की भक्ति करो, स्तुति करो, पूजन करो, संत-महात्माओं का गुणगान करो। इस वचन की शक्ति का सदुपयोग करना सीख लो। यह जिह्वा अपशब्द बोलने के लिए, अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने के लिए नहीं दी, यदि इनका दुरुपयोग करोगे तो संभव है अगले भव में एकेन्द्रिय जीव बनोगे, जिह्वा प्राप्त ही न कर पाओगे इसलिए वचनों का दुरुपयोग मत करो।

'काय दुष्प्रणिधान' शरीर का दुष्प्रणिधान नहीं करना। शरीर के माध्यम से तो तप-साधना-संयम को स्वीकारना है, विषयभोगों में नहीं डूबना है। इस शरीर का यथार्थ सदुपयोग तो यही है–**'यह तन पाय महातप कीजे, यामें सार यही है।'** अन्यथा यह तन तो मल की पिटारी है। भीतर न जाने कितनी गंदगी भरी है। बाहर से चर्म लिपटा पड़ा है। इस तन को संसार के भोगों में नहीं लगाना, इस तन से आत्मयोग को पाना है। इस शरीर का दुरुपयोग मत करो।

'मन दुष्प्रणिधान' मन का दुरुपयोग मत करो। तत्त्वचिंतन करो, इस आत्मा को परमात्मा बनाने का चिंतन करो, व्यर्थ के चिंतन मत करो। क्योंकि मन की गति बहुत तेज है, एक क्षण में ही तीनों लोकों की यात्रा कर सकता है, तो क्यों न इस मन की दिशा को सही गति प्रदान करें। जब ये मन संसार की यात्रा कर सकता है तो इससे आत्मा को परमात्मा बनाने की यात्रा का भी शुभ चिंतन मनन क्यों नहीं कर सकते। इस मन के माध्यम से आर्त्त-रौद्र ध्यान मत करो। मन रूपी घोड़े की लगाम सदैव अपने हाथ में रखो। विरले जन ही मन को अपने वश में कर पाते हैं।

सर्व अतिचारों में मनोदुष्प्रणिधान नामक अतिचार को बचाना कठिन कार्य है तथापि अभ्यासपूर्वक यह बचाया जा सकता है। उसके विषय में कहा गया है कि मनोदुष्प्रणिधान योगमूलक और कषाय मूलक के भेद से दो प्रकार का होता है। मन की जो साधारण चञ्चलता है वह योगमूलक दुष्प्रणिधान है और बुद्धिपूर्वक किसी के इष्ट-अनिष्ट का चिन्तन करने से जो चंचलता होती है वह कषायमूलक दुष्प्रणिधान है। सर्वप्रथम कषायमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् सामायिक में बैठकर किसी के इष्ट-अनिष्ट का विचार नहीं करना चाहिए, आर्त्त-रौद्र ध्यान में मन परिणत नहीं होना चाहिए, तदनन्तर योगमूलक दुष्प्रणिधान को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। धर्मध्यान के जो आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, व रूपातीत के भेद से अनेक भेद बताये गये हैं उनका चिन्तन करने से भी चित्त की एकाग्रता होती है।

'अनादरस्मरणं' सामायिक के प्रति कभी अनादर का भाव मत लाओ। प्रमाद से दोष लगें वह बात अलग है किन्तु अनादर नहीं करना चाहिए। सामायिक भी धर्म है, इस धर्म की पूजा करो, वंदना करो। सामायिक करने में प्रमादी मत बनो। सामायिक कालों का विस्मरण भी न करो। संधिकालों में मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक सामायिक करना चाहिए। सामायिक के प्रति मन में उत्साह होना चाहिए। मन की प्रसन्नता ही चित्त को विशुद्धि देने वाली होती है व कर्म निर्जरा में सहयोगी होती है। इसलिए जो सामायिक हमें हमारे प्रभु से, हमारा हमसे मिलन कराने वाली है उसके प्रति अनादर का भाव नहीं रखना चाहिए न उसे भूलना चाहिए। संसार के कार्यों में ऐसे व्यस्त मत हो जाना कि सामायिक को ही भूल जाओ, यह सामायिक आपकी निधि है, इसे भूलो मत। यह आपका व्रत है, धर्म है, कर्त्तव्य है, यह आपका प्राण है। अपनों को कोई भूलता है क्या, यह सबसे निकटवर्ती है, आपकी आठों याम सुरक्षा करने वाली है।

इस प्रकार मन, वचन, काय से खोटी प्रवृत्ति करना, सामायिक में अनादर भाव रखना और सामायिक पाठ वा सामायिक काल को भूल जाना वा उसमें होने वाली किसी विधि को भूल जाना ये पाँच परमार्थ रूप से सामायिक के अतिचार हैं। इन अतिचारों के लगने से सामायिक सदोष गिना जाता है तथा अन्य शास्त्रों में इस सामायिक के 32 दोष लिखे हैं। इन सब दोषों को त्यागकर, सर्वव्रतों की जड़, सर्वचारित्र की उत्पत्ति का मूलभूत कारण सामायिक नामक शिक्षाव्रत को निर्मल रीति से धारण करना चाहिए। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का स्वरूप

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।
चतुरभ्यवहार्य्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः॥106॥

अन्वयार्थ–पर्वणि – चतुर्दशी, **च** – और, **अष्टम्यां** – अष्टमी के दिन, **चतुरभ्यवहार्य्याणां** – चारों प्रकार के आहार का, **प्रत्याख्यानं** – त्याग, **तु** – और, **सदा इच्छाभिः** – पर्व के दिनों में भी इच्छानुसार चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, **प्रोषधोपवासः ज्ञातव्यः** – प्रोषधोपवास जानना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में चार शिक्षाव्रतों का कथन चल रहा है, प्रथम देशावकाशिक व्रत, द्वितीय सामायिक व्रत देख चुके हैं, अब तृतीय प्रोषधोपवास व्रत की चर्चा यहाँ करेंगे। प्रोषधोपवास व्रत क्या है, क्यों आवश्यक है, उसकी विधि क्या है, उसके लाभ क्या हैं, वर्तमानकाल में इस व्रत की क्या उपयोगिता है? क्या यह प्रोषधोपवास व्रत जिस समय शास्त्र रचना हुई थी उस समय जितना उपयोगी था, उतना ही उपयोगी आज भी है या उससे ज्यादा उपयोगी है अथवा कम उपयोगी या आज इसकी आवश्यकता ही न हो? देखते हैं। पहले समझें कि प्रोषधोपवास व्रत है क्या?

प्रोषध कहिए तो एकासन। आहार भी औषधि होती है। सात्विक आहार, प्रकृति के अनुकूल आहार जितना आवश्यक है उतना यथायोग्य आहार, आगम के अनुसार आहार औषधि का काम करता है। वह आहार ही संसार में प्रकृष्ट औषधि है। आहार के बिना समस्त औषधि व्यर्थ हैं। जो शरीर की संस्थिति आहार के माध्यम से हो सकती है औषधि के माध्यम से नहीं हो सकती। आहार को औषधि बनाओ, औषधि को आहार मत बनाओ। जो व्यक्ति आहार को औषधि के रूप में लेते हैं उन व्यक्तियों को औषधि लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु जो व्यक्ति औषधियों को भी आहार बनाकर लेते हैं वे जीवन में फिर आहार नहीं ले पाते, फिर उनका आहार छूट ही जाता है। इसलिए यहाँ पर कहा प्रोषध और उपवास। प्रोषध अर्थात् एकासन, वह एकासन ही अपने आपमें औषधि रूप है। अब उसके मध्य में एक उपवास भी जरूरी है। एकासन के बीच में एक उपवास हो तो फिर वह प्रोषधोपवास कहलाता है। चार पहर दिन के, चार पहर रात्रि के, चार पहर पूर्वरात्रि के, दो पहर जिस दिन धारणा किया उस दिन के, दो पहर जिस दिन पारणा किया उस दिन के इस तरह 16 प्रहर का जो उपवास होता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है।

महानुभाव! उपवास का अर्थ होता है धर्म के समीप में, आत्मा के समीप में, संयम के समीप में, अपनी शुद्ध दशा, स्वभाव, प्रकृति के समीप में वास करना। जो उपवास करता है वह संसार के परे वास करता है जो उपवास करता है वह विकृतियों से परे वास करता है, प्रकृति के निकट में निवास करता है, इसीलिए प्रोषधोपवास श्रावक-श्राविकाओं के लिए महाव्रती बनने के लिए प्रेरणादायी है। महाव्रती प्रतिदिन एकासन करते हैं, अवसर आने पर पर्व के दिनों में या जब कभी भी इच्छा हुई वे उपवास कर लेते हैं। महाव्रतियों का उपवास 16 पहर का होता है। कोई कहेगा कि कई बार महाव्रती प्रात:काल 9 बजे ही आहार कर लेते हैं या 8 बजे आहार कर लिया पारणा के दिन, तो दो पहर प्रात:काल के कैसे निकले? पारणा के दिन में एक पहर तो निकल गया तो जिस दिन धारणा की थी उस दिन के तीन पहर लगा लो बराबर हो गए। पहर तो 16 ही हुए।

आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी इस प्रोषधोपवास को कुछ विशिष्ट दिनों में कह रहे हैं, जो दिन अपने आप में विशेषता को लिए हुए हैं उन दिनों में उपवास करने का महत्व अलग होता है। लोक व्यवहार में पर्व और त्यौहार के जो दिन होते हैं उन दिनों स्वत: ही घर का, समाज का, नगर का, पूरे देश का वातावरण ही बदल जाता है, उसका प्रभाव पड़ता है, ऐसे ही आध्यात्मिक पर्व भी होते हैं, उन दिनों आध्यात्मिक प्रेमी का अन्तरंग का परिवेश बदलने लगता है, अंतरंग का परिणाम बदलने लगता है। इसलिए हर कार्य हर समय नहीं किया जा सकता, प्रत्येक कार्य के लिए स्थान और समय समुचित होना चाहिए। उचित स्थान और उचित समय पर किया गया कार्य उचित फल को देने वाला होता है, अनुचित स्थान पर अनुचित समय में किया गया कार्य उचित फल को तो देता ही नहीं, वह प्रयोजन तो सिद्ध नहीं करता अपितु परिश्रम भी व्यर्थ चला जाता है, कई बार तो वह परिश्रम अनर्थकारी भी हो जाता है। कोई किसान पहाड़ के ऊपर पत्थरों के बीच में खेती करे तो जितना बीज डाला है वह भी वापस न लौटेगा। पत्थरों में सिंचाई करे तो क्या फसल उगेगी, वहाँ खाद आदि डाले तो भी लाभ नहीं। या बीज तो बोया किन्तु तब जब फसल काटने का समय आ गया। वह बोया बीज समुचित फल को देने में समर्थ न हो सकेगा, असमर्थ ही रहेगा। इसीलिए आचार्य महोदय पर्व की महिमा बताते हुए कह रहे हैं-

'पर्वणि'-अर्थात् चतुर्दशी और **'अष्टम्यां'** अर्थात् अष्टमी। जैन दर्शन के अनुसार अष्टमी-चतुर्दशी दोनों पर्व कहे जाते हैं। इन पर्व के दिनों में जब विशेष साधना की जाती है तो विशेष साधना विशेष विशुद्धि को देने वाली होती है। 'चतुरभ्यवहार्य्याणां।' चार प्रकार के

आहार होते हैं–खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय। **खाद्य**–खाने के योग्य। जिसको पर्याप्त मात्रा में खाया जाता है, ठोस आहार कहलाता है जिससे उदर की क्षुधा शांत होती है, जैसे–दाल, रोटी, भात आदि। **स्वाद्य**–जिसे ज्यादा नहीं खाया जाता मात्र स्वाद के लिए लिया जाता है जैसे सोंफ, इलायची, सुपारी, पान इत्यादि पदार्थ। **लेय** जो चाटने के योग्य होता है जैसे रबड़ी, कलाकन्द, चाट आदि और **पेय** जो पीने के योग्य होते हैं दूध, जूस, ठंडाई, पानी आदि। एक बात ध्यान रखना है लेय और लेप में अंतर है। लेपाहार जो लिया जाता है वह छह प्रकार के आहारों में लिया है, वह अलग है और लेय अलग है। लेपाहार एकेन्द्रिय वृक्षों के होता है जो जड़ों के माध्यम से जल अवशोषण करते हैं। अनजान व्यक्ति लेय और लेप को एक कर देता है किंतु यह एक नहीं हैं। इन चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना और इसके साथ-साथ विषय-कषाय का भी त्याग करना। यदि विषय-कषाय का त्याग किया है, फिर चार प्रकार के आहार का त्याग किया है तो प्रोषधोपवास सार्थक है। विषय-कषायों का त्याग नहीं किया केवल चार प्रकार के आहार का त्याग किया है तो प्रोषधोपवास सार्थक नहीं है।

यद्यपि गृहस्थ लोग आरंभ का त्याग न करते हुए प्रोषधोपवास करते हैं परंतु व्रतीजनों को आरंभत्याग करके ही प्रोषधोपवास करना चाहिए। जहाँ पर आहार के साथ कषाय और आरंभ का त्याग किया जाता है उसको उत्तम प्रोषधोपवास कहते हैं। जो व्रत के दिन आरंभ-सारंभ करता है उसका प्रोषधोपवास करना हाथी के स्नान के समान निष्फल हो जाता है। प्रोषधोपवास के दिन जिनेन्द्रप्रभु की पूजा व पात्रदान नियमपूर्वक अवश्य करना चाहिए, जो ऐसा नहीं करता उसका व्रत करना विफल ही समझना चाहिए या उसे केवल लंघन ही समझना चाहिए। जो प्रोषधोपवास के दिन न पूजा करता और न पात्र दान देता, इन दोनों को छोड़कर लोभ के वशीभूत होकर महापाप उत्पन्न करने वाले घर के आरंभों को करता है वह दीर्घ संसार के कारण रूप पाप कर्मों का ही बंध करता है। व्रती पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध करने के लिए प्रोषधोपवास के दिन किसी मोह वा लोभ के कारण हिंसादि पाँचो पापों को कभी नहीं करना चाहिए तथा कषायों की तीव्रता से राग- द्वेष भी कभी नहीं करना चाहिए।

आचार्य महोदय कह रहे हैं पर्व के दिनों में अर्थात् प्रत्येक मास की अष्टमी-चतुर्दशी के दिनों में, कृष्ण-शुक्ल पक्ष दोनों में उपवास करना 'प्रोषधोपवासः ज्ञातव्यः' प्रोषधोपवास जानना चाहिए। क्या अष्टमी-चतुर्दशी के दिन उपवास एवं नवमी-सप्तमी के दिन एकासन या त्रयोदशी-अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन एकासन करने पर ही प्रोषधोपवास होगा? यदि कोई व्यक्ति पंचमी को करे तो वह प्रोषधोपवास नहीं कहलाएगा? एकादशी का करे तो क्या

प्रोषधोपवास नहीं कहलाएगा? आचार्य महोदय ने कहा 'सदा इच्छाभिः' इच्छानुसार अन्य दिनों में भी प्रोषधव्रत किया जा सकता है। आचार्य महोदय ने अष्टमी-चौदस क्यों कहा? जैन दर्शन में एक बात स्पष्ट कही गई है कि–

अष्टमी चाष्टकर्माग्नी, सिद्धि-लाभा चतुर्दशी।
पंचमी ज्ञानलाभाय, तस्मात्त्रितय भावयेत्॥

आठ प्रकार के कर्मों का नाश करने वाली अष्टमी है और द्रव्यकर्म के आठ भेद होते हैं ज्ञानवारणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, अंतराय, आयु, नाम, गोत्र। इन आठ कर्मों को नष्ट करने के लिए अष्टमी का व्रत करना प्रारंभ कर दो। सिद्धि–स्वात्मोलब्धि देने वाली चतुर्दशी है एवं ज्ञान का लाभ कराने वाली पंचमी है।

महानुभाव! पुण्याश्रव कथा कोष में इस प्रोषध व्रत के महत्व को दर्शाने वाली एक सुन्दर कथा आती है। राजा बंधुषेण की पुत्री बंधुयशा ने 'प्रोषधव्रत' ग्रहण किया उस व्रत से उत्पन्न पुण्य के प्रभाव से वह चिरकाल तक मनुष्य व देवगति के भोगों को भोगकर अन्त में कृष्ण की जाम्बवती नाम की पत्नी हुई। उसकी कथा आती है–

द्वारावती नगरी में बलदेव और कृष्ण दोनों भाई राज्य करते थे, एक समय वे श्रीनेमिनाथ भगवान् की वंदना के लिए गए, वहाँ पर कृष्ण की जाम्बवती रानी ने वरदत्त नामक गणधर को नमस्कार कर अपने पूर्वभवों को पूछा तब उन्होंने बताया–इसी जम्बूद्वीप के भीतर अपर विदेह में पुष्कलावती देश के वीतशोकपुर में देविलनाम का वैश्य रहता था, उसकी पत्नी का नाम देवलमती था। उनके एक यशस्विनी नाम की पुत्री थी जिसका विवाह मंत्रीपुत्र सुमित्र के साथ कर दिया गया, किन्तु सुमित्र शीघ्र ही मर गया, जिसके वियोग से यशस्विनी बहुत दुखी हुई, तब जिनदेव ने सदुपदेश देकर उसके लिए सम्यक्त्व ग्रहण करा दिया, परंतु उसने उसे छोड दिया, आयु के अंत में वह मरकर आनंदपुर के राजा अन्तर की मेरुनन्दना नाम की स्त्री हुई। उसने 80 पुत्रों को प्राप्त किया। वह 4000 वर्ष तक भोग भोगकर आर्त्तध्यान के साथ मृत्यु को प्राप्त हुई। इसलिए वह अनेक योनियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करती हुई इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी ऐरावत क्षेत्र के भीतर विजयपुर के स्वामी बंधुषेण व बंधुमती रानी के यहाँ बंधुयशा नाम की पुत्री हुई। उसे श्रीमती आर्यिका ने 'प्रोषध' ग्रहण कराया, वह कुमारी अवस्था में ही मरण को प्राप्त होकर जंबूद्वीप के पूर्व विदेह संबंधी पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के स्वामी वज्रमुष्टि व रानी सुप्रभा की सुमति नाम की पुत्री हुई। उसने सुदर्शना आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण की, फिर आयु के अंत को प्राप्तकर ब्रह्मेन्द्र की देवी हुई, वहाँ से च्युत

हो विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के अन्तर्गत जम्बूपुर के स्वामी जम्बव और सिंहचंद्रा की जाम्बवती नाम की पुत्री हुई है। अब तुम इस भव में भी आर्यिका दीक्षा लेकर, तपस्या कर समाधि- मरण कर देव होओगी, पुनः च्युत होकर मण्डलेश्वर राजा बनोगी, पुनः उस पर्याय में दीक्षा ले, तपकर मुक्ति को प्राप्त करोगी।

महानुभाव! जब विवेक से रहित वह कन्या भी प्रोषध के प्रभाव से इस प्रकार के वैभव को प्राप्त हुई है तब भला जो भव्यजीव श्रद्धापूर्वक उस प्रोषध व्रत को पालन करेगा तब वह क्या वैसे वैभव को प्राप्त नहीं होगा? अवश्य होगा।

जैन दर्शन में संसारी जीव के परिणाम 14 प्रकार के होते हैं इन परिणाम को स्थान कहते हैं। इन 14 स्थान को ही 14 गुणस्थान कहते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि चतुर्दशी के दिन जो कि पक्ष की उपांत तिथि है, उस तिथि में चन्द्रमा अन्त को प्राप्त होता है चाहे कृष्ण पक्ष का अंत हो या शुक्ल पक्ष का अंत हो। उस उपांत समय के एक दिन पहले और अंत समय तक मध्याह्नकाल तक उस संधि में जो चारों प्रकार का आहार त्याग करता है निःसंदेह उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। संधिकाल में प्रातःकाल का संधिकाल 6 बजे का, मध्याह्न का 12 बजे का, शाम को 6 बजे का, मध्यरात्रि में 12 बजे संधिकाल, ये 4 संधिकाल होते हैं जिसके सवा घंटे पहले और बाद तक लगभग ये संधिकाल समय रहता है। इन संधिकालों में किसी भी व्रती-महाव्रती को आहार नहीं करना चाहिए क्योंकि यह संधिकाल मिश्रकाल है। इस काल में प्रभुभक्ति-वंदना आदि करना ही उचित है। ऐसे ही पक्ष का भी संधि समय होता है उस पक्ष के संधिकाल में जहाँ चन्द्र आदि ग्रह अपनी चाल बदल रहे हैं उस समय संधिकाल है, उस समय विशुद्धि पूर्वक अपने परिणामों को संभालना चाहिए। क्योंकि चन्द्र के उदय से उसकी कलाएँ घटने-बढ़ने से समुद्र के जल पर प्रभाव पड़ता है तो स्थल पर रहने वाले प्राणियों पर भी प्रभाव पड़ता है। इन संधिकाल में अवश्य ही अपनी स्वास्थ्य की अनुकूलता के लिए पर्व के दिनों में उपवास करना चाहिए। जो व्रती नहीं हैं प्रोषधोपवास व्रत नहीं लिया है उन्हें भी उपवास करना चाहिए। इससे ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है, आरोग्य लाभ मिलता है और इसके साथ-साथ पुण्य का विशेष आस्रव होता है, जिससे उसके सभी मनोरथों की पूर्ति होती है।

आप सभी पर्व के दिनों में शक्तिअनुसार व्रत-उपवास करें। हम आप सभी के प्रति मंगल भावना भाते हुए शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रोषधोपवास के दिन करने योग्य त्याग

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगंध - पुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥107॥

अन्वयार्थ–उपवासे – उपवास के दिन, **पञ्चानां पापानां** – हिंसादि पाँच पापों का, **अलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्** – शरीर का वस्त्रादि से शृंगार करना, आरंभ, सुगंधित इत्र-फुलेल का लेपन व विविध पुष्पों का सूंघना या धारण करना, **स्नान-अञ्जन-नस्यानां** – स्नान करना, आँखों में अञ्जन/काजल/सुरमा का और नाक में डालने वाले नस्य लेना या सूँघना, **परिहृतिं कुर्यात्** – त्याग करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना के माध्यम से श्रावक की आचार संहिता को समझने व अपनाने का सम्यक् पुरुषार्थ कर रहे हैं। संसार में जितने भी कार्य सम्पन्न किए जाते हैं उन सभी कार्यों को संपन्न करने के लिए आवश्यक साधनों की आवश्यकता होती है। बाधकतम कारणों का अभाव और साधकतम साधनों की सम्प्राप्ति, उचित क्रियाशीलता कार्य को सम्पन्न करने में समर्थ होती है। यहाँ पर आचार्य भगवन् प्रोषधोपवास के संबंध में कह रहे हैं। पूर्वकारिका में प्रोषधोपवास व्रत का स्वरूप कहा और अब बता रहे हैं कि उपवास कैसे करना चाहिए। उपवास के दिन क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। तो पहले क्या नहीं करना चाहिए उसे 107 नंबर के श्लोक में देखते हैं। क्या करना चाहिए उसे 108 नं. के श्लोक में कहेंगे।

जब तक बाधकतम साधनों को हटाते नहीं हैं तब तक साधकतम साधन भी कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं। जैसे कोई दरवाजा बंद है, उसे खोलना है। कोई व्यक्ति उसे धक्का देकर खोलना चाहता है, बिना धक्का दिए दरवाजा नहीं खुलेगा। धक्का देकर दरवाजा खोलना यह दरवाजा खोलने के लिए साधकतम साधन है, चाहे धक्का हाथ से दे या किसी के माध्यम से, चाहे किसी जानवर द्वारा हाथी अपनी सूंड से, बैल द्वारा या रस्सी के द्वारा खोलना हो, ये सभी उस व्यक्ति के लिए साधकतम साधन हैं किन्तु उस बंद दरवाजे को खोलने में बाधक कारण कौन-कौन से हैं? दरवाजा बंद है, दरवाजे की कुंडी लगी है, उसमें भी ताला लगा है, ऊपर-नीचे चटकनी लगी है, पीछे की ओर उस दरवाजे में मोटी अर्गला लगी हुई है, मोटी लकड़ी या लोहे ही छड़ एक नहीं तीन-तीन फंसी हैं। तो ये सब हो गए बाधक कारण। दरवाजा खुलेगा धक्का देकर के, बल लगाकर किन्तु कब? जब बाधक कारणों को दूर कर

किया जाएगा। साधकतम साधन तो आपने उपलब्ध कर लिए किन्तु बाधकतम का परिहार नहीं किया। जैसे कोई रोगी व्यक्ति रोग को दूर करने की औषधि तो ले रहा है किन्तु जिससे रोग बढ़ रहा है उसको छोड़ नहीं रहा है। इससे रोग बढ़ता चला जाएगा। यदि किसी टंकी में पानी भरा है और टंकी खाली करनी है तो टोंटी खोल दी पानी निकल जाएगा। दूसरे व्यक्ति ने टोंटी से डबल पाइप उस टंकी में डाल दिया, जिससे पानी आ रहा है तो टंकी खाली नहीं हो पाएगी।

हमारे कार्य की सिद्धि में जो-जो बाधक कारण हैं उन बाधाओं को दूर किए बिना कार्य सम्पन्न नहीं होता। पहले बाधा को दूर कर देंगे तो अल्पबल से बहुकार्य की सिद्धि हो जाएगी। बाधाओं को दूर नहीं किया तो बहुत बल लगाकर भी अल्पकार्य की सिद्धि न हो पाएगी। अग्नि को जलाना है, दो पत्थर लिए, आपस में रगड़े, चिंगारी आई और सूखी घास जल गई किन्तु वह व्यक्ति उन दो पत्थरों को रगड़ रहा है जो पत्थर गीले हैं, बर्फ जमी है तो क्या वे ठंडे पत्थर टकराने से बर्फ की टकराहट से ऊष्णता पैदा हो पाएगी? नहीं, उसे अलग करना पड़ेगा।

कहते हैं पारसमणि लोहे को स्वर्ण बना देती है तो लोहे से पारसमणि स्पर्श कराने पर लोहा सोना बन जाना चाहिए किन्तु बना नहीं, क्यों? क्योंकि वह लोहा ऐसा था जिस पर मिट्टी जमी थी, जंग लगी थी अथवा वह लोहा भी ऊपर से वस्त्र में लिपटा हुआ था या पारसमणि बक्से के ऊपर रखी है लोहा बक्से के भीतर रखा है तो वह लोहा सोना कैसे बने। चलो माना बक्सा खोल भी दिया, पारसमणि से लगा भी दिया तब भी लोहा सोना नहीं बनेगा, कपड़ा खोलना पड़ेगा, मिट्टी-गंदगी निकालनी पड़ेगी, बाधक सभी कारणों को दूर करना पड़ेगा। जिसका निषेध करना जरूरी है उसका निषेध करो फिर विधि का सहारा लो। निषेध का मार्ग ग्रहण करके विधि का मार्ग पकड़ में आ जाता है और निषिद्ध बात को छोड़े बिना विधि की बात कार्यकारी नहीं होती, पाप को छोड़े बिना पुण्यकार्य का फल नहीं मिलता, पाप को छोड़ देना भी एक पुण्य है इसलिए कहा–

''पुण्य कार्य मत करो भले ही, किन्तु करो मत पाप, पुण्य के फल को पा लोगे''

कोई व्यक्ति पुण्य का कार्य करके भी पुण्य का फल प्राप्त नहीं कर पाता क्योंकि वह पाप को छोड़ना नहीं चाहता। आचार्य समंतभद्रस्वामी यहाँ पर यही कह रहे हैं कि पहले बाधकतम कारणों को छोड़ो। बुद्धिमान् और मूर्ख में यही अंतर होता है बुद्धिमान् अल्पबल, अल्पशक्ति, अल्पधन, अल्पश्रम से बहुत फल को प्राप्त कर लेते हैं और मूर्ख बहुत धन, बहुत शक्ति

खर्च करके भी अल्पफल को प्राप्त कर पाता है। जैसा कि आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने कहा–

जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भव-सय-सहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण॥238॥ –(प्रवचनसार)

ज्ञानी जितने कर्मों का क्षय एक निःश्वास मात्र में कर पाता है उतने कर्मों का क्षय अज्ञानी हजारों करोड़ों वर्षों में भी नही कर पाता/भवों में भी नही कर पाता है।

इसका आशय अज्ञानी बाधकतम कारणों को हटा नहीं रहा है। साधना तो कर रहा है किन्तु बाधक कारणों को दूर नहीं कर रहा। ज्ञानी वह है जिसने बाधकतम कारणों को हटा दिया एवं साधकतम साधनों का प्रयोग किया तो कार्य सिद्ध हो गया। आचार्य भगवन् भी यही कह रहे हैं कि प्रोषधोपवास करने वाले व्यक्ति को प्राषधोपवास के फल को प्राप्त करना है तो उसे क्या-क्या कार्य नहीं करना चाहिए, क्या-क्या कार्य करने से प्रोषधोपवास का फल पूर्ण नहीं मिलता। जैसे एक रस्सी बटने वाला व्यक्ति रस्सी बटता चला जा रहा है, वह पीछे गाँठ न लगाए तो रस्सी खुलती चली जाती है। सिलाई करने वाला व्यक्ति सिलाई करता जाए पीछे गांठ न लगाये तो वस्त्र में मजबूती नहीं आती। कम्प्यूटर का काम करने पर व्यक्ति अपना Data Save न करे तो किया गया कार्य व्यर्थ चला जाता है, तो ये सब जरूरी है, ऐसे ही बाधक कारणों को जानना जरूरी है। उपवास के फल को खण्डित करने वाले कारण को जानना आवश्यक है। उपवास तो किया, चार प्रकार के आहार-जल का त्याग कर दिया किन्तु फिर भी उतना फल नहीं मिल पाया क्यों? इसलिए कि जो कार्य नहीं करने चाहिए वे कार्य भी कर लिए। जो नहीं करने चाहिए उन कार्यों को पहले छोड़ दो, उपवास के दिन जो कार्य करने चाहिए उन्हें करो तो उपवास के पूरे फल को प्राप्त कर पाओगे।

यदि उपवास का पूरा फल चाहते हैं तो उपवास के दिन कुछ बातों का परिहार करें। **'पञ्चानां पापानां'** पाँच प्रकार के पापों का परित्याग करना चाहिए। उपवास के दिन किसी जीव का घात मत करो, वैदिक परम्परा के लोग भी ये मानते हैं कि आज मेरा उपवास है, आज मैं किसी जीव को मारूँगा नहीं। कोई जीव मुझे आकर काट जाए तो भी मैं उसे मारूँगा नहीं। आज मेरा उपवास है मैं किसी को गाली-अपशब्द नहीं दूँगा, आज मेरा उपवास है आज मैं मन में बुरे विचार नहीं लाऊँगा। आज मैं किसी बुरे स्थान पर या बुरे व्यक्ति की संगति में नहीं जाऊँगा। उपवास है तो न हिंसा करूँगा, न किसी से हिंसा कराऊँगा, न हिंसा करने वालों की अनुमोदना करूँगा, मन-वचन-काय से झूठ नहीं बोलूँगा, न झूठ बोलने वालों के

बीच रहूँगा, न झूठ बोलने वालों की अनुमोदना करूँगा। आज मेरा उपवास है आज मैं चोरी नहीं करूँगा, न किसी से चोरी कराऊँगा, न किसी चोरी करने वालों की अनुमोदना करूँगा। आज मेरा उपवास है आज मेरा स्त्रीमात्र का त्याग, अपनी स्त्री का भी सेवन नहीं करूँगा। आज मैं अपने पास परिग्रह भी नहीं रखूँगा। मुझे रुपया-पैसा कुछ नहीं रखना न कुछ खरीदना, मुझे कुछ नहीं चाहिए। इस प्रकार हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-परिग्रह पाँचों पापों का त्याग करना चाहिए। रोज इन पापों का त्याग नहीं कर पाओ तो कम से कम उपवास के दिन तो इन पापों को नहीं करें। जैसे व्यक्ति कहता है अरे भाई! हर समय व हर स्थान पर पापों का त्याग नहीं कर सकते तो कम से कम भगवान् के सामने तो पाप मत करो।

अन्य-क्षेत्रे कृतं पापं धर्म-क्षेत्रे विनश्यति।
धर्म-क्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

ऐसे ही-

अन्य-क्रियायैः कृतं पापं धर्म-क्रियया विनश्यति।
धर्म-क्रियायैः कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

उपवास धर्म की क्रिया है। अन्य क्रिया के माध्यम से आरंभ-सारंभ, परिग्रह, पंचसूना, खेती व्यापार या अन्य कार्य जो भी कर रहे हो उन सबमें पाप हो रहे हैं किन्तु कम से कम जब तुम धर्म करने बैठे हो, तीर्थयात्रा के लिए जा रहे हो, आहारादि दान दे रहे हो, स्वाध्याय कर रहे हो, उपवास आदि कर रहे हो तो उस पुण्यक्रिया के समय तो पाप मत करो। आचार्य महोदय यही कह रहे हैं कि उपवास के दिन पाँचों पापों को मत करो। महानुभाव! आचार्यों ने कहा है-

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

उपवास का मूल उद्देश्य कषाय, विषय और आहार का त्याग करना है। जिसमें मात्र आहार का त्याग किया जाता है, कषाय और विषयों-स्पर्शनादि पँचइन्द्रियों के विषयों का त्याग नहीं किया जाता वह उपवास नहीं कहलाता किन्तु लंघन कहलाता है। इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए आचार्यों ने उपवास के दिन न करने योग्य कार्यों में सर्वप्रथम निर्देश दिया कि पँचपापों का त्याग कर देना चाहिए।

कदाचित् यहाँ कोई कहे कि यदि पापों का, आरंभ-सारंभ आदि का त्याग न बने तो मात्र आहार-जल का त्याग कर नाहक भूखा क्यों मरना चाहिए, इससे तो उपवास ही न करें तो

अच्छा है। परंतु इसका समाधान यह है कि शास्त्रों में उपवास न करने का उपदेश नहीं है, शास्त्रों में तो उत्तम प्रकार के व्रतों का वर्णन है फिर भी जिससे जितना त्याग बन जाए उतना अच्छा है। आगे फिर कोई प्रश्न करे कि हिंसादि पाँचों पापों का त्याग तो पाँच अणुव्रतों में ही आ जाता है, फिर यहाँ प्रोषधोपवास में तथा पहले सामायिक में दुबारा इनका त्याग क्यों बतलाया? इसका उत्तर है कि इन पाँचों पापों का त्याग अणुव्रतों में तो स्थूल रूप से बतलाया है। वहाँ पर केवल एकदेशत्याग है परंतु यहाँ सामायिक व प्रोषधोपवास में मुनियों के समान पाँचों पापों का सर्वथा त्याग बतलाया है। इसलिए यह त्याग महान् व्रत के समान है।

आगे आचार्य महोदय ने कहा–**''अलंक्रियारंभगंधपुष्पाणां''** भव्य पुरुषों को उपवास के दिन रागादिक विकारों की वृद्धि करने वाली, पाप को बढ़ाने वाली शृंगार आरंभ-सारंभ, गंध-पुष्पादि से शरीर को सुसज्जित करने रूप-क्रियाओं का भी त्याग कर देना चाहिए। शरीर को उज्ज्वल दीप्तिमान वा कामोत्पादक करने को शृंगार कहते हैं अथवा तिलक, सुंदर हार, वस्त्राभूषणों से शरीर को सुशोभित करना अलंक्रिया कहलाती है। उन सभी क्रियाओं का उपवास के दिन त्याग कर देना चाहिए और विरक्त भाव से रहना चाहिए। ऐसा नहीं कि आज उपवास है और शृंगार-अलंकार धारण कर रहे हो। **'गंध-पुष्पाणां'** सुगंधित पुष्प, इत्र, फुलेल आदि का लेपन भी न करो। कुछ महिलाएँ सोचती हैं आज तो उपवास है कुछ करना नहीं तो चलो शृंगार आदि करके ही समय व्यतीत कर लो, यह गलत है। उपवास के दिन आरंभ नहीं करना चाहिए। आरंभ से बचो। खेती नहीं, व्यापार नहीं, भोजन बनाना नहीं, वस्त्र धोना नहीं। नहीं तो कुछ महिलाएँ क्या करती हैं कि उपवास के दिन रसोई का तो ताला लगा है और जितने कपड़े रखे थे धोने के लिए सब धो डाले। उपवास है झाड़ू ली सफाई में जुट गए, ऐसा नहीं करना चाहिए, कोई आरंभ-सारंभ नहीं करना चाहिए।

आगे आचार्य महोदय ने न करने योग्य कार्यों में 'स्नानं' स्नान का भी निषेध बतलाया क्योंकि सर्वप्रथम शरीर को उज्ज्वल करने का कार्य स्नान है। उद्वर्तन (साबुन) आदि के द्वारा शरीर को स्वच्छ करने को स्नान कहते हैं, अतः स्नानक्रिया का आरंभ करना, अलंकार क्रिया आरंभ कहलाता है। जल से किए गए साधारण स्नान का निषेध नहीं है क्योंकि उपवास के दिन शुद्धि तो करें किंतु ऐसा नहीं कि उस दिन विशेष स्नान करने बैठ गये; क्योंकि बिना शुद्धि किए जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक तथा पूजन आदि की क्रिया नहीं हो सकती। पुनः कहा **'अञ्जनं नस्यानां'** आँखों में काजल-सुरमा लगाने का त्याग करना, नाक में डालने वाले नस्य अथवा सूंघने का त्याग करना चाहिए। 'परिहृति' कुर्यात्' उपवास के दिन इन सभी कार्यों

का परित्याग करना चाहिए। इस श्लोक में जिन कार्यों के न करने के लिए आचार्य महोदय ने निर्देश किया है वे उपलक्षण मात्र हैं, इसलिए रागवर्धक गीत नृत्य आदि का भी उस दिन त्याग करना चाहिए जिससे आपका उपवास करना सफल और सार्थक हो जाएगा।

आप सभी अन्य-अन्य पापों का भी त्याग करें, सावद्यों से बचें, शुभ मे लगें समीचीन व सम्यक् रूप से उपवास करें व उसके फल को प्राप्त करें ऐसी भावना आप सभी के प्रति भाते हुए अपनी शब्द शृंखला को विराम देता हूँ। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

उपवास के दिन का कर्त्तव्य

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः॥108॥

अन्वयार्थ–उपवसन् – उपवास करने वाला श्रावक, **अतन्द्रालुः** – आलस्य रहित, **सतृष्णःसन्** – अत्यंत उत्कंठित होता हुआ, **श्रवणाभ्यां** – कानों से, **धर्मामृतं** – धर्म रूपी अमृत को, **पिबतु** – पान करे और, **अन्यान् पाययेत्** – दूसरों को भी पान कराए, **वा** – तथा, **ज्ञानध्यान-परः भवतु** – ज्ञान ध्यान में लीन होवे।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में चार शिक्षाव्रतों में तृतीय शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास व्रत के संबंध में चर्चा चल रही है। यह व्रत वास्तव में साधु बनने का साक्षात् हेतु है। क्योंकि कई गृहस्थ, महाव्रती इसलिए नहीं बन पाते हैं क्योंकि वे कहते हैं हमसे भूखा नहीं रहा जाता, दिन में 3-4 बार भोजन करना पड़ता है, प्यास को सहन नहीं कर पाते। अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करने वाला व्यक्ति आज नहीं तो कल एकासन की साधना को सहजता में ग्रहण कर लेता है। जब उपवास की साधना हो जाती है तो एकासन की साधना भी शुरू हो जाती है। अभी तो वह सप्तमी और नवमी को एकासन करता था अष्टमी को उपवास, त्रयोदशी व पूर्णिमा/अमावस्या को एकासन करता था चतुर्दशी का उपवास। इस तरह वह पक्ष में चार व माह में आठ एकासन करता था। चार उपवास आठ एकासन होने से 12 दिन तो उसने साधना के निकाल लिए, बीच के दिनों में दो आसन भी करे तब भी आराम से कर सकता है। प्रत्येक माह में चार उपवास करने हैं और चार उपवास निरन्तरता में नहीं एक सप्ताह में लगभग एक उपवास और दो एकासन। इस प्रकार सप्ताह के 7 दिन में से 3 दिन ऐसे निकल गए, बचे हुए 4 दिन में यदि दो आसन भी करता है तो उसे मौका पड़ जाए तो एकासन करने में भी संक्लेशता नहीं बनेगी।

महानुभाव! यह साधना मुनि या आर्यिका बनने के लिए बहुत कार्यकारी होती है। वह श्रावक फिर जल्द ही अनुकूलता मिलने पर महाव्रती बन जाता है और जिस श्रावक ने घर में रहकर के अष्टमी-चतुर्दशी का उपवास नहीं किया या एकासन भी नहीं करता है, वह कहता है भाई! मैं तो दो बार भोजन और 4-5 बार पानी पीता हूँ, यकायक एकासन कर ही नहीं सकता। मृत्यु की बेला भी समीप आ जाए तब भी कहता है मैं भोजन नहीं छोड़ सकता और जिसने अभ्यास किया होगा वह जब चाहे मुनि-आर्यिका बन सकते हैं।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि उपवास के दिन क्या-क्या कार्य करने चाहिए। पूर्वकारिका में बताया था कि क्या-क्या कार्य नहीं करने चाहिए; जिनसे उपवास खण्डित हो जाता है, यूँ समझें किसी माली ने अपने बाग में पेड़ लगाया, उस वृक्ष की सिंचाई भी की, सुरक्षा भी की किन्तु उस पेड़ के फलों को खाने वाले जीव-जंतु वहाँ पर उपलब्ध हैं तो फल के लगते ही, फल के पकने से पहले ही उन्हें खराब कर देंगे। उन जानवर-पशु-पक्षियों से रक्षा नहीं की तो पेड़ लगाने का श्रम व्यर्थ चला गया। इसलिए पहले तो जिससे उपवास करने का फल निष्फल हो जाए उन विघ्न बाधाओं को दूर करना है, उपवास के दिन उन-उन कार्यों को नहीं करना है। अब उस वृक्ष पर पक्षी फलों को खराब नहीं करे, उस फल को कीड़ा नहीं लगे इसलिए खाद आदि डालकर उसकी सुरक्षा करेंगे। अब आप ऐसा क्या करेंगे कि उस वृक्ष में फल ज्यादा से ज्यादा लगें? गाय अधिक से अधिक दूध दे तो चारा-दाना अच्छा खिलाओगे, गुड़-तेल पिलाओगे। जब गाय का आहार पौष्टिक होगा तो गाय का दूध बढ़ेगा, दूध में घी की मात्रा भी बढ़ेगी और गाय को यदि भरपेट भोजन ही नहीं दिया जाए, रूखी-सूखी घास दी जाए, भूसा डाल दिया जाए, पानी भी पूरा नहीं मिल रहा है तो दूध कहाँ से दे पाएगी। दूध-पानी तो दूर अपने शरीर की स्थिति भी संभाल नहीं पाएगी। ऐसे ही उपवास व्रत का पालन करने के लिए उपवास के दिन उन कार्यों को छोड़ देना चाहिए। वृक्ष में जल सिंचन करो, अच्छी खाद दो, सूर्य का पर्याप्त प्रकाश आवे, जन समूह वहाँ रहे जिससे उनके द्वारा छोड़ी गई कार्बनडाईऑक्साइड वृक्षों को प्राप्त होती रहे तो वह वृक्ष मुदित होंगे, आनंदित होंगे, उन पर पुष्प और फल ज्यादा लगेंगे।

महानुभाव! जैसे गाय को पौष्टिक आहार देने से दूध की मात्रा बढ़ती है ऐसे ही व्रत के फल की मात्रा बढ़े। जिन कार्यों से उपवास में दोष लगता है उन्हें छोड़कर के जिन क्रियाओं के करने से उपवास पौष्टिक बनता है, उपवास अपना पूर्ण व समीचीन फल देने में समर्थ होता है उन क्रियाओं को अपने जीवन में स्थान देना चाहिए।

जो व्यक्ति उपवास करने वाला है वह अपनी तृषा को कैसे बुझाए? उपवास करने में भोजन-पानी का त्याग किया जाता है, तो उस दिन भी भोजन-पानी की स्मृति तो आएगी, उस दिन भी शरीर भोजन-पानी माँगेगा, प्यास तो लगेगी, उसे कैसे बुझाएँ, भूख लगेगी तो उसे कैसे शांत करें? घर में तेल नहीं है तो घी का प्रयोग कर लो, घी नहीं है तो तेल का प्रयोग कर लो। अल्टरनेट खोजा जाता है। जब शरीर के लिए भोजन नहीं दे रहे तो शरीर संतुष्ट कैसे होगा? उस शरीर से वह कार्य नहीं करना है जिससे सर्वाधिक ऊर्जाशक्ति खर्च होती है। वह कार्य है

कामसेवन, कषाय, उत्तेजना, पापकार्य, इन कार्यों को छोड़ दोगे तो ऊर्जाशक्ति संचित रहेगी। फिर भोजन नहीं करोगे तो एक दिव्य भोजन होता है वह मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से किया जाता है। जब शुद्ध मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है तो तीनों योग शुद्ध मन-वचन-काय की वर्गणा को ग्रहण करते हैं। शुद्धवर्गणा ग्रहण करने वाले व्यक्ति को बाहर से भोजन ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उपवास में विशुद्धि बढ़ रही है तो भूख-प्यास का अहसास नहीं, संक्लेशता बन रही है तो मन में यही चलता रहेगा कब सवेरा हो कब भोजन करूँ, वह घड़ी ही देखता रहेगा। ऐसे उपवास नहीं कहा। उपवास करो किंतु उसके साथ-साथ धर्मध्यान भी करो। धर्मध्यान करोगे तो उपवास सार्थक है। आर्त्तरौद्र परिणामों का त्याग करना आवश्यक है, अनिवार्य है, धर्मध्यान करना आवश्यक है तभी उपवास सार्थक है।

एक बालक ने उपवास करने का मन बनाया, माता-पिता से कहा तो माता-पिता ने समझाया-बेटा! अभी एकासन का अभ्यास करो, पर बेटा नहीं माना और जिद कर गया। बालहठ थी, उसे अपनी शक्ति का अंदाज नहीं था। उसकी माँ धर्मात्मा थी, समझदार थी। माँ ने दिन में कहा बेटा पानी ले लो, पर नहीं लिया, बेटे का दिन तो सभी मित्रजनों के साथ निकल गया, अब रात्रि हुई तो उसे भूखे पेट नींद नहीं आ रही। वह करवटें बदलने लगा। माँ ने कहा-णमोकार मंत्र पढ़ो, भक्तामर पढ़ो, थोड़ी सी झपकी लगी, पर पुनः थोड़ी देर में आँख खुल गई। माँ ने ठंडे पानी से हाथ-पैर धुलाए पर बेटे की आकुलता तो बढ़ती ही जा रही थी। वह बोला माँ आप ये बताओ, आपके कितने बेटे हैं? माँ ने कहा बेटा ऐसा क्यों पूछते हो, तुम जानते तो हो मेरे चार बेटे हैं, हाँ माँ जानता तो हूँ कि आपके चार बेटे हैं किन्तु सवेरे तक तीन बेटे बचेंगे। माँ ने समझाया तुम चिंता न करो, तुम्हें कुछ नहीं होगा। माँ उसे महापुरुषों की कहानियाँ सुनाने लगी कि किस प्रकार महापुरुष प्रतिकूलताओं में भी दृढ़ रहते हैं, नरक के बारे में समझाने लगी, उन त्यागी-व्रतियों के बारे में सुनाने लगी जो 32-32 उपवास करते हैं। बालक मन लगाकर सुनने लगा और सुनते-सुनते प्रातःकाल हो गया। सुसंस्कार वाली माँ ने अपने पुत्र को धर्म से भ्रष्ट होने से बचा लिया और उपवास धर्मपूर्वक करवा दिया।

महानुभाव! उपवास करो और धर्मध्यान में लग जाओगे तो उपवास की आकुलता नहीं बढ़ेगी यदि माँ संस्कारवान् न होती तो बालक च्युत भी हो सकता था। आचार्य महोदय भी यही कह रहे हैं- 'धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां' वह श्रावक धर्म रूपी अमृत का पान करे। जो धर्मामृत पीता है फिर उसे बाहर के अमृत की आवश्यकता नहीं पड़ती है। लवण समुद्र का खारा पानी पीने वाले व्यक्ति को यदि मीठा पानी मिल जाए तो उस खारे पानी को क्यों पीना

चाहेगा। ऐसे ही जो व्यक्ति अभी सामान्य जल पी रहा था उसे धर्म का जल मिल जाए तो उसका अंतरंग इतना पुलकित हो जाता है जैसे रंक को कोई निधि मिल गई हो, क्षुधातुर को भोजन मिल गया हो, चिरकाल के भटके हुए किसी राहगीर को सही रास्ता मिल गया हो, जैसे माँ से बिछुड़े बालक को उसकी माँ मिल गई हो या दीर्घकाल से किसी नेत्र ज्योति से विहीन व्यक्ति को नेत्र ज्योति मिल गई हो। ऐसे ही धर्म रूपी अमृत का पान करने वाले व्यक्ति का कंठ कभी शुष्क नहीं होता। जो भगवान् का ध्यान करता है उसे लगता है उसका गला ही तर हो गया। वह जल धारणा का ध्यान करता है, चन्द्रकांतमणि से निरत भगवान् चन्द्रप्रभु का ध्यान करता है। अथवा जल बीजाक्षरों का ध्यान करता है, उससे शरीर में शीतलता का अनुभव होता है और कंठ तर जैसा हो जाता है। उसके परिणामों के अनुसार शरीर में विद्यमान जो ग्रन्थियाँ हैं उनमें से हार्मोन्स स्रवित होते हैं वे उस कमी को पूर्ण कर देते हैं। कषाय आदि के उद्वेग से शरीर का पानी जल जाता है और जल धारणा का ध्यान करने से शरीर में जल की कमी नहीं आ पाती।

तो यहाँ कहा धर्मामृत का पान करें। किन्तु हाथ की अंजुली बनाकर नहीं दोनों कर्ण की अंजुली बनाए। और कैसे करें? **'सतृष्णः'** बहुत तृषावान् होकर, जैसे प्यासा व्यक्ति पानी मिल जाए तो जल्दी-जल्दी पीता है, भूखा व्यक्ति भोजन मिल जाए तो जल्दी-जल्दी करता है ऐसे ही तृषावान् होकर के धर्म के अमृत का पान करो। और सिर्फ अकेला पान नहीं करें वरन् 'पायेत् अन्यान्' दूसरों को भी धर्मामृत का पान कराएँ। ऐसा नहीं धर्म की पुस्तक मिली, शास्त्र मिला तो छिपाकर रख दिया या अलमारी में ताला लगा दिया कि दूसरा पढ़ न पाए। ऐसा करने से अंतराय कर्म का बंध होगा। ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम बढ़ेगा नहीं वरन् ज्ञानावरणी कर्म का बंध हो जाएगा। कुछ लोग ग्रंथों को अलमारी में बंद करके रख देते हैं और फिर कहते हैं पता नहीं महाराज जी पहले हमारा क्षयोपशम (Memory) बहुत अच्छी थी अब पता नहीं कुछ याद नहीं होता, न याद रहता। भैया! तुमने पहले तो अलमारी में शास्त्रों को बंद कर दिया, मंदिर में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष बन गए और अलमारियों का ताला लगाकर चाबियाँ अपने पास रख ली, कोई स्वाध्याय करने वाला स्वाध्याय नहीं कर सकता इससे तुम्हारा क्षयोपशम घटेगा नहीं तो और क्या होगा। इसलिए यहाँ कहा ज्ञानामृत का पान स्वयं करना है और दूसरों को कराना है।

आगे कहा-**'ज्ञानध्यानपरो वा'** जो सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है वह सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान में चित्त की एकाग्रता हो जाना, जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा में चित्त की एकाग्रता हो

जाना ध्यान बन जाता है इसलिए श्रावक ज्ञान-ध्यान में तत्पर रहे। 'भवतु उपवसन अतंद्रालु' वह उपवास करने वाला आलस्य रहित होना चाहिए, ऐसा नहीं कि उपवास किया और चद्दर तानकर सो गए, शाम तक भी जगे नहीं, ऐसा नहीं करना है। निद्रा का त्याग करे, रात्रि जागरण करे और धर्मध्यान में मन लगाए।

इस प्रकार यहाँ आचार्य महोदय ने प्रोषधोपवास के दिन व्रती पुरुषों को करने योग्य कर्त्तव्यों का कथन किया कि समस्त प्राणियों के संतोष का कारण धर्म रूपी अमृत को वह व्रती ग्रहण करे अपने शुद्ध परिणामों से द्रव्यादिक की शुद्धतापूर्वक तीनों समय सामायिक करे, जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का स्वाध्याय करे, रागद्वेष को दूर करने के लिए, चित्त में विशुद्धि को बढ़ाने के लिए निर्मल बारह भावनाओं का चिंतवन करे, मोक्ष देने वाले शुभ पंचनमस्कार मंत्र का ध्यान व जप करे, भगवान् की पूजा, स्तुति और गुणगान् आदि के द्वारा प्रोषधोपवास के दिन को व्यतीत करना चाहिए। इस प्रकार से उत्तम रीति से प्रोषधोपवास करने वाला व्यक्ति निःसंदेह उपवास के फल को प्राप्त करने में सफल होता है, आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रोषध, उपवास और प्रोषधोपवास का लक्षण

चतुराहार-विसर्जन-मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति॥109॥

अन्वयार्थ–चतुराहार-विसर्जनम् – चारों प्रकार के आहर का त्याग, **उपवासः** – उपवास होता है, **सकृद्भुक्तिः** – एक बार भोजन करना, **प्रोषधः** – एकासन होता है, **यत्** – जो, **उपोष्य** – उपवास करके, **आरम्भं –** एकाशन को, **आचरति** – करता है अर्थात् एकाशन के साथ उपवास करता है **स** – वह, **प्रोषधोपवासः** – प्रोषधोपवास है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समन्तभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत की चर्चा चल रही है; आचार्य महोदय उसे विस्तार से समझा रहे हैं। तीन प्रकार के शिष्य होते हैं एक मेधावी, एक मंदबुद्धि और एक मध्यममार्गी। जो मेधावी होते हैं उनके लिए सूत्र रूप में रचना की जाती है, जो मध्यममार्गी होते हैं उनके लिए टीका की जाती है और जो मंदबुद्धि होते हैं उनके लिए विशेष व्याख्यान-भाष्य आदि किए जाते हैं। आचार्य महोदय ने प्रारंभ में ही प्रोषधोपवास शब्द कहकर मेधावी शिष्यों के लिए उस व्रत का स्वरूप कहा, मध्यममार्गी शिष्यों के लिए प्रारंभ की 2-3 गाथाओं को देकर बता दिया किंतु जो मंदबुद्धि हैं उनके लिए विस्तार से समझाना जरूरी है। जब विस्तार से कोई विषयवस्तु समझ में आती है तो उसमें भ्रमित होने की संभावनाएँ कम होती हैं। कई बार व्यक्ति जल्दबाजी में पूरी बात समझ नहीं पाता है और भटक जाता है। इसलिए हमें अवसर मिला है तो व्याख्यान पूरा सुनना चाहिए, आधा व्याख्यान सुनने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

कहीं दरवाजा लगा था, वहाँ लिखा था-'यह आम रास्ता नहीं है। संयोगवशात् जहाँ नहीं शब्द लिखा था वहाँ खिड़की थी, खिड़की खुली, वह पल्लड़ पीछे की ओर चला गया, अब लिखा दिखाई दे रहा था-'यह आम रास्ता है' व्यक्ति निकल कर जा रहे थे तो चौकीदार ने रोका-व्यक्ति बोला रोक क्यों रहे हो? चौकीदार ने कहा, यह बोर्ड लगा है दिखाई नहीं देता क्या, मैं यहाँ का चौकीदार हूँ। व्यक्ति बोला जब ऐसी बात है तो यहाँ बोर्ड क्यों लगाया, यह आम रास्ता है। वह बोला पूरी बात पढ़ो, खिड़की बंद करके दिखाया तो पूरी बात पढ़ी ये आम रास्ता नहीं है, जिनकी यह कोठी है उनके जाने का रास्ता है। ऐसे ही आधी बात समझकर लोग कह देते हैं, हाँ-हाँ हमें पूरी बात समझ आ गई। थोड़ी देर बाद पूछा, क्या समझ में आया? पता नहीं? या फिर उल्टी ही बात समझ गए। तो ऐसा करना ठीक नहीं है। अधूरी बात और बिना प्रसंग की बात अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में असमर्थ होती है।

एक महिला अपने बालक को औषधि दिलवाने के लिए किसी वैद्य के पास गई, वहाँ अपने बालक को खड़ा करके बाहर काउन्टर पर पर्चा बनवाया और वैद्य से मिली। वैद्य ने कहा–बालक को अभी मैं नहीं देख सकता, वह जब खाली पेट होगा तभी सही जाँच हो पाएगी, आप दुबारा आना, अभी तत्काल के लिए तो आप ये औषधि ले लो। वह महिला लौट गई। दूसरी बार पुनः वह आई, उसके पास कोई साधन नहीं था, वह अपने बालक को गोदी में लेकर 4 कोस (12 किमी.) चलकर आई थी। प्रातःकाल चलना प्रारंभ किया और 3 घंटे में पहुँची। सोचा आज बालक को खाली पेट लायी हूँ। बालक तो बार–बार भोजन माँग रहा था पर माँ ने कहा बेटा जाँच होने के बाद जल्दी ही खिलाऊँगी और कहकर बेटे को बाहर छोड़ शीघ्रता से काउन्टर पर पर्ची बनवाने चली गई। वैद्य के दवाखाने के सामने बहुत सारी दुकानें थी, होटल भी था। एक युवा बालक आया उसने होटल से नाश्ता किया, उसने देखा ये बालक मुँह सुखाये और टकटकी लगाए उस युवा को देख रहा है। उस युवा को दया आयी और पास बुलाकर कहा बेटा खाओगे? बेटे ने सिर हिला दिया, उस युवा ने उस बालक को पेट भरकर नाश्ता करा दिया। वह बालक नाश्ते का अंतिम ग्रास ले रहा था कि उसकी माँ आ जाती है, कहती है अरे! ये कौन व्यक्ति है जिसने इसे भोजन कराया, मैं तो 12 km पैदल चलकर बेटे को खाली पेट लायी थी इसकी जाँच कराने के लिए, इतनी मजबूरी में आई की, अब क्या करूँ।

महानुभाव! युवा ने प्रसंग को जाने बिना उस बालक को नाश्ता कराया, क्या उचित किया? नहीं। दया भी करो तो सोच समझकर करो, कहाँ दया करनी है। दूसरा प्रसंग और भी है–एक महिला ने कहा कल जन्मदिवस है, मित्रों को बुलाना है, तैयारी अच्छे से कर लेते हैं और श्रीमान् जी से कहा–आप बाजार से सामान ले आइए। सब सामान आ गया, शाम को पूछा–आप सब चीजें ले आए, श्रीमान् जी बोले वैसे तो सब ले आया हूँ फिर भी तुम लिस्ट चेक कर लो। महिला ने देखा तो एक दो वस्तु कम थी, उसने कहा आप टमाटर तो लाए नहीं, वो तो जरूरी हैं आप अभी चले जाओ, प्रातःकाल वह नहीं मिलेंगे। पति ने कहा–अब तो मैं थक गया तुम अपने बगीचे में लगे टमाटर ले लेना। वह बोली वहाँ तो कड़वे टमाटर होते हैं, बोला–नहीं–नहीं ऐसा नहीं है, तुम वहीं से ले लेना।

महिला बगीचे से टमाटर ले आई, प्रातःकाल भोजन बनाया, रसोई तैयार की। सभी मेहमान आए व भोजन किया। महिला बड़ी समझदार थी, उसे शंका थी कि टमाटर कड़वे और विषाक्त हो सकते हैं इसीलिए किसी को चखाकर ही मेहमान को खिलाया जाना चाहिए। उसके घर में एक श्वान था। उसने अपने पालतू कुत्ते को वह खिलाया, देखा कि खाकर कुत्ते को कुछ

भी नहीं हुआ, वह ठीक है, महिला ने समझा टमाटर कड़वे एवं विषाक्त नहीं हैं और समस्त मेहमानों को टमाटर की सब्जी बनाकर खिलाई। भोजन के उपरांत सब जाने को तैयार थे तभी उनकी बेटी दौड़ती हुई आयी-माँ-माँ मोती निपट गया। मोती इस कुत्ते का नाम था। यह सुन माँ घबरा गई, बोली ठहरो! सभी मेहमानों को रोक लिया। तुरंत डॉक्टर को फोन लगाकर पूछा कि कड़वे, विषाक्त टमाटर पेट में पहुँच जाए तो क्या करना चाहिए, पूरी बात डॉक्टर को बताई। डॉक्टर ने कहा-शीघ्रता से सभी को रेचक औषधि दे दो ताकि सबको उल्टी-दस्त लग जाएँगे जिससे वह हानिकारक पदार्थ निकल जाएगा। ऐसा ही किया गया, सभी अतिथि लस्त-पस्त हो गए और जैसे-तैसे अपने-अपने घर पहुँचे। महिला बड़ी दु:खी थी, जन्मदिन पर सभी को परेशान होना पड़ा।

शाम को पति-पत्नी व बेटी सब एक साथ बैठे थे, तभी छोटी बेटी बोली—माँ उसको तो बहुत पाप लगा होगा ना? माँ ने कहा किसको? माँ उसको जिसने हमारे मोती पर गाड़ी चढ़ा दी थी। मतलब? हाँ माँ, मैंने बताया ना कि अपना मोती निपट गया, उस व्यक्ति ने हमारे मोती पर गाड़ी चढ़ा दी तभी तो वो बेचारा मर गया। बेटी-मोती गाड़ी के नीचे आकर मरा था। ओह ऽऽ मैंने पूरी बात क्यों नहीं सुनी। सिर्फ इतनी बात सुनकर कि मोती निपट गया, बिना कारण जाने ही समागत अतिथियों को रेचक पदार्थ दिया।

महानुभाव! इस प्रकार हम और आप भी अपनी बुद्धि को श्रेष्ठ समझकर पूरी बात सुनते ही नहीं। इसीलिए आचार्य महोदय मेधावी जन, मध्यममार्गी व मंदबुद्धि तीनों प्रकार के शिष्यों को समझा रहे हैं कि प्रोषधोपवास व्रत का पूरा स्वरूप क्या है यह अच्छे से समझ में आ जाए तो उसका पालन करना शुरु करो।

यहाँ आचार्य महोदय के शब्दों में सुने कि क्या है प्रोषध और क्या है उपवास, वे क्या कहना चाह रहे हैं, 'चतुराहार विसर्जनम्' उनकी समझाने की शैली या जो तथ्य वो बताना चाहते हैं उसे यहाँ देखते हैं-

चार प्रकार के आहार खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय का त्याग करना। खाद्य-ठोस आहार, दाल, रोटी, पूड़ी, पकवान आदि जिसकी तृप्ति अन्य किसी से नहीं होती। दूसरे शब्दों में कहें तो 'अन्न'। जब पेट में अन्न पहुँचता है तो जठराग्नि अन्न के माध्यम से ही तृप्त होती है अन्यथा केवल पानी या अन्य पेय पीने से तृप्ति नहीं होती। अन्न मूल आहार है। जैसे वृक्ष की मूल जड़ होती है उसे अलग करने पर शेष जड़ें वृक्ष की स्थिती को बनाए रखने में असमर्थ होती हैं ऐसे ही अन्न का त्याग कर देने पर शेष आहार से वह तृप्ति नहीं मिलती और शरीर की

शक्ति भी घटने लगती है। अन्न के माध्यम से भोजन का मुख्य तत्त्व कार्बोहाइड्रेट प्राप्त होता है, चपाती के साथ ग्रहण करने वाली दालों में प्रोटीन पाया जाता है और चपाती में घी जिसमें वसा होता है जिससे ऊर्जा प्राप्त होती है, इस प्रकार खाद्य आहार या ठोस आहर अथवा यूं कहे अन्न के माध्यम से शरीर को कार्बोहाइड्रेड, प्रोटीन, वसा, लवण, विटामिन प्राप्त होते हैं इसलिए खाद्य आहार मुख्य है।

उसके बाद आता है स्वाद्य, जिससे पेट नहीं भरता, जो सिर्फ स्वाद के लिए ही होता है। सोंफ, इलायची, लवंग आदि का सेवन। लेह्य आहार स्वाद और खाद्य के बीच की स्थिति है जिससे पेट में आधा पहुँचता है। लेह्याहार बालक से लेकर वृद्ध तक के लिए उपयोगी होता है। इसके उपरान्त होता है पेय आहार वह भी सबके लिए अनिवार्य है। जिस प्रकार तन के लिए चार प्रकार का आहार होता है उसी प्रकार चेतना के लिए भी चार प्रकार का आहार होता है। उस चेतना के आहार को कहते हैं प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग संबंधी आहार।

जो मुख्य आहार है, ठोस आहार है, जिसे खाद्य कहते हैं वह चेतना के लिए है प्रथमानुयोग। प्रथमानुयोग के बिना कोई आधार नहीं बनता है। उसके बाद कोई स्वाद्य आहार है तो वह है द्रव्यानुयोग, जिसकी एक लाइन पढ़कर चिंतन करते चले जाओ। फिर है लेह्य आहार वह है करणानुयोग और पेय आहार जिसकी सबको अनिवार्यता होती है वह है चरणानुयोग। चरणानुयोग जीवन में अंगीकार करना आवश्यक होता है। यह आत्मा का चार प्रकार का आहार है, जिसकी चेतना को अत्यंत आवश्यकता होती है। जैसे शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है, जिससे शरीर निरोगी रहे, पुष्ट रहे, शक्तियुक्त रहे, उसे चार प्रकार का आहार चाहिए ही चाहिए; उसी प्रकार आत्मा पुष्ट रहे इसके लिए आत्मा को भी चारों अनुयोग रूपी आहार चाहिए ही चाहिए।

चारों प्रकार के आहार का त्याग करना और आत्मा का यदि उपवास कराना है तो चार संज्ञा और चार कषायों को छोड़ो, पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग करो और पाँच पापों का त्याग करो तब निःसंदेह आत्मा का सही उपवास होता है। ये आत्मा अनर्गल वस्तुओं का सेवन कर रही है जो आत्मा के लिए हानिकारक है। अब बताते हैं प्रोषध क्या है **'प्रोषधः सकृद्भुक्तिः'** शकृत और सकृत दोनों में अंतर है। सकृत माने एक बार, शकृत माने गंदगी, विष्ठा। आपने एक सूक्ति सुनी होगी—एक राजा अपने पुत्र से कहता है—हे पुत्र! यदि तुम ज्यादा नहीं पढ़ सकते तो कम से कम व्याकरण पढ़ो, व्याकरण पढ़ने से सकलं-शकलं भेद ज्ञान हो पाता है। सकल अर्थात्-सम्पूर्ण, शकल का अर्थ होता है टुकड़ा। तो यहाँ 'सकृत भुक्ति' कहा अर्थात्

एक बार भोजन करना उसी समय पानी पीना, बाद में कुछ भी ग्रहण नहीं करना एकासन कहलाता है। 'यदुपोष्यारम्भमाचरति'-जो उपवास करके एक बार भोजन करता है अर्थात् पहले एकासन फिर उपवास फिर एकासन करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

इस प्रोषधोपवास व्रत को जघन्य, मध्यम व उत्तम के भेद से तीन प्रकार का कहा है। इन तीनों में स्व शक्ति अनुसार करना चाहिए। जिनकी शक्ति उपवास करने की है उनको प्रोषधोपवास करना चाहिए, जो पित्त के प्रकोपवश, उपवास करने में असमर्थ हैं, जिन्हें आधा आहार की अपेक्षा उपवास में अधिक थकान होती है, उन्हें अवमौदर्य तप करना चाहिए अर्थात् उपवास करने में असमर्थ श्रावक के द्वारा जल को छोड़कर शेष चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। जल पीकर भी उपवास की शक्ति नहीं है तो आचाम्ल, निर्विकृति भोजन करना चाहिए। यदि इतना भी शक्य नहीं है तो एकासन तो अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य भगवन् ने कहा कि प्रोषधोपवास व्रतों में, पर्व के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर नियमपूर्वक उपवास, अनुपवास, अवमौदर्य, ऊनोदर, एकासन आदि ग्रहण करना चाहिए। जो सम्यग्दृष्टि सांसारिक विषयभोगों से विरक्त होकर उत्तम, मध्यम वा जघन्य में से कोई भी नियम व्रत को पालन करता है वह प्रचुर पापों को नष्ट करता है और क्रमशः स्वर्ग व मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रोषधोपवास के अतिचार

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलंघन-पञ्चकं तदिदम्॥110॥

अन्वयार्थ–अदृष्टमृष्टानि – बिना देखे शोधे, **ग्रहणः** – ग्रहण करना, **अदृष्टमृष्टानि विसर्गः** – बिना शोधे-बिना देखे छोड़ना, **अदृष्टमृष्टानि आस्तरणानि** – बिना देखे-शोधे बिछाना, **च** – और, **अनादरास्मरणे** – अनादर करना, भूल जाना, **तत्** – सो, **इदम्** – ये, **प्रोषधोपवासव्यतिलंघन- पञ्चकम्** – प्रोषधोपवास के पाँच अतिचार हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत का स्वरूप आचार्य महोदय ने अनेक प्रकार से बताया कि उपवास कैसे करना चाहिए, उपवास के दिन क्या नहीं करना चाहिए, क्या कार्य करना उस दिन आवश्यक है, किस प्रकार की क्रियाएँ करें और न करें, अन्तरंग की परिणति कैसी होनी चाहिए, किस प्रकार कषायों का शमन करें, इन्द्रिय विषयों के सेवन से दूर रहें, पापमय प्रवृत्ति न करें इत्यादि। उपवास में शांत चित्त रहें, उपवास में निद्रा न लें या थकान को दूर करने के लिए अल्पनिद्रा लें, उपवास के दिन तेल-उबटन-शृंगार स्नानादि ऐसे कार्य भी न करें, उपवास के दिन वस्त्रों की सफाई, घर की सफाई आदि ये सब कार्य नहीं करना चाहिए। उपवास के दिन तो जितना विरक्त चित्त होकर के, शान्त चित्त होकर के वैराग्यभावना, बारहभावना का चिन्तन कर सकें वह करें, जितना हो सके प्रभु भक्ति में मन लगा सकें उतना लगाएँ, उपवास के दिन भोगों की प्रवृत्ति जितनी कम करें उतना अच्छा। उपवास करने पर शरीर को भोजन नहीं मिलता, जब शरीर को भोजन नहीं मिलता है तो शरीर में शिथिलता आ जाती है।

प्रोषधोपवास करने वाला श्रावक या श्राविका जब 16 पहर का उपवास करता है, उस 48 घंटे के उपवास में उसे आकुलता होना स्वाभाविक है। जो प्रतिदिन भोजन करता था, शाम को पानी पीता था अब वह दो प्रतिमा वाला, चार प्रतिमा वाला, पाँच, छह या सात प्रतिमा वाला पर्व के दिन उपवास करता है। प्रोषधोपवास करने से शरीर में शिथिलता आने से संभव है धर्म की क्रिया में शिथिलता आ जाए, संभव है वह उतनी देर तक बैठ न सके, संभव है वह क्रियाओं में इतनी कुशलता न दिखा सके इसीलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं उपवास के दिन भोजन की शक्ति भले ही कम मिली है लेकिन धर्मध्यान के माध्यम से शक्ति का सिंचन करे। वह धर्मध्यान, तत्त्वचिंतन के माध्यम से ऊर्जा शक्ति का संचार करने वाला होता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं प्रोषधोपवास व्रत का जो स्वरूप बताया उस स्वरूप में पाँच दोष लगते हैं, व्रत एक देश खण्डित हो जाता है। इसलिए आचार्य समंतभद्रस्वामी ने श्रावक-श्राविकाओं के लिए पाँच अतिचार बताए। इन पाँच अतिचारों को जानकर वे सभी अपने व्रतों की सुरक्षा कर सकते हैं। जैसे कोई राजा अपने धन की सुरक्षा करने के लिए चौकीदार या पहरेदार लगाता है और उस दिशा में लगाता है जिस दिशा से चोर आने की संभावना होती है, जहाँ से चोरों के आने की संभावना नहीं है वहाँ थोड़े ही लगाएगा। ऐसे ही जहाँ से व्रत में दोष लग सकते हैं उन दोषों से बचने के लिए आचार्य महोदय समाधान कर रहे हैं। ये पाँच द्वार हैं जिनके माध्यम से दोष आते हैं, ये दोष व्रत को दूषित करते हैं। यदि किसी व्यक्ति के ऊपर कोई सामने से प्रहार कर रहा हो, बाण का प्रहार हो तो व्यक्ति ढाल लगा लेता है, एक ढाल एक हाथ में, दूसरी ढाल दूसरे हाथ में, एक सामने लगा ली एक पीछे लगा ली, एक ऊपर लगा ली, ऐसी 5 ढाल लगाता है। ऐसे ही ये 5 प्रकार के दोष संभावित हैं। इन दोषों से बचने के लिए वह श्रावक-श्राविका सावधान रहे।

प्रोषधोपवास में शिथिलता आ जाने से क्रियाओं में प्रमाद आ जाता है, सामर्थ्य उतनी नहीं रह पाती। पहले खड़े-खड़े सामायिक करता था अब सामर्थ्य नहीं तो बैठकर करता है, बैठकर करता था सामर्थ्य नहीं है तो लेटकर भी करता है। यद्यपि सामायिक तो करता है किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है लेटकर सामायिक करना प्रारंभ की तो नींद ही आ गई। कभी ऐसा हुआ कि इतना थक गया कि सामायिक के कृतिकर्म भूल गया, क्या भक्तियाँ करनी हैं, क्या पाठ करने हैं या अन्य जो कार्य करता था, बड़ी सावधानीपूर्वक समितियों का यथायोग्य पालन करते हुए देशसंयम का पालन करता था किन्तु अब शिथिलता आ जाने से नहीं कर रहा है तो ये उसके दोष हैं।

आचार्य महोदय कह रहे-'ग्रहण'-ग्रहण करना, 'विसर्ग'-छोड़ना, 'आस्तरणानि' बिछाना, 'अदृष्टमृष्टानि'-बिना देखे, बिना प्रमार्जन किए। अर्थात् आँखों से देखे बिना, पिच्छी आदि संयम के उपकरण से प्रमार्जन किए बिना, श्रावक-श्राविका है तो अपने हाथ में कोमल वस्त्र रखता है जिससे प्रमार्जन करके बैठता है, कोई वस्तु रखता या उठाता है तो प्रमार्जन करता है। चटाई-पाटा-चौकी को देखकर वहाँ कोई जीव न हो तो उठाता या रखता है किन्तु उपवास किया था, उपवास में शिथिलता आ जाने से किसी वस्तु को बैठे-बैठे खिसकाकर उठा ली या खड़े-खड़े छोड़ दी या लघुशंकादि के लिए गया तो स्थान को देखा नहीं, वहाँ जीव घात हो गया या बिस्तर आसन आदि बिना देखे लगा दिए, नहीं, इस प्रमाद के साथ जीव हिंसा संभव

है। जीवहिंसा नहीं भी हुई तब भी प्रमाद अपने आप में बहुत बड़ा पाप है, सभी पापों का आश्रयदाता है इसलिए आचार्य कह रहे हैं प्रोषधोपवास के दिन अपनी क्रियाओं में शिथिलता मत आने दो। जो वस्तु रखनी या उठानी है तो पहले अच्छी तरह देखो-प्रमार्जन करो पुनः रखो या उठाओ। ऐसा नहीं रात्रि है, अंधेरा है सीधे चटाई पटक दी, वस्त्र पटक दिए, नहीं, यह गलत है, आपके व्रत को सदोष बनाने वाला है। आपको आपके व्रत-उपवास का पुण्य फल मिलना चाहिए किन्तु ये रत्न रूपी कलश में पाँच छेद हो गए जिसमें से अमृत झर जाएगा किंचित् ही आपके हाथ में आ पाएगा। यदि आपके व्रत रूपी अमृत कलश में अतिचार के पाँच छेद नहीं होते हैं तो व्रत का पूरा-पूरा फल आपको अवश्य मिलेगा।

तो यहाँ बताया-बिना देखे, बिना शोधे कोई भी वस्तु उठाना, रखना, बिछाना, ओढ़ना, फैलाना आदि करने में जीवघात हो सकता है। अगला अतिचार है **'अनादर'** धर्म की क्रिया तो कर रहे हैं किन्तु प्रमाद है। अब भगवान् के अभिषेक के लिए वेदी के ऊपर चढ़ना है तो भगवान् का हाथ पकड़कर ही ऊपर चढ़ गए या भगवान् के सामने टिककर बैठ गए अथवा वेदी या मूर्ति से टिक गए, माथे से पसीना बह रहा है, वह पसीना उनसे स्पर्श हो गया, प्रमार्जन का छन्ना नीचे गिर गया तो उसी का प्रयोग कर लिया धोया नहीं, बर्तनों को पहले साफ करते थे फिर जल से पुनः साफ करते थे किन्तु अब शिथिलता आ रही है तो ज्यों की त्यों ही जैसा मिला वैसे ही कार्य प्रारंभ कर दिया, उस क्रिया में शिथिलता कर दी। कुछ क्रिया भूल गए, कुछ याद भी रही तो उसके प्रति आदर का भाव नहीं। तो आचार्य महोदय यहाँ कह रहे हैं कि जिस दिन आपने प्रोषध किया है, शरीर में शिथिलता भले ही आ गई किन्तु आपके उपयोग में शिथिलता बिल्कुल न आए। मन मे शिथिलता आने से शरीर शिथिल होने लगता है। यह शरीर तो आलसी है, कामचोर है, इस शरीर को सदैव कार्य के लिए तैयार रखो। जिसके मन में उत्साह है ऐसा व्यक्ति शरीर से थकता नहीं है, जिस कार्य को करने के लिए आपके मन में उत्साह होता है उस कार्य को करने में आप न दिन गिनते न रात। कई बार दिन भर भोजन भी नहीं मिला-पानी भी नहीं मिला फिर भी निराकुल रहते हैं। कई गृहस्थों को देखा है घर-परिवार में विवाह का माहौल है तो वह अपने भाई-बहिन की शादी में इतना व्यस्त है कि 2-3 दिन हो गए सोया भी नहीं। बताओ, शक्ति कहाँ से आ गई। शक्ति अंतरंग के उत्साह से आती है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं प्रोषध के समय तन से उत्साह शक्ति बनी रहे, उल्लास-उमंग-आनंद जाग्रत करो, इसके माध्यम से शरीर को शक्ति दो। यह शरीर एकतो भोजन से शक्ति प्राप्त

करता है किन्तु दूसरी ओर शरीर अपने उत्साहपूर्वक कार्य से भी शक्ति प्राप्त करता है। जैसे जंगली जानवर सूर्य की किरणों से शक्ति प्राप्त करते हैं, जैसे जहाँ ऑक्सीजन की मात्रा ज्यादा हो तो रोगी को शक्ति प्राप्त होती है, वह बिना औषधि के भी ठीक हो जाता है और पौष्टिक पदार्थों का सेवन किए बिना भी ऑक्सीजन की प्रचुरता से शीघ्र ही रोग दूर हो जाते हैं। तो शक्ति कहाँ से आयी? बाह्य वातावरण से भी शक्ति प्राप्त होती है। भोजन के अलावा मृतिका से भी शक्ति मिलती है, मिट्टी में लेट जाओ शक्ति मिलती है, उसके साथ-साथ ये शक्ति तो बाहर की है, जब मन में विशुद्धि बढ़ती है, आनंद आता है तो अंतरंग से भी शक्ति मिलती है। उस उत्साह के साथ शरीर भी पुनः तैयार रहता है। थोड़ी सी थकान आयी, अल्पनिद्रा ली उस निद्रा से परिश्रम का क्लेश-खेद शांत होता है पुनः स्फूर्ति आ गई।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं—भाई! तुमने प्रोषधोपवास किया है अच्छी बात है, प्रतिदिन आप 5 पूजा करते थे, उपवास के दिन तो दो-चार पूजा बढ़ा दो, ऐसा नहीं कि आज मैंने उपवास किया है तीन ही पूजा करूँगा या एक ही पूजा करूँगा। वैसे तो आप दो-ढाई घंटे की सामायिक करते थे किंतु आज उपवास किया है तो घंटे या 1/2 घंटे ही करूँगा, अरे! आपने उपवास धर्मध्यान की वृद्धि के लिए किया है, यदि उस उपवास से धर्मध्यान की वृद्धि नहीं की तो घाटे का सौदा हो गया, सुबह से शाम तक सो गए तो घाटा हो गया, धर्मध्यान घटना नहीं चाहिए अपितु बढ़ना चाहिए। उपवास में सामायिक को बढ़ाओ, स्वाध्याय को बढ़ाओ, चिंतन को बढ़ाओ, धर्मात्माओं की संगति में बैठो, वैय्यावृत्ति में लगो, आहारादि दान में प्रवृत्ति करो, मन लगाकर पुण्य कार्य करो उसमें आपको आनंद आएगा। और यह आपका अनुभव होगा कि जब कभी भी आप मन लगाकर किसी कार्य को करते हैं तब आपको अच्छा लगता है और थकान भी नहीं होती। किसी भी कार्य को बेमन से करते हैं तो छोटा सा कार्य भी थका देता है। इसीलिए प्रोषधोपवास व्रत को भी उत्साह-उमंग व हर्ष के साथ सम्पन्न करो। उसके अतिचारों से बचो, बिना देखे—बिना शोधे कोई वस्तु न उठाओ, न रखो, न बिछाओ, साथ ही धर्म की किसी भी क्रिया के प्रति अनादर का भाव मन में नहीं आए और धर्म कार्यों व क्रियाओं को विस्मृत मत करो। ये अतिचार कहलाते हैं, इनसे बच जाना निरतिचार अवस्था कहलाती है। आपको यह अवस्था प्राप्त हो, आपके व्रत निर्दोष पलें हम ऐसी आपके प्रति भावना भाते हैं। इसी के साथ शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वैय्यावृत्य शिक्षाव्रत का लक्षण

दानं वैय्यावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारो-पक्रियमगृहाय विभवेन॥111॥

अन्वयार्थ–अगृहाय – गृह रहित, **गुणनिधये** – गुणों के भण्डार, **तपोधनाय** – तपस्वियों को, **विभवेन** – विधि द्रव्यादि सम्पदा से, **धर्माय** – धर्म के लिए, **अनपेक्षितोपचारोपक्रियं** – उपकार की इच्छा से रहित होकर/किसी प्रकार अपेक्षा रहित होकर **दानं** – दान देना, **वैय्यावृत्यं** – वैय्यावृत्य है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में चार शिक्षाव्रतों का कथन चल रहा है। देशावकाशिक, सामायिक व प्रोषधोपवास इन तीन के संबंध में आचार्य महोदय ने चर्चा की। उनका स्वरूप, उनकी विधि, उनके गुण, उनके दोष यहाँ प्रस्तुत किए। अब अंतिम शिक्षाव्रत, जो अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है उसका कथन करते हैं। जैसे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में सबसे उत्कृष्ट प्रतिमा उद्दिष्टत्याग प्रतिमा कहलाती है ऐसे ही श्रावक के बारह व्रतों में सबसे अंतिम व्रत है अतिथिसंविभाग व्रत अथवा वैय्यावृत्ति। जिस प्रकार से साधु के बारह तप में अंतिम तप ध्यान होता है और ध्यान को उत्कृष्ट माना जाता है। छह बहिरंग तप व छह अंतरंग तप होते हैं। पहले बहिरंग तप होते हैं, अंतरंग तप बाद में होता है। बहिरंग तप से अंतरंग तप उत्कृष्ट माने जाते हैं। अन्तरंग तप में भी क्रमशः उत्कृष्टता बढ़ती जाती है तो अंतिम तप ध्यान परमोत्कृष्ट तप है। जैसे चार प्रकार के ध्यानों में दो प्रकार के ध्यान अप्रशस्त होते हैं और दो प्रकार के ध्यान प्रशस्त होते हैं। अप्रशस्त आर्त्त-रौद्र ध्यान के चार-चार भेद होते हैं। जैसे आर्त्तध्यान का अंतिम पाया निदानबंध सबसे ज्यादा हानिकारक है, दुःखद है, भवभ्रमण का कारण है। रौद्रध्यान का अंतिम पाया परिग्रहसंरक्षणानंदी सबसे ज्यादा दुखद है। धर्मध्यान का अंतिम पाया संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान सबसे उत्कृष्ट है। तीन ध्यान सामान्य धर्मात्मा प्राप्त करता है, चौथा सबसे उत्कृष्ट है। ऐसे ही चार प्रकार के शुक्लध्यान का अंतिम पाया जो अयोगकेवली अवस्था में ही प्राप्त होता है, वह उत्कृष्ट है। इसी तरह चार शिक्षाव्रतों में कहो या श्रावक के बारह व्रतों में कहो; अंतिम 12वाँ व्रत अपने आपमें उत्कृष्ट व्रत है। जैसे धर्म के दसलक्षणों में अंतिम लक्षण उत्तमब्रह्मचर्य धर्म सबसे उत्कृष्ट होता है, सोलहकारण भावनाओं में अंतिम भावना वात्सल्य भावना, सम्यक्त्व के आठ अंगों में अंतिम अंग जिनशासन की प्रभावना उत्कृष्ट है ऐसे ही यह चतुर्थ शिक्षाव्रत वैय्यावृत्ति सर्वोत्कृष्ट है।

वैय्यावृत्ति या अतिथिसंविभाग व्रत का स्वरूप क्या है? आचार्य महोदय का वैय्यावृत्ति से आशय क्या है? सेवा करना, दान देना, किसी प्रकार का सहयोग, उपकार करना, पूजा-भक्ति करना या पाद आदि का मर्दन करना? आचार्य समंतभद स्वामी जी की भावनाओं में उनके चिंतन में या भगवान् महावीर स्वामी जी की वाणी में वैय्यावृत्ति का क्या स्वरूप है यहाँ आचार्य महोदय के शब्दों में देखते हैं–

यहाँ कहा-'दानं वैय्यावृत्यं' दान देना भी वैय्यावृत्ति है। जिनशासन में दान किसे कहते हैं, दान क्यों दिया जाता है, दान की विधि क्या है, दान के गुण व दोष क्या हैं, दान के अतिचार क्या हैं, दान देने वाला दाता कैसा हो, उस दाता के सामान्य व विशेष गुण क्या हैं, उसे कौन-कौन सी भक्ति करना चाहिए, इन सब बातों का परिज्ञान होना परम आवश्यक है। यदि इन सब बातों का परिज्ञान होने के पश्चात् दान दिया जाता है तब नि:संदेह वह दान वैय्यावृत्ति की श्रेणी में आता है। किन्तु वह दान किसके द्वारा दिया जाना व किसको दिया जाना दोनों को समझना है। जो देता है वह दाता कहलाता है, जिसको दिया जाता है वह पात्र कहलाता है। जो सुपात्र-सत्पात्र है उसे दान दिया जाता है, जो देने वाला है वह दाता कहलाता है।

दान देना वैय्यावृत्ति है। जिनशासन में नवधाभक्तिपूर्वक ही दान दिया जाता है, उसे ही दान माना है। जिस दान में दाता अपना अंतरंग समर्पित नहीं करता है, चित्त की विशुद्धि के बिना दान देता है वह दान पूर्ण सार्थक नहीं होता। इसीलिए दाता के लिए कहा-मनशुद्धि-वचनशुद्धि-कायशुद्धि और देय वस्तुएँ सभी शुद्ध होनी चाहिए। चार प्रकार की शुद्धि के साथ आहार दें। और दाता जिनको दे रहा है उनको आदरपूर्वक बुलाए-पड़गाए, जब वे आएँ तब उन्हें उच्चासन देना, उनका पादप्रक्षालन करना, उनकी पूजा, अर्चना, भक्ति करना और उनको नमस्कार करना ये पाँच भक्ति व चार भक्ति मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्धि इस प्रकार नवधाभक्ति के साथ ही जब दाता देता है तो वही दान धर्म की कोटि में आता है, वही दान वैय्यावृत्ति की श्रेणी में आता है।

महानुभाव! दाता श्रावक व श्राविका हो। श्रावक का अर्थ होता है श्रद्धावान्-विवेकवान्-क्रियावान् हो, उसकी सहधर्मिणी श्राविका भी उसी के अनुरूप श्रद्धावान्, विवेकवान् और क्रियावान् हो। दाता के सात सामान्य गुण होते हैं–श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलुब्धता, सत्व, क्षमा व विवेक। इन सात गुणों से मिश्रित होकर दाता दान देता है। दाता के विशेष 21 गुण भी होते हैं, उसके पाँच भूषण होते हैं उन्हें धारण करके वह दान देता है। वे आभूषण हार, अंगूठी, कुण्डल नहीं, वे अलग आभूषण होते हैं। आदरपूर्वक दान देना, मिष्टवचन बोलकर दान देना, समय

पर दान देना, आनंदपूर्वक दान देना व दान देकर अहोभाग्य मानना। जब वह दाता पाँच प्रकार के आभूषणों से युक्त होकर दान देता है तब देवों द्वारा पाँच प्रकार का आश्चर्य होता है जिसे पंचाश्चर्य कहते हैं। गंधोदक की वृष्टि होना, रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, मंदसुगंध शीतल बयार का चलना, आकाश से देवों द्वारा जयघोष होना; दाता धन्य है, पात्र धन्य है, अहो दाता अहो पात्र जैसे स्वरों का उच्चारण होता है यह पंचाश्चर्य देवों के द्वारा किए जाते हैं। दाता मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक नवधाभक्ति करता है। मन कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध है, वचन कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध हैं और काय भी कृत-कारित-अनुमोदन से शुद्ध है। यहाँ तक कि आहार सामग्री भी शुद्ध है। त्रिविध शुद्धि त्रिकोटि से करके नवकोटि से नवधाभक्ति करता है।

यहाँ कहा-'दानं वैय्यावृत्यं' वह दान वैय्यावृत्य है। कौन सा दान? 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' अनुग्रह करने के लिए अपने धन का त्याग करना दान कहलाता है। दान के लिए वस्तु शुद्ध हो, वह शुद्ध साधन से उत्पन्न हो, शुद्ध कारण से उत्पन्न हुई हो और वह वस्तु शुद्धि का कारण बने। वह देय वस्तु संयमी साधक की साधना में सहयोगी हो, उनके स्वाध्याय की वृद्धि, ध्यान की वृद्धि, तप वृद्धि, ज्ञान वृद्धि में सहायक व प्रमाद की हारक हो। वह दान करना वैय्यावृत्ति कहलाता है। आचार्य महोदय ने गाथा में बताया वह दान किसके लिए दें? दान पात्र-सुपात्र-सत्पात्र को दें। इसके विपरीत अपात्र, कुपात्र होते हैं उन्हें दान देने की बात यहाँ नहीं की। सत्पात्र की विशेषता बताते हुए कहा-तपोधनाय, गुणनिधिः और गृहाय इतने विशेषण दिए।

पहला विशेषण दिया-**'तपोधनाय'** तप ही जिनका धन है। जिन्होंने अपनी इच्छाओं को कम किया है ऐसे तपस्वियों के लिए। वह तपस्वी बहिरंग-अंतरंग दोनों प्रकार के तप करता है। बहिरंग तप करने से जिनशासन की प्रभावना होती है, अंतरंग तप करने से चित्त में शांति की प्राप्ति होती है। बहिरंग तप से भी चित्त में शांति होती है किन्तु बहिरंग तप जिनशासन की वृद्धि का भी कारण है। बहिरंग तप को देखकर के व्यक्ति जिनशासन के प्रति श्रद्धावान् होता है। बहिरंग श्रद्धा चित्तशोधन में कारण है, विकारों का शमन करने में सहयोगी है। तो वह सत्पात्र तपस्वी हो, जिसका इच्छाओं पर नियंत्रण हो। बेलगाम निस्सीम इच्छाओं को कम करता चला जा रहा है, बस कर्मोदय से जो प्राप्त हुआ उसमें समता भाव, संसार की वांछा नहीं है, वांछा केवल एक ही है 'सकलकर्म क्षयार्थं। 'कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः' वह तपमूर्ति

कर्म के क्षय के लिए साधना करने वाला हो। तप ही उसका धर्म है, धर्म ही उसका प्राण है, धर्म ही उसकी प्राणवायु है।

दूसरा विशेषण दिया-**'गुणनिधये'**—उसके पास गुण रूपी निधि हो। आप श्रावक अपनी निधि मानते हैं कि हमारे पास सोना-चाँदी रखा है, इतना बैंक बैलेंस है, किन्तु पात्र वह कहलाता है जिसके पास गुणों का भण्डार है। कौन से गुण? चैतन्य गुण, बाहर के गुण नहीं। चिन्मयरत्न जो गुण स्वरूप हैं उन निधियों का जो स्वामी है। वह कौन हो सकता है? तो अगला विशेषण दिया **'अगृहाय'** जिसने गृह आदि परिग्रह का त्याग कर दिया है। जो सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित है। शरीर पर एक कोपीन तक नहीं, जिन्होंने सर्वपरिग्रह का त्याग कर यथाजात दिगम्बर मुद्रा को धारण किया है, जो प्राणी मात्र के कल्याण की भावना भाएँ, अपने कर्म का क्षय करने के लिए तपस्या में संलग्न हों, गृह परिवार का जो त्यागी हो वह सत्पात्र है, सुपात्र है उसके लिए दान देने की बात कही है। उसी दान के लिए वैय्यावृत्ति शब्द का संबोधन आचार्य महोदय कर रहे हैं।

आचार्य महोदय ने यही कहा कि—गृहरहित/अनगार, गुणों के खजाने, तपस्वियों के लिए विधि द्रव्यादि सम्पदा से यथाशक्ति 'धर्माय'—धर्म के लिए अर्थात् स्वपर धर्म की वृद्धि के लिए दान दिया जाता है। धर्म आत्मा का स्वभाव है तो सत्पात्र जो हैं वे जीवंत धर्म की मूर्ति हैं। जिनके लिए दान दिया जा रहा है वह धर्म का पालन करने वाला हो धर्म का घातक नहीं हो, धर्म का खण्डन करने वाला नहीं हो, धर्म का नाश या धर्म को रोंदने वाला नहीं हो, धर्म का विघातक-विध्वंसक नहीं हो। धर्म का संवर्धक, धर्म का पोषक, धर्म की स्थिति को संभालने वाला, अपने चित्त में धर्म पैदा करने वाला हो। किसी भी प्रकार भी प्रत्युपकार की इच्छा नहीं रखते हुए दान देना वैय्यावृत्ति है। वह दान प्रतिउपकार की इच्छा से रहित होकर दिया जाए, मन में ऐसा भाव न आए कि मैंने मुनिराज को आहारादि दान दिया मुनिराज मुझे ऐसा आशीर्वाद दें जिससे मेरा व्यापार अच्छा चले या मेरे जीवन में कोई चमत्कार हो जाए। गृहस्थ को नि:स्वार्थ भावना से, बिना किसी अपेक्षा से दान देना चाहिए। वह दान दे तो ऐसा कि दाएँ हाथ से देवे और बाएँ हाथ को भी पता न चले।

गृहस्थ के लिए भी कहा जब वह दान दे तब कोई प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखे। अरे! मैंने तो इसलिए आहार कराया था कि वे सभी को आशीर्वाद देते हैं तो सभी फलीभूत होते हैं, मेरा भी काम सिद्ध हो जाए। मैंने तो बस इसीलिए ही दान दिया था कि मेरा अमुक-अमुक काम अटक रहा था, लोग कहते हैं मुनियों के आशीर्वाद से, उनकी चरणरज घर में पड़कर के

सब बाधाएँ टल जाती हैं। तो ऐसी किसी भी अपेक्षा से कभी दान नहीं देना चाहिए। अपेक्षा यदि कोई हो तो बस यही कि ये धर्ममूर्ति हैं, इनके कर कमल पर रखा एक ग्रास भी मेरे लिए परम्परा से मोक्ष का कारण बनेगा। **'दानं पारम्परेण मुक्ति-कारणं'** आचार्य चामुण्डराय जी ने चारित्रसार में लिखा है। वह श्रावक अपनी भक्ति को छिपाए नहीं, अपनी शक्ति को पूर्णतया उपयोग करते हुए दान देना चाहिए; तभी वह दान वैय्यावृत्ति की श्रेणी में, धर्म की कोटि में आता है। आप सभी विवेकी श्रावक-श्राविका शक्ति अनुसार इसमें प्रवृत्ति करें इस व्रत को पालन करने की भावना भाएँ व इस व्रत को स्वीकार करें। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वैय्यावृत्य का लक्षण

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥112॥

अन्वयार्थ–गुणरागात् – गुणों में अनुराग से, **संयमिनाम्** – संयमी जीवों के, **व्यापत्तिव्यपनोदः** – खेद को दूर करना और, **पदयोः संवाहनं** – चरणों को दबाना, **अपि च** – और भी, **यावान्** – जितना, **अन्य उपग्रहो** – अन्य उपकार है सभी, **वैयावृत्यं** – वैय्यावृत्य है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में शिक्षाव्रतों का कथन चल रहा है। चतुर्थ शिक्षाव्रत वैय्यावृत्ति अपर नाम अतिथिसंविभाग व्रत। यह व्रत अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है यह पूर्व में जाना। वैय्यावृत्ति का स्वरूप आचार्य महोदय ने अपने शब्दों में बताया कि दान देना भी वैय्यावृत्ति है। किन्तु किसे देना है? धर्माय, तपोधनाय, गुणनिधये व अगृहाय अर्थात् जो धर्ममूर्ति हैं, तपस्वी हैं, गुणनिधि हैं व गृह आदि परिग्रह के त्यागी हैं। दान कौन देवे? जो सुदाता है वह दान देवे। वह श्रद्धावान्, विवेकवान् व क्रियावान् हो। अच्छा दाता वह है जो उपकार प्रति उपकार की भावना से रहित होकर के दान करे, दान के पीछे कोई अपेक्षा न हो और शक्ति के अनुसार दान करे। वह शक्ति को छिपाए भी नहीं। दाता के संबंध में कहा–वह दाता अपने गुणों से सम्पन्न हो, 21 विशेषगुणों से युक्त हो, नवधाभक्ति से सहित हो, दाता के भूषणों से सहित दूषणों से रहित हो, अन्य भी दोषों से रहित दाता उत्तम दाता कहलाता है।

अब यहाँ 112 नं. के श्लोक में वैय्यावृत्ति का लक्षण और विस्तार से बताना चाह रहे हैं। हमें ऐसा लगता है आचार्य महोदय की दृष्टि में वैय्यावृत्ति व्रत बहुत विशिष्ट व्रत है; उन्होंने इस व्रत के संबंध में लगभग 10–11 श्लोकों के माध्यम से इसका स्वरूप समझाया है। अहिंसादि व्रत का स्वरूप एक श्लोक में बताया अगले में उसके अतिचार कहे किन्तु यहाँ वैय्यावृत्ति व्रत के संबंध में 10–11 श्लोक कहे, इससे सिद्ध है यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्हीं के शब्दों में यह श्लोक देखते हैं–

यहाँ कह रहे हैं–**'व्यापत्ति'** अर्थात् विशेष आपत्ति। कोई साधक साधना कर रहा है, अचानक उपसर्ग आ गया, श्रावक ने उसे दूर कर दिया, बताइये वह वैय्यावृत्ति है या नहीं? है। यदि किसी पशु ने आकर उपसर्ग कर दिया, किसी दुष्ट मनुष्य ने उपसर्ग कर दिया और किसी

भले मनुष्य ने उसे दूर कर दिया तो वह उसकी वैय्यावृत्ति है या नहीं है? है। तो व्यापत्ति का अर्थ है किसी विशेष प्रकार की आपत्ति- विपत्ति-प्रतिकूलता या उपसर्ग-संकट आदि आने पर 'व्यपनोद:' दूर करना। कोई मुनि महाराज सामायिक कर रहे थे अचानक मच्छरों का, डाँस का झुण्ड आ गया, उन्होंने मुनिराज को काटा जिससे उनके फोले पड़ गए किन्तु मुनिराज ध्यान में संलग्न ही हैं, किसी भोले श्रावक ने आकर के उन डांस-मच्छरों को दूर कर दिया तो उस श्रावक को वैय्यावृत्ति का फल मिलेगा या नहीं मिलेगा? मिलेगा। वह अविवेकी, अल्पज्ञानी सुभग नामक ग्वाला जो रात भर मुनिराज की शीतबाधा को दूर करने के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित कर हाथ गरम कर उन्हें तपाता रहा, उनके तन की सेवा करता रहा उसे वैय्यावृत्ति का फल मिला, वह अगले भव में सेठ सुदर्शन हुआ व मोक्ष को प्राप्त किया।

यदि किन्हीं मुनिराज का स्वास्थ्य प्रतिकूल था, उनके तन में शीत की बाधा थी, वैद्य ने बताया ईंट गर्म करके कपड़ा लगाकर के महाराज के तन की सिकाई कर दो, श्रावक ने सिकाई कर दी, उनकी शीतबाधा दूर हो गई तो यह वैय्यावृत्ति हुई। कहीं ऊष्णता की बाधा थी और तपन हो रही थी, श्रावक ने घी मथकर हाथ-पैरों में लगा दिया, उनकी वह गर्मी निकाल दी या भीगी हुई मिट्टी लगा दी, लेप कर दिया इससे उनकी लू निकल गई, उनका खेद, परिश्रम, थकान, रोग, पीड़ा दूर हो गई तो यह वैय्यावृत्ति है। आचार्य महोदय यही कह रहे हैं-'व्यापत्तिव्यपनोद:' किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता; जो साधक की साधना में बाधा डाल रही है, उस बाधा को दूर कर देना वैय्यावृत्ति है।

'पदयोः संवाहनं'-कोई मुनिराज विहार करके आए, रोड (सड़क) भी खराब था, पत्थर थे, पैर में छाले आ गए, काँटा चुभ गया अथवा और कोई बात हो गई, किसी कुशल श्रावक ने गर्म पानी लाकर उसमें नमक-फिटकरी डालकर के पैर धो दिए तो ये भी वैय्यावृत्ति है अथवा गर्मी में घी ठंडा करके लगा दिया, सर्दी में तेल में गर्म पदार्थ लोंग या मैथी गर्म करके दोनों पैरों की मालिश कर दी, जिससे अंदर का शीत निकल गया। पाद मर्दन कर दिया, पैर दबा दिए क्योंकि यदि वैय्यावृत्ति पैरों से की जाती है तो पूरे शरीर की थकान निकल जाती है। पैर व हाथ की हथेली यह मानना चाहिए कि Key Board हैं। जैसे आपके पास लैपटॉप कम्प्यूटर में Key Board होता है उसे दबाते हैं तो स्क्रीन पर कुछ-कुछ आने लगता है, ऐसे ही पैर व हाथों में Points होते हैं। एक्यूप्रेशर एक चिकित्सा पद्धति है, इसके माध्यम से अनेक रोगों में आराम मिलता है। कोई कुशल एक्यूप्रेशर करने वाला चिकित्सक कुछ Point दबाता है तो सिर का दर्द ठीक हो जाता है, पैरों की अँगुलियों के पॉइन्ट दबाता है तो कमर

का दर्द ठीक हो जाता है, कहीं पेट का दर्द ठीक हो जाता है, तलवे के Point दबाता है तो जुकाम ठीक हो जाता है, पैरों के Point दबाता है तो आँखों की जलन ठीक हो जाती है। इस प्रकार कुशल चिकित्सक द्वारा पूरी थकान निकाल दी जाती है।

महानुभाव! वैय्यावृत्ति भी विवेकपूर्वक की जाती है। कहाँ दबाना है, कैसे दबाना है, कंधे को कैसे दबाना है, अँगुलियों को कैसे दबाना है, हर व्यक्ति वैय्यावृत्ति करने का सुफल प्राप्त नहीं कर पाता। वैय्यावृत्ति करना भी एक विज्ञान है जिसे जो व्यक्ति जानता है वही सम्पूर्ण फल को प्राप्त करने में समर्थ होता है और जो नहीं जानता है, विवेकहीन होकर के यदि रूढ़िवशात् करता है तो कई बार परेशानी को दूर नहीं करता, अपितु उत्पन्न कर देता है। महाराज तो थके हुए थे, विश्राम करने की सोच रहे थे, उन्हें जैसे ही तंद्रा आ ही रही थी कि एक भक्त आया महाराज! उठो! हम वैय्यावृत्ति करेंगे। अब महाराज की नींद उचट गई, उन्हें रात भर नींद नहीं आयी, वे ध्यान लगाते रहे– लगाते रहे किन्तु दिन में उन्हें प्रमाद आया, बिहार भी करना है, फिर रात भर की जगार के कारण आहार भी अच्छे से नहीं हुआ, उल्टा स्वास्थ्य ही खराब हो गया। तो बिना विवेक की वैय्यावृत्ति नहीं।

वैय्यावृत्ति कैसे करना है तो आचार्य महाराज कह रहे हैं विहार करके आए हैं तो पैरों को दबा दो। पैरों की मालिश कैसे करना है यदि सर्दी में करना है तो मालिश उल्टी करना है, अँगुली की तरफ से ऐड़ी की तरफ करना है। जिससे गर्मी शरीर में जाए, यदि गर्मी में करना है तो एड़ी की तरफ से अँगुलियों की ओर करना है। सर्दी में करना है तो गर्म पदार्थ के माध्यम से करना, गर्मी में ठंडे पदार्थ से करना किन्तु इस बात का ध्यान रखना कि वह उनकी प्रकृति के विरुद्ध न हो व उनके संयम में बाधक न बने, वह वैय्यावृत्ति निरवद्य हो। एक मुनिराज दूसरे मुनिराज की वैय्यावृत्ति कर सकते हैं, यह उनका तप है। जयसेन आदि आचार्यों ने लिखा है सावद्य का त्याग करके निर्दोष वैय्यावृत्ति मुनिराज मुनिराजों की करते हैं।

महानुभाव! यहाँ कह रहे हैं–विवेकपूर्वक साधु की साधना के अनुकूल प्रवृत्ति करना वैय्यावृत्ति है। कुशल चिकित्सक द्वारा हमारे शरीर के पॉइन्ट पर जब सही रूप से प्रेशर दिया जाता है तो उससे जो शून्य अथवा मृतक अवस्था के समीप पड़ी ग्रन्थियाँ हैं वे जाग्रत हो जाती हैं; उनमें से हार्मोन्स स्रावित होते हैं और जिस हार्मोन्स की कमी थी उसकी पूर्ति हो जाने से वह रोग दूर हो जाता है। इस प्रकार वैय्यावृत्ति करना चाहिए। किन्तु यह क्रिया कैसे करना–**'गुणरागात्'** उन साधक तपस्वी साधु के गुणों में अनुराग करते हुए, गुणों के प्रति परम प्रीति का भाव उत्पन्न करके वैय्यावृत्ति करना चाहिए। उनके गुणों के प्रति तीव्र अनुराग

पैदा होगा तो वह श्रावक उचित रूप से वैय्यावृत्ति कर पाएगा। गुणों के प्रति तीव्र अनुराग पैदा नहीं होगा तो वैय्यावृत्ति न कर पाएगा, उसका लाभ न ले पाएगा। जिसको जिस वस्तु की चाह होती है वह उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए पहले तीव्र पिपासा जाग्रत करता है, बिना प्यास के पानी का गिलास हाथ में आ जाए तो व्यक्ति पानी पी नहीं सकेगा और प्यासा होगा तो पानी जहाँ कहीं भी हो खोज करके पी लेगा। भोजन के पहले भूख जगाओ, पानी के पहले प्यास जगाओ, इसी तरह वैय्यावृत्ति करने से पहले गुणों की प्यास पैदा करो। गुणों के प्रति पहले अनुराग होना चाहिए तब वह श्रावक-श्राविका वैय्यावृत्ति करने में सफल होगा।

आगे कह रहे हैं—और कैसे वैय्यावृत्ति करना। पाद मर्दन के साथ-साथ और अन्य प्रकार का उपकार भी होता है। अब माना की सिरदर्द कर रहा है, आप पैर दबा रहे हो। जब दर्द सिर में हो तो उस समय पैर दबाने से लाभ नहीं होगा। हाँ, हर व्यक्ति सिर नहीं दबा सकता, वह हाथ धोकर सिर दबाए। विधिपूर्वक कुशल व्यक्ति ही सिर दबाए अकुशल नहीं। यदि कुशल मिस्त्री होता है तो गाड़ी कहीं खराब हो रही हो तो वह उसे ठीक कर देता है, अकुशल व्यक्ति गाड़ी ठीक करने चले तो गाड़ी के 4-6 पैच और तोड देगा इसीलिए बुन्देलखण्ड के लोग कहते थे—

''यह शरीर है एक गाड़ी, दिन भर थककर जब हो जाती है आड़ी, तब आते हैं शाम को कुछ भक्त अनाड़ी, वे ठीक ठाक करने आते हैं किन्तु ठोंक-ठांक कर चले जाते हैं।

आपने तो वैय्यावृत्ति की 5 मिनट के लिए और ऐसे अंगूठा गड़ा-गड़ा के दबाया कि सुबह विहार करना ही मुश्किल हो गया, तो ऐसी वैय्यावृत्ति मत करो। वैय्यावृत्ति ऐसे करना है कि सामने वाले से सहन हो जाए। अकुशल श्रावक से वैय्यावृत्ति मत कराओ। अकुशल श्रावक से वैय्यावृत्ति कराने वाला साधक अपनी साधना से हाथ धो बैठता है।

यहाँ कहा-अन्य प्रकार से भी वैय्यावृत्ति करें। आहार के माध्यम से, औषधि के माध्यम से, उपकरणादि के माध्यम से, यह भी वैय्यावृत्ति कहलाती है। संक्षेप में इतना ही समझें कि जिस संयम के उपकरणादि से उसकी धर्म साधना में, तप में, ज्ञान में अभिवृद्धि हो रही है, परिणामों में निर्मलता आ रही है, उनका तप निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता जा रहा है तो यह भी वैय्यावृत्ति है। आचार्य भगवन् सोमदेव सूरि ने तो यहाँ तक लिखा है कि जो मुनिराज तपस्या को वृद्धिंगत करते चले जा रहे हैं उन मुनि महाराज की विशेष भक्ति करना, पूजा-अर्चना करना भी वैय्यावृत्ति है। अतः कहा विवेकपूर्वक, विनयपूर्वक, वात्सल्यपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, भक्तिपूर्वक वैय्यावृत्ति करना चाहिए। वह वैय्यावृत्ति उस वैय्यावृत्ति करने वाले के लिए अगले भव में निरोग

शरीर को देने वाली होती है। कामदेव जैसे सुंदर शरीर को, वज्रवृषभनाराच संहनन जैसे सुदृढ़ शरीर को देने वाली होती है। वैय्यावृत्ति सेवा आदि करने से उच्च गोत्र की भी प्राप्ति होती है, वैय्यावृत्ति करने मात्र से यश:कीर्ति की प्राप्ति होती है, वैय्यावृत्ति करने वाला व्यक्ति इस भव में भी अपने सभी रोगों को शमन करने में समर्थ होता है। वे महानुभाव बहुत पुण्यवंत हैं जो वैय्यावृत्ति करके अपने मानव शरीर को धन्य और सार्थक कर रहे हैं। आप सभी जन यथायोग्य यथोचित रीति से वैय्यावृत्ति करके समुचित लाभ प्राप्त करें। यही आप सभी के प्रति हम मंगल भावना भाते हैं व शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दान भी वैय्यावृत्ति है

नवधा भक्ति

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणा - मार्याणामिष्यते दानम्॥113॥

अन्वयार्थ–सप्तगुण-समाहितेन – सात गुण वाला श्रावक, **शुद्धेन** – कुल, आचार एवं शारीरिक शुद्धि से सहित, **नव-पुण्यैः** – नव पुण्य कारणों के द्वारा/नवधाभक्तिपूर्वक, **अपसूनारम्भाणाम्** – पञ्चसूना तथा कृष्यादि आरंभ से रहित, **आर्याणाम्** – आर्यों/मुनीश्वरों, व्रतियों का, **प्रतिपत्तिः** – आहारादिक से आदर/सत्कार करना, **दानम्** – दान शिक्षाव्रत, **इष्यते** – कहा गया है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ में शिक्षाव्रतों का वर्णन चल रहा है, जिसमें अंतिम शिक्षाव्रत के संबंध में विचार विमर्श कर रहे थे। आचार्य भगवन् श्लोक नं. 113 के माध्यम से श्रावक का अंतिम शिक्षाव्रत ''वैय्यावृत्ति'' के संबंध में कहेंगे।

दान भी धर्म की कोटि में आता है। जहाँ कहते हैं धर्म के 10 लक्षण उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। उत्तम त्याग शब्द का अर्थ कई आचार्यों ने दान से भी लिया है। पूजन में आप पढ़ते हैं–''दान चार प्रकार, चार संघ को दीजिए'' अथवा

उत्तम त्याग कहो जग सारा, औषध शास्त्र अभय आहारा।

यहाँ पर आचार्य महोदय दान की बात कह रहे हैं, आगे दान के प्रकार भी कहेंगे, अभी प्रमुख रूप से 'आहारदान' की विधि की चर्चा कर रहे हैं। आहारदान कैसे देना चाहिए जिससे समीचीन और सम्पूर्ण फल प्राप्त किया जा सके। तो श्लोक में कहा–

'नवपुण्यैः'–नौ प्रकार के पुण्यों के द्वारा। नव पुण्य यदि साथ में हैं तब दान देना। वे नवपुण्य कौन-कौन से हैं? आचार्यों ने नवधाभक्ति को श्रावकों का नौ प्रकार का पुण्य कहा है। श्रावक-श्राविका नव प्रकार का पुण्य नवकोटि से इस नवधाभक्ति के माध्यम से अर्जित करते हैं। मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदना से भक्ति करना यह भी नवधाभक्ति कहलाती है किन्तु नवपुण्य को आचार्यों ने लिखा है–

पडिगह-मुच्चट्ठाणं, पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मण-वयण-काय-सुद्धी, एसणसुद्धी य दाणविही॥225॥ (वसु. श्रा.)

क्रमशः नव प्रकार का पुण्य कहा, जिसमें प्रथम है **'पडिग्गहं'**–अर्थात् प्रतिग्रह यानि समागत अतिथि के प्रति आग्रह-अनुनय करना। प्रतिग्रह यानि स्वीकार करना, उनको बुलाना और उनका यथायोग्य समादर करना। यह प्रतिग्रह या पड़गाहन कहलाता है। उत्तम पात्र हों, चाहे मध्यम पात्र हों, चाहे जघन्य पात्र हों तीनों प्रकार के पात्रों की नवधाभक्ति की जाती है। आचार्य समंतभद्रस्वामी, आचार्य कार्तिकेयस्वामी, आचार्य वसुनंदीस्वामी, आचार्य अमितगतिस्वामी, आचार्य जयसेनस्वामी, श्री जिनसेनस्वामी, पूज्य आचार्य श्री उमास्वामी जी, पूज्यपादस्वामी जी आदि सभी ने नवधाभक्ति को स्वीकार किया। नवधाभक्ति के बिना पात्रों को जो दान दिया जाता है वह दान धर्म की कोटि में नहीं आता इसीलिए यहा नवधाभक्ति कह रहे हैं।

1. पहला पुण्य प्रतिग्रह अर्थात् पड़गाहन करना है। उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को देखकर के विनम्र मुद्रा में स्थित होकर के, कर कमल में उत्तम द्रव्य लेकर प्रतिग्रह करना। मुनिराज, आर्यिका माता जी, ऐलक जी, क्षुल्लक जी या क्षुल्लिका माता जी इन पिच्छीधारियों को विधिपूर्वक पड़गाहन किया जाता है। हे स्वामी! नमोस्तु-नमोस्तु-नमोस्तु, अत्रो-अत्रो, तिष्ठो-तिष्ठो, आहारजल शुद्ध है इत्यादि विधि से आर्यिका माताजी के लिए वंदामि शब्द का प्रयोग व ऐलक, क्षुल्लक आदि के लिए इच्छामि शब्द के प्रयोग द्वारा पड़गाहन किया जाता है। किन्तु व्रती श्रावकों का उस प्रकार से पड़गाहन नहीं करते, उन्हें करांजलि से बुलाते तो हैं, विनम्र अनुरोध तो करते हैं कि आप हमारे चौके में आहार करने के लिए चलें। अव्रती श्रावक के लिए भी हाथ जोड़कर निमंत्रण करते हैं कि आपका निमंत्रण हमारे चौके में है, आप आईये और भोजन ग्रहण कीजिए। तो प्रतिग्रह सबका किया जाता है, बिना बुलाए तो अव्रती सम्यग्दृष्टि भी चौके में नहीं जाता। तो यह प्रतिग्रह नाम का पहला पुण्य है। अभी भोजन कराया नहीं मात्र भावना से बुलाया है भोजन के लिए।

कुछ व्यक्ति ऐसे आलसी होते हैं कि वे कहते हैं मैं पड़गाहन में नहीं जाता, तुम पड़गाहन कर ले आओ, मैं तो सीधा शुद्धि बोलकर आहार दे दूँगा। तो यह उनका आलस्य है और आलस्य पुण्य का भक्षक होता है, जैसे दीपक की ज्योति अंधकार का भक्षण करती है, कज्जल को उगलती है ऐसे ही आलस्य पुण्य को खा जाता है और वहाँ पर पाप को उगल करके चला जाता है। इसलिए कभी भी पुण्य की क्रिया में आलस्य नहीं करना चाहिए। स्वयं पड़गाहन करने जाओ, नवधाभक्तिपूर्वक स्वयं आहारदान दो। ऐसा नहीं एक भक्ति मैंने की, दूसरी भक्ति किसी ने, तीसरी किसी और ने। एक ने पड़गाहन किया, दूसरे ने उच्चासन दिया,

तीसरे ने पाद प्रक्षालन किया, चौथे ने पूजा की, पाँचवा प्रणाम करके चला गया, छटवाँ व्यक्ति थाली दिखा रहा है, सातवाँ व्यक्ति शुद्धि बोलकर आहार दे रहा है तो यह उचित नहीं है। नवधाभक्तिपूर्वक ही आहार देना चाहिए।

2. अगली भक्ति कही **'उच्चासन'** पुनः पात्र जब पाकशाला में पहुँचे तब विनम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर निवेदन करना चाहिए–हे स्वामी! उच्च स्थान ग्रहण कीजिए। चाहे वे पात्र मुनिराज हों, यथाजात दिगम्बर मुद्राधारी पंचपरमेष्ठी हैं, चाहे आर्यिका माताजी हैं चाहे ऐलक-क्षुल्लक जी या क्षुल्लिका माताजी हैं उन्हें उच्चासन देते हैं। इतना ही नहीं अव्रती श्रावक भी आता है तो उसके लिए भी पाटा आदि लगाते हैं या चटाई आदि बिछाकर के उससे भोजन के लिए निवेदन किया जाता है।

3. पुनः **'पादप्रक्षालन'** जो महाव्रती हैं आचार्य-उपाध्याय-साधुगण, आर्यिका माताजी और उत्कृष्ट श्रावक ऐलक, क्षुल्लक जी, क्षुल्लिका माता जी हैं उनका भी पाद प्रक्षालन किया जाता है। पादप्रक्षालन करके जो आचार्य, उपाध्याय, साधु, पंचपरमेष्ठी हैं उनका तो गंधोदक मस्तक पर नियम से धारण करना ही चाहिए।

पड़गाहे धोवे चरण गंधोदक सर लाय

चरणप्रक्षालन कर गंधोदक सर पर लगाना अनिवार्य है। यह विनम्रता का, श्रद्धा का, भक्ति का प्रतीक है। अन्य जो पात्र हैं आर्यिका, क्षुल्लिका माता जी, ऐलक-क्षुल्लक जी इनका पादोदक सर पर लगाएँ अच्छी बात है, सिर पर लगाने से कोई सम्यक्त्व की हानि नहीं है, चारित्र की हानि नहीं है। नहीं लगाएँ तब भी अविनय नहीं करें, उसे प्रणाम किया जा सकता है। परमेष्ठी का गंधोदक पूजनीय होता है। जैसे भगवान् के गंधोदक को प्रणाम करते हैं व पढ़ते हैं–

निर्मलं निर्मलीकरणं पवित्रं पाप नाशनम्।
जिन गंधोदकं वन्दे सर्वविघ्न विनाशनम्॥

वह गंधोदक आठ कर्मों को विनाश करने मे निमित्त बनता है। ऐसे ही पंचमपरमेष्ठी का गंधोदक भी पूजनीय होता है। उसे मस्तक पर लगाना चाहिए।

4. आगे कहा-**'अर्चना'** पंचपरमेष्ठी हैं तो बड़े ठाट-बाट से पूजा करो, आर्यिका माता जी हैं तो उनकी अर्चना तो होगी, नियम से करना चाहिए किन्तु परमेष्ठी की अपेक्षा से लघु अर्चना होती है, इसके उपरांत ऐलकजी, क्षुल्लकजी हैं उनकी भी लघु अर्चना होती है अर्थात् अर्घ्य आदि चढ़ाकर उनका सम्मान किया जाता है। किन्तु ऐसा नहीं कि उनका सम्मान ही न

किया जाए और व्रती आदि हैं तो उनका भी हाथ जोड़कर सम्मान किया जाता है, यह उनके लिए अर्चना ही है। प्रशंसनीय-मृदु-प्रिय शब्दों का बोलना यह भी अव्रती के लिए सम्मान का प्रतीक है, पूजा के अर्थ में आता है।

5. पुनः कहा **'प्रणाम'** मुनिराज-उपाध्याय-आचार्यों को विधिपूर्वक गौआसन से बैठकर नमोस्तु करो, किन्तु खड़े-खड़े नहीं। आर्यिका माताजी, ऐलक जी, क्षुल्लक-क्षुल्लिका आदि को भी वंदामि, इच्छामि करना चाहिए, व्रतियों को वंदना कहना चाहिए व अव्रतियों से हाथ जोड़कर जयजिनेन्द्र आदि करना चाहिए। यह करना जरूरी है।

6-9. **मन-वचन-काय-आहारशुद्धि**—नमस्कार के पश्चात् कहना हे गुरुदेव ''मेरा मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध और अन्न-जल शुद्ध है'' ऐसा कहकर विनयपूर्वक आहार ग्रहण करने का आग्रह करना चाहिए। यह पात्र के प्रति अनुराग-भक्ति की सूचक क्रिया है। जो इस प्रकार से नव प्रकार की प्रतिपत्ति करता है, आदर-सम्मान आदि करता है, उसे निःसंदेह जीवन में सातिशय पुण्य का बंध होता है। कोई यह न सोच ले कि मैं साधु के लिए भक्ति कर रहा हूँ, साधु के लिए नहीं वरन् साधु की भक्ति आत्मकल्याण के लिए की जाती है। आप लोग भगवान् की भक्ति करते हैं तो भगवान् के लिए करते हैं या अपने लिए करते हैं? भगवान् की पूजा करते हैं, वह भगवान् के लिए करते हैं या अपने लिए करते हैं। भगवान् की आरती, स्थापना, नमस्कार आदि कुछ भी करते हैं वह किसके लिए कर रहे हैं? स्वयं के पुण्य को वृद्धिंगत करने के लिए कर रहे हैं। स्वयं के पुण्य का प्रयोजन ही मुख्य होता है। आज कुछ अल्पज्ञानी, मंदबुद्धि वाले श्रावक या श्राविका कहते हैं कि महाराज जी हम तो आर्यिका माताजी की, ऐलक-क्षुल्लकजी की नवधाभक्ति नहीं करते किंतु अब आ ही गए हैं तो भक्ति कर लेते हैं, जैसे आप उन पर कोई एहसान कर रहे हो। नहीं, इस प्रकार यदि नवधाभक्ति की भावना नहीं है तो दान देने पर भी दान के सम्पूर्ण फल को प्राप्त न कर सकोगे।

कहीं भी शास्त्रों में ऐसा नहीं लिखा है कि आर्यिका माताजी की नवधाभक्ति नहीं करना। उन्हें नवधाभक्ति पूर्वक ही आहारदान दिया जाता है। प्रथमानुयोग में अनेक जगह आर्यिकाओं की अष्टद्रव्य से पूजा का प्रसंग आया है। पद्मपुराण में श्रीराम चंद्र जी जब अतिवीर्य राजा की सभा में नर्तकी बनकर गए उससे पूर्व सीता को किसी आर्यिका माताजी के पास छोड़कर गए। वहाँ उन्होंने आर्यिका माताजी की पूजा की। ब्राह्मी ने जब दीक्षा ग्रहण की तब देवों ने अष्टद्रव्य से उनकी पूजा की। क्षुल्लकों के भी अर्घ्य चढ़ाने का विधान शास्त्रों में है। महानुभाव! यदि आपकी भक्ति में विनयभाव नहीं है, श्रद्धा नहीं है, दाता के सात गुण नहीं हैं तो समझना चाहिए कि उत्तम-उत्तम आहार देकर भी अपने पुण्य के पात्र में मानो एक छेद कर दिया,

जिस छेद में से सारा पुण्य निकल गया, इतना ही शेष रह गया जितना नव कलश पर जल की बिन्दु।

तो यहाँ बताया–'नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः' नव प्रकार के पुण्यों के द्वारा ही प्रतिपत्ति करना आवश्यक है। यदि नव प्रकार का पुण्य करने में असमर्थ हैं तो पहले नव प्रकार के पुण्य करने की भावना बनाओ, तब किसी उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्र को आग्रह करो, पड़गाहन करो। यदि भावना ही नहीं है, छलकपट कर रहे हो, पड़गाहन तो कर लिया, आर्यिका माताजी या क्षुल्लक, ऐलक आदि महाराज आ गए तो अब हम आर्यिका माताजी का पाद प्रक्षालन नहीं करेंगे, पूजन नहीं करेंगे तुम कर देना-तुम कर देना, क्षुल्लक जी का पड़गाहन कर उनके पाद प्रक्षालन पूजा के लिए टाल-मटोल करना, छल करना अच्छी बात नहीं है क्योंकि जिनकी भक्ति आपको करनी है वे आपसे बहुत बड़े हैं। आप तो अभी अव्रती हैं, सम्यग्दृष्टि हैं या नहीं ये तो केवली जाने, बाह्यक्रिया से तो ऐसा लगता है जैसे आपके पास सम्यक्त्व भी न हो।

एक बात ध्यान रखना चौथी मंजिल के ऊपर ही पाँचवी मंजिल खड़ी होती है। पंचम-गुणस्थानवर्ती चाहे आर्यिका माता जी हैं, ऐलक जी, क्षुल्लक जी महाराज हैं या क्षुल्लिका माता जी हैं और वे अपने व्रतों का पालन कर रहे हैं, वे चौथे गुणस्थान वाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि श्रावक के सिर के ऊपर हैं, उसके सिर पर उनकी पदरज आ रही है। यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो उस पदरज को प्राप्त करके अपना सौभाग्य मानता है और जो स्वयं को बचाता है कि मुझे पाद प्रक्षालन न करना पड़े, न अर्घ्य चढ़ाना पड़े, हाथ-जोड़कर नमस्कार नहीं करना पड़े तो समझ लो अभी उसका सम्यक्त्व वास्तव में शुद्ध नहीं है, शंकास्पद है, संदेहास्पद है।

महानुभाव! जिसके चित्त में नव प्रकार की भक्ति उत्पन्न हो सकती है वही वास्तव में इस अतिथिसंविभाग व्रत का पालन कर सकता है, अन्यथा बाहर से द्रव्य क्रिया करने वाले, अपने आपको विद्वान् और पण्डित बताने वाले, अपने आपको विशिष्ट त्यागीव्रती बताने वाले, आँख बंद कर तनकर बैठने वाले, जैसे केवली होने वाले हों इस प्रकार के ढोंग-पाखण्ड करने वाले पग-पग पर मिलते हैं किंतु शुद्ध हृदय से भक्ति करने वाले विरले ही होते हैं। यदि पाखण्ड करने से, छल-कपट करने से कल्याण होना होता तो लोगों का कल्याण कबका हो गया होता, किन्तु नहीं। जब तक हृदय में शुद्धता नहीं आती है, चित्त में पवित्रता नहीं आती है तब तक कल्याण नहीं होता।

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि नव प्रकार के पुण्य के माध्यम से, नव प्रकार की भक्ति के माध्यम से उत्तम-मध्यम-जघन्य तीनों पात्रों की यथायोग्य नवधाभक्ति करना चाहिए, ऐसा दिगम्बर जैन शासन में जैनाचार्यों ने लिखा है। जो आचार्यों की बात पर विश्वास नहीं करता

है तो आचार्य शिवकाकोटि जी महाराज ने भगवती आराधना ग्रंथ की 70वीं गाथा में कहा कि जो आगम का एक अक्षर, एक पद या एक वाक्य नहीं मानता, पर पूरा द्वादशांग मानता है वह उसी क्षण से मिथ्यादृष्टि हो जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी ने भी जीवकाण्ड में लिखा है कि जो शास्त्रों की बात को सुनकर भी नहीं मानता है, पहले भूलवश नहीं मान रहा था अलग बात है किन्तु शास्त्रों का प्रमाण देखकर भी नहीं मानता है तो समझना चाहिए उस ही समय से उसका मिथ्यात्व का उदय आ गया है, मिथ्यादृष्टि हो गया। इसलिए हमें कभी अपने तर्क और कुतर्कों को आगे नहीं लाना चाहिए, जिनागम के वाक्यों को भगवान् महावीरस्वामी की वाणी समझकर स्वीकार करना चाहिए। पूज्य आचार्य भगवन् कलिकाल सर्वज्ञ वीरसेनस्वामी ने किन्हीं भी आचार्यों की बात को काटा नहीं, दो आचार्यों के प्रमाण प्राप्त हुए तो उन दोनों को स्वीकार कर रहे हैं। और जो बात समझ में नहीं आयी तो समाधान नहीं दे रहे, जैसे आज का व्यक्ति तो कह देता है ऐसा नहीं ऐसा करना चाहिए, किंतु उन्होंने कहा दोनों आचार्य प्रमाणित हैं और फिर भी आप नहीं मानते हो तो 'गौतमो पुच्छ' गौतम स्वामी से पूछो, हमसे बहस मत करो, हम किसी भी आचार्य की बात को नहीं काट सकते हैं, मिथ्या नहीं कह सकते हैं।

महानुभाव! सम्यग्दृष्टि का यही लक्षण होता है। सम्यग्दृष्टि किसी भी आचार्य की बात पर कुठाराघात नहीं करता। इस प्रकार नवधाभक्ति के माध्यम से आहारादि की प्रक्रिया करना चाहिए। वही समीचीन पुण्य को देने वाली होती है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दाता के सात गुण

महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में देख रहे हैं श्लोक नं. 113। जिसमें आचार्य महाराज ने बताया कि दान देना वैय्यावृत्ति है। किन्तु वह दान कैसे दिया जाए, दान देना बहुत लोग चाहते हैं किन्तु वे ये भूल जाते हैं कि दान किसको देना चाहिए, दान कैसे देने चाहिए, और जिसने विधि का उल्लंघन कर दिया तो सब गड़बड़ हो जाएगा। यदि कोई महिला बिना विधि के रसोई बनाती है, उसको नहीं मालूम कि खीर बनाते समय उसे चलाना भी पड़ता है तो खीर नीचे लग जाएगी और जल जाएगी। ऐसे ही विधि से अनभिज्ञ कोई भी श्रावक व श्राविका वह क्रिया करने के उपरान्त भी उसके सुफल को तो प्राप्त करते ही नहीं हैं; सामान्य फल भी प्राप्त नहीं किया जाता, कुफल प्राप्त कर लेते हैं। भोजन स्वादिष्ट, सुपाच्य, आरोग्यवर्धक हो यह तो छोड़ो वह भोजन रोगोत्पादक हो जाता है, उसका स्वाद बिगड़ जाता है। वह घटिया किस्म का भोजन हो जाता है जो आर्य पुरुषों के द्वारा भक्षण करने के योग्य नहीं रहता। किसी भी क्षेत्र में जिसने विधि का उल्लंघन किया है, वह उस क्रिया के समग्र और समीचीन फल को प्राप्त करने में असमर्थ ही होता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं दान देने वाला श्रावक-श्राविका पहले तो नवपुण्य द्वारा पात्रों का समादर करे, नवधाभक्तिपूर्वक आहार दे। आगे कहा-**''सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन''** वह दाता सात गुणों से युक्त होकर के पात्रों को दान दे। यदि सात गुणों में से एक गुण भी कम है तो उस दाता को समीचीन और समग्र फल की प्राप्ति नहीं होती। नव प्रकार की भक्ति भी होना चाहिए और दाता के सात गुण भी होना चाहिए और 21 विशेष गुण भी होना चाहिए। दाता के 5 आभूषण भी होना चाहिए और पाँच दोषों से-अतिचारों से रहित होकर के उल्लसित मन से दान देना चाहिए क्योंकि आचार्यों ने कहा जो दाता आनंदित होकर के दान देता है तो उस समय जो आनंद की अनुभूति होती है उस आनंद से पूर्वोपार्जित अनेक पापों का क्षय हो जाता है, वे पाप विलीन हो जाते हैं और वह दाता दान देते समय पात्र के माध्यम से मोक्षमार्ग को खरीद लेता है।

महानुभाव! दाता सात प्रकार की भक्ति करता है अर्थात् सात गुणों से युक्त होता है उसके वे गुण भी जानने योग्य हैं, उन्हें जाने बिना आप अपने दोषों को पहचान नहीं पाएँगे। बिना जाने उन गुणों को ग्रहण करना अशक्य है। आचार्य माणिक्यनंदी स्वामी ने लिखा है-''हिताहित-प्राप्ति परिहार समर्थं हि प्रमाणं ततोज्ञानमेव तत्'' हित की प्राप्ति, अहित का परिहार करने में जो समर्थ है वह ज्ञान है, वही प्रमाण है, उसके ही माध्यम से वह ज्ञाता अपने जीवन में पुण्य का अर्जन कर पाता है। वह सप्त गुण कौन-कौन से हैं तो इस संबंध में आचार्यों ने लिखा है-

श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं तुष्टिः शक्तिरलुब्धता।
क्षमा च यत्र सप्तैते, गुणा दाता प्रशस्यते॥151॥ (गुण.श्राव.)

श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, सत्य ये दाता के सात गुण हैं। इन गुणों से युक्त दाता प्रशंसनीय कहलाता है।

'श्रद्धा'–दाता को मोक्षमार्ग पर तथा जो सकल मोक्षमार्गी हैं ऐसे परमेष्ठी आचार्य, उपाध्याय, साधु, जो एकदेशमोक्षमार्गी हैं ऐसे देशव्रती या पंचम गुणस्थानवर्ती अथवा जो मोक्षमार्ग के सन्मुख हैं वे सम्यग्दृष्टि इन तीनों पर विश्वास हो। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन ही मोक्षमार्ग के अवयव हैं इनके बिना कभी मोक्षमार्ग प्रारंभ नहीं होता। श्रद्धा का दूसरा नाम आस्तिक्य भाव है। श्रद्धा होना चाहिए वीतरागी–सर्वज्ञ–हितोपदेशी जिनेन्द्रदेव के ऊपर, श्रुतदेव अर्थात् शास्त्र के प्रति तथा निर्ग्रंथ गुरु के प्रति। इसके साथ ही उसे यह श्रद्धा भी हो कि मैं जो पुण्य क्रिया करता हूँ, पात्रों को दान देता हूँ तो इस दान के माध्यम से मुझ दाता का कल्याण होगा। मैं इस पुण्य क्रिया 'दान' से पापों का क्षय करके अशुभ का संवर करके, शुभ का आस्रव करके, सातिशय पुण्य का बंध करके परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करूँगा।

आचार्य भगवन् चामुण्डराय जी ने चारित्रसार ग्रंथ में लिखा है **'दानं पारम्परेणं मुक्ति-कारणं'** नवधाभक्तिपूर्वक दिया गया दान, दाता के सप्त गुणों से युक्त होकर दिया गया दान दाता के लिए परम्परा से मोक्ष का कारण बन जाता है। आचार्य विमलसागर जी महाराज बताते थे कि तीन पाव आटे में मोक्षमार्ग मिलता है। उस समय बचपन में तो हम नहीं जानते थे कि आचार्य महोदय के कहने का आशय क्या है, बाद में समझाया कि किसी मोक्षमार्गी साधु को तीन पाव आटे की रोटी बनाकर के भले ही आपने सब्जी भी नहीं बनाई, नमक से रोटी भी खिला दी, पानी पिला दिया तो वह साधु आपके अन्न को ग्रहण करके मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है, तीन बार सामायिक करता है, चार बार स्वाध्याय करता है, दो–तीन बार प्रतिक्रमण करता है, अन्य अपने षट् आवश्यकों का पालन करता है, तत्त्वचिंतन व धर्मध्यान करता है तो वह जितना भी पुण्य का आस्रव कर रहा है उसमें आप निमित्त हैं, उसके मोक्षमार्ग में प्रवृत्तिरूप निमित्त आप हैं इसलिए आप भी उतने अंश में मोक्षमार्गी बन गए।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने सात गुणों में पहला गुण कहा 'श्रद्धा'। अकाट्य श्रद्धा होनी चाहिए। ऐसी श्रद्धा जो आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने 11वें नं. के श्लोक में कही।

'इदमेवे दृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा, इत्यकम्पायसांभोवत् सन्मार्गे–संशयारुचिः' सन्मार्ग में संशय से रहित रुचि ही निःशंकितपना है। तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं है ऐसी अकाट्य श्रद्धा हो जैसे तलवार की धार पर चढ़ा हुआ पानी, वह तलवार टूट तो

जाएगी किन्तु झुकेगी नहीं, दाता ऐसी ही अकाट्य श्रद्धा से युक्त हो, अपने निर्ग्रंथ गुरुओं को यह मानकर आहारदान दो कि तीर्थंकर तो चौथेकाल में होते हैं किंतु ये पंचमकाल के तीर्थंकर हैं। क्योंकि आज साक्षात् अरिहंत नहीं हैं, उनके जिनबिंबों की पूजा करके साक्षात् अरिहंत की पूजा का फल प्राप्त किया जा सकता है। आज साक्षात् दिव्यध्वनि नहीं खिर रही, शास्त्रों को पढ़कर साक्षात् दिव्यध्वनि सुनकर के आचरण में लाने का फल प्राप्त किया जा सकता है। आज साक्षात् मनःपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी मुनिमहाराज नहीं, उस भव से मोक्ष जाने वाले केवलज्ञानी, तद्भव मोक्षगामी मुनिराज नहीं हैं या ऋद्धियों को प्राप्त करने वाले मुनि महाराज नहीं हैं। आचार्य सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्पू में लिखा है जो आज पंचमकाल के साधुओं में चतुर्थकाल के साधुओं की स्थापना करके आहारादि दान देता है तो उसी प्रकार का फल प्राप्त होता है जो चौथे काल में तीर्थंकर आदि मुनिराज को आहार देने पर फल प्राप्त होता था।

अगला गुण कहा **'भक्ति'**–संयमीजनों के सम्यग्दर्शनादि गुणों में अनुराग होना भक्ति है। अथवा संयमीजनों के प्रति मन-वचन-काय संबंधी उद्धतपने का अभाव होना, उनके प्रति नम्रभाव होना भक्ति है। श्रद्धा जब गहराती है तो भक्ति उमड़-उमड़ कर आती है। यदि श्रद्धा का फूल खिलेगा तो भक्ति की सुगंध फैलेगी ही। श्रद्धा के बादल इस आत्मा रूपी गगन में उमडेंगे तो भक्ति की वर्षा होगी, श्रद्धा का सूर्य चेतना के क्षितिज पर उदय होगा तो भक्ति का प्रकाश फैल जाएगा। श्रद्धा का दीपक चेतना के प्रदेशों में जलेगा तो भक्ति का प्रकाश आ जाएगा। श्रद्धा का चन्द्र उदित होते ही भक्ति रूपी शीतल चाँदनी अपने आप ही प्रस्फुटित हो जाएगी। ऐसा नहीं कि महाराज जी! हम मुनियों पर, आचार्यों पर, सभी में श्रद्धा तो रखते हैं किन्तु क्या बताएँ हमसे भक्ति होती नहीं है। ठीक है, लोकव्यवहार के लिए भक्ति कर लेते हैं। अरे! भक्ति करना नहीं है श्रद्धा उत्पन्न होगी तो भक्ति स्वतः होगी। पुष्प यदि खिलेगा तो सुगंध अपने आप आएगी। गन्ना है, शक्कर है तो उसमें मिठास तो होगी ही होगी, अलग से डालने की आवश्यकता नहीं। कागज के फूलों पर इत्र नहीं डालना है। झूठी भक्ति, दिखावटी श्रद्धा संसार सागर से पार नहीं करा सकती। हमने मध्य प्रदेश में ऐसे श्रावक भी देखे जब वे पड़गाहन करते तो उनकी आँखों से आँसू बहते थे। पन्ना, दमोह गढाकोटा, छतरपुर, देवेन्द्रनगर आदि-आदि स्थानों पर इस प्रकार की भक्ति करने वाले श्रावक देखे जो इस प्रकार संबोधन वाक्य कहते, हे भगवन्! हे त्रिलोकी नाथ! हे सद्गुरुदेव। क्या अंतरंग से शब्द निकलते, उनका मन भक्ति से सना होता। तो कहने का आशय है श्रद्धा के साथ-साथ अकाट्य भक्ति भी होना चाहिए।

अगला गुण कहा–**'तुष्टि'**। संतुष्ट होना। कोई अल्पज्ञानी श्रावक कहता है, कहता है मैं तो 10-15 दिन से चौका लगा रहा हूँ, मेरे यहाँ आचार्य श्री तो आ ही नहीं रहे, उपाध्याय

महाराज तो आ नहीं रहे, या बड़े महाराज-गणिनी माताजी तो आ ही नहीं रहीं। अरे! ये सब छोड़ो, अपने पुण्य को बढ़ाओ, पात्र ऐसे नहीं आते, निमंत्रण से नहीं आते, पुण्य रूपी चुम्बक से खिंचे चले आते हैं। आपका पुण्य होगा तो अपने आप आएँगे, आज नहीं आएँगे कल आएँगे और आगे आएँगे इसीलिए कभी किसी के पुण्य में दोष नहीं लगाओ, मेरे यहाँ तो नहीं आते उन्हीं-उन्हीं के यहाँ आते हैं, ऐसा मत कहो, अपने पुण्य को बढ़ाओ। दूसरों की निंदा करोगे या साधुओं को पक्षपाती कहोगे तो तुम्हारा पुण्य क्षीण होगा इसीलिए जो भी आपको आपके पुण्य से मिला उनकी पूरी भक्ति करो और संतोष धारण करो। आज इतना मिला है कल और मिलेगा। लोभ का परित्याग संतोष है जिसके लोभ का परित्याग नहीं है वह दान नहीं दे सकता। अतः दाता में तुष्टि नामक गुण होना अत्यंत आवश्यक है।

अगला गुण कहा **'विज्ञान'** हेयोपादेय, भक्ष्याभक्ष्य, सचित्ताचित्त, शुद्ध, अशुद्ध और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञान होना विज्ञान है। जिसको हेयोपादेयादि का ज्ञान नहीं है वह स्वपर का अनुग्रह करने वाला दान नहीं दे सकता। आहार आदि दान देना भी अपने आप में बहुत बड़ा विज्ञान है। हर व्यक्ति दाता नहीं बन सकता। क्या देना है, कैसे देना है, जो कि उनके संयम के अनुकूल हो, धर्मध्यान के अनुकूल हो, प्रमाद का हरण करने वाला हो, आरोग्यवर्धक हो। ऐसा आहार नहीं देना जो उन्हें संयम साधना से च्युत कर दे, ऐसा आहार नहीं देना जो उन्हें प्रमादी बना दे, ऐसा आहार नहीं कराना जो उनके धर्मध्यान को छीन ले, ऐसा आहार नहीं देना जो उनको संक्लेशता पैदा करे, आर्त्त-रौद्र ध्यान बनाने वाला हो; बल्कि ऐसा आहार देना जो उनके विवेकपूर्वकसंयम-स्वाध्याय की वृद्धि करें। ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी जी ने कहा। तो दाता के पास विवेक होना चाहिए, ऐसा नहीं कि दूध दिया और उसके ऊपर नींबू की शिकंजी चला दी, ऐसा करने से दूध फट जाएगा, स्वास्थ्य गड़बड़ हो जाएगा। अथवा गरम पदार्थ दे रहे थे तुरंत ही ठंडा पदार्थ दे दिया या साधु की प्रकृति कुछ और है उनकी प्रकृति के विरुद्ध दे दिया तो यह सब गलतियाँ अज्ञानी श्रावक के द्वारा हो जाती हैं। श्रावक को विवेकवान्, अनुभवी होना चाहिए।

अगला गुण कहा-**'अलुब्धता'** जब दान देने बैठो तो मन में लोभ नहीं कि इतना खर्च हो गया, इतना खर्च हो गया। अरे! कभी ऐसा नहीं सोचना अन्यथा पुण्य कमाकर भी पुण्य न कमा पाओगे। मनीषी विद्वानों ने लिखा है-

तप करते यौवन गयो, द्रव्य गयो मुनिदान।
प्राण गए संन्यास में, तीनों गए न जान॥

जिसकी यौवन अवस्था तपस्या करते हुए चली गई, मुनियों को आहार देते-देते जिसका धन खर्च हो गया और समाधिपूर्वक जिसके प्राण चले गए तो ये मत सोचो वह चला गया वरन् ये सोचो कि वह सब सार्थक हो गया।

आप हजारों-लाखों-करोड़ों-अरबों- खरबों जितना भी धन कमाते हो उसमें से यदि 10% भी आपका वह द्रव्य व्रती-महाव्रती के उदर में पहुँच गया तो समझ लो आपका कल्याण तो निश्चित है। दिगम्बर मुनिमहाराज को भावसहित आहारदान देने वाला व्यक्ति नरकादि दुर्गतियों में तो कभी जाता ही नहीं है, और जो जीव नरकगति आदि दुर्गतियों में जाता है अर्थात् जो उनका बंधक है वह मुनिराजों को भक्तिपूर्वक आहार दे नहीं पाता, वह जीव शिखरजी की यात्रा नहीं कर पाता, समवसरण का ध्यान नहीं कर पाता। तो यहाँ कह रहे हैं संकोच को दूर करके यथाशक्ति से दान दें। कंजूसी न करें। चौके में पूजन की द्रव्य रखी है, मुनि महाराज की पूजा करनी है, उस द्रव्य का और कुछ नहीं होगा फिर भी दो अंगुली एक अंगूठा लेकर दो दाने चढ़ाते हैं, अरे! जो पूरी थाली सजी रखी है उसका क्या करोगे? क्या वह खाने-पीने की चीज है, जब द्रव्य रखी है तो पूरी चढ़ाओ न, जैसे भरत चक्रवर्ती चढ़ाता था, रत्नों के ढेर के ढेर लगाता था। अरे! आज अपने परिणाम निर्मल कर लो, ये जो दो अंगुली से 1-1 चावल चढ़ा रहे हो, ये तुम्हारी कंजूसी का प्रतीक है। अंदर कंजूसी है तो जीवन में उदारता कभी आ ही नहीं पाएगी। आप जो भी द्रव्य चढ़ाओ खुले हाथ से चढ़ाओ। उदारता के साथ दान देना चाहिए अलुब्धतापूर्वक नहीं।

अगला गुण कहा-**'क्षमा'**। क्रोध का अभाव क्षमा है, मानसिक शांति ही क्षमा है। दाता के मन में क्षमा का भाव होना चाहिए, ऐसा नहीं चौके में किसी श्रावक-श्राविका से अल्पज्ञता वश कोई गलती हो गई तो वहीं गर्म हो गए। आँखों में लाल डोरा नहीं आना चाहिए, चेहरा लाल-पीला नहीं होना चाहिए। वहाँ तो चेहरा शीतल-शांत होना चाहिए, मुस्कुराते हुए क्षमाशीलता धारण करते हुए आनंदपूर्वक आहार कराना चाहिए। क्रोधभावयुक्त होकर दान देने से पात्र के प्रति अनादर होता है, हेयोपादेय का ज्ञान नहीं होता। क्रोध करके वह क्रोधाग्नि आपके सारे पुण्य को जला देगी। अतः दाता क्षमागुणधारी होना चाहिए।

अगला गुण कहा-**'सत्य'** कोई-कोई आचार्य इस गुण को सत्य मानते हैं तो कोई 'सत्त्व' मानते हैं। सत्त्व माने मृदु परिणाम। अपनी शक्ति के अनुसार उत्साहपूर्वक आहार देना सत्वगुण कहलाता है। सत्य माने सत्यरूप वचन। जिस दाता में ये सात गुण होते हैं वह दाता प्रशंसा का पात्र होता है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दाता की शुद्धि विवेचन

महानुभाव! आचार्य महोदय वैय्यावृत्ति के स्वरूप को, दान के स्वरूप को इस 113 वें श्लोक में बता रहे हैं। दान देने वाला दाता नवप्रकार से पुण्य का अर्जन कैसे करे तो नवधाभक्तियों को बताया पुनः सात प्रकार के गुणों से शुद्ध होकर के वह दान की प्रवृत्ति करे। आगे कह रहे हैं 'शुद्धेन' वह दाता शुद्ध हो। शुद्ध दाता के द्वारा ही दान दिया जा सकता है। अशुद्ध दाता सत्पात्रों को दान नहीं दे सकता। यहाँ 'शुद्धि' शब्द से क्या ग्रहण करें? यद्यपि नवधाभक्ति में हम चार शुद्धियाँ देख चुके हैं—मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहारजल शुद्धि। अब इसके अलावा कौन सी शुद्धियाँ बची जिस संबंध में आचार्य महोदय कहना चाह रहे हैं? क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, भावशुद्धि, द्रव्यशुद्धि ये चार शुद्धियाँ भी हैं।

क्षेत्रशुद्धि जहाँ पर उत्तम दाता के द्वारा उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्रों को दान दिया जाता है निःसंदेह वह दाता उस भूमि का भी परिशोधन करे। श्रेणिक चरित्र में आपने पढ़ा होगा कि चेलना महारानी ने मुनिराजों का पड़गाहन किया तो इस प्रकार किया-हे त्रिगुप्तिधारक मुनिराज! अत्र-अत्र, तिष्ठ-तिष्ठ, प्रथम मुनिराज आए वे वहाँ नहीं ठहरे, द्वितीय मुनिराज आए वे भी वहाँ नहीं ठहरे, तृतीय मुनिराज आए वे भी वहाँ नहीं ठहरे। चतुर्थ मुनिराज आए उन्होंने उनकी नवधाभक्ति को स्वीकार करके आहार लेना स्वीकार किया। मुनिराज ने राजा श्रेणिक के महल में प्रवेश किया, भोजनशाला में पहुँचे तो वहाँ से वापस आ गए।

महारानी चेलना को बहुत दुःख हुआ कि मेरे गृह पर आहार हेतु मुनिराज आए और बिना आहार के ही चले गए। तीन मुनिराज तो द्वार से ही लौट गए मेरा ऐसा कौन सा पाप कर्म का, दानान्तराय कर्म का तीव्र उदय कि मैं दान नहीं दे पाई, मेरे ये हाथ आज हाथ नहीं रहे, मानों सर्प के फण बन गए हों। मैं कितनी दुर्भागिनी हूँ, मेरे द्वार से मुनिराज निकल गए क्योंकि आचार्यों ने लिखा है जिस श्रावक के घर के सामने से मुद्रा लेकर मुनिराज निकल जाएँ तो श्रावक का पुण्य क्षीण होता है। वह यदि दान देदे तब तो पाप क्षीण होता है किंतु दान न दे पाए तो पुण्य क्षीण होता है। कदाचित् कोई प्रतिकूलता हो, घर में सूतक-पातक है, तब अलग बात है या उसकी आहार देने की पात्रता नहीं है तो अलग बात है अन्यथा सर्वानुकूलता होने के बावजूद भी यदि दाता पात्रों को दान नहीं दे रहा है, आहार की मुद्रा लेकर मुनिराज, आर्यिकामाता जी, ऐलक-क्षुल्लक जी या क्षुल्लिका माता जी आते हैं और बिना आहार किए चले जाते हैं तो समझना चाहिए उस दाता का पुण्य क्षीण हो गया। जो दाता बिना आहार दिए

स्वयं अकेले भोजन करता है उसके लिए तिरुवल्लुवर काव्य में आचार्य तिरुवल्लुवर स्वामी जी ने लिखा है कि ऐसा व्यक्ति सप्तम नरक के अंधकार का भक्षण करता है। इसलिए दान देकर के आहार किया जाता है।

जब महारानी चेलना मुनिराजों के समीप पहुँची तब तीनों मुनिराजों से निवेदन किया कि हे मुनिवर! मुझसे ऐसी कौन सी भूल हुई। उन्होंने ये नहीं कहा कि आप हमारे यहाँ से क्यों लौट आए, आप तो उन्हीं-उन्हीं के यहाँ जाते हैं। नहीं, उन्होंने कहा-महाराज! हमारे कौन से कर्म का उदय था, हमसे क्या भूल हुई जो आपने हमारा प्रतिग्रह (पड़गाहन) स्वीकार नहीं किया, आप आगे बढ़ गए, क्या कारण रहा? महाराज ने अपना वृतान्त सुनाकर के कहा कि मैं तीन गुप्ति कर धारक नहीं था मेरे पास काय गुप्ति नहीं थी इसलिए मैंने आपका पड़गाहन स्वीकार नहीं किया। दूसरे मुनिराज ने अपना प्रसंग सुनाकर के कहा-उस समय मेरी वचनगुप्ति नष्ट हो गई थी, दो गुप्ति मेरे पास थी। तीसरे मुनिराज ने अपना वृतांत्त सुनाया और कहा मेरे पास मनोगुप्ति नहीं थी इसलिए चेलना के हे त्रिगुप्ति धारक मुनिराज इस प्रकार संबोधन को सुनकर वे मुनिराज नहीं आए। एक मुनिराज की काय गुप्ति नष्ट हो गई, एक मुनिराज की वचनगुप्ति नष्ट हो गई, एक मुनिराज की मनोगुप्ति नष्ट हो गई। अब जो चौथे मुनिराज आए थे, चेलना उनके पास गई और बोली-आपने तो महल में प्रवेश किया अन्नपूर्णागृह तक आए भी पुनः आप बिना आहार ग्रहण किए ही चले आए, ऐसा क्या कारण रहा, हमसे क्या भूल हुई?

मुनिराज ने कहा-जहाँ पर आप आहार दे रहे थे उस क्षेत्र की शुद्धि नहीं थी, वह क्षेत्र अशुद्ध था। क्योंकि मुझे त्रिगुप्ति के साथ-साथ अवधिज्ञान भी है अतः मैंने जाना क्योंकि आपने त्रिगुप्ति धारक विशेषण लगाकर पड़गाहन किया इसलिए मुझे शंका हुई कि विशेषण लगाकर पड़गाहन क्यों? जो मुनिराज तीन गुप्ति के धारक नहीं हैं वे तो तुम्हारे यहाँ आ ही नहीं सकते, जो तीन गुप्ति के धारक साधक हैं, जिन्हें प्रत्यक्षज्ञान है उन्हीं को आपने बुलाया तो मैंने जाना कि जहाँ पर आप आहार देना चाहती थीं वह भूमि अशुद्ध थी। वहाँ की भूमि में कुछ अशुद्ध वस्तुएँ गढ़ी थी। श्रेणिक भी सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ कि महाराज का कितना दिव्यज्ञान है। उसकी जो बौद्धधर्म संबंधी संभ्रान्ति थी वह दूर हुई और उनका कोप भी शमित हुआ।

महानुभाव! यहाँ क्षेत्र शुद्धि की बात कही। मुनिराज आहार को जाएँ और क्षेत्र शुद्धि न हो तो वहाँ मुनिराज का आहार निराकुल नहीं हो पाता। ऐसा कई बार हुआ कि किसी श्रावक के यहाँ आहार को गए, जैसे ही चौके में पहुँचे ऐसा लगा यहाँ कोई जीव मरा पड़ा हुआ है, बदबू नहीं आयी पर लगा, जब बिना आहार लिए लौटकर के आए तो श्रावक ने कारण

पूछा, उसे कारण बताया तब उसने खोजबीन की और कहा वास्तव में हमारे घर के आस-पास गंदगी या जीव मरा पड़ा था। महानुभाव! जब क्षेत्र शुद्धि नहीं होती है तो मुनिराज का आहार नहीं होता। कदाचित् मुनिराज रुक भी जाएँ तो निरन्तराय आहार नहीं हो पाता या कोई अभक्ष्य पदार्थ भोजनशाला में आ जाए या वहाँ पर पर्याप्त मात्रा में प्रकाश नहीं आ रहा है, या हवा Cross नहीं हो रही है तो वह भी क्षेत्र शुद्धि नहीं मानी जाती। स्थान संकीर्ण है तो वह भी क्षेत्र शुद्धि नहीं मानी जाती। क्षेत्र शुद्धि के लिए भी बहुत सारी बातों का ध्यान रखना जरूरी है।

'कालशुद्धि'–आहार देने का जो यथोचित समय है उसी समय आहार देना चाहिए, आहार की बेला टालकर भी आहार नहीं देना चाहिए और आहार बेला के पूर्व भी नहीं। जो सामायिक-स्वाध्याय का समय है, देववंदना-भक्ति-प्रतिक्रमण का समय है उस समय को टाल करके आहार के समय में आहार देना चाहिए यह काल शुद्धि होती है। प्राय:करके साधु सदोषकाल को टाल करके ही आहार करने का भाव रखते हैं। आगे है-**'भावशुद्धि'** दाता का मन निर्मल हो, शुद्ध हो। यदि दाता का मन निर्मल नहीं है तो उस समय दाता दान देकर भी आहारदान का पुण्य नहीं कर पाता। उस समय सात गुणों से समन्वित भाव हों, नवधाभक्ति युक्त भाव हों, उनके भाव क्षमायुक्त हों, कोमल हों, दया से युक्त हों, सरल-सहज हों, परिणामों में पवित्रता हो, उसके परिणामों में संयम की भावना जाग रही हो, संयम से अनुस्यूत परिणाम हों, त्याग-तप की भावना, तत्त्व चिंतन की भावना, परमभक्ति की भावना जाग रही हो, पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की लालसा नहीं हो, शुद्ध भावना हो। दान देकर के अपने जीवन को धन्य व सफल सार्थक बनाने का भाव है तो यह भावना बड़ी प्रशस्त होती है।

'द्रव्यशुद्धि'–द्रव्य शुद्ध होना चाहिए। यद्यपि द्रव्य मे आहारादि सामग्री तो शुद्ध होना ही चाहिए किंतु यहाँ इतना ही नहीं कहा। आपने कायशुद्धि में इतना माना था कि स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर आए, वचनशुद्धि में वचन इष्ट-मिष्ट-शिष्ट हितकारी वचन बोलेंगे, कम से कम उतने समय अप्रिय वचन नहीं बोलना वचनशुद्धि है, मन शुद्धि वह कि मन में कोई दुर्विचार न आए। तो अब 'शुद्धेन' शब्द से आचार्य महाराज और क्या कहना चाहते हैं? आचार्य महाराज 'शुद्धेन' शब्द से कहना चाहते हैं 'पिण्ड शुद्धि'।

'पिण्ड शुद्धि'–दाता की पिण्ड शुद्धि भी होना चाहिए, कुल शुद्धि होना चाहिए। जिस कुल में उत्पन्न होकर वह सत्पात्रों को आहारादि दान दे सकता है, तब उसके यहाँ पात्र आहार ले सकते हैं। जिसके कुल में सत्पात्रों को आहार देने की योग्यता नहीं है वह व्यक्ति आहार नहीं दे सकता। जिनेन्द्र भगवान् के मस्तकोपरि अभिषेक करने का अधिकारी वही होता है जो

उच्चकुल का हो, जिसकी पिण्ड शुद्धि हो। यदि निम्नकुलोत्पन्न है तो वह जिनेन्द्र भगवान् का स्पर्श करने का अधिकारी नहीं है, आहारदान, पूजा-विधान में बैठने का अधिकारी नहीं है। अंग भंग है तो भी अधिकारी नहीं है, असाध्य रोग हो गया हो, शरीर में कहीं घाव है, खून-पीव आदि बह रहा है, मिरगी आदि का जिसे चक्कर आता है, दौरा पड़ता है या वह अचानक ही मूर्च्छित हो जाता है या अन्य कोई भी ऐसी समस्या है तो ऐसा व्यक्ति पूजा-अभिषेक करने का अधिकारी नहीं है और न ही मुनि महाराज को आहार देने का अधिकारी है।

जो अति बाल हो, अतिवृद्ध हो वह भी आहारदान देने का अधिकारी नहीं है। जो अति प्रमादी है या अधिक सोने वाला है कि खड़े-खड़े ही सो गया तो ऐसा व्यक्ति भी पूजा, अभिषेक, आहारदान का अधिकारी नहीं है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति से श्री जी आदि की अविनय हो सकती है। पिण्ड शुद्धि का आशय होता है उसका कुल शुद्ध हो। परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने हरिजनों का जिनमंदिर में प्रवेश का विरोध किया। जब उन्होंने तर्क किया कि क्या हम इंसान नहीं हैं? तब आचार्य श्री ने कहा—हाँ, आप इंसान हैं पर सब इंसान एक जैसे नहीं हैं, इंसानों में भी फर्क होता है। पक्षी सब होते हैं पर पक्षियों में भी भेद होता है, तोता-तोता के साथ बैठता है, मयूर-मयूर के साथ बैठता है, बगुला-बगुला के साथ, सारस-सारस के साथ बैठता है। ऐसे ही पशुओं में भेद होता है, शेर-शेर के साथ, गाय-गाय के साथ, भैंस-भैंस के साथ, हरिण-हरिण के साथ रहता है। तो ऐसे ही मानवों में भी चार प्रकार के वर्ण अनादिनिधन हैं। भगवान् आदिनाथ स्वामी जी ने विदेह क्षेत्र की जैसी सृष्टि है उसके अनुसार यहाँ तीन वर्ण की स्थापना की, भरत चक्रवर्ती ने चतुर्वर्ण की स्थापना की। चार वर्ण की स्थापना यह भी अनादिकालीन है, यह व्यवस्था भी सामाजिक व्यवस्था है, इसके बिना भी व्यवहार धर्म का पालन नहीं किया जा सकता, लोकधर्म का पालन नहीं किया जा सकता।

महानुभाव! पिण्डशुद्धि भी आवश्यक है। यदि कोई यह सोचे कि मैं किसी शूद्र के साथ शादी करके मुनिराज को आहार दे सकूँ तो वह नहीं दे सकता, उसे मंदिर में भगवान् को स्पर्श करने का अधिकार भी नहीं है, भगवान् पर छत्र-चंवर आदि लगाने का अधिकार भी नहीं है, वह दूर से दर्शन कर सकता है। यहाँ शुद्धेन शब्द से यही कह रहे हैं कि उसकी पिण्डशुद्धि भी होना चाहिए। आजकल युवा पीढ़ी कुछ भटक रही है, वह अपने सिद्धान्तों से, संस्कारों से भ्रमित हो रही है। वह अपनी सभ्यता-संस्कृति को नहीं जान पा रही है, पाश्चात्य संस्कृति का उस पर असर हो रहा है इसलिए आजकल कुछ युवा भाई-बहिनें प्रेम के पाश में बँध जाते हैं और विवेक को खोकर के वे अनर्गल प्रवृत्ति करते हैं। वे अपना जीवन साथी

अपने मन के अनुसार चुन लेते हैं, माता-पिता की परवाह नहीं करते, उनके संस्कारों को भुला देते हैं, समाज की बात नहीं मानते, वे बहुत गलत कर रहे हैं। ऐसे एक नहीं सैकड़ों उदाहरण हैं। इस प्रकार का प्रेम विवाह करने वाले महानुभाव जीवन में असफल तो होते ही हैं, अपना जीवन तो दु:खद बनाते ही हैं, वे धर्म के कार्यों से भी नि:संदेह वंचित रह जाते हैं, उन्हें धर्म का कार्य करने का अधिकार नहीं रहता। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय कहना चाहते हैं कि पिण्डशुद्धि भी होना चाहिए। आपका जो वर्ण है उसी वर्ण की कन्या से आप विवाह कर सकते हैं, अन्य निम्न वर्ण की कन्या को आप नहीं ले सकते या निम्न वर्ण का वर अपनी कन्या के लिए नहीं ले सकते। इस प्रकार जिसका कुल शुद्ध है, पिण्ड शुद्धि है वही आहारदान आदि देने का अधिकारी है।

जो व्यक्ति कुसंस्कारवश इस वर्ण-जातिवंश को नहीं मानते हैं वे अविवेकपने से व्यवहार करते हैं। यद्यपि ऐसा अविवेकपना तो पशुओं में भी नहीं पाया जाता, पशु भी अपनी-अपनी जाति के पशु के साथ कामसेवन करते हैं, अन्य जाति के साथ नहीं। यदि मनुष्य अपनी जाति को छोड़ विजाति को स्वीकार करता है तब उसमें मानवता के गुण मानो नष्ट होते चले जा रहे हैं। वह अपने व्रतों में निष्ठ रहे। क्या उसके जाति वाले लड़कों की कमी है जो लड़कियाँ अपनी जाति को छोड़कर अन्य जाति में जाने का भाव रखती हैं। क्या लड़कों के लिए स्वजाति की लड़कियों की कमी है जो वे अन्य जाति की कन्याओं को लेना चाहते हैं। आपके संस्कार अलग हैं, उस कन्या के संस्कार अलग हैं, आपके शरीर में जो धातु-उपधातु का उपचय है वह आपके माता-पिता जिस वर्ण के थे उनका संस्कार है, उस कन्या में उसका संस्कार है, दोनों का मेल नहीं हो सकता इसलिए स्ववर्ण को स्वीकार करना ही उचित है। स्वजाति की, स्ववंश की वृद्धि करना चाहिए, मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। भारतीय संस्कृति में मर्यादा का उल्लंघन करना अपराध है, गुनाह है।

वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि विवर्ण होता है वर्ण का तिरस्कार किया जाता है तो वहाँ जीवन के विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं और जीवन पतित हो जाता है। क्लोन के माध्यम से कई पशुओं की या मनुष्यों की आकृति बनाई जा सकती है, यदि वह शुद्ध है तो उसका प्रभाव पड़ता है। यदि अशुद्ध है तो उसी प्रकार के संकर आदि दोषों से दूषित वह शरीर बनेगा, उसमें उसी प्रकार के संस्कार होंगे। जिसके माता-पिता शुद्ध थे संभव है उसका बालक भी शुद्ध होगा। कदाचित् संगति के माध्यम से संस्कारों में कुछ अन्तर आता है किन्तु मूल संस्कार नष्ट नहीं होते जैसे यदि कोई अन्य वर्ण का व्यक्ति स्ववर्ण में जाकर

सम्मिलित होता है तो आज नहीं तो कल उसके पुराने संस्कार जाग्रत हो जाएँगे और उसके माध्यम से वह सभ्य-श्रेष्ठ व्यक्तियों के बीच बैठने का अधिकारी नहीं रह पाएगा।

महानुभाव! जिस प्रकार कोई व्यक्ति छाछ की मटकी को धोकर के उसमें दूध भर दे तो उसमें छाछ का थोड़ा संस्कार रहता है, अच्छा दूध भी छाछ के अंश से खराब हो जाता है। ऐसे ही किसी संस्कारविहीन कन्या को स्वीकार करने से या संस्कारविहीन लड़के को कोई कन्या स्वीकार करे तो उसका भी वंश भ्रष्ट हो जाता है, नष्ट हो जाता है और ऐसे कुल में पैदा हुई कोई भी कन्या या कुंवर देश की, मानवता की, धर्म की, जाति की उन्नति का कार्य नहीं कर पाता। अपने उदर की पूर्ति तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं, इसमें कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। केवल शरीर के लिए जीवन नहीं जीना है, इस मानव जीवन से परमात्मा की यात्रा की जा सकती है उसके लिए जीवन जीना है। जीवन का लक्ष्य केवल भोगों तक के लिए नहीं है, जीवन का लक्ष्य परमयोग साधना तक होना चाहिए। केवल पेट तक नहीं, पैसे तक नहीं, केवल प्रजनन तक के लिए नहीं। इसके आगे प्रेम है तो उसका विस्तार करो, परमात्मा तक पहुँचो और अपनी प्रतिभा का विकास करो।

महानुभाव! आचार्य महाराज ने पिण्ड शुद्धि के बारे में कहा। आप लोग कुतर्क देते हैं यह जाति क्या होती है? देखो, यह प्राकृतिक नियम है, अनादिनिधन सिद्धान्त है, वृक्ष भले ही एक है किन्तु उसमें भी जातियाँ होती हैं। नीम के पेड़ नीम के साथ होते हैं, आम के पेड़ आम के साथ होते हैं, अंगूर-अंगूर के साथ होते हैं। यदि नीम के पेड़ के बीच में आम का पेड़ लगा दोगे तो आम फल भी कड़वा हो जाएगा, नीम के पेड़ पर यदि अंगूर की बेल भी लगा दोगे तो अंगूर में कड़वापन का जाएगा। तो संगति का प्रभाव आता है, संसर्ग का भी प्रभाव आता है इसीलिए सभी की जाति अलग-अलग होती है। नीम-नीम है वह जामुन नहीं हो सकता, अंगूर-जामुन नहीं हो सकता इसी प्रकार सभी को एक नहीं कह सकते। जैसे कोई कहे कि सब मानव एक हैं, तो भाई! एक नहीं हैं सब अलग-अलग हैं। यदि सब मानव एक हैं तो तुम राष्ट्रपति की कुर्सी पर जाकर क्यों नहीं बैठ जाते, कह दो उससे कि तुम भी मनुष्य हो, मैं भी मनुष्य हूँ। मानव एक है तो जो व्यक्ति सफाई का कार्य कर रहा है उस कार्य को तुम क्यों नहीं करते। क्योंकि सबके अलग-अलग कर्म हैं, प्रारब्ध है, सबके अलग-अलग पुरुषार्थ हैं इसलिए उनको अलग-अलग रखा जाता है।

किसी भी डिपार्टमेण्ट में एक श्रेणी नहीं होती, अलग-अलग श्रेणियाँ होती हैं। स्कूल में विद्यार्थी भी एक नहीं होते, सबकी कक्षाएँ अलग-अलग होती हैं, सबके पेपर अलग-अलग

होते हैं। इसी प्रकार से वृक्ष कहने से सब वृक्ष एक नहीं हो जाते, सबकी जातियाँ अलग-अलग होती हैं। सब मनुष्यों में भी भेद है, यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी सब एक नहीं हो सकती उनमें भी भेद है, कोई स्त्री आपकी माँ हो सकती है कोई स्त्री आपकी पुत्री हो सकती है, कोई पत्नी हो सकती है। क्या आप सभी स्त्री को एक मानकर एक जैसा व्यवहार कर लोगे? नहीं करोगे, क्योंकि आपको यह विवेक है कि सब स्त्री एक नहीं हैं, सब अलग-अलग हैं। ऐसे ही सभी जातियाँ, सभी वर्ण, सभी वंश एक नहीं हैं। पिण्डशुद्धि भी अपना बहुत बड़ा स्थान रखती है। चंदन की लकड़ी और बबूल की लकड़ी एक नहीं हो सकती, सोना और लोहा दोनों धातु हैं किन्तु दोनों एक मूल्य नहीं हो सकते, कस्तूरी और केशर एक नहीं हो सकती, मिशरी और नमक एक नहीं हो सकता, कांच और हीरा एक नहीं है, पीतल और सोना एक नहीं है, सोना और चाँदी एक नहीं है, सब अलग-अलग हैं। क्योंकि सबके गुण-जाति-धर्म-स्वभाव अलग-अलग होते हैं इसलिए उन्हें एक नहीं कह सकते हैं। हम यदि एक कह रहे हैं तो निःसंदेह हम भूल कर रहे हैं, अभी आप अनभिज्ञ हैं, अभी आपको और अध्ययन करना चाहिए।

पिण्डशुद्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि शरीर शुद्धकुल में पैदा हुआ है, उस शुद्ध शरीर में शुद्ध मन निवास कर सकता है और तन-मन शुद्ध हैं तो उसके वचन भी अपने कुलानुरूप होते हैं और फिर वह व्यक्ति धर्म के निकट पहुँच सकते हैं। तो मानव जीवन में पिण्डशुद्धि महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सभी मिट्टी यदि एक होती हैं तो चिकनी मिट्टी से बर्तन बनाए जा सकते हैं और बालू से नहीं क्यों, यदि धातु सब एक हैं तो तांबे के बर्तनों को पूजा के समय क्यों प्रयोग में लाया जाता है, लोहे के बर्तनों को क्यों नहीं लाया जा सकता। यदि धातु सब एक है तो चाँदी के पात्र में रखा जल पीने से अंतरंग में हुए वृण (घाव) ठीक हो जाते हैं क्योंकि चाँदी का पानी बहुत एण्टीबॉयोटिक होता है, वह परिणामों में निर्मलता व शांति देने वाला होता है। यदि वही व्यक्ति सोने का पानी पी ले तो उसे पचाना बड़ा मुश्किल हो जाएगा, रेचक हो जाएगा। तो धातु-धातु में अंतर है, सबके गुणधर्म अलग-अलग हैं। सभी वृक्ष एक जैसे नहीं होते, सभी वृक्ष के गुण तो अलग-अलग हैं ही उस वृक्ष के पुष्प-फल-त्वचा-पत्र-जड़ इनके भी गुणधर्म अलग-अलग होते हैं। किसी वृक्ष का फल विषफल होता है और उसकी जड़ औषधि रूप हो सकती है, पत्ते औषधि रूप हो सकते हैं और पुष्प हानिकारक हो सकते हैं। तो एक ही वृक्ष अलग-अलग अंग अलग-अलग प्रकार के गुणधर्म से युक्त होते हैं। जो व्यक्ति यह मानता है मानव-मानव एक है चाहे कोई किसी को भी अपनी गृहिणी या सहधर्मिणी

बना सकता है तो यह भारतीय संस्कृति के खिलाफ है, यह जैनदर्शन के विरुद्ध है। जो व्यक्ति अभी अपने मानवीय कर्त्तव्यों को ही नहीं समझ पाया वह व्यक्ति अभी सामान्य ज्ञान से भी हीन है इसलिए इस प्रकार की अनर्गल बातें कर रहा है।

महानुभाव! पूज्य आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज, धर्मसागरजी महाराज, आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज आदि अन्य बड़े-बड़े आचार्य हुए उन्होंने कभी भी पिण्डशुद्धि का अपवाद नहीं किया, किसी से ये नहीं कहा कि पिण्डशुद्धि कुछ नहीं है। वर्तमान के भी जितने आचार्य हैं वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं। वर्तमानकाल के विद्वान् किसी भी धर्म व सम्प्रदाय के हों यदि सही विद्वान् हैं, तलस्पर्शी ज्ञानी हैं तो कोई भी विद्वान् यह नहीं कह सकता कि वर्णशुद्धि-पिण्डशुद्धि का कोई महत्व नहीं है; महत्व है। क्योंकि लोहे से कभी स्वर्ण के आभूषण नहीं बनते, काँच कभी हीरे की समानता को प्राप्त नहीं कर सकता दोनों के गुण-धर्म अलग-अलग हैं, भले ही बाह्यवर्ण एक सा दिखाई दे जाए।

आगे इसी श्लोक में आचार्य महोदय कह रहे हैं 'अपसूनारम्भाणाम्' पंचसून होते हैं अर्थात् पाँच प्रकार की आरंभजनित क्रियाओं के माध्यम से पाप का आस्रव होता है, सावद्य होता है इसलिए जो भी त्यागीव्रती साधु होते हैं वे पंचसून से रहित होते हैं। वे पाँचसून कौन-कौन से होते हैं तो आचार्यों ने लिखा है-

खंडनि प्रेषणि चुल्ली उदकुंब प्रमार्जिनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति॥

जो गृहस्थ इन आरंभ में लीन रहता है वह कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है और जो इन पंचकार्यों को करता है वह साधु नहीं गृहस्थ जैसा है। 'खण्डनि' अर्थात् कूटना, 'प्रेषणि'-पीसना 'चुल्ली'-चूल्हे पर रोटी आदि बनाना 'उदकुंब' पड़हरी, घिनोची, पानी आदि भरना 'प्रमार्जिनी'-झाड़ू आदि लगाना। ये पंच सूना हैं, ये गृहस्थ के कार्य हैं, यह कार्य साधु नहीं कर सकता क्योंकि इन कार्यों को करते हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस पंचसूनों का त्याग करने वाला ही आर्य है। साधु वह है जो आरंभ न करे, खेती न करे, किसी की नौकरी नहीं करे, व्यापार नहीं करे, किसी विद्या तथा शिल्प आदि का प्रयोग न करे। माना कि वह साधु बन गया और वह कोई कला जानता था अब वह खिलौने बना रहा है, मटके बना रहा है या अन्य कोई वस्तु बना रहा है तो साधु बनकर अब वह नहीं कर सकते। कोई भी आरंभ-सारंभ कृषि-वाणिज्यादि नहीं कर सकते, सभी का त्याग जरूरी है। जो इस आरंभ-परिग्रह से रहित

है, विषय-कषायों से रहित है, पंचेन्द्रियों पर विजय करने वाला है, जो ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहता है वही साधु प्रशंसा के योग्य होता है।

'आर्याणां' ऐसे आर्यपुरुषों को, ऐसे साधुजनों को आहार दिया जाता है। यदि कोई साधक पंचसूना आदि कार्यों मे व्यस्त है, संलग्न है, ऐसे कार्यों में संलग्न होने वाला वह साधु साधना कैसे कर पाएगा।

एक साधु से लोकव्यवहार को देखकर लोगों ने कहा नग्न नहीं रहो, महाराज एक लंगोटी धारण कर लो। उन्होंने लंगोटी धारण कर ली। अब लंगोटी धोने का विकल्प, सुखाने का विकल्प, जहाँ सुखाने डालते थे वहाँ चूहा काट जाता था, चूहे से बचाने के लिए उन्होंने एक बिल्ली पाल ली, बिल्ली को पालने के लिए एक गाय पाल ली, गाय को पालने के लिए शादी कर ली, स्त्री के भरण-पोषण के लिए राजा से एक खेत भी ले लिया, उसके लिए अपनी एक झोंपड़ी-आश्रम बना लिया। राजा आया-बोला-महाराज! क्या बात है आप तो हम जैसे गृहस्थ हो गए, आप तो बड़े अच्छे साधक थे। वे बोले आपने कहा था न कि यह दिगम्बर अवस्था ठीक नहीं है एक कोपीन ले लो, उस एक कोपीन का यह कमाल हो गया कि आज पूरी गृहस्थी बस गई। इसलिए साधक वह है जो परिग्रह का त्यागी होता है-

फाँस तनक सी तन में साले, चाह लंगोटी की दुःख भाले।

यदि साधु के मन में लंगोटी की भी चाह है तो वह दुःख का ही कारण है। इसलिए कहा वह पंचसून से भी रहित रहे, आरंभ-परिग्रह से भी दूर रहे। परिग्रह के रूप में स्वर्ण-रत्न आदि रखेंगे तो कोई बदमाश लोग आएँगे, डाका डालेंगे, मारपीट करेंगे, वह साधक साधना कहाँ से कर सकेगा। जो साधु परिग्रह रखता है उसका मन परिग्रह में लगा रहता है, वह साधु साधना नहीं कर पाता। आप कहेंगे तीर्थंकरों का भी तो समवसरण होता है। अरे! तीर्थंकरों का समवसरण होता है किन्तु तीर्थंकर वीतरागी होते हैं, वे क्षीणमोह वाले होते हैं, वे सयोगकेवलि हो गए उनकी समवसरणादि विभूति में कोई स्पृहा नहीं है, वे निस्पृह हैं। इस प्रकार की निस्पृह बुद्धि वर्तमान के साधुओं में नहीं हो सकती। ईहा अर्थात् इच्छा तो हो सकती है किन्तु निरीहता नहीं हो सकती। यदि कोई वस्तु रखेंगे तो उसमें ईहा हो जाएगी। तो आज के साधु तीर्थंकर केवली का उदाहरण देकर के अपने आपको परिग्रह से संलिप्त न करें। कहने लगें कि उनके पास इतना वैभव होता है तो हमने यदि कुछ धन वैभव रख लिया तो क्या हो गया। तो ऐसा नहीं करना चाहिए, ऐसा नहीं कर सकते। हाँ, यदि साधु ध्यान में बैठा है और कोई व्यक्ति साधु के पास कोई वस्तु रख गया, साधु को ज्ञात नहीं है तो उसका विकल्प ही नहीं है, यदि

उनकी बुद्धि में आ गया कि कोई वस्तु रखी है तो बुद्धि में आते ही वह साधु उस परिग्रह से संलिप्त हो जाएगा।

'आर्याणां' शब्द से चतुर्विध संघ को भी स्वीकार किया जा सकता है। मुनि–आर्यिका–श्रावक–श्राविका। यद्यपि मुनियों का चार प्रकार का संघ जिसमें ऋषि, मुनि, यति, अनगार ये चार संघ होते हैं वह मुनि संघ होता है। एक चतुर्विध संघ होता है। प्रत्येक तीर्थंकर के समवसरण में यह चार प्रकार का संघ होता है। ऐसे कोई भी तीर्थंकर नहीं हुए जिनके समवसरण में चार प्रकार का संघ नहीं हुआ हो। प्रत्येक तीर्थंकर के समवसरण में मुनि भी होते हैं, आर्यिकाएँ भी होती हैं, श्रावक व श्राविकाएँ भी होती हैं। और आचार्य भी चतुर्विध संघ का संचालन करते हैं। आचार्य भी पंचमकाल में तीर्थंकर के समान धर्म प्रवर्तक, धर्म की प्रभावना करने वाले होते हैं और आचार्य रूपी उस सघन वृक्ष की छाया भव्यजन लेते हैं। जो आचार्य रूपी वृक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र से सहित है, जिस आचार्य रूपी वृक्ष की जड़ सम्यग्दर्शन है, तना सम्यग्ज्ञान है और चारित्र उसकी शाखाएँ हैं, तप रूपी जिसमें पत्ते लगे हुए हैं, ध्यान रूपी जहाँ पुष्प खिल रहे हैं ऐसे वृक्ष पर मुनिजन आदि चतुर्विध संघ आश्रय को प्राप्त होता है।

महानुभाव! यहाँ पर जो दान के लिए पात्र बताया कि– 'आर्याणां मिष्यते दानम्' ऐसे चतुर्विध संघ को दान दिया जाता है। जो व्यक्ति पात्र–कुपात्र का भेद किए बिना, जिसको मन आया उसको दान देना प्रारंभ कर दे तो ऐसा समझना चाहिए वह व्यक्ति विवेकहीन होगा, वह तो बस ऐसा ही है जिसने अपना मुख मीठा करने के लिए जो कुछ भी हाथ में आया वह खा लिया, चाहे मिर्ची खाई या खटाई या अन्य पदार्थ। चाहे जो कुछ भी खाने से मुख मिष्ट नहीं होता, मिष्ट पदार्थ को खाने से ही मुख मीठा होता है, ऐसे ही चाहे जिस किसी को दान देने से समीचीन दान का फल प्राप्त नहीं होता, सुपात्रों को दान देने से ही सुपात्र दान का फल प्राप्त होता है। वे सत्पात्र उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकार के होते हैं। दाता का जितना पुण्य हो उस पुण्य के अनुसार जैसे पात्र का लाभ प्राप्त होता है उन पात्रों को नवधाभक्तिपूर्वक, सप्तगुण व विशेष 21 गुणों से सहित होकर शुद्धिपूर्वक, विधिपूर्वक दान दे। जिससे वह समीचीन और समग्र फल प्राप्त करने में समर्थ हो सके और परम्परा से आत्मकल्याण भी कर सके। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सच्चे दान का फल

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥114॥

अन्वयार्थ–जिस प्रकार **वारि** – जल **अलं** – अच्छी तरह **रुधिरं** – खून को **धावते** – धो देता है उसी प्रकार **गृहविमुक्तानाम्** – गृह रहित **अतिथीनां** – मुनि आदि व्रती पुरुषों की **प्रतिपूजा अपि** – प्रतिपूजा भी **खलु** – निश्चय करके **गृहकर्मणां** – घर के कार्यों से **निचितं** – संचित किए हुए **कर्म** – कर्मों को **विमार्ष्टि** – नष्ट कर देती है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में यहाँ बता रहे हैं कि दान देने से क्या लाभ प्राप्त होता है। जिस फल की प्राप्ति दान के माध्यम से हो सकती है उसी प्रकार के फल की प्राप्ति क्या अन्य किसी माध्यम से हो सकती है? जो पुण्य दान से प्राप्त किया जा सकता है वह पुण्य क्या अन्य किसी कार्य से प्राप्त किया जा सकता है? नहीं। क्योंकि जिस कारण से जो कार्य होता है वह कार्य उसी कारण से होता है, अन्य से नहीं हो सकता है। पूजन से पूजा का पुण्य प्राप्त होता है। पूजन करने वाला पूजक संसार में पूज्यता को प्राप्त करता है और दान देने वाला व्यक्ति संसार के अपरिमित भोगों को प्राप्त करता है। दान वाला पुण्य पूजा से प्राप्त नहीं होता। दान देने वाले व्यक्ति के घर में कभी गरीबी नहीं आती और पूजा करने वाला व्यक्ति यदि अंतरंग से परमात्मा की पूजा करता है तो उसका कोई अपमान नहीं करता, यदि भूल से अपमान हो जाए तो वह पश्चाताप करेगा, उससे 100 बार क्षमा माँगेगा।

महानुभाव! दान का फल दान से ही मिलता है। पैर में यदि काँटा चुभ जाए तो लोहे की छोटी सी सुई उस काँटे को निकालने में समर्थ होती है, उसी लोहे से बनी तलवार फरसा या फावड़ा क्या काँटे को निकाल सकते हैं? नहीं निकाल सकते। तो जो काम जिससे होता है वह उसी से होता है अन्य से नहीं हो सकता। यदि कान में खुजली हो रही हो तो कनिष्ठ से क्यों खुजाते हैं अँगूठे से क्यों नहीं खुजाते? तिलक लगाने के लिए अनामिका अँगुली का प्रयोग क्यों किया जाता है तर्जनी का प्रयोग क्यों नहीं करते? किसीको डाँटना हो तो तर्जनी का प्रयोग करते हैं, कनिष्ठा का प्रयोग क्यों नहीं करते? तो जो कार्य जिसके माध्यम से किया जाता है वह उसी के माध्यम से किया जाए तो उचित होता है, वही सम्यक् और समीचीन फल को देने में समर्थ होता है।

महानुभाव! दान से जो फल प्राप्त होता है वह फल पूजा से नहीं, पूजा से जो फल प्राप्त होता है वह फल दान से प्राप्त नहीं होता, जो फल भक्ति से होता है वह उपवास से नहीं और जो उपवास से प्राप्त होता है वह भक्ति से नहीं, जो फल संयम-साधना से प्राप्त होता है वह भक्ति से नहीं, जो फल तप-ध्यान से प्राप्त होता है वह अन्य पुण्य क्रिया से नहीं। सबका फल अलग-अलग है। भोजन की थाली में भोजन तो सब एक है, सारा भोजन करने के लिए ही है किन्तु जो स्वाद रायते में आ रहा है वह रसगुल्ला में नहीं आता और जो स्वाद खीर में आता है वह हलवे में नहीं आता। जो स्वाद शरबत में है वह चटनी में नहीं। यद्यपि सभी भोजन सामग्री है तदपि सब अलग-अलग है। ऐसे ही पूजा, भक्ति, स्तुति, वंदना, उपवास आदि सब पुण्य की क्रियाएँ हैं, उसके उपरांत भी सभी क्रियाओं का अलग-अलग महत्व है।

कोई कहे मैं पुण्य करता तो हूँ, सुबह-सुबह भगवान् के दर्शन कर लेता हूँ। तो ठीक है, कोई तुम्हारी थाली में रोटी परोस देगा तो सिर्फ रोटी ही खालो। फिर क्यों कहते हो इसमें सब्जी-दाल तो है ही नहीं। सामने वाला कहेगा क्यों भाई क्या रोटी खायी नहीं जाती? हाँ भाई, खाई तो जाती है पर सब्जी तो हो। तो जैसे रोटी के लिए सब्जी आवश्यक है वैसे ही धर्मात्मा को भगवान् की पूजा-भक्ति के साथ दान देना भी आवश्यक है। जैसे सब्जी में नमक आवश्यक है वैसे ही आहारादि चार दान देना आवश्यक है। कोई कहे मैं आहारदान देता हूँ, शास्त्र छपवाने की क्या आवश्यकता है? कोई कहे मैं आहारदान तो देता हूँ औषधिदान की क्या आवश्यकता है? आहारदान देता हूँ तो बसतिकादि दान की क्या आवश्यकता है? तो जैसा दोगे वैसा पाओगे। खेत में सरसों बो दी और इतंजारी करो कि गेहूँ आ जाएँ, तो गेहूँ काटने नहीं मिलेंगे। चना बोओगे तो चना ही मिलेंगे, जौ नहीं और यदि कोई व्यक्ति अपने खेत में गेहूँ न बोए बाकी सब कुछ बो दे तो क्या गेहूँ का फल प्राप्त हो जाएगा? नहीं, गेहूँ का फल तो सिर्फ और सिर्फ गेहूँ की फसल बोने पर ही मिलेगा, ऐसे ही दान का फल मिलेगा तो सिर्फ दान से ही मिलेगा, अन्य क्रियाओं से दान का फल नहीं मिलेगा।

अर्हद्भक्ति के बिना निधत्ति और निकाचित कर्मों को नष्ट नहीं किया जा सकता, चाहे कितना ही पुण्य कर लिया जाए। भगवान् ऋषभदेव को 13 माह 8 दिन तक आहार क्यों नहीं मिला? उनके अंतरायकर्म का उदय था। उन्होंने इतनी तपस्या की उससे वह कर्म नष्ट नहीं हुआ क्योंकि निधत्ति निकाचित कर्म ऐसे नष्ट नहीं होते वे अर्हद्भक्ति से नष्ट होते हैं। उन्होंने सिद्धोपासना तो की किन्तु अर्हद्भक्ति नहीं की। या तीर्थंकर पार्श्वनाथ पर उपसर्ग आया कोई ऐसा निधत्ति-निकाचित कर्म जो तपस्या से नष्ट नहीं हुआ उसके लिए अर्हद्भक्ति करना जरूरी होता है। अर्हद्भक्ति से जो कर्म नष्ट हो सकता है वह अन्य क्रिया से नष्ट नहीं हो सकता।

कई बार व्यक्ति हमारे पास आते हैं और कहते हैं महाराज जी! ऐसा कोई पुण्य कार्य बताओ जिससे बहुत सारा पुण्य मिले, आप ही हमें निर्णय दो कि मैं पूजा-विधान करूँ या चौके में जाऊँ क्योंकि प्रात:काल का समय ही मेरा पूजन करने का है और वही समय मेरा चौके में काम करने का है। अब दोनों में से पुण्य किसमें ज्यादा मिल रहा है। यदि दान में मिलता हो तो मैं पूजा करना छोड़ दूँ और पूजा में मिलता हो तो मैं दान देना छोड़ दूँ। तब उसके लिए उत्तर यही देना पड़ता है कि भैया! जब तुम्हें भूख प्यास लगती है तब भोजन ज्यादा जरूरी है या पानी ज्यादा जरूरी। यदि पानी न पीओ अकेला भोजन करो तो कैसा लगेगा? प्यास के मारे ऐसा लगेगा जैसे कंठ में अंगारा चिपका हुआ है। और यदि भोजन न मिले सिर्फ पानी-पानी पिला दो तो? ऐसा लगेगा कि पेट पीठ से जाकर चिपक गया हो, खड़े-खड़े ही चक्कर आने लगेंगे। तो भोजन भी जरूरी है और पानी भी जरूरी है। ठीक ऐसा ही समझ लो कि पूजा भी जरूरी है, भगवान् की भक्ति भी जरूरी है, स्वाध्याय भी जरूरी है, व्रत-उपवास भी जरूरी है, संयम भी जरूरी है, जाप लगाना भी जरूरी है, तीर्थयात्रा भी जरूरी है, परोपकार करना भी जरूरी है, यह सभी कार्य जरूरी हैं।

भोजन में रोटी-दाल-सब्जी आदि सब होता है किन्तु जिसे जितना ज्यादा स्वाद चाहिए, जितना पौष्टिक रुचि के अनुसार भोजन चाहिए उतने प्रकार की वस्तुएँ आप पसंद करते हैं, एक से आपका काम नहीं चलता; ऐसे ही एक पुण्य क्रिया से काम मत चलाओ, अनेक पुण्य क्रियाएँ आवश्यक होती हैं। रोटी खाते-खाते मन ऊब गया तो पूड़ी-पराठें खाते हैं, मंगोड़ी-पकौड़ी-कचौड़ी न जाने क्या-क्या खाते हो, एक पेय से मन ऊब गया तो दूसरा-तीसरा पेय पीते हो। ऐसे ही कई बार व्यक्ति कहते हैं, महाराज जी! एक क्रिया करते-करते अब मन नहीं लग रहा, सिर्फ जाप-ही जाप लगाने में मन नहीं लग रहा तो भैया स्वाध्याय करने बैठ जाओ, स्वाध्याय करने में मन नहीं लग रहा तो जाप लगाने बैठ जाओ, उपवास की इच्छा है तो उपवास कर लो, और एक स्थान पर रहते-रहते मन नहीं लग रहा तो तीर्थयात्रा कर आओ। यहाँ इस मंदिर में विशुद्धि कम बढ़ रही है तो दूसरे मंदिर चले जाओ।

महानुभाव! कहने का अभिप्राय यह है कि दान भी आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि जीव प्रभु भक्ति करने से स्वर्ग तो जा सकते हैं किन्तु भोगभूमि नहीं जा सकते। भोगभूमि जाने वाला जीव भले ही सम्यग्दृष्टि नहीं, किंतु दान दिया है, दिलाया है या अनुमोदना की है तो वह भोगभूमि को प्राप्त कर सकता है। भोगभूमि की प्राप्ति का कारण है दान देना, दिलाना वा अनुमोदना करना। उस दान का फल क्या अन्य किसी क्रिया से प्राप्त हो सकता है? नहीं। महानुभाव!

आचार्य महोदय इस 114 वें काव्य में दान का फल बता रहे हैं और उदाहरण देकर समझा रहे हैं। चरणानुयोग के ग्रंथ में भी प्रथमानुयोग की आवश्यकता है, उदाहरणों की आवश्यकता है। प्रथमानुयोग तो अपने आप में उदाहरण ग्रंथ है ही। चरणानुयोग-करणानुयोग-द्रव्यानुयोग के ग्रंथों को समझाने के लिए भी उदाहरण की आवश्यकता होती है। क्योंकि **'दृष्टान्तेन स्फुटायते मतिः'** दृष्टातों के द्वारा मति स्फुटित होती है, प्रकट होती है, वृद्धि को प्राप्त होती है। तो यहाँ पर भी ऐसा उदाहरण दे रहे हैं। **'रुधिरमलं धावते वारि''** यदि वस्त्र पर खून का दाग लग जाए तो वस्त्र पर लगा वह दाग खून से नहीं धोया जा सकता, हिंसा को हिंसा से दूर नहीं किया जा सकता, असत्यवादी को असत्य बोलकर नहीं हराया जा सकता, उसे व उसके असत्य को यदि पराजित करना है तो सत्य के माध्यम से। असत्य से तो असत्य बढ़ता चला जाएगा। चोरी करके चोर को अचौर्य व्रत नहीं दिया जा सकता, अब्रह्म से अब्रह्म का पाप नहीं धोया जा सकता, परिग्रह से परिग्रह संचय का पाप नहीं धोया जा सकता है, कीचड़ से कीचड़ का दाग नहीं धोया जा सकता, गंदगी से गंदगी साफ नहीं होती ऐसे ही वस्त्र पर लगा खून का दाग खून से नहीं धुलता। एक दाग को दूर करने के लिए एक गिलास पानी भी आ गया तो पर्याप्त है किन्तु एक खून का दाग साफ करने के लिय यदि खून कितना भी लगा दिया जाए तो भी वस्त्र साफ नहीं होगा। कोई वस्त्र तेल-घी आदि से चिकना हो गया वह धूल के कण भी ग्रहण कर रहा है तो वस्त्र को तेल या घृत से धोएँगे तो क्या वस्त्र साफ हो जाएगा? उसकी चिकनाई दूर हो जाएगी? नहीं होती, वरन् चिकनाई बढ़ ही जाएगी। ऐसे ही खून से खून का दाग साफ नहीं होता।

आचार्य भगवन् कह रहे हैं **'गृहकर्मणां अपि'** जो गृहस्थ, गृहस्थ जीवन में रहते हुए आरंभ-सेवा-वाणिज्यादि कार्य करते हैं या पंचूसन आदि कार्य करता है, उन कार्यों को करने से हिंसा होती है। उन पापों का क्षय कैसे किया जाए? उन कर्मों का क्षय करने के लिए 'गृह विमुक्तानां अतिथीनां प्रतिपूजा' जो गृहत्यागी हैं, जितने भी पिच्छीधारी हैं वे सब गृहत्यागी कहलाते हैं, दसवीं प्रतिमा वाला भी गृहत्यागी कहलाता है, अन्य व्रती भी गृहत्याग की भावना भाते हैं। ऐसे साधु-संत जिनके आने-जाने की तिथि निश्चित नहीं है उनको आहारदान देने से, उनका सम्मान-विनय करने से, भक्ति-स्तुति से वह पाप कर्म का दाग छूट जाता है, जैसे जल के माध्यम से रक्त दाग छूट जाता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि दान देना भी अत्यंत आवश्यक है। दान का फल अन्य किसी पुण्य क्रिया से संभव नहीं है। यह दान गृहकार्यों द्वारा अर्जित पापों को नष्ट करने का जल है। पूजादि से अन्य कर्मों का नाश किया जाता है।

महानुभाव! जब अतिथि के प्रति नवधाभक्तिपूर्वक, सप्तगुणों से युक्त हो दान दिया जाता है तो परम आनंद की अनुभूति होती है। उस परम आनंद के माध्यम है गृहस्थजीवन में संचित किए गए पापकर्म तुरंत नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय होते ही अंधकार नष्ट हो जाता है। वह अंधकार लाठियों के मारने से नहीं भागता सूर्य के उदय से जाएगा। ऐसे ही दान अपने चित्त में दीपक जलाने जैसा है, तो आप भी दान में प्रवृत्ति अवश्य करें और दानात् शांति, दानात् सुखम्, दानात् विरक्ति ये सब सूत्र हैं, दान के माध्यम से सुख-शांति मिलती है, दान से वैराग्य की वृद्धि होती है। यह सब आपको प्राप्त हो, हम आपके प्राप्ति ऐसी भावना भाते हैं और इन्हीं भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

किस-किस वैय्यावृत्य से क्या फल मिलता है

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥115॥

अन्वयार्थ–तपोनिधिषु – तपस्वी मुनियों को, **प्रणतेः** – नमस्कार करने से, **उच्चैर्गोत्रं** – उच्चगोत्र मिलता है, **दानात्** – दान देने से, **भोगः** – भोगोपभोगसामग्री मिलती है, **उपासनात्** – उपासना से, **पूजा** – पूजा होती है, **भक्तेः** – भक्ति से, **सुन्दररूपं** – सुन्दर शरीर/रूप प्राप्त होता है, **स्तवनात्** – स्तवन करने से, **कीर्तिः** – कीर्ति प्राप्त होती है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना के अन्तर्गत श्रावकों के 4 शिक्षाव्रतों का विवेचन चल रहा है। चतुर्थ शिक्षाव्रत वैय्यावृत्ति वा अतिथि संविभाग के संबंध में 111, 112, 113, 114 ये चार श्लोक देखे। अब यहाँ पर 115वें श्लोक में तपस्वी साधुओं की वैय्यावृत्ति के प्रभाव से और क्या-क्या फल की प्राप्ति होती है वह बताते हैं।

'वैय्यावृत्ति' शब्द में केवल पैर आदि का मर्दन ही नहीं होता, वैय्यावृत्ति शब्द में केवल आहार आदि दान देना ही नहीं होता, वैय्यावृत्ति शब्द में केवल शास्त्रदान, औषधिदान, अभयदान या संयम के उपकरण पिच्छी, कमण्डल, पाटा-चटाई आदि का दान मात्र नहीं होता। वैय्यावृत्ति शब्द का अर्थ इतना विशद है उसमें पूजा-भक्ति-स्तुति-गुणगान-नमस्कार-कीर्ति आदि सब समाहित होते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि तपस्वी साधुओं की चाहे सेवा करो, चाहे उनको प्रणाम करो, चाहे उनकी स्तुति करो, चाहे भक्ति करो, चाहे यशगान करो, चाहे अन्य प्रकार से उनका नामोच्चारण करो, चाहे उनको अंतरंग में स्मरण करो वे तपोधन हैं, विनयपूर्वक श्रद्धाभक्ति से जो भी उनके प्रति विनम्र आचरण किया जाता है वह सातिशय पुण्य का अर्जक तो होता ही है, पापों का क्षय करने वाला भी होता है। जिस प्रकार एक पुष्प को दाँये हाथ में लेकर सूँघो चाहे बाएँ हाथ में लेकर सूँघो, चाहे पुष्प को माला बनाकर गले में पहनो, चाहे पुष्प की शय्या बनाओ, चाहे पुष्प को अपने कमरे में सजाओ उस पुष्प में से गंध ही आती है दुर्गन्ध नहीं आती।

सत्पात्रों को दान देने से, उनकी भक्ति-पूजा-गुणगान करने से सातिशय पुण्य का बंध होता है। कुपात्रों को दान आदि देने से निःसंदेह पाप का बंध होता है। सुपात्र तो चंदन की

लकड़ी की तरह से है। चंदन की लकड़ी को चाहे जैसे भी घिसो, चाहे उसका चूर्ण बनाओ, चाहे लेप बनाओ वह चंदन अपनी गंध नहीं छोड़ता। साधु तो नदी की धार की तरह से है, चाहे नदी किनारे जाकर बैठ जाओ, चाहे खड़े हो जाओ, चाहे नदी किनारे भ्रमण करो, चाहे नदी में अवगाहन करो, उसकी शीतल लहर ताप को दूर करती है। साधुजन तो वृक्ष की सघन-शीतल छाया की तरह से होते हैं, कोई ताप से तपा हुआ व्यक्ति वृक्ष की शीतल छाया में जाकर के चाहे दोनों पैरों से खड़ा हो जाए या एक पैर से खड़ा हो जाए, चाहे वहाँ बैठे या विश्राम करे, चाहे वहाँ बैठकर वार्ता करे या कुछ याद करे, वृक्ष की छाया निःसन्देह उसके आताप को दूर करने में समर्थ होती है। साधु पुरुष तो प्रज्ज्वलित दीपक की तरह से होते हैं, प्रज्ज्वलित दीपक जहाँ होता है वहाँ अपना प्रकाश छोड़ता है, उस प्रकाश का कोई किसी भी प्रकार से सदुपयोग कर सकता है, चाहे कोई अध्ययन करे या अन्य किसी भी कार्य को सम्पन्न करे। साधु पुरुष तो वृक्ष की तरह से होते हैं, वृक्ष फल देता है, फल सुमधुर होते हैं, चाहे उन फलों को बालक खाए, युवा खाए या वृद्ध खाए या कोई पशु-पक्षी भी खाए, फल अपनी मिठास जरूर देता है। जिस-जिसने इन सबका सदुपयोग किया है उन सभी ने उसके उत्तम और समग्र फल को प्राप्त किया है।

महानुभाव! साधु पुरुष सूर्य और चन्द्रमा की चाँदनी की तरह से हैं, जिस तरह सूर्य-चन्द्रमा अपने प्रकाश का किसी पर संकोच नहीं करता, सबके लिए देता है चाहे वह महल राजा का हो, चाहे घर किसी श्रेष्ठी का हो, चाहे सामान्य व्यक्ति का हो, चाहे किसी भिखारी का हो, चाहे किसी सामान्य प्रजा का हो, सूर्य-चन्द्रमा कभी अपनी किरणों का संकोच नहीं करते उसी प्रकार साधु पुरुष जहाँ पर विराजित हो जाते हैं वहाँ पर जंगल में रहने वाले हिंसक-वन्य जन्तु भी अपने वैर-भाव छोड़ देते हैं। उनके प्रभाव से शुष्क वृक्षों पर पुष्प-पत्र और फल आ जाते हैं। सूखे कुएँ भी जल से परिपूर्ण हो जाते हैं। साधु पुरुषों का महात्म्य अचिन्त्य है। आचार्य महोदय साधुओं की विनय- पूजा-भक्ति आदि के संबंध में बता रहे हैं। जिस भव्यजीव की प्रवृत्ति इन पाँच प्रकार से होती है उन पाँच प्रवृत्तियों का क्या-क्या फल होता है वह फल यहाँ बताया।

आचार्य समंतभद्रस्वामी जी की भाषा बड़ी प्रामाणिक, नैय्यायिक और गणित के सूत्रों की तरह से असंदिग्ध है। उनकी भाषा बड़ी प्रांजुल है। उनकी भाषा में जहाँ अलंकार आदि समन्वित हैं वहीं न्याय भी देखने को मिलता है। कहीं वे उदाहरणों का प्रयोग करते हैं तो कहीं वे सिद्धान्तों की व्याख्या भी करते हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी की शैली अपने आप में बड़ी अलौकिक है, जिसे हम पढ़ते हैं, चिंतवन करते हैं तो ऐसा लगता है मन की नयी-नयी

गुत्थियाँ खुलती चली जा रही हैं। उसके माध्यम से नव-नव संवेग और वैराग्य की प्राप्ति होती है। जो ज्ञान दीप है उसमें उनके शब्दों के माध्यम से भावों का घृत जाता है तो चित्त की क्षयोपशम रूपी वर्त्तिका-दीपक की ज्योति वृद्धि को प्राप्त होती जाती है। जैसे दीपक में ज्योति जल रही है, घृत कम है तो वह वर्त्तिका न्यून रूप से जल रही है, उस वर्त्तिका में घृत पर्याप्त से भी ज्यादा प्राप्त हो जाए तो वर्त्तिका से ज्योति और ज्यादा बढ़ती चली जाती है। ऐसे ही आचार्य समन्तभद्र स्वामी के शब्दों को चित्त में ले जाते हैं तो उन शब्दों के माध्यम से चित्त में बढ़ने वाली विशुद्धि रूपी वर्तिका निःसंदेह ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ाने वाली होती है।

आप जानते हैं 2 + 2 = 4 होते हैं। अब हम आपसे कहें 2 + 2 कितने होते थे? तो आप कहेंगे 4। हम पूछें कि 2 + 2 कल कितने होंगे? तब भी आप कहेंगे = 4। तो 2 + 2 = 4 होते थे, होते हैं और निकट भविष्य में भी होंगे, दूरवर्ती भविष्य में भी होंगे और वर्तमान के क्षण में भी 2 + 2 = 4 ही होंगे। इसमें किसी को कोई संदेह नहीं है, आप सभी जानते हैं। कोई आपसे कहे– 4-2 = कितना बचेगा? तो कहेंगे 2 बचेगा। हाँ, आज तो दो बचेंगे, कल यदि घटाते तो कितने बचते, दो ही बचते, और संख्यात-असंख्यात वर्ष पूर्व भी 4-2 करते तो भी दो ही बचते। इसमें आपको कोई संदेह नहीं। यदि कोई व्यक्ति 6/2 करता है तो 3 आएंगे, कल भाग देगा तो भी 3 आएँगे, आने वाले कल में भी 3 ही आएँगे। उसी प्रकार गुणा करो, वर्ग करो, घन करो, वर्गमूल, घनमूल, घनवर्ग, संवर्गित वर्ग, घनाघन वर्ग आदि गणित आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने धवला पुस्तक 3 में दी है।

महानुभाव! जिस प्रकार आपको इस गणित पर विश्वास है उसी प्रकार प्रमाणिक आचार्य समंतभद्रस्वामी जी के यह सूत्र हैं इनमें किंचित् भी शंका नहीं की जा सकती। यह सार्वभौमिक सत्य है। जैसे आप कहते हैं सूर्य का उदय पूरब दिशा से होता है, सूर्य अस्त पश्चिम दिशा में होता है। निबोली कहाँ लगती है? तो नीम के पेड़ पर। बादाम कहाँ लगता है? बादाम के पेड़ पर। सभी फल अपने-अपने वृक्ष पर ही लगते हैं। यह बात सत्य है इसको विश्व के सभी लोग मानते हैं न? हाँ मानते हैं, ऐसे ही सत्य ये भी है कि तपस्वियों में जिसकी प्रवृत्ति प्रणाम रूप है चाहे वह मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि हो यदि वह प्रणाम कर रहा है तो उसे पुण्य का आस्रव होगा, पाप का नहीं। और उच्चगोत्र पुण्य प्रकृति है। आचार्य महोदय कह रहे हैं **''उच्चैर्गोत्रं प्रणतेः''** तपस्वियों के चरणों में अपना मस्तक रखने से, तपस्वियों के चरणों में प्रणाम करने से, तपस्वियों की पदरज को भी प्रणाम करने से, उनके गंदोधक को माथे से लगाने से, तपस्वियों की मूर्ति को प्रणाम करने से, उनके चित्र को भी मन में आदर से प्रणाम

करने से और साक्षात् तपस्वी जो हैं या जो भूतकाल में हुए हैं या भविष्य में होंगे उन सभी को प्रणाम करने से वह जीव अगले भव में उच्चगोत्र को प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं। क्योंकि पूज्यजनों की विनय करना उन्नति का कारण होता है। जितना व्यक्ति पूज्य पुरुषों के चरणों में झुकता है उतना ऊपर उठता है, जितना व्यक्ति पूज्यजनों का अविनय करता है उतना अधोगति में जाता है, नीचगोत्र एवं नरकादि-दुर्गतियों में जाता है।

जिस किसी ने भी तपस्वियों की भक्ति-पूजा की उसने सातिशय पुण्य को प्राप्त किया है। स्वप्न में भी तपस्वियों को प्रणाम किया है तब भी आपको पुण्य का बंध होगा और उस पुण्य बंध से हो सकता है कि उच्चगोत्र की प्राप्ति हो। यदि स्वाध्याय चल रहा है उसमें किन्हीं तपस्वी का नाम आया, आपने सुनकर हाथ जोड़े, प्रणाम कर लिया जबकि तपस्वी को देखा नहीं, परोक्ष में भी देखने से, प्रणाम करने से उच्चगोत्र का बंध होता है। आचार्य महोदय उसी पुण्य की महिमा का बखान कर रहे हैं। यदि कोई तिर्यंच शूकर आदि भी प्रणाम करता है तो वह भी उच्चगोत्र-देवगति को प्राप्त कर सकता है। भगवान् आदिनाथ का जीव जब वज्रजंघ की पर्याय में था और राजा श्रेयांस का जीव जब श्रीमति की पर्याय में था उस समय उन्होंने अपने ही दोनों पुत्र दमवर और सागरसेन मुनिराज को विदेहक्षेत्र में सर्व सरोवर के किनारे पर आहार दिया था, उस समय मंत्री, पुरोहित, सेनापति, महामात्य चार जनों ने आहारदान की अनुमोदना की थी, वानर, नेवला, शूकर और सिंह इन चार तिर्यंचों ने भी अनुमोदना की, उसके प्रभाव से वे सभी जीव भोगभूमि को प्राप्त हुए। भोगभूमि में नीच गोत्री नहीं होते सब उच्चगोत्री माने जाते हैं। कालान्तर में वे सभी जीव देवगति गए पुनः वहाँ से आकर राजकुमार आदि हुए।

महानुभाव! कहने का आशय यह है कि मुनिराज को प्रणाम करने मात्र से, आहारदान व अनुमोदना का फल तो बाद में किंतु मात्र प्रणाम करने से वह तिर्यंच भी देव अवस्था को चला गया। प्रथमानुयोग में सिंह, हाथी, सियार आदि कितने उदाहरण आते हैं जिन्होंने उच्च अवस्था को प्राप्त किया। जब प्रणाम करने का इतना फल है तब प्रणाम के बाद उनकी पदरज-गंधोदक आदि लगाया तो कितना पुण्य मिलेगा। उनका पादमर्दन, वैय्यावृत्ति, आहारादि दान दिया और अन्य-अन्य क्रियाएँ तो बाद में फल देंगी अभी तो सिर्फ और सिर्फ एक बात कह रहे हैं कि ''उच्चैर्गोत्रं प्रणते' प्रणाम करने से नियम से उच्चगोत्र की प्राप्ति होती है। यह बात आचार्य महोदय बिल्कुल डंके की चोट से कह रहे हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं वे अपलाप कर सकते हैं किंतु जो व्यवहार सम्यग्दृष्टि भी है, मंदकषायी हैं वह कभी अपलाप नहीं कर सकता। वह तो कहेगा यह वाक्य बिल्कुल ध्रुवसत्य है, यह कोई नयी बात नहीं है, अनंत तीर्थंकरों ने भी इसी प्रकार का उपदेश दिया था, दिया है और आज भी दे रहे हैं।

महानुभाव! जिन व्यक्तियों के मन में प्रणाम करने की भावना है वे प्रत्यक्ष में प्रसंग आएगा तो प्रणाम अवश्य करेंगे। भावना है और प्रणाम न करें ऐसा नहीं हो सकता किन्तु जिनके मन में भावना नहीं है यदि वे भी प्रणाम करते हैं, यदि वे मिथ्यादृष्टि भी है तो भी वे उच्चगोत्र को प्राप्त करते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि हैं तब तो प्रणाम करेंगे ही करेंगे। आचार्य रविषेण स्वामी जी ने पद्मपुराण जी ग्रंथ में लिखा है कि जो मिथ्यादृष्टि हैं, जो व्यक्ति यथाजात दिगम्बर मुद्रा को देखकर भी अपने स्थान से खड़ा नहीं होता है, दिगम्बर साधु सामने से निकल जाएँ तब भी जिसके हाथ नहीं जुड़ते हैं, आँखों की पलक नहीं झपकतीं है अर्थात् नेत्र नम नहीं होते, गर्दन नहीं झुकती है तो ऐसा समझ लेना चाहिए कि उसके मिथ्यात्व का उदय चल रहा है। वह स्वयं को भले ही विद्वान् कहता रहे, स्वाध्यायी, व्रती कहता रहे, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, यह सब तो द्रव्य क्रिया है किन्तु जो मिथ्यादृष्टि कषायों को मंद करके संत के चरणों में अपना माथा टिका देता है, उनके चरणों की रज अपने माथे से लगा लेता है, वह मिथ्यादृष्टि भी अगले भव में उच्चगोत्र को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

कई बार देखा जाता है कि जंगल के रास्ते से विहार करते समय या कच्चे मार्ग से जाते समय गाँव के खेतों में काम करने वाली महिलाएँ-पुरुष जो जैनधर्म का ABCD भी नहीं जानते किन्तु साधु संतों को देखकर के काम को छोड़कर खड़े हो जाएँगे व हाथ जोड़ लेंगे, अपने पदत्राण उतारकर दूर रख देंगे, इतना ही नहीं जहाँ साधु ने पैर रखा वहाँ की धूल उठा करके महिलाएँ अपने पल्लू में बांधकर ले जाती हैं कि ये तो भगवान् हैं। चाहे भले ही वह वीतरागी भगवान् को नहीं जानता, उनके स्वरूप को नहीं जानता, चाहे जिनवाणी को नहीं जानता, वह दिगम्बर साधु की क्रिया-चर्या नहीं जानता कोई बात नहीं किन्तु वह भद्र परिणामी कह रहा है ये तो भगवान् हैं, पृथ्वी के देवता हैं।

एक बार हम तीन साधु एक गाँव में पहुँचे। वहाँ हमे देखकर पूरा गाँव इकट्ठा हो गया और कहने लगा हमारे यहाँ तो ब्रह्मा- विष्णु-महेश जैसे आ गए, हमारे तीनों भगवान् आ गए। उस गांव में जैन समाज के मात्र चार घर थे किन्तु फिर भी सौ जगह लोगों ने दुग्ध के माध्यम से पाद प्रक्षालन किया, आरती उतारी। उन्हें लगा हमारे यहाँ 100 वर्ष में पहली बार किसी दिगम्बर साधु के चरण पड़े हैं, उनका मानना था उन्होंने आकर बताया भी कि उस साल हमारी खेती बहुत अच्छी हुई थी, उस बार पशुओं में कोई महामारी आदि नहीं फैली थी, उस बार अन्य कोई अनिष्ट घटना नहीं घटी। श्रद्धा बहुत बड़ा काम करती है।

महानुभाव! परिणामों का फल है। चाहे सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि प्रणाम करता है तो देव आदि अवस्था को प्राप्त करता है। सम्यग्दृष्टि पशु हो या मनुष्य, यदि साधु के चरणों में प्रणाम कर रहा है तो वह सम्यक्त्व के फल से देवायु का बंधक होगा। मिथ्यादृष्टि भी प्रणाम कर रहा है तो वह उच्चगोत्र को प्राप्त करेगा, वह देवगति को भी प्राप्त कर सकता है, मनुष्य आदि गति को भी प्राप्त कर सकता है।

आगे कह रहे हैं–**'भोगो दानात्'** पात्रों को दान देने से उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है। पात्र तीन प्रकार के होते हैं–उत्तम, मध्यम, जघन्य। भोगभूमि भी तीन प्रकार की होती है–उत्तम, मध्यम, जघन्य। देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र उत्तम भोगभूमि, हरि और रम्यक् क्षेत्र मध्यम भोगभूमि, हेमवत और हैरयण्वत् क्षेत्र जघन्य भोगभूमि होती है। पात्रों में उत्तम पात्र यथाजात दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज। अब प्रश्न यह है कि जो मुनिराज गुणस्थान की अपेक्षा नीचे वाले हैं, यथाजात दिगम्बर हैं उन्हें कौन सा पात्र मानें? चरणानुयोग की अपेक्षा से यथाजात दिगम्बर मुनिराज अभव्य ही क्यों न हों तब भी उत्तम पात्र में ग्रहण किए जाते हैं। तो यथाजात दिगम्बर मुनिराज जो तिल-तुष मात्र परिग्रह के भी त्यागी हैं, निरारंभ, निष्परिग्रही हैं, पाँच पापों से रहित, 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति का पालन करने वाले, पंचइंद्रियनिरोध, षट्आवश्यक का परिपालन करने वाले, सात विशेषगुणों का पालन करने वाले, 34 उत्तरगुणों का यथाशक्ति पालन करने वाले, कदाचित् यदि मूलगुणों में भी दोष लग जाते हैं, उत्तर गुणों के पालने की भावना नहीं हो रही तब भी भावलिंगी मुनिराज हैं। पुलाक हों, वकुश हों, कुशील हों, परिसेवना कुशील हों, कषायकुशील हों, स्नातक हों या निर्ग्रंथ हों सब भावलिंगी मुनिराज हैं। लेश्या भी पीत-पद्म-शुक्ल लेश्या वाले हैं। कदाचित् लेश्या किसी समय में अशुभ भी हो जाए तब भी भावलिंगी मुनि महाराज हैं तो वे उत्तम पात्र ही हैं। कदाचित् उन उत्तम पात्रों का भी 3 प्रकार का आर्त्तध्यान हो सकता है, इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ाचिंतन किन्तु निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता। और रौद्रध्यान तो नहीं होता किन्तु रौद्रध्यान के संस्कार अवश्य हो सकते हैं, फिर भी गुणस्थान छटवां है, यह नहीं सोच लेना कि गुणस्थान पतित हो गया, वे उत्तम पात्र ही हैं।

महानुभाव चरणानुयोग की अपेक्षा से लेंगे तो आर्यिका माताजी भी उपचार से महाव्रती हैं इसलिए उत्तम पात्रता के निकट हैं। करणानुयोग की अपेक्षा से लेते हैं तो आर्यिकाओं का पंचम गुणस्थान है इसलिए सिद्धांत की अपेक्षा से उन्हें मध्यम पात्र में लिया जा सकता है। किन्तु जिस प्रकार परिणामों की विशुद्धि की अपेक्षा से उत्तम पात्र के असंख्यात भेद होते हैं, छटवें-सातवें

गुणस्थान वाले मुनिराज के परिणामों में असंख्यात भेद हैं ऐसे ही पाँचवें गुणस्थान वालों के असंख्यात भेद हैं। एक पंचमगुणस्थानवर्ती है वह दो प्रतिमाधारी है, पंचम गुणास्थानवर्ती तीन चार-पाँच आदि ग्यारह प्रतिमा तक भी हैं, पंचमगुणस्थानवर्ती आर्यिका माताजी भी हैं जो उपचार से महाव्रती हैं, विशुद्धि में असंख्यात गुणा अंतर हो सकता है। और जघन्य पात्र हैं अविरत सम्यग्दृष्टि। जो देव-शास्त्र-गुरु के अलावा अन्य किसी और को पारमार्थिक देव-शास्त्र-गुरु नहीं मानता, जो वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी देव के अलावा किसी को सच्चा देव नहीं मानता, जो आप्त द्वारा कथित, गणधर परमेष्ठी द्वारा संग्रहित, मुनियों के द्वारा रचित शास्त्र के अलावा किसी और शास्त्र को परमार्थ शास्त्र नहीं मानता और यथाजात निर्ग्रंथ गुरुओं के अलावा अन्य किसी को परमार्थ गुरु नहीं मानता वह सम्यग्दृष्टि है। अब यह नहीं कहना कि महाराज जी! उसने किसी जिनशासन के देवी-देवता के हाथ जोड़ लिए तो वह मिथ्यादृष्टि हो गया। जो वीतरागी सच्चे अरिहंत प्रभु को प्रणाम करता है इसका आशय यह नहीं कि वह लोकव्यवहार में किसी को प्रणाम नहीं करता और किसी को प्रणाम करने से उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति अपने माता-पिता के चरण छूले तो वह मिथ्यादृष्टि थोड़े ही हो गया। चाहे उसके माता-पिता मिथ्यादृष्टि ही क्यों न हों फिर भी वह मिथ्यादृष्टि नहीं हो गया। लोकव्यवहार में वह व्यवहार धर्म का पालन कर रहा है किन्तु मान्यता में तो जिनेन्द्र देव ही सच्चे देव हैं, सच्चे शास्त्र आप्त कथित जिनवाणी है और सच्चे गुरु यथाजात दिगम्बर संत ही हैं। उस मान्यता-धारणा का नाम सम्यक्त्व है।

कोई लोकव्यवहार में अपने भाई बंधु का सम्मान, गुरुजनों का सम्मान कर रहा है, जिनशासन के रक्षक देवी-देवताओं का सम्मान कर रहा है इससे वह मिथ्यादृष्टि नहीं हो गया, इसे अच्छे से समझ लेना। 16 प्रतिष्ठा ग्रंथ हैं उन सबमें लिखा है कि सम्यग्दृष्टि भगवान् का अभिषेक करने से पूर्व नित्य दशदिग्पाल क्षेत्र आदि का आह्वान करता है, यथायोग्य सम्मान करता है। यहाँ तक कि उस सम्यग्दृष्टि के घर में सेवा-नौकरी करने वाला व्यक्ति भी हैं उनको भी वह सम्मान के साथ भोजन कराता है। उनका कभी अपमान-तिरस्कार नहीं करता है। अविरत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व के अनुरूप क्रिया करने वाला होता है। वह प्रत्यक्ष में मिथ्यात्व का पोषण करने वाले का सम्मान नहीं करेगा। प्रत्यक्ष में संसारवर्धक परिग्रहधारी, वस्त्र-आडम्बर से सहित या अन्य प्रकार की सावद्य क्रियाओं में संलिप्त को सच्चा गुरु नहीं मानेगा।

महानुभाव! जब भगवान् ऋषभदेव स्वामी पूर्व पर्याय में वज्रजंघ नाम के राजा थे, उस समय उनकी सहधर्मिणी श्रीमति थी। ये वज्रजंघ राजा, राजा वज्रनाभि के जमाई बने, श्रीमति वज्रनाभि चक्रवर्ती की पुत्री थी। पूर्व भव का जातिस्मरण होने से दोनों का पाणिग्रहण संस्कार हुआ।

उनके 50 युगल पुत्र पैदा हुए और सभी पुत्रों ने दीक्षा ले ली। उनका अंतिम पुत्रयुगल दमवर व सागरसेन मुनि ऋद्धिधारी थे। संयोगवशात् आहारार्थ जा रहे थे। उस जंगल में सर्वसरोवर के निकट वज्रजंघ राजा ने श्रीमति रानी सहित अपना डेरा डाला था। उन्होंने मुनि युगल को आहारदान दिया। उनके साथ में उनके मंत्री-सेनापति-पुरोहित-महामात्य थे, साथ ही साथ उस जंगल में एक शूकर, नेवला, बंदर और सिंह ये चार जानवर और थे। इन आठों जीवों ने भी आहारदान की अनुमोदना की। राजा-रानी ने तो आहारदान दिया, वे आहार देने वाले राजा-रानी तो भोगभूमि में गए ही गए किंतु अनुमोदना करने वाले वे आठ जीव भी भोगभूमि गए। परम्परा से ये आठों जीव स्वर्ग में गए पुनः कर्मभूमि में आए और क्रमशः चलते-चलते राजा वज्रजंघ का जीव भगवान् आदिनाथ स्वामी बने, श्रीमति का जीव राजा श्रेयांस बने और अन्य आठों जीव बाहुबली, अनंतवीर्य, अच्युत इत्यादि उनके पुत्र बने, वे सभी मोक्ष को प्राप्त हुए। आहारदान के फल के माहात्म्य से पहले उन्होंने उत्तम भोगभूमि में भोग भोगे पुनः स्वर्ग के सुख भोगे, पुनः वहाँ से आकर राजा-महाराजा बनकर सुख भोगे पुनः स्वर्ग सुख प्राप्त किए, वहाँ से आकर पुनः भोग भोगे इस प्रकार 7-8 भव में दीक्षा लेकर मोक्ष सुख को प्राप्त किया।

शांतिनाथ पुराण में आचार्य सकलकीर्ति महाराज ने और उत्तर पुराण में आचार्य गुणभद्र स्वामी ने श्रीषेण राजा का कथन किया है। श्रीषेण राजा की दो रानियाँ थी सिंहनंदिता और अनिंदिता और उन दो रानियों से दो पुत्र हुए इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन। उसी नगर में सात्यकि ब्राह्मण व जम्बू नाम की ब्राह्मणी थी, उनकी पुत्री का नाम सत्यभामा था। उस पुत्री का विवाह दासी पुत्र कपिल के साथ हुआ। एक बार राजा श्रीषेण ने दोनों रानी सहित नवधाभक्तिपूर्वक अर्ककीर्ति और अमितगति नामक चारण मुनियों को आहारदान दिया। उस सत्यभामा ने भी आहारदान की अनुमोदना की। आहारदान के फलस्वरूप राजा, दोनों रानी व सत्यभामा इन चारों ने भोगभूमि को प्राप्त किया। अनंतर राजा श्रीषेण का जीव 16 वें तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ हुए और पुण्य के फल को भोगा। वे तीनों भी उनके गणधर, पुत्र आदि हुए व उत्तम भोगों को भोग मोक्ष सुख को प्राप्त किया।

पद्मपुराण में आचार्य रविषेण महाराज ने भामण्डल के बारे में लिखा कि एक बार मुनिराज चातुर्मास की स्थापना करने जंगल में जा रहे थे, वर्षा होने से मार्ग अवरुद्ध हुआ, वे आगे नहीं बढ़ पाए, अपने स्थान पर नहीं पहुँचे। भामण्डल को ज्ञात हुआ तो वह स्वयं वहाँ पहुँचा, चार माह वहाँ ठहरकर स्वयं चौका लगाया और मुनिराज को आहारदान दिया। वह मुनि दीक्षा लेना चाहता था किंतु ले नहीं पाया, अचानक विद्युत्पात होने से मृत्यु को प्राप्त हो गया। वह भामण्डल का जीव आहारदान के फलस्वरूप भोगभूमि गया। अनंतर वे भी मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

इस तरह आहारदान का अचिंत्य प्रभाव है। प्रथामानुयोग में लगभग 100 से अधिक कथानक दान के संबंध में हैं, वहाँ से पढ़ना चाहिए कि एक बार आहार देने मात्र से, अनुमोदना करने से जीव किस प्रकार उत्तम भोगों को प्राप्त करता है।

आगे आचार्य महाराज कह रहे हैं **'उपासनात् पूजा'** तपस्वियों की उपासना करने से पूज्यता की प्राप्ति होती। यह न्याय है-जैसा बोओगे वैसा पाओगे, जैसा दोगे वैसा पाओगे। इसलिए जो बुद्धिमान् व्यक्ति हैं वे अच्छे से अच्छा देना चाहते हैं और लेना चाहते हैं, जो प्रज्ञ पुरुष हैं वे अच्छी से अच्छी विधि से कार्य सम्पन्न करना चाहते हैं। तपस्वियों में जिनकी उपासना रूप प्रवृत्ति है वे नि:संदेह पूज्यता को प्राप्त होते हैं। उप अर्थात् समीप में, आसनात् शब्द का अर्थ होता है आसन लगाना। तपस्वियों के समीप में बैठने से जो वार्तालाप, उपदेश, प्रवचन, व्याख्यान देशना प्राप्त होती है उसका संग्रह किया गया। वैदिक परम्परा में तो उन शास्त्रों को उपनिषद कहा गया। उपनिषद क्या है? साधु-संतों के समीप बैठना, बैठकर जो पाया उसी का नाम उपनिषद रख दिया।

देखो, जीवन में चार चीजें बहुत महत्वपूर्ण हैं उपनिषद, उपआसना, उपवास और उपकार। उपनिषद अर्थात् साधुसंतों के समीप बैठकर उनकी उपासना आदि करने पर जो कुछ भी लाभ मिल रहा है तो वह उपनिषद है। तथा उनकी सेवा-भक्ति-वैय्यावृत्ति करना उपासना है। अपनी आत्मा के समीप में वास करने के लिए चार प्रकार के आहार-जल का त्याग करना उपवास है। और उपकार-'कार' अर्थात् कृत/सुकृत। जो सुकृत कर रहा है वह स्वयं के लिए करना सुकृत है किंतु वही सुकृत दूसरों के लिए करना उपकार कहलाता है। हम जब सीधा अपना उपकार नहीं कर पाते हैं तो दूसरों का कृत अच्छा करके अपने उपकार के समीप पहुँच जाते हैं। व्यक्ति दूसरों के गले में पुष्पों की माला पहनाए तो गंध स्वयं को भी आती है, दूसरों के गले में वह काँच की माला पहनाए तो काँच की चुभन अपनी अँगुली में हो सकती है। दूसरों को रत्नों का ताज पहनाए तो उसकी चमक अपने चेहरे पर भी आती है। दूसरों को काँटों का ताज पहनाएँ तो अपने हाथ लहुलुहान होते हैं। उपकार शब्द भी ऐसा मानो कि दूसरों के प्रति किया गया अच्छा कार्य। जो दूसरों के प्रति अच्छा कार्य किया जाता है उसके माध्यम से स्वयं भी कृत्यकृत्य होते हैं, स्वयं का भी अच्छा होता है। जो दूसरों के लिए मेंहदी घिसकर के बाँटता है उसके हाथ पहले रंग जाते हैं। किन्तु जो दूसरों को कोयला बाँटता है तो दूसरों के हाथ बाद में काले होंगे, बाँटने वाले के हाथ पहले काले हो जाते हैं। जो दूसरों को चंदन का चूरा देगा तो दूसरे के पास बाद में पहुँचेगा पहले स्वयं के हाथ में ही गंध आ जाएगी।

दूसरों के हाथ में जो बदबूदार पदार्थ देगा तो सामने वाले को बदबू बाद में आएगी पहले स्वयं को आएगी।

तो ये चार शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं। उपवास, उपासना, उपकार और उपनिषद। ये चार शब्द श्रावकों के लिए अत्यंत उपकारी हैं। जैनदर्शन में श्रावक का दूसरा पर्यायवाची नाम उपासक भी आता है। जो उपासना करने वाला है, जिनेन्द्र देव के समीप में बैठने वाला है, उनकी निःसृत वाणी के समीप बैठने वाला है, उनके मार्ग पर चलने वाले निर्ग्रंथ गुरुओं के समीप में बैठने वाला है वह उपासक होता है। जिसका आसन इन तीन परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु के समीप में होता है वह उपासक होता है। उपासक की क्रिया को उपासना कहते हैं। उपासक उपासक तभी तक माना जाता है जब वह उपासना कर रहा है, यदि वह धर्म का विरोधी है, धर्म व धर्म के आयतनों की विराधना कर रहा है तो उसे उपासक नहीं कहना चाहिए। वह तो उपासक शब्द का मखौल है, उसे तो फिर विराधक कहना चाहिए। जैसे आराधना करने वाला आराधक होता है, साधना करने वाला साधक होता है ऐसे ही उपासना करने वाला उपासक कहलाता है, पूजा करने वाला पूजक होता है।

अब बात यह है कि देव-शास्त्र-गुरु के समीप में तो बैठ गए किन्तु उनसे कुछ ग्रहण नहीं किया तो क्या लाभ हुआ? कोई कहे महाराजजी मैं तो प्रवचनों में दो-दो चार-चार घंटे बैठता हूँ। आप प्रवचन में 2 घंटे बैठे या 4 घंटे बैठे यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि तुम्हारे अंदर प्रवचन कितना बैठा है। यदि तुम्हारे अंदर प्रवचन बैठ गया है तो तुम्हारा प्रवचन में दो मिनट बैठना सार्थक है, यदि तुम्हारे अंदर प्रवचन नहीं बैठ रहा है तो तुम्हारा 2-4-6 घंटे प्रवचन में बैठना भी सार्थक नहीं है। कलश में कितनी बाल्टी पानी डाला यह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि उस कलश के अंदर पानी कितना गया। पूरे कलश पर 100 बाल्टी पानी भी डाल दिया तो बेकार है। ऐसे ही जो श्रोता कान बंद करके बैठा है अर्थात् उपयोग लगाकर नहीं बैठा, श्रद्धा भक्ति से नहीं बैठ रहा उस उपासक को लाभ कहाँ से मिलेगा। उपासक का अर्थ यह भी लगाना है कि जो अपने समीप में निरंतर देव-शास्त्र- गुरु को विराजित करता है। उसके हृदय कमल पर भगवान् विराजमान होते हैं, उसके हृदयकमल पर जिनवचन विराजमान रहते हैं, उसके हृदय कमल पर निर्ग्रंथ गुरु विराजमान रहते हैं तो वह उपासक होता है।

महानुभाव! ऐसा उपासक ही उपवास कर सकता है। उनकी उपासना करते-करते वह अपने समीप मे पहुँच जाता है। जब अपने समीप में पहुँच जाता है तब उसकी आहार आदि क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती, कषाय आदि में प्रवृत्ति नहीं होती, पापों में प्रवृत्ति

नहीं होती, विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती इसीलिए उपासक ही उपवासक हो सकता है। जो उपवास करता है वही उपकार करने में समर्थ होता है क्योंकि जो स्वयं का उपकार कर सकता है, स्वयं का अच्छा कर सकता है तो दूसरों के लिए भी परोपकार कर सकता है। परोपकार यानि ऐसे सार्थक कार्य जिनसे आत्मा परमात्मा बन सकती है। आपने करकण्डु चरित्र पढ़ा होगा, जो कनकामर आचार्य द्वारा विरचित है, उसमें एक कथन आता है–

एक धनदत्त नाम का ग्वाला था, एक बार वह अपनी गायों को चराने गया, उसके अन्य ग्वाल मित्र भी साथ में थे। गाय चर रहीं थीं। वह अपने मित्रों के साथ समीपवर्ती सरोवर के निकट गेंद खेल रहा था, अचानक उसकी गेंद तालाब में चली गई। वह गेंद निकालने के लिए तलाब में गया, वहाँ उसने एक सहस्रदल खिला कमल देखा और उसे तोड़ लिया। उस जलाशय का रक्षक देव आया और उस पर कुपित हुआ, मैं तुम्हें दण्ड दूँगा क्योंकि तुमने चोरी की है, बिना पूछे यह फूल तोड़ा है। धनदत्त ने बहुत क्षमायाचना की, किन्तु वह रक्षकदेव नहीं माना। बोला–मैं तुम्हें एक शर्त पर छोड़ सकता हूँ। पहले यह बताओ कि तुम इस कमलपुष्प का क्या करोगे? यदि तुम इसका भोगोपभोग अपने लिए करोगे तो मैं आपको क्षमा नहीं करूँगा। किन्तु हाँ, जो सबसे बड़ा है उसे तुम यह पुष्प दोगे तो मैं तुम्हें माफ कर सकता हूँ। धनदत्त ने कहा–ठीक है मैं ऐसा ही करूँगा, और वहाँ से लौट आया। सोच रहा था कि मेरे सेठ तो सबसे बड़े हैं, उनके पास बहुत धन है, बहुत बड़ी हवेली है, बहुत से सेवक उनकी सेवा में कार्यरत हैं, उनसे बड़ा कौन होगा। और उन्हीं के पास वह पुष्प भेंट करने चल देता है। वह सेठ के पास जाता है उन्हें पूरी कहानी सुनाता है और कहता है सेठ जी उस देव ने कहा है जो सबसे बड़ा है उसे यह पुष्प चढ़ाना है, तभी वह मुझे माफ करेगा, आप यह पुष्प स्वीकार करें। सेठ ने कहा रुको–मैं सबसे बड़ा नहीं हूँ। तो फिर सबसे बड़े कौन हैं? सेठ ने कहा मुझसे बड़े तो राजा हैं, उन्हीं को ये पुष्प भेंट करना, चलो मेरे साथ। सेठ जी ग्वाले को लेकर राजा के महल की ओर चल दिए। राजा को सब बात बताई, तब राजा ने कहा सबसे बड़े तो दिगम्बर मुनिराज हैं उनको ही यह पुष्प समर्पित करना। चलो मैं भी आपके साथ मुनिराज की वंदना के लिए चलता हूँ। तीनों जंगल की ओर गए जहाँ मुनिराज विराजमान थे। राजा ने कहा–मैं इन मुनिमहाराज को प्रणाम करता हूँ, ये सबसे बड़े हैं।

धनदत्त ने पुष्प लिया और कहा–मुनिवर! आप सबसे बड़े हैं न, इसीलिए मैं आपको यह पुष्प चढ़ाता हूँ। मुझे यक्ष ने कहा कि वह तभी क्षमा करेगा जब मैं सबसे बड़े व्यक्ति को यह पुष्प चढाऊँगा। महाराज ने कहा–ठहरो। मैं सबसे बड़ा नहीं हूँ। तो फिर सबसे बड़ा कौन है? वे जिनमंदिर की ओर गए और बोले सबसे बड़े भगवान् हैं। वह धनदत्त ग्वाला उन मुनिराज की

प्रेरणा से वह पुष्प मंदिर में चढ़ाता है और भगवान् के चरणों में अपना माथा टिकाता है। वह जानता तो था नहीं कि पूजा-भक्ति-उपासना कैसे की जाती है किन्तु श्रद्धा थी कि मैं सबसे बड़े व्यक्ति को पुष्प चढ़ाकर पुण्य कार्य कर रहा हूँ। किन्तु उसने जब मंदिर में प्रवेश किया तब हाथ-पैर नहीं धोये थे वह उस पुष्प चढ़ाने से, भगवान् की उपासना करने से कालान्तर में देव अवस्था से आकर करकण्डु नामक राजा बना और आस-पास के देश जीते। किन्तु जब पूर्व में वह ग्वाला मंदिर गया था तब उसने हाथ-पैर नहीं धोये थे जिससे करकण्डु की पर्याय में उसके हाथ में खाज हो गई। जन्म से खाज थी इसलिए उसका नाम रख दिया 'करकण्डु'। कण्डु माने खाज और कर यानि हाथ। वह राजकुमार जिसके हाथ में खाज थी इसलिए करकण्डु नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

महानुभाव! उस धनदत्त ग्वाले ने जीवन में सिर्फ एक बार पुष्प चढ़ाकर के पूजा की थी और इतना बड़ा राजा हुआ। एक दृष्टांत और आता है–

क्षेमंकर श्रेष्ठी के यहाँ दो सेवक कार्य करते थे। एक का नाम था धण्णंकर, दूसरे का नाम था पुण्णंकर। क्षेमंकर श्रेष्ठी जिनालयों की भक्ति-पूजा-वंदना के लिए गए तो वहाँ उन्होंने सामग्री तैयार की। सेवकों ने देखा कि सेठ जी द्रव्य तैयार कर रहे हैं। सेठ ने कहा-सेवको! यह द्रव्य तुम भी लो और चढ़ाओ। उन्होंने कहा-सेठ जी! हम आपकी द्रव्य को भगवान् के समक्ष चढाएँगे तो इसका फल भगवान् जी आपको ही देंगें, वे जानते हैं कि हमने द्रव्य आपसे ली है इसीलिए हम आपकी द्रव्य न चढ़ाकर के जो हमारे पास है वही चढ़ाएँगे। और दोनों सेवकों ने अपनी पाँच कोड़ी के माध्यम से कुछ द्रव्य प्राप्त किया और भगवान् की पूजा की। वे दोनों पुत्र धण्णंकर-पुण्णंकर भगवान् की उपासना करने के फलस्वरूप आगे चलकर अमरसेन और वइरसेन हुए उन्होंने पाँच फल प्राप्त किए।

यक्ष द्वारा ऐसे 'दो आम्रफल' प्राप्त किए जिसमें एक फल से सात दिन में राज्य व दूसरे फल के माध्यम से दिव्य पाँच सौ रत्न मिलते हैं। तीसरा फल 'कथरी' प्राप्त की, जिससे नित्य पाँच सौ रत्न झरते थे। चौथा फल 'लाठी' प्राप्त की जो शत्रु में अजेयता प्राप्त कराती है। पाँचवा फल 'पाँवड़ी' प्राप्त की जो आकाशगामिनी थी, जिसको पहनकर आकाशमार्ग में गमन संभव था।

एक दिन दोनों भाई कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करने गए। वहाँ उन्हें चारण ऋद्धिधारी मुनि मिले, जिन्हें पड़गाहन कर उन्होंने नवधाभक्ति से आहार दिया तथा उन्हें देखकर पूर्वभव का स्मरण हो आया कि जब हम धण्णंकर व पुण्णंकर नामक दीन बालक थे

तब क्षेमंकर श्रेष्ठी के यहाँ सेवा करते थे। वहाँ हमने उन मुनिराज को आहार दिया जिसके फलस्वरूप हमें उत्तम भोग मिले हैं तथा पाँच कौड़ी से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की थी जिसके फल से हमें पाँच वस्तुओं की प्राप्ति हुई है।

उन्होंने मुनिराज के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुना व श्रावकोचित व्रतों को ग्रहण किया। किसी दिन देवसेन केवली की गन्धकुटी वहाँ आई, दोनों भाई उनकी वंदना करने को गए तथा वहाँ भगवान् की दिव्यध्वनि सुनकर परम वैराग्य को प्राप्त हो महाव्रतों को अंगीकार किया। दुर्धर तपस्या कर संन्यास मरण करके वे दोनों ब्रह्म स्वर्ग गए। आगे स्वर्ग से चयकर दोनों मनुष्य पर्याय प्राप्त कर तप करके सिद्ध होंगे।

पद्मपुराण में आचार्य रविषेण स्वामी ने एक प्रीतिंकर नामक ब्राह्मण पुत्र की बात कही है, पुण्याश्रव कथा कोष में यही कथा प्रीतिंकर नामक द्विज पुत्र की दी है। लंका नगरी में राक्षस कुल में उत्पन्न हुआ एक महाराक्षस नामक विद्याधरों का राजा था। वह मनोहर उद्यान में जलक्रीड़ा के लिए गया था। वहाँ उसने सरोवर में स्थित कमल के भीतर मरे हुए एक भ्रमर को देखा। इससे उसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने वहाँ घूमते हुए किन्हीं मुनि को देखकर पूछा–हे मुनीन्द्र! मेरे पुण्य के अतिशय का कारण कहिए–तब चार ज्ञान के धारी श्रुतसागर मुनि ने उसके पुण्यातिशय का कारण इस प्रकार कहा–इसी भरत क्षेत्र के भीतर सुरम्य देश में स्थित एक पोदनपुर नाम का नगर है, उसका स्वामी कनकरथ था। उसने जिनपूजा करायी थी। वहाँ प्रीतिंकर नाम से प्रसिद्ध भद्र मिथ्यादृष्टि तुम देशान्तर से आकर स्थित थे। उस पूजा की अनुमोदना करने से उत्पन्न हुए पुण्य के प्रभाव से तुम आयु के अंत में मरकर यक्ष उत्पन्न हुए थे। इस पर्याय में तुमने पुण्डरीकिणी नगरी के भीतर मुनि समूह के ऊपर वनाग्नि से उत्पन्न हुए उपसर्ग को दूर किया था। इससे तुम आयु के अन्त में शरीर को छोड़कर पुष्कलावती देश के भीतर स्थित विजयार्द्ध पर्वत के ऊपर निवास करने वाले विद्याधर राजा तडिद्रंगद के उदित नामक पुत्र उत्पन्न हुए थे। उसकी (तुम्हारी) माता का नाम श्री प्रभा था। उस पर्याय में तुमने कुमार अवस्था में ही दीक्षा ले ली थी। तत्पश्चात् तप करते हुए तुमने अमरविक्रम नामक विद्याधर नरेश की विभूति को देखकर निदान किया था, उसकी प्राप्ति की इच्छा की थी। इससे तुम समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त होकर प्रथम तो सनतकुमार कल्प में देव उत्पन्न हुए थे और फिर वहाँ से च्युत होकर तुम (महाराक्षस विद्याधर) हुए हो। इस पूर्व वृतान्त को सुनकर महाराक्षस ने अपने पुत्रों अमरराक्षस और भानुराक्षस को राज्य देकर मुनिव्रत को स्वीकार किया एवं मोक्ष को प्राप्त किया।

भगवान् की उपासना करने से व्यक्ति नियम से पूजा को, उपासना को प्राप्त करते हैं और जो दूसरों की निंदा, अपमान, अविनय करते हैं वे निःसंदेह निंदा, अपमान को प्राप्त होते हैं। इसीलिए सदैव वीतरागी, सर्वज्ञदेव की पूजा, उपासना, विनय, भक्ति करना चाहिए, यह श्रावक का परम कर्त्तव्य है।

महानुभाव! आचार्य अजितसेनसूरिजी ने छत्रचूड़ामणि ग्रंथ में लिखा है कि संसार में ऐसा कोई भी पूज्य पुरुष नहीं है जिसने पूर्व में अपने पूज्य पुरुषों की पूजा नहीं की हो। जो जिस वर्ग में पूज्य बनना चाहता है वह उस वर्ग के उच्चतर-उच्चतम व्यक्ति की पूजा करना प्रारंभ कर दे तो वह उस वर्ग के महानुभावों द्वारा पूज्यता को प्राप्त होगा। धनार्थियों की पूजा-सेवा करने वाला व्यक्ति धन को प्राप्त करके धनार्थियों द्वारा पूजा-प्रशंसा को प्राप्त होता है। त्यागीव्रती की पूजा करने वाला व्यक्ति आज नहीं तो कल त्यागीव्रतियों द्वारा पूज्यता को प्राप्त होता है। जो जिस क्षेत्र में अपना गुरु-आदर्श मानकर उनकी पूजा-भक्ति करता है, कालान्तर में वह भी उसके पद को, उससे उच्चपद को, समान या लघुपद को प्राप्त अवश्य करता है।

काल मूल दर को गुणा, सौ को भाग लगाय।
जो कुछ आवे लब्ध में, वही ब्याज कहलाय॥

सूत्र यही रहेगा चाहे काल महिनों में हो या वर्षों में, मूलधन चाहे कितना भी हो सैकड़ों में हो, हजारों-लाखों-करोडों कितना ही हो। दर कितने भी प्रतिशत हो गुणा करके 100 का भाग देने पर ब्याज निकलकर आ जाती है। इस सूत्र में कहीं गड़बड़ नहीं हो सकती। क्षेत्रफल निकालना है, परिधि निकालना है इन सभी के सूत्र हैं, इन सूत्रों में कही अपवाद नहीं है। आचार्य महोदय की यह कारिका भी ऐसी लगती है जैसे सुनार की कसौटी पर कसा हुआ सोना हो, किंचित् भी इसमें न्यूनता नहीं हो सकती।

आगे कहा **'भक्तेः सुंदररूपं'** तपोनिधियों की भक्ति करने से सुंदर रूप की प्राप्ति होती है। भक्ति का अर्थ होता है अरिहंतों के, पंचपरमेष्ठियों के गुणों में अुनराग करना अथवा **'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिः।** अपने स्वरूप का अनुसंधान करना भक्ति है। अथवा भवसागर से पार होने की क्रिया का नाम सम्यक्भक्ति है। अथवा जो भक्त को भगवान् बना दे उस क्रिया का नाम भक्ति है। भक्ति शब्द का विरलन करके अर्थ देखें तो 'भ' अर्थात् भक्ति 'अ'-अर्हद् आदि परमेष्ठी की, 'क'-करो, 'त' तल्लीन होकर, 'इ'-अपने इष्ट पद को प्राप्त करने के लिए। यह भक्ति मुक्ति का साक्षात् उपाय है। भक्ति वह नौका है जिस पर सवार होकर भक्त भवसागर को पार कर लेता है। पंचमरमेष्ठी में प्रत्येक परमेष्ठी की भक्ति भवदधितारण नौका के समान है।

महानुभाव! यहाँ तपोधन की भक्ति करने का फल कहा कि सुंदर रूप की प्राप्ति होती है। न केवल शरीर सुंदर होता है अपितु आरोग्य की प्राप्ति होती है, हितमितप्रिय वचन बोलने का संस्कार आता है, ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ता है और चित्त निर्मल होता है, परिणामों में विशुद्धि बढ़ती चली जाती है। किसी ने प्रश्न किया कि ऐसी क्या विशेषता है कि आचार्य-उपाध्याय-साधु के चरणस्पर्श, भक्ति आदि की जाती है तो उससे संसारी प्राणी का शरीर सुंदर हो जाता है, ऐसे कैसे हो जाता है? बात समझ नहीं आ रही है कि ऐसा होता भी है या सिर्फ उपमा अलंकार में बात कह दी है? हमने उनसे पूछा–दूध में जामन डाल दो तो दही कैसे जम जाता है, अग्नि के कुंड में लकड़ी डाल दो वह भी अग्नि हो जाती है, ऐसा कैसे हो जाता है कि पारसमणि को यदि लोहा स्पर्श कर ले तो वह सोना हो जाता है। आप कहते हो यह सब तो हो जाता है। वही तो हम पूछ रहे हैं कैसे हो जाता है? सूर्य की चमक काँच पर पड़ती है तो काँच की चमक भी हीरे जैसी हो जाती है, कैसे हो जाती है? क्योंकि उसका निमित्त है। यह बात सिद्ध है कि निमित्त अपना प्रभाव डालता है। सूखा पेड़ मुरझाया हुआ हो, पानी डाल दो तो पेड़ खिल जाता है, मुस्कुरा जाता है। सूर्य का उदय होते ही कमल खिल जाते हैं, सूर्य अस्त होते ही मुरझा जाते हैं, ऐसा क्यों? अग्नि का संपर्क पाकर मोम आदि पिघलने लगते हैं क्यों? क्योंकि निमित्त का प्रभाव पड़ता है।

आचार्य भगवन् रविषेण स्वामी जी ने पद्मपुराण में जटायु पक्षी का कथन दिया। दण्डक वन में गुप्ति-सुगुप्ति मुनिराज को राम-सीता ने जब आहार दिया, आहारोपरांत दण्डक वन में रहने वाला जटायु पक्षी, जिसे जातिस्मरण हो आया कि पूर्व भव में उसने मुनियों पर उपसर्ग किया था जिससे वह अनेक कुयोनियों में भटकते हुए आज जटायुपक्षी बना। वह पश्चाताप करता है, उसकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है, मुनिमहाराज की जहाँ झूठन गिर रही थी वह उसमें लोट जाता है और वह स्वर्ण जैसा हो जाता है।

एक किंवदन्ति श्रुति में आती है कि जंगल में किन्हीं मुनिमहाराज का आहार हुआ, उस स्थान पर एक नेवला आया और नेवला वहाँ लोटा, उस नेवले का आधा शरीर सोने का हो गया। युधिष्ठिर आदि पाण्डव वहाँ से निकले और अपना डेरा वहीं जंगल में डाला। वहाँ उन्होंने यज्ञ करा, यज्ञोपरांत भोजनआदि किया जिससे वहाँ झूठन बची, वही नेवला वहाँ आकर के लोटने लगा। भीम ने युधिष्ठिर से पूछा-भ्रात! यह कौन सा विचित्र जानवर है, लगता नेवला जैसा है किन्तु आधा स्वर्ण का है, क्या कारण है और ये क्या कर रहा है? युधिष्ठिर ने उसको एक टक गंभीरता से देखा और बोले-भीम! शायद तुम्हारी समझ में यह रहस्य नहीं आएगा। पूर्व में यहाँ पर किसी श्रेष्ठी ने आहार दिया था उसकी जूठन पड़ी थी, तो यह नेवला आकर

के यहाँ लोट गया था, लोट करके उसका आधा शरीर सोने का हो गया। मैं यहाँ यज्ञ करा रहा था, यह यहाँ यज्ञ की जूठन में इसलिए लोट रहा है कि पूरा शरीर सोने का हो जाए और वह हो नहीं रहा। यह मुझे ये शिक्षा दे रहा है कि मुनि महाराज को आहारदान देने का कितना बड़ा पुण्यफल होता है, जितने पुण्य फल की प्राप्ति उस आहारदान से होती है उतनी हजारों अव्रती व्यक्तियों को भोजन कराने पर नहीं होती अर्थात् मेरा आधा शरीर अब सोने का नहीं हो पा रहा है।

जब दही का छोटा सा कण उचित गर्म दूध में एकमेक होता है तो वह दूध को भी दही बना देता है। अग्नि के साथ संसृत हुई लकड़ी को भी वह अग्नि बना देती है ऐसे ही परमेष्ठी की पदरज केवल बाह्य से माथा रगड़ना नहीं वरन् अंतरंग का निर्मल परिणाम होना चाहिए। क्योंकि भक्ति केवल शरीर की क्रिया नहीं, भक्ति में उस भक्त का चित्त लीन हो जाना चाहिए। जब चित्तलीन होता है तब उसके जीवन में ऐसा चमत्कार होता है जैसा चमत्कार पारसमणि का स्पर्श पाकर के लोहे में होता है।

महानुभाव! जैन परम्परा में इस प्रकार के और भी उदाहरण हैं। आपने दुर्गन्धा का नाम सुना होगा। एक कन्या जिसके शरीर से दुर्गन्ध आती थी, परिवार वालों ने उसे अलग कर दिया था। पूर्व पाप के उदय से माता-पिता का वियोग हो चुका था। पूर्व भवों में उसने मुनिराज पर उपसर्ग किया था, उन्हें कड़वी तुमड़ी का आहार दिया था। वह दुर्गन्धा लकड़ी बीनती, झूठन खाकर अपना पेट भरती। उसके शरीर से इतनी दुर्गन्ध आती थी कि लोग उसके पास में भी नहीं आना चाहते थे। वह दुर्गन्धा, मुनिमहाराज की भक्ति करके, व्रत का पालन करके, स्त्री पर्याय नष्ट कर पुरुष पर्याय प्राप्त करती है, देव सुख भोगकर पुनः मनुष्य बनकर मुनिव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त करती है।

एक कन्या थी तुंगभद्रा, जिसने पूर्व पाप के उदय से दुर्गंध और कुरूप अवस्था प्राप्त की। उसने मौनव्रत का पालन किया और भगवान् की परोक्ष में ही खूब भक्ति-आराधना की, उस भक्ति का परिणाम यह हुआ कि वह तुंगभद्रा अगले भव में महाराज हरिवाहन का पुत्र सुकौशल बनी। और पिता-पुत्र दोनों मोक्ष गए। जितने भी कामदेव बने उन सभी कामदेवों ने पूर्वभव में साधुओं की कहीं न कहीं भक्ति की है, सेवा वैय्यावृत्ति की है, इसी भक्ति के प्रभाव से वे इतने सुंदर रूप को प्राप्त हुए। जितने भी उत्तम पुरुष हुए हैं उन्होंने निःसंदेह पूर्वभव में आचार्य, उपाध्याय, साधु, पंचपरमेष्ठी की भक्ति की है जिससे उनका शरीर सुन्दर हुआ। आपको आँखों देखी बात बताते हैं–

कई बालक जन्म के समय बाल्यअवस्था में इतने गंदे-घिनू से लगते थे किन्तु वे साधु सेवा में लगे तो आज उनका शरीर बिल्कुल राजकुमार सा लगता है, ऐसा चमकता है काँच सा। और जो बचपन में राजकुमार जैसे लगते थे उन्होंने साधु निन्दा की, उनका शरीर आज ऐसा काला पड़ गया है जैसे कोयला पोत दिया हो। ये कर्म का फल आज भी मिलता है। कई व्यक्ति कहते हैं जबसे हमने साधु सेवा करना प्रारंभ की है हमारे शरीर के रोग दूर होने लगे। जबसे साधु सेवा करना शुरू की है तब से लोगों का हमारे प्रति लगाव बढ़ रहा है, जबसे हमने साधुभक्ति करना शुरू की है तब से हम स्वयं को बहुत आनंदित व संतोषी महसूस करते हैं अन्यथा यही लगता था यह शरीर रोगों का घर ही है। तो ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जिनके माध्यम से हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि भक्ति करने से निःसंदेह सुन्दर रूप की प्राप्ति होती थी, होती है, और होती रहेगी, इस शाश्वत सत्य को कोई नकार नहीं सकता।

महानुभाव! आगे आचार्य महोदय कह रहे हैं–**'स्तवनात् कीर्ति'** तपोनिधियों की स्तुति करने से यश की प्राप्ति होती है। इस रत्नकरण्ड श्रावकाचार की एक-एक कारिका में मानो आचार्य महोदय ने गागर में सागर ही भर दिया हो। आचार्य महोदय ने महत्वपूर्ण सूत्र दिए हैं। प्रमाणिक, संक्षिप्त शब्द व अंकों का समूह सूत्र होता है। सूत्रों में कहीं संदेहों के लिए जगह नहीं होती। सूत्र कभी संभावित अर्थ को व्यक्त नहीं करते। जैसे कोई व्यक्ति कहे अग्नि जलाने से ईंधन जल जाता है तो इस कथन में किसी को कोई शंका नहीं होगी, सत्य ही है, जल जाता है। दीपक प्रज्ज्वलित करने से प्रकाश हो जाता है, सत्य है। जहर खाने से व्यक्ति मर जाता है, हाँ सत्य है, मर जाता है। किन्तु इनमें फिर भी कदाचित् कोई शंका कर ले, जहर खाने से व्यक्ति न मरे, अग्नि जला दें कूड़ा-कचरा ज्यादा गीला हो तो अग्नि में भी न जले या दीपक जलाया उसकी ज्योति इतनी मंद हो कि उससे पूरा अंधकार नष्ट न हो। इनमें कहीं कथंचित् शंका हो सकती है किन्तु सूत्र की व्याख्याओं में कभी कोई शंका नहीं होती। उन सूत्रों को कहीं भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता। आचार्य समंतभद्रस्वामी के वाक्य भी सूत्रवत् दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने कहा-तपोनिधियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र की प्राप्ति, उनको दान देने से उत्तम भोगों की प्राप्ति, उनकी उपासना करने से पूजा की प्राप्ति और भक्ति करने से सुंदर रूप की प्राप्ति होती है।

महानुभाव! जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि होती है; यह अविनाभावी संबंध है, जहाँ कोई जीव श्वांस ले रहा है तो वह जीवित है क्योंकि मरा हुआ व्यक्ति श्वांस नहीं ले सकता; यह

अविनाभावी संबंध है। जहाँ जल है वहाँ शीतलता है, यह गुण है, अविनाभावी संबंध है तो ऐसे ही आचार्य महाराज ने यहाँ 4 बातें कहीं अब 5वीं बात कह रहे हैं–स्तवन करने से यशकीर्ति की प्राप्ति होती है। स्वयं की प्रशंसा एवं दूसरों की निंदा करने से नीचगोत्र की प्राप्ति होती है। स्वयं के असद् गुणों को भी कहने व दूसरों के सद्गुणों को भी ढांकने से नीचगोत्र की प्राप्ति होती है। इसी तरह से जो व्यक्ति साधर्मीजनों के गुणों की प्रशंसा करता है तो गुणों की प्रशंसा करने वाला व्यक्ति उच्चगोत्र को प्राप्त करता है, पूज्यता को प्राप्त करता है, वह सुंदर रूप को प्राप्त करता है। साथ ही गुणों की प्रशंसा करने वाला व्यक्ति अर्थात् स्तुति करने वाला व्यक्ति यश और कीर्ति को प्राप्त करता है।

यश कैसे फैलता है और निंदा कैसे होती है? जो व्यक्ति दूसरे के यश का घात करता है उसका अपयश होता है। जो व्यक्ति दूसरों के यश को बढ़ाता है उसका यश फैलता है। जो व्यक्ति स्वयं यश नहीं चाहता है उसे यश मिलता है, जो दूसरों के यश को नष्ट करके यश चाहता है उसका यश अपने आप नष्ट हो जाता है। कई बार देखा जाता है कि व्यक्ति अच्छे कार्य करके भी यश प्राप्त नहीं कर पाता है, उसकी निंदा होती रहती है और कभी ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति बुरे कार्य कर रहा है तब भी उसकी यशकीर्ति फैल रही है, क्यों? क्योंकि पूर्व में उसने अर्हदादि पंचपरमेष्ठी की स्तुति की होगी। स्तुति किए बिना यश नहीं फैलता। आज वर्तमानकाल में आँख बंद करके उन व्यक्तियों को देखो जिनका यश आज फैल रहा है और उनका अतीत देख लो, अतीत में उन्होंने अर्हदादि का यशगान किया है, आचार्य परमेष्ठी का, उपाध्याय परमेष्ठी का या साधुपरमेष्ठी का गुणगान, स्तुति निश्चित की होगी। सिद्ध परमेष्ठी का यश गाया नहीं जाता उनका तो ध्यान किया जाता है, पूजार्चना की जाती है, वे तो अनंतगुणों के पिण्ड हैं इसलिए उनकी पूरी स्तुति नहीं की जा सकती। अरिहंत आदि के जो गुण हैं यद्यपि स्तुति उनकी भी पूरी नहीं की जा सकती। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने ही वृहद्स्वयंभूस्तोत्र में लिखा है–

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्व कथा-स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वपि सा कथम्॥

अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा कि थोड़े से गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहना वह कथा स्तुति कहलाती है। किन्तु हे भगवान्! आपके गुण तो अनंत हैं, उन गुणों को पूरा कहा ही नहीं जा सकता तो फिर आपकी स्तुति कैसे की जा सकती है। स्तुति तो राई को पर्वत कहना है, उपमा देना है किंतु आपके गुण तो अनुपमेय हैं। ऐसे ही यहाँ पर कहा जो

व्यक्ति अर्हदादि पंचपरमेष्ठी की भक्ति करता है, उनका स्तवन करता है, उसकी कीर्ति चहुँ ओर फैलती है। अब शंका आ सकती है कि भक्ति कौन कर रहा है यह कैसे पता चले? किसने पहले पूर्व में स्तुति की? कोई कहे मैंने की, मैंने की, तो नहीं। यदि आपने की है तो हमें प्रमाण चाहिए। कोई कहे हम तो मंदिर में 10-10 घंटे रहते थे, इससे नहीं। यदि की है तो उसका फल है यशकीर्ति। जिसकी आज यशकीर्ति फैल रही है उसका अतीत देखो उसने 100% पूर्व में भक्ति-स्तुति-स्तवन किया है।

महानुभाव! हम आपको कुछ आगम के परिपेक्ष में उदाहरण बताते हैं, कुछ वर्तमानकाल के उदाहरण बताते हैं फिर इसके साथ-साथ आप आँख बंद करके सोचना कि इस प्रकार से व्यक्ति कैसे यश को प्राप्त कर रहा है।

चतुर्थकाल के पूर्व अर्थात् तृतीयकाल के अवसान के समय भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकर ने जन्म लिया उनके प्रथम पुत्र भरत चक्रवर्ती हुए। भरत चक्रवर्ती ने भगवान् ऋषभदेव की समवसरण में स्तुति की जिसके फल से उन्हें तत्काल में अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई; क्योंकि जब उन्होंने तीन समाचार सुने थे पुत्र रत्न की प्राप्ति, चक्ररत्न की प्राप्ति और पिताश्री तीर्थंकर ऋषभदेव को केवलज्ञान की प्राप्ति। तो वे सर्वप्रथम ऋषभदेव भगवान् की पूजा करने गए, बाद में उन्होंने अन्य महोत्सव सम्पन्न किए। वहाँ जाकर उन्होंने जैसे ही स्तुति की उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई और भरत चक्रवर्ती पूरे विश्व में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। चक्रवर्ती तो प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में होते हैं, इस भरत क्षेत्र में 12 तथा ऐरावत क्षेत्र में 12 होते हैं। 13 भी कभी नहीं होते और ग्यारह भी कभी नहीं होते। जैसे भरत-ऐरावत क्षेत्र में नियम से 24 तीर्थंकर ही होते हैं इसी तरह 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलभद्र ये संख्या नियत है। इनका भरत-ऐरावत क्षेत्र में उल्लंघन नहीं होता।

महानुभाव! चक्रवर्ती 12 ही होते हैं, सभी चक्रवर्तियों के पास समान रूप से 14 रत्न, 9 निधि होती हैं। छह खण्ड का राज्य-वैभव होता है। उसके बावजूद भी यह बताइये कि चक्रवर्तियों का नाम आते ही सर्वप्रथम भरत चक्रवर्ती का नाम क्यों लिया जाता है? आप कहेंगे वे प्रथम चक्रवर्ती थे इसलिए लिया जाता है। यह कोई logic नहीं है। हम आपसे पूछते हैं आपको पहले चक्रवर्ती का नाम याद है दूसरे, तीसरे का नाम याद क्यों नहीं है, फिर आपको शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरनाथ का नाम याद क्यों हो गया? और कोई कहे भरत चक्रवर्ती तीर्थंकर के पुत्र थे इसलिए उनकी प्रसिद्धि ज्यादा है, तो यह भी कोई तर्क नहीं है क्योंकि 5 बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ व महावीर भगवान् इन पाँच को

छोड़कर 19 तीर्थंकरों ने गृहस्थ जीवन को स्वीकार किया, उनके प्रथम पुत्रों का नाम याद है क्या किसी को? नहीं। तो इसका आशय यह है कि भरत चक्रवर्ती ने समवसरण में जाकर ऋषभदेव भगवान् की स्तुति की थी, एवं उन्हें जब भी समय मिलता वे अपने महलों में रहकर भी उनकी स्तुति करते थे। प्रत्येक दरबार पर वंदनबार और तोरणहार लटके थे। प्रत्येक वंदनबार में उन्होंने तीर्थंकरों के चित्रों को चित्रित किया था, जब भी निकलते थे तो झुककर निकलते थे। उन जिनबिंबों का स्मरण करते हुए अपना सिर झुकाकर तीनों योगों से नमस्कार करके जाते, उनकी स्तुति का भाव सदा मन में रहता था। इसी कारण भरत चक्रवर्ती 12 चक्रवर्तियों में अधिक प्रसिद्ध हुए। सर्वत्र ही भरत चक्रवर्ती का नाम विख्यात है। इतना ही नहीं उनके ही नाम से इस देश का नाम जो पहले 'आर्यावर्त' था, बाद में अजनाभवर्ष हुआ पुनः भरत चक्रवर्ती के नाम से इस देश का नाम 'भारत' पड़ा।

देखो, देव चार प्रकार के होते हैं—व्यंतर देव, भवनवासी देव, ज्योतिष देव और वैमानिक देव। इन चारों प्रकार के देवों में देखा जाए तो वैमानिक देव श्रेष्ठतम होते हैं। वैमानिक देवों में भी कल्पोपन्न और कल्पातीत दो प्रकार के देव हैं। कल्पोनन्न 16 स्वर्ग तक माने जाते हैं, कल्पातीत 16 स्वर्ग के ऊपर वाले माने जाते हैं। यूँ तो पुण्य की अपेक्षा से ऊपर वाले देव अधिक पुण्यशाली माने जाते हैं। सौधर्म स्वर्ग में रहने वाला सौधर्म इन्द्र बाह्य वैभव की अपेक्षा से विशिष्ट सम्पन्न है। किन्तु अन्य गति-परिग्रह आदि की अपेक्षा से हीन होता हुआ वह उनसे जघन्य है; उसके बावजूद भी यदि देवों में किसी की प्रसिद्धि है तो सौधर्म की प्रसिद्धि है। संख्यातासंख्यात देव-देवियों में सौधर्म इन्द्र प्रसिद्धि को प्राप्त है क्यों? क्योंकि वह सौधर्मइन्द्र नियम से प्रत्येक तीर्थंकर की स्तुति करता है, प्रत्येक तीर्थंकर के पंचकल्याणकों की स्तुति करता है।

यहाँ तक कि वह सौधर्म इन्द्र अन्य सामान्य केवलियों की स्तुति करने जाता है, वह सौधर्म इन्द्र अकृत्रिम जिनालयों की भी भक्ति-पूजा करता है, उस सौधर्म इन्द्र का नियम है प्रत्येक तीर्थंकरों के कल्याणक मनाने का अवसर उसे प्राप्त होता है। आदिपुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी जी ने लिखा कि सौधर्मइन्द्र ने भगवान् ऋषभदेव की 1008 नामों से स्तुति की। इससे वह कीर्ति को प्राप्त हुए। शची इन्द्राणी अनुगामिनी होकर के स्तुति करती है। अन्य देवियों के नाम आपको ज्ञात नहीं होंगे किन्तु शची का नाम ज्ञात होगा।

और देखिए विशेष रूप से उपसर्ग दूर करके स्तुति की धरणेन्द्र पद्मावती ने। वे धरणेन्द्र-पद्मावती प्रसिद्धि को प्राप्त हुए और वर्तमानकाल में जिनके पास कोई काम नहीं होता

है, स्वाध्याय भी नहीं करते हैं वे झगड़ा लेकर बैठ जाते हैं कि इन धरणेन्द्र-पद्मावती का क्या करना है, क्या नहीं। किन्तु मूल बात यह देखो कि जिन्होंने स्तुति की **''न हि कृतमुपकारं साधवः विस्मरन्ति'** साधुपुरुष अपने ऊपर किए उपकार को नहीं भूलते। उन नाग-नागिन को पार्श्वकुमार ने महामंत्र णमोकार सुनाया इसके बाद वे धरणेन्द्र-पद्मावती हुए। मुनि अवस्था में जब पार्श्वनाथ भगवान् पर उपसर्ग हुआ तब उन दोनों ने अवधिज्ञान से जानकर उनका उपसर्ग दूर किया व स्तुति की।

इसके साथ-साथ वर्तमान में देखें तो कितने व्यक्ति हैं जिनका यश फैल रहा है। ऐसे व्यक्ति भी आपको दिखाई देंगे चाहे वे श्रावक श्रेष्ठ हैं, चाहे विद्वतवर्ग में उच्चकोटि के विद्वान हैं, चाहे वे साधक हैं; जिनकी यश कीर्ति फैल रही है उनसे आप जाकर के पूछना कि-पूर्व में आपने कभी स्तुति की थी क्या? चाहे अतीत में हुए आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज उन्होंने जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की, गुरुस्तवन-वंदना की। चाहे आचार्य देशभूषण महाराज हों, चाहे आचार्य विमलसागरजी, चाहे आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज आदि बड़े-बड़े कितने ही आचार्य हुए जिनकी अरिहंत प्रभु के प्रति कितनी अगाढ़ श्रद्धाभक्ति रही। आचार्य शांतिसागर जी, आचार्य विमलसागर जी महाराज के संघ में तो चैत्यालय साथ चलता था। दिन में 2-3 बार दर्शन करते, उनके कमरे में चैत्यालय रहता। तो उनकी बहुत प्रगाढ़ भक्ति थी। भक्ति-स्तुति करने से उनकी प्रसिद्धि है। साधु तो और भी होते हैं जो ज्ञानी भी हों, तपस्वी भी हों किन्तु सभी प्रसिद्धि को प्राप्त नहीं होते। श्रावकों में भी देखना कि जो आज उच्च माने जाते हैं, जिनका यश अपने प्रान्त में या देश में फैल रहा है उनसे भी पूछना निःसंदेह उन्होंने भी अर्हदादि पंचपरमेष्ठी की भक्ति-स्तुति की है।

महानुभाव! साधु-तपोनिधियों की स्तुति करने से दशों दिशाओं में कीर्ति फैलती है। आप लोग भी पंचमरमेष्ठी की भक्ति-स्तुति करें। अरिहंत प्रभु उच्चकोटि के तपस्वी कहलाते हैं, उनकी स्तुति करने से निःसंदेह यश-कीर्ति की प्राप्ति होती है। चाहे वह स्तुति करने वाला कोई श्रावक हो, देव हो या साधु, कोई भी हो जिसने भी निःस्वार्थ भावना से अंतरंग की श्रद्धा से स्तुति की है, उनके गुणों की प्रशंसा की है तो प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। अब कोई कहे कि गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहना तो मिथ्या हो जाएगा, मिथ्या होने से झूठ बोलने का पाप बंध होगा? यदि अपने उपयोग में मिथ्या नहीं है, हमें उसके गुण वैसे ही दिखाई दे रहे हैं, अपने आशय में-अपने भाव में यदि हम सत्य हैं तो पाप का बंध नहीं होगा। दूसरे के आशय में हम 100% असत्य बने रहें तो हमें पाप का बंध नहीं होगा किन्तु यदि हम जानबूझकर अपने आशय में मिथ्या कह रहे हैं, दूसरा हमें सत्य भी मान रहा है तो भी हमें पाप का बंध होगा।

यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि तपस्वियों की स्तुति-भक्ति इन्द्रों द्वारा की जाती है, उसका फल यह है कि इन्द्र आदि भी तपस्वियों की स्तुति-भक्ति-वंदन-पूजन-अर्चना करके शीघ्र ही अचिरकाल में मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। और पुनः लौकिक कार्यों की सिद्धि विद्या-मंत्र आदि की सिद्धि भी होती है ऐसा मूलाचार में वट्टकेर आचार्य ने लिखा-

'आइरिय-पसाएण विज्जा-मंताय सिज्झन्ति' आचार्यों के प्रसाद से विद्या-मंत्र आदि की सिद्धि होती है। इस प्रकार 115वीं गाथा में आचार्य महोदय ने बताया कि तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र की प्राप्ति होती है, उनको दान देने से भोगों की प्राप्ति होती है, उनकी उपासना से लोक में पूज्यता की प्राप्ति होती है, उनकी भक्ति से सुंदर व निरोगी शरीर की प्राप्ति होती है व तपस्वियों का स्तवन करने से, उनके गुणों का गान करने से लोक में यश-कीर्ति विस्तार को प्राप्त होती है। इस प्रकार आप भी तपस्वियों की भक्ति-स्तुति-वैय्यावृत्ति करके तदनुरूप फल को प्राप्त करें। आप सभी के प्रति हम यही भावना भाते हैं व अपनी शब्द शृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दान का फल

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छाया-विभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्॥116॥

अन्वयार्थ–जिस प्रकार **क्षितिगतं** – पृथ्वी में प्राप्त, **अल्पमपि** – छोटा भी, **वटबीजं** – वट का बीज, **काले** – समय पर, **शरीरभृताम्** – जीवों को, **छायाविभवं** – बहुत छाया को, **फलति** – फलता है, उसी प्रकार **पात्रगतम्** – पात्र में दिया गया, **अल्पम् अपिदानम्** – थोड़ा भी दान, **शरीरभृताम्** – शरीरधारियों को, **काले** – समय पर, **इष्टबहुफलं** – इष्ट बहुफल को, **फलति** – फलता है

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में चतुर्थ शिक्षाव्रत का कथन चल रहा है। जिसमें आचार्य महोदय दान की महिमा बता रहे हैं। दान कौन-कौन से होते हैं, इसकी बात तो आगे करेंगे, अभी तो दान की महिमा बता रहे हैं जिसमें मुख्यता आहारदान की है। इसके अलावा अन्य दान की महिमा नहीं है, ऐसा नहीं है। किन्तु एक समय में एक की मुख्यता होती है, जैसे हम आपसे कहें कि गौआसन से बैठ जाइए तो गवासना अर्थात् जैसे गाय बैठती है, तो उस आसन से क्या अकेली गाय बैठती है, उस आसन से क्या अन्य जानवर बैल, हरिण, भैंस आदि नहीं बैठते, हाँ बैठते हैं, किन्तु प्रशस्त का नाम ले लिया जाता है तो सबका नाम उसी में समाहित हो जाता है। इसी प्रकार मुख्य तो यहाँ आहारदान कहा किन्तु इसका आशय केवल आहार ही नहीं अपितु अन्य दान जो विवेकपूर्वक-भक्तिपूर्वक-श्रद्धापूर्वक व शुभ भावना के साथ दिए जाते हैं तो उन दानों का भी फल होता है। यदि किंचित् भी औषधि दी तो बहुत बड़े आरोग्य की प्राप्ति हो गई, किंचित् ज्ञानदान दिया तो विपुल ज्ञान की प्राप्ति हो गई, वसतिका दान दिया तो उसके माध्यम से स्वर्ग में देव बनकर के विमान प्राप्त हुआ। ऐसे ही आहारदान दिया तो भोगभूमि में दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त दिव्य भोगों की प्राप्ति हुई। स्वर्ग में सागरों पर्यंत सुख की प्राप्ति हुई। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने 'रयणसार' में लगभग 30-32 गाथाओं में आहारदान का कथन किया और यहाँ तक कहा कि संसार का जो भी वैभव है वह सब आहारदान के माध्यम से प्राप्त होता है। और इतना ही नहीं आचार्य महोदय ने कहा कि पंचकल्याणक की विभूति आहारदान के माध्यम से होती है, सिद्धत्व की प्राप्ति भी आहारदान के माध्यम से होती है।

आचार्य भगवन् अमितगति स्वामी जी, श्री वासुपूज्य स्वामी जी, जिनसेनाचार्य आदि-आदि अनेक आचार्यों ने इस संबंध में विस्तार से व्याख्याएँ की हैं। सबकी व्याख्याएँ अलग-अलग हैं किन्तु सबका भाव एक है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से लोक को प्रकाशित करता है, सूर्य सब

ग्रहों से श्रेष्ठ माना जाता है प्रताप की अपेक्षा, यद्यपि ग्रहों का राजा चन्द्रमा होता है। चन्द्र इन्द्र व सूर्य प्रतीन्द्र माना जाता है किन्तु इसके बावजूद भी सूर्य का अपना एक अलग प्रभाव है, यह सर्वविदित है। ऐसे ही आहारदान का प्रभाव परम्परा से तो मोक्ष है, तीर्थंकर आदि पद की प्राप्ति है किन्तु फिर भी यहाँ आचार्य महोदय आहारदान का विशेष प्रभाव बताते हुए दृष्टांत के माध्यम से अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं।

एक व्यवसायी से पूछा-भाई! तुम व्यापार करते हो, कितना कमा लेते हो? उसने कहा मैं 1% कमाता हूँ। अर्थात् मैं 100 रु. पर 1 रु. कमाता हूँ। वह 1 रुपया कितने दिन में कमाते हो? बोला एक दिन में, मतलब यह कि मैं ब्याज का काम करता हूँ 100 रु. पर 1% की ब्याज लेता हूँ तो 1000 रु. पर मेरे पास 10 रु. प्रतिदिन आते हैं। अरे! तो फिर इससे तुम्हारा काम कैसे चलता होगा? वह बोला मेरे पास पूँजी पर्याप्त है, करोड़ों-अरबों की पूँजी है इसलिए मैं लाखों कमा लेता हूँ। दूसरा व्यक्ति बोला-तुम कुछ नहीं कमाते मैं 2% कमाता हूँ मेरी पूँजी तुमसे आधी से थोड़ी ज्यादा है पर फिर भी मेरी कमाई तुम्हारे ही बराबर है। तीसरे व्यक्ति से पूछा तुम क्या कमाते हो? बोला मैं 3% कमाता हूँ। मेरी पूँजी तुमसे भी थोड़ी कम है किन्तु मैं 3% पर पैसा उधार देता हूँ। चौथे से पूछा-तुम क्या कमाते हो? बोला मैंने अपना पैसा प्रोपर्टी में लगा दिया है। उसमें 4% का औसत आ जाता है। अगला बोला-मेरा 5% का तो ईमानदारी से कहीं नहीं गया क्योंकि मैं Builder का काम करता हूँ। अगला बोला- मैं 6% कमाता हूँ, ऐसे 7%, 8% आदि.... कहते-कहते ऐसे व्यक्ति भी मिले जो कहते है मैं अपने व्यापार में 100% से भी दूना कमाता हूँ। वह बोला मैं 100 रु. की वस्तु को 300 रु. में बेचता हूँ तो मैं 200% कमा रहा हूँ। ऐसे व्यक्ति भी हैं जो कहते हैं मेरा हुनर है, मैं जो raw material आता है उससे खिलौने आदि बनाता हूँ और 100 रु. की सामग्री से वस्तु बनाकर मैं 500 रु. में बेचता हूँ इस प्रकार मैंने 400% कमा लिया। कोई कहता है मैं 100 रु. की वस्तु 1000 रु. की करके बेचता हूँ तो 900% कमाता हूँ।

यह सभी बातें चल रही थी तभी एक किसान बोला तुम व्यापारी कुछ नहीं कमाते। वे सभी बोले आप कितना कमाते हो? वह बोला मेरी कुछ मत पूछो मैं 1% से 1000% तक कमाता हूँ और इससे ज्यादा भी कमा लेता हूँ। किसान की बात सुनकर व्यापारी दंग रह गए, ऐसा कैसे हो सकता है? वह बोला- देखो मैंने एक बीज बोया गन्ने का, उसका एक गन्ना पैदा हो गया (एक टुकड़ा बोने से एक गन्ना पैदा हो गया) तो 1% कमाया जितना बोया उतना मिला, पुनः मैंने एक गन्ने के 10 टुकड़े करके बोया तो 10 गन्ने पैदा हो गए और वह भी तीन बार आया। उससे पूछा और भी कोई ऐसी खेती होती है। बोला हाँ- मटर का एक दाना बोया तो 10 दाने मिले, चना है या और भी कोई पेड़ होते हैं। ठीक है, चलो इतना मान लेते

हैं कि 20 गुने, 50 गुने हो सकते हैं किन्तु तुमने हजार गुना कैसे कह दिया? वह बोला मैंने 1000 गुना ऐसे कह दिया, तुम चलो मेरे खेत में। वहाँ एक तिल का पेड़ था उसकी 20-30 शाखा हो गईं, अच्छी बालूई मिट्टी पर था, पानी रुकता नहीं था निकल जाता था तो वह पेड़ बहुत बड़ा हो गया था। उसकी प्रत्येक शाखा में 50-50 घेंटी लगी थी, एक-एक घेंटी के अंदर चार पार्ट होते हैं ऊपर नीचे-ऊपर नीचे एक-एक पार्ट में कम से कम 10-10-15-15 दाने होते हैं उसे उखाड़ कर उसने एक कपड़ा बिछाकर झाड़ दिया। और कहा ये एक तिल के इतने दाने हैं, तुम गिनती कर लेना और मुझे शाम को बता देना, तुम्हें पता चल जाएगा कि 1000 गुना है या 1500 गुना। वे सभी कहने लगे-वास्तव में कृषि करने वाला तो निःसंदेह हजार-दो हजार गुना भी कर सकता है।

फिर कोई व्यक्ति कहने लगा अरे! कृषि से ज्यादा कमाई तो ऋषि करते हैं, वे एक बार ध्यान करने बैठ गए तो बहुत सारे कर्मों की निर्जरा कर देते हैं, तभी किन्हीं आचार्य ने कहा-नहीं! ऋषि की साधना तो अचिंत्य है ही किन्तु गृहस्थों में भी जो श्रावक दाता होता है, दान देने वाला होता है वह भी असंख्यात गुना कमाता है। किसी साधक के कर कमल में निर्दोष भावना से एक ग्रास आहार का देता है, वह आहार उसके लिए इतना फल देने वाला होता है कि तीन पल्य तक भोगभूमि में 10 प्रकार के भोगों को भोगता रहे तब भी पुण्य समाप्त न हो, इतना ही नहीं स्वर्ग में जाकर के भोगे तब भी पुण्य समाप्त न हो, वहाँ से आकर चक्रवर्ती बने या तीर्थंकर बने, संसार का भोग भोगे और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कर ले। इतना पुण्य अर्जित होता है।

तो आचार्य महोदय कहते हैं वास्तव में दान का फल अचिन्त्य है। फिर भी यहाँ दान के फल का उदाहरण दे रहे हैं। **'क्षितिगतमिववटबीजं'** भूमि में डाला गया वट बीज जो कि सरसों के दाने से भी छोटा होता है। यदि उस एक बीज को जमीन में बो दिया तो वह वट वृक्ष हजारों वर्ष की आयु वाला भी हो सकता है और प्रत्येक वर्ष उस छोटे से पेड़ पर ही हजारों फल लगते हैं। एक-एक फल में सैकड़ों बीज होते हैं। अब देख लीजिए एक बीज से पैदा हुआ वट का वृक्ष जो हजारों साल तक फल दे रहा है, यह एक बीज का फल है गुणा करके देख लेना कि कितने बीज पैदा हो गए। जितने बीज इस एक वट वृक्ष से पैदा हो गए वैसे ही एक मुनिमहाराज को आहार देने से उतने गुने फल की प्राप्ति होती है। तो यहाँ यही कहा कि उत्तम पात्र को, अच्छी विधि से दान दिया जाए तो वह भी समय आने पर संसारी प्राणियों को बहुत इष्ट फलों को देने वाला होता है।

एक बार एक दम्पत्ति थे, किसी पाप कर्म के उदय से उनके पास धन का अत्यंत अभाव हो गया। स्थिति इतनी खराब हो गई कि घर-दुकान आदि भी गिरवी रखने की नौबत आ गई। उसकी पत्नी ने कहा-देखो! मेरी बात मानो तो एक बात कहूँ, आपको खराब लगेगी किन्तु

अच्छी बात है, समय-समय पर सब कुछ स्वीकार कर लेना चाहिए। पति ने कहा—कहो क्या कहना चाहती हो, ऐसी क्या बात है जो तुम्हें ऐसे हालातों में अच्छी लग रही है। बोली-बात यह है कि मैं आपसे निवदेन करती हूँ कि मेरे पिताजी व भाई के पास करोड़ों-अरबों रुपया है, आप वहाँ के दामाद हैं, आप वहाँ जाओगे तो वे आपको बहुत धन देंगे। पति बोला-नहीं। अपने घर भूखे रह जाना अच्छा है किन्तु ससुराल का धन लेना अच्छा नहीं है। और दूसरी बात यह है कि उन्होंने मुझे धन दे भी दिया फिर भी यदि मेरे भाग्य में नहीं तो नष्ट हो जाएगा, मैं वहाँ नहीं जाता। पत्नी ने बहुत कहा, पीछे ही पड़ गई, बोली आप आज चले जाओ, वहाँ आप कुछ भी नहीं कहना, देखना वे अपने आप ही गाड़ियों की गाड़ी, रथ के रथ भर देंगे धन से।

नारी की हठ बहुत बुरी होती है, पीछे पड़ जाए तो पुरुष को चैन से जीने नहीं देती। उस व्यक्ति को भी जाना पड़ा। रास्ते के लिए पत्नी ने थोड़े दाल-चावल रख दिए। चलते-चलते शाम हो गई उसने खाया कुछ नहीं केवल पानी पीकर रह गया। दूसरे दिन भगवान् की भाव वंदना करता हुआ, झरने के पानी से दाल-चावल की खिचड़ी बनाकर शुद्ध रसोई तैयार करता है। संयोगवशात् वहाँ किसी ऋद्धिधारी मुनिराज का आगमन हुआ। वहाँ अन्य श्रेष्ठी जनों ने भी डेरा डाला था, उन्होंने आहार दिया, उस व्यक्ति ने भी वहाँ सम्मिलित होकर अपनी खिचड़ी का आहार दिया। मुनिराज ने खिचड़ी का आहार लिया और आकाशमार्ग से विहार कर चले गए। वह भूखा रह गया। वहाँ सेठ ने कहा—आप हमारे यहाँ भोजन कीजिए उसने भोजन नहीं किया और वहीं जंगल के फल खाकर अपना पेट भरा और ससुराल पहुँचा। ससुराल में साले ने पूछा-आप यहाँ कैसे आए, ससुर ने पूछा-लाला जी कैसे आना हुआ। अब वह क्या कहे, क्या करे। वह फिर भी बोला-बात यह है कि हमारा मन था कि हमारे गाँव में काफी समय से पंचकल्याणक नहीं हुए हम कराना चाहते हैं। आपको निमंत्रण देने के लिए आए हैं। वे बोले लाला जी! आपके पास क्या रखा है, धन आदि तो है नहीं, कैसे करोगे पंचकल्याणक और अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया, उन्होंने दामाद से न पानी की पूछा न भोजन की।

बेचारा लौटकर आ रहा था, मार्ग में एक बेर का पेड़ मिला। उसने सोचा पत्नी को क्या कहूँगा, पूछेगी क्या लाए तो क्या जवाब दूँगा। चलो बेर ही ले चलता हूँ। उसने बेर खाए पानी पीया और बेर की बहुत बड़ी पोटली बाँध ली, वह जितनी भारी उठा सकता था उतनी बड़ी पोटली बांध ली और लेकर अपने घर आ गया। पत्नी देखते ही बोली देखो मैंने कहा था न, वहाँ चले जाओगे तो मेरा भाई तुम्हें मालामाल कर देगा। वह अंदर से जल रहा था, क्या दिया, अपमान कर भगा दिया। किंतु कुछ बोला नहीं, अपने काम में लग गया। पत्नी ने पोटली

खोल कर देखा कि इसमें क्या है। जैसे ही पोटली खोली पूरा आँगन ही जगमगा गया। आँगन में देखा वे सब बेर नहीं रत्न बन गए थे। वह बोली-देखो! मेरे भाई ने कितने रत्न दिए हैं? पत्नी की बात सुनकर जैसे ही उसने पोटली की ओर देखा तो आश्चर्यचकित रह गया और बोला—ये तुम्हारे भाई ने नहीं दिए। तो फिर? लौटते समय मैं बेर तोड़ रहा था, वहाँ के यक्ष ने कहा तुम दु:खी मत हो, तुम प्रतिष्ठा कराओ, तुम्हारी जो भावना है वह पूरी करो। तुमने जो मुनिमहाराज को आहार दिया है उसके लिए मैं आपको अपनी तरफ से पुरस्कार देता हूँ, उन्होंने पुरस्कार में मुझे बेर दिए थे। घर आकर देखे तो ये रत्न हो गए।

महानुभाव! वास्तव में यह बात कोई आश्चर्यचकित नहीं करती। मुनिराज को जब आहार देते हैं तो पंचाश्चर्य होते हैं। यहाँ तो एक ही आश्चर्य हुआ बेर रत्न बन गए, यह कोई बड़ी बात नहीं। आहारदान की महिमा अचिन्त्य होती है। आप सभी भी आहारदान में प्रवृत्ति करो। आहारदान नि:संदेह भगवान् बनाने वाला है; यदि भावना से आहार दिया है तो इसमें किंचित् भी शंका नहीं करना चाहिए। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वैय्यावृत्य के चार भेद

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरम्नाः॥117॥

अन्वयार्थ–चतुरम्नाः – चार ज्ञान के धारी गणधर देव, **चतुरात्मत्वेन** – चार प्रकार का, **वैयावृत्यं** – वैयावृत्य, **ब्रुवते** – कहते हैं, **आहार-औषधयोः** – आहारदान, औषधदान, **अपि** – तथा, **उपकरणावासयोः च** – उपकरण और आवास के, **दानेन** – दान से।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में चतुर्थ शिक्षाव्रत का प्रकरण देख रहे हैं, जिसमें आचार्य महोदय 117 वीं गाथा के माध्यम से वैय्यावृत्ति के चार भेदों को बता रहे हैं।

चार प्रकार के ज्ञान को धारण करने वाले गणधर परमेष्ठी, वृषभसेन आदि 1452 गणधर जो इस भरतक्षेत्र में हुए उन्होंने वैयावृत्ति को चार प्रकार से कहा है। आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने वैय्यावृत्ति के दस भेद तत्त्वार्थसूत्र में अलग प्रकार से बताए–'आचार्योपाध्यायतपस्वि-शैक्षग्लानगणकुल-सङ्घसाधुमनोज्ञानाम्' किन्तु यहाँ पर जो भेद कहे वे दान के रूप में बता रहे हैं। यद्यपि आचार्य समंतभद्रस्वामी की दृष्टि बहुत वृहद्दृष्टि है। वे अपनी दृष्टि में केवल चार प्रकार के दानों को ही नहीं पूजा, भक्ति, स्तुति, नमस्कार, पादमर्दन, सेवा आदि साधना में बाधक सभी वस्तुओं का निराकरण, साधक वस्तुओं को प्रदान करना, सबको वैय्यावृत्ति में समाहित किया है। यहाँ पर चार जो मुख्य भेद दिए उन चार भेदों को देखते हैं-आहार, औषधि, उपकरण और आवासदान।

आहारदान-आहार का शाब्दिक अर्थ होता है ग्रहण करना, अत्ति अर्थ भी भोजन ग्रहण के अर्थ में आता है किन्तु साधुओं के भोजन को भोजन और खाना नहीं कहते। यह एक प्रमार्जित शब्द है साधुओं की वृत्ति को श्रावक लोग आहार कहते हैं; क्योंकि आहारदान एक धर्म है। भोजन करना, खाना खिलाना, किसी को जिमाना या नाश्ता कराना, स्वाल्पाहार देना, ये सब आपके व्यवहारिक धर्म या व्यवहारिक क्रियाएँ होती हैं। आपने अपने घर में कोई कार्यक्रम किया और कार्ड छपवाये, उसमें लिखवाया कार्यक्रम के उपरांत सूर्यास्त से पूर्व तक स्वल्पाहार या प्रीतिभोज की व्यवस्था है अथवा सभी अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु ये सभी शब्द साधु के आहार के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इन शब्दों की कीमत अल्प है। जैसे साधु भी मनुष्य हैं किन्तु साधु को कोई मनुष्य नहीं कहता, साधु को कोई आदमी

नहीं कहता, साधु को कोई यह नहीं कहता कि ये पुरुष हैं। क्योंकि ये शब्द सामान्यजनों के लिए प्रयुक्त करने वाले शब्द हैं। विशेष व्यक्ति के लिए प्रयोग किए जाने वाले शब्द विशेष ही होते हैं। जिन शब्दों का प्रयोग आम व्यक्ति के लिए किया जाता है उन संबोधन वाक्यों का प्रयोग हम किसी विशेष व्यक्ति के लिए नहीं कर सकते। जैसे देश के राष्ट्रपति के लिए नियुक्त है 'महामहिम' आदि। या माननीय महोदय शब्द का प्रयोग किया जाता है। उन शब्दों का प्रयोग हम सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं कर सकते।

भगवान् के लिए जिन उत्कृष्ट शब्दों का प्रयोग किया जाता है, गुरु के लिए जिन स्तुति-भक्ति-वंदनापरक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वह सामान्यतः प्रयोग नहीं करते। कोई ऐसा नहीं कहता है कि अमुक व्यक्ति का स्वास्थ्य खराब है, उनके दर्शन करने हम अस्पताल जा रहे हैं। बल्कि क्या कहेंगे? अमुक व्यक्ति को देखने जा रहे हैं। और भगवान् को और साधु के प्रति ऐसा नहीं कहते हैं कि हम मंदिर भगवान् को देखने जा रहे हैं, ये शब्द बहुत छोटे से हैं। बड़े व्यक्ति के लिए इन शब्दों को प्रयोग करने से अपना तुच्छपना प्रगट होता है। जो व्यक्ति वास्तव में उस बहुमूल्य की कीमत जानता है वह उसी प्रकार के पैमाने का प्रयोग करता है। जैसे कोई व्यक्ति ये नहीं कहेगा कि कोहिनूर हीरा का मूल्य इतने कोड़ी है या इतनी पाई है या इतने सिक्के है। वह कहेगा यदि नोटों में कहो तो करोड़ों रुपया या सोने में कहो तो इतने किलो सोना तुल जाएगा तब तो समझ में आता है, कोई ये नहीं कहेगा कि इस कोहिनूर हीरे का वजन या मूल्य इस पहाड़ की मिट्टी के बराबर है। क्योंकि ये कहने से उस कोहिनूर हीरे की अवमानना हो जाएगी।

तो यहाँ पर शब्द देख रहे थे 'आहार'। जो आहार साधुओं के लिए शुद्ध उचित नवधा भक्तिपूर्वक दिया जाता है, दाता सप्त गुणों से युक्त होकर के देता है, वह आहारदान धर्म में समाहित होता है। वैसे जो दिया जाता है वह लोक धर्म है, लौकिक कार्य है, उससे कितने पुण्य की प्राप्ति होगी कह नहीं सकते। आपने किसी गरीब को भोजन कराया, पशु को भोजन कराया, चारा डाल दिया, किसी पक्षी को चुग्गा डाल दिया, चीटिंयों को आटा डाला, तो इसको ये नहीं कहोगे कि आहारदान दिया है। आप इसे कहोगे कि मैंने करुणादान दिया। उनके प्रति करुणा का भाव जाग्रत हुआ तो मैंने उन्हें भोजन कराया, उनकी उदरपूर्ति की। किन्तु कोई व्यक्ति ये नहीं कह सकता कि मैंने साधु की उदर पूर्ति की या साधु को भोजन कराता हूँ। ये कहने वाला व्यक्ति पुण्य नहीं करेगा; वह जानता है यदि मैंने इस शब्द का प्रयोग किया तो मेरा पुण्य क्षीण हो जाएगा, पाप का बंध हो जाएगा। क्योंकि मुझे अहंकार आ जाएगा कि मैं

साधु को भोजन खिला रहा हूँ, खाना खिला रहा हूँ, साधु की उदरपूर्ति कर रहा हूँ। नहीं, ये तुच्छ शब्द हैं और स्वयं के अहंकार के प्रतीक हैं। जब कभी भी बड़े व्यक्ति के प्रति तुच्छ शब्दों का प्रयोग किया जाता है तब नि:संदेह मानना चाहिए उसके अंदर अहंकार पनप रहा है। अहंकार तो विषैले सर्प की तरह से है कब डस ले और कब यह धर्म की मृत्यु कर दे कह नहीं सकते। यह सुगति को दुर्गति में बदल सकता है।

कोई कहे अन्य परम्परा का साधु बीड़ी पीता है, सिगरेट पीता है, अफीम-गांजा पीता है तो मैंने उसे दे दिया; मुझे पुण्य लगेगा कि नहीं लगेगा? इन वस्तुओं को देने से पुण्य नहीं लगेगा। क्योंकि इनसे उसकी दुष्प्रवृत्ति होगी, चित्त भी दूषित हो जाएगा, विशुद्धि नहीं बढ़ेगी तो देने वाले को पुण्य कहाँ से मिल जाएगा। शुद्ध वस्तु का आहार दिया जाता है। जैन परम्परा में श्रावक-श्राविका दिगम्बर साधु को शुद्ध आहार ही देते हैं। यहाँ तक कि अन्य किसी को भोजन भी देना है तो वह अपनी रसोई में अशुद्ध भोजन किसी को नहीं कराता, शुद्ध भोजन ही देता है, कभी कोई कार्यक्रम भी कराता है तो उसमें भी शुद्ध भोजन ही कराता है, अशुद्ध वस्तु नहीं खिलाता। अशुद्ध वस्तु खिलाने से पुण्य नहीं मिलता वरन् पुण्य क्षीण हो जाता है, पाप बढ़ जाता है तो आहारदान देना एक धर्म है।

दूसरा दान है-**'औषधि दान'।** पात्रों को औषधि दान देना, क्योंकि पात्र भी संसारी प्राणी हैं। वे संसार से आगे जा रहे हैं, वे संसार के मार्ग को बदलकर मोक्षमार्ग में हो गए। यद्यपि उन्हें अपने शरीर के प्रति इतना लगाव नहीं, इतना मोह नहीं, वे शरीर से विरक्त हैं फिर भी उनके शरीर में कोई रोग हो सकता है, कर्म का उदय आ सकता है क्योंकि कर्म तो संसारी प्राणी को छोड़ते नहीं, चाहे कोई कितना भी महान् पुरुष हो कर्म यदि सत्ता में पड़ा है तो उदय में आएगा। उसे तपस्या कर क्षीण करो या उदय में लाकर उसका फल भोगो। यदि पाप कर्म के उदय से साधु का शरीर प्रतिकूल हो गया, कोई रोग लग गया तो साधु अपना प्रतिकार नहीं चाहता है किन्तु श्रावक चाहता है। साधु तो सोचता है मुझे करना क्या है, मैं तो साधु बन गया, मेरी आयु अभी भी क्षीण हो जाए तो मुझे क्या भय। 'लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे' क्योंकि कल्याण तो एक अन्तर्मुहूर्त में भी किया जा सकता है। चाहे सुकुमाल मुनि हुए चाहे भरत चक्रवर्ती हुए जो दीक्षा उपरांत अन्तर्मुहूर्त में ही केवली हो गए। कल्याण के लिए ऐसा नियामक नहीं है कि लंबे समय तक साधना करेंगे तब कल्याण होगा। हाँ सुदीर्घकाल तक साधना करने से तपस्या करने से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होती है।

सामान्य व्यक्ति सोचता है मैं ज्यादा जीऊँ और साधु सोचता है जितनी मेरी आयु है उतनी आयु धर्मध्यानपूर्वक व्यतीत हो, उसमें आर्त्त-रौद्र परिणाम न बनें। इसलिए साधु पर अहसान

करने के लिए औषधि नहीं दी जाती वरन् अपने रोगों को दूर करने के लिए औषधि दी जाती है। अर्थात् साधु को आहार देने से आपकी व्यवस्था उत्तम भोगों को भोगने की होती है। 10 प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा भोगभूमि में 1-2-3 पल्य तक दिव्य-मनोज्ञ भोग भोग सकते हैं। देवगति में जाकर अमृत का आहार कर सकते हैं। ऐसे ही औषधिदान देने से आपको अपना रोग दूर करने के लिए औषधि खाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जिन व्यक्तियों को इतना विश्वास है कि औषधिदान देने से मुझे कभी कोई रोग नहीं होगा वे व्यक्ति नि:संदेह सुपात्रों को औषधिदान देते हैं, वे स्वयं औषधि सेवन नहीं करते। जो स्वयं औषधि सेवन करते हैं सुपात्रों को औषधिदान नहीं देते उन्हें तो औषधि खानी ही पड़ती है क्योंकि उन्हें विश्वास ही नहीं है और बिना विश्वास किए किसी के कहने पर दे भी देंगे तो फल की प्राप्ति नहीं होगी, और कहेंगे फल नहीं मिल रहा क्योंकि मन में शंका पड़ी है। तो जिनका दृढ़ विश्वास है वे कहते हैं जबसे मैंने औषधि देना शुरु किया है तब से मुझे अपने लिए औषधि खरीदने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

औषधिदान करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखें कि सुपात्रों के लिए व्याधियों को दूर करने वाली प्रासुक और हिंसादिक दोषों से रहित औषधियों का ही सदा प्रयोग करें। जिस औषधि में कुछ भी अभक्ष्यपना या अशुद्धि हो ऐसी औषधि भूलकर भी किसी पात्र को नहीं देनी चाहिए। अशुद्ध औषधिदान से महापाप उत्पन्न होता है तथा शुद्ध औषधियों का दान देने से जीव को निरोगता प्राप्त होती है और कामदेव के सुख प्राप्त होकर कभी न नष्ट होने वाला मोक्षसुख प्राप्त होता है।

महानुभाव! जो पुरुष महापुण्य सम्पादन करने वाला औषधदान देता है वह पुरुष जीवों को अभयदान देता है, अथवा यूँ कहें महाशुभ दयादान देता है; क्योंकि जिस समय किसी मनुष्य की दारुण दु:ख देने वाली व्याधि उत्पन्न हो जाती है और कोई भी उसका सहायक नहीं होता, उस समय औषधि के समान उसको शरण देने वाला और प्राणों की रक्षा करने वाल अन्य कोई पुरुष या पदार्थ नहीं है। जो भव्यजीव बिना किसी लोभ के और बिना किसी छल-कपट के शुद्ध औषधियों का दान देता है वह जीव दयाधर्म को समझता हुआ तीनों लोकों का हित करने वाला बंधु बन जाता है। वह दानवीर कहलाता है, वही यशस्वी गिना जाता है, करुणासागर माना जाता है, वही पिता के समान रक्षा करने वाला कहा जाता है, वही पुण्यमूर्ति समझा जाता है इसीलिए भव्यजीवों को अपने सम्पूर्ण प्रयत्न के साथ शुद्ध औषधि का सदा दान देते रहना चाहिए।

आगे दिया **'उपकरण दान'**। ज्ञानोपकरण में शास्त्रदान, शौचोपकरण में कमण्डलु दान, संयमोपकरण में पिच्छिका दान और शयन आदि करने के लिए चटाई-पाटा-आसन आदि का दान करना। अथवा आर्यिका माताजी के लिए साटिका दान, क्षुल्लक जी, ऐलक जी हैं तो उनके लिए लंगोटी-दुपट्टा दान करना, त्यागीव्रती हैं तो उनको भी वस्त्र आदि का दान करना। क्योंकि इस प्रकार के दान करने से किस फल की प्राप्ति होती है तो आचार्यों ने लिखा है जो भव्यजीव श्रेष्ठ जिनशास्त्र को पढ़ने के लिए अपना धन दान देता है वह इस संसार में लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञानोपकरणों के दान करने से वह भव्यजीव जिनशासन की वृद्धि में सहयोगी बनता है तथा जो भक्तिपूर्वक विनय सहित जिनागम का पठन-पाठन करने वाले सुपात्रों को शास्त्रादि का दान करता है वह पुरुष अमृत से भरपूर और सुख की खानि रूप आत्म राज्य को ही प्रदान करता है। आचार्य भगवन् सुधर्मस्वामी ने ज्ञानदान के लिए कहा-

जिनोदितं सदाचारः येन दानेन वर्द्धते।
तदेव ज्ञानदानं हि दातव्यं ज्ञानवृद्धये॥

जिस ज्ञानदान से भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए सदाचार की वृद्धि हो, सम्यग्दर्शन की वृद्धि हो, ऐसा ज्ञानदान रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए सदा देते रहना चाहिए। जो मयूरपिच्छिका दान देता है उसका वंश कभी निर्वंश नहीं होता, निर्बीज नहीं होता, वंश की वृद्धि होती है। जो कमण्डलु का दान देता है उसके गृह में नियम से अर्थवृद्धि होती चली जाती है जैसे कमण्डलु के मुख से आय ज्यादा व्यय कम होता है ऐसे ही घर में लक्ष्मी की वृद्धि होती है, व्यय कम होता है। जो श्वेतवस्त्र दान करता है तो उनका यश दशों दिशाओं में फैल जाता है। किसी भी कार्य में अपयश हो रहा हो तो वस्त्रदान (श्वेत) देना प्रारंभ कर दो अपयश मिट जाएगा, यश फैलना प्रारंभ हो जाएगा। और पाटा-चटाई-चौकी आदि देने से घर में उत्तम-उत्तम प्रकार के उपकरणों की प्राप्ति होती है। आगे दिया **'आवास दान'** या वसतिका दान। भव्यजीवों को मुनियों को ध्यान अध्ययन आदि की सिद्धि के लिए भक्तिपूर्वक वसतिका बनाकर देनी चाहिए। जो भक्तिपूर्वक सुपात्रों के लिए वसतिका दान रूपी महापुण्य करता है वह जीव वैयावृत्य के फल को प्राप्त होता है तथा अन्त में तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है। वसतिका दान देने वाला पुण्यात्मा जीव मानो तपश्चरण व ध्यान को उत्पन्न करने वाले सर्वोत्कृष्ट चारित्र को ही प्रदान करता है, वह भव्यजीव मुनिधर्म को स्थिर करने वाला कहा जाता है, वही पुरुष गुरुभक्ति में तत्पर गिना जाता है इसीलिए वह धन्य कहा जाता है। जो भी आवास दान देते हैं उन्हें उस पुण्य से अगले भव में या तो स्वर्ग के विमान, देव भवन या भोगभूमि में सहजोपनिर्मित गृहांग वृक्ष से प्रदत्त उत्तमगृह निवास हेतु प्राप्त होते हैं।

महानुभाव! जिसने एक बार भी उत्तम पात्र को नवधाभक्तिपूर्वक विशुद्ध परिणामों के साथ एक अंजुली भी आहार दिया है, हो सकता है उसे एक अंजुली आहार के फल में सागरों या पल्यों पर्यंत अमृत ग्रहण करने का फल प्राप्त हो। जिसने एक लघुकाय छोटी-सी पुस्तक भर शास्त्रदान दिया है, आचार्यों भगवंतों की वाणी छपवाकर के दी है तो वह आज नहीं तो कल नियम से केवलज्ञान को प्राप्त करता है, अवधि-मन:पर्ययज्ञान को प्राप्त करेगा, श्रुतकेवली होगा, इस भव में भी ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ेगा और पर भव में भी वह उत्तमोत्तम वस्तुओं को प्राप्त करता है। कई बार व्यक्ति कहते हैं हमारे बच्चों का ज्ञान का क्षयोपशम घट रहा है और कुछ परिवार ऐसे भी देखे हैं जो कहते हैं महाराज जी! हम हर वर्ष अपने बच्चों के हाथ से शास्त्रदान में कुछ न कुछ पैसे दिलवाते हैं या शास्त्र का प्रकाशन कराते हैं। इससे हमारे बच्चों का क्षयोपशम बढ़ता है। ऐसे ही औषधदान कराने से हमारे बच्चे स्वस्थ रहते हैं। हम भावना भाते हैं त्यागीव्रती स्वस्थ हों तो हमारे बच्चे भी स्वस्थ रहते हैं।

यहाँ आचार्य महोदय चार प्रकार के महान् दानों की व्याख्या करते हुए यही कह रहे हैं कि जिस दान से निर्विघ्न रत्नत्रय की प्राप्ति हो, जिनधर्म का, जिनशासन का संवर्धन होता है, ऐसा दान धर्मात्मा पुरुष को सदा देते रहना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार श्रमण अपने उपदेश से, ज्ञान-ध्यान से जिनशासन के माहात्म्य को बढ़ाते हैं उसी प्रकार श्रावक को भी मोक्षमार्गियों की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति बनी रहे इसलिए उत्तम दान धर्म को करते रहना चाहिए। जो पुरुष जिनधर्म को पाकर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए सुपात्रों को अत्यन्त निर्मल चारों प्रकार का दान देते हैं वे अवश्य ही चक्रवर्ती, धरणेन्द्र व तीर्थंकरादि पद को प्राप्त होते हैं। इसलिए भव्यात्मा-पुण्यात्मा जीवों को उपमारहित शुभ भक्ति को धारण कर शुद्ध पात्रों के लिए संसार समुद्र से पार कर देने वाला, समस्त कल्याणों का कारण व कर्मों का नाश करने वाला दान अवश्य देना चाहिए, जिसके फलस्वरूप परम सुख का निधान रत्नत्रय रूप श्रेष्ठ धर्म को आप प्राप्त कर सको।

महानुभाव! अपनी शक्ति के अनुसार चतुर्विध संघ को चार प्रकार का दान देना चाहिए, जिससे वह श्रावक-श्राविका अपने मोक्षमार्ग में अबाधित गति कर सकें।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

आहारदान का फल-राजा श्रीषेण कथा

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः।
वैयावृत्यस्यैते, चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः॥118॥

अन्वयार्थ–श्रीषेणवृषभसेने – श्रीषेण राजा और वृषभसेना पुत्री तो आहारदान और औषधदान में, **कौण्डेशः** – कौण्डेश नामक ग्वाला उपकरणदान में, **च** – और, **शूकरः** – शूकर आवासदान में, **एते** – ये, **चतुर्विकल्पस्य वैयावृत्यस्य** – चार प्रकार के दान के, **दृष्टान्ताः** – दृष्टान्त, **मन्तव्याः** – मननपूर्वक जानना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना के अंतर्गत आचार्य भगवन् श्रीसमंतभद्रस्वामी जी श्रावकों के अंतिम शिक्षाव्रत वैयावृत्य के संबंध में बता रहे थे। अब 118 वीं गाथा के माध्यम से, आचार्य भगवन् की दृष्टि में जो पुरुष वैयावृत्य में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए उनके नाम उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए हैं। यूँ तो आहारदान के संबंध में अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। भगवान नेमिनाथ स्वामीजी ने भी पूर्वभव में आहारदान दिया जिसके सुप्रभाव से जैन परम्परा के 22 वें तीर्थंकर हुए। वे यदुवंश के शिरोमणि हरिवंश तिलक नवमें नारायण श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। आदिपुराण में आचार्य जिनसेन स्वामी ने स्वीकार किया है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभेदव जो आठ भव पहले वज्रजंघ की पर्याय में थे उन्होंने अपनी सहधर्मिणी श्रीमति के साथ आहारदान दिया वे भोगभूमि और स्वर्ग के सुखों को भोगते हुए पुनः पुनः राज्य अवस्था का सुख भोगते हुए, अन्त में सर्वार्थसिद्धि से चयकर के आए और तीर्थंकर ऋषभदेव स्वामी हुए।

राजा वज्रजंघ ने आहारदान देने के उपरांत पुनः ऐसा कोई भव प्राप्त नहीं किया जिसमें उत्तम सुखों को प्राप्त नहीं किया हो। उनकी सहधर्मिणी श्रीमति के जीव ने भी क्रमशः उनके साथ भोगभूमि में, स्वर्ग में और कर्मभूमि में उत्पन्न होकर साधना करते हुए राजा श्रेयांस बनकर के, प्रमुख आहारदाता बनकर के मोक्ष को प्राप्त किया। आचार्य जिनसेन स्वामी जी ने आहारदान के संबंध में और भी प्रसंग उपस्थित किए। भरत चक्रवर्ती ने भी पूर्व में आहारदान दिया, आहारदान की अनुमोदना की, बाहुबली के जीव ने भी वैय्यावृत्ति आदि में विशेषता प्राप्त की जिससे वे कामदेव हुए व वज्रवृषभनाराच संहनन को प्राप्त किया, चरमशरीरी हुए और मोक्ष को प्राप्त हुए। भगवान ऋषभदेव के अन्य पुत्रों ने भी पूर्वभवों में आहारदान आदि की अनुमोदना के पुण्य को प्राप्त किया। पुण्यास्रव कथाकोश में भी आहारदान के संबंध में 16 कथाएँ दी हैं। श्री पद्मपुराणजी में भी श्रीरामचन्द्र, भामण्डल इत्यादि अनेक पुण्य पुरुषों के उदाहरण दिए।

पुण्यास्रव कथाकोश में रामचन्द्र मुमुक्षु जी ने अग्निला ब्राह्मणी का उदाहरण दिया जिसमें उन्होंने बताया कि उसने वरदत्त नाम के मुनिराज को आहार दिया और उसके प्रभाव से उसका गृह अग्नि की लपटों से बच गया, उस दिन भोजन अक्षीण हो गया और पुनः वह अग्निला ब्राह्मणी नेमिनाथ भगवान् की यक्षिणी देवी हुई। जिनका नाम कुष्मांडनी देवी या अम्बिका देवी प्रसिद्ध हुआ। उन अग्निला ब्राह्मणी के दोनों पुत्रों शिवंकर और प्रभंकर ने भी दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त किया। वरदत्त मुनिराज भगवान् नेमिनाथ स्वामी के प्रथम गणधर हुए, उन्होंने भी मोक्ष प्राप्त किया। आप निर्वाणकाण्ड में पढ़ते भी हैं–

समवसरण श्री पार्श्व जिनंद रेसिंदी गिरि नयनानंद।
वरदत्तादि पंच ऋषिराज ते वंदों नित धर्म जिहाज॥

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी की दृष्टि में आहारदान की महिमा विशिष्ट है। उन्होंने उदाहरण में भी ऐसा नाम चुना जिस पुण्य पुरुष ने आहारदान के प्रभाव से लगातार 10-12 भव तक पुण्य का फल ही भोगा। और जिस भव से मोक्ष प्राप्त किया उस भव में एक दो नहीं, तीन-तीन पुण्य फल को प्राप्त किया। उनके बाद धर्मसाम्राज्य-नायक तीर्थंकरों की परम्परा अखण्ड रूप से भरतक्षेत्र में प्रवाहमान रही। वे त्रिपदधारी तीर्थंकर जिनकी महिमा आचार्य महाराज ने कही, देखते हैं उनकी कथा–

भारतवर्ष पहले छोटे-छोटे देशों में विभक्त था, जिसमें बहुत सारे देश समाहित थे। उसी भारत वर्ष के मलय देश में एक रत्नसंचयपुर नाम का नगर था। जहाँ के राजा श्रीषेण थे। वे बड़े ही न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करते थे। वे प्रजावत्सल, न्यायप्रिय, पराक्रमी, सत्यनिष्ठ, कर्त्तव्यशील एवं धर्मपरायण राजा थे। उनकी सहधर्मिणी भी उन्हीं के अनुरूप उनके कार्यों में सहयोगी रहतीं व धर्म की प्रेरणा देती रहती थीं। उनकी प्रथम रानी का नाम सिंहनन्दिता और दूसरी रानी का नाम अनिन्दिता था। दोनों रानियाँ राजा के लिए इसी प्रकार से सहयोगी थीं जैसे किन्हीं तीर्थंकर भगवान् की शोभा बढ़ाने वाले 32 चमर एक तरफ से व 32 चँवर दूसरी तरफ से ढोरे जाते हैं। ऐसे ही महाराज श्रीषेण सभा में विराजित होते तो दोनों रानियाँ आजू-बाजू में विराजमान होती थीं और वे राजकीय कार्य में भी सहयोगी बनकर रहती थीं। इन दोनों रानियों के क्रम से इन्द्रसेन व उपेन्द्रसेन नाम के पुत्र थे।

उसी नगर में एक सात्यिकी नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी धर्मवत्सला गृहिणी का नाम जम्बू था। उन दोनों के एक सत्यभामा नाम की कन्या थी। कन्या सुयोग्य, सुंदर, सुसंस्कारवान् थी। वह बड़े लाड़-प्यार से पलकर बड़ी हुई थी। वह ब्राह्मण अपनी कन्या पर निस्सीम प्रेम करता था और सोचता था कि इसका विवाह किसी योग्य वर के साथ करूँगा। समय बीता और कन्या विवाह के योग्य हो गई।

एक पाटलीपुत्र नाम का नगर जो आज पटना के नाम से जाना जाता है। उस नगर में रुद्रभट्ट नाम का एक ब्राह्मण रहता था, वह ब्राह्मण वेदपाठी था। वेद का वाचन करता, अध्ययन करता और अध्यापन कराता। उसकी स्त्री का नाम अग्निला था। अग्निला से उनके इन्द्रभूति और अग्निभूति नामक दो पुत्र हुए। रुद्रभट्ट ब्राह्मण जब अपने पुत्रों को वेद पढ़ाता तब उसकी कक्षा में अन्य द्विजपुत्र भी वेद का अध्ययन करते थे। उसी समय उसी रुद्रभट्ट ब्राह्मण की दासी का पुत्र छलपूर्वक तीक्ष्णबुद्धि होने के कारण चुपके से वेद को सुनता था और वह कपिल नाम का दासी पुत्र वेद सुन-सुनकर वेद का पारगामी विद्वान् हो गया। किन्तु यह बात वैदिक परम्परा में कही गई है कि वेद का पाठ-अध्ययन करने का अधिकार सिर्फ द्विजों को होता है, अन्य को नहीं। जो द्विजकुल से हीन होते हैं वे उस ज्ञान का सही सदुपयोग नहीं कर सकते, दुरुपयोग कर सकते हैं। वैसे आचार्यों ने भी लिखा है विद्या सुपात्रों को दी जाती है कुपात्रों को नहीं। कुपात्रों को सुशिक्षा देने पर वे इसका दुरुपयोग करेंगे, इससे वे प्रजा का हित न कर अहित ही करेंगे, वे निजस्वार्थ के पीछे शिक्षा का दुरुपयोग कर सकते हैं। जिस प्रकार सर्प को दूध पिलाने से भी वह विष ही उगलता है अमृत की वर्षा नहीं करता ऐसे ही अपात्र को अच्छी विद्या देने से वह उसका दुरुपयोग करके समाज के लिए, मानवजाति के लिए कलंक या अभिशाप बन सकता है इसलिए वेद की यह मान्यता है कि वेद पढ़ने का अधिकार सभी को नहीं है।

जब रुद्रभट्ट ने देखा मेरे विद्यार्थी विद्याध्ययन में निपुण हो गए तब वह अपने विद्यार्थियों की परीक्षा भी लेता, अकेले में यह भी देखता कि कौन कितना अध्ययन करता है और कितना वेदों के मंत्रों का उच्चारण कर रहा है। एक दिन निरीक्षण करते समय उसे सहसा वेद मंत्र की ध्वनि सुनाई दी, उसने देखा यहाँ मेरे शिष्य तो नहीं हैं, ये आवाज कहाँ से आ रही है, तभी उसने देखा कि दासीपुत्र कपिल वेद मंत्रों का उच्चारण कर रहा था। इसे तो वेद अध्ययन करने का अधिकार ही नहीं है और जो व्यक्ति अपने अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करता है नि:संदेह वह बंधन को, आपत्ति-विपत्ति को और मृत्यु तक को प्राप्त हो जाता है। अपनी मर्यादा का उल्लंघन चाहे किसी ने भी किया हो, चाहे राजा ने किया चाहे प्रजा ने किया, चाहे बड़े व्यक्ति ने किया चाहे छोटे व्यक्ति ने किया। वैदिक परम्परा के अनुसार सीता जी ने लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन कर दिया तो वे रावण के द्वारा हरण की गईं। यदि राम जी स्वर्णमय मृग के पीछे नहीं भागते तो सीता को नहीं खोते। या अन्य किसी ने भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन किया तो उन्होंने आपत्ति-विपत्ति को प्राप्त किया।

रुद्रभट्ट ने देखा कि दासी पुत्र वेद की ऋचाएँ पढ़ रहा है, यह उचित नहीं है। उससे पूछा आपने यह सब कहाँ से सीखा। उसने कहा–क्षमा करें, मैंने सोचा जिसे द्विज पुत्र पढ़ सकते हैं वह मैं क्यों नहीं पढ़ सकता, मैंने भी अध्ययन किया। पूछा–किससे अध्ययन किया? बोला आपसे ही किया। मुझसे कैसे? बोला–जब आप अपने पुत्र व शिष्यों को पढ़ाते थे उस समय मैं भी छिपकर के अध्ययन करता रहता था, सुनता रहता था। रुद्रभट्ट को बहुत क्रोध आया और कहा तुमने यह ठीक नहीं किया, ऐसा करके तुमने मुझे भी दोषी बना दिया क्योंकि गुरु अपात्र को विद्या नहीं देता, मैंने तुम्हें विद्या दी है मैं भी दोषी हो गया। अब तुम यहाँ नहीं रह सकते और वहाँ से भगा दिया। वह दासीपुत्र वहाँ से भागकर के दुपट्टा सहित यज्ञोपवीत को धारण कर, भाल पर तिलक लगाते हुए यह सिद्ध करना चाहता था कि मैं उच्चकुलीन ब्राह्मण हूँ और रत्नसंचयपुरनगर में चला गया। उसने अपनी विद्या की कुशलता से अपना अलग ही प्रभाव छोड़ा। इधर सात्यिकी ब्राह्मण अपनी सत्यभामा कन्या के लिए योग्य वर ढूंढ ही रहा था, कपिल देखने में सुंदर था, वेदपाठी था। सात्यिकी ने कपिल को देखा तो उसे ऐसा लगा सोने पर सुहागा हो गया। सुंदर, ज्ञानी, विद्वान्, निपुण, इतनी छोटी उम्र में इतनी योग्यता को देख उसके बारे में कुछ भी जानकारी प्राप्त न करके अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया।

कपिल अनायास इस स्त्री रत्न को प्राप्त कर सुख से रहने लगा। एक बार सत्यभामा ऋतुमती हुई। सो उस समय भी कपिल ने उससे संसर्ग करना चाहा। कपिल की इस जघन्य, निम्नतर चेष्टा को देखकर सत्यभामा को इसके विषय में संदेह हो गया। संभव है यह उच्चकुलीन नहीं है इसलिए वह उससे विरक्त रहने लगी। एक समय रुद्रभट्ट तीर्थयात्रा करता हुआ रत्नसंचय नगर में आया। कपिल ने उसे देखा–वह भयभीत हुआ कि अरे! यह तो मेरा भेद प्रकट कर देगा, अब मैं क्या करुँ? उसने पहले तो उसका सम्मान किया, प्रणाम किया और बोला पिता जी! आप कब आए? घर चलो। और सबके साथ घर ले गया। उसे भोजन आदि कराया। सबने पूछा क्या यह आपका पुत्र है, वह बोला हाँ, ये ही समझो।

सत्यभामा ने एक दिन रुद्रभट्ट को विशिष्ट भोजन तथा बहुत सा सुवर्ण देकर उसे लोभ दिया, उसके पैरों में लगकर पूछा–हे तात्! आप वास्तव में द्विजकुल के रत्न हैं, आप निर्भीक हैं, सत्यनिष्ठ हैं, किसी भी परिस्थिति में आप अपने धर्म को नष्ट नहीं कर सकते। सत्य बताइये–कपिल में आपके स्वभाव का अंश भी नहीं, यह आपका पुत्र है अथवा नहीं, यदि है तो आपकी चेष्टाओं में व इसकी चेष्टाओं में इतना अंतर क्यों है? पहले तो रुद्रभट्ट थोड़ा सकपकाया, क्या कहूँ। पुनः कहा हे पुत्री! यह मेरी दासी का पुत्र है, इसने छिपकर के वेदों का अध्ययन किया था इसलिए मैंने इसे भगा दिया। सत्यभामा ने रुद्रभट्ट को धन देकर वहाँ

से रवाना कर दिया। सत्यभामा यह सुनकर विरक्त हो गई तथा 'यह हठपूर्वक मेरे पास आवेगा' ऐसा मानकर वह सिंहनन्दिता नामक रानी की शरण में चली गई। सिंहनन्दिता ने उसे पुत्री मानकर रख लिया।

एक दिन राजा श्रीषेण ने महल में समागत अर्ककीर्ति मुनिराज और अमितगति नामक मुनिराज को नवधाभक्ति पूर्वक आहार दिया, पंचाश्चर्य की प्राप्ति हुई। सिंहनन्दिता और अनिन्दिता रानियों ने भी आहार दिया। सत्यभामा ने हाथ जोड़कर उस आहारदान की अनुमोदना की। वह विनयपूर्वक भावना भाती रही कि आहारदान देने से कितना पुण्य मिलता है, उसे बहुत आनंद की प्राप्ति हुई। इसके फल से राजा श्रीषेण, दोनों रानियाँ व सत्यभामा चारों ही भोगभूमि में उत्पन्न हुए। क्रमशः स्वर्गसुख व नरसुख आदि भोगते हुए राजा श्रीषेण सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ भगवान् हुए।

महानुभाव! इस प्रकार आहारदान के फल को जानकर सभी को आहारदान में प्रवृत्ति करना चाहिए। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

औषधिदान का फल – वृषभसेना कथा

महानुभाव! आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी की कृपादृष्टि, स्व-कल्याण के साथ-साथ परकल्याण के लिए समग्रभूत तीव्र भावना, जिसके फलस्वरूप उन्होंने रत्नकरण्ड श्रावकाचार जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की। अंतिम शिक्षाव्रत वैय्यावृत्य का विवरण चल रहा है, इसी विवरण को बढ़ाते हुए श्लोक नं. 118 जिसमें वैय्यावृत्य के चार भेद किए और चार भेदों में प्रसिद्ध महानुभावों के नाम प्रस्तुत किए। आहारदान नामक प्रथम भेद में राजा श्रीषेण का नाम लिया जिन्होंने आहारदान के फल को प्राप्त किया, द्वितीय भेद में वृषभसेना जिसने औषधिदान का फल प्राप्त किया, तृतीय भेद में कौण्डेश ग्वाला जिसने शास्त्रदान के फल को प्राप्त लिया और चतुर्थ भेद में एक तिर्यंच शूकर जिसने वसतिका दान के फल को प्राप्त किया।

आहारदान में सुप्रसिद्ध श्रीषेण महाराज जो 16वें तीर्थंकर शांतिनाथ भगवान् हुए। आहारदान में सहवर्ती दोनों रानियाँ व अनुमोदना करने वाली सत्यभामा सभी राजा के साथ क्रमशः सुख व भोगों को भोगते रहे। जब राजा श्रीषेण शांतिनाथ बने तो वह जीव (सिंहनंदिता) उनके साथ उनका पुत्र वज्रायुध बना, वह ही उनका गणधर भी बना और अन्य जीवों ने भी मोक्ष को प्राप्त किया। आहारदान की अनुमोदना भी जीवन में उत्तम फल को प्रदान करने में समर्थ होती है।

अब यहाँ औषधिदान का फल जिसने प्राप्त किया ऐसी वृषभसेना की कथा कही जाती है–

जनपद देश के कावेरीपत्तन नामक नगर में राजा उग्रसेन राज्य करते थे। महाराज उग्रसेन न्यायप्रिय, प्रजावत्सल, धर्मात्मा एवं सुयोग्य शासक थे। उन्हीं महाराज उग्रसेन के राज्य में धनपति नाम का सेठ रहता था, उसकी स्त्री का नाम धनश्री था। इन दोनों के वृषभसेना नाम की पुत्री थी। धनपति सेठ नगर-प्रमुख थे, उनका अपार वैभव था। उस वृषभसेना का लालन-पालन एक धाय करती थी जिसका नाम था रूपवती। रूपवती धाय जब वृषभसेना को स्नान कराती थी तब उस वृषभसेना के स्नान का जल बहकर के नीचे गड्ढे में इकट्ठा हो जाता था, एक दिन एक श्वान (कुत्ता) रोग से पीड़ित था, बस मृत्यु के सन्निकट ही था, वह श्वान उस गर्त में जाकर गिर गया। वह उस गर्त में से जैसे ही निकला सर्वरोगों से मुक्त हो गया, निरोगी हो गया। धाय ने जब यह आश्चर्यकारी दृश्य अपनी आँखों से देखा तो विचार करने लगी इतना दुर्गंधयुक्त यह रोगी श्वान इस गर्त से आकर तो बिल्कुल ठीक हो गया, क्या कारण हो सकता है। रूपवती धाय ने तुरंत ही यह जान लिया कि निःसंदेह यह वृषभसेना के स्नान के जल से ही ठीक हुआ है। धाय ने इस जल की और परीक्षा लेना चाही। उसने अपनी

माँ जो बारह वर्ष से नेत्र रोगी थी, दिखाई भी अच्छी से नहीं देता था; उससे सब वृत्तान्त कहा। उसने सोचा यदि किसी और पर मैं प्रयास करूँ और प्रभाव उल्टा हो गया तो? क्योंकि मैंने तो प्रत्यक्ष उस श्वान को देखा इसलिए मैंने तो विश्वास कर लिया, पता नहीं कोई मुझ पर विश्वास करेगा या नहीं इसीलिए मैं पहले अपनी माँ का उपचार करके देखती हूँ और अपनी माँ के नेत्र उस जल से धुलवा दिए। उस जल से नेत्र धोते के साथ ही उसकी माँ के नेत्रों में रोशनी आ गई और नेत्रों का रोग ठीक हो गया। अब उसे पूर्ण विश्वास हो गया। उसने अन्य समीपवर्ती रोगी लोगों को भी वह स्नान का जल दिया तो वे भी निरोगी होने लगे। अब तो पूरे नगर में यह बात फैल गई कि रूपवती धाय एक ऐसी वैद्य है जो चमत्कारी औषधि के माध्यम से सबके रोगों को दूर कर देती है।

एक समय महाराज उग्रसेन के ऊपर मेघपिंघल नामक राजा ने चढ़ाई कर दी। महाराज उग्रसेन ने अपने मंत्री रणपिंगल को युद्ध के लिए भेजा किन्तु राजा मेघपिंगल बहुत कूटनीतिज्ञ था, दु:साहसी था। उसने सोचा मैं उग्रसेन राजा को ऐसे नहीं जीत पाऊँगा उसकी सेना बहुत बड़ी है। इसलिए मुझे साम-दाम-दण्ड-भेद सभी नीति अपनानी चाहिए। और कुछ ऐसा करूँ कि बिना युद्ध किए ही इसकी सेना को समाप्त कर दूँ। और उसने जहाँ राजा उग्रसेन की सेना का पड़ाव पड़ा हुआ था वहाँ पर जो भी जलाशय थे उन सबमें जहर मिलवा दिया। जिस जहर के पानी को पीकर पूरी सेना रुग्ण हो गई। मंत्री तथा सैनिक मृत्यु के सन्निकट हैं। रणपिंगल अपनी बची हुई सेना को लेकर अपने देश लौट आया। रणपिंगल का हाल सुनकर उग्रसेन महाराज को मेघपिंगल पर बहुत क्रोध आया तब स्वयं उन्होंने उस पर चढ़ाई कर दी। किंतु उस विष मिश्रित जल को पीकर राजा उग्रसेन भी ज्वर से ग्रसित हो गए व उन्हें भी अपनी राजधानी लौटना पड़ा। वह सोचने लगा इसका उपचार कैसे हो तभी उस धाय ने उस जल का प्रयोग सर्वप्रथम मंत्री व उसकी सेना पर किया जिससे वह रोग मुक्त हो गए।

राजा के उपचार के लिए जब रूपवती धाय से जल मंगाया गया तो धनपति और धनश्री ने सोचा हमारी पुत्री के स्नान का जल है राजा के ऊपर कैसे छिड़का जाए। तब धनपति सेठ ने कहा यदि राजा जल का वृत्तान्त पूछेगा तो उसे सत्य बता दिया जाएगा। ऐसा कहने पर रूपवती धाय ने जल से राजा का उपचार कर दिया। रोग मुक्त होने पर राजा ने जब जल का माहात्म्य पूछा तो राजा को वृषभसेना के विषय में सब बता दिया गया। राजा ने कहा यदि ऐसा है तो मैं वृषभसेना को स्वीकार करता हूँ। राजा ने सेठ को बुलवाया और कन्या की याचना की। तदनन्तर सेठ ने कहा–हे राजन्! आप जिनप्रतिमाओं की अष्टाह्निक में पूजा

करते हो, पिंजड़े में स्थित समस्त पक्षियों को मुक्त करते हो और बंदीगृह में स्थित सब मनुष्यों को बंधन मुक्त करते हो तो मैं अपनी पुत्री आपके लिए देता हूँ। इन सभी बातों को महाराज उग्रसेन ने स्वीकार किया तथा वृषभसेना से विवाह कर लिया व उसे पटरानी बना दिया। राजा सुखपूर्वक रानी के साथ रहने लगा।

राजा ने यूँ तो सभी बातें स्वीकार की थीं किन्तु हुआ ये कि बनारस का एक पृथ्वीचन्द्र नामक दुष्ट राजा उसके यहाँ कैद था। अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण राजा ने विवाह के समय भी उसे नहीं छोड़ा था। राजा को भय था कि यह बहुत छली व मुझसे भी अधिक शक्तिशाली है कहीं ऐसा न हो कि यह छूटकर मुझ पर ही आक्रमण कर दे व प्रजा को क्षति पहुँचा दे। तदनंतर पृथ्वीचंद्र की महारानी नारायणदत्ता ने पृथ्वीचंद्र को छुड़वाने के लिए मंत्रियों से सलाह करके एक योजना बनाई। उसने जगह-जगह वृषभसेना के नाम की भोजनशालाएँ खुलवायीं जिसमें किसी के लिए भी प्रवेश करने का निषेध नहीं था। सभी वहाँ स्वादिष्ट और यथेष्ट भोजन कर तृप्त होते व सब जगह तारीफ करते। कावेरीपत्तन के भी कुछ ब्राह्मण वहाँ भोजन करके गए। उन्होंने नगर में चर्चा की, ये बात रूपवती धाय ने सुनी। उसे बहुत बुरा लगा, उसने वृषभसेना से पूछा कि तुमने मार्ग में भोजनशाला बनवायीं हैं और मुझसे पूछा भी नहीं। वृषभसेना ने कहा-नहीं धाय माँ! ऐसा मैं कैसे करा सकती हूँ। धाय ने कहा-जो लोग भी बनारस से आते हैं तो मार्ग में बहुत सी भोजनशालाएँ हैं, सभी भोजनशालाओं पर आपका नाम लिखा हुआ है। वृषभसेना बोली-कोई मेरे नाम से ये सभी कार्य कर रहा है, उसका क्या प्रयोजन है हमें गुप्तचरों द्वारा इसका पता लगाना चाहिए। गुप्तचरों से पता लगवाया गया तो पता चला कि बनारस के महाराज पृथ्वीचन्द्र जो बन्दीगृह में बंद थे उनकी रानी नारायणदत्ता ने यह सुनकर के कि वृषभसेना बहुत करुणाशील है, दयालु है उसने सभी को मुक्त करा दिया है, मेरे पति क्यों मुक्त नहीं हुए? इसलिए यह समाचार आप तक पहुँचाने के लिए ऐसा किया है जिससे उसके पति को आप मुक्त करा दें।

वृषभसेना को जब यह ज्ञात हुआ तब उसने महाराज उग्रसेन से निवेदन किया-तब महाराज ने राजा पृथ्वीचन्द्र को मुक्त कर दिया। पृथ्वीचंद्र वृषभसेना के इस उपकार से बड़ा कृतज्ञ हुआ। उसने उग्रसेन महाराज और वृषभसेना महारानी का चित्र बनवाया तथा उसके नीचे प्रणाम करता हुआ अपना चित्र बनवाया। तदनंतर चित्रपट को महारानी व महाराज को दिखाते हुए बोला हे देवि! तुम मेरी माता हो। तुम्हारे प्रसाद से मेरा यह जन्म सफल हुआ। आपकी इस दया का मैं जन्म-जन्म में ऋणी रहूँगा। पृथ्वीचंद्र की इस विनम्रता को देखकर उग्रसेन उस पर बहुत

प्रसन्न हुए उन्होंने पृथ्वी से कहा-तुम एक काम करो, राजा मेघपिंगल बहुत दुष्ट है, मेरा मंत्री इसे पकड़ने जाता है तो वह छल से छिप जाता है, भाग जाता है किंतु पकड़ में नहीं आता है, तुम इसे पकड़कर लाओ। पृथ्वीचंद्र ने कहा-महाराज! आप निश्चिन्त रहें, मैं तो मेघपिंगल की एक-एक बात जानता हूँ। मैं उसे आपके चरणों में उपस्थित कर दूँगा।

यह समाचार जब मेघपिंगल ने सुना कि पृथ्वीचंद्र मुझे पकड़ने आ रहा है, पृथ्वीचंद्र को मेरी सभी बातें ज्ञात हैं यदि मैं पकड़ा गया तो मुझे राजा उग्रसेन पृथ्वीचंद्र की भाँति ही बंदीगृह में डाल देंगे, इससे अच्छा तो यही होगा कि मैं अपना आत्मसमर्पण कर दूँ। पुनः मेघपिंगल स्वयं ही नतमस्तक होकर राजा उग्रसेन के चरणों में आ गया। उग्रसेन राजा बहुत प्रसन्न हुए व उसे पुरस्कृत किया। राजा ने अकेले मेघपिंगल को ही नहीं वृषभसेना महारानी को भी पुरस्कृत किया। क्योंकि यदि महारानी वृषभसेना पृथ्वीचंद्र को नहीं छुड़ाती तो यह सब नहीं होता इसलिए राजा ने न्यायानुसार यह घोषणा की कि राजसभा में स्थित रहते हुए आज जो भेंट आएगी उसका आधा भाग मेघपिंगल को व आधा भाग महारानी वृषभसेना को प्राप्त होगा। इस प्रकार की व्यवस्था किए जाने पर उस दिन दो रत्नकंबल भेंट में आए। राजा ने दोनों को पुरस्कार स्वरूप वे विशिष्ट प्रकार के कंबल दिए। कंबल दोनों एक से ही थे बस अंतर इतना था कि दोनों पर दोनों के अलग-अलग नाम लिखे थे।

कुछ दिनों उपरांत मेघपिंगल की रानी महाराज उग्रसेन के महलों में आईं और वृषभसेना से मिलीं। संयोगवशात् वे महारानी जब आयीं तो अपने राजा मेघपिंगल का कंबल ओढ़कर आयीं थीं और बातों-बातों में उन्होंने कंबल उतारकर रख दिया। सहजता में क्या हुआ कि भूल चूक से उनका कंबल तो वहाँ रह गया और जल्दबाजी में वे जब चलीं तो वृषभसेना का कंबल ओढ़कर चलीं गईं। किसी को ज्ञात नहीं हुआ। 1-2 दिन के बाद राजा मेघपिंगल पुनः राजा उग्रसेन के दरबार में उपस्थित हुआ और संयोगवशात् वह भी उस कंबल को ओढ़कर आया, उसने भी नहीं देखा कि यह कंबल कौन सा है। महाराज उग्रसेन अपने दरबार में उपस्थित थे और वार्ता करते-करते उनकी नजर मेघपिंगल के कंबल की ओर गई, ज्यों ही उन्होंने कंबल पर लिखे नाम को देखा तो उनकी आँखों में खून उतर आया। वे कोप से काँपते स्वर में मेघपिंगल से बोले यह कंबल तुम्हारे पास कैसे आया? यह सुनकर मेघपिंगल घबरा गया, उसे कुछ समझ नहीं आया किंतु महाराज के गुस्से को देखकर उसे इतना समझ में आ गया कि अब वे मुझे छोड़ेंगे नहीं, मेरा सिर ही काट देंगे इसलिए बिना कुछ बोले घबराकर वह वहाँ से प्राण बचाकर भाग गया।

उसे भागता देख महाराज ने अपने सैनिकों को उसके पीछे दौड़ाया और स्वयं वृषभसेना के महल की ओर गए। अब महाराज को शंका अपनी महारानी वृषभसेना पर भी हुई, कहीं ऐसा न हो रानी का कंबल जब मेघपिंगल के पास गया है तो रानी भी चरित्रहीन हो। राजा ने वृषभसेना को दोषी मानकर समुद्र में फिकवाने का आदेश दे दिया। वृषभसेना को जब राजा का यह आदेश ज्ञात हुआ तो उसने प्रतिज्ञा ली—यदि इस उपसर्ग से मैं उद्धार पा सकूँगी तो पुनः महलों में न आऊँगी, आर्यिका दीक्षा ले तप धारण करूँगी। तदन्तर उसके शील के महात्म्य से जल देवता ने उसके लिए सिंहासन आदि का अतिशय किया। जब यह चमत्कार राजा उग्रसेन ने देखा तब उसे विश्वास हो गया कि जिसकी रक्षा करने के लिए स्वर्ग के देवता भी तत्पर हैं, जिसे मृत्यु के मुख से बचाकर सिंहासन पर विराजमान कर देवता भी जय-जयकार कर रहे हैं, विविध पुरस्कार भेंट कर रहे हैं, वह मेरी महारानी निर्दोष है और क्षमा माँगने उसके पास आए। किन्तु रानी वृषभसेना का संकल्प था कि मैं इस उपसर्ग से बचूँगी तो एक साटिका मात्र ग्रहण करने वाली जिन आर्यिका दीक्षा ग्रहण करूँगी, पाणिपात्र में ही आहार स्वीकार करूँगी।

महाराज ने व सभी दरबारियों ने निवेदन किया कि आप हमें क्षमा करें। राजा ने कहा हमने बिना सोचे समझे, बिना कुछ कहे, सत्य का पता लगाए बिना आपको दण्ड दिया, यह करना हमें उचित नहीं था। इसका कारण भी यह रहा कि मेघपिंगल बिना कुछ कहे सभा से भाग गया, यदि वह सत्य बात को कहता तो हम दण्ड नहीं देते। किंतु सत्य बात सुनने का हमारा धैर्य नहीं था। उस समय भी हमारी गलती थी, हमने तलवार का प्रहार करने के लिए ज्यों ही तलवार निकाली त्यों ही मेघपिंगल प्राण बचाकर भाग गया। हमने दो अपराध किए। राजा ने अपनी निंदा की किन्तु वृषभसेना का संकल्प तो अडिग था।

वृषभसेना वन में पहुँची। वहाँ गुणधर नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज विराजमान थे, उसने निवेदन किया—प्रभु! मैंने यह संसार देख लिया, यह संसार स्वार्थ से भरा हुआ है। कहाँ तो महाराज उग्रसेन मेरे पुण्य कर्म के उदय में अपने प्राणों से ज्यादा मुझे स्नेह करते थे, किन्तु मेरी बात सुने बिना, मुझसे पूछे बिना, शंका होने पर कि मैं शील से च्युत हूँ उन्होंने मुझे दण्डित किया। निर्दोष सिद्ध होने पर उन्होंने हमसे क्षमा भी माँगी। किन्तु हमने उसी समय प्रतिज्ञा कर ली थी।

रानी ने मुनिराज से दीक्षा की प्रार्थना की और साथ ही यह भी प्रार्थना की कि महाराज! आप अवधिज्ञानी हैं, आप हमें बताएँ कि मैंने पूर्व में ऐसा कौन सा कृत्य किया जिसके परिणाम स्वरूप आज मेरे शील में कलंक लगा, मेरे पति ने मुझ पर शंका की और बिना मुझसे पूछे

मुझे दण्डित किया? महाराज गुणधर स्वामीजी ने अपने अवधिज्ञान से वृषभसेना के पूर्वभव जाने और जानकर कहा–देखो, इसी नगर में पूर्व में तुम नागश्री नाम की ब्राह्मण पुत्री थीं और राजा के देवमंदिर में सफाई का कार्य करती थीं। एक दिन उस मंदिर में अपराह्न के समय कोट के भीतर वायु रहित गहरे स्थान में मुनिदत्त नाम के एक मुनि पर्यंकासन में कायोत्सर्ग कर विराजमान थे। तुमने उन्हें देखा और सोचा कि राजा के आने का समय हो गया है, राजा देववंदन को आएँगे, यहाँ सफाई नहीं होगी तो वे कुपित होंगे। तब आपने जाकर के उनसे निवेदन भी किया कि महाराज! आप यहाँ से खड़े हो जाएँ, अन्यत्र अपना ध्यान लगाएँ किन्तु महाराज तो अपनी तपस्या में संलग्न थे उन्हें बाहर की आवाज सुनाई नहीं दे रही थी, वे तो आत्मा के रस का रसपान कर रहे थे। उनकी अध्यात्मवृत्ति से ऐसा लग रहा था जैसे केवलज्ञान की समीपता बन रही हो।

तुमने पुनः कहा–आप यहाँ से उठें मुझे सफाई करनी है, परंतु मुनि कायोत्सर्ग कर मौन से स्थित रहे। जब तुम्हें कोई और उपाय समझ नहीं आया तब तुमने बाग का जितना भी कूड़ा कचरा था, जितने भी पत्ते थे वे एकत्र किये और मुनिराज के ऊपर डाल दिए। उस ढेर से मुनिराज को ढांक दिया। प्रातःकाल राजा मंदिर आए, दर्शन किए, पूजा भक्ति की और नित्य की तरह से रत्न चढ़ाकर वंदना की, परिक्रमा लगायी, भाव सहित भगवान् के चरणों में श्रद्धा अर्पित की। वंदना करने के उपरांत राजा वहाँ से निकले तो कोट के भीतर उन्होंने देखा कि यहाँ कूड़े-कचरे का ढेर क्यों लगा है, वे उस कूड़े के ढेर के बारे में कुछ पूछते उससे पूर्व ही उनकी दृष्टि उस ढेर पर टिकी तो उन्हें लगा जैसे वह ढेर हिल रहा है। उन्होंने कहा इस ढेर में कम्पन क्यों हो रहा है, क्या कारण है। उन्होंने सेवकों को बुलाया-कहा देखो इसमें क्या है। कूड़ा अलग किया तो देखा कि मुनिदत्त नाम के मुनि तपस्या कर रहे थे। राजा ने नागश्री को बुलाया, पूछा-यह सब कैसे हुआ? कन्या ने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। कहा महाराज हमें अभयदान दें, हमें लगा आप उन्हें देखकर कुपित न हो जाएँ, मेरे पास कोई उपाय नहीं था। मैंने निवेदन भी किया। ये सब कृत्य मुझसे हुआ मुझे क्षमा करें। राजा ने कहा-यह आपने बहुत गलत किया यह निःसंदेह बहुत बड़ा महापाप है। मुनिराज की तो मुख से निंदा भी हो जाए तो उस पाप से व्यक्ति कुष्ठी तक हो जाता है। आपने यह पाप किया, इसका राजदण्ड तो यही है कि आप इन मुनिराज की सेवा करें। नागश्री ने आत्मनिंदा कर धर्म की श्रद्धा की व निरंतर मुनि की पीड़ा शांत करने के लिए उन्हें विशिष्ट औषधि दी व उनकी सेवा की।

महानुभाव! वह नागश्री शब्द-अक्षर की ज्ञानी नहीं थी बस राजा के कहने से और राजा ने जिन्हें प्रणाम किया है, जिनकी भक्ति-पूजा वैसे ही की है जैसे वे मंदिर में भगवान् की करते हैं। तो उस अनजान नागश्री की मुनिराज पर श्रद्धा हुई और मुझसे बहुत बड़ा पाप हो गया ऐसी आलोचना करते हुए, कि हे प्रभु! इस पाप से कैसे बचूँ, मैं प्राण देकर क्षमा माँगना चाहूँ तब भी यह कम है। राजा ने तो प्राणदान दे दिया, किंतु मुझे अंतरंग में अपने पाप के प्रति ग्लानि का भाव जाग्रत होता है। उसने मुनिराज की अपनी मर्यादा से सेवा की, जो भी घाव-पीड़ा आदि हुई उसके लिए विशिष्ट औषधि तैयार की, और जो-जो यथायोग्य सेवा-शुश्रूषा उसके द्वारा बन सकती थी वह सब करने लगी और यावज्जीवन उस कन्या का मुनिराज के प्रति अगाढ़ और अकाट्य श्रद्धा का भाव रहा। तदनन्तर उस कन्या ने श्रावकोचित व्रतों को स्वीकार किया। अब यदि वह शास्त्र की ज्ञाता होती तो शायद निदान नहीं करती। किंतु उसने सोचा इस सेवा का कुछ फल हो सकता है तो बस मेरा पाप धुल जाए मुझे उत्तम अवस्था की प्राप्ति हो, ऐसे राजा के यहाँ महारानी बनकर मैं रहूँ, ऐसे फल को प्राप्त करूँ। यह भाव उसके मन में आ गया। उस निदान का भाव आने से तुम (वृषभसेना) नगर प्रमुख धनपति व धनश्री की कन्या हुई हो।

हे वृषभसेने! वह तुम ही हो जो पूर्व में नागश्री थी, वह तुम हो जिसने मुनिदत्त नामक मुनि पर उपसर्ग किया, भले ही अज्ञानता से किया, और वह तुम ही हो जिसने अगाध श्रद्धा-भक्ति से मुनिराज की सेवा की। उस सेवा के प्रभाव से आपने ऐसी शक्ति प्राप्त की जैसी सर्वौषधि ऋद्धिधारक मुनिराज की होती है, वह शक्ति तप की होती है किन्तु वह शक्ति तुमने सेवा के फल से प्राप्त की है। सेवा से भी इतना बड़ा फल प्राप्त हो सकता है कि जिसके स्नान के जल से व्यक्ति रोग मुक्त हो जाए, ऐसी शक्ति प्राप्त हुई कि विष तक दूर हो जाए। यह सब वैयावृत्ति, सेवा का फल है। सेवा वैय्यावृत्ति के फल के लिए तीनों लोकों में कुछ भी असंभव नहीं है, उत्तम से उत्तम फल की प्राप्ति होना संभव है। अज्ञानतावश मुनिराज पर उपसर्ग किया जिसका दुष्प्रभाव रहा कि उस पाप का उदय आज आया है। इसलिए हे वृषभसेने! तुम्हारे शील के दोष का अपवाद लगा। तुमने सेवा कर पुण्य तो कमाया किन्तु वह जो पाप का दाग रह गया उसने ही आज यह फल दिया। किन्तु जो सेवा की थी उसका प्रभाव यह रहा कि तुमने श्रेष्ठ कुल में पैदा होकर, महारानी के पद को भी प्राप्त कर लिया और यह फल प्राप्त किया कि तुम्हारे स्नान के जल से रोग दूर होते थे। पुनः वृषभसेना ने गुणधर मुनिराज के समीप नारी पर्याय की सर्वोत्कृष्ट अवस्था आर्यिका पद को स्वीकार

किया। वे आर्यिकाएँ जो उपचार से महाव्रती कहलाती हैं, यथाशक्ति 28 मूलगुणों का पालन करती हैं, वे भी महाव्रती की तरह ही अपने उत्तरगुणों आदि का पालन करती हैं। उनकी मर्यादा व सीमा है। इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करके वृषभसेना ने आर्यिका अवस्था में साधना की, स्त्री पर्याय का छेद कर वैमानिक स्वर्गों में जाकर उत्तम देव अवस्था को प्राप्त किया। वह वृषभसेना का जीव कालान्तर में मोक्ष भी प्राप्त करेगा।

महानुभाव! वृषभसेना जिसने पूर्व में औषधिदान कहें या वैयावृत्ति कहें उसके फल को प्राप्त किया ऐसा आचार्य समंतभद्र स्वामी ने स्वीकार किया कि वृषभसेना औषधिदान के फल को प्राप्त हुई। इसलिए यहाँ शास्त्र में नाम उल्लिखित किया। वृषभसेना के समान अन्य अनेक उत्तम-उत्तम श्रेष्ठ फल को प्राप्त करने वाले महानुभाव इस लोक में हुए हैं चाहे वे तिर्यंच अवस्था में थे चाहे मनुष्य अवस्था में थे, उन्होंने चाहे किसी भी धर्मात्मा की औषधिदान देकर सेवा की, वैय्यावृत्ति की और वैयावृत्ति का अद्‌भुत फल प्राप्त किया।

एक बंदर जो पूर्व भव में वैद्य था। तब उसने मुनिराज की सेवा की, किसी ने मुनिराज से पूछा-महाराज यह आपका रोग कैसे ठीक हुआ? तो वे बोले अपने पुण्य से ठीक हो गया। वह वैद्य उन पर कुपित हुआ कि मुनिराज मेरा अहसान नहीं मानते। वैद्य अपने परिणामों को संक्लेशित कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और बंदर हुआ। एक समय बंदर उसी जंगल में आया जहाँ वे मुनिराज ध्यानलीन थे, उसे जातिस्मरण हो गया और एक लकड़ी तोड़कर उनकी जंघा में लगा दी, शरीर से खून बहने लगा। मुनिराज तब भी समतापूर्वक बैठे रहे। वह बंदर सामने सब देख रहा था। कुछ श्रद्धालु दर्शन करने आए, उन्होंने पूछा-यह कैसे हुआ? तो वे बोले-मेरे पाप के उदय से। उन्होंने पूछा—लगता है उस बंदर ने ऐसा किया होगा, वे बोले—नहीं, इसमें उसका कोई दोष नहीं, मेरे ही पाप कर्म का उदय है। जब बंदर ने यह सब सुना, देखा मुनिराज का पूर्व में भी समता परिणाम था, आज भी समता परिणाम है, धन्य हैं वे समतामूर्ति। पुनः उस बंदर को पूर्व औषधि ज्ञान तो था ही, वह दौड़कर जाता है और पत्ते तोड़कर लाता है, वह उनके घाव पर लगाता है, घाव ठीक हो जाता है। बाद में वही बंदर का जीव उत्तम पुरुष होकर के मुनि दीक्षा लेकर के मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव! वैय्यावृत्ति का अचिन्त्य प्रभाव है, औषधिदान का अचिन्त्य प्रभाव है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

शास्त्रदान का फल-कौण्डेश ग्वाला

महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना के अन्तर्गत चार प्रकार के दान का कथन चल रहा है। इन दानों में सुप्रसिद्ध महानुभावों के नाम आचार्य महोदय ने लिए। आहारदान में राजा श्रीषेण, औषधिदान में कुमारिका वृषभसेना, शास्त्रदान में कौण्डेश व वसतिकादान में शूकर का नाम लिया। यहाँ शास्त्रदान के संबंध में कहते हैं।

शास्त्रदान क्या है? जिस प्रकार शरीर की रक्षा के लिए वस्त्र होता है वैसे ही आत्मा की रक्षा के लिए शास्त्र होता है। शस्त्र का सदुपयोग स्व और स्वजनों की रक्षा करता है, शास्त्र का सदुपयोग स्वधर्म और स्वधर्म आयतनों की रक्षा करता है। शस्त्र का सदुपयोग स्वसंस्कृति, स्वसभ्यता एवं अपने राष्ट्र की रक्षा करता है, उसी तरह शास्त्र का सदुपयोग स्वात्मा की व स्वजनों की आत्मा की रक्षा करता है। शास्त्र और शस्त्र दोनों में थोड़ा सा अंतर है; शस्त्र एक समय के बाद उपयोग करते-करते अपने प्रभाव को कम कर देता है। माना कि तलवार है प्रयोग करते-करते वह मोथरी हो सकती है, कुछ समय के बाद टूट भी सकती है, जंग आदि लग सकती है और उपयोगहीन हो जाती है। किन्तु शास्त्र में यह बात नहीं है। शास्त्र में जो ज्ञान लिखा है उस शास्त्र का ज्ञान चाहे 100 वर्ष पूर्व या 100 वर्ष बाद, हजार वर्ष पूर्व या बाद कभी भी मोथरा नहीं होता। शास्त्र हमेशा उतनी ही उपयोगिता व शक्ति से युक्त होता है, क्योंकि शास्त्र भगवान् की वाणी होती है। उसमें जो कुछ होता है वह सार्वभौमिक सत्य होता है, इसमें किंचित् भी असत्य नहीं और जब भगवान् की वाणी खिरी थी तब भी प्राणी मात्र के कल्याण के लिए ही थी, आज हम उसका उपयोग कर रहे हैं तो आज भी प्राणी मात्र के कल्याण के लिए है और आज से हजारों वर्ष बाद भी वह कल्याण के लिए समर्थ होगी, उसका मूल्य कभी कम नहीं होगा।

महानुभाव! शास्त्र चाहे आत्म विकास के लिए हो, चाहे देश की समृद्धि के लिए हो, चाहे शरीर के आरोग्य लाभ के लिए हो, चाहे व्यक्ति के स्वस्थ विचारों के लिए हो, चाहे आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए हो। शास्त्रों में ऐसे सूत्र होते हैं जिनका अनुपालन करके जीवन की सभी प्रकार की गुत्थियों को सुलझाया जा सकता है। शास्त्रों में ऐसी विधि होती है जिनका अनुपालन करके व्यक्ति कार्य का सम्पूर्ण फल प्राप्त कर सकता है। शास्त्रों में ऐसी पद्धति है जिस पद्धति का अनुकरण करके व्यक्ति अपने कार्य को सरलता से सम्पन्न कर सकता है। बिना शास्त्र की विधि के, बिना शास्त्रों के अध्ययन के व्यक्ति सत्य से बहुत दूर चला जाता है। सत्य से दूर जाने का आशय है अंधकार में भटकना।

शास्त्र चैतन्यमय प्रकाश कहलाता है। शास्त्रज्ञान के माध्यम से चेतना के प्रदेशों में प्रकाश होता है। शास्त्र का स्वाध्याय करना अपनी चेतना में ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित करना है। जैसे घर में लाइट चली जाए तो टॉर्च आदि का प्रयोग करते हैं वैसे ही अपनी आत्मा में यदि प्रकाश करना है तो ज्ञान का दीपक ही प्रकाश करता है। बाहर की अग्नि बाहर के अंधकार को भगाती है तो ज्ञान की अग्नि चेतना के अंधकार को भगाती है। जिस तरह बाहर के दीपक को जलाने के लिए घी, तेल और बाती की जरूरत होती है ऐसे ही अंतरंग के ज्ञान रूपी दीपक को जलाने के लिए शब्दों की ज्योति की आवश्यकता होती है और उसमें अर्थ का घृत भी चाहिए। शब्द और अर्थ दोनों हैं तो शास्त्र का वह ज्ञान आत्मा का कल्याण करने में समर्थ है। दीपक में बत्ती हो और स्निग्ध पदार्थ न हो तो बत्ती दो मिनट में जल जाएगी, दीपक ही न हो तो भी दीपक जल नहीं पाएगा अतः तीनों आवश्यक हैं दीपक भी, उसमें भरा हुआ घृत भी और बत्ती भी। शास्त्रों की आवश्यकता के संबंध में आचार्य यशकीर्ति जी महाराज ने प्रबोधसार में एक बहुत अच्छी बात लिखी है–

नश्यत्येव ध्रुवं सर्वं, श्रुताभावेऽत्र शासनम्।
तस्मात् सर्व-प्रयत्नेन, श्रुतसारं समुद्धरेत्॥63॥

श्रुत का अभाव होने पर शासन ही नष्ट हो गया ऐसा मानना चाहिए अर्थात् जब शास्त्र का अभाव हो गया तो सब कुछ नष्ट हो गया। इसीलिए सम्पूर्ण प्रकार से प्रयत्न करके श्रुत का, शास्त्रों का सदैव उद्धार करना चाहिए, शास्त्र का प्रकाशन करना चाहिए। शास्त्र आपके पास हैं तो दूसरों को अध्ययन के लिए देना चाहिए, नहीं हैं तो आपको दूसरों से माँगना चाहिए। प्रकाशित नहीं हैं तो उन्हें प्रकाशित करके पहुँचाओ। मिठाई एक बार खा लोगे उसे फिर दुबारा न खा पाओगे, शास्त्र रूपी मिठाई ऐसी है जिसे सैकड़ों बार पढ़ लिया जाए, सैकड़ों व्यक्तियों द्वारा पढ़ लिया जाए फिर भी खत्म नहीं होती। हो सकता है मिठाई खाने व खिलाने से दस मिनट की तृप्ति हो जाए किन्तु शास्त्र का ज्ञान देने से, शास्त्र की चार बातें दान देने से उसे यावज्जीवन तृप्ति होती है। नीतिकार कहते हैं–

अन्नदानं परं दानं, विद्यादानं मतः परम्।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं च विद्यया॥

अन्न दान को परम दान कहते हैं किंतु ज्ञान का दान उससे भी श्रेष्ठ होता है क्योंकि अन्न से क्षणभर की तृप्ति होती है व ज्ञान दान से यावज्जीवन ही नहीं भव-भव की तृप्ति होती है।

आपने सामने वाले को मिठाई खिलाकर संतुष्ट करना चाहा, हो सकता है वह मिठाई खाकर बीमार हो जाए, डायबिटिक है, उसे मिठाई खिलाओगे तो उसका रोग बढ़ेगा, स्वास्थ्य खराब होगा किन्तु ज्ञान की बात किसी को भी सुनाओ, चाहे बाल हो, युवा हो या वृद्ध, ज्ञान की बात सबको अच्छी लगती है। क्योंकि वह ऐसी मिठास है जिसे प्राप्त करके सब तृप्त और संतुष्ट होते हैं।

आचार्य यशकीर्ति महाराज ने प्रबोधसार में आगे और भी लिखा है–

श्रुतात् तत्त्व-परामर्शः श्रुतात् स्वसमय-वर्धनं।
तीर्थेशाः भावतः सर्वं श्रुताधीनं हि शासनम्॥

श्रुत के माध्यम से तत्त्वचर्चा होती है। यदि श्रुत सामने रखा है तो शास्त्र संबंधी चर्चा होगी और शास्त्र नहीं है तो अनावश्यक यहाँ-वहाँ की बातें छिड़ जाती हैं। तो श्रुत के माध्यम से तत्त्व की चर्चा होती है। शास्त्र के माध्यम से स्वसमय (श्रुत) का वर्धन होता है। तीर्थंकर प्रभु के अभाव में सर्वत्र निश्चय से शासन श्रुत के आधार से ही चलता है। इस पंचमकाल में तीर्थंकर, केवली आदि तो नहीं हैं इसलिए इस पंचमकाल में शास्त्र दान-ज्ञानदान ही परम दान है। इसलिए आपके पास जो समीचीन ज्ञान है उसे बाँटो। चाहे मौखिक, चाहे प्रिंट कराकर दो, शास्त्र को दो आपका क्षयोपशम अपने आप बढ़ेगा। बच्चों के माध्यम से ज्ञान का दान कराओ उनका क्षयोपशम बढ़ेगा, उन्हें अच्छे संस्कार दो ताकि उनमें छलकपट का भाव, अहंकार का भाव, चोरी का भाव, लोभ का भाव नहीं आए, कषायें मंद रहेंगी तो ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ेगा।

तो आचार्य महोदय कह रहे हैं शास्त्रदान की महिमा अगम्य है, अचिन्त्य है। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने यहाँ ज्ञानदान में कौण्डेश जी नाम का उल्लेख किया है। वह कथा इस प्रकार है–

कुरुमणि ग्राम में एक गोविन्द नाम का ग्वाला रहता था, जो गायें चराता था। उसके गाँव के समीप में एक बहुत बड़ा जंगल था, जहाँ वह और उसके अन्य ग्वाल साथी गाय चराने जाते थे। उस जंगल में सैकड़ों गायें खेत चरती थीं, जंगल का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही मनोरम था। कहीं पहाड़, कहीं नदी ऐसा लगता था जैसे अमृत की वर्षा हो रही है। कहीं गाय रंभा रहीं हैं, कहीं बछड़े चौकड़ी भर रहे हैं। एक दिन अचानक गोविन्द ग्वाला गाय चराते-चराते आगे निकल गया। गाय समझदार है ये तो चरकर गाँव लौट जाएँगी किन्तु ग्वाल का मन आज आगे जाने का हुआ, वह जाने लगा। उसने घनघोर जंगल में एक वृक्ष की कोटर में जैन धर्म का एक पवित्र ग्रंथ देखा।

उसने उस कोटर में रखे शास्त्र को उठाया, सिर पर रखकर अपने घर ले आया और रोज-रोज उसकी पूजा करने लगा। एक दिन पद्मनंदी नाम के मुनिराज को गोविन्द ने देखा

और उसने वह शास्त्र लाकर मुनिराज को भेंट कर दिया। मुनिराज ने भी शास्त्र को स्वीकार किया और उसका अध्ययन किया और यह जानकर कि इस ग्रंथ द्वारा पहले भी मुनियों ने यहाँ भव्यजनों को उपदेश किया है और अनेक भव्यजनों को कल्याण के मार्ग में लगाकर सच्चे मार्ग का प्रकाश किया है। अंत में इस ग्रंथ को उसी कोटर में रखकर विहार कर गए। उसके बाद गोविन्द ने जबसे इस ग्रंथ को देखा वह निरंतर श्रद्धा से ग्रंथ की पूजा किया करता था। एक समय वह ग्वाला मृत्यु का प्राप्त हुआ और निदान से मरकर उसी कुरुमरी ग्राम में ग्राम प्रमुख का पुत्र हुआ। वह बहुत सुंदर था। इसकी सुंदरता को देखकर लोगों की आँखें उससे हटती ही नहीं थी, सबकी उसके ऊपर प्रीति रहती थी। एक दिन उन्हीं पद्मनंदी मुनिराज को देखकर, जिन्हें गोविन्द ग्वाल ने पूर्वभव में शास्त्र भेंट किया था, उसे जाति स्मरण हो गया। उसने मुनिराज से जिनदीक्षा ग्रहण कर ली व आयु के अंत में समतापूर्वक मरणकर कौण्डेश नाम का राजा हुआ। अत्यंत वैभव का भोग कर एक समय कोई कारण ऐसा मिल गया कि कौण्डेश राजा को संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य हो गया। वह निर्ग्रंथ गुरु के समीप जाकर दीक्षित हो गया। पूर्व जन्म में कौण्डेश ने जो दान किया था, उसके फल से वह थोड़े ही समय में श्रुतकेवली हो गया। यह श्रुतकेवली होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि ज्ञानदान तो केवलज्ञान का भी कारण है।

महानुभाव! आचार्य महोदय यहाँ यही कह रहे हैं कि ज्ञानदान अपने आप में महत्वपूर्ण दान है। ज्ञानदान की उपमा अन्य किसी दान से नहीं की जा सकती है। यह ज्ञान इतना महत्वपूर्ण क्यों है? ज्ञान हमारी आत्मा का स्वभाव है इसलिए संसार का कोई भी प्राणी अज्ञानी बनकर नहीं रहना चाहता। व्यक्ति चाहे बाल है या युवा, प्रौढ़ है या वृद्ध, स्त्री हो, प्रौढ़ा हो, युवती हो कोई भी हो यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी ज्ञान को पाने के लिए आतुर रहते हैं। जो संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं उन्हें पशुओं का मास्टर जैसा सिखाते हैं वे वैसे सीखते हैं। कुछ पशु जल्दी सीख जाते हैं कुछ पशु देर से सीख पाते हैं। आप देखते हैं कि एक कक्षा में कई विद्यार्थियों के होने पर भी सभी के नंबर एक जैसे क्यों नहीं आते? क्या कारण है? वे सभी एक साथ पढ़ रहे हैं, एक शिक्षक ही उन्हें उस विषय को पढ़ा रहा है, उन सभी विद्यार्थियों के पढ़ने का समय भी एक ही है। जब सबका समय एक, स्थान एक, पढ़ाने वाला अध्यापक एक, सभी की पुस्तकें भी एक जैसी, उन सभी का पेपर होता है तो प्रश्नपत्र भी एक जैसा आता है फिर हम आपसे पूछते हैं उन सभी विद्यार्थियों के नंबर अलग-अलग क्यों आते हैं? किसी के नंबर 100/100 भी आते हैं, किसी के 50/100 भी आते हैं किसी के 50 से कम भी आते हैं तो किसी के 50 से 99 के बीच भी आते हैं, इतना अंतर क्यों?

वह अंतर इसलिए है क्योंकि सबका ज्ञान का क्षयोपशम अलग-अलग होता है। एक विद्यार्थी ऐसा है जो एक बार सुनने पर ही याद कर लेता है, एक विद्यार्थी दो बार सुनने पर, कोई तीन-चार बार सुनने पर याद करता है, कोई दस बार सुनने पर याद करता है तो कोई ऐसा भी है कि बार-बार पढ़ाओ तब भी याद नहीं होता। तो सबका क्षयोपशम अलग-अलग होता है। ऐसा भी नहीं है कि जिसने जैन कुल में जन्म लिया है उन सभी जैनों का एक जैसा हो, द्विज कुल में जन्म लिया है उन सबका एक जैसा हो, ऐसा नहीं है। एक भूमि पर बोये हुए पौधे जब फल देते हैं तो उनके फल में भी अंतर आ सकता है—खाद, पानी, सूर्य का प्रकाश, वायु आदि के कारण। ये निमित्त हैं फलदान में। यदि वृक्ष की परवरिश अच्छी तरह से हुई है तो वह समुचित, समीचीन, समग्र फल देने में समर्थ है और जिस पौधे की परवरिश अच्छी नहीं हुई वह पौधा पहले ही मुरझा जाएगा, फल नहीं दे पाएगा। जैसे उस पौधे के लिए खाद, पानी, सूर्य का प्रकाश और वायु आदि कारण हैं, ऐसे ही हमारे ज्ञान में, हमारे क्षयोपशम को बढ़ाने-घटाने में भी कई कारण हैं। वे कारण सबके अलग-अलग हैं। अलग-अलग खेत हैं अलग-अलग फसल आ रही हैं। अलग-अलग जल मिल रहा है अलग-अलग फसल आ रही हैं। आप जानते हैं खेत में अनाज बोया जाता है, कोई अनाज एक बीघा में 10 मन आता है, कोई 20 मन आता है, कोई 30 मन आता है या कोई इससे कम या ज्यादा। ऐसा क्यों? क्योंकि उसकी जो मिट्टी है, जो उर्वरा शक्ति है वह कम-ज्यादा है। ऐसे ही ज्ञान का क्षयोपशम कैसे बढ़े हम इस बात को जान लें, और घटता कैसे है इससे बचने के उपायों को भी पहले समझ लें।

संसार में सबसे श्रेष्ठ कोई रत्न है, कोई निधि है तो वह है 'ज्ञान'। उसके माध्यम से ही व्यक्ति भगवान् बन जाता है और उसके बिना जब वह अल्पमात्रा में रह जाता है तो व्यक्ति निगोदिया जीव बन जाता है। ज्ञान सम्पूर्ण प्रकट हो जाए तो वह आत्मा भगवान् कहलाती है और सम्पूर्ण ज्ञान प्रकट न होकर सर्व न्यून ज्ञान रह जाए तो वह जीव निगोदिया जीव कहलाता है। अब न्यूनता से बढ़ते-बढ़ते ज्ञान की वृद्धि ही भगवान् बनने की यात्रा है। जिसके जीवन में ज्ञान बढ़ता चला जा रहा है वह भगवान् बनने के मार्ग पर बढ़ता जा रहा है, ज्ञान ही ऐसी शक्ति है जो इस आत्मा को भान कराती है कि संसार में क्या निकृष्ट है, क्या उत्कृष्ट है, क्या हेय है, क्या उपादेय है, क्या जानने के योग्य है, क्या खाने के योग्य है और किसके प्रति समभाव करने के योग्य है, किससे राग करो-किससे द्वेष करो यह ज्ञान के माध्यम से ज्ञात होता है।

भगवान् महावीर स्वामी जब राजकुमार थे, वैराग्य नहीं हुआ था तब राजवैभव के मालिक थे। जब वैराग्य हो गया तब अन्तर्मुहूर्त नहीं लगा सम्पूर्ण वैभव त्यागने में। भरत चक्रवर्ती छह खण्ड के राजा, निःसीम वैभव परिकर से युक्त किंतु जब वैराग्य हुआ तब एक अन्तर्मुहूर्त भी नहीं लगा यथाजात दिगम्बर दीक्षा लेने में। क्योंकि उनके अंदर ज्ञान की ज्योति जल गई थी। ज्ञान की ज्योति जलते ही निकृष्टता और उत्कृष्टता का भान हो गया, उन्हें लगा जिसे मैंने एकत्र किया है वह निकृष्ट और जो मुझे प्राप्त करना था वह उत्कृष्ट है, जब मौका मिला है उत्कृष्ट पाने का तो अब चूकना नहीं है। 'दाव मत चूको यह' बस मुझे यह प्राप्त करना है इसलिए उन्होंने निकृष्ट को छोड़ दिया। जैसे कोई व्यक्ति हीरा समझकर अभी तक काँच के ढेर की पोटली बनाकर दौड़ रहा था, बाद में मालूम चला जिसे मैं ढो रहा हूँ वह काँच है। अब उस व्यक्ति को काँच की पोटली छोड़ने में दुःख नहीं होगा क्योंकि उसे निकृष्टता का ज्ञान हो गया और सामने जो उत्कृष्ट है उसे ग्रहण कर लेगा। क्योंकि ज्ञान ही वह शक्ति है जो उत्कृष्टता व निकृष्टता की पहचान देता है, कसौटी पर कसकर बताता है, तो ज्ञान की जीवन में आवश्यकता है।

सर्वप्रथम हम चर्चा करें कि हमें कैसे-कैसे बचना है। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी के गुरु आचार्य भगवन् उमास्वामीजी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म बंध के आस्रव के कारण कहे–

'तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघातज्ञानदर्शनावरणयोः'।

'तत्प्रदोष'–दोष लगाना। कैसे लगाना? कोई वक्ता आगम की वाचना कर रहा है, शास्त्र की बात कह रहा है, तुम्हें बात सुहा नहीं रही, अच्छी बात भी अच्छी नहीं लग रही यह तत्प्रदोष नाम का दोष है। वक्ता अपने घर से नहीं कह रहा, आगम की बात कह रहा है तो भी अच्छी नहीं लग रही, तुम्हारे अंदर ज्ञानावरणी कर्म प्रभाव दिखा रहा है, चारित्रमोहनीय कर्म प्रभाव दिखा रहा है क्योंकि आप उसके ज्ञान में दोष लगा रहे हो। अतः आगम के ज्ञान में कभी दोष नहीं लगाना चाहिए।

'निह्नव'–शास्त्र का नाम छिपाना, शास्त्र के कर्त्ता का नाम छिपाना, जिनसे शास्त्र पढ़ा है ऐसे गुरु का नाम छिपाना यह भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के बंध का कारण है।

'मात्सर्य'–ईर्ष्या करना। कोई चीज हमें आती है, हमने सामने वाले को इसलिए नहीं बताया क्योंकि अगर हम बता देंगे तो ये हमसे आगे निकल जाएगा। तो यह भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के आस्रव-बंध का कारण है।

'अन्तराय'–विघ्न डाल देना–कोई अध्ययन कर रहा है वह अध्ययन न कर पाए इसलिए उसकी पुस्तक छिपा देना, लाइट बंद कर देना या कमरा बंद करके चले गए, लाइब्रेरी बंद करके चले गए ताकि कोई पढ़ ही न पाए। ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनके हाथ में लाइब्रेरी की चाबी आ जाए तो पढ़ने वाले विद्यार्थी चाहे दस चक्कर लगा लें किंतु अकसर लाइब्रेरी खुली ही न मिले। उन व्यक्तियों की खुशामत करो तब वे लाइब्रेरी खोलें। वे व्यक्ति चाबी हाथ में पाकर के अहंकार वश नहीं समझते कि कितना अंतराय कर्म का बंध कर रहे हैं।

कई मंदिरों तक में देखा है कि अलमारियों में शास्त्र रखे हैं किन्तु चाबी अध्यक्ष-मंत्री के पास है, चाबी मिलती नहीं है। स्वाध्याय करने वाले कोई त्यागव्रती हों उन्हें शास्त्र मिलेगा ही नहीं। चाहे उन बंद शास्त्र की अलमारियों में दीमक लग जाए, छिपकली सड़ने लगे, किन्तु वे चाबी नहीं देते। वे नहीं सोच पाते कि वे कितना ज्ञानावरण कर्म का बंध कर रहे हैं। तो किसी के भी ज्ञान में अन्तराय डालने से चाहे लौकिक पढ़ाई करने वाले हो उनकी पुस्तकों को छिपाना आदि भी पाप बंध के कारण हैं।

'आसादन' किसी भी वक्ता को टोकना। कोई वक्ता शास्त्र की गद्दी पर बैठकर शास्त्र पढ़ रहा है उसे रोकना-टोकना। ज्ञान की, ज्ञानी पुरुष की, शास्त्र की आसादना करना, अवहेलना करना ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के आस्रव-बंध का कारण है।

'उपघात' उपकरणों का घात करना-तोड़ फोड़ करना। चौकी, पेन, पैंसिल, पुस्तक, डायरी आदि ज्ञान के उपकरणों को तोड़ देना, मुँह में देना अथवा पैर पर लगाने से ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म का आस्रव-बंध होता है।

इस प्रकार ये सभी ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म के आस्रव-बंध का कारण माने जाते हैं। अब ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ाने के लिए करना क्या चाहिए? तो पाठशाला आदि की स्थापना करना, शास्त्रदान करना, शास्त्रों का प्रकाशन कराना अथवा शिक्षण शिविर आदि लगाना ये सभी कृत्य ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ाने वाले हैं। जहाँ शिविर लगे वहाँ बच्चों के लिए पुस्तकों का वितरण करें, स्वाध्याय प्रेमियों के लिए शास्त्र उपलब्ध कराएँ।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने शास्त्रदान में कौण्डेश ग्वाले का नाम सुप्रसिद्ध कहा, जिसने ज्ञान का फल प्राप्त किया। आप भी ज्ञान दान दोगे तो निःसंदेह श्रुतकेवली और केवली बन सकोगे। आज के लिए बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वसतिका दान का फल-शूकर की कथा

महानुभाव! अब देखते हैं आवास दान में प्रसिद्धि को प्राप्त जीव के बारे में। आवास दान भी महत्वपूर्ण दान है। यह सम्यक् दान है। कोई भी त्यागीव्रती धर्मात्मा साधना करेगा तो उसे बैठने के लिए जगह तो चाहिए, खड़े होकर करे तो भी जगह तो चाहिए। एक प्रसंग आपने सुना होगा पोदनपुर के महाराज बाहुबली की दीक्षा के संबंध में। भरत को तीनों युद्धों में पराजित कर, पूर्व निर्धारित शर्त के अनुसार छह खण्ड के राजा बाहुबली हुए पुनः यह सोचकर दीक्षा ले ली कि **'वसुधा काउ की ना भई'।** भरत जी ने बाहुबली को रोकने का बहुत प्रयास किया किन्तु बाहुबली ने दीक्षा धारण कर एक वर्ष तक कठोर साधना की, आहार के लिए भी नहीं निकले, वे खड़गासन से ध्यान लगाते रहे। लोग चर्चा करने लगे कि उन्हें अभी तक केवलज्ञान प्राप्त क्यों नहीं हुआ। भरतजी ने ऋषभदेव के समवसरण में जाकर पूछा-तब उन्होंने बताया कि उनके मन में विकल्प है कि मैंने भाई का दिल दुखाया है इसलिए आप उनके चरणों में पहुँचकर क्षमा याचना करें, उनका विकल्प निकल जाएगा तो केवलज्ञान प्राप्त हो जाएगा। इस विकल्प को कोई विद्वान् लोग कहते हैं कि मुनिराज बाहुबली को ये विकल्प था कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ क्योंकि छह खण्ड का राज्य तो भरत का है और इसके बाहर तो मैं हूँ नहीं, विकल्प कुछ भी हो किन्तु जब तक मन में विकल्प रहता है तब तक निर्विकल्प दशा का फल प्राप्त नहीं होता।

बाहुबली मुनिराज ने दीक्षा के समय सब कुछ त्याग कर दिया, अपना राज्य, जीता हुआ राज्य आदि सब छोड़ दिया, यहाँ तक कि अपने शरीर के वस्त्र आदि भी उतारकर अलग कर दिए व यथाजात दिगम्बर मुद्रा को धारण कर लिया। बाहुबली मुनिराज ने आहार भी नहीं लिया, किसी से शास्त्र भी नहीं लिया, औषधि भी नहीं ली अर्थात् न किसी का आहारदान लिया, न औषधिदान लिया न शास्त्रदान लिया किन्तु फिर भी उन्हें खड़े होने के लिए तपस्या करने के लिए भूमि तो चाहिए। यदि छह खण्ड के राज्य में बाहुबली मुनि तपस्या कर रहे हैं और छह खण्ड के राजा भरत हैं तो भरत को आवास देने का पुण्य मिलेगा।

किसी देश का राजा यदि यह कहे कि मेरे देश में जितने संत मुनि हैं वे सभी निराकुलता से साधना करें तो उन्हें भी आवासदान का पुण्य मिलता है। भरत बाहुबली या अन्य केवली जिन्होंने आहार नहीं लिया, औषधि नहीं ली और शास्त्र भी नहीं लिया, तीन दान तो नहीं लिए किन्तु सबने आवास तो स्वीकार किया, सबने भूमि तो स्वीकार की चाहे वे कन्दराओं में रहे,

चाहे गुफाओं में रहे, चाहे पर्वत की चोटी पर रहे, चाहे नदी किनारे रहे, कहीं भी रहे किन्तु दो पैर रखने को उन्हें जमीन तो चाहिए। तभी तो श्रावक हाथ जोड़कर कहता है महाराज जी मेरा सौभाग्य है जो आपने अपने द्विचरणकमल मेरे घर में रख दिए, मैं तो धन्य-धन्य हो गया, कृत्य-कृत्य हो गया। अथवा आईये महाराज! मेरे आवास पर ठहर कर साधना कर लो मैं कृत्य-कृत्य हो जाऊँगा। यदि आपने एक अंतर्मुहूर्त के लिए भी मेरे इस आवास में, कुटी में या मेरे छोटे से मकान में सामायिक कर ली तो मेरे लिए स्वर्ग का विमान सुनिश्चित हो जाएगा। यदि आप मेरे घर पर पैर रखकर भी निकल गए तो आगे मुझे पल्यों-सागरों तक के लिए रहने को रत्नों के भवन मिलेंगें।

महानुभाव! आवासदान का बहुत बड़ा फल होता है। जो व्यक्ति साधुसंतों-त्यागीव्रतियों के लिए, चतुर्विध संघ के लिए, धर्मात्माओं के लिए धर्मशालाएँ, आर्यिका वसतिका बनवाता है या और भी जहाँ धर्मात्माजन स्वाध्याय करते हैं स्वाध्याय भवन बनवाना या वाचनालय आदि जो भी बनवाता है। वे ऐसा मान लें उन्हें रत्नों के भवन रहने के लिए मिलेंगे और जो व्यक्ति संतभवन बनवाने में रोड़ा अटकाते हैं, मंदिरों को तुड़वाते हैं, धर्मशालाओं को तुड़वाते हैं उन व्यक्तियों को अगले भव में तो छोड़ो, हो सकता है इस भव में भी सिर ढकने को छत नसीब न हो। इसलिए कहीं भी कभी भी मंदिर बन रहा हो, शास्त्रागार बन रहा हो, चाहे संत निवास बन रहा हो यहाँ तक कि कोई व्यक्ति अपने सामान्य रागी देवी-देवता का मंदिर बना रहा हो तो भी विघ्न नहीं डालना। तुम्हारे मत से हटकर चल रहा हो तब भी चलने दो, विघ्न नहीं डालना। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा, हमें किसी भी धर्मात्मा की आत्मा को ठेस नहीं पहुँचानी क्योंकि जो धर्मात्मा की सद्भावना के साथ सेवा करता है तो उसके अन्तरंग से निकला आशीर्वाद खाली नहीं जाता, उसका कल्याण हो जाता है और यदि धर्मात्मा को परेशान किया और वह परेशानी को सहन नहीं कर पाया, यदि एक बार भी धर्मात्मा की आत्मा से आह निकल गई तो समझ लेना उसने मुख से भले ही कुछ नहीं कहा कि अच्छा हो या बुरा हो किंतु उसकी चीख निकल गई, दुःख हो गया तो तुम्हारा सैकड़ों भवों का पुण्य बिल्कुल धुल गया। इसीलिए कभी भी भूलकर मंदिर नहीं तुड़वाना, जीर्णोद्धार करना अलग बात है, उसकी भी अनुमति ली जाती है, नये मंदिर बनवाने की भी अनुमति ली जाती है किन्तु तुड़वाना बहुत बड़ा पाप है।

महानुभाव! आवासदान देना बहुत सौभाग्य की बात होती है। वे सभी पुण्यात्मा महानुभाव हैं जो बड़े-बड़े मंदिर बनवाते हैं, धर्मशालाएँ बनवाते हैं हम साधु लोग तो बस आशीर्वाद देते हैं कि आप अच्छा कार्य कर रहे हो। आप सही रूप में अपने धन का सही सदुपयोग कर

रहे हो क्योंकि आपको मालूम है कि अभी जिनालय छोटा सा है तो चार व्यक्ति पूजा कर पाते हैं, जिनालय बड़ा बनवा दिया तो 40 व्यक्ति पूजा-अभिषेक कर रहे हैं, और बड़ा बनवा दिया तो 400 व्यक्ति पूजा कर सकते हैं। अथवा आपके नगर में कभी कोई चौमासा ही नहीं होता था, अब जबसे धर्मशाला बनवायी है तो हर वर्ष चातुर्मास हो रहे हैं, वाचनाएँ हो रही हैं, कितना पुण्य एकत्र कर रहे हैं आप लोग।

आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने आवासदान में उदाहरण भी दिया तो क्या दिया–'शूकर का उदाहरण'। बड़े-बड़े राजा महाराज ये काम करें तो समझ में आता है किन्तु एक तिर्यंच जीव शूकर भी आवासदान देने में समर्थ हो सकता है। शूकर भी दो मुहूर्त्त मात्र के लिए मुनिराज की रक्षा करने के भाव से स्वर्ग में पहुँच गया उसकी कथा इस प्रकार आती है–

मालव देश में एक घटग्राम नाम का गाँव था। वहाँ एक देविल नाम का कुम्भकार और धम्मिल नाम का नाई रहता था। दोनों में बड़ी मित्रता थी। दोनों ने मिलकर पथिकजनों के ठहरने के लिए एक छोटी सी धर्मशाला बनवायी। देविल कुम्हार जो था वह जैन धर्म के संस्कारों से सहित था इसलिए उसने एक मुनिमहाराज से निवेदन किया कि कृपया आप अपनी साधना पास में ही एक धर्मशाला बनवायी है वहाँ करें, वहीं निवास करें। मुनिराज सरल परिणामी थे वहाँ जाकर ठहर गए। एक दो दिन भी नहीं हुए तब तक वह धम्मिल नाम का नाई वहाँ किसी अन्य भेषधारी परिव्राजक संत को ले आया। और वहाँ जाकर झगड़ा कर दिया और परिव्राजक व धमिल्ल दोनों ने मुनिराज को वहाँ से निकाल दिया। सर्दी का समय था मुनिराज वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गए, डांस-मच्छर आदि भी बहुत थे इससे उनका शरीर लहुलुहान हो गया किन्तु वे समता भाव से वहाँ बैठे रहे, बाद में वे वहाँ से चले गए। देविल कुम्हार को जब ज्ञात हुआ कि मेरे कारण इन पर उपसर्ग हुआ, मैं ही तो मुनिराज को यहाँ लाया था। और धर्मशाला तो मैंने भी बनवायी थी, दोनों का ही सहयोग था, धम्मिल ने मुनिराज को निकाल कैसे दिया, इससे देविल व धम्मिल का आपस में झगड़ा हुआ, जिससे दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए। मरणकर देविल कुमार तो विन्ध्याचल में शूकर हुआ और वह धम्मिल का जीव व्याघ्र बना।

एक दिन व्याघ्र घूमता-घूमता एक गुफा के निकट आया, जहाँ से उसे मनुष्य की गंध आयी। उस गुफा में समाधिगुप्त और चित्रगुप्त नाम के मुनिराज ध्यान में संलग्न थे। वह शूकर भी वहाँ पानी पीने आता-जाता था। उसे ज्ञात था कि इस गुफा में दो मुनिराज तपस्या कर रहे हैं। उन मुनिराज को देखकर शूकर को जातिस्मरण हो गया, जिससे उसने धर्मश्रवण कर व्रत ग्रहण किया। जब व्याघ्र नदी से पानी पीकर ऊपर की ओर आने को हुआ तो शूकर

ने उसे रोका और मुनिराज की रक्षा के निमित्त गुफा के द्वार पर खड़ा हो गया। व्याघ्र ने उसे वहाँ से हटने को कहा किन्तु शूकर उनकी रक्षा करना चाहता था। शूकर का भाव था यह मेरा क्षेत्र है, यहाँ मुनिराज तपस्या कर रहे हैं यहाँ तू नहीं आ सकता। लड़ते-लड़ते वे दोनों वहाँ से नीचे खाई में गिरे और मृत्यु को प्राप्त हुए। किन्तु व्याघ्र का भाव मुनिराज को भक्षण करने का था और शूकर का भाव मुनिराज की रक्षा का था कि मेरे रहते व्याघ्र इनको छू भी नहीं सकता, मैंने इन्हें आवास दिया है। शूकर मृत्यु को प्राप्त होकर सौधर्म स्वर्ग में महान् ऋद्धियों को धारण करने वाला देव हुआ और व्याघ्र क्रूर परिणामों से मरकर पंचम नरक में गया। वह महर्द्धिक देव सागरों पर्यन्त रत्नों के भवनों में है। वहाँ पर वीतराग भगवान् की पूजा करे, समवसरण की वंदना करे, भगवान् के कल्याणक मनाये, ऐसा पुण्यशाली जीव हो गया आवास दान देने से और व्याघ्र बाधक बनने से, उपसर्ग करने से पाँचवें नरक में, सागरों पर्यंत भीषण दु:खों को भोगने वाला हुआ।

महानुभाव! हम लोग विहार करते हैं तो ऐसा जरूरी नहीं है कि मार्ग में जहाँ रुकें वहाँ सर्वत्र जैनमंदिर ही मिलें, जैन धर्मशाला ही मिलें। ऐसी जगह भी मिलती हैं जहाँ जैन समाज का एक भी घर नहीं होता, और उस गाँव में ही नहीं आस-पास 10-20 km पर भी नहीं होता। फिर कैसे विहार करें? तो मार्ग में इतने भद्रपरिणामी लोग मिलते हैं कहीं स्कूल मिला, कॉलेज मिला वहाँ के प्रधानाचार्य बड़ी सहजता और विनम्रता से ठहरने का स्थान देते हैं, स्वयं निवेदन करते हैं, रात्रि विश्राम आदि कराते हैं। कई बार जैनेतर व्यक्तियों के मकानों में ठहरने का अवसर प्राप्त होता है, वे इतने भद्र परिणामी लोग कि अपना पूरा सामान समेट कर 1-2 कमरों में हो जाते हैं और पूरा घर या जितना भी स्थान है उतना खाली करके संतों के निवास या आहारचर्या के लिए दे देते हैं। इतनी विनम्रता की भावना, इतना अहोभाग्य मानने वाले कि खुशी से बस यही कहते हैं धन्य-धन्य हमारे भाग्य जो हमारे यहाँ साधुगण पधारे।

कई बार ऐसा भी होता है कि किन्हीं की फैक्ट्री, गोदाम या दुकान आदि मार्ग में मिलती हैं। जब उन व्यक्तियों को समाचार मिलता है कि वहाँ से साधुगण निकल रहे हैं, सर्दी का समय है, कहीं ठहरने का स्थान नहीं है तो वें आकर अपने स्थानों पर व्यवस्था बनाते हैं। यहाँ तक कि सरकार के कई कार्यालय आदि होते हैं तो वे भी सहजता में मिल जाते हैं। साथ में विहार करने वाले श्रावक उनके पास जाते हैं, बस इतना ही कहते हैं कि हमारे दिगम्बर साधु हैं, उनकी ऐसी-ऐसी चर्या है, ठहरने के लिए स्थान चाहिए तो वे लोग अपना सौभाग्य मानकर बड़ी विनम्रता के साथ स्थान दे देते हैं।

तो वे लोग जो कुछ नहीं जानते तब भी पुण्य का लाभ प्राप्त करते हैं, कई लोग सहजता में ही ऐसे स्थान बनवाते हैं जहाँ कोई भी आकर ठहरे। आप लोगों को भी यदि अवसर प्राप्त हो तो जहाँ साधुओं का आना-जाना रहता है भले ही एक कमरा बनवाना। यदि साधु एक रात्रि भी ठहर गए तो आपका कमरा बनवाना सफल और सार्थक हो जाएगा। इस आवासदान का अचिन्त्य फल है। आप सभी आगम कथित चारों प्रकारों के दानों में यथाशक्ति पुरुषार्थ करें व उनके सुफल को प्राप्त करें। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

भगवत्पूजा का वैय्यावृत्य में अन्तर्भाव

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि-कामदाहिनि-परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥119॥

अन्वयार्थ–आदृतः – श्रावकों को आदर से युक्त होकर, **नित्यं** – प्रतिदिन, **कामदुहि** – मनोरथों को पूर्ण करने वाले और, **कामदाहिनि** – काम को भस्म करने वाले, **देवाधिदेवचरणे** – अरहंत भगवान् के चरणों में, **सर्वदुःखनिर्हरणम्** – समस्त दुःखों को दूर करने वाली, **परिचरणं–** पूजा, **परिचिनुयात्** – करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना के अन्तर्गत श्रावकों का अंतिम शिक्षाव्रत वैय्यावृत्य का कथन चल रहा है। आचार्य भगवन् इस वैय्यावृत्ति में भी अर्हद्भक्ति को शामिल कर रहे हैं। अर्हद्भक्ति करना यह भी वैय्यावृत्ति में सम्मिलित है। वे इस 119 वें श्लोक में अर्हद्भक्ति की महिमा बताते हैं–

'देव' शब्द दिव् धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है 'दिव्यति इति देवः' जो दिव्य है वह देव है। दिव्य शब्द के भी दो अर्थ लिए जाते हैं एक दिव्य का अर्थ होता है कान्तिमान् और एक दिव्य का अर्थ होता है स्वयं में अनुपम-उत्कृष्ट, रत्न की तरह से। अगला अर्थ होता है जो देवों के योग्य हो। तो देव अर्थात् जो दिव्यकांतिवाले हैं, उत्कृष्ट हैं, वैक्रियक शरीर धारक हैं, अणिमा आदि ऋद्धियों से संयुक्त हैं ऐसे देवों के अधिपति कहलाते हैं देवाधिदेव। चार निकाय के देव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, और वैमानिक होते हैं। भवनवासी आदि तीन प्रकार के जो देव हैं उन्हें तो किसी अपेक्षा से निकृष्ट कहा जाता है किन्तु वैमानिक देवों को किसी अपेक्षा से उत्कृष्ट कहा जाता है। पदवीधारी महापुरुष वैमानिक देवों से ही च्युत होकर आते हैं।

भवनत्रिक में जन्म लेने वाले सभी देव जन्म से मिथ्यादृष्टि होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव यदि देव पर्याय में जन्म लेता है तो नियम से वैमानिक देव ही होता है, तीन प्रकार के देवों में जन्म नहीं लेता इसीलिए वे विशेष हो गए। वह वैमानिक देव भी जो भगवान् के पंचकल्याणक आदि सम्पन्न करते हों या अन्य भी कोई वैभव सम्पन्न देव हों, वे देव अपने निकाय में, अपने समूह में, अपनी-अपनी सभा में पूजा को, सम्मान को, यश को, प्रतिष्ठा को प्राप्त हो सकते हैं किन्तु वे देवाधिदेव की ही पूजा करते हैं। प्रत्येक देवों के विमान व भवनों में जिनालय होता है। मिथ्यादृष्टि उनकी कुलदेवता मानकर पूजा करते हैं और सम्यग्दृष्टि अपने सच्चे आराध्य

मानकर पूजा करते हैं। तो वे देवाधिदेव हैं वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी, अर्हत् परमेष्ठी। सिद्ध निराकार अमूर्तिक होते हैं इसलिए जब भी उपासना की बात आती है तो साकार देवों की बात ही प्रचुर मात्रा में विषय होती है।

यहाँ पर दिया 'देवाधिदेव'। लोक में देखा जाए तो कुछ लोग देव की स्थापना किसी के भी साथ कर देते हैं। यदि किसी ने वृक्ष से अपना उपकार माना है तो वृक्ष को भी देव मानते हैं, किसी ने कूप के माध्यम से तो कूप को ही अपना देव मान लिया है, किसी ने अग्नि के माध्यम से तो अग्नि को अपना देव माना। तो ये व्यक्ति अपनी-अपनी श्रद्धा के माध्यम से देव मानते हैं किन्तु वे देव नहीं हैं अदेव हैं क्योंकि उनमें देवत्वपना नहीं है। देवगति के भी नहीं हैं और सच्चे देव भी नहीं हैं। तो जो उपकारी को देव जैसा माने जल को, अग्नि को, वायु को तो सम्मान की भाषा एक अलग होती है और पूज्यता के लिए अलग होती है। पूज्यता में देव कौन हैं? जिनमें देवत्वपना, भगवत्ता सिद्ध होती है, प्रमाणित होती है। वे कौन-कौन हैं जिनमें भगवत्ता सिद्ध होती है? भगवान् का लक्षण पूर्व में देखा था कि जो सर्वदोषों से रहित हों, वीतरागी हों, वीतद्वेषी हों, वीतमोही हों, जो भविष्य में जन्मग्रहण न करें, जो मृत्यु को स्वीकार न करें। कर्म सहित जीव अपने शरीर को त्यागता है तो वह मृत्यु कहलाती है और कर्म से रहित होकर शरीर का नाश होना निर्वाण/मोक्ष कहलाता है।

तो देव वे हैं जो कर्मरहित होकर शरीर का त्याग करते हैं। अरिहंत देव जब भी शरीर को त्यागते हैं तो कर्मरहित अवस्था में त्यागते हैं, सिद्ध बनते हैं। इसलिए देव की विशेषता है जो 18 दोषों से रहित हैं, जिनका परम औदारिक शरीर है, जो आगे जन्म नहीं लेंगे, जिनको कोई रोग नहीं होता जिनको बुढ़ापा आदि नहीं आता है, जिनके शरीर की वर्गणाएँ ऐसे क्षीण नहीं होती जैसे सामान्य व्यक्ति की होती हैं। जो केवलज्ञान आदि अनंत गुणों से संयुक्त हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं, ऐसे अनंत चतुष्टय से संयुक्त देव कहलाते हैं। ऐसे देवाधिदेव अरिहंत देव के चरणों में **'परिचरणं'** जो भी परिचर्या करता है। परिचर्या का आशय होता है सेवा-शुश्रूषा या विनय-भक्ति-अर्चना-वंदना आदि शब्द इस अर्थ के द्योतक हो सकते हैं। जो वीतरागी जिनदेव के चरणों का श्रद्धापूर्वक चाहे दर्शन करे, चाहे वंदन करे, चाहे अर्चन करे, किसी भी प्रकार से करे, चाहे वह अष्ट द्रव्य से करे या एक द्रव्य से कैसे भी कर रहा है तो उस पूजा करने वाले को क्या फल की प्राप्ति होती है। **'सर्वदुःख निर्हरणम्'** जो श्रद्धा-भक्ति-समर्पणपूर्वक एकीकृत होकर के परिचर्या करता है उसके सभी प्रकार के दुःख विनाश को प्राप्त होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। संसार में सर्वत्र सभी दुःखी दिखाई देते हैं।

कोई तन दुःखी कोई मन दुःखी कोई धन दुःखी दीखे।
संसार में सुख सर्वदा नहिं काहू को दीखे॥

महानुभाव! संसार में सम्पूर्ण प्रकार से सुखी कोई नहीं है। सभी किसी न किसी कारण से दुःखी ही दुःखी दिखाई देते हैं। सर्वदा सुख किसी को नहीं, किन्तु जो अर्हंत् भगवान् की भक्ति करता है उसे आज नहीं तो कल सम्पूर्ण सुख प्राप्त हो जाते हैं। लोक में प्रचलित 16 प्रकार के सुख होते हैं–

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख घर में हो माया।
तीजा सुख सुत आज्ञाकारी, चौथा सुख सुलक्षण नारी॥

इत्यादि जो आप पढ़ते हैं वे सुख भी प्राप्त होते हैं। किन्तु अर्हंत भक्ति से पारमार्थिक सुखों की प्राप्ति होती है। आत्मोत्पन्न सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

सपरं बाधासहिदं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
तं इंदिएहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥76॥ –प्रवचनसार

जो पराधीन है, बाधा से सहित है, व्युच्छित्ति से युक्त है और कर्मबंध का कारण है ऐसा सुख, सुख नहीं है वह तो दुःख ही है। सुख तो वह है जो आत्मोत्पन्न हो, जो स्वाभाविक हो, शाश्वत हो, अघ रहित हो वह सच्चा सुख होता है।

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजेसुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणास्मृता॥12॥

जो कर्म के आधीन हो, अंत से सहित हो, दुःख से युक्त हो, अनन्तर दुःख को ही देने वाला हो, पाप का बीज हो ऐसे सुख को सुख नहीं कहते वह दुःख है। भगवान् की भक्ति करने से, अर्हद्भक्ति करने से तो शाश्वत सुख मिलता है, स्वभाविक सुख मिलता है।

तो यहाँ बताया अरिहंत देव के चरणों की भक्ति सम्पूर्ण दुःखों को नाश करने वाली है। और दुःखों का कारण सिर्फ एक था, एक है और एक ही रहेगा और वह कारण है कर्म। जब तक कर्म का उदय है तब तक जीव दुःखी है कर्म का नाश कर दिया तो सुखी। फिर भी आठ कर्मों में से कौन सा ऐसा प्रबल कर्म है? वह है मोहनीय कर्म। जो मोहनीय कर्म को नष्ट कर देते हैं उनके जीवन में फिर दुःख की कल्पना भी नहीं रहती, दुःख संभव ही नहीं। तो मोहनीय कर्म को नाश करके जो सुख प्राप्त होता है वह सुख अरिहंत भगवान् की भक्ति से प्राप्त होता है।

अर्हत् भक्ति सभी इच्छा-मनोरथों को पूर्ण करने वाली होती है। कामधेनु गाय का नाम सुना जाता है कि उससे जो याचनाएँ की जाती थीं वह सभी पूर्ण होती थीं। जैसे कल्पवृक्ष, कामघट होते हैं ऐसे ही कामधेनु आदि लोक में कुछ किंवदंती में माने जाते हैं। अरिहंत भगवान् की भक्ति करने वालों को ये कामधेनु, चिंतामणि, कल्पवृक्ष, कामघट आदि प्राप्त होते हैं और उनके सर्वमनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। 'कामदाहिनी' अर्हन्त भगवान् की भक्ति करने से कामवासना वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे अग्नि के माध्यम से सूखा ईंधन नष्ट हो जाता है या सूर्योदय के माध्यम से अंधकार नष्ट हो जाता है। तो यह अर्हंत भक्ति सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली है और सभी विषयवासनाओं को भी जलाने वाली है, आप पढ़ते भी हैं सोलहकारण भावनाओं में–

अर्हद्भक्ति सदा मन आने, सो जन विषय-कषाय न जाने।

जिसके चित्त में अर्हन्त भगवान् की भक्ति होती है उसके चित्त में कामवासना और कषाय का अधिकार टिक नहीं पाता। जैसे भूतल पर जब सूर्य की किरण उतर आती है तब वहाँ अंधकार टिक नहीं पाता और अंधकार का भय भी टिक नहीं पाता। ऐसे ही अरिहंत भगवान् की भक्ति चित्त में उतर जाएगी तो कामवासना, विषय-कषाय टिक नहीं पाएँगे। कामवासना और विषय-कषाय दोनों एक ही चीज मानों, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से ही कषाय होती है और चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से ही विषय-वासना जाग्रत होती है, अर्हदभक्ति से चारित्र मोहनीय कर्म नष्ट होने लगता है। तो यहाँ कहा–जो भव्य जीव अपने सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करना चाहता है, जो अपनी सभी काम-वासनाओं को नष्ट करना चाहता है और अपने सभी दु:खों को नष्ट करना चाहता है वह अर्हद् भगवान् की भक्ति नित्य ही आदर पूर्वक करे। ऐसा नहीं कि आज कर ली फिर छह माह बाद कर ली। नित्य ही नियमित रूप से करे तो उसके नियम से सम्पूर्ण प्रकार के दु:ख नष्ट हो जाएँगे, सम्पूर्ण कामवासना नष्ट हो जाएगी और सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाएँगे। जिनभक्ति के माध्यम से सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं।

महानुभाव! यहाँ आचार्य भगवन् समंतभद्र स्वामी जी यही कह रहे हैं कि आदर से युक्त होकर श्रावक को दान देने के बाद देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् की पूजा भी करनी चाहिए, जिससे जन्म-मरण के दु:खों से छुटकारा मिले। गृहस्थ के छह आवश्यक कार्यों में देवपूजा का प्रमुख स्थान है। पूजा करते समय पूज्य, पूजक, पूजा व पूजा के फल का विचार करना चाहिए। जिन्होंने कामादिक सभी विकारी भावों को भस्म कर दिया ऐसे वीतरागी जिनेन्द्रदेव

पूज्य हैं, उन विकारी भावों को आंशिक रूप से नष्ट करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सहायक पूज्य हैं। यद्यपि ये सब पूजा से प्रसन्न होकर किसी को कुछ देते नहीं और निन्दा से अप्रसन्न होकर किसी का कुछ नष्ट नहीं करते हैं तथापि 'कामदुह' मनोरथों को पूर्ण करने वाले कहे जाते हैं। उसका कारण यह है कि इनकी पूजा के काल में पूजा करने वाले मनुष्य के हृदय में जो शुभ राग उत्पन्न होता है उसके फलस्वरूप पुण्य कर्म का बंध होता है और पापकर्म का अनुभाग क्षीण होता है इसलिए सुख की प्राप्ति और दु:ख का नाश स्वयमेव हो जाता है। उनके गुणों में जिसे अत्यन्त आदर का भाव हो वह पूजक कहलाता है। परिचर्या, सेवा, उपासना को पूजा कहते हैं और समस्त दु:खों का दूर होना पूजा का फल है।

आप सभी जिनभक्ति में अपना मन लगाएँ और सर्वसुखों को प्राप्त करें व परम्परा से नि:श्रेयस सुख को प्राप्त करें। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

पूजा के फल का प्रसिद्ध भोक्ता

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे॥120॥

अन्वयार्थ– प्रमोदमत्तः – आनंद में विभोर होते हुए, **भेकः** – मेंढक ने, **राजगृहे** – राजगृही नगरी में, **एकेन कुसुमेन** – एक पुष्प द्वारा, **महात्मनाम्** – भव्य जीवों के आगे, **अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं** – भगवान् के चरणों की पूजा के माहात्म्य को, **अवदत्** – प्रकट किया था।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में अर्हत् भक्ति की महिमा को देख रहे हैं कि अर्हत् भगवान् की परिचर्या का फल क्या है। श्लोक नं. 120 में अर्हद् भक्ति को पुष्ट करते हुए वैय्यावृत्ति व्रत का लक्षण पूर्णता को प्राप्त कर रहे हैं। अब इसी बात को उदाहरण द्वारा पुष्ट कर रहे हैं।

यह भारतवर्ष पहले छोटे-छोटे देशों में विभक्त था। अंग, बंग, कलिंग, काशी, मालव, कच्छ, महाकच्छ, केरल, चेदि इत्यादि देश थे। वहीं एक मगध नाम का देश पूर्व में बड़ा सम्पन्न रहा। पुराकाल में मगध देश से पूरे भारत देश पर शासन किया गया। भगवान् महावीर स्वामी के समय की बात है उस समय मगधदेश की राजधानी राजगृही नगरी थी। यहाँ राजा श्रेणिक अपने राज्य का संचालन करते थे। उनके पूर्व महाराज चेटक ने अनेकों राज्यों को अपने अधीन किया। व्रात्य और व्रज्यी 14 गणराज्यों को अपने अधीन किया था और पूरे भारत वर्ष में अपना राज्य संचालित किया। उसके बाद फिर अन्य अन्य राजा हुए चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, कलिंगचक्राधिपति खारवेल आदि। बात उस समय की है जब भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में राजा श्रेणिक गए, पूर्व में वे बौद्धमतानुयायी थे, बाद में महारानी चेलना की प्रेरणा से सत्य को जाना व सत्य से साक्षात्कार कर जिनधर्म में संतुष्ट हुए व जैन धर्म को स्वीकार कर क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि बने। पुनः भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में क्षायिक सम्यग्दृष्टि बने।

राजा श्रेणिक भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में अनेक बार वंदना करने गए व अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त किया। एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में हाथीपर सवार होकर जा रहे थे, तभी उनके हाथी के पैर के नीचे एक मेंढक आ गया और मर गया। मृत्यु को प्राप्तकर वह देव पर्याय को प्राप्त हुआ। राजा श्रेणिक समवसरण

में पहुँचे तो उन्होंने वहाँ पर एक देव को देखा जिसके मुकुट पर मेंढक का चिह्न था। उस देव को देखकर उनके मन में बड़ा कौतुक हुआ। उन्होंने सविनय इन्द्रभूति गौतम गणधर से पृच्छना की–हे प्रभु! यह देव बड़ा दिव्य कान्ति वाला है, महान् ऋद्धियों का धारक है किन्तु इसके मुकुट में मेंढक का चिह्न है क्या कारण है? इन्द्रभूति गणधर ने समाधान किया–

हे नराधिप! इसी राजगृही नगरी में नागदत्त सेठ और भवदत्ता नाम की सेठानी रहती थी। नागदत्त सेठ बहुत लोभी था, उसे धन से बड़ा प्रेम था। उसे जो न्यायनीति से प्राप्त होता वह तो धन था ही किन्तु वह अपनी छल-कपट नीति से भी अपने कोष को भरना चाहता था। किन्तु वह यह नहीं जानता था कि बिना पुण्य के धन प्राप्त नहीं होता। इसने सुना था कि व्रत लेने से पुण्य ज्यादा मिलेगा, धन खूब मिलेगा तो इसने व्रत ले लिया किन्तु व्रतों का पालन नहीं करता था, लोभ-लालच करता था। एक दिन नागदत्त ने प्रतिज्ञा ले ली कि मैं सामायिक करूँगा और तब तक सामायिक करूँगा जब तक इस दीपक में तेल रहेगा। उसकी पत्नी ने देखा कि मेरे पति सामायिक कर रहे हैं किन्तु उसकी प्रतिज्ञा से अनजान वह भवदत्ता, ज्यों ही दीपक में तेल कम रह जाता उसमें तेल बढ़ा देती। पत्नी सोच रही थी न जाने आज कितने समय तक की सामायिक करेंगे, आधी से ज्यादा रात हो गई पर इनकी सामायिक पूरी होने को नहीं आ रही। इधर नागदत्त का आर्त्तध्यान बनने लगा, गर्मी का समय था, गला प्यास के कारण सूख रहा था, स्थिति इतनी बिगड़ी कि वह मृत्यु के सन्निकट ही आ गया और आर्त्तध्यान से मृत्यु को प्राप्तकर निदानपूर्वक अपने ही घर की बावड़ी में मेंढक हुआ। जब एक दिन सेठानी पानी लेने बावड़ी पर गई तो मेंढक ने अपनी पत्नी को देखा तो बार-बार उछल-उछल कर उसके ऊपर आता, वह भवदत्ता बार-बार उस मेंढक को बावड़ी में फेंक देती। पुनः पुनः वह आता तो भवदत्ता को भ्रम हुआ कि इस मेंढक को मेरा मन मारने का भी नहीं हो रहा और पास आ रहा है तो इसे पास रख भी नहीं सकती।

संयोग की बात उस समय वहाँ सुव्रत नाम के मुनिराज पधारे हुए थे। वे अवधिज्ञानी थे। भवदत्ता सेठानी ने मुनिराज से पूछा-मुनिवर! हमारे घर की बावड़ी में एक मेंढक है, यूँ तो बहुत से मेंढक हैं पर एक मेंढक न जाने क्यों मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मुनिराज ने अवधिज्ञान से बताया–वह मेंढक पूर्वभव का तेरा पति है, जो मृत्यु को प्राप्तकर मेंढक बना है, उसे तुझे देखकर जातिस्मरण हो गया है।

राजा श्रेणिक! जब भगवान् वीर प्रभु का समवसरण यहाँ आया तब तुमने पूरे नगर में ढिंढोरी पिटवा दी कि सभी भगवान् के दर्शनार्थ कल विन्ध्याचल पर्वत की ओर चलेंगे। सभी

नगरवासियों ने वह घोषणा सुनी, तभी वह घोषणा इस मेंढक ने भी सुनी और मन में वीर वर्धमान स्वामी के दर्शन को उत्सुक हुआ और वह मेंढक भी वंदना करने के लिए आ रहा था, उसे ज्ञात था कि वंदना करने के लिए कभी भी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। इसीलिए वह अपने मुख में कमल की पांखुरी दबाकर जा रहा था, मार्ग में मेंढक आपके हाथी के पाँव के नीचे आकर मर गया एवं जिनभक्ति के प्रभाव से मरकर स्वर्ग गया। आप लोग पूजन के पश्चात् पढ़ते भी हैं–

नाथ तेरी पूजा को फल पायो,
मेंढक कमल पांखुरी मुख में वीर जिनेश्वर ध्यायो॥
श्रेणिक गज के पगतल आकर तुरत सुरगपद पायो।
नाथ तेरी पूजा का फल पायो॥

अथवा भागचन्द्र भागेन्दु कृत महावीराष्टक स्तोत्र में लिखा है–

यदर्चा भावेन प्रमुदित - मनः दर्दुर इह,
क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगण-समृद्धः सुख-निधिः।
लभन्ते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमुतदा,
महावीर - स्वामी नयन - पथ - गामी भवतु मे॥

वे महावीर स्वामी नेत्रों के पथगामी बनें, कौन से महावीर स्वामी? जिनकी भक्ति-पूजा करने के प्रभाव से वह मेंढक स्वर्ग की सम्पत्ति को प्राप्त हुआ, प्रमुदित भाव को प्राप्त हुआ। वह मेंढक क्षणभर में स्वर्ग गया और गुणनिधि को प्राप्त हुआ तो फिर आपकी भक्ति करने वाले योगीजन शिवसुख को प्राप्त कर लें इसमें आश्चर्य की क्या बात है। भगवान् महावीर स्वामी की भक्ति का ही यह चमत्कार है। वे भगवान् महावीर स्वामी मेरे नयनों के पथगामी बनें।

महानुभाव! आचार्य महोदय इस मेंढक के वृतान्त के माध्यम से बता रहे हैं कि अर्हंत भगवान् की परिचर्या, पूजा, अर्चना, स्तुति करने से वह महानुभाव अवस्था को प्राप्त हुआ, महात्मपने को प्राप्त हुआ, प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। महानुभाव शब्द का अर्थ पूज्य आचार्य गुरुदेव श्री विद्यानंद जी महाराज बताते थे कि जो वैभव को प्राप्त करके मद से युक्त न हो वह महानुभाव कहलाता है। यहाँ पर मेंढक के लिए भी महानुभाव शब्द कहा, आचार्य भक्ति में भी आचार्य परमेष्ठी के लिए महानुभाव शब्द का प्रयोग किया है, आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने अर्हदभक्ति में भगवान् महावीर स्वामी के लिए महानुभाव शब्द का प्रयोग किया।

देवाधिदेव परमेश्वर वीतराग, सर्वज्ञतीर्थकर सिद्ध महानुभाव।

महानुभाव! यानि कितनी भी उपलब्धि प्राप्त होने के बाद भी जो मद को प्राप्त न हो। अन्य-अन्य ग्रंथों में आदिपुराण, जम्बूस्वामीचरित्र आदि में, प्रतिक्रमण में भी महानुभाव शब्द आया है। महानुभाव शब्द का दूसरा अर्थ है—महान है अनुभव जिसका अर्थात् जिसके अन्तरंग की भक्ति-भावना या जिसके चित्त का परिणमन महानता की ओर है वह महानुभाव कहलाता है। तो ऐसा वह मेंढक राजगृही नगरी में कुसुम की एक पांखुड़ी द्वारा, आनंद से आप्लावित होता हुआ जा रहा था, वह अर्हंत भगवान् की भक्ति के माध्यम से मरण को प्राप्तकर माहात्म्यपने को प्राप्त हुआ, महर्द्धिक देव हो गया और देव बनकर सर्वप्रथम भगवान् महावीर स्वामी के दर्शनार्थ उनके समवसरण में पहुँचा। इसलिए उस देव का मुकुट मेंढक के चिह्न से चिह्नित था।

आप सभी भी भक्तिपूर्वक भगवान् का अभिषेक-पूजन करें, जाप करें। यदि आप भी मोक्ष को प्राप्त कर लें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं अर्थात् ऐसा तो होना ही है इसमें कोई शंका नहीं। अतः आप निराकुलचित्त होकर भगवान् की भक्ति करो, यही आत्म-कल्याण का शाश्वत मार्ग है। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो, इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

वैय्यावृत्य शिक्षाव्रत के अतिचार

हरितपिधाननिधाने, ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्यस्यैते, व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते॥121॥

अन्वयार्थ–हरितपिधान – हरे सचित्त अप्रासुक पत्र-पुष्पादि से ढकना, **हरितनिधान** – हरे पत्र-पुष्पादि में रखना, **अनादर** – अनादर, **अस्मरणत्व** – दान की विधि भूल जाना और, **मत्सरत्वानि** – ईर्ष्या, **हि** – निश्चय से, **एते पञ्च** – ये पाँच, **वैयावृत्यः –** वैय्यावृत्ति शिक्षाव्रत के, **व्यतिक्रमाः** – अतिचार, **कथ्यन्ते** – कहे जाते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! ग्रंथराज रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्रावकों की आचार संहिता है, जिसमें पंचम अध्याय के उपांत श्लोक को देख रहे हैं। इसमें वैय्यावृत्य के अतिचार का कथन करेंगे। आचार्य महोदय ने अन्य व्रतों का स्वरूप अल्प श्लोकों में प्रस्तुत किया किन्तु बहुत से श्लोकों का आश्रय लेकर वैय्यावृत्ति का माहात्म्य व उसके रहस्य को उद्घाटित किया है। जिसके संबंध में अल्प-अक्षरों से काम चल जाए तो आचार्य महोदय अल्प-अक्षर कहते हैं, कहीं संदेह न रहे तो अधिक अक्षर व शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु कभी-कभी यह भी होता है कि जो चीज बहुत महत्वपूर्ण होती है उसे बहुत प्रकार से अनेक अपेक्षाओं से स्पष्ट किया जाता है। ऐसा यहाँ पर प्रतिभासित हो रहा है कि वैय्यावृत्ति व्रत भी निःसंदेह अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसलिए आचार्य महोदय ने इस वैय्यावृत्ति का स्वरूप बड़े ही विस्तार से समझाया है।

वैय्यावृत्ति का स्वरूप समझाते हुए आचार्य महाराज ने कहा कि अर्हदादि पाँच परमेष्ठी की भक्ति करना भी वैय्यावृत्ति के अंतर्गत आता है। आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीन परमेष्ठियों को आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान व अभयदान देना यह सब भी वैय्यावृत्ति में आता है। इन तीनों परमेष्ठी के पादमर्दन करना भी वैय्यावृत्ति है। इसके साथ-साथ इनके धर्ममार्ग में, इनकी साधना में कोई भी व्यवधान आ रहा है, उस व्यवधान को दूर कर देना भी वैय्यावृत्ति है। जिस किसी भी प्रकार से आचार्य, उपाध्याय, साधु की साधना वृद्धि को प्राप्त हो सके उस प्रकार से उपचार करना भी वैय्यावृत्ति में सम्मिलित होता है। यहाँ तक कि आपने सर्दी के समय मुनिमहाराज के लिए धूप में पाटा लगा दिया, उस समय वहाँ उन्होंने सामायिक, स्वाध्याय किया तो यह भी आपके द्वारा उनकी वैय्यावृत्ति हुई। वैय्यावृत्ति करने वाला व्यक्ति अवसर ढूंढता है कि मुझे कब अवसर प्राप्त हो और मैं किसी भी साधक की साधना में सहयोगी बनूँ। वैय्यावृत्ति के अनेक रूप आचार्य महोदय ने बताए। अब यहाँ आचार्य भगवन्

समंतभद्रस्वामी जी 121वें श्लोक में वैय्यावृत्ति के अतिचारों का वर्णन कर रहे हैं। आहारदान की मुख्यता लेकर यहाँ अतिचार प्रस्तुत हैं। इन अतिचारों से सुविवेकी श्रावक-श्राविका को बचना चाहिए, जिससे व्रत निर्दोष रूप से परिपालित हो सके।

यहाँ कहा **'हरितपिधान व हरित निधान'** हरे पत्ते आदि से ढकना या उसमें रखना। रसोई बनाते समय पहले हरे पत्ते प्रयोग मे लाए जाते थे। जब श्रावक को कई बार नगर में मुनिराज को आहारदान देने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता था तो कई बार जंगलों में भी जाता था, अपनी स्वयं की व्यवस्था लेकर। जहाँ जंगलों में साधु ठहरते हैं, तपस्या साधना कर रहे हैं वहाँ अपना तम्बू-डेरा लगाकर के अपने लिए शुद्ध भोजन बनाता और मुनिराज चर्या को निकलते तो पड़गाहन कर आहारदान देता। जंगलों में इतने अधिक साधन नहीं होते थे जितने उसके घर में, महल में, निवास स्थान पर हो सकते थे, तो कई बार पत्तों का प्रयोग भी करते थे। केले आदि के पत्ते बड़े-बड़े होते हैं तो कई बार त्यागीव्रती ज्यादा हैं और भोजन बनाने वाले पात्र तो पर्याप्त हैं किन्तु भोजन कराने के लिए बर्तन कम हैं तो पत्तों पर भोजन कराने की परम्परा भी पूर्व में थी। वह पत्ते स्वास्थ्य के लिए लाभदायक भी होते थे। तो यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं हरे पत्ते को ढांकना अर्थात् कोई दाल-सब्जी बनाई अथवा भात है, जल है, सुधरे हुए फल हैं उन्हें हरे पत्र से ढांक कर रखना। या कोई वस्तु परोसनी है तो पत्तों को धोकर दाल-भात आदि परोसना। यहाँ कह रहे हैं पत्ते का प्रयोग तो कर सकते हैं किन्तु अप्रासुक है तो नहीं किया जा सकता है। बर्तन भी कच्चे पानी से धो लिए तो प्रयोग में नहीं ला सकते। यह भी एक अतिचार है।

अगला अतिचार है **'अनादर'** वैय्यावृत्ति करने का जिज्ञासु महानुभाव वैय्यावृत्ति तब कर पाता है जब उसमें वात्सल्य भाव हो, करुणा भाव हो, ग्लानि को जीतने वाला हो, उपगूहन व स्थितिकरण अंग का पालन करने वाला हो, उदार चेत्ता हो, विवेकी हो इत्यादि गुणों से युक्त हो तब वह वैय्यावृत्ति कर पाता है। जब कभी भी यथायोग्य पात्रों का लाभ हो तो उनके प्रति अनादर का भाव नहीं करना। फिर भी यदि कदाचित् आहार आदि दान की विधि के प्रति अनादर का भाव आ गया तो उसके व्रत में अतिचार लग गया। आदरपूर्वक नवधाभक्ति करना, ऐसा नहीं कि एक साथ दस मुनिराज का पड़गाहन कर लिया, एक साथ परिक्रमा लगा ली, एक साथ शुद्धि बोलकर, एक साथ ही उच्चासन दे दिया, तो नहीं, सबको अलग-अलग शुद्धि बोलें व विनयपूर्वक सभी को उच्चासन ग्रहण कराओ, सभी का पाद प्रक्षालन करें। वे परमेष्ठी हैं, विनयपूर्वक उनकी पूजन करो। किसी भी क्रिया में अनादर का भाव नहीं होना। अनादर होते ही व्रत का पूर्ण फल नहीं मिलेगा, अतिचार लग गया।

अगला कहा **'अस्मरणे'** दानकी विधि भूल जाना। आहार आदि दान की विधि का स्मरण रखने से ही पुण्य फल पूरा मिलेगा। महाराज का पड़गाहन तो किया पर याद ही नहीं रहा कि मैंने पूरी शुद्धि बोली या आधी। आपने उच्चासन तो दे दिया किंतु पाद प्रक्षालन करना भूल गए, पूजन करना प्रारंभ कर दी, पूजन कर ली तो नमोस्तु करना ही भूल गए। या पाद प्रक्षालन ही दो बार कर दिया। वह व्यक्ति जब अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक नहीं है तो संभव है उससे ऐसी त्रुटि हो सकती है। और भी प्रकार की भूल हो सकती है, दूध में बूरा डाला या नहीं, सब्जी में नमक डाला या नहीं और भूलवश दूध में बूरे की जगह नमक डाल दिया, कई बार तो नमक की जगह फिटकरी ही डल जाती है तो श्रावक द्वारा अनादर व अस्मरण दोनों ही हो गया। अनादर हो गया क्योंकि आपकी उस आहारदान रूपी धर्म के प्रति पूर्ण जाग्रति नहीं रही। यदि जाग्रति होती तो ऐसी भूल नहीं होती और अस्मरण यह है कि आपको यह ही याद नहीं कि हमने क्या डाला है और क्या डाल रहे हैं, उपयोग कहीं दूसरी जगह लगा हुआ है तो यह अतिचार है। जो विवेकी श्रावक होता है वह इन अतिचारों से बचता है।

अगला अतिचार है **'मात्सर्य भाव'।** कई बार क्या होता है वह विवेकी श्रावक नवधाभक्ति भी कर रहा है, दाता के गुणों से युक्त भी है, भावना भी अच्छी है कोई दूषण भी नहीं लगा रहा, दाता के योग्य भूषण भी हैं किन्तु वह अपने मन की भावनाओं को रोक नहीं पा रहा और सोचता है मैं ज्यादा से ज्यादा आहार दूँ किन्तु वह अभी छोटा है या अल्पज्ञान वाला है। उससे जो ज्यादा Perfect वाले श्रावक-श्राविका हैं वे उसे पीछे कर देते हैं तो उसके मन में मात्सर्य भाव आ सकता है। देखो-इन्होंने तो दो-दो बार ग्रास दे दिए और मुझको पीछे कर देते हैं, बस एक ग्रास दिलवाकर पीछे कर दिया। या कई बार ऐसा भी होता है जिस श्रावक ने सुबह से मेहनत की, उसको ही कई बार पर्याप्त रूप से आहार देने का मौका नहीं मिल रहा है और जो बाद में आया वह सामने खड़ा हो गया, साइड हो ही नहीं रहा, दूसरों को आहार देने नहीं दे रहा, तो ऐसा प्रसंग भी आ जाता है। ऐसे प्रसंगों पर उसके मन में मात्सर्य का भाव जाग्रत हो सकता है। यह मात्सर्य भाव भी अतिचार है। मात्सर्य का भाव उसे अन्य प्रकार से नहीं हो रहा वरन् उसे इस अपेक्षा से हो रहा है कि ये ही पुण्य का संचय करते चले जा रहे हैं, मैं पुण्य का संचय कैसे कर पाऊँ। यद्यपि अनुमोदना करने से भी पुण्य का संचय होता है, दूसरों से दिलवाने से भी पुण्य का संचय होता है किन्तु यदि देने का सामर्थ्य है तो देना ही चाहिए, देने का सामर्थ्य नहीं है तो दूसरों से दिलवाना चाहिए और यदि दिलवा भी नहीं सकते तो अनुमोदना करनी चाहिए। जो ऐसे भाव रखता है वह नि:संदेह अतिचारों से बच सकता है।

तो आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने कहा ये वैय्यावृत्ति नामक व्रत के पाँच अतिचार हैं। जो विवेकी श्रावक निरतिचार अपने बारह व्रतों का पालन करते हैं–

यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलम् उपजावे।
तहाँ ते चय नर जन्म पाय मुनि ह्वै शिव जावे।

वैय्यावृत्ति आदि बारह व्रतों का निरतिचार पालन करने वाला श्रावक सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है पुनः मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार श्रावकों को यथा शक्ति अपने व्रतों का निर्दोष पालन करना चाहिए जिससे आप सभी का हित हो सके।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

6

सल्लेखना अधिकार

सल्लेखना कब धारण करें?

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥122॥

अन्वयार्थ–आर्याः – गणधरादि देव, **उपसर्गे** – उपसर्ग आने पर, **दुर्भिक्षे** – दुर्भिक्ष आने पर, **जरसि** – बुढ़ापा आने पर, **च** – और, **निः प्रतीकारे रुजायां** – असाध्यरोग, जिसका कोई इलाज नहीं है ऐसा रोग हो जाने पर, **धर्माय** – धर्म के लिए, **तनुविमोचनं** – शरीर का त्याग करने को, **सल्लेखनां** – सल्लेखना, **आहुः** – कहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में आज छटवें अध्याय को प्रारंभ करते हैं। इसमें आचार्य महोदय सल्लेखना के संबंध में व्याख्या करेंगे। सल्लेखना क्या है, सल्लेखना की आवश्यकता क्यों है, सल्लेखना कैसे करना चाहिए, उसकी क्या विधि है, सल्लेखना के गुण-दोष इत्यादि प्रश्न किसी भी भव्यजीव के मस्तिष्क में सहज ही उत्पन्न हो सकते हैं।

यूँ तो सल्लेखनाव्रत को अनेक आचार्यों ने सप्तशीलव्रतों में भी स्वीकार किया है और जिन्होंने सल्लेखनाव्रत को सप्तशीलव्रत में स्वीकार नहीं किया है तो अलग से सल्लेखना व्रत दिया। सल्लेखना सभी व्रतों का सार है क्योंकि सल्लेखनापूर्वक शरीर का त्याग नहीं किया यानि उत्तम समाधिमरण नहीं किया तो बारह व्रतों की पालना सार्थक नहीं होती। सल्लेखना व्रत की तो व्रती बनते ही भावना भायी जाती है। प्रतिमाओं का स्वरूप आचार्य महाराज आगे बताएँगे अभी तो बारह व्रतों का स्वरूप बताया। अब पुनः सल्लेखना व्रत महत्वपूर्ण है; व्रती से लेकर ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करने वालों तक ही नहीं सभी महाव्रतियों को भी।

सल्लेखना का सामान्य अर्थ होता है सत् + लेखना। सत् अर्थात् अपने अस्तित्व का अनुभव करना, लेखना यानि देखना। अपने स्वरूप को देखना अर्थात् अपनी आत्मा को देखना। शरीर

की परिणति क्या हो रही है, मनोनुकूल हो रही है या मन के प्रतिकूल हो रही है, शुभरूप हो रही या अशुभ रूप, जो भी हो रही है होने दो, उसके माध्यम से चित्त में संक्लेशता नहीं होना चाहिए, विशुद्धि बढ़ना चाहिए, धर्मध्यान बनना चाहिए। सल्लेखना का अर्थ है कषाय और काय दोनों को कृश करना। रत्नत्रय धर्म की आराधना के लिए शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। स्व-पर के प्राण-घात के लिए जो शरीर त्याग होता है वह सल्लेखना नहीं है।

शरीर का त्याग च्युत, च्यावित और त्यक्त के भेद से तीन प्रकार का होता है। आयु समाप्त होने पर मृत्यु द्वारा जो शरीर छूटता है उसे च्युत कहते हैं। आयु समाप्त होने का अवसर न आने पर भी विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रग्रहण, संक्लेश, आहार तथा श्वास के निरोध से असमय में जो शरीर छुड़ाया जाता है उसे च्यावित कहते हैं और जिनका प्रतिकार न किया जा सके ऐसे उपसर्गादिक के उपस्थित होने पर रत्नत्रयरूप धर्म की रक्षा के लिए जो शरीर छोड़ा जाता है उसे त्यक्त कहते हैं।

एक उदाहरण के रूप से समझ लें—एक किसान जिसने खेती की और खेती करते समय उसने अपनी पूरी शक्ति से परिश्रम किया। फसल आ गई। ग्रीष्मकाल का समय है। किसान पूर्व के कई वर्षों से देखता आ रहा था कि उस जंगल में ग्रीष्मकाल में अग्नि जरूर लगती है, आपस में बांस की रगड़ से अग्नि पैदा हो सकती है और अग्नि लग गई तो पूरी फसल स्वाहा हो जाएगी इसलिए वह किसान जंगल में आग लगने का समाचार आए उससे पूर्व ही शीघ्रता से अपनी फसल को काटकर घर ले जाता है। उसने फसल को बचा लिया अन्यथा सब स्वाहा हो जाती।

एक व्यापारी विदेश से व्यापार कर लौट रहा था, और बेशकीमती रत्न अपने साथ ला रहा था कि अचानक उस गाड़ी में आग लग गई। वह क्या करे? वह पहले तो पूरी गाड़ी की आग को बुझाने की कोशिश करता है, आग नहीं बुझ रही तो? तो जो कीमती चीज हैं, रत्न आदि हैं उन्हें निकालकर प्राण बचाकर भागने की कोशिश करता है। ऐसे ही एक साधक जब शरीर रूपी गाड़ी में आग लगती है, जब वह आग सम्पूर्ण प्रयासों से भी बुझती नहीं है, शरीर नष्ट होने की कगार पर पहुँच जाता है तब वह साधक शरीर को बचाने की कोशिश नहीं करता अपने धर्म को बचाता है। वह सोचता है इस शरीर से जो धर्म की साधना की जा रही है वह धर्म नहीं छूट जाए। मैंने बाल्यअवस्था से ही व्रतों को स्वीकार करके उत्तम समाधि की प्राप्ति के लिए व्रतों की साधना की है, अब मेरी समाधि बिगड़ न जाए, मेरा सल्लेखनाव्रत खण्डित न हो जाए इसलिए वह शरीर के प्रति आसक्त नहीं होता है और शरीर के प्रति निरीह भाव

रखता हुआ रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी जो रत्न साधक के पास हैं उन्हें लेकर शरीर रूपी गाड़ी को छोड़ देता है। इसी का नाम सल्लेखना है।

सल्लेखना के भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन के भेद से तीन भेद होते हैं। जिसमें नियम या यम रूप से आहार का त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं। समय की अवधि लेकर आहार का जो त्याग होता है उसे नियम रूप त्याग कहते हैं और जो जीवन पर्यंत के लिए आहार का त्याग किया जाता है उसे यम रूप त्याग कहते हैं। यदि अच्छे होने की संभावना दिखती है तो नियम रूप त्याग होता है और ठीक होने की संभावना नहीं दिखती तो यमरूप त्याग होता है। इस भक्तप्रत्याख्यान नामक संन्यास में क्षपक अपने शरीर की टहल (सेवा, सुश्रुषा) स्वयं कर सकता है तथा दूसरे से भी करा सकता है। आहार के त्याग के साथ जिसमें शरीर की टहल स्वयं तो की जाती है परन्तु दूसरों से नहीं कराई जाती, उसे इंगिनीमरण कहते हैं और जिसमें आहार त्याग के साथ शरीर की टहल न स्वयं की कि जाती है और न दूसरों से कराई जाती है उसे प्रायोपगमन कहते हैं। आचार्यों के द्वारा सल्लेखना का मुख्य उद्देश्य 'धर्मार्थ' बतलाया गया है अर्थात् रत्नत्रय रूप धर्म की रक्षा करना ही सल्लेखना का उद्देश्य है। अतः जहाँ कषाय के वशीभूत होकर विष, शस्त्र, जलावगाहन, श्वाँसरोध तथा अग्निदाह आदि के द्वारा शरीर घात किया जाता है वहाँ सल्लेखना नहीं होती। वह तो प्राणघात-हिंसा का ही एक रूप माना जाता है। सल्लेखना के संबंध में आचार्य महोदय ने इस 122 वें श्लोक में लिखा है–

'आहुः सल्लेखनामार्याः' यह वाक्य सम्पूर्ण वृतान्त की प्रमाणिकता सिद्ध कर रहा है। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी कह रहे हैं कि मैं नहीं कह रहा। यहाँ आर्य शब्द से उन उत्कृष्ट पुरुषों को लेना है जो संसार सागर के किनारे पर बैठे हैं, अर्हदादि परमेष्ठी या गणधर परमेष्ठी। उन्होंने सल्लेखना का स्वरूप बताया कि–

'उपसर्गे' उपसर्ग के आने पर। उपसर्ग चार प्रकार का होता है–तिर्यंचकृत, देवकृत, मनुष्यकृत, अचेतनकृत। जिस उपसर्ग से अब जीवित बचना असंभव सा लग रहा है तो फिर सल्लेखना स्वीकार कर लो। धर्म के लिए शरीर छूटता है तो छूट जाने दो, धर्म को मत छोड़ो। जंगल में साधना कर रहे थे, उपसर्ग आ गया, कोई व्याघ्री दहाड़ती हुई आ गई और उसने उस साधक को अपना शिकार बना लिया, या कोई गजराज-वनराज आ गया या अन्य कोई जंगली जानवर आ गया, ऐसा लगने लगा कि अब यह जीवित नहीं छोड़ेगा या उस तिर्यंच ने इतना शरीर भक्षण कर लिया है कि अब इस भक्षित शरीर द्वारा जीवित रहना शक्य नहीं है, ऐसे उपसर्ग आने पर सल्लेखना को स्वीकार कर लिया जाता है।

'दुर्भिक्षे' जिस क्षेत्र में साधक साधना कर रहा है वहाँ पर अकाल पड़ गया, वहाँ पर अन्न का दाना भी पैदा नहीं हुआ, जो अन्न लोगों ने इकट्ठा कर रखा था वे गोदाम के गोदाम अब खाली हो गए, कहीं अन्न का दाना नहीं मिल रहा, आहार के लिए कहीं भी जाएँ तो पानी भी नहीं मिल रहा क्योंकि अकाल पड़ा हुआ है। बारिश न होने से सूखा पड़ा हुआ है, कुएँ-झरने सूख गए, खेत में अनाज पैदा नहीं हुआ, लोग मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में साधक सल्लेखना को स्वीकार कर लेता कि बस अब मैं धर्म को तो छोड़ नहीं सकता, जब ऐसा दुर्भिक्ष आया है तो मुझे सल्लेखना को स्वीकार कर लेना चाहिए।

'जरसि' बुढ़ापा आने पर। शरीर जर्जर हो गया, अब शरीर में यह उम्मीद नहीं कि शरीर बलिष्ठ हो जाएगा, शरीर दिन प्रतिदिन क्षीण होता चला जा रहा है। सभी उपाय किए गए किन्तु किसी भी उपचार से लाभ नहीं हो रहा। अनेक वैद्य, हकीम या कुशलचिकित्सक व कुशलपरिचर्या करने वाले हैं उनके द्वारा सेवा करने के बावजूद भी शरीर की स्थिति निरंतर क्षीण होती चली जा रही है। वे सभी उपचार कर्ता कह रहे हैं कि इनका बचना संभव नहीं है, कोई औषधि काम नहीं कर रही, अब तो अंतिम समय ही निकट दिखाई दे रहा है, तब सल्लेखना को स्वीकार करना चाहिए।

'रुजायां च निःप्रतीकारे' रोग आने पर। ऐसा रोग जिसका प्रतिकार करना शक्य न हो। प्रतिकार सबका किया जा सकता है किन्तु यहाँ रोग का विशेष कहा। वैसे तो उपसर्ग का प्रतिकार हो जाए, यदि उपसर्ग दूर होने पर प्राण सुदीर्घकाल तक शरीर में ठहर सकें तो उस समय यम सल्लेखना नहीं ली जाती, नियम सल्लेखना ली जाती है। दुर्भिक्ष आने पर भी नियम सल्लेखना ली जा सकती है। कोई अन्य देश का राजा अनाज भिजवा दे पुनः सभी के लिए पर्याप्त अनाज मिल जाए या अचानक बारिश हो जाए, वसुधा फिर से हरी-भरी हो जाए, कृषक के पास पर्याप्त अनाज आ जाए तो ऐसी स्थिति में नियम सल्लेखना ली जा सकती है, बुढ़ापा आ गया, शरीर जर्जर हो गया कोई वैद्य आकर के कहता है कि आप चिन्ता न करो, अभी आपकी उम्र पूरी होने की नहीं है, शरीर में कमजोरी नहीं है, अमुक औषधि लोगे तो कई वर्षों तक जी सकते हो, तो उस समय भी यम सल्लेखना नहीं लेनी चाहिए। शरीर में कोई रोग लग गया, तो प्रथमतः उपचार करना चाहिए, उपचार के माध्यम से रोग को दूर करना चाहिए। वह उपचार भी कैसा? सावद्य रहित। व्रतों को खण्डित करके नहीं। शुद्ध-प्रासुक-मर्यादित औषधि के माध्यम से रोग को दूर करने की चेष्टा करना चाहिए।

श्रावक-श्राविकाओं को प्रथमतः साधक का रोग ठीक करना चाहिए। यदि साधक की आयु शेष है और रोग ठीक हो सकता है तो ठीक होने का ही प्रथम उपाय करना चाहिए क्योंकि वह साधक यदि साधक अवस्था में अधिक समय तक रहता है तो वह कितने कर्मों की निर्जरा कर सकेगा, कितना अशुभ का संवर कर सकेगा, कितना सातिशय पुण्य का बंध कर सकेगा और वह जितना यहाँ कर पाएगा उतना अव्रती अवस्था में देवगति में नहीं कर पाएगा इसलिए साधक यह न सोचे कि मैं जल्दी मर जाऊँ।

कई लोगों को तो बुढ़ापा जवानी के पहले ही आ जाता है, वे थोड़े में ही चक्कर खाकर गिर पड़ते हैं, अंतराय आ जाए या उपवास हो गया तो उठ ही नहीं पाते या फिर प्रौढ़ अवस्था में ही बुढ़ापा झलकने लगता है, उन्हें लगता है अब हम जी नहीं पाएँगे। तो ऐसा नहीं है। बुढ़ापा तो अंतिम है और फिर कहा जाता है साधु को बुढ़ापा नहीं आता। व्यक्ति अंतरंग से बूढ़ा हो जाए, उसका धैर्य-साहस-सत्त्व-वीर्य कमजोर पड़ जाए तो समझो फिर बुढ़ापा झलकने लगता है। अंदर से यदि उत्साह-बल-वीर्य-साहस से युक्त है तो फिर वह 100 या 100 से अधिक वर्ष भी जी सकता है। अन्यथा 60-65 में भी जा सकता है तो यहाँ कहा यदि रोग दूर हो सकता है तो उसका भी प्रतिकार करने की कोशिश करें।

अब आप कहेंगे कि रोग असाध्य है, धर्म त्यागने पर रोग ठीक होता है तो? उसमें यदि आयु कर्म शेष है, बाल्य या युवावस्था है, उनके गुरुमहाराज ने देखा कि इनका आयुकर्म अभी बहुत शेष है और इनके इस रोग का उपचार संभव है, इस पथ से यदि नीचे आ जाएँ पुनः उपचार कराकर अपना कल्याण कर सकते हैं। तो वह साधक तो नहीं कहेगा कि मैं अपना व्रत छोड़कर उपचार कराऊँ किन्तु वह साधक अपने गुरुमहाराज की आज्ञा को टालेगा भी नहीं। जैसे आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी के शरीर में भस्मकव्याधि रोग हो गया, उन्होंने अपने गुरु महाराज से निवेदन किया कि मुझे सल्लेखना व्रत दे दो, मैं समाधिमरण को स्वीकार करूँगा किन्तु गुरु महाराज ने अपने निमित्तज्ञान से जानकर कि ये अभी युवा हैं और इस अवस्था में यदि समाधि सल्लेखना लेते हैं तो उचित नहीं है इसीलिए उन्होंने कहा तुम्हें अभी यह पद छोड़ देना चाहिए और अपने रोग का उपचार करना चाहिए। उन्होंने अपने पद को छोड़ा, रोग का निराकरण किया पुनः दीक्षा लेकर के साधना की तथा जिनशासन की महती प्रभावना की। ऐसी प्रभावना की कि जिनशासन की प्रभावना के बल से उन्होंने ऐसा पुण्य का अर्जन किया कि उनके बारे में कहा जाता है वे भविष्य में तीर्थंकर होंगे।

महानुभाव! तो ऐसे ही यहाँ कहा कि जिसका प्रतिकार न किया जा सके तभी यम सल्लेखना धारण करना चाहिए। गुरुमहाराज जानते हैं, वे कुशल होते हैं उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा, रोग आदि कुछ भी आए, साधक तो कहता है मैं सल्लेखना लेना चाहता हूँ। वह अपनी भावना गुरु के समक्ष प्रस्तुत करता है। क्योंकि सल्लेखना गुरु के सान्निध्य में ली जाती है और गुरु विधिपूर्वक चतुर्विध संघ के समक्ष, वैद्य-ज्योतिष आदि को बुलाकर सब दिखवाते हैं, उसके बाद जब वे संतुष्ट होते हैं तब वे नियम सल्लेखना या यम सल्लेखना का व्रत देते हैं। ऐसे ही सल्लेखना नहीं दी जाती।

तो यहाँ कहा जिसका प्रतिकार न हो सके तब धर्म की रक्षा के लिए शरीर का परित्याग करना चाहिए, आर्य पुरुष उसे सललेखना व्रत कहते हैं। संक्षेप में यही समझें कि व्यक्ति धर्म को न छोड़े, धर्म की रक्षा करते हुए यदि शरीर छूटता है तो छूट जाए। इसी का नाम सल्लेखना व्रत है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सल्लेखना की आवश्यकता

अन्तः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यं॥123॥

अन्वयार्थ–अन्तः क्रियाधिकरणं – मरण समय संन्यास या सल्लेखना व्रत धारण करना ही, **तपः फलं** – तपस्या का फल है, **इति** – इस प्रकार, **सकलदर्शिनः** – केवलज्ञानी अरिहन्त देव, **स्तुवते** – कहते हैं **तस्मात् –** इसलिए, **यावद्विभवं** – अपनी शक्ति के अनुसार वैभव के साथ, **समाधिमरणे** – सल्लेखना व्रत धारण करने में, **प्रयतितव्यम्** – प्रयत्न करना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के षष्टम अध्याय में सल्लेखना और समाधि का स्वरूप देख रहे हैं। पूर्वकारिका में सल्लेखना की परिभाषा को बताया कि सल्लेखना कब धारण करें। अब 123 वीं कारिका में बता रहे हैं कि सल्लेखनाव्रत पूर्वक शरीर का त्याग करना समाधिमरण कहलाता है इसलिए पूज्य आचार्य भगवन् 'समाधि' शब्द का भी प्रयोग करते है और 'सल्लेखना' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। कई लोग कहते हैं कि समाधि शब्द का अर्थ तो ध्यान होता है, योग साधना होता है, समाधिमरण शब्द तो आगम में आया ही नहीं। ऐसा कहना उचित नहीं है, शायद उन लोगों ने अभी शास्त्रों को पूरी तरह सुना नहीं, समझा नहीं। समाधिमरण शब्द भी जिनआगम का शब्द है। समाधिमरण शब्द का प्रयोग कई जगह किया गया है और मैं समझता हूँ सैकड़ों आचार्यों ने 'समाधिमरण' शब्द का प्रयोग किया। सल्लेखना शब्द का प्रयोग भी सैकड़ों पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया। शास्त्रों में दोनों शब्द मिलते हैं।

आचार्य महोदय इस कारिका में बता रहे हैं कि समाधिमरण धारण क्यों करना चाहिए? समाधिमरण क्या है? समाधिमरण का आशय हम समझें कि शान्त परिणामों के साथ शरीर का परित्याग। समाधि शब्द का अर्थ है जहाँ आधि-व्याधि और उपाधि तीनों के प्रति समत्व भाव हो जाए। मानसिक विचार और विकल्पों का नाम आधि है। शरीरगत पीड़ा-रोग का नाम व्याधि है। और जिन शब्दों के सुनने से मन में एक आनंद की अनुभूति होती है ऐसे पद उपाधि कहलाते हैं। यदि शरीर में व्याधि है तो उसके प्रति भी समत्वभाव रखना, यह मानकर के कि शरीर मेरा नहीं है, पड़ोसी है, यह तो कुटीर है इसमें रहने वाली आत्मा ही मैं हूँ। वचनगत पदवी आदि के प्रति यह भाव रखना कि यह पदवी 'उपाधि' तो सिर्फ शरीर की

दशा को देखकर दी जाती हैं, इससे आत्मा का कोई संबंध नहीं है तो उनमें भी समत्व भाव रखना। और 'आधि' अर्थात् मानसिक विकल्प है, आपके पास इस भव में कोई उपलब्धि है तो उस लब्ध वस्तु को देखकर के कभी राग होता है और जिसका अभाव है उसे प्राप्त करने का प्रयास किया किन्तु उसे प्राप्त न कर सके तो उसके प्रति कभी द्वेष का भाव होता है या तीव्र लालसा पुनः-पुनः होती है तो वह 'आधि' कहलाता है, उसमें भी समत्व परिणाम रखना चाहिए। मानसिक विकल्प आधि, शरीरगत व्याधि व वचनगत उपाधि जब इन तीनों का परित्याग किया जाता है, जब इनके प्रति समत्व भाव होता है तभी निष्पन्न होती है चेतना के प्रदेशों में 'समाधि'। उस समाधि के परिणामों के साथ शरीर का त्याग करना कहलाता है 'समाधिमरण'।

जैसा कि पूर्व कारिका में देखा कि पहले यदि संभव हो तो शरीर रूपी गाड़ी को बचाने का प्रयास करना और यदि आग नहीं बुझती तो महत्वपूर्ण वस्तुओं को निकालकर सुरक्षित कर लेना। एक सेठ की हवेली में आग लग गई, सेठ निश्चिन्त निराकुल सो रहा था। आग लगने पर जब हाहाकार मचा, नीचे से नौकर-चाकर चिल्लाए तब सेठ की नींद खुली वह तुरंत अपने विश्राम कक्ष से निकला व चिल्लाया जैसे भी हो वैसे आग बुझाओ। सभी सेवक-नौकर-चौकीदार आदि आग बुझाने में लग गए किन्तु आग की लपटें आकाश को छू रहीं थी। सबने कहा-सेठ जी! क्षमा करें आग को बुझाना असंभव है, आप शीघ्रता से महल के बाहर आ जाएँ। आप आदेश करें कि क्या-क्या सामान बचाना है, हम वही सामान यहाँ से निकाल लेंगे।

सेठ महल के बाहर निकलकर आया, नौकरों को वहाँ-वहाँ भेजा जहाँ-जहाँ धन रखा था, और सेठ ने सारा धन निकलवा लिया, बड़ा खुश हो रहा है। तभी अचानक सेठानी के रोने की आवाज आई, सेठ जी घबराए, सेठानी कही जल नहीं जाए पर सेठानी तो पीछे खड़ी थी, वह बोली-सेठ जी! आप यहाँ खड़े हो तो हमारा बेटा कहाँ है? सेठ जी बोले बेटा तो आपके पास ही सो रहा था, नहीं सेठ जी, बेटा तो मेरे पास नहीं पालने में झूल रहा था। आप धन-वैभव को बचा रहे हो। अरे! जिसके लिए इसको बचा रहे हो पहले उसे तो बचाओ। अब उस धन वैभव को देखकर सेठ खुश नहीं हो रहा, वह कह रहा है कैसे भी करके मेरे इकलौते बेटे को बचा लो। कोई व्यक्ति दो-तीन कम्बलों को गीला करता है, शरीर से लपेटता है और अपनी जान हथेली पर रखकर के उस बालक को बचाता है। सेठ ने कहा-तुम मेरे बेटे को बचाकर लाए हो, जितना चाहे उतना धन ले लो क्योंकि बेटे से अनमोल-अमूल्य यह धन नहीं हो सकता।

महानुभाव! उस सेठ को अन्त में ही सही यह बुद्धि आ गई कि जिसके लिए मैं यह धन इकट्ठा कर रहा हूँ पहले उसे ही बचाना जरूरी है। ऐसे ही मुनिमहाराज उत्तम समाधिमरण को प्राप्त करने के लिए जीवन भर संयम-साधना करते हैं। यदि वह प्राप्त हो जाए तो शरीर की परवाह नहीं करते। शरीर की परवाह तो वही करता है जिसे समाधि नहीं करनी हो। समाधिमरण करना तो निःसंदेह सर्वोत्कृष्ट साधना का फल है।

आचार्य महोदय यहाँ बता रहे हैं–

'अंतःक्रियाधिकरणं' अंतरंग की क्रिया का अधिकरण अर्थात् जो भी आत्मा से अनुस्यूत क्रिया होती है, आत्मसाक्षी में कोई क्रिया होती है, जो कर्मक्षय कराने वाली क्रिया होती है, पुण्य का संवर्धन कराने वाली क्रिया होती है उन सबका धारण करना। **'तपः फलं'**-इच्छा का निरोध करना तप है और वह तप दो प्रकार का होता है बहिरंग और अंतरंग। बहिरंग तप छह प्रकार का है जिसे मिथ्यादृष्टि भी तप सकता है, जो बाहर से देखने में आता है। अंतरंग तप भी छह प्रकार का होता है जिसे सम्यग्दृष्टि करते हैं, जो बाहर से देखने में नहीं आता। चाहे अंतरंग तप हो या बहिरंग दोनों ही प्रकार के तपों का फल समाधिमरण है। तीसरा पद दिया **'सकलदर्शिनः स्तुवते'** सकलदर्शी अर्थात् जो सम्पूर्ण लोक-अलोक को देखने वाले हैं, जिनके ज्ञान में सब कुछ झलक रहा है ऐसे अरहंतदेव कहते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि यह बात मैं नहीं कह रहा हूँ वे प्रायःकर के कई जगह संकेत दे रहे हैं कि मैंने नहीं यह सब पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा है या जिनदेव ने कहा है, उन्होंने जैसा कहा है वैसा ही मैं बता रहा हूँ। भागचन्द्र कवि ने महावीराष्टक में लिखा–

यदीये चैतन्ये मुकुरइव भावाश्चिदचितः।
समं भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिताः॥
जगत् साक्षीमार्गप्रकटनपरो भानुरिवयो।
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥

जिनकी चेतना में दर्पण की तरह से सम्पूर्ण चेतन-अचेतन पदार्थ झलक रहे हैं और संसार के प्राणियों को जो साक्षात् मोक्षमार्ग को दिखा रहे हैं वे महावीर स्वामी मेरे नयनों के पथगामी बनें।

यहाँ कह रहे हैं जिसकी आत्मा में समस्त पदार्थ झलकते हैं, जो जानते भी हैं और देखते भी हैं। छद्मस्थ के ज्ञान व दर्शन क्रमशः होता है, पहले दर्शन होता है, बाद में ज्ञान। 'दंसण पुव्वं णाणं' किन्तु केवली के युगपत् प्रवृत्ति होती है। पूज्य आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने भी मंगलाचरण में कहा कि जिनके ज्ञान में सब झलकता है उन वर्धमान स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

महानुभाव! ऐसे सर्वज्ञ प्रभु जो सर्वगुण-द्रव्य-पर्याय ं को देख व जान रहे हैं, ऐसे सकलदर्शी भगवान् ने कहा कि जो अंतरंग की क्रिया का आधार है, कारण है, जो सम्पूर्ण प्रकार की तपस्या का फल है उस समाधिमरण में प्रयत्न करना चाहिए। समाधिमरण में प्रयत्न करने का आशय है किसी विद्यार्थी के द्वारा परीक्षा के लिए प्रयत्न करना। यदि स्कूल में वर्ष भर पढ़ाई की और अंत में प्रमादी हो गया, परीक्षा देने नहीं गया तो वर्ष भर की पढ़ाई व्यर्थ चली गई। ऐसे ही जो साधक साधना करते हैं तो भावना भाते हैं–

आबाल्याज्जिनदेवदेव! भवतः श्री पादयोः सेवया,
सेवासक्तविनेयकल्पलतया कालोऽद्ययावद्गतः।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नामप्रतिबद्धवर्णपठने, कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम॥6॥ (समाधि भक्ति)

आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी कह रहे हैं–हे जिनेन्द्र प्रभु! मैंने बाल्यअवस्था से आपके चरणों की सेवा की है, मैंने संयम की साधना की है, स्वाध्याय जप-तप जो कुछ भी किया उसकी एक ही भावना है कि अंत समय में जब यह आत्मा शरीर को छोड़े तो मेरे कंठ में आपका ही नाम रहे। आपके नाम के साथ मेरा कंठ अवरुद्ध हो जाए। मेरे मन में आपकी ही छवि रहे, मेरे शरीर के द्वारा वंदना मुद्रा रहे, जब प्राण तन से निकलें तो दोनों हाथ जुड़े हों, मेरा मस्तक झुका हुआ हो, मेरे हृदय में आपकी छवि विराजमान हो, इस प्रकार की दशा विद्यमान होना चाहिए।

महानुभाव! इस प्रकार की भावना आचार्यों ने भायी। समाधिमरण के संबंध से कहा जितनी शक्ति है उस शक्ति को न छिपाते हुए सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग करते हुए आप समाधिमरण के लिए साधना करो। आपकी साधना सफल हो जाएगी। जैसे कोई व्यक्ति किसी कुएँ में गिर जाए तो अपने प्राणों को बचाने के लिए पूरी शक्ति लगा देता है या किसी व्यक्ति के पीछे शेर भाग रहा हो वह अपने प्राण बचाने के लिए पूरी शक्ति लगाकर दौड़ता है या कहीं जंगल में आग लगी हो, तेजी से लपटें आ रही हों तो प्राण बचाने के लिए पूरी शक्ति लगा देता है ऐसे ही पूरी शक्ति लगाकर आचार्य अमृतचंद स्वामी जी ने लिखा है कि मरकर-पचकर जैसे भी हो तुम समाधि की साधना करो। समाधि की साधना के लिए सब कुछ दाव पर लगा दो। क्योंकि अभ्यास करने वाले को मरण के समय में सुखपूर्वक अर्थात् बिना संक्लेश की सिद्धि होती है। यह साधना ही आपके जीवन को सफल सार्थक बनाने वाली है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सल्लेखनाव्रत धारण विधि

स्नेहं वैरं संगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥124॥

अन्वयार्थ–शुद्धमनाः सन् – निर्मलचित्त वाला होता हुआ सल्लेखनाधारी श्रावक, **स्नेहं** – राग, **वैरं** – द्वेष, **संगं** – मोह **च परिग्रहं** – और परिग्रह को **अपहाय** – छोड़कर, **प्रियवचनैः** – प्रियवचनों से, **स्वजनं** – अपने परिवार को, **च परिजनम् अपि** – अन्य जन नौकर-चाकरों को भी स्वयं, **क्षान्त्वा** – क्षमा करके, **क्षमयेत्** – उनसे भी क्षमा करावें।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सल्लेखना अधिकार देख रहे हैं। अंतरंग की क्रिया का आधार सल्लेखना है जो सम्पूर्ण तपों का फल है। ऐसा सर्वदर्शी प्रभु ने कहा है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अंतरंग की क्रिया का आधार बनाने के लिए समाधिमरण में प्रयत्न करना चाहिए। 2019 दिल्ली ग्रीन पार्क में हम विराजमान थे, फ्रांस से कुछ विदेशी पधारे। वे जैन दर्शन में रुचि रखते थे। उन्होंने कहा- "I want peaceful Death" मैं शांतिपूर्वक मृत्यु चाहता हूँ। So what, every Person wants peaceful death. केवल आप ही शांतिपूर्वक मृत्यु चाहते हैं, ऐसा नहीं, संसार का प्रत्येक प्राणी ही शांतिपूर्वक मृत्यु चाहता है। किन्तु बात यह है कि केवल चाहने मात्र से उस फल की प्राप्ति नहीं होती है। यदि कृषक अपने खेत में बीज न बोये और खेत के सामने हाथ जोड़कर बैठ जाए कि मेरे खेत में अच्छी फसल आ जाए, आम का बगीचा लग जाए, उस पर मीठे आम के फल लगें या अन्य फलों के बगीचे लग जाएँ, तो बिना कुछ किए बगीचा नहीं लगता। पहले पुरुषार्थ करना होता है बाद में भाग्य की परीक्षा करनी होती है। आचार्य समंतभद्रस्वामी जी ने केवल यह नहीं कहा कि उत्तम समाधि प्राप्त करने के लिए आप मात्र भावना भाओ, उन्होंने कहा **'प्रयतितव्यं'** अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए।

आप संसार के सभी कार्य सम्पन्न करते हैं, व्यापार भी करते हैं, केवल भावना तो नहीं भाते। विद्यार्थी सफल होने के लिए अध्ययन करते हैं, मजदूर भी मजदूरी करता है तो श्रम करता है। श्रम करने पर ही फल की सम्प्राप्ति संभव है। परिश्रम निष्फल नहीं होता। जब भी आप किसी भी क्षेत्र में सफल होना चाहते हैं, उस क्षेत्र में समुत्पन्न वृक्ष के फल को प्राप्त करना चाहते हैं तो उस क्षेत्र में आवश्यक कार्य रूपी वृक्ष को अपने शुद्ध पसीने रूपी जल से

सिंचन करो, तब संभव है आपको सुफल की प्राप्ति होगी। समाधिमरण के लिए क्या करना होगा? हमने तो सुना था कि कुछ भी नहीं करना पड़ता? ठीक सुना, किंतु जहाँ कुछ नहीं करना पड़ता वह और ज्यादा बड़ा परिश्रम होता है। क्योंकि जो कुछ आप कर रहे हैं उसे छोड़ना पड़ता है, वह छोड़ना और कठिन होता है। कोई व्यक्ति कहे कि सरल बनने के लिए क्या करना पड़ता है? तो कुछ नहीं, बस शांति से बैठ जाओ। किन्तु बैठा तो नहीं जाता। बोले ध्यान लगाने के लिए क्या करना पड़ता है? कुछ नहीं, कुछ मत सोचो, कुछ मत बोलो, कुछ मत करो तो परमध्यान की प्राप्ति होती है। अरे! यही तो कठिन है कि कुछ नहीं सोचना, कुछ नहीं बोलना, कुछ नहीं करना, यह तो महा कठिन है। बोलना तो बहुत आसान है किन्तु मौन रहना बड़ा कठिन है। कोई कार्य करना तो आसान है पर कोई कार्य नहीं करना ये बड़ा कठिन है। चिंतन करना आसान है चिंतन नहीं करना बहुत कठिन है।

किसी निमित्त को पाकर आपको या सौ ऐसे लोगों को क्रोध आ सकता है जो पहले शांत- परिणामी थे, पहले एक को आया, फिर दो लोगों को आया, फिर 4, 40, 60, 90 लोगों तक पहुँच गया और पहुँचते-पहुँचते संख्या 99 हो गई, तो जिनकी जितनी क्षमता थी तब तक उन्हें क्रोध नहीं आया, क्षमता से पार होते गए तो क्रोध आता गया। एक व्यक्ति अभी भी टिका हुआ है, उसके समक्ष क्रोध के निमित्त उपस्थित किए गए उसके बावजूद भी उसे क्रोध आया ही नहीं। पूछा क्यों? वह बोला मैंने अपने क्रोध का कुआँ ही खाली कर दिया। कुएँ में पानी हो तो बाल्टी डालकर निकाला जा सकता है। कुएँ में 2 हाथ की, 4 हाथ की या 8, 10, 50, 150, 300, 500 हाथ की रस्सी डल जाएगी। यदि कुएँ में पानी हो तो निकलकर आएगा और जिस कुएँ में पानी ही नहीं है तो चाहे 1000 हाथ की रस्सी भी डाल दो तब भी पानी नहीं निकलेगा। ऐसे ही समत्व भाव जाग्रत करने के लिए, समाधिमरण को प्राप्त करने के लिए पहले कुछ प्रयत्न करना है।

महानुभाव! कैसा प्रयत्न करना है? संयमी समाधि को प्राप्त करता है, असंयमी नहीं करता इसलिए पहले तो संयमी बनना पड़ेगा। संयमी यकायक बनने का साहस नहीं है तो देश संयमी बनना पड़ेगा, व्रती आदि बनना पड़ेगा। उसके लिए हिंसादि पाँच पापों को छोड़ना पड़ेगा, क्रोधादि कषायों का शमन करना पड़ेगा, जीते जी मृत सम होना पड़ेगा। कोई कुछ भी कहे उनके वे शब्द हमारे एक कान से आ रहे हैं दूसरे से निकल रहे हैं, उन शब्दों को हम अंदर लेकर ही नहीं जा रहे। प्रयास तो ये कर रहे हैं कि वे शब्द कान के अंदर प्रवेश ही नहीं करें और प्रवेश कर भी जाएँगे तो मध्य में ही हमने ऐसा पार्टिशन लगा दिया है जिससे वे ऊपर ही ऊपर

बाईपास होकर निकल जाएँगे, हमारे शहर में प्रवेश ही न करें। कोई शब्द अच्छा हो जो हमारी विशुद्धि बढ़ाने वाला है तो थोड़ी सी जाली छोड़ दी है, जिससे हम अंदर ग्रहण कर लेते हैं।

तो आचार्य महोदय कह रहे हैं–संयमी बने बिना समाधि नहीं होती। जैसे मूँगफली के बाहर के छिलके को तोड़े बिना अंदर का छिलका नहीं तोड़ा जा सकता और अंतरंग के छिलके को निकाले बिना दो पीस करके वह दाना खाया नहीं जा सकता, तो क्रम चलेगा। पहले बीज, फिर पौधा होगा, फिर वृक्ष बनेगा। आप सोचो बीज बोते ही वृक्ष बन जाए, हमारे पास पौधा बनने तक कि इंतजारी करने का समय नहीं है, तो ऐसा तो नहीं हो सकता। जो क्रम है वही क्रम चलाना पड़ेगा।

आचार्य समंतभद्रस्वामी जी कह रहे हैं कि दीक्षा लेने के पूर्व क्या-क्या त्याग करना जरुरी होता है तो संक्षेप में तो बता दिया कि हिंसादि पाँच पापों का त्याग करना जरूरी होता है, क्रोधादि कषायों का त्याग करना जरूरी होता है और रागद्वेष की तीव्रता को भी मंद करना होता है, धर्म के प्रति अनुराग जाग्रत करना भी आवश्यक होता है, ये सब आवश्यक हैं, इनकी पूर्ति हुए बिना आगे का काम प्रारंभ नहीं हो सकता। क्रम-क्रम से करते जाओ अक्रम से नहीं। महल बनाना है तो पहले नींव खोदो, उससे भी पहले उस क्षेत्र की सफाई करो, वहाँ का मलवा हटाओ और फिर नींव खोदो, उसमें सुंदर-मजबूत पत्थर लगाओ, पुनः नीचे से मोटे सरिया वाले जाल डालकर के पिलर खड़े करो, उसके बाद दीवारें बनाओ, उसके बाद छत डालो, उसके बाद मुंडेर बनाओ, फिर कंगूरे बनाओ पुनः बीच में शिखर निकालो, पुनः शिखर पर कलश लगाओ, ध्वजा लगाओ। उत्तमसमाधि करना कलश और ध्वजा लगाने के समान है।

महानुभाव! उत्तम समाधि प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम अपने चित्त की भूमि पर अनादिकाल से पड़े मलवे को हटाना पड़ेगा, पुनः नींव खोदनी पड़ेगी, पुनः दीवार खड़ी करें और क्रम-क्रम से बढ़ते जाने पर ही कलशारोहण हो पाता है। कलशारोहण जमीन में नहीं होता, ऊपर होता है। ऐसे ही उत्तम समाधिमरण का कलशारोहण करना चाहते हो तो क्रमशः साधना की वृद्धि करते जाओ। यदि अपने चित्त की भूमि पर पड़ी गंदगी को नहीं हटाओगे और महल बनाओगे तो उसमें रह न पाओगे, कचरा निकालना ही पड़ेगा। कोई कहे कि मैं पापों का, कषायों का त्याग न करूँ और दीक्षा ले लूँ तो उसी मकान के जैसे होगा जो मलवा हटाए बिना बना लिया हो, उसमें बदबू आती रहेगी। और ऐसे तो मकान बन ही नहीं पाएगा ध्वस्त ही हो जाएगा।

इस श्लोक नंबर 124 में आचार्य महोदय कह रहे हैं-सबसे पहले स्नेह, वैर, मोह, परिग्रह इन चार को छोड़ोगे तब चित्त में सरलता आएगी। **'स्नेह'** अर्थात् राग। जिस परिवार से राग है, पत्नी, बच्चों से राग है यदि वे चित्त में आ जाएँ तो खलबली मचा दें या जिस किसी के प्रति भी राग है उसके प्रति कल्पना में लग जाए और कल्पना में आ जाए कि उसका वियोग हो गया है तो बस चित्त व्याकुल हो जाता है, रात को नींद नहीं आती और दिन में भूख नहीं लगती, किसी काम में मन नहीं लगता। स्नेह बड़ा खतरनाक है। जब तक स्नेह की तीव्रता है तब तक संयम की बात न तो सुनने में अच्छी लगती है, न कहने में अच्छी लगती है और न ही संयम ग्रहण करने की भावना हो सकती है।

महानुभाव! राग की तीव्रता में तो संयमी का दर्शन भी अच्छा नहीं लगता, धर्म नहीं सुहाता। कोई व्यक्ति अपने जीवन साथी में अति आसक्त हो, उनसे कहो, चलो तुम्हें महाराज के पास ले चलें, वे तुम्हें कुछ त्याग आदि नियम दे देंगे। वह हाथ जोड़ता है, कहता है मैं नहीं कर सकता, मुझे अभी कोई त्याग नहीं करना, मुझे तो अभी अपने जीवन का आनंद लेना है। (अभी तो शादी की है, अभी तो बर्बादी प्रारंभ करनी है कैसे जा सकता हूँ) जिनका धर्म के प्रति लगाव नहीं है वे साधुओं के पास या तीर्थस्थानों पर नहीं जाते, वे तो पिकनिक स्पॉट पर मौज-मस्ती के लिए जाते हैं तो ऐसे व्यक्ति से सामान्य चीज का भी त्याग कराओ तो सहमत नहीं होता। यदि दीक्षा की भावना है तो स्नेह का त्याग करना ही होगा।

'वैर'-बैर। द्वेष की तीव्रतावश किसी के प्रति बैर बाँध लिया कि मैं बदला लेकर ही रहूँगा तो जब तक बैर की गांठ चित्त में पड़ी है तब दीक्षा नहीं ले सकते। संयम को स्वीकार करने से पूर्व राग-द्वेष को छोड़ना ही होगा।

'संगं चापहाय' मोह को छोड़ना। जिनके प्रति मोह की संतति चली आ रही है उनके प्रति मोह को छोड़ना। इसको छोड़े बिना दीक्षा की क्रिया तो पूरी हो जाएगी किन्तु वास्तव में दीक्षा नहीं हो पाएगी, वह अपना फल नहीं दे पाएगी। इसलिए कहा उस मोह का त्याग करो। अगली बात कही **'परिग्रह'**-जो कुछ भी आपके नाम से है चाहे खेत है, मकान है, बैंक-बैलेंस है या अन्य जो भी परिग्रह है वह सब भी छोड़ना पड़ेगा। दीक्षा में आप अपने साथ कुछ भी लेकर नहीं चल सकते। यथाजात दिगम्बर होना पड़ता है, उसे ही दीक्षा कहते हैं। सिर्फ और सिर्फ जीवरक्षा के लिए पिच्छिका ले सकते हो, शौच के लिए उपकरण कमण्डलु ले सकते हो और अध्ययन के लिए शास्त्र आदि ले सकते हो। शरीर की सामर्थ्य नहीं है तो अपवाद में चटाई-पाटा आदि ले सकते हो, बाकी सबको छोड़कर के दीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है।

संसार में जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। जिसका जन्म हुआ है वह मृत्यु को प्राप्त तो करेगा किन्तु ये नहीं कहा जा सकता कब करेगा। मृत्यु तो होगी पर यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु कैसे होगी। अच्छी होगी या बुरी। जिसका जन्म हुआ है वह इस शरीर में अनंतकाल तक नहीं रह सकता, उसे इस शरीर का परित्याग करना पड़ेगा। शरीर का परित्याग करते समय आगे शरीर को प्राप्त करेगा या नहीं करेगा, प्राप्त करेगा तो संसार संवर्धन चलेगा, नहीं करेगा तो सिद्धरूप माना जाएगा अर्थात् कर्मों को नष्ट करके उत्तम अवस्था को प्राप्त किया यानि पंडित-पंडितमरण को प्राप्त करेगा।

महानुभाव! उत्तम समाधि को प्राप्त करने के लिए एक प्रक्रिया है और वह प्रक्रिया है कि समत्व भाव प्राप्त करने के लिए संयम की साधना जरूरी है। और संयम की साधना तब होती है जब संयम का संकल्प ले लिया जाए, दीक्षा/तप या संयम स्वीकार किया जाए। वह भी तब होता है जब उससे पहले असंयम का परित्याग कर दिया जाए। उसके भी पहले स्थूल पापों का त्याग करो, कषाय के उद्रेक को शान्त करो। बाहर के निमित्त कैसे भी मिलें किंतु उन निमित्तों से प्रभावित नहीं होना चाहिए। यदि प्रभावित हो रहे हो तो दीक्षा के लिए आगे बढ़ना शक्य नहीं है। यदि घर के संस्कारों को नहीं छोड़ा, केवल घर को छोड़ दिया तो वे व्यक्ति पुनः लौट करके घर में आ जाते हैं। यदि अन्तरंग का संबंध घर से व घरवालों से छूट गया तो घर लौटने का कारण नहीं बचता। यदि अंतरंग से बंधी वह रस्सी, जैसे गाय रस्सी से बंधी होती है और रस्सी कितनी ही बड़ी क्यों न हो किंतु गाय वाला खूंटे के पास जाता है, वह गाय को हाँकने वहाँ तक नहीं जाता जहाँ गाय है, वह तो बस वहीं से रस्सी को खींचता चला गया, गाय लौटकर के अपने आप आ जाती है। ऐसी ही अंतरंग में यदि स्नेह आदि की रस्सी बंधी है तो वह संयम से च्युत हो पुनः घर लौट जाता है।

गाय, भैंस आदि जानवरों के पैर में जो रस्सी बांधी जाती है वह तो बाह्यचक्षुओं से देखने में आती है इसलिए लोग कहते हैं वह तो बंधन में पड़ा हुआ है किन्तु जो अंतरंग के बंधन हैं वो दृष्टिगोचर नहीं होते, अनुभवगोचर होते हैं, उन अनुभवों से बंधा व्यक्ति चला भी जाए फिर लौटकर के वहीं आ जाता है। जैसे कबूतर का पिंजरा खोल दो तो उड़ जाता है, थोड़ी देर बाद फिर पिंजरे में आ जाता है किन्तु तोते को एक बार पिंजरे से बाहर करो तो फिर आना नहीं चाहता। वह तो नीलगगन में उड़ जाता है, मुक्त होना चाहता है।

महानुभाव! ऐसे ही जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है, वह एक बार गृहस्थी के जाल से मुक्त हुआ तो पीछे मुड़कर के नहीं देखता। और जो राग युक्त हैं उन्हें कबूतर की तरह उड़ा भी दो तो लौटकर के वहीं आ जाएँगे, घरवाले कहेंगे जाओ, महाराज के पास जाकर अपना

कल्याण कर लो किंतु वे चार दिन बाद फिर घर लौटकर आ गए। फिर 15 दिन के लिए छोड़ आए पुनः वापस आ गए। घर वाले लेने नहीं आए स्वयं ही समाचार भेज दिया, बेटा हमें यहाँ से ले जाओ। क्यों? क्योंकि राग-मोह छूटता नहीं। ऐसे दीक्षा नहीं होती, ये दीक्षा के लक्षण नहीं हैं। राग के बंधन अदृश्य बंधन हैं, अदृश्य बंधनों से बंधा व्यक्ति घर-परिवार को नहीं छोड़ पाता। इसलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं पहले अंतरंग के स्नेह को तोड़ो। केवल घर छोड़ने से कल्याण नहीं होता, कल्याण होता है अंतरंग के स्नेह को छोड़ने से।

किसी के प्रति बैर भाव है, उस बैर भाव को छोड़ो। ऐसा नहीं दीक्षा लेने आए, क्यों आए? क्योंकि भाई से झगड़ा हो गया था। भाई कह रहा है कि मेरा हिस्सा दबा लिया है और कल्याण करने चले। वह भी कह रहा है मैं भाई से क्षमा तो मागूँगा नहीं भले ही मर जाऊँगा, दीक्षा ले लूँगा कल्याण करूँगा। तो भैया! ऐसे कल्याण नहीं हो सकता। जब तक चित्त से कुविकारों को, दुर्भावों को न निकालोगे तब तक केवल वस्त्र उतारने से कल्याण नहीं होता, समाधि की प्राप्ति ऐसे नहीं होती, चित्त को सरल-सहज बनाना पड़ता है। केवल सूखी मिट्टी को पानी दिखा दिया फिर कुंभकार उस मिट्टी से घड़ा नहीं बना सकता, उस मिट्टी में पानी डालकर मिट्टी फुलानी पड़ती है, उसके बाद कंकड़-पत्थर अलग करके कलश बन सकता है, ऐसे ही सिर्फ पानी दिखाने से काम नहीं चलता। आटे को पानी दिखा दो और रोटी बनाना चाहो तो रोटी नहीं बन सकती, ऐसे ही कोई कहे कि मैं इससे क्षमा तो नहीं मागूँगा बाकी दुनिया से क्षमा माँग लूँगा, इसका आशय है तुम्हारा उससे बैर है। जिससे तुम्हारा बैर है पहले उससे क्षमा माँगो, अपने परिणाम अंदर से शुद्ध करो।

आचार्य महोदय कह रहे हैं पहले रागद्वेष को तोड़ो पुनः मोह का त्याग करो। जब मोह का परित्याग करोगे तब अपनी आत्मा के वैभव का अनुभव कर सकोगे, अन्यथा दूसरों की दृष्टि में दीक्षा लेना अलग बात है और अपनी आत्मा की दृष्टि में दीक्षा लेना अलग बात है। दूसरे लोग दीक्षित कह सकते हैं। वैसे 'दीक्षित' नाम का एक सम्प्रदाय भी है। द्विज कुलों में जहाँ दीक्षा नहीं ली किन्तु कुल परम्परा से गोत्र चला आ रहा है 'दीक्षित'। नाम मात्र से कल्याण नहीं है। कोई अपना नाम 'भगवान्' ही रख ले तो भगवान् बन गए क्या? कोई अपना नाम 'धर्मचन्द' बताए तो क्या वे धर्म के चन्द्र बन गए, ऋषीन्द्र, मुनीन्द्र, योगीन्द्र आदि-आदि नाम धारण करने से कल्याण नहीं है केवल गाँव छोड़ने से कल्याण नहीं है और दाम बदलने से भी कल्याण नहीं है। नाम-गांव-दाम बदला तो कल्याण नहीं फिर? जब तक अपना काम नहीं बदला तब तक अंतरंग का परिणाम नहीं बदलेगा और जब तक अंतरंग का परिणाम नहीं बदलेगा तब तक कल्याण का मार्ग प्रारंभ नहीं होगा।

महानुभाव! यहाँ कहा कि स्नेह का त्याग, बैर का त्याग, मोह का त्याग और परिग्रह का त्याग करना जरूरी है। हम तो पंचमकाल में अंतरात्मा से उनके लिए शुभकामना प्रेषित करते हैं जो नारी होते हुए भी ममत्व का त्याग करके मोक्षमार्गी बनी। पुरुष का मोक्षमार्गी बनना फिर भी सरल है किंतु नारी का मोक्षमार्गी बनना कठिन है। नारी विवाह के पूर्व मोक्षमार्गी बन जाए तब भी सरल है किन्तु शादी के बाद मोक्षमार्गी बने, बड़ा कठिन है, क्योंकि वह ममता की मूर्ति कहलाती है। वह अपने अंतरंग में समत्व जाग्रत कैसे करे? बहुत कठिन है। जिसका स्वभाव ही ममत्व है, थोड़े में ही आँखें भर जाएँ, कोई कह दे तुम्हारे पुत्र को कष्ट हुआ है, यह सुनकर ही टप-टप आँसू बह जाएँ। बड़ा कठिन है उस मोह को तोड़ना।

महानुभाव! मोही व्यक्ति कल्याण नहीं कर सकता, इस मोह को तोड़ना पड़ता है, जीते जी तोड़ दो नहीं तो मृत्यु आकर के तुम्हें ही तोड़ देगी। तो यहाँ कहा मोह छोड़ो और सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह का त्याग भी बहुत जरूरी है, किन्तु यह बड़ा कठिन है। जब से होश संभाला तब से कमाना शुरू किया, अमुक वस्तु इतनी महंगी है, अमुक वस्तु वहाँ से लाया और जब घर में देखते है तो लगता है वस्तुएँ पकड़ रही हैं। माना कह रही हों कि तुम हमें छोड़कर क्यों जा रहे हो। मकान बनवाया, दिन-रात मेहनत की थी, पसीना बहाया था, उसे छोड़कर आना सरल नहीं है। सर्वपरिग्रह त्याग कर दीक्षा लेना बच्चों का खेल नहीं, यह कोई दूध की बोतल नहीं जो लगाई और पी गए, यह तो लोहे के चने चबाने जैसा है, अग्नि के दरिया में तैरने जैसा है, ऐवरेस्ट की चोटी चढ़ने जैसा है, समाधि की साधना और समाधि की भावना तो बहुत दूर की चीज है पहले गृहत्याग करके तो देखो। गृहत्याग भी दूर है, रंगीन वस्त्रों का त्याग भी नहीं किया जाता। किसी से कहो भैया! रंगीन वस्त्रों का त्याग कर दो, तो कहने लगते हैं अब इनका क्या होगा महाराज जी, आगे मैं नये नहीं खरीदूँगा किन्तु जो हैं उनसे तो लगाव अभी है ही। ठीक है, हम पूछते हैं यदि आपको कुछ हो गया तो फिर क्या होगा इन रंगीन वस्त्रों का, फिर तो छूट गए। प्रत्येक क्षण ये सोचकर चलो कि मृत्यु मेरी हथेली पर रखी है, कभी भी आ सकती है। और ये भी हो सकता है कि वर्षों-वर्षों तक जीया जा सकता है, दोनों बातों को सोचकर के अब अपनी प्रवृत्ति करो।

यहाँ कहा बाह्य परिग्रह का ही नहीं अंतरंग परिग्रह का भी त्याग करो। जब त्याग करते चले जाओगे तब अंतरंग में दीक्षा की तीव्रता जगेगी, उस तीव्रता को दुनिया की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती। फिर दीक्षा दी नहीं जाती, लोग कहते हैं उन्होंने हमें दीक्षा दी, अरे भाई! दीक्षा दी नहीं जाती दीक्षा तो ली जाती है। दीक्षा के संस्कार गुरु महाराज के द्वारा किए

जाते हैं किंतु अपनी चेतना की परिणति को बदलकर दीक्षा ली जाती है। गुरु ने संस्कार दिया, संकल्प दे दिया अब तुम्हें पूर्व के संस्कारों को याद नहीं करना। यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं स्नेह, बैर, मोह, परिग्रह आदि को छोड़कर 'शुद्धमनः' मन को बिल्कुल शुद्ध करो, कोई विकल्प नहीं। जो वास्तव में वैरागी हैं उनकी चित्त की परिणति देखो, उनका चित्त कितना निर्मल होता है, कवियों ने तो यहाँ तक लिख दिया–

'मुनिमन सम उज्ज्वल नीर, प्रासुक गंध भरा।

जैसा वैरागी का चित्त होता है, मुनियों का मन होता है ऐसा निर्मल नीर। ऐसी शुद्धि, विशुद्धि मन में होना चाहिए। फिर क्या करना चाहिए? 'स्वजन-परजनमपि च' अपने कुटुम्बीजनों से, अपने रिश्तेदारों-मित्रों से, और भी जो आपके संपर्क में हों उनसे 'क्षान्त्वा' क्षमा माँगें व 'क्षमयेत्' क्षमा करें। पहले तो सबसे क्षमा माँग लें कि हमसे जो कुछ भी अतीत में गलतियाँ हुईं, हमने रागवश-बैरवश गर आपका मन दुःखाया है तो आप हमें अब क्षमा कर दें। आज मैं सच्चे हृदय से क्षमा माँगता हूँ। मैं मोक्षमार्ग पर बढ़ रहा हूँ क्या भरोसा कब क्या हो जाए। यह समझ लो मैं गृहत्याग करके जा रहा हूँ, समझो मैं मृत्यु को प्राप्त हो गया, अब वहाँ जाकर के मेरा नया जीवन प्रारंभ होगा। तत्पश्चात् जिस किसी ने तुम्हारे साथ बुरा किया है उसे भी अन्तरात्मा से क्षमा करके जाओ। मैं आप सभी को क्षमा करता हूँ, मेरे मन में आज तक जो आपके प्रति द्वेष भाव रहा, क्रोध रहा, बैर रहा आज मैं अपने बैर की गाँठ को खोलता हूँ, आप सभी को अंतरंग से क्षमा करता हूँ, कोई मन में विकल्प नहीं करना, आज से मेरा आपके प्रति समभाव है, इस प्रकार यह दीक्षा की प्रारंभिक भूमिका होती है। आगे बताएँगे दीक्षा कैसे ली जाती है। यह प्रकरण आगे चलेगा, आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

पाप-आलोचन व महाव्रत धारण निर्देश

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितानुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥125॥

अन्वयार्थ–कृतकारितं च अनुमतं – स्वयं किए, दूसरे से कराए गए व अनुमोदना किए गए, **सर्वं एनः** – समस्त पापों की, **निर्व्याजम्** – कपट रहित, **आलोच्य** – आलोचना करके, **आमरण- स्थायि** – मरण पर्यंत रहने वाले, **निःशेषं महाव्रतं** – पाँच महाव्रतों को, **आरोपयेत्** – धारण करें।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में षष्टम् अधिकार 'सल्लेखना' या समाधि देख रहे हैं। आचार्य महोदय सल्लेखना की विधि बता रहे हैं कि व्यक्ति किस प्रकार से समाधिमरण के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जैसे किसी व्यक्ति को शिखरजी की यात्रा करने जाना हो तो सबसे पहले अपने घर से बाहर निकलो, उसके बाद ऑटो-टैक्सी पकड़कर आपके नगर में जो बस स्टैण्ड या रेलवे है वहाँ पहुँचो, जहाँ से सीधा मार्ग शिखर जी को जाता हो। यह क्रम है। ट्रेन में बैठना भी जरूरी है अथवा by Air जा रहे हैं तो हवाई जहाज में बैठना भी जरूरी है। किंतु सबसे पहले घर से निकलना जरूरी है, आगे मार्ग कोई भी लें।

समाधि की अभिलाषा करने वाला भव्यजीव चाहे प्रारंभ में देशव्रती बने, बाद में महाव्रती बने या सीधा महाव्रती बने किन्तु सबसे पहले सावद्य का त्याग करना होगा, आरंभ-परिग्रह, राग-द्वेष-मोहादि भावों का त्याग करना होगा। स्वजन-परिजनों को क्षमा कराएँ व करें। प्रीतिपूर्वक वचनों से क्षमा माँगें, ऐसा नहीं क्रोध में आकर क्षमा माँगे-क्षमा करते हो या नहीं अथवा क्षमा कर दो नहीं तो अच्छा नहीं होगा अथवा जाओ-जाओ मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया। यह क्षमा नहीं है, जब क्षमा करने व माँगने का भाव आता है तो चित्त में सहजता-सरलता स्वतः ही आविर्भूत होती है। आचार्य महोदय कह रहे हैं प्रियवचनों द्वारा क्षमा भाव करें। भाई! प्रमादवश या कषाय के आवेश में जो भी मेरी प्रवृत्ति हुई है, उससे आपको कष्ट पहुँचा हो, आपका दिल दुःखा हो, आप तो महान् पुरुष हो, आपने सभी कष्ट बड़ी समता से सहन किए हैं, आपने कभी मुझे यह अहसास भी नहीं होने दिया कि आपको कितना कष्ट हो रहा है, आप समतापूर्वक सभी प्रतिकूलताओं को अनुकूलताओं में लेते गए, आप मुझे क्षमा करें।

जब अंतरंग में विशुद्धि बढ़ती है तब निःसंदेह हाथ जुड़ जाते हैं, पलकें झुक जाती हैं और कंठ अवरुद्ध होता हुआ भी अपनी भूल से अनुस्यूत आर्द्र होता हुआ शब्द बाहर निकालता है,

उन शब्दों में भावनाएँ मिश्रित होती हैं तब सामने वाला भी भीगी पलकों से कहता है अरे! इतना विकल्प न करो, जो हो गया सो हो गया, वो दिन निकल गए, उसमें तुम्हारा भी कसूर नहीं, समय ही ऐसा खराब था, परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं, अब मेरे मन में भी विकल्प नहीं। यूँ तो मैंने पहले ही रंज निकाल दिया था किन्तु मन में थोड़ा जो रह गया था वह भी आज आपके आने से पूरा धुल गया और मैं भी आपको अंतरात्मा से क्षमा करता हूँ। इस प्रकार से स्नेह-प्रेम-प्रीतिपूर्वक प्रिचवचनों का प्रयोग करते हुए क्षमा करावें व क्षमा करें।

अब जब परिणाम सरल हो गए तब आगे क्या करें? अब वह जाता है गुरु महाराज के चरणों में। क्योंकि उनके चरणों के बिना आचरण की प्राप्ति नहीं होती। गुरु के चरणों में ही वास्तव में गुरुता को देने वाला आचरण प्राप्त होता है। गुरु के बिना तो जीवन शुरु ही नहीं होता और चारित्र की प्राप्ति जब भी होगी, जिसको भी होगी, जहाँ भी होगी पूज्य पुरुषों के चरण के दर्शन से होगी। चरण ही चारित्र के प्रतीक हैं। प्रभु परमात्मा के चरणों में बैठकर भक्ति का आचरण अंदर से जन्मता है। प्रभु परमात्मा के चरणों में बैठकर श्रद्धा वा चारित्र अंदर से जन्मता है अर्थात् सम्यक्त्वाचरण चारित्र, सम्यक्त्व के अनुरूप क्रियाएँ, सम्यक्त्व के अनुरूप प्रवृत्ति, विनय, समर्पण आदि स्वतः ही जन्मती है। गुरु के चरणों में बैठकर स्वतः ही अपने अपराधों का बोध होता है, गुरु चरणों में बैठकर स्वतः क्षमाभाव मन में आता है, विनम्रता-सरलता-सहजता आती है और स्वतः ही संतोषवृत्ति आती है। यह संतों की महिमा है उनके पास बैठते रहोगे तो आज नहीं तो कल आपकी प्रवृत्ति भी संतों जैसी हो जाएगी। और उससे पहले आपकी प्रवृत्ति संतोषी हो जाएगी, शुचिता का भाव मन में आ जाएगा, सत्य का पुष्प खिलने लगेगा, संयम की गंध महकने लगेगी और पुनः संयम की गंध के साथ खिलता हुआ जो पुष्प है उस पर निःसंदेह तप के फल भी लगेंगे और जहाँ तप के फल लग रहे हैं वहाँ त्याग की मिठास भी आएगी। त्याग की मिठास आते ही वह फल अपने आप अलग होने लगेगा और पुनः आत्मा परपदार्थों से जुदा होकर के आकिंचन्य भाव का अनुभव करेगी और फिर आंकिचन्य भाव का अनुभव करने वाली आत्मा अपने परम ब्रह्म में लीन हो जाएगी। तो यह सब कब होगा? यह सब संतों के चरणों में होगा।

श्रमणधर्म दस होते हैं और ये श्रमणों के पास ही मिलते हैं। जो श्रमणों के पास पहुँच जाता है उसमें भी कुछ न कुछ संस्कार श्रमणत्व का आने लगता है। जैसे पुष्पवाटिका के मध्य निकलते समय वस्त्रों में से भी पुष्प की सुगंध आने लगती है, ऐसे ही साधुओं की वंदना करके आओ तो फिर उस व्यक्ति के जीवन में कुछ बदलाव दिखाई देता है। तीर्थवंदना करके बदलाव दिखाई दे या न दे किंतु मुनिराज की वंदना करने गए, वहाँ का अच्छा अनुशासन देखा, वहाँ का स्वाध्याय देखा, आचार्य श्री का प्रवचन सुना, उनकी आहार चर्या देखी, उनकी

धर्ममय प्रवृत्ति देखी जिससे मन आनंदित हो गया, स्वतः ही मन संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति की करवटें लेने लगा।

महानुभाव! यहाँ बता रहे हैं जब वह सबसे क्षमा माँगकर गुरुचरणों में पहुँच गया। अब क्या करे? तो बता रहे हैं—गुरु चरणों में जाकर अपने सर्व प्रकार के पापों की आलोचना करो, वहाँ जाकर के अपने अहंकार की बात नहीं करना कि मेरा इतना बड़ा घर था, करोड़ों रुपये थे, खूब चौका लगाए हैं, मैंने मंदिर-धर्मशालाएँ बनवायीं थी, ये जाकर बखान नहीं करना। यदि ये कहना है तो इससे तुम्हारा कल्याण नहीं है। अपना अकल्याण तो कर ही रहे हो, साधु का भी अकल्याण करोगे।

आचार्य पद्मनंदी स्वामी जी ने 'पद्मनंदी पंचविंशतिका' में बताया कि जब कोई धनी व्यक्ति धन के अहंकार से बोलता हुआ आता है, तो साधु उसे देखकर डर से सोचता है देखो एक आपत्ति आ रही है और जब वह आकर के अहंकार की लंबी-चौड़ी बातें करे, मैंने ऐसा किया-वैसा किया तो साधु सोचता है इस आफत ने तो मुझे दबोच लिया, और यदि वह व्यक्ति अहंकार का पोषण ही करता जाए, संयम की कोई महत्ता ही न समझे तो साधु सोचता है आज तो मर गए। तो साधु के पास जाकर अपना बखान नहीं करना, साधु के गुणों का बखान करो। अपना गुणगान बखारने से तो नीचगोत्र का बंध होगा, खोटी आयु का बंध होगा, इससे तो असातावेदनीय का बंध होगा, अपनी प्रशंसा से तो अशुभ प्रकृतियों का ही बंध होगा।

साधु के पास जाकर के जो दिल तुम्हारा कहीं नहीं खुला वह साधु के पास खोल दो। खोल दोगे तो मन हल्का हो जाएगा, कभी दिल का दौरा नहीं पड़ेगा और जिसका दिल साधु के पास नहीं खुलता है तो डॉक्टर फिर चीरफाड़ करके उसको खोलकर के अलग कर देता है इसलिए जो मन में पाप भरा हुआ है उसे निकाल दो। जिस प्रकार डॉक्टर फोड़ा ठीक करने के पहले cut लगाता है, पस निकालता है, गाँठ निकालता है तब दवाई अंदर भरता है, तब धीमे-धीमे घाव ठीक होता है, खाली ऊपर से पट्टी करने पर घाव ठीक नहीं होता। ऐसे ही कल्याण करना चाहते हो तो अंतरंग के सभी विकारों को, पापों को प्रभु के सामने ऐसे रख दो जैसे एक छोटा बालक अपनी माँ के समक्ष रख देता है।

वही बात यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि **'आलोच्यसर्वमेनः'** अपने समस्त पापों की आलोचना करके, 'कृतकारितानुमतं च निर्व्याजम्' कपट रहित होकर, सरल चित्त होकर मैंने ऐसे पाप किए, मैंने ऐसे पाप कराए और ऐसे-ऐसे पापों की अनुमोदना की उन सबकी आलोचना करो। जैसे छोटा बालक माँ से आकर कहता है माँ! मैं जा रहा था, गिर गया था, मुझे चोट लग गई। उसने मुझको गलत कहा तो मैंने उसको पीट दिया, वह मेरे पीछे दौड़ा

तो फिर मैं भी तेज-तेज दौड़ा था जिससे मेरा पैर फिसल गया, मेरे चोट लग गई। इस प्रकार एक-एक बात माँ को बताता है, माँ कहीं व्यस्त भी हो, सुनना न भी चाहे तो भी वह बालक माँ को सब बतायेगा क्योंकि बालक को तब तक शांति न मिलेगी जब तक पूरी बात माँ को न बता दे। ऐसे ही वह श्रावक गृहस्थजीवन में से पाप करके आया है जब तक शुद्ध आलोचना नहीं कर लेता तब तक चित्त शांत नहीं होता।

जब वह अंतरंग से साफ हो जाए फिर क्या करे? जब तक बोतल गंदी है तब तक उसमें अच्छा पदार्थ नहीं भरा जा सकता, गंदी बोतल में क्या कोई अच्छा दूध भरेगा? नहीं भरेगा। और उसे अच्छी तरह साफ कर लिया, पोंछ दिया फिर उसमें दूध भरा जा सकता है। ऐसे ही जब तक उस गृहस्थ का चित्त अशुद्ध है तब तक महाव्रत आदि का आरोपण नहीं किया जा सकता और जब मन शुद्ध हो गया तब महाव्रतों का आरोपण किया जा सकता है। पापों में पाप मिल जाता है, पाप में कोई पुण्य नहीं डालता। गंदगी में गंदगी डाल दी जाती है पर गंदगी में कोई स्वच्छ पानी नहीं डालता। यदि स्वच्छ पानी का प्रयोग करना भी होगा तो गंदगी को धोने के लिए। वह भी इसलिए कि गंदगी से गंदगी धुलती नहीं है, उसके लिए स्वच्छ पानी का प्रयोग करना पड़ता है।

'आरोपयेन महाव्रतं' फिर महाव्रतों का आरोपण करे। कब तक के लिए करे? ऐसा नहीं जैसे आप लोग करते हैं–महाराज जी! रात्रिभोजन का त्याग आजीवन न कर पाऊँ तो एक साल का कर दूँ, या जमीकंद का त्याग 15 दिन, एक सप्ताह का कर दूँ, नहीं। जो गलत है, दु:ख का कारण है उसे यावज्जीवन के लिए छोड़ो। ये पाप हमारी आत्मा को दु:ख देने वाले हैं इसलिए आजीवन पापों का त्याग करके महाव्रतों का आरोपण करें, मरण पर्यंत पाँचों महाव्रतों को स्वीकार करे क्योंकि महाव्रतों को स्वीकार किए बिना कोई भी महान नहीं बनता। व्रत वह है जो पापों से छुड़ा दे और महाव्रत वह हैं जो पापों से छुड़ाते नहीं, वरन् पाप आगे नहीं आए ऐसी मर्यादा भी बना देते हैं। अब आपकी आत्मा में पाप नहीं घुसेंगे क्योंकि अब आप अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पंचपरमेष्ठी की शरण को प्राप्त हो गए।

जिनका आश्रय लेने से हमारी आत्मा की पापों से रक्षा हो वह शरण है, उनकी सन्निधि में पहुँच गए, पंचमरमेष्ठी की शरण ले ली, पंच महाव्रत की शरण ले ली तो यह एक ऐसी बाड़ बन गई जिसमे पाप प्रवेश न कर सके। इसलिए स्थायी रूप से सम्पूर्ण महाव्रतों को यावज्जीवन के लिए धारण किया जाता है। इस प्रकार से सल्लेखना की विधि प्रारंभ होती है। यह दूसरा कदम हो गया। अब तीसरा कदम क्या है इसकी चर्चा आगे करेंगे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

कषाय सल्लेखना

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥126॥

अन्वयार्थ–शोकं – शोक, **भयं** – भय, **अवसादं** – विषाद, **क्लेदं** – राग, **कालुष्यं** – कलुषता, **अरतिं अपि** – अरति को भी, **हित्वा** – छोड़कर/त्याग करके, **च** – और, **सत्वोत्साहं** – अपने बल और उत्साह को, **उदीर्य** – प्रकट करके, **अमृतैः** – अमृतमयी, **श्रुतैः** – श्रुत/शास्त्रों के द्वारा, **मनःप्रसाद्यम्** – मन को प्रसन्न करे।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना के अन्तर्गत षष्टम् सल्लेखना अधिकार को बड़ी विनयपूर्वक, श्रद्धापूर्वक देख रहे हैं। आचार्य महोदय सल्लेखना की विधि बता रहे हैं कि साधक किस प्रकार से सल्लेखना ग्रहण करे, कैसे व्रतों का पालन करे। श्लोक 123 से ही सल्लेखना की विधि, आवश्यकता के बारे में कहा, अब यहाँ आचार्य महोदय उस सल्लेखना की विधि को थोड़ा और आगे बढ़ा रहे हैं। गुरुचरणों में पहुँचकर कृत-कारित-अनुमोदना से सर्व प्रकार के पापों की क्षमायाचना कर शुद्ध मन होकर पाँच महाव्रतों का यावज्जीवन के लिए आरोपण करता है। अब आगे क्या करता है तो आचार्य महोदय के शब्दों में ही देखते हैं।

यहाँ कहा शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता व अरति का त्याग करें। पहले तो बाहर की वस्तुओं का, स्वजन-परिजन का, उनके प्रति राग-द्वेष का त्याग किया, परिग्रह का त्याग किया पुनः दीक्षा ली। अब इन शोक आदि का त्याग क्यों कहा? इसलिए कहा कि यदि कच्चा वैराग्य हो तो शोक हो सकता है, भय हो सकता है, अवसाद हो सकता है, क्लेश हो सकता है, कलुषता हो सकती है, अरति भाव हो सकता है। कैसे हो सकता है? यदि कच्चा वैराग्य हुआ तो जिन स्वजन-परिजन को छोड़कर आया, परिग्रह को छोड़कर आया, उसके लिए वह इष्ट था उनका वियोग हो गया तो इष्ट का वियोग ही शोक है। पुनः पूर्व के संस्कार जाग्रत हो सकते हैं कि मैंने क्यों गृहत्याग कर दिया, पहले ही अच्छा था।

पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के जीवन का प्रसंग है। वे साधना के दौरान विहार करते हुए किसी स्थान से निकले। लोग बैलगाड़ियों में भरकर उनके दर्शन करने आते। एक महात्मा ने भी सुना कि जैन सम्प्रदाय के ये दिगम्बर साधु हैं और बड़े तपस्वी हैं, दिन

में एक बार ही भोजन-पानी लेते हैं और कई बार तो ऐसा होता है दो-चार दिन में एक बार लेते हैं, कई बार एक हफ्ते का भी उपवास कर लेते हैं। उनका पुण्य इतना प्रबल है कि यदि किसी को उनका आशीर्वाद मिल जाए तो लोगों के काम सिद्ध होते हैं। उस महात्मा ने सोचा ऐसे संत के दर्शन हम भी करें तो हमें भी आत्मलाभ प्राप्त होगा। तो जैसे ही आचार्य महाराज उसके आश्रम के पास से गुजर रहे थे, वह निवेदन करने आ गया और भक्तिपूर्वक उन्हें अपने आश्रम में ले गया। आचार्यश्री भी पहुँचे, वह महात्मा अपना आश्रम उन्हें दिखाने लगा।

महाराज! ये मेरा आश्रम है, यह मेरे ठहरने का स्थान है, यहाँ मैं योगा करता हूँ, यहाँ मैं साधना करता हूँ, यहाँ पढ़ाता हूँ आदि-आदि सब दिखाने लगा। वह महाराज से बार-बार पूछने लगा ठीक है न, अच्छा है न। महाराज जी कुछ नहीं बोले, मौन रहे। जब वह ज्यादा आग्रह करने लगा कि महाराज कुछ तो कहो मेरी कुटिया के बारे में। आचार्यश्री बोले—भैया! तुम ज्यादा आग्रह करते हो तो हम तो इतना ही कहेंगे, तुमने एक घर छोड़ा दूसरा घर बसा लिया, क्या अंतर पड़ा। तेरा घर भी तो था, घर में भी तो कमरे थे, घर में भी सब अनुकूल व्यक्ति थे तुम्हारी सेवा-चाकरी करने वाले, यहाँ भी तुम नौकर-चाकर रख रहे हो, बात तो वही रही, क्या फर्क रहा। पहले तुम्हारा उसके प्रति मोह था, अब इसके प्रति मोह हो गया। साधक को इस प्रकार मोह से युक्त होना उचित नहीं है, यह तुमने ठीक नहीं किया। उसे लगा बात तो ठीक है, जब मुझे वैराग्य हुआ तब मैं सब छोड़कर जंगल आ गया और साधुओं की सेवा में लग गया, तब मेरे पास स्वामित्व के नाम पर कुछ भी नहीं था और आज मैं कह रहा हूँ ये मेरा वो मेरा। यह वास्तव में गलत है। उसने अपनी झोंपड़ी में आग लगा दी।

महाराज का तो विहार हो गया। थोड़ी देर बाद वह आचार्य श्री के पास पहुँचा और जाकर कहता है, महाराज जी! मैंने तो सब स्वाहा कर दिया, 'न रहेगा बाँस न बजेगी बांसुरी'। आपने ठीक सलाह दी कि जब मैं सब छोड़कर आया था तो यहाँ पुनः घर बसाना ठीक नहीं। आचार्य श्री ने सब सुना, किन्तु कुछ नहीं बोले। थोड़ी देर बाद वह कहता है महाराज जी! अब मैं चलता हूँ, महाराज जी फिर भी कुछ नहीं बोले। चलते-चलते वह बोला महाराज जी! एक बात कहूँ-वास्तव में मेरा आश्रम था तो बहुत अच्छा, सब सुविधाओं से युक्त था, ठंडी में ठंडी नहीं लगती थी, गर्मी में गर्मी न लगे हवा आती रहे, बहुत अच्छा था। आचार्य श्री ने बहुत कम शब्दों में कहा-भैया! तुमने बाहर की झोंपड़ी तो जला दी किंतु तुम्हारे अंदर में तो झोंपड़ी अभी भी बनी पड़ी है। अरे! अंदर से छोड़ो, अंदर से। बाहर की झोंपड़ी बनी भी रहे किंतु अंदर में ममत्व भाव नहीं जागे तब तो ठीक है।

तो आचार्य समंतभद्रस्वामी कह रहे हैं भाई! तुम जिसको छोड़कर आए उसे अपना मत मानो। अगर अपना मानोगे तो कल्याण न कर पाओगे। एक बड़े पहुँचे हुए साधक थे, और आपकी भाषा में कहें तो बड़े तगड़े साधक थे। वे कहते थे मैंने 20 करोड़ पर लात मार दी। 20 लाख वहाँ छोड़ दिए, इतना दान कर दिया, ये किया-वो किया, लोग सुनते तो सोचते पहले बहुत बड़े पैसे वाले रहे होंगे, पर कहते कुछ नहीं। एक बार एक पंडित विद्वान् उनके सामने आए, उनके सामने वे साधक कहने लगे-ओ पंडित! क्या समझता है, 20 करोड़ पर लात मारकर आया हूँ। वह विद्वान् हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला-लगता है महाराज! आपने लात कसकर नहीं मारी, कसके मारी होती तो 20 करोड़ की चर्चा यहाँ नहीं कर रहे होते। आपके मन में तो 20 करोड़ आज भी भरे पड़े हैं, आपने कुछ नहीं छोड़ा, अभी उस धन का अहंकार तो आपके मन में पल रहा है।

महानुभाव! सत्य बात तो यह है कि हमें वस्तु नहीं वस्तु के प्रति ममत्व भाव का भी त्याग करना चाहिए। तो यहाँ कहा **'शोकं'**-इष्ट का वियोग होने पर जो अंदर में परिणाम होते हैं उसे शोक कहते हैं। **'भयं'**-अचानक कोई कष्ट नहीं आ जाए, अचानक मृत्यु न आ जाए, कोई बीमारी न आ जाए, अचानक घाटा नहीं लग जाए, या कोई आपत्ति न आ जाए तो उस अचानक आयी आपत्ति से जो मन में घबराहट होती है, आत्म प्रदेशों में जो भय का भूत सवार होता है वह भय कहलाता है। उस शोक व भय को छोड़ना।

सल्लेखना धारण करते समय इस प्रकार का शोक नहीं होना चाहिए कि मेरे माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिक हमेशा के लिए छूट रहे हैं, इनका क्या होगा? मेरे बिना इनका निर्वाह किस प्रकार होगा? इसी प्रकार ऐसा भय भी नहीं होना चाहिए कि मैं भूख, प्यास आदि की बाधा सहन कर सकूँगा या नहीं? हम क्या लेकर आए थे, क्या लेकर जाएँगे, पुण्य के उदय से प्राप्त किया, पाप के उदय में छोड़ दिया। यह सब पुण्य-पाप का फल है। परछाई पड़ रही है, सूर्य सुबह इधर से उग रहा तो परछाई इधर आ रही थी, शाम को जब ढल रहा है तो उधर पहुँच गई। न तो परछाई लेकर आए न लेकर गए, सूर्य के माध्यम से परछाई दिख रही है, हमारे पास है नहीं। ऐसे ही पर वस्तु के निमित्त से होने वाले भाव भी मेरे भाव नहीं है। पूज्य आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने लिखा है-

एगो मे सासदो अप्पा, णाण-दंसण-लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग-लक्खणा॥102॥ (नियमसार)

मेरी आत्मा एक शाश्वत आत्मा है। उसका ज्ञान-दर्शन लक्षण है। शेष बाहर भाव हैं, ये मेरे नहीं हैं, ये संयोगी लक्षण हैं, संयोग से उत्पन्न हो रहे हैं, मेरी शुद्ध आत्मा में उत्पन्न नहीं हो सकते। तो आचार्य महोदय भी कह रहे हैं यह शोक मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है, भय भी मेरा स्वभाव नहीं है, वही व्यक्ति भयभीत होता है जिसे कुछ छिन जाने का भय होता है। आचार्य भगवन् पूज्यपाद स्वामी जी ने लिखा–

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥29॥ (इष्टोपदेश)

मेरी आत्मा की मृत्यु नहीं हो सकती, फिर मुझे भय कैसा। जब मुझे व्याधि ही नहीं है तो दुःख किस बात का, किस बात की व्यथा-पीड़ा। मैं न बालक हूँ, न वृद्ध हूँ, न युवा हूँ ये सब तो पुद्गल की पर्याय हैं। जो शरीर को जीवन समझ रहा है वह शरीर की मृत्यु होने पर आत्मा की मृत्यु समझेगा और उसी की रक्षा करने की कोशिश करेगा। अरे! यह सब पुद्गल की पर्यायें हैं इस सबको जो आत्मा की पर्यायें मान लेता है वह हमेशा भयभीत रहता है, इसीलिए आचार्य महोदय शोक एवं भय को त्यागने की बात कह रहे हैं।

'अवसादं'–विषाद अथवा खेद को अवसाद कहते हैं। आपकी भाषा में कहें तो डिप्रेशन। अवसाद कहते हैं तो आपको लगेगा अँग्रेजी में कह रहे हैं, डिप्रेशन कहा तो बड़ी जल्दी समझ में आ गया। डिप्रेशन का अर्थ है-जब दिमाग पर ज्यादा जोर पड़ जाता है, चिन्ताएँ उसे घेर लेती हैं तो शनैः-शनैः वह गुमसुम होता जाता है। उसकी जीभ movement करना बंद कर देती है, फिर मस्तिष्क की नसें सही रूप से काम करना बंद कर देती हैं, इस condition को व्यक्ति कहता है अमुक व्यक्ति डिप्रेशन में चले गए। व्यक्ति दुष्चिंताओं के जाल में फँसने से डिप्रेशन मे चला जाता है। जो वाद्य-संगीत आदि में रुचि रखने वाला है, गुनगुनाता रहता है या जो अपनी बात कह लेते हैं, भले ही अकेले में स्वयं ने बातें करें, या जो व्यक्ति रो लेते हैं अथवा जो व्यक्ति झूला झूलते हैं वे डिप्रेशन में नहीं जाते हैं। या जो अपने घर में वाद्ययंत्र बजाते रहते हैं, कुछ नहीं तो चौकी पाटा-ताली आदि बजाते रहते हैं वे भी डिप्रेशन में नहीं जाते क्योंकि इन सब कार्यों में Body movement करती है। जो व्यक्ति अपना कल्याण करना चाहता है वह अवसाद को भी छोड़ दे।

'क्लेद' स्नेह को क्लेद कहते हैं। आत्यासक्ति या राग। जिसके प्रति तीव्र राग है, पुनः पुनः उसी-उसी की याद आ रही है, याद कर नहीं रहे फिर भी आ रही है, और जैसे ही याद आती है तो आँखों में पानी आ जाता है। जब सब छोड़ दिया फिर भी आँखें बार-बार भर

रहीं हैं तो यह क्लेद की भूमिका बनती है। फिर कहा-**'कालुष्य'** अर्थात् कषाय के उद्रेक से हुई चित्त में संक्लेशता, विशुद्धि की हानि। बर्तन वैसे साफ था किन्तु उसमें गंदगी जम गई, कलुषता आ गई। तो अब क्या करो? उस कालिमा को जलाओ या रगड़कर साफ करो, ऐसे ही चित्त में कलुषता आ रही है तो तप की अग्नि में जलाओ, कलुषता मिटती चली जाएगी, विशुद्धि बढ़ती चली जाएगी। ज्ञान व तप की अग्नि कलुषता को दूर करने वाली होती है।

आगे कहा-**'अरतिं'** अरति भाव या विद्वेष। यदि किसी के प्रति विद्वेष की भावना जाग रही है तो उस द्वेष को भी निकालकर अलग कर दो। इन सभी शोक, भय, अवसाद, क्लेद, कालुष्य आदि दुर्भावों को छोड़ करके फिर क्या करें? 'सत्वोत्साहमुदीर्य' सत्व अर्थात् कोमल परिणाम व 'उत्साह' उल्लास/उमंग/आनंद का जो जनक है उसे अपने अंदर में प्रकट करें। कैसे करें। **'श्रुतैः'** ज्ञान के अमृत द्वारा। ज्ञानसे अंतरंग में बहुत शांति मिलती है। अपने कदम आगे बढ़ाएँ। श्रुत के माध्यम से कषायों का शमन होता है, बहिरंग से प्रवृत्ति हटकर अंतरंग में पहुँचती है। शास्त्र रूपी समुद्र में अवगाहन करने वाले जीव को विषय-वासना की घाम व्यथित नहीं करती। धर्मध्यान में स्थिरता बनाए रखने के लिए शास्त्र-स्वाध्याय एक सुदृढ़ आलम्बन है। त्रियोग की चंचलता शास्त्र स्वाध्याय से स्थिरता को प्राप्त होती है। बट्टकेर स्वामी मूलाचार में कहते हैं-

जिणवयण-मोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जर - मरण - वाहि - वेयण - खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥

जिनेंद्र भगवान् की वचन रूपी औषधि इंद्रियजनित विषय सुखों का विरेचन करने वाली है। अमृतस्वरूप है और जरा, मरण, व्याधि, वेदना आदि सब दुःखों का नाश करने वाली है।

इस प्रकार सल्लेखना का इच्छुक शोक, भय, विषाद, राग, कालुष्य, अरति आदि विभावों को छोड़कर अपने बल और उत्साह को प्रकट करके निरंतर शास्त्र-स्वाध्याय करते हुए अपने मन को प्रसन्न रखे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

काय सल्लेखना

आहारं परिहाप्य, क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥127॥

अन्वयार्थ–सल्लेखनाधारी श्रावक, **क्रमशः** – क्रम क्रम से, **आहारं परिहाप्य** – आहार को छोड़कर, **स्निग्धं पानम्** – दूध आदि चिकना तरल पदार्थों को, **विवर्द्धयेत्** – बढ़ावें अर्थात् भोजन में लेवे, **च** – और, **स्निग्धं** – दूधादि को भी, **हापयित्वा** – छोड़कर, **क्रमशः** – क्रम-क्रम से, **खरपानं** – छाछ, गरम जल आदि को, **पूरयेत्** – बढ़ावे अर्थात् पीवे।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में समाधि सल्लेखना विधि को समझने का प्रयास कर रहे हैं कि सल्लेखना धारण करने वाला किस प्रकार आगे बढ़ता है। वह सर्वप्रथम समाधि व सल्लेखना में बाधकतम कारणों को दूर करता है। राग-द्वेष-मोह व कषाय की तीव्रता को दूर करता है। पुनः गुरुचरणों में यावज्जीवन के लिए महाव्रतों को धारण करता है व क्रमशः अपनी साधना को निर्मल बनाने की चेष्टा करता है। जिसने पूर्व में महाव्रत स्वीकार कर लिए हैं वे विशुद्धि बढ़ाते हुए अपने व्रतों को सुदृढ़ व निर्मल बनाने की चेष्टा करते हैं। जिन्होंने तत्काल ही महाव्रतों को स्वीकार किया तो वह पूर्व संस्कार का अभाव होने से व्रतों में दोष न लगें इसलिए गुरु व साधर्मीजनों के सान्निध्य में रहकर के अपने व्रतों को निर्दोष पालन करने को कोशिश करता है।

वह चाहता है चित्त में क्षणभर के लिए भी क्षोभ उत्पन्न न हो, संक्लेशता किंचित् भी उत्पन्न न हो। और यह सत्य बात है जब सल्लेखना धारण करने वाला वह आराधक आराधना में संलग्न है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप इन चार आराधनाओं के आराधक की भक्ति में संलग्न है, इन चार आराधनाओं के गुणों का चिन्तन करता है, इनसे सहित कारण परमात्मा व कार्य परमात्मा का चिंतन करता है तो बहुत विशुद्धि बढ़ती है। जब विशुद्धि के मार्ग पर व्यक्ति बढ़ता है तो संक्लेशता आस-पास भटकती भी नहीं है। जैसे जब कोई व्यक्ति सीढ़ियाँ चढ़ता है तब उसकी दृष्टि ऊपर की ओर होती है और उसके पैर आगे की ओर बढ़ते चले जाते हैं, वह अंदर के उत्साह-सत्व-वीर्य आदि को प्रकट करके आगे बढ़ता है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसे आनंद आता जाता है, पाप प्रवृत्तियाँ, कषायभाव, वासनाएँ व वेदनाएँ उससे दूर होती चली जाती हैं, वे उस आत्मा को पकड़ना भी चाहें तो पकड़ नहीं पाती हैं। वह अपने आप में इतना जागरूक रहता है कि वे दुष्कर्म, दुष्प्रभाव, दुर्वचन, दुष्प्रवृत्तियाँ उसे पकड़ नहीं पाती। जिस प्रकार चिकने व्यक्ति को किसी दुर्बल व्यक्ति के द्वारा अर्थात् जिसके

सिर पर बाल नहीं हैं, पहलवान है, शरीर चिकना है उस व्यक्ति को पीछे से भाग कर आते हुए किसी दुर्बल व्यक्ति द्वारा पकड़ना बड़ा कठिन है ऐसे ही दुर्भावों को, दुष्कृत्यों को, दुर्वचनों को पीछे छोड़कर जो आगे आ गया है उसे पकड़ना कठिन है।

महानुभाव! जैसे स्टेशन पर एक व्यक्ति साइकिल से चला आ रहा था और वह ट्रेन में बैठना चाहता था, ट्रेन ने सीटी लगाई, ट्रेन स्टार्ट हो गई, वह व्यक्ति साइकिल से उतरकर टिकट ले, और सोचे मैं ट्रेन को अब पकड़ लूँ तो पकड़ना मुश्किल है, ऐसे ही जिनको छोड़ दिया है उन दुर्भावों के द्वारा आत्मा को पकड़े जाना बड़ा मुश्किल है। आप ये नहीं सोचना कि व्यक्ति जीवन के अन्त में कल्याण नहीं कर सकता, कल्याण कर सकता है। उसकी सत्ता में यदि पुण्य पड़ा हो तो कल्याण की भावना जाग्रत हो जाए, कल्याण के निमित्त मिल जाएँ और वह सम्पूर्ण पुण्य का सदुपयोग करते हुय संक्लेशता की हानि करता हुआ अपनी विशुद्धि को बढ़ाता जाए तो अपना कल्याण करने में समर्थ हो सकता है। जैनदर्शन में असंभव कुछ भी नहीं। जैनदर्शन में तो बताया कि व्यक्ति अंतरंग से जाग्रत हो जाए तो सप्त व्यसनी भी जीवन के अंत में अपना कल्याण कर सकता है।

महानुभाव! किसी को बुरा मत कहो, किसी से यह कहकर घृणा नहीं करो कि यह पापी है क्योंकि वह आत्मा भी कब पाप से मुक्त होकर परमात्मा बनने के मार्ग पर बढ़ जाए कुछ नहीं कह सकते। और जो व्यक्ति आज पुण्य से सहित हैं, कब अहंकार से युक्त होकर के पतित हो जाएँ, पुण्य के मार्ग से पाप के मार्ग पर आकर गिर जाएँ कुछ नहीं कह सकते। इसलिए जो आराधक आत्मकल्याण के पथ पर अग्रगामी हुआ है उसे फिर आगे अपनी साधना को कैसे बढ़ाना चाहिए तो आचार्य महोदय क्रम बता रहे हैं।

जो साधक समाधि के लिए आ गया, दीक्षा ले ली, तो फिर वह अधिकांशतः मौन प्रवृत्ति को धारण करे, स्वाध्याय सुनने व करने में गुरु के पास प्यासे चातक की तरह बैठ जाए, जो गुरु महाराज या निर्यापकाचार्य उपदेश देते रहें उसे सुनता जाए तो आराधक का कल्याण हो जाएगा। गुरु-प्रभु व प्रभुवचनों की समीपता उसकी संक्लेशता की हानि में प्रबल निमित्त है, विशुद्धि में निमित्त है। और आहारादि के विषय में आराधक को सोचना चाहिए मैंने गृहस्थ जीवन में बहुत खाया-पीया है अब मेरा शरीर क्षीण हो रहा है या उपसर्ग-दुर्भिक्ष है या बुढ़ापा है अथवा किसी रोग ने घेर लिया, अब मेरे जीवन की आगे कोई संभावना नहीं है कि मैं कितना क्या जी पाऊँगा। तो क्या करना चाहिए? अब उसे आहार के प्रति आसक्ति का त्याग करना चाहिए।

दीक्षा के बाद अब परिवारीजन भी उसके साथ लगे हैं, भक्तगण भी बहुत हैं, स्वजन-परजन भी बहुत हैं, भीड़ लग गई। अब वो आहारचर्या के लिए निकलते हैं तो वे कहते हैं महाराज जी! आप तो ये काजू की बर्फी खाओ, मुनक्का, किशमिश की चटनी लो या मेवे के लड्डू खाओ, आप गरिष्ठ मावा लो। और उस नये आराधक के पास उसके गुरु महाराज नहीं है, अनुभवी निर्यापकाचार्य नहीं हैं, साधर्मी बंधु नहीं हैं, यदि कदाचित् वह गरिष्ठ आहार करने में लग गया तो स्वास्थ्य खराब होकर के अपने संयम की विराधना कर लेगा। वह संयम की साधना न कर पाएगा, वह आराधक नहीं बन पाएगा, सल्लेखना व समाधि की अवस्था को प्राप्त न हो पाएगा। इसलिए सबसे पहले वह गरिष्ठ भोजन का त्याग करे, क्योंकि वह उसे पचा नहीं पाएगा उसे ग्रहण कर उसका स्वास्थ्य खराब हो सकता है। चिकनाई ज्यादा खा लो तो हृदय पर कोई प्रभाव पड़ सकता है या अन्य कोई भी समस्या हो सकती है। मीठा ज्यादा ले लिया, मधुमेह रोग है तो किडनी खराब हो सकती है, शरीर का कौन सा अवयव अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाए कोई नहीं जानता। जब वह असमर्थ होता है तो उस आत्मा को संक्लेशता हो जाएगी इसीलिए सल्लेखनाधारी किस प्रकार अपनी काय को कृष करे यह श्लोक नं. 127 में यहाँ बता रहे हैं।

यहाँ सल्लेखना करने वाले के लिए आहार त्याग का क्रम दिखलाते हुए बता रहे हैं कि एक साथ सब प्रकार का आहार छोड़ देने से क्षपक को आकुलता हो सकती है, उसके परिणामों के बिगड़ने का डर रहता है, परिणामों के बिगड़ने से व्रतों में दोष लग जाता है व व्रत भंग हो सकते हैं, इसीलिए सल्लेखनाविधि को कराने वाले आचार्य क्षपक की शक्ति को देखते हुए क्रम-क्रम से आहारादिक का त्याग कराते हैं। देश काल के अनुसार निर्यापकाचार्य अपने कुशल निर्देशन में साधक की साधना को वृद्धिंगत करते हुए उस सल्लेखना विधि को सम्पन्न कराते हैं।

वह आराधक सर्वप्रथम गरिष्ठ भोजन का त्याग करे। हर भोजन गरिष्ठ हो सकता है यदि वह भोजन उसकी पाचन शक्ति की सामर्थ्य से अधिक है तो। जिसकी पाचन शक्ति ठीक है उसके लिए नहीं, पर कमजोर है तो वह रसों से समन्वित गरिष्ठ भोजन जिसमें घृत-तेल से युक्त या मेवा-मिष्ठान्न से समन्वित भोजन है या पकवान पूरी-कचौडी आदि हैं तो उसे छोड़ देना चाहिए और सादा भोजन करना चाहिए, छिलके वाली दाल और सूखी रोटी। चिकनी रोटी पचा पाए या न पचा पाए। फल-जूस का प्रयोग करें पर इसमें भी क्रमशः धीरे-धीरे कम करता

चला जाए। **'आहारं परिहाप्य'** आहार को छोड़े, ठोस पदार्थ कम ले और क्रमशः **'स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्'** वह पेय पदार्थ ज्यादा ले। वह कभी दूध पीये कभी जूस पीये, कभी तर्क (मठा) आदि ले सकता है कभी रोटी भी दाल में भिगोकर ले किन्तु ऐसा नहीं कि ठोस की मात्रा ज्यादा ले और पेय की मात्रा कम ले। ऐसा होने पर प्रमाद ज्यादा आएगा, साधना नहीं होगी। तो वह पेय की मात्रा को धीमे-धीमे बढ़ाता जाए और ठोस खाद्य सामग्री कम करता चला जाए।

आचार्य महोदय कह रहे हैं क्रमशः आहार को कम करे व पेय पदार्थ को बढ़ाता जाए। ऐसा नहीं कि एक साथ ही आजीवन के लिए त्याग कर दिया हम पीएँगे ही नहीं तो ऐसे त्याग नहीं करना होता। हमारे गुरुमहाराज पूज्य आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज बहुत अनुभवी निर्यापकाचार्य थे, उन्होंने स्वस्थान से ही कई साधकों की समाधि का निर्देश दिया और उत्तम समाधि कराने में वे निमित्त बने और उन्होंने अपनी समाधि भी बहुत अच्छी तरह से की। उन्होंने क्रमशः त्याग किया, वे बहुत वर्षों से अभ्यास करते चले आ रहे थे गुप्त रूप में। वे मौन साधना करते थे, उपदेश आदि देना छोड़ दिया था, अधिक से अधिक ध्यान लगाना, किसी से वार्तालाप नहीं करना, एकान्त में रहना और शनैः-शनैः खाद्य पदार्थों का त्याग करते-करते अंत में न जाने कितने दिनों से पानी-पेय लेते आ रहे थे और बाद में उन्होंने तीन दिन की यम सल्लेखना लेकर के पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया।

तो यहाँ बताया खाद्य, स्वाद्य व लेह्य इन तीनों सामग्री को क्रमशः घटाते जाएँ और क्रमशः ही पेय सामग्री को बढ़ाए, एक साथ नहीं छोड़े। शरीर में जल तत्त्व की मात्रा कम नहीं होनी चाहिए अन्यथा आकुलता बनेगी संक्लेशता बनेगी। तक्र, माँड़, इमली का पानी आदि तो अंत तक भी चलता है।

पहले तो कहा ठोस पदार्थों को क्रमशः कम करता जाए व तरल पदार्थों को बढ़ाता जाए जैसे पहले जब वह दाल लेता था तो गाढ़ी दाल लेता था, उड़द की दाल घी डालकर लेता था, या उड़द से बने गरिष्ठ भोजन लेता था किन्तु बाद में उड़द की दाल छोड़ो, मूंग की दाल पर आ जाओ,उसमें भी पानी ज्यादा, तो इस प्रकार क्रम-क्रम से छोड़े। आप सोच रहे होंगे ऐसे त्याग क्यों कराया जाता है? तो देखो-सत्य बात यह है कि जब सात्विक भोजन किया जाता है तब निःसंदेह परिणामों में निर्मलता आती है और नीरसता आती है, राग-द्वेष मंद होने लगते हैं। फिर आचार्य महाराज कह रहे हैं जो स्निग्धपेय पदार्थ थे उन्हें भी क्रम-क्रम से छोड़े।

पुनः **'खरपानं पूरयेत् क्रमशः'** वह क्रमशः खरपान अर्थात् इमली का खट्टा पानी, चावल का मांड, पतली छाछ या गरम पानी इनको ले। यदि पेट में मल जम गया है तो मुनक्के का पानी ले, आंवले का पानी भी ले सकता है जिससे उदर साफ रहेगा। मल नहीं ठहरेगा तो विशुद्धि बढ़ती है, उत्साह-आनंद बढ़ता है और मल कहीं ठहर जाए तो उसे बेचैनी-तड़फ होने लगती है, कई बार गला सूख रहा हो तो जूस में या मांड में थोडा घृत डालकर पिलाया जाता है या कई बार तेल के कुल्ले भी कराये जाते हैं कि कंठ अवरुद्ध न हो, जिह्वा चिपक न जाए। तो जो अनुभवी निर्यापकाचार्य होते हैं वे विधिपूर्वक क्षपक की, उस आराधक की सल्लेखना में सहयोगी बनते हैं।

ये क्रम भी महीनों-वर्षों तक चलता है, ऐसा नहीं कि चार दिन में सब त्याग करा दिया। जो बारह वर्ष की सल्लेखना ली जाती है इसमें क्रम-क्रम से त्याग करते चले जाते हैं। वह साधक अपनी साधना की वृद्धि करता चला जाता है। अगली गाथा में इसके आगे की विधि बताई गई है जिसे आगे देखेंगे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

काय सल्लेखना के मध्य उपवास व मंत्राराधनापूर्वक देहत्याग

खरपानहापनामपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कार - मनास्तनुं त्यजेत्सर्वप्रयत्नेन॥128॥

अन्वयार्थ–पश्चात् **खरपानहापनां अपि** – छाछ, गर्म पानी आदि को भी त्याग, **कृत्वा** – करके, **शक्त्या** – अपनी शक्ति के अनुसार, **उपवासं** – उपवास को, **अपि** – भी, **कृत्वा** – करके, **सर्वप्रयत्नेन** – सब प्रकार के प्रयत्न से, **पञ्चनमस्कारमनाः** – पंच नमस्कार मंत्र को मन से पढ़ते हुए, **तनुं** – शरीर को, **त्यजेत्** – छोड़ें।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में देख रहे थे सल्लेखना के संबंध में। आचार्य महोदय श्री समंतभद्रस्वामी जी बड़े ही सरल शब्दों में सल्लेखना की विधि व समाधिमरण की प्राप्ति कैसे हो, किस प्रकार उस भव्यजीव के चित्त में निर्मल परिणाम हो, समत्व का भाव जाग्रत हो, आत्त- रौद्र ध्यान न बने, कषाय न जागे, वेदना न सताये, राग-द्वेष मंद होने लगे और वह जीव किस प्रकार आत्मस्थ हो, यदि आत्मा से अलग हो तो धर्मस्थ हो, अरिहंत-सिद्ध के चिंतन में, गुणानुचिंतन में अनुरक्त हो, स्व में स्थिर हो इसके लिए उन्होंने क्रम दिया। उस विधि के तहत देखा कि किस प्रकार गृह त्याग कर दीक्षा ले, पुनः साधना को वृद्धिंगत करता हुआ आगे बढ़े, गरिष्ठ पदार्थों का त्याग करे, अन्न की मात्रा कम करता जाए, पेय की मात्रा बढ़ाता जाए पुनः पेय पदार्थों को धीमे-धीमे कम करता जाए। अब आगे 128वें श्लोक में कह रहे हैं कि उस पेय पदार्थ को भी क्रमशः कम करते-करते त्याग करना चाहिए। उसे यहाँ बताते हैं–

जब वह क्षपक समाधि के निकट पहुँच रहा है। 12 वर्ष की साधना में क्रमशः रसों का त्याग किया, पुनः अन्न की मात्रा कम करते चले गए व पेय बढ़ाते गए, पुनः पेय को कम करते गए व जल की मात्रा को बढ़ाते गए। शुरु के चार वर्ष रसत्यागपूर्वक निकाले पुनः आगे के चार वर्ष अन्न को कम करने में निकाले पुनः बचे अंतिम चार सालों में 2 साल कभी आहार कभी उपवास किया फिर अंत के दो वर्ष बचे उनमें उपवास की मात्रा बढ़ाते चले गए, अंत का एक वर्ष बचा उसमें बहुत हल्का आहार लिया, उसमें भी कभी अनुपवास किया, अंत का एक माह बचा पुनः उपवास की मात्रा बढ़ाते चले गए जल-उपवास, जल-उपवास करते-करते आगे बढ़ते चले गए। अब वह यम सल्लेखना धारण करने वाला क्षपक अंत में 'खरपान' खट्टे पदार्थ आदि का भी त्याग कर अंत में सिर्फ और सिर्फ जल ग्रहण करता है

व उपवास करता है। वह क्षपक आराधक अपने मनोबल को कम नहीं करता, अपने उत्साह व सत्व को बढ़ाता जाता है, सोचता है जब मैं बाहर के पदार्थों का सेवन करता था उस समय शरीर में प्रमाद आता था, और उस समय कभी इतनी विशुद्धि नहीं बढ़ती थी, शरीर भारी-भारी सा मिट्टी जैसा हो जाता था और अब उपवास करने पर ऐसा लगता है जैसे शरीर फूल जैसा हल्का हो गया हो। परिणाम निर्मल हैं, मन शांत है। अपने अंदर लीन रहने की प्रवृत्ति शुरू हो गई। उपवास करने से अपने समीप में वास करना शुरु हो जाता है। तो इस प्रकार से वह क्षपक मात्र जल को ग्रहण करता है व बीच-बीच में उस जल का भी त्याग करता है। कभी एक बार जल लेकर दो उपवास, कभी एक बार जल लेकर तीन उपवास कर लिए ऐसे क्रम-क्रम से अपनी शक्ति को बढ़ाता हुआ उपवास की साधना को बढ़ाता जाता है।

महानुभाव! इस प्रकार की आदर्श समाधि करने वाले बहुत आचार्य हुए। अर्थात् बारह वर्ष की सल्लेखना लेकर के समाधि करना। या कोई 12 वर्ष पूर्ण होने से पहले समाधि कर लें। कोई साधक आचार्य ऐसे भी हैं जो पूर्व से घोषणा नहीं करते और अन्तर्मुहूर्त पहले ही समाधि की साधना को स्वीकार कर लिया या एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, ऋतु तथा एक अयन पहले स्वीकार कर लिया और अंतरंग में समाधि की साधना कर रहे हैं। यह जरूरी नहीं है कि सब 12 वर्ष पहले ही समाधि को स्वीकार करें। जब अपना आयुकर्म अवसान की ओर दिखाई दे तब 12 वर्ष पहले भी ग्रहण की जा सकती है। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज, आचार्य श्री अजितसागर जी महाराज, आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज, आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज, पूज्य आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज, आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज, तपस्वी सम्राट श्री सन्मतिसागर जी महाराज आदि अनेक ऐसे साधक आचार्य हुए जिन्होंने बड़ी युक्तिपूर्वक आदर्श रूप से सल्लेखना को अपने अंतरंग में धारण करके शनैः शनैः साधना को बढ़ाते हुए अन्न का त्याग, रस परित्याग आदि त्याग करते हुए क्रम से छाछ आदि लेते हुए पुनः जल ग्रहण करते हुए अंत में उसका भी त्याग कर उत्तम समाधि को प्राप्त किया।

महानुभाव! जिनकी समाधि अन्तर्मुहूर्त में हुई या कुछ प्रहर-दिन आदि मे हुई उनकी समाधि भी अच्छी हो सकती है। आचार्यों ने समाधि का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त भी दिया, उत्कृष्ट काल 12 वर्ष दिया। और साधना का काल तो जब से वह अणुव्रती बनता है तब से सल्लेखना का लक्ष्य बनाकर चलता है। साधुजन नित्य-नित्य भी नियम सल्लेखना लेते हैं। जैसे-आहार ग्रहण कर आए और जब तक कल आहार ग्रहण नहीं करेंगे तब तक के लिए चारों प्रकार के आहारों का त्याग। तो यह भी एक प्रकार की नियम सल्लेखना है। यदि उस काल में साधु चला गया तो त्याग में गया, सभी के प्रति समता का भाव, दिन में तीन बार सामायिक करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं, संसार के सभी जीवों से क्षमा याचना करते हैं।

खम्मामि सव्व-जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व-भूदेसु बैरं मज्झं ण केण वि॥

इस प्रकार की प्रवृत्ति रहती है। और ज्यों-ज्यों वह समाधि के निकट पहुँचते हैं त्यों-त्यों वे बाहर के सम्पर्क को कम करते चले जाते हैं। पूज्य आचार्य गुरुवर श्री विद्यानंद जी की समाधि हमने बड़ी निकटता से देखी। उनका जीवन पहले किस प्रकार का था, शनैः शनैः उन्होंने अपने आपको समाज से, व्यवहार धर्म की क्रियाओं से हटाते-हटाते कैसे स्वयं के निकट पहुँचते चले गए और अपना जीवन अपनी आत्मा के निकट ले आए। ध्यान में अधिक से अधिक रहना या खड़्गासन में उपासना कर रहे हैं या समाधि का ग्रंथ भगवती आराधना, मरणकण्डिका का स्वाध्याय दो बार-चार बार कर रहे हैं। इस प्रकार से उनकी विशुद्धि बढ़ती चली गई। विशुद्धि जब बढ़ती है तब अंत समय निःसंदेह अति उत्तम बीतता है। कोई द्वेष नहीं, कषायें नहीं जागती, अन्य कोई भोगाकांक्षा, निदान आदि की भावना नहीं जागती। गुरुमहाराज की समाधि के एक क्षण पहले भी उनके चेहरे पर मुस्कान थी, वे आनंद से आध्यात्मिक भजन सुन रहे थे। 'एक जोगी असन बनाए', या 'हम तो कबहुँ न निजघर आए' अथवा जो भी भजन उनको प्रिय लगता वे सुन रहे थे। भजन, भावना, ग्रंथ पाठ, चिंतन, अर्हं आदि मंत्र जाप से जो विशुद्धि बढ़ रही है उसे वही क्षपक जान सकता है। सामने वाला व्यक्ति तो उनके भावों को देखकर के धर्मध्यान की वृद्धि करे।

महानुभाव! निर्यापकाचार्य व सहयोगी साधकों का कर्त्तव्य है कि वे किसी भी प्रकार क्षपक के आर्त्त-रौद्र आदि दुर्ध्यान में निमित्त न बनें, उनका धर्मध्यान जैसे बन रहा है, वैसे बनाएँ। ऐसा नहीं कि लोग घेरकर बैठ जाएँ और जोर-जोर से सुनाएँ, जबरदस्ती उनसे कहें सुनो-सुनो। यह नहीं, क्षपक आत्मस्थ बैठा है, उसे आकुलता-व्याकुलता नहीं, चेहरे पर प्रसन्नता का भाव है, धर्मध्यान चल रहा है, आत्मा का आनंद आ रहा है इस प्रकार तो सल्लेखना की साधना हो सकती है किन्तु जो श्रावक अनुभवहीन है, अपरिचित है, राग-द्वेष से सने हुए हैं, वहाँ कोई फोटो खिंचा रहा, कोई वीडियो बनवा रहा है, कोई उनसे कह रहा महाराज जी हमें पहचान लिया, हम वहाँ से आए हैं इस प्रकार की प्रवृत्ति से समाधि में बाधा आती है। इसीलिए क्षपक के पास कुशल निर्यापकाचार्य एवं उनके निर्देशन में चलने वाले उत्तम साधक मुनिराज आदि ही रहते हैं, श्रावकों को बाहर कर दिया जाता है क्योंकि श्रावक मौन लेकर भी बैठेंगे तब भी उनकी राग, द्वेष, भययुक्त वर्गणाएँ उन क्षपक के लिए विघ्न पैदा करेंगी।

तो आचार्य महोदय कह रहे हैं-खरपान अर्थात् जल का भी त्याग कर उपवास करना। पुनः 'कृत्वोपवास-मपिशक्त्या' किंतु वह उपवास भी अपनी शक्ति के अनुसार करना। ज्यादा भी नहीं कि संक्लेशता बन जाए और शक्ति को छिपाना भी नहीं क्योंकि शक्ति को छिपा रहे हैं

तो इसका आशय है अभी शरीर के प्रति कुछ राग जाग्रत हो रहा है कि मेरा शरीर शिथिल न हो जाए, सूख न जाए। तो शक्ति के अनुसार उपवास करना चाहिए। उपवास के बाद ऐसा नहीं कि भीड़ में जाकर बैठ गए, श्रावक सोचे कि आज महाराज का उपवास है तो उनसे थोड़ी चर्चा करने लगे। श्रावकों का समाधि में यही सहयोग है कि वे उस क्षपक के लिए आकुलता-व्याकुलता पैदा न करें। शांति बनाकर रखें, भीड़भाड़ न करें, बाहर से अनुमोदना करें। और जो कुशल परिचारक हैं, मुनिराज आदि है वे ही समीप में रहें। ऐसा नहीं कि कोई कहने लगे हम महाराज के पुराने भक्त हैं, मैं 50 साल से सेवा कर रहा हूँ, मुझे क्यों बाहर करना चाहते हो, वहीं लड़ाई-झगड़ा करना प्रारंभ कर दिया, भक्तों का युद्ध ही शुरू हो गया, मैं बड़ा कि मैं बड़ा। शिष्य भी जो अनुभवहीन होते हैं वे कहते हैं अच्छा! तुम चार मुनि ही योग्य बचे, वे हमारे गुरु नहीं हैं क्या? इसलिए आचार्य महोदय ने भगवती आराधना मे कहा कि आचार्य आदि की समाधि स्वसंघ का त्याग करके परसंघ में होती है। परसंघ के आचार्य के अनुसार ही उन्हें सब कार्य करने होते हैं। स्वसंघ में शिष्यों में राग-द्वेष भी हो सकता है। जो नया व्यक्ति गृहस्थ जीवन का अभी त्याग करके समाधि के लिए आया है, जिसने नूतन दीक्षा ली है, उसके लिए संघ नया है इसलिए वह वहाँ समाधि ले सकता है।

तो आचार्य महोदय कह रहे हैं शक्तिअनुसार उपवास करके **'पंचनमस्कार-मनः'** अपने मन को पंचनमस्कार मंत्र में समायोजित करे। चाहे अर्हं जाप करे या असिआउसा नमः जप करे अथवा ॐ का जप, जिस मंत्र में भी मन लग रहा है उसने यावज्जीवन किस प्रकार की जाप की है, किस जाप से उसकी विशुद्धि बढ़ रही है, उस समय वह मंत्र उस आत्मा के लिए सबसे बड़ी औषधि है। आकुलता को दूर करने के लिए सबसे अच्छा उपाय है पंचनमस्कार मंत्र। गृहस्थ आदि आस-पास रहेंगे तो क्षपक का चित्त चंचल हो जाएगा, पंचनमस्कार में चित्त स्थिर नहीं हो सकेगा। इसलिए कहा जितनी भी व्यवस्था बनानी है वह दूर से करें, क्षपक के पास तो व्यवस्था की चर्चा भी नहीं करनी है। क्षपक के पास तो धर्मध्यान का क्रम बनाओ, वह क्रम टूटने न पाए। उनके पास तो बाहर का कोई शब्द भी नहीं पहुँचना चाहिए। वे आत्मस्थ हैं, अपनी आत्मा की ध्वनि सुन रहे हैं, उन्हें कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

महानुभाव! यहाँ कहा-**'तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन'** सम्पूर्ण प्रकार से यत्न करके शरीर का त्याग करना अर्थात् शरीर से ममत्व का त्याग करना। ममत्व का त्याग करना ही कायोत्सर्ग है। अब हमने शरीर छोड़ दिया, वह शरीर हमारा पड़ोसी है, उसमें हमें कोई आसक्ति नहीं। वह तो पर्णकुटी है, इसमें से चेतना निकलते ही मिट्टी हो जाएगा, जिसे लोग बाद में संस्कारित कर देंगे। इस प्रकार की विधि से समाधि करने वाला आगे बढ़ता है। विधि का उल्लंघन किया तो निःसंदेह मानिये वह समाधि के फल को प्राप्त नहीं कर पाता।

यहाँ आचार्य महोदय ने सल्लेखना की क्रमशः विधि बताई तथा साथ ही अंतिम समय में यह भावना भाएँ कि हे प्रभु! मेरे सर्वजीवों के साथ मैत्री भाव है, समता भाव है, किसी के साथ मेरा बैर नहीं है, मैं सर्व आकांक्षाओं को छोड़कर समाधि परिणामों को प्राप्त होता हूँ। हे प्रभो! मेरे में वह शक्ति प्राप्त हो जिससे मेरे हृदय में किसी प्रकार की कामना न रहे, कषाय जागृत न हों, मैं निर्ममत्व भाव को धारणकर णमोकार मंत्र जप करते हुए प्राणों का विसर्जन करूँ। हे प्रभो! अभी तक मैंने अनंतो बार इस संसार में परिभ्रमण करके अनंतानंत बाल-बाल मरण किए हैं तथा उनके फलस्वरूप अनंत दुःखों को भोगा है, अब उन दुःखों से छूटने के लिए मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित संन्यासपूर्वक मरण कर संसार का अन्त करना चाहता हूँ। इस प्रकार की भावना से निरंतर परिणाम विशुद्धि की वृद्धि करनी चाहिए। यहाँ संक्षेप में समाधि की विधि को कहा, आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सल्लेखना के अतिचार

जीवित-मरणाऽऽशंसे, भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः।
सल्लेखनाऽतिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः॥129॥

अन्वयार्थ–जिनेन्द्रैः – जिनेन्द्रदेव के द्वारा, **जीवित-आशंसे** – जीने की अभिलाषा, **मरणाऽऽशंसे** – मरने की अभिलाषा, **भय-मित्र-स्मृति** – भय, मित्रादि की स्मृति तथा, **निदान नामानः** – निदान नामक, **पञ्च** – पाँच, **सल्लेखनातिचाराः** – सल्लेखना के अतिचार, **समादिष्टाः** – कहे गए हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सल्लेखना संबंधी व्याख्यान देख रहे हैं, जिसमें आचार्य महोदय बता रहे हैं कि किस प्रकार एक आसन्न भव्य जीव संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर के कषायों का शमन करता हुआ, राग, द्वेष आदि दुर्भावों को छोड़ता हुआ गुरु चरणों में पहुँचकर संसार सागर से पार करने वाली निर्ग्रंथ दिगम्बर दीक्षा को स्वीकार करता है। पुनः अपना चित्त सम्यग्दर्शन आराधना, सम्यग्ज्ञान आराधना, सम्यक्चारित्र आराधना और सम्यक् तप आराधना में लगाता है और अपने चित्त को आधि-व्याधि-उपाधि तीनों से रहित करके समत्व में लीन होता है। फिर समाधि की साधना की जाती है। वह अपनी साधना की वृद्धि करता जाता है, आहार-पानी के प्रति आसक्ति और कम होती चली जाती है, पुनः आहार-पानी क्रम-क्रम से कम करता चला गया, अधिक से अधिक मौन व आत्मस्थ रहने लगा।

अब यहाँ कह रहे हैं कि समाधि सल्लेखना की विधि को निर्दोष रीति से पालन करने के लिए कुछ दोषों-अतिचारों से बचना चाहिए। जिससे सल्लेखना दूषित होती है, समाधि का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता, समाधि का एक देश फल खण्डित हो जाता है, उन दोषों को अतिचार कहते हैं।

'जिनेन्द्रैः' सभी जिनेन्द्र। सर्वज्ञ, अरिहंत, केवली भगवान् जो तीनों लोकों की समस्त द्रव्यों- पर्यायों को जानते-देखते हैं उनके द्वारा ये पाँच अतिचार देखे गए हैं, जाने गए हैं, कहे गए हैं।

सल्लेखनापूर्वक जो समाधि मरण करता है उसे इन पाँच प्रकार के अतिचारों से बचना चाहिए। **'जीवित-आशंसे'**-जिसने सल्लेखना व्रत धारण किया है वह आराधक या क्षपक जीवित रहने की आकांक्षा करता है तो वह सल्लेखना व्रत का अतिचार है। सल्लेखना लेने

के उपरांत भी सोच रहा है, काश! मैं साल भर और जी जाता, मैं अपनी साधना और करता, इतनी तपस्या और कर लेता, मैं जंगल में जाकर ध्यान लगाता, फिर मैं समाज के लोगों से दूर पहुँचकर आत्मस्थ होता। थोड़ी सी मेरी उम्र और बढ़ जाए, मुझे क्या पता था मेरा काल इतनी जल्दी आ जाएगा, अब मैं क्या करूँ कि मेरी उम्र थोड़ी और बढ़ जाए, अभी जीने की इच्छा है। ऐसे जीने की इच्छा करना अतिचार है।

कोई साधक सोचे कि ऐसे कोई विशेष ज्ञानी तपस्वी मिल जाएँ जो मुझे सम्बोधन दें किन्तु वे यहाँ से दूर हैं, जब तक वे आएँगे तब तक बहुत समय हो जाएगा, मैं भी उन तक जा नहीं सकता, मैं चाहता हूँ उनके सान्निध्य में मैं समाधि करूँ। वे तो सम्मेदशिखर या गिरनार यात्रा पर हैं, मैं यहाँ समाधि की सल्लेखना कर रहा हूँ तो जा नहीं सकता, वो मेरी साधना में सहयोगी बनने के लिए तैयार हैं किन्तु वे पैदल गमन करके आएँगे, बहुत समय लगेगा, क्या करूँ, भगवान्! कैसे भी हो मेरी थोड़ी आयु बढ़ जाए, मैं समाधिमरण तो करूँगा पर बस उनके आने तक और जी जाऊँ। तो ऐसे जीने की इच्छा करना सल्लेखना व्रत का अतिचार है। इसे नहीं कर सकते।

'मरणाशंसे' मरण की इच्छा करना भी अतिचार है। आगे समय बड़ा खराब आ रहा है, समाधि अभी अनुकूल समय में कर लो। फिर मौसम बहुत प्रतिकूल होगा, बहुत शीत पड़ेगी, अभी सितम्बर-अक्टूबर में ही समाधि हो जाए, दिसम्बर-जनवरी तक कौन समाधि की इंतजारी करे। अथवा अरे भाई! इस मई-जून की गर्मी से तो भगवान् बचाए अथवा अगला वर्ष पता नहीं कैसा रहेगा, ज्योतिषी कह रहे हैं कि आने वाला साल बहुत खतरनाक होगा, दुर्भिक्ष पड़ेगा, या युद्ध होने की संभावना है या अन्य अनिष्ट हो सकते हैं तो फिर मैं क्या करूँ। हे भगवन्! मैं तो सोचता हूँ मेरी समाधि जल्दी हो जाए। यदि ऐसे भी इच्छा कर रहा है तो दोष है। यहाँ तक कि एक अन्तर्मुहूर्त पहले या एक अन्तर्मुहूर्त बाद में समाधि की इच्छा करता है तो भी सल्लेखना व्रत का अतिचार है।

साधक आगे ज्यादा जीने की और पहले मरने की आकांक्षा नहीं कर सकता। तो क्या विचार कर सकता है? जब मेरा आयु कर्म पूर्ण होना हो तब हो जाए, मैं अंतिम क्षण तक समतामय परिणाम रखूँ, मेरा संसार के किसी भी प्राणी के प्रति बैर भाव नहीं हो, किसी के प्रति राग-द्वेष-मोह नहीं हो, मेरे चित्त में किसी प्रकार की वासना न हो, मुझे कोई वेदना न सताए। मैं समता भाव के साथ पञ्चपरमेष्ठी की सन्निधि में सिद्धों का ध्यान करते-करते, अर्हंत परमेष्ठी का नामोच्चारण करते हुए, आचार्य परमेष्ठी का संबोधन सुनते-सुनते व आचार्य परमेष्ठी का वरद

हस्त मेरे सिर पर रहे और उपाध्याय परमेष्ठी रहस्यमय सूत्रों की व्याख्या सुना रहे हों जिसे सुनकर मेरा सम्यक्त्व, मेरा ज्ञान, मेरा चारित्र निर्मल हो रहा है, अत्यंत विशुद्धि बढ़ रही है।

साधक विचार करता है इतनी गूढ़ व्याख्या आज समझ में आ रही है, लगता है आज ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ गया है। पहले मैं समझता था ये विषय बड़ा क्लिष्ट है और आज इतना सरल लग रहा है। ऐसा लग रहा है जैसे मेरा चित्त प्रक्षालित हो गया। और साधु परमेष्ठी जिनकी मौनरूप विशुद्ध वर्गणाएँ मुझे प्रभावित कर रही हैं, मेरे चित्त में किंचित् भी क्रोधादि कषाय उदय को प्राप्त नहीं हो रहीं, वे कषाएँ अपना प्रभाव नहीं दिखा पा रहीं। मेरा चित्त एकदम शान्त है। मेरा मन ऐसा निर्मल हो गया है जैसे निर्मल आकाश हो। बादल बरसने के उपरांत जब स्वच्छ हो जाता है तो सूर्य की किरणें जमीन पर सीधी आती हैं ऐसे ही जब कषाय के भाव या पंचेन्द्रिय विषयों के भाव या चारित्र मोहनीय के भाव चित्त से तिरोहित होते हैं तब चेतना में जो निर्मलता आती है वह निर्मलता शब्दातीत होती है।

अगला अतिचार है **'भय'** हे भगवान्! अब समाधिमरण होगा, मैं मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा, अरे! मैं तो अभी मरना नहीं चाहता था, या मेरी समाधि कहाँ होगी, जंगल में होगी या नगर में होगी, गर्मी में होगी या सर्दी में, कहाँ होगी। मुझे धर्मात्मा जन मिलेंगे या नहीं मिलेंगे। मुझे सम्बोधन कौन देगा, हे प्रभु! मेरे परिणाम समाधि के समय कैसे रहेंगे यह सोच-सोच कर अंदर से भयभीत हो रहा है। वह समाधिमरण तो करना चाहता है, साधना की वृद्धि भी कर रहा है किंतु अंदर ही अंदर भयभीत हो रहा है कि न जाने क्या होगा-क्या होगा। जैसे किसी परीक्षार्थी के परीक्षाकक्ष में जाने के पहले हाथ पैर काँपते हैं, वह जानता है सब याद किया है फिर भी उसे घबराहट होती है। ऐसी घबराहट समाधि के समय नहीं होना चाहिए। खूब अभ्यास करो, चिंतवन करो यह शरीर तो पर्णकुटी है, यह तो वस्त्र की तरह से है, जैसे कोई वस्त्र उतारकर रख देता है ऐसे मैं उतारकर रख दूँगा, वस्त्र उतारकर रखने में क्या राग-क्या द्वेष, समत्वभाव है। आयुकर्म पूरा हो गया तो शरीर छूट गया फिर दूसरा प्राप्त होगा। चलो इस शरीर से मैं मोक्ष नहीं जा पाया, कोई बात नहीं मैं देवगति में वैक्रियक शरीर पाऊँगा पुनः मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर अपने संस्कारों को नष्ट नहीं होने दूँगा, फिर मुनि बनूँगा, तपस्या करूँगा और संहनन आदि की अनुकूलता बन जाएगी तो अपने समस्त कर्मों को नष्ट कर केवली बन मोक्ष को प्राप्त करूँगा; इस प्रकार से वह भावना भा सकता है किन्तु वह भय नहीं करे। मृत्यु का कैसा भय, जब मेरी आत्मा की मृत्यु है ही नहीं तो शरीर के नष्ट होने में कैसा भय, यह शरीर ही व्याधियों का घर है, मेरी आत्मा में तो एक भी व्याधि नहीं, मेरा शरीर तो

शक्ति की अपेक्षा परम शुद्ध है। भय करना अतिचार है, अतः भय नहीं करना तभी निर्दोष सल्लेखना होती है। आचार्य भगवन् उमास्वामीजी महाराज ने भी तत्त्वार्थसूत्र में सल्लेखना के पाँच अतिचार कहे किन्तु उन्होंने भयके स्थान पर सुखानुबंध शब्द का प्रयोग किया। सुखानुबंध यानि समाधि के समय में कष्ट-पीड़ा न होवे ऐसी याचना करना।

अगला कहा-**'मित्रस्मृति'** समाधि के समय याद आ रहा है कि बचपन में हम ऐसे खेलते थे, हमने व उसने साथ-साथ दीक्षा ली थी, हम दोनों उन गुरु के पास साथ-साथ पढ़ते थे, वहाँ से सिद्ध क्षेत्र की यात्राएँ भी साथ ही की थीं, हमने कितने वर्ष तक एक साथ साधना की है, हम साथ-साथ योग धारण करते थे। उन्होंने हमारी सेवा की, हमने उनकी सेवा की। उनकी याद आ रही है। या कोई गृहस्थ संबंधी गृहस्थजन हैं उनकी याद आ रही है।

कई बार सल्लेखना का समाचार सुनकर उनके गृहस्थ जीवन का कोई व्यक्ति या पूर्व समय के कोई भी हितैषीजन आ जाएँ और वे चर्चा छेड़ दें, कहने लगें-ठीक हो, मैं अमुक जगह से आया हूँ, पहचान लिया मुझे, याद करो, तो ऐसे व्यक्तियों को उसके समक्ष नहीं आने देना चाहिए। क्योंकि वह तो यही याद करायेगा कि देखो पहले हम दोनों व्यापार करते थे, एक बार साथ-साथ तीर्थयात्रा पर भी गए थे। हमने साथ में एक जमीन भी ली थी तो यहाँ-वहाँ की बात करेंगे। आत्मा की तो कोई चर्चा भी नहीं छेड़ेगें। तो ऐसे प्रसंगों से उस क्षपक को भी मित्रस्मृति हो आती है। और कई बार तो सामने प्रसंग न होने पर भी अचानक ही अतीत की स्मृतियाँ आने लगती हैं, वह कहने लगता है मेरा मन वहाँ जाने का कर रहा है, मैं घर जाना चाहता हूँ, बच्चे पता नहीं कैसे रह रहे होंगे, एक बार देख आता अथवा अपने उपकारी को याद करता है। ऐसी बातें करना भी सल्लेखना को दूषित करना है।

यदि सल्लेखना के समय आत्मा के अलावा किसी और अपरमेष्ठी की याद आ रही है तो उचित नहीं है। परमेष्ठी की याद तो फिर भी धर्मध्यान का निमित्त बन सकती है किन्तु अपरमेष्ठी की याद ठीक नहीं। साधक हो तो अपना मन आत्म साधना में लगाओ, अर्हत् आदि की भक्ति में लगाओ, सिद्धों के ध्यान में लगाओ तब तो ठीक है। याद करके क्या होगा। यदि उनके उपकारों को याद करोगे तो उनके प्रति राग जाग्रत होगा, यदि उन्होंने कोई प्रतिकूल व्यवहार आपके प्रति किया होगा उसे याद करोगे तो द्वेष जागेगा। राग-द्वेष जैसे ही जाग्रत होगा तो समत्व भाव तत्क्षण ही नष्ट हो जाएगा, उत्तम समाधि नहीं हो पाएगी। इसलिए मित्रों की स्मृति करना भी सल्लेखना व्रत का अतिचार है।

अगला कहा–**'निदान'**–मैंने खूब तपस्या व साधना की है, अपनी शक्ति अनुसार व्रत उपवास किए हैं, अब तो भगवान् स्वर्ग में मुझे इन्द्र का पद तो मिलना ही चाहिए। अब तो मैं कुबेर बन जाऊँ अथवा हे प्रभु! आगे मैं चक्री पद को पाऊँ, कामदेव बनूँ, ऋद्धिधारी बनूँ, ऐसा वैभव मेरे पास हो जिसे सुदीर्घकाल तक भोगूँ। मुझे ज्ञात है ऐसा वैभव पुण्य फल से ही प्राप्त होता है, पुण्य के फल से ही धरणेन्द्र आदि बनते हैं, मैंने भी पुण्य किया है, क्या ऐसा वैभव मुझे प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार निदान करने से भी सल्लेखना व्रत दूषित होता है।

इसीलिए सल्लेखना करने वाला व्यक्ति पाँच प्रकार के अतिचारों से अपनी आत्मा को बचाता है। जीने की आकांक्षा, शीघ्र मरने की आकांक्षा, मन में भय का संचार, मित्रों की स्मृति और निदान ये पाँच अतिचार हैं। इन्हें छोड़कर के निर्दोष सल्लेखना व्रत का पालन करना चाहिए। निर्दोष सल्लेखनाव्रतधारी ही उत्तम समाधि को प्राप्त करता है। जो अधिक से अधिक 7-8 भव में और कम से कम 2-3 भव में भी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। आप सभी ऐसी सल्लेखना की भावना अपने जीवन में भाएँ, हम ऐसी शुभ भावना आप सभी के प्रति भाते हैं। इसी के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सल्लेखना धारण का फल

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः॥130॥

अन्वयार्थ–पीतधर्माः – धर्म रूपी अमृत का पान करने वाला निरतिचार सल्लेखनाधारी कोई जीव, **सर्वैःदुःखैः** – सभी प्रकार के दुःखों से, **अनालीढः** – रहित होता हुआ, **निस्तीरं** – अपार-अन्तरहित, **निःश्रेयस** – मोक्ष स्वरूप, **सुखाम्बुनिधिं** – सुख के समुद्र का, **निःपिबति** – पान करता है, अनुभव करता है और कोई क्षपक, **दुस्तरं** – दुर्लभ, बहुत समय में समाप्त होने वाली, **अभ्युदयं** – अहमिन्द्र आदि की सुख परंपरा का अनुभव करता है।

व्याख्यान–महानुभाव! रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में षष्टम् अधिकार में सल्लेखना की विधि को बताया। अब सल्लेखना के फल के विषय में आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी जी यहाँ कहेंगे। जिसने निरतिचार सल्लेखना व्रत की साधना की है, उसे जीवन में क्या प्राप्त होता है? कैसे वैभव प्राप्त होता है? उसका फल क्या है? जैसे कोई व्यक्ति जो शहर में रहने वाला है, जिसने कभी नहीं देखा कि किसान कैसे खेती करते हैं तो वह किसान से पूछता है-जो बीज आपने बोया है उसका फल क्या होगा? जैसे किसी बाग के माली ने अपने बगीचे में आम की गुठली बोयी या अन्य फल के बीज बोये तो बीज से ज्ञात नहीं हो रहा कि इसका फल कैसा होगा। बीज कोई छोटा भी हो सकता है जैसे संतरा-मौसमी का, और कोई बीज बड़ा भी होता है कद्दू-तरबूज आदि का। बीज को देखकर फल के बारे में ज्ञात नहीं होता, तो माली कहता है इस बीज को उत्तमभूमि में बोने से, समय-समय पर सिंचाई-निराई आदि करने से, उत्तम खाद, जल आदि देने से, उचित वायु व प्रकाश प्राप्त होने से, इसकी परिचर्या, परिसंरक्षण अच्छी तरह से हो तो इस बीज का फल अमुक है। अर्थात् गुठली का फल आम आएगा, इस छोटे से बीज का फल अमरुद होगा आदि-आदि वह माली बता देता है। बीज को देखकर फल का ज्ञान नहीं होता इसलिए फल का ज्ञान कराना भी जरूरी है।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी क्षत्रिय कुलोत्पन्न श्रेष्ठ तपस्वी आचार्य थे, वे उच्चकोटि के नैयायिक, न्याय के पारगामी, सिद्धान्त में निष्णात, अध्यात्मिक मनीषी, एक ऐसे तत्त्ववेत्ता आचार्य थे जिन्होंने 2000 वर्ष पहले जो एक अलख जगाई वह अद्वितीय ही थी। उन्होंने लिखा कि सल्लेखना करने वाला व्यक्ति पूछेगा कि सल्लेखना का फल क्या है क्योंकि आगे पंचमकाल में इस जिनशासन की छत्रछाया में अपना कल्याण करने वाला, जिनशासन के सिद्धान्तों को मानने वाला वैश्य कुलोत्पन्न व्यक्ति होगा। वैश्य समाज के व्यक्ति इस धर्म को ज्यादा स्वीकार करेंगे। वैश्य वह कहलाता है जो नफा नुकसान की बात पहले करता है।

क्षत्रिय होता तो ऐसी बात कम करता, वह कहता जो होगा सो देखा जाएगा। द्विज होता तो कहता वर्तमानकाल में परिणाम शुद्ध होना चाहिए, जिसका फल जो है सो ठीक है और वैश्य कहता है पहले इसका फल क्या होगा वह बताओ। शूद्र तो कहता है मुझे तो फल चाहिए, मैं कार्य में विश्वास नहीं करता, तत्काल में ही फल चाहिए। वैश्य भले ही विश्वास कर ले कि यह फल मिलेगा किन्तु शूद्र को तत्काल चाहिए और क्षत्रिय फल की चिंता ही नहीं करता, कर्त्तव्य किए जा फल की इच्छा मत करो। जो प्रभुपरमात्मा, सर्वज्ञदेव ने कहा है उनकी बात मानो, उनको मानना, उनकी बात मानना एक बराबर है। यदि उनकी बात नहीं मानी तो उनको मानना व्यर्थ है और उनकी बात मान रहे हैं तब समझो हम उनको ही मान रहे हैं। तो यहाँ समंतभद्रस्वामी जी सल्लेखना व्रत के फल को छद्मस्थ, मंदकषायी, भद्रपरिणामी, स्वकल्याण के इच्छुक महानुभावों के लिए बता रहे हैं कि वह व्यक्ति जिसने समाधि की साधना की, सल्लेखना व्रत को स्वीकारा उसे क्या फल मिलता है तो यहाँ बताया–

'पीतधर्माः' जिसने धर्मामृत का पान किया है अर्थात् जिसने श्रावक के 12 व्रत और 11 प्रतिमाओं का पालन किया, उन 12 व्रतों में सल्लेखनाव्रत का पालन किया वा मुनिराज के पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचइंद्रिय निरोध, षट्आवश्यक, शेष 7 विशेष गुण इन 28 मूलगुणों का व 34 उत्तरगुणों का पालन किया है। फिर अंत में जिसने सल्लेखना व्रत को स्वीकार किया। नियम अथवा यम पूर्वक सल्लेखना ली और विधिपूर्वक समाधिमरण की पूरी यात्रा की है वह व्यक्ति क्या फल प्राप्त करता है? तो जिसने सल्लेखनाव्रत का पालन किया है, उत्तम समाधि रूप धर्म के अमृत का पान किया है, रत्नत्रय रूप धर्म व चार आराधनाओं का पान किया है वह व्यक्ति सम्पूर्ण प्रकार के दुःखों से रहित हो जाता है। अर्थात् किसी भी प्रकार का दुःख उसे स्पर्श नहीं करता, उसे झांकता भी नहीं। ऐसे सम्पूर्ण प्रकार के दुःखों से रहित कल्याण को, बहुत बड़े वैभव को, बहुत बड़ी विभूति को, इहलोक-परलोक सुख को वह प्राप्त करता है।

सल्लेखना का फल मोक्ष तथा स्वर्गादिक का सुख प्राप्त करना है। मोक्ष को निःश्रेयस कहते हैं और अहमिन्द्र आदि के पद को अभ्युदय कहते हैं। ये दोनों ही पद सुख के समुद्र स्वरूप हैं। अर्थात् निःश्रेयस आत्मोत्थ अनन्त सुख का समुद्र है और अहमिन्द्र आदि का पद रोग, शोक आदि से रहित होने के कारण सांसारिक सुख का उत्कृष्ट स्थान है। निःश्रेयस मोक्ष, निस्तीर है अर्थात् अन्त से रहित है और अभ्युदय-अहमिन्द्र आदि का पद दुस्तर है अर्थात् सागरों पर्यंत विशाल काल से उसका अन्त प्राप्त होता है। क्योंकि वैमानिक स्वर्ग में रहने वाले देवों की आयु सागरों पर्यंत होती है, जघन्य आयु पल्यों में होती है वह भी बहुत होता है।

लौकिक गणित तो कहता है 18 अंक के बाद अब हमारे पास गिनने के लिए संख्या नहीं, किन्तु जैन गणित कहता है 42 अंक तक की संख्या को गिना जा सकता है। 42 अंक तक की संख्या संख्या कहलाती है, उसके आगे की संख्या असंख्यात कहलाती है। तो उसके आगे वाली संख्या पल्य है, इसमें भी फिर असंख्यात का गुणा कर दो फिर उद्धार पल्य हुआ उसमें भी फिर असंख्यात का गुणा करो तो अद्धापल्य होता है। 10 कोड़ा कोड़ी अद्धापल्यों का एक सागर होता है। कितना बड़ा समय हो गया, तो इतने समय तक स्वर्ग में रहने वाला वह देव कल्याणकारी सुख को प्राप्त करता है। वहाँ वे तत्त्वचर्चा में लीन रहते हैं। श्री तीर्थंकर देव के पंचकल्याण में सम्मिलित होकर के आनंद का अनुभव करते हैं, अकृत्रिम जिनालयों की यथासंभव वंदना करते हैं और वे वहाँ रहकर अपने विमान में नियत चैत्याल्य की नित्य भक्ति, अर्चना, अभिषेक आदि करते हैं। पूर्व संचित पुण्य के उदय स्वरूप देह सुख भी भोगते हैं, भौतिक सुख भी भोगते हैं। उनका भौतिक सुख मनुष्य-तिर्यंचों जैसा नहीं कि आज प्राप्त हुआ कल नष्ट हो गया। यहाँ का सुख तो ऐसा है जैसे किसी तिनके की अनी की नोंक पर पड़ी हुई मामूली सी ओस की बूँद जो सूर्य का उदय हुआ सूख गई। स्वर्ग का सुख तो ऐसे मानकर चलिए जैसे विशाल समुद्र। स्वयंभूरमण आदि समुद्र जितना विशाल समुद्र। उस समुद्र में पानी की जितनी बूँदे होती हैं, एक-एक बूंद को 1-1 दिन में खर्च करते जाओ तो कितना समय लगेगा, ऐसा वह दुस्तर सुख जिसका किनारा बहुत समय बाद दिखाई देता है।

सामान्य व्यक्ति के द्वारा वह सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। विरला पुरुष ही इस प्रकार के वैभव को प्राप्त कर पाता है। यूँ कहें अरबों-खरबों-असंख्यात प्राणियों में कोई एक प्राणी निकलकर आ पाता है जो ऐसे स्वर्ग के सुख को प्राप्त कर पाता है अन्यथा जघन्य प्राणी तो भवनत्रिक की अवस्था को प्राप्त करते हैं या तिर्यंच का सुख-दु:ख मिश्रित सुख प्राप्त करते हैं या नरक का दु:ख प्राप्त करते हैं या तिर्यंच गति में एक से चार इंद्रिय के दु:ख को प्राप्त करते हैं या मनुष्य हैं तो मिश्रित सुख-दु:ख प्राप्त करते हैं, किन्तु जो वैमानिक देव हैं वे पुण्य का फल भोगते हैं। जैसे नारकी जीव निरंतर पाप का फल भोगता है ऐसे ही स्वर्ग के देव प्राय:कर निरंतर पुण्य का फल ही भोगते हैं।

वह सल्लेखना व्रतधारी उस मोक्ष सुख रूपी फल को प्राप्त करता है जिसमें दु:ख की कणिका मात्र भी नहीं है। वह सुखामृत सागर किसी विरले व्यक्ति को प्राप्त होता है। जिसने सल्लेखना व्रत को धारण किया है ऐसा जीव ही सुख रूपी समुद्र का पान करता है। वह सुख नि:सीम कल्याणकारक होता है, अंत से रहित होता है उसमें किंचित् भी दु:ख की लगार नहीं है। सल्लेखनाव्रत का निर्दोष, निरतिचार पालन करने वाला साधक व आराधक ऐसे सुख का भोक्ता होता है। जिन किन्हीं पुण्यात्मा महापुरुषों ने ऐसी सल्लेखना को स्वीकार किया है नि:संदेह उन्होंने ही उत्तम सुख को प्राप्त किया है।

यहाँ आचार्य महोदय निरतिचार पालन की हुई समाधि का फल बताते हुए कह रहे हैं कि जिसने रत्नत्रय रूप धर्म को हृदय में धारण कर लिया वह जीव क्रमशः मोक्ष रूप निःश्रेयस सुख को और इन्द्र, चक्रवर्ती, अहमिन्द्र रूप अभ्युदय सुख को प्राप्त करता है। यदि रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त लेता है तो उसी भव से मोक्ष को प्राप्त होता है और यदि रत्नत्रय की पूर्णता नहीं होती तो स्वर्गों में अनुत्तरभोग भोगकर पुनः मनुष्यभव धारण कर सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धियों से सम्पन्न होता है तथा अन्त में मुनिव्रत धारण कर शुक्ललेश्या के बल से शुक्लध्यान प्राप्त कर कर्म कवच को तोड़कर सर्व क्लेशों से रहित होकर मुक्ति पद प्राप्त कर लेता है।

भगवती आराधना ग्रंथ में आचार्य भगवन् शिवकोटी मुनिराज ने कहा—जो यति (मुनि) एक भव में समाधिपूर्वक मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसार में भ्रमण नहीं करता, वह सात या आठ भव धारण कर अवश्य मोक्ष को प्राप्त करता है। बालपंडितमरण से मरण करने वाला श्रावक उत्कृष्टता से सात भव में नियम से सिद्ध होता है तथा जो चउआराधनाओं को उत्कृष्ट रूप से आराधता है वह उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करता है, जो मध्यम रूप से आराधता है वह तृतीय भव में मुक्त हो जाता है और जो जघन्य रूप से आराधता है वह सातवें भव में सिद्ध होता है।

आराधनासार ग्रंथ मे आचार्य भगवन् देवसेन स्वामीजी ने लिखा है कि उत्कृष्ट आराधना करने वाला भव्य काललब्धि के आश्रय से उत्कृष्ट आराधना के द्वारा आठ कर्मों की शृंखला को तोड़कर उसी भव में मुक्ति पद प्राप्त कर लेता है, कोई आराधना के बल से सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं और दूसरे भव से सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं और कोई जघन्य रूप से चारों आराधना करके 7 या 8 भव में नियम से मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं।

आचार्य भगवन् रविषेण स्वामी जी ने पद्मपुराण जी ग्रंथ में लिखा है कि गृहस्थ धर्म का पालन कर जो घर में समाधिपूर्वक मरण करता है वह उत्तम पर्याय को प्राप्त होता है, वहाँ से च्युत हो मनुष्यभव प्राप्त कर उत्तम साधना से मोक्षपद प्राप्त कर लेता है या अधिक से अधिक 7 या 8 भव के अंदर-अंदर मोक्ष प्राप्त करता है। महानुभाव! सल्लेखना की महिमा अचिंत्य एवं वचनातीत है। अतः सल्लेखना मरण का प्रयत्न करना चाहिए।

आप और हम सभी सल्लेखना व्रत को समझकर चार आराधनाओं की आराधना करके समाधिमरण को प्राप्त करें व उत्तम सुख को प्राप्त करने में समर्थ हो सकें। इन्ही भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

मोक्ष का स्वरूप

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्ध-सुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥131॥

अन्वयार्थ–नित्यम् – शाश्वत, **जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैः च परिमुक्तम्** – जन्म, जरा, मरण, रोग, दुःख और भय से रहित, **शुद्ध-सुखं** – अतीन्द्रिय सुखवाला **निःश्रेयसं** – परमकल्याणमय तत्त्व, **निर्वाणं** – मोक्ष, **इष्यते** – कहा गया है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में षष्टम अधिकार में सल्लेखना-समाधिमरण की व्याख्या चल रही है। आचार्य महोदय ने पूर्वकारिका में कहा उस सल्लेखनाधारी को निस्सीम, दुस्तर, अभ्युदय से युक्त, कल्याणकारी सुख की प्राप्ति होती है। अब इस 131वें श्लोक में कहते हैं कि उस कल्याणकारी सुख का क्या नाम है, उसे क्या कहते हैं, उस कल्याण शब्द में क्या निहित है, उसका भाव तो समझ में आए। कल्याण से आशय क्या गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान व मोक्ष इन पंचकल्याणक से है या कुछ लोग कहते हैं हमारे बेटे को आशीर्वाद दे दो इसका कल्याण हो जाए। क्यों भाई दीक्षा लेने की भावना है? अरे नहीं-नहीं महाराज जी, अब ये 30-32 वर्ष का हो गया इसका विवाह नहीं हुआ ऐसा आशीर्वाद दो कि शादी हो जाए तो कल्याण हो जाए। भैया! हम ऐसा कल्याण नहीं कर सकते हैं, हम कल्याण कर सकते हैं तो रत्नत्रय के संस्कार देकर।

एवं पणमिय सिद्धे, जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं॥215॥ (प्रवचनसार)

दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो श्रमण दीक्षा को स्वीकार करो। दुःखों से मुक्त होने का नाम ही कल्याण है। दुःख शेष हैं तो कल्याण नहीं। आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने लिखा-सम्पूर्ण प्रकारों के दुःखों से रहित है वही कल्याणकारक है, यदि कहीं किंचित् भी दुःख है तो वह कल्याण नहीं है। आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी के शब्दों में देखें कि कल्याण शब्द की परिभाषा क्या है, वे किसे कल्याण कहना चाहते हैं?

तो पहली बात कही–**'नित्यं'** नित्य है। जिसका कभी अभाव न हो, जिस सुख का कभी नाश न हो, जो ज्ञान कभी नष्ट न हो, जो अनंतदर्शन कभी नष्ट न हो, जो शक्ति एक बार प्राप्त कर ली वह शक्ति कभी नष्ट न हो वह कभी घटे भी नहीं बढ़े भी नहीं, ज्ञान कभी घटे भी नहीं बढ़े भी नहीं, सुख कभी बढ़े नहीं घटे नहीं, दर्शन भी घटे-बढ़े नहीं अर्थात् अनंत को

प्राप्त कर लिया। इसलिए कहा जो चेतना के शाश्वत गुण हैं ऐसे अनंतचतुष्टय को जिसने प्राप्त कर लिया। ये चारों गुण हमारे कर्मों के आवरण से ढके हुए थे, जब चारों आवरणों को नष्ट कर दिया जाता है तब नित्य कल्याण को प्राप्त किया जाता है, अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य को प्राप्त किया जाता है, यही अनंत चतुष्टय कहलाता है, जो अरिहंत भगवान् के पास होता है। अरिहंत प्रभु के अतिरिक्त ये किसी संसारी व्यक्ति के पास संभव ही नहीं।

आगे आचार्य महोदय कहते हैं **'जन्मजरामयमरणैः'** वह भव्यजीव जो नित्य सुख को प्राप्त कर रहा है, कल्याण को प्राप्त कर रहा है वह इन सबसे रहित है। किन सबसे रहित है? तो पहला है जन्म से रहित है उस आत्मा का अब कभी जन्म नहीं होगा। जो बार-बार जन्म को प्राप्त हो रहा है समझो अभी कल्याण प्राप्त नहीं किया। वह संसारी प्राणी है जो चतुर्गति में भ्रमण कर रहा है, यह अपना भव बदलता रहता है। एक शरीर की आयु पूरी हो गई तो दूसरी धारण कर ली, उसकी पूर्ण हुई तो पुनः अन्य प्राप्त किया ऐसे शरीर बदलता रहता है किन्तु जिसने कल्याण को प्राप्त किया है वह फिर कभी संसार में जन्म नहीं लेता।

दूसरी बात-'जरा' अर्थात् बुढ़ापा। जिसने कल्याण को प्राप्त कर लिया उसके कभी बुढ़ापा नहीं आता। वैसे तो रूढ़िवशात् देवों को भी अजर-अमर कहा जाता है क्योंकि देवों के बुढ़ापा नहीं आता, वे जब से जन्मते हैं तब से लेकर जब तक उनकी आयु पूर्ण नहीं होती तब तक वे यौवन से युक्त सदा राजकुमार जैसे रहते हैं और वे दिव्यशरीर के धारक होते हैं, उनके दिव्य ऋद्धियाँ होती हैं, वे अमर कहलाते हैं, फिर भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अजर कहलाते हैं तो उस शरीर से तो वृद्ध नहीं होते किंतु अन्य शरीर को प्राप्त करके तो वे वृद्ध अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् उन देवों का अजरपना भवाधीन है, भव छूटा पुनः जरा अवस्था प्राप्त हो जाएगी। उन्होंने अभी अजर अवस्था को प्राप्त नहीं किया, उन्होंने जरा को पूरी तरह से नष्ट नहीं किया, देव शरीर में वृद्धावस्था प्राप्त नहीं की इसका आशय यह नहीं कि वे अजर हो गए। कोई बाल्यवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त कर ले और कहे मैंने बुढ़ापा प्राप्त नहीं किया, मैं तो अजर हूँ तो यह सही नहीं। कभी भी वृद्ध अवस्था प्राप्त न हो और कभी जन्म भी न हो और जिस शरीर से कल्याण को प्राप्त किया है उस शरीर में कभी बुढ़ापा भी न आए। वह 'अज' कहलाता है।

अज का अर्थ होता है जिसका दुबारा कभी जन्म न हो। प्रतिष्ठा आदि ग्रंथों में अज शब्द का अर्थ 3 वर्ष का पुराना धान्य लिया जाता है, हिंदी भाषा में अज शब्द का अर्थ बकरे से लिया जाता है। अज शब्द का अर्थ अन्य वैदिक परम्परा में ब्रह्मा से भी लिया जाता है।

अज शब्द के अर्थ में भगवान् को भी लिया जाता है जिनका कभी जन्म नहीं होता। जो जन्म-जरा-मृत्यु से रहित हैं उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए आप पूजन में अर्घ्य चढ़ाते हैं 'जन्म-जरा-मृत्यु-विनाशनाय अथवा अनर्घ पद प्राप्तये'। हे प्रभु! हे पंचपरमेष्ठी! जन्म-जरा-मृत्यु का नाश करने के लिए मैं बहुमूल्य अर्घ्य आपके चरणों में चढ़ाता हूँ। जन्म-जरा-मृत्यु से रहित पद ही कल्याणकारी पद होता है।

अगला है **'आमय'** अर्थात् रोग। जिसने कल्याण को प्राप्त कर लिया है उसको कभी भी रोग की प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि रोग का जो कारण है उसे ही नष्ट कर दिया। असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में रोग होता है। क्योंकि बुढ़ापा तब आता है जब वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम घटे। असातावेदनीय का उदय आ रहा है, शरीर की स्थिरता घट रही है, धर्म की साधना नहीं कर पा रहा, इनके उदय में आने से शरीर की अवस्था जीर्ण-शीर्ण होती है। जब ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय आदि कर्मों का ही नाश कर दिया तब जन्म, जरा, रोग आदि उस शरीर मे आ ही नहीं सकते।

आगे कहा **'मरणैः'**, मृत्यु से भी रहित। जिन्होंने कल्याण को प्राप्त कर लिया उनकी मृत्यु नहीं होगी। कोई कह सकता है जब अरिहंत भगवान् सिद्ध बनते हैं तो क्या उनकी मृत्यु नहीं होती? नहीं। मृत्यु उसे कहते हैं जब कर्म के साथ जीव शरीर को बदले। जो सब कर्मों को नष्ट कर शरीर को त्यागता है उसकी मृत्यु नहीं होती उसका तो निर्वाण होता है, मोक्ष होता है, वे सिद्ध बन जाते हैं। आगे कहा– **'शौकैः'** अर्थात् शोक। उनके जीवन में कभी इष्टवियोग जनित आदि दुःख नहीं होते क्योंकि उन्होंने राग-द्वेषादि 18 दोषों को नष्ट कर दिया है, वे वीतरागी बन गए। वीतरागी होने के कारण उनके शोक आदि 18 प्रकार के दोष भी नहीं हैं। जिनके 18 दोष नहीं होते हैं वही वास्तव में कल्याण करने वाला है, उसने ही अपना कल्याण किया है।

'दुःखैः' कल्याण को प्राप्त आत्मा को कभी दुःख भी नहीं होता। क्योंकि दुःख मोहनीय कर्म के रहते हुए ही रहता है। जब तक सत्ता में, उदय में मोहनीय कर्म बैठा है तब तक दुःख की संभावना है और जब सम्पूर्ण मोहनीयकर्म को नष्ट कर दिया, अब उस प्राणी के जीवन में दुःख नहीं आ सकता। वेदनीय तो केवल वेदन कराता है। इष्ट-अनिष्ट वस्तु की संप्राप्ति भले ही करा दे। अरिहंत भगवान् के भी असाता वेदनीय की सत्ता पाई जा सकती है किन्तु वह साता रूप उदय में आता है। कदाचित् कोई वस्तु आ जाए तो उनके लिए इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं होती क्योंकि उन्होंने वीतराग दशा को प्राप्त कर लिया है इसीलिए वे सम्पूर्ण प्रकार

के दु:खों से रहित हैं। उनके चारित्र- मोहनीय नहीं है इसलिए दु:ख नहीं है। मोहनीय का पूरा नाश कर दिया, अज्ञान दु:ख का कारण है तो अज्ञान का नाश कर दिया, शक्ति की हीनता को दु:ख का कारण मान सकते हैं तो अंतराय कर्म का नाश कर दिया। ऐसे दु:ख रूप चारों घातिया कर्मों का नाश कर दिया।

आगे कहा–**'भयं'** भय उसे होता है जिसे आत्मा का पूरा ज्ञान नहीं होता। जिसकी आत्मा शुद्ध हो गई, कर्म से रहित हो गई उसकी मृत्यु नहीं हो सकती, तो उसे किस प्रकार का भय। सात प्रकार के भय होते हैं।

इहलोक परलोक भय मरण वेदना जास।
अगुप्ति अरक्षा अकस्मात् भय सात।

ये सात भय उसे ही होते हैं जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ, जिसने कभी आत्मा को जाना नहीं, माना नहीं, पहचाना नहीं, अनुभव नहीं किया वही व्यक्ति भय का अनुभव कर सकता है। तो आचार्य महोदय कह रहे हैं जो जन्म, जरा, रोग, मरण, भय, शोक सबसे मुक्त है। इसके पश्चात् और भी जो अवस्थाएँ हैं उच्च-नीचगोत्र की अवस्था अब उन्हें प्राप्त नहीं होगी, अब उन्हें शरीरगत कोई अवस्थाएँ प्राप्त नहीं होंगी, नाम कर्म नष्ट करने से छोटा-बड़ा सुंदर-असुंदर, सुस्वर-दुस्वर, आदेय-अनादेय आदि प्रकृतियों के फल कभी प्राप्त नहीं होंगे। अब वह जीव सब प्रकार के कर्मों से रहित हो गया।

'शुद्धसुखं' वह कल्याण जिसमें किंचित् भी अशुद्धि नहीं है। शुद्ध स्वभाव को प्राप्त होने पर ही शुद्ध सुख की प्राप्ति होती है अशुद्ध स्वभाव में रहते हुए शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। जैसे जब तक जल में गंदगी पड़ी है तब तक वह जल शुद्ध नहीं और सब सम्पूर्ण गंदगी दूर हो गई तो जल को शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति हो गई। 'नि:श्रेयसं' वह शुद्ध सुख ही नि:श्रेयस है, नित्य है, वही सुख उत्कृष्ट है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि मैं तो सुखी हूँ तो उसका कहना स्ववचन बाधित है। क्यों? क्योंकि प्रत्यक्ष में उसके साथ दु:ख दिखाई दे रहा है। वह शरीर के नष्ट होने पर दु:खी हो सकता है, वह व्यक्ति अनिष्ट का संयोग होने पर दु:खी हो सकता है, इष्टवियोग होने पर या शरीर में कोई पीड़ा होने पर दु:खी हो सकता है या अगले भव में उत्तमभोग मिले उसके निदान के लिए दु:खी हो सकता है, तो वह व्यक्ति सुखी कैसे है। जिसने पूर्णता को प्राप्त नहीं किया है वह अपूर्ण व्यक्ति कभी सुखी नहीं होता। शुद्ध सुख को प्राप्त किए बिना कभी सुखी नहीं होता।

संसारी प्राणी जिसे सुख कहता है वह सुख नहीं सुखाभास है। सुखी तो वह है जिसने दु:ख के कारण को नष्ट कर दिया। सुखी तो वही है जहाँ किंचित् भी दु:ख नहीं है, वही सुख नित्य है। जिसने कल्याणकारी सुख प्राप्त किया है उसे ही निर्वाण की अवस्था कहा जाता है, सिद्ध अवस्था कहा जाता है। महानुभाव! यही सल्लेखना व्रत का साक्षात् व पारम्परिक फल है। वह फल आप सभी प्राप्त करें ऐसी आप सभी के प्रति मंगल भावना भाते हैं। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

मुक्त जीवों की विशेषता

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्॥132॥

अन्वयार्थ–विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः–केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, स्वास्थ्य/परमउदासीनता, प्रह्लाद/अनंतसुख, तृप्ति व निर्मलता से युक्त होते हुए, **निरतिशया** – अतिशय आदि गुणों की हीनाधिकता से रहित, **निरवधयो** – काल की मर्यादा से रहित, **निःश्रेयसम् सुखम्** – मोक्ष के सुख में, **आवसन्ति** – निवास करते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में यहाँ विस्तार से सल्लेखना की विधि व समाधिमरण के विषय में आचार्य भगवन् ने बताया। सल्लेखनाधारी को निःश्रेयस सुख की प्राप्ति होती है जो निस्सीम है, कल्याणकारी है। वह सल्लेखना रूपी धर्म का पान करता है जिससे जन्म-जरा-मृत्यु से रहित, शोक-भय-दुःख से रहित अनंत सुख का पान करने वाला होता है अर्थात् वह निर्वाण सुख को प्राप्त करता है। निर्वाण का अर्थ होता है जिस आत्मा के अंदर से कर्म रूपी बाण निकल चुके हैं। वह जीव निर्वाणगत कहलाता है। जिसने निर्वाण को प्राप्त किया, मोक्ष को प्राप्त किया उन्हें मुक्तजीव कहो, सिद्ध कहो, शुद्ध कहो। कई बार लोग पूछते हैं महाराज जी! सिद्ध परमेष्ठी सिद्धालय में क्या करते हैं? कुछ नहीं करते। काम तो संसार में किया जाता है, सिद्धालय में कुछ नहीं किया जाता है। जो अनादि से कर्मों का बंध किया था उन कर्मों का फल यहाँ भोग लिया, अब जब कर्मों को नष्ट किया तो जो आत्मोत्पन्न गुण हैं उनको वे भोगते हैं, अनंतसुख को अनंतकाल तक भोगते हैं।

संसार की किसी भी द्रव्य पर्याय की दशा 33 सागर से ज्यादा नहीं है, चाहे नरक में हो चाहे स्वर्ग में हो। मनुष्य-तिर्यंच की अपेक्षा से देखें तो तीन पल्य से ज्यादा नहीं किन्तु वह भी असंख्यात वर्ष का समय होता है। समाधि को ग्रहण करने वाला आराधक-साधक साधना करता है, निरीह वृत्ति को धारण करता है, इच्छानिरोध करते हुए तपस्या करता है, अपनी आत्मा को आत्मा में लीन कर देता है। फिर वह नूतन कर्मों का बंध नहीं करता, पुराने बंधे हुए कर्म उदय में आते चले जाते हैं, उनके फल को समता से भोगता है। ऐसा वह जीव परम शुद्ध अवस्था, सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

निर्वाण को प्राप्त मोक्षगत जीव मोक्ष में कल्याणकारी सुख को प्राप्त करते हैं। वह सुख कैसा है–**'विद्या'**–जहाँ पर अनंतज्ञान है। जिसका कोई अंत नहीं ऐसे ज्ञान के माध्यम से वे लोक और अलोक में विद्यमान प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण, प्रत्येक द्रव्य–गुण की प्रत्येक पर्याय को जानते हैं। 'जानते' शब्द से आपको लगता होगा कि वे बुद्धिपूर्वक जानते हैं किन्तु नहीं, यूँ कहें कि उनके ज्ञान में सब कुछ झलकता है। जैसे कि मंगलाचरण में कहा–

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्यादर्पणायते॥

जिनकी विद्या में लोक–अलोक दर्पण के समान झलकता है, जिन्होंने आत्मा से पाप रूपी मैल नष्ट कर दिया है ऐसे वीर प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।

आचार्य भगवन् अमृतचन्द्रस्वामी जी ने भी लिखा–जिस परम ज्योति को प्राप्त करके वह आत्मा परम शुद्ध दशा का अनुभव करती है उस परम ज्योति से लोक–अलोक सब जाना जाता है। वह केवलज्ञान ज्योति जो वचन के अगोचर है, संसार के कारणभूत कर्मों का उन्मूलन करने वाली है और मोक्ष के कारणभूत सत् दर्शन–विद्या–चारित्र को देने वाली है। यहाँ कह रहे हैं सिद्धों के पास अनंतज्ञान है। निश्चय से तो वे अपनी आत्मा को जानते हैं व्यवहार से कहें तो तीनों लोकों की समस्त द्रव्य पर्यायों को जानते हैं अर्थात् उनके ज्ञान में झलकते हैं।

'दर्शन' वे सिद्ध परमेष्ठी अनंतदर्शन से संयुक्त होते हैं। जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के नष्ट होने पर अनंतज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसे ही दर्शनावरण कर्म के नष्ट होने पर अनंतदर्शन की प्राप्ति होती है। वे लोक–अलोक में विद्यमान सभी चर–अचर, चित–अचित्, स्थावर–गमन समस्त चीजों को देखने में समर्थ होते हैं। ज्ञान से जानते हैं, दर्शन से देखते हैं किंतु दोनों ही युगपत् होते हैं।

'शक्ति' अरिहंत प्रभु अनंतचतुष्ट्य से युक्त होते हैं। सिद्ध बनने के उपरांत ये गुण नष्ट नहीं होते, इनके साथ चार नास्तिकरूप गुण और प्रकट हो जाते हैं। अघातिया कर्म के नाश हो जाने से तो मोक्ष को प्राप्तकर निकलपरमात्मा–शुद्धपरमात्मा अनंतज्ञान–दर्शन–शक्ति–सुख से संयुक्त होते हैं। अगला है– **'स्वास्थ्य'** अर्थात् वे सिद्ध परमेष्ठी अपने आप में स्थिर हो जाते हैं, लीन हो जाते हैं। 'परमोदासीनता भाव' प्रकट होता है। परमोदासीन भाव कहलाता है कि उनके अंदर संसार के किसी भी परिणमन से परिणमन नहीं होता। उनका परिणमन स्वाश्रित है। संसारी प्राणियों का परिणमन तो निमित्तों के आधीन है, अच्छा देखा तो अच्छा भाव हो गया, बुरा देखा तो बुरा भाव हो गया, पुण्योदय में भाव बदल गया, पापोदय में कुछ और

हो गया। काल का प्रभाव संसारी प्राणी पर पड़ता ही है, वीतरागी पर नहीं पड़ता। वे सिद्ध स्वाश्रित-परमोदासीन भाव को प्राप्त हुए हैं उनके किंचित् भी राग- द्वेष परिणाम कभी नहीं हो सकता।

आगे कहा **'प्रह्लाद'** वे सिद्ध परमेष्ठी प्रकृष्ट आह्लाद से युक्त होते हैं, उनके आह्लाद को किसी अन्य सुख-आनंद की उपमा नहीं दी जा सकती। जैसे सागर को किसी की उपमा नहीं दी जा सकती, आकाश को किसी की उपमा नहीं दी जा सकती, सम्पूर्ण पृथ्वी को किसी की उपमा नहीं दी जा सकती, दिव्य तेज युक्त दिवाकर सूर्य को किसी की उपमा नहीं दी जा सकती ऐसे ही अरिहंत व सिद्धों के गुणों को कोई उपमा नहीं दी जा सकती। अरिहंतों के गुणों को भले ही कोई कह दे कि अरिहंतों के गुण सिद्धों की तरह थे, पर सिद्धों के गुणों को क्या उपमा दोगे। सिद्धों में गुण कैसे हैं तो सिद्धों में जैसे हैं वैसे ही हैं, उनके गुण अनुपमेय हैं।

आगे कहा-**'तृप्ति'** वे सिद्ध परमेष्ठी तृप्त होते हैं। छद्मस्थ प्राणी अतृप्त रहते हैं, वे संसार की वस्तुओं से अपने आपको भरना चाहते हैं ये भी मिले वो भी मिले, भोग-उपभोग की वस्तुएँ मिलती रहे। किन्तु जिस व्यक्ति की ज्ञान चेतना जाग्रत हो गई है, जो व्यक्ति अपनी आत्मा में लीन रह सकता है, ज्ञान में लीन रह सकता है ऐसा व्यक्ति ज्ञान से संतुष्ट होता है, जैसे पृथ्वी में जल विद्यमान है, ऊपर से मिट्टी हटाते जाओ तो नीचे से जल निकलकर आ जाता है, ऐसे ही आत्मा से कर्मों की परतें हटाते जाओ तो आत्मा के अंदर जो स्वभाव-गुण हैं वे प्रकट हो जाते हैं, फिर आत्मा पर के आधीन कभी नहीं हो सकती। वह स्वाधीन आत्मा स्वात्मोत्पन्न जितने भी गुण हैं उन सभी शुद्ध स्वभावों का, गुणों का उपभोग करती है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने कहा है—ज्ञान आत्मा का ऐसा गुण है जो आत्मा को भरता है, शुद्ध करता है, आत्मा को उसमें रमण कराता है, आत्मा को परमानंद देने वाला होता है इसलिए कहा ज्ञान के समान अन्य कोई सुख का कारण नहीं बनता।

महानुभाव! जब तक हमारी दृष्टि संसार की वस्तुओं से तृप्ति पाने की है तब तक हम अपने आत्मा के सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। जब संसार की वस्तुओं से तृप्ति पाने की अभिलाषा नष्ट होने लग जाए, संसार के पदार्थों में सुख की कल्पना, कामना नष्ट होने लग जाए और हमारी यह धारणा नष्ट हो जाए कि हमें सुख पर वस्तु से मिलेगा तो धारणा के नष्ट होते ही व्यक्ति आत्मोत्पन्न सुख की खोज में लग जाता है। और जब आत्मोत्पन्न सुख की खोज में लगता है तब उस सुख को प्राप्त करके ही रहता है।

आगे कहा–**'शुद्धि'** वे सिद्ध प्रभु परम निर्मल भाव से युक्त होते हैं, उनकी चेतना परम निर्मल हो गई। निर्मल से आशय है अब उसमें कोई कर्म मल नहीं है, इतना ही नहीं उस निर्मल आत्मा में कोई भी कर्म मल उत्पन्न नहीं हो सकेगा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने कहा कि ज्ञान सुख का कारण है। यहाँ आपकी शंका हो सकती है कि उन्होंने संयम को सुख का कारण क्यों नहीं कहा? क्योंकि संयम सुख का कारण नहीं, सुख है। मोहनीय कर्म के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है सुख का कारण प्राप्त नहीं होता। ज्ञान उस मोहनीय कर्म को नष्ट करने में कारण है। इसलिए ज्ञान को सुख का कारण कहा, संयम आदि को तो साक्षात् सुख कहा।

महानुभाव! आगे कहा–**'निरतिशया'** सिद्धों का सुख अतिशय से रहित है अर्थात् हीनाधिकता नहीं होती कि कभी सुख घट गया कभी बढ़ा गया, ऐसे चमत्कार कौतुक नहीं होते। उन्हें तो अनंत सुख प्राप्त हो गया, अब उसमें न्यूनता नहीं आएगी एवं किंचित् भी वृद्धि नहीं होगी ऐसी हीनाधिकता से रहित उनके गुण होते हैं।

'निरवधयो' उन्होंने जो गुण प्राप्त किए हैं उनकी कोई अवधि नहीं है। वे गुण अवधि से रहित अनंतकाल तक प्राप्त करने वाले हैं। वे सिद्धपरमेष्ठी अनंतकाल तक उस मोक्ष में बसते हैं। अब वे कभी लौटकर नहीं आएँगे। लोग पूछते हैं महाराज जी! ऐसा कैसे है कि सिद्धालय से नहीं आएँगे? जैसे किसी बीज को जलाने पर वह राख बन जाता है, उस राख से कोई वृक्ष पैदा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कर्मों को जलाने से अब संसार पैदा नहीं हो सकता। संसार का कारण है कर्म, कर्म ही नष्ट हो गया तो संसार कैसे पैदा होगा।

इस प्रकार जो उत्तमसमाधि को प्राप्त करने वाले हैं, सल्लेखना व्रत के फल को प्राप्त करने वाले हैं ऐसे पुण्यात्मा महानुभाव इस प्रकार के सुख को भोगने वाले होते हैं। यह भोगना भी शरीरधारियों जैसा नहीं है। शरीरधारी व्यक्ति मुख, नासिका आदि से सेवन करते हैं, अपनी इंद्रियों से सेवन करते हैं किंतु सिद्ध परमेष्ठी ऐसे सेवन नहीं करते क्योंकि वे तो शरीर से रहित हैं, देहातीत हैं, कर्मों से रहित कर्मातीत हैं, कर्म के फल से रहित हैं इसलिए वे आत्मा में लीन रहते हुए अपने सुख का वेदन करते हैं। स्वसंवेदी आत्मा ही स्वसंवेदन योग्य है। मेरी आत्मा का संवेदन मेरे अलावा संसार का कोई भी जीव कभी भी नहीं कर सकता। मेरी आत्मा का वेदन मैं ही करूँगा, मैं ही कर सकता हूँ, मैं ही कर सकता था। क्योंकि मेरी आत्मा स्वानुभवगम्य है, परानुभवगम्य नहीं है और मैं भी पर का अनुभव नहीं कर सकता।

वे सिद्धपरमेष्ठी अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं और अपनी आत्मा का अनुभव करते हुए अनंतकाल तक रहते हैं। क्योंकि पर का अनुभव करने वाला व्यक्ति, परपदार्थों को भोगने वाला व्यक्ति निःसंदेह परपदार्थों को भोगते-भोगते बोर हो जाएगा, फल भी निरंतर नहीं मिलेगा, फल भी क्रमशः बदलता रहेगा किन्तु जो आत्मा से उत्पन्न हुए सुख आदि गुण हैं वह कभी बदलेंगे नहीं, जीव उससे कभी अघाता नहीं है, उससे तृप्ति होती जा रही है, उसी का सेवन-अनुभव किए जा रहे हैं।

महानुभाव! कहने का अभिप्राय यह है कि वे सिद्ध परमेष्ठी इस प्रकार के सुखों का वेदन करते हैं, स्वात्मोत्पन्न गुणों का भोग करते हैं, स्वसंवेदन करते हैं। ऐसा आचार्य महोदय ने यहाँ बताया। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

मुक्तावस्था की विशेषता

कालेकल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोक-संभ्रान्तिकरण-पटुः॥133॥

अन्वयार्थ–च – और, **यदि** – यदि, **त्रिलोक-संभ्रान्तिकरण-पटुः** – तीन लोक में संभ्रान्ति कारक/उलटपलट करने वाला, **उत्पातोऽपि**, – प्रलय भी, **स्यात्** – हो जावे तो भी, **कल्पशते काले गतेः अपि** – सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर भी, **शिवानां** – मुक्त जीवों के दर्शन-ज्ञानादि गुणों में, **विक्रिया** – विकार, **लक्ष्या न** – दिखाई नहीं देता।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में षष्टम् अध्याय सल्लेखना अधिकार में समाधिमरण की विधि देखने के उपरांत समाधि का फल बताया संसार के सारभूत दिव्य सुखों की प्राप्ति और परम्परा से मोक्ष सुख। जो पंडित-पंडित मरण को प्राप्त करते हैं वे मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं, जो पंडित मरण को प्राप्त करते हैं वे स्वर्ग आदि की विभूति प्राप्त करते हैं, जो बालपंडित मरण को प्राप्त करते हैं वे भी स्वर्ग की विभूति को प्राप्त करते हैं, बालमरण सम्यग्दृष्टि का होता है जो चारों गति में संभव है। किंतु बाल-बालमरण धर्म की कोटि में नहीं आता क्योंकि वह मिथ्यात्व और असंयम के साथ होता है।

आचार्य महोदय ने समाधि का फल निःश्रेयसअभ्युदय आदि सुख बताया। जिसमें दुःख नहीं उस कल्याणकारी नित्यसुख को जो प्राप्त करते हैं वे मुक्त जीव कहलाते हैं। एक बार सिद्धत्व की प्राप्ति हुई तो फिर वे कभी असिद्ध नहीं होते। पूर्वकारिका में जैसा देखा था कि बीज के नष्ट हो जाने पर पुनः वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं है, उसी प्रकार कर्म के नष्ट हो जाने पर उस आत्मा में पुनः कर्म की उत्पत्ति, स्थिति कुछ भी संभव नहीं है। किन्तु एक बार आत्मा से कर्म पूर्णतः नष्ट हो जाएँ, यदि किंचित् भी सत्ता में शेष रह गया तो संसार की वृद्धि संभव हो सकती है। जब सम्पूर्ण कर्म नाश होने पर आत्मा शुद्ध हो जाए फिर जन्म-मरण की संतति नहीं होती।

आचार्य महोदय बता रहे हैं कि वे सिद्धपरमेष्ठी लोकाग्र के शिखर पर स्थित हैं। यदि कदाचित् तीनों लोकों में क्षोभ पैदा करने वाला ऐसा कोई उत्पात हो जाए या ऐसा कोई कार्य हो जाए जिससे तीनों लोक क्षुभित हो जाएँ। कैसे? तीर्थंकर भगवान् के जन्म के समय तीनों लोकों में हलचल मच जाती है, सभी जीव एक क्षण के लिए शांति का अनुभव करते हैं।

यदि कदाचित् कोई उपद्रव रूप ऐसा कोई कार्य हो जाए जिससे तीनों लोक क्षुभित हो जाएँ। महामारी से देश, नगर, महानगर प्रभावित होता है, विश्वमारी से पूरा विश्व प्रभावित होता है या ज्योतिष ग्रह विमान टकराएँ तो मध्यलोक में हानि हो सकती है, मनुष्य-तिर्यंच नष्ट हो सकते हैं या देव उपद्रव हो सकता है अथवा कैसा भी, कोई भी कारण हो जाए, जो हो नहीं सकता उसकी भी कल्पना कर लो कि वैसा भी हो जाए, तब भी सिद्धत्व को प्राप्त मुक्त जीवों में कुछ परिवर्तन नहीं होता। जैसे सामने दर्पण रखा हो उस दर्पण के सामने प्रत्यक्ष जलती हुई अग्नि का प्रतिबिम्ब झलक रहा हो, उस परछाई से दर्पण गर्म नहीं होता, बारिश हो रही हो तो दर्पण गीला नहीं होता, अगर कोई शोर-शराबा कर रहा हो तो उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। दर्पण में परछाई चाहे पुष्प की आए या प्याज की, चाहे किसी की भी परछाई आए उस परछाई से दर्पण में किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ता, वह दर्पण उसे ज्यों की त्यों झलकाता है ऐसे ही जो सिद्ध हो गए हैं उनके ज्ञान में, उनकी चेतना में लोक के सभी द्रव्य-गुण-पर्याय झलकते हैं किंतु उनमें किंचित् भी विकार पैदा नहीं होता, ज्यों की त्यों रहते हैं।

अनादिकाल से धर्म द्रव्य शुद्ध है, अधर्म द्रव्य शुद्ध है, आकाशद्रव्य शुद्ध है व काल द्रव्य शुद्ध है। ये चारों अनादि अनंत शुद्ध हैं। जीव अनादिकाल से अशुद्ध होता हुआ भी शुद्ध हो सकता है किन्तु यह एक बार भी शुद्ध होता है तो अनंतकाल के लिए होता है और पुद्गल अनंतबार शुद्ध हो सकता है और अनंत बार अशुद्ध हो सकता है। पुद्गल की विशेषता ही है पूरण-गलन, शुद्ध-अशुद्ध होते रहना। पुद्गल खण्डित होता है, संघात होता है, गलित होना, इकट्ठा होना आदि इसके स्वभाव हैं। आप लोग कहते हैं मैं मोटा हो गया, मैं पतला हो गया, मैं वृद्ध हो गया, मेरी काया कमजोर हो रही है या मैं तंदरुस्त हो गया आदि-आदि। यदि यह सब बातें शरीर के लिए कह रहा है तब तो कोई बात नहीं किन्तु उसे ही अपनी आत्मा मानता है तो समझो वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि यह सब पुद्गल का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं है। दुर्बल होना, मोटा होना, खण्ड-खण्ड होना ये सब आत्मा के धर्म नहीं हैं। पुद्गल की पर्याय हैं। द्रव्यसंग्रह में भी पढ़ते हैं।

सद्दो बंधो सुहुमो, थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया, पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥16॥

सिद्धान्ति देव आचार्य श्री नेमिचन्द्र स्वामी जी ने पुद्गल की ये दस पर्याएँ कहीं। आत्मा में तो अनादिकाल से असंख्यात प्रदेश थे, हैं और रहेंगे। किसी भी आत्मा में एक प्रदेश कम नहीं हो सकता है और एक प्रदेश ज्यादा नहीं हो सकता है। आत्मा में जितने स्वभाव हैं वे

मूलतः नष्ट नहीं होते और जो स्वभाव नहीं है वह स्वभाव आत्मा में कभी प्रकट नहीं होता। संयोगी पदार्थों के माध्यम से आत्मा में कदाचित् विभाव परिणति होती है। वह परिणति भी तभी तक दिखाई देती है जब तक संयोगी पदार्थों का प्रभाव है, प्रभाव नष्ट होते ही चेतना में उसका प्रभाव नहीं रहता।

आचार्य महोदय कह रहे हैं **'कालेकल्पशतेऽपि च'** सैकड़ों कल्पकाल के बीत जाने पर भी। जैसे–व्यक्ति सोचता है कि मनुष्य की आयु अभी वर्तमान पंचमकाल में अधिकतम 120 वर्ष है, छटवें काल में 20 वर्ष रह जाएगी। अकालमृत्यु से वह कभी भी मर सकता है, गर्भ में भी और जन्म के बाद भी। उल्टे क्रम से चौथेकाल की आयु देखें अर्थात् ज्यों-ज्यों पंचमकाल से आगे बढ़ते हैं तृतीयकाल की ओर अपनी दृष्टि रखते हैं त्यों-त्यों आयु, अवगाहना, शक्ति, आहार आदि की वृद्धि दिखाई देती है। चौथेकाल में एककोटीपूर्व आयु वाले मनुष्य भी होते हैं। ये कर्मभूमि के मनुष्य की उत्कृष्ट आयु है। भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंच की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है, जघन्य आयु कर्मभूमि में अन्तर्मुहूर्त और भोगभूमि में एक पल्य। इस पल्य से ज्यादा आयु वाले भवनवासी आदि देव होते हैं, उससे ज्यादा आयु वाले वैमानिक देव होते हैं क्योंकि व्यंतर और ज्योतिष देवों की आयु पल्य में ही होती है। नारकियों की और वैमानिक देवों की आयु सागरों में होती है। पहले नरक में जघन्य आयु दस हजार वर्ष से लेकर के एक सागर। उसके आगे बढ़ते हुए सप्तम नरक की आयु 33 सागर की होती है ऐसे ही अंतिम स्वर्ग या सर्वार्थसिद्धि विमान की उत्कृष्ट व जघन्य आयु 33 सागर की होती है। यह 33 सागर का काल भी बहुत होता है। जैनदर्शन का असंख्यात 42 अंकों के बाद शुरु होता है। तो उतने सुदीर्घकाल तक वह जीव उस अवस्था में रहता है। ऋषभदेव भगवान् की आयु 84 लाख पूर्व की थी, 83 लाख पूर्व तक उन्होंने राज्य किया पुनः दीक्षा ली, केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया तो ऐसा लगता कि 83 लाख पूर्व आयु जैसे युगों के युगों निकलते जा रहे हैं, हजारों-हजार वर्ष निकलते जा रहे हैं। और जिनकी आयु सागरों में है उनके बारे में सोचें तो क्या कहेंगे।

अब इस प्रकार की आयु को भोग करके, उतने काल तक तीव्र पुण्य का फल भोगकर के, सातिशय पुण्य का फल भोगकर के, संसार के समस्त उत्कृष्ट पदार्थों को भोग करके पुनः उनसे विरक्त होकर के, यथाजात दिगम्बर दीक्षा लेकर के, संसार-शरीर-भोगों से परमविरक्ति के साथ तपस्या करके, राग-द्वेष को क्षीण करके, पूर्वबद्ध कर्मों को उदय में लाकर उनकी उदीरणा कर निर्जरा करते हैं। पाप प्रकृति को अपनी तपस्या से संक्रमण कर पुण्य प्रकृतियों

में बदलते हैं। अब आगे कर्मों का बंध नहीं हो रहा है और पीछे बंधे कर्मों की निर्जरा होती चली जा रही है तो वह जीव कर्मों से छूट जाता है।

परमविरक्ति किसके होती है? जो संसार का उत्कृष्ट-उत्कृष्ट फल भोग चुका है। या तो भोग लिया है या अपने शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान से, भावश्रुत ज्ञान से जान लिया है वही परमविरक्ति को प्राप्त होता है। परमविरक्ति को प्राप्त कर जिन्होंने तपस्या की, राग-द्वेष को क्षीण कर दिया व उनको क्षीण करने से ही वे कर्मों से मुक्त होते हैं। यहाँ कह रहे हैं सैकड़ों कल्पकाल भी निकल जाएँ। एक कल्पकाल बीस कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। दस कोड़ाकोड़ी सागर का अवसर्पिणी और दस कोड़ाकोड़ी सागर का एक उत्सर्पिणी होता है। ऐसे सैकड़ों, असंख्यातों कल्पकाल बीत जाएँ, फिर भी 'शिवानां गते' मोक्ष प्राप्त जीवों में 'न विक्रियालक्ष्या' कोई विक्रिया नहीं देखी जाती है, विकार भाव नहीं देखा जाता। जिस प्रकार आदिकाल से विद्यमान धर्म-अधर्म-आकाश व कालद्रव्य में कोई विकार नहीं देखा जाता है उसी तरह से सिद्धत्व को प्राप्त सिद्धों में भी कोई विकार नहीं देखा जाता है। वे समस्त विकारों से रहित होते हैं।

निकल परमात्मा स्वरूप होना ही हमारी आत्मा की नियति है। संसार में परिभ्रमण करना आत्मा की प्रकृति नहीं है ये हमारी विकृति है। हम विकृति को छोड़कर अपने सुसंस्कारों के माध्यम से प्रकृति को प्राप्त कर लें तो हम भी सिद्धत्व को प्राप्त कर लें। फिर कोई भी प्रक्रिया-विक्रिया- अशुद्ध परिणमन संभव नहीं है।

यहाँ कहा—तीनों लोकों को क्षुभित करने वाला कोई उत्पात भी होता है, वैसे ऐसा होगा नहीं फिर भी कदाचित् हो जाए तब भी सिद्धों में कोई प्रतिक्रिया-विक्रिया नहीं होती। जैसे इन्द्र चाहे तो जंबूद्वीप को गेंद की तरह फेंक सकता है किंतु फेंकता नहीं, ऐसे ही तीन लोक में कोई संभ्रान्ति या क्षोभ हो जाए तो भी सिद्धों में किंचित् भी कुछ विकृत परिणमन नहीं हो सकता।

महानुभाव! यहाँ यही बताया कि वे सिद्ध परमेष्ठी जिन्होंने एक बार सिद्धत्व को प्राप्त कर लिया वे अनंतकाल के लिए सिद्धत्व को प्राप्त हो गए। अब वे कभी संसारी नहीं बनेंगे। आप और हम उस सल्लेखना व्रत की भावना भाते हुए उसका निरतिचार पालन करें, अंत में उत्तम समाधिमरण को प्राप्त करें, परम विशुद्ध परिणामों के साथ अपने पार्थिव शरीर का परित्याग करें। ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं। इन्हीं मंगल भावनाओं के साथा।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय॥

मुक्त जीवों की शोभा

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्य-शिखामणिश्रियं दधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः॥134॥

अन्वयार्थ–निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः – किट्टकालिमा से रहित की कांति वाले सुवर्ण के समान जिनका स्वरूप प्रकाशमान हो रहा है ऐसे, **निःश्रेयसं अधिपन्नाः** – मोक्ष अवस्था को प्राप्त करने वाले सिद्ध परमेष्ठी, **त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं** – तीन लोक के अग्रभागपर चूड़ामणि की शोभा को, **दधते** – धारण करते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार की वाचना में षष्टम् सल्लेखना अधिकार का प्रकरण चल रहा है। जिसमें सल्लेखना का उपसंहार रूप उत्कृष्ट फल सिद्धत्व की प्राप्ति कहा। पूर्व कारिका में कहा कि सिद्ध परमेष्ठी किस प्रकार अपनी स्वभाव रूप अर्थपर्याय में परिणमन करते हैं, उनमें कभी भी विभाव रूप परिणमन नहीं होता। अब 134वें श्लोक में आचार्य महोदय उन सिद्धों को कैसी उपमा दे रहे हैं, उन्हें कैसे रूपान्तरित कर रहे हैं। उन्हीं के शब्दों में देखते हैं–

'निःश्रेयसं अधिपन्ना' कल्याण अर्थात् जिसके बाद करने को कुछ शेष न हो। जिसके बाद करना कुछ शेष है तो वह कल्याण नहीं कहलाता। अब आप कहेंगे तीर्थंकर प्रभु के पाँच कल्याणक होते हैं, उसका क्या अर्थ है? कल्याणक का अर्थ ऐसा लगाते हैं कि कल्याण करने वाले। तीर्थंकर प्रभु ने पूर्वभव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, जिससे उनके पाँच महोत्सव होते हैं। उन पाँच महोत्सव के निमित्त से भव्यजीव सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, संयम आदि की प्राप्ति करते हैं और वह रत्नत्रय कल्याण में निमित्त कारण है, बिना रत्नत्रय के कोई आत्मा परमात्मा नहीं बनती इसीलिए तीर्थंकर प्रभु के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान व मोक्ष यह पञ्चकल्याणक मनाते हैं। ये महोत्सव इतने विराट, विशाल व दिव्य रूप में होते हैं कि इन महोत्सवों को सामान्य मनुष्य तो क्या चक्रवर्ती आदि भी सम्पन्न करना चाहें तो कर नहीं पाए। तीन गति के जीवों द्वारा ऐसे महोत्सव सम्पन्न नहीं किए जा सकते। ये महोत्सव वैमानिक देवों की मुख्यता से चतुर्निकाय के देवों के द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं।

वैमानिक देवों में सर्वश्रेष्ठ वैभव सम्पन्न, जिसे तीर्थंकर के महोत्सव करने का मुख्य अधिकार प्राप्त है, जो इन महोत्सवों का सूत्रधार होता है ऐसा प्रधान सौधर्मइन्द्र ही अपने निर्देशन में चार निकाय के देवों के द्वारा गर्भ कल्याणक का महोत्सव मनाता है। दिक्कन्याओं

के द्वारा गर्भक्रियाओं के संस्कार आदि आरोपित किए जाते हैं, उस समय सौधर्मइन्द्र-इन्द्राणी मिलकर तीर्थंकर प्रभु के माता-पिता की पूजा भी करते हैं, सम्मान भी करते हैं। इसके उपरांत जन्मकल्याणक का महोत्सव मनाते हैं। सुमेरुपर्वत की पाण्डुकशिला पर तीर्थंकर प्रभु का अभिषेक कराते हैं।

जंबूद्वीप में एक मेरु, धातकीखण्ड में दो मेरु व पुष्करार्ध द्वीप में दो मेरु, इस प्रकार ढाई द्वीप में पंचमेरु हैं। जंबूद्वीप के सुमेरु पर चार ईशानादि विदिशाओं में क्रमशः पांडुक, पांडुकंबला, रक्ता और रक्तकंबला नामक चार शिलाएँ हैं। पाण्डुक शिला पर भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। पाण्डुकम्बला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थकरों का अभिषेक होता है, पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक रक्तकंबला शिला और ऐरावत के तीर्थंकरों को जन्माभिषेक रक्ता शिला पर होता है। इस प्रकार सौधर्मइन्द्र आदि व महानविभूति वाले सामानिक देव और सभी महत्वपूर्ण वैभव सम्पन्न जो देव हैं वे उन महत्सवों को सम्पन्न करते हैं। पुनः दीक्षाकल्याणक की अनुमोदना करने पंचम स्वर्ग से लौकान्तिक देव आते हैं। उसके बाद जब तीर्थंकर मुनि तपस्या कर केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं तब ज्ञानकल्याणक महोत्सव मनाया जाता है, पुनः जब मोक्ष प्राप्त करते हैं तब भी उनका महोत्सव मनाया जाता है।

अन्य मतों में मोक्ष की संप्राप्ति को ऐसा मानते हैं कि वैकुण्ठ या स्वर्ग में जाकर भोगों को भोगेंगे पुनः अवतार लेंगे। तो ऐसा अवतारवाद जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। जैन दर्शन का मानना है जिस जीव ने एक बार सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर दिया वह पुनः संसार में नहीं आता। जो संसार में पुनः पुनः अवतार के रूप में जन्म लेता है तो वह मध्यलोक का वैभव भोगकर के, स्वर्ग का वैभव प्राप्त कर, पुनः संसार में आ सकता है और प्रभुत्व-सत्ता आदि प्राप्त करके संसार के बहुजनों का नेतृत्व कर सकता है और एक सुमार्ग भी दिखा जा सकता है। महानुभाव! यहाँ बता रहे हैं कि जो कल्याण से सम्पन्न हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी, कर्मरहित आत्मा, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित आत्मा, मुक्त आत्मा, शरीर से रहित आत्मा, सिर्फ और सिर्फ आत्मा ही आत्मा है, शुद्धस्वभाव-शुद्ध गुणों से युक्त अपनी आत्मा में अनंतकाल के लिए निमग्न हैं, उसी का भोग करने वाले वे सिद्धपरमात्मा हैं।

वे सिद्ध परमात्मा कैसे हैं-**'त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते'** तीन लोक को एक मंदिर मान लीजिए, उसकी नींव है अधोलोक। आप जब अपने गृह आदि की नींव डालते हैं तो नीचे एक जाल डालते हैं, उसके ऊपर से पिलर खड़ा करके लेकर आते हैं। पत्थर-कंकरीट आदि से नींव को भरते जाते हैं पुनः जमीन तक आ जाता है फिर गृह बनाना शुरु करते हैं, ऐसे ही लोक के सबसे नीचे तीन वातवलय के अंदर कलकल भूमि है, उसके उपरांत सप्तनरक

की भूमियाँ हैं, बीच-बीच में आकाश भी है। उसके ऊपर मध्यलोक आता है। मध्यलोक का विस्तार एक राजू है। नरक नीचे 7 राजू ऊपर मध्यलोक तक आते-आते एक राजू का विस्तार। मोटाई सर्वत्र 7 राजू है।

1 राजू के मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र होते हैं। असंख्यात कितना होता है तो आपको सुनकर भी आश्चर्य होगा। जैन शास्त्रों के गणित अनुसार-कोई दो हजार कोस गहरा, लम्बा, चौड़ा गड्डा खोदा जाए, उस गड्ढे को मेढ़े के बालों से भरा जाए जिसके दूसरे टुकड़े ना हो सकें। पुनः उनमें से एक-एक बाल को सौ-सौ वर्ष के बाद निकाला जाए। जितने वर्षों में वे सब बाल निकल जाएँ उतने वर्षों के जितने समय हों, उसे व्यवहार पल्य कहते हैं। इसके असंख्यात गुणा उद्धारपल्य एवं इसके असंख्यात गुणा अद्धापल्य होता है।

तो ढाई पल्य में जितने समय होते हैं उतने बराबर द्वीप समुद्र हैं। दूसरी विधि भी द्वीप समुद्रों को ज्ञात करने की दी। चार कुण्ड होते हैं अनवस्थाकुण्ड, शलाकाकुण्ड, प्रतिशलाकाकुण्ड व महाशलाका कुण्ड। इनका विस्तार एक लाख योजन और गहराई एक हजार योजन है। प्रथम अनवस्थाकुण्ड सरसों के दाने से भरा तब एक दाना शलाकाकुण्ड में डाला। माना उस अनवस्थाकुंड से सरसों भरकर कोई देव एक दाना द्वीप में और दाना समुद्र डालता चला जा रहा है। ना तो कहीं दो दाने गिर रहें हैं और न ही कोई द्वीप-समुद्र छूट रहा है। ऐसा करते-करते जब प्रथम अनवस्था कुंड खाली हो जाए तब जहाँ अंतिम सरसों का दाना गिरा उसके विस्तार सदृश एक नवीन अनवस्था कुंड बनाया और दूसरा दाना शलाका कुंड में डाला।

इसी प्रक्रिया को करते-करते जब शलाकाकुंड भर जाए तब एक दाना प्रतिशलाका कुंड में डाला। जितनी बार शलाकाकुंड भरता जाए उतने-उतने दाने प्रतिशलाका कुंड में डाले। जब प्रतिशलाकाकुंड भी भर जाए तब एक दाना महाशलाका कुंड में डाला। ऐसा करते-करते महाशलाका कुंड भी भर जाए। इस प्रकार अंतिम दाना जो द्वीप व समुद्र में गिरेगा वही अंतिम स्वयंभूरमण द्वीप व समुद्र होगा। इतने द्वीप समुद्र मध्यलोक में है।

महानुभाव! घड़ी में पहले सैकेण्ड कि सुई चक्कर लगती है, फिर मिनट की सुई चक्कर लगाती है, फिर घंटे की सुई चक्कर लगाती है। एक चक्कर लगाने पर साठ सैकेण्ड का एक मिनट होता है, 60 मिनटों का एक घंटा होता है, जब 12 घंटे का पूरा चक्कर लग जाता है तब एक अहोरात्रि होती है, 30 अहोरात्रि का एक मास होता है, 12 मास का एक वर्ष होता है, ऐसे क्रम चलता है। तो यहाँ पर भी क्रम बताया, तीन लोक को एक मंदिर माना, जिसमें अधोलोक नींव की तरह से है, मध्यलोक भवन की तरह से है उसकी ऊँचाई एक लाख 40 योजन सुमेरु पर्वत के बराबर है, जिसकी एक हजार योजन नीचे जड़ है, सुमेरु पर्वत की चूलिका के ऊपर एक बाल के अन्तराल से स्वर्ग के विमान प्रारंभ हो जाते हैं।

मध्य लोक को माने ग्राउण्ड फ्लोर हो गया, स्वर्ग विमान के जो 63 पटल हैं उनमें अलग-अलग खण्ड बने हैं, जैसे पहले भवन बनते थे 30-40-50 84 खण्ड आदि के महल बनते थे। आदि पुराण में दिया आदिनाथ भगवान् का महल 81 खण्ड का था। तो ऐसे एक कल्पना करके चलें। 16 स्वर्ग, नव ग्रैवेयक के उपरांत नव अनुदिश एवं जो सर्वार्थसिद्धि आदि 5 अनुत्तर विमान माना कि शिखर की तरह से हैं। उसके 12 योजन ऊपर कलश के समान सिद्धशिला या ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी है। वह सिद्धशिला 8 राजू मोटी है, चौड़ाई 1 राजू और लंबाई 7 राजू है। इसके ठीक मध्य में 45 लाख योजन विस्तार वाला वह सिद्धक्षेत्र है, वहाँ सिद्धक्षेत्र के उपरिम तनुवातवलय में सिद्ध प्रभु विराजमान होते हैं। तो वह कैसे विद्यमान होते हैं? जैसे तीन लोक के भवन रूपी शिखर पर लगा कलश, उस कलश में लगी हुई मणि के समान शोभा को प्राप्त होते हैं।

महानुभाव! वे मुक्त जीव ऐसी शोभा को धारण करते हैं जैसे तीन लोक रूपी पुरुष के मुकुट में लगी मणि। वह मणि अत्यंत कांतिमय होती है उससे महत्वपूर्ण कोई और नहीं होता। कोई पुरुष हीरा आदि भी धारण करेगा तो पैरों में नहीं पहनेगा वह उसे अपने मुकुट में धारण करेगा। ऐसे ही सिद्ध परमेष्ठी तीन लोक में विद्यमान समस्त जीवों में मणि की तरह से चमक रहे हैं, दैदीप्यमान हो शोभा को प्राप्त हो रहे हैं। उनके माध्यम से ही तीन लोक की शोभा है। जिस राजा का जितना दिव्य मुकुट होता है वह राजा उतना ही वैभवशाली माना जाता है। जिस राजा का मुकुट सोने का है और सामान्य रत्न लगे हैं तो राजा सामान्य है, जिस राजा का मुकुट चाँदी का है तो और सामान्य राजा है, जिसका पीतल का मुकुट है वह और ज्यादा सामान्य है, जिसका एल्यूमीनियम का है वह और ज्यादा Down है, यदि किसी का मुकुट प्लास्टिक का ही बना है या कपड़े का बना दिया या कागज का बना दिया, उसमें नकली मोती चिपका दिए तो वह बच्चों के खेल में बने राजा की तरह है और जिस पर मुकुट ही नहीं है तो उसका तो कोई स्थान ही नहीं है, वह स्वामी-अधिपति- नायक ही नहीं कहला सकता।

श्रेष्ठतम वस्तु को मस्तक पर धारण किया जाता है। जिस प्रकार आप सभी भगवान् का गंधोदक उत्तमांग सिर पर लगाते हैं, नेत्रों में या कण्ठ तक लगाते हो। अथवा अपने पूज्य श्रेष्ठजनों को आप भक्तिवशात् हृदय पर धारण या विराजमान करते हो, आप जब उनकी पूजा-नमस्कार करते हो तो मस्तक झुकाकर करते हो। अथवा आप गुरुजनों की आज्ञा के लिए ऐसा तो नहीं कहते कि मैं आपकी आज्ञा को पेट में धारण करता हूँ या कान में धारण करता हूँ। नहीं, आप कहते हो हे गुरुदेव! आपकी आज्ञा सिर आँखों पर है, आपका उपदेश, आपका निर्देश, आपके वचन, आपकी छवि मेरे आत्मा के हरप्रदेश में बसी है किन्तु मैं मस्तकोपरि अर्थात् मस्तक के ऊपर धारण करता हूँ।

महानुभाव! वे सिद्धपरमेष्ठी भी तीन लोक में मणि की तरह से मस्तकोपरि धारण करने के योग्य हैं, वे ही शोभा को प्राप्त हो रहे हैं और उनसे ही तीन लोक की शोभा है। यदि सिद्धपरमेष्ठी नहीं होते तो तीन लोक की शोभा कुछ भी नहीं। जैसे शरीर की शोभा प्राणों से होती है, नेत्रों की शोभा ज्योति से होती है, मीठे की शोभा मिठास से होती है, जल की शोभा उसकी शीतलता से होती है ऐसे ही मानना चाहिए कि तीन लोक की शोभा सिद्ध परमेष्ठी से है। वे सिद्ध परमेष्ठी किट्टकालिमा से रहित, 16 ताप से तपा सोना हैं।

जो दिव्य कान्ति से युक्त हैं, जिससे तीन लोक जगमगा रहे हैं, जिनके ज्ञान में लोक-अलोक झलक रहे हैं इस प्रकार की प्राप्ति सल्लेखना व्रत पालन करने से होती है, उत्तम समाधिमरण से होती है। वह उत्तम समाधिमरण बिना भावना भाए नहीं होता, बिना भावना भाए सल्लेखना व्रत की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए बाल्यअवस्था से ही भावना भाना शुरु करना चाहिए, उस भावना का फल ही उत्तम समाधि की प्राप्ति करना होता है। हम और आप सभी उस भावना को भाएँ व उत्तम समाधि को प्राप्त करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सल्लेखना के प्रभाव से अभ्युदय

पूजार्थाज्ञैश्वर्यै बलपरिजन - कामभोगभूयिष्ठैः।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥135॥

अन्वयार्थ–सद्धर्मः – सल्लेखनाव्रत के द्वारा प्राप्त सातिशय पुण्य ही सद्धर्म है, **बलपरिजन कामभोगभूयिष्ठैः** – बल/पराक्रम, परिवार, भोगोपभोग सामग्री से परिपूर्ण, **पूजा-अर्थ-आज्ञा-ऐश्वर्यैः** – पूजा, प्रतिष्ठा, धन, आज्ञा और एश्वर्य के द्वारा, **अतिशयित-भुवनम्** – अतिक्रान्त किया है लोक को जिसने ऐसे, **अद्भुत-अभ्युदयं** – आश्चर्यकारी इन्द्रादि पद की प्राप्ति रूप अभ्युदय को, **फलति** – फलता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में षष्टम् सल्लेखना अधिकार की अंतिम कारिका में धर्म के फल को उपसंहार रूप में बता रहे हैं। आचार्य महोदय ने मंगलाचरण स्वरूप गाथा के उपरांत 'देशयामि समीचीनं' गाथा से धर्म का स्वरूप प्रारंभ किया, वहाँ से धर्म की परिभाषा बताई। अब धर्म का फल बता रहे हैं। 12 व्रतों का स्वरूप उन्होंने विशेष रूप से बताया। जो संसारी जीवों को संसार के दु:खों से उठाकर उत्तम सुख में रखता है वह धर्म कहा। संसारी प्राणी उत्तम सुख अनेक प्रकार का मानता है। लौकिक जगत में 16 प्रकार के सुख माने जाते हैं। सम्यग्ज्ञानी मानता है कि उत्कृष्ट पुण्य का फल प्राप्त हो जाए। कोई मानता है मेरा मन धर्मध्यान में लीन रहे, आत्मा में लीन रहे, अरिहंत अवस्था की प्राप्ति हो, तो कोई मानता है उत्कृष्ट पुण्य का फल तो सिद्धत्व की प्राप्ति है।

आचार्य महोदय ने षष्टम् अधिकार के श्लोक नं 130, 131, 132, 133, 134 इनमें धर्म का फल ही बताया। संसार का वैभव, स्वर्ग का वैभव, मोक्ष का वैभव, सिद्धत्व का स्वरूप, विशेषताएँ बताई। अब यहा उपसंहार में मिश्ररूप से भव सुख व शिवसुख दोनों प्रकार के सुख की चर्चा कर रहे हैं। इस श्रावक धर्म से प्रारंभ में भव सुख मिलता है, मुनिधर्म का पालन करने से शिव सुख की प्राप्ति होती है। यहाँ पर श्रावक के व्रतों का फल भी बता रहे हैं और समाधि का फल भी बता रहे हैं। यह फल सर्वज्ञ भगवान् ने बताया है, वे ही प्रमाणिक वक्ता हैं। उनकी वाणी को बोलने वाला व्यक्ति भी प्रमाणिक है। उनके शास्त्र-आगम को समझने वाला व्यक्ति भी प्रमाणिक है और उसे मानने वाला भी भले ही समझे नही किंतु वह भी ज्ञानी है, प्रमाणिक है।

आचार्य महोदय ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के बारे में बताया, एक देशचारित्र के बारे में बताया, किंतु महाव्रत के बारे में इस ग्रंथ में विस्तार से व्याख्या नहीं की, क्योंकि इस ग्रंथ का नाम ही रत्नकरण्ड श्रावकाचार है। यह श्रमणाचार, मुनिआचार नहीं, अनगार धर्म नहीं, महाव्रताचार नहीं है किन्तु यहाँ समाधि का प्रकरण आने से मुनिधर्म की व्याख्या की गई। क्योंकि जब वह श्रावक गृहत्याग कर गुरुचरणों में आता है तो वहाँ कहा कि वह महाव्रतों को धारण करे, फिर अन्य विकारों का त्याग करे। वह महाव्रतों के साथ सल्लेखना को धारण करता है तो अरिहंत और सिद्ध अवस्था को भी प्राप्त कर सकता है।

आचार्य महोदय का एक-एक शब्द प्रमाणिक है, एक-एक शब्द आगम की कसौटी पर कसा हुआ है। वर्तमानकाल मे लोग वैज्ञानिकों के तर्क को प्रमाण युक्त मानते हैं। आधुनिक युवा पीढ़ी को उनके वचनों पर संदेह नहीं; किन्तु वे नहीं जानते हैं कि भगवान् के वचनों से अधिक प्रमाणिक अन्य जनों के वचन हो ही नहीं सकते। भगवान् की वाणी में समस्त सम्यग्ज्ञान निःसृत होता है। विज्ञान की बात तो कहीं कट भी जाती है किंतु भगवान् की वाणी कभी नहीं कटती। इसीलिए आज भी जर्मन की लैब में सबसे ऊपर भगवान् महावीर का चित्र लगा हुआ है, उस पर लिखा है-'ये विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक हैं इनकी कोई भी बात आज तक खण्डित नहीं हुई।

आचार्य महोदय यहाँ कह रहे हैं कि सद्धर्म एक वृक्ष है जिसकी जड़ है सम्यग्दर्शन, उसका तना है सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत-महाव्रत-समिति-गुप्ति-इंद्रियजय-आवश्यककर्त्तव्य-विशेषगुण-उत्तरगुणरूप चरित्र की शाखाएँ हैं। पुनः उसमें तप रूपी पत्र आते हैं, पुष्प आते हैं, वैराग्य से वह संपोषित होता है, वात्सल्य आदि भावों से वह परिपोषित होता है। उस वृक्ष की शंकादि सम्यक्त्व के 25 दोषों से रक्षा करो। कोई अज्ञानी व्यक्ति उस पर मिथ्यात्व रूपी कुठार न मार दे। सम्यग्ज्ञान के 8 आचार का पालन करते हुए उसकी रक्षा करो। सम्यक्त्व के जितने अतिचार-अनाचार हैं उन सबसे उसकी रक्षा करो। उस रत्नत्रय रूपी सद्धर्म वृक्ष के फल क्या हैं उसके विषय में यहाँ चर्चा करेंगे।

आचार्य महोदय कहते हैं कि जैनदर्शन की कोई भी क्रिया बांझ नहीं होती। संसार में कोई स्त्री बांझ हो जाए, संसार में कोई पुरुष नपुंसक हो जाए किंतु संसार की क्रिया पुण्य की हो या पाप की, एक बार भी तीनों योगों से या किसी एक योग से की है, उसका फल निश्चित ही मिलेगा। अब तुम तपस्या से, भक्ति से नष्ट कर दो, उदीरणा कर दो, उदय में लाकर खिरा दो अलग बात है, पर मिलेगा जरूर। वैश्यकुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति लाभ-हानि का विमर्श

करने के उपरांत, लाभ-हानि के बारे में समीचीन निर्णय करने के उपरांत ही कदम बढ़ाता है। हानि के रास्ते को छोड़ देता है, लाभ के रास्ते को अपनाता है। तो आज व्यक्ति लाभ-हानि से चलता है इसलिए आचार्य महोदय को बताना पड़ रहा है कि इस सद्धर्म रूपी वृक्ष का फल क्या है। तो 135वीं कारिका के माध्यम से देखते हैं आचार्य महोदय के शब्दों में–

आचार्य महोदय ने पहला फल बताया-**'पूजा'**। क्या व्रतों के माध्यम से पूजा प्राप्त हो जाएगी? क्या सम्यक्त्व के माध्यम से पूजा हो जाएगी? हाँ हो जाएगी। यह बात आप अपने मन से कह रहे हैं या कोई प्रमाण भी है? प्रमाण है, एक-एक व्रत के माध्यम से पूजा प्राप्त होती है ऐसा आचार्य महोदय ने 64वें श्लोक में लिखा–

मातङ्गो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः, पूजातिशयमुत्तमम्॥

एक-एक अणुव्रत का पालन करने से ये सभी महानुभाव पूजा को प्राप्त हुए। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी जी ने दर्शनपाहुड़ में लिखा-जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वह कल्याणों की परम्परा को प्राप्त होने वाला है। स्वर्ग के देव, सुर, असुर उसे अर्घ्य चढ़ाते हैं। छहढाला में भी आप पढ़ते हैं–

'चरितमोहवश लेश न संयम, पै सुरनाथ जजे हैं।'

यदि चरित्रमोहनीय कर्म के उदय से उनके संयम नहीं है तब भी यदि सम्यग्दृष्टि हैं, दर्शनविशुद्धि आदि भावना भाने वाले, सम्यक्त्व का निर्दोष पालन करने वाले हैं, ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रावक की भी स्वर्ग के देव आकर के पूजा करते हैं। सम्यग्दर्शन भी पूज्य है, सम्यग्ज्ञान भी पूज्य है, सम्यक्चारित्र भी पूज्य है। आचार्य भगवन् वीरसेन स्वामी जी ने धवला जी में लिखा है–शक्कर का एक दाना मीठा नहीं है तो बोरा भर शक्कर मीठी नहीं हो सकती। बोरा भर शक्कर मीठी है तो एकदाना भी मीठा है। गंगाजल चाहे पूरी गंगा का जल है तो भी गंगा का जल है, चुल्लुभर पानी है तो वह भी गंगाजल है। गंधोदक चाहे 1 कलश भर हो या एक बूंद वह उतना ही पवित्र और पावन है, स्वर्ण का कोई कण छोटा है तो भी, बड़ा कण है तो भी, स्वर्ण-स्वर्ण ही है। हीरे की कणि भी हीरा ही कहलाती है। ऐसे ही धर्म का एक अंश है, सम्यग्दर्शन है, साथ में सम्यग्ज्ञान है तो वह भी पूज्यनीय है, सम्माननीय है।

राजा विश्वलोचन की रानी विशालाक्षी व उसकी रंगिनी और चामरी नामक दो दासी वे तीनों नट का खेल देखकर बहक गईं और राजमहल से निकल गईं। जंगल के रास्ते से जा रही थी वहाँ अंगभूषण नाम के मुनिराज तप में लीन थे, उन्हें देखकर तीनों ने उन पर घोर उपसर्ग

किया। जिस पाप के फलस्वरूप उन्होंने अनेक कुयोनियों में भ्रमण किया, नरकादि के दु:खों को सहन किया। उसके उपरांत वे तीनों भिल्ल कन्याएँ हुईं जो अत्यंत कुरूपा हुईं, बचपन में ही माता-पिता का वियोग हो गया था। एक समय वे जंगल में लकड़ी बीनने गईं, जंगल में एक मुनिराज विराजमान थे। वहाँ पर राजा महीचंद्र अपनी प्रजा के साथ दर्शनार्थ गए। उन्होंने दर्शन-वंदन कर मुनिराज का उपदेश सुना। वे तीनों कन्याएँ एक वृक्ष के पीछे से यह सब दृश्य देख रहीं थी। राजा की दृष्टि उन कन्याओं पर पड़ी तो उन्होंने मुनिराज से पूछा-महाराज! न जाने क्यों मेरा इन कन्याओं को देखकर राग-स्नेह भाव जाग्रत हो रहा है। और इन कन्याओं ने पूर्व मे ऐसा कौन सा पाप किया जो ये इस दुर्दशा को प्राप्त हुईं है? मुनिराज अवधिज्ञान रूपी नेत्र के धारी थे उन्होंने राजा महीचंद व तीनों कन्याओं के पूर्वभव बताए।

मुनिराज ने कहा तुम पूर्वभव में राजा विश्वलोचन थे। इन कन्याओं में एक तुम्हारी पूर्वभव की रानी विशालाक्षी है, दो इसकी दासियाँ हैं। इन्होंने पूर्वभव में मुनिराज पर उपसर्ग किया था व उनकी निंदा की थी जिसके प्रभाव से ये तीनों मरणकर नरकादि दुर्गतियों में भटकती हुई भील कन्याएँ हुई हैं। उन कन्याओं ने भी अपने पूर्वभव सुने और मुनिराज से अहिंसादि व्रत ग्रहण किए। इन कन्याओं ने लब्धिविधान व्रत का पालन किया, जिसके फल से विशालाक्षी रानी तो आगे चलकर द्विजकुल शिरोमणी इन्द्रभूतिगौतम नामक पुण्य पुरुष हुए, दोनों दासियाँ अग्निभूति-वायुभूति नामक द्विज हुए। उन तीनों ने मिथ्याज्ञान का पोषण किया, अपना आश्रम बनाया। प्रत्येक के 500-500 शिष्य थे, जिनके माध्यम से पूजा को प्राप्त किया। वे उस समय के उच्च कोटि के विद्वान् माने जाते थे। उनकी पूजार्चना करने के लिए स्वर्ग के देव भी आते थे, वे यज्ञादि कराते थे।

महानुभाव! उस लब्धिविधान व्रत का प्रभाव रहा जिसके कारण वे भगवान् महावीरस्वामी के समवसरण में पहुँचे, आश्चर्य से मानस्तंभ को देखा और सम्यक्त्व को प्राप्त किया। जाते ही पंचमुष्टि केशलोंच करके दिगम्बर दीक्षा ले ली और इंद्रभूति गौतम नामक भगवान् महावीर स्वामी के प्रमुख गणधर बन गए, वे दोनों भाई अग्निभूति-वायुभूति भी द्वितीय-तृतीय गणधर बन गए। 12 सभाओं द्वारा पूजित हो गए। किसके प्रभाव से? धर्म के प्रभाव से, पूर्व में किए लब्धिविधान व्रत के प्रभाव से, अहिंसा व्रत की साधना के प्रभाव से।

महानुभाव! यह धर्म पूज्यता को देता है। यह धर्म लौकिक पूज्यता को भी देता है और पारमार्थिक पूज्यता को भी देता है। धर्म का अचिन्त्य फल है। पूजा के फल को प्राप्त अन्य भी उदाहरण हैं। एक नहीं अनेक नाम हैं। जब आप शास्त्र स्वाध्याय करेंगे तो आपको ज्ञात

होगा कि एक छोटे से व्रत का पालन करने वाला एक मेंढ़क भी, जो कि भगवान् की भक्ति भावना से उनके समवसरण में जा रहा था। मार्ग में मृत्यु को प्राप्तकर राजा श्रेणिक से पूर्व देवपर्याय को प्राप्तकर समवसरण में पहुँचा। एक शूकर ने मुनिराज की रक्षा का संकल्प लिया जिससे वह भी स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ, पूजा को प्राप्त हुआ। यहाँ तक कि एक सियार, शूकर, हाथी इन्होंने भी एक-एक व्रत का पालन किया और मृत्यु को प्राप्त कर महानऋद्धि के धारक देव हुए। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जैन आगम इस प्रकार की कथाओं से परिपूरित है।

महानुभाव! यहाँ इस श्लोक का पहला शब्द 'पूजा' देखा कि सुधर्म का प्रथम फल पूज्यता है। उस पूज्यता की प्राप्ति गुणों के माध्यम से होती है। यह आत्मा जब परमात्मा बनने के मार्ग में अग्रसर होती है, जब आत्मा परमात्मा बनने की सीढ़ियों पर चढ़ती है तो नीचे खड़े व्यक्तियों के द्वारा सहज ही पूज्यनीय होती चली जाती है। आप और हम सभी मिलकर उस धर्म का पालन करें, जिससे हम अपनी आत्मा के समग्र वैभव को प्राप्त करने में समर्थ हो सकें। हम स्व व पर दोनों के लिए ऐसी भावना भाते हैं कि संसार-सागर से पार हों, व्यवहार व निश्चय धर्म दोनों के फल को प्राप्त कर सकें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का फल-अर्थ की प्राप्ति

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में सल्लेखना अधिकार की उपसंहार रूप कारिका 135 में धर्म का पालन करने का क्या फल होता है यह देख रहे थे। जिसमें कहा कि समीचीन धर्म रूपी वृक्ष अभ्युदय को देता हुआ फलित होता है। पूर्व में इस श्लोक के प्रथम शब्द 'पूजा' को संक्षेप में देखा। धर्म रूपी फल प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक आत्मा के अंदर फलित हो सकता है किन्तु शर्त ये है धर्म शुभ भावों के साथ हो। यदि कुभाव हैं तो सद्धर्म फलित नहीं होता। कुभाव के साथ धर्म का मेल नहीं है, जैसे अग्नि व पानी दोनों एक साथ नही रह सकते ऐसे ही कुभाव के साथ धर्म नहीं रह सकता। धर्म की महिमा के बारे में आप पढ़ते हैं–

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जाँचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख देन॥

याचना करने पर कल्पवृक्ष फल देते हैं, चिंतामणि रत्न चिंतित पदार्थों को देने में समर्थ होता है, कामघट और कामधेनु भी मनोकामनाओं को पूरी करते हैं, इस प्रकार के वचन किंवदंतियों और श्रुति में प्राप्त होते हैं। आचार्य महोदय ने कहा सबसे बड़ा कल्पवृक्ष, चिंतामणि रत्न, कामघट या कामधेनु यदि तीनों लोकों में कोई है तो वह है धर्म।

यहाँ पर आचार्य महोदय धर्म के एक-एक फल की विवेचना करके बता रहे हैं। एक शब्द में कहें कि धर्म क्या है तो 'जो आत्मा को परमात्मा बना दे।' आचार्य महोदय ने सर्वप्रथम यही कहा कि जो जीव को संसार के दु:खों से उठाकर सिद्धत्व को प्राप्त कराए वह धर्म है। फिर कहा धर्म के माध्यम से कर्मों का नाश होता है, पाप कर्म का भी पुण्य कर्म का भी, फिर कहा धर्म पुण्य के फल को देने वाला है। व्यक्ति को जब विस्तार से कहते हैं तो बात समझ में आती है। किसी व्यक्ति ने कहा मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न होकर के तुम्हें 2 करोड़ का चैक दूँगा, तो उसने कहा-बस, इतना सा, एक कागज का टुकड़ा, मैंने इतने वर्षों से सेवा की उसका मात्र इतना सा फल। उस व्यक्ति की समझ में नहीं आया। दूसरे व्यक्ति ने कहा मैं तुम्हें तुम्हारी सेवा के बदले एक फ्लैट दूँगा, एक गाड़ी दूँगा, तुम्हारी सेवा हेतु दो नौकर दूँगा, बैंक बैलेंस दूँगा, हर महिने तुम्हारे पास खर्चे के 20 हजार रु. आएँगे। वह मान गया अरे वाह!, उस व्यक्ति ने उतने ही पैसों में maintain करके उससे कह दिया। क्योंकि जब तक विस्तार से बात नहीं कही जाए तब तक बात समझ में नहीं आती है।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी ने कहा धर्म का फल मोक्ष है, धर्म का फल पंचपरमेष्ठी पद की प्राप्ति है किंतु यह बात व्यक्ति की समझ में नहीं आ रही। इसलिए अब आचार्य महोदय विस्तार से कह रहे हैं कि धर्म का फल देह सुख मिलेगा, वचन सुख मिलेगा, मन का सुख मिलेगा, पूजा-प्रतिष्ठा मिलेगी, चार प्रकार के पुरुषार्थ का फल मिलेगा। सब कुछ मिलेगा। तो प्रथम फल देखा था 'पूजा'। धर्म के फल से एक निंदनीय, तिरस्कृत, उपेक्षणीय जीव भी पूजा को प्राप्त हो जाता है। एक-एक अणुव्रत का पालन करने से चाण्डाल, धनदेव, वारिषेण, नीलीबाई आदि पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए। कितने चोर-डाकू, हिंसक जानवर भी धर्म का आलम्बन लेकर भवसागर से पार हो गए। महानुभाव! जैन वाङ्मय में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने धर्म का आलम्बन लेकर अपना कल्याण कर लिया। यदि उनको मन लगाकर के पढ़ें, सुनें, उपयोग में लाएँ तो निःसंदेह यह मिथ्यात्व का मेघ सम्यग्ज्ञान की तीव्र पवन से उड़ता चला जाएगा और चेतना में सम्यक्त्व का सूर्य उदय को प्राप्त हो जाएगा। यह असंभव नहीं कि चेतना के गगन में सम्यक्त्व का सूर्य उदित करना। जहाँ सम्यक्त्व रूपी सूर्य का उदय होगा वही उसके साथ अविनाभावी रूप से रहने वाली किरणों की तरह से सम्यग्ज्ञान दीपिका भी तुम्हारी चेतना में प्रज्ज्वलित हो जाएगी।

महानुभाव! अब यहाँ बताना चाह रहे हैं कि धर्म के फल से 'अर्थ' की प्राप्ति होती है। अर्थ के यूँ तो कई अर्थ होते हैं, अर्थ का आशय धन भी होता है, प्रयोजन भी होता है और अर्थ का आशय कारण भी होता है। किन्तु यहाँ पर अर्थ का विधेय अर्थ 'धन' से लिया गया है। धर्म के माध्यम से निर्धन व्यक्ति भी, किंकर व्यक्ति भी, अकिंचन व्यक्ति भी निस्सीम वैभव को प्राप्त करने वाला हो सकता है, चक्रवर्ती हो सकता है, राजा-महाराजा-अधिराजा हो सकता है, मण्डलेश्वर-महामण्डलेश्वर भी हो सकता है और इतना ही नहीं यक्षेन्द्र-धरणेन्द्र, प्रतीन्द्र, इन्द्र, अहमिन्द्र हो सकता है और तो और तीर्थंकर जैसे पद को प्राप्त कर सकता है।

धर्म के फल से प्रचुरमात्रा में धन सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। धर्म के प्रभाव से मिट्टी को छुओ तो वह भी स्वर्ण हो जाती है। वह पुण्यात्मा व्यक्ति कुछ भी कार्य करे प्रत्येक कार्य से धनार्जन उसे सहज में हो जाता है। अन्य व्यक्ति उसी कार्य को करते हुए भी धन नहीं कमा पाते, दिन-रात मेहनत करते हैं फिर भी धन प्राप्त नहीं होता। धर्म के माध्यम से व्यक्ति को इतना धन प्राप्त होता है कि कहते हैं हमारा जीवन छोटा है पर धन उससे भी कहीं ज्यादा है, मैं एक पेट नहीं 200 पेट भी निराकुलता से भर सकता हूँ।

कई बार व्यक्ति कहते हैं कि एक पुण्यात्मा में हजारों का साझा होता है। एक पुण्यात्मा चला गया तो हजारों परिवार बिखर जाते हैं, दीन-हीन अनाथ से हो जाते हैं। तो वह पुण्यात्मा जीव जिसने पूर्व में धर्म का संग्रह किया है उसे सर्व प्रकार का धन पशुधन, स्वर्णादि धन, भूमि आदि धन प्राप्त होता है। धर्म के फल से आज्ञारूप ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, लोग उसकी आज्ञा पालना अपना अहोभाग्य मानते हैं। धर्म के प्रभाव से सभी प्रतिकूलताएँ अनुकूलता में परिवर्तित हो जाती हैं। उन्हें ऐसी विभूति प्राप्त होती है जो सामान्यजनों को नहीं होती।

धनवान् व्यक्ति वे होते हैं जिन्हें सब पाकर भी अहंकार न आए। सच्चे ऐश्वर्यवान् तो वे ही हैं जो अन्य किसी का भी अपमान-तिरस्कार न करें अन्यथा आज व्यक्ति थोड़ा सा वैभव पाकर ही बदल जाता है, उसकी बातें बदलने लगती हैं, उसका रहन-सहन सब बदल जाता है। हाँ, यदि धन की प्राप्ति ईमानदारी से हुई है तो उसका व्यक्तित्व सरल-सहज ही रहता है किन्तु ओछा व्यक्ति ज्यादा पैसा पाकर अहंकारी हो जाता है, उसमें सत्त्व-बल आदि नहीं होते वह जल्दी टूट जाता है। वह एरण्ड के वृक्ष की तरह से बहुत मोटा तना व ऊँचा होता चला जाता है किन्तु जैसे ही थोड़ी तेज हवा चली तुरंत टूटकर धराशाही हो जाता है। ऐसे ही जिस व्यक्ति ने सिर्फ कुमार्ग से धन कमाया है, अंदर में अनुभव प्राप्त नहीं किया वह नष्ट हो जाता है। जिसने सुमार्ग से कमाया है, संघर्ष से कमाया है उसकी एक पाई को भी कोई व्यक्ति छीन नहीं सकता।

बनारसीदास जी के भवन में एक बार चोर घुस गए, चोर इधर-उधर खटपट कर रहे थे, बनारसीदास जी की नींद खुल गई, वे देखते रहे कि क्या हो रहा है। चोर ने अनाज आदि निकाला और पोटली बांध ली, सब चोरों ने अपनी-अपनी पोटली बाँध ली और जब जाने लगे तब सबने एक-दूसरे के सिर पर पोटली रखवा दी। अंतिम चोर रह गया उससे पोटली उठ नहीं रही थी। बनारसीदास जी ने देखा कि यह चोर बहुत उठाने की कोशिश कर रहा है पर उठा नहीं पा रहा। वे स्वयं पलंग से उठे और पोटली उठवाकर उसके सिर पर रखवा दी और कहा चुपचाप चले जाओ। अगर कोई जाग गया तो तुम्हें परेशानी हो जाएगी।

चोर घर पहुँचा, उसने अपनी माँ से कहा-माँ! आज तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, पूछा क्या हुआ, माँ! हमने जीवन में बहुत चोरियाँ की हैं पर आज की चोरी तो बहुत विस्मयकारी थी, ऐसा लगता है कि क्या कभी ऐसा भी हो सकता है। क्यूँ क्या हुआ? आज हम जहाँ चोरी करने गए वहाँ से हमने अनाज चुराया। सभी चोर पोटली लेकर चले आए, मैं अपनी पोटली नहीं उठा पा रहा था तो उस मालिक ने ही स्वयं आकर मेरे सिर पर वह पोटली रखवा दी और कहा जल्दी जा कोई देख न ले। माँ ने कहा-बेटा! आज तुम किस घर में

चोरी करने गए थे? उस चोर ने जब पता बताया तो माँ ने कहा-बेटा! तू तो आज साधु जैसे पुरुष के यहाँ से चोरी करके लाया है। वह पंडित बनारसीदास जी का भवन है, वे ही इस प्रकार की निस्पृहवृत्ति वाले हैं, बेटा! आज तूने बहुत बड़ा अपराध किया है, जा इस अनाज को वापस करके आ और क्षमा माँगकर आ, मैं भी उनसे क्षमा मागूँगी।

वह चोर और उसकी माँ पंडितजी के घर गए, माँ ने कहा—पंडितजी! मेरे बेटे को क्षमा कर देना। पंडितजी ने कहा—नहीं माँ जी इसमें क्षमा की तो कोई बात नहीं, मेरे पास अनाज कुछ अनावश्यक था, तुम्हारे परिवार में बेटे को आवश्यकता थी तो वह ले गया। उसने चोरी थोड़े ही की, चोरी तो तब होती जब वह मेरी बिना सहमति के ले जाता, मेरी पीठ पीछे ले जाता। माँ पंडितजी के चरणों में गिरकर क्षमा माँगती है, कहती है—पंडित जी! क्षमा करो, आप जैसे साधु पुरुष इस दुनिया में बिरले ही होते हैं। बेटे ने अनाज लौटाते हुए कहा—पंडितजी! मैं आपका अनाज नहीं ले सकता, आप तो मेरी दृष्टि में साधु नहीं भगवान् जैसे हैं।

महानुभाव! जो व्यक्ति अपने कर्म पर विश्वास करता है, वर्तमान के कर्म पर और पूर्व में किए गए कर्म से बने भाग्य पर। दोनों कर्मों पर विश्वास करता है तो उसे जीवन में किंचित् भी पर वस्तु ग्रहण करने का भाव मन में नहीं आता। क्योंकि वह सोचता है जो मेरे भाग्य का होगा वह मेरे पास भागकर आएगा। मैं परिश्रम कर रहा हूँ फिर भी किसी का छीनना चाहूँ तो परिश्रम करने पर भी मैं फल भोग नहीं पाऊँगा, क्योंकि जो व्यक्ति दूसरों का हक छीनते हैं वे उस भव में खाकर आ गए। अब इस भव में प्राप्त नहीं कर पाएँगे। उनके खेत में आग लग जाएगी, माल में कीड़े लग जाएँगे, वह चोरी हो जाएगा क्योंकि पूर्व में किसी का छीना होगा इसलिए आज इनका छिन गया।

जैसे किसान आसामी से पहले पैसे ले लेता है, बाद में उसे अनाज देता है। पैसा जब ले लिया तो दोबारा तो पैसा नहीं मिलेगा ऐसे ही जिसने पूर्व में किसी का छीनकर खाया है तो इस भव में नहीं मिलेगा। और यदि विश्वास है कि मेरे भाग्य का कोई छीन नहीं सकता, अपनी वस्तु कहीं भी रख दो 100% शुद्ध ईमानदारी की है तो हम दावे से कह सकते हैं आपकी वस्तु एक पैसे की हो या एक अरब की हो आपके भाग्य की आपके पास लौटकर आएगी। ऐसे कई प्रसंग हैं। शिखरजी से एक परिवार लौट रहा था, एक महिला का स्वर्ण आभूषण गिर गया। उसने पूरी सीट पर देखा कहीं नहीं मिला, उस ट्रेन के डिब्बे में भी ढूंढ लिया तब भी नहीं मिला। बाद में जब घर आयी स्नान आदि कर रही थी तो उसके ही बालों में फँसा मिल गया।

एक बार एक महिला की सोने की अंगूठी गुम गई। वह उस समय गोबर के कंडे थाप रही थी। उसने खूब ढूंढा कहीं नहीं मिली, बहुत परेशान भी हुई किन्तु छह-आठ महीने बाद गोबर के कंडे चूल्हे में लगाए, तो राख बन गए। एक दिन उस राख से बर्तन माँजते-माँजते वह अंगूठी हाथ में आ गई। तो ईमानदारी की वस्तु कभी गुमती नहीं, मिल ही जाती है।

जिस व्यक्ति ने बेईमानी की है तो वह कितना भी ईमानदारी का ढोंग करे, उसका धन/वस्तु लौटकर नहीं आती और जिसने जीवनभर ईमानदारी का व्यवहार किया है उसका पैसा कोई मारता नहीं।

एक तांगे वाले ने दो व्यक्तियों को बिठाला, व्यक्तियों ने पूछा कितना रुपया? तांगे वाला बोला एक रुपया। पहला व्यक्ति बोला अरे 50 पैसे लगते हैं, 50 पैसे ले ले। अगले व्यक्ति ने कहा-भैया एक काम कर ये दो रुपये ले ले, दो रुपये में से एक रुपया मेरा, 50 पैसा ये कम दे रहा है तो मैं इसके दे देता हूँ, कोई बात नहीं तू गरीब आदमी है, तुझे घाटा न लगे, बचे 50 पैसे मेरे वापस कर देना। वह उन दोनों को बिठाकर ले गया। संयोग की बात, बातों-बातों में वह व्यक्ति जिसने दो रुपये दिए थे वह अपना स्थान आने पर तांगे से उतरकर चला गया। अब तांगे वाले को रात में नींद नहीं आई। सोच रहा था उसको तो मुझे 50 पैसे वापस करने थे, मैं उसे वापस नहीं कर पाया। एक तो उसने दो रुपये दिए अपना एक रुपया और दूसरा का भी 50 पैसा, मैं तो ईमानदारी से एक रुपया ले रहा था। अब मुझ पर उसके 50 पैसे बाकी रह गए वह मैं कैसे पहुँचाऊँ। दो-चार दिन बाद उसी स्थान पर वह व्यक्ति उस तांगे वाले को मिला, तांगे वाले ने उससे क्षमा माँगी, बाबूजी! मैं उस दिन आपके 50 पैसे वापस नहीं कर पाया। महानुभाव! ऐसे एक नहीं अनेक वृतांत सुनने में आते हैं।

एक बार किसी के बैग में लाखों की तादात में पैसे रखे थे। भूल से बैग बस में रखा रह गया, बस चली गई। जहाँ जानी थी वहाँ से लौटकर भी आ गई। तीन दिन बाद उस व्यक्ति ने अपनी अलमारी देखी, वह सोच रहा था कि मैंने बैग लाकर अलमारी में रख दिया था। किन्तु अब पैसों का बैग यहाँ नहीं है, वह सोच में पड़ गया। उसने अपनी पत्नी से पूछा वह बैग कहाँ है। पत्नी ने कहा आप बैग लेकर ही नहीं आए थे। नहीं-नहीं मैं तो लाया था। बहस हो गई किन्तु बैग तो तब मिलता जब घर लाया होता। उसने खूब सोचा, खूब सोचा कि बैग कहाँ रखा था। इधर वह जिस बस से यात्रा पर गया था, उस बस के ड्राइवर-कंडक्टर सोच रहे थे ये बैग न जाने किसका है, और इसमें लाखों की रकम है। तीन-चार दिन हो गए इस बैग के लिए कोई समाचार भी नहीं आया है। हमें उस व्यक्ति का पता नहीं मालूम है किन्तु उस व्यक्ति को तो हमारी बस का पता ज्ञात ही है, उसे आना चाहिए।

वह व्यक्ति उस बस तक पहुँचा, वह उस ड्राइवर, कन्डक्टर से कुछ कहे उससे पहले ही उन दोनों ने कहा–हाँ बाबूजी आपका बैग सही सलामत है, चिन्ता न करो। तो कई बार ऐसा होता है, पैसा चाहे कम हो या ज्यादा, ईमानदारी के माध्यम से वह उसका पूरा फल भोगता है। व्यक्ति बेईमानी से धन का संचय तो कर सकता है किंतु उसे भोग नहीं पाता।

एक किसान अथवा मजदूर व्यक्ति ईमानदारी से काम कर रहा है। गरीब है, सूखी रोटी खाता है, वर्ष में एक बार भी उसे रोटी पर घी लगाने नहीं मिला। न कभी महंगी सब्जी खाई, कभी दो–चार माह में दाल बन गई तो बन गई, बेचारा मिर्ची–चटनी से रोटी खाता है, दूध के तो उसको दर्शन भी नहीं होते, फिर भी उसके शरीर में इतना बल है कि वह बोरा–उठाकर अपने कंधे पर ले जाता है। ईमानदारी से खाया हुआ धन उसे बल देता है, उस भोजन से उसे आरोग्यता भी मिल रही है। और कोई सेठ बेईमानी का खाता है, अभक्ष्य खाता है, रात्रि में खाता है तो वह जब देखो तब बीमार पड़ा रहता है। कभी डॉक्टर के चक्कर लगा रहा है तो कभी हास्पीटल के। जो खा रहा है वह पच नहीं पा रहा। क्यों? क्योंकि वह गलत धन था। गलत धन जहाँ भी जाएगा यदि पेट में जाएगा तो पेट खराब करेगा, पत्नी के पास जाएगा तो पत्नी की नीयत खराब करेगा, बेटे के पास जाएगा तो बेटे को अय्याश बनाएगा, बेटी के पास जाएगा तो उसे कुलक्षणा–कुसंस्कारी बना देगा। गलत चीज तो गलत होती है जैसे कोयले को बाल–वृद्ध–युवा कोई भी पकड़े हाथ तो काला ही होगा। बुरा धन कोयले की तरह से है, जिन हाथों में जाएगा बुरा ही बुरा करेगा। कोयले से भी बढ़कर कहें तो बुरा धन अंगारे की तरह से है, जो भी उस बुरे धन को पकड़ेगा उसका हाथ जलेगा। अच्छा धन चंदन चूरा की तरह है जो भी पकड़ेगा हाथ में से सुगंध आएगी।

महानुभाव! जीवन में ध्यान रखना ईमानदारी कभी नहीं छोड़ना अवसर आ जाए तो प्राण छोड़ने को तैयार हो जाना पर ईमानदारी नहीं छोड़ना। यहाँ आचार्य महाराज ने कहा कि धर्म के माध्यम से शुद्ध धन की प्राप्ति होती है जो आपके सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला होता है।

वह धनदत्त ग्वाला जिसने जिनालय में सहस्रदल कमल चढ़ाकर भगवान् की भक्ति की थी। जिसके माध्यम से उसने पहले तो स्वर्ग के वैभव को भोगा पुनः वहाँ से चयकर करकण्डु नाम का राजा हुआ। चूंकि जब वह जिनालय गया था तो हाथ–पैर बिना धोये ही चला गया था इसलिए उस राजा के हाथ में खाज थी अतः उसका नाम करकण्डु विख्यात हुआ। बाद में उस राजा ने अनेक देशों को जीता, बहुत समय तक राज्य किया, जिनभक्ति में अनुरक्त रहा पुनः अहमिन्द्र आदि की पदवी प्राप्त की, आगे मोक्ष को प्राप्त करेगा। वह ग्वाला भगवान् को

भावना युत हो एक पुष्प मात्र चढ़ाने से करकण्डु राजा हुआ। शुद्ध भावना से धर्म की छोटी सी भी क्रिया करने से वह इतने बड़े वैभव का धारक हुआ।

इसी प्रकार से आपने देवपत-खेवपत का नाम सुना होगा। ललितपुर का राजा शिखरजी की वंदना के लिए जा रहा था। राजा ने नगर में वंदना हेतु ढिंढोरी पिटवा थी। देवपत-खेवपत नामक दो पुत्र अपनी माँ से कहते हैं-माँ! हम कभी शिखरजी नहीं गए, भावना है दर्शन करने की। हमने सुना है जो भी एक बार वहाँ की वंदना कर ले, वहाँ की पदरज अपने माथे से लगा ले उसे नरकगति व तिर्यंचगति की प्राप्ति नहीं होती।

'एक बार बंदे जो कोई ताहि नरक-पशु गति नहिं होई।
भाव सहित बंदे जो कोई, ताहे देव अरु शिवगति होई॥

माँ ने कहा-बेटा, तुम अभी बहुत छोटे हो, कैसे यात्रा करोगे। वे बोले-माँ, हम राजा की सेवा करेंगे, उनके घोड़ों की सेवा कर लेंगे। माँ राजा के पास निवेदन करने गई, राजन्! मेरे बेटे भी इस यात्रा में जाना चाहते हैं, वे आपकी सेवा करते रहेंगे। राजा ने स्वीकृति दे दी। सभी लोग शिखरजी पहुँचे, वे दोनों बेटे राजा की सेवा में लगे रहते, जब राजा समस्त परिकर सहित पहाड़ की वंदना को जाता तो वे दोनों बालक नीचे रुककर सामान की रखवाली करते थे। लौटकर आने का समय भी आ गया किंतु उन दोनों पुत्रों की भावना अधूरी ही थी, वे सोचते हैं हम वंदना कैसे कर पाएँगे। पुनः वे दोनों दिनभर में पूरा कार्य करके रात्रि को 8-9 बजे वंदना करने गए। यात्रा को जाते समय उनकी माँ ने उनसे कहा था बेटा! भगवान् के सामने कभी खाली हाथ नहीं जाते, कुछ नहीं हो तो अंजुलि भर जल लेकर चढ़ा दो, खाली हाथ जाने से व्यक्ति खाली हाथ ही लौटकर आ जाता है। इसलिए माँ ने कुछ ज्वार के दाने पोटली में बांधकर दिए थे, वे दोनों पुत्र उन ज्वार के दानों को ही हर टोंक पर चढ़ाकर वंदना करके नीचे आ गए।

अगले दिन जब राजा वंदना के लिए गया, आज उसकी अंतिम वंदना थी, उसने देखा मुझसे पहले वंदना करके कौन गया, जिसने सभी टोंकों पर रत्न चढ़ाएँ हैं, मुझसे बड़ा सेठ यहाँ कौन है? पता लगाया, किन्तु कुछ पता नहीं चला। राजा ने कुछ दिन और वहीं रुकने का निर्णय किया। और दूसरे दिन की इंतजारी करने लगा कि देखते हैं कौन है? दूसरे दिन बच्चों ने सोचा एक वंदना तो कर ली, राजा आज तो लौटकर नहीं जा रहे, आज हम क्यों न दूसरी वंदना भी कर लें। रात्रि में वे पुनः चले गए और ज्वार के दाने चढ़ाकर वंदना की।

प्रात:काल जब राजा पुनः वंदना को गया तो उसने आज भी रत्नों को चढ़ा देखा तो राजा ने गुप्तचरों को नियुक्त कर दिया कि पता लगाना ऐसा कौन है जो रत्न चढ़ाता है। तीसरे दिन पता चला कि राजन्! यहाँ और कोई नहीं आपके दो कर्मचारी आते हैं। राजा ने कहा–इसका मतलब वे मेरे खजाने से चोरी करके रत्न चढ़ाते हैं। जाओ उन्हें पकड़कर लाओ।

वे पुत्र तो भावसहित तीसरी वंदना करने गए थे, और प्रथम टोंक पर ही उन्हें रोक लिया गया। राजा वहाँ पहुँच गया, अन्य लोगों की भी वहाँ भीड़ हो गई। राजा ने कहा–तुम इतने अबोध बालक होकर भी चोरी करते हो, तुम्हें शर्म नहीं आती। वे बच्चे बोले–राजन्! आप हमें चोर मत कहो, हमने चोरी नहीं की। हम सच कहते हैं, हम गरीब जरूर है पर ईमानदार हैं। तो फिर ये रत्न कहाँ से लाए? राजन्! हमने तो आज तक सिर्फ रत्नों का नाम ही सुना है, कभी देखे नहीं। तो फिर तुमने ये रत्न कहाँ से चढ़ाए? नहीं–नहीं हमने कोई रत्न नहीं चढ़ाए। तो फिर तुमने क्या चढ़ाया? राजन् हमें नहीं पता ये रत्न किसने चढ़ाए, हमें तो हमारी माँ ने ज्वार की पोटली बांधकर दी थी, हमने तो वहीं चढ़ाए हैं, हमें नहीं पता ये रत्न कैसे बन गए। ठीक है, यदि ऐसा ही है तो हमारे सामने चढ़ाकर बताओ। बेचारे दोनों पुत्रों की आँखों में आँसू आ गए, मन में कहने लगे–भगवान्! हमने कभी चोरी नहीं की, बेईमानी नहीं की, यदि किसी देव ने यह अतिशय दिखाया है तो आज भी दिखा दे। हम मरने से नहीं डरते, किन्तु हमने चोरी नहीं की, हम निर्धन को कलंकित करके मरना नहीं चाहते। और दोनों पुत्रों ने जैसे ही ज्वार के दाने चढ़ाए, पूरे राजपरिवार व दरबार के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, वे ज्वार के दाने हीरे–मोती के रूप में जगमगाने लगे।

राजा ने कहा–वास्तव में सच्ची भक्ति, सच्ची भावना तो तुम्हारी है, तुम ही धर्मात्मा हो। राजा ने उसी समय दोनों पुत्रों को अपना राज्य दे दिया और स्वयं वहीं पर दीक्षा ले ली। देवपत–खेवपत ने बुन्देलखण्ड में बहुत से मंदिर–गुफाएँ बनवायीं। उन दोनों पुत्रों ने राजा के वैभव का एक पैसा भी अपने निजी प्रयोग में नहीं लिया। उन्होंने कहा हमें तो अपने भाग्य से जो मिलेगा उसी से अपना भरण–पोषण करेंगे, किन्तु यह राजा का धन है हम इसे पुण्य में लगाएँगे। महानुभाव! ऐसे कितने ही दृष्टांत हैं।

क्षेमंकर श्रेष्ठी के यहाँ सेवा करने वाले धण्णंकर–पुण्णंकर भी सेवक थे। जब श्रेष्ठी पूजन करने गया तब श्रेष्ठी ने सेवकों से भी अपनी द्रव्य देते हुए कहा कि ये लो द्रव्य, तुम भी पूजन कर लो। जैसे आप भी अपनी चावल की डिब्बी दूसरों को चढ़ाने के लिए दे देते हैं। उन दोनों सेवकों ने हाथ जोड़ लिए–कहा, सेठजी! हम आपकी द्रव्य से पूजन नहीं कर सकते।

वे बोले क्यों? यदि हम आपकी सामग्री से पूजन करेंगे तो हमें तो अगले भव में परिश्रम ही मिलेगा, श्रमिक ही बनेंगे। इसीलिए हमारे पास जो कुछ भी है, भगवान् ने हमें जो भी दिया है हम उसी से पूजन करेंगे। उनके पास पाँच कोड़ी थी, उसके माध्यम से पुष्प आदि सामग्री इकट्ठी करके उन्होंने पूजन की, जिसके प्रभाव से दोनों भाई स्वर्ग में गए, वहाँ से आकर के अमरसेन और वइरसेन नाम के राजपुत्र हुए। उन्होंने इस भव में उन पाँच कोड़ी के बदले पाँच फलों की प्राप्ति की। वे ही बाद में दीक्षा लेकर कल्याण को प्राप्त हुए।

तो यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं 'सद्धर्म फलतिः' सद्धर्म के माध्यम से तीन लोक में पूजित पद प्राप्त होता है, धर्म के प्रभाव से ही पंचपरमेष्ठी का पद प्राप्त होता है, धर्म के ही माध्यम से ही सभी संसारी राजा-महाराजा आदि के उच्चपद प्राप्त होते हैं। अधर्म वा पाप के माध्यम से कभी भी ये उत्कृष्ट फल प्राप्त नहीं होते। अर्थ की प्राप्ति और परमार्थ की प्राप्ति धर्म के माध्यम से ही होती है। सम्पूर्ण प्रयोजन (सर्वार्थसिद्धि) भी धर्म के आलम्बन से ही सिद्ध होते हैं। इसलिए धर्म का पालन करो। व्यवहार धर्म के अनेक रूप हैं, निश्चय धर्म का तो सिर्फ और सिर्फ एक ही रूप है-समता भाव, आत्मलीनता। व्यवहार धर्म के अनेक रूपों में चाहे अहिंसादि पाँच व्रत हों, उत्तमक्षमादि दस लक्षण हों, जीवदयादि हो, रत्नत्रय आदि किसी भी रूप में व्यवहार धर्म करते हैं। व्यवहार धर्म क्या है? तो इसका परीक्षण यही है कि जिस क्रिया को करने से आपकी कषाएँ शांत हों, चित्त में प्रशमभावयुत आनंद की प्राप्ति हो वही व्यवहार धर्म है।

महानुभाव! आप सभी उस धर्म का पालन करो, उसी के माध्यम से परम्परागत अपने शाश्वत वैभव, स्वभाव, परमात्म अवस्था को प्राप्त करो। और हम ऐसी भावना स्वयं के लिए भी भाते हैं कि हम भी भवसागर से शीघ्र ही पार हो सकें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का फल-आज्ञा

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में षष्टम् अधिकार के उपसंहार स्वरूप 135वीं गाथा में आचार्य महोदय धर्म का फल विस्तार से बता रहे हैं। क्योंकि अल्पबुद्धि वाला सूत्रवाक्यों को, संक्षिप्त उपदेश को समझने में असमर्थ होता है। यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति देशाधिपति है, ग्रामाधिपति है, नगराधिपति है यह बड़ा छोटा सा लगता है। जो जानता है कि देशाधिपति, नगराधिपति, ग्रामाधिपति क्या होता है तो वे इस एक शब्द से समझ जाएँगे किन्तु जो नहीं जानता वह तो यही कहेगा इनमें तो कोई अंतर नहीं, सब एक जैसे होते हैं। आप लोग भी जब सुनते हैं कि भरतादि चक्रवर्ती थे तो चक्रवर्ती सुनकर कोई विशेष अनुभूति नहीं होती। पर जब उनके वैभव का वर्णन पढ़ते हैं–

छोड़े चौदहरत्न नवों निधि, अरु छोड़े संग साथी।
कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी॥

जब पढ़ते हैं कि उनकी 96,000 रानियाँ थी, 360 रसोईया थे, 32000 मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों की सेवा करते थे, उनके एक-एक रत्न व निधि की 1-1 हजार देव सेवा करते थे। जब उनके अपार छह खण्ड का वैभव सुनते हैं जब कहते हैं वाह! चक्रवर्ती का क्या वैभव होता है। यदि सामान्य से कह दिया जाए ये चक्रवर्ती हैं तो उनके विषय में भी सामान्य ही लगता है। एक शब्द से तो प्रबुद्ध, मेधावी, प्रज्ञजन ही परिज्ञान कर सकते हैं कि इस शब्द में कितनी गहराई छिपी हुई है किन्तु अल्पज्ञ के लिए तो विस्तार से कथन करना पड़ता है। उनके लिए तो मूल सूत्र के उपरान्त टीका, ख्याति, तात्पर्यवृत्ति, वर्तिका, भाष्य आदि करना जरूरी होता है। तो आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी धर्म के फल को सूत्र रूप में न कहकर विस्तार से कह रहे हैं।

सर्वप्रथम फल कहा कि सद्धर्म रूपी वृक्ष से पूज्यता की प्राप्ति होती है। जो भी भव्यजीव आज पूज्य बन रहे हैं या पूर्व में पूज्य बने थे, या भविष्य में जो कोई भी पूज्य बनेंगे वे सभी पूजा के फल से बने। पूजा भी धर्म का एक अंग है, अंश है। जिस व्यक्ति ने गुणप्राप्ति की भावना से, दोष विमुक्ति की भावना से, आत्महित की भावना से जिन चरणों में प्रणाम किया उसके लिए पूज्यता की प्राप्ति होती है।

द्वितीय फल कहा- 'अर्थ' अर्थ और परमार्थ दोनों की प्राप्ति ही धर्म के माध्यम से होती है। सामान्य व्यवहार धर्म का फल सामान्य अर्थ की प्राप्ति किन्तु निश्चय धर्म का फल है

परमार्थ की प्राप्ति। जहाँ पर अर्थ व्यर्थ हो जाता है वहाँ व्यक्ति फिर सार्थक की खोज करता है, परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु की खोज करता है। किंतु जहाँ व्यक्ति को अर्थ अनर्थकारी लगता है वहाँ फिर वह अपनी आत्मा की खोज करता है, उस अर्थ को छोड़कर अपनी आत्मा को देखता है। फिर वह चिंतन करता है कि जिसका मैंने आज तक पतन किया उस आत्मा को परमात्मा के सांचे में ढालूँगा, पारमार्थिक देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से परम अर्थ की सिद्धि करूँगा। जब तक व्यक्ति को सामान्य अर्थ व्यर्थ नहीं लगता तब तक व्यक्ति परम अर्थ को प्राप्त नहीं कर पाता है और जीवन को सार्थक भी नहीं कर सकता है।

अब इसी श्लोक में आगे कहा-'आज्ञा और ऐश्वर्य' की प्राप्ति भी धर्म के माध्यम से होती है। जिस जीव ने अनादिकाल से अद्यावधि पर्यंत गुलामी ही सहन की हो, दूसरों की आज्ञा का पालन किया हो ऐसा व्यक्ति भी धर्म के फल से आज्ञा देने वाला बनता है। आज्ञा देने वाला बन जाए कोई बहुत बड़ी बात नहीं है किन्तु जिसकी आज्ञा का पालन करने के लिए असंख्यात जीव तत्पर हों ऐसा पुरुष बनना विशेष धर्म की ही प्राप्ति होती है। संसार में ऐसे भी जीव हुए जिन्होंने निंद्यपर्यायें, निंद्य अवस्थाएँ प्राप्त की और कुयोनियों में जाकर के दु:खों को प्राप्त किया। यावज्जीवन दूसरों की गुलामी सहते रहे।

इतिहास बताता है इस युग में ऐसा काल भी आया कि व्यक्ति गुलाम बनकर के रहा, गुलामी की जंजीरें गर्भ में आते ही पहन लीं और वे जंजीरें मृत्यु तक छूट नहीं पाईं। शरीर छूट गया शरीर छूटते-छूटते भी जंजीरें रहीं। इतना ही नहीं इतिहास तो ये भी कहता है, कई मजदूर गुलाम ऐसे भी होते थे जो पीढ़ी दर पीढ़ी जिंदगी भर उसके यहाँ ही काम करते थे। कई पीढ़ियाँ निकल गई, उनकी कोई वांछा नहीं, बस जो उन्होंने दे दिया वह खा लिया, जो वस्त्र दिए पहन लिए। उससे आगे उनकी सोच बढ़ी ही नहीं। ऐसे व्यक्ति भी यदि धर्म की शरण में पहुँच जाते हैं तो वे कालान्तर में आज्ञा देने वाले बन जाते हैं।

आहारदान की अनुमोदना करने वाला वह शेर भी मुनिराज के समीप जाकर एक आसन्नभव्य श्रोता बनकर के बैठ जाता है। मुनिराज ने उसे उपदेश दिया, उस उपदेश को ग्रहण कर उस शेर ने पाँच अणुव्रतों को स्वीकार किया। वह आँखों से आँसू बहाता हुआ अपने पूर्व के कृत्यों पर पश्चाताप करने लगा। वह हिंसा को छोड़ सूखे पत्तों से अपना पेट भरने लगा, झरनों का पानी पीने लगा, उसने अपनी वृत्ति अहिंसक बना ली। जिसके प्रभाव से वह शेर रूप पर्याय को छोड़ देवगति में देव होता है, वहाँ से आकर राजा होता है, वहाँ तपस्या आदि की पुनः वह स्वर्गादि की विभूति प्राप्त करता है। पुनः मनुष्य भव प्राप्तकर साधना कर

ग्रैवेयक अवस्था को प्राप्त करता है, फिर मनुष्यभव धारण कर घोर साधना कर सर्वार्थसिद्धि आदि पहुँचा। क्रमशः ऐसे उत्तम-उत्तम पदों को प्राप्त करता हुआ वह जीव इस भरत क्षेत्र के तृतीयकाल के अवसान में धर्म की प्रवृत्ति करने के लिए उत्पन्न हुए श्री श्रीऋषभदेव तीर्थंकर के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती बनते हैं।

जो तिर्यंचपर्याय में था, उस पर्याय में वह क्रूर प्राणी यदि हिंसा कर्म को नहीं छोड़ता तो निःसंदेह नरक आदि के दुःखों को प्राप्त करता, और कितनी बार उन दुःखों को भोगता ये भी नहीं कह सकते। न जाने कितनी कुयोनियों में भ्रमण करता किन्तु पाप को छोड़ते ही, धर्म का अंश स्वीकार करते ही व्यक्ति को धर्म का फल मिलना प्रारंभ हो जाता है। जैसे व्यक्ति अंधकार में कहीं ठहरा हुआ हो, या तो वह अंधकार को छोड़कर प्रकाश में पहुँच जाए अन्यथा उस अंधकार के स्थान पर जहाँ से प्रकाश होता है उस स्विच को on कर दे, तब प्रकाश हो सकता है। ऐसे ही हमारे जीवन में जो अंधकार रूपी पाप है उसे हम छोड़कर पुण्य के क्षेत्र में पहुँच जाएँ अन्यथा जहाँ पर हैं वहीं पर रहकर पुण्यक्रिया, धर्म क्रिया प्रारंभ कर दें तो हमारे जीवन में वहीं से सुख-शांति की प्राप्ति हो जाएगी। छह खण्ड के सभी प्राणी जिसके अधीन होते हैं ऐसे चक्रवर्ती पद की प्राप्ति, 32 हजार मुकुटबद्ध राजा अपनी बद्धकरांजलि को मस्तक पर रखकर के अपनी मौलि सहित सिर झुकाने वाले, वे आज्ञा माँगने को तत्पर कि चक्रवर्ती हमें आज्ञा दें। ऐसा वैभव चक्रवर्ती ने कैसे पाया? तो सिर्फ और सिर्फ धर्म के माध्यम से।

पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में पुष्पलता और कुसुमलता नामक दो कन्याएँ थीं, उनके पिता मालाकार थे। वे शिवमंदिर में साफ-सफाई का कार्य करती थीं। वे प्रतिदिन प्रातःकाल उद्यान में पुष्प चुनने जाती थी तो लौटते हुए मार्ग में जिनमंदिर के सामने से निकलती थीं। वे जिनेन्द्रप्रभु की देहरी पर अपनी टोकरी में से एक पुष्प प्रतिदिन चढ़ाती थीं। वे भगवान् को निर्निमेष दृष्टि से देखतीं, हाथ जोड़ती, माथा देहरी पर झुकातीं और यूँ तो वे कुछ नहीं जानती थी, पर भगवान् से कहती, हे भगवन्! जब आपने हमें मालाकार की पुत्री बनाया ही तो जिनमंदिर की क्यों नहीं? काश! हम यह कार्य आपके मंदिर में ही करते तो कम से कम पूरे दिन आपके दर्शन कर पाते। वे दोनों कन्याएँ प्रतिदिन फूल चुनने जातीं और एक श्रद्धा का पुष्प भगवान् की देहरी पर चढ़ाती ऐसा उनका प्रतिदिन का क्रम था।

एक दिन वे दोनों बहिनें पुष्प चुनने गईं, तो अचानक ही उस बगिया में एक सर्प ने उन्हें डस लिया और वे मृत्यु को प्राप्त हुईं। किन्तु मृत्यु से पूर्व उनके मन में यही भावना चलती रही कि हे प्रभु! आज हम पुष्प चुनने तो आईं पर आपकी देहरी पर अपनी श्रद्धा का पुष्प नहीं

चढ़ा पाईं। इन्हीं भावनाओं से दोनों ने प्राण तज दिए। वहीं शिवघोष केवली तीर्थंकर प्रभु का समवसरण आया हुआ था। वहाँ वरदत्त चक्रवर्ती ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! सौधर्मइन्द्र तो पहले ही सभा में उपस्थित हो गए। ये दो देवांगनाएँ अभी क्यों आई? तब गणधर परमेष्ठी ने कहा–ये दोनों सौधर्मइन्द्र की देवांगनाएँ हैं क्योंकि सौधर्मइन्द्र जब वहाँ से चला था तब इनका जन्म नहीं हुआ था। ये दोनों पूर्वभव में मालाकर की बेटियाँ थी और भगवान् की देहरी पर प्रतिदिन अपनी टोकरी से एक पुष्प चढ़ातीं थी। आज भी ये पुष्प चुनने गई थीं किन्तु एक विषधर ने डस लिया, मृत्यु को प्राप्त हुई। आज हम भगवान् के दर्शन नहीं कर पाए, पुष्प नहीं चढ़ाया, भक्ति समर्पित नहीं कर पाई, इस भावना के फलस्वरूप वे दोनों कन्याएँ भगवान् की भक्ति के प्रभाव से सौधर्मइन्द्र की वल्लभा हुई हैं और यहाँ पर इतना वैभव प्राप्त किया है। जब वे पूर्व पर्याय में थी तब बड़ी निर्धन थी, उनके पास पर्याप्त धन नहीं था किन्तु धर्म का अंश जैसे ही मन में आया, प्रभु भक्ति का भाव आया, जिनदर्शन का भाव आया तो वे उस पर्याय से इस पर्याय में पहुँच गईं। सौधर्मइन्द्र तीनों लोकों में सबसे ज्यादा वैभव सम्पन्न होता है, उन सौधर्मइन्द्र की देवांगना बनना नि:संदेह बहुत बड़े पुण्य की बात है।

महानुभाव! धर्म के प्रभाव से इस प्रकार के फल की प्राप्ति भी संभव है। आपने मौन एकादशी व्रत की कथा तो पढ़ी होगी। उसमें एक तुंगभद्रा जिसने पूर्वभव में मुनिराज पर उपसर्ग किया, जिस पाप के फल से वह अनेक कुयोनियों में भ्रमण करते हुए भयंकर दु:ख सहन करती रही। शब्दातीत दु:ख, जिन दु:खों को करोड़ों जिह्वाओं के द्वारा भी कह नहीं सकते ऐसे दु:खों का भार वहन करती रही। एक समय जब उसके पाप कर्मों का मंद उदय आया। तब वह तुंगभद्रा हुई। उसके शरीर से अत्यंत दुर्गंध आती थी, लोग उसके पास बैठना पसंद नहीं करते थे। पाप प्रकृतियों के उदय से अशुभनामकर्म के उदय से अत्यंत कुरूपा दी, देहयष्टि अतिशय कुरूप थी, जितने भी अशुभ लक्षण शरीर में होते हैं शायद उनमें से कोई छूटा नहीं था वे सभी लक्षण उस कन्या के शरीर में थे।

एक दिन उसने मुनिराज के दर्शन किए, और उनके उपदेश को बहुत दूर से सुना। बाद में उसने मुनिराज से मौनएकादशी व्रत ग्रहण किया। वह तुंगभद्रा त्रियोगों से उस व्रत का पालन करने लगी। उस व्रत के प्रभाव से वह कन्या आगे चलकर राजा हरिवाहन का पुत्र सुकौशल नाम का राजकुमार हुई। जिनकी अनेक-अनेक पीढ़ियाँ दिगम्बर दीक्षा को अंगीकार कर कल्याण को प्राप्त हुई थी। हरिवाहन राजा भी अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा लेना चाहता था किन्तु राजा का मंत्री मौद्गलिक जो कि बहुत चतुर था। उसने अपने पुत्र से कहा-बेटा!

राजा भी अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा लेना चाहता है। उसका पुत्र बहुत भोला भाला है, मैं उसे मारकर तुझे राज्य दे दूँगा। किन्तु मंत्री पुत्र ने यह बात राजकुमार से कह दी कि मेरे पिता तुम्हें मारने की बात कर रहे हैं। हरिवाहन ने दीक्षा ली, सुकौशल ने मंत्री को कारागार में बंद करवा दिया। जिससे मंत्री मरकर के सिंह हुआ। सुकौशल ने अपना राज्य मंत्री पुत्र को दे दिया व दीक्षा ले ली। उस मंत्री के जीव सिंह ने सुकौशल मुनिराज पर उपसर्ग किया। बाद में हरिवाहन मुनि ने उस सिंह को संबोधन दिया। पुनः हरिवाहन मुनि व सुकौशल मुनि दोनों ही मोक्ष को प्राप्त हुए।

महानुभाव! जो पूर्वभव में तुंगभद्रा थी, अपने पापकर्म का अत्यंत कठिन दुःख भोगने वाली थी, अगले ही भव में मोक्ष को प्राप्त करने वाली सुकौशल हो गई। संसार की विभूति को प्राप्त किया पुनः उससे विरक्त होकर आत्म साम्राज्य को प्राप्त किया। इसलिए हम सभी को भी अपना चित्त धर्म में लगाना चाहिए। धर्म के माध्यम से ही इहलोक व परलोक सुखद होते हैं और अनंतर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का फल-ऐश्वर्य

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में षष्टम् अधिकार की अंतिम गाथा देख रहे हैं; जिसमें आचार्य महोदय ने धर्म के फल को श्रावकों के लिए सरल, सहज, बोधगम्य शब्दों में बताने का प्रयास किया। संभव है आचार्य महोदय ने षष्टम् अधिकार पर ही ग्रंथ की पूर्णता करने का विचार किया होगा इसलिए यहाँ 130 से 135 वें श्लोक तक धर्म के फल ही बताए। किन्तु बाद में किसी शिष्य के अनुग्रह पर 11 प्रतिमाओं का स्वरूप उन्होंने अलग से बता करके विशेष उपकार किया।

यहाँ व्रतों के फल की व्याख्या करते हुए आचार्य महोदय बता रहे हैं कि सद्धर्म रूपी वृक्ष कैसे-कैसे फलित होता है। पूजा-अर्थ-आज्ञा तीन फल बताए। धर्म के फल से तीन लोक में पूज्य पद प्राप्त होता है। धर्म के फल से संसार में दुर्लभ सम्पूर्ण प्रकार का अर्थ-वैभव प्राप्त होता है और धर्म के माध्यम से ऐसा पद प्राप्त होता है जिसकी आज्ञा मानने के लिए संसार के प्राणी तत्पर रहें। पुण्य एक ऐसी चीज है जिस पुण्य के उदय के समय शक्र आदि भी नम्रीभूत हो जाते हैं। पुण्य के लिए संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं। दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु भी पुण्यात्मा के लिए सरल है। वह पुण्य व्यवहार धर्म के माध्यम से आता है। निश्चय धर्म तो पुण्य और पाप दोनों का क्षय करने वाला है। यह व्यवहार धर्म सातिशय पुण्य को देने वाला है, पुण्य के फल को देने वाला है। यह व्यवहार धर्म निश्चय धर्म के लिए सीढ़ी का काम करता है।

यहाँ अगला फल बता रहे हैं 'ऐश्वर्य'। ऐश्वर्य की प्राप्ति किसे हुई, कैसे हुई यहाँ आगम के परिपेक्ष्य में कतिपय उदाहरण देते हैं। आपने धन्यकुमार चरित्र का स्वाध्याय किया होगा, धन्यकुमार पूर्वभव में सेठानी मृष्टदाना के अकृतपुण्य नाम का पुत्र था। गर्भ में आते ही पिता का देहान्त हो गया। ज्यों-ज्यों गर्भ का संवर्धन हुआ त्यों-त्यों सम्पत्ति नष्ट होती चली गई। अकृतपुण्य के गर्भ में आने से पूर्व माँ मृष्टदाना के घर में बहुत समृद्धि भी किन्तु अकृतपुण्य एक ऐसा पापी जीव आया जिसने कई भव पूर्व देव द्रव्य का भक्षण किया था अर्थात् निर्माल्य का सेवन किया था। उस भव में वह ब्रह्मचारी का रूप बनाकर के उस सेठ के जिनालय में रहा। जो सेठ अष्टमी-चतुर्दशी, पूर्णमासी या पंचमी आदि विशेष तिथियों पर स्वर्ण आदि मुद्राओं से भगवान् की पूजा करता था। एक बार सेठ को व्यापार हेतु कुछ समय के लिए बाहर जाना था, तो वह उस ब्रह्मचारी को वे मुद्राएँ यह कहकर देकर चला गया कि अमुक-अमुक

विशेष तिथियों पर आप पूजन कर लेना। किन्तु वह ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी नहीं था। छल से रूप बनाकर वहाँ रह रहा था। सेठ ने जितना धन दिया था वह सब कुछ उसने जुए में हरा दिया और मंदिर का जितना द्रव्य था सब हड़प लिया।

सेठ लौटकर आया तो ब्रह्मचारी उसे देखकर मन ही मन कोसने लगा। सेठ को जब उसकी सच्चाई पता चली तो उसको वहाँ से निकाल दिया। वह बहुत तड़प-तड़प कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और नरकगति पहुँचा। क्योंकि भगवान् के द्रव्य का भक्षण करने वाला व्यक्ति नारकी होता है। उसने भी उस पाप के फल से नरक की अवस्था प्राप्त की। पुनः तिर्यंच योनि में नाना दुःख रूप अवस्थाएँ प्राप्त की। उसके उपरांत जब वह मनुष्य बना तो भी ऐसा पाप का उदय कि गर्भ में आने से पहले ही धन नष्ट होना शुरु हो गया। कोई पुण्यात्मा जीव जब गर्भ में आता है तब गर्भ में आने से पहले ही धन-वैभव की वृद्धि होने लगती है। तीर्थंकर प्रभु जब माँ के गर्भ में आते हैं तो छह मास पहले ही रत्नों की वर्षा, नगर की रचना हो जाती है, दिक्कुमारियाँ माँ की सेवा में उपस्थित हो जाती हैं। अष्ट कुमारियाँ अन्य परिचायिकाएँ देव समूह वहाँ रहता है। क्यों? क्योंकि छह महीने बाद इस कुल में वह पुण्यात्मा जीव आएगा जो तीर्थंकर बनेगा। पुण्य का फल उस जीव के आने से पहले ही प्रभाव दिखाने लगता है। भगवान् महावीर स्वामी के गर्भ में आने आ प्रसंग आपने सुना होगा–

श्री वृद्धि सर्वत्र हुई थी जन-जन ने सुख पाए थे।
इससे जग में त्रिशलानन्दन वर्धमान कहलाए थे॥

उनके गर्भ में आते ही श्री (लक्ष्मी) की वृद्धि हुई, सुख-क्षेम की वृद्धि हुई इसीलिए जन्म के बाद उनका नाम वर्धमान रखा गया। पुण्यात्मा जीव गर्भ में आता है तो जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता चला जाता है वैसे-वैसे उस कुल में पुण्य के फल बढ़ते चले जाते हैं किन्तु पापी जीव गर्भ में आता है तो ज्यों-ज्यों गर्भ बढ़ता है त्यों-त्यों पुण्य का फल नष्ट होता चला जाता है। अकृतपुण्य के गर्भ में आते ही उसके पिता की मृत्यु हो गई, सम्पत्ति नष्ट होने लगी। सुकृतपुण्य नाम का व्यक्ति जो अकृतपुण्य के पिता के यहाँ नौकरी करता था, अब वे सभी नौकरी करने वाले सेवक आदि भाग चुके थे। घर में मृष्टदाना और उसका पुत्र अकृतपुण्य ही रह गए। अकृतपुण्य का अर्थ होता है जिसने पूर्ण में पुण्य नहीं किया, पाप को भोगने वाला पापी जीव।

एक दिन अकृतपुण्य ने देखा घर में कुछ खाने-पीने के लिए नहीं है। वह 8-10 साल का थोड़ा समझदार हुआ तो सोचा माँ दूसरों घर काम करने जाती है, आटा पीसती है, भोजन बनाती है, जिससे हम दोनों की उदरपूर्ति होती है, आज माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, क्यूँ न

मैं ही कुछ व्यवस्था करूँ। और वह काम ढूँढता-ढूँढता सुकृतपुण्य के खेत पर पहुँच गया। वहाँ उसने दिन भर काम किया और फसल काटी। शाम को सुकृतपुण्य ने सबको मजदूरी दी, अकृतपुण्य को मजदूरी अभी नहीं दी। बालक बोला-चाचा! आपने सबको मजूदरी दी मुझे क्यों नहीं दी, क्या बात है? बेटा तुम्हें बाद में दूँगा।

सुकृतपुण्य ने यह सोचकर कि यह धन तो हाथ का मैल है, आज तक किसके पास टिका है, कल मेरे स्वामी के पास था आज मेरे पास है, आगे किसी और के पास जाएगा। इसके पिता के मेरे ऊपर बहुत उपकार हैं, आज उनका पुत्र मेरे यहाँ खेत पर फसल काटने के लिए आया। वह बोला-बेटा! मैं तेरे पिता के उपकार तो नहीं चुका सकता; और अपने गले से मोटी चैन उतारकर दे दी। अकृतपुण्य के हाथ पर जैसे ही वह चैन रखी, वह मोटी सोने की चैन उसके पापकर्म के उदय से मिट्टी बन गई। वह बोला! चाचा! आप मुझको मिट्टी दे रहे हो। पुनः उसने कुछ रत्न दिए किंतु जैसे ही रत्न अकृतपुण्य ने हाथ में लिए, वे अंगारे बन गए। वह बोला चाचा सबको तो आपने चने दिए और मुझको ये अंगारे। पाप के उदय से सोना भी मिट्टी हो जाता है और पुण्य से मिट्टी भी छुओ तो सोना हो जाती है।

सुकृतपुण्य ने कहा-बेटा! मैं समझ गया, अभी तेरा पुण्य का उदय नहीं है, पाप का उदय है। वह अकृतपुण्य बोला आप मुझे भी चने ही दे दो जो सब मजदूरों को दिया है। ठीक है तुम जितना चाहे उतना चना बाँध लो। उस बालक ने अपने उत्तरीय वस्त्र में चने बाँध लिए। रात्रि का समय था, उसे ज्ञान नहीं था कि उसके उत्तरीय वस्त्र में एक छेद हो रहा था, घर आते-आते वह चना मुट्ठी भर रह गया, माँ ने कहा-बेटा! तुम सुबह से कहाँ थे। माँ, आज आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं था इसलिए मैं काम करने चला गया। उसने पूरी बात माँ को बता दी। माँ ने जैसे ही सुना कि मेरा बेटा उसके यहाँ काम करने गया था जिसने कभी हमारे यहाँ काम किया था। माँ ने सोचा अब इस ग्राम में रहना उचित नहीं है, यहाँ से बाहर जाना ही श्रेयस्कर रहेगा। क्योंकि व्यक्ति चाहे कितना भी गरीब से गरीब क्यों न हो वह सोचता है कि बंधुवर्ग के सामने तो हाथ न फैलाने पड़े। इसीलिए वह अपने पुत्र को लेकर वहाँ से चली गई।

और कुटुम्बी नाम के गाँव में पहुँची जहाँ वह बलदेव नामक जमींदार के घर के बाहर बैठी थी, तभी जमींदार ने देखा और पूछा-बहिन कहाँ से आ रही हो, कहाँ जाना है। भैया! कर्मों की मारी हूँ, जहाँ ठिकाना मिल जाएगा वहीं गुजर-बसर कर लूँगी। उस जमींदार ने कहा-बहिन! तुम यहीं रुक कर मेरे यहाँ काम कर लो, मेरे सात बेटे हैं किंतु उनकी माँ नहीं है। तुम मेरे पुत्रों का पालन-पोषण करो। वह मृष्टदाना वहाँ रुककर कार्य करने लगती है, सभी के लिए भोजन आदि बनाती है। एक दिन मृष्टदाना ने सातों पुत्रों के लिए खीर बनाई,

बच्चे खीर खा रहे थे, तब अकृतपुण्य ने भी अपनी माँ से खीर माँगी। किन्तु बच्चों ने उसे चिढ़ाया और पीट दिया। शाम को जमींदार आया उसने देखा कि अकृतपुण्य रो रहा है। उसे सब बात पता चली तो उसने कहा-बच्चों ने यह अच्छा नहीं किया, इसको भी खीर दे देती। मृष्टदाना ने कहा—नहीं भैया! जो भोजन आपके बेटों के लिए है वह मेरे बेटे के लिए नहीं। मैं आपके यहाँ काम करने वाली हूँ, मैं ऐसे अपने बेटे को कैसे खिला सकती हूँ। बलदेव ने कहा-इसके लिए भी खीर बनाकर खिला दो।

मृष्टदाना मन में सोच रही थी, कभी वह दिन भी था जब मेरे यहाँ पकवान बनते थे, बचते थे तो नौकरों को दिए जाते थे, आज मेरे बेटे ने खीर माँगी तो मैं उसे दे न सकी, आज वह खीर के लिए रो रहा है, आँसू बहा रहा है। प्रातःकाल हुआ उसने बलदेव के कहे अनुसार अकृतपुण्य के लिए खीर बनाई। उसने भगवान् को याद कर हाथ जोड़े कहा-प्रभु! आज मैंने अकृतपुण्य के जन्म के बाद पहली बार कोई पकवान बनाया है, मानो दीपावली ही आ गई है। मन में भावना हुई काश! कोई दिगम्बर मुनिराज यहाँ होवें तो मैं उन्हें खीर का आहार कराऊँ। माँ अपने बेटे से यह कहकर गई कि बेटा! मैं पानी लेकर के आती हूँ, यदि कोई मुनिराज यहाँ से निकलें तो उन्हें रोक लेना। आज हमारा सौभाग्य होगा कि उन धरती के देवता को आहार देकर हम भोजन करेंगे। ध्यान रखना अगर तूने नहीं रोका तो मैं तुझे खीर खाने को नहीं दूँगी।

पुण्य का उदय आया, वह द्वारप्रेक्षण के लिए खड़ा हो गया, चारों तरफ बड़ी निगाह रखने लगा, तभी देखता है आकाशमार्ग से एक मुनिराज आए। उसने उन मुनिराज से कहा—महाराज जी! ठहरो-ठहरो, मेरी माँ ने खीर बनाई है, आप उसे खाकर जाना। मुनिराज मुस्कुराकर आगे बढ़ गए। बालक भागकर आगे आया, अपने दोनों हाथ फैलाकर बोला-महाराज जी! आप जाना नहीं, अगर आप चले गए तो मेरी माँ मुझे खीर खाने नहीं देगी, आप ठहर जाओ। महाराज जी तो महाराज जी, उनकी तो विधि होती है, आगे चलते गए। वह बालक सोचता है ये मेरी प्रार्थना नहीं सुन रहे, मेरे कहने से नहीं आ रहे। वह फिर भागकर गया और उनके दोनों पैरों को पकड़ लिया, मैं आपको जाने नहीं दूँगा। इधर सामने से मृष्टदाना आ गई, उसके सिर पर पानी का भरा कलश था, उसने मुनिराज का विधिपूर्वक पड़गाहन किया, हे स्वामी! अत्र-अत्र, तिष्ठ-तिष्ठ कह अपने गृह में लेकर आयी उनका नवधाभक्ति पूर्वक आहार प्रारंभ करवाया।

मृष्टदाना ने जो खीर बनाई उसके तीन हिस्से किए, एक हिस्सा मुनिराज के लिए, एक हिस्सा बेटे के लिए, एक हिस्सा अपने लिए। आहार देना प्रारंभ किया, पहला हिस्सा दिया, पुनः अपना हिस्सा भी दे दिया, अब वह बालक भी बाहर से आहार देख रहा था। उसे बहुत

आनंद आ रहा था। वह कहता है माँ मेरे हिस्से की खीर भी दे दो-मेरे हिस्से की खीर भी दे दो। वे मुनिराज अक्षीणमहासस ऋद्धि के धारी थे। माँ देखती है कि कटोरा खीर से ज्यों का त्यों भर गया। जितनी खीर देती जाती कटोरा ज्यों की त्यों भर जाता। मुनिराज का निरन्तराय आहार सम्पन्न हुआ, और वे आकाशमार्ग से चले गए। मृष्टदाना ने खीर अपने पुत्र को खिलाई, बलदेव आदि 7 पुत्रों को खिलाई और स्वयं भी खाई किन्तु खीर खत्म ही नहीं हुई। उसने अपने अड़ौसी-पड़ौसी को खीर खिलाई, पूरे गाँव को खिलाई। लोग कहने लगे आपके यहाँ क्या कोई देवता आए, इतनी खीर कैसे बनी। वह बोली मैं नहीं जानती।

महानुभाव! आहारदान की अनुमोदना करने वाला अकृतपुण्य अगले भव में धनवान् श्रेष्ठी का आठवाँ पुत्र धन्यकुमार होता है। जिसके लिए वसुमित्र नाम का राजा उसके जन्म के पूर्व ही अपनी सारी सम्पत्ति लिखकर गया। क्योंकि वसुमित्र ने एक अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछा था कि मेरे राज्यवैभव का मालिक कौन होगा? तब उन्होंने बताया कि धनपाल श्रेष्ठी का आठवाँ पुत्र धनदत्त होगा। वह राजा वसुमित्र प्रशस्ति पर लिखकर गया कि मेरी सम्पत्ति का मालिक धनपाल का आठवाँ पुत्र होगा। जब राजा मृत्यु को प्राप्त हुआ तो उसे पलंग सहित ले गए। पलंग के पायों में रत्न भरे थे, उसमें ताम्रपत्र निकला जिसमें लिखा था धनपाल का 8वाँ पुत्र इस धन सम्पत्ति का स्वामी है। धन्यकुमार का इतना पुण्य का उदय आया कि वह जब कालगुफा में गया तो वहाँ से दिव्य रत्न लेकर आया, जब उसका जन्म हुआ तब उसकी नाल गाढ़ने के लिए गड्ढा खोदा तो उसमें से स्वर्ण निकलकर आया। जहाँ भी हाथ डालता उसे वहाँ से वैभव ही वैभव मिलता चला गया।

महानुभाव! यह किसका पुण्य था? यह सब आहारदान की अनुमोदना से प्राप्त धर्म का फल था, उस पुण्य फल से वह धन्यकुमार इतना वैभव सम्पन्न हुआ। आज भी लोग कहावत के रूप में कहते हैं-अरे! तू धन्ना सेठ नहीं हो गया अथवा तू बड़ा धन्ना सेठ हो गया। कौन था वह धन्ना सेठ, वह धन्यकुमार ही था जिसने ऐसे एश्वर्य को प्राप्त किया। धर्म का प्रभाव अचिन्त्य है, इसलिए आप सभी अपनी शक्ति अनुसार जिस प्रकार के धर्म में आपका मन लगता है चाहे पूजा में, स्वाध्याय में, शीलव्रत का पालन करने में, उपवास में, दान में, जाप में, यात्रा में, परोपकार में जिस किसी पुण्य कार्य में आपका मन लगता है अपनी शक्तिअनुसार मनसा-वाचा कर्मणा पुण्य का संपादन करो, धर्म का संग्रह करो। धर्म ही आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ है और कोई नहीं। आप और हम सभी अपने आध्यात्मिक वैभव को प्राप्त करें, इन्हीं भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का फल-बल

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में षष्टम् अधिकार की अंतिम कारिका देख रहे हैं। जिसमें आचार्य महोदय ने धर्म के फल की व्याख्या की है। सद्धर्म का वृक्ष पूजा, अर्थ, आज्ञा, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति है। यह सब धर्म के सामान्य फल हैं। जैसे किसान खेती करता है तब मुख्य बीज के अंकुरित होने के साथ-साथ कुछ घास-फूस अपने आप उग आती है, उसे अलग से बोना नहीं पड़ता। ऐसे ही जब कोई साधक साधना करता है, कोई उपासक उपासना करता है, कोई पुजारी पूजा करता है, कोई भक्त भक्ति करता है, तब उसके माध्यम से संसार सागर से पार होने की शक्ति प्राप्त होती है, शिवसुख का आधार प्राप्त होता है किन्तु उस शिवसुख के आधार के साथ-साथ उस संसार का जो सारभूत सुख माना जाता है वह भी प्राप्त होता है, खरपतवार-घासफूस की तरह से। और पुनः जिस भव से मोक्ष प्राप्त करना है उस भव से भी वह मोक्ष प्राप्त करने के पहले श्रमण अवस्था में रहकर आत्मीय सुख का अनुभव करता है। तो समझो वह उस मोक्ष सुख को उत्पन्न करने वाला फलक है-बाल है।

जैसे चने की घेंटी होती है उसके बिना चना नहीं होता, या गेहूँ की बाल के बिना गेहूँ पैदा नहीं होता। उसके उपरांत तोड़ने पर ही वह दाना निकलकर आता है। इसी तरह से पहले श्रमण अवस्था का सुख, फिर अरिहंत अवस्था का सुख उसके उपरांत ही प्राप्त होता है सिद्ध अवस्था का सुख। जिसने श्रमण अवस्था का सुख प्राप्त नहीं किया समझो उसने मटर की कच्ची फलियाँ प्राप्त नहीं की। जब मटर की कच्ची फली ही नहीं तो पकी मटर कहाँ से आएगी। तो यह श्रमण जीवन का सुख भी अचिंत्य सुख होता है। उस सुख के बारे में आचार्यों ने लिखा है कि वह सुख शब्दातीत है, इन्द्रियातीत है, वह सुख आत्मोत्पन्न है। वह सुख पौद्गलिक पदार्थों के माध्यम से उत्पन्न नहीं होता। वह सुख स्वभाविक सुख है। उसकी उपमा अन्य किसी सुख से नहीं दे सकते। विद्वत्वर दौलतराम जी ने छहढाला में लिखा-

यूं चिन्त्य निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहिं कह्यो॥

जो सुख वीतराग एकान्तवासी मुनि को प्राप्त होता है वह सुख इन्द्र, धरणेन्द्र, नागेन्द्र, सुरेन्द्र, असुरेन्द्र, अहमिन्द्र आदि किसी को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए वह सुख अपने आप में अचिन्त्य सुख है। किन्तु श्रमणदशा का सुख जिसने प्राप्त नहीं किया, श्रमण दशा में रहकर

भी यदि वह आर्त्तरौद्रध्यान कर रहा है तो उसका श्रमणपना सार्थक नहीं। जिस मटर की फली में कीड़ा लग गया हो और उसमें छोटा सा तुच्छ दाना आ रहा है वह भी कीड़े के द्वारा खाया गया है, सड़ गया है तो अब आगे उससे उम्मीद नहीं की जा सकती कि उससे पुष्ट और अच्छा बीज प्राप्त हो सकेगा। तो पहले श्रमण अवस्था का सुख भोगना भी जरूरी है। श्रमण अवस्था का पूर्ण सुख भोगने वाला योगी ही अरिहंत अवस्था को भोगने का अधिकारी हो सकता है। और अरिहंत अवस्था का सुख भोगने वाला सिद्ध अवस्था का सुख भोग सकता है।

आप पूछ सकते हैं कि ऐसा भी तो हो सकता है कि वे अन्तःकृत केवली हों, अरिहंत अवस्था में ठहरे ही नहीं मुनि अवस्था से सीधे मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर लें। अन्तर्मुहूर्त में पूरी प्रक्रिया होती है किन्तु फिर भी घातिया कर्म का क्षय हुए बिना अघातिया कर्म का क्षय नहीं हो सकता। घातिया कर्म का क्षय प्रथम अन्तर्मुहूर्त में होता है, अघातिया का अनंतर अन्तर्मुहूर्त में, दोनों एक साथ नहीं, वह अन्तर्मुहूर्त लघु हो सकता है। इस प्रकार से वह सुख प्राप्त किया जाता है।

महानुभाव! धर्म के फल से 'बल' प्राप्त होता है। आत्मा के लिए सबसे कमजोर बल कौन सा है? तो वह है धनबल। तुच्छ चाँदी के टुकुड़ों का बल, कागज के नोटों का बल। जिसके पास और कुछ भी नहीं है देने के लिए वही व्यक्ति रुपया-पैसा देता है या कोई वस्तु देता है। जिसके पास इसके अलावा कुछ और है तो वह व्यक्ति अमीर है। जिसके पास सिर्फ और सिर्फ धन का बल है वह संसार का सबसे गरीब व्यक्ति है। वह किसी को कुछ दे ही नहीं सकता। यहाँ तक कि अपने कुटुम्बी-परिवारीजनों को स्नेह भी नहीं दे सकता, सहयोग नहीं दे सकता, उनकी सेवा नहीं कर सकता, उन्हें अच्छी शिक्षा-सुसंस्कार नहीं दे सकता और समय भी नहीं दे सकता। उसके पास अपने परिवार-समाज, बंधु-मित्र आदि किसी के लिए समय ही नहीं है। उसके पास तो केवल पैसे का मूल्य है। लोक में पैसा एक बल माना जाता है किन्तु वह सबसे जघन्यतम बल है। प्रबुद्धवर्ग धनबल को कोई बहुत बड़ा महत्व नहीं देते। हाँ, मूर्खों की समाज में धनबल सबसे उत्कृष्ट माना जाता है। उन अल्पज्ञानियों की मान्यता को लेकर तुलसीदास जी ने दोहा भी लिखा।

तुलसी जग में दो बड़े दामोदर और दाम।
दामोदर बैठे रहें, दाम करे सब काम॥

वे मानते हैं कि सब काम दाम के जोर से हो जाता है। किन्तु ऐसा है नहीं। जिसके पास करोड़ों का धन हो, रात में करवटें बदल रहा है, नींद नहीं आ रही, क्या पैसा देकर नींद आ

जाएगी? कई बार व्यक्ति को नींद की गोलियाँ खाकर भी नींद नहीं आती। पैसे से नींद खरीद सकते हो क्या? पैसे से आत्मा की शांति खरीद सकते हो क्या? जैसा आनंद किसी पिता को अपने बेटे को गोदी में खिलाते हुए आता है क्या वह आनंद बाजार में 1 लाख रुपया खर्च करके मिल जाएगा? किसी माँ को जो आनंद अपने पुत्र को वात्सल्य देने में, लाड़-प्यार देने में आ रहा है, वह आनंद रत्नों का थाल देने से आ जाएगा क्या? नहीं आ सकता। जो रत्नों के महल में रह रहा है, करवटें बदल रहा है, नींद नहीं आ रही, शत्रु का भय है, महल में ही शत्रु पैदा हो गए, अब क्या करे रत्नों के महल का और अपूर्व धन-सम्पदा का। तो धन से प्यार नहीं खरीदा जा सकता।

धन से व्यक्ति खरीदे जा सकते हैं व्यक्ति का दिल नहीं। यह तो व्यक्ति का मन है कहाँ समर्पित हो जाए। लोभ-लालच देकर आप उसे नौकरी दे सकते हैं, उसके तन को खरीद सकते हो मन को नहीं। सेवक व्यक्ति मन से बनता है, दिल से आत्मा से बनता है, पैसे से सेवक नहीं बनता पैसे से नौकर बनते हैं। पैसे से मित्र नहीं बनते, पैसे से सच्चे जीवन साथी नहीं मिलते। जो पैसे के माध्यम से बनते हैं वे पैसों के लिए ही आते हैं अथवा स्वार्थ पूरा करके फिर चलते बनते हैं। तो पैसा सबसे जघन्यतम बल है।

अगला है 'वस्तु' का बल। मेरे पास इतना माल है, मैंने इतना परिग्रह जोड़ रखा है, तो यह भी ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है। जिन नोटों के बंडल से व्यक्ति अपने आपको धनपति-करोड़पति मानता है यदि कही भूलवश चिंगारी पहुँच जाए तो करोड़ों-अरबों का जो मालिक था वह एक अन्तर्मुहूर्त में गरीब भी हो सकता है, तो धन शाश्वत नहीं। वस्तुएँ भी बहुत रखीं हों तो वे भी विनष्ट हो सकती हैं, व्यक्ति निर्धन हो सकता है, तो वस्तु भी बहुत बड़ा बल नहीं। उससे बड़ा मानते हैं तो वह है 'शरीर' का बल। किसी के पास 50 करोड़ रुपया था, और दूसरा व्यक्ति चोरी करने वाला था, 50 करोड़ वाला व्यक्ति दुबला-पतला सा है एक धक्का मारे तो गिर पड़े, पहलवान चोर रास्ते में उसे लूटकर के रुपया लेकर चलता बना। तो वह धन सम्पति कैसी जो विपत्ति का कारण है। सच्ची सम्पत्ति तो वह होती है जो मेरी आत्मा का कभी साथ नहीं छोड़े। वही सच्चा धन है।

तन का बल कभी है, कभी नहीं है। बड़े-बड़े सूरमा, बड़े-बड़े पहलवान इतने कमजोर देखने में भी आते हैं कि अपने शरीर का वजन खुद नहीं उठा पाते। अच्छे से अच्छा पहलवान भी हो, बुखार आ जाए तो उठते ही चक्कर आता है, या दस्त लग जाएँ तो लगता है प्राण निकल गए, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। कहाँ गई उसकी पहलवानी जो अपने आपको तीसमारखाँ समझता था। तो शरीर का बल कभी भी नष्ट हो सकता है।

अगला 'वचनबल' भी होता है। कहता है मेरी वाणी ऐसी प्रभावक है कि एक आवाज में मैं हजारों व्यक्तियों को अपने favour में कर सकता हूँ। अरे! ये भी शाश्वत नहीं है, आवाज चली जाए तो क्या करोगे? ज्ञान का क्षयोपशम नष्ट हो जाए तो क्या करोगे? तो वचनबल भी ज्यादा बड़ा बल नहीं है। किसी किसी के पास सैन्य बल होता है। पर वह भी कोई ज्यादा बड़ा बल नहीं है। किसी के पास होता है 'मन बल'। लोग कहते हैं भाई! अमुक व्यक्ति को हम मान गए बड़ा मनोबली है, कभी डिगता नहीं है, दृढ़ रहता है। तो मन का बल भी होता है। किसी की प्रेम की शक्ति होती है, वह प्रेम और वात्सल्य से किसी पशु-पक्षी को भी देखे तो वह उसके पास आ जाता है, प्रेम की भाषा वृक्ष भी समझते हैं, पशु-पक्षी भी समझते हैं, प्रेम की मौन भाषा इंसान तो क्या सभी प्राणी समझते हैं। एक बार हो सकता है कि प्रेम की भाषा इंसान न समझ पाए किंतु इंसान को छोड़कर सब समझ जाते हैं।

आज के कुछ लोग धन की भाषा समझते हैं, प्रेम की भाषा नहीं समझते। आज के कुछ इंसान तर्क की भाषा समझते हैं, हृदय की भाषा नहीं समझते किन्तु इंसान को छोड़कर शेष जितने भी जीव हैं चाहे वे शब्दों को नहीं समझ पाएँ किन्तु आँखों से प्रेम झलकाओ, प्यार से बुलाओ जैसे बालक किसी का भी हो, हो सकता है तुमने 2000 का नोट दिया वह उसे देखकर नहीं आए किंतु प्यार से मुस्कुराते हुए बालक को गोदी में लिया तो खुशी से आ गया। उसकी नजरों में तुम्हारे कागज के टुकड़े का कोई मूल्य नहीं है, प्रेम का मूल्य है।

एक बल 'ज्ञान' का बल होता है उसके माध्यम से भी शत्रु को पानी-पानी किया जा सकता है, हजारों-करोड़ों लोगों पर सत्ता की जा सकती है। बुद्धि का बल बहुत बड़ा बल होता है। किसी को 'रूप' का बल होता है। किसी में कोई हुनर या कला होती है तो उसका बल होता है। किन्तु ये सब बल वैराग्यबल के सामने या आत्मबल के सामने निर्बल और दुर्बल हो जाते हैं। यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं आपने इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए चाहे किसी भी प्रकार का बल प्राप्त किया, वह सभी प्रकार का बल बिना पुण्य के प्राप्त नहीं होता।

महानुभाव! आपने बालि मुनि के संबंध में सुना होगा। दीक्षा के उपरांत जब वे कैलाशपर्वत पर तपस्या कर रहे थे तभी रावण अकृत्रिम जिनालयों की वंदना करता हुआ उधर से निकलकर जा रहा था, उसने बालि मुनि को देखा तो उसका पूर्व का क्रोध जाग्रत हुआ कि इसने मेरा अपमान किया था, मैं आज इसको पर्वत सहित उठाकर के समुद्र में फैंक दूँगा। यह सोचकर वह रावण अपनी रानियों को विमान में छोड़कर स्वयं नीचे उतरकर आया। पर्वत को उठाकर फेंकने लगा। बालि मुनि ने देखा यह जिनालय जो भरत चक्रवर्ती ने बनवाए हैं, सब नष्ट हो

जाएँगे और अनेक जीवों की हिंसा होगी इसलिए उन्होंने अपने बाएँ पैर का अंगूठा थोड़ा सा दबा दिया जिससे पर्वत दब गया और रावण रोने लगा। तब से ही दशानन का नाम रावण पड़ गया। ऐसी कायबल ऋद्धि के धारक थे बालि मुनि। कायबल, वचनबल, मनोबल आदि ऋद्धि धर्म के प्रभाव से प्राप्त होती हैं।

हम और आप सभी अन्य प्रकार के बलों को प्राप्त करने की चेष्टा न करें। आत्मबल को प्राप्त करने का साहस करें। यही आत्मबल हमें परमात्मा बनाने में समर्थ होगा। यह बल धर्म के फल से प्राप्त होता है। आज बस इतना ही।

॥ शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का फल-परिजन

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में 135वें श्लोक की व्याख्या में धर्म का फल देख रहे थे, पूजा, अर्थ, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल आदि पर चर्चा की। आगे देखते हैं ''परिजन''।

इष्ट परिजनों का प्राप्त होना भी धर्म का फल है। स्वजन-परजन का प्राप्त न होना भी पाप का फल है। व्यक्ति कहता है मैं तो अकेला हूँ, मेरे यहाँ तो कोई करने वाला नहीं है। यदि विशाल परिवार भी प्राप्त होता है, अनुकूल मिलता है तो पुण्य के उदय से। अन्यथा व्यक्ति सोचता है काश! मुझे भी ऐसा परिवार मिलता जहाँ मैं लाड़-प्यार से रहता। दूसरी बात यह है कि अपने स्वजनों और परिजनों का इष्ट होना और बड़े पुण्य का फल होता है। स्वजन तो हैं किन्तु शत्रु हैं, चाहे जन्म देने वाले माता-पिता हैं वे ही शत्रुवत् व्यवहार कर रहे हैं। वे व्यवहार नहीं कर रहे वे तो हमारे पाप के फल में निमित्त बन रहे हैं। यानि हमारे पापकर्म का उदय है, निमित्त तो कोई भी बन सकता है, जब हमे शत्रुता मिलनी है तो किसी से भी मिल सकती है।

'स्वजन' कहलाते हैं मूलकुटुम्बीजन परिवार और 'परिजन' कहलाते हैं निकटवर्ती। स्वजन और परिजन का मिलना तो पुण्य का फल हो गया और अपने अनुकूल मिलना ये और महान् पुण्य का फल है। कई बार भाई-भाई में ऐसी दुश्मनी हो जाती है कि एक दूसरे का मुख देखना भी पसंद नहीं करते। कई बार पिता-पुत्र में बैर हो जाता है। पिता पुत्र को या पुत्र पिता को घर से बाहर निकाल देता है। भाई-भाई एक दूसरे के प्राणों के प्यासे हो जाते हैं, इतना ही नहीं पीढ़ी दर पीढ़ी बैर चलता है, उनके पुत्रों से उनके पुत्रों में बैर के संस्कार बढ़ते चले जाते हैं। या स्त्री कुल्टा है वह दुश्मनी निभा रही है।

लोग कहते हैं न जाने कौन से पूर्व के पापकर्म का उदय आया कि मेरी पत्नी शत्रु बनकर मेरे ही घर में रह रही है, मैं उसे निकाल भी नहीं सकता, किसी से कुछ कह भी नहीं सकता, सह भी नहीं सकता यानि यह समझो यह तो मेरे सामने जिंदा मौत ही है। मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता न जाने कितनी बार इसने मेरे प्राण लेने की कोशिश की, न जाने कितनी बार मेरा अपमान किया है, न जाने कितनी बार मेरी प्रतिष्ठा पर दाग लगाया, न जाने क्या-क्या नहीं किया। तो स्वजन यदि शत्रु हैं तो आपका पापकर्म का उदय है। परिजन लोगों ने ऐसे काम किए हैं कि बताने में शर्म आती है कि यह हमारे निकटवर्ती हैं, सगे-संबंधी हैं

या रिश्तेदार हैं। ऐसे सगे संबंधियों का मिलना जिनके कार्य अभिषिक्त हों, कुल आदि को कलंकित करने वाले हों यह भी पाप का फल होता है।

एक बार एक व्यक्ति अपने स्वजन-परिजनों से रहित दुखी होकर पहाड़ की चोटी से कूदने को गया। उसी पहाड़ पर एक मुनिराज तपस्या कर रहे थे, उन्होंने देखा की पहाड़ की चोटी पर किसी की परछाई दिख रही है, इसका इरादा ठीक नहीं है। उसे बुलाया-कहा वत्स! तुम इस उत्तम मनुष्य भव को क्यों व्यर्थ गंवाना चाहते हो। वह बोला, महाराज! मेरा कोई नहीं, मैं किसी का नहीं, मैंने जीवन में कुछ भी प्राप्त नहीं किया, मैं बस पाप कर्म का फल ही भोग रहा हूँ। मुनिराज ने कहा-मृत्यु तो वैसे भी सबकी ही आती है, तुम ऐसे क्यों मरते हो, कम से कम कुछ भला काम कर लो, किसी का मन-वचन-काय से उपकार करो, तीर्थयात्रा करो, पुण्य का कार्य करो, साधु सेवा करो और ज्यादा ही बात है तो साधु बनकर तपस्या करो, यूँ क्यों मरते हो। तप करने से तुम्हारा पापकर्म भी नष्ट होगा।

उस व्यक्ति ने उपदेश सुना तो उसका मन द्रवित हो गया, नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी, पश्चाताप किया। देशसंयम को स्वीकार किया कालान्तर में सकलसंयम को स्वीकार कर तपस्या की। पुनः स्वर्ग आदि की विभूति प्राप्त की। वहाँ पर शताधिक देवांगनाएँ, अन्य सामानिक देव उसके साथ रहने वाला कितना परिकर मिला, किससे? एक धर्म करने से। उसके बाद वे वसुदेव बने। जो नवमें नारायण श्रीकृष्ण के पिता थे। वसुदेव स्वयं नवभाई से युक्त दस भाई और भी भरा पूरा परिवार मिला। श्रीकृष्ण एक पुत्र का ही बहुत बड़ा परिवार। श्रीकृष्ण की 16 हजार रानियाँ, 3 खण्ड का राज्य, 16 हजार मुकुटबद्ध राजा चरणों में प्रणाम करने वाले, बहुत विभूति, देव सेवा में रत। पूर्व भव का वह एक अकेला जीव जिसने धर्म कार्य किया, पुण्य साधना की, उसके प्रभाव से विशाल वैभव व परिजनों को प्राप्त किया।

सगर चक्रवर्ती पूर्वभव में अकेले ही थे, उस समय साधना में मन लगाया-

एगो मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग-लक्खणा॥102॥ (नियमसार)

इसका चिंतन करने वाले वे मुनिराज सगर चक्रवर्ती बने। तुंगभद्रा की कहानी आपने पूर्व में देखी, जो अकेली थी, जिसका आगे-पीछे कोई भी नहीं। उसने सोचा मेरा कोई नहीं तो क्या, मेरा भगवान् तो है। भगवान् तो सबके होते हैं, पर सबके किसके होते हैं? जो भगवान् को मानता है उनके होते हैं। माँ-बाप को अपना नहीं मानो तो वे भी अपने नहीं होते। जो

कहता है मेरा संसार में कोई नहीं, तो जब कोई नहीं मिले तो फिर अंत में प्रभु को या गुरु को अपना बना लेना चाहिए। इन दो से बढ़कर संसार में कोई तीसरा मित्र नहीं हो सकता। राजा को मित्र बनाओगे तो संसार का वैभव प्राप्त करोगे, और यदि साधु को मित्र बनाओगे तो परमार्थ का आनंद उठाओगे। किन्तु–

राजा मित्रो भवति, केन दृष्टं वा श्रुतं वा? क्या कभी सुना है कि राजा कभी किसी का मित्र हुआ? नहीं। राजा किसी का मित्र नहीं बन सकता। क्योंकि मित्रता के मायने हैं सामने वाले के दु:ख को दूर करना। राजा न्याय करेगा और उसका मित्र भी यदि गलत हो तो उसे भी दण्ड देगा। तो साधु ही हैं जो हर परिस्थिति में, चाहे कोई भी जीव आ जाए, सभी भव्य जीवों का कल्याण करने के लिए वह उपदेश देंगे, मार्ग दिखाएँगे। साधु तो सरिता की तरह सर्वहितैषी होते हैं। जिस प्रकार सरिता भूमि को हरी-भरी करती जाती है, चाहे सरिता के मार्ग में ऊसर भूमि आ जाए, चाहे बलुई भूमि आए या उर्वरा भूमि आए। उसका काम तो सभी को आप्लावित करना है।

साधु तो सूर्य की तरह होते हैं, सूर्य का काम अंधकार को नष्ट करना है, चाहे वह राजा का महल हो या किसी श्रेष्ठी का भवन, किसी सामान्य व्यक्ति का घर हो या किसी गरीब की कुटिया, चाहे किसी महामात्य का गृह हो या किसी चाण्डाल का। सूर्य कभी भी पक्षपात नहीं करता, वह सबको प्रकाश देता है। सरिता कभी पक्षपात नहीं करती वह सबकी प्यास बुझाती है। वृक्ष कभी पक्षपात नहीं करते वे अपने फल यूँ ही सभी को नि:स्वार्थ लुटाते हैं। चन्द्रमा की चाँदनी सबके लिए है वह चन्द्र अपनी चाँदनी-किरणों को सिकोड़ता नहीं है। हवा कभी पक्षपात नहीं करती वह प्राणवायु सभी को देती है। ऐसे ही साधुओं का चित्त भी प्राणियों के कल्याण से भरा होता है। वे सबके लिए हित की भावना भाते हैं। चाहे कोई जीव किसी भी गति में पड़ा हो, वे साधक जब अपनी साधना में आँख बंद करके बैठते है तो भावना भाते हैं कि संसार के सभी जीव सुखी रहें, सबका कल्याण हो, सबका मंगल हो, सब धर्म की राह चलें। आप पढ़ते भी हैं–

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे।
बैर पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे॥

साधु के मन से कभी भेदभाव नहीं आता। वे सर्वसुखी-सर्वकल्याण की ही भावना भाते हैं। उनके मन में गृहस्थों की तरह भेद नहीं आता कि मेरे घर वाले, परिवार वाले सुखी रहें, अड़ौसी-पड़ौसी का जो कुछ हो सो होता रहे अथवा मेरी जाति वाले सुखी रहें और दूसरे चाहे

जैसे रहें जीएँ या मरें, रोगी हों या दु:खी मुझे इससे लेना-देना नहीं। ये तो तुच्छ बुद्धि है, बहुत छोटी सोच है। इस छोटी सोच के रहते हुए व्यक्ति कभी भी अपनी आत्मा को परमात्मा नहीं बना सकता। व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपनी सोच को बढ़ाता चला जाता है त्यों-त्यों व्यक्ति ऊँचा बढ़ता चला जाता है। यह मैं और मेरी माँ यह सोच छोटे बालक की होती है, धीरे-धीरे उसकी सोच बढ़ती है, वह कोई वस्तु लेगा तो अब मैं, माँ और पिता के लिए चाहिए, भाई-बहिन के लिए भी चाहिए। चलो दादी-दादू को भी दे दूँगा, चाची-चाचा को भी दे दूँगा। तो सोच बढ़ती चली जाती है। वह बड़ा होता जाता है तो अपने मित्र, बंधु-रिश्तेदारों को भी देने का मन हो जाता है। बढ़ते-बढ़ते जिसकी सोच इतनी बड़ी हो जाती है कि तीन लोक में विद्यमान प्रत्येक जीव सुखी रहे, सबके सुख के लिए मैं कामना करता हूँ, नि:संदेह उसे भगवान् बनने से कोई नहीं रोक सकता, उसे परमात्मा बनना ही बनना है। जिसकी आत्मा में अनेक जीवों के प्रति हित की कामना पैदा हो जाए नि:संदेह वह परमात्मा बनेगा ही बनेगा। जिसके अंदर इतना उदारता का भाव नहीं आ सकता, जो सिर्फ अपना ही सोचता है ''मेरा पेट हाऊ मैं न जानू काऊ।'' इस प्रकार का व्यक्ति तो कभी भी बड़ा व्यक्ति बन ही नहीं सकता। यदि उसे बड़ा पद दे दिया जाए तो संकीर्ण भावना से उसे निभा नहीं पाएगा।

जो राजा होता है वह पूरे देश को अपना कुटुम्ब मानता है और नीतिकार का वह वाक्य भी है-

अयं निजः परोवेति, गणनां लघु चेतसाम्।
उदार-चरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥''

यह मेरा है व यह पराया है, दूसरे का है; ऐसी जो गणना करते हैं वे लघु बुद्धि वाले हैं, संकीर्ण सोच वाले हैं और जिनका चरित/चित्त उदार है वे कहते हैं पूरी वसुधा ही मेरा कुटुम्ब है। वे ये नहीं कहते हैं कि मेरा परिवार या गाँव मेरा कुटुम्ब है। मात्र देश ही नहीं भारतीय संस्कृति की विशेषता रही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' पूरी वसुधा ही कुटुम्ब के समान है। जैसे अपने कुटुम्बीजन का कष्ट देखा नहीं जाता है उसी प्रकार उदार चित्त वाले व्यक्ति से संसार के किसी प्राणी का कष्ट नहीं देखा जाता, वह सोचता है कोई दु:खी न रहे इस प्रकार की भावना भाने वाला व्यक्ति परमात्म पद को प्राप्त करने के योग्य होता है।

महानुभाव! पूरे संसार को, तीन लोक के प्रत्येक प्राणी को अपना स्वजन-परिजन बनाने का जो अधिकारी हो सकता है, जिसके अंदर ऐसी बुद्धि हो सकती है, यह बुद्धि धर्म के फल से ही प्राप्त होती है, पाप के फल से नहीं। कई लोग कहते हैं महाराज जी! हमारे मन में ऐसा आता ही नहीं कि हम कभी किसी के लिए कुछ करें। बस अपने व अपने परिवारीजन तक

के लिए आता है। यहाँ तक कि व्यक्ति अब इतना स्वार्थी होता जा रहा है कि माता-पिता भी उसे पराये दिखाई दे रहे हैं। मैं-मेरी पत्नी और मेरा बच्चा। बस छोटा सा परिवार। जो माता-पिता को भी अपना नहीं मान पा रहा, भाई-मित्र-बंधु-रिश्तों को नहीं मान पा रहा तो उसकी कितनी संकीर्ण सोच है, कितनी कूपमण्डूक बुद्धि है। अपनी सोच को बढ़ाओ और वह बुद्धि प्राप्त करो, वह शक्ति प्राप्त करो कि आपको यह आभास होने लगे कि तीन लोक के चराचर प्राणी मेरे स्वजन-परिजन हैं। हे भगवान्! संसार के सब प्राणियों का कल्याण हो, सभी का मंगल हो, सबका हित हो। तो ऐसे स्वजन-परिजन की प्राप्ति धर्म के फल से ही प्राप्त होती है।

महानुभाव! आज तक जितने भी महापुरुष हुए चाहे ऋषभदेव भगवान्, शांतिनाथ भगवान् जिन्होंने इतना बड़ा कुटुम्ब प्राप्त किया। और ये तो बाहर की बात है अंतरंग की बात तो ये है कि उन्होंने तीन लोक के प्राणियों की हित की कामना की है, हित की भावना भायी है और पुरुषार्थ भी शक्ति अनुसार किया है। आप भी प्राणी मात्र के हित, कल्याण व सुख की भावना भाएँ, कोई दुःखी न हो, सभी न्याय-नीति के मार्ग पर, सत्मार्ग पर चलें, कोई भी कुमार्ग पर न चले, इस प्रकार की भावना ही आपको भगवान् बनाने में समर्थ होगी, आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का फल-यथेष्ट-भोगोपभोग सामग्री

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार की वाचना में षष्टम अधिकार की अंतिम कारिका के बारे में देख रहे हैं। जिसका मुख्य सारांश यह है कि धर्म का वृक्ष किस-किस रूप में फल देता है। जिस तरह किसी वृक्ष की जाति एक होते हुए भी कोई फल छोटा होता है कोई बड़ा, कोई मीठा फल है तो कोई ज्यादा मीठा फल प्राप्त होता है उसी तरह धर्म रूपी वृक्ष के ऊपर इस प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। जिसमें देखा पूजा, धन, ऐश्वर्य, आज्ञा, बल, परिजन-स्वजन आदि। आगे कहा- **'कामभोगभूयिष्ठैः'** यथेष्ट वंश वृद्धि के लिए वर को सुयोग्य कन्या की एवं सुयोग्य कन्या को वर की प्राप्ति होती है। यह भी उन व्यक्तियों को मिलते हैं जिन्होंने पूर्व में पुण्य किया हो। अनेक महापुरुषों की जीवनी देखो। एक बालक जो पुण्यात्मा है, व्यवस्थित है उसे ऐसी कन्या मिलती है कि वह कहता है भगवान् मुझे बहुत अच्छी पत्नी दी है, लगता है मैंने पूर्व जन्म में पुण्य किया होगा। पत्नी कहती है भगवान् मैंने 100 जन्मों में तपस्या की होगी तब जाकर मुझे ऐसा पति मिला है। क्यों? क्योंकि दोनों में पुण्य का भाव है। तभी दोनों को इष्ट रूप अनुकूल संबंध प्राप्त हुए। और यदि पाप का उदय होता है तो दोनों में अनबन रहती है, दोनों कलह में जीते रहते हैं। प्रचुर मात्रा में भौतिक सुख देने वाली भोगोपभोग की सामग्री भी धर्म के प्रभाव से प्राप्त होती है।

महानुभाव! एक गृहस्थ के लिए पुण्य के माध्यम से भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त होती है। मिथ्यादृष्टि भी हो और यदि वह कषाय की मंदता से पुण्य का आस्रव करता है, वीतरागी जिनदेव की पूजा-भक्ति-वंदना आदि करता है, निर्ग्रंथ गुरुओं की सेवा आदि करता है या तीर्थयात्रा करता है, प्राणीमात्र पर करुणा-दया करता है, शीलव्रत का पालन करता है, समीचीन शास्त्रों का स्वाध्याय करता है, उपवास करता है, परमेष्ठीवाचक महामंत्रों का जाप करता है तो वह भी निःसंदेह प्रचुर मात्रा में भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करता है। जिसने पूर्व में पुण्य किया है उसका जन्म उच्च कुल में होता है, उसके लिए स्वजन-परिजन सब इष्ट होते हैं।

जिसने पूर्व में धर्म साधना की है वह लोकमान्य कुल-वंश में पैदा होता है। गर्भ में आते ही वह उस कुल को रोशन करने वाला होता है। देखो-पूर्व में जो उसने पुण्य किया था उसका फल उसने वहाँ नहीं चाहा। यदि किसी ने दिया भी तो उसने मना कर दिया। उसने पूर्व में कोई परोपकार या कुछ सेवा ऐसी की जिससे प्रसन्न होकर किसी ने उसे भवन, खेत देना

चाहा कि आप यह धन सम्पत्ति ले लो, आपसे हम बहुत संतुष्ट हैं, आपने जो हमारा उपकार किया है हम कुछ देना चाहते हैं। वह हाथ जोड़ लेता है भैया! न चाहिए। वहाँ तो नहीं लिया किन्तु बाद में स्वर्ग में उस पुण्य का फल भोगा पुनः मनुष्य जन्म में जिस कुल में पैदा होना है उसके गर्भ से ही उस कुल में धन वृद्धि होना प्रारंभ हो जाती है। माना जिस दम्पत्ति के यहाँ पैदा हो रहा है, अभी गर्भ में ही आया है किंतु उस पिता की सम्पत्ति बहुत बढ़ गई, माना कि 10 अरब है तो उसका हिस्सा यदि घर में 5 संतान हैं तो 2 अरब हो गया। यदि एक ही संतान है तो 10 अरब का मालिक हो गया।

उसने यहाँ आकर क्या पुरुषार्थ किया? अभी तो जन्म भी नहीं लिया किन्तु पहले से ही धन का स्वामी हो गया। यहाँ तक कि ऐसे प्रसंग भी राजा व राजकुमारों के प्राप्त होते हैं कि गर्भस्थ शिशु को राजतिलक करके चले गए। कोई राजा अपने पुत्र का मुख देखते ही दीक्षा को चले गए। तो वह शिशु जो गर्भ में आया है उसने इस भव में क्या किया? लोग कहते हैं पुरुषार्थ करने से प्राप्त होता है। अभी तो उसने कोई भी पुरुषार्थ नहीं किया। किन्तु हाँ, पुरुषार्थ से प्राप्त होता है यह बात भी सही है, पूर्वभव में पुरुषार्थ किया था। उसने उसका फल वहाँ नहीं लिया था इसलिए वह फल यहाँ पर आ गया।

महानुभाव! व्यक्ति जिस सम्पत्ति को अपने हृदय से लगाता है, छोड़ता नहीं, मुट्ठी भींचकर रखता है, ताला डालकर रखता है, उसे वह साथ में लेकर नहीं जा सकता। किन्तु जिसने अपनी सम्पत्ति को परोपकार में लगाया है, धर्म में लगाया है, कल्याण की भावना से लगाया है तो ऐसे सद्कार्य करने से ऐसे पुण्य का आस्रव हुआ है जिससे लक्ष्मी उसका पीछा नहीं छोड़ती। वह कहीं भी चला जाए लक्ष्मी वहीं पहुँच जाएगी, क्यों? क्योंकि लक्ष्मी पुण्य की परछाई है। जिस आत्मा में पुण्य हो उसे लक्ष्मी प्राप्त होगी, इष्ट बंधु-बांधव प्राप्त होंगे, उच्चकुल, उत्तम संगति, उत्तम देश और सभी कुछ अनुकूल ही प्राप्त होगा। बुद्धि का क्षयोपशम, भोगोपभोग की सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होगी। जिस परिवार में आया उसमें पहले से ही सेवक हैं, महल है, अपूर्व धन सम्पत्ति है, हाथी-घोड़े आदि पशुधन है, कोई कमी नहीं। यह सब क्यों मिला, क्योंकि पूर्व में उसने सब कुछ छोड़ा था। जो छोड़ता नहीं उसे नहीं मिलता, उसका छीन लिया जाता है। ऐसा व्यक्ति जो त्याग किए बिना मरता है, बहुत आरंभ-परिग्रह उसके पास है तो उसके फलस्वरूप वह नरक आयु का बंध करता है, वहाँ उसे फिर कुछ नहीं मिलता। या जो मायाचारी करके छोड़ता है वह तिर्यंच आयु का बंध कर लेता है, वहाँ दुःख भोगता है, इसलिए त्याग करना धर्म है।

महानुभाव! क्षमा करना भी धर्म है, मार्दव भाव रखना भी धर्म है, सरलता भी धर्म है, पवित्रता- शुचिता शौचधर्म है, सत्य भी धर्म है, संयम-तप-त्याग आकिंचन- ब्रह्मचर्य आदि दसों धर्म है। अहिंसादि व्रत भी धर्म है, समिति आदि भी धर्म है, रत्नत्रय भी धर्म है, परोपकार भी धर्म है, कषाय की मंदता भी धर्म है। धर्म के अनेक रूप हैं। व्यवहार धर्म के बहुत स्वरूप हैं। जिस किसी भी अच्छी क्रिया को मन-वचन- काय से करने पर परिणाम निर्मल हो रहे हों, कषाएँ मंद हो रही हों और आत्मा में आनंद आ रहा हो तो समझ लेना वह सब धर्म है। और जिससे परिणाम निर्मल न हों, कषाएँ मंद न हों, पाप का आस्रव हो रहा हो, तो समझ लेना चाहिए वह धर्म नहीं अधर्म है। वह रौद्रध्यान हो सकता है। व्यक्ति रौद्रध्यान में भी आनंद लेता है किन्तु पाप का बंध होता है। धर्मध्यान में सातिशय पुण्य का बंध होता है।

पूर्वभव में अर्जित पुण्य से ही भोगोपभोग की प्रचुर मात्रा में सामग्री प्राप्त होती है। राजा विश्वलोचन ने अपनी पत्नी विशालाक्षी के वियोग में राज्य का परित्याग करके यथाजात दिगम्बर दीक्षा स्वीकार कर ली और स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ की आयु पूर्ण कर महीचंद्र नाम का राजा हुआ। उसी नगर में उसकी पत्नी व दोनों दासी मुनि उपसर्ग के घोर पाप से नाना कुयोनियों में भ्रमण करती हुई अत्यंत कुरूपा कन्याएँ हुईं। नगर के समीप वन में अंगभूषण नामक मुनिराज का आगमन हुआ तो उनसे राजा ने अपनी जिज्ञासा पूछी कि मुनवर मैंने ऐसा कौन सा पुण्य किया जो मुझे इतनी अटूट सम्पत्ति प्राप्ति हुई है। और इसे प्राप्त करके भी मेरी इसमें कोई ईहा नहीं है, निस्पृहता है, इससे मैं विरक्त रहता हूँ। और गुरुवर! दूसरी जिज्ञासा मेरी यह है कि ये दूर खड़ी जो तीन कन्याएँ दिखाई दे रही हैं, जो अत्यंत कुरूपा हैं, शरीर से दुर्गंध आ रही है, ऐसा लगता है पाप का फल भोग रहीं हैं, फिर भी मेरे मन में इनके प्रति राग क्यों पैदा हो रहा है। तब मुनिराज ने बताया कि पूर्वभव में ये तुम्हारी रानी थी, और ये दोनों तुम्हारी दासियाँ थीं। इन्होंने नट का खेल देखा, बुद्धि भ्रमित हुई और राजमहल से भाग गईं। मार्ग में इन्होंने मुनिराज पर उपसर्ग किया, उस पाप से नाना कुयोनि में भ्रमण करती हुई आज यहाँ उत्पन्न हुई हैं। पूर्व का तुम्हारा राग इनके प्रति तीव्र था तो आज वह जाग्रत हो गया है। आपने पूर्व भव में वैराग्य धारण कर दीक्षा ले खूब तपस्या की थी उसके फल से आपने स्वर्ग की विभूति को प्राप्त किया, च्युत हो वहाँ से आप यहाँ महीचंद्र राजा हुए हैं। आपके पूर्व के वैराग्य के संस्कार होने से आपकी आज भी अपने राज्य वैभव में आसक्ति नहीं है।

महानुभाव! जिसने भी साधना की है उसे मिलता जरूर है। जैसे कोई मजदूर किसी सेठ के यहाँ काम करे तो सेठ उसका धन जरूर चुकायेगा मजदूर का नहीं रखेगा। यदि सेठ ने

पहले ही साल- छह माह का चुका दिया, Advance दे दिया है तो मजदूर के माँगने पर भी सेठ दुबारा तो देगा नहीं। किंतु जिसने पहले Advance नहीं लिया है, वह काम कर रहा है तो उसे वेतन मिलेगा जरूर, किन्तु उसे जब भी, जो भी मिलेगा वह अपनी ही मजदूरी का मिलेगा दूसरे की मजदूरी का हिस्सा नहीं मिलेगा। ऐसे ही आप और हम जो भी धर्म साधना, सत्कार्य या पुण्य की क्रिया करते हैं और उस क्रिया को करके हमें कोई आकांक्षा नहीं है, नि:कांक्षित भाव है तो वह जो पुण्य क्रिया है वह पुण्य अपना फल जरूर देगा। चाहे उस आत्मा को स्वर्ग की विभूति देगा, चाहे उस आत्मा को मध्यलोक में उच्च कोटि का राजा-महाराजा बनाएगा। पुण्य हमेशा फल देता जरूर है।

जो व्यक्ति निदान आदि से धन-वैभव प्राप्त करते हैं वे प्राय:कर उसका त्याग नहीं कर पाते हैं किन्तु जिन्हें सहजता में मिल रहा है तो उन्हें छोड़ने में विकल्प ही नहीं आता। जैसे माना कि किसी व्यक्ति को एक शास्त्र की आवश्यकता है, वह बहुत दिनों से सोच रहा था कि मुझे अमुक शास्त्र मिले। बहुत जगह बहुत प्रयास करने से वह शास्त्र मिल गया। अब वह उस शास्त्र को किसी को देगा नहीं। और जिसे सहजता में मिल जाए तो, आवश्यकता एक की है कोई दस वस्तु दे दे तो वह क्या कहेगा? मुझे न चाहिए, जिसे आवश्यकता है उसे दे दो।

जब वस्तु सहजता में प्राप्त होती है तो आसक्ति नहीं होती है किंतु जब व्यक्ति बहुत बार प्रयत्न करने पर प्राप्त कर पाता है तो उसे छोड़ नहीं पाता है। इसलिए जिसने पूर्व में पुण्य किया, पुण्य करने के बाद उसका फल माँग लिया, निदान कर लिया तो वह निदान से प्राप्त वस्तु को छोड़ नहीं पाता, उसकी उसमें आसक्ति बनी रहती है। और जिसने पुण्य करने के बाद कुछ नहीं माँगा, याचना-वांछा नहीं की, कोई अभिलाषा नहीं की कि ये मिले वो मिले, नि:कांक्षित भाव से वह धर्मसाधना कर रहा है। मेरी आत्मा जो स्वानुभवगम्य है, मेरी आत्मा परमात्मा का बीज है, मेरी आत्मा शक्तिरूपेण परमात्मा है, मेरी आत्मा भव्य है, वह भविष्य की सिद्ध परमात्मा है ऐसा जिसे विश्वास है वह संसार के पुद्गलों को क्यों माँगेगा। जिस व्यक्ति को काँच व हीरे के ढेर का भान हो जाए, और बिना माँगे ही हीरे मिल रहे हैं, तो ऐसा कौन सा बुद्धिमान होगा जो भीख माँगकर याचना कर काँच को माँगेगा। बिना याचना के जो रत्नों का ढेर मिल रहा है उसे ही क्यों न प्राप्त करे। यह समझ लो आत्मा का वैभव बिना कांक्षा के, बिना माँगे मिलता है और पुद्गल का वैभव की निरंतर भावना करो, वांछा करो, याचना करो, निदान करो तब वह प्राप्त होता है। जो व्यक्ति हीन पुण्यात्मा हैं वे इसमें लीन हो जाते हैं, जो उत्कृष्ट पुण्यात्मा हैं वे इससे विरक्त रहते हैं। जिसकी भवितव्यता अच्छी

है ऐसा व्यक्ति उस भवितव्यता के माध्यम से अपना कल्याण करने में समर्थ होता है, दूसरों के कल्याण में निमित्त बनता है किन्तु जिसकी भवितव्यता ठीक नहीं है तो उस व्यक्ति के भाव अच्छे होंगे ही नहीं, उसे अच्छे निमित्त भी मिलें तो भी वह उनका सदुपयोग नहीं कर पाएगा और एक व्यक्ति एक अच्छा निमित्त प्राप्त करके भी अपनी आत्मा का हित करने में समर्थ हो सकता है।

एक व्यक्ति किसी की मृत्यु को देखकर वैरागी हो सकता है, श्वेत बाल को देखकर वैरागी हो सकता है, उल्कापात को देखकर वैरागी हो सकता है। कोई भी प्रकृति का दृश्य जो उसे मोह की निद्रा से उठा दे, कोई भी वह निमित्त कल्याण में समर्थ हो सकता है। किन्तु जो व्यक्ति मोह में बहुत आसक्त है ऐसे व्यक्ति को धर्म का कितना भी उपदेश दो, शास्त्र का स्वाध्याय भी करेगा तो शब्दों का संग्रह करने के लिए, अपने मस्तक को शब्दों का Store Room बना लेगा, वह गोदाम बना लेगा जिससे मैं सबके सामने प्रशंसा-लोक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकूँ। और जिस व्यक्ति को आत्मा का अनुभव करना है वह शब्दों के ढेर पर मोहित नहीं होता, वह पुद्गल के ढेर पर मोहित नहीं होता। हमारी आत्मा की निधि तो रत्नों की तरह से है जो बिना माँगे मिलती है। जब तक कुछ माँगते रहोगे तब तक आत्मा की निधि प्राप्त नहीं हो पाएगी और जब कुछ नहीं चाहिए यह भाव मन में जाग्रत हो जाएगा तो आत्मा की निधि मिलना प्रारंभ हो जाएगी।

धर्म करते रहो, फल की इच्छा मत करो। धर्म का वृक्ष नियम से फल देता ही है। जैनदर्शन में सम्यग्दृष्टि का द्वितीय अंग निःकाक्षित अंग कहा, उसका पालन करके यदि हम धर्म करते हैं तो जहाँ पर जिस वस्तु की जैसी आवश्यकता होती है वहाँ पर वही वस्तु उसी प्रकार से प्राप्त हो जाती है और आंकाक्षा करते हैं तो जो जैसा, जब, जितना चाहिए वह वैसा नही मिलता। यहाँ पर यही बात बता रहे हैं कि धर्म के फल से पुण्यात्मा धर्मात्मा को प्रचुर मात्रा में भोग और उपभोग की सामग्री, इंद्रिय से सेवन की जाने वाली विषय सामग्री प्राप्त होती है, किन्तु उससे बड़े श्रेष्ठ पुण्य की बात तो ये है कि वह उसमें आसक्त नहीं होता, विरक्त भाव से उस पुण्य के फल को भोगता है, बाद में उसे भी छोड़ देता है। आप और हम सब धर्म के फल को प्राप्त करें किन्तु वह पुण्यादि का फल शाश्वत नहीं है इसीलिए उसमें आसक्ति नहीं रखें और आत्मा के प्रति जागरूक हों। इन्हीं भावनाओं के साथ।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का फल-अतिशययुत तीर्थंकर प्रकृति

महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना के अन्तर्गत षष्टम् अधिकार के अंतिम काव्य को देख रहे हैं, जिसमें आचार्य महोदय धर्म के फल की व्याख्या कर रहे हैं। धर्म का वृक्ष किस-किस प्रकार के फल देने में समर्थ होता है इस पर व्याख्यान चल रहा है। पूजा, अर्थ, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिजन, भोगोपभोग सामग्री आदि की प्राप्ति सब धर्म का ही फल है। इसी 135वें श्लोक में आगे धर्म का फल बताया–'अतिशय युत भुवन' अतिशय का अर्थ होता है विश्व के प्राणियों को चमत्कृत करने वाले विशिष्ट कार्य, ऐसी विशेषताएँ जो जनसामान्य में नहीं पाई जातीं। जिस कार्य को जन-सामान्य में से कोई व्यक्ति करे और वही कार्य किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किया जाए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु जो कार्य अनेकों व्यक्ति द्वारा असंभव सा प्रतीत होता है उसे कोई एक व्यक्ति कर दे तो एक आश्चर्य जैसा होता है। जो कार्य अपने आप में चमत्कार और आश्चर्य की तरह हो, जिसे सुनते ही लोग अवाक् रह जाएँ, सोच में पड़ जाएँ कि क्या ऐसा भी हो सकता है, वही अतिशय कहलाता है।

चमत्कार-अतिशय आदि चीजें होती हैं, ऐसा नहीं कि नहीं होती। जैसे आपने सुना होगा ऋद्धिधारी मुनिराज का जहाँ आहार होता है वहाँ देवकृत पंचाश्चर्य रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, गंधोदकवृष्टि, जयध्वनि, अहोपात्र-अहोदाता आदि पंचाश्चर्य होते हैं। देवों द्वारा दिखाए गए दिव्य कार्य चमत्कार कहलाते हैं। जो अदृश्य होकर के उन कार्यों को सम्पादित कर दें, जिन्हें सैकड़ों मनुष्य न कर पाएँ, वे कार्य देवों द्वारा तत्काल में भी पूर्ण हो सकते हैं। लोग सुनाते हैं किंवदंती कि यह कूप रातों रात बन गया, देवों द्वारा बनाया गया। यह मंदिर देवों ने बनाया, शाम को जब यहाँ देखा था तब कुछ नहीं था, प्रातःकाल आकर के देखा तो विशाल जिनालय मिला। देखो यहाँ इतनी बड़ी-बड़ी चट्टानें रखी हैं मंदिर के ऊपर, यह कैसे आईं? यदि इनको हाथियों का रथ बनाकर भी लाते तो भी नहीं आ पाती और उस समय तो कोई क्रेन आदि जैसे वाहन भी नहीं थे अब इस स्थान पर कल्पना करो कि कैसे इमारत बन गई, मंदिर बन गया। उसे देखकर व्यक्ति कहता है कि चमत्कार हो गया।

महानुभाव! हमारे तीर्थंकर जो धर्म प्रवर्तक होते हैं वे लोकातिशायी पुरुष कहलाते हैं। वे अतिशय से सम्पन्न होते हैं। जो लोग कहते हैं जैनधर्म में कोई अतिशय नहीं चमत्कार नहीं है, तो ऐसा नहीं है। उन्होंने अभी जिनागम को अच्छी तरह से जाना नहीं, पढ़ा नहीं, समझा नहीं। तीर्थंकर भगवान् के जन्म के 10 अतिशय होते हैं, 10 अतिशय केवलज्ञान के होते हैं

और 14 अतिशय देवकृत होते हैं, इस प्रकार 34 अतिशय होते हैं। वे अतिशय दिव्य घटनाएँ हैं। आप पढ़ते हैं–

अतिशय रूप सुगंध तन नाहि पसेव निहार,
प्रियहित वचन अतुल्यबल रुधिर श्वेत आकार।
लक्षण सहस्रु आठ जुत समचतुष्क संठान,
वज्रवृषभ नाराच जुत ये जनमत दस जान॥
योजन शत इक में सुभिख, गगन गमन मुखचार,
नहि अदया उपसर्ग नहि, नाही कवलाहार।
सब विद्या ईश्वरपना, नाहि बढे नखकेश,
अनिमिष दृगछाया रहित, दस केवल के वेश॥
देवरचित है चारदश अर्द्धमागधी भास,
आपस माहि मित्रता निर्मल दिश आकाश।
होत फूल-फल ऋतु सबै पृथ्वी काँच समान,
चरण कमल तल कमल है नभते जयजयवान्॥
मंदसुगंध बयार पुनि गंधोदक की वृष्टि,
भूमि विषै कंटक नहि हर्षमयी सब सृष्टि।
धर्मचक्र आगे चले पुनि वसु मंगलसार,
अतिशय श्री अरिहंत के ये चौंतीस प्रकार॥

पंचकल्याणक धारी तीर्थंकरों के ये 34 अतिशय होते ही होते हैं। यदि तीन-दो कल्याणक वाले तीर्थंकर हैं उनके पूरे हों यह जरूरी नहीं। और प्रत्येक तीर्थंकर के अष्टप्रातिहार्य भी होते हैं, प्रत्येक तीर्थंकर केवली के अनंतचतुष्टय नियम से होते ही होते हैं। तीर्थंकर लोकातिशायी पुरुष हैं। पूरे चतुर्थकाल में पाँच भरत-पाँच ऐरावत क्षेत्रों में 24-24 ही तीर्थंकर महापुरुष होते हैं, 25 नहीं होते और 23 भी नहीं होते। विदेह क्षेत्र में तो शाश्वत चौथा काल रहता है इसलिए वहाँ तीर्थंकर की परम्परा अनुस्यूत चलती रहती है। पाँच विदेह क्षेत्रों में प्रत्येक विदेह के 32 उपविदेह होते हैं ऐसे 160 उपविदेह होते हैं। तो उपविदेहों को मिलाकर के विदेह क्षेत्रों में अधिकतम 160 तीर्थंकर होते हैं और कम से कम 20 तीर्थंकर होते हैं; क्योंकि जो 5 विदेह क्षेत्र हैं प्रत्येक विदेह के बीच में सुमेरू पर्वत पुनः नदी निकलने से चार-चार Part होते हैं; प्रत्येक भाग में एक तीर्थंकर अवश्य ही रहेंगे। ऐसे $4 \times 5 = 20$ तीर्थंकर वर्तमानकाल में विदेहक्षेत्र में विद्यमान हैं।

तीर्थंकर कौन होते हैं? जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं वे तीर्थंकर होते हैं। वे एक धर्मनायक-धर्मनेता की तरह होते हैं जो मोक्षमार्ग का नेतृत्व करने वाले होते हैं, कर्म रूपी पर्वतों को भेदने वाले होते हैं और विश्व के सभी तत्त्वों को जानने वाले होते हैं। ये तीर्थंकर का नियामक कार्य है कि भव्यजीवों के कल्याण के लिए धर्म की प्रवृत्ति करना। सामान्य केवली के लिए यह बात जरूरी नहीं है। सामान्य केवली की दिव्यध्वनि खिरने का भी कोई नियम नहीं। उनको कब केवलज्ञान हुआ कब मोक्ष को प्राप्त हुए कोई न जान पाए किन्तु तीर्थंकर प्रभु तो धर्म की प्रवृत्ति करते ही करते हैं।

कभी-कभी मन में जिज्ञासा होती है कि सभी तीर्थंकर ही क्यों नहीं हो जाते? तीर्थंकर एक नामकर्म की प्रकृति होती है। जिस भले पुरुष ने पूर्व भव में सोलहकारण भावना भायी, उन भावनाओं को भाने वाला जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। उनमें पहली **''दर्शनविशुद्धि भावना''** अर्थात् सम्यक्त्व की निर्मलता। परंतु ये निर्मलता विशेष होती है। 25 मल दोषों से रहित सम्यक्त्व की निर्मलता से यहाँ आशय नहीं है क्योंकि उपशम सम्यक्त्व में 25 दोषों में से कोई दोष नहीं लगता, क्षायिक सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं लगता वह निर्मल होता है। तो सभी क्षायिक सम्यग्दृष्टियों को तीर्थंकर प्रकृति का बंध होना चाहिए, किन्तु नहीं होता, इसलिए यहाँ उस निर्मलता को ग्रहण नहीं करना। 25 मल दोषों के लगते हुए भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

देखो दो बातें हैं–यदि आप 25 मल दोष वाली निर्मलता लेते हैं तो उपशम सम्यग्दृष्टि जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन गया उसके तीर्थंकर प्रकृति का बंध होना चाहिए क्योंकि उसके 25 मलदोष में से कोई नहीं लगते, किंतु तीर्थंकर प्रकृति का बंध क्षायिक सम्यग्दृष्टि को ही हो ऐसा भी नहीं है, क्षयोपशम वाले को भी हो सकता है। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के 25 मल दोषों में से शंकादिक 8 दोष, 8 मद, 6 अनायतन, चल-मल-अगाढ़ इनमें से कोई न कोई दोष अवश्य ही लगता है। फिर दर्शनविशुद्धि का आशय क्या लें? दर्शनविशुद्धि का आशय लेना कि इतनी विशुद्धि बढ़े, अपनी आत्मा के कल्याण के साथ-साथ प्राणी मात्र के कल्याण की भावना भी इतनी तीव्र हो जाए कि इस तीव्रता में परिणामों में संक्लेशता आ जाए, जिसे कहते हैं संक्लेशतम दया। वह दर्शनविशुद्धि कहलाती है। मेरी आत्मा का कल्याण हो, मैं कर्म विमुक्त हो जाऊँ ऐसी भावना भाने वाला मोक्ष को तो प्राप्त कर सकता है किन्तु इससे आगे जाकर जो प्राणीमात्र के कल्याण की भावना के लिए तत्पर रहता है और अपना पूरा भाव, पूरी शक्ति लगा देता है कि हे भगवन्! मुझे वह शक्ति प्राप्त हो जाए कि मैं प्राणी मात्र के कल्याण में निमित्त बनूँ। ऐसी भावना भाने वाला तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने में समर्थ होता है।

दूसरी भावना है **'विनयसम्पन्नता'** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार की विनय करना व इन चार को धारण करने वालों की विनय करना। ज्यों-ज्यों जीवन में गुणों की वृद्धि हो त्यों-त्यों वृत्ति विनम्र होती चली जाए ऐसा व्यक्ति तीर्थंकर बनने के काबिल होता है।

'शीलव्रतेष्वनतिचार भावना' श्रावक, श्रावक के सप्तशीलों का निर्दोष पालन करे व जो महाव्रती हैं वे भी अपने व्रतों का निर्दोष पालन करने की भावना रखें। यह भी तीर्थंकर प्रकृति के बंध में निमित्त भावना है।

'अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना'-मुहुर-मुहुर तत्त्व चिंतन करना। शास्त्र भले ही नहीं है किन्तु अंतरंग में चिंतवन चल रहा है। कोई भी एक विषय जो पूर्व में पढ़ा-सुना था उसी का निरंतर चिंतन करते हुए सम्यग्ज्ञान की धारा बह रही है। अंतरंग में सद्ज्ञान की दीपिका जल रही है, उस ज्योति के दिव्य आलोक में हम अपने आत्मा के वैभव को और पुद्गल के वैभव को जान पा रहे हैं। ऐसा निरंतर जो चिंतन चल रहा है वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी भावना है।

'संवेग भावना' धर्म और धर्म के फल में हर्षभाव होना, अधर्म और अधर्मी के प्रति विरक्ति या माध्यस्थ भाव होना संवेग भावना है। आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने धवला जी में संवेग भावना के स्थान पर **'खणलवपडिबोहणदा'** (क्षण लव प्रतिबोधनता) ली है। संसार क्षणिक है इस प्रकार की वैराग्य भावना से युक्त होकर तत्त्व चिंतन करना। **'शक्तिस्तप भावना'** फिर शक्ति के अनुसार तप करना, इच्छा निरोध करना। जितनी शक्ति है उतना इच्छानिरोध करके परवस्तु से हटते जाओ-हटते जाओ और एकत्व को प्राप्त करने की भावना भाना। **'शक्तितस्त्याग'** शक्ति के अनुसार त्याग करना-जितने भी परपदार्थ हैं उन सम्पूर्ण पदार्थों के परित्याग की भावना। पुनः **'साधुसमाधि भावना'** जितने भी साधुगण हैं उनकी साधना में सहयोगी बनना, वे अपने लक्ष्य तक पहुँच सकें उनको सहारा दे देना। जैसे कोई व्यक्ति वृद्ध है, रोगी है, बालक है, असहाय है उसे सहारा देते हैं ऐसे ही मोक्षमार्ग में जो असहाय हैं उन्हें सहारा देना, उन्हें जिस प्रकार के भी सहारे की आवश्यकता है चाहे तन का, चाहे दिव्य वचनों का, चाहे मन का सहारा। आपने उसे दे सहारा दिया और वह अपनी मंजिल तक पहुँच गया तो यह साधुसमाधि की भावना हो गई।

'वैय्यावृत्ति भावना' साधु साधना करते हुए उसके मार्ग में जो व्यवधान आ रहे हैं उन्हें दूर कर देना वैय्यावृत्ति भावना है। **'अर्हद्भक्ति भावना'** चार घातिया कर्म से रहित अरिहंत प्रभु की भक्ति करना **'आचार्यभक्ति भावना'** मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इस चतुर्विध संघ के नायक, गणाधिपति, गणधर परमेष्ठी या सूरिवर की वैय्यावृत्ति करना, सेवा करना,

भक्ति करना क्योंकि आचार्य महोदय आचरण के देवता होते हैं उनकी भक्ति-सेवा करने से जीवन में चरित्र की प्राप्ति होती है, चारित्र मोहनीय कर्म उपशम भाव को प्राप्त होता है और कालान्तर में वह क्षय को भी प्राप्त होता है।

'बहश्रुतभक्ति भावना' उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना। जो भक्ति करता है वह द्वादशांग का पाठी बनता है, अनंतर वह केवलज्ञान को प्राप्त करता है, अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति आदि अवश्य करना चाहिए। **'प्रवचनभक्ति भावना'** प्रवचन मोक्षमार्ग को कहते हैं, शास्त्र को भी प्रवचन कहते हैं, किन्तु बहुश्रुत में शास्त्र और उपाध्याय दोनों लिए, प्रवचन से यहाँ शास्त्र भक्ति भी ले सकते हैं और मोक्षमार्ग की भक्ति जो मोक्षमार्ग में चल रहे हैं उनकी भक्ति करना, उनके ज्ञान-ध्यान-तप की जो प्रवृत्ति है उसका चिंतन करना, अंतरंग से उनके गुणगान करना यह साधुभक्ति है।

'आवश्यक अपरिहारिणी भावना' जो भी श्रमण व श्रावक के आवश्यक कर्त्तव्य हैं उनका निष्ठा के साथ पालन करना, उनमें बुद्धिपूर्वक दोष नहीं लगाना, अतिचारादि नहीं लगाना। इस प्रकार से पालन करना जिससे दूसरे की साधना में बाधा न हो, हम दूसरों के लिए व्यवधान न बनें, सहयोगी बनें। ये आवश्यक कर्त्तव्य उसी प्रकार से हैं जैसे शरीर को सम्हालने के लिए वैसाखी होती है, व्यक्ति को लगता है मैं कहीं गिर या फिसल न जाऊँ तो वह रेलिंग आदि का सहारा लेता है। ऐसे ही छह आवश्यक कर्त्तव्य मन को सम्हालने के लिए रेलिंग की तरह हैं, वैसाखी की तरह हैं, ये कर्त्तव्य लाठी की तरह सहारा देने वाले हैं, ये छह आवश्यक किसी की अंगुली को पकड़ने की तरह से हैं जिससे फिसल नहीं जाएँ।

'मार्ग प्रभावना' जिनशासन की प्रभावना करना। अनादिनिधन, शाश्वत एक ही मार्ग है, वह है मोक्षमार्ग, जो आत्मा को परमात्मा बनाने वाला है। ऐसे उस मार्ग की प्रभावना करना, लोगों को सत्यमार्ग बताना, कल्याण का उपदेश देना, पापों से बचाना व उनको उस मार्ग से प्रभावित करना, धर्म से प्रभावित करना मार्ग प्रभावना भावना है। **'प्रवचनवत्सलत्व भावना'** जो भी साधर्मी बंधु हैं चाहे श्रमण हों, श्रमणी हों, श्रावक हों या श्राविका यहाँ तक कि कोई भद्र परिणामी मिथ्यादृष्टि ही क्यों न हो उसके प्रति भी वात्सल्य का भाव रखना। वह भी आपके वात्सल्य से धर्म के सन्मुख हो सकता है।

महानुभाव! इन सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है। वे तीर्थंकर 34 अतिशय, अष्ट प्रातिहार्य, अनंतचतुष्टय आदि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार का वैभव तीनों लोकों में आश्चर्य पैदा करने वाला होता है, क्योंकि जब तीर्थंकर प्रभु का जन्म

होता है तब क्षण भर के लिए तीनों लोकों में शांति छा जाती है। ऐसे तीर्थंकर की विभूति भी धर्म के माध्यम से प्राप्त होती है, तीर्थंकर पद की प्राप्ति भी धर्म के माध्यम से होती है।

आगे कह रहे हैं–**'अभ्युदयं फलित-सद्धर्मः'** लोकातिशायी अतिशय के साथ वह विशेष वैभव को भी प्राप्त होता है। पूर्व में जो बताया पूजा, अर्थ, आज्ञा, ऐश्वर्य, परिजन, बल, भोगोपभोग सामग्री व तीर्थंकर पद की प्राप्ति ऐसे तीन लोक में अद्भुत पद की प्राप्ति धर्म के फल से ही होती है।

'अभ्युदय' यह क्या है? संसार में आपने दो शब्द सुने होंगें एक अभ्युदय सुख दूसरा निःश्रेयस सुख। अभ्युदय का अर्थ होता है संसार का सुख, निःश्रेयस का अर्थ होता है मोक्षसुख। निःश्रेय अर्थात् कल्याणकारी, जिस सुख में कभी वृद्धि-हानि नहीं होती, जो कभी नष्ट नहीं होता, जो किसी के आधीन नहीं है, आत्मोत्पन्न है। अभ्युदय सुख व्यक्ति की कल्पना, धारणा के अनुसार वस्तुओं से प्राप्त होता है। ऐसे अभ्युदय सुख की प्राप्ति भी धर्म के माध्यम से होती है। आप कहेंगे-महाराज जी किसी राजा ने दान दिया, दक्षिणा दी, यज्ञ-हवन कराए, पूजा-पाठ रचाए वह देव-इन्द्र बन गया, तो यह तो सहज बात है, बन सकता है किन्तु क्या कोई ऐसा भी है जिसने निर्धन होने के बावजूद भी धर्म की साधना की हो और फिर उसने अभ्युदय प्राप्त किया हो? हाँ, ऐसे भी जिनागम में अनेकों उदाहरण विद्यमान हैं।

नंदिमित्र नाम का एक लकड़हारा था। जिसने सिर्फ भोजन के लिए दीक्षा ली। विनयगुप्त महाराज के चरणों में रहकर सोचा चलो मेरा पेट तो भर जाएगा। बाद में यह सोचकर के कि मुनिराज को तो बहुत लोग पड़गाहन कर रहे थे, और मेरे लिए बहुत लोगों ने नहीं पड़गाया तो पहले दिन आहार नहीं किया, दूसरे दिन-सेठ ने पड़गाहन नहीं किया तो मैं आहार नहीं करूँगा, तीसरे दिन राजा पड़गाहन करेगा तभी आहार करूँगा। ऐसे करके बिना आहार के तीन दिन निकल गए। अगले दिन प्रातःकाल विनयगुप्त मुनिराज ने कहा-नंदिमित्र! अभी तक तो तुम खाने के लिए साधु बने थे किन्तु अब सोच लो तुम्हारा मृत्युकाल समीप है, अब तुम अपनी भाव आलोचना को करके शुद्ध साधुता को प्राप्त करो।

नंदिमित्र ने कहा-ये तो मेरी मन की बात जानते हैं, नंदिमित्र ने शुद्ध भाव मन में प्रकट किया एवं रत्नत्रय के संस्कार से युक्त हो अपने शरीर का परित्याग किया और स्वर्ग में जाकर के देव हुआ।

महानुभाव! धर्म साधनों के माध्यम से होता है, यह बात किसी सीमा तक ठीक है किन्तु धर्म बाह्य साधनों के अभाव में सिर्फ और सिर्फ आत्मा के माध्यम से भी होता है। ऐसा नहीं

है जिसके पास अकूत धन हो वही धर्म कर सकता है, अच्छी साधन-सामग्री वाला ही धर्म कर पाए ऐसा नहीं है। जिसके वचन बहुत प्रभावक हैं, जो बहुत जोर से बोल सकता हो वही धर्म कर सके ऐसा भी नहीं है, जिसका शरीर बहुत सुंदर हो वही धर्म कर सकता है तो ऐसा भी नहीं, निरोगी है वही धर्म कर सकता है तो ऐसी कोई भी शर्त धर्म करने के लिए लागू नहीं होती। धर्म करने के लिए तो शुद्ध चित्त की आवश्यकता है, शुद्ध मन की आवश्यकता है। सबसे पहले तो शुद्ध मन चाहिए, यदि वह है तो अन्य साधन सामग्री नहीं भी हो तो भी काम चल जाएगा और यदि मन शुद्ध नहीं है तो केवल बाह्य सामग्री धर्म के फल को प्राप्त नहीं कराती, किंचित् पुण्य का बंध कराती है।

एक सियार जिसने मुनि महाराज से नियम लिया था कि मैं रात्रि में भोजन नहीं करूँगा। वह जंगल में सूखे पत्ते खाकर रहने लगा। एक दिन संध्या का समय था, उसने सोचा मैं पानी पी लूँ। क्योंकि उसने तो मुनिराज के मुख से यही सुना था कि रात्रि में जल भी नहीं लेना अर्थात् चतुराहार का त्याग कर दिया तभी रात्रिभोजन त्याग कहलाएगा। ऐसा नहीं कि रात्रिभोजन का त्याग किया इसमें अन्न को छोड़कर बाकी सब ले लेते हैं और स्वयं को श्रावकों में अग्रणी बताते हैं। हम रात में नहीं खाते। भैया! दूध, मावा, पेड़े, गजक, बर्फी, फल, जूस सब तो खाते हो, फिर बचा क्या? सिर्फ अन्न। उसको छोड़कर के बहाना क्यों कर रहे हो। अन्न छोड़कर अब 50 आइटम खा रहे हो।

तो उस सियार ने तो यही सोचा था कि रात्रि में जल का ग्रहण नहीं करना। संध्या हो रही थी, वह नीचे वापिका में जल पीने गया। वापिका बहुत गहरे में जाकर थी, वहाँ अँधेरा था, उसने सोचा रात हो गई, अब मैं पानी कैसे पीयूँ, वह ऊपर आ गया। ऊपर आकर देखा कि अभी तो सूर्य दिखाई दे रहा है, दिन है, अभी तो मुझे पानी पी लेना चाहिए। वह फिर नीचे उतरकर जाता है किंतु फिर वहाँ अंधेरा देखकर लौट आता है। वैसे भी आपने देखा होगा यकायक धूप में से कोई व्यक्ति कमरे में जाए तो अंधेरा दिखाई देता है, कुछ देर आँख बंद करके खड़ा हो जाए पुनः आँख खोले तो वस्तुएँ दिखाई देने लगती हैं। सियार ऐसे कई बार ऊपर-नीचे आया किन्तु अंधेरा देख वह पानी नहीं पी पाता। इस प्रकार सूर्य अस्त ही हो गया और वह पानी नहीं पी पाया।

वह सियार ऐसा श्रावक था जिसने सूर्य अस्त का भ्रम जानकर भी पानी नहीं पीया, जबकि उस समय दिन था। आज के श्रावक, सब की बात नहीं कर रहे, कुछ श्रावक जो कहते हैं अभी तो ये रोम दिखाई दे रहे हैं, अभी भोजन कर लो, अरे! रोम तो रात के 12 बजे भी दिखाई दे जाएँगे। हाथ की लकीरें दिख रहीं है, अरे! वह तो दिख ही जाएँगी, हाथ

में मैग्नीफाइन गिलास ले लो सब दिखेगा। जिस समय संधिकाल होता है, दिन और रात्रि की संधि, वह मिश्रकाल होता है उस समय में तो (चारों संध्याकालों में) कभी भोजन करना ही नहीं चाहिए। प्रातःकाल का संधिकाल रात्रि का अंत दिन का प्रारंभ, मध्याह्न का संधिकाल 12 बजे का समय, संध्या को संधिकाल दिन का अंत और मध्यरात्रि का संधिकाल इन चार संधिकालों में तो तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरती है, जो व्यक्ति धर्म से दूर है वह भी इन समयों को छोड़कर के भोजन करता है। श्रावक को संधिकाल छोड़कर ही भोजन करना चाहिए।

महानुभाव! उस सियार ने पानी नहीं पिया, भले ही प्यास के कारण उसके प्राण पखेरु उड़ गए। लोगों ने कहा मूर्ख सियार था, बड़ा धर्मात्मा बना, देखो मर गया न। किन्तु वह सियार मर करके प्रीतिंकर कुमार नाम का राजकुमार हुआ। उसने पूर्व भव के जातिस्मरण से जान लिया कि मैंने सियार की अवस्था में छोटा सा रात्रिभोजन त्याग व्रत पाला था, जिसके प्रभाव से मैं राजकुमार बना। उस प्रीतिंकर कुमार ने बाल्यावस्था में ही गृहत्याग कर दीक्षा लेकर साधना की व मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

सियार को राज्य वैभव मिला तो किसके प्रभाव से? धर्म के माध्यम से। ऐसे एक नहीं अनेक प्रसंग हैं। चाहे हाथी का प्रसंग हो, शेर का हो, शूकर का हो, कितने प्रसंग हैं जिन्होंने धर्म का एक अंश भी धारण किया, मनोयोग से, निर्दोष पालन किया तो स्वर्गीय विभूति को प्राप्त किया, लोक के उत्तम-उत्तम सुखों को प्राप्त किया। एक वृतान्त और आता है–

मिथिला नगरी में पद्मरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह राजा यूँ तो बड़ा पराक्रमी था, प्रजावत्सल भी था, न्यायप्रिय भी था किन्तु उस राजा की बस एक कमी थी, उसका मन धर्म में नहीं लगता था। रानी ने बहुत समझाया कि राजन्! धर्म करना बहुत उचित है, बिना धर्म के इस भव में-परभव में कहीं सुख नहीं मिलता। धर्म ही एक ऐसा शाश्वत बीज है जिसके माध्यम से आत्मा शाश्वत सुख भोग सकती है, किन्तु राजा को रानी की बात समझ नहीं आयी और अपने मन के अनुकूल ही मिथ्यादृष्टि मंत्री चुने, जो राजा की हाँ में हाँ मिलाते रहते।

एक दिन होनहार की बात कहो या पुण्य उदय की बात कहो राजा जंगल में शिकार खेलने के लिए गए। वह जब भी शिकार को जाता था तो अधिकांशतः शिकार लेकर के ही आता था किन्तु आज शिकार के लिए गए बहुत समय हो गया, सूर्य भी अस्ताचल की ओर जा रहा था किन्तु राजा को एक भी शिकार नहीं मिला। उसके अंगरक्षक आदि सभी पीछे रह गए। राजा ने अपना घोड़ा दौड़ाया कि चाहे कुछ भी हो जाए आज मैं शिकार लेकर ही जाऊँगा। उसे सामने एक सुंदर सा खरगोश दिखाई दिया। राजा ने अपना घोड़ा उसके पीछे लगा दिया। घोड़ा दौड़ता जा रहा है किन्तु खरगोश पकड़ में नहीं आ रहा। राजा सोचता है, यह खरगोश

है या कोई माया, समझ नहीं आ रहा एक छोटा सा खरगोश इतनी तेज कैसे दौड़ सकता है; जबकि मेरा घोड़ा इतनी द्रुतगति से दौड़ रहा है।

राजा ने भी ठान लिया कि इसे पकड़कर रहूँगा। सूर्य अस्त होने को हुआ और खरगोश पहाड़ के ऊपर चढ़ गया। राजा ने अपना घोड़ा उसी ओर चढ़ाया, खरगोश गुफा में घुस गया। राजा भी अपने घोड़े से उतरा और गुफा की ओर चल दिया। गुफा में बहुत शांति थी, उसे खरगोश तो कहीं दिखा ही नहीं। इधर-उधर बहुत देखने के बाद राजा अंदर की ओर बढ़ा और देखा कि अंधेरी सी रात्रि में यह प्रकाश किसका है? पहले सोचा शायद ऊपर छेद होगा उसमें से चन्द्रमा की चाँदनी आ रही होगी किन्तु ऐसा भी नहीं लग रहा। वह पास पहुँचा जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता, अपार शांति मिल रही थी। उसे कुछ दूरी पर एक मानवाकृति दिखाई दी, उसे देखकर आश्चर्य हुआ कि इस अंधकार में यह मानवाकृति कैसी है, यह पाषाण की मूर्ति है या इस जंगल के कोई देवता। वह वहाँ जाकर बैठ गया, थका हुआ था, शिकार का विचार तो भूल ही गया, उसी मानवाकृति को देखे जा रहा है, जिसके तन पर वस्त्र नहीं, आभूषण नहीं, यथाजात दिगम्बर मुद्रा है। कोई पत्थर की मूर्ति ही है। थोड़ी देर बाद देखा यह तो श्वांस ले रहे हैं, कोई जीवंत मनुष्य ही हैं, किन्तु उसे वहाँ अच्छा लग रहा था तो वहीं बैठा रहा।

वह पद्मरथ राजा कहता है हे धरती के देवता! हे वन देवता! आपके दर्शन पाकर मुझे बहुत तृप्ति हुई, आपके दिव्यवचन मुझे सुनने को मिलें तो निःसंदेह मेरा कल्याण हो सकता है। मुनिराज ने नेत्र खोले और राजा पद्मरथ को निकटभव्य जानकर के कि यह चरम शरीरी है, इसी भव से अपना कल्याण कर सकता है, उसको उपदेश दिया। मुनिराज के दिव्य उपदेश का यह प्रभाव पड़ा कि मिथलानगरी का राजा जो मिथ्यादृष्टि था वह सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। वह कहता है हे गुरुवर! आपके उपदेश से मेरा कल्याण हो गया, मैं जो अभी तक नरक की राह पर चल रहा था, बस, अब आपके दर्शन पाकर मुझे सब कुछ मिल गया। क्या आपके समान दिव्यपुरुष, ऐसे कोई परमात्मा, भगवान् इस पृथ्वी पर कोई और भी हैं? उन सुधर्म नाम के मुनिराज ने कहा-अरे! ऐसा नहीं कहो, मैं तो कुछ भी नहीं, यदि आपको भगवान् ही देखना है तो अंग देश की चम्पानगरी के बाहर 12वें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान् का समवसरण लगा हुआ है, उनके दर्शन कर निःसंदेह तुम्हारा कल्याण होगा। राजा मुनिराज को शत्-शत् प्रणाम करके वहाँ से निकला।

आज रात्रि भर राजा महलों में नहीं थे, सभी मंत्रीगण सोच रहे थे राजा को कहाँ ढूँढें। किन्तु प्रातःकाल होते ही राजा महलों में पहुँचे। आज राजा का चेहरा बड़ा बदला-बदला सा लग रहा है, आज उनकी वृत्ति कुछ बदली-बदली ही है। उनके साथी कह रहे हैं-चलो राजा

जुआ खेलते हैं, चलो मद्यपान करते हैं किन्तु राजा के कर्ण से कोई बात अंदर ही नहीं जा रही। राजा स्नानादि कर भगवान् के दर्शन-वंदन के भाव बनाता है और कहता है मैं चम्पापुर नगरी भगवान् वासुपूज्य स्वामी के दर्शन करने जाता हूँ। सभी ने कहा अरे! अभी भोजन-पानी करो बाद में जाना, क्योंकि मंत्री आदि को लगा यदि राजा धर्मात्मा बन जाएगा तो हमारी तो यहाँ कोई पूछ करने वाला ही नही होगा। रानी हमें इस राज्य से ही निकाल देगी, अन्यथा हमें भी जिनधर्म अनुयायी होना होगा। सभी ने मिलकर राजा को रोकने की चेष्टाएँ की, खूब अपशकुन करने की मन में ठान ली।

राजा ज्यों ही महल से निकला राजा का छत्र भंग हो गया। सभी एक स्वर में बोले-महाराज! अपशकुन हो गया, किंन्तु राजा ने नहीं सुना, पुनः सिंहासन टूट गया, महाराज महाअपशकुन हो गया किन्तु राजा ने कहा मुझे भगवान् के दर्शन को जाना ही है। राजा नहीं माना और रथ पर सवार हो गया। रथ पर बैठते ही झमाझम बारिश होने लगी, जिससे रथ के पहिये धंस गए, मंत्रीगण बोले-महाराज! अभी भी मान जाइए। राजा हाथी पर सवार हुआ, हाथी दलदल में फँस गया किन्तु राजा पद्मरथ ''श्री वासुपूज्य जिनेन्द्राय नमः, श्री वासुपूज्य जिनेन्द्राय नमः'' कहते-कहते आगे बढ़े और सभी विघ्न-बाधाओं को अपने मार्ग से हटाते हुए सकुशल चंपापुर नगरी में भगवान् के समवसरण में गए। समवसरण में पहुँचते ही भगवान् की वीतरागी मुद्रा को देखा है, उनके दिव्य शरीर से निकलने वाली वे वर्गणाएँ, आभामण्डल राजा के मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम को दूर करने वाला हो गया। राजा पद्मरथ ने अन्तर्मुहूर्त में पंचमुष्टी केशलोंच किया, यथाजात दिगम्बर मुनि बने और वे मिथला नरेश भगवान् वासुपूज्य स्वामी के गणधर बन गए, चार ज्ञान को प्राप्त कर लिया, बहुत सारी ऋद्धियाँ प्राप्त कर लीं और उसी भव से मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

महानुभाव! धर्म का प्रभाव अचिंन्त्य है, शब्दातीत है। अग्निला ब्राह्मणी के बारे में आपने सुना होगा, जिसने वरदत्त मुनि को एक बार आहार दिया, उसके प्रभाव से भगवान् नेमिनाथ स्वामी की यक्षिणी हुई और उनके दोनों पुत्र शुभंकर और प्रभंकर भी मोक्षगामी जीव हुए। धर्म का किसी ने भी किंचित् भी पालन किया है तो उसे नियम से उसका फल मिला है।

महानुभाव! इस प्रकार आचार्य महोदय ने इस षष्ठम् अधिकार की उपसंहार स्वरूप अंतिम कारिका में बताया कि सल्लेखना व्रत के द्वारा प्राप्त जो सातिशय पुण्य है, सद्धर्म है उस धर्म रूपी वृक्ष से पूजा, अर्थ, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, पराक्रम, परिवार, भोग-उपभोग सामग्री प्राप्त होती है और तीन लोकों में आश्चर्यकारी अतिशययुत तीर्थंकर पद की प्राप्ति रूप अभ्युदय को यह सद्धर्म रूपी वृक्ष फलता है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

7

श्रावक प्रतिमाधिकार

श्रावक की ग्यारह प्रतिमा

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥136॥

अन्वयार्थ–देवैः – वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के द्वारा, **एकादश** – ग्यारह, **श्रावकपदानि** – श्रावक की प्रतिमाएँ/पद, **देशितानि** – कही गई हैं, **येषु** – जिन प्रतिमाओं में, **खलु** – निश्चय करके, **स्वगुणाः** – अपने-अपने गुण, **पूर्वगुणैः सह** – पहले के समस्त गुणों सहित, **क्रमविवृद्धाः** – क्रम से बढ़ते हुए, **संतिष्ठन्ते** – रहते हैं।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सप्तम अधिकार को प्रारंभ करते हुए आचार्य महोदय श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन करेंगे। ग्रंथ के प्रारंभ से ही धर्म का स्वरूप सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप बताया। यहाँ बता रहे हैं यह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ ग्यारह सोपान हैं, सीढ़ियाँ हैं जिन पर श्रावक साधक बनता हुआ महाव्रतों की ओर अग्रसर होता है। षष्टम् अधिकार में जो समाधि का प्रकरण बताया उसमें जरूरी नहीं है कि श्रावक की 11 प्रतिमाओं को क्रमश चढ़े। मृत्यु की समीपता अनुभव आने पर ऐसा लगता है कि उपसर्ग, दुर्भिक्ष, रोग, बुढ़ापा आदि जिनका प्रतिकार न हो सके तो समाधि अचानक भी ली जा सकती है। अन्तर्मुहूर्त में भी समाधि के फल को प्राप्त किया जा सकता है। सल्लेखनाव्रत की अन्तर्मुहूर्त में पालना करके समाधिमरण प्राप्त किया जा सकता है और 12 वर्ष की साधनापूर्वक भी प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ पर जो श्रावक की 11 प्रतिमाएँ हैं उनके बारे में आचार्य महोदय स्वयं बता रहे हैं कि क्या है प्रतिमा? उसके बारे में इतना समझें कि श्रावक के द्वारा नियम-व्रत-संयम की वृद्धि क्रमशः करते जाना प्रतिमा कहलाती है। वह प्रतिमाधारी व्यक्ति संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है। विद्वानों ने लिखा है–

संयम अंश जगो जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम॥

जहाँ पर संयम अंशतः प्रकट होने लगा, जिस प्रकार से शुक्लपक्ष में चंद्रमा की कला एक-एक बढ़ती चली जाती है, जैसे सूर्य की किरणों का प्रकाश सूर्योदय के साथ विस्तृत होता चला जाता है, अर्थात् लालिमा छोड़ता हुआ सूर्य धवलता को प्राप्त करता है, उसकी किरणों में प्रकाश की मात्रा बढ़ती जाती है। अथवा वर्षाकाल आने पर सरिताओं में वृद्धि होती जाती है अथवा किसान की फसल माली के वृक्ष बीज वपन के उपरांत धीमे-धीमे वृद्धि को प्राप्त होती है, अथवा कोई विद्यार्थी स्कूल में पढ़ने जाता है तो एक-एक कक्षा आगे बढ़ता चला जाता है। उसी तरह से श्रावक जब आगे बढ़ता है तो एक-एक नियम, व्रत, संयम, प्रतिज्ञा लेता चला जाता है। और जो नियम पहले लिए हैं उनका भी वह पालन करता है। आचार्य महोदय के शब्दों में प्रतिमाओं का स्वरूप देखते हैं-

'श्रावकपदानि' पदं-पदे-पदानि-यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया; अर्थात् श्रावक के एक पद नहीं बहुत से पद होते हैं यानि श्रावक सप्तव्यसन का त्यागी, अष्टमूलगुणों का धारक, अभक्ष्य का त्यागी, अन्याय-अनीति आदि का त्यागी, 12 व्रतों का पालन करने वाला होता है। ज्यों-ज्यों संयम के क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी सीढ़ी ऊँची होती चली जाती है। जो श्रावक स्वकल्याण का इच्छुक है वह पूजा-प्रतिष्ठा-यश आदि के लोभ से संयम ग्रहण नहीं करता है अपितु उसकी ज्यों-ज्यों विरक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों वह पाप संबंधी कार्यों से विमुख हो जाता है और स्वात्म अभिमुख होने के लिए व्रत-नियम-संयम की वृद्धि करता है। वह ज्यों-ज्यों व्रत-नियम-संयम आदि जीवन में लेता है त्यों-त्यों उसे अंतरंग में आनंद की अनुभूति होती है। हो सकता है किसी रंक को खजाना मिलने पर भी उतनी खुशी न हो जितनी खुशी एक संसार-शरीर-भोगों से विरक्त प्राणी को देशसंयम, प्रतिमा आदि ग्रहण करने पर होती है।

एक दम्पत्ति को सुचिरकाल के बाद एक पुत्र रत्न की प्राप्ति होने पर जितनी खुशी होती है, संभव है उससे ज्यादा खुशी उस देश संयमी को संयम ग्रहण करने पर होती है। अथवा किसी विद्यार्थी को वर्षभर का श्रम करने के बाद जो उत्तीर्णता प्राप्त होती है, उसमें उसे जितनी प्रसन्नता होती है उससे ज्यादा प्रसन्नता उस वैरागी को होती है जो धर्म के क्षेत्र में एक-दो कदम भी आगे बढ़ता है। किसी चक्रवर्ती को भी छह खण्ड का राज्य प्राप्त करने के

बाद इतनी खुशी नहीं होती होगी जितनी खुशी श्रावक को षट्आवश्यक का पालन करने पर होती है। वह कहता है बस! अब तक तो मैं संसार में परिभ्रमण कर रहा था, मोह के आगोश में पड़ा था किंतु अब मैं जाग्रत हो गया, अब मैं अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए व्रत-नियम-संयम की एक-एक करके वृद्धि करता चला जाऊँगा।

आप स्वयं सोचो, जब आपने जीवन में पहली बार अभिषेक किया था तब आपको कितना आनंद आया था, पहली बार पूजा की थी तब कितना हर्ष हुआ था, जब जीवन में पहली बार उपवास किया तब कितनी विशुद्धि बढ़ी थी, जब जीवन में पहली बार किसी ग्रंथ का आद्योपांत स्वाध्याय किया था तब कितना आनंद आया था। जिस दिन पहली बार नियम लिया था कि मैं यावज्जीवन रात्रिभोजन नहीं करूँगा आपको ऐसा लगा जैसे मैंने बहुत बड़ा किला जीत लिया, जब आपने नियम लिया आज से मेरा यावज्जीवन जमीकंद का त्याग तब कितना उत्साह आया होगा। अथवा आपने कोई भी नियम लिया था उस समय आपकी कितनी विशुद्धि बढ़ी थी, वह विशुद्धि इतनी बढ़ी कि उसे पचा नहीं पाए, आपकी वह विशुद्धि आपके चेहरे पर प्रदर्शित हो रही थी। और इतना ही नहीं आपने अपने निकटवर्तियों से कहा अहो! आज तो मेरा सौभाग्य है जो मैं व्रती बन गया, या आज मैंने अमुक-अमुक त्याग कर दिया। ज्यों-ज्यों विशुद्धि बढ़ती है तब उसका गुणस्थान भी बढ़ता है।

यदि मिथ्यादृष्टि है तो प्रथम गुणस्थान, सासादन वाला है तो दूसरा, मिश्र है तो तीसरा गुणस्थान। श्रावक सम्यग्दृष्टि अव्रती हैं तो चतुर्थगुणस्थानवर्ती है, यदि व्रती बन गया तो पंचम गुणस्थानवर्ती हो गया। उन श्रावकों के परिणामों में संक्लेशता की असंख्यातभाग हानि और विशुद्धि की असंख्यात गुणा वृद्धि होती है। ज्यों-ज्यों विशुद्धि बढ़ती चली जाती है भले ही पाँचवे गुणस्थान वाले दो श्रावक हैं किन्तु दोनों की विशुद्धि में बहुत अंतर हो सकता है। उनके विशुद्धि स्थान, लब्धिस्थान अलग-अलग हो सकते हैं। यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं-'श्रावकपदानि' श्रावक के बहुत पद हैं किन्तु यहाँ एक संख्या निश्चित कर दी ग्यारह पद। असंख्यात लोक प्रमाण विशुद्धिस्थान की अपेक्षा से असंख्यात पद भी हो सकते हैं इससे कम भी हो सकते हैं। तीन भेद भी कर सकते हैं-पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।

जो धर्म का पक्ष ले वह 'पाक्षिक' श्रावक कहलाता है। जो निष्ठा से धर्म को माने वह 'नैष्ठिक' श्रावक और जो साधना के क्षेत्र में उतर जाए वह साधक श्रावक कहलाता है। फिर ग्यारह प्रतिमा वालों के भी तीन भेद किए जा सकते हैं उत्तम, मध्यम, जघन्य। पहली प्रतिमा से छटवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक है, 7वीं, 8वीं, 9वीं, 10वीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक

और 11 प्रतिमा वाला उत्कृष्ट श्रावक है। उसके भी फिर दो भेद होते हैं एक क्षुल्लक अवस्था दूसरी ऐलक अवस्था। क्षुल्लक अवस्था में एक कोपीन और चद्दर होती है, ऐलक अवस्था में मात्र कोपीन होती है। उसके नीचे दसवीं प्रतिमाधारी वर्णी जी होते हैं वे पहनने व ओढ़ने का दुपट्टा रखते हैं, फिर चर्या में भी थोड़ा अंतर आता है। पहली प्रतिमा से नवमी प्रतिमा तक थाली में भोजन कर लेता है, दसवीं प्रतिमा वाला नियत बर्तनों में ही करता है, कदाचित् पहले क्षुल्लक आदि महाराज भी थाली आदि में भोजन कर लेते थे, एक-दो बर्तन रखकर के। किन्तु आज वर्तमान काल में बर्तन न रखकर एक कटोरा रख लिया, उसी में वे अपना आहार ग्रहण करते हैं। ऐलक जी महाराज उसका भी परित्याग कर देते हैं वे करपात्र में ही बैठकर आहार करते हैं क्योंकि वह उनका अभ्यास होता है।

यहाँ बाह्यचर्या के आधार से ग्यारह भेद किए, अंतरंग के परिणाम की अपेक्षा से और अधिक भेद हैं। आगे कहा **'देवैः'** यहाँ देव शब्द का अर्थ जिनेन्द्र भगवान् से लेना है जो वीतरागी, सर्वज्ञ हितोपदेशी हैं, अनंतचतुष्टय से युक्त उन अरिहंत भगवंतों के द्वारा इन प्रतिमाओं का स्वरूप कहा है। प्रतिमाओं में निश्चय से अपने-अपने गुण पहले के समस्त गुणों से सहित क्रम में बढ़ते हुए रहते हैं। अर्थात् जिस प्रतिमा को प्राप्त किया उस प्रतिमा के स्वरूप अनुसार उन व्रतों का तो पालन करना जरूरी है किंतु उससे पूर्व की प्रतिमा के स्वरूप के पालन के साथ। माना सप्तम प्रतिमा स्वीकार की तो सप्तम प्रतिमा का जो स्वरूप बताया उसका तो पालन करना है ही किन्तु उसके पूर्व जो छह प्रतिमाएँ हैं उनका भी पालन करना जरूरी है, उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। पूर्व के व्रतों के प्रति शिथिल नहीं हो सकते, उन्हें त्याग करके आगे नहीं बढ़ सकते, वे क्रमशः ही होते हैं।

कोई कहे मुझसे पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी प्रतिमा तो चलेगी नहीं मैं छटवीं, सातवीं प्रतिमा ले लेता हूँ क्योंकि मेरी पत्नी दिवंगत हो गई अब मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर लूँगा और दिवामैथुन त्याग है तो वो भी पालन कर लूँगा, पहली पाँच प्रतिमा का पालन मुझसे नहीं हो पाएगा तो यह नहीं चल सकता। क्रमशः ही चलना पड़ेगा, इसमें अक्रम नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ कहा **'स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह'** जिस प्रतिमा का जो स्वरूप है वह उस प्रतिमा के स्वयं के गुण हैं, स्वयं के व्रत हैं और स्वयं के व्रत-गुणों को स्वीकार करने के साथ-साथ पूर्व वाली प्रतिमा के जो गुण-व्रत थे उनका भी यथोचित पालन करना अनिवार्य है। आगे वाली प्रतिमाओं का अभ्यास करो अथवा नहीं करो, कोई बात नहीं,

आगे वाली की भावना भा सकते हैं किन्तु पूर्व वाली की पालना करना आवश्यक है। जैसे कोई व्यक्ति शिक्षाक्षेत्र में आगे बढ़ा तो क्रम से नर्सरी, L.K.G. से प्राइमरी, मिडिल, सैकिण्ड्री, हायर सैकिण्ड्री, फिर बढ़ते-बढ़ते ग्रेजुएट की पुनः मास्टर की डिग्री ली उसके बाद P.H.D करता है पुनः Dilit आदि करता है। अब कोई बालक सोचे कि भाई मेरे बसकी यह L.K.G, U.K.G. तो है नहीं मुझे तो सीधी Dilit करना है। तो ऐसा नहीं हो सकता, शिक्षा का अपना एक क्रम है, उसी अनुरूप चलना होगा।

कोई व्यक्ति ग्यारहवीं मंजिल पर जाना चाहता है तो पहले एक-एक मंजिल पर चढ़कर सीढ़ी द्वारा या Lift द्वारा जाता है, ऐसा नहीं कि उन्हें छोड़कर जाए। पहली मंजिल, दूसरी के तल के नीचे ही रहती है, तीसरी पर पहुँचा तो पहली-दूसरी उसके पगतल के नीचे हैं ऐसे बढ़ता-बढ़ता ग्यारहवीं मंजिल पर पहुँचा जाता है। इसी प्रकार से पहली प्रतिमा के स्वरूप का यथार्थ पालन करते हुए, विशुद्धि बढ़ाते हुए दूसरी प्रतिमा को ग्रहण करता है। क्योंकि अपनी जिस प्रतिमा का पालन कर रहे हैं उनसे पूर्व का पालन करना भी जरूरी है, यदि ऐसा नहीं कर रहे हैं तो प्रतिमा ही नहीं कहलाएगी क्योंकि कोई व्यक्ति बिना आधार के महल बनाना चाहे तो महल ही नहीं बन पाएगा। वह कहे मैं जमीन से तो दीवार खड़ी नहीं करूँगा मैं 8 फुट ऊपर से दीवार खड़ी करूँगा तो आकाश में दीवार खड़ी नहीं होती। पहले जमीन पर से 1-2 फीट चढ़ाते-चढ़ाते आगे दीवार बढ़ाते जाते हैं।

संक्षेप में इस कारिका का यही भाव है कि एकदेश चारित्र को धारण करने वाला जीव श्रावक होता है। वह एकदेश चारित्र अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय से होता है। इस अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अनुदय के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का जैसे-जैसे मन्द उदय होता जाता है वैसे-वैसे श्रावक की प्रतिमाओं की वृद्धि होती जाती है। अतः वह श्रावक जिसके हृदय में दिगम्बर पद को धारण करने का अनुराग है, रत्नत्रय को धारण करने की उत्कृष्ट इच्छा है वह पंचाणुव्रतों को धारण करता हुआ क्रमशः आगे बढता है, उसके आगे-आगे प्रतिमाओं की वृद्धि के साथ पिछली प्रतिमाओं के नियम, गुण अधिक निर्मल होते हैं। ग्यारह प्रतिमाओं का जो स्वरूप है वह आगे कारिकाओं में कहेंगे आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

दार्शनिक श्रावक का लक्षण

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥137॥

अन्वयार्थ–जो **सम्यग्दर्शनशुद्धः** – निरतिचार सम्यग्दर्शन का धारक हो, **संसार-शरीर-भोगनिर्विण्णः** – संसार-शरीर और विषयभोगों से विरक्त हो, **पञ्चगुरुचरणशरणः** – पञ्चपरमेष्ठी की शरण में रहने वाला हो, **तत्त्वपथगृह्यः** – चारित्र मार्ग के पक्ष को ग्रहण किए हो, (सप्तव्यसन का त्याग व अष्ट मूलगुण रूप चरित्र के अंशों को ग्रहण किए हुए हो), **सः दार्शनिकः** – वह दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकचार की वाचना के अन्तर्गत सप्तम व्रताधिकार में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया है। यह श्रावक की प्रतिमाएँ श्रावक के आत्मकल्याण के क्रमशः उन्नति परक ग्यारह स्थान हैं। जब वह श्रावक व्रत, नियम, संयम की वृद्धि करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है तो जिस सोपान पर पहुँचता है वहाँ के नियमों का पालन तो करता ही है, अधस्तन ग्रहण किए गए सभी व्रत, संयम, नियम का भी पालन करता है। आचार्य महोदय ने पूर्व कारिका में बड़ा अच्छा शब्द दिया 'स्वगुणाः पूर्व गुणैः सह' अपने उस स्थान पर रहते हुए, वहाँ के कर्त्तव्यों का पालन करते हुए पूर्व के कर्त्तव्यों का पालन भी करता है। जैसे मुनि महाराज 28 मूलगुणों का पालन करते हैं, 34 उत्तरगुणों का पालन करते हैं यदि वे मुनिराज उपाध्याय परमेष्ठी बन जाते हैं तो 28 मूलगुणों का पालन करना तो जरूरी होता ही है और 34 उत्तरगुणों का पालन करना भी जरूरी है किन्तु इसके साथ-साथ उपाध्याय परमेष्ठी के 25 मूलगुण भी हैं। इसी प्रकार जो श्रावक तीसरी प्रतिमा का पालन कर रहा है वह तीसरी प्रतिमा में निहित व्रतों का पालन करते हुए दूसरी व पहली प्रतिमा का परित्याग नहीं करता उनका पालन करना भी जरूरी होता है।

अब यहाँ पर आचार्य महोदय स्वयं बता रहे हैं कि पहली प्रतिमा का स्वरूप क्या है, जिससे संसार-शरीर-भोगों से भयभीत, विरक्त वह श्रावक व श्राविका किस तरह धर्म की पहली सीढ़ी पर पैर रखें। अभी तक वह अव्रती था किन्तु अब संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो गया, अपना कल्याण करने के लिए उसका मन बड़ा आतुर है, कैसे मैं अपना कल्याण करूँ। एक साथ तो कल्याण नहीं करता शनै-शनैः आगे बढ़ता है। तो पहली प्रतिमा का स्वरूप यहाँ आचार्य महोदय बता रहे हैं–

'दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः' तत्त्व के पथ को ग्रहण करने वाला पहली प्रतिमाधारी है। तत्त्व क्या है? जिसका जो स्वभाव है वह तत्त्व है। तत् का अर्थ होता है–वह, 'त्व' कहें तो उसका वहपना जैसे जीव और जीवत्व, जीव का जीवपना, पुद्गल–पुद्गलत्व अर्थात् पुद्गल का पुद्गलपना। जैसे आप कहते हैं मम–मेरा और ममत्व–मेरापना अर्थात् ममत्व भाव। 'त्व' लगाने से उसका जो भाव है, मूलदशा है वह पकड़ में आती है। यहाँ कह रहे हैं 'तत्त्वपथगृह्यः' आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने तत्त्व का आशय दिया 'तद्भावस्तत्त्वं' जिसका जो भाव है वह तत्त्व है। वस्तु का वस्तुपना। यूँ तो संसार में अनंत तत्त्व होते हैं किन्तु प्रयोजनभूत तत्त्व सप्त होते हैं। जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, जिसने अपनी श्रद्धा में कोई दोष अतिचार नहीं लगाया, जो चल–मल–अगाढ आदि दोष नहीं लगा रहा, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के दोष हैं।

परमार्थभूत देव–शास्त्र–गुरु के स्वरूप में शंका नहीं करना **निःशंकित** गुण है, निःकांक्षित धर्म साधना करते हुए संसार की वस्तुओं की आकांक्षा नहीं करना **निःकांक्षित** गुण है। धर्मात्माओं के मलिन तन को देख ग्लानि नहीं करना **निर्विचिकित्सा** नाम का गुण है। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुओं का आदर सत्कार नहीं करना, कुमार्गगामियों की प्रशंसा नहीं करना **अमूढदृष्टि** अंग है। साधर्मीजनों से अज्ञानता या असमर्थतावश कोई गलती हो जाए तो उसे दूर करना, धर्ममार्ग की निंदा नहीं होने देना यह **उपगूहन अंग** नाम का गुण है। साधर्मीजनों का सहयोग करना उन्हें चरित्र से भ्रष्ट नहीं होने देना, वहीं स्थिर करना यह **स्थितिकरण** गुण है जो कि उसके दर्शन–ज्ञान–चरित्र में मलिनता नहीं आने देता है। पुनः साधर्मी के प्रति सरल उत्तम भावों से सहित होकर उनका योग्यतानुसार आदर सत्कार–करना **वात्सल्य** नामक गुण है। और धर्म की प्रभावना करना **प्रभावना** अंग है। इस प्रकार इन आठ गुणों से जो विपरीत है वह सम्यक्त्व के दोष हैं।

यहाँ यही कह रहे हैं कि वह श्रावक व श्राविका शंकादि दोष से रहित हो, निःशंकादि आठ गुणों से सहित हो सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाता है। वह सम्यक्त्व के 5 अतिचार और ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, वपु इन आठ मदों से भी सम्यक्त्व को दूषित नहीं करता तथा षट्अनायतन, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु इनके पूजक व प्रशंसक इनका भी परित्याग करके समीचीनता को स्वीकार करता है अर्थात् परमार्थभूत देव–शास्त्र–गुरु इनके पूजक व प्रशंसकों पर ही दृढ़ श्रद्धान करता है। और वह मूढ़ता भी नहीं करता, विवेक का परिचय देता है। सरागी देव है या वीतरागी, कल्याण करने वाले हैं या अकल्याण करने वाले, गुरु सग्रंथ हैं या निर्ग्रंथ इनमें भेद करके समीचीनता को स्वीकार करता है। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व के आठ गुणों का परिपालन करता है। आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज ने वसुनंदी श्रावकाचार में लिखा है–

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा, अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते॥

सम्यक्त्व के आठ गुण में पहला कहा **'संवेग'**–धर्म और धर्म के फल में अनुराग होना, उल्लास होना, धर्मात्माजनों को देख प्रसन्न होना। **'निर्वेग'**–संसार–शरीर–भोगों से विरक्ति, **'निंदा'**–आत्मा की निंदा करना कि मैंने ऐसे दोष किए, अपराध किए। **'गर्हा'**–गुरु के सामने अपने दोषों का उच्चारण करके प्रायश्चित लेना **'उपशम'**–कषायों का उपशमन करना, **'भक्ति'** वीतरागी जिनेन्द्रदेव की भक्ति करना, उनके गुणों के प्रति अनुराग होना, पंचपरमेष्ठी के गुणों में अनुराग होना। **'वात्सल्य'**–साधर्मीजन के गुणों में नि:स्वार्थ प्रेम होना और **'अनुकंपा'**–जीवमात्र के प्रति करुणा का भाव होना। जो दूसरों को कष्ट या दु:ख में देखकर पिघल जाता है। नवनीत तो स्वयं पर ताप आता है तब पिघलता है किन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा पुरुष दूसरों को दु:खी देखकर के पिघलने लगता है।

महानुभाव! यहाँ दार्शनिक श्रावक के लिए कहा कि प्रथमत: तो वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो। पुन: कहा संसार–शरीर–भोगों से विरक्त हो। वह संसार के यथार्थ स्वरूप को समझकर कि यह संसार तो अनादिकाल से है अनंतकाल तक रहेगा, इस संसार की दशा में कहीं सुख नहीं है, विरक्त हो जाओ। आप पढ़ते भी हैं–

दाम बिना निर्धन दु:खी तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान॥

इस संसार को छान–छान कर देख लो कहीं भी सुख नहीं है, हमारा सुख हमारी आत्मा में है। इस संसार मे सुख कभी था ही नहीं। जिस तरह आपके मकान में रखी कोई वस्तु आप उसे अपने मकान के अलावा तीन लोक में कहीं भी खोज लो, मिलेगी नहीं, क्योंकि जहाँ रखी है वहीं तो मिलेगी, ऐसे ही हमारी आत्मा का स्वभाव, गुण, धर्म, सुख आदि आत्मा में ही मिलेगा आत्मा के अलावा कहीं नहीं मिलेगा। तो यहाँ कहा संसार के स्वरूप को समझकर के उससे विरक्त होओ।

पुन: कहा–भोग रोग का कारण है, भोग पाप बंध का कारण है, भोग पुण्य के उदय से कुछ क्षण के लिए प्राप्त होते हैं ऐसे दु:खों से मिश्रित भोगों का सही स्वरूप जानकर के उनसे विरक्त होओ तथा शरीर से भी विरक्त होओ। यह शरीर तो सप्त धातु–उपधातु से निर्मित है। ऊपर से वह चमकती हुई चमड़ी न हो तो आचार्य अजितसेन सूरि ने लिखा है–मक्खी के पंख की तरह पतला सा चमकता हुआ यह चर्म न होता तो इस शरीर की गीध, काक और कुत्तों से रक्षा करना भी मुश्किल हो जाता। यह चमड़ी से ढका हुआ है इसलिए हम जी पा

रहे हैं अन्यथा यह बहुत घिनावना होता, जीना मुश्किल हो जाता। यह शरीर जिसमें अनेक रोग भरे पड़े हैं 5 करोड़ 68 लाख 99 हजार 584 रोग इस पूरे शरीर में हैं व एक अंगुल में 96 रोग भरे पड़े हैं। यह हमारा और आपका पुण्य का उदय है कि इतने पर भी इन रोगों से बचे हुए हैं, धर्मध्यान कर पा रहे हैं, यदि सभी रोग उदय में आ जाएँ तो ऐसे-ऐसे भयंकर रोग हैं जिनकी वेदना-पीड़ा अकथ है।

यह शरीर जो कभी भी नष्ट हो सकता है क्योंकि कर्मभूमि के सामान्य मनुष्य व तिर्यंच की मृत्यु कभी भी हो सकती है, देवों की अकाल मृत्यु नहीं होती, नारकियों की अकालमृत्यु नहीं होती, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों की अकालमृत्यु नहीं होती। हाँ, कर्मभूमि के महापुरुष जो उसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं और पदवीधारी हैं उनकी अकालमृत्यु नहीं होती है।

तो यह शरीर क्षणध्वंसी है इसलिए इस शरीर के लिए किसी ने कहा कि यह पानी के बुलबुले की तरह से है, किसी ने कहा कि बिजली की चमक की तरह से है, किसी ने कहा ओस बूंद की तरह से है, किसी ने कहा पर्वत से गिरती नदी की तरह से है, किसी ने कहा मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह से है, किसी ने कहा काँच के सामान की तरह से है। कभी भी इस जिंदगी का साज-बाज बिखर सकता है, कभी भी यह जिंदगी पूरी हो सकती है। इसलिए शरीर पर कभी गुमान नहीं करना। संसार-शरीर-भोगों का यथार्थ स्वरूप जानकर के इससे विरक्त हो जाना।

पुनः कहा-'पंचगुरुशरण' प्रथम प्रतिमा वाला श्रावक जो अपने सम्यक्त्व को निर्मल बना रहा है, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो गया, तत्त्व के पथ पर चलने वाला है, तत्त्व के मार्ग को ग्रहण किया है, इस दार्शनिक श्रावक के लिए संसार में पंचपरमेष्ठी ही शरण हैं। वह यह नहीं कहता कि महाराज जी मेरा बुढ़ापे में कौन सहारा बनेगा इसलिए मैंने बैंक-बैलेंस कर दिया, बुढ़ापे के लिए खेत लेकर डाल दिए, पता नहीं कब क्या हो जाए इसलिए इतना पैसा अपने मित्र पर जमा कर दिया है। वह धन ही मेरे लिए शरणभूत है, उसी से मेरी नैय्या पार हो जाएगी। जो ऐसे धन को अपनी शरण मानते हैं, माता-पिता-भाई-बंधु को शरण मानते हैं, परिवार कुटुम्ब को शरण मानते हैं, खेत-मकान-गोदाम आदि को शरण मानते हैं वे लोग पहली प्रतिमा धारण करने वाले नहीं बन सकते। इसलिए किसको शरण मानें? आप पढ़ते हैं-

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहूसरणं पव्वज्जामि,
केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि॥

अरिहंत भगवान्, सिद्धप्रभु मेरी शरण हैं, मैं इनकी शरण में जाता हूँ। साहू शब्द में आचार्य-उपाध्याय-साधु तीनों गर्भित हैं तो इनकी शरण में जाता हूँ और केवली भगवान् द्वारा कहा हुआ धर्म, इसकी शरण में जाता हूँ। इन पाँचों परमेष्ठियों की जो चर्या है, जो धर्म है, वह धर्म आत्मा को परमात्मा बनाने वाला एक रसायन पदार्थ है, उस धर्म की शरण में जाता हूँ। उस सच्चे धर्म से ही आत्मा परमात्मा बन सकती है। संसार में मिथ्या धर्मों की कमी नहीं है, जिसका जैसा मन-मान्यता होती है वैसा अपना धर्म बना लेता है और चला लेता है, उससे आत्मा परमात्मा नहीं बनती। उस मिथ्याधर्म से उसे क्षणभर की संतुष्टि मिल जाती है किंतु वास्तव में परमार्थभूत सुख नहीं मिल पाता।

यहाँ आचार्य महोदय ने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ होने के कारणों का कथन किया है कि इन कारणों के मिलने पर आत्मा की प्रथम अवस्था का प्रारंभ होता है। जिस श्रावक का सम्यग्दर्शन तो निरतिचार है परंतु व्रतों से सर्वथा रहित है वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यही जीव जब अष्ट मूलगुणों को अतिचार सहित पालन करता है, सप्त व्यसन का त्याग भी अतिचार सहित करता है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। इसके आगे जब वह सम्यग्दृष्टि संसार, शरीर व भोगों से विरक्त होकर व्रत धारण करने के क्षेत्र में अग्रसर होता है तथा मद्य, मांस व मधु के त्याग के साथ अहिंसाणुत आदि पाँच अणुव्रतों का सातिचार धारक होता है तथा पञ्चपरमेष्ठियों की अखण्ड श्रद्धा रखता है वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है। यह नैष्ठिक श्रावक का प्रथम भेद है। इस प्रकार यहाँ पहली प्रतिमा का स्वरूप संक्षेप में कहा, आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

व्रतिक श्रावक का लक्षण

निरतिक्रमणमणुव्रत-पंचकमपि शीलसप्तकं चाऽपि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥138॥

अन्वयार्थ–यः – जो श्रावक, **निः शल्यं** – माया, मिथ्यात्व, निदान इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ, **निरतिक्रमणं** – निरतिचार रूप से, **अणुव्रतपंचकम्** – पाँच अणुव्रतों को, **च** – तथा, **शीलसप्तकं च अपि** – तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को भी, **धारयते** – पालन करता है, **असौ** – वह, **व्रतिनां** – व्रती पुरुषों के द्वारा, **व्रतिकः** – व्रत प्रतिमाधारी श्रावक, **मतः** – कहा गया है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सप्तम अधिकार का व्याख्यान चल रहा है, जिसमें आचार्य महोदय श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन कर रहे हैं। पूर्वकारिका में प्रथम प्रतिमा का स्वरूप कहा कि वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, अपने सम्यक्त्व का निर्दोष-निरतिचार पालन करने की चेष्टा करता हो, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धावान् हो, तत्त्व के अर्थ को ग्रहण करने वाला हो और पंचमरमेष्ठी को अपना आश्रय मानता हो। पहली प्रतिमा से ही उसके जीवन में आहारादि में शुद्धता आ जाती है। सभी प्रकार के अभक्ष्यों का त्याग, रात्रिभोजन (चारों प्रकार के आहार जल) का त्याग और पुनः वह अभ्यास रूप में पाँच अणुव्रतों का भी पालन करता है। आचार्य महोदय ने आठ मूलगुणों में पाँच अणुव्रतों को लिया एवं मद्य-माँस-मधु का त्याग इत्यादि का कथन किया। सप्त व्यसनों का त्याग पहले कर ही दिया था। तो वह श्रावक के षटावश्यकों का भी यथाशक्ति पालन करता है।

वह श्रावक जब भी भोजन-पान ग्रहण करता है तो शुद्ध वस्त्रों में ही ग्रहण करता है, एक जगह विधिपूर्वक बैठकर के मर्यादित शुद्ध भोजन करता है। वह बासी भोजन नहीं करता या जिन पदार्थों की मर्यादा नहीं रही उन्हें ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार वह पहली प्रतिमा का पालन करता है। पहली प्रतिमा का पालन करते-करते उसने अपनी विशुद्धि बढ़ायी, वह सोचता है मैं आगे बढ़ूँ और उसके कदम दूसरी प्रतिमा की ओर बढ़े। वह दूसरी प्रतिमा का किस प्रकार पालन करे, उसके क्या-क्या नियम होते हैं, क्या-क्या संकल्प होते हैं, उसे कौन सी क्रिया-विधि कैसे करनी चाहिए तो उस दूसरी प्रतिमा का स्वरूप आचार्य महोदय यहाँ स्वयं बता रहे हैं–

'निरतिक्रमणं' अर्थात् निर्गता अतिक्रमणः जिसने अपने अणुव्रतों से अतिक्रमण को निकाल दिया है। अतिक्रमण यानि सीमा के बाहर जाना। सीमा से बाहर जाने की चार दशाएँ होती हैं जिन्हें चार शब्द दिए जाते हैं–अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। इन चार प्रकार की मर्यादाओं का जो उल्लंघन नहीं करता अर्थात् जिसने पाँच अणुव्रतों को स्वीकार किया है अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत इन व्रतों का मर्यादा में रहते हुए पालन करता है, इनसे बाहर नहीं जाता। जैसे किसी पशु को खूँटे से बाँध दिया जाए तो उतने क्षेत्र में वह सुरक्षित रहता है यदि अपनी बाउण्ड्री से बाहर किसी दूसरे के खेत में जाकर चरता है तो उसे प्रताड़ना का दुःख सहन करना पड़ता है। इसी प्रकार व्रती अपने व्रतों की मर्यादा-सीमा के अंदर रहता है तो वह सुखद अनुभव करता है। जिसने भी मर्यादा का उल्लंघन किया उसने दुःखों को, संकटों को, विपत्तियों को प्राप्त किया। चाहे वह सीता हो या राम। वैदिक परम्परा में आता है कि सीता ने लक्ष्मण रेखा पार की तो हरण को प्राप्त हुई, रामचन्द्र जी यूँ तो बहुत दयालु थे, मर्यादा पुरुषोत्तम थे किंतु सीता के कहने पर स्वर्ण मृग का पीछा किया तो संकट में आए, रावण ने अपनी मर्यादा का उल्लंघन किया तो समूची लंका नष्ट हो गई और वह दुर्गति को प्राप्त हुआ।

ऐसे ही पाण्डवों ने यदि मर्यादा का उल्लंघन किया तो 13 वर्ष तक वनवास सहन करना पड़ा, जुआ में द्रोपदी को हार गए तो संघर्ष का सामना करना पड़ा। कौरवों ने मर्यादा का उल्लंघन किया जो पाण्डु का राज्य था, उसके अधिकारी पाण्डु ही थे किन्तु धृतराष्ट्र ने कहा मैं राजा नहीं बन सका, मैं अंधा हूँ तो क्या हुआ मेरे पुत्र तो अंधे नहीं हैं, वे राजा बनेंगे। उन्होंने चाहा किसी भी प्रकार यह राज्य कौरवों को मिल जाए तो उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन किया जिससे महायुद्ध हुआ, वे मृत्यु को प्राप्त हुए शेष ने दीक्षा ले ली।

किसी भी प्रसंग में देखें जिसने भी मर्यादा का उल्लंघन किया उसे हानि ही उठानी पड़ी। अपने घर मे भी देख लेना जो माता-पिता मर्यादा में रहते हैं उनके पुत्र उनका पूरा सम्मान करते हैं, जो पुत्र-पुत्रवधू अपनी मर्यादा में रहते हैं उन्हें अपने माता-पिता, सास-ससुर का पूरा स्नेह मिलता है। जिसका जो पद है वह उस पद का उल्लंघन न करे, वहाँ की सीमा रेखा से बाहर नहीं जाए तो उसकी निगाह कभी नीची नहीं होगी, उसे कोई दण्ड नहीं मिलेगा। न ही किसी आपत्ति-विपत्ति का सामना करना पड़ेगा किन्तु जो भी मर्यादा का उल्लंघन करता है निःसंदेह वह कर्म बंध से बंध जाता है।

'अतिक्रम' यानि विशुद्धि का नहीं बढ़ना। पाँच अणुव्रतों का पालन कर रहे हैं तो मन में आनंद आना चाहिए, अगर विशुद्धि नहीं बढ़ रही है तो अतिक्रम हुआ। **व्यतिक्रम**–आपके मन में कोई अशुद्ध भाव का आना। **अतिचार**–उस व्रत का एकदेश खण्डन होना। **अनाचार**–व्रत का पूर्ण रूप से भंग हो जाना। तो ये चार प्रकार के दोष होते हैं, इनको नहीं करना। जैसे किसी व्यक्ति की जितनी जगह है 100 गज, 500 गज उतने में ही यदि उसने अपना मकान–दुकान बनाया है तो सरकार कुछ नहीं कहेगी और आपने लोभवश 2–4 फीट आगे बढ़ा ली तो बुल्डोजर आएगा, सबको तोड़ता हुआ चला जाएगा। फिर आप चाहें रोएँ–धोये कुछ भी करें, कुछ नहीं हो सकेगा; क्योंकि आपने अतिक्रमण किया है। ऐसे ही व्रतों में अपनी मर्यादा का उल्लंघन करते हैं तो महान् संकटों का आमंत्रण करते हैं। इन पाँच अुण्रवतों का मन–वचन–काय से कृत–कारित–अनुमोदना से पालन करना चाहिए।

'अहिंसाणुव्रत' मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदना से त्रस जीवों का घात नहीं करना। **'सत्याणुव्रत'**–असत्य नहीं बोलना सदा सत्य बोलना, किंतु हाँ ऐसा सत्य भी नहीं बोल देना जिससे किसी के प्राणों का वियोग हो जाए। **'अचौर्याणुव्रत'**–किसी की रखी हुई, भूली हुई, पड़ी हुई वस्तु नहीं उठाना, उस वस्तु के मालिक से पूछकर लेना। **'ब्रह्मचर्याणुव्रत'** अपनी स्वकीय पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री के प्रति अब्रह्म का भाव नहीं रखना। और **'परिग्रहपरिमाण अणुव्रत'** दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का परिमाण करके उसी में संतोष रखना, उसके बाहर क्षेत्र–वास्तु धन–धान्य, दासी–दास, कुप्य–भांड आदि की इच्छा नहीं रखना। इन पाँच अणुव्रतों का पालन करता हुआ वह दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक **'शीलसप्तकं चाऽपि'** सात प्रकार के शीलव्रतों का भी पालन करता है जिसमें तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत होते हैं।

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण इन तीनों को आचार्य महोदय ने गुणव्रत माना है। जीवनभर के लिए आने–जाने के क्षेत्र की सीमा कर लेना दिग्व्रत है। निष्प्रयोजनीय पाप बंध के कारणभूत अनावश्यक कार्यों को नहीं करना अनर्थदण्डव्रत है और भोग व उपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। पुनः चार शिक्षाव्रत कहे–सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास व अतिथिसंविभाग व्रत। तीनों संध्याकालों में नियत स्थान पर, नियत समय के लिए सर्व पापों का त्याग करते हुए, एकाग्र–नियत होकर बैठना, पंचपरमेष्ठी की भक्ति करना तथा जीवन–मरण, लाभ–अलाभ, मित्र–शत्रु, संयोग–वियोग में समता का भाव रखना सामायिक व्रत है। दिग्व्रत में जो मर्यादा ली थी उसी में घण्टा, घड़ी, मास आदि पर्यंत तक ग्राम–मौहल्ले की भी मर्यादा कर लेना यह देशावकाशिक व्रत कहलाता है। अष्टमी, चतुर्दशी के दिन उपवास

करना तथा सप्तमी व नवमी का एकासन, त्रयोदशी-पूर्णिमा/अमावस्या का एकासन करना। उपवास के दिन सभी सावद्य का त्यागकर एकान्त स्थान पर धर्मध्यानपूर्वक रहना प्रोषधोपवास व्रत है।

अगला है अतिथिसंविभाग व्रत-वह श्रावक जब स्वयं भोजन करता है तो जब भी नगर में विराजमान कोई साधु-महाव्रती हैं या उपचार से महाव्रती आर्यिका माताएँ हैं, कोई ऐलक जी क्षुल्लक जी हैं या ब्रह्मचारी हैं उनको पहले आहार कराकर के फिर आहार करे। जिनका पड़गाहन होता है उनका पड़गाहन करें, त्यागव्रती हैं तो उन्हें निवेदनपूर्वक निमंत्रण करें। तो अतिथिसंविभाग अर्थात् जो वह आहार करता है उसमें से एक विभाग अतिथि के लिए निकाल देता है कि यह भोजन अतिथि के लिए है। उन्हें बिना आहार कराए मैं भोजन नहीं करूँगा। जिस दिन उसे आहार देने का अवसर प्राप्त नहीं होता है उस दिन वह बड़ा दु:खी होता है।

भरतेश वैभव में भरतचक्रवर्ती का प्रसंग आता है कि वे प्रतिदिन प्रतिग्रह कर, मुनिराज को दान देकर भोजन करते थे। एक दिन उन्हें कोई मुनिमहाराज पड़गाहन के लिए नहीं मिले तो भरत चक्रवर्ती के नेत्रों में आँसू आ गए, हे प्रभु! मेरा कैसे पापकर्म का उदय आ गया है, आज सभी मुनिराजों का नगरवासियों ने पड़गाहन कर लिया, मेरे यहाँ कोई नहीं आया। आज मुझे मेरे यह हाथ हाथ नहीं लग रहे मानों सर्प के फण जैसे हो गए हों, आज मेरा मस्तक पवित्र नहीं हुआ, मैंने मुनिराज की चरणरज अपने माथे से नहीं लगायी, आज मेरा हृदय पवित्र नहीं हो पाया, अब मैं क्या करूँ, बड़े व्याकुल होते हैं। उनकी आँखों में आँसू देखकर के मंत्री, महाअमात्य पूछते हैं-महाराज! क्या बात है? क्या शरीर में कोई कष्ट है? क्या कोई प्रतिकूलता है? आपकी आँखों में आँसू पहले कभी नहीं देखे। हाँ कष्ट तो है। बताएँ महाराज, हम आपकी सेवा कर आपके कष्ट को दूर कर सकें। नहीं, आप हमारे कष्ट को कम नहीं कर सकते, आज मैं हीन पुण्यात्मा हो गया, आज मेरे यहाँ कोई मुनि महाराज नहीं आए, मेरे कैसे पापकर्म का उदय आ गया। नहीं महाराज! आप कभी हीनपुण्यात्मा नहीं हो सकते, आपकी भक्ति प्रबल है मुनिराज अवश्य आएँगे। और वे चर्चा कर ही रहे थे तभी आकाशमार्ग से सूर्य-चन्द्र की तरह दिव्य तेज वाले दो मुनि महाराज आ गए। भरत चक्रवर्ती गद्गद हो गया, उसकी आँखों से जो आँसू बह रहे थे वे आँसू अब खुशी के आँसुओं में परिवर्तित हो गए। भरत चक्रवर्ती ने पड़गाहन किया, बड़ी भक्ति से आहार कराया और पुन: कमण्डल लेकर उन्हें उनके स्थान पर छोड़ने गए। रास्ते में मुनिराज ने कहा-भरत अब तुम लौट जाओ, नहीं-नहीं मुनिराज, मैं

तो आपको वसतिका तक छोड़कर ही लौटूँगा। वहाँ पहुँचकर भरतजी वहीं बैठ गए, मुनिराज के दो शब्द सुने। उसका मन जाने को हो ही नहीं रहा था। मुनिराज ने कहा–तुम्हें तीर्थंकर ऋषभदेव की सौगंध है अब तुम जाओ यानि तुम्हारे पिता की सौंगध है। तुम्हें यहाँ अच्छा लग रहा है किन्तु तुम्हारी 96000 रानियाँ तुम्हारा इंतजार कर रही हैं, जब तक तुम भोजन नहीं करोगे तब तक कोई भोजन नहीं करेगा।

इस प्रकार अतिथिसंविभाग करने वाला भरत चक्रवर्ती था। आचार्य महोदय ने अतिथि संविभाग में भगवान् की पूजा-भक्ति करना भी कहा है। दूसरी प्रतिमा वाला श्रावक इन सात शीलव्रतों का पालन करता है और **'धारयते निःशल्यो'** निःशल्य होकर इन व्रतों को धारण करता है। शल्य वह है जो चित्त में काँटे की तरह चुभती रहे। जब तक काँटा न निकालो वह दुःख देता रहता है। माया, मिथ्या व निदान ये तीन शल्य होती हैं। निदान शल्य भविष्यकाल संबंधी होती है, भविष्य में मुझे अमुक-अमुक भोग मिलें इस प्रकार की आकांक्षा करना निदान शल्य है। मायाशल्य अर्थात् भूतकाल में मैंने कौन-कौन से छलकपट किए वह मेरा कपट सहित व्यवहार आज मुझे चुभ रहा है कि मैंने उस व्यक्ति को धोखा दिया, ठगा इस प्रकार मन में वह मायाशल्य चुभ रही है और मिथ्याशल्य अर्थात् वर्तमान में जो मिथ्याधारणा पल रही है, जो सम्यक् स्वरूप को भूलकर मिथ्यास्वरूप पर श्रद्धान कर रहा है, रागी-द्वेषी की पूजा कर रहा है, मन में चुभ भी रहा है कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए किंतु किसी राग से अथवा द्वेष से उससे जुड़ा हुआ है तो वह भी शल्य बन जाती है।

इस प्रकार जो वर्तमान संबंधी मिथ्याशल्य, भूतकाल संबंधी मायाशल्य और भविष्यकाल संबंधी निदानशल्य इन तीनों शल्यों से रहित होता है महाव्रतियों के द्वारा उसे व्रती संज्ञा दी गई है। तीनों ही शल्य हमेशा मन को अशांत करती रहती हैं। इनको निकाले बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते हैं इसीलिए व्रती होने की इच्छा करने वाले जीव को अपने हृदय से इन तीनों शल्यों को निकाल देना चाहिए क्योंकि निःशल्य हुए बिना अणुव्रती महाव्रती नहीं बन सकता। शल्य सहित ग्रहण किये व्रत व्रताभास या अव्रत कहलाते हैं। इन व्रतों से कभी संवर और निर्जरा नहीं हो सकती।

निःशल्य सम्यग्दृष्टि निरतिचार पाँच अणुव्रतों का पालन करता है क्योंकि अतिचार सहित व्रत पुण्यजनक नहीं होते हैं। जिस प्रकार केवल धान्य बो देने से खेती फलप्रद नहीं होती, उसमें उत्पन्न होने वाले घास को खोदकर स्वच्छ करना पड़ता है, उसके बिना फसल घर में नहीं आती उसी प्रकार केवल ग्रहण किए हुए व्रत पुण्य फल के दाता नहीं हैं। उनके ग्रहण करने

के बाद बीच-बीच में लगने वाले अतिचारों से व्रतों की रक्षा करनी पड़ती है। इसीलिए यहाँ आचार्य महोदय ने कहा कि जो अन्य निरतिचारपूर्वक पाँच अणुव्रतों का पालन करता है वही व्रती कहलाता है। व्रतों में अतिचार लगाने वाला पूर्ण व्रती नहीं होता। इस प्रकार जो अणुव्रतों के उपकारक हैं ऐसे तीन गुणव्रत तथा जिन व्रतों के द्वारा प्रतिदिन मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा मिलती है ऐसे चार शिक्षाव्रत, ये सप्तशील कहलाते हैं। दूसरी प्रतिमाधारी सप्तशीलों का भी पालन करता है।

इस प्रकार दूसरी प्रतिमा का स्वरूप यहाँ संक्षेप में समझा। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सामायिक व्रतधारी श्रावक का लक्षण

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोग - शुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवंदी॥139॥

अन्वयार्थ–जो श्रावक **चतुरावर्त्तत्रितयः** – प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त करता हो, **चतुः प्रणामः** – प्रत्येक दिशा में आवर्तों के बाद एक-एक प्रणाम करता हो, **यथाजातः स्थितः** – बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित मुनि के समान अवस्थित हो, **द्विनिषद्यः** – खड़गासन वा पद्मासन में स्थित हो, **त्रियोग-शुद्धः** – मन-वचन-काय की शुद्धि युक्त हो, **त्रिसन्ध्यम् अभिवन्दी** – तीनों सन्ध्याओं में अभिवन्दन करता हो, **सामायिकः** – वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सप्तम अधिकार देख रहे हैं, जिसमें श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का लक्षण बताया जा रहा है। आज तृतीय सामायिक प्रतिमा का लक्षण बताते हैं। द्वितीय प्रतिमा में वह सामायिक दो समय की अर्थात् दोनों संध्याकालों में करता है उसमें कदाचित् समय की हीनाधिकता हो जाती है। यह गृहस्थ प्रारंभ मे मोक्षमार्ग में बढ़ रहा है तो अतिचार आदि लग सकते हैं, वह जानबूझ कर लगा नहीं रहा किन्तु तीसरी प्रतिमा को धारण करने वाला व्रती अब तीनों संध्याकालों में सामायिक करेगा। अब वह सभी प्रकार के अतिचार आदि से बचेगा, उसमें शिथिलता नहीं आएगी, वह समय निश्चित करेगा।

सामायिक में वह तत्त्वचिंतन करता है, आत्मा से उत्पन्न हुए आनन्द का अनुभव करता है, उसे लगता है जैसे संसार चुल्लूभर जल प्रमाण रह जाता है। सामायिक में जो आनन्द है वह आनन्द पाँच इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले किसी भी विषय में नहीं है। चाहे कितने भी मिष्ट पदार्थ खाये पर वह आनंद नहीं आता जो आनंद सामायिक में आता है। वह आनंद किसी इत्र को सूंघने, किसी दृश्य को देखने पर या किसी प्रकार के संगीत के सुनने में या किसी प्रकार के स्पर्शनइंद्रिय के विषय में नहीं आता जो आनंद सामायिक में आता है। इंद्रियजन्य आनंद तो सुखाभास है पर जब घड़ी-दो घड़ी सामायिक में बैठता है, देखता है कि मेरी आत्मा तो परमात्मा का बीज है। उसे लगता है यह शरीर तो पुद्गल है, मृत्यु के समय आत्मा कहाँ चली

जाती है, कहीं भी पता नहीं चलती, हजारों लोग बैठे हों उन्हें भी नही दिखती, यद्यपि वह आत्मा कर्मों से बंधी है और कर्म मूर्तिक हैं, फिर भी नहीं दिखती। अरे! वह कर्म भी सूक्ष्म है और आत्मा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, क्योंकि वह आत्मा अमूर्तिक है। आत्मा ऐसे देखने में नहीं आती वह तो अनुभवगम्य है। आत्मा के बारे में कहा–

स्वसंवेदन - सुव्यक्तस्य तनुमात्रो निरत्ययः।

अत्यन्त - सौख्यवानात्मा लोकालोक - विलोकनः॥

वह आत्मा अगर व्यक्त होती है तो स्वसंवेदन से ही होती है, निज अनुभव में ही व्यक्त होती है। मेरी आत्मा का अनुभव कोई दूसरा नहीं कर सकता और हम किसी दूसरे की आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते। जिस तरह पैर में काँटा लगा हो तो कांटे का दर्द उसे ही महसूस होता है जिसके पैर में लगा हो। वहाँ हजारों लोग भी खड़े हों तब भी उन्हें वह अहसास नहीं होता। सुख-दुःख प्रेम का वेदन भी वही करता है जिसको वह हो रहा है। ऐसे ही सामायिक भी अनुभव की चीज है यह कोई लेन-देन की वस्तु नहीं है।

अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामी के समवसरण मे मगधाधिपति सम्राट श्रेणिक नित्य दिव्यध्वनि सुनने के लिए जाते थे और जिज्ञासाओं का समाधान करते थे। उन्होंने लगभग 60 हजार प्रश्न पूछे। इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में थे, उन गणधरों से वे समाधान प्राप्त करते। एक बार राजा श्रेणिक ने पूछा–हे गणधर परमेष्ठि भगवन्! मेरे परिणाम मुनि बनने के क्यों नहीं होते, मेरे परिणाम व्रती बनने के क्यों नहीं होते, मैं प्रतिदिन समवसरण में आता हूँ, भक्ति-पूजार्चना करता हूँ पर परिणाम व्रती-महाव्रती बनने के क्यों नहीं होते? गणधर परमेष्ठी ने कहा–सम्राट श्रेणिक बिम्बसार! तुमने जब यशोधर मुनि पर उपसर्ग किया था, मरा सर्प डाला था उस अन्तर्मुहूर्त में तुमने नरकायु का बंध कर लिया था और जो जीव नरकायु का बंध कर लेता है उसके परिणाम व्रती बनने के नहीं होते, वह व्रती महाव्रती नहीं बन सकता इसीलिए तुम्हारे परिणाम नहीं होते। वह पुनः बोला–भगवन्! कुछ ऐसा उपक्रम बताईये जिससे मैं नरक जाने से बच जाऊँ। आपने जबसे नरक का वर्णन बताया है, वहाँ के दारुण दुःखों को सुनकर, वहाँ की भूख-प्यास की वेदना, शीत-उष्ण की वेदना, स्पर्शन की वेदना, अनेक यातनाओं की वेदना को सुन मेरा हृदय कंपित हो गया है, मैं ऐसे नरक में नहीं जाना चाहता, आप मुझे बचाओ।

गणधर परमेष्ठी भगवन् बोले–राजन्! जब पाप करने से नहीं डरे, उस समय नहीं सोचा, अब जहर खाकर कहते हो कि मैं मरूँ नहीं, बचा लो। उन मुनिराज ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था, कुछ नहीं। बस रानी चेलना को नीचा दिखाने के लिए, उसने तुम्हारे गुरु की परीक्षा ली, तुमने उसके गुरु की परीक्षा ली, इस अहंकार के कारण यह कुकृत्य किया। यह अहंकार का भाव ही, स्वयं को उत्कृष्ट सिद्ध करने का भाव ही तो पाप का बंध कराने वाला होता है। राजा श्रेणिक की आँखों में आँसू आ गए। बोले महाराज! कोई उपाय तो बताओ। राजन्! जिसने एक बार आयु का बंध कर लिया तो वह छूटता नहीं है। वहीं कम-ज्यादा हो सकता है। अर्थात् सप्तम नरक की 33 सागर की आयु का बंध किया था, वह भगवान् की भक्ति करने से कम होकर के पहले नरक तक आ गया, उसमें भी पहले नरक की आयु एक सागर की होती है वह घटकर के मात्र 84 हजार वर्ष की आयु रह गयी है। किन्तु पूरी आयु छूट नहीं सकती।

भगवन्! कोई तो उपाय होगा। हाँ, उपाय तो है पर तुम वह कर नहीं सकते। क्या? यदि तुम सामायिक कर लो तो नरक नहीं जाओगे। भगवन्! सामायिक कैसे की जाती है? तो बताया–तुम्हारे नगर में एक पूनिया सेठ रहता है वह तीनों संध्याकालों में सामायिक करता है, यदि उसकी एक सामायिक भी मिल जाए तो तुम नरक जाने से बच जाओगे। राजा श्रेणिक वहाँ से चला और मन में यह सोचता हुआ कि मैं राजा-महाराजा हूँ उस पूनिया सेठ से मैं सामायिक खरीद कर आऊँगा, वह समवसरण से सीधे अपने महलों में न जाकर पूनिया सेठ की हवेली में पहुँचा। उस सेठ को ज्ञात हुआ कि राजा का आगमन मेरे यहाँ हुआ है (यह प्रसंग दिगम्बर परम्परा में कम पढ़ने में आता है। श्रुति में आया इसलिए आपको सुना रहे हैं, तथ्य को ग्रहण करना) वह पूनिया सेठ आया, राजा का सम्मान किया, उन्हें उच्चासन दिया, राजन्! कोई कार्य था तो मुझे बुला लिया होता, मैं आपके पास पैरों के बल क्या सिर के बल चलकर आता।

राजा ने कहा–सेठ जी, प्यासा कुआँ के पास आता है, कुआँ प्यासे के पास नहीं जाता। मुझे प्यास थी इसलिए मैं आपके पास आया। महाराज! हम तो आपकी प्रजा हैं, काम आपका हो तब भी हम ही आपके पास आएँगें। आप बताइये क्या कार्य करना है। श्रेणिक ने कहा–देखो! आप मुझसे मना नहीं करना, जो वस्तु मैं तुमसे चाहता हूँ उसके बदले में जितना धन चाहिए उतना धन ले लेना पर मना नहीं करना। राजन्! आप तो हमारे सम्राट हैं, आपके

लिए तो प्राण हाजिर हैं, आप कहो तो सही। सेठ जी! प्राण तो बहुत बड़ी चीज है, मुझे जो चाहिए वह बहुत छोटी सी चीज है और वह तो तुम्हारे पास बहुत इकट्ठी हो गयी है। वह क्या है महाराज? मैंने सुना है तुम तीनों संध्याकाल में सामायिक करते हो, मुझे आपकी एक समय की सामायिक चाहिए, अब आप यह बताइए कि उसके बदले तुम्हें कितनी स्वर्णमुद्रा चाहिए। पूनिया सेठ ने हाथ जोड़े, क्षमा माँगी, महाराज! वह मैं आपको नहीं दे सकता। राजा ने कहा–क्या तुम नहीं जानते कि किससे मना कर रहे हो, इसके अपराध में तुम्हें दण्ड प्राप्त हो सकता है। हाँ महाराज! आप कोई ज्यादा बड़ा दण्ड नहीं दे सकते, एक छोटा सा दण्ड दे सकते हैं कि इस आत्मा को शरीर से अलग कर सकते हैं, मुझे इसकी परवाह नहीं है।

राजा ने कहा–तुम इतने वर्षों से तीन समय की सामायिक करते आ रहे हो, इतनी सारी इकट्ठी हो गई होंगी उनमें से बस एक ही तो माँग रहा हूँ और बदले में जितना चाहिए उतना सोना ले लो। राजन्! क्षमा कीजिये, लगता है अभी आपने सामायिक के स्वरूप को समझा नहीं है। आत्म परिणामों की निर्मलता सामायिक है। राग-द्वेष को मन्द करके अपना मन शुद्ध कर लेना, प्रभु भक्ति में लगा लेना, आत्मा के चिन्तन में लगा लेना, आत्मा के अंदर में जो आनंद आ रहा है वह सामायिक है, बताओ राजन्? मैं वह आपको कैसे दे सकता हूँ। राजन्! आपने अपने पुत्र को गोद में लिया, उसे दुलार दिया और प्रेम वात्सल्य में आपको जो आनन्द आया क्या वह आप किसी को दे सकते हैं? अथवा कुछ भी व्यंजन खाया उससे आपको जिस आनंद की अनुभूति हुई वह स्वाद-भाव, बन्धाभाव क्या आप दूसरों को दे सकते हैं। जैसे अग्नि में से अग्नि की उष्णता को नहीं निकाला जा सकता है, जल में से जल की शीतलता अलग नहीं की जा सकती, शक्कर में से उसकी मिठास अलग नहीं की जा सकती, आकाश में से उसका अमूर्तपना अलग नहीं किया जा सकता, पुद्गल में से मूर्तपना अलग नहीं किया जा सकता, जीव में से चेतना अलग नहीं की जा सकती है, ऐसे ही मेरी अनुभूति है सामायिक, उसे आपको नहीं दे सकता। महाराज जैसे आप अपनी अनुभूति किसी को नहीं दे सकते हैं ऐसे ही मैं भी अपने अनुभूति देने में असमर्थ हूँ। राजा श्रेणिक ने कहा– अच्छा! सामायिक यह कहलाती है।

महानुभाव! उसी सामायिक का स्वरूप आचार्य महाराज ने यहाँ बताया कि **चतुरावर्त्तः** – चार दिशाएँ होती हैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर। सामायिक करने वाला व्यक्ति खड्गासन

में, शरीर- वस्त्रादि से ममत्व भाव हटाकर पहले 27 श्वासोच्छ्वास पूर्वक नौ बार णमोकारमन्त्र का जाप करे, पुनः हाथ जोड़कर एक दिशा में तीन आवर्त्त करे, पुनः जमीन पर मार्जन कर गौआसन लगाकर नमोस्तु करे। पुनः खड़े होकर दक्षिण दिशा में कायोत्सर्ग करे आवर्त्त युक्त प्रणाम करे, पुनः पश्चिमदिशा में व उत्तरदिशा में भी यही क्रिया करें। यह चतुरावर्त्त कहलाता है। इसके पश्चात् **सामायिकः** – वह दो आसन से सामायिक करता है या तो खडगासन मुद्रा में या पद्मासन मुद्रा है। 84 प्रकार के अन्य भी आसन होते हैं, वे अपने शरीर को कष्ट देते हुए समता को बनाए रखते हैं। श्राविकाएँ मुख्यतः पद्मासन से सामायिक करें, आर्यिकाएँ भी मर्यादापूर्वक पद्मासन से सामायिक करें। ऐलक-क्षुल्लक जी अपने वस्त्र निकालकर भी सामायिक कर सकते हैं किन्तु कक्ष में मर्यादापूर्वक, ऐसा नहीं कि जंगल में वस्त्र निकाल दिए, हवा चली और वस्त्र उड़ गये, या कोई पशु आया वह उठाकर ले जाए। तो क्षुल्लक-ऐलक जी भी सामायिक खड़े होकर या बैठकर कर सकते हैं, वे मुनि बनने का अभ्यास कर सकते हैं।

आगे कहा **'त्रियोग-शुद्धः'** तीनों योगों को शुद्ध करके अर्थात् जब सामायिक पर बैठें तो शरीर की शुद्धि हो, ऐसा नहीं कि शरीर पर गंदगी लग रही हो, सामायिक से पहले हाथ-पैर धोयें या पसीना आदि अच्छे से पोंछ लें। वचनों की शुद्धि करना अर्थात् सामायिक के जो भी भक्तिपाठ आदि है वे शुद्ध उच्चारण करना, इतना धीमे भी न करें कि मन न लगे, इतनी भी जल्दी भी न पढ़ो की Express की स्पीड फेल कर दें। और न इतनी चिल्ला कर पढ़ें की दूसरों को डिस्टर्ब हो। मध्यम स्वरों का प्रयोग करें। पुनः मन की शुद्धि करना, उस समय मन में कोई अशुभ विचार नहीं लाना, जैसे उस समय कोई कटुक, निंद्य, परुश वचन नहीं निकलते ऐसे ही मन में असद् विचार नहीं आने चाहिए, सावद्य के विचार, किसी को कष्ट देने का, निंदा करने का कोई भी अशुभ विचार नहीं आना चाहिए। इस प्रकार तीनों संध्याकालों में नियमपूर्वक सामायिक करना। वह श्रावक चारों दिशाओं में आवर्त्त सहित प्रणाम कर, मन की निर्मलता पूर्वक जो सामायिक करता है उस समय जो आनंद आता है वह आनंद देवों के लिए भी दुर्लभ है। व्रती-प्रतिमाधारी ही इस प्रकार का आनंद लेने में समर्थ होता है।

इस प्रकार आचार्य महोदय ने इस तीसरी प्रतिमा के स्वरूप को यहाँ बताया कि यह सामायिक उस व्रती के लिए मूलगुण के समान है। आचार्य भगवन् वसुनन्दी जी मुनिराज ने वसुनन्दी श्रावकाचार में कहा–

जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाण णिच्चं पि।

जं वंदणं तियाले कीरइ सामायियं तं खु॥

जिनवचन, जिनशास्त्र, जिनधर्म, जिनचैत्य, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व सर्वसाधु ये पंच परमेष्ठी तथा जिनमंदिरों की त्रिकाल वन्दना करना सामायिक है। व्यवहारनय से यही सामायिक की विधि है परंतु निश्चय से आर्त्तरौद्र ध्यान का त्याग करना सामायिक है। द्वितीय प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत है, उसका शीलव्रत रूप में पालन होता है, उसमें 48 मिनट और त्रिकाल सामायिक का नियम नहीं है परंतु सामायिक प्रतिमा में त्रिकाल सामायिक करना तथा दो घटिका तक करना परमावश्यक है। सामायिक के समान कोई दूसरे भाव नहीं हैं, आत्म-कल्याण के सारे भाव सामायिक में समाहित हैं, अतः समताभाव करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सामायिक प्रतिमा का पालन प्रतिदिन उत्तम व निर्मल भावों द्वारा सही विधिपूर्वक करनी चाहिए।

इस प्रकार तृतीय प्रतिमा सामायिक प्रतिमा का स्वरूप यहाँ संक्षेप में जाना। आज बस इतना ही।

॥ श्री शान्तिनाथ भगवान् की जय ॥

प्रोषध-प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि, मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी, प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः॥140॥

अन्वयार्थ–मासे-मासे – प्रत्येक माह के, **चतुर्षु-अपि पर्वदिनेषु** – चारों ही पर्व के दिनों में, **स्वशक्तिं-अनिगुह्य** – अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर, **प्रणिधिपरः** – शुभध्यान में तत्पर होता हुआ, **प्रोषधनियम-विधायी** – प्रोषध के नियम का विधान करता है, वह नियम से, **प्रोषधानशनः** – प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी श्रावक होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सप्तम व्रताधिकार में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन देख रहे हैं। यहाँ श्रावक की आचार संहिता का वर्णन करते हुए वैज्ञानिक तरीके से स्पष्ट कर रहे हैं कि चतुर्थ प्रतिमा, जिसका नाम है 'प्रोषधोपवास प्रतिमा' इसका क्या महत्व है, इस प्रतिमा का पालन करने से क्या लाभ है? शारीरिक लाभ, मानसिक लाभ, धार्मिक लाभ, सामाजिक लाभ, आध्यात्मिक लाभ, सैद्धान्तिक लाभ आदि कैसे-कैसे लाभ हो सकते हैं। तो यहाँ पर आचार्य महोदय वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए इसका स्वरूप बता रहे हैं–

आचार्य महोदय ने कहा 'पर्वदिनेषु' पर्व के दिनों में। अब कोई प्रश्न पूछे कि पर्व के दिनों की बात क्यों कही? हमें ऐसा लगता है कि सब दिन एक जैसे हैं। जैसे रविवार से लेकर शनिवार तक के सब दिन एक जैसे लगते हैं। ऐसा उन्हें लगता है जिनके जीवन में कोई विशेषता नहीं, जिनके जीवन में विशेषता है उनके जीवन में दिन भी विशेष होते हैं। विद्यार्थियों से पूछिए, सरकारी कर्मचारियों से पूछिए सातों दिन एक जैसे हैं कि अलग-अलग, वे कहेंगे रविवार विशेष है क्योंकि छुट्टी रहती है। व्यापारी से पूछिए तो जिस दिन उसका मार्केट बंद रहता है वह एक दिन उसके लिए विशेष है। या उस व्यक्ति से पूछिए जो मुनिसुव्रतनाथ स्वामी का भक्त है उसके लिए शनिवार का दिन विशेष है, जो चन्द्रप्रभ भगवान् का भक्त है वह सोमवार को विशेष कहता है, जो वासुपूज्य स्वामी की भक्ति विशेष करता है वह कहता है मेरे लिए मंगलवार विशेष है, कोई शांतिनाथ भगवान् की भक्ति करता है तो कोई अजितनाथ भगवान् की, कोई पद्मप्रभ की कोई आदिप्रभु की तो सबकी अपनी-अपनी अलग-अलग अपेक्षा है। जिसमें कोई विशेषता होती है वह दिवस, मास, पक्ष, तिथि, दिन, नक्षत्र सब विशेष होते हैं।

यदि हम सामान्यतया देखें स्वर्ग के देव की अपेक्षा से या नरक के नारकी की अपेक्षा से तो दिनों में कहीं कोई अन्तर नहीं आ रहा। ऐसा लग रहा है सब दिन एक बराबर हैं। वहाँ पर ज्योतिषी देवों का चर क्षेत्र नहीं है जो सूर्य-चन्द्र का उदय हो, अस्त हो, दिवस आया, रात्रि आ गई, नक्षत्र बदलें। मध्यलोक के दिवस और रात्रि के माध्यम से ही स्वर्ग-नरक में दिनों की गणना की जाती है, पक्ष, मास, अयन, ऋतु, वर्ष, युग, शताब्दी आदि जो भी समय की ईकाइयाँ हैं उन सबकी गणना की जाती है।

महानुभाव! जैसे एक सामान्य कृषक के लिए भी कुछ दिन विशेष होते हैं। अब फसल आ गई विशेष समय, दूसरी फसल आ गई विशेष समय, अब बोने का समय आ गया विशेष समय, सब दिन एक जैसे नहीं होते। यहाँ पर धार्मिक दृष्टि से आचार्य महोदय ने कहा कि जिनशासन के अनुसार प्रत्येक माह के शाश्वत चार पर्व हैं अष्टमी-चतुर्दशी। एक पक्ष में लगभग एक अष्टमी-एक चतुर्दशी आती है। आप कहेंगे लगभग क्यों कहा? लगभग इसलिए कहा कि कभी-कभी तिथि दो भी हो जाती हैं, कभी-कभी टूट भी जाती है। इसका आशय यह है सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक जो रहे वह पूर्ण तिथि कहलाती है। कभी वह सूर्योदय में कम हो या एक तिथि दो सूर्योदय देख ले तो द्वित्व मानी जाती है। कभी सूर्योदय में 5:30 घड़ी न रह पाए, उससे कम रहे तो तिथि टूटी मानी जाती है।

अष्टमी-चतुर्दशी ये दोनों दिन कुछ खास हैं। जैसे विद्यार्थी के लिए व कर्मचारी के लिए रविवार विशेष है। उस दिन वे घूमने जाएँगे या अपना कोई विशेष कार्य सम्पन्न करना होगा तो रविवार को ही करेंगे। दिल्ली जैसे नगरों में तो लोग कहते हैं रविवार ही सबसे अच्छा दिन है, इस दिन ही हम अपने कार्य करते हैं। चाहे किसी रिश्तेदारी में जाएँ, शादी-विवाह में जाएँ, कोई और भी काम हो तो लोग रविवार को विशेष मानते हैं ऐसे ही धर्मात्मा अष्टमी-चतुर्दशी को विशेष स्तुति, भक्ति, स्वाध्याय, उपवास, त्याग आदि करता है। विशेष दिन में विशेष कार्य करने से विशेष फल की प्राप्ति होती है। जिसके लिए जो दिन, जो समय, जो घड़ी विशेष हो उसके लिए वह विशेष फल देने वाली होती है।

जिस तरह से चौघड़िया भी अलग-अलग होते हैं। किस चौघड़िया में कौन सा कार्य करें तो ठीक होता है। होरा भी अलग-अलग होते हैं, किस होरा में कौन सा कार्य करना ठीक रहता है। लग्न भी अलग-अलग होती है, वार का फल भी अलग-अलग होता है, कौन से वार में कौन सा कार्य करना चाहिए। तिथि भी अलग-अलग होती हैं, कौन सी तिथि नंदा है, भद्रा है, रिक्ता है, पूर्णा है, जया है, किसका क्या फल है सब अलग-अलग होते हैं। मास

भी अलग-अलग होते हैं, कौन से मास में कौन सा कार्य करना चाहिए। कब गुरु का उदय है कब गुरु अस्त है, कब शुक्र का उदय है कब शुक्र अस्त है, कब कौन सा ग्रह वक्री है, कब कौन सा ग्रह किस राशि पर उच्च का है या नीच है, कब वह शत्रुग्रही हुआ कब वह मित्रगृही हुआ इन सभी का प्रभाव पड़ता है। आप इसके संबंध में किसी ज्योतिषी से पूछेंगे तो वह कहेगा काल सर्वोपरि है, किस समय में कौन सा कार्य 100% सफलता देगा; किस समय 100% असफलता देगा; कार्य के प्रारंभ होने से पहले कह देता है। इससे सिद्ध होता है कि काल का अपने आपमें विशेष महत्व है।

आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी जी की दृष्टि में माह में चार पर्व के दिन हैं अष्टमी व चतुर्दशी। पूर्व में हम शास्त्र पढ़ते हैं तो उल्लेख मिलता है कि कोई श्रेष्ठी नित्य दस स्वर्ण मोहरों से पूजा करता है। अष्टमी के दिन बीस मोहरों से करता है, चतुर्दशी को 40 से करता है, अमावस्या को इतने से, पूर्णिमा को चन्द्रमा पूरा होता है तो इतनी मोहरों से पूजा करता है। सबका अलग प्रभाव पड़ता है इसका प्रभाव प्रत्यक्ष में देखा जाता है। चन्द्रमा की कलाओं के बढ़ने से समुद्र में जल बढ़ता है, घटने से जल घटता है उसका प्रभाव पूरे वातावरण पर पड़ता है तो उस वातावरण में जीने वाले जीवों पर प्रभाव क्यों नहीं पड़ेगा। इसलिए सिद्ध है कि तिथियों का भी प्रभाव पड़ता है। विशेष तिथि पर यदि हम विशेष साधना करते हैं तो विशेष फल की सिद्धि होती है। जो भी मंत्र सिद्ध करने वाले पुरुष हैं वे विशिष्ट तिथि, नक्षत्र, वार में कार्य करते हैं। अन्य भी मुहूर्त आदि का महत्व होता है मकान बनाना, व्यापार शुरू करना, मुण्डन का कार्य, विद्यार्थी का कार्य, कुँआ खुदवाने का कार्य, दीक्षा लेना है, दीक्षा देना है या कर्ज लेना है, कर्ज देना है यहाँ तक कि वस्त्र-आभूषण धारण करने का भी मुहूर्त्त है, सबका अपना-अपना अलग प्रभाव होता है।

तो यहाँ पर संक्षेप में हम यही जानें कि पर्व के दिन अपने आपमें विशेष होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने घर में पूड़ी-हलवा, पकवान-मिष्ठान आदि बनाकर कभी भी खाये तो उनका स्वाद तो वैसा ही होता है किन्तु पर्वों के दिन में विशेष रूप से क्यों खाते हैं। पर्व के चार-आठ दिन पहले ही भूमिका बनने लगती है, आनंद आने लगता है, वही मिष्ठान्न बाद में खाएँ तो उनका आनंद क्यों नहीं आता। एक वृद्ध पिता भी अपने इकलौते पुत्र की शादी में नृत्य करने लगता है क्यों? यदि वह शादी के 15-20 दिन पहले या बाद में चौराहे पर नृत्य करे तो? कर ही नहीं सकता। भक्त अपने भगवान् के सामने पूजा-भक्ति कर रहा है तब वह

भक्ति नृत्य में पागल हुआ जा रहा है और उस समय संगीत को बंद करें, विधान नहीं हो रहा हो, दसलक्षण पर्व नहीं हैं, भाद्र का महिना नहीं है फिर वह वैसा काम क्यों नहीं कर पाता, इससे सिद्ध होता है समय का अपने आपमें बहुत बड़ा महत्व होता है।

आचार्य महोदय ने कहा पर्व के दिन है अष्टमी और चतुर्दशी। व्यक्ति की अनादिकालीन धारणा है कि अष्टमी को उपवास करने से आठ प्रकार के कर्मों से मुक्ति प्राप्त होती है, वह जीव सिद्धों के आठ गुणों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। जो चतुर्दशी का उपवास करता है वह चौदह गुणस्थानों को पार करने में समर्थ होता है उसकी ऐसी धारणा है और शास्त्रों में भी उल्लेख है, इसलिए यह दोनों शाश्वत पर्व हैं।

तो कहा 'पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे-मासे' प्रत्येक माह की दोनों अष्टमी-दोनों चतुर्दशी। ऐसा नहीं कि मैं अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास तो करूँगा किन्तु चैत्र-वैसाख-ज्येष्ठ-अषाढ इन चार महिनों को छोड़कर के। क्योंकि इन माह में गर्मी पड़ती है। चातुर्मास में कर लूँगा, आप कहो तो चार के आठ कर लूँगा। नहीं, प्रत्येक माह करने हैं। ऐसा नहीं होता कि हमें दो-चार दिन बहुत काम है तो दो-चार दिन का भोजन हम एक ही दिन में कर लें। या चार-पाँच दिन हम व्यस्त रहेंगे तो छठवें दिन ही भोजन कर लेंगे। ऐसा नहीं हो सकता। जैसा समय आपने अपने भोजन के लिए नियत किया है कि दिन में दो बार भोजन लेना है और कब लेना है वह समय भी नियत है, भोजन के समय को टालकर भोजन करने पर स्वास्थ्य प्रतिकूल हो जाएगा, आपकी समस्त जीवनचर्या अस्त-व्यस्त हो सकती है। इसलिए उपवास आदि भी समय पर ही करें।

यहाँ पर दिया चौथी प्रतिमा का पालन करने वाले व्यक्ति को प्रत्येक मास की अष्टमी-चतुर्दशी को शक्ति अनुसार उपवास करना चाहिए। जब अंदर से विशुद्धि बढ़ती है तो उस विशुद्धि से वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम बढ़ता चला जाता है, शक्ति आती है। जिस व्यक्ति ने जीवन में कभी एकासन नहीं किया, पहली बार दीक्षा के समय का उपवास किया, उस व्यक्ति में सामर्थ्य अब कहाँ से आ गई। सामर्थ्य अंदर से आई। हमारी आत्मा में अनंत शक्ति है। जो व्यक्ति घबराता है, कहता है मैं नहीं कर सकता तो वह नहीं कर पाता इसलिए अपने जीवन में कभी भी कम से कम अपने लिए तो नकारात्मक नहीं बोलो कि मैं ऐसा नहीं कर सकता। अच्छे कार्य के लिए बोलो हाँ, मुझे उम्मीद है, विश्वास है कि मैं ऐसा कर सकता हूँ या ऐसा करके रहूँगा, मुझे जीवन में ऐसा अवसर प्राप्त होगा ही होगा। ऐसी सकारात्मक सोच रखो।

नकारात्मक सोच हमारी शक्ति को क्षीण करती है, हमारे उद्देश्य से भटकाती है और हाथ में आयी हुई सफलता को भी वैसे ही नष्ट कर देती है जैसे सछिद्र घट में से जल निकल जाता है। नकारात्मक सोच से हमारी कार्य शक्ति, ऊर्जा शक्ति सब नष्ट हो जाती है इसलिए भगवान् से कहो कि अभी तो मैं अष्टमी-चतुर्दशी को एक बार भोजन व शाम को पानी लेता हूँ किन्तु अब मैं शाम को पानी नहीं लूँगा या एक बार भोजन भी अल्प करूँगा या अब से मैं बिना भोजन के अभ्यास करूँगा। ज्यों-ज्यों अभ्यास करता जाता है त्यों-त्यों अंदर से शक्ति आती जाती है।

यहाँ कहा-पर्व के दिनों में **'स्वशक्तिं अनिगुह्य'** अपनी शक्ति को न छिपा करके। शक्ति तो है उपवास करने की, किन्तु अरे! हम ही अकेले उपवास क्यों करें वे भी तो प्रतिमाधारी हैं, व्रती हैं वे तो दो-दो बार भोजन कर रहे हैं और हम उपवास करें, हम नहीं करेंगे। अरे भाई! उनकी शक्ति नहीं है, तुम उनसे होड़ क्यों करते हो। तुम साधना करोगे तो उसका फल तुम्हें मिलेगा, तुम्हारी साधना से तुम्हारे कर्म नष्ट होंगे। अपनी शक्ति को छिपाओ मत। और ऐसा भी नहीं करना कि शक्ति नहीं है फिर भी अरे! सब तो कर रहे हैं हम पीछे क्यों रहें। ऐसा करके एक दिन तो कर लोगे किंतु दूसरे दिन चार बार लेना पड़ेगा।

एक बार कहीं Blood donate किया जा रहा था। उस रक्तदान में बड़ी लम्बी लाइन लगी थी। एक दुबला-पतला व्यक्ति आ गया कहने लगा, मैं भी रक्तदान करूँगा। लोगों ने उसे बहुत समझाया। भैया! तुम रक्तदान नहीं कर पाओगे, तुम बहुत कमजोर हो। किन्तु वह नहीं माना, सब रक्तदान कर रहे हैं, मैं ही अकेला क्यों रह जाऊँ। बहुत समझाया किंतु वह नहीं माना, जिद पर अड़ गया, मैं दूँगा-मैं दूँगा। डॉक्टर ने कहा ठीक है जब नहीं मानता तो दे दे। इसके शरीर में से एक बोतल खून निकाल लेते हैं। पूरी बोतल भर भी नहीं पाई थी उससे पहले ही वह बेहोश होकर गिर पड़ा। लोगों ने उसे हिलाया-डुलाया, पानी डाला, हवा की किन्तु वह होश में ही नहीं आया। उसके बाद उसे होश में लाने के लिए एक बोतल खून चढ़ाया, तब भी होश में नहीं आया, दूसरी बोतल चढ़ाया तब भी होश में नहीं आया, तीसरी बोतल चढ़ाया फिर तीन बोतल चढ़ाने पर वह होश में आया। तो ऐसा नहीं करना है कि आपने एक दिन तो जिद में आकर उपवास कर लिया और फिर चार दिन तक पड़े हैं, एकासन तो क्या 3-4 बार ही लेना पड़ रहा है। तो साधना भी शक्ति के अनुसार करना।

महानुभाव! शक्ति अंतरात्मा से आती है। तेल जब भी निकलता है तिल में से निकलता है, घी जब भी निकलता है तो दूध में से निकलता है ऐसे ही हमारी आत्मा की शक्ति बाहर के पदार्थों को खाने से नहीं आती है, हमारी आत्मा की शक्ति हमारे क्षयोपशम के बढ़ने से आती है, विशुद्धि के बढ़ने से आती है। विशुद्धि आहार करने से बढ़ रही है या त्याग करने से बढ़ रही है। त्याग से जो विशुद्धि बढ़ रही है उससे आत्मा की शक्ति बढ़ेगी और भोजन से पौष्टिक पदार्थों के भक्षण से जो शक्ति बढ़ेगी तो शरीर की शक्ति बढ़ेगी इसलिए आत्मा की शक्ति का विकास करने के लिए पर्व के दिनों में उपवास अवश्य करना चाहिए। व्रती हों या अव्रती सभी को अभ्यास करना चाहिए। चतुर्थ प्रतिमा के विषय में सक्षेप में समझा। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सचित्तविरत प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

मूलफलशाकशाखा - करीरकन्दप्रसूनबीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥141॥

अन्वयार्थ–दयामूर्तिः – दयालु श्रावक, **आमानि** – कच्चे, **मूलफलशाकशाखाकरीरकन्द प्रसूनबीजानि** – मूल, फल, शाक, शाखा, कोपल, कन्द, प्रसून व बीजों को, **न अत्ति** – नहीं खाता है, **सः अयं सचित्तविरतो** – वही सचित्तविरत पञ्चम प्रतिमाधारी श्रावक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सप्तम अधिकार में पंचम प्रतिमा का स्वरूप यहाँ कहेंगे। जो व्यक्ति एक से चार प्रतिमा का स्वरूप जानकर-समझकर उसे अच्छी तरह से पालन करता है तब उसके मन में भावना होती है कि मैं और आगे बढ़ूँ, फिर वह पाँचवी प्रतिमा के स्वरूप को समझकर के उसे पालने की तीव्र इच्छा मन में रखता है। 5वीं प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए यहाँ कहा–जो श्रावक दयामूर्ति होता है, करुणा से भरा होता है, वह स्वप्न में भी जीव की हिंसा नहीं करता। और उसे जब ज्ञात होता है कि किस वस्तु के सेवन से हिंसा का दोष लगेगा, कौन-कौन सी वस्तु अभक्ष्य हैं तो वह उन वस्तुओं का त्याग कर देता है।

यद्यपि अभक्ष्य का त्याग पहली प्रतिमाधारी बनने के पहले उसने कर दिया था। वहाँ पर आचार्य महोदय ने अभक्ष्य की व्याख्या करते हुए मद्य-माँस-मधु त्याग का कथन किया था, उसके साथ-साथ नवनीत, कुसुम आदि को लिया कि इसका सेवन नहीं करता। फिर उन्होंने कहा त्रसघात जिसमें होता है वैसे पदार्थ मत खाओ। जिसमें बहुत से स्थावर जीवों की हिंसा होती हो वह पदार्थ मत खाओ, जो मादक हैं उन्हें मत खाओ, जो अनुपसेव्य हैं, लोकव्यवहार के विरुद्ध हैं, निंद्य माने जाते हैं उनका भक्षण मत करो और जो प्रकृति के विरुद्ध हैं उनका भी सेवन मत करो। चाहे आगम के अनुसार भक्ष्य हैं, चाहे लोकव्यवहार के द्वारा भी निंद्य नहीं हैं सेवन करने के योग्य हैं, लोकसम्मत्त हैं किन्तु अपनी प्रकृति के (शरीर) विरुद्ध हैं तो उन पदार्थों का सेवन भी नहीं करना चाहिए। यदि कोई आसक्तिपूर्वक उसका सेवन करता है, क्योंकि प्रकृति विरुद्ध पदार्थों का सेवन वही करेगा जिसकी उसमें आसक्ति है, मूर्च्छा है।

एक बार किसी ने पूछा–यदि कोई त्यागी-व्रती है, वह भोजन करने बैठा और कोई वस्तु उसकी प्रकृति के विरुद्ध है और दूसरा पदार्थ उसकी थाली में नहीं है तो वह क्या करे? उस समय वह अपनी प्रकृति के विरुद्ध भोजन को न करे, प्रकृति विरुद्ध आहार को छोड़ देवे। बाद में अनुकूल मिलता है तो ग्रहण करे। प्रकृति विरुद्ध आहार करना अधिक हानिकारक है

बजाय इसके कि आहार न करे। आहार न करने से क्षुधा की तृप्ति नहीं हो रही और जठराग्नि तीव्र हो रही है, फिर भी अन्य समय में अन्य प्रकार के पदार्थ का सेवन किया जा सकता है किन्तु प्रकृति विरुद्ध पदार्थ का सेवन करने से शरीर की कार्यशीलता घटती है, शरीर की रोगनिरोधक क्षमता घटती है और शरीर एक नहीं अनेक रोगों का घर बन जाता है इसलिए जो व्यक्ति जानते हैं, जिनकी धारणा है, मान्यता है कि यह वस्तु मेरे लिए हानिकारक है तो उसका सेवन मत करो, उसे छोड़ दो।

यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं कि पाँचवी प्रतिमा वाला श्रावक व श्राविका इतना करुणा- दया से युक्त होता है कि पग-पग पर जीवरक्षा करने का पुरुषार्थ करता है, वह उद्यमशील होता है। चलने में, बोलने में, भोजनादि करने में, कोई वस्तु रखने-उठाने में अथवा मल-मूत्र का त्यागादि करने में भी वह विशेष सावधानी रखता है कि जीवघात नहीं हो जाए। इसलिए कहा ''सचित्तविरतो दयामूर्ति'' जो सचित्त पदार्थों के सेवन करने से विरक्त हो गया है वह वास्तव में दयामूर्ति है, करुणावान् है, धर्ममूर्ति है। यह एकार्थवाची शब्द हैं दया ही धर्म है, अहिंसा ही धर्म है। जो दयामूर्ति है उसे धर्म मूर्ति कहने में कोई हानि नहीं। श्रावक अभक्ष्य पदार्थों का त्याग किए बिना जिनशासन के उपदेश को भी सुनने का अधिकार नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी जी ने भी कहा-देशना उसको देना चाहिए जो मद्य-माँस-मधु का त्याग कर चुका हो, वही जिनगृह में प्रवेश करने का अधिकारी है, वही शास्त्र स्वाध्याय का अधिकारी है, वही निर्ग्रंथ गुरुओं के चरण स्पर्श करने का अधिकारी है। अन्यथा गंदे पदार्थों का सेवन करने वाले निम्न जाति के लोग कहलाते हैं। इसीलिए ऐसे निम्नवर्ग के लोग जो चाण्डालादि हैं उनको परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरुओं को स्पर्श करने का अधिकार नहीं होता है। ऐसे ही निम्न पदार्थों का सेवन करने वालों को भी अधिकार नहीं।

यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं—पंचमप्रतिमा का पालन करने की भावना रखने वाला वह पुण्यवान् श्रावक वा श्राविका किस-किसका सेवन नहीं करता तो पहली बात कही-**'मूल'** वह मूल का सेवन नहीं करता। क्योंकि मूल को उखाड़ने से सकल वृक्ष नष्ट हो जाता है और मूल से जिसने वृक्ष को उखाड़ा ऐसा व्यक्ति कृष्णलेश्या वाला कहलाता है। व्रती का पाँचवा गुणस्थान है वह कृष्णलेश्या क्यों रखेगा, वह तो शुभलेश्या से युक्त होता है, पीत-पद्म शुक्ललेश्या से युक्त होता है। कृष्णलेश्या कदाचित् आ जाए तो शीघ्र ही उससे बचने की कोशिश करता है। जैसे कोई व्यक्ति अपना पैर अग्नि पर पड़ जाए तो तुरंत ही उसे उठाता है। कोई व्यक्ति पैर में काँटा लग जाए तो शीघ्रातिशीघ्र उसे निकालने की कोशिश करता है, किसी के बंधन में बंधा हो तो शीघ्र तोड़ने की कोशिश करता है ऐसे ही वह व्यक्ति जो दया से सहित है उसके परिणाम

यदि संक्लेशित बनते हैं, कृष्ण लेश्या के परिणाम बनते हैं तो शीघ्र उनसे बचता है। वह व्यक्ति जानता है कि जैसे अग्नि में पड़ा पैर जल जाएगा ऐसे ही कृष्ण लेश्या के परिणामों का परिमार्जन नहीं किया, परित्याग नहीं किया तो मैं अशुभ कर्म का तीव्र आस्रव कर लूँगा। जो व्यक्ति मूल खाने की भावना रखता है उसके परिणाम अच्छे नहीं होते क्योंकि उस जीव का तो समूल नाश हो गया।

तो कौन सा मूल खा सकते है? देखो-संसार में ऐसा कोई वृक्ष नहीं है जो औषधि के काम नहीं आए, वृक्ष की टहनी, पत्ती, शाखा, पुष्प, जड़, फल आदि सब औषधि के काम आते हैं। किसी वृक्ष की जड़ औषधि में काम आती है तो उसकी जड़ उतनी ही ले लो जिससे वृक्ष सूखे नहीं, वृक्ष की मृत्यु न हो, अपनी औषधि का काम चला लो किन्तु जो जड़ ली है वह भी गीला नहीं ले सकते, उसे भी सुखाकर ही प्रयोग में ले सकते हैं। उसे काष्ठमूल कहते हैं। यह कन्दवाला मूल नहीं है क्योंकि कन्द वाले मूल को तो खा ही नहीं सकते किंन्तु जो काष्ठमूल है उसे खा सकते हैं। जैसे माना कि नीम की जड़ है, वह काष्ठ है या बबूल की जड़ कहीं औषधि में काम आए या कई वृक्ष हैं, प्रत्येक वनस्पति है वह सप्रतिष्ठित तो है किन्तु वह साधारण नहीं है। ऐसे वृक्षों की काष्ठरूप वनस्पति है उस जड़ का काढ़ा बनाकर पीते हैं, कूटकर के औषधि रूप में प्रयोग में लाते हैं। उसकी उतनी जड़ निकालने से उस वृक्ष की मृत्यु नहीं होती।

'फल'-वह श्रावक जैसे जड़ कच्ची नहीं खा सकता ऐसे ही कच्चे फलों को भी नहीं खाता। फलों को सूखने पर, पक जाने पर, लवण आदि मिलाने पर, छिन्नादि करने पर, उसे प्रासुक किया जाता है तब उन्हें खाया जाता है। ऐसे ही जड़ आदि हैं उन्हें सुखाकर उन्हें भक्ष्य बनाया जाता है। फल भी कौन से खाने हैं, अति तुच्छ फल नहीं खाने, जो फल परिपक्व हो गए हैं उन्हें खाना चाहिए। वह सब्जी, फल जिनके रोंये होते हैं कच्चे होते हैं वह सप्रतिष्ठित हैं उसके आश्रय से जीव रह सकते हैं, वह श्रावक दयामूर्ति हैं तो कच्चे-कच्चे फल कैसे खाएगा। ग्रामीण क्षेत्रों में तो आपने देखा होगा लोग कहते हैं भाई! कच्चे फल न तोड़ों, कोई बालिका कच्चे फल तोड़े तो कहते हैं नहीं बेटा, दोष लगता है। जो महिला या बालिका कच्चे फल तोड़ते हैं तो संभव है उसके जीवन में ऐसे कर्म का आस्रव हो जाए कि उसका गर्भ परिपक्व अवस्था को प्राप्त न हो पाए। बहुत बड़ा दोष लगता है इसीलिए उन्हें तोड़ने को मना करते हैं। तो आचार्य महोदय कह रहे हैं ऐसे कच्चे, अति तुच्छ फल या सब्जी को नहीं खाना चाहिए जब वे पक जाएँ तब खा सकते हैं।

'शाक'–सब्जी–भाजी जिनके छोटे–छोटे पत्ते हैं, कच्चे पत्ते हैं उन्हें नहीं खाना चाहिए। जिस भाजी का पत्ता बड़ा हो गया चाहे सरसों का पत्ता है, चाहे पालक का पत्ता है, मैथी का पत्ता है आदि उन पत्तों के ले सकते हैं किन्तु पत्ता अगर छोटा है तो उसे तोड़कर नहीं ले सकते हैं। अब चने का, मैथी का पत्ता छोटा–छोटा ही होता है तो वहाँ यह देखना है कि वो अभी कच्चा है या परिपक्व। परिपक्व है तो प्रासुक करके उसका सेवन किया जा सकता है यदि कच्चा है तो उसके आश्रित संभावित जीव रहते हैं इसलिए उसका सेवन वह श्रावक नहीं करता।

'शाखा'–कई वृक्षों की टहनियाँ सब्जी के रूप में काम में ली जाती हैं। सरसों की भाजी बनाते हैं। यदि छोटे–छोटे हैं तो सेवन योग्य नहीं है, परिपक्व हुआ है तो उस दशा में श्रावक उसे निकालकर सेवन करते हैं किंतु कच्चे का सेवन नहीं करते। यहाँ कच्चे का आशय ऐसा नहीं कि जो अग्निपक्व नहीं है उसे कच्चा कहें, नहीं, यहाँ कच्चे का आशय है जिसका पूर्ण विकास नहीं हुआ।

'करीर' कोपलें। आपने देखा होगा नीम के पेड़ पर छोटी–छोटी सी कोंपल आदि आती हैं या पीपल की कोंपलें आती है या अन्य पौधों पर लाल–लाल कोंपलें आती हैं, वे बाद में हरे वर्ण को प्राप्त करती हैं, वे तुच्छ हैं, उनका विकास नहीं हुआ इसलिए वे कोंपलें नहीं खा सकते। कोई कहे जब वे कोंपले बड़ी हो जाएँ, उन्हें तोड़कर गर्म कर लें पानी में उबाल लें तब खा सकते हैं क्या? नहीं खा सकते। परिपक्व अर्थात् उसका पूर्ण विकास हो जाना चाहिए, यदि विकास हो जाएगा तो फिर वह पत्ता बन गया। जैसे लोग औषधि आदि में नीम आदि का प्रयोग करते हैं पर छोटी कोंपलों का नहीं बड़े पत्तों का प्रयोग करते हैं। पाँच प्रतिमा वाला श्रावक इन सबका प्रयोग विवेकपूर्वक करता है।

'कंद'–कंद का आशय यहाँ जमीकन्द से नहीं लेना है, कन्द का आशय लेना है वृक्ष के नीचे जमीन में जो जड़ के सहारे से गाँठ आदि होती है। जैसे कि अदरक आदि। अदरक का सेवन नहीं कर सकते किंतु उसे सुखाने पर जब वह सोंठ बन जाती है तब उसका प्रयोग कर सकते हैं। या और भी कोई वृक्ष होते हैं जिनकी जमीन में गाँठ होती है वह औषधि के रूप में प्रयोग की जा सकती है किन्तु सचित्त नहीं, सुखाने पर उसे प्रयोग में लाया जा सकता है।

'प्रसून' सचित्त प्रतिमाधारी श्रावक जो अपक्व पुष्प हैं, छोटी–छोटी कलियाँ हैं उनका सेवन नहीं कर सकता किंतु जो फूल पक गया, सूख गया, नीचे गिर गया उसे औषधि के

रूप में प्रयोग किया जा सकता है जैसे–केसर, लंवग आदि। जो दयामूर्ति है वह चाहता है मेरे माध्यम से किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचे, कोई भी पीड़ा न हो, दु:ख न हो, इस प्रकार की भावना रखता है।

'बीजानि'–वह कच्चे बीज नहीं खाता। गेहूँ, चना, मोठ, मटर, ज्वार आदि कोई भी बीज है। जिसको बोने पर पैदा हो जाए उनको नहीं खाते। फिर कैसे खाते हैं? या तो उसे उबालकर के, पीस करके या अन्य प्रकार से अचित्त करके खाता है, सचित्त को नहीं खाता।

'न आमानि योअत्ति'–जो इन उपरोक्त वस्तुओं को कच्चे रूप में, अपरिपक्व रूप में नहीं खाता है 'स अयं दयामूर्ति'–वह दया मूर्ति होता है। दयामूर्ति है तो समझो वही वास्तव में सचित्त से विरक्त माना जाता है, जिसके अन्दर में करुणा नहीं है केवल बाहर से लोकव्यवहार दिखाने के लिए वह यदि इस प्रकार का कार्य करता है तो उसकी पंचम प्रतिमा निर्दोष नहीं मानी जा सकती।

महानुभाव! पंचमप्रतिमा वाला श्रावक दयामूर्ति होता है वह अपनी हर क्रिया में विवेक का ध्यान रखता है। पानी कैसे छानना है, कैसे गर्म करना है, बिलछानी कहाँ डालना है, पानी की मर्यादा कितनी–कितनी है, कच्चे पानी की, थोड़े गर्मपानी की, उबले पानी की, छने पानी में लंवग आदि डली है तो उसकी कितनी मर्यादा है। वह सभी प्रकार की मर्यादाओं का ध्यान रखने में प्रवृत्ति करता है। इसी प्रकार से वह अन्य प्रकार की मर्यादा का ध्यान रखता है दूध, दही, तेल, अनाज की, बिना पानी के जो पदार्थ बनाए उसकी मर्यादा कितनी है, अन्न के पदार्थों की मर्यादा कितनी है, जिसमें जल पड़ा है उसकी मर्यादा कितनी है, मसालों की मर्यादा कितनी है इन सबका वह ध्यान रखता है।

बिना विवेक के धर्म नहीं होता। धर्म रूढ़ि नहीं है धर्म एक विज्ञान भी है। जिनशासन में धर्म की जो भी क्रिया बतलाई है, प्रत्येक क्रिया के पीछे एक धर्म का रहस्य है, धर्म का मूल है, उसे समझकर के व्यक्ति आगे बढ़ता है तब नि:संदेह धर्म के फल को प्राप्त करने में समर्थ होता है। वह दयामूर्ति पंचमप्रतिमा वाला श्रावक सचित्त से विरक्त होता हुआ अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। और वह साधना के बल से उसके सुफल को प्राप्त करने में भी समर्थ होता है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं, नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥142॥

अन्वयार्थ–सत्त्वेषु – प्राणियों पर, **अनुकम्पमानमनाः** – दयालु चित्त होता हुआ, **यः** – जो श्रावक, **विभावर्यां** – रात्रि में, **अन्नं** – दाल-रोटी वगैरह अन्न को, **पानं** – दूध-पानी आदि पेय पदार्थ को, **खाद्यं** – लड्डू-बर्फी-पेड़ा आदि, **च –** तथा, **लेह्यं** – चाटने योग्य रबड़ी आदि पदार्थों को, **न अश्नाति** – नहीं खाता है, **सः** – वह, **रात्रिभुक्तिविरतः** – रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाधारी श्रावक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में देख रहे हैं सप्तम अधिकार, जिसमें श्रावकों की 11 प्रतिमाओं का स्वरूप आचार्य महोदय कह रहे हैं। इसके माध्यम से श्रावक-श्राविका उन व्रतों का स्वरूप समझ अपने व्रतों को निर्दोष करने का पुरुषार्थ करें, एवं जो व्रती नहीं हैं वे व्रती बनने की भावना भाएँ। क्योंकि जैसी चर्चा कर्णगोचर होती है उसी प्रकार की चर्या के संस्कार प्रादुर्भूत होने लगते हैं, फिर वे संस्कार शनैः-शनैः सुदृढ़ होने लगते हैं, वे इतने मजबूत हो जाते हैं कि फिर उनके लिए कुछ भी असंभव नहीं रह जाता। प्रारंभ में वह चीज असंभव सी दिखाई देती है कि ऐसे कैसे हो सकता है किन्तु शनै-शनैः वह अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। चींटी दीवार पर चढ़ती है तो एक बार नहीं सैकड़ों बार गिरती है किन्तु अन्ततोगत्वा मंजिल तक पहुँच ही जाती है। जैसा संकल्प लिया उसी संकल्प के अनुसार वैसी उपलब्धि को प्राप्त कर लेती है।

आचार्य महोदय श्रावकों को उनकी आचार संहिता बता रहे हैं। उपासकों को धर्म समझा रहे हैं कि किस प्रकार, किसका, क्या-क्या धर्म है। देखो-व्यवहार धर्म के अनेक रूप होते हैं जो जिस पद पर आसीन है उसके अनुसार उसके धर्म अलग-अलग होते हैं। यथा–एक व्यक्ति यदि स्कूल में हेडमास्टर है तो उसका वहाँ कर्त्तव्य दूसरा है, घर में पिता के सामने कर्त्तव्य अलग है, पुत्र के सामने कर्त्तव्य अलग है, पत्नी के सामने अलग है। एक व्यवसायी का ग्राहक के समाने अलग कर्त्तव्य है। जब वह स्वयं ग्राहक बनकर किसी से माल लेने गया तब कर्त्तव्य अलग है, जब वह ग्राहकों को माल दे रहा है तब कर्त्तव्य अलग है और जब घर के लिए माल लेकर आया तब कर्त्तव्य अलग है। पिता, पुत्र, पुत्रवधु, पौत्र, भाई, चाचा, ताऊ आदि-आदि के साथ वह एक जैसा व्यवहार नहीं कर सकता। यदि एक जैसा व्यवहार करता है तो लोकव्यवहार में सफल नहीं हो पाता, अनुत्तीर्ण कहलाता है।

किसी भी पद पर रहते हुए उस पद के अनुकूल जो व्यवहार है वही व्यवहार करना उचित है क्योंकि व्यक्ति एक है और स्याद्वाद की अपेक्षा से उसके नाम अनेक हैं, उसके पद अनेक हैं। यथा–मानव एक है उसका मानवोचित क्या कर्त्तव्य है इसका पालन करना जरूरी है, फिर वह मानव ये कहे कि मैं इस धर्म का पालन करने वाला हूँ तो उस धर्म की संहिता का पालन करना जरूरी है। फिर माना वह राजा है तो राजा के कर्त्तव्यों का पालन करना जरूरी है। यदि मंत्री, श्रेष्ठी है तो उसके कर्त्तव्य, घर में है तो उसके कर्त्तव्य, यदि अधीनस्थ है तो उसके कर्त्तव्य। तो वह एक समय में जिस एक कर्त्तव्य का पालन कर रहा है तो दूसरे कर्त्तव्य का विरोध नहीं कर रहा, दूसरे कर्त्तव्य का भी यथाशक्य पालन करना उसका कर्त्तव्य है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं जो श्रावक या श्राविका है उसके कहाँ-कहाँ पर क्या कर्त्तव्य हैं, जब कर्त्तव्य का बोध होगा तभी तो कर्त्तव्य की पालना करेगा, जब उसे बोध ही नहीं है कि मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए तो पालना कैसे करेगा।

बिन जानें तै दोष गुनन को, कैसे तजिये गहिये।

अतः जानना जरूरी है। जैसे माना कि संस्था में कोई व्यक्ति पहले सदस्य था तब कर्त्तव्य कुछ और थे अब उसे मंत्री बना दिया तो उसके कर्त्तव्य में वृद्धि हुई कि नहीं? अध्यक्ष बना दिया तो पुनः वृद्धि हुई। जब उसे भान हो गया कि इस पद के मेरे क्या-क्या कर्त्तव्य हैं, जैसे-जैसे उसे अपने कर्त्तव्य का बोध होता है वैसे-वेसे उसकी प्रवृत्ति उस प्रकार के कर्त्तव्य में प्रारंभ हो जाती है। आचार्य महोदय प्रतिमाओं का स्वरूप समझा रहे हैं। इन प्रतिमाओं का स्वरूप समझने से क्या लाभ है? जो प्रतिमाओं का पालन कर रहे हैं वे इन स्वरूप को समझकर अपने व्रतों का निर्दोष पालन करेंगे और जो पालन नहीं कर रहे हैं वे पालन करने की भावना भाएँगे। जो व्रती नहीं बने हैं वे व्रती बनने की भावना भाएँगे और जो उसका निर्दोष पालन पहले से ही कर रहे हैं तो और आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे। जैसी चर्चा होती है उसी प्रकार की चर्या के संस्कार आते हैं। अब यहाँ पर षष्टम् प्रतिमा के लक्षण-गुण बताते हुए कहा–

'सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः' जिसका मन जीवमात्र के प्रति अनुकम्पा से सहित है। अनुकंपा किस पर? शरीर पर या शरीर को जन्म देने वाले पर अथवा शरीर से राग करने वालों के प्रति? नहीं, तो क्या अपनी जाति के व्यक्तियों पर? अपने कुल के व्यक्तियों पर? इतने मात्र पर नहीं। तो क्या अपने सहधर्मियों पर? अपने गति वाले जीवों पर? नहीं। फिर? 'सत्त्वेषु'-जितने भी चेतना से युक्त जीव हैं उन सभी जीवों के प्रति जो अनुकम्पावान होता है। ऐसा व्यक्ति रात्रिभुक्ति से विरत हो जाता है। क्यों? क्योंकि वह प्राणीमात्र के प्रति रक्षा का भाव रखता है।

क्या रात्रि में भोजन करने वाला व्यक्ति हिंसक कहलाता है? हाँ, बात तो यही है कि रात्रि में भोजन करने वाला हिंसक है। यदि वह हिंसक है तो वह बुद्धिपूर्वक है या अबुद्धिपूर्वक? यदि भोजन बुद्धिपूर्वक कर रहा है तो बुद्धिपूर्वक हिंसक कहलाएगा अबुद्धिपूर्वक क्यों कहलाएगा। तो फिर रात्रि में कुछ भी नहीं खा सकता क्या? हाँ, रात्रि में कुछ भी नहीं खाना चाहिए। रात्रिभोजन करने वाला यदि किसी को मारता नहीं, किसी को सताता नहीं, कड़वे शब्द भी नहीं बोल रहा है, बस रात्रि में भोजन कर लेता है यह उसकी मजबूरी है, दुकान से देरी से आता है, job करता है तो देरी से आता है, क्या वह तब भी हिंसक है? हाँ, बात तो ऐसी ही है। आचार्य भगवन् अमृतचन्द्र स्वामी जी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में लिखा है–

'अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥133॥

'अर्कालोकेन विना' जो कोई व्यक्ति अर्क के आलोक के बिना अर्थात् सूर्य के प्रकाश के बिना, जहाँ सूर्य का प्राकृतिक प्रकाश नहीं है वहाँ 'भुञ्जानः' भोजन करता है तो 'परिहरेत् कथं हिंसां' वह हिंसा का त्यागी कैसे हो सकता है। रात्रिभोजन करने वाला तो हिंसा का त्यागी हो ही नहीं सकता, वह तो हिंसक है। यदि वह दीपक, लालटेन आदि के प्रकाश में, बल्ब, ट्यूब के प्रकाश में, टॉर्च या अन्य किसी कृत्रिम प्रकाश में भोजन करता है फिर भी वह सूक्ष्म जीवों का भक्षण करने वाला है। रात्रि में सूक्ष्मजीव चाहे जल के बर्तन पर बैठे हैं, चाहे भोजन पर बैठे, चाहे अन्य किसी पदार्थ पर बैठें। क्योंकि सूर्य का प्रकाश जैसे ही लुप्त होता है वैसे ही असंख्यात सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है, उस समय मिश्र प्रकृति होती है। जिस समय संधिकाल होता है उस समय प्रचुर मात्रा में जीव पैदा होते हैं और रात्रि में और ज्यादा पैदा होते हैं। प्रातःकाल का संधिकाल आता है उस समय भी भोजन नहीं करना चाहिए, जब अच्छी तरह सूर्य का प्रकाश हो उसके भी एक घड़ी-दो घड़ी बाद भोजन करना चाहिए।

यहाँ कहा-चार प्रकार का आहार होता है **'अन्नं'** – अन्न के द्वारा बनी हुई कोई भी वस्तु चाहे दाल, रोटी, चावल, खीर, पकौड़ी आदि। **'पानं'** – पानक जो पीने वाले पदार्थ हैं वे पेय वस्तु दूध, रस, मट्ठा, अन्य प्रकार के तरल पदार्थ, अनेक प्रकार के मसाले डालकर या मीठा डालकर जैसे भी बनाए जाएँ वो सभी पानक पदार्थ के अंतर्गत आते हैं। **'खाद्यं'** – यहाँ खाद्य के स्थान पर किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने स्वाद्य को लिया है। स्वाद लेने योग्य पदार्थ जिनसे पेट नहीं भरा जाता। मुख का स्वाद बदलने के लिए सौंफ, इलायची, लवंग आदि भक्ष्य पदार्थ। **'लेह्यं'**–रबड़ी, हलवा, लपसी आदि पदार्थ जो चाट करके खाए जाते हैं। इस प्रकार

अन्न-पान-स्वाद्य-लेह्य ये चार प्रकार के आहार **'न अश्नाति'** जो नहीं खाता। अर्थात् सूर्य अस्त होने के एक घड़ी पहले छोड़ देता है, दो घड़ी पहले व्रती छोड़ देता है और तीन घड़ी पहले महाव्रती छोड़ देता है।

आपने उस सियार की कहानी सुनी होगी जिसने रात्रिभोजनत्याग व्रत का निर्दोष पालन किया। वह पशु जिसने स्कूल में जाकर कोई शिक्षा प्राप्त नहीं की, शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं किया, किन्हीं पंडितों का व्याख्यान नहीं सुना, पंडितों के तर्क कुतर्कों का शिकार नहीं बना। उसने मुनिराज की देशना को सुनकर त्याग कर दिया और नियम का पालन किया व मृत्यु को प्राप्त कर प्रीतिंकर कुमार हुआ और उसी भव से मोक्ष को प्राप्त हुआ। नागकुमार जिसने पूर्वभव में पञ्चमी का व्रत किया था, तब उसके पिता ने देखा कि रात्रि में इसे भूख लग रही है, वह बहुत व्याकुल हो रहा है उन्होंने उसे रत्नों के महल में रख दिया, ऊपर से काँच ऐसे लगा दिए जिससे किरणें निकलती थी और कहने लगे देखो पुत्र ये बाहर से सूर्य की किरणें आ रही हैं। उसने कहा नहीं पिता जी, ये सूर्य की किरणें नहीं काँच का प्रकाश है, अभी तो रात ही है, मैं भोजन नहीं करूँगा। उसने व्रत नहीं तोड़ा। मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और नागकुमार नामक प्रतापी राजा हुआ व कैलाशपर्वत से मोक्ष को प्राप्त किया।

महानुभाव! रात्रिभोजन कभी नहीं करना चाहिए, आप किसी तर्क और कुतर्क से अपना धर्म भ्रष्ट मत करो। आप उस आचार संहिता को नहीं पाल सकते हो तो भगवान् से हाथ जोड़कर क्षमा माँगो, हे भगवान्! मुझमें शक्ति नहीं है, हमें ऐसी शक्ति प्राप्त हो जिससे मैं भी व्रत नियम को पाल सकूँ। किन्तु अपने कुतर्क देकर के किसी दूसरे को रात्रिभोजन में प्रवृत्ति मत कराओ। रात्रिभोजन करने वाला व्यक्ति धर्म से दूर होता है। यहाँ यही कहा जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार नहीं करता है वह छठी प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। षष्ठी प्रतिमा का दूसरा नाम दिवामैथुनत्याग भी है। वह रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी कृत-कारित-अनुमोदना से न रात्रिभोजन खाता है, न खिलाता है और न खाने वालों की अनुमोदना करता है। इस प्रकार यहाँ संक्षेप में षष्टम् प्रतिमा के स्वरूप को कहा, आज बस इतना है।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि-बीभत्सम्।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥143॥

अन्वयार्थ–यः – जो श्रावक, **अंगं** – शरीर को, **मलबीजं** – मल से उत्पन्न हुआ, **मलयोनिं** – मल को उत्पन्न करने वाला, **गलन्मलं** – मल को प्रवाहित करने वाला, **पूतिगन्धि** – दुर्गन्ध युक्त, **बीभत्सं** – ग्लानिजनक, **पश्यन्** – देखता हुआ, **अनङ्गात्** – कामसेवन से, **विरमति** – विरक्त होता है, **सः** – वह, **ब्रह्मचारी** – ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में श्रावकों के ग्यारह संयमवृद्धि के स्थानों को आचार्य महोदय ने अत्यंत ही सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। किस प्रकार वह श्रावक क्रमशः मोक्षमार्गी बनता है, क्योंकि श्रावक दशा में एक देश मोक्षमार्गी बनना ही संभव है। श्रावक सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने के साथ एकदेश संयम का पालन करता है, विरताविरत, देशविरत या संयमासंयम अवस्था को प्राप्त होता है। वह पाक्षिक श्रावक से नैष्ठिक, नैष्ठिक से साधक की श्रेणी में आता है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम व षष्टम प्रतिमाओं का स्वरूप पूर्व-पूर्व की गाथाओं में कहा। अब सप्तम प्रतिमा के स्वरूप को कहते हैं।

सप्तम प्रतिमा मानो सप्तम तत्त्व 'मोक्ष' को प्राप्त करने का साक्षात् बीज है। सप्तम प्रतिमा माना कि सप्त परमस्थानों का फल है। सप्तम प्रतिमा का पालन वही कर पाता है जिसे अल्पभवों में मोक्ष को प्राप्त करना है। सप्तम प्रतिमा वाला यदि जघन्य समाधि भी करता है तो सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त करने की पात्रता रखता है। यहाँ पर सप्तम प्रतिमा जिसका नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है उसका स्वरूप आचार्य महोदय बता रहे हैं। ऐसा लगता है कि ब्रह्मचर्य व्रत या ब्रह्मचर्य प्रतिमा इसका आरंभ मोक्षमार्ग की अभिलाषा से मोक्षमार्ग पर बढ़ाया पहला कदम है, मोक्षमार्ग की प्रथम पैडी है और आगे भी ज्यों-ज्यों इसका शुद्धिकरण होता है, परिमार्जन होता है, इसकी उत्कृष्टता बढ़ती चली जाती है त्यों-त्यों वह साधक और योगी ऊपर उठता चला जाता है और जब ब्रह्म अवस्था की पूर्णता हो जाती है तो क्षणार्द्ध में वह योगी व आत्मा अयोगकेवली होकर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

जब भी कोई गृहस्थ श्रावक व श्राविका सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं तो उसके साथ ही अविनाभावी सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करते हैं। जब संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर चारित्र की ओर बढ़ते हैं तब सबसे पहला भाव उनके मन में यही आता है कि मैं शरीर के प्रति आसक्त न बनूँ, भोगों से विरक्त होऊँ। यह संसार दु:खमय है। भोग बीच की कड़ी है, जिससे भोगे जाते हैं वह शरीर है और इस भोग का परिणाम है संसार। बीच की कड़ी निकाल दी जाए तो शरीर के प्रति आसक्ति का भाव नहीं रहेगा और संसार की वृद्धि न होगी। भोग ही दूसरे शब्दों में कहें तो संसार है। भोग के विपरीत योगसाधना ही मोक्ष या मोक्ष का मार्ग है।

योग का अर्थ होता है ध्यान, समाधि। भोग का अर्थ होता है जिसे क्रमश: भोगते हुए क्षीण किया जाए, किन्तु सत्यता यह है कि व्यक्ति सोचता है कि मैंने संसार के पदार्थों का भोग किया किन्तु वह उनका भोग नहीं करता, उन पदार्थों का सेवन करते-करते उसका शरीर स्वयं भोग बन जाता है, वह उस यज्ञ में, हवन में भोग की अग्नि में जलता हुआ अपने शरीर की आहुति दे देता है। किन्तु योग साधना करने वाला योगी अपने शरीर से विरक्त होकर के उस योगसाधना की अग्नि में अपनी आत्मा को परिशुद्ध कर लेता है।

योग शब्द का प्रारंभ वहीं से होता है जहाँ से जीवन में ब्रह्म की वार्ता शुरू होती है, ब्रह्म की चर्या शुरू होती है, ब्रह्म के प्रति रुचि होती है, ब्रह्म में लीनता होती है। फिर वह परम ब्रह्म में लीनता परम सिद्ध अवस्था में पहुँचा देती है। यदि मिथ्यादृष्टि भी है और उसे धर्म का उपदेश रुचिकर लगता है तो वह भी सबसे पहले यही सोचता है कि इन संसारी पदार्थों में मैं आसक्त न होऊँ, मैं इन पदार्थों का सेवन न करूँ। और जो व्यक्ति जैन दर्शन में दीक्षित है, जो जिनशासन की छत्रछाया में हैं वे सर्वप्रथम सोचते हैं कि अष्टमी-चौदस ये पर्व के दिन हैं, कम से कम इन पर्व के दिनों में तो अब्रह्म का सेवन न करूँ, पर्यूषण पर्व, आष्टाह्निक पर्व के दिनों में अब्रह्म का सेवन न करूँ या सोलहकारण पर्व के दिनों में, पंचकल्याणक तिथियों के दिनों में अब्रह्म का सेवन न करूँ। तो सर्वप्रथम उसके मन में अब्रह्म से विरक्ति होती है। ब्रह्म की ओर उसका भाव जाग्रत होता है, उस भाव को जब स्थिरता दे देता है तब कहता है अब मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा।

चाहे प्रारंभ में उसने वर्ष में एक दिन का संकल्प लिया, पुन: माह में एक दिन का संकल्प लिया या पक्ष में एक दिन का संकल्प लिया या सप्ताह में एक दिन का संकल्प लिया पुन: बढ़ते-बढ़ते दो-तीन-चार दिन पुन: सप्ताह के सातों दिन ब्रह्मचर्य का पालन करने में सक्षम होता है। वह स्वयं में देखता है कि जबसे मैंने अब्रह्म का त्याग किया है तबसे मेरी आत्मा में

शक्ति प्रगट हो रही है, मेरी ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण हो रहा है, ऐसे लगता है जैसे अन्तरंग से पापकर्म निर्जीण हो रहे हैं और मुझे अन्तरंग में परम आनंद की प्राप्ति हो रही है। मेरा शरीर निरोगी हो रहा है, मेरा शरीर फूल जैसा होता जा रहा है, अब मेरा मन धर्मध्यान में स्थिर होने लगा। जब वह गृहस्थ अब्रह्म का सेवन करता था, न केवल सेवन अपितु अब्रह्म की भावना भी रखता था तब उसका चित्त चंचल-चलायमान हो जाता था किन्तु जैसे ही ब्रह्मचर्य का संकल्प लिया वैसे ही उसका मन शुद्ध होने लगा। ब्रह्मचर्य की बात भी चित्त को शुद्ध करने वाली होती है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला कोई भी जीव है, उसको देखकर के सामने वाले के परिणाम निर्मल होते हैं। आप सोलहकारण पूजन की जयमाल पढ़ते हैं–

शील सदादृढ़ जो नर पाले, सो औरन की आपद टाले॥

जो शीलव्रत का दृढ़ता से पालन करने वाला है ऐसा शीलवान् व्यक्ति किसी पापी व्यक्ति के पास भी पहुँच जाए तो पापी व्यक्ति का पाप यदि उस सयम तीव्र उदय में आ रहा होगा तो वह भी मंद उदय में आ जाएगा। वह पापी व्यक्ति भी क्षणभर के लिए अपने परिणामों को निर्मल बना सकता है। आचार्य महोदय ने सप्तव्यसन का त्याग करने के उपरांत श्रावक के आठ मूलगुणों में कहा कि पाँच अणुव्रतों का पालन करो, मद्य, माँस, मधु का त्याग करो। गृहस्थों के लिए श्रमणोत्तमा अर्थात् तीर्थंकर प्रभु ने स्थूल हिंसा का त्याग, स्थूल असत्य त्याग, स्थूल चौर्य त्याग, स्थूल अब्रह्म का त्याग व परिग्रहपरिमाण करने को कहा। इसके बाद उसकी विशुद्धि और बढ़ती है तो वह प्रतिमा बढ़ाता चला जाता है, पुनः 1, 2, 3, 4, 5, 6 प्रतिमा बढ़ाते हुए सप्तम प्रतिमा की अग्रसर होता है।

सप्तम प्रतिमा को धारण/पालन करने वाला व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी आधे साधु की तरह से है या साधुवृत्ति की ओर अभिमुख हुआ है किन्तु चारित्रमोहनीय कर्म का उदय या किसी बाह्य प्रतिकूलता के रहते हुए वह गृहत्याग नहीं कर पा रहा है, दीक्षा नहीं ले पा रहा है। जो भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले होते हैं उनके शरीर में एक तेज होता है, ओज होता है, कांति होती है, उनकी वाणी प्रभावक होती है और मनसा, वाचा, कर्मणा ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले का सत्य प्रभावी होता है, वाणी इतनी प्रभावी होती है कि सामने वाला व्यक्ति पाप से मुक्त या विरक्त होने के लिए मजबूर हो जाता है। आचार्य महोदय के शब्दों में ही इस प्रतिमा का स्वरूप देखें–

यहाँ कहा-वह ब्रह्मचारी है जो विरक्त है, जो इस शरीर से कामक्रीड़ा नहीं करता, क्यों नहीं करता? क्योंकि उस विषय सेवन को वह अशुभ मानता है, अनुचित मानता है, दुःखदायक

मानता है, उसे दुर्गति का कारण मानता है, उसे पाप का द्वार मानता है, उसके माध्यम से सोचता है कि एक अब्रह्म ही पर्याप्त है अनंत संसार में परिभ्रमण करने के लिए, एक अब्रह्म ही पर्याप्त है पाँचों पापों को बुलाने के लिए, एक अब्रह्म ही पर्याप्त है अपने सारे पुण्य में आग लगाने के लिए इसीलिए वह अब्रह्म से विरक्त होने की सोचता है। यह अब्रह्म क्या है तो आचार्य महोदय बता रहे हैं–

'मलबीजं' अब्रह्म सेवन जिस शरीर से किया जाता है वह शरीर मल से उत्पन्न हुआ है। वह किसी दम्पत्ति के सप्तम धातु के मेल से गर्भ में आता है, तो यह शरीर वहाँ से बना अर्थात् इसकी उत्पत्ति का कारण मल है। पुनः कहा **'मलयोनिं'**–यह मल अब्रह्म की उत्पत्ति का स्थान है, यदि उस मल का, सप्तमधातु का सदुपयोग किया तो ऊर्ध्वगति है। नाभि के इर्द-गिर्द लगभग 4 अंगुल नीचे जहाँ सप्तमधातु का स्थान होता है यदि वह नाभि से नीचे निःसृत होता है तो संभव है वह जीव अधोगति का कारक हो सकता है। यदि वह अपनी शक्ति का अधोद्वार से निर्गमन करता है तो ऐसा माना जाता है कि वह अधोगति के लिए तैयारी कर रहा है। किन्तु जो व्यक्ति उस शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता उसे नाभि तक अर्थात् उदर तक शक्ति बनी तो वहीं की वहीं पचा लेता है अर्थात् शरीर में सामर्थ्य आयी, इंद्रियाँ खटपट मचाने लगी तो उस दिन उपवास या नीरस या आज अमुक वस्तु का त्याग, गरिष्ठ पदार्थों का त्याग। तो इससे उसकी शक्ति का दुरुपयोग नहीं हुआ किन्तु जो व्यक्ति इससे भी आगे बढ़ गया वह अपनी शक्ति का ऊर्ध्वारोहण करता है, दीर्घ श्वांस और निःश्वास के माध्यम से शक्ति को ब्रह्मस्थान पर ले जाता है। नाभि से जितना ऊपर ले जाता है उतने ही स्वर्गों की यात्रा उसकी प्रारंभ हो जाती है। और ऊपर कंठ तक ले जाता है तो माना कि 16वें स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है, और ऊपर ले जाता है तो नवग्रैवेयक, अनुदिश, पंचअनुत्तरविमान तक पहुँच सकता है एवं ब्रह्मस्थान तक ले जाता है तो सिद्धशिला का प्रतीक है। ब्रह्म पर ले जाना अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। यह सब अभ्यास के बल से होता है।

शनैः-शनैः ध्यान लगाता हुआ वह योगी अब ध्यान में अपने चित्त को एकाग्र करता है, अपनी शक्ति का ऊर्ध्वारोहण करता है। तब उस योगी को शरीर में रहते हुए भी ऐसा लगता है जैसे मैं सिद्ध बन गया, ऐसा लगता है जैसे मैं परम ब्रह्म में लीन हो गया, ऐसा लगता है कि मैं आत्मा की परम अवस्था को प्राप्त करने वाला हूँ। उसे अच्छा आभास व अनुभव होता है। यह उसकी सहज अवस्था होती है, किन्तु जो जीव उसको नहीं समझ पाता वह पूर्वभवों के अनंत संस्कारों के कारण अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है, दुरुपयोग चाहे वैध या

अवैध किसी भी रूप में करे तो वह दु:खों का ही उपार्जन करता है, दुर्गति का मार्ग खोजता है। आचार्य महोदय कह रहे हैं अब्रह्म मल का बीज है, मल उत्पत्ति का स्थान है और गंदगी का ही प्रवाह होता है, वह दुर्गंधित रहता है, वह घृणा के योग्य होता है। जो कामी विटपुरुष होते हैं उनके बारे में कहा–

कूरे तिया के अशुचितन में काम रोगी रति करें।

जो काम के रोगी हैं, अब्रह्म में सने हैं उन्हें उसी कीचड़ में, उसी रति क्रिया में आनंद आता है किन्तु बुद्धिमानों की दृष्टि में यह नि:संदेह एक निकृष्ट क्रिया है। वह साधक–योगी इस प्रकार का चिंतवन करता है कि मलबीज, मलोत्पत्ति, मल प्रवाहक, दुर्गंधित, घृणायुक्त यह अब्रह्म है। जो उस कामसेवन से विरक्त हो जाता है वह ब्रह्मचारी कहा जाता है। इस प्रकार सप्तमप्रतिमा का पालन करने वाला व्यक्ति स्वयं को अब्रह्म के पोषक द्रव्य व कारणों से दूर रखता है। अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में लीन करने की भावना, अपने चित्त में लीन करने की भावना यही उसका परम पुरुषार्थ होता है। इस प्रकार सप्तम प्रतिमा के विषय में संक्षेप में कहा। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

आरंभत्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

सेवाकृषिवाणिज्य-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमतिः।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः॥144॥

अन्वयार्थ–यः – जो श्रावक, **प्राणातिपातहेतोः** – जीव हिंसा के कारण, **सेवाकृषि वाणिज्यप्रमुखात्** – नौकरी, खेती, व्यापारादिक हैं मुख्य जिनमें ऐसे, **आरम्भतः** – आरम्भ से, **व्युपारमतिः** – विरक्त होता है, **असौ** – वह, **आरम्भविनिवृत्तः** – आरंभत्यागी श्रावक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रंथ की वाचना में श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं की विवेचना चल रही है, जिसमें सप्तम प्रतिमाओं तक के लक्षण कहे। आगे अष्टम प्रतिमा के संबंध में समझने की चेष्टा करें। जैसे सप्तम प्रतिमा के स्वरूप को समझते हुए ऐसा लगा कि वह सप्तम तत्त्व मोक्ष का बीज ही हो ऐसे ही अष्टम प्रतिमा का पालन करना अष्टम वसुधा को प्राप्त करने का प्रारंभिक संकल्प है अथवा चेतना के शुद्ध सहज-स्वभाविक-शाश्वत गुणों को प्राप्त करने का यह एक साधन है। अष्टम प्रतिमा को धारण करते ही वह श्रावक-श्राविका ऐसा समझता है जैसे संसार सागर का निःसीम भाग पार कर लिया, बस छोटा सा भाग रह गया है, उसे ही पार करना है।

अष्टम प्रतिमा का क्या स्वरूप है, क्या लक्षण व विशेषताएँ हैं, संक्षेप में तो जान लिया कि 'आरंभत्याग' प्रतिमा है। किन्तु पहले समझें कि आरंभ किसे कहते हैं, उसका त्याग करना क्यों जरूरी होता है और त्याग न करें तो क्या हानि है, त्याग करें तो क्या लाभ है, त्याग करने की विधि क्या है। यह सब बातें जिज्ञासा के पटल पर उतरती हुई मस्तिष्क में ऐसे भ्रमण कर रही हैं जैसे ज्योतिष मण्डल में ज्योतिषग्रहों के विमान भ्रमण करते हैं अतः इनका समाधान जरूरी है। आचार्य महोदय के शब्दों में ही प्रथमतः देखें तभी उनके अर्थ और परम अर्थ को जानने की हमें चेष्टा करनी चाहिए।

यहाँ कहा–मुख्य रूप से तीन आरंभ हैं–सेवा, कृषि और वाणिज्य। इन तीन में सबका समावेश संभव है। ये तीन संसार के कारण वैसे ही हैं जैसे कर्म बंध के मुख्य हेतु राग-द्वेष और मोह हैं। अथवा संसार परिभ्रमण के तीन मुख्य कारण द्रव्यकर्म-भावकर्म और नोकर्म हैं अथवा मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के तीन प्रमुख साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अथवा सम्यक्त्व के तीन मूल तत्त्व-परमार्थभूत देव, परमार्थभूत शास्त्र और परमार्थभूत गुरु हैं। ऐसे इन तीन को समझने की चेष्टा करें। सेवा, कृषि, वाणिज्य ये तीन जब तक हैं तब तक वह श्रावक साधक की कोटि में नहीं आ पाता। जब तक आरंभ करना उसके लिए विधेय है तब तक आरंभ का परिणाम उसके मन में चलता रहता है।

आरंभ को छोड़ देना और आरंभ का विचार छोड़ देना दोनों अलग हैं। आरंभ को छोड़े बिना आरंभ का विचार मन में से जाता नहीं है। यहाँ तक कि व्यक्ति उस कार्य को छोड़ दे तब भी संस्कारवशात् उसके विचार चलते रहते हैं। जिस प्रकार कुम्भकार का चाक। कुम्भकार चक्र को दण्ड के माध्यम से घुमाता है और दण्ड को रख देता है, अब दण्ड को घुमा नहीं रहा, वह घूम रहा है, क्यों? संस्कारवशात्। धीमे-धीमे शान्त होगा। कहीं किसी स्थान पर अग्नि जलायी, वह अग्नि उठाकर दूसरे स्थान पर ले गए तो भूमि अभी भी गर्म है, तपन धीमे-धीमे शांत होगी। बर्फ किसी पात्र में रखी थी, बर्फ को निकाल दिया, पात्र को खाली कर दिया किंतु उसके संस्कार यानि बर्फ की शीतलता अभी भी विद्यमान है। किसी टोकरी में पुष्प रखे हुए थे, पुष्प अलग कर दिए किन्तु उसमें गंध अभी भी विद्यमान है, मुट्ठी में चंदन का चूरा लेकर आए हवन में उसे स्वाहा कर दिया किंतु गंध अभी भी है, इसी तरह से सेवा-कृषि-वाणिज्य को करते हुए सेवा-कृषि-वाणिज्य के संस्कारों का परित्याग संभव नहीं है। और सेवा-कृषि-वाणिज्य का त्याग करने के उपरांत पुनः धीरे-धीरे संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं।

'सेवा' सेवा करने वाला किस प्रकार से आरंभ करता है? तो सेवा करने वाले का मन-वचन-काय अपने स्वामी के पास रखा होता है। जैसे किसी मालिक ने किसी सेवक से पूछा-आपका नाम क्या है? तो सेवक ने कहा-जिस नाम से आप मुझे पुकारना चाहें वहीं मेरा नाम होगा। आप क्या खाना चाहेंगे? आप मेरे मालिक हैं जो मुझे खिलाएँगे वही मेरे लिए स्वादिष्ट भोजन होगा, क्या पहनना चाहेंगे? जो आप देंगे वहीं, कहाँ रहना चाहेंगे? जहाँ मुझे ठहराएँगे, क्या काम करेंगे? जो आपका आदेश होगा। इसीलिए पहले जमाने में कहा जाता था-'नौकरी क्यों करी'। पहले व्यक्ति नौकरी करने को बुरा मानता था। चाहे थोड़ी सी जमीन है उस पर खेती करके अपने परिवार का भरण-पोषण करता था, यदि जगह नहीं है तो व्यवसाय करता था, दूसरे गाँव से कोई वस्तु सिर पर रखकर लाया इस गाँव में बेची, चाहे अनाज-फल-सब्जी आदि कुछ भी बेचे उसे वह अच्छा मानता था।

आज वर्तमान दौर में राजा कहलाने वाले उच्चकुल, जैनकुल के बालक-बालिका भी नौकरी की ओर दौड़ रहे हैं, हाँ अब ये बात अलग है किसी को सेवा में दो आना मिले, दो रुपया मिले या बीस, दो सौ रुपये मिले या दो हजार, प्रतिदिन के 20 हजार मिलें या उससे भी अधिक। सेवा कर रहा है तो है तो नौकर। जैसे राजा राजा होता है, चाहे अपने गाँव का राजा है, चाहे बहुत बड़े देश का राजा ऐसे ही सेवा करने वाले को सेवक कहो, नौकर कहो, चाकर कहो, गुलाम शब्द का भी प्रयोग उनके लिए किया। महानुभाव! कृषि तो उत्तम कार्य है, फिर है वाणिज्य और जघन्य है सेवा। इन तीनों ही कार्य में आरंभ होता है।

सेवा करने में उसे मालिक की आज्ञा का पालन करना होता है। मालिक ने कहा झाड़ू लगाओ, पोंछा लगाओ, इसको यहाँ जला दो, दीवार बनाओ, गड्ढा खोदो आदि कोई भी आदेश करता है तो वह सेवक सेवा करता है। सेवा के कार्य में जीवहिंसा भी संभव है। मालिक की आज्ञानुसार एक व्यक्ति ने पढ़ाई की, उसे डॉक्टर बनना था, उससे कहा कि अब तुम्हें प्रैक्टीकल करना है, चीर-फाड़ करनी होगी। आज उसकी आवश्यकता नहीं है किन्तु पहले मेंढक आदि पर प्रैक्टीकल होते थे। उस व्यक्ति ने कहा—मैं यह कार्य नहीं कर सकता। तो फिर आप डॉक्टर नहीं बन सकते। ठीक है, भले ही मैं डॉक्टर न बनूँ किन्तु अहिंसा धर्म को ताक पर रखकर के, जीवघात करके मुझे अपना पेट नहीं भरना। तो ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। ऐसे व्यक्ति भी हैं जो कहते हैं हम सेवा करेगें, नौकरी करेगें किन्तु जो अवैध हैं उसे नहीं करेंगे। कोई कहे आप हमारे यहाँ नौकरी कर लो, भाई नौकरी क्या है? तुझे पास के गाँव से चोरी करके लाना है। मैं तुम्हें 2000 रु. महीने दूँगा। भैया, हमें ऐसा नौकरी नहीं करनी। आज नौकरी करने से पूर्व-फॉर्म भरे जाते हैं क्या काम करना होगा, कितना काम करना होगा, मुझे कितना वेतन मिलेगा आदि शर्तें पहले ही तय होती हैं। किन्तु अब तो कोई व्यक्ति बता रहा था कि महाराज जी पहले तो कहा था 8 घंटे काम करना है किन्तु 10 घंटे, 12 घंटे, 14 घंटे काम करना पड़ता है, कोई तो बता रहा था मुझे 22 घंटे काम करना पड़ता है इसलिए मैं तो नौकरी छोड़कर जाना चाहता हूँ। तो नौकरी भी हिंसा का एक कारण बन सकती है। सेवा में भी आरंभ है।

'कृषि'—कृषि करने में आरंभ होता है। खेत को जोतने में पृथ्वीकायिक जीव एवं अन्य त्रस जीव भी हैं उनका घात होता है। बीज बोया, पौधे हुए तो घास को काटना, उखाड़कर फेंकना उसमें भी जीवात्मा है, फिर फसल को काटना, कितना सारा आरंभ होता है, जीवघात होता है। भले ही कषाय की मंदता है, पर घात तो है।

'वाणिज्य'—व्यापार में भी आरंभ होता है। पहले पशुओं पर व्यापार होता था, उन पर सामान लाद करके जा रहे हैं जिससे उन्हें कष्ट होता है। आज वाहन का प्रयोग होता है जिससे सड़क पर ना जाने कितने त्रस जीव यहाँ तक कि पंचेन्द्रिय जीव तक का घात हो जाता है। व्यापार कोई भी हो किसी में कम किसी में ज्यादा किंतु हिंसा होती ही है। फिर भी धर्मात्मा व्यक्ति ध्यान रखता है कि जिसमें कम हिंसा हो ऐसा व्यापार करूँ। माना कि गेहूँ रखे और उसमें जीव आ गया, या कोई और अनाज रखा जिसमें कीड़े हो गए तो बहुहिंसा हो गई अथवा उसमें जीव न लगे इसलिए दवाई का प्रयोग कर रहे हैं तो कितना जीवघात होता है।

जो व्यक्ति इस हिंसा से बचना चाहता है वह इन प्रमुख आरंभ सेवा-कृषि-वाणिज्य का त्याग करता है। और गौण आरंभ हैं सामान्य कार्य जैसे-भोजन बनाना, पानी भरना, आटा पीसना, वस्त्र धोना, कूटना-छानना-बीनना आदि यह भी आरंभ है किन्तु ये लघु आरंभ हैं, इसमें भी हिंसा होती है। तो यहाँ पर कहा कि सेवा-कृषि-वाणिज्य ये प्राणातिपात के हेतु हैं। सेवा-कृषि-वाणिज्य में हिंसा संभव है, हिंसा से बचा नहीं जा सकता। कोई व्यक्ति कहे मैं तो हिंसा नहीं करता, ऑफिस में जाकर बैठता हूँ, लिखा-पढ़ी करता हूँ। आप वाहन से आते-जाते हैं कितना जीवघात हो रहा है। जो कृषि कर रहा है तो खेत में ट्रैक्टर चल रहा है, मशीन से काम हो रहा है, चाहे बैलों से काम हो रहा है जीवघात तो वहाँ भी हो रहा है। यह तीनों प्रमुख आरंभ है और ये आरंभ जब तक रहते हैं तब तक सही मायने में मोक्षमार्ग का प्रारंभ नहीं होता इसीलिए अष्टम प्रतिमावाला व्यक्ति सोचता है कि मैंने संसार के कारणों से एकदेश विरक्ति ले ली स्थूल आरंभ से अब मैं दूर हो गया।

अष्टम प्रतिमा वाला कदाचित् आवश्यकता पड़ने पर स्वयं के लिए भोजन बना सकता है, महाव्रती के लिए बनाकर दे सकता है। वह अपने लिए पूजन की द्रव्य सामग्री बना सकता है या अन्य भी ऐसे कार्य कर सकता है जिसमें बहुसावद्य न हो। अल्प सावद्य के पीछे बहुत पुण्यराशि मिलती हो ऐसा कार्य कर सकता है किन्तु वह वैसे नहीं करता जैसे सामान्य गृहस्थ करता है। इसीलिए कहा कि सेवा-कृषि-वाणिज्य इन प्रमुख आरंभ से बचने के लिए वह विरक्त हो जाता है। क्यों विरक्त होता है? क्योंकि वह जान लेता है कि ये प्राणातिपात के कारण हैं, हिंसा के कारण हैं, क्योंकि जहाँ हिंसा है वहाँ हिंसा का भाई असत्य भी आ जाता है, दूसरा भाई चौर्यकर्म भी वहाँ आ जाता है, फिर हिंसा की बहिन अब्रह्म भी आ जाती है और पुनः परिग्रह नामक अगला भाई भी आ जाता है। यह भाई-बहिन बड़े मिलकर रहते हैं। जहाँ एक पहुँच जाए तो पुनः सभी को बुला लेते हैं।

एक नगर में छह भाई रहते थे, एक बहिन थी। बड़े भाई का नाम था 'छऊ'। निमंत्रण में जब भी न्यौता आता था तो बड़े के नाम से आता था छऊ का न्यौता है। तो वे क्या करते थे छह के छह भाई पहुँच जाते। ऐसा हर बार ही होता। एक बार वे किसी पंगत में पहुँच गए तो किसी ने व्यंग किया अरे! ये छह के छह आ गए। तो वे बोले हाँ, हम छऊ का न्यौता था तो हम आ गए। अरे! तुम्हारे बड़े भाई का नाम छऊ था तो उसी के नाम से न्यौता भेजा था। वे कहते छऊ मतलब हम छह का न्यौता है इसीलिए हम आ गए। तभी किसी ने कहा-लज्जा नहीं आई तुम्हें, तुम छऊ के छऊ आ गए। उसने कहा-तुम चिन्ता न करो लज्जा

के लिए हम वहीं घर ले जाएँगे, उसके लिए हम बेला (कटोरा) लेकर आए हैं, लज्जा के लिए जो देना है इसमें रख दो। क्योंकि लज्जा उनकी बहिन का नाम था। कहने का आशय यह है कि ये पाँच पाप भी ऐसे ही हैं जहाँ एक पाप को न्यौता दिया वहाँ अन्य पाप भी आकर अपनी धाक जमा लेते हैं और तृष्णा रूपी बहन भी आ जाती है तो पाप में प्रवृत्ति हो जाती है इसीलिए प्राणतिपात का हेतु जानकर जो इस आरंभ से विरक्त होता है वह श्रावक आरंभत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय यही कह रहे हैं–यद्यपि अधिक आरंभ का त्याग तो दूसरी प्रतिमा से लेकर सातवीं प्रतिमा तक बढ़ाता जाता है। अब जो थोड़ा सा आरंभ बाकी रह गया था उसका भी त्याग इस आठवीं प्रतिमा में हो जाता है। इस संसार में इस लोभ का अत्यंत कठिनता से त्याग किया जाता है, ऐसे लोभ को जीतने की इच्छा करने वाला और संसार के भोगों से विरक्त रहने वाला महामनस्वी पुरुष प्राणिघात के मुख्य तीन कारणों का सेवा, कृषि वाणिज्यादि समस्त आरंभों का त्याग कर देता है। वह जीवनपर्यंत मन–वचन–काय की शुद्धतापूर्वक अपने प्राणों का नाश होने पर भी जीव घात करने वाले आरंभ को न तो स्वयं करता है और न कभी दूसरों से कराता है। इस प्रकार संक्षेप में अष्टम प्रतिमा के स्वरूप के बारे में जाना। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः॥145॥

अन्वयार्थ–जो श्रावक **बाह्येषु दशसु वस्तुषु** – बहिरंग धन-धान्य आदि दस परिग्रह में, **ममत्वम् उत्सृज्य** – ममत्व को छोड़कर, **निर्ममत्वरतः** – ममत्व रहित होता हुआ, **स्वस्थः च संतोषपरः** – मायाचार आदि रहित स्थिर चित्त व संतोषी होता है वह, **परिचित्त-परिग्रहात् विरतः** – सब ओर से चित्त में बसे परिग्रह का त्यागी परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी श्रावक है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सप्तम अधिकार में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के स्वरूप का कथन चल रहा है। पूर्व कारिका में अष्टम आरंभत्याग प्रतिमा का स्वरूप कहा कि सेवा-कृषि-वाणिज्य ये पाप के हेतु होने के कारण श्रावक इनसे विरक्त होता है, उसका संसार अल्प रहा जाता है। अब वह अपने संसार को अत्यल्प करने के लिए और आगे बढ़ता है, वह नवम् प्रतिमा के स्वरूप को समझकर उन नियम-व्रत-संयमों का पालन करता है। संयम के क्षेत्र में अग्रसर हुआ वह श्रावक व श्राविका ज्यों-ज्यों अपने कदम संयम में आगे बढ़ाता जाता है त्यों-त्यों उसका संसार अल्प होता चला जाता है और वह संयम ही है जो संसार का संहार करने में समर्थ है। बिना संयम के संसार का कोई भी प्राणी संसार सागर को पार नहीं कर पाता।

संयम भवतारिणी नौका है, बिना संयम के इस भवकानन में भटके जीव को कभी सम्यक् राह नहीं मिलती, बिना संयम के कभी संसार के कारणों का अंत नहीं होता इसीलिए संयम की ओर आगे बढ़ने वाला श्रावक सकलसंयम को धारण करने की भावना रखता है। वह सर्वप्रथम यही सोचता है कि मैं जो श्रावक के संयमवृद्धि स्थान हैं उन पर क्रम-क्रम से बढ़ता चलूँ। अष्टम प्रतिमा तक पहुँचने पर अब उसके मन में भाव आता है कि मेरे पास जो भी परिग्रह है उस परिग्रह में से भी मैं और त्याग कर दूँ। क्योंकि आरंभ का त्याग तो कर दिया, अब सोचता है मेरी थोड़ी सी आयु रह गई है, इतना सारा परिग्रह क्यों रखना, इस परिग्रह का त्याग करके मैं धर्मध्यान के निकट पहुँचूँ।

परिग्रह मुख्य रूप से पाप का कारण है। आरंभ करके भी परिग्रह का संचय किया जाता है। नाना प्रकार के व्यापार करके परिग्रह का संचय किया जाता है। परिग्रह का संचय करने के लिए जीव नाना प्रकार के पापों को करता है, कराता है और करने वालों की अनुमोदना करता है। आप जानते हैं हिंसा करने में संभव है एक पाप है–हिंसा, किन्तु जब वह असत्य

नामक पाप करता है तो उसमें दो पाप हो जाते हैं एक तो असत्य और असत्य से किसी का दिल भी दु:खता है तो हिंसा पाप भी हुआ। चोरी करने में तीन पाप हो जाते हैं, पहला चोरी पाप हुआ, चोरी जिसकी की है उसका मन दु:खाया तो हिंसा भी हो गई और चोरी करने वाला व्यक्ति यह नहीं कहता कि मैंने चोरी की है, वह झूठ बोलता है इससे असत्य पाप भी हो गया। अब्रह्म का सेवन करने वाला चार पाप करता है, जहाँ अब्रह्म सेवन है वह तो पाप है ही, उसके साथ-साथ वह चोरी भी करता है ऐसा नहीं कि ऐसा कृत्य सबके सामने करने पर प्रशंसा हो, यह निंदनीय कृत्य कहलाता है, इसके साथ असत्य संभाषण भी होता है व जीवहिंसा भी संभव है इसीलिए अब्रह्म का सेवन करने वाला चार पाप करता है।

जो कोई भी प्राणी परिग्रह का संचय कर रहा है वह पाँचों पापों को कर रहा है। कैसे? तो परिग्रह का संचय करना अपने आप में पहला पाप हुआ, परिग्रह का संचय भोग-उपभोग की प्रचुर सामग्री प्राप्त करने की वांछा से किया जाता है तो अब्रह्म सेवन न करते हुए भी अब्रह्म सेवन की हमेशा भावना रहती है, कहीं ये विषयसामग्री नष्ट न हो जाए, मेरे पास धन होगा, परिग्रह होगा तो मैं बहुत सारी विषयसामग्री को प्राप्त कर सकता हूँ, परिग्रह का संचय करने वाला व्यक्ति अब्रह्म सेवन का पापी भी माना जाता है। वह भले ही शरीर के नियत अंगों के द्वारा अब्रह्म सेवन न करे किन्तु वह अन्य इंद्रियों के माध्यम से प्रचुर मात्रा में भोग भोगने की तीव्र लालसा रखता है इसलिए वह परिग्रह इकट्ठा करता चला जाता है।

परिग्रही व्यक्ति सोचता है मेरे पास मकान हो, दुकान हो, गोदाम हो, वाहन हो, बैंक बैलेंस हो, नौकर-चाकर हों, मेरे पास प्रचुर मात्रा में वस्त्राभूषण हों, धन-धान्य, सोना-चाँदी, पशुधन आदि सभी वस्तुएँ मेरे पास बहुत मात्रा में रहें। यह सब वस्तुएँ क्यों संग्रह की जाती हैं? इन वस्तुओं का संग्रह वही व्यक्ति करता है जिसकी धारणा यह बनी हो कि इस परिग्रह के माध्यम से मैं सुखी हो सकता हूँ। जब मेरे जीवन में कदाचित् पाप का उदय आएगा तो इस परिग्रह के माध्यम से मैं सुख के साधनों को फिर से खरीद सकता हूँ, सुखों को प्राप्त कर सकता हूँ, ऐसी धारणा वाला व्यक्ति परिग्रह को छोड़ना नहीं चाहता। किन्तु जो व्यक्ति श्रावकों के व्रतों को धारण करता हुआ श्रद्धावान्, विवेकवान्, क्रियावान् होता हुआ आगे बढ़ता है तब उसके चित्त में यह भावना आती है कि मेरे पास जो कुछ भी परिग्रह है उस परिग्रह को भी मैं कम करता चला जाऊँ क्योंकि मेरे जीवन का भरोसा नहीं कब नष्ट हो जाए और मैंने इतना परिग्रह जोड़कर रखा है कि एक जन्म नहीं कई जन्मों तक खाया जा सके।

फिर वह सोचता है कई पीढ़ियाँ कैसे खा सकती हैं, यदि उनका पुण्य का उदय नहीं है तो, मैं कई जन्मों तक कैसे खा सकता हूँ मेरे पुण्य का उदय सदैव एक सा तो नहीं रहेगा,

और जब पुण्य का उदय नहीं रहेगा तो मेरी सर्व सम्पत्ति इन्द्रधनुष की तरह से, आकाश में चमकने वाली विद्युत की तरह से कभी भी नष्ट हो सकती है, जब पुण्य का उदय चल रहा है तो फिर साधन सामग्री एकत्रित करने की जरूरत ही क्या है। पुण्यवान् व्यक्ति जंगल में भी चला जाए तो जंगल में भी मंगल होने लगता है। नरपुंगव तो क्या स्वर्ग से देव आकर भी उसकी सेवा करने लगते हैं, उसके भोजनादि की व्यवस्था बनाते हैं, उसके लिए इष्ट सामग्री उपलब्ध कराते हैं, ऐसे एक नहीं अनेक प्रसंग प्रथमानुयोग में आते हैं। तो पुण्य का संग्रह करना उचित है, पाप का संग्रह करना उचित नहीं है। पाप का संचय करने वाला व्यक्ति कितनी भी सामग्री इकट्ठी कर ले वह समस्त सामग्री भी क्षणार्द्ध में नष्ट हो सकती है। इन्द्र का वैभव भी यदि पाप का उदय आ जाए तो पलक झपकते ही वह वैभव भी नष्ट हो सकता है इसलिए जो कुछ भी वैभव आज आपके पास है या किसी ने तुम्हें दिया है तो यह समझिए यह वैभव पुण्य का फल है। आपके पास पुण्य होगा तो समस्त अनुकूल सामग्री मिल सकती है इसलिए अपने परिग्रह को, वैभव को परहित में, कल्याण में, पुण्य के कार्य में व्यय करना उचित है।

यहाँ आचार्य महोदय परिग्रहत्याग प्रतिमा का स्वरूप बता रहे हैं–

सर्वप्रथम परिग्रह शब्द की परिभाषा समझें। आपने लोक में नवग्रह सुने हैं सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु। और बताते हैं कि कुण्डली में कोई ग्रह प्रतिकूल है तो वह प्रतिकूल ग्रह जातक को प्रतिकूल फल देता है। कुण्डली के 12 भाव में जो भाव प्रतिकूल है उसका कुफल मिलेगा, सुफल मिलना मुश्किल है। यह नवग्रह यदि एक साथ प्रतिकूल हो जाएँ तब भी इतना कुफल नहीं दे सकते जितना कुफल यह परिग्रह दे सकता है। यद्यपि ये परिग्रह बुरा है 'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः' बहुत आरंभ और परिग्रह नरकायु के बंध का कारण है किन्तु फिर भी पूजन में द्यानतराय जी ने कहा–

बहु धन बुरा हूँ भला कहिये लीन पर उपकार सो।

यदि पर के उपकार में लगा हुआ धन-सामग्री है वह तो ठीक है किंतु यदि आप अपनी धन- सामग्री का सदुपयोग नहीं कर रहे हैं तो वही आपकी संक्लेशता बनाकर के पाप आस्रव का कारण है, वही आपके लिए दुर्गति व खोटी आयु के बंध का कारण है, वही परिग्रह वर्तमानकाल में आपकी संक्लेशता का कारण है। धन जब अर्जित किया जाता है तब भी दुःख देता है, जब रक्षण किया जाता है तब भी दुःख देता है, जब व्यय किया जाता है तब भी दुःख होता है। यह धन-अर्थ-परिग्रह सुख तो देता ही नहीं।

नीतिकारों ने भी अर्थ के संबंध में कहा कि-यह अर्थ परमार्थ से भटकाने वाला है। दूसरी बात–यह जीवन की बहुमूल्य श्वांसों को व्यर्थ करने वाला है, इस मनुष्य पर्याय को व्यर्थ

करने वाला है। जो एक बार इस अर्थ में रंजायमान हो गया तो फिर उसे उसमें से निकालना बड़ा कठिन है। जैसे कोई मछली जाल में फंस जाए तो फिर निकलना बड़ा कठिन है, जैसे कोई सर्प टोकरी में बंद हो गया तो फुंकारता रहे उसमें से निकलना मुश्किल हो जाता है, जैसे जाल में फंसे पक्षी का जाल में से निकलना कठिन है ऐसे ही परिग्रह के दलदल में फंसे मनुष्य का बाहर निकल पाना बड़ा कठिन होता है। कोई हाथी भी क्यों न हो किसी नदी की गहरी दलदल में फंस जाए तो वह चिंघाड़-चिंघाड़ कर प्राण तक दे देता है पर निकल नहीं पाता, ऐसे ही बड़े-बड़े बुद्धिमान्, शास्त्रों को पढ़ने वाले भी जो परिग्रह में आसक्त हैं वे उससे निकल नहीं पाते। परिग्रह अर्थात् 'आसमन्तात्' चारों तरफ से जो डसे। जैसे सूर्य-चन्द्रमा को ग्रहण लगता है ऐसे ही परिग्रह आत्मा की निधि को मानो ग्रसता है, उसे नष्ट करता है।

महानुभाव! यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं कि परिग्रह दो प्रकार का होता है बाह्य परिग्रह और अंतरंग परिग्रह। श्रावक बाह्य परिग्रह का त्याग करता है और श्रमण अंतरंग व बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं। आप पढ़ते हैं–

परिग्रह चौबीस भेद त्याग करें मुनिराज जी।
तृष्णा भाव उच्छेद घटती जान घटाइए।

तृष्णा भाव को छोड़कर परिग्रह का त्याग करना चाहिए। दस प्रकार का बाह्यपरिग्रह-क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयन, आसन, कुप्य, भाण्ड। जिस स्थान में बीज का वपन करके खेती की जाती है उसे क्षेत्र कहते हैं, जहाँ पर प्रासाद घर आदि बनाए जाते हैं वह वास्तु कहलाता है। अर्थात घर को वास्तु कहते हैं। स्वर्ण, रजत, मोती, हीरा, पन्ना आदि को धन कहते हैं। गेहूँ, चनादि अनाज धान्य कहलाता है। दासी-दास आदि को द्विपद कहते हैं। गाय, भैंस आदि को चतुष्पद कहते हैं। खाट-पलंग आदि को शयन एवं बिस्तर आदि को आसन कहते हैं। रेशमी, सूती आदि वस्त्रों को कुप्य कहते हैं और चन्दन, मजीठ बर्तन आदि को भाण्ड कहते हैं। इन बाह्य वस्तुओं में यह मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का ममकार अहंकार होता है। इन बाह्य पदार्थों में जो मूर्च्छा भाव होता है उसको अंतरंग परिग्रह कहते हैं।

जब श्रावक ने परिग्रहपरिमाण व्रत लिया था तब उसने क्षेत्र की सीमा ली थी, मकान की सीमा ली थी, सोने-चाँदी की मर्यादा ली थी, पशुधन, अनाज आदि की सीमा, बर्तन-वस्त्रों की व दास-दासी की भी सीमा ली थी किन्तु जब वह पाँच अणुव्रत के आगे बढ़ता है तो उसकी सीमा बढ़ती चली गई। नवम् प्रतिमा पर पहुँच गया तो वह दस प्रकार के बाह्यपरिग्रह का त्याग कर किंचित् वस्तुएँ रखता है। गिनती के एक-दो बर्तन रखे, गिनती के एक-दो वस्त्र रखे और कोई आवश्यक सामग्री है शास्त्र, उपकरण आदि वह रखता है, जिसके माध्यम से उसका धर्मध्यान चलता रहे, उसका उपयोग अशुभ की ओर न जाए। इस प्रकार वह अपनी प्रवृत्ति करता है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं–बाह्येषु दशसु वस्तुषु–बाह्य दस प्रकार के जो परिग्रह हैं उनमें 'ममत्वमुत्सृज्य' ममत्व का त्याग करके पुनः 'निर्ममत्वरतः' निर्ममत्व भाव में रति करता हुआ, रति का अर्थ होता है ममत्व भाव, किन्तु ममत्व भी करना है तो निर्ममता से। वह निर्ममत्व रति करता हुआ 'स्वस्थः' अपने आप में स्थित हो जाता है। बाह्य परिग्रह आन्तरिक परिणामों की विकृति का कारण है। उसका त्याग किए बिना परिणामों की विशुद्धि नहीं होती। जैसे चावल का बाह्य छिलका दूर किए बिना भीतरी लालिमा नहीं निकलती। बाह्य त्याग करने पर आन्तरिक शुद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। जैसे बाह्य छिलका निकलने के बाद भीतरी लालिमा निकले और नहीं भी निकले। जो बाह्य परिग्रह का त्याग कर संतुष्ट नहीं होता, स्वस्थ नहीं होता, आनंदित नहीं होता, आन्तरिक तृष्णा नहीं घटती वह वास्तविक परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी नहीं कहलाता। इसीलिए आचार्य महोदय ने 'संतोषपरः व स्वस्थः' शब्द का प्रयोग करके कहा कि परिग्रहत्याग के बाद उसका मन स्वस्थ और संतुष्ट होना चाहिए। उन्होंने कहा कि मात्र बाह्य परिग्रह का त्याग ही इस प्रतिमा का स्वरूप नहीं है अपितु ''परिचित परिग्रह परिसमन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित परिग्रहः'' जो निरंतर चित्त में स्थित रहता है, ऐसे ममता स्थानभूत परिग्रह को परिचित परिग्रह कहते हैं। अंतरंग व बाह्य परिग्रह के त्याग का नाम परिग्रहत्याग प्रतिमा है।

परिग्रह के त्याग का कारण संतोष है क्योंकि जब तक संतोष नहीं होता तब तक त्याग नहीं हो सकता। इसीलिए आचार्य महोदय ने त्याग करने वाले को 'संतोषपरः' विशेषण दिया, क्योंकि परिग्रह का त्याग कर संतुष्ट रहने से ही व्रत की रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं। जब तक परिग्रह होता है तब तक चित्त चंचल होता है। परिग्रह नहीं होता है तो चंचल चित्त भी स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार मछली पानी में एक जगह शांति से बैठी है किन्तु किसी ने आटा डाल दिया तो मछलियों में खलबली मची, वे उस पर झपटने के लिए इधर से उधर से आने लगी और उनमें चंचलता पैदा होने लगी। जैसे हवा चली तो पत्ते काँपने लगे, अथवा बंदर शांत बैठे थे जैसे ही उन्हें कोई सूखा पेड़ मिला तो हिलाने लगे। कोई बालक किसी कमरे में जहाँ बहुत सारे बोरे भरे रखे हैं वह उन पर उछलकूद करता है, यदि वे वहाँ से हटा दिए जाएँ तो उछलकूद कहाँ करेगा? नहीं कर पाएगा, शांति से बैठ जाएगा। ऐसे ही जब किसी प्राणी के पास परिग्रह होता है तो वह चिंतन करता है कि मेरे पास अमुक–अमुक वस्तु है कहीं यह नष्ट न हो जाए, गुम न जाए। माला भले ही हाथ में बनी रहे फिर भी परिग्रह की गिनती करता रहता है। तो आचार्यों ने कहा– यदि वह कुछ परिग्रह का त्याग कर देता है तो

उसका चित्त स्थिर हो जाता है। 'संतोषपरः' परिग्रह त्याग करने वाला व्यक्ति संतोषवृत्ति वाला होता है। वह अपने आपमें ही, अपने चित्त में ही सुख-शांति खोजने की कोशिश करता है। उसकी गवेषणा स्वयं की सुख-शांति के लिए होती है।

आगे कहा–'परिचित परिग्रहाद्विरतः' जो चित्त में बसा हुआ परिग्रह है उससे विरत होना ही परिग्रहत्यागप्रतिमा है। ऐसा नहीं कि कोई कहे भाई क्या त्याग किया? मैं अमेरिका के फ्लैट का त्याग करता हूँ। भले मानुष पहले यह बता क्या अमेरिका में तेरे पास फ्लैट है? नहीं है। तो फिर त्याग कैसा, जब नहीं है उसका त्याग क्या करना, जो तुम्हारे पास है और जो तुम्हें बार-बार चंचल कर रहा है, तुम्हारे चित्त में बसा हुआ है उसका त्याग करना है। जो परिचित परिग्रह है उससे विरत होने का नाम ही परिग्रहत्याग प्रतिमा है। यदि आपने परिचित परिग्रह जो आपके पास वर्तमान में है उसका त्याग नहीं किया और कहते हो कि मैंने तो बस इतना सा रखा है बाकी सम्पूर्ण का त्याग कर दिया, जो सम्पूर्ण का त्याग आप कह रहे हो उसका त्याग तो आपने पहले अणुव्रती बनते ही कर दिया था, अब तो त्याग उसका करना है जो तुम्हारे पास है, जिसे तुमने पकड़ लिया है, उसे छोड़ दो तब अपने वैभव को प्राप्त कर सकोगे।

अपने आप में स्थिर रहो, संतोष भाव धारण करो, ऐसा वह परिचित परिग्रह से विरक्त प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। महानुभाव! इस प्रकार वह नवमी प्रतिमा का धारक व्रती परिग्रह के अर्जन, रक्षण व नाश से होने वाले अनेक दोषों को जानकर दुर्गतियों के भ्रमण के भय से अर्थात् परिग्रह हेय है, अशांति का कारण है, इस प्रकार के विचारों से स्वकीय मानसिक प्रवृत्ति को दृढ़कर बाह्यपरिग्रह का त्याग कर देता है या मानसिक कषायों की मंदता के बिना निर्दोष व्रतों का पालन नहीं हो सकता इसलिए बाह्यपरिग्रह के त्याग के साथ अंतरंग में निर्ममत्व व संतोष धारण करता है, इस प्रकार शुद्ध भावों से मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक जीवनपर्यंत समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है। प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से अपने घर में ही निवास करता है, धर्मध्यान करते हुए घर में ही भोजन करता है, यदि कोई निमंत्रण दे तो वहाँ जाकर शुद्ध भोजन ग्रहण कर लेता है, चूँकि वह घर में रहता है, अपने पुत्रादिकों को स्वामी मानता है इसीलिए परिग्रह व घर आदि से विरक्त होने पर भी लौकिक कार्यों में पुत्रादिकों को सम्मति देता है। इस प्रकार जिनागम के अनुसार नवमी प्रतिमा का स्वरूप यहाँ कहा। आप इस नवम् प्रतिमा का स्वरूप समझें व उसके नियमों का पालन कर अपने चित्त में विशुद्धि बढ़ाएँ। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अनुमतित्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधी-रनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥146॥

अन्वयार्थ–यस्य – जिस श्रावक की, **आरम्भे** – आरम्भ में, **वा** – तथा, **परिग्रहे** – परिग्रह में, **वा** – और, **ऐहिकेषु कर्मसु** – इस लोक संबंधी कार्यों में, **अनुमतिः न अस्ति** – अनुमति सलाह या अनुज्ञा नहीं होती है, **सः** – वह, **खलु –** निश्चय से, **समधीः** – समता बुद्धि वाला, **अनुमति-विरतः** – अनुमतित्याग प्रतिमा का धारी, **मन्तव्यः** – जानना चाहिए।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में श्रावकों की प्रतिमाओं का वर्णन चल रहा है। पूर्व में नौ प्रतिमाओं का स्वरूप बताया अब दसवीं प्रतिमा का क्या स्वरूप है, क्या लक्षण है, उसका पालन करने से क्या लाभ है, न पालन करें तो क्या हानि है इस संबंध में आचार्य महोदय ने बताया। 'अनुमतिः न' अनुमति नहीं देना। जैन दर्शन में तीन करण कहे, तीन योग कहे। योगों का भी प्रभाव होता है, करणों का प्रभाव भी होता है, जब वे कषाय से संशलिष्ट होते हैं और एक के साथ अन्योन्य रूप से संशलिष्ट होते हैं तब 108 प्रकार का जीवाधिकरण बनता है। मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना, समरंभ-समारंभ-आरंभ और क्रोध-मान-माया-लोभ इस प्रकार से 108 प्रकार का जीवाधिकरण कहा। इस जीवाधिकरण संबंधी आस्रव के माध्यम से अशुभकर्म का बंध हुआ, वह ऐसे कुसंस्कार लेकर के आया जो संसारवर्धक हो सकते हैं। उनका प्रक्षालन करने के लिए, तिरोहित करने के लिए, उन संस्कारों का मार्जन करने के लिए जो सुधी श्रावक व श्राविका, श्रमण-श्रमणी हैं वे 324 श्वाँस और उच्छवास के साथ 108 बार महामंत्र का जाप करते हैं, जिससे वह आस्रव तिरोहित हो, उसके संस्कार विनष्ट हों। यह प्रातःकाल भी करते हैं और संध्याकाल में भी करते हैं, कम-से-कम 1-1 माला दोनों कालों में करते हैं।

वह सम्यग्दृष्टि श्रावक जिसने किंचित् भी व्रतों को ग्रहण किया है वह व्यक्त और अव्यक्त, ज्ञात और अज्ञात भाव में लगे दोषों का प्रक्षालन करना चाहता है, जिससे वे दोष बड़ा रूप न धारण करें। नित्य-नित्य की सफाई करने वाले व्यक्ति के घर में ज्यादा गंदगी नहीं जमती किन्तु जो अपने मकान को lock कर देता है, साल-दो साल बाद देखेगा तो उसके मकान में बहुत सारी गंदगी जम जाएगी। ऐसे ही जो दुकानदार अपनी दुकान की सफाई दिन में दो बार करवाता है तो उसकी दुकान साफ दिखती है और दुकान में लगे वस्त्र-आभूषण या बर्तन

आदि जो भी वस्तुएँ हैं वह सब ठीक दिखती हैं, यदि वह दो-चार दिन सफाई न करे तो उनमें धूल जम जाती है। यहाँ तक कि फल-सब्जी बेचने वाला, फेरीवाला व्यक्ति भी अपने फलों को कपड़े से साफ कर-करके पोंछकर रखता है इसके उपरांत भी एक बाल्टी पानी पास रखता है और बीच-बीच में पानी के छींटा डालता रहता है जिससे उन पर धूल न जमे, वे साफ चमकते रहें, यदि वह ऐसा नहीं करे तो गंदे फल- सब्जियों को सुधी श्रावक-श्राविका खरीदना पसंद नहीं करेंगे।

महानुभाव! हमारी और आपकी आत्मा में धूल न जमे इसलिए व्रतियों को-महाव्रतियों को प्रात:काल व संध्याकाल में कम से कम एक माला महामंत्र की अवश्य ही जपना चाहिए, वह भी श्वासोच्छ्वासपूर्वक। यह भी अपने आप में सामायिक जैसा ही है। आचार्य महोदय ने बताया-कृत अर्थात् स्वयं काम करने से, कारित-दूसरों से काम कराने से और अनुमोदना-दूसरों के कार्य की प्रशंसा आदि करने से भी पुण्य और पाप का, शुभ-अशुभ कर्म का आस्रव होता है। मन से करने से, मन से कराने से, मन से अनुमोदना करने से, वचन से कृत-कारित-अनुमोदना से, काय द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना से ये $3 \times 3 = 9$ भेद हुए। 9 प्रकार से समरंभ-समारंभ और आरंभ अर्थात् किसी भी शुभ-अशुभ कार्य का प्रारंभ करने का मन में संकल्प करना या प्रारंभ करने के लिए सामग्री इकट्ठी करना या पूरा शुरू ही कर देना इस प्रकार $9 \times 3 = 27$ भेद होते हैं। कृत-कारित-अनुमोदना, मन-वचन-काययोग, समरंभ-समारंभ-आरंभ इनके साथ कषाय भी अनस्यूत होती है तो $27 \times 4 = 108$ होते हैं।

आप कोई पाप का कार्य कर नहीं रहे किन्तु पाप के कार्य की अनुमति दे रहे हैं तब भी आपको अशुभ पाप कर्म का आस्रव-बंध होगा। कई बार तो ऐसा भी हो सकता है कि कार्य करने वाला कम पाप का बंध करे और कराने वाला ज्यादा पाप का बंध कर ले, अनुमोदना करने वाला और ज्यादा पाप का बंध कर ले। पुण्य कार्य करने वाला हो सकता है कम पुण्य का बंध करे किन्तु कराने वाला, अनुमोदन करने वाला ज्यादा पुण्य का बंध कर ले। यह भी संभव है। यही आचार्य महोदय कह रहे हैं जिन कार्यों के करने से, जिन कार्यों के कराने से, जिन कार्यों की अनुमोदना करने से यदि जीवन में अशुभ आस्रव-बंध होता है तो उनका त्याग कर देना चाहिए।

प्रारंभ में ही व्रती के लिए बताया था कि अनर्थदण्ड नहीं करना चाहिए। हिंसादान, पापोपदेश, दु:श्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या ये व्यर्थ में पाप का आस्रव कराते हैं अर्थात् इनके करने में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा। हिंसा का उपकरण दे दिया, भले ही हिंसा नहीं की। पाप किया नहीं पर पाप का उपदेश दे दिया। दु:श्रुति अर्थात् खोटे शास्त्रों को पढ़ या सुन रहे

हैं, खोटा ध्यान लगा रहे हैं, वह कार्य किया किसी और ने किन्तु ध्यान आप लगा रहे हो, पाप का बंध आप कर रहे हो। ऐसे ही प्रमादचर्या अर्थात् प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति कर रहे हैं चाहे जीव मरे या न मरे किन्तु प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति करने से नि:संदेह अशुभ आस्रव होता है, अशुभ कर्म का बंध होता है। इसीलिए आचार्य महोदय कह रहे हैं 'अनुमतिरारम्भे वा' आरंभ के संबंध में अनुमति नहीं देना चाहिए। आठवीं प्रतिमा में कहा कि सेवा-कृषि-वाणिज्य प्रमुख पाप के हेतु होने से वह उनसे विरक्त हो गया, उस प्रतिमा में नौकरी, सेवा, कृषि आदि करता तो नहीं था किन्तु अनुमति दे देता था, किन्तु अब दसवीं प्रतिमा में अनुमति भी नहीं देगा। आरंभ की अनुमति नहीं देगा। कोई पूछे मैं खेती कर लूँ? वह कहेगा जैसा आपका मन हो आप जानो, कोई पूछे मैं खेत में कौन सी फसल बोऊँ? जैसा आपका मन हो, क्या करना, क्या नहीं करना आप जानो। और भी कोई उनसे आरंभ आदि कार्य करने की पूछे तो दसवीं प्रतिमा वाला यही कहेगा कि मैं इन कार्यों की अनुमति नहीं देता आपको जो ठीक लगे वैसा करो।

एक ब्रह्मचारी थे, वे किसी गृहस्थ के यहाँ भोजन करने गए। गर्मी का समय था। बहुत गर्मी पड़ रही थी। ब्रह्मचारी जी की एक या दो प्रतिमा थी। वह महिला जो भोजन करा रही थी उसने भैया जी से पूछा-भैया जी! पंखा चला लूँ? भैया जी ने पलटकर पूछा-बाई जी! ये घर किसका है? वह बोली मेरा, ये पंखा किसका है? मेरा, तो हमें क्या पता पंखा चलाना है या नहीं। उन भैया जी ने समझदारी से काम किया, उन्होंने ये भी नहीं कहा कि पंखा चलाओ ये भी नहीं कहा कि बंद करो, तुम जानो तुम्हारा काम जाने, मैं आपसे कुछ नहीं कहता। ऐसे ही अनुमतित्याग प्रतिमा वाला आरंभ की अनुमति नहीं देता। वह यह भी नहीं कहता कि तुम मत करो और यह भी नहीं कहता कि करो। भैया! तुम स्वयं समझदार हो, संसारी प्राणी हो, आपको अनुभव है कि आपको क्या करना है क्या नहीं करना, हम इसमें कुछ नहीं कह सकते।

किसी ने पूछा आप बताओ तो सही मेरे पास इतना पैसा रखा है, मैं अमुक माल खरीदकर रखना चाहता हूँ, जब बाद में माल महंगा होगा तब माल बेच दूँगा। भैया! हम इस परिग्रह के संग्रह के बारे में कुछ नहीं कह सकते कि आप संग्रह करो या नहीं करो। हम अपना काम जानते हैं, आप अपना काम जानते हैं। हमने आपसे तो नहीं पूछा कि सामायिक कैसे करनी है क्योंकि आप जानते ही नहीं हो, हम पूछते हैं तो अपने गुरुजनों से पूछते हैं कि हमें कैसे क्या करना है। तो आप आपके क्षेत्र में जो गुरु हैं, जो आरंभ-परिग्रह में लिप्त हैं उनसे सलाह लो, हमसे इस बात की सलाह मत लो। हमसे सलाह लो तो ये लो कि रात्रिभोजन का त्याग कर दें क्या? तो हम कहेंगे हाँ कर देना चाहिए, मैं प्रतिदिन मंदिर जाना चाहता हूँ, अच्छी बात

है। तो इस प्रकार की अनुमति तो हम दे सकते हैं किन्तु हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों में प्रवृत्ति रूप अनुमति नहीं दे सकते हैं।

आगे कहा- **'एहिकेषु कर्मसु'** जो लौकिक कार्य हैं, जिनसे धर्म का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ऐसे लौकिक कार्य की अनुमति भी वह नहीं दे सकता। जैसे कोई कहे-भैया बिटिया की शादी पक्की करनी है तो हम सगाई कब कर लें, या बेटे का जन्म हुआ है उसका प्रोग्राम कब कर लें, हमें मकान बनवाना है उसका मुहूर्त कब कर लें। या और कोई भी लौकिक कार्यों के लिए पूछता है कि कब करें तो वह नवम-दशम प्रतिमा वाला अनुमति नहीं देता। जो गृहस्थाचार्य होते हैं, प्रतिष्ठाचार्य पंडित होते हैं, वे लौकिक कार्यों के लिए आपका मार्गदर्शन करेंगे, हम परमार्थ के कार्य का मार्गदर्शन तो कर सकते हैं किन्तु संसार के कार्यों का मार्गदर्शन नहीं कर सकते।

जिन कार्यों से धर्म का कोई प्रयोजन नहीं है ऐसे कार्यों की अनुमति दशम प्रतिमा वाला नहीं देता। वह आरंभ के संबंध में, परिग्रह के संबंध में व लौकिक कार्यों की अनुमति नहीं दे सकता। जिन कार्यों में धर्म का प्रयोजन है उन कार्यों की अनुमति दे सकता है क्या? हाँ, दे सकता है, जैसे किसी ने कहा हमारा विचार है मंदिर जी का शिलान्यास अच्छे मुहूर्त में कराना चाहते हैं। हाँ, अवश्य, बहुत अच्छी बात है। महाराज जी हम शास्त्र छपवाना चाहते हैं, बहुत अच्छी बात है। अमुक ग्रंथ की वाचना कराना चाहते हैं, 16 दिन का शांतिविधान, आष्टाह्निक विधान कराना चाहते हैं, ठीक है भैया हमारा आशीर्वाद है। जो पुण्य के कार्य हैं, जिन कार्यों से अशुभ की निवृत्ति हो शुभ की प्रवृत्ति हो ऐसे पुण्य रूप कार्यों को करने की अनुमति माँगता है तो साधु, त्यागी व्रती, दशम प्रतिमा वाला उसकी अनुमति तो दे सकता है किन्तु आरंभ की, परिग्रह की या अन्य लौकिक कार्यों की जिनमें धर्म का प्रयोजन नहीं है ऐसे कार्यों में वह अनुमति नहीं देता।

आगे कहा-'सः समधी' वह समता बुद्धि वाला अर्थात् वह दशमी प्रतिमा वाला है जिसकी बुद्धि समत्व को प्राप्त हो रही है। वह चाहे पिता पूछने आए या पुत्र किसी को भी आरंभ-सारंभ की अनुमति नहीं देता, हाँ, इतना अवश्य कहता है कि अपना कल्याण जरूर करना, संसार के मार्ग में ही गमन नहीं करते रहना, मोक्षमार्ग की स्मृति रखना, अपनी मृत्यु को याद करते रहना जो कभी भी आ सकती है इसलिए मोक्षमार्ग से कभी च्युत नहीं हो जाना। उस समत्वबुद्धि वाले को अनुमति विरक्त मानना चाहिए।

दशम प्रतिमा तक श्रावक व श्राविका घर में रह सकते हैं। दशम प्रतिमा वाला वर्णी कहलाता है। वह निमंत्रण स्वीकार नहीं करता और उसका पड़गाहन भी नहीं होता किन्तु हाँ उसे आह्वान किया जाता है, आहूत किया जाता है, उसे कोई सद्गृहस्थ आकर निवेदन करता है वर्णी जी चलिए, आपकी चर्या का समय हो गया और उनका डोल या कमण्डल लेकर वह श्रावक आगे चलता है व वर्णी जी पीछे-पीछे चलते हैं। वर्णी जी मंदिर में भी रह सकते हैं और अपने भवन में अलग कक्ष बनाकर भी रह सकते हैं किन्तु परिवारीजनों से उनका कोई प्रयोजन नहीं है।

ऐसा उत्तम वर्णी पुरुष जिनेन्द्र भगवान् की पूजा व अभिषेकादि के द्वारा, प्रतिष्ठा आदि के महोत्सव द्वारा जिनशासन की प्रभावना करता रहता है। वह अपने बारह व्रतों का निरतिचार पालन करता है व निःशल्य होकर अपने चारित्र को जीवनपर्यंत पालन करता है। वह व्रती संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता हुआ निर्ग्रंथ लिंग को धारण करने की इच्छा करता रहता है व स्वस्थ मन से प्रतिदिन धर्मध्यान धारण करता रहता है। इस प्रकार उत्कृष्ट व्रतों को धारण करने वाला दशम प्रतिमाधारी श्रावक जैन शास्त्रों के प्रमाण के अनुसार अपने समस्त लौकिक आचरणों को प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार पालन करने से वह कल्याण का भाजक होता है। इस प्रकार दसवीं प्रतिमा का स्वरूप संक्षेप में जाना। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्ट - श्चेलखण्डधरः॥147॥

अन्वयार्थ–जो **गृहतः** – घर से, **मुनिवनं** – मुनिवन को, **इत्वा** – जाकर, **गुरु-उपकण्ठे** – धर्मगुरु के पास, **व्रतानि परिगृह्य** – व्रतों को ग्रहण करके, **तपस्यन्** – तप करता हुआ, **भैक्ष्याशनः** – भिक्षा भोजन करने वाला और, **चेलखण्डधरः** – खण्डवस्त्र का धारी होता है, वह **उत्कृष्टः** – उत्कृष्ट श्रावक उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप देख रहे हैं। आचार्य महोदय ने क्रमशः दस प्रतिमाओं का व्याख्यान किया। अब आचार्य महोदय ग्यारहवीं उद्दिष्टत्यागी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक का स्वरूप बताते हुए कह रहे हैं 'गृहतोमुनिवनमित्वा' दशम प्रतिमा तक तो घर में रह सकते हैं किंतु अब ग्यारहवीं प्रतिमा में घर में नहीं रह सकते, गृहत्याग करना जरूरी है। गृहत्याग करके कहाँ जाना है? किन्हीं क्षेत्रों पर जाना है कि जंगल में जाना है या अन्य किसी ग्राम में जाना है? तो यहाँ पर बताया मुनिराज जहाँ रहते हैं ऐसे मुनियों के समूह में जाना है। जहाँ चतुर्विध संघ है आचार्य, उपाध्याय, साधुगण आदि हैं, जहाँ आचार्य महोदय अपनी बेशर्त कृपादृष्टि बरसाते हैं जैसे सघन श्याम मेघ पृथ्वी से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं करते वरन् स्वतः ही बरबस बरस जाते हैं। पृथ्वी ये नहीं कहती कि मेरी योग्यता थी इसलिए बादल बरसे हैं, नदी-सरोवर-सागर ये नहीं कहते कि हमारी योग्यता थी इसलिए पानी बरसा है, आपने हमारे ऊपर क्या उपकार किया, किन्तु मेघ जो वर्षा करते हैं, बरबस दयादृष्टि कृपादृष्टि है तो ऐसे ही आचार्य महोदय जो समागत भव्य जीव आता है उसके कल्याण के लिए विचार करते हैं। वह श्रावक अपनी प्रार्थना करता है, कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए संयम की याचना करता है। आचार्य महोदय उसकी प्रार्थना और याचना के शब्दों और भावों को सुनकर व समझकर के आगे निर्णय लेते हैं।

ग्यारहवीं प्रतिमा को ग्रहण करने का इच्छुक सर्वप्रथम गृहत्याग करके 'मुनिवनमित्वा' मुनिराजों के वन में जाकर के। वन से आशय यहाँ मुनियों के समूह को ग्रहण करना है, अलग से मुनिवर नाम का कोई वन नहीं है। मुनियों का समूह जहाँ विराजमान है उपचार से उसे मुनिवन कह दिया। जहाँ साधुगण साधना करते हैं वहाँ वह श्रावक संयम की भावना से

पहुँचा। वह कोई शास्त्रार्थ करने नहीं पहुँचा, कोई वाद-विवाद करने नहीं पहुँचा, किसी की परीक्षा लेने नहीं पहुँचा, वह महाराज को देखने नहीं पहुँचा कि वे ज्ञानी हैं या अल्पज्ञानी, तपस्वी हैं या कम तपस्वी। वह तो समर्पण के भाव से जाता है जैसे नदी सागर के पास जाती है तो सागर की परीक्षा लेने नहीं जाती, सागर का पानी चखने नहीं जाती, सागर में स्वयं समर्पित होने के लिए जाती है। ऐसे ही आचार्य महोदय के पास वह भव्य अपना समर्पण करने के लिए जाता है। नदी कभी सागर से यह नहीं कहती कि मेरा पानी आपसे मिलने से पहले मीठा था अब खारा हो जाएगा, आप तो खारे हो आपमें अमुक-अमुक कमी हैं। ऐसा नहीं, वह नदी तो यह देखती है कि मैं तो अभी अपने तल में मृतिका या पाषाण खण्ड़ों को छिपाकर रखती हूँ, वास्तव में यह तो रत्नाकर है, इसके पास पहुँचकर मेरी संज्ञा भी रत्नाकर की हो जाएगी। सागर के बहुत गहरे तल में रत्नों का ढेर हैं, अपार रत्नराशि है। वह नदी भी सागर की संज्ञा को प्राप्त करती है।

ऐसे ही वह गृहस्थ गृह त्यागकर आचार्य महोदय के पास आता है तो आचार्य महोदय महाव्रतों की दीक्षा देने के पहले उसकी परीक्षा करते हैं, पहले उसे तपाते हैं, सीधे दिगम्बर दीक्षा नहीं दी जा सकती। वे उत्कृष्ट श्रावक की दीक्षा देकर के उसकी परीक्षा लेते हैं कि वह आगे बढ़ने के योग्य है या नहीं। इसलिए आचार्य महोदय उसे जो भी निर्देश देते हैं उन निर्देशों का वह पालन करता है और अपनी प्रार्थना भी प्रस्तुत करता है। वह कहता है आचार्य भगवन्! मैं अपने व्रतों में वृद्धि करता हुआ संसार सागर से पार होना चाहता हूँ, महाव्रती बनना चाहता हूँ, मेरी भावना परमेष्ठी पद को स्वीकार करने की है। मेरी पात्रता को परख करके, जाँच करके, शोधकरके जो व्रत मुझे दिए जा सकें वे दे दो।

जिस तरह ग्राहक दुकानदार के पास जाकर कहता है उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वस्तु चाहिए, दुकानदार कहता है कितने पैसे लेकर आए हो? इतने पैसे हैं। तो वह ग्राहक को उतने पैसों तक की ही वस्तु दिखाता है, ऐसे ही आचार्य महोदय कहते हैं कितने-कितने व्रतों का पालन किया, कैसे किया? सदोष किया, निर्दोष किया, किन गुरु महाराज से व्रत लिए, आगे किस प्रकार से साधना करेंगे? यदि अभी इन अल्पव्रतों में ही दोष लगा रहे हो तब महाव्रतों को कैसे शुद्ध कर पाओगे। तो आचार्य महोदय उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा करते हैं। वे जब देखते हैं कि इसका वैराग्य स्वयं का वैराग्य है, किसी से उधार लिया वैराग्य नहीं है, यह स्वयं के वैराग्य बल से ही दीक्षा लेना चाहता है, संसार-शरीर-भोगों से निःसंदेह विरक्त है, इसके चित्त में स्वकल्याण की तीव्र भावना है, जैसे प्यासा चातक स्वाति नक्षत्र की बूँद को

ग्रहण करना चाहता है ऐसे ही इसकी भी संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर आत्मकल्याण की तीव्र भावना है।

तब आचार्य महोदय उससे कहते हैं हे भव्य जीव! आपने बहुत अच्छा विचार किया है। नि:संदेह वीतराग मार्ग को स्वीकार किए बिना आत्मा का कल्याण संभव नहीं है। संयम के मार्ग के बिना तो कोई भी भव्यजीव अपनी आत्मा का कल्याण कर ही नहीं सकता, यहाँ तक की तीर्थंकर परमदेव भी जब संयम को स्वीकार करते हैं तब अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार आचार्य महोदय ने उसे महाव्रतों के स्वरूप को समझाया, अणुव्रतों के स्वरूप को समझाया और फिर 10वीं प्रतिमा के आगे 11वीं प्रतिमा का स्वरूप समझाया। अब वह गृहस्थ अपनी पात्रता, अपनी स्थिति देखकर कहता है आचार्य भगवन्! पहले मैं छोटी दीक्षा को लेकर अपना कल्याण कर लूँ बाद में मेरा साहस और संवर्द्धित होगा तब मैं महाव्रतों को स्वीकार करूँगा और निर्दोष आगे बढ़ता चला जाऊँगा। आचार्य महोदय द्वारा व्रतों का उपदेश सुनकर उसे ग्रहण करता है। यही बात यहाँ कही।

'गुरूपकण्ठेव्रतानि परिगृह्य' गुरु के कण्ठ के द्वारा उपदेश को सुनकर, गुरु की देशना सुनकर व्रतों को ग्रहण करता है। पहले से 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रत का पालन कर रहा है अथवा नहीं कर रहा है। जो क्षुल्लक-ऐलक दीक्षा लेना चाहता है वह सीधे अव्रती भी आ सकता है, आचार्य महोदय अव्रती को भी सीधे 11 प्रतिमा दे सकते हैं, वे दो प्रतिमा वाले को भी ग्यारह प्रतिमा दे सकते हैं अथवा एक से दस तक प्रतिमा वाले किसी को भी ग्यारह प्रतिमा दे सकते हैं। जैसे स्कूल में कोई विद्यार्थी होशियार है तो Jump लगाकर के एक कक्षा छुड़वा दी ऐसे ही जरूरी नहीं कि दसों प्रतिमा का पालन करने वाला ही ग्यारह प्रतिमा को ले, प्रथम प्रतिमा वाला जो कि अभ्यासरत है कि मैं प्रतिमा ग्रहण करूँगा तो वह भी सीधे ग्यारह प्रतिमा के व्रतों को स्वीकार कर सकता है।

'गुरुसाक्षीव्रतश्रुतं' किंतु वह व्रतों को गुरु की साक्षी में लेता है, अपने आप नहीं लेता। अपने आप लिए गए व्रत दृढ़ता प्रदान नहीं कर पाते, स्वयं के द्वारा लिए गए व्रतों में शिथिलता आती है, मन चंचल हो जाता है, कहता है मैं ऐसा नहीं कर पाऊँगा किन्तु गुरु की साक्षी में, चतुर्विध संघ की साक्षी में, समाज की साक्षी में व्रत आदि को स्वीकार किया जाता है तो कदाचित् चारित्रमोहनीय कर्म का उदय भी आए, तो उसके गुरु भाई उसे समझाने की चेष्टा करते हैं, गुरुजन समझाते हैं, उसे लोकव्यवहार का भय भी रहता है, जिससे वह कर्मोदय के आने में जो निमित्त हैं उनसे बचने का प्रयास करता है, उसकी विशुद्धि बढ़ती है। अच्छे

निमित्तों के बीच में रहता है, गुरु की उपदेश-देशना सुनता है, स्वाध्याय करता है, साधर्मी भाईयों से चर्चा करता है कि मुझे क्या कैसे करना चाहिए, वे आपस में समझाते हैं, नहीं तो बाद में गुरुजन समझाते हैं।

आगे कहा **'भैक्ष्याशनः'** भिक्षावृत्ति करता हुआ। भिक्षा के द्वारा अशन ग्रहण करता है। **तपस्यन्**-तपस्या करता है। वह तपस्या कैसे कर रहा है? अपनी इच्छाओं का निरोध करता हुआ, क्योंकि इच्छाओं के निरोध के बिना तपस्या नहीं होती। पहले घर गृहस्थी में रहते हुए उसकी जो इच्छाएँ होती थी उन इच्छाओं का नियंत्रण कर लिया। **'उत्कृष्ट चेलखण्डधरः'** क्योंकि वह 11 प्रतिमाओं को धारण करता है इसलिए खण्डवस्त्र को धारण करता है। ऐलक शब्द 'चेल' से बना है। **किंचित् चेलधारकः ऐलकः**-चेल अर्थात् वस्त्र। यहाँ पर आचार्य महोदय ऐलक दशा की बात कह रहे हैं, वह एक वस्त्र कोपीन मात्र धारण करता है और वह उत्कृष्ट श्रावक होता है। वर्णी जी 10 प्रतिमा अवस्था तक तो किसी श्रावक-श्राविका ने निवेदन किया कि भैया जी चलो भोजन करने के लिए, तो जाते थे किन्तु अब ऐसे नहीं जा सकते, अब तो वह भिक्षावृत्ति के लिए जाते हैं और पुनः उनका पड़गाहन विधिपूर्वक होता है। पूर्व में ग्यारह प्रतिमाधारी भिक्षावृत्ति करते थे, घर-घर जाकर के धर्मलाभ-धर्मलाभ ऐसा कहते हुए लोगों के द्वारा प्रदत्त प्रासुक मर्यादित भोजन को एक गृह में बैठकर के अथवा वहाँ से लाकर के बसतिका में ग्रहण कर सकते थे।

वर्तमानकाल में ग्यारह प्रतिमा वाले का श्रावक जन पड़गाहन करते हैं पुनः नवधाभक्तिपूर्वक उनकी आहारचर्या कराते हैं। ऐलक की अवस्था है कि वह एक कोपीन धारण करता, स्वयं अपने हाथ से या गुरुजनों के माध्यम से अपना केशलोंच करवाता है। कंघा, कैंची, उस्तरे आदि का प्रयोग नहीं करता और वह वाहनादि का प्रयोग नहीं करता पैदल ही विहार करता है, अंजुली में ही आहार करता है किन्तु जब तक ऐलक बनने की क्षमता नहीं है तो फिर वह क्षुल्लक बन जाता है। वह भी ग्यारहवीं प्रतिमा वाला कहलाता है। वह एक कोपीन वस्त्र के साथ एक उत्तरीय वस्त्र धारण करता है। आचार्य महोदय समंतभद्रस्वामीजी के शब्दों के अनुसार वह चाहे ऐलक अवस्था में हो या क्षुल्लक अवस्था दोनों ही ग्यारह प्रतिमा वाले, वे दोनों ही उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

दोनों के स्वरूप में थोड़ा अंतर है। क्षुल्लक जी महाराज के लिए केशलोंच करने की अनिवार्यता नहीं है, अभ्यास करना चाहें तो अभ्यास करें, पर ऐलक जी के लिए अनिवार्यता है। क्षुल्लक जी के लिए पात्र में आहार लेना होता है, ऐलक जी के लिए करपात्र में आहार

लेना जरूरी है। ऐलक जी पैदल ही विहार करते हैं किन्तु क्षुल्लक जी अपवाद में अपनी विद्या आदि का प्रयोग करते थे तो यहाँ भी वाहन आदि का किंचित् प्रयोग कर सकते हैं यदि धर्मकार्य की आवश्यकता है तो, कहीं समाधि आदि का प्रसंग है तो, जिनशासन की प्रभावना का प्रसंग है तो अन्यथा वे भी पैदल विहार करने का ही पूरा अभ्यास करते हैं। वे दोनों ही पिच्छिका भी रखते हैं, कमण्डलु भी रखते हैं, किंतु पूर्व में क्षुल्लक जी महाराज के लिए पिच्छिका रखना अनिवार्य नहीं था, एक वस्त्र परिमार्जन के लिए पर्याप्त था, कमण्डलु पहले रखते थे किंतु आज वर्तमानकाल की स्थिति में आचार्य शांतिसागर जी महाराज, आचार्य शांतिसागर जी छाणी और आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर यह तीन परम्पराएँ चल रहीं हैं, इन तीनों ही परम्पराओं में यह ऐलकजी, क्षुल्लकजी का स्वरूप जो पूर्व सम्मत आचार्यों के द्वारा कहा है, उस स्वरूप में पिच्छि-कमण्डल की अनिवार्यता ऐलक जी, क्षुल्लक जी, क्षुल्लिका माताजी आदि के लिए कहा गया है।

महानुभाव! इस सप्तम अधिकार में ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया। दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा। इन छह प्रतिमाओं को धारण करने वाले भव्यजीव जिनशासन में जघन्य श्रावक कहलाते हैं तथा सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आठवीं आरंभत्याग प्रतिमा और नौवीं परिग्रहत्याग प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावकों को जिनशासन में मध्यम श्रावक बतलाया है तथा दशवीं अनुमतित्याग व ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा को धारण करने वाले भव्य श्रावकजन जिनशासन में उत्तम श्रावक कहलाते हैं। इस प्रकार उत्तम-मध्यम-जघन्य के भेद से श्रावकों के तीन भेद जिनशासन में बतलाए हैं।

उपरोक्त ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करने वाला जो श्रावक अपने व्रतों में शुद्ध है, अपने व्रतों का अतिचार रहित, निर्मलरीति से मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक पालन करता है तथा अंत समय में (आयु के अंत में) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इन सर्वोत्कृष्ट आराधनाओं को अपने हृदय में धारण करता है, ऐसा उत्तम, मध्यम व जघन्य श्रावक समाधिमरण कर क्रमशः अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न होकर देवों का स्वामी होता है। अथवा सौधर्म-ईशान आदि 16 स्वर्गों में से किसी भी स्वर्ग में उत्पन्न होकर देवों का स्वामी इन्द्र होता है और बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को तथा विभूतियों को प्राप्त होता है।

महानुभाव! व्रती श्रावक मरकर कभी भी पुण्यहीन नहीं हो सकता, यह श्रावक धर्म के पालन करने का ही फल है कि वह जीव स्वर्गों में उत्पन्न होकर अनेक सागरों तक अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करता रहता है। ऐसा हम नहीं कह रहे, ऐसा वर्णन त्रिलोकसार, सिद्धान्तसार दीपक, त्रिलोकप्रज्ञप्ति वृहद्, हरिवंशपुराण, महापुराण, पद्मपुराण आदि अनेक जिनागमों में निरूपित किया गया है। तदनन्तर उन स्वर्गों की आयु पूर्ण करके उत्तम वंश राजादिगण आदि उत्तमोत्तम पदवियों को धारण करने वाला महापुरुष होता है। वहाँ भी जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त करता है अथवा कितने ही जीव सर्वार्थसिद्धि आदि उत्तम विमानों में उत्पन्न होते हैं तथा कोई पुरुष सौधर्मादि स्वर्गों के सुख भोगकर मनुष्य पर्याय धारण कर दो-चार भवों में मुक्त होते हैं। इस प्रकार श्रावक धर्म के पालन करने का यह सर्वोत्कृष्ट फल है। इसीलिए भव्य जीवों को अपनी शक्ति के अनुसार इन ग्यारह प्रतिमाओं के धर्म को अच्छी तरह से पालन करना चाहिए, इसमें किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ ग्यारह प्रतिमा का स्वरूप संक्षेप में कहा। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

शत्रु व मित्र कथन

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति॥148॥

अन्वयार्थ–जीवस्य – जीव का, **पापं** – पाप, **अरातिः** – शत्रु है, **च** – और, **धर्मः** – धर्म, **बन्धुः** – मित्र है, **इति** – इस प्रकार, **ध्रुवं** – हमेशा, **निश्चिन्वन्** – निश्चय रखता हुआ श्रावक, **यदि समयं जानीते** – यदि शास्त्र को जानता है, **श्रेयः ज्ञाता भवति** – तो वह श्रेष्ठ ज्ञाता होता है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में अंतिम सप्तम अधिकार के कुछ अंत-उपांत के समीपवर्ती श्लोकों की व्याख्या देख रहे थे। जिसमें ग्यारह प्रतिमाओं के स्वरूप का वर्णन किया अब उसके उपरांत पुण्य-पाप के फल को बताने वाला, व्यवहार धर्म की व्याख्या करने वाला, अशुभ से निवृत्ति कैसे हो, उसका फल क्या है इस संबंध में आचार्य महोदय स्वयं ही कहते हैं कि जीव का शत्रु पाप है व पुण्य मित्र है, ऐसा निश्चय करता हुआ जो शास्त्र को जानता है वही श्रेष्ठ ज्ञाता है।

सबसे पहले कहा-**'पापं'** पाप क्या है? पाप शब्द का प्रयोग अशुभ के लिए किया जाता है। आबालवृद्ध-गोपाल सभी जानते हैं कि पाप बुरी चीज है और पुण्य अच्छी चीज है, पाप का फल बुरा होता है पुण्य का फल अच्छा होता है। सिद्धान्त की भाषा में देखें कि पाप क्या है तो संसार में जितने भी निंद्य कार्य हैं, शब्द हैं, विचार हैं, प्रवृत्तियाँ हैं वे सभी पाप की कोटि में आते हैं। पाप का फल क्या है उसे भी समझें क्योंकि कई वृक्षों की पहचान उसके पत्तों से होती है, कई वृक्षों की पहचान उसके पुष्पों से होती है, कई वृक्षों की पहचान उसके फलों से होती है और कई वृक्षों की पहचान उसकी त्वचा, छाल, जड़ आदि से होती है। तो अब समझें कि पाप रूपी वृक्ष की पहचान क्या है? वह पाप रूपी वृक्ष जब फलित होता है चाहे किसी भी जीव के जीवन में फलित क्यों न हो रहा हो, वह नियम से दुःख देता है। चाहे इष्टवियोग संबंधी, चाहे अनिष्टसंयोग संबंधी, चाहे अन्य प्रकार की पीड़ा-संक्लेशता संबंधी, चाहे किसी वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा संबंधी किंतु वह देता दुःख ही है।

पाप रूपी वृक्ष का फल दुःख है, दुरावस्था है, दरिद्रता है, दीनता है, दौर्भाग्य है। पाप जब उदय में आने के लिए होता है उसके पहले वह पुण्य के फल को नष्ट करता है, पुण्य से

उसे दूर करता है। न केवल पुण्य की क्रिया से अपितु पुण्य की भावना से, पुण्य के वचनों से, पुण्य की प्रवृत्तियों से भी दूर करता है और अशुभ की ओर ले जाता है। उस समय पुण्य का फल भी नहीं मिल पाता है। उदाहरण स्वरूप देखें-किसी व्यक्ति के चार मित्र हैं, कोई दूसरा व्यक्ति उससे शत्रुता निकालना चाहता है तो वह सर्वप्रथम देखेगा कि ऐसा समय कौन सा है जब उसके साथ चार मित्र न हों, ये इसके साथ न होंगे तो अकेला पाकर मैं इसे पीट दूँगा। पाप प्रकृतियाँ जब तीव्रता से उदय में आती हैं तब पुण्य प्रकृतियाँ भी पाप प्रकृतियों में बदल जाती हैं।

पाप रूपी वृक्ष के पत्ते क्या हैं? पाप रूपी वृक्ष के पत्ते हैं संक्लेशता। यदि पाप का उदय है तो उसको वर्तमानकाल में कितना भी अच्छा निमित्त मिल जाए परंतु वह संक्लेशता फिर भी बनती है क्योंकि वह पुण्य के निमित्त से प्रभावित नहीं होता, पाप के निमित्तों से बहुत जल्दी प्रभावित हो जाता है। उस पाप रूपी वृक्ष का सुदृढ़ तना क्या है? तो तना समझिए रौद्रध्यान। हिंसा में आनंद, झूठ में आनंद, चोरी में आनंद, कुशीलसेवन में आनंद, परिग्रहसंरक्षण-संचय में आनंद। वह अशुभ प्रवृत्ति में आनंद मानता है इसलिए उस पाप रूपी वृक्ष का तना बड़ा मजबूत हो जाता है। यदि रौद्रध्यान से आनंद की अनुभूति न हो केवल आर्त्तध्यान में रहे तो फिर वह पाप का वृक्ष सुदृढ़ नहीं रह पाता अर्थात् उस पापरूपी वृक्ष के पत्ते जल्दी झड़ जाते हैं। आर्त्तध्यान से, संक्लेशता से प्रभु की पूजा-भक्ति के परिणाम बन जाते हैं किन्तु यदि साथ में कहीं थोड़ी अनुकूलता मिल जाए तो वह इतराता हुआ रौद्रध्यान बनाता है, इससे भी वह पाप का ही आस्रव करता है।

उस पाप रूपी वृक्ष की जड़ें क्या हैं? तो जड़े हैं कषाय की तीव्रता, जड़ें हैं राग-द्वेष-मोह की तीव्रता, उसकी पापमय प्रवृत्तियाँ। जो व्यक्ति पाप का फल भोगने वाला है, पाप में संलिप्त है तो उसकी कषायें भी तीव्र होती जाती हैं, यदि कषायें मंद हो जाएँ तो वह पाप को पुण्य में बदलने में भी समर्थ हो जाए। उसकी कषाय की तीव्रता होने से इतना उद्वेग रहता है कि वे कषायें पापों को पानी देती रहती हैं। मिथ्यात्व ही एक मूलाधार जड़ है, वह जब तक है तब तक पाप का वृक्ष सूखता नहीं। उसकी आजू-बाजू में दो जड़ें हैं। सम्यक् मिथ्यात्व व सम्यक् प्रकृति पुनः कषाय की चार जड़ें निकलती हैं, उन चार में से चार-चार और जड़ें निकलती हैं ये 16 जड़ें हो जाती हैं जो उसे जमा लेती हैं। इसके उपरांत इन जड़ों के सहारे से नीचे नौ कषाएँ रूपी जड़ें और निकलती हैं ऐसे उसकी 25 वा 28

जड़ें हो जाती हैं। इसके साथ-साथ उस पाप रूपी वृक्ष को सहयोग करने वाला ज्ञानावरणी कर्म जो पत्थर की चट्टान की तरह आ गया, जो उसे रोक कर बैठा है, एक तरफ से दर्शनावरणी कर्म की चट्टान दूसरी तरफ से अंतरायकर्म की चट्टान घेरी है। इधर असातावेदनीय, अशुभनामकर्म, अशुभ आयु, अशुभ गोत्र आदि उस पाप रूपी वृक्ष को बांधकर रखते हैं, उसे मजबूती देते हैं जिससे उस वृक्ष को अलग निकाल पाना बड़ा मुश्किल हो जाता है। तो जो व्यक्ति सयाने होते हैं वे प्रथमतः पाप की मूल जड़ मिथ्यात्व को पकड़ते हैं, उसका छेदन करते हैं, उसको नष्ट करते हैं। अभी नष्ट नहीं कर सकते तो जो मिथ्यात्व के माध्यम से द्रव्य आ रहा था, मूल जड़ से पानी आ रहा था वह यदि आना रुक जाए तो वृक्ष का सूखना प्रारंभ हो जाए।

तत्पश्चात् वह शनैः शनैः सम्यक्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति रूपी जड़ों को सुखाने का प्रयास करता है, उसके साथ ही 16 कषाय रूपी जड़ों को भी सुखाने का प्रयास करता है। उस वृक्ष को घेरे हुई जो चट्टानें हैं पहले उन्हें नहीं हटाता। अज्ञानी व्यक्ति तो केवल पाप रूपी वृक्ष के पत्ते तोड़ता है, कोई फल तोड़ता है, कोई पुष्प तोड़ता है, कोई चखता है, कोई लात मारता है किन्तु जो विद्वान्-विवेकी-समझदार होता है, जिसके हाथ में मिथ्यात्व रूपी मूल जड़ आ गई तो वह उसे ढीली कर देता है जिससे पानी बंद हो गया, अब सब जड़ों से पानी आना धीमे-धीमे बंद हो जाएगा, वृक्ष सूख जाएगा तो उसे नष्ट किया जा सकता है, जलाया जा सकता है।

महानुभाव! यह पाप ही इस जीव का शत्रु है, अनिष्ट करने वाला है 'भवसागरे यं पातयति तं पापं' भवसागर में जो पतित करता है वह पाप है। पाप के बिना जीव भवसागर में पतित हो ही नहीं सकता। सिर्फ पुण्य के सहारे से जीव संसार में गमन नहीं कर सकता, पाप प्रकृतियाँ आवश्यक है। जैसे कोई भी कपड़ा बुनता है तो केवल ताने-ताने से नहीं बुनता, ताना-बाना दोनों साथ-साथ होते हैं ऐसे ही यह पाप और पुण्य दोनों प्रकृतियाँ साथ-साथ होती हैं। आप पढ़ते भी हैं-

'पाप पुण्य मिल दोय, पायनि बेड़ी डाली'

पाप-पुण्य दोनों बेड़ियाँ हैं। पाप उसे बांधकर रखता है और पुण्य उसमें कील फंसाकर रखता है। पाप की बेड़ी निकालना भी जरूरी है और पुण्य की कील निकालना भी जरूरी है। सर्वप्रथम उस बेड़ी को तोड़ना है, कील तो अपने आप निकल जाएगी। माना कि कोई व्यक्ति चाहे कि पहले कील निकाल ले तो ऐसा नहीं हो सकता। कील इतनी कसी हुई है कि

निकलेगी नहीं, कोई कसकर हिलाए तब भी पाप की ऐसी पकड़ है कि वह उसे ऐसे खोल नहीं सकता, बहुत मजबूत लोहा है। तो बुद्धिमान् व्यक्ति पहले बेड़ी को तोड़ने की कोशिश करता है। पाप के बंधन टूटते ही पुण्य की कील तो अपने आप निकल जाएगी वह प्रभावी नहीं रहती।

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि पाप के माध्यम से व्यक्ति को अशुभ आयु, नीच गोत्र, अशुभ गति आदि जितनी भी प्रतिकूलताएँ हैं वे प्राप्त होती हैं। अकालमृत्यु, विकलांग शरीर, रोगी शरीर, अल्पायु हर प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्रतिकूलता मिलती है इतना ही नहीं वही वस्तु पापी व्यक्ति के लिए प्रतिकूल है और वही वस्तु पुण्यात्मा के लिए लाभदायक है। पुण्यात्मा के लिए जो औषधि है, पापात्मा के लिए वह औषधि भी रोग को बढ़ाने वाली है। पुण्यात्मा के लिए जहर भी अमृत बन जाता है और पापात्मा के लिए अमृत भी जहर जैसा बन सकता है। पुण्यात्मा के लिए शत्रु भी मित्र हो जाता है और पापी के लिए मित्र भी शत्रु हो जाता है। पुण्यात्मा के लिए अशुभ भी शुभ हो जाता है और पापी के लिए स्वजन, पुरजन, निजी कुटुम्बीजन ये सब प्रतिकूल हो जाते हैं यहाँ तक कि पाप के उदय में शरीर भी प्रतिकूल हो जाता है, वह शरीर भी अपना कहा नहीं मानता, इंद्रिय अपना कहा नहीं मानती, यहाँ तक कि शुभ वचन भी मुख से नहीं निकलते हैं अशुभ वचन निकल आते हैं। व्यक्ति शुभ क्रिया करते हुए भी कर नहीं पाते और अशुभ क्रिया से छूट नहीं पाते।

नारकी चाहें कि वह शुभ विक्रिया कर लें तो कर नहीं सकते पाप के उदय से और अहमिन्द्र आदि चाहें अशुभ विक्रिया कर लें तो वे भी नहीं कर सकते पुण्य का तीव्र उदय है। ऐसे ही पापी व्यक्ति के मन में शुभ विचार नहीं आते, उसके श्रीमुख से शुभ वचन नहीं निकलते, उसके शरीर से शुभ चेष्टा नहीं होती, वह नेत्रों से शुभ दृश्यों को देखता नहीं है, कानों से शुभ देशना सुनता नहीं है, कदाचित् जो बाह्य दृष्टि में शुभ भी माने जाते हैं उसकी इंद्रियाँ उसे भी अशुभ रूप में ही ग्रहण करती हैं।

महानुभाव! दूसरी बात आचार्य भगवन् कह रहे हैं **'धर्मोबन्धुः'** धर्म इस जीव का बंधु है, मित्र है, साथी है, सखा है। जिसके पास धर्म रूपी सुदृढ़ मित्र है, जो तीन लोक पर भारी है, ऐसे मित्र के रहते हुए तीन लोक का कोई भी जीव या अन्य द्रव्य आत्मा का घात नहीं कर सकता। ऐसा समर्थ मित्र जिसके पास है उसे क्या डर। धर्म नामक वह समर्थ मित्र हमेशा साथ-साथ रहता है। परछाई भले ही अंधकार में छूट जाए किंतु धर्म रूपी मित्र कभी नहीं

छोड़ता। चाहे कितनी भी अनुकूलता-प्रतिकूलता हो, चाहे धूप हो या छांव, सर्दी हो या गर्मी, दिन हो या रात धर्म मित्र ऐसा है जो उसे कभी छोड़ता ही नहीं। हाँ, वह किसी को नहीं छोड़ता पर उसे कोई व्यक्ति छोड़ देता है तो ध्यान रखना वह इतना स्वाभिमानी है फिर पीछे नहीं लगता। जिसने उसका अपमान-तिरस्कार करके छोड़ दिया फिर वह धर्म भी उसे छोड़ देता है। धर्म यदि साथ है तो कैसी भी परिस्थिति हो, चाहे वह अपनों के बीच हो, श्मशान में हो, पर्वत-गुफा-कंदरा में हो, जंगल में हो, समुद्र में हो, वह कैसी भी प्रतिकूलता में आ जाए वह हिम्मत नहीं छोड़ता और डरता भी नहीं। वह धर्म रूपी मित्र अभिशापों को भी वरदान में बदल देता है, ऐसी सामर्थ्य उस धर्म मित्र में है और इतनी ही सामर्थ्य नहीं वह तो उसे तीनलोक का नाथ बना देता है। धर्म रूपी मित्र एक निगोदिया जीव को भी संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था में लाकर मोक्षमार्ग की प्राप्ति कराने वाला होता है क्योंकि मोक्षमार्ग की प्राप्ति भी पुण्य से होती है, मोक्षमार्ग में गमन भी पुण्य से होता है, पंचपरमेष्ठी की अवस्था भी इस धर्म मित्र के माध्यम से प्राप्त होती है।

लौकिक सुख, स्वर्गसुख, राज्यसुख, मनुष्यलोक के वैभव भी धर्म मित्र से प्राप्त होते हैं। और परालौकिक परम अनंतसुख भी धर्म मित्र के माध्यम से प्राप्त होते हैं। इस धर्म रूपी वृक्ष की छाया निःसंदेह पाप, ताप, संताप की हारक है। धर्म रूपी वृक्ष ऐसा है जो समस्त रोगों का निदान करने वाला है, जो समस्त प्रतिकूलताओं को तिरोहित करने वाला है। इससे रोगी निरोगी हो जाता है, संकट में पड़ा हुआ व्यक्ति उत्कर्ष और वैभव को प्राप्त करता है। धर्म रूपी मित्र के साथ आते ही वह अंधकार में भी प्रकाश का अनुभव करता है, कड़वाहट में भी मिठास का अनुभव करता है, ताप में भी शीतलता का अनुभव करता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय ने धर्म को बंधु कहा। बंधु भी दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो बंधन में डालने वाले और एक वे जो बंधन से मुक्त करने वाले। बंधन में डालने वाले बंधु पाप कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं, बंधन से मुक्त कराने वाले बंधु निःसंदेह पुण्य की तरह स्वीकार किए जाते हैं। जिस व्यक्ति को अपने जीवन में ध्रुव रूप से, शाश्वत रूप से परिज्ञान हो जाए, भान हो जाए, उसके भावश्रुतज्ञान में आ जाए कि पाप शत्रु है व धर्म मित्र है तब तो श्रेष्ठ है अन्यथा मात्र शब्दों का आडम्बर नहीं।

जो पाप को शाश्वत शत्रु मानता है, पुण्य की क्रियाओं को मित्र मानता है वह श्रेष्ठ ज्ञाता है। यह बात सत्य व शाश्वत है क्योंकि किसी भी काल में, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी द्रव्य

की उपस्थिति या अनुपस्थिति में या किसी भी भाव के साथ पाप को मित्र नहीं बना सकते, धर्म को कभी भी शत्रु नहीं कह सकते क्योंकि यह शाश्वत सिद्धान्त है कि पाप शत्रु ही है। आप कहेंगे कभी पाप भी तो व्यक्ति का कल्याणकारक होता है। जैसे नारकी जीव तीव्र वेदना से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। यदि ऐसा होता तो सभी नारकियों को सम्यक्त्व की प्राप्ति क्यों नहीं होती, सभी पशुओं को वेदना मिल रही है वे तड़प रहे हैं उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति क्यों नहीं होती। यदि दु:ख ही सुख का कारण है तो जिन्हें दु:ख नहीं मिल रहा जो स्वर्ग, अनुत्तर, ग्रैवेयक में देव इन्द्र आदि हैं वे तो सुख भोग रहे हैं उन्हें फिर दु:ख प्राप्त क्यों नहीं होता, उनके पास दु:ख का कोई कारण नहीं फिर भी उन्हें सुख क्यों प्राप्त हो रहा है। उन्हें कोई दु:ख नहीं है और वे अपना कल्याण भी करेंगे तो सिद्ध हुआ दु:ख सुख का कारण नहीं है। प्रश्न आया फिर क्यों कहते हैं कि–

दु:ख भी मानव की सम्पत्ति है तू दु:ख से क्यों घबराता है।

अथवा

दु:ख से घबराओ नहीं मेरे साथी, ये जीवन में मानव का शृंगार है।

यह ऐसे भजन क्यों बनाये गए? ये भजन, भक्तियाँ, स्तुतियाँ या शास्त्र के लेख यह नहीं कह रहे कि जीव का साथी-बन्धु पाप है, वो ये कह रहे हैं कि आपके जीवन में पाप का उदय आए उसका फल भोगते समय आप समताभाव धारण कर लो तो पाप के फल का अनुभव आपको नहीं होगा, धीमे-धीमे पाप नष्ट हो जाएगा।

जिसने भी शुद्ध मनोबल से ये कठिन परीषह झेली हैं।
सब रिद्धि-सिद्धियाँ नत होकर उनके चरणों में खेली हैं।।

कठिन परीषह से रिद्धि-सिद्धि प्राप्त होती हैं ऐसा नहीं, वरन् कठिन परीषह में शुद्ध मनोबल धारण करने से, शुद्ध चित्त होने पर वह पाप भी विगलित हो जाता है। नारकी जीव जब सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो हर नारकी नहीं, जिस नारकी का अब पाप का उपशमन होने का समय आ गया, उसके पूर्व के किसी तीव्र पुण्योदय से उसे इस प्रकार की बुद्धि प्राप्त हो गई, जातिस्मरण हो गया कि पूर्व में मुनिराज ने मुझे समझाया था, मैं माना नहीं, आज मुझे कितना दु:ख प्राप्त हो रहा है, तब उनकी बात मान लेता तो दु:ख नहीं होता। आज मैं उस देशना को स्वीकार करता हूँ। तो पुण्य प्रकृति के उदय से ही मुनिराज की बात या जिनवाणी की बात पर श्रद्धान होता है। अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम बढ़ जाना, जिससे जिनवाणी के शब्दों का स्मृति में स्मरण हो जाना यह भी पुण्य प्रकृति का उदय है।

महानुभाव! आचार्य महोदय कह रहे हैं-पापं जीवस्य शाश्वतं ध्रुवं अराति भवति' पाप जीव का ध्रुव रूप से हर द्रव्य-क्षेत्र-काल में शत्रु होता है। और 'धर्मो जीवस्य शाश्वतं ध्रुवं बंधुर्भवति' और धर्म जीव का बंधु होता है। धर्म जीव का घात नहीं करता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये कभी भी किसी भी जीव के लिए दुर्गति का कारण नहीं है, कभी भी किसी कर्म प्रकृति के बंध का कारण नहीं है। ये तीन कभी भी किसी भी जीव के लिए, किसी भी गति में एक भी कर्म प्रकृति के बंध का कारण नहीं है, ऐसा कैसे? फिर तत्त्वार्थसूत्र में क्यों कहा कि 'सम्यक्त्वं च' सम्यक्त्व के माध्यम से भी देवायु का बंध होता है, फिर क्यों कहा सम्यग्दृष्टि जीव देवायु का बंध करते हैं, सराग चारित्र का पालन करने वाले देवायु का बंध करते हैं या देवगति में जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे नियम से मनुष्यायु का बंध करते हैं, इधर आप कह रहे हैं सम्यग्दृष्टि जीव किसी कर्म प्रकृति का बंध नहीं करता?

सम्यग्दृष्टि जीव बंध नहीं करता ऐसा नहीं कहा, यह कहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कभी भी कर्म बंध के कारण नहीं हैं। आत्मा के जितने प्रदेशों में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र है उतने अंश में आत्मा उसके प्रभाव से अबंध है। किन्तु उसके साथ विद्यमान जो राग है वह शुभ प्रकृतियों का बंधक होता है। धर्म कभी भी बंध का कारण नहीं है। धर्म तो ऐसा बंधु है जो अनादिकाल से जेल में पड़ी आत्मा को जेल से मुक्ति दिलाता है, कौन सी जेल? इस शरीर रूपी जेल से। यह आत्मा कभी मनुष्य शरीर रूपी जेल में आती है तो कभी तिर्यंच रूपी शरीर की जेल में आती है, कभी देव रूपी शरीर की जेल में आती है तो कभी एकेन्द्रिय, विकलत्रय आदि अनंत प्रकार के जीव हैं, उनके अनंत प्रकार के शरीर हैं और अनंत प्रकार की जेल हैं। यह जेल बदलने का नाम कल्याण नहीं है। क्योंकि कर्मबंध के कारण यह जीव जेल बदलता है। यह धर्म तो खेल बदलता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आते ही अनादिकालीन खेल बदल जाता है, आत्मा का आत्मा से मेल हो जाता है, आत्मा का तीनों योगों से तालमेल हो जाता है, फिर इसे जीवन में कोई कभी भी फेल करने वाला नहीं है। वह नि:संदेह उत्तीर्ण होता है। क्योंकि जब आत्मा अपने पास होता है, धर्म के पास होता है तब उसे कोई फेल करने वाला नहीं है। नि:संदेह यह शरीर की परीक्षा में पास हो जाता है।

तो यहाँ कहा—इस जीव का पाप शत्रु है और धर्म बंधु है, ऐसा जिसने निश्चय कर लिया है। 'समयं यदि जानीते' वह अपनी आत्मा को जानता है। यद्यपि समय शब्द के कई अर्थ हैं काल, आपके जीवन की दशा, जिनशास्त्र, मत, आम्नाय व आत्मा अनेक अर्थ हैं। यहाँ समय से आशय है कि जब तक व्यवहारकाल को नहीं समझेंगे तो निश्चयकाल को नहीं जान पाएँगे।

निश्चयकाल को नहीं पहचान पाया तो स्वसमय-परसमय को, समीचीन समय और मिथ्यासमय को जानने में आप असमर्थ होंगे। यदि आप समर्थ हो गए तो जिन्होंने स्वसमय को पूर्णतया प्राप्त कर लिया है ऐसे केवली भगवंतों को, सिद्धों को जानने में भी समर्थ हो जाएँगे। फिर आपको उनकी छत्रछाया मिल गई, उनके समय के रहते हुए, अपने जीवन की श्वांसों के रहते हुए, जिनशासन की छत्र-छाया को प्राप्त करके आप अपने समय को परम समय बनाने में समर्थ हो जाएँगे। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो स्वसमय को परसमय में ढाल देते हैं, कुछ ऐसे हैं जो स्वसमय को परम समय बना लेते हैं, परमशुद्धात्मा बना लेते हैं।

जो अपनी आत्मा की अतीतकाल की दशा, वर्तमानकाल की दशा और भविष्य की दशा, आत्मा के सम्पूर्ण स्वभावों को जानता है कि मेरी आत्मा वैभाविक परिणति से इस प्रकार की है, स्वभाविक परिणति से ऐसी है, मेरी आत्मा में क्या-क्या शक्ति है। जैसे दूध को जानने वाला व्यक्ति ये जानता है कि यह दूध है, कच्चा है, गर्म किया जा सकता है, इसकी रबड़ी, मावा बन सकता है, इसका दही, पनीर भी बन सकता है, इस दूध में से घी भी निकाला जा सकता है। तो जिसने दूध के बारे में सब जान लिया, सब पर्यायों को जान रहा है, उसकी गुणवत्ता को जान रहा है, दही, घी, पनीर आदि सभी के गुण क्या-क्या हैं यह सब जो जान रहा है वह वास्तव में दूध को सही जान रहा है, और जो कहता है तुम्हें दूध दिखाई दे रहा होगा मुझे तो घी दिखाई दे रहा है, जो दूध को घी कहता है वह अभी सम्यक्त्व से दूर है। जो घी को दूध कहे तो घी तो कभी दूध बन नहीं सकता वह भी अभी सम्यक्त्व से दूर है। दूध को दही, दही को दूध मानकर चले वह भी सम्यक्त्व से दूर है, समीचीन धारणा से दूर है। ऐसे ही आत्मा को केवल यह कहने वाला कि मैं तो शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ वह भी अभी आत्मा की सभी दशाओं को नहीं जान रहा।

आपसे कोई पूछे मनुष्य कौन होता है, तो मनुष्य मात्र वही नहीं होता जिसके बाल सफेद हो गए, जो मृत्यु की शय्या पर लेटा है, नहीं, मनुष्य वह भी है जो मृत्यु के पहले जी रहा है, मनुष्य वह भी है जो प्रौढ़ावस्था में है या युवावस्था में है, बाल्यावस्था, किशोरावस्था में भी मनुष्य है। यहाँ तक कि गर्भ में भी मनुष्य है और लब्ध्यपर्याप्त भी मनुष्य है। जिसके मनुष्यगति मनुष्यायु कर्म का उदय है उसके रहते उसकी कोई भी दशा हो विग्रहगति में है तो उपचार से वह भी मनुष्य है। जैसे मनुष्य की सम्पूर्णता को जानने के लिए उसकी आदि-अंत सभी पर्यायों को जानना जरूरी होता है इसी तरह यदि आत्मा को जानना है तो आत्मा की सभी पर्याय, सभी दशाओं को जानना जरूरी है।

आप कहें कि सब पर्याय कैसे जानेंगे? बस, दो जान लो एक सम्यक् और एक मिथ्या। शुद्ध स्वभाव क्या है, परम स्वभाव क्या है, विभाव क्या है यह जान लो। जैसे संसारी जीवों को जानने के लिए चार गति जान लो बस चार में सब संसारी जीव आ गए। यदि यह भी नहीं तो त्रस और स्थावर इन दो को जान लो या संज्ञी- असंज्ञी इनमें संसार के सब जीव आ गए। यदि सभी जीवों को जानना है तो संसारी और मुक्त इन दो को जान लो तो सब जान लोगे। ऐसे ही जीव का एक शुद्ध स्वभाव और जीव की अशुद्ध परिणति। खदान से शुद्ध सोना नहीं निकलता, कनक पाषाण होता है उसे तपाकर के शुद्ध किया जाता है, जिसे यह भान नहीं है वह कहता है कि मेरा कनक पाषाण ही शुद्ध है तो उसे कभी शुद्ध बना नहीं सकता। ऐसे ही जो व्यक्ति अपनी आत्मा को शाश्वत सिद्ध मानते हैं, सदाशिव मत की तरह से कि मेरी आत्मा सदा शुद्ध है, वे कभी शुद्ध नहीं हो सकते, जो शाश्वत अशुद्ध मानते हैं कि हम कभी शुद्ध हो ही नहीं सकते, वे कभी शुद्ध नहीं हो सकते। आत्मा की वर्तमान शक्ति को देखें और वर्तमान दशा को देखें कि अभी अशुद्ध है किंतु शुद्ध हो सकता है। इस प्रकार की प्रक्रिया करने वाला ही वास्तव में समय को जानता है।

समुद्र के किनारे रहकर समुद्र का आनंद नहीं आता, लहरों को गिनने से समुद्र का आनंद नहीं आता है। समुद्र की लहरें गिनना अलग है, समुद्र में अवगाहन करना अलग है, समुद्र के रत्नों को देखना अलग है। बाहर किनारे पर बैठकर कोई यह कहे कि मैंने समुद्र देख लिया या अनुभव है, तो न देखा है न समीचीन अनुभव है। ऐसे ही जो व्यक्ति केवल शास्त्रों के शब्दों को पढ़कर कहें मैंने आत्मा का अनुभव कर लिया तो उन्होंने वास्तव में आत्मा का अनुभव नहीं किया। समयसार जैसे शास्त्रों को पढ़कर भी आत्मा का अनुभव हो जाए यह जरूरी नहीं। गृहस्थों को तो हो ही नहीं सकता, मुनि महाराज को भी नियामक हो ही जाए यह जरूरी नहीं, किन्तु हाँ, जो वास्तव में अपनी आत्मा में रमण करने वाले हैं उनकी आत्मा से समयसार अपने आप निःसृत होता है। पर्वत पर पानी के छींटे मारने से कोई पानी का झरना नहीं बनता, झरना पर्वत में होता है तो स्वयं फूट पड़ता है। ऐसे ही अपनी आत्मा में समय का भान हो तो स्वयं समयसार फूट पड़ेगा। जब तक पाप को शत्रु एवं धर्म को मित्र नहीं जाना, निश्चय नहीं किया और अपनी आत्मा को नहीं जाना, अपनी शक्ति को नहीं पहचाना तब तक वह कल्याणमार्ग का श्रेष्ठ ज्ञाता नहीं होता।

महानुभाव! वही वास्तव में ज्ञानी है, विद्वान् है जो अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ है। जिसकी आत्मा के एक-एक प्रदेश पर यह भान हो गया कि पाप शत्रु है धर्म मित्र है, जिसे यह भान हो गया कि मेरी आत्मा वर्तमानकाल में क्या है और भविष्य में क्या हो सकती है, भूतकाल में क्या थी वही वास्तव में ज्ञानी है, वही अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ है। जो अपनी आत्मा का कल्याण करने में समर्थ नहीं है वह अज्ञानी है।

ज्ञान से चारित्र की शोभा होती है क्योंकि ज्ञान से चारित्र का निर्दोष पालन होता है और चारित्र से ज्ञान प्रशंसनीय और वृद्धिंगत होता है, परन्तु ज्ञान व चारित्र को सम्यक् बनाने के लिए शास्त्रोक्त कथन का दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि आत्मा का शत्रु आत्मीय परिणामों से उपार्जित पाप कर्म ही है, वही आत्मा को दुर्गति में ले जाता है तथा स्वकीय शुभ परिणामों से उपार्जित धर्म (पुण्य) ही मित्र है अन्य कोई शत्रु-मित्र नहीं है। ऐसा विचार कर जो सांसारिक पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना कर आर्त्त- रौद्रध्यान नहीं करता, सर्व पदार्थों में माध्यस्थ भाव रखता है, स्वकीय आत्मस्वरूप का लक्ष्य लेकर अपने में रहने का प्रयत्न करता है वही शास्त्रों का श्रेष्ठ ज्ञाता होता है, सम्यग्दृष्टि बनता है। अतः आचार्य महोदय ने यहाँ यही कहा—कि हे आत्मन्! यदि चारित्र और ज्ञान का निर्दोष फल प्राप्त करना चाहते हो तो शुद्ध-बुद्ध परमात्मास्वरूप आत्मा को जानकर सांसारिक पदार्थों की इष्टानिष्ट कल्पना का त्याग करो। इस कारिका को समझकर अपनी प्रवृत्ति में अंतर लाएँ तभी सब कल्याण के पथिक बन पाएँगे। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

रत्नत्रय धर्म का माहात्म्य

येन स्वयं वीतकलंकविद्या, दृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥149॥

अन्वयार्थ–येन – जिस श्रावक ने, **स्वयं** – अपनी आत्मा को, **वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रिया रत्नकरण्डभावम्** – निर्दोष ज्ञान, दर्शन और चरित्र रूपी रत्नों का पिटारा, **नीतः** – बनाया है, **तम्** – उस पुरुष को, **त्रिषु विष्टपेषु** – तीनों जगत में, **पतीच्छयेव** – पति की इच्छा करती हुई के समान, **सर्वार्थसिद्धिः** – धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी नारी, **आयाति** – प्राप्त होती है।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वाचना में सप्तम अधिकार की उपांत गाथा देख रहे हैं जिसमें आचार्य महोदय कह रहे हैं–जिस आसन्न भव्य के द्वारा अपनी आत्मा को समस्त दोषों से रहित अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों का पिटारा बना लिया गया है। 'येन' शब्द से यहाँ पर चाहे किसी भी प्राणी को नहीं ले सकते। अभव्य तो छूट ही गया, भव्य में भी दूरानुदूर भव्य छोड़ दो, निकट भव्य को लें। निकट भव्य में भी अतिनिकट भव्य, क्योंकि जो आसन्न भव्य नहीं है वह अपनी आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र का पिटारा नहीं बना सकता। दूर भव्य अथवा अभव्य अपनी आत्मा को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र रूपी कंकड़, पत्थर, काँच के टुकड़ों का आलय बना सकता है किंतु सम्यक् रत्नत्रय का पिटारा नहीं बना सकता।

आगे कहा-'वीतकलंक' कलंक अर्थात् कुत्सित अंक। जिस निशान से उस व्यक्ति की पहचान ही बदल जाए वह कलंक है। धवल वस्त्र पर श्याम धब्बे लग जाएँ तो उसकी धवलता तिरोहित हो जाती है, उस धवलता की कोई प्रशंसा नहीं करता अपितु उन श्याम धब्बों को देखकर ही व्यक्ति निंदा करता है। धवल चादर पर लगे श्याम धब्बे दूर से दिखाई देते हैं। यदि काले कपड़े पर सफेद धब्बे लगे हों तो दूर से ही दिखाई देते हैं। आचार्य महोदय कह रहे हैं कि इस आत्मा रूपी वस्त्र पर जो भी वर्ण आपने आरोपित किया है उसमें कहीं दोष नहीं है, वह कलंक से रहित है, कुत्सित अंक से रहित है। जिस आत्मा में रत्नत्रय के सभी दोष बीत गए हैं, सभी दोष निकल गए हैं। जिसका सम्यक्त्व निर्दोष है, ज्ञान भी निर्दोष है और क्रिया भी निर्दोष है।

निर्दोष कैसे? अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने पाँच प्रकृतियों को दबा करके (अनंतानुबंधी क्रोध- मान-माया-लोभ व मिथ्यात्व) उपशम सम्यक्त्व को अन्तर्मुहूर्त के लिए प्राप्त किया। बाद में उसने उस मिथ्यात्व के तीन टुकड़े कर दिए, इससे उसकी सत्ता में सात प्रकृतियाँ आ गईं। अब वह पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करेगा तो सात प्रकृतियों को दबाएगा। यदि इन सात में से सम्यक् प्रकृति का उदय आ गया तो उसको क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो गया, सम्यक् मिथ्यात्व का उदय हो गया तो मिश्र गुणस्थानवर्ती हो गया और मिथ्यात्व का उदय आ गया तो पहले गुणस्थान में पहुँच गया। अनंतानुबंधी चार कषायों में से किसी एक का उदय आ गया तो गिरकर के दूसरे गुणस्थान में पहुँच गया किन्तु जिस व्यक्ति ने पुरुषार्थ करके सातों प्रकृतियों को नष्ट कर दिया तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया। उसने सम्यक्त्व के सभी दोषों को अलग कर दिया। सम्यक्त्व के 25 दोष जिसके सम्यक्त्व में लग रहे हैं उसका सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। और सम्यक्त्व के आठ अंग में से किसी की कमी हो तब भी सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। पाँच अतिचार में से कोई अतिचार लग रहा है तो भी सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। सम्यक्त्व को विगतदूषण सहितभूषण होना चाहिए। उस सम्यक्त्व का आभूषण है वैराग्यभाव, संवेग आदि गुण, निःशंकित आदि अंग, प्रशम आदि भाव इन सबसे सम्यक्त्व विभूषित होता है ऐसा सम्यक्त्व जिस आत्मा में होता है वह आत्मा भी शोभनीय प्रशंसनीय हो जाती है।

लौकिक दृष्टि में देखा जाता है कि किसी को मोतियाबिंद है, किसी की दृष्टि में जाल आ गया है, किसी को दो दिखाई देते हैं, किसी को अंधेरा-अंधेरा सा दिखाई देता है, वस्तु सफेद हो तब भी काली-काली सी दिखाई देती है। तो जैसे लौकिक दृष्टि में दोष आते हैं ऐसे ही सम्यग्दर्शन रूपी दृष्टि में भी दोष आते हैं। जब दृष्टि उन सभी दोषों से रहित निर्दोष है तो सम्यग्ज्ञान को भी निर्दोष बनाया जा सकता है। कैसे? संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय इन तीनों का परित्याग करके। किसी भी तत्त्व या पदार्थ के निर्णय में संशय नहीं करना कि तत्त्व ऐसा है या ऐसा। निर्णीत, निश्चित ज्ञान हो, सम्यग्ज्ञान हो। पुनः विपरीत श्रद्धान भी नहीं कर लेना। जैसे कोई सीप को चाँदी मान ले, चाँदी को सीप। काँच को हीरा मानकर रख ले और हीरे को काँच मानकर फेंक दे तो ऐसा भी नहीं करता। विपरीतता से रहित सीप को सीप, चाँदी को चाँदी कहे, हीरे को हीरा, काँच को काँच ही कहे, ऐसे ही परमार्थभूत देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ में माने और जो देवत्व की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं उन्हें सच्चा देव न माने, जो शास्त्र की कसौटी पर खरे नहीं उतरते उन्हें सच्चा शास्त्र नहीं माने और जो गुरु साधु की कसौटी पर खरे नहीं उतरते उन्हें सच्चा गुरु नहीं माने। सोने को भी चार प्रकार से कसकर

परीक्षा की जाती है तभी सोना शुद्ध माना जाता है ऐसे ही पहले देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को समझ लिया, यथार्थ धर्म के स्वरूप को समझ लिया फिर दृढ़ श्रद्धान किया। जैसे पत्थर झुकेगा नहीं भले ही टूट जाएगा, तलवार पर पानी चढ़ा दो तो तलवार झुकेगी नहीं भले ही टूट जाएगी ऐसे ही जिसका सम्यग्दर्शन निर्मल है वही निर्दोष दृष्टि वाला है।

अनध्यवसाय अर्थात् सम्यग्ज्ञान के क्षेत्र में गति नहीं करना, एक जगह रुक जाना। जो खड़ा रहता है वह कहीं नहीं पहुँचता, मंजिल कभी अपने आप नहीं आती, मंजिल तक पहुँचना पड़ता है। बाहर की मंजिल बाहर की दौड़ से मिलती है, अंदर की मंजिल अंदर की दौड़ से बाहर की वस्तुओं को छोड़कर मिलती है। थोड़ी देर के लिए भी हमारे संयम में, ज्ञान में, व्रत में या श्रद्धान् में कहीं दोष लगता है तो हमारी आत्मा मलिन होने लगती है और जब आत्मा मलिन होने लगती है तो हमारी आत्मा का सहज शुद्धवास, आत्मा की जो गंध व स्पर्श है, आत्मा की ध्वनि, आत्मा का स्वाद बिगड़ जाता है। अच्छी भली खीर में एक मुट्ठी मिट्टी डाल दो तो क्या होगा? खीर का स्वाद बिगड़ जाएगा, अच्छे खासे हलवा में किसी ने दो बूंद तेजाब डाल दिया तो हलवा बिगड़ गया, ऐसे ही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र निर्दोष हैं यदि इनमें कोई भी दोष लगा दो तो फिर शुद्ध स्वाद नहीं आता, स्वाद बिगड़ जाता है और जब स्वाद बिगड़ जाएगा तो शुद्ध आत्मा की अनुभूति भी नहीं होगी, आनंद के स्थान पर उसे कष्ट-दु:ख-प्रतिकूलता होगी।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र जब तक सदोष रहते हैं तब तक आत्मा का आनंद नहीं आता। जब सकलचारित्र आ जाए, सम्पूर्ण ज्ञान सम्यक् हो जाए, जो पाँच प्रकार के स्वाध्याय से ज्ञान में बुद्धि कर रहा है, सम्यक्त्व को निर्मल बना रहा है, ऐसा व्यक्ति जिसने निर्दोष रत्नत्रय का पिटारा अपनी आत्मा को ही बना लिया है, इन तीन रत्नों को कहीं अलग नहीं रखा, ऐसा नहीं कि भगवान् का श्रद्धान मंदिर में, शास्त्र का श्रद्धान अलमारी में और गुरु का श्रद्धान् जहाँ वे रहते हैं उनके पास, हम वहीं से माथा टेक लेते हैं। अरे! उन सभी के प्रति श्रद्धान् अपनी आत्मा में हो, तब तो आत्मा का कल्याण होगा। आत्मा में भेदविज्ञान हो कि शरीर अलग है आत्मा अलग तब तो कल्याण होगा।

आत्मा जब उन सात प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम करती है तब आत्मा का श्रद्धान् होता है। आत्मा जब समस्त ज्ञानावरणी कर्म का क्षय कर देती है तब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और आत्मा जब चारित्रमोहनीय का सम्पूर्ण क्षय कर देती है तब आत्मा में यथाख्यात चारित्र पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती

है। सम्यक्त्व की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में व ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है। इसीलिए यहाँ पहले शब्द दिया 'विद्या' फिर दृष्टि की पूर्णता परमावगाढ़ नाम का सम्यक्त्व 14वें गुणस्थान में होता है, चारित्र की पूर्णता 84 लाख उत्तरगुणों की व 18 हजार शील के भेदों की पूर्णता 14वें गुणस्थान में होती है।

आगे कहा–**'रत्नकरण्डभावम्'** इन रत्न के पिटारे रूप भाव जिसकी आत्मा में हैं उस रत्नत्रयधारी आत्मा को **'पतीच्छयेव'** अपना पति बनाने की इच्छा से कि मैं इसे अपना जीवन साथी बनाऊँ, मैं इसके बिना रह नहीं सकती तो वह **'सर्वार्थसिद्धिः'** सिद्धि रूपी कन्या स्वयं चलकर आती है। पहले स्वयंवर की प्रथा थी जिसमें कन्या के हाथ में पंचवर्णी पुष्प होते थे। कन्या सभा में गवेषणा करते हुए अपने पति को जानकर उसके गले में वरमाला डालती थी। वह वर खड़ा होकर मंच पर नहीं जाएगा कन्या ही स्वयं आएगी और जो उचित दिखेगा उसके गले में माला पहना देगी। ऐसे ही मुक्ति रूपी कन्या भी अपने हाथ में वरमाला लेकर आती है, वह देख लेती है कि कौन योग्य है, किसकी आत्मा रत्नत्रय का पिटारा है। लौकिक कन्या तो देखती है किसके पास धनबल, सैन्यबल, तनबल आदि है, किसके पास रूप-सौन्दर्य आदि है, किसके पास स्वयं का पराक्रम है, किसके पास बड़ा हुनर है और किसका शरीर भोगों के योग्य है।

यदि कोई राजा बहुत बड़ा है किन्तु रोगी है तो वह कन्या क्या उस निर्बल-कमजोर रोगी व्यक्ति को अपना पति बनाएगी? नहीं, या कोई व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट तो है किन्तु राज्यवैभव नहीं है भीख माँगकर पेट भरता है तो क्या कन्या उसे अपना पति बनाएगी? नहीं। तीसरा व्यक्ति वह है जिसके पास कोई बल ही नहीं न धनबल, न तनबल, न सैन्यबल न राज्यवैभव उसे भी वह अपना पति नहीं बनाएगी। उस पुरुष के पास तीनों चीजें होना चाहिए। ऐसे ही यहाँ जिस योगी ने अपने आत्मा को रत्नों का पिटारा बना लिया है, उस योगी को पति बनाने की इच्छा से वह मुक्ति रूपी कन्या स्वयं आ जाती है। पति अर्थात् स्वामी यानि वह मुक्ति सुंदरी भी उसके अधीन हो जाती है, वह मुक्तिवामा भी उसकी सेविका बनना चाहती है, उस आत्मा को अपना स्वामी बनाना चाहती है जिस आत्मा में सम्यक् रत्नत्रय परिपूरित है, जिस आत्मा का एक प्रदेश भी रत्नत्रय से रहित नहीं है।

'सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु' वह सिद्धिरूपी कन्या, मुक्ति रूपी कन्या कैसी है? वह सर्वप्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है। उसके आते ही फिर उस आत्मा के पास कोई भी कार्य शेष नहीं रह जाता। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पुरुषार्थों में से कुछ शेष नहीं रहता। जिसे

सिद्धि कन्या मिल गई उसे मोक्ष का फल मिल गया। धर्म-अर्थ-काम तो पीछे छूट गए और मोक्ष अंतिम फल मिल गया, अब कुछ नहीं बचा। जैसे जिस योगी ने शुक्लध्यान का पहला पाया पार कर लिया दूसरा-तीसरा भी पार कर लिया, चौथे पर पहुँच गए, चौथे शुक्लध्यान के फल को प्राप्त कर रहा है तो क्या वह पहले-दूसरे-तीसरे शुक्लध्यान को प्राप्त करने आएगा? नहीं आएगा। जिसने चौथा शुक्लध्यान प्राप्त कर लिया अब उसे लौटकर पहले, दूसरे, तीसरे ध्यान के फल हेतु नहीं आना है, ऐसे ही जिसने मोक्ष पुरुषार्थ के फल को प्राप्त कर लिया ऐसी आत्मा धर्म का, अर्थ का, संसार का सुख प्राप्त करने नहीं आएगी। यहाँ यही कहा कि तीनों लोकों का नाथ बनाने वाली सिद्धि कन्या उस योगी को अपने पति के रूप में स्वीकार करती है।

ग्रन्थ के प्रारंभ में आचार्य महोदय ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को धर्म कहा था, उसी धर्म के फल का इस श्लोक में उल्लेख किया है तथा यहाँ श्लेषालंकार से 'रत्नकरण्ड' यह ग्रंथ का नाम भी सूचित किया है। जो अपनी जाति में श्रेष्ठ होता है उसको रत्न कहते हैं। जैसे पृथ्वीकायिक में श्रेष्ठ हीरा आदि रत्न कहलाते हैं, हाथियों में श्रेष्ठ हाथी गजरत्न, घोडे में श्रेष्ठ अश्वरत्न व स्त्रियों में श्रेष्ठ स्त्रीरत्न, मुनियों में श्रेष्ठ मुनिरत्न है। उसी प्रकार आत्मा के सर्व गुणों में श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र हैं अतः इनको रत्न कहते हैं। जैसे रत्नों के हार को स्वीकार करने वाला मानव श्रेष्ठ हो जाता है उसी प्रकार जो इन त्रय रत्नों को हृदय में धारण करते हैं वे मानव संसार में श्रेष्ठ होते हैं और देव व मनुष्यों के द्वारा पूज्यनीय हो जाते हैं और सारी संसार की सम्पदा उनके चरणों में रहती है। जिन्होंने मनुष्यभव प्राप्त कर स्वयं को रत्नत्रय से अलंकृत किया उनका ही जन्म सार्थक है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

अंतिम मंगल

(मालिनी छंद)

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टि-लक्ष्मीः॥150॥

अन्वयार्थ–दृष्टि-लक्ष्मीः – सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी, **मां सुखयतु** – मुझे सुखी करे, **जिन-पतिपदपद्मप्रेक्षणी** – तीर्थंकर भगवान् के चरण कमलों को प्रेक्षण करने वाली, **शुद्धशीला** – निरतिचार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत से सहित, **सुखभूमिः** – सुख का स्थान, **गुणभूषा** – आठ मूलगुणों से विभूषित ऐसी सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी, **कामिनं** – कामी पुरुष को, **सुखभूमिः कामिनी इव** – सुख देने वाली स्त्री की तरह 'मुझे सुखी करें' तथा वह सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी, **सुतं शुद्धशीला जननी इव** – पुत्र को सदाचार देने वाली माता की तरह, **मां भुनक्तु** – मेरी रक्षा करे 'तथा वही सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी', **कुलं गुणभूषा कन्यका इव** – वंश के गुणों में विभूषित कन्या के समान, **मां सम्पुनीतात्** – मुझको पवित्र करें।

व्याख्यान–महानुभाव! आचार्य भगवन् समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ की वाचना के अन्तर्गत सप्तम अधिकार की अंतिम कारिका को संक्षेप में देखते हैं। इस अंतिम कारिका में आचार्य महोदय उपसंहार रूप में बता रहे हैं–

'जिनपतिपदपद्मलक्ष्मी' वह सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी तीर्थंकर के चरणों को देखती रहती है। जो भव्यजीव तीर्थंकर जिनदेव के चरण कमलों का अवलोकन करते हैं सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी उन्हें प्राप्त हो जाती है। जो तीर्थंकर रूपी महापुरुषों के चरणों का अवलोकन नहीं करते उन्हें सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। यदि वह प्राप्त नहीं होती तो सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र कैसे प्राप्त होंगे। क्योंकि सम्यग्दर्शन तो बीज की तरह से है बिना बीज के अंकुर-पौधा-वृक्ष-जड़-तना-पुष्प-पत्र-फल आदि कैसे प्राप्त होंगे। जैसा कि आचार्य महोदय ने पहले कहा–

विद्यावृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥32॥

जैसे बीज के अभाव में वृक्ष के कोई भी अवयव संभव नहीं हैं ऐसे ही सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, वैराग्य, सम्यक्चारित्र, भक्ति, स्तुति, पूजा, वात्सल्य, मैत्री, प्रमोद आदि भावनाएँ संभव नहीं हैं, तप, ध्यान, आराधनादि संभव नहीं है। इसीलिए जिन्होंने मोहनीय कर्म को जीतना प्रारंभ कर दिया, उनकी उपचार से 'जिन संज्ञा' प्रारंभ हो गई। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि ने सात प्रकृतियों को जीत लिया वहाँ से एकदेश 'जिन संज्ञा' प्रारंभ हो गई, मुनिमहाराज बन सकलचारित्र को धारण कर जिन्होंने क्षपकश्रेणी को माढ लिया वे जिनवर हो गए तीर्थंकर आदि तो जिनवरेन्द्र, जिनवरों में श्रेष्ठ हैं।

यहाँ कहा पंचपरमेष्ठी का अर्थात् जो अरिहंतों का साकार रूप अवलोकन करते हैं, चिंतन-ध्यान करते हैं, जो सिद्धों का ध्यान करते हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधुओं की सेवापरिचर्या, उनके चरणों का ध्यान करते हैं ऐसे व्यक्ति को दृष्टि रूपी लक्ष्मी क्या-क्या देती है, तो बताते हैं। पहली बात कही-'कामिनं कामिनीव'-जैसे कामी पुरुषों के लिए एक कामिनी, मनोहरा, वामा अपने पति को संतुष्ट करती है, वह अपने पति के लिए सुख की भूमि होती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे भी सुखभूमि देने वाली हो। वह सुखभूमि है कर्मों से रहित आत्मा दशा को प्राप्त करना, शरीर रहित सिद्धालय में पहुँचना। वह सुख की भूमि है रत्नत्रय के फल को प्राप्त करना। जिस प्रकार एक कुलीन अंगना अपने पति को सब प्रकार से संतुष्ट करती है। उसी प्रकार वह दृष्टि रूपी लक्ष्मी विविध तरह के सुख देती है।

दूसरी बात कही 'सुतमिव जननी मा' यहाँ माँ क्यों लिया? क्योंकि माँ के बिना जन्म नहीं होता, जो 'शुद्धशीला' शुद्धशीला है, सप्तशीलव्रतों के पालन से युक्त है, पाँच गुणों से युक्त है अथवा जो मुनियों के आचरण से युक्त है, सम्यग्ज्ञान के समस्त भेदों से युक्त है ऐसी दृष्टि रूपी लक्ष्मी जो माँ के रूप में है वह 'मा भुनक्तु' मेरी रक्षा करे। कैसे रक्षा करे? जैसे एक माँ अपने सुत की रक्षा करती है।

माँ अपने वात्सल्य का पिटारा अपने पुत्र पर लुटाती है, वात्सल्य की ऐसी वर्षा करती है जैसे सघन मेघ पृथ्वी को संतुष्ट करने के लिए जल की मूसलाधार वर्षा करते हैं ऐसे ही माँ अपने पुत्र पर वात्सल्य की वर्षा करके उसे सुखी करती है। चाहे उसके पास कुछ भी नहीं पर माँ के प्यार को पाने के लिए वह अपना सारा खजाना लुटा देगा। छोटा बालक जिसे हीरे की अंगूठी दो तो उठाकर फेंक देगा, खिलौना दो तो भी न चाहिए, क्या चाहिए वह तो दौड़कर आएगा और माँ की गोदी से लिपट जाएगा। उसी प्रकार से वह दृष्टि रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे।

तीसरी बात कह रहे हैं 'कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीता' कुलकन्या की तरह से गुणों से विभूषिता। दृष्टि रूपी लक्ष्मी को यहाँ कन्या के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। जो कन्या दोनों कुलों की शोभा बढ़ाने वाली हो, जो कन्या जिस घर में जन्म लेती है उसका मंगल करने वाली होती है। उस कन्या को मंगलरूप माना जाता है और हर माँगालिक कार्य में उसे आगे किया जाता है। मंगल कलश कन्या के हाथ से, चौकपूरण कन्या के हाथ से, मंगलाचार कन्या के द्वारा, मंगलगान भी कन्या के माध्यम से, कोई भी दानपुण्य कन्या के हाथ से कराया जाता है। लोक में भी कन्या मंगल मानी जाती है। कन्या का स्वरूप नीतिकारों ने, साहित्यकारों ने बताया कि 14 वर्ष से छोटी 12 वर्ष तक की कन्या कहलाती है। जब तक रजस्धर्म से नहीं होती है तब तक कन्या है तो ऐसी कन्या जो सर्वविकारों से रहित है वह मंगलमय है।

महानुभाव! यहाँ नारी के तीन रूप लिए माँ-पत्नी व कन्या के रूप में। सम्यग्दर्शन को तीन उपमा देकर यहाँ बताया कि वह सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी जो तीर्थंकर भगवान् के चरणों को प्रेक्षण करने वाली है वह एक माँ की तरह से है। माँ अपने बालक की रक्षा करने के लिए अपने प्राणों तक की आहूति लगा देती है। भक्तामर स्तोत्र में आप पढ़ते ही हैं-

सोऽहं तथापि तव भक्ति - वशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगत-शक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्मवीर्य-मविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्॥5॥

आदिप्रभु की स्तुति करते हुए आचार्य भगवन् मानतुंग स्वामीजी ने लिखा है कि हे मुनियों के ईश! मैं आपकी भक्ति के वश होकर के, शक्तिहीन होने पर भी आपकी भक्ति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मैं आपकी स्तुति कर नहीं पाऊँगा। गणधर-इन्द्र भी नहीं कर पाए तब मैं कैसे कर सकता हूँ। फिर भी मैं प्रवृत्त हो गया हूँ क्योंकि आपके चरणों के प्रति जो मेरी भक्ति है वह बलात् मुझसे भक्ति करवा रही है। जैसे आम के बौर को देखकर कोयल कूकना न चाहे तो भी कूकती है वह स्वयं को रोक नहीं पाती। ऐसे ही उदाहरण दिया कि जैसे एक मृगी अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए शेर के सामने खड़ी हो जाती है, वह शेर यदि बच्चे पर आक्रमण करना चाहे तो वह कह देती है सावधान! मेरे बच्चे पर गर खरोंच भी आ गई तो मैं तुझे छोडूँगी नहीं। शेर कहता है अरे! धमकी किसको देती है, अगर मैंने एक पंजा मार दिया तो तुम और तुम्हारा बच्चा यहीं ढेर हो जाएगा। वह मृगी जानती है कि मैं इस शेर का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती, फिर भी अपने जीते जी बच्चे पर आँच नहीं आने देती। ऐसे ही आचार्य महोदय कह रहे हैं सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी माँ की तरह से मेरी आत्मा की रक्षा करे।

मेरी आत्मा जो अनादि से अनाथ बनकर रही, सम्यक्त्व रूपी माँ मेरी आत्मा को मिली ही नहीं। आज तक मेरी आत्मा कुंवारी ही रही, इसे आज तक सम्यग्दर्शन रूपी साथी नहीं मिला और जीवनसाथी का ऐसा साथ होता है जिसको पाकर के अनाथ भी सनाथ हो जाता है, जीवनसाथी में से किसी एक का वियोग हो जाए तो उसका जीवन एकांगी बन जाता है, चाहे उसके पास चक्रवर्ती का वैभव भी हो पर जीवनसाथी नहीं है तो कुछ भी नहीं है। जीवनसाथी से अपने सुख-दु:ख की बातें शब्दों से नहीं भावों से कहता है, आँखों से कहता है तो हे भगवान्! मुझे आज तक सम्यग्दर्शन रूपी साथी नहीं मिला। आज वह सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे संतुष्ट करे। अंतत: कहा वह कन्या के रूप में मुझे पवित्र करे।

महानुभाव! यद्यपि इस श्लोक में सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी से ही अपने आपको सुखी, सुरक्षित व पवित्र करने की प्रार्थना की है तथापि उन्होंने सम्यग्दर्शन के विशेषणों से सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी में सम्यग्ज्ञान और देशव्रत एवं महाव्रत रूप चारित्र को भी अन्तर्भूत किया है। जिस प्रकार कोई मानव अपनी निधि को भूलकर दरिद्र होकर गलियों में भटकता है और अनेक दु:ख उठाता है, यदि किसी निधि के ज्ञाता पुरुष के संयोग से गुप्तनिधि को जानकर पुरुषार्थ के द्वारा उसे निकाल देता है तो दरिद्र दु:ख से रहित हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी मिथ्यात्रय रूप अंधकार के कारण अपने स्वरूप को भूलकर संसार में जन्म-मरण के दु:खों को भोगता हुआ भटक रहा है। किसी कारण से कर्मों का लघु विपाक होने से संज्ञी पंचेन्द्रिय पद को प्राप्त कर गुरुपदेश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से आत्मनिधि को जान लेता है तो सारे सांसारिक दु:खों का नाश हो जाता है, और आत्मीय सुखों का अनुभव करने लग जाता है। अत: सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी आत्मीय सुखों का अनुभव कराने वाले ज्ञान को प्रदान करती है।

जिस प्रकार बाड़ खेत की रक्षा करती है उसी प्रकार तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों की रक्षा करते हैं। अत: जैसे शुद्ध शीलवती माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही सात शील सहित सम्यग्दर्शन आत्मा की रक्षा करता है। इसमें एकदेश चारित्र को गर्भित किया है। यह देशचारित्र सहित सम्यग्दर्शन आत्मा की संसार के दु:खों से रक्षा करता है अर्थात् यह माता के समान रक्षा करता है। जब सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी देशव्रत से सहित होती है तब जीव को नरक व तिर्यंचगति के दु:खों से सुरक्षित करती है। सम्यग्दृष्टि व्रती नरक व तिर्यंचों में भ्रमण नहीं करता, अत: नरक-तिर्यंचगति के दु:खों से उसकी रक्षा स्वयं हो जाती है।

जो सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी गुणभूषा (28 मूलगुण, 84 लाख उत्तरगुणों से भूषित) है, वह आत्मा को कर्म कलंक से रहित तथा परम पवित्र बना देती है। इसमें 'गुणभूषा' शब्द से

सकल संयम को ग्रहण किया है। जब सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी महाव्रत रूप सकलचारित्र से युक्त होती है तब उसमें कर्म कलंक को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य आ जाती है।

यहाँ आचार्य महोदय ने अपने आपको निर्मल, शुद्ध, पवित्र करने की प्रार्थना की है, अर्थात् हृदय में ऐसी भावना की है कि वे सम्यग्दृष्टि तो थे ही अब उस सम्यग्दर्शन से अंतिम प्रार्थना की है कि हे सम्यग्दर्शन! मैं महाव्रती बनकर द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप कलंक से रहित होकर शुद्ध अवस्था प्राप्त कर परम पवित्र बन जाऊँ। यह निष्कलंक अवस्था सम्यक्चारित्र के बिना नहीं हो सकती, अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों का समन्वय किया है।

महानुभाव! इस प्रकार आचार्य महोदय ने इस 150वीं कारिका में अंत में सम्यग्दर्शन का उपसंहार करते हुए कहा वह दृष्टि रूपी लक्ष्मी हमें प्राप्त होवे। सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए एक-दो बार नहीं, सौ बार, हजार-लाख-करोड़ों बार, असंख्यातों बार पुरुषार्थ करना पड़ता है किन्तु वह सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मिलती नहीं। जो चीज जहाँ होगी वहीं तो मिलेगी, जो जहाँ नहीं है वहाँ अनंत बार खोज लो फिर भी नहीं मिलेगी। राजभवन में रखे छत्र-चंवर-सिंहासन को प्राप्त करने के लिए राजमहल के बारह चक्कर लगाता रहे तो क्या उसे प्राप्त कर पाएगा? चक्र के केन्द्र पर माना कोई मिठाई रखी है उस मिठाई की गंध से एक चींटी वहाँ जा रही है, उस चक्र की परिधि पर घूम रही है, सुगंध ले रही है, वह उसी परिधि पर घूमती जा रही है-घूमती जा रही है यदि वह चक्र के केंद्र तक पहुँचना चाहे तो पहुँच सकती है किन्तु परिधि की यात्रा को छोड़ना पड़ेगा, परिधि की यात्रा पर गमन करते-करते चींटी कभी भी एक भव क्या अनंतभव भी प्राप्त कर ले किंतु उस वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकती। ऐसे ही हम शरीर की परिधि पर घूमते हुए, भोगों की परिधि पर घूमते हुए, संसार की परिधि पर घूमते हुए आत्मा के सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। संसार-शरीर-भोगों की परिधि का त्याग करके अपनी दशा बदलनी होगी और अंदर प्रवेश करना होगा, तब आत्मा के वैभव को प्राप्त करने में समर्थ हो पाएँगे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हमारी आत्मा में हैं। इसे क्यों नहीं खोज लेते, खोज कर प्राप्त कर लीजिए।

घर में धरा न पाइये जो कर दिया न होय।

अगर दीपक हाथ में नहीं हो तो घर में रखी वस्तु भी प्राप्त नहीं होती इसीलिए हमें दीपक चाहिए। हम उस आत्म महल में पहली बार जा रहे हैं, यह राजपुत्र पहली बार प्रवेश कर रहा है, उसने सुन रखा है कि मेरे पिता के महल में अमुक-अमुक वस्तुएँ, अमूल्य निधियाँ हैं किन्तु राजमहल में तो अंधकार है, कहते हैं वहाँ तो भूत रहते हैं, मैं वहाँ कैसे जाऊँ, कैसे

खोजूँ वस्तु को। उन निधियों को ढूँढने के लिए प्रकाश लेकर जाना पड़ेगा। ऐसे ही पंचपरमेष्ठी की सन्निधि में प्रकाश प्राप्त हो जाए तो हम अपनी आत्मा में अपने सम्यक्त्व को, सम्यग्ज्ञान को, सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर सकते हैं।

वह प्रकाश तीर्थंकरों के, पंचपरमेष्ठियों के चरण कमलों में प्राप्त होता है। पंचपरमेष्ठी के चरणकमलों में अलिवत् पहुँच जाओ, उनमें आसक्त हो जाओ। भंवरे को कहना नहीं पड़ता कि हे पुष्पराज! हे सुमन शिरोमणि! हमें थोड़ी गंध दे दो, वहाँ पहुँचकर गंध अपने आप मिल जाती है। किसी पथिक को कहना नहीं पड़ता हे वृक्षराज! हमें छाया दे दो, वहाँ पहुँचकर छाया अपने आप मिल जाती है, ऐसे ही पंचपरमेष्ठी की सन्निधि में, तीर्थंकर के चरणों में, समवसरण में पहुँचकर दृष्टि रूपी लक्ष्मी मिल जाती है, माँगनी नहीं पड़ती है। सम्यक्त्व मिल जाता है तो उसकी परछाई की तरह से सम्यग्ज्ञान भी आ जाता है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान दम्पत्ति की तरह से जिस आत्मा में रहते हैं उस आत्मा में चारित्र की उत्पत्ति होने लगती है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान बांझ नहीं है कि चारित्र की उत्पत्ति नहीं हो। यदि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग की भावना भी उत्पन्न नहीं कर पा रहे हैं तो समझो वे उस आत्मा में है ही नहीं।

ग्रंथराज रत्नकरण्ड श्रावकाचार आचार्य भगवन् श्री समंतभद्रस्वामी द्वारा विरचित अनुपम कृति है जो एक निर्मल सूर्य के समान है। जिस प्रकार सूर्य समस्त अंधकार को दूर कर समस्त मार्ग को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार ''रत्नकरण्ड श्रावकाचार'' रूपी निर्मल सूर्य रूपी ग्रंथ ने भी भव्य-जीवों के हृदय में अनादिकाल से लगे हुए अज्ञानरूपी समस्त अंधकार को दूर कर सम्यग्ज्ञान रूपी महाकिरणों के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अणुव्रत, गुणव्रत व शिक्षाव्रत, सल्लेखना व ग्यारह प्रतिमाओं के स्वरूप को कहने वाले श्रावक की आचारसंहिता को, श्रावक के धर्मरूपमार्ग को, श्रावकों के लिए मोक्ष के मार्ग को प्रकाशित कर दिया है। जिस प्रकार सूर्य नदियों को सुखा देता है उसी प्रकार यह रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ रूपी सूर्य भी चारों गतियों में परिभ्रमण कराने वाली इस संसार रूपी नदी को सुखाने वाला है। अर्थात् संसार के जन्म-मरण रूप परिभ्रमण को दूर कर इस जीव को मोक्ष में विराजमान कराने वाला है।

महानुभाव! ऐसा यह ग्रंथ तथा ग्रंथकार आचार्य भगवन् श्रीसमंतभद्रस्वामी व उनके द्वारा विरचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार नामक शास्त्र सदा जयशील हो, जयवंत हो।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

(प्राकृत साहित्य)			
क्र.सं.	नाम	क्र.सं.	नाम
1.	प्राकृत वाणी भाग-1	2.	प्राकृत वाणी भाग-2
3.	प्राकृत वाणी भाग-3	4.	प्राकृत वाणी भाग-4
5.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)	6.	अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)
7.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)	8.	जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)
9.	जदि-किदि-कम्मं(यति कृतिकर्म)	10.	णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)
11.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)	12.	तच्चसारो (तत्त्व सार)
13.	धम्म सुत्तं (धर्म सूत्र)	14.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)
15.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)	16.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)
17.	विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)	18.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)
19.	अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)	20.	णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)
21.	मूल-वण्णो (मूल वर्ण)	22.	मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)
23.	विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)	24.	विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)
25.	समवसरण सोहा (समवसरण शोभा)	26.	वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)
27.	अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)	28.	कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)
29.	को विवेगी (विवेकी कौन)	30.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)
31.	तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)	32.	रयणकंडो (सूक्ति कोश)
33.	धम्मस्स सुत्ति संगहो	34.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)
35.	खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)	36.	सिरि सीयलणाह-चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)
37.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)	38.	समणायारो (श्रमणाचार)
39.	असोग-रोहिणी-चरियं (अशोक रोहिणी चरित्र) (महाकाव्य)	40.	लोगुत्तरविट्टी (लोकोत्तर वृत्ति)
41.	समणभावो (श्रमण भाव)	42.	झाणसारो (ध्यानसार)
43.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)	44.	जिणवयणसारो (जिनवचनसार)
45.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)	46.	पसमभावो (प्रशम भाव)
47.	सम्मेदसिहर महप्पुरो (सम्मेदशिखर महात्म्य)	48.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त्त)
49.	विणयसारो (विनय सार)	50.	तव-सारो (तप सार)
51.	भाव-सारो (भाव सार)	52.	दाण-सारो (दान सार)
53.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)	54.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)
55.	णाण-सारो (ज्ञान सार)	56.	णीदि-सारो (नीति सार)

टीका ग्रंथ			
1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र (संस्कृत)

इंग्लिश साहित्य			
1.	Inspirational Tales Part& 1&2	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य			
1.	मुक्ति का वाग्दान (इष्टोपदेश)	2.	बोधि वृक्ष (प्रश्नोत्तर रत्नमालिका)
3.	शिवपथ का रथ (सामायिक पाठ)	4.	स्वात्मोपलब्धि (समाधि तंत्र)
5.	श्रावकधर्म-संहिता (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)		

प्रवचन साहित्य			
1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)
11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू
13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17
31.	चूको मत	32.	जय बजरंगबली
33.	जीवन का सहारा	34.	ठहरो! ऐसे चलो
35.	तैयारी जीत की	36.	दशामृत
37.	धर्म की महिमा	38.	ना मिटना बुरा है न पिटना
39.	नारी का धवल पक्ष	40.	शायद यही सच है
41.	श्रुत निर्झरी	42.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा
43.	सीप का मोती (महावीर जयंती)	44.	स्वाती की बूँद

हिंदी गद्य रचना			
1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	रोहिणी व्रत कथा

27.	स्वप्न विचार	28.	सद्गुरु की सीख
29.	सफलता के सूत्र	30.	सर्वोदयी नैतिक धर्म
31.	संस्कारादित्य	32.	हमारे आदर्श

हिंदी काव्य रचना			
1.	अक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना			
1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दु:खों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	श्री समवशरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान
11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान
17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान
21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना	26.	अभिनव सिद्धचक्र महार्चना

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)

1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)
9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी जी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)
27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)		
32.	वसुऋद्धि		

*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

प्रथमानुयोग साहित्य			
1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)
7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र
31.	रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास
49.	सुदर्शन चरित्र (पं. गोपालदास बरैया)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य	
1.	अरिष्ट निवारक त्रय विधान • नवग्रह विधान • वास्तु निवारण विधान • मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)
2.	श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान
3.	श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक

4.	शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी) • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)		
5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य			
1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु संबुध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		